शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

भाष्यप्रणेतारः
अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

२१-३९ अध्यायात्मको भागः

प्रकाशकः
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता * वृन्दावनम्

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

[२१–३० अध्यायात्मकः, ३१–३९ अध्यायात्मकश्च भागः]

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

सम्पादकः

प० व्रजवल्लभद्विवेदो दर्शनाचार्यः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये

सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाध्यक्षचर आचार्यश्च

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्

कलकत्ता ० वृन्दावन

श्रीवृन्दावनम् प्रथमसंस्करणम् संवत् २०४८

प्रकाशक—
श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थान
कलकत्ता • वृन्दावन

•

मूल्य : १५०.०० रूप्यकाणि

•

पुस्तकप्राप्तिस्थानम् —

१. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन सस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
११३ पार्क स्ट्रीट, पोद्दार पोइन्ट, कलकत्ता—७०००१६

२. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५/१८ नारद घाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसंघ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ० प्र०)

४. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेन्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

५. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
ई० ४ २४, ईस्ट पटेल नगर
दिल्ली—८

मुद्रक—
केशव मुद्रणालय
खजुरी, वाराणसी
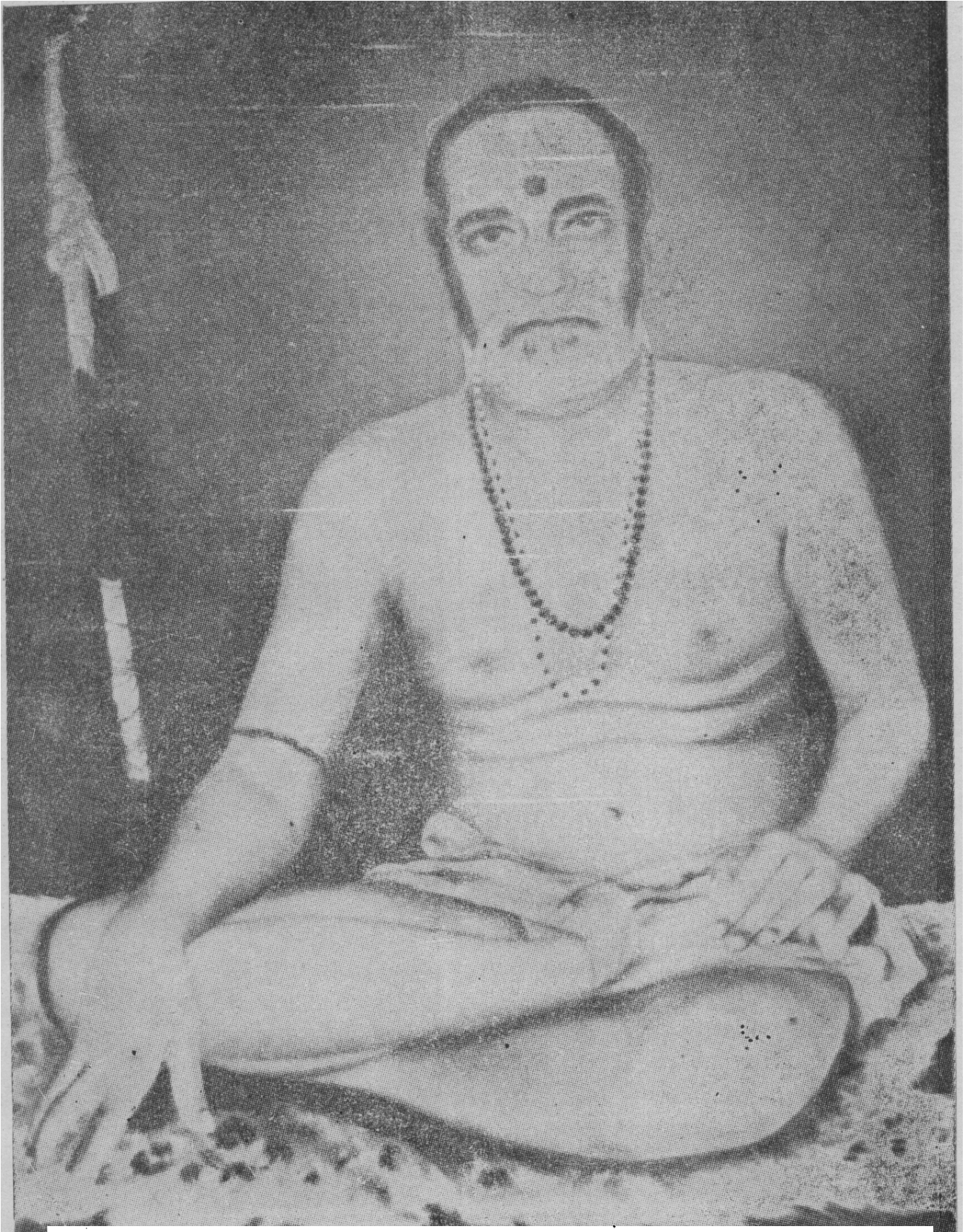
परब्रह्मस्वरूप

धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

॥ श्रीहरिः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित यजुर्वेदसंहिता के २१-३९ अध्यायों के भाष्य को मन्त्रार्थ और भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित करते हुए हमें बहुत हर्ष का अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व प्रथम तीन अध्यायों का और चालीसवें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) का भाष्य भाषानुवाद के साथ एवं ११ से २० अध्यायों के दो भाग मन्त्रार्थ एवं भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित हो चुके हैं, यह आप लोगों को विदित ही है ।

प्रकाशन कार्य विस्तृत है । कई कठिनाइयों के कारण प्रकाशन का कार्य त्वरित गति से नहीं हो पा रहा था। अब चतुर्थ और पञ्चम अध्याय वाला भाग और छठे से दसवें अध्याय तक का भाग अलग-अलग प्रेसों में छप रहा है। प्रगति मन्द है, तथापि हम इस प्रयत्न में हैं कि विक्रम संवत् २०४८ के अन्त तक पूरा भाष्य विज्ञ पाठकों के करकमलों तक पहुँचा दिया जाय।

विदित हो, पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज की अद्वितीय कृति देश के जिन सन्तों, विद्वानों, उच्च शिक्षाविदों और अधिकारियों के पास पहुँचती है, वे अत्यन्त प्रभावित होकर हम लोगों को शेष भाग शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा प्रदान करते हैं।

भाष्यनिष्कर्ष के लेखक, अनुवादक, समय-समय पर उचित परामर्शदाता, प्रूफ पुनरीक्षक, प्रेसकापी साधक, अनुच्छेद (पैराग्राफ) के निर्धारक के रूप में और प्रकाशन सम्बन्धी सभी साज-सज्जा को तैयार कर इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को सबके सम्मुख प्रस्तुत करने वालों के रूप में जिन-जिन महानुभावों ने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्य को सम्पन्न किया है, उन सभी परम सम्माननीय, आत्मीय, पूज्य आचार्य, विद्वन्मूर्धन्यों के चरणकमलों में धन्यवाद और अभिनन्दनस्वरूप नतमस्तक होकर हम सदा ही इनकी कृपा की आशा रखते हैं। जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं, वे हैं—

(१) अनन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरी पीठाधीश्वर स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी महाराज
(२) स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज
(३) पण्डित श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारीजी
(४) पण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदीजी
(५) पण्डित श्री जनार्दन पाण्डेयजी
(६) पण्डित श्री राजवंशी द्विवेदीजी

केशव मुद्रणालय के सुयोग्य प्रबन्धक तथा सहृदय कर्मचारियों के स्नेहपूर्ण सौजन्यभरे मुद्रणादि कार्यों के सम्पादन को स्मरण कर इन्हें बहुत धन्यवाद देते हैं ।

वृन्दावन धाम
माघी पूर्णिमा
२०४८ वि० सं०

निवेदक
हनुमानप्रसाद धानुका
अध्यक्ष, श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान

दशाध्यायी(२१-३०)-भाष्यनिष्कर्ष

वेदार्थपारिजातभाष्य और उसकी रचना शैली पर ११-१५ अध्याय के भाष्यनिष्कर्ष के प्रारम्भ में प्रकाश डाला जा चुका है। १६-२० अध्याय के भाष्यनिष्कर्ष में प्रथम तीन अध्यायों में वर्णित अग्निचयन सम्बन्धी शेष विषयों को और १९-२० अध्यायों में वर्णित सौत्रामणी याग की प्रक्रिया को भी निरूपित किया गया है। २१वें अध्याय में भी यही विषय चलता है। इसको और आगे के २२-३० तक के नौ अध्यायों में प्रतिपादित विषयों को अब क्रमशः यहाँ उपस्थापित किया जा रहा है।

एकविंश अध्याय : सौत्रामणी याग

२१वें अध्याय के प्रथम दो मन्त्रों में अवभृथेष्टि से सम्बद्ध वारुण एककपाल पुरोडाश की [1]पुरोनुवाक्या और [2]याज्या प्रदर्शित हैं और आगे के दो मन्त्रों (२१।३-४) में अवभृथेष्टि से ही सम्बद्ध आग्निवारुण याग की पुरोनुवाक्या और याज्या। इसी तरह से कात्यायन श्रौतसूत्र और शतपथ की पद्धति से अगले दो मन्त्रों का विनियोग आदित्य चरु की पुरोनुवाक्या और याज्या में होता है। सातवें मन्त्र में स्वर्गप्रापक यज्ञरूप नौका की स्तुति की गई है। ८-९ मन्त्र अवभृथ से उठने के बाद विहित मैत्रावरुणी पयस्या के पुरोनुवाक्या और याज्या में विनियुक्त हैं। पयस्या से सम्बद्ध वाजिन याग के पुरोनुवाक्या और याज्या का विधान अगले दो मन्त्रों (२१।१०-११) में है। आगे की आप्री देवता वाली ११ ऋचाओं में वायोधस पशु सम्बन्धी [3]प्रयाजयाज्याएँ हैं। तब अगले छः मन्त्र (२१।२३-२८) वायोधस पशु से ही सम्बद्ध वपा और पुरोडाश की याज्या और अनुवाक्या में विनियुक्त हैं। 'होता यक्षत्' (२१।२९-४०) इत्यादि १२ कण्डिकाओं में त्रिपशु सम्बन्धी प्रयाजयाज्याओं के [4]प्रैष मन्त्र हैं। 'होता यक्षत्' (२१।४१) इस कण्डिका के तीन मन्त्रों का विनियोग तीन वपाओं के प्रैषों के रूप में बताया गया है और अगली कण्डिका में ग्रहसम्बन्धी चतुर्थ प्रैष मन्त्र है। आगे की तीन कण्डिकाओं (२१।४३-४५) में आश्विन आदि हविर्यागों के प्रैष मन्त्र हैं। तब दो कण्डिकाओं (२१।४६-४७) में वनस्पति याग और स्विष्टकृद् याग के प्रैष मन्त्रों का विधान है। त्रिपशु सम्बन्धी [5]अनुयाजों से सम्बद्ध

---

१. याग के समय जिस देवता का याग प्रस्तुत होता है, उस देवता के निमित्त मन्त्रपाठ के लिये अध्वर्यु होता को प्रैष देता है। तब होता जो मन्त्रपाठ करता है, वह पुरोनुवाक्या मन्त्र है। ये मन्त्र ऋग्वेदीय होते हैं (कात्या० यज्ञ०, पृ० ४९७)।

२. आगूःपूर्विका वषट्कारान्ता प्रायशोऽर्धर्चावसाना बहुस्थानेषु एकैव ऋक् क्वचिदनृगपि याज्यापदेनोच्यते (श्रौत०, पृ० २८)।

३. प्रकर्षेण इज्यन्ते देवता यैः। याग से पूर्व जो आज्य की नियत आहुति दी जाती है, उसे प्रयाज कहते हैं। विभिन्न यागों में विधान के अनुसार उनकी संख्या पाँच, नौ और ग्यारह होती है (कात्या० यज्ञ०, पृ० ५०१)।

४. यजेत्यादिलोण्मध्यमपुरुषान्तपदघटितेन येन वाक्येन अध्वर्य्वादिना होत्रादिः प्रेर्यते, तद्वाक्यं प्रैष इत्युच्यते (श्रौत०, पृ० २७)।

५. प्रधान याग के अनन्तर जो आज्य की आहुतियाँ दी जाती हैं, वह अनुयाज कहलाती हैं। विभिन्न यागों में उनकी संख्या तीन, नौ और ग्यारह होती है (कात्या० यज्ञ०, पृ० ४५९)।

प्रैष और याज्या मन्त्रों की संख्या ग्यारह है (२१।४८–५८)। इस अध्याय के अन्त की तीन कण्डिकाओं वाले सूक्त (२१।५९–६१) में [1]सूक्तवाक प्रैष के मन्त्र हैं।

२२–२५ अध्याय : अश्वमेध याग

तीन अध्यायों (१९–२१) में सौत्रामणी याग का विधान बताने के बाद अगले चार अध्यायों (२२–२५) में अश्वमेध याग की विधि विस्तार से वर्णित है। यहाँ के प्रथम अनुवाक में अश्वमेध के अंगभूत अश्व का संस्कार करने वाले मन्त्र वर्णित हैं। सब कुछ चाहने वाला राजा इसका अनुष्ठान करता है। फाल्गुन शुक्ल अष्टमी अथवा नवमी को इसका आरम्भ होता है। सबसे पहले यहाँ के पहले मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान को [2]निष्क पहनाया जाता है। अभिषिक्त क्षत्रिय को ही यहाँ राजा माना गया है। मीमांसा शास्त्र के अवेष्ट्यधिकरण (२।३।१) में यह निर्णीत है कि राजा के पद पर अभिषिक्त क्षत्रिय के लिये ही इस पद का प्रयोग किया जाता है। सर्वकाम का अर्थ है मुमुक्षु, क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति होने पर ही मनुष्य की सारी कामनाएँ पूरी हो सकती हैं। राजपद का ग्रहण होने से ब्राह्मण और वैश्य इस याग को करने के लिये अधिकृत नहीं हैं। अन्य आचार्यों के मत से इस याग का आरम्भ ज्येष्ठ और आषाढ मास के अन्तराल में शुक्ल अष्टमी अथवा नवमी को करना चाहिये। इस यज्ञ का आरम्भ ब्रह्मौदन पाक से होता है। अध्वर्यु ऋत्विजों के लिये इसे पकाता है और यजमान के कण्ठ में निष्क को पहनाने के बाद अश्व के कण्ठ में अगले तीन मन्त्रों (२१।२–४) से रशना (लगाम) पहनाता है।

इसके बाद अध्वर्यु तालाब आदि के स्थिर जल के पास जाकर पाँचवीं कण्डिका के पाँच मन्त्रों से पाँच बार अश्व का प्रोक्षण करता है। वहाँ से अश्व को अग्नि के पास लाकर 'अग्नये स्वाहा' (२२।६) कण्डिका के प्रत्येक मन्त्र से सकृद् गृहीत आज्य की स्तोकीय संज्ञक दस आहुतियाँ देता है अथवा इस मन्त्र की सौ बार आवृत्ति कर एक हजार आहुतियाँ देता है। अगली दो कण्डिकाओं के मन्त्रों से भी अश्व के निमित्त ही दक्षिणाग्नि में प्रक्रम संज्ञक ४९ आहुतियाँ दी जाती हैं। इन दो कण्डिकाओं में अश्व की ४९ प्रकार की चेष्टाओं का वर्णन किया गया है। इससे आगे की छः ऋचाओं (२२।९–१४) का विनियोग सावित्री नामक इष्टि की याज्यानुवाक्याओं[3] के रूप में किया जाता है। 'अग्नि स्तोमेन' (२२।१५–१७) इत्यादि तीन मन्त्रों में स्विष्टकृद् याग की पुरोनुवाक्यायें हैं। 'अजीजनः' (२२।१८) मन्त्र से पवमान की स्तुति की जाती है। तृतीय सावित्र इष्टि की समाप्ति के बाद अध्वर्यु और यजमान अश्व के दाहिने कान में 'विभूर्मात्रा' (२२।१९) मन्त्र का जप करते हैं। चतुर्थ अध्याय की सातवीं और आठवीं कण्डिकाओं में चार आध्वरिक औद्ग्रभण संज्ञक मन्त्र पढ़े गये हैं। इन मन्त्रों से चार आहुतियाँ देने के बाद यहाँ के 'काय स्वाहा' (२२।२०)

---

१. दर्शपौर्णमास प्रभृति यागों में आहवनीय खर के तीनों ओर परिधि (पालाश समित्) रखी जाती है। अध्वर्यु पश्चिम की ओर संस्थापित परिधि को छूकर आश्रावण करता है। आग्नीध्र प्रत्याश्रावण करता है। तब अध्वर्यु होता को जिन "इदं द्यावापृथिवी" इत्यादि मन्त्रों का पाठ करने के लिये जो प्रैष देता है, वह सूक्तवाक प्रैष कहलाता है (कात्या० यज्ञ०, पृ० ५२४)।

२. चतुःसुवर्णनिर्मित आभरणविशेषो निष्कः (भा०, पृ० ४२)।

३. अध्वर्युप्रेषितो होता एकश्रुत्या पुरोनुवाक्यां पठति। सा च प्रायः एकैव ऋग् भवति। तस्याः प्रथमार्धर्चे एकमवसानम्, चतुर्मात्रप्रणवान्तद्वितीयार्धर्चे द्वितीयमवसानम्। यस्मिन् यागे मैत्रावरुणो भवति, तत्र स एव पुरोनुवाक्यां पठति। पुरः पूर्वं यागाद् देवतामनुकूलयितुं या ऋगुच्यत इति व्युत्पत्त्या पुरोनुवाक्यापदमनुयाज्यापदं च ऋग्विशेषबोधकम् (श्रौत०, पृ० २८)।

कण्डिका के मन्त्रों से तीन आश्वमेधिक औद्ग्रभण आहुतियाँ देनी चाहिये। इन औद्ग्रभण आहुतियों को देने के बाद दीक्षणीया [1]इष्टि का शेष कर्म पूरा कर उपवेशनान्त कृष्णाजिन दीक्षा का अनुष्ठान किया जाता है। इसकी विशेष प्रक्रिया भाष्य (पृ० ६०) में ही देखनी चाहिये। सातवीं दीक्षणीया इष्टि की कुछ विशेषता है। प्रतिदिन दी जाने वाली चार आध्वरिक औद्ग्रभण आहुतियों के स्थान पर यहाँ छः आग्निक आहुतियों और तीन आश्वमेधिक आहुतियों के बाद 'विश्वो देवस्य' (२२।२१) मन्त्र से दसवीं औद्ग्रभण आहुति दी जाती है। कृष्णाजिन दीक्षा से प्रारम्भ कर उखा में तेरह समिधाओं के आधान तक की प्रक्रिया पूरी कर अध्वर्यु 'आ ब्रह्मन्' (२२।२२) मन्त्र का जप करता है। शतपथ के अनुसार यह जप उत्सर्ग मन्त्रों से उपहित पशुशिरों के उपस्थान के समय किया जाता है। अन्य आचार्यों का मत है कि अश्व का उत्सर्ग करते समय 'विभूर्मात्रा' (२२।१९) मन्त्र के जप के बाद ही इसका जप करना चाहिये। इसके बाद इस अध्याय की अन्तिम बारह कण्डिकाओं वाले अनुवाक के मन्त्रों से आज्य, सक्तु, धाना और लाजा की पूरी रात रात्रि के प्रत्येक प्रहर में उत्तरवेदि स्थित अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं। इसकी प्रक्रिया भी भाष्य (पृ० ६४-६५) में ही देखनी चाहिये।

इस प्रकार बाईसवें अध्याय में होम के मन्त्र निर्दिष्ट हैं। २३वें अध्याय में बचे हुए कर्मों का निरूपण इस प्रकार किया गया है—दूसरे दिन का कृत्य उक्थ्यसंस्थ कहलाता है। वहाँ महिम नाम के दो ग्रहों का ग्रहण किया जाता है। यह कार्य आग्रयण और उक्थ्य ग्रहों के बीच में किया जाता है। इनमें से प्रथम महिम ग्रह का ग्रहण सौवर्ण उलूखल द्वारा 'हिरण्यगर्भः' (२३।१) मन्त्र से और द्वितीय महिम ग्रह का ग्रहण राजत उलूखल द्वारा 'यः प्राणतः' (२३।३) मन्त्र से किया जाता है। [2]दशापवित्र से ग्रह का परिमार्जन कर 'एष ते योनिः' (२३।२) मन्त्र से उसका सादन किया जाता है। वपा याग के अन्त में द्वितीय महिम ग्रह में गृहीत सोम की आहुति चौथे मन्त्र से दी जाती है। इसके बाद 'युञ्जन्ति' (२३।५) मन्त्र से अश्व को रथ में जोता जाता है। अगले मन्त्र (२३।६) से शेष तीन अश्वों को भी रथ में जोत दिया जाता है। यहाँ प्रत्येक अश्व को जोतते समय मन्त्र की आवृत्ति करनी चाहिये। इन चार अश्वों से युक्त रथ पर बैठकर यजमान जलाशय के पास जाता है। वहाँ अश्वों के जल में प्रवेश करने पर अध्वर्यु यजमान से 'यद्वातः' (२३।७) मन्त्र का पाठ कराता है। इस मन्त्र का पाठ यहाँ प्रायश्चित्त के रूप में किया जाता है, क्योंकि अश्वमेधीय अश्व के लिये जलावगाहन और वडवासंग, ये दोनों ही वर्जित हैं। जलाशय से वापस देवयजन स्थान में आने पर रथ से वियुक्त अश्व के पूर्वकाय, मध्यकाय और अपरकाय पर क्रमशः राजमहिषी, वावाता और परिवृक्ता घृत का लेप करती हैं। बाद में ये तीनों अश्व के शिर, कन्धे और पुच्छ के बालों में एक सौ एक-एक सौ एक मणियाँ बाँधती हैं और रात्रि में दी गई आहुतियों से बचे हुए सक्तु, धाना, लाजा आदि को भक्षण के निमित्त अश्व को देती हैं। यह सारा कार्य यहाँ आठवीं कण्डिका के मन्त्रों से किया जाता है।

अगले चार मन्त्रों (२३।९-१२) में ब्रह्मा और होता का प्रश्नोत्तर रूप संवाद है। तब आगे की चार कण्डिकाओं (२३।१३-१६) से अश्वमेधीय अश्व के अभिषेकार्थ उसका प्रोक्षण किया जाता है। इसके बाद षष्ठ अध्याय के 'अपां पेरुः' (६।१०) इस प्राकृत मन्त्र से और यहाँ के 'अग्निः पशुः' (२३।१७) इति वैकृत मन्त्र से अश्व के मुख में प्रोक्षणी रखी जाती है। श्रौतसूत्र प्रदर्शित दो आहुतियों के बाद अगले मन्त्र (२३।१८) से तीन आहुतियाँ दी जाती

---

१. श्रौतपदार्थनिर्वचन (पृ० १९७-१९८) में दीक्षणीयेष्टि का विस्तार से परिचय दिया गया है।

२. शतपथ ब्राह्मण (३।३।२।९) में तथा श्रौत ग्रन्थों में वस्त्र के किनारे या झालर को दशा कहा गया है। दशापवित्र झालरदार छानने के वस्त्र का नाम है (वैदिक कोश, पृ० १९१)।

हैं। इन आहुतियों से अश्व को प्राणवान् बनाया जाता है। अब नेष्टा [1]पान्नेजन हाथ में ली हुई राजपत्नियों को पशुओं की तरफ ले जाता है और 'नमस्ते आतान' (६।१२) इस प्राकृत मन्त्र का तथा इसी कण्डिका के 'अम्बे अम्बालिके' (२३।१८) इस वैकृत मन्त्र का वाचन कराता है। ये सब राजपत्नियाँ पान्नेजन हाथ में लिये हुए ही अश्व की तीन प्रदक्षिणाएँ करती हैं। इनमें से पहली प्रदक्षिणा के समय 'गणानां त्वा' (२३।१९) मन्त्र का पाठ किया जाता है और दो प्रदक्षिणाएँ तूष्णीं की जाती हैं। दूसरी प्रदक्षिणा पितरों के प्रति की जाने वाली प्रदक्षिणा के समान विपरीत क्रम से होती है। इसका क्रम भाष्य (पृ० ८९–९०) में स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार अश्व के प्राणों का शोधन करने के उपरान्त इसी कण्डिका के शेष भाग का पाठ करते हुए महिषी अश्व के साथ शयन करती है। तब अगले (२३।२०) मन्त्र द्वारा अधीवास (बहुमूल्य कम्बल) से उनको ढक दिया जाता है। 'उत्सक्थ्या' (२२।२१) मन्त्र से यजमान अश्व का प्रोक्षण करता है। इसके बाद अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, होता और क्षत्ता का यजमान की कुमारी पुत्री से और चार पत्नियों से संवाद होता है। प्रत्येक का यह संवाद दो-दो मन्त्रों में, अर्थात् कुल दस मन्त्रों में (२३।२२–३१) वर्णित है। इस अश्लील संवाद के अन्त में वाणी के दोष की शुद्धि के लिये 'दधिक्राव्णः' (२३।३२) मन्त्र का पाठ विहित है।

अब तीन राजपत्नियाँ क्रमशः दो-दो मन्त्रों (२३।३३-३८) से ताम्र, रजत और सुवर्ण निर्मित सूचियों से अश्व का तोदन करती हैं और अगले छः मन्त्रों (२३।३९-४४) से वपा की प्राप्ति के लिये अश्व का विशसन और उसके उदर का विपाटन किया जाता है। आगे की १८ ऋचाएँ ब्रह्मोद्यसंज्ञक हैं। यज्ञीय अवसरों पर ऋत्विजों का जीव, जगत् और ब्रह्म के विषय में जो संवाद होता है, उसे 'ब्रह्मोद्य' कहा जाता है। महाकवि बाण ने भी हर्षचरित नामक अपने गद्यकाव्य के प्रारम्भ में इस शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ प्रथम चार ऋचाओं (२३।४५-४८) में होता और अध्वर्यु का, अन्य चार (२३।४९-५२) में ब्रह्मा और उद्गाता का, तब आगे के चार मन्त्रों (२३।५३-५६) में होता और अध्वर्यु का, बाद की चार ऋचाओं (२३।५७-६०) में उद्गाता और ब्रह्मा का, तब अन्तिम दो मन्त्रों (२३।६१-६२) में यजमान और अध्वर्यु का संवाद है। इस प्रकार कुल १८ मन्त्रों में यह संवाद पूरा होता है। इस ब्रह्मोद्य कथा के उपरान्त महिम ग्रह सम्बन्धी पुरोनुवाक्या, प्रैष और याज्या संज्ञक तीन मन्त्रों (२३।६३-६५) का विधान किया गया है। इसी के साथ यह अध्याय समाप्त हो जाता है।

२४वें अध्याय में अश्वमेधीय पशुओं और उनके देवताओं के पारस्परिक सम्बन्ध को बताया गया है। अश्वमेध में २१ यूप गाड़े जाते हैं। इनमें से मध्यम यूप का नाम अग्निष्ठ है। इसमें १७ पशु बाँधे जाते हैं। यहाँ की प्रथम कण्डिका में वर्णित १५ पशु पर्यंग्य कहलाते हैं। इन २१ यूपों में से प्रथम १३ यूपों में नियोजनीय पंचदशिन् पशुओं का उनके अधिपति देवताओं के साथ वर्णन यहाँ की १३ कण्डिकाओं में किया गया है। आगे की छः कण्डिकाओं (२४।१४-१९) में शेष आठ यूपों में बन्धनीय चातुर्मास्य, वरुणप्रघासीय, साकमेधीय, माहेन्द्रेष्टि, पित्र्येष्टि और शुनासीरीय पशुओं का उनके अधिपति देवताओं के साथ वर्णन किया गया है।

अश्वमेधीय २१ यूपों और उनमें बन्धनीय पशुओं का उनके अधिपति देवताओं के साथ ऊपर वर्णन किया गया है। इन २१ यूपों के बीच २० खाली जगहों की यहाँ अन्तराल संज्ञा है। इनमें बन्धनीय पशुओं और उनके अधिपति देवताओं का वर्णन आगे के मन्त्रों में अध्याय की समाप्ति तक (२४।२०-४०) किया गया है। इनमें आरण्य पशुओं का विधान है। इनका परिचय भाष्यकार ने उव्वट, सायण, महीधर आदि प्राचीन

---

१. पाद-प्रक्षालन के लिये प्रयुक्त एक पात्र का नाम पान्नेजन है (वैदिक कोश, पृ० २८२)।

भाष्यकारों के प्रमाण से दिया है। यहाँ (पृ० १४५) अश्वमेधीय पशुओं की संख्या भी बताई गई है और कुछ आचार्यों के इस पक्ष को भी बताया गया है कि दुर्लभ आरण्य पशुओं का पट पर चित्र बनाकर उनके उपाकरण आदि सारे संस्कार करने चाहिये।

पूर्व अध्याय में यूपों और यूपान्तरों में बन्धनीय पशुओं का निरूपण करने के बाद अब २५वें अध्याय में अश्वमेध यज्ञ की शेष प्रक्रिया इस प्रकार बताई गई है—वनस्पति याग के बाद और स्विष्टकृत् याग से पहले प्रजापति के निमित्त शूल्य मांस की आहुति देकर इस अध्याय के प्रथम नौ मन्त्रों में वर्णित शाद से लेकर पृथिवी पर्यन्त देवताओं को अश्व के दन्त आदि विभिन्न अंगों की आहुति घृत के साथ देकर अन्त में जुम्बकाहुति दी जाती है। जुम्बका गायत्री से दी गई जुम्बकाहुति का विवरण भाष्य (पृ० १५७) में ही देखना चाहिये। इसके आगे की चार कण्डिकाएँ (२५।१०-१३) अश्व आदि प्राजापत्य पशुओं की याज्यानुवाक्या के रूप में विनियुक्त हैं। आगे के दस मन्त्रों (२५।१४-२३) में विश्वेदेव देवता वाले पशुओं की याज्यानुवाक्याएँ हैं। तब 'मा नः' (२५।२४-३९) इत्यादि सोलह मन्त्रों से चतुर्गृहीत आज्य की आहुति दी जाती है। 'यत्ते' (२५।४०-४५) इत्यादि छः मन्त्रों से अश्वमेधीय अश्व की स्तुति के साथ उससे याचना की जाती है। अन्त की दो कण्डिकाओं (२५।४६-४७) में स्थित छः मन्त्रों से अयस्मय और अश्वलोहित के होम के अनन्तर छः आहुतियाँ दी जाती हैं। इस अश्वमेध यज्ञ और उसकी आध्यात्मिक उपासना से व्यक्ति का महान् अभ्युदय होता है। यह यज्ञ क्रममुक्ति तथा बुद्धि की शुद्धि के साथ परम निःश्रेयस को देने वाला है।

यह अश्वमेध यज्ञ एक वर्ष और सत्ताईस दिन में पूरा होता है। इनमें से एक वर्ष पर्यन्त अश्व यथेच्छ भ्रमण करता है। बारह दीक्षा दिन, बारह उपसद् दिन और तीन सुत्या दिनों को मिलाने पर सत्ताईस दिन होते हैं। आगे २९वें अध्याय में अश्वमेधीय हौत्र मन्त्रों का विधान है।

२६ वां अध्याय : खिल मन्त्र

अब तक के २५ अध्यायों में दर्शपौर्णमास, पितृयज्ञ, अग्न्याधान, अग्न्युपस्थान, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अग्निचयन, सौत्रामणी और अश्वमेध याग सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अब प्रस्तुत २६ वें अध्याय में खिल मन्त्रों का विधान दिखाया जा रहा है। यहाँ जिन मन्त्रों का श्रुति द्वारा स्पष्ट विनियोग नहीं बताया गया, उनका लैंगिक विनियोग किया जाता है। शब्द की सामर्थ्य को ही यहाँ लिंग माना गया है। शब्द की उस सामर्थ्य के सहारे इस अध्याय की प्रथम कण्डिका के ७ सन्नति मन्त्रों का विनियोग इन देवताओं के नमन में किया गया है। द्वितीय मन्त्र से यजमान भगवान् से प्रार्थना करता है। 'बृहस्पते' (२६।३) मन्त्र में बृहस्पति-सव के बार्हस्पत्य ग्रह का ग्रहण किया जाता है और अगले दो मन्त्रों (२६।४–५) से गोसव के लिये ऐन्द्र ग्रह का ग्रहण। आगे के तीन मन्त्रों (२६।६–८) में वैश्वानरीय पुरोनुवाक्याएँ हैं। नवां मन्त्र अग्निदेवता की पुरोनुवाक्या और १० वां महेन्द्र देवता की पुरोनुवाक्या से सम्बद्ध है।

'तं वः' (२६।११) इत्यादि मन्त्र जप, स्वाध्याय आदि में विनियुक्त है। आगे के तीन मन्त्रों (२६।१२–१४) से अग्निदेवता की और फिर 'उपह्वरे' (२६।१५–१८) इत्यादि चार मन्त्रों से सोम देवता की भक्तिपूर्वक स्तुति की जाती है। 'अनु वीरैः' (२६।१९) इत्यादि मन्त्र आशीर्वादपरक हैं। आगे की पाँच ऋचाओं (२६।२०–२४) में याज्या-मन्त्र हैं। इनमें से पहली का प्रातःसवनीय चमस याग में, आगे की दो का ऋतुयाग में, चौथी का माध्यन्दिनीय चमस याग में और पाँचवीं का विनियोग तृतीय सवन के चमस याग में याज्या-मन्त्रों के रूप में नेष्टा द्वारा पाठ किया जाता है। इनमें से प्रथम के देवता अग्नि, आगे के दो मन्त्रों का ऋतु और बाकी के दो मन्त्रों के देवता इन्द्र और त्वष्टा

हैं। इस अध्याय के अन्तिम दो (२६।२५–२६) मन्त्रों का भी विनियोग जप, स्वाध्याय आदि में किया गया है। इन दोनों पावमानी ऋचाओं के देवता सोम हैं। [1]पवमान सोम की ही एक विशेष अवस्था है।

२७ वां अध्याय : पंचचितिकाग्नि मन्त्र

२७ वां अध्याय पंचचितिक अग्नि से सम्बद्ध है। इसकी प्रारम्भ की नौ ऋचाओं का विनियोग इष्टका पशु सम्बन्धी समिध्यमान और समिद्वती के अन्तराल में अग्नि, बृहस्पति और सविता देवता की स्तुति में किया गया है। 'उद्वयम्' (२८।१०) इत्यादि मन्त्र से सूर्य देवता का उपस्थान किया जाता है। आगे की प्रयाज देवता वाली आप्री संज्ञक बारह ऋचाओं (२७।११–२२) में अग्नि देवता की स्तुति है। 'पीवो अन्ना' (२७।२३–२८) इत्यादि छः हुत-पशु सम्बन्धी याज्यानुवाक्या मन्त्र हैं। तब आगे के छः मन्त्र (२७।२९–३४) वायुदेवता वाले वायव्येष्टका पशुओं के वपा आदि द्रव्यों की याज्यानुवाक्याओं से सम्बद्ध हैं। आगे के कुछ मन्त्र यहाँ ऐसे हैं, जिनका सामगान में उपयोग किया जाता है। प्रथम दो मन्त्रों (२७।३५–३६) से रथन्तर साम का, आगे के दो मन्त्रों से (२७।३७–३८) बृहत्साम का अन्य तीन मन्त्रों से (२७।३९–४१) वामदेव्य साम का और दो मन्त्रों से (२७।४२–४३) यज्ञायज्ञीय साम का गायन किया जाता है। 'ऊर्जो नपातम्' (२७।४४) मन्त्र से यजमान अध्वर्यु की प्रार्थना करता है और इस अध्याय के अन्तिम ४५ वें मन्त्र में पंचसंवत्सरात्मक युगाध्यक्ष प्रजापति के रूप में चित्याग्नि की स्तुति की जाती है।

२८ वां अध्याय : सौत्रामणी शेष

१९–२१ अध्यायों में सौत्रामणी याग का विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। इस अध्याय में सौत्रामणी याग के अंगभूत ऐन्द्र पशु से लेकर वायोधस पर्यन्त पशुओं के याज्यानुयाज्या मन्त्र हैं। आप्री संज्ञक देवता इन्द्र की ही विभूतियाँ हैं। एकादश ऋचाओं के पहले अनुवाक (२८।१–११) में ऐन्द्र पशु सम्बन्धी आप्री देवताओं के समित्, तनूनपात् और आदित्य देवतावाले प्रयाजों के प्रैष मन्त्र हैं। आगे की ११ ऋचाओं (२८।१२–२२) में ऐन्द्र पशु सम्बन्धी अनुयाजों के प्रैष मन्त्र हैं। 'अग्निमद्य' (२८।२३) मन्त्र से यजमान होता अग्नि की प्रार्थना करता है। आगे के ग्यारह (२८।२४–३४) वायोधस पशुसम्बन्धी प्रयाजों के प्रैष मन्त्र हैं और तब फिर आगे के 'होता यक्षत्' (२८।३५–४५) इत्यादि ११ ऋचाओं का विनियोग वायोधस पशुसम्बन्धी अनुयाजों के प्रैष मन्त्रों के रूप में किया जाता है। अन्तिम मन्त्र (२८।४६) से यजमान पुनः अग्नि की होता के रूप में स्तुति करता है।

२९ वां अध्याय : अश्वमेध शेष

यह अध्याय अश्वमेध यज्ञ से सम्बद्ध है। प्रारम्भ की ११ ऋचाएँ आप्री संज्ञक हैं। समित्, तनूनपात्, इडा आदि इनके देवता हैं। इनसे परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से अश्व की स्तुति की जाती है। इस तरह की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष स्तुतियों का सामंजस्य बैठाने की पद्धति आठवें मन्त्र के भाष्य (पृ० २६७) में देखी जा सकती है। इन ग्यारह मन्त्रों से आगे के तेरह मन्त्र (२९।१२–२४) भी अश्व की स्तुति में ही विनियुक्त हैं। यहाँ १३–१५ मन्त्रों में बताया गया है कि वसु देवताओं ने आदित्यमण्डल से इस अश्व को निकाला है। यम द्वारा प्रदत्त इस अश्व को त्रिस्थान वायु रथ में जोतता है और इन्द्र इस रथ पर बैठता है। गन्धर्व विश्वावसु इसकी रशना (लगाम) पकड़ता है। आदित्य लोक में इसके तीन बन्धन ऋक्, यजु और सामलक्षण; अन्तरिक्ष लोक में मेघ, विद्युत् और अशनिलक्षण तथा पृथ्वी

---

१. "रसीभूतो यदा सोमः पवित्रात् क्षरति ग्रहम्। ऋग्भिः स्वादिष्ठयाधाभिः पवमानः स उच्यते॥" (भा०, पृ० २०१)।

लोक में कृषि, वृष्टि और बीज लक्षण स्थित हैं। इसी प्रकार अन्य मन्त्रों में भी अश्वमेधीय अश्व की भूरिभूरि प्रशंसा की गई है। इस प्रकरण के अन्तिम २४ वें मन्त्र में अश्व-स्तुति से कृतकृत्य हुए यजमान को सम्बोधित कर उसके प्रति शुभाशंसा प्रकट की गई है। आगे के आप्री संज्ञक १२ मन्त्रों में भी समित्, तनूनपात् आदि देवताओं की स्तुति की गई है। इससे आगे के अनेक मन्त्रों (२९।३७–५७) में अश्व के रक्षक योद्धाओं और उनके युद्ध के लिये उपयोगी उपकरणों की स्तुति है। प्रथमतः अग्नि देवता की और योद्धाओं की स्तुति करके तब धनुष, ज्या, धनुष्कोटि, इषुधि, रथ, दुन्दुभि आदि की स्तुति की गई है। रथ को यहाँ रथवाहण और हविर्धान भी कहा गया है। ५३ वें मन्त्र में बताया गया है कि यूप, स्फ्य, रथ और शर ये चारों वज्र के ही प्रकार हैं। ५८ वें मन्त्र में अश्वमेधीय प्रथम एकादश पशुओं और उनके देवताओं का तथा ५९ वें मन्त्र में द्वितीय एकादश पशुओं और उनके देवताओं का वर्णन है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र (२९।६०) में दस आहुति वाली अवेष्टि संज्ञक इष्टि की हवियों और उनके देवताओं का उल्लेख किया गया है।

३० वां अध्याय : पुरुषमेध

३० वें अध्याय से पुरुषमेध का प्रकरण चलता है। [1]अतिष्ठाकाम ब्राह्मण अथवा राजन्य इसका अनुष्ठान करता है। चैत्र शुद्ध द्वादशी को इसका आरम्भ होता है। यहाँ २३ प्रकार की दीक्षा, बारह उपसद् और पाँच सुत्याएँ होती हैं। इस प्रकार यह अनुष्ठान ४० दिन तक चलता है। इसमें यूपों की संख्या ११ और अग्नीषोमीय पशुओं की संख्या भी इतनी ही होती है। इनका प्रत्येक यूप में अथवा केवल मध्य यूप में बन्धन विहित है। सकृत् गृहीत आज्य से प्रथम चार मन्त्रों में से प्रत्येक से आहवनीय अग्नि में तीन-तीन आहुतियाँ दी जाती हैं। इससे आगे अध्याय की समाप्ति पर्यन्त पुरुषमेधीय पशुओं का विवरण है। प्रत्येक यूप में एक-एक [2]एकादशिन को नियुक्त कर 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' (३०।५) से लेकर 'प्रकामोद्यायोपसदम्' (३०।९) पर्यन्त मन्त्रों में पठित ब्राह्मण आदि ४८ प्रकार के पुरुषों को यहाँ नियोजित किया जाता है और अन्य यूपों में 'वर्णायानुरुधम्' (३०।९-१९) इत्यादि मन्त्रों में पठित ११–११ पुरुषों को। किस यूप में कितने पुरुषों का किस प्रकार नियोजन होता है, इस विषय का स्पष्ट निरूपण २० वें मन्त्र के भाष्य में कर दिया गया है। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि २०–२१ मन्त्रों में पठित अन्य अवशिष्ट पशुओं का नियोजन द्वितीय उच्छ्रित यूप में करना चाहिये। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र (३०।२२) में आठ विपरीत स्वभाव वाले पशुओं का उल्लेख है। इस मन्त्र में जाति का स्पष्ट उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि पूर्ववर्णित पुरुषों में जाति का नियम लागू नहीं होता। इसकी पूरी प्रक्रिया को भाष्य (पृ० ३१९) में ही देखना चाहिये।

पुरुषमेध की समाप्ति के बाद यजमान को अपनी आत्मा में अग्नियों का समारोप कर वन में चले जाना चाहिये। इसके बाद भी यदि किसी की ग्राम में ही बसने की इच्छा हो, तो इसका विधान भी यहाँ बताया गया है (पृ० ३२०)।

शतपथ ब्राह्मण के अवधेय अंश

इस खण्ड के २१-३० अध्यायों के मन्त्रों के कात्यायन प्रोक्त विनियोगों का समर्थन प्रायः शतपथ ब्राह्मण के १२-१३ काण्डों के वचनों को उद्धृत कर किया गया है। बीच-बीच में अन्य स्थलों के वचन भी व्याख्यान के प्रसंग में दिये गये हैं।

---

१. "सर्वभूतान्यतिक्रम्य स्थानमतिष्ठा" (भा०, पृ० ३०३)।

२. जिस याग में एकादश पशुओं का विनियोग होता है, उसे एकादशिन् कहते हैं। १. अग्नि, २. सरस्वती, ३. सोम, ४. पूषा, ५. बृहस्पति, ६. विश्वेदेव, ७. इन्द्र, ८. मरुत्, ९. इन्द्राग्नी, १०. सविता और ११. वरुण—ये ग्यारह देवता एकादशिनी हैं" (कात्या० यज्ञ०, पृ० ४७५)।

२१वें अध्याय में स्वतन्त्र रूप से शतपथ का कोई वचन उद्धृत नहीं है।

२२वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में ही शतपथ के आधार पर अश्व की अमेध्यता का वर्णन कर उसकी पवित्रता के लिये ब्रह्मौदन का विधान और इस पद की व्याख्या की गई है। साथ ही दर्भमयी रशना के इतिवृत्त को सूचित किया गया है। ३-५ मन्त्रों की व्याख्या में अश्वमेधयाजी किस प्रकार सारी दिशाओं को जीत लेता है, इसके लिये स्वाहाकारों और स्वधाकारों का विधान किया गया है। छठे मन्त्र में शतपथ के आधार पर निष्क्रयणी आहुति, गायत्रीरात्र, अमिता होम, आज्याहुति आदि विषयों की विशद व्याख्या की गई है और आगे की दो कण्डिकाओं (२२।७-८) में वर्णित अश्व की ४९ प्रकार की विभिन्न चेष्टाओं के आधार पर आहुतियों का विधान सप्रयोजन प्रदर्शित है। अश्व की इन चेष्टाओं का इतना सूक्ष्म विवरण शायद अश्व-सम्बन्धी अन्य साहित्य में दुर्लभ है। अश्व पर अनुसन्धान कर्ताओं के लिये यह प्रकरण अत्यन्त महत्त्व का सिद्ध हो सकता है। ये आहुतियाँ कहाँ कब दी जाँय, इनका विवरण १०वें में मन्त्र में है। आगे १९वें मन्त्र में प्रजापति के द्वारा सृष्ट अश्वमेध याग की आख्यायिका को उपस्थापित कर, इसके अनुष्ठान से प्राप्त होने वाली राष्ट्र और जनपद की समृद्धि का वर्णन कर, बताया गया है कि 'शिशु' यह अश्व का प्रिय नाम है। यहाँ यह भी कहा गया है कि सबल व्यक्ति ही इसका अनुष्ठान कर सकता है। २०वें मन्त्र में अश्वमेधीय दीक्षा का प्रतीकात्मक पद्धति से वर्णन कर सात दिन में दी जाने वाली २१ औद्ग्रभण आहुतियों का विधान बताया गया है। यहाँ भाष्यकार ने आचार्य हरिस्वामी द्वारा प्रस्तुत की गई इस प्रकरण की विशेष व्याख्या को भी प्रस्तुत किया है। २२वें मन्त्र में कण्डिका के विभिन्न पदों की व्याख्या के प्रदर्शन में शतपथ के अनेक वचन उद्धृत हैं। २३वें मन्त्र में शतपथ के इस प्रकरण को अन्नहोम ब्राह्मण नाम दिया गया है और आचार्य हरिस्वामी के अनुसार हेयकल्प एवं स्थितिकल्प को प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र (२२।३४) में बताया गया है कि 'प्राणाय स्वाहा' (२२।२३) से लेकर इस अध्याय के अन्त तक की बारह कण्डिकाओं के अनुवाक से कालाग्नि आदि का शरीर धारण करने वाले देवताओं को आज्य आदि की आहुतियों से तृप्त करना चाहिये। ये सारे अवान्तर याग मुख्य अश्वमेध याग के उसी प्रकार अंग हैं, जैसे कि मनुष्य के शरीर (अंगी) के सिर, कान आदि अंग होते हैं। ये सारे देवता और अश्वमेधीय अश्व भी प्रजापति के अवयव हैं और यह सब परमात्मा का ही विलास है। इस प्रकार देखा जाय तो सर्वत्र उस परमात्मा का ही स्तवन और यजन हो रहा है।

२३वें अध्याय के ८वें मन्त्र में शतपथ के वचनों के आधार पर दयानन्दीय व्याख्या का खण्डन किया गया है और बताया गया है कि इन ब्राह्मण-वचनों से कात्यायन श्रौतसूत्र के विनियोगों को तथा सायण आदि के भाष्यों को ही समर्थन मिलता है, दयानन्दीय व्याख्या को नहीं। १२वें मन्त्र में ब्रह्मोद्य की महिमा वर्णित है कि इसकी चर्चा से ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति होती है। प्रस्तुत ब्राह्मण में पूर्वचित्ति, बृहद्वय, पिलिप्पिला, पिशङ्गिला आदि पदों की व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। अगले दो मन्त्रों की व्याख्या में भी यही क्रम दिखाई पड़ता है। प्रसंगवश यहाँ (पृ० ८३) बताया गया है कि चरक शाखा वालों का चमस न्यग्रोध काष्ठ से निर्मित होता है। अमरकोश के टीकाकार रामाश्रम को भी यहाँ उद्धृत किया गया है। आगे कुछ मन्त्रों में मन्त्रार्थ के समर्थन में ही शतपथ स्मृत है। १८वें मन्त्र में उद्धृत वचनों का विशेष महत्त्व है। वहाँ वास, अधिवास, हिरण्य आदि पदों का अर्थ और प्रयोजन दिखा कर शतपथ और कात्यायन के वचनों की हरिस्वामी द्वारा की गई समन्वित व्याख्या का उल्लेख है। भाष्यकार ने यहाँ स्वयं अपना मत भी प्रस्तुत किया है। अश्वमेधीय प्रकरण के इन ब्रह्मोद्य मन्त्रों की दयानन्दीय व्याख्या का खण्डन तथा महीधर आदि के व्याख्यानों को समर्थन देने के लिये यहाँ प्रायः प्रत्येक मन्त्र में शतपथ को उद्धृत किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि महीधर आदि ने स्वामी दयानन्द की तरह बिना आधार का मनमाना अर्थ नहीं किया है। यहाँ (पृ० ९५) बताया गया है कि इन अभिमेथिका मन्त्रों में जो गूढ दर्शन छिपा हुआ है, उसे ब्राह्मण-वचन स्पष्ट करते हैं।

इस पूरे प्रकरण के निष्कर्ष को हम यहाँ (पृ० १०१–१०३) विस्तार से देख सकते हैं। इस अध्याय के 'सुभू' (२३।६३) इत्यादि मन्त्र के भाष्य में पुनः अनेक शतपथ-वचनों को उद्धृत कर बताया गया है कि इन श्रुतियों के आधार पर ही उव्वट, सायण आदि ने अपने-अपने भाष्यों की रचना की है। अतः दयानन्दीय भाष्य की अपेक्षा इनकी श्रेष्ठता निर्विवाद है।

२४ वें अध्याय के प्रथम मन्त्र के भाष्य में अश्वमेधीय पशुओं का किस किस यूप में कितनी संख्या में नियोजन किया जाता है, इसके प्रमाण के रूप में शतपथ के वचन उद्धृत हैं। आगे १३ वें मन्त्र में वयोहोम में विनियुक्त मन्त्रों के वय शब्द के दयानन्दीय अर्थ के खण्डन के लिये शतपथ का प्रमाण दिया गया है कि यह कालवाचक शब्द है। इसी तरह से चातुर्मास्य पशुओं के प्रसंग में भी शतपथ स्मृत है (पृ० १३१)। तब अन्तिम मन्त्र (२४।४०) में अश्वमेधीय अश्वों की संख्या का परिगणन करते समय प्रमाणस्वरूप ब्राह्मण को उद्धृत किया गया है। साथ ही वहाँ यह मत भी दिखाया गया है कि जो दुर्लभ और दुर्ग्रह पशु हैं, उन सबका पट पर चित्र बनाकर उनको उपाकरण आदि संस्कारों से संस्कृत करना चाहिये। अश्व की उत्पत्ति प्रजापति से हुई है, इस विषय का यहाँ पुनः प्रतिपादन किया गया है। इसीलिये अश्वमेध यज्ञ के इस प्रकरण से ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त का विधान है। अश्व शब्द का निर्वचन भी यहाँ दिया गया है। अश्व की स्तुति यहाँ उसके प्रभू, विभू आदि १२ नामों से की गई है (पृ० १४६) और अन्त में [१]पारिप्लवाख्यान का उल्लेख कर बताया गया है कि यहाँ [२]सावन संवत्सर का ग्रहण किया गया है, पार्वण, सौर अथवा नाक्षत्र संवत्सर का नहीं।

२५ वें अध्याय के मन्त्रों का भी अश्वमेध याग में ही विनियोग है। इन मन्त्रों में प्रयुक्त द्वितीया विभक्ति भोक्त्री देवता को और तृतीया अश्व के विभिन्न भोग्य अंगों को सूचित करती है। इस विषय को शतपथ के वचनों से यहाँ समर्थन दिया गया है। २२ वें मन्त्र में उव्वटाचार्य द्वारा अपने व्याख्यान के प्रसंग में उद्धृत शतपथ के द्वितीय काण्ड के वचन का भी स्मरण किया गया है। इस अध्याय में स्वतन्त्र रूप से शतपथ द्वारा प्रतिपादित कोई विशेष विषय नहीं मिलता, किन्तु ४३ वें मन्त्र के भाष्य में शतपथ के ही अन्तिम भाग बृहदारण्यक उपनिषद् के "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः" इस वाक्य में निर्दिष्ट अश्वमेधीय प्रकरण के दार्शनिक दृष्टिकोण की विस्तार से व्याख्या की गई है (पृ० १८१–१८२)। यह अवश्य ही हमारे लिये मननीय अंश है।

---

१. अश्वमेध याग के अनुष्ठान के समय कहे जाने वाले आख्यान का नाम पारिप्लव है, जो यज्ञावकाश के समय वर्ष भर बार-बार किया जाता है। इसमें अन्य शास्त्रों के साथ इतिहास-पुराण आदि का भी वाचन होता है। इसका विशेष वर्णन म० म० पी० वी० काणे महोदय ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास के पुराण विषयक खण्ड में तथा पं० श्री बलदेव उपाध्याय जी ने अपने पुराणविषयक ग्रन्थ में किया है।

२. "वत्सरः पञ्चधा चान्द्रः, सौरः, सावनः, नाक्षत्रः, बार्हस्पत्य इति। शुक्लप्रतिपदादिदर्शान्तैश्चैत्रादिसंज्ञैर्द्वादशभिर्मासैश्चतुःपञ्चाशदधिकशतत्रयदिनैः सति मलमासे त्रयोदशभिर्मासैश्चान्द्रो वत्सरः। चन्द्रस्यैव प्रभवो विभवः शुक्ल इत्याद्याः षष्टिसंज्ञाः। मेषादिषु द्वादशराशिषु रविभुक्तेषु पञ्चषष्ट्यधिकशतत्रयदिनैः सौरो वत्सरः सम्पद्यते। षष्ट्युत्तरशतत्रयदिनैः सावनः। द्वादशभिर्नाक्षत्रमासैर्नाक्षत्रो वत्सरः। स च चतुर्विंशत्यधिकशतत्रयदिनैः स्यात्। मेषाद्यन्यतमराशौ बृहस्पतिना भुक्ते बार्हस्पत्यः। स च त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयसंख्याकैर्दिनैर्भवति" (सुगम ज्योतिष, पृ० ५१)। भाष्ये चान्द्रो वत्सरः पार्वणपदेनोक्त इति विज्ञेयम्।

२६ वें अध्याय में शतपथ का कोई वचन उद्धृत नहीं है, किन्तु अन्तिम (२६।२६) मन्त्र में होतृधिष्ण्य, मैत्रावरुण धिष्ण्य, ब्राह्मणाच्छंसी धिष्ण्य, पोतृ धिष्ण्य और नेष्टृ धिष्ण्य की व्याख्या शतपथ के आधार पर ही की गई प्रतीत होती है। यहाँ इन्हीं नाम वाले खरों का स्थान निर्धारित किया गया है।

२७ वें अध्याय में केवल २५ वें मन्त्र में शतपथ को उद्धृत किया गया है। यहाँ आख्यायिका के सहारे सृष्टि का प्रतिपादन है। इस प्रसंग में बताया गया है कि पहले सब कुछ सलिलमय था। उस जल से हिरण्मय अण्ड, संवत्सर प्रजापति, मनुष्य, देव, असुर आदि की सृष्टि हुई। इस सारी सृष्टिप्रक्रिया का स्मृतियों और पुराणों में हमें विस्तार मिलता है। यहाँ देवताओं की सृष्टि द्युलोक में बताई गई है, किन्तु आर्यसमाजी "विद्वांसो वै देवाः" इस शतपथ श्रुति के आधार पर 'देव' पद का अर्थ सर्वत्र 'विद्वान्' करते हैं। यह कितनी भ्रामक बात है, इस ओर भी भाष्यकार ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

२८वें अध्याय में केवल २१वें मन्त्र में दर्भ की उत्पत्ति को बताने वाली शतपथश्रुति का स्मरण किया गया है।

२९वें अध्याय के १४वें मन्त्र में सूर्यमण्डल की स्तुति में विनियुक्त मण्डल-ब्राह्मण के वचन को उद्धृत किया गया है। ५३वें मन्त्र में शतपथ को उद्धृत कर बताया गया है कि जब इन्द्र ने वज्र का प्रहार किया, तो उसके चार भाग हो गये। इन भागों के क्रमशः यूप, स्फ्य, रथ और शर नाम रखे गये। इनमें यूप और स्फ्य को ब्राह्मणों ने ले लिया और क्षत्रियों ने रथ और शर का ग्रहण किया। ५८वें मन्त्र में दो एकादशिन पशुओं का आलभन निर्दशित है। इस अध्याय के अन्तिम ६०वें मन्त्र में दशहविष्क अवेष्टिसंज्ञक इष्टि का प्रतिपादन करने वाली शतपथश्रुति स्मृत है।

३०वें अध्याय के केवल अन्तिम २२वें मन्त्र में ही उत्तम पुरुषों का और उनकी प्राजापत्यता का प्रतिपादन करने वाला शतपथवचन मिलता है। उसके प्रमाण से यहाँ बताया गया है कि दक्षिण में स्थित ब्रह्मा पुरुषसूक्त से होता के समान भगवान् नारायण पुरुष की स्तुति करे। यहाँ ब्रह्मा में होता के धर्मों का अतिदेश किया गया है।

मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ

प्रस्तुत खण्ड में भी प्रायः सभी मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ बताया गया है। इस प्रक्रिया में वरुण, अग्नि, प्रजापति, बृहस्पति, वायु, इन्द्र आदि देवताओं के बोधक विशेष पदों की सामान्य रूप से परमात्मपरक व्याख्या की गई है। अनेक मन्त्रों में परमात्मा (ब्रह्म) के सार्वात्म्य को, अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही है, इस बात को अनेक युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध किया गया है। ऐसे प्रसंगों में प्रायः विवर्तवाद को ही स्थापित किया गया है। ऐसा करते समय उपनिषदों, पुराणों और भगवद्गीता आदि वेदान्त के ग्रन्थों का प्रमाण के रूप में स्मरण किया गया है। भगवान् श्रीराम और उनके पार्षद हनूमान्, सुग्रीव, विभीषण आदि की भी यथाप्रसंग इस आध्यात्मिक अर्थ में चर्चा है। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी यहाँ चर्चित हैं। मित्रावरुण, अश्विनीकुमार आदि युगल देवताओं का जिन मन्त्रों में उल्लेख हुआ है, वहाँ प्रायः इनका अर्थ राम-लक्ष्मण, राम-कृष्ण, कृष्ण-बलदेव, अग्नि-वायु, वाक्-प्राण, जीवात्मा-परमात्मा, शिष्याचार्य, शास्त्राचार्य आदि किया गया है। अनेक मन्त्रों में यहाँ चिदात्मा, जीवात्मा, साधक और भक्त को भी सम्बोधित किया गया है। देव-देवी युगल की जिन मन्त्रों में चर्चा है, वहाँ प्रायः उनसे श्री-लक्ष्मी, सीताराम, रुक्मिणीकृष्ण का ग्रहण किया गया है। संवत्सरात्मक प्रजापति का यहाँ अनेक मन्त्रों में उल्लेख है। इसी तरह अश्वमेधीय अश्व प्रजापति का ही स्वरूप है, इस विषय को अनेक प्रसंगों में स्पष्ट किया गया है। भगवान् शिव को भी यहाँ यथाप्रसंग स्मरण किया गया है और साथ ही भक्तिदेवी, ब्रह्मविद्या, वेदान्तवाणी, कुण्डलिनी (२२।२), भगवती राजराजेश्वरी का भी अनेक मन्त्रों में उल्लेख है। भक्ति की यहाँ विशेष रूप में चर्चा की गई है। एक मन्त्र (२२।२५) में वर्णित नाना प्रकार के जलों की परमात्मा के रूप में ही व्याख्या की गई है।

२१ वें अध्याय के ६-७ मन्त्रों का अर्थ विशेष रूप से अवधेय है। यहाँ ब्रह्मविद्या अथवा ज्ञानरूपी नौका के सहारे संसार-सागर को उत्तीर्ण करने की बात भगवद्‌गीता के प्रमाण से स्पष्ट की गई है। २२ वें मन्त्र में बताया गया है कि क्रिया, कारक और द्रव्य सब कुछ ब्रह्मात्मक ही हैं। इस प्रसंग में भी गीता को उद्धृत किया गया है। २९ वें मन्त्र में द्रव्य, देवता, कर्म और कर्ता की ब्रह्मात्मकता वर्णित है और कहा गया है कि अग्नि, इन्द्र आदि के रूप में भगवान् की ही आराधना की जाती है। ३१ वें मन्त्र में मनुस्मृति के प्रमाण से यज्ञीय तनू का उल्लेख है। ३३ वें मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ विशेष रूप से अवधेय है। यहाँ शतपथ को उद्धृत कर बताया गया है कि परमात्मा का अंशभूत जीव भी इन्द्र के ही समान माया से मोहित होकर विशीर्ण हो जाता है। अश्विनी पद से यहाँ रामलक्ष्मण अथवा बलकृष्ण का ग्रहण किया गया है। महशक्ति सीता अथवा राधा सरस्वती है। इनकी आराधना से जीव पुनः अपने ब्रह्मात्मभाव को प्राप्त करता है। ४३ वें मन्त्र में भी प्रायः यही प्रसंग दूसरे रूप में मिलता है। यहाँ बताया गया है कि वेद-पुराण वर्णित श्रवण, मनन आदि और स्मरण, सख्य, आत्मनिवेदन आदि उपायों से अश्विनीकुमारों के प्रतीक रामलक्ष्मण के प्रति स्वात्मार्पण किया जा सकता है। ५६ वें मन्त्र के अर्थ में महाकवि भारवि के प्रमाण से यह सिद्ध किया गया है कि व्यवहार में क्रोध की भी अपेक्षा है और यह भी भगवान् का ही स्वरूप है। ६० वें मन्त्र में भी ब्रह्म की सर्वात्मकता का उल्लेख है और अन्तिम मन्त्र (२१।६१) में "सर्वतः संप्लुतोदके" (२।४५) गीता के इस वचन के भावार्थ को ग्रहण करते हुए बताया गया है कि मधुर रस के समुद्र में वापी, कूप, तडाग आदि सबका जैसे समावेश हो जाता है, उसी तरह सारी उपासनाएँ परमात्मा की प्राप्ति में ही पर्यवसित हो जाती हैं।

२२ वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में तैत्तिरीय उपनिषद् के आधार पर सत् और असत् की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। दूसरे मन्त्र में मूलाधार से ब्रह्मबिल पर्यन्त प्राप्त, बिसतन्तु के समान अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप वाली, विद्युत्पुंज के समान पिंगल, तेजोदण्डरूप कुण्डलिनी शक्ति की उपासना वर्णित है। तृतीय मन्त्र में बृहदारण्यक के प्रमाण से बताया गया है कि अश्वमेधीय अश्व की प्रजापति के रूप में उपासना करनी चाहिये। प्रजापति समष्टि जीव का अभिमानी देवता है। चौदहवें मन्त्र में भी बृहदारण्यक के प्रमाण से ही दिखाया गया है कि जो व्यक्ति सर्वत्र भेद का दर्शन करता है, उसे देवगण हेय स्थिति में डाल देते हैं। २० वें मन्त्र में ब्रह्मा, राजराजेश्वरी और विष्णु की स्तुति की गई है। २२ वें मन्त्र में बताया गया है कि अध्यात्मनिष्ठ योगी सबके सुख की कामना करता है। यहाँ "सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु" इस प्रसिद्ध श्लोक को और इसी अभिप्राय के भागवत के वचन को भी उद्धृत किया गया है।

२३ वें अध्याय के पाँचवें मन्त्र में तैत्तिरीय ब्राह्मण, मुण्डकोपनिषद् और गीता के प्रमाण से स्थापित किया गया है कि उस चिदादित्य के प्रकाश से ही चन्द्र, सूर्य, तारका आदि अन्य सभी ज्योतियों को प्रकाश प्राप्त होता है। १२ वें मन्त्र में सूर्य शब्द से चिदादित्य का और चन्द्र शब्द से सोमात्मिका षोडशी महाशक्ति का ग्रहण कर "द्वा सुपर्णा" श्रुति के प्रमाण से जीव की अल्पता और परभाव की व्यापकता प्रतिपादित है। अगले मन्त्र में ब्रह्म के विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुर्य स्वरूपों का उल्लेख है। १४ वें मन्त्र में कठोपनिषद् के प्रमाण से भोक्ता के स्वरूप का प्रतिपादन कर मनोनिग्रह पर जोर दिया गया है। १८ वें मन्त्र में प्रतिपादित है कि बुद्धि परमात्मा को चाहते हुए भी अपनी वृत्तियों की पारस्परिक स्पर्धा के कारण उसको प्राप्त नहीं कर सकती। १९ वें मन्त्र में गीता के प्रमाण से यह स्थापित किया गया है कि त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति ब्रह्मचैतन्य में प्रतिबिम्बित होकर अपने में चैतन्य की प्रतीति कर लेने पर भी विश्व की सृष्टि करने में समर्थ हो सकती है। २० वें मन्त्र के आध्यात्मिक अर्थ में शिष्य और आचार्य से प्रार्थना की गई है कि आप लोग चार पुरुषार्थों अथवा सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य नामक चतुर्विध मोक्ष की स्थिति का प्रचार करें और इस स्वर्गोपम भारतवर्ष के ज्ञानविज्ञान को सारे जगत् में फैला दें।

२१ और २२ वें मन्त्र में स्थापित किया गया है कि सत्त्व, रज और तम नामक तीनों गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति को ही आगमों में त्रिकोणा योनि (त्रिपुरा) नाम दिया गया है। इसी से सारे जगत् की उत्पत्ति होती है। २५ वें मन्त्र में बृहदारण्यक, शाटचायन, मुण्डक आदि श्रुतियों के सहारे यह उपदिष्ट है कि वाणी का व्यर्थ दुरुपयोग न करे। ३१ वें मन्त्र में प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति की महत्ता को दिखाते हुए मनुस्मृति को उद्धृत किया गया है। यहाँ और अगले मन्त्र में भी पुनः अश्वमेधीय अश्व की प्रजापतिरूपता दर्शित है। ३७ वें मन्त्र में जीव को भी अश्व बताया गया है और कहा गया है कि भगवत्स्तुति रूप सूचियों के वेध से उसका भी संस्कार किया जाता है। अगले मन्त्र में पुनः भोक्ता जीव को संबोधित कर गीता के प्रमाण से उसकी असंस्कार्यता प्रतिपादित है। ४० वें मन्त्र में भोक्ता जीव के व्यावहारिक (आध्यासिक) और पारमार्थिक स्वरूप की चर्चा है। ४८ वें मन्त्र में गीता, सूर्योपनिषद् और वाक्यपदीय के प्रमाण से दिखाया गया है कि वेदान्तवेद्य, सत्यज्ञानानन्द लक्षण ब्रह्म ही शब्दतत्त्व है और वही सारे जगत् को प्रकाशित करता है। ५० वें मन्त्र की व्याख्या दो सहपाठियों के संवाद के रूप में की गई है कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति एवं विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत अवस्थाएँ उस व्यापक विष्णु के साथ ही ओतप्रोत हैं। केवल भौतिक जगत् ही नहीं, यह सारा आध्यात्मिक और आधिदैविक जगत् भी उसीमें विलीन हो जाता है।

५८ वें मन्त्र के आध्यात्मिक अर्थ में अश्वमेधीय प्रकरण की एक अनोखी व्याख्या देखने को मिलती है कि यज्ञरूपी विष्णु की छः विशिष्ट स्थितियाँ हैं। ये हैं तीन गुण और उनके अभिमानी तीन देवता। यह अनन्त रूपों में सर्वत्र व्याप्त है। इसको ८० आहुतियाँ दी जाती हैं। पाँच शब्द आदि विषय, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और उनके पाँच विषय मिलकर २० होते हैं। इनमें से प्रत्येक के सात्त्विक, राजस, तामस और निर्गुण के रूप में चार-चार भेद होते हैं और सब मिलाकर इनकी संख्या ८० हो जाती है। चिदग्नि को प्रज्वलित करने वाले प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम नामक तीन प्रमाण ही यहाँ तीन समिधाएँ हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सात होता हैं, अथवा चार वर्ण और तीन आश्रम मिलकर सात होता होते हैं। ये परमात्मा की उपासना करते हैं। "त्रयो धर्मस्कन्धाः" इस छान्दोग्य श्रुति में आश्रमों की संख्या तीन ही मानी गई है। ६२ वें मन्त्र के आध्यात्मिक अर्थ की भी अपनी विशेषता है। तैत्तिरीय, बृहदारण्यक और स्वयं इस संहिता के प्रमाण से यहाँ बताया गया है कि परमात्मस्वरूपा चितिशक्ति ही वेदि है। यहाँ माया का विलास समाप्त हो जाता है। सारा जगत् यहीं से उद्भूत होता है और इसीमें विलीन हो जाता है। यही ब्रह्म है। वेदलक्षण वाणी का यही परम स्थान है। इसी से चारों वेदों का प्रादुर्भाव होता है।

२४ वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में ही पुनः परमात्मा के सार्वात्म्य का निरूपण है। यहाँ बताया गया है कि इस अध्याय में वर्णित सारे पशु प्रजापति की सृष्टि हैं और प्रजापति में उसी प्रकार परमात्मा अवस्थित हैं, जैसे कि मिट्टी के सारे विकारों (घट, शराव, उदंचन आदि) में मिट्टी जुड़ी हुई है। इस अध्याय के आगे के अनेक मन्त्रों में भी इसी सिद्धान्त का विस्तार मिलता है। २५ वें मन्त्र में पशुओं के समान पक्षियों और उनके अधिपति देवताओं को भी परमात्मस्वरूप ही बताया गया है। यहाँ कहा गया है कि अधिष्ठान (ब्रह्म) की सत्ता के अतिरिक्त कल्पित सत्ता को वेद-वेदान्त शास्त्रों में अस्वीकार कर दिया गया है। इस प्रकार इस पूरे अध्याय में ब्रह्म की सर्वात्मकता का ही विस्तार से वर्णन मिलता है।

२५ वें अध्याय में अश्वमेधीय अश्व की, उसके विभिन्न अंगों की और उनसे तर्पणीय देवों की ब्रह्मात्मकता प्रतिपादित है, क्योंकि ब्रह्म ही इन रूपों में भासित होता है। देवताओं की इस आराधना से भी साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। यह सब कुछ ब्रह्मात्मक है, इस विषय की पुष्टि के लिये यहाँ दूसरे मन्त्र में और अन्यत्र भी गीता का "ब्रह्मार्पणम्" इत्यादि प्रसिद्ध श्लोक प्रमाण रूप से प्रदर्शित है। अगले मन्त्रों में भी विस्तार से यही विषय वर्णित

है। सातवें मन्त्र में छान्दोग्य का "तज्जलान्" यह वचन इसी प्रसंग में उद्धृत है। ८ वें मन्त्र में बताया गया है कि द्रव्य और देवताओं का वैदिक वाङ्मय में कितना विस्तार है, अश्वमेध याग के अध्ययन से इसको जाना जा सकता है। अनेक मन्त्रों में यहाँ देवताओं की स्तुति भी की गई है। १५ वें मन्त्र में ऋग्वेद के प्रमाण से मनुष्य और देवताओं के सख्यभाव पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार १९ वें मन्त्र में ऋग्वेद के "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" इस प्रसिद्ध मन्त्र के आधार पर ही इन्द्र, मित्र, पूषा आदि देवों में एक ही परमात्मा की स्थिति प्रतिपादित है। २१ वें मन्त्र में भागवत के प्रमाण से भगवान् के अनुग्रह की महिमा गाई गई है। २४ वें मन्त्र में, अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर वर्णित इस सिद्धान्त को पुनः पुष्ट किया गया है कि जैसे शालिग्राम की पूजा करते समय उसमें विष्णु की भावना की जाती है, उसी प्रकार अश्वमेधीय अश्व में भी प्रजापति की भावना करनी चाहिये। ३०वें मन्त्र में भी इसी विषय को दुहराया गया है। २७वें मन्त्र में अश्वमेध आदि यागों के अनुष्ठान से भी देवयान मार्ग की प्राप्ति बताई गई है। ३१वें मन्त्र में वर्णित है कि केवल अश्व की ही नहीं, उसके उपयोग में आने वाले रज्जु, तृण आदि की भी उपासना प्रजापति के साथ अभेद बुद्धि रख कर की जाती है। अगले मन्त्र में यह आशा प्रकट की गई है कि अश्व के समान ही हमारी भी सारी प्रवृत्तियाँ भगवान् की प्रीति के लिये समर्पित हो जाँय। ३४वें मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि यह सब वैदिक विधि के निदेश और मन्त्र के बल से सम्भव हो पाता है। अगले मन्त्रों में भगवद्गीता, ऐतरेय ब्राह्मण आदि के प्रमाण से बताया गया है कि भक्तिभावपूर्वक समर्पित पत्र, पुष्प आदि परमात्मा के तृप्तिकारक होते हैं और सत्संकल्प से सारे विघ्नों का अपसारण अपने आप हो जाता है। ४२वें मन्त्र में व्यष्टि और समष्टि चैतन्य की चर्चा है और अगले मन्त्र में कहा गया है कि अज्ञान और लोभ से वर्जित व्यक्ति कर्मोपासना से भी अविद्या का नाश कर अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है। ४३वें मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय यह है कि व्यक्ति इस क्षणभंगुर शरीर को भी अमृतत्व की प्राप्ति का साधन बना सकता है। इसकी पुष्टि में यहाँ भागवत महापुराण का प्रमाण दिया गया है। ४५वें मन्त्र में यह बताया गया है कि प्रजापतिस्वरूप होने से अश्वमेधीय अश्व भी यजमान की कामनाओं को पूरा कर सकता है।

२६वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में भगवद्गीता में वर्णित आठ प्रकृतियों की चर्चा सात संसद् और आठवीं भूतसाधनी के रूप में की गई है। ५वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि परमेश्वर की पूजा के उपकरण जिन वस्तुओं से बनते हैं, वेद उन सबकी स्तुति करता है। पूजा के उपकरण ही नहीं, वैश्वानर परमात्मा के गरुड आदि वाहन भी छन्दोमय (वेदस्वरूप) माने जाते हैं। २२वें मन्त्र में द्रविण पद से भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार का धन अभिप्रेत है। इनकी प्रवाहनित्यता का प्रतिपादन अगले मन्त्र में है। २४वें मन्त्र में वर्णित है कि भक्त की प्रसन्नता को देख भगवान् भी प्रसन्न होते हैं। जैसे भक्तगण भगवान् को देखकर, उनके सौदर्य रूपी अमृत का पान कर तृप्त हो जाते हैं, उसी तरह से भगवान् भी भक्तों के प्रेमरूपी अमृत का पान कर प्रसन्न होते हैं। अगले मन्त्र में इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि भक्त अन्ततः सबके एकमात्र आश्रयभूत भगवान् के प्रति अपना सर्वस्व ही नहीं, स्वयं अपने को भी समर्पित कर देता है।

२७वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में भगवान् राम की चर्चा की गई है। यहाँ बताया गया है कि वसिष्ठ आदि ऋषियों के समान देवगण भी भगवान् की माधुर्य भाव से उपासना करते हैं। आगे के मन्त्रों में भी भक्त और भगवान् की चर्चा है। ४ थे मन्त्र में क्रममुक्ति और कैवल्यमुक्ति की चर्चा है। १२वें मन्त्र में बताया गया है कि प्रेम के बिना कर्म, ज्ञान और भक्तिमार्ग रूखे रह जाते हैं, इनको प्रेमरस से ही स्निग्ध किया जा सकता है। १४वें मन्त्र में ज्ञान, ध्यान रूपी यज्ञ के अनुष्ठान से, प्रज्ञान अथवा भक्ति के बल से भगवान् की प्राप्ति की बात कही गई है। १६वें मन्त्र में भागवत को उद्धृत कर बताया गया है कि मृषावाद से वाणी की, मृषागति से मन की और असत्पथ से इन्द्रियों की निवृत्ति भगवान् के अनुग्रह से ही हो सकती है। कुत्ते और सियार आदि के भक्ष्य इस शरीर से अहन्ता-ममता की निवृत्ति, देवमाया का

अतितरण आदि सब कार्य विवेक-ज्ञान के रहते हुए भी तब तक पूरे नहीं हो सकते, जब तक कि भगवान् का अनुग्रह नहीं प्राप्त हो जाता। १९ में मन्त्र में इडा को इन्द्रियों की, सरस्वती को ज्ञान-विज्ञान की और भारती को वाणी की अधिष्ठात्री देवी बताया गया है। २०वें मन्त्र में रत्न, सुवर्ण आदि को बाह्य धन तथा ज्ञान, वैराग्य आदि को आन्तर धन कहा है। २३वें मन्त्र में मुण्डक श्रुति के प्रमाण से आत्मज्ञ की महिमा वर्णित है और महिम्नस्तोत्र के प्रमाण से बताया गया है कि यज्ञ आदि कर्मों के अनुष्ठाता को कर्मफल प्राप्त कराने की सारी जिम्मेदारी भगवान् स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं। २५वें मन्त्र में शतपथ की आख्यायिका के आधार पर सृष्टि की प्रक्रिया प्रतिपादित है। यहाँ देवसृष्टि का द्युलोक से सम्बन्ध बताया गया है, अतः पृथ्वीलोक में स्थित विद्वान् मनुष्यों को ही देवता के नाम से सम्बोधित करने वाले आर्यसमाजियों की इस विसंगति पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। यहाँ संवत्सर शब्द की व्युत्पत्ति भी देखने योग्य है। २७वें मन्त्र में बताया गया है कि अर्थशास्त्र में धर्मानुबन्ध और अर्थानुबन्ध की प्रक्रिया से प्राप्त धन को ही आदर दिया गया है, अधर्मानुबन्ध, अनर्थानुबन्ध अथवा अननुबन्ध धन को नहीं। ३१वें मन्त्र में कहा गया है कि आध्यात्मिक अर्थ करते समय मन्त्रों में आये पदों का भगवदर्थ में विनियोजन सरलता से किया जा सकता है। सहस्र पद अनन्त का बोधक है, इस विषय को तो अनेक स्थलों पर बताया गया है। ४२वें मन्त्र में परमात्मस्वरूप अग्नि को [1]षड्विध भावविकार से वर्जित बताया गया है। अगले मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह हमें अविद्या के प्रपंच से मुक्त कर अपने स्वरूप का साक्षात्कार कराते हुए हमारी रक्षा करे। ४४वें मन्त्र में भी भक्तगण इसी प्रकार की प्रार्थना करते हैं। अन्तिम मन्त्र (२७।४५) में सुपर्णाकार चिति में प्रतिष्ठित परमात्मस्वरूप अग्नि की पंचसंवत्सरात्मक काल के रूप में स्तुति की गई है।

२८वें अध्याय के तीसरे मन्त्र में भक्तों के द्वारा प्रेम से लबालब भरी भक्ति और श्रद्धा से दिये गये पत्र-पुष्प आदि को भी भगवान् ग्रहण करते हैं, इस विषय को पुनः गीता के वचन को उद्धृत कर कहा गया है। ९वें मन्त्र में बताया गया है कि यह भगवान् ही मत्स्य, कूर्म, वराह, ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि का रूप धारण कर रावण जैसे कण्टकों का शोधन करते हैं। कामधेनु, चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कौस्तुभ आदि बाह्य धन और ज्ञान, वैराग्य आदि आन्तर धन से वस्तुतः वही सम्पन्न है। उसी के प्रसाद से व्यक्ति दोनों प्रकार से धन के सम्पन्न होता है। ३१वें मन्त्र की संगति अधिष्ठान ब्रह्म के साथ विद्यमान तीन महाशक्तियों से की गई है और इन तीन शक्तियों का उल्लेख महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती के रूप में ४१वें मन्त्र में किया गया है। ज्ञान और क्रियाशक्ति भोग और अपवर्ग की दात्री है, इस विषय का उल्लेख ३८वें और ४०वें मन्त्र में मिलता है।

२९वें अध्याय के पहले मन्त्र में तैत्तिरीय और ईशावास्य उपनिषदों के प्रमाण से ब्रह्म के सर्वसाक्षी सर्वान्तर्यामी सोपाधिक स्वरूप को चर्चा है। चौथे मन्त्र में अदिति शब्द का अर्थ अखण्डनीय, निर्गुण, निर्विशेष और सविशेष चितिशक्ति किया गया है और यहाँ ललितासहस्रनाम का प्रमाण दिया गया है। ७वें मन्त्र में दिव्य दम्पती के रूप में सीताराम, रुक्मिणीकृष्ण, सत्त्वक्षेत्रज्ञ, बुद्धि-जीवात्मा अथवा [2]पुरंजन-पुरंजनी का ग्रहण किया गया है। अश्वमेधीय प्रकरण में अश्व की प्रजापति के रूप में अथवा संवत्सरात्मक काल के रूप में उपासना की जाती है, यह विषय तो यहाँ अनेक बार उल्लिखित है, किन्तु २२वें मन्त्र में प्रजापतिरूप अश्व की कूर्म और ब्रह्माण्डपुराण एवं मनुस्मृति के प्रमाण से अग्न्यादिरूपता भी वर्णित है। २३वें मन्त्र के आध्यात्मिक अर्थ में बताया गया है कि अन्य सारे पशु इस अश्वमेधीय

---

१. षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः—जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति" (निरु० १।३)।

२. श्रीमद्भागवत चतुर्थ स्कन्ध के २५–२८ अध्यायों में वर्णित पुरंजनोपाख्यान देखिये।

अश्व के ही अंगभूत हैं। इसकी महिमा अपार है। २४वें मन्त्र में उपासना से समुच्चित कर्म का माहात्म्य दिखाया गया है। २९वें मन्त्र में ईशावास्य श्रुति के प्रमाण पर अध्यारोप और अपवाद न्याय से ब्रह्म के साक्षात्कार की चर्चा है। ३१वें मन्त्र में प्रतिपादित है कि विद्या और अविद्या, कर्म और उपासना का समन्वित रूप ही योनि है। यही सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति है और यही त्रिकोणा भगवती त्रिपुरसुन्दरी है। ३३वें मन्त्र में भारती, इडा और सरस्वती को इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप तीन शक्तियों का प्रतिनिधि माना गया है। ३८वें मन्त्र में प्रतिपादित है कि चण्डीकवच, नारायणकवच और ब्रह्मसाक्षात्कार लक्षण कवच को धारण कर साधक काम, क्रोध, लोभ, दंभ, मोह आदि से अविजित रहता है। ३९-४० मन्त्रों में मुण्डक और कठ श्रुति को उद्धृत कर इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की विधि प्रदर्शित है। ४१वें मन्त्र में उपनिषदों और पुराणों के प्रमाण से काशी में मृत्यु होने पर मुक्ति की बात बताई गई है। इसी प्रकार ४२वें मन्त्र में प्रश्नोपनिषद् के प्रमाण से समष्टि जीवस्वरूप हिरण्यगर्भ की अधिष्ठानभूत ब्रह्म में अध्यस्तता उल्लिखित है। अगले मन्त्र में कठोपनिषद् के "आत्मानं रथिनं विद्धि" इस वचन की व्याख्या की गई है और ४४वें मन्त्र में गीता के प्रमाण से बताया गया है कि विषयविषयक प्राण तो भगवद्विषयक वासना से क्षीण हो जाते हैं, किन्तु भगवद्विषयक प्राण स्वयं कभी नष्ट नहीं होते। वे अपने विपक्षी काम आदि शत्रुओं का ही नाश करते हैं। ४५वें मन्त्र में कहा गया है कि मनुष्य की देह का रथवाहण यह पहला नाम है और दूसरा नाम हविर्धान है। नारायणकवच, शिवकवच, चण्डीकवच और नाना प्रकार के न्यासों से इसकी रक्षा की जाती है। ४८वें मन्त्र में जीवन्मुक्ति की प्राप्ति की प्रक्रिया दिखाई गई है और अगले मन्त्र में प्रत्यक् चिति को ही राजराजेश्वरी भगवती महात्रिपुरसुन्दरी कहा गया है। अन्तिम तीन मन्त्रों (२९।५८-६०) में पुनः परमेश्वर का सार्वात्म्य वर्णित है।

३०वें अध्याय के पहले मन्त्र में अतिष्ठापद का उल्लेख है। इस अध्याय के भी अनेक मन्त्रों में ब्रह्म की सर्वात्मकता प्रतिपादित है। ८वें मन्त्र में कहा गया है कि देवताबोधक विविध पदों के विविध अर्थ अवश्य हो सकते हैं, किन्तु उन सबमें एक ब्रह्म का स्वरूप ही सर्वत्र झलकता है। यहाँ प्रसिद्धि की प्रधानता को दिखाने लिये परमात्मपरक अर्थ की विशेष व्याख्या नहीं की गई है। १०वें मन्त्र में सभी द्रव्यों और देवताओं की आनन्दरसात्मकता निर्दिष्ट है। १३वें मन्त्र में पुरुष-पशुओं की ब्रह्मात्मकना बोधित है। १६वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि आधिदैविक और आधिभौतिक सारे पदार्थ आध्यात्मिक ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। अतः राग और द्वेष से मुक्त होकर साधक को सदा सर्वत्र ब्रह्म का ही अनुसन्धान करना चाहिये। इस अध्याय के अन्तिम २२वें मन्त्र में भगवद्गीता और स्वयं इस संहिता के प्रमाण से पशु, पुरोडाश, ब्रह्मा आदि ऋत्विक्गण और यजन आदि के फल के रूप में भी सर्वत्र ब्रह्मरूपता की भावना करने का विधान है।

स्वामी दयानन्द के भाष्य की समालोचना

वेदार्थपारिजातकार ने यहाँ स्वामी दयानन्द के भाष्य का पूरी तरह से खण्डन किया है। हमने स्वामी दयानन्द के भाष्य की सामान्य त्रुटियों का उल्लेख विस्तार से ११-१५ अध्यायों के भाष्यनिष्कर्ष (पृ० २३-२५) में कर दिया है। प्रसंगवश 'देव' आदि पदों के विषय में यहाँ भी कुछ इंगित है। पहले ही मन्त्र (२१।१) में वरुण पद का अर्थ विद्वान् पुरुष किया है। तीसरे मन्त्र में किये गये 'अव' पद की निषेधार्थकता में कोई प्रमाण नहीं दिया गया। अग्नि, वरुण आदि पदों के मुख्य अर्थ को छोड़ देने में भी कोई प्रमाण नहीं है। ५वें मन्त्र में पृथ्वी की सत्य पत्नी के साथ तुलना असंगत है। पृथिवी तो षड्विध भावविकारों से सम्पृक्त है, अतः उसकी अजरता भी नहीं मानी जा सकती। ७वें मन्त्र का अर्थ किया गया है—हे मनुष्यों! मैं सौ पतवार वाली नाव पर चढ़ता हूँ। यहाँ वक्ता कौन है? यह स्पष्ट निर्दिष्ट नहीं है। जीव के वक्ता होने पर वेद की पौरुषेयता का दोष आवेगा और ईश्वर को नाव पर चढ़ कर नदी,

समुद्र आदि को पार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ८वें मन्त्र में मित्रावरुण पद का प्राण और उदान के समान वर्तमान शिल्पिद्वय अर्थ किया है। शिल्पियों की प्राण और उदान से क्या समानता हो सकती है? इसको स्वामी दयानन्द ही जान सकते हैं। नवें मन्त्र की भी यही स्थिति है। १५वें मन्त्र में त्रिवत्स पद से देह, इन्द्रिय और मन का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं दिया गया। २३वें मन्त्र में रथन्तर और स्तोम पदों की मनमानी व्याख्या इनके वैदिक वाङ्मय के अज्ञान को उजागर करती है, क्योंकि त्रिवृत्, पंचदश आदि स्तोम और रथन्तर आदि साम वैदिक परम्परा में अतिप्रसिद्ध हैं। इस वैदिक प्रसिद्धि के विपरीत अर्थ करना कथमपि उचित नहीं है। इससे समाज में केवल उच्छृङ्खलता पनपती है। आगे के कुछ मन्त्रों में इसी प्रकार के दोषों को दिखाया गया है। इनमें एकविंश, सप्तविंश आदि व्यवहारों का उल्लेख तो किया गया है, किन्तु इनका स्वरूप क्या है? इस विषय में स्वामी दयानन्द मौन हैं। २९वें मन्त्र में वर्णित जीव की धूम्रवर्णता भी पूरी तरह से निराधार है, क्योंकि जीव का तो कोई रूप होता ही नहीं।

३२वें मन्त्र में कर्कन्धु पद का क्रियापरक अर्थ करना अतीव हास्यास्पद है। ३५वें मन्त्र में श्येन (बाज पक्षी) पद का अर्थ विद्वान् मनुष्य ३६वें मन्त्र में सीस पद का धनद और ३९वें मन्त्र में वनस्पति पद का किरणपालक अर्थ किया गया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं कराया गया। अन्य मन्त्रों में भी इस तरह के मनमाने अर्थ किये गये हैं। लोक में किस पद की संगति किसके लिये किस कारण से होती है, यह लोकव्यवहार से भी ज्ञात हो जाता है। इसके लिये वेद के उपदेश की कोई अपेक्षा नहीं है (पृ० २५)। ४२वें मन्त्र की भी यही स्थिति है। ४३वें मन्त्र में 'गृभ' पद का अर्थ स्त्री किया है, किन्तु उसमें भी कोई प्रमाण नहीं दिया गया। ४६वें मन्त्र में भाष्यकार ने स्वामी दयानन्द से अनेक प्रश्न किये हैं, उनका उनके पास कोई उत्तर नहीं है। संस्कृत-हिन्दी भाष्य और भावार्थ की असंबद्धता तो अनेक मन्त्रों में दिखाई पड़ती है। सरस्वती आदि अतिप्रसिद्ध पदों के भी यहाँ मनमाने अनेक अर्थ किये गये हैं। वेद में सर्वत्र सरस्वती पद का एकवचन में तथा उसके साथ अश्विनी पद का द्विवचन में प्रयोग क्यों किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर भी उनके पास नहीं है। ५६वें मन्त्र में 'अश्वि' पद से जलविद्युत् का, वनस्पति पद से सूर्य का और सरस्वती पद से नीति का ग्रहण भी निराधार है। अगले मन्त्र में अध्वर पद की शिल्पार्थता की भी यही स्थिति है। ५८वें मन्त्र में स्विष्टकृत् पद का अर्थ भी इनकी वैदिक परम्परा से अनभिज्ञता को उजागर करता है। यहाँ अन्तिम मन्त्र (२१।६१) में बताया गया है कि इस प्रकार इनका यह पूरा व्याख्यान नाना प्रकार की विसंगतियों का पिटारा है।

२२वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में असंगति यह है कि यहाँ मनुष्य को आयुपा कहा गया है। जो अपनी आयु की रक्षा करने में असमर्थ है, वह भला दूसरे की आयु की रक्षा क्या करेगा? दूसरे मन्त्र में बुद्धि की वक्तृता का उल्लेख है। बुद्धि वक्ता कैसे हो सकती है? यदि कहें कि बुद्धि से विचार कर लेने के बाद ही मनुष्य कुछ बोलता है, तो इसमें दोष यह आवेगा कि हमारे मत में शब्द नित्य हैं, अतः उनकी बुद्धिपूर्वकता नहीं मानी जा सकती। ५वें मन्त्र में श्रेष्ठ पुरुष द्वारा अश्व के ताडन की बात कही गई है, किन्तु यहाँ यह नहीं बताया गया कि श्रेष्ठ पुरुष किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये अश्व का ताडन करता है? मन्त्र में ताडनार्थक और रोधनार्थक कोई पद है भी नहीं। स्वाहा, हिंकार आदि पदों के अर्थ और उनकी उत्तम क्रिया आदि के स्वरूप पर तो अनेक बार प्रश्नचिह्न लगाया जा चुका है। चार्वाकों के समान यज्ञ का केवल इष्ट प्रयोजन मानने वालों के यहाँ अश्व की हिंकार आदि क्रियाओं का क्या विशेष फल हो सकता है? ८वें मन्त्र में 'सब तरह की सुख प्राप्ति करते हैं' इस पूरे वाक्य के बोधक पद मन्त्र में हैं ही नहीं।

१३वें मन्त्र में विद्या की प्राप्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना की गई है। विद्या की प्राप्ति तो गुरु की सेवा से ही हो सकती है, इसके लिये केवल परमात्मा की प्रार्थना से कुछ नहीं मिल सकता। १५वें मन्त्र के दयानन्दीय अर्थ में दोष यह है कि लौह, सुवर्ण, मणि आदि के लिये हव्य पद का प्रयोग अनुचित है, क्योंकि इनकी आहुति कहीं भी नहीं

दी जाती। बुध् धातु का प्रयोग अग्नि को प्रज्वलित करने के अर्थ में कहीं नहीं मिलता। उत् उपसर्ग के साथ इस धातु का प्रयोग उद्बोधन के अर्थ में अवश्य होता है। अग्नि के प्रज्वालन से उसकी किसी प्रकार की संगति नहीं बैठती। १५-१७ मन्त्रों में भौतिक अग्नि को अमृत कहा गया है, यह भी सम्भव नहीं है। परमाणु रूप अग्नि का यहाँ ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें आहुति नहीं दी जाती। परमाणु रूप अग्नि के लिये वेद में कहीं इस पद का प्रयोग किया भी नहीं गया है। फिर भौतिक अग्नि दिव्य भोगों का सम्पादन करने में असमर्थ है। १९वें मन्त्र में आपके मत से वह्नि के सेचन का विधान है, किन्तु ऐसा करने पर तो उसका लोप ही हो जायगा। यहाँ आत्मा की व्यापकता भी नहीं दिखाई जा सकती, क्योंकि आपके मत में आत्मा अणु है। २०वें मन्त्र में स्वाहा पद का जो सत्य क्रिया अर्थ किया गया है, उसके विषय में अनेक स्थलों पर कहा जा चुका है और आगे भी कहा जायगा। आधीत, भूयः आदि शब्दों का अर्थ भी इसी तरह की असंगतियों से भरा हुआ है। २२वें मन्त्र में कर्म से वर्ण-व्यवस्था मानने पर पुनरुक्ति आदि दोषों की उद्भावना की गई है। इस अध्याय के अन्तिम ३४वें मन्त्र में संसर्प और अंहस्पति शब्द के जो अर्थ दयानन्दीय भाष्य में किये गये हैं, उनसे भारतीय ज्योतिःशास्त्र में प्रसिद्ध इन शब्दों के अर्थ की उनको कोई जानकारी नहीं है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। वस्तुतः ये दोनों शब्द मलमास के पहले और बाद में पड़ने वाले दोनों अधिक मासों के लिये क्रमशः प्रयुक्त होते हैं। मलिम्लुच शब्द का प्रयोग भी प्रत्येक तीन वर्ष में आने वाले अधिक मास (मलमास) के लिये होता है। सामान्य भारतीय धार्मिक प्रजा भी इन शब्दों से प्रायः परिचित है।

२३वें अध्याय के तीसरे मन्त्र में निराकार परमेश्वर के प्रति भक्तिविशेष की और उनकी कमनीयता की कल्पना पूरी तरह से निराधार है। पंचम मन्त्र के दयानन्दीय अर्थ का खण्डन विशेष रूप से द्रष्टव्य है। यहाँ अनेक पदों का अर्थ द्रविड़ प्राणायाम की पद्धति से किया गया है। उपासना के लिये हृदय-स्थल का सहारा लिया जाता है, मर्मस्थल का नहीं। यहाँ का भावार्थ मूल मन्त्र के अक्षरों से पूरी तरह से असंबद्ध है। छठे मन्त्र में भी दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक की चर्चा कर बताया गया है कि इस तरह का कोई पद मन्त्र में नहीं है। अन्य भी अनेक असंगतियाँ यहाँ दिखाई गई हैं। सातवें मन्त्र में शिल्पी का अथवा कलायन्त्र का बोधक पद है ही नहीं, तो भी अश्व और वात आदि पदों के ये अर्थ कर दिये गये हैं। ८वें मन्त्र का अर्थ 'अव्यापारेषु व्यापारम्' वाली कहावत को चरितार्थ करता है। वसु, छन्द, लाजा आदि पदों का यहाँ मनमाना अर्थ किया गया है। भूभ्रमण की भी यहाँ बिना प्रसंग के चर्चा कर दी गई है।

१२वीं कण्डिका का अर्थ ब्रह्महोत्र और ब्रह्मोद्य की बोधक श्रुति के विपरीत है। सूर्य की आकर्षण शक्ति का भी वेद में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। अश्व पद का अर्थ अग्नि करने पर वह मार्ग को कैसे व्याप्त करता है, इसका स्वरूप बताना पड़ेगा। प्राणात्मक वायु जड़ है, वट आदि वृक्ष भी जड़ हैं। इन जड़ पदार्थों की प्रार्थना और स्तुति करना उनके अपने सिद्धान्त के ही विपरीत है (पृ० ८४)। १४वें मन्त्र में भी प्राण, सोमपुरोगव आदि पदों का अर्थ निष्प्रमाण है। ब्रह्म पद महायोगी का बोधक कैसे हो जायगा ? अगले मन्त्र में विद्यमान यज् धातु की गत्यर्थकता तो किसी तरह से मानी भी जा सकती है, किन्तु उसकी इच्छार्थता में कोई प्रमाण नहीं है। १६वें मन्त्र में सुख शब्द के मूल में न रहने पर भी उसका निरर्थक अध्याहार किया गया है। १७वें मन्त्र में पशु शब्द के असंगत अर्थ की ओर इंगित करने के लिये घट धातु का उदाहरण दिया गया है। अगले मन्त्र में अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका, अश्व आदि शब्दों के किये गये असंगत अर्थों की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। १९वें मन्त्र में न्यायाधीश अर्थ की असंबद्धता को बताते हुए सिद्धान्त पक्ष को ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों का समर्थन देते हुए उसकी प्रासंगिकता को भी स्पष्ट किया गया है। २०वें मन्त्र में राजा और प्रजा, अध्यापक और उपदेशक की चर्चा को अप्रासंगिक बता कर वृषा और वाजी शब्दों के दयानन्दीय अर्थ की निर्मूलता दिखाई गई है।

२१वें से ३१वें मन्त्र तक की मनमानी व्याख्या कर स्वामी दयानन्द ने महीधर आदि के व्याख्यान पर अश्लीलता का आरोप लगाया है। प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या में इनका सामान्यतः खण्डन करते हुए वेदार्थपारिजातकार ने अन्त में (पृ० १०१-१०३) इस दोष का परिहार विशेष रूप से किया है। ३२वें मन्त्र में पुनः इसी सिद्धान्त को पुष्ट किया गया है। अगले मन्त्र में स्वयंवर का कोई प्रसंग न होते हुए भी, इसके बोधक पद के अभाव में भी उसकी चर्चा की गई है और त्वक्, रजत, सीस आदि पदों का यथेच्छ अर्थ किया गया है। इसी तरह आगे भी मूल मन्त्र में अविद्यमान पदों का बिना प्रयोजन के अध्याहार कर लिया गया है। ५०वें मन्त्र में वस्तुतः परमात्मा के अस्तित्व की कोई चर्चा न होकर उसके आवेश के विषय में प्रश्न है। आपके मत से परमात्मा निराकार, निरवयव और निरंग है। अतः प्रस्तुत मन्त्र में आपके मत से अंग की कल्पना भी निराधार है। ५८वें मन्त्र में अशीति पद की अनन्तार्थ-बोधकता भी उचित नहीं है, क्योंकि शत, सहस्र आदि पदों की ही अनन्तार्थता मानी गई है। अनेक मन्त्रों में यहाँ स्पष्ट ही महीधर आदि प्राचीन भाष्यकारों से सहायता ली गई है, तथापि वे उन पर अनुचित आक्षेप करने से कभी चूकते नहीं। ६२वें मन्त्र में वेदि, नाभि, सोम आदि पदों का असंगत अर्थ किया गया है। ६३वें मन्त्र की भी निराकार-वाद की दृष्टि से कोई संगति नहीं बैठती, क्योंकि निराकार बीजधारण में समर्थ नहीं हो सकता। इसमें संकल्प की भी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि निराकार पक्ष में आत्मा और मन के संयोग का अभाव है और इसके बिना संकल्प भी नहीं हो सकता। ६४वें मन्त्र में शतपथ के अनुसार महिम नाम के ग्रह का उल्लेख है। महिम पद का महत्त्व अर्थ करना पूरी तरह से अप्रासंगिक है।

२४वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में बताया गया है कि अमरकोश के श्लोकों से जैसे कोई चिकित्सा करने लगे, उसी तरह का यहाँ अर्थ किया गया है। यहाँ अनेक प्रश्न पूँछ कर कहा गया है कि इनका उत्तर देना समाजियों के लिये अत्यन्त कठिन है। चौथे मन्त्र में प्लीहा शब्द के अर्थ की विसंगति को दिखा कर भावार्थ में निर्दिष्ट पशु-पक्षियों में उनके लिये निर्दिष्ट गुणों की अनुपलब्धि दिखाई गई है। छठे मन्त्र के भावार्थ में कहा गया है कि मनुष्यों को अग्नि की आकर्षण क्रिया, पृथिवी की धारण क्रिया और वायु की प्ररोहण क्रिया को जान कर अपने हित में इनका उपयोग करना चाहिये। कैसे करना चाहिये ? इसकी यहाँ कोई विधि नहीं बताई गई है। शब्द की ज्ञापकता और रूढि की योगापहारिता पर इन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया है। ये सारी बातें उसी को उचित लग सकती हैं, जो वैदिक प्रक्रिया से पूरी तरह से अनभिज्ञ हो। १३वें मन्त्र के व्याख्यान में सारा उपक्रम मूर्खों को ठगने जैसा है। बहुत अधिक पदों का अध्याहार करने पर भी अर्थ में स्पष्टता नहीं आ पाई है। १४वें मन्त्र में अन्वय, मन्त्रार्थ और भावार्थ परस्परविरोधी हैं। गाल पर हुए फोड़े के समान यह उनका दोष अनेक स्थलों पर देखने को मिलता है। १८वें मन्त्र में संचर पद का अर्थ मार्ग किया गया है, जिसकी यहाँ कोई प्रासंगिकता नहीं है। इससे भाष्यकार की उच्छृङ्खलता ही प्रकट होती है। १९वें मन्त्र में बताया गया है कि शब्दशास्त्र में की गई स्वेच्छाचारिता का भी यह एक अच्छा उदाहरण है। वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, शुनासीरीय जैसे वेदों में अतिप्रसिद्ध शब्दों के अर्थों से भी ये पूरी तरह से अपरिचित हैं। २०वें मन्त्र में दयानन्दीय मत के खण्डनार्थ किसी अभियुक्त (प्रामाणिक व्यक्ति) का वचन उद्धृत है। २४वें मन्त्र में यह नहीं दिखाया गया है कि विद्वान् मनुष्यों की पत्नियों और बहिनों को दिये जाने वाले पक्षियों का उनके लिये क्या उपयोग है ? २८वें मन्त्र के तथा इस अध्याय के अन्य मन्त्रों के अर्थ की भी स्थिति अस्पष्ट है कि इन पक्षियों का और पुरुषों का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

२५वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में दयानन्दीय पद-पदार्थों का विस्तार से उल्लेख कर उसका खण्डन किया गया है कि मूल में 'अवबोधयामि' पद नहीं है। शुक्ल पद की वीर्यार्थता, कृष्ण पद की कर्षणार्थता, स्वाहा पद की ब्रह्मचर्य-क्रियार्थता अथवा सुन्दरशीलयुक्तक्रियार्थता किसी कोश ग्रन्थ में नहीं मिलती और न व्याकरण आदि से ही इसको

सिद्ध किया जा सकता है। ये सब अर्थ श्रुति एवं सूत्र के विरुद्ध भी हैं। दूसरे मन्त्र में प्राण और अपान पदों का इनका अर्थ देखने लायक है। तीसरे मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि अश्वमेधीय प्रकरण का श्रुतिसूत्रसमर्थित अर्थ सायण, महीधर आदि के द्वारा ही किया गया है, वही उचित भी है। चौथे मन्त्र के व्याख्यान में शांखायन श्रुति का भी विरोध दिखाया गया है। आठवें मन्त्र में दिखाया गया है कि वैदिक द्रव्य और देवताओं से स्वामी दयानन्द पूरी तरह से अपरिचित हैं। इसीलिये क्रोड, पाजस्य, जत्रु, हृदयौपश, पुरीतत्, मतस्ना जैसे शब्दों के इन्होंने बड़े अनोखे अर्थ किये हैं। १२वें मन्त्र में प्रजापति के दो बाहुओं का उल्लेख करना इनके निराकारवाद के विपरीत है। १५वें मन्त्र के अर्थ की निर्मूलता को दिखाकर कहा गया है कि गुरुजनों को आज्ञा नहीं दी जा सकती, आयु की वृद्धि विद्वान् मनुष्य के वश की बात नहीं है और विद्यादाता के प्रति गुरु-बुद्धि रखी जाती है, सख्यभाव नहीं। २०वें मन्त्र में 'पृषत्' पद का अर्थ उनकी अपनी ही उक्ति के विपरीत है।

२२वें मन्त्र में बताया गया है कि विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न देवताओं को आप मानते नहीं और घृत आदि की आहुतियों से आप केवल वायुशुद्धि रूप दृष्ट प्रयोजन मानते हैं। तब इनसे आपके अभीष्ट की सिद्धि कैसे होगी? आप भी तो अनेक मन्त्रों में अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये प्रार्थना और स्तुति का उल्लेख करते हैं। ३४ वें मन्त्र में बताया गया है कि ह्रस्व 'शु' शब्द से दीर्घ शूल शब्द नहीं बन सकता। यहाँ इन्द्रियों की आहंकारिकता और भौतिकता का भी उल्लेख किया गया है। ३८वें मन्त्र में विशेष रूप से यह दिखाया गया है कि अध्याहार का सहारा लेकर तो आपके भाष्य से ही आपके मत का भी खण्डन किया जा सकता है। यहाँ भी अनेक मन्त्रों में पदों के असंगत अर्थ को दिखाकर कहा गया है कि ऐसा करने से श्रुतहानि और अश्रुतकल्पना का दोष आता है। ४६वें मन्त्र में बताया गया है कि सादृश्य के अभाव में दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकभाव नहीं बन सकता। सुख अपने कर्मों के अनुसार अनायास मिल जाता है और भुवन को धारण करने के लिये प्रयत्न की अपेक्षा है। इसको धारण करने में मनुष्य समर्थ भी नहीं हो सकता। फिर 'स दाधार' इस मन्त्र में परमेश्वर को ही भुवनों का धारक बताया गया है, मनुष्य को नहीं। वैद्य पद मूल में है ही नहीं। सत्कार तो लोकतः प्राप्त है। इसके लिये वैदिक विधान की अपेक्षा नहीं है।

२६वें अध्याय के पहले मन्त्र में स्वामी दयानन्द ने सात संसदों और आठवीं भूतसाधनी का उल्लेख तो किया है, किन्तु इनका स्वरूप उन्होंने नहीं बताया। दूसरे मन्त्र में दयानन्दीय मत का खण्डन करते हुए बताया गया है कि पूर्णकाम परमेश्वर की कोई कामना नहीं हो सकती और न वेदवाणी का किसी को उपदेश करते हुए वे देखे गये हैं। तीसरे मन्त्र में यश का बोधक पद नहीं है। द्युमत् और क्रतुमत् शब्दों से मन और बुद्धि का ग्रहण नहीं किया जा सकता और पति शब्द का पालक अर्थ है, पालन में उसकी वृत्ति नहीं मानी जा सकती। पाँचवें मन्त्र में बताया गया है कि मनुष्य कभी भी सूर्य के समान नहीं हो सकता और न वह गर्जनयुक्त किरणों के साथ कहीं जाता ही है। आपके मत में अग्नि जड़ है, अतः तदनुसार छठे मन्त्र में जड़ अग्नि से प्रार्थना नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रार्थना तो चेतन से ही की जा सकती है। जड़पूजा को तो आप निन्दनीय मानते हैं। सातवें मन्त्र में 'साप्नोति' क्रिया पद नहीं है और आठवें मन्त्र में वैश्वानर और उक्थ पदों के आपके दिये अर्थ असंगत हैं। नवें मन्त्र में पाञ्चजन्य पद से किसी एक मनुष्य का ग्रहण अनुचित है। १०वें मन्त्र में दर्शित लौकिक नृपति की वज्रहस्तता सम्भव नहीं है और न यह नियमित रूप से सोलह कलाओं से सम्पन्न ही हो सकता है। अगले मन्त्र में दिखाया गया है कि लौकिक राजा प्रजा के दुःख को पूरी तरह से दूर नहीं कर सकता। उसके द्वारा रक्षित प्रजा को भी व्याधि, जरा, मरण आदि का दुःख सताता ही रहता है। १२वें मन्त्र में दिखाया गया है कि राजा के द्वारा किये जाने वाले सत्कार की मन्त्र में कोई चर्चा नहीं है। १७वें मन्त्र में दिखाया गया है कि इन्द्र पद से ऐश्वर्यवान् अर्थ का बोध तो किसी तरह से हो सकता है, किन्तु उसका अर्थ 'ऐश्वर्य' किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। 'यज्यु' पद का अर्थ भी सही नहीं है। १८वें मन्त्र में

शास्ति और सुखानि ये दोनों पद नहीं हैं। अगले मन्त्र में धर्म्य और अधर्म्य व्यवहार में देवता की जैसे कोई अपेक्षा नहीं है, उसी तरह से ज्ञान में विद्वान् की अपेक्षा होते हुए भी व्यवहार में इसका कोई प्रयोजन नहीं है। 'त्वष्टृ' पद का अर्थ २०वें मन्त्र में देदीप्यमान पति किया गया है, किन्तु यहाँ बहुवचन में यह पद प्रयुक्त है, क्या यहाँ आप अनेक पतियों की कल्पना करेंगे। अगले दो मन्त्रों में नेष्टृ शब्द की भी ऐसी ही स्थिति है। २३वें मन्त्र में इन्द्र, सोम, शश्वत्तम आदि शब्दों का अर्थ भी निराधार है। इस अध्याय के अन्तिम २६वें मन्त्र में बताया गया है कि स्वामी दयानन्द द्रोणकलश आदि वैदिक शब्दों से पूरी तरह से अपरिचित हैं। सोम के प्रसंग को छोड़ कर विद्वान् मनुष्य की चर्चा करना भी पूरी तरह से असंगत है।

२७वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में बताया गया है कि ऋतुएँ तो जड़ हैं, वे प्रार्थना को सुनने में असमर्थ हैं। फिर आपके मत में जड़ की प्रार्थना भी अनुचित है। तृतीय मन्त्र में दिखाया गया है कि विद्वान् मनुष्य किसी की प्रार्थना को पूरा करने में असमर्थ है। 'अभिमाति' पद यहाँ शत्रु के लिये प्रयुक्त है। इससे अभिमान का बोध नहीं हो सकता। चौथे मन्त्र में क्षत्र पद और चिनोति धातु का अर्थ अशुद्ध दिया गया है। ५वें मन्त्र में भी क्षत्र और अग्नि पदों की यही स्थिति है। छठे मन्त्र से असत्य पद है ही नहीं। ७वें मन्त्र में दिखाया गया है कि धर्म एवं ब्रह्म के प्रतिपादक वेद में राजनीति-परायण मनुष्य के वर्णन की कोई अपेक्षा नहीं है। शिव पद का अर्थ सभ्य करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। नवें मन्त्र में भी इसी तरह की अनेक असंगतियाँ दिखाई गई हैं। ११ वें मन्त्र में सूनु शब्द का अर्थ उणादि-कोश में दिये गये उनके अपने अर्थ के भी विपरीत है। १३ वें मन्त्र में विश्ववार शब्द का प्रयोग उसकी सामर्थ्य के विपरीत है। अगले मन्त्र में यन्त्रचालक की स्तुति की गई है। इसी तरह की अपनी मनमानी कल्पनाएँ उन्होंने वेदों पर थोप दी हैं। १५ वें मन्त्र में 'ईम्' पद का तथा अगले मन्त्र में 'अनुददन्ते' क्रिया का अर्थ असंगत है। १८ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि शिष्ट जन अपने व्यवहार की स्वयं प्रशंसा नहीं करते। पुरुषार्थ के लिये इसका कोई उपयोग भी नहीं है। १९ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि वाणी प्रशस्त ज्ञान की जनक तो है, किन्तु जड़ होने से वह स्वयं ज्ञानस्वरूप नहीं है। सर्वशास्त्रस्वरूप होते हुए भी वह शास्त्रों की धारक नहीं हो सकती। २१ वें मन्त्र में वनस्पति के प्रसिद्ध अर्थ को अकारण छोड़ दिया गया है। २३ वें मन्त्र में वायु पद का वायुविद्या अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। अधिकारसूचक पद भी मन्त्र में नहीं है। २४ वें मन्त्र में धिषणा पद को स्त्री का और देव पद को पति का पर्याय बताया गया है। इसमें कोई प्रमाण नहीं है। पत्नी यदि धन के लिये पति को चाहेगी, तो वह पण्यवधू कहलावेगी, पत्नी नहीं। २५ वें मन्त्र में गर्भ पद की प्रधानार्थता भी निर्मूल है। असु शब्द प्राण का वाचक है, परमात्मा का नहीं।

२६ वें मन्त्र में परमेश्वर में ज्ञान की उत्पत्ति की चर्चा वहाँ आत्मा और मन के संयोग के अभाव में निरर्थक है। इस जन्य ज्ञान की नित्यता भी नहीं मानी जा सकती। हमारे यहाँ तो परमात्मा ज्ञानस्वरूप ही है। २८ वें मन्त्र में 'यु' धातु के अर्थ की विसंगति दिखाई गई है। २९ वें मन्त्र में बताया गया है कि उत्क्रमण, संक्रमण आदि क्रियाएँ परिच्छिन्न वस्तु में ही संभव हैं, अतः परमात्मा में इनकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। ३० वें मन्त्र में मध्व पद का अर्थ गलत किया गया है। ३२ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि वायु यज्ञ के उद्देश्य से आता है। आपके मत में तो वायु जड़ है, तब उसमें किसी उद्देश्य से प्रेरित होने की कल्पना कैसे की जा सकती है। ३३ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि यह सारा अर्थ इनकी कपोलकल्पना है। अगले मन्त्र में की गई विद्वान् मनुष्य से रक्षा की प्रार्थना बालू से तेल निकालने के समान निरर्थक है। ३५ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि राजा कभी ईश्वर के समान सामर्थ्यशाली नहीं हो सकता और वेद में राजा या सभापति के वर्णन को खोजना निरी मूर्खता है। अगले मन्त्र में राजा के स्थान पर स्वामी दयानन्द ने ईश्वर की स्तुति की है, किन्तु इन दोनों मन्त्रों में से एक में राजा की और दूसरे में ईश्वर की स्तुति है, इसमें प्रमाण क्या है? इसका वहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता। फिर ऐसा करके अनजान में ही स्वामी दयानन्द मनुष्य से भिन्न

देवता की सत्ता स्वीकार कर लेते हैं, जो कि उनके अपने मत के विपरीत है। आगे के मन्त्रों में भी अनेक पदों के मनमाने अर्थ किये गये हैं, जो कि पूरी तरह से निराधार हैं। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र में विद्वान् को संवत्सर बता दिया गया है। ऐसा अर्थ करने पर तो मनुष्य को गन्तृत्व, भोक्तृत्व आदि समान क्रियाओं के आधार पर अश्व भी कहा जा सकता है। यहाँ यह भी दिखाया गया है कि "उषसः प्रभाता मङ्गलप्रदाः" इत्यादि पदों के मन्त्र में न रहने पर भी उनका बिना प्रयोजन के अध्याहार कर लिया गया है।

२८ वें अध्याय के पहले मन्त्र में बताया गया है कि योद्धा घृत का पान करे। यह बात तो लोक से ही ज्ञात हो जाती है। इसको वेद में खोजने की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह से तृतीय मन्त्र में वर्णित राजा और राजपुरुषों के व्यवहार को वेद से निकालना गलत है, क्योंकि वेद तो केवल धर्म और ब्रह्म का उपदेश करता है। आगे के कुछ मन्त्रों में किये गये आज्य, होता, द्वार, सूर्य आदि पदों का अनोखा अर्थ किया गया है और बिना प्रयोजन के अनेक पदों का अध्याहार किया गया है, जो कि शब्दशास्त्र में अराजकता को ही फैलाने वाला है। आठवें मन्त्र में भी इसी तरह की असंगतियाँ दिखाई गई हैं। नवें मन्त्र में बताया गया है कि वैद्य आदि की चर्चा वेद में नहीं हो सकती। ११ वें मन्त्र में इस बात को पुनः कहा गया है कि पदों का अन्वय संनिकृष्ट (समीप) पदों के साथ ही किया जाता है, विप्रकृष्ट (दूर के) पदों के साथ नहीं। १२ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि निष्ठान्त स्तीर्ण पद का अर्थ आच्छादित होता है, आच्छादनीय नहीं। यहाँ नैरोग्य पद मन्त्र में नहीं है, उसका निष्प्रयोजन अध्याहार किया गया है। इसी तरह से अगले मन्त्र में 'वर्जयित्वा' क्रियापद नहीं है। १४ वें मन्त्र में बताया गया है कि निष्ठान्त सुप्रीत शब्द का अर्थ सुप्रीति का हेतु नहीं हो सकता। १५ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि स्वाप मात्र से यदि सब कोई मुक्त हो जाँय, तो फिर प्रायश्चित्त की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायगी।

१६ वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि नई वस्तु तो समय के बीतने के साथ पुरानी हो सकती है, किन्तु पुरानी वस्तु के नवीन हो जाने में कोई प्रमाण या दृष्टान्त नहीं मिलता। १७ वें मन्त्र में 'अघ' शब्द का अर्थ चोर किया गया है, यह अनुचित है। 'रोगान्' पद भी मन्त्र में नहीं है। १९ वें मन्त्र में 'त्रि' पद का अर्थ त्रिविध सुख का ज्ञाता तथा शत का अर्थ सौ संख्या के कर्म करना पूरी मनमानी है। शितिपृष्ठ, होत्र, स्तोत्र, अध्वर्यु आदि पदों का जो अर्थ किया गया है, उससे श्रौत पदों के अर्थ के प्रति इनकी अनभिज्ञता प्रकट होती है। २२ वें मन्त्र में आये स्विष्टकृत् पद की भी यही स्थिति है। २४ वें मन्त्र में "भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले शब्दों में विभक्ति की समानता होने पर भी सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता" इस शास्त्रीय नियम का उल्लेख कर दयानन्दीय अर्थ का खण्डन किया गया है। इसी तरह से आज्य (घृत) पद का विज्ञानरस अर्थ करने में भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। २५ वें मन्त्र में गायत्री आदि छन्दों का और 'छन्दस्' पद का भी विचित्र अर्थ किया गया है। वस्तुतः देखा जाय तो अक्षरसंख्या के भेद के आधार पर विभिन्न छन्दों के नाम रखे गये हैं। २८ वें मन्त्र में आज्य पद की जो व्युत्पत्ति दी गई है, उसके अनुसार तो हम घर को भी आज्य कह सकते हैं। ३१ वें मन्त्र में तीन हिरण्यमयी स्त्रियों की चर्चा भी इनका एक अजूबा ही है। ३२ वें मन्त्र के भावार्थ में इनका दुःसाहस पूरी तरह से उजागर हो जाता है। ३७ वें मन्त्र में दो स्त्रियों की चर्चा की गई है, जब कि मन्त्र में स्त्री पद है ही नहीं। इसी तरह से ३९ वें मन्त्र में ऊर्जा पद की संस्कारार्थता में कोई प्रमाण नहीं है। अगले मन्त्र में बताया गया है कि वक्ता की इच्छा के अनुसार मनमाने अर्थ में शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। ४३ वें मन्त्र में वट आदि पदों का अर्थ भी विद्वान् किया गया है। यहाँ देखना यह है कि वट आदि तो जड़ हैं, इनमें दिव्य गुण कहा से आवेंगे ? स्विष्टकृत् एकयाग है और कर्ममीमांसा में इसका स्वरूप प्रदर्शित है, इस विषय की चर्चा ४५ वें मन्त्र में की गई है।

२९ वें अध्याय के पहले ही मन्त्र के अनोखे अर्थ की चर्चा कर यहाँ दिखाया गया है कि घोड़ा मनुष्य को ढोता है, यह तो ठीक है। किन्तु कोई अतिबलशाली मनुष्य भी कभी किसी घोड़े को नहीं ढोता। चौथे मन्त्र में बर्हि पद का

यान, देव पद का दिव्य पदार्थ और अदिति पद का विद्युत् अर्थ करना भी पूरी तरह से निराधार है। छठे मन्त्र में अश्वि पद का अर्थ 'दिव्य शिल्पविद्या के प्रचारक' किया गया है, किन्तु सर्वत्र इनको दो ही क्यों बताया जाता है, इसका कोई उत्तर आपने कहीं भी नहीं दिया है। शिल्पविद्या के प्रचारक तो अनेक व्यक्ति भी हो सकते हैं। अगले मन्त्र में भी द्विवचन की यही समस्या है। ८ वें मन्त्र में पुनः स्मरण कराया गया है कि शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ कर गौण अर्थ करना उचित नहीं है। नवें मन्त्र में त्वष्टा पद के अनेक व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ दिये गये हैं, किन्तु यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि रूढि यौगिक व्युत्पत्ति से बलवान् होती है। १० वें मन्त्र में देवलोक पद की व्युत्पत्ति की असंगति दिखाई गई है। ११ वें मन्त्र में सद्योजात, तप, स्वाहा आदि पदों के अर्थ की विसंगति पर ध्यान आकृष्ट किया गया है। १३ वें मन्त्र में भी प्रथम, रचना, अश्व आदि पदों की यही स्थिति है। यहाँ पुनः जड़ वैयाकरण का दृष्टान्त दिया गया है। १५ वें मन्त्र में प्राण, जल और समुद्र के तीन बन्धनों की तो चर्चा है, किन्तु इनका स्वरूप नहीं बताया गया। १६ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि वेद कोई सेना, अश्व आदि की रक्षा का उपदेशक शास्त्र नहीं है। २० वें मन्त्र में मनुष्य के चरणों को मन के समान वेगयुक्त सिद्ध करने के लिये कहा गया है कि यहाँ विमान ही इनके पाद है, किन्तु मन्त्र के पदों में तो इस बात का उल्लेख नहीं मिलता। २२ वें मन्त्र में व्यर्थ ही पुनः सेना का प्रसंग ला खड़ा किया गया है। २६ वें मन्त्र में तनूनपात् शब्द से विद्वान् का तथा मन्म पद से यान का ग्रहण भी निराधार है। २८ वें मन्त्र में प्रतिपादित है कि स्पर्धा कोई अच्छी बात नहीं मानी गई है और किसी मनुष्य के प्रति पूज्यभाव उत्पन्न होता है, तो उससे उसे किसी पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं होती। अगले मन्त्र में बताया गया है कि सबको यदि अनायास मुक्ति मिल जाय, तो फिर इसके लिये प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।

३२ वें मन्त्र में 'प्राचीनं ज्योतिः' का शिल्पविद्या का प्रकाश अर्थ किया है। ज्योतिः पद ज्ञानार्थक हो सकता है, किन्तु उसका अर्थ शिल्पज्ञान कैसे हो जायगा ? फिर यह ज्ञान तो अनित्य होता है, तब उसमें प्राचीनता कहाँ से आवेगी ? ४३ वें मन्त्र में अभीशु शब्द का अर्थ रश्मि और वाजि पद अर्थ का अश्व होता है, किन्तु यहाँ बिना प्रमाण के सद्योगन्ता एवं अग्नि अर्थ किया गया है। ४६ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि यहाँ स्थित विशेषणों की राजपुरुष के साथ कोई संगति नहीं बैठती। अगले मन्त्र में द्यावापृथिवी से कल्याण की आशा की गई है। जड़ पदार्थ से ऐसी आशा रखना व्यर्थ है। ४८ वें मन्त्र में 'धावन्ति' क्रियापद और 'इव' शब्द नहीं हैं। इनका व्यर्थ अध्याहार किया गया है। इसी तरह से दन्त शब्द को दान्त बना दिया गया है। ५२ वें मन्त्र का अर्थ निरुक्तकार यास्क की व्याख्या के भी विपरीत है। अगले मन्त्र में बताया गया है कि पराक्रम का अन्यत्र संचारण मानव शक्ति के बाहर की बात है और अलौकिक शक्तिसम्पन्न देवताओं की सत्ता आप मानते नहीं। ५४ वें मन्त्र में वज्र शब्द का निपात और मरुत् का मनुष्य अर्थ करना पूरी तरह से भ्रमपूर्ण है। यहाँ नाभि का अर्थ दिया गया है—आत्मा के मध्य में स्थित विचार। यहाँ अर्थ की असंगति तो है ही, आत्मा के अणु होने से उसके किसी भाग की स्थिति भी संभव नहीं है। इसी तरह से ५६ वें मन्त्र में आक्रन्दयति और प्रोथति धातुओं के अर्थ सही नहीं हैं। अगले मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि घोड़ों का पालन अश्वशाला में होता है। सेना में तो युद्ध के लिये उनका उपयोग होता है, वहाँ उनका पालन नहीं किया जाता। इसी तरह से ५९ वें मन्त्र में सेनापति के लिये लाल बैल की कोई उपयोगिता नहीं है। कृषि कार्य के लिये उपयोग मानने पर उसका लाल होना कोई जरूरी नहीं है। इस अध्याय के अन्तिम ६० वें मन्त्र में पुनः दिखाया गया है कि त्रिवृत् आदि स्तोमों और रथन्तर आदि सामों का वर्णन ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है, उनसे स्वामी दयानन्द पूरी तरह से अनभिज्ञ हैं।

३०वें अध्याय के ५वें मन्त्र में अनेक दोष दिखाये गये हैं। ब्रह्म पद का वेद अथवा ईश्वर अर्थ कर सकते हैं, किन्तु इससे 'वेद का प्रचार करना' यह अर्थ किसी भी तरह से नहीं निकल सकता। क्षत्र, मरुत्, वैश्य, तपस्, शूद्र इत्यादि पदों के अर्थ भी मनमाने दिये गये हैं। नरक का अर्थ कारागार किया गया है। यह किसी चार्वाक की ही कल्पना हो सकती है। अगले कुछ मन्त्रों में आये सूत, शैलूष आदि पदों के अर्थ भी देखने लायक हैं। ऐसा अर्थ कर

केवल मूर्खों को ही बहलाया जा सकता है। पुरुषव्याघ्र पद पर यहाँ विशेष रूप से विचार किया गया है (पृ० ३०७)। यातुधान पद का जो यहाँ अर्थ दिया गया है, तदनुसार तो यातुधन शब्द बनेगा, यातुधान नहीं। फिर इसका कण्टकीकारी से क्या सम्बन्ध है, यह नहीं बताया गया। इसी प्रकार इस पूरे अध्याय के विभिन्न चतुर्थ्यन्त और द्वितीयान्त पदों का बिना प्रमाण का यथेच्छ अर्थ किया गया है। साथ ही निर्मूल अध्याहार आदि दोषों की भी यहाँ भरमार है। १५वें मन्त्र में संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर नामक पाँच प्रकार के वत्सरों का उल्लेख है। इनका सही विवरण वराहमिहिर की बृहत्संहिता और उसकी भट्टोत्पल की टीका में मिलता है। परम्परा से पराङ्मुख स्वामी दयानन्द इनसे पूरी तरह से अपरिचित हैं। १६वें मन्त्र में अनेक पदों और क्रियाओं का मनमाना अर्थ कितना अव्यावहारिक है, इस बात को स्पष्ट किया गया है। १७वें मन्त्र में चरकसंहिता का प्रमाण देकर दयानन्दीय अर्थ की विसंगति दिखाई गई है। १९वें मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि प्रतिज्ञा समीचीन और असमीचीन दोनों ही तरह की होती है। सभी प्रतिज्ञा करने वाले सही बात कहते हों, यह जरूरी नहीं है, जैसे कि आजकल के शासकों की मण्डलायोग की अनुशंसा। २०वें मन्त्र में दिखाया गया है कि बलपूर्वक अध्याहार आदि करके तो कहीं भी कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है। २१वें मन्त्र में स्वामी दयानन्द चण्डाल के शरीर को स्पर्श कर आये दुर्गन्धियुक्त पवन के सेवन का निषेध करते हैं। यह उनके 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' के सिद्धान्त के विपरीत है। इस अध्याय के अन्तिम २२ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि मागध आदि प्राजापत्य हैं और ब्राह्मण आदि नहीं, किन्तु इस विषय को यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया। वेदों को पूरी तरह से चार्वाक जैसे नास्तिकों का ग्रन्थ बना देने के लिये स्वामी दयानन्द ने अनेक क्लिष्ट कल्पनाओं के सहारे जी-तोड़ परिश्रम किया है।

भाष्य के विशेष अवधेय स्थल

अन्त में हम सुबुद्ध पाठकों का ध्यान इस खण्ड के भाष्य के कुछ विशेष अवधेय स्थलों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। यहाँ (पृ० १०) 'यह्व' शब्द पर अच्छा विचार किया गया है। निघण्टु में यह्वा और यह्व दोनों ही शब्द मिलते हैं। निरुक्तकार यास्क यह्व शब्द की व्युत्पत्ति देते हैं, जब कि दशपादी उणादिवृत्ति में स्त्रीलिंग यह्वा शब्द निपातित है। भट्टोजी दीक्षित पुंल्लिंग यह्व शब्द को ही स्वीकारते हैं। निघण्टु और निरुक्त के आधार पर यहाँ शिताम, पिष्ट आदि पदों की निरुक्ति देकर उनके अर्थों को स्पष्ट किया गया है। पृ० ३४ पर दिखाया गया है कि मन एक इन्द्रिय है, इस विषय की पुष्टि प्रस्तुत मन्त्र (२१।५३) से भी हो जाती है। पृ० ४६ पर चतुरक्ष शब्द के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। आगम और तन्त्रशास्त्र में यमराज के दो कुत्तों का वर्णन मिलता है। हमारी विज्ञान-भैरव की हिन्दी व्याख्या (पृ० १७०-१७२) में इसका विवरण देखा जा सकता है। हम यहाँ चतुरक्ष शब्द से इनका भी ग्रहण कर सकते हैं। स्वामी दयानन्द ने और कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी 'गणानां त्वा' से लेकर 'यद्धरिणो यवमत्ति' पर्यन्त मन्त्रों की उव्वट, सायण और महीधर द्वारा की गई व्याख्या में अश्लीलता को आरोपित किया है। इस पूरे प्रसंग पर पारिजातकार ने यहाँ (पृ० १०१-१०३) अच्छा विचार किया है। सीस और लोह शब्द से यहाँ (पृ० १०६-१०७) ताम्र धातु का ग्रहण किया गया है। पृ० १०८ पर बताया गया है कि अश्व के शरीर में वपा नहीं मिलती। आरण्य पशुओं के सम्बन्ध में यहाँ (पृ० १३५) मानव श्रौतसूत्र और महीधर को उद्धृत किया गया है। अश्वमेधीय पशुओं की संख्या के विषय में यहाँ (पृ० १४५) किसी ग्रन्थ के एक श्लोक को उद्धृत किया गया है। स्वयंभू शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में भी हमें ऐसा ही श्लोक मिलता है (पृ० १५९)। पृ० १६४ पर 'विदथ' शब्द की व्युत्पत्ति भी अवधानार्ह है। ऐसे प्रसंगों में भाष्यकार द्वारा उद्धृत वचन बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनका गंभीर मनन अपेक्षित है। "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः" इस बृहदारण्यक वचन की दार्शनिक विशद व्याख्या (पृ० १८१-१८२) विशेष रूप से दर्शनीय है।

आगे के प्रकरणों में पाञ्चजन्य पद की व्याख्या पाणिनिसूत्रवार्त्तिक और मैत्रायणीसंहिता के सहारे मीमांसकों की पद्धति से की गई है (पृ० १९२-१९३)। छान्दोग्य के आधार पर पञ्चाहुति शब्द को व्याख्या पृ० १९७ पर मिलती है। पृ० २०८-२०९ पर बृहस्पति पद की नैघण्टुक प्रकरण के आधार पर विवेचना की गई है। तनूनपात् शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए यहाँ (पृ० २१०) मनुस्मृति का वचन प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पृ० २४९ पर त्र्यवि शब्द का अर्थ डेढ वर्ष को गाय किया गया है। इसको स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया है कि अवि (भेड़) छः महीने में बच्चा जनती है, अतः लक्षणा वृत्ति के द्वारा इस शब्द से छः मास का काल लक्षित होता है। छः को तिगुना करने से डेढ वर्ष होगा। आज्य (घृत) की वेद में बड़ी महिमा गाई गई है। इसे आयु और अमृत नाम से भी संबोधित किया जाता है। यहाँ भी (पृ० २६३) बताया गया है कि सभी देवताओं के मन में यह इच्छा रहती है कि सारा यज्ञीय घृत मुझे ही मिल जाय। पाँच संवत्सरों (पृ० ३१३) के विषय में तथा बीभत्स शब्द की व्युत्पत्ति पर भी यहाँ (पृ० ३१५) अच्छा विचार किया गया है। -चरकाचार्यों के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा व्यक्त किये गये विचारों की निष्प्रमाणता को भी यहाँ (पृ० ३१६) स्थापित किया गया है। एक स्थान पर (पृ० ३१७) मण्डल आयोग की भी चर्चा है। आज यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो गई है कि यह निर्णय कितना असमीचीन था।

वाराणसी
महाशिवरात्रि, संवत् २०४८

विद्वद्वशंवद
व्रजवल्लभ द्विवेदी

विषय-सूची

कण्डिकासंख्या | पृष्ठसंख्या

त्रयोविंश अध्याय : अश्वमेध याग

चतुर्विंश अध्याय : अश्वमेध याग

एकविंशोऽध्यायः

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्युराचके ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—अवभृथ में वरुण के पुरोडाश का यह पुरोनुवाक्या मन्त्र है। हे वरुण देव! मेरे आह्वान को आप सुनिये और आज मुझे सभी प्रकार से सुखी कीजिये। मैं अपनी रक्षा के लिये आपको बुला रहा हूँ ॥ १ ॥

श्रीरामं पुण्डरीकाक्षं प्रणमामि सलक्ष्मणम्।
ससीतं शिवहार्दस्थं शिवात्मानं शिवप्रियम् ॥

न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
घोषणा रामभक्तस्य महावीरः स मे गतिः ॥

'इमं मे तत्त्वेत्येककपालस्य' (का० श्रौ० १९।७।७)। अवभृथेष्टौ वारुणस्यैककपालस्य पुरोडाशस्य इमं मे, तत्त्वा यामीति द्वे पुरोऽनुवाक्यायाज्ये इति सूत्रार्थः। वरुणदेवत्ये गायत्रीत्रिष्टुभौ शुनःशेपदृष्टे। हे वरुण, त्वं मे मम इमं हवम् आह्वानं श्रुधी श्रुधि शृणु। 'श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० सू० ६।४।१०२) इति हेर्धिः। संहितायां दीर्घः। च पुनः। अद्य दिने अस्मान् मृडय सुखय, मा कालविलम्बनं कृथा इति यावत्। यतोऽहं त्वाम् आचके कामये। 'आचक इति कान्तिकर्मा' (निघ० २।६।११)। कीदृशोऽहम्? अवस्युः, अवनमवः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यवतेरसुन्, तदिच्छतीत्यवस्यति 'सुप आत्मनः क्यच्', अवस्यतीत्यवस्युः 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्ययः, आत्मनो रक्षणमिच्छन् त्वामिच्छामीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे वरुण सर्ववरणीय परमात्मन्, त्वं मे हवमाह्वानमद्य अस्मिन्नेव दिने कालविलम्बमन्तरेण श्रुधी श्रुधि शृणु, यतोऽहं त्वामाचके कामये। त्वं मां मृडय सुखय। अहं च अवस्युर् आत्मनोऽपारसंसारसमुद्राद् अवनमिच्छन् त्वामिच्छामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे वरुण, योऽवस्युरहमिमं त्वामाचके स त्वं मे हवं श्रुधि, अद्य मां मृडय च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यात् तादृशकामनासिद्धेः। न च वरुणपदाभिधेयो मनुष्यो विद्वानत्राभिप्रेतः, वेदस्य धर्मब्रह्मपरत्वात्। न च विद्यार्थिनस्तत्कालमानन्दनं सम्भवति, अध्ययनसाफल्यस्य कालसाध्यत्वात् ॥ १ ॥

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा न आयुः प्रमोषीः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे वरुण देवता! हम आपकी स्तुति करते हैं। यजमान हवि प्रदान कर जो कुछ याचना करता है, वह वेद के द्वारा स्तुति करता हुआ आपकी ही शरण में जाता है। मैं भी आपसे याचना करता हूँ कि हे परम आराध्य देव! आप क्रोध न करते हुए हमारी प्रार्थना सुनें, हमारी आयु का नाश न होने दें ॥ २ ॥

इयम् १८।४९ स्थले व्याख्यातपूर्वा ॥ २ ॥

त्वं नो॑ अग्ने॒ वरु॑णस्य वि॒द्वान् दे॒वस्य॒ हेडो॒ अव॑यासिसीष्ठाः ।
यजि॑ष्ठो वह्नि॑तमः॒ शोशु॑चानो॒ विश्वा॒ द्वेषा॑ᳬसि॒ प्रमु॑मुग्ध्य॒स्मत् ।। ३ ।।

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप सब-कुछ जानने वाले हैं। यज्ञ में आपकी ही प्रधानता है। आप हवि को भली भाँति पहचानते हैं, कान्ति से सम्पन्न हैं। आप वरुण देवता के क्रोध से हमारी रक्षा कीजिये, सकल द्वेष दुर्भाग्य से हमें छुटकारा दिलाइये ।। ३ ।।

'अग्नीवरुणयोस्त्वं नः स त्वमिति' (का० श्रौ० १९।७।८) अवभृथेष्टावेव आग्निवारुणयागे त्वं नः (१), स त्वं (२) इति पुरोनुवाक्यायाज्ये इति सूत्रार्थः। अग्नीवरुणदेवत्ये त्रिष्टुभौ वामदेवदृष्टे। हे अग्ने, त्वं नोऽस्मान् प्रति वरुणस्य देवस्य हेडः क्रोधम् अवयासिसीष्ठा अवगमय, निवर्तयेत्यर्थः। अवपूर्वस्य 'यसु प्रयत्ने' इति दैवादिकस्य णिजन्तस्य आशीर्लिङि रूपम्। किञ्च, विश्वा विश्वानि सर्वाणि द्वेषांसि दौर्भाग्यानि अस्मद् अस्मत्तः सकाशात् प्रमुमुग्धि प्रमुञ्च दूरीकुरु। मुचेर्व्यत्ययेन शपः श्लुः। कीदृशस्त्वम्? विद्वान् स्वाधिकारं जानन्। यजिष्ठो यष्टृतमः, अतिशयेन यष्टा। 'तुरिष्ठेमेयःसु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः। वह्नितमो हव्यं वहतीति वह्निः, 'वहिश्रिश्रु' (उ० ४।५२) इत्यादिना नित्प्रत्ययः, अतिशयेन वह्निर्वह्नितमो देवेभ्यो हविषां वोढा, शोशुचानः, अत्यन्तं शोचति दीप्यत इति शोशुचानः, धातूनामनेकार्थत्वात् शोचतेर्यङन्तात् शानचि रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् परमेश्वर, त्वमस्मान् प्रति वरुणस्य वारयति श्रेय इति वरुणः, तस्य श्रेयःप्रतिबन्धकस्य देवस्य हेडः क्रोधम् अपगमय। यतो विद्वान् तदुपायं जानासि, सर्वज्ञत्वात्। भवान् यजिष्ठः श्रीरामादिरूपेण यष्टृतमः। वह्नितमः सर्वेषां प्राणिनां वोढृतमो निर्वाहयितृतमः। शोशुचानः अतिशयेन दीप्यमानः। ईदृगैश्वर्यशाली त्वमस्मत्सकाशाद् विश्वानि द्वेषांसि दौर्भाग्यानि प्रमुमुग्धि दूरीकुरु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, तद्वत्प्रकाशमान! यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विद्वांस्त्वं वरुणस्य श्रेष्ठस्य हेडोऽनादरः, तमवयासिसीष्ठा मा कुर्याः। अव निषेधार्थः। हे अग्ने, त्वं नोऽस्माकं हेडो भवेत्तं मा स्वीकुर्याः। हे शिक्षक, त्वमस्मद् विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्धि प्रमोचय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अवेत्यस्य निषेधार्थकतायां प्रमाणस्योपन्यसनीयत्वात्। उपदेशको हि द्वेषादीनां त्यागायोपदेशमेव दातुं प्रभवेत्, न द्वेषादित्याजनं कर्तुं पारयेत्, तत्र तस्य सामर्थ्याभावात्। अग्न्यादिपदानां मनुष्ये गौण्या वृत्त्यैव प्रवृत्तित्वेन तस्य स्वीकारे मानाभावाच्च ।। ३ ।।

स त्वं नो॑ अग्नेऽव॒मो भ॑वो॒ती नेदि॑ष्ठो अ॒स्या उ॒षसो॒ व्यु॑ष्टौ ।
अव॑यक्ष्व नो॒ वरु॑ण॒ᳬ ररा॑णो वी॒हि मृ॑ळी॒कᳬ सु॒हवो॑ न एधि ।। ४ ।।

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप इस उषा काल की समृद्धि में अपनी पालन शक्ति के साथ हमारी रक्षा के लिये यहाँ आइये। हवि पहुँचाते समय आप हमारी तरफ से वरुण देवता को तृप्त कीजिये, स्वयं भी सुखदायक हवि का आस्वादन कीजिये और हमारे श्रेष्ठ आह्वान को सुनिये ।। ४ ।।

हे अग्ने, स त्वम् अस्या उषसः प्रभातस्य व्युष्टौ समाप्तिकालेऽस्मिन्नेवाहनि ऊती ऊत्या अवनेन नः अस्माकम् अवमो रक्षकः, अवतीत्यवमः, 'अवद्यावमाधमार्वरेफाः कुत्सिते' (उ० ५।५४) इत्यवतेरमः प्रत्ययः।

अत्र कुत्सितग्रहणमतन्त्रम् । कुत्सितार्थे तु अवत्यात्मानमस्मादित्यवम इति विग्रहो ज्ञेयः । नेदिष्ठोऽन्तिकतमश्च भव । अत्यन्तमन्तिके वर्तमानो नेदिष्ठः 'अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ' (पा० सू० ५।३।६३) इतीष्ठनि नेदादेशः । समीपतम इत्यर्थः । यद्वा अवतीत्यवः, पचाद्यच् । अतिशयेनावोऽवतमः, छान्दसः तकारलोपः । किञ्च, रराणो रममाणो हविर्ददद्वा नोऽस्माकं वरुणं वरणीयम् अवयक्ष्व अवगत्य यज । यथा वयं स्वाभिलषितं प्राप्नुयाम तथा देवेषु हविः सङ्क्रमय । यद्यप्यवपूर्वको यजिर्नाशनार्थकः, तथाप्यत्र धात्वन्तरयोगात् स्वार्थमेव वक्ति । अवपूर्वाद् यजेर्लोटि शपो लुकि रूपम् । ततो मृडीकं सुखकरं हविर्वीहि भक्षय । 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' इत्यस्य रूपम् । किञ्च, नोऽस्माकं सुहवः स्वाह्वानः, एधि भव ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमात्मन् अग्ने, स त्वं नोऽस्माकमूत्यावनेन अवमः अवितृतमो भव । अन्तिकतमश्च सर्वतोऽपि भगवानेव सर्वान्तरतमत्वात् । रराणो रममाणः सर्वेषु प्राणिषु जाग्रदाद्यवस्थासु चान्तर्यामिरूपेण विश्वविराडादिरूपेण च रममाणो देवताभ्यो रामादिरूपेण हविर्वा ददत् वरुणं वरणीयमभीष्टमवयक्ष्व सङ्क्रमय । ततो मृडीकं सुखकरं हविर्वीहि भक्षय । नोऽस्माकं सुहवः स्वाह्वानो भव । नहि सर्वेषां कृते सर्वस्याह्वानं सुकरम् । भक्तानां भगवानेव स्वाह्वानो भवति ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यथास्या उषसो व्युष्टौ विविधदाहे वह्निर्नेदिष्ठो रक्षकश्च भवति, तथा स त्वमूती ऊत्या प्रीत्या नोऽवमो भव । नो वरुणं गुणं गुणिजनम् अवयक्ष्व । रराणः सन् मृडीकं वीहि । नः सुहवो भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदस्य मुख्यार्थत्यागे मानाभावात्, वरुणपदस्य गुण्यर्थतापि निर्मूला ॥ ४ ॥

म॒हीमू॒ षु मा॒तर॑ꣳ सुव्र॒ताना॑मृ॒तस्य॒ पत्नी॒मव॑से हुवेम ।
तु॒वि॒क्ष॒त्राम॒जर॑न्तीमुरू॒चीꣳ सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिꣳ सु॒प्रणी॑तिम् ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—यह आदित्य चरु का याज्या मन्त्र है । परम महिमा वाली शुभ कर्मों की माता सत्य और यज्ञ की पालिका, अनेकों प्रकार की पीड़ा से रक्षा करने वाली, जरारहित, विस्तीर्ण मार्ग पर चलने वाली सुखरूप सुन्दर प्रेममयी अदिति का हम अपनी रक्षा के लिये आह्वान करते हैं ॥ ५ ॥

'आदित्यस्य सुत्रामाणं महीमूषु मातरमिति' (का० श्रौ० १२।७।९) 'आदित्यं चरुं यक्ष्यमाणो निर्वपत्यादित्यमीजानः' (श० १२।९।२।११) इति श्रुतौ आदावन्ते च आदित्यः (अदितिदेवत्यः) चरुरुक्तः । तस्य 'सुत्रामाणम्' (वा० सं० २१।६) इति पुरोऽनुवाक्या, 'महीमूषु' इति याज्येति सूत्रार्थः । अदितिदेवत्या त्रिष्टुप् । ऊ षु निपातौ पादपूरणार्थौ । संहितायामाद्यस्य दीर्घः, अन्त्यस्य च षत्वम् । महीं महतीं सुव्रतानां शोभनकर्मणां मातरं निर्मात्रीम् । व्रतमिति कर्मनाम (निघ० २।१।७) । ऋतस्य यज्ञस्य पत्नीं पालयित्रीम् । तुविक्षत्रां बहुक्षरणां बहुक्षतात् त्राणशीलां वा । तुवीति बहुनाम (निघ० ३।१।२) । अजरन्तीं न जीर्यतीत्यजरन्ती, तां जरारहिताम्, नित्यनूतनामिति यावत् । उरूचीम् उरु अञ्चतीति उरूची बहुगमनशीला, ताम्, बहुव्यञ्जनां वा । सुशर्माणं शोभनं शर्म आश्रयः सुखं वा यस्याः सा सुशर्मा ताम् । कल्याणाश्रयां साधुसख्यां वा । सुप्रणीतिः सुष्ठु शोभना प्रणीतिः प्रणयनं भजनं यस्यास्ताम् । अदितिम् अदीनां देवमातरम् । 'अदितिरदीना देवमाता' (निरु० ४।२२) इति यास्कः । तादृशीमदितिं वयमवसे अवितुं रक्षितुम्, तुमर्थे असेप्रत्ययः । अवनाय तर्पणाय वा हुवेम आह्वयामः ।

अध्यात्मपक्षे—शोभनानां कर्मणां सङ्कल्पानां मातरं निर्मात्रीम्, ऋतस्य ससत्यस्य यज्ञस्य पत्नीं पालयित्रीम्, ससत्यस्य ब्रह्मणः पत्नीं जायां वा। तुविक्षत्रां बहुक्षतत्राणाम्। अजरन्तीं जरादिविकाररहिताम्। उरूचीं बहुव्यापिनीं सर्वव्यापिकामित्यर्थः। सुप्रणीतिं सुप्रणेत्रीम्, अथवा सुष्ठु शोभना प्रणीतिः प्रणयनम् अन्तः प्रवेशनं हृदये ध्यानं वा यस्याः सा सुप्रणीतिस्ताम्। अदितिम् अखण्डनीयां नित्यां भक्तिदेवीं ध्यानादीनां रक्षणाय वयमाह्वयामः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं मातरमिव सुव्रतानामृतस्य पत्नीं स्त्रीवद्वर्तमानाम् अजरन्तीं वयोहानिरहिताम्, शोभनानि शर्माणि गृहाणि यस्यास्ताम्। शोभनाः प्रकृष्टा नीतयो यस्यास्ताम्, अवसे सुहुवेम तथा यूयम् अपि गृह्णीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पृथ्व्याः सत्यपत्नीतुल्यत्वस्य निराधारत्वात्, कार्यमात्रस्य षड्विकारवत्त्वेन पृथिव्या अजरत्वानुपपत्तेश्च, जडायां तस्यां नीतेरप्यनुपपत्तेश्च ॥ ५ ॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसꣳ सुशर्माणमदितिꣳ सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावꣳ स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—विशाल स्वर्ग रूप, क्रोध रहित, रक्षा करने वाली, सबको शरण देने वाली, सुन्दर घर वाली, परम प्रेममयी, निर्दोष, निन्दाशून्य, देवसम्बन्धी यज्ञ के स्वरूप वाली, अच्छी पतवार वाली, अखण्डित अदिति नामक नाव पर कल्याण पाने के निमित्त हम चढ़ते हैं, अर्थात् यथाविधि सम्पादित यज्ञमयी नौका बनाकर हम अनेक प्रकार के सुख भोग के लिये स्वर्ग जाना चाहते हैं ॥ ६ ॥

अदितिदेवत्या त्रिष्टुप्, गयःप्लातदृष्टा। दैवीं देवसम्बन्धिनीं नावं यज्ञमयीमारुहेम, यज्ञं कृत्वा स्वर्गं गच्छेमेत्यर्थः। कीदृशीं नावम्? सुत्रामाणं सुष्ठु त्रायते रक्षतीति सुत्रामा साधुपालयित्री, ताम्। लुप्तोपमा। पृथिवीं पृथिवीमिव विशालाम्। द्यां द्यामिव वाहयित्रीं जीवनहेतुभूताम्। 'अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥' (भ० गी० ३।१०-११) इति भगवद्वचनात्। स्वर्गसाधनत्वात् स्वर्गरूपां वा। अनेहसं नास्ति एहः क्रोधो यत्र सा अनेहाः, ताम्। 'एह इति क्रोधनाम' (निघ० २।१३।६)। सुशर्माणं साधुशरणाम्। अदितिमखण्डिताम्। सुप्रणीतिं सुप्रणेत्रीम्, स्वरित्रां शोभनमरित्रं यस्यां सा स्वरित्रा, ताम्। अरित्रशब्दः केन्दुवालवचनः। 'अरित्रं केनिपातकः' (अ० को० १।१०।१३) इत्यमरः। केन्दुवालशब्दस्य भाषायां पतवार इत्यर्थः। अथवा नौकाया उभयतो वहनसाधनानि काष्ठान्यरित्राणि, तानि चालकप्रेरितानि यथा चालकमनोऽनुसारं नावं गमयन्ति, तथैव यज्ञे प्रयाजानुयाजादयः, तैरेव यज्ञनिर्वहणात्। अनागसम् अनपराधाम्। अस्रवन्तीम् अच्छिद्रां निर्दोषामिति यावत्। ईदृशीं नावमारुहेमा, संहितायां दीर्घः। कस्मै प्रयोजनाय? स्वस्तये कल्याणाय अविनाशाय।

अध्यात्मपक्षे—वयं स्वस्तये परमकल्याणाय मोक्षाय, अनौपचारिकस्याविनाशस्य तत्रैव सत्त्वात्। दैवीं देवः स्वप्रकाशः परमेश्वरः, तत्सम्बन्धिनीं ब्रह्मविद्यारूपां नावमारुहेम, ब्रह्मविद्यया ब्रह्मात्मनावस्थानरूपं मोक्षमारुहेम। कीदृशीं नावम्? सुत्रामाणं साधुपालयित्रीम्, तदतिरिक्तस्य पालकत्वायोगात्, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (वा० सं० ३१।१८) इति मन्त्रवर्णात्। पृथिवीं तद्वद्विशालाम्, विषयस्यानन्तत्वेन ब्रह्मविद्याया विशालत्वात्। द्यां द्यामिव प्रकाशरूपाम्। अनेहसं कालवदनतिक्रमणीयाम् क्रोधादिदोषनिबर्हणीं शोभनाश्रयभूताम् अदितिम् अबाधितां बाधकप्रमाणरहिताम्, सुप्रणीतिं ब्रह्मात्मभावप्रणेत्रीम्, स्वरित्रां सुष्ठु

शोभना अरित्रस्थानीयाः शमदमादयो यस्यां सा स्वरित्रा, ताम्। अनागसं सर्वापराधप्रशमनीम्। अस्रवन्तीं निश्छिद्रां तादृशीं ब्रह्मविद्यामारुहेम।

दयानन्दस्तु—'हे शिल्पिनः, यथा वयं स्वस्तये सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीं दैवीं नावमारुहेम, तथा यूयमारोहत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नौकास्वविदुषामपि सम्बन्धाविशेषात्, तस्यां जडायां राज-प्रजाखण्डनीतिसम्बन्धायोगाच्च। शिल्पिन इति सम्बोधनमपि निर्मूलम्। न च तस्यामनौपचारिकं सुखं भवति, बाह्यसाधनसाध्यत्वेनानित्यत्वात् ॥ ६ ॥

सुनावमारुहेयमस्रवन्तीमनागसम्। शतारित्राᳯं स्वस्तये ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—छिद्ररहित, अपराध रहित होने से सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाली, वेद मन्त्ररूप अनेक पतवार वाली इस यज्ञमयी श्रेष्ठ नौका पर हम संसार सागर से पार होने के निमित्त चढ़ते हैं ॥ ७ ॥

स्वर्गसम्बन्धिनी नौ यज्ञदेवत्या गायत्री, 'तद्वै सर्व एव यज्ञो नौः स्वर्ग्या' (श॰ ४।२।५।१०) इति श्रुतेः। स्वर्ग्या नौर्यज्ञ एव। सुनावं शोभनां नावं यज्ञरूपां स्वस्तयेऽविनाशाय संसारसागरोत्तरणाय अहमारुहेयम्, आरोहेयम्, यज्ञेन यजेयमित्यर्थः। कीदृशीं नावम्? अस्रवन्तीं निश्छिद्राम्, निर्दोषामित्यर्थः। अनागसं निरपराधाम्, अभीष्टार्थसाधनतत्परामित्यर्थः। शतारित्रां शतानि ऋग्यजुःसाममन्त्ररूपाण्यरित्राणि वहनसाधनानि केन्दुवालानि यस्यां सा शतारित्रा, तां तादृशीं सुनावमारोहेयमिति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—ज्ञानयज्ञरूपेयं नौः, तस्या एवानुपचरितं स्वर्गप्राप्तिसाधनत्वात्। तादृशीं नावं स्वस्तये संसारसमुद्रोत्तरणाय विमोक्षाय आरोहेयम्। कीदृशीम्? अस्रवन्तीं निश्छिद्रामनागसमपापाम्, पापनाशिनीमिति यावत्। 'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥' (भ० गी० ४।३७) इति भगवद्वचनात्। शतारित्रां शतान्यपरिगणितानि वेदमहावाक्यान्यरित्रस्थानीयानि यस्यां सा शतारित्रा ताम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं स्वस्तये अस्रवन्तीमनागसं शतारित्रां नावमारुहेयम्, तथाऽस्यां यूयमारोहत' इति, तदपि तुच्छम्, विकल्पानुपपत्तेः? तथाहि कोऽयमस्य मन्त्रस्य वक्ता? न जीवः, तस्याप्युपदेष्टव्यतुल्यत्वात्, वेदस्य पौरुषेयत्वापाताच्च। नापीश्वरः, तस्य व्यापकत्वेन तरणीयत्वाभावात्, निरस्तसमस्तानर्थस्य तस्य स्वस्तिरूपस्य स्वस्तये तरेरनपेक्षणात् ॥ ७ ॥

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजाᳯंसि सुक्रतू ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे श्रेष्ठ कर्म वाले मित्रावरुण देवताओं, हमारे यज्ञ मार्ग को आप घी से सींचिये और स्वर्ग आदि लोकों के मार्ग को मधु से सींचिये ॥ ८ ॥

'आ नः प्र बाहवेति पयस्यायाः' (का० श्रौ० १९।७।१०)। 'अवभृथादुदेत्य मैत्रावरुण्या पयस्यया यजते' (श० १२।९।२।१२) इति विहिता या पयस्या तस्या आ नो मित्रावरुणेति पुरोऽनुवाक्या प्र बाहवेति याज्या इति सूत्रार्थः। मित्रावरुणदेवत्या गायत्री विश्वामित्रदृष्टा। हे मित्रावरुणा, मित्रावरुणौ तन्नामकौ देवौ, युवां नोऽस्माकं गव्यूतिं गव्यूतिपर्यन्तं यज्ञमार्गं घृतैरक्षारोदकैः शुद्धोदकैरा समन्ताद् उक्षतं सिञ्चतम्। यद्वा

गव्यूतिं गवि पृथिव्यामूतिमवनहेतुभूतं क्षेत्रं गोप्रचारं वा आ समन्तात् सिञ्चतम्। किञ्च हे सुक्रतू, सुष्ठु शोभनः क्रतुः कर्म ययोस्तौ सुक्रतू तत्सम्बोधने, मध्वा मधुना मधुस्वादूदकेन रजांसि लोकान् उक्षतम्। मध्वेत्यत्र आगमशास्त्रस्य अनित्यत्वान्नुमभावः।

अध्यात्मपक्षे—हे मित्रावरुणा, तद्वद् बलकृष्णौ घृतैर्घृतदुग्धादिभिर्गव्यूतिं क्षेत्रमुक्षतं सिञ्चतम्। हे सुक्रतू शोभनसङ्कल्पौ, मध्वा मधुना रसेन मधूदकेन रजांसि लोकान् उक्षतं सिञ्चतम्।

दयानन्दस्तु—'हे मित्रावरुणा, प्राणोदानवद्वर्तमानौ सुक्रतू शिल्पिनौ, युवां घृतैर्नो गव्यूतिं क्रोशद्वयं मध्वा जलेन रजांसि उक्षतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, शिल्पिनोः प्राणोदानयोः सारूप्यानिरूपणात्, द्विवचनस्य अतन्त्रत्वाच्च। शिल्पिद्वयस्य हि लोकद्वयरोचने सामर्थ्याभावात्, सर्वलोकरोचनं तु दूरतो निरस्तम् ॥ ८ ॥

प्र बाहवा सिसृतं जीवसे न आ नो गव्यूतिमुक्षतं घृतेन।
आ मा जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे तरुण मित्रावरुण देवताओं! आप मेरी इस पुकार को सुनिये, हमारे चिरकाल तक के जीवन के निमित्त भुजाओं को फैलाइये, हमारे अन्तरिक्ष को शुद्ध जल से सब तरफ से सींचिये और हमारी कीर्ति को सभी लोकों में फैलाइये ॥ ९ ॥

मित्रावरुणदेवत्या त्रिष्टुप् वसिष्ठदृष्टा। हे मित्रावरुणा मित्रावरुणौ, हे युवाना युवानौ तरुणौ उच्छिन्नजरसौ, नोऽस्माकं जीवसे चिरं जीवनाय बाहवा बाहू प्रसिसृतं प्रसारयतम्। अन्तर्भाविण्यर्थः। बाहुप्रसारणमपि जीवनहेतुप्रतिपक्षनिराकरणायेत्यर्थः। किञ्च, नोऽस्माकं गव्यूतिं जीवनहेतुभूतं क्षेत्रं घृतेनाक्षारोदकेन आ आभिमुख्येन उक्षतं सिञ्चतम्। तदर्थं हि वृष्टिः प्रार्थ्यमाना दृष्टार्था भवति। गोजातिविषयभूतां वा ऊतिम् अदनमार्गम्। भक्षणमार्गाभिप्रायमेतत्, अतो गोप्रवाटमिति यावत्, गवां स्थितिस्थानाद् अदूरवर्तिनी गोचरभूमिरिति तात्पर्यम्। एवं भवत्सिक्तक्षेत्रधान्यैः सान्नायादिभिश्च यज्वानं मा मां जने प्रतिजनं जनपदे वा आश्रावयतम्, इत्थं भूरि अदाद् इत्थमयाक्षीद् अहो अस्य यज्ञसम्पत्तिः श्रद्धासम्पत्तिश्चेति लोकेषु कथयतं वर्णयतमित्यर्थः। किञ्च, युवां मे मम हवेमा इमा इमानि हवा हवानि आह्वानानि श्रुतं शृणुतम्, शृणोतेः शपो लुक्, श्रुत्वा च मदभिहितं कुरुतमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे पूर्वोक्तौ मित्रावरुणौ बलकृष्णौ रामलक्ष्मणौ वा, युवानौ छिन्नजरसौ दिव्यत्वात्, नोऽस्माकं जीवसे जीवनसाफल्याय बाहू प्रसिसृतं प्रसारयतम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मित्रावरुणा, बाहवा बाहू इव मिश्रिता युवाना युवां नो जीवसे जीवितुं मां प्रसिसृतं प्राप्नुतम्। घृतेन जलेन नो गव्यूतिं क्रोशयुग्मं ओक्षतं नानाकीर्तिमाश्रावयतम्। मे जन इमा हवा श्रुतं शृणुतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जीवनस्य मनुष्यातन्त्रत्वात्, न च क्रोशद्वयसिञ्चनस्य सार्थक्यम्, अतन्त्रत्वात्। न चाध्यापकोपदेशकयोरायत्तं जीवनं कीर्तिवर्धनं वा निष्पद्यते? न वा वादिप्रतिवादिनोर्वादविवादयोः श्रवणं पुरुषार्थः, लोकसिद्धत्वात् ॥ ९ ॥

शं नो॑ भवन्तु वा॒जिनो॒ हवे॑षु दे॒वता॑ता मि॒तद्र॑वः स्व॒र्काः ।
ज॒म्भय॑न्तोऽहिं॒ वृक॒ꣳ रक्षा॑ꣳसि सने॑म्य॒स्मद्यु॑यव॒न्नमी॑वाः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के कार्य के निमित्त यज्ञ में बुलाने पर बड़ी तेजी से दौड़कर आने वाले, श्रेष्ठ प्रकाश वाले साँप, भेड़िये और राक्षसों का नाश करने वाले घोड़े हमारे लिये कल्याणकारी हों, हमारी सब प्रकार की दीर्घकाल की बीमारियों को दूर भगा दें ॥ १० ॥

'वाजिनस्य शं नो वाजे वाज इति' (का० श्रौ० १९।७।११)। पयस्यायां वाजिनयागोऽस्ति, तत्र शं न इति पुरोऽनुवाक्या, वाजे वाजे (वा० सं० २१।११) इति याज्येति सूत्रार्थः । इयं पुरोऽनुवाक्या ९।१६ स्थले व्याख्याता ॥ १० ॥

वाजे॑वाजेऽवत वाजिनो नो॒ धने॑षु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
अ॒स्य मध्वः॑ पिबत मा॒दय॑ध्वं तृ॒प्ता या॑त प॒थिभि॑र्देव॒यानैः॑ ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वों, तुम बुद्धिमान् दीर्घजीवी सत्य को जानने वाले हो, सब प्रकार के धन और अन्न से हमारा पालन करो । यहाँ से जाने के पहले हमारी दी हुई इस मधुर हवि को नौ बार सूंघ कर उसका पान करो और तृप्त हो जाओ । तृप्त होने के उपरान्त देवयान में अधिष्ठित मार्गों से गमन करो ॥ ११ ॥

इयं याज्या ९।१८ स्थले व्याख्याता ॥ ११ ॥

समि॑द्धो अ॒ग्निः स॒मिधा॒ सुस॑मिद्धो॒ वरे॑ण्यः ।
गा॒य॒त्री च्छन्द॑ इन्द्रि॒यं त्र्यवि॒र्गौर्वयो॑ दधुः ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—बड़ी-बड़ी समिधाओं के द्वारा भली प्रकार प्रज्वलित की गई, पूर्णतया प्रदीप्त प्रार्थना करने योग्य अग्नि देवता, गायत्री छन्द की शक्ति और डेढ़ वर्ष की गौ—ये सब पूजित होकर यजमान में बल और आयु की स्थापना करें ॥ १२ ॥

'वायोधसाप्रियः समिद्धोऽग्निः समिधेति' (का० श्रौ० १९।७।१३) । 'वायोधसस्य पशोराप्रियः प्रयाजयाज्याः 'समिद्धो अग्निः समिधा' इत्येकादशर्चो भवन्तीति सूत्रार्थः । एकादश आप्रीदेवत्या अनुष्टुभः स्वस्त्यात्रेयदृष्टाः । अग्निः, गायत्रीच्छन्दः, गौश्च एते त्रय इन्द्रे इन्द्रियं वीर्यं वयः सत्त्वमन्नमायुर्वा दधुः दधतु प्रयच्छन्तु । कथम्भूतोऽग्निः ? समिधा प्रयाजदेवतया समिद्धो दीप्तः, सुसमिद्धश्च अतिदीप्तः, प्रयाजघृतेनेति शेषः । वरेण्यो वरणीयः सम्भजनीयः । कीदृशो गौः ? त्र्यविः, त्रयोऽवयोऽनुचरत्वेन यस्य सः । यद्वा षण्मासावधिः कालोऽविः, ततस्त्रयोऽवयो यस्य सः, सार्धवत्सरो गौरित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—समिधा दीप्तिसाधनभूतया बुद्ध्या समिद्धो दीप्तश्चिदात्मा वेदान्तवाचा सुतरामिद्धोऽत्यन्तं दीप्तः सन् ब्रह्मात्मना दीप्यते, स च वरेण्यो वरणीयः सम्भजनीयो भवति। तादृशोऽग्निः, गायत्रीच्छन्दस्तदधिष्ठाता देवः, त्र्यविर्गौश्च, अर्थात् तदधिष्ठाता देवश्च इन्द्रे चक्षुरादिभिर्विशिष्टदीप्तियुक्तेऽधिकृते जीवे इन्द्रियं वीर्यं वयः सत्त्वमन्नमायुर्वा दधुः दधतु ।

दयानन्दस्तु—'यथा समिद्धोऽग्निर्वह्निः समिधा, सुसमिद्धः सूर्यो वरेण्यो वरणीयो जनः, गायत्रीच्छन्दश्चेन्द्रियं मनः प्राप्नोति, यथा च त्र्यविर्गौर्वयो दधाति, तथा विद्वांसो जीवनं दधुः । त्रयाणां शरीरेन्द्रियात्मनाम्

अविः रक्षणं यस्मात् स गौः स्तोता' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यास्य व्याख्यानस्य प्रमाणसापेक्षत्वेन निर्भ्रमत्वायोगात्, निष्प्रमाणकाध्याहारसापेक्षत्वाच्च। समिधोत्तमप्रकाशेन सूर्यस्य कथं प्रकाशमानत्वम् ? प्रकाशस्य प्रकाशान्तरनिरपेक्षत्वात्, वरेण्यपदस्य श्रुतसमिद्धाग्निविशेषणत्वोपपत्ताश्रुतजनकल्पनाया निर्मूलत्वात्। एवं सर्वोऽपि रागवशादेव शरीरेन्द्रियात्मनो रक्षतीति व्यावर्त्याभावान्निरर्थिकोक्तिः। मनोऽपि कर्मवशात् सर्व एव प्राप्नोतीति कर्तृक्रियान्तराध्याहारश्च निरर्थक एव ॥ १२ ॥

तनूनपाच्छुचिव्रतस्तनूपाश्च सरस्वती।
उष्णिहा च्छन्द इन्द्रियं दित्यवाड्गौर्वयो दधुः ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—पवित्र कर्म वाले जलदेवता का पौत्र अग्निदेव, शरीर को पुष्ट करने वाला गौ घृत या प्रयाज देवता, सरस्वती देवी, उष्णिक् छन्द और दिव्य हवि को वहन करने वाली दो वर्ष की गाय पूजित होकर यजमान में बल और दीर्घायु की स्थापना करें ॥ १३ ॥

तनूनपात्, न पातयति न पतति वा स नपात्, 'नभ्राण्नपात्' (पा० सू० ६।३।७५) इति निपातनात् साधुः, तनूं न पातयति जाठररूपेण धारयतीति तनूनपादग्निः। अथवा नपात् नप्ता पौत्रः 'नपात् इत्यनन्तरायाः प्रजाया नामधेयम्' (निरु० ८।५), तन्वन्ति तता भवन्त्यन्तरिक्षे इति तन्व आपः। ताभ्य ओषधिवनस्पतयो जायन्ते, ओषधिवनस्पतिभ्योऽग्निर्जायित इति तनूनामपां नपात् पौत्रस्तनूनपाद् अग्निः। यद्वा तन्वन्ति पय आदयो भोगा यस्यां सा तनूः, गोनाम। अस्याः पयो जायते, पयस आज्यमिति तनूनपादाज्यम्। शुचिव्रतः शुचि शुक्लं व्रतं कर्म यस्यासौ तथोक्तः। 'व्रतमिति कर्मनामधेयम्' (निघ० २।१।६) उज्ज्वलकर्मा। तनूपाः तनूं शरीरं (यज्ञस्य) पातीति तनूपाः। सरस्वती प्रयाजदेवता, उष्णिक् छन्दः। स्त्रीत्वविवक्षायाम् उष्णिहा, अजादिगणे पाठात् 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० सू० ४।१।४) इति टाप्। दित्यवाड् दित्यां भवं दित्यम्, दित्यं हविर्वहतीति दित्यवाट् गौश्च, एते चत्वार इन्द्रे इन्द्रियं वीर्यं वयश्च दधुर्दधतु।

अध्यात्मपक्षे—परमात्मैव सर्वात्मत्वात् तनूनपादादिरूपेण इन्द्रे जीवे इन्द्रियं वीर्यं वयः सत्त्वमन्नमायुर्वा दधाति।

दयानन्दस्तु—'यथा शुचिव्रतस्तनूनपात् तनूपाः सरस्वती उष्णिहा च छन्द इन्द्रियं जीवस्य लिङ्गं दधाति, यथा च दित्यवाड् दितये हितं वहति गौर्वयः कामनां वर्धयति, तथैतत्सर्वं विद्वांसो दधुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, छन्दसो जीवलिङ्गधारणे कथमुपयोग इत्यनुक्तेः। गौरित्यस्य स्तोतार्थ इत्यपि प्रमाणसापेक्षम, अध्याहारस्यागतिकगतित्वाच्च ॥ १३ ॥

इडाभिरग्निरीड्यः सोमो देवो अमर्त्यः।
अनुष्टुप् छन्द इन्द्रियं पञ्चाविर्गौर्वयो दधुः ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—प्रयाज देवताओं के द्वारा जिनकी स्तुति की गई है, ऐसे अग्नि देवता मरण धर्म रहित देवता सोम, अनुष्टुप् छन्द, ढाई वर्ष की गाय के साथ पूजित होकर यजमान में बल और दीर्घायु का आधान करें ॥ १४ ॥

इडाभिः प्रयाजदेवताभिः सह अग्निः, सोमो देवः, अनुष्टुप् छन्दः, गौः—एते पञ्च इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुः। कीदृशोऽग्निः ? ईड्यः स्तुत्यः। कीदृशः सोमः ? अमर्त्यः अमरणधर्मा। कीदृशो गौः ? पञ्चाविः पञ्च अवयोऽनुचराः षण्मासरूपकालविशेषा वा यस्य सः, सार्धद्विवर्ष इति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यद्योतनाय एषा ऋक्। इडादयो भगवद्रूपा एव इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुः। कर्मानुष्ठानकालेऽपि द्रव्यदेवतादिरूपेणापि भगवानेव भावनीय इति भावः।

दयानन्दस्तु—'यथाग्निरमर्त्यः सोम ईड्यो देवः पञ्चाविर्गौर्विद्वानिडाभिरनुष्टुप् छन्द इन्द्रियं वयश्च दध्यात्, तथैव तत् सर्वे दधुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणादसम्बद्धत्वाच्च। पञ्चभिः सर्वोऽपि रक्ष्यते। देवपदमपि योनिविशेषे रूढत्वाद् दिव्यगुणवति लक्षणैव। सा च अन्वयानुपपत्तिमूला तात्पर्यानुपपत्तिमूला वा ग्राह्या। न चात्रानुपपत्तिद्वयी दृश्यते। तस्मान्मुधैव तदाश्रयणम्। न च छन्दस उपयोगो दर्शितः। गोपदं स्तोतव्यपरमित्यपि निर्मूलमेव ॥ १४ ॥

सुबर्हिरग्निः पूषण्वान् स्तीर्णबर्हिरमर्त्यः।
बृहती छन्द इन्द्रियं त्रिवत्सो गौर्वयो दधुः ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर बर्हिवाला पूषा देवता, प्रयाज देवता और अग्नि देवता, विस्तृत कुशा युक्त मरणधर्मरहित बृहती छन्द, तीन वर्ष की गाय—ये सब पूजित होकर यजमान के बल और आयु को बढ़ावें ॥ १५ ॥

सुबर्हिः शोभनबर्हिः प्रयाजदेवता, अग्निः, बृहतीच्छन्दः, गौः—एते चत्वार इन्द्रियं वयश्च इन्द्रे दधुर्दधतु। कीदृशोऽग्निः ? पूषण्वान् पूष्णा संयुक्तः, स्तीर्णबर्हिः स्तीर्णमास्तृतं बर्हिर्दर्भो यस्मै स तथोक्तः, अमर्त्यः अमरणधर्मा। कथंभूतो गौः ? त्रिवत्सः, त्रयो वत्सा अनुचरा वत्सरत्रयरूपः कालविशेषो वा यस्य सः।

अध्यात्मपक्षे—सुबर्हिः प्रयाजदेवता पूषण्वान् पूष्णासहितः स्तीर्णबर्हिरमर्त्यो जरामरणादिरहितः स्तीर्णबर्हिः, बृहतीच्छन्दः, त्रिवत्सश्च गौः सर्वे चैते भगवद्रूपा इन्द्रे इन्द्रियं वीर्यं वयः सत्त्वमायुर्वा दधुः।

दयानन्दस्तु—'यथा पूषण्वान् पूषाणः पुष्टिकरा गुणा विद्यन्ते यस्मिन्, स्तीर्णबर्हिः स्तीर्णं बर्हिरन्तरिक्षं येन सः, अमर्त्यो मृत्युधर्मरहितः। त्रीणि देहेन्द्रियमनांसि वत्सा इवानुचराणि यस्य स सुबर्हिः शोभनं बर्हिरन्तरिक्षं यस्मात् स सुबर्हिरग्निरिव जनो बृहतीच्छन्दश्चेन्द्रियं दध्यात्। त्रिवत्सो गौरिव वयो दध्यात्, तथैतद्दधुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वत्सपदस्यानुगाम्यर्थतायां गौणार्थाश्रयणात्। त्रीत्यनेन देहेन्द्रियमनसां ग्रहणमपि प्रमाणापेक्षमेव ॥ १५ ॥

दुरो देवीर्दिशो महीर्ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः।
पङ्क्तिश्छन्द इहेन्द्रियं तुर्यवाड् गौर्वयो दधुः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—महती दिशाएँ, दीप्तिमान् द्वारों की देवियां, बृहस्पति, ब्रह्मदेव, पंक्ति छन्द तथा चार वर्ष की गौ—ये सब पूजित होकर इस यजमान के बल और आयु की वृद्धि करें ॥ १६ ॥

दुरो द्वारो देव्यः प्रयाजदेवताः। छान्दसं सम्प्रसारणम्। महीर्महत्यो दिशो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः पङ्क्तिश्छन्दः तुर्यवाड् गौस्तुर्यं चतुर्थं वर्षं वहतीति तुर्यवाट्। एते षड् देवा इह इन्द्रे (अभिनयनिर्देशः) इन्द्रियं वयश्च दधुः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथेह देवीर्महीर्दुरो दिशो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः पङ्क्तिश्छन्द इन्द्रियं तुर्यवाड् गौर्वयो जीवनं दधुस्तथा यूयमपि धरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य दार्ष्टान्तिकस्य च निर्मूलत्वात्, ब्रह्मपदेन अन्तरिक्षस्य पवनस्य बृहस्पतिपदेन सूर्यस्य च ग्रहणे मानाभावात्, तत्तच्छन्दसस्तत्र तत्र कथमुपयोग इत्यनुक्तेश्च। सिद्धान्ते तु तत्तच्छन्दोऽधिष्ठातृदेवता अभ्युपेयन्ते, तेषां चाप्यन्यदेवानामिव इन्द्रे इन्द्रियाधान उपयोगस्य सूपपादत्वात् ॥ १६ ॥

उषे यह्वी सुपेशसा विश्वेदेवा अमर्त्याः ।
त्रिष्टुप् छन्द इहेन्द्रियं पष्ठवाड् गौर्वयो दधुः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—विशाल सुन्दर रूप वाले दिन-रात, मरणधर्मरहित सम्पूर्ण देवता, त्रिष्टुप् छन्द और पीठ पर भार उठाने वाला बैल—ये सब मिलकर यजमान के बल और आयु की वृद्धि करें ॥ १७ ॥

उषे रात्र्यहनी, द्विवचननिर्देशात् तयोः सहचरितत्वाच्च, यह्वी यह्वयौ महत्यौ सुपेशसा सुष्ठु शोभनं पेशो रूपं ययोस्ते सुपेशसौ, विभक्तेराकारः, अमर्त्या अमरणधर्माणो विश्वेदेवा, त्रिष्टुप् छन्दः, पष्ठवाड् गौः पष्ठं भारं वहतीति तथोक्तो गौरेते पञ्च इह इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुर्दधतु । 'यह्वा इति महन्नामसु' (निघ० १।१२।४२) । यातं प्राप्तं च विपासितैः, हुतं च यज्ञे देवतात्वादिति द्विधातुजं रूपम् । अस्य द्विप्रकृतिजन्यत्वान्महत्त्वम् ।

यद्वा—'यह्व इति महन्नामसु' (निघ० ३।३।१३) । तथा च भगवान् यास्कः—'यह्व इति महतो नामधेयम्, यातश्च हूतश्च भवति' (निरु० ८।८) । दशपाद्याम् अष्टमे पादे यह्वा इति स्त्रीलिङ्गनिपातनम् । भट्टोजिदीक्षितास्तु 'यह्वः' इति पुंलिङ्गमेव पाठमाहुः ।

अध्यात्मपक्षे—अहोरात्राद्यधिष्ठातारो ब्रह्मरूपास्ते ते देवा इन्द्रियं वयश्च इन्द्रे दधुर्दधतु । तत एव तांस्तानुपकारान् मनस्यनुसन्धाय सौत्रामणीप्रसङ्गे तांस्तान् देवान् यजेदिति ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथेह सुपेशसौ अध्यापिकोपदेशिके उषे दहनकर्त्र्याविव यह्वी महत्यौ विश्वे सर्वे देवा देदीप्यमानाः पृथिव्यादयोऽमर्त्याः स्वरूपेण नित्याः, त्रिष्टुप् छन्दः, पष्ठवाड् गौर्वृषभो वयः प्रजननमिन्द्रियं धनं दधुस्तथा यूयमाचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तेष्विन्द्रियधनधारकत्वासिद्धेः । अध्यापिकोपदेशिकयोः सुरूपत्वबृहत्त्वयोस्तात्पर्याप्रकाशनात् । सिद्धान्ते तु स्वभावकीर्तनम्, न च त्वद्रीत्या तत्सम्भवति, तयोर्वैपरीत्यस्यापि सम्भवात् ॥ १७ ॥

दैव्या होतारा भिषजेन्द्रेण सयुजा युजा ।
जगती च्छन्द इन्द्रियमनड्वान् गौर्वयो दधुः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ--दैवी आहुति देने वाले इन्द्र और मध्यम वायु, इन्द्र सहित दोनों वैद्य, अर्थात् अन्तरिक्ष में स्थित अग्नि और वायु, जगती छन्द, छह वर्ष का युवा वृषभ—ये सब मिलकर यजमान में बल और आयु की स्थापना करें ॥ १८ ॥

दैव्या दैव्यौ देवसम्बन्धिनौ होतारा होतारौ प्रयाजदेवौ, अयं चाग्निः, असौ मध्यमोऽन्तरिक्षस्थो वायुः, भिषजौ सुरवैद्यौ, इन्द्रेण सयुजा सयुजौ सह युज्येते इति सयुजौ संयुक्तौ, समानकार्यौ वा, युजा युजौ परस्परेण युक्तौ, जगतीच्छन्दः, अनड्वान् अनः शकटं वहतीति अनड्वान् गौः, एते चत्वार इन्द्रे इन्द्रियं वीर्यं वयः सत्त्वमन्नमधुना दधुः ।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मात्मका देवा होत्रादय इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुरिति पूर्ववदेव व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा इन्द्रेण सयुजौ युजौ दैव्यौ होतारौ भिषजौ अनड्वान् गौर्जगतीच्छन्दश्च वय इन्द्रियं दधुस्तथैतद् भवन्तो दधीरन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात् । नहि जगतीच्छन्दसि धनधारकत्वम्, न वा अनड्वान् तद्धर्तुं पारयति । भिषग्गतद्वित्वस्य प्रयोजनं वक्तव्यम् । देवेषु भवौ दैव्यौ नात्र नैपुण्यार्थे प्रत्ययः ॥ १८ ॥

तिस्र इडा सरस्वती भारती मरुतो विशः ।
विराट् छन्द इहेन्द्रियं धेनुर्गौर्न वयो दधुः ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—इडा, भूमि और सरस्वती नामक तीनों देवियाँ, धारणावती बुद्धि, इन्द्र की प्रजा, विराट् छन्द और दूध देने वाली गाय—ये सब मिलकर यजमान में बल और आयु की वृद्धि करें ॥ १९ ॥

तिस्रो देव्य इडा सरस्वती भारती प्रयाजदेव्यः, मरुतो विश इन्द्रप्रजा विराट् छन्दो धेनुर्न दोग्ध्री गौश्च नशब्दश्चार्थे । एते षड् इहेन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुः ।

अध्यात्मपक्षे—परमात्मरूपा इडादयोऽधिकारिणि मनुष्ये इन्द्रे इन्द्रियं वीर्यं वयोऽन्नं सत्त्वमायुश्च दधुः ।

दयानन्दस्तु—'यथेहेडा सरस्वती भारती च तिस्रो मरुतो विशो विराट् छन्द इन्द्रियं धेनुर्गौर्न वयश्च दधुः, तथा सर्वे मनुष्या एतद् धृत्वा वर्तेरन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, पृथिव्यादीनां जडाना-मिन्द्रियजडादिधारणे प्रवृत्त्यसम्भवात्, गौः कथं किं पिबतीत्यनुक्तेश्च ॥ १९ ॥

त्वष्टा तुरीपो अद्भुत इन्द्राग्नी पुष्टिवर्धना ।
द्विपदा च्छन्द इन्द्रियमुक्षा गौर्न वयो दधुः ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—पूर्णता को प्राप्त सर्वव्यापी अद्भुत कर्म वाला महान् त्वष्टा देवता, पुष्टिवर्धक इन्द्र और अग्नि, द्विपाद छन्द और सेचन में समर्थ वृषभ—ये पाँचों देवता यजमान में बल और आयु की स्थापना करें ॥ २० ॥

त्वष्टा, प्रयाजदेवः, इन्द्राग्नी, द्विपदा च्छन्दः, उक्षा सेक्ता गौश्च पञ्चेन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुः । कीदृश-स्त्वष्टा तुरीपस्तूर्णमाप्नोति व्याप्नोतीति तुरीपोऽद्भुतः, अद् कदाचिदेव भवतीति अद्भुतः । अथवा अद् कदाचिदपि न भवतीति अद्भुतो महान् । कीदृशाविन्द्राग्नी ? पुष्टिवर्धना पुष्टिवर्धनौ पुष्टिं धनादिपोषं वर्धयेते इति तथोक्तौ । नश्चार्थः ।

अध्यात्मपक्षे—त्वष्ट्रादयो भगवद्भूता इन्द्रे देवराजे जीवे वा इन्द्रियं वयश्च दधुः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, येऽद्भुतस्तुरीपस्त्वष्टा पुष्टिवर्धनेन्द्राग्नी द्विपदाच्छन्द इन्द्रियमुक्षा गौर्न वयो दधुस्तान् विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च । अनड्वान् गौरेव यथाऽष्टादश्यां कण्डिकायां क्रियान्वयी, तथैव गौर्न इत्यत्रापि गौरित्यस्यान्वयोपपत्त्या इवार्थकल्पनानुपपत्तेः, नकारस्य चार्थत्वेऽपि बाधाभावात् । कश्च सेचनसमर्थ इत्यस्यानुक्तेश्च ॥ २० ॥

शमिता नो वनस्पतिः सविता प्रसुवन् भगम् ।
ककुप् छन्द इहेन्द्रियं वशा वेहद् वयो दधुः ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—सुखदायक वनस्पति और धन को देने वाले सविता, ककुप् छन्द, वन्ध्या और गर्भघातिनी गाय—ये सभी यजमान में बल और आयु का आधान करें ॥ २१ ॥

वनस्पतिः प्रयाजदेवः, सविता सूर्यः, ककुप् छन्दः, वशा वष्टीति वशा, वन्ध्या गौः 'वशिरण्योरुपसंख्यानम्' (•पा० सू० ३।३।५८, वा० १) इत्यप् । वेहच्च विहन्ति गर्भमिति वेहद् गर्भघ्नो गौः, एते पञ्च इह इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुः । 'संश्च तृपद्वेहत्' (उ० २।८६) इति साधुः । कीदृशो वनस्पतिः ? नोऽस्माकं शमिता शमयति सुखयतीति शमिता 'शमिता यज्ञे' (पा० सू० ६।४।५४) इति णिचो लोपः । कीदृशः सविता ? भगं प्रसुवन् धनं प्रेरयन्, ददादिति यावत् ।

अध्यात्मपक्षे—वनस्पत्यादयो भगवद्रूपा इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः शमिता वनस्पतिः सविता भगं प्रसुवन् ककुप् छन्द इन्द्रियं वशा वेहच्च नो वयो दधुस्तान् यूयं विज्ञाय उपकुरुत' इति, तदपि तुच्छम्, असम्बद्धत्वात् । वशा वेहच्च कथं जगति वयःप्राप्तियोग्यं वसु धास्यत इत्यस्यानिरूपणात् ॥ २१ ॥

स्वाहा यज्ञं वरुणः सुक्षत्रो भेषजं करत् ।
अतिच्छन्दा इन्द्रियं बृहदृषभो गौर्वयो दधुः ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हमारी रक्षा करने वाले वरुण देवता, स्वाहाकृत प्रयाज देवताओं के साथ इन्द्र के लिये हम औषध रूप यज्ञ को समर्पित करते हैं । अतिच्छन्द और श्रेष्ठ वृषभ इन्द्र में बल और आयु की स्थापना करें ॥ २२ ॥

सुक्षत्रः त्राणं त्रः, क्षतात् नाशात् त्रः क्षत्रः । सुष्ठु शोभनः क्षत्रो यस्यासौ सुक्षत्रः शोभनक्षतत्राता वरुणः, स्वाहा स्वाहाकृतिभिः प्रयाजदेवैः सह नामैकदेशे नामग्रहणम्, यज्ञं भेषजं यज्ञलक्षणमौषधमिन्द्राय करत् करोतु । किञ्च, अतिच्छन्दाश्छन्दो बृहद् महान् ऋषभः समर्थो गौर्वरुणश्च स्वाहाकृतय एते चत्वार इन्द्रे इन्द्रियं वयश्च दधुर्दधतु ।

अध्यात्मपक्षे—क्रियाकारकद्रव्याणि सर्वाण्यपि ब्रह्मभूतान्येव, 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥' (भ० गी० ४।२४) इति गीतोक्तेः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यथा वरुणः सुक्षत्रः स्वाहा यज्ञं भेषजं च करत्, योऽतिच्छन्दा ऋषभो गौर्बृहदिन्द्रियं वयश्च धत्तस्तथैव सर्वे दधुः, एतज्जानीत' इति तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वादेव, यज्ञौषधस्य चानिरूपणात् । सङ्गमः क्रियारूपः, तस्य च द्रव्यात्मकेन औषधेन सामानाधिकरण्यायोगात्, अतिच्छन्दश्छन्दसो गोश्च धनादिधारणोपयोगानिरूपणाच्च ॥ २२ ॥

वसन्तेन ऋतुना देवा वसवस्त्रिवृता स्तुताः ।
रथन्तरेण तेजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—त्रिवृत् स्तोम और रथन्तर पृष्ठ द्वारा स्तुति किये गये वसन्त ऋतु सहित आठों वसु देवता इन्द्र में तेज के साथ हवि और आयु की स्थापना करें ॥ २३ ॥

'याज्यानुवाक्याश्च वपापुरोडाशपशूनां वसन्तेन ऋतुनेति' (का० श्रौ० १९।७।१४) । चकाराद्वायोधसे पशावेव षडृचो यथाक्रमं वपापुरोडाशपशूनां याज्याः पुरोनुवाक्याश्च भवन्तीति सूत्रार्थः । तद्यथा वसन्तेनेति (२३) पुरोनुवाक्या, ग्रीष्मेणेति (२४) याज्या वपायागे, वर्षाभिरिति (२५) पुरोऽनुवाक्या, शारदेनेति (२६) याज्या पशुपुरोडाशयागे, हेमन्तेनेति (२७) पुरोऽनुवाक्या, शैशिरेणेति (२८) याज्या हृदयादियागे चेति विभावनीयम् । अनुष्टुभः षड् लिङ्गोक्तदेवताः । वयोधा इन्द्रो देवतेत्यर्थः । वसन्तेन ऋतुना तदधिष्ठात्रा देवेन त्रिवृता स्तोमेन रथन्तरेण पृष्ठेन साम्ना च स्तुताः वसवो देवा इन्द्रे तेजसा सह हविर्वपाख्यं वयः शक्तिं च दधुर्दधतु, स्थापयन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मस्वरूपा वस्वादय इन्द्रे हविर्वयश्च दधुः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये वसवो देवाः स्तुताः, त्रिवृता वसन्तेन वसन्तर्तुना सह वर्तमानाः, रथन्तरेण तेजसा इन्द्रे हविर्वयो दधुस्तान् स्वरूपतो विज्ञाय सङ्गच्छध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, निर्मूलाध्याहारमूलकत्वाच्च, वैदिकवृत्तान्तानभिज्ञानाच्च। त्रिवृत्पञ्चदशादयः स्तोमा भवन्ति, रथन्तरादीनि सामानि भवन्तीति वैदिकप्रसिद्धिः। त्रिवृता त्रिषु कालेषु यो भवति, स कथं कादाचित्कत्वेनानुभूयते? किमिदं तेजो यद्रथेन तरणीयम्? न च तत्सौरमेव, तस्य रथेनापि तरणासम्भवात् ॥ २३ ॥

ग्रीष्मेण ऋतुना देवा रुद्राः पञ्चदशे स्तुताः।
बृहता यशसा बलꣳ हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—पंचदश स्तोम और बृहत्पृष्ठ साम द्वारा स्तुति किये गये ग्रीष्म ऋतु सहित रुद्र देवता इन्द्र में यश सहित बल, हवि और आयु की स्थापना करते हैं ॥ २४ ॥

ग्रीष्मेण ऋतुना सह पञ्चदशे पञ्चदशेन स्तोमेन, विभक्तिव्यत्ययः, बृहता पृष्ठेन च स्तुता रुद्रा देवा इन्द्रे यशसा सह हविर्बलं वयश्च दधुः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये स्तुता रुद्राः पञ्चदशे ग्रीष्मेणर्तुना बृहता यशसेन्द्रे हविर्बलं वयश्च दधुः, तान् यूयं जानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्राणानां मध्यमविदुषां वाऽचेतनत्वादल्पज्ञत्वाच्च तेषां जीवे बलाद्याधानेऽसामर्थ्यात् ॥ २४ ॥

वर्षाभिर्ऋतुनादित्याः स्तोमे सप्तदशे स्तुताः।
वैरूपेण विशौजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—सप्तदश स्तोम और विरूपपृष्ठ साम द्वारा स्तुत वर्षा ऋतु सहित आदित्य देवता इन्द्र में प्रजा के द्वारा ओज सहित हवि और आयु की स्थापना करते हैं ॥ २५ ॥

वर्षाभिर्ऋतुना सह सप्तदशे स्तोमे सप्तदशेन स्तोमेन, तृतीयार्थे सप्तम्यौ, विभक्तिव्यत्ययः, वैरूपेण पृष्ठेन साम्ना च स्तुता आदित्या देवा इन्द्रे विशा प्रजया ओजसा च सह हविर्वयश्च दधुः।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यमत्र द्योत्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये वर्षाभिर्ऋतुना वैरूपेणौजसा विशा सह वर्तमाना आदित्याः सप्तदशे स्तोमे स्तुता इन्द्रे हविर्वयो दधुस्तान् यूयं विज्ञायोपकुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पञ्चदश-सप्तदश-स्तोमादिपदेन तावन्तो व्यवहारा उच्यन्त इत्यस्य निर्मूलत्वात्। वैरूपादिपदार्थोऽपि निर्मूल एव ॥ २५ ॥

शारदेन ऋतुना देवा एकविꣳश ऋभवः स्तुताः।
वैराजेन श्रिया श्रियꣳ हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—एकविंश स्तोम और वैराजपृष्ठ साम के द्वारा स्तुति को प्राप्त हुए लक्ष्मी और शरद् ऋतु सहित ऋभु नामक देवता इन्द्र में लक्ष्मी, हवि और आयु की स्थापना करते हैं ॥ २६ ॥

शारदेन ऋतुना सह एकविंशे एकविंशेन, तृतीयार्थे सप्तमी, स्तोमेन वैराजेन पृष्ठेन विराट्छन्दःसम्बन्धिना साम्ना श्रिया लक्ष्म्या च स्तुताः, ऋभव ऋभुसंज्ञका देवा इन्द्रे श्रियं हविर्वयश्च दधुर्दधतु, 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' (पा० सू० ८।३।३६, वा० १) इति विसर्गलोपः ।

अध्यात्मपक्षे—भगवद्रूपा ऋभवस्तैस्तैर्भगवद्रूपैरेव शारदादिभिः स्तुता इन्द्रे देवराजे जीवे वा तत्तत्कर्मानुसारं श्रियं हविर्वयश्च दधुः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य एकविंशे स्तुता ऋभवो देवाः शारदेनर्तुना वैराजेन श्रिया सह वर्तमाना इन्द्रे श्रियं हविर्वयश्च दधुस्तान् यूयं सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एकविंशव्यवहारस्यानिरूपणात् । पूर्वेऽपि देवा विद्वांस एवासन्, एषां तैः को भेद इत्यनुक्तेश्च ॥ २६ ॥

हेमन्तेन ऋतुना देवास्त्रिणवे मरुतः स्तुताः ।

बलेन शक्वरीः सहो हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—त्रिणव स्तोम और शक्वरीपृष्ठ साम के द्वारा स्तुत हेमन्त ऋतु सहित मरुत् देवता इन्द्र में बल सहित हवि और आयु की स्थापना करते हैं ॥ २७ ॥

हेमन्तेन ऋतुना सह त्रिणवे त्रिणवेन, तृतायार्थे सप्तमी, स्तोमेन, शक्वरीरिति शाक्वरस्य साम्नो योनिनिर्देशः, शक्वरीछन्दस्कायामृचि, गीतेन शाक्वरेणेति भावः । शाक्वरेण पृष्ठेन साम्ना च स्तुता मरुतो देवा बलेन सह इन्द्रे सह इन्द्रियसामर्थ्यं हविर्वयश्च दधुः ।

अध्यात्मपक्षे – ब्रह्मविवर्तरूपा मरुतो देवराज इन्द्रे जीवात्मनि वा तत्तत्कर्मानुसारेण बलादिकं दधुः ।

दयानन्दस्तु –'हे मनुष्याः, ये त्रिणवे हेमन्तेनर्तुना सह वर्तमानाः स्तुता मरुतो बलेन शक्वरीः सहो हविर्वय इन्द्रे दधुस्तान् सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सप्तविंशव्यवहारस्य निष्प्रमाणत्वात्, मनुष्याणामल्पशक्तीनामन्यत्र जीवेषु बलाद्याधानासामर्थ्यात् । किञ्च, यदि पूर्वोक्तजीवेषु बलसहआदिकं दधति, तदा कथमनेके जीवास्तद्रहिता भवन्ति ? ॥ २८ ॥

शैशिरेण ऋतुना देवास्त्रयस्त्रिꣳशेऽमृताः स्तुताः ।

सत्येन रेवतीः क्षत्रꣳ हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ— त्रयस्त्रिंश स्तोम और रैवतपृष्ठ साम के द्वारा स्तुत शिशिर ऋतु सहित अमृत नामक देवताओं ने इन्द्र में सत्यसहित क्षात्र तेज, हवि और आयु की स्थापना की थी ॥ २८ ॥

शैशिरेण ऋतुना सह त्रयस्त्रिशेन, तृतीयार्थे सप्तमी, स्तोमेन रेवतीरिति रैवतस्य साम्नो योनिनिर्देशः । रैवतेन च पृष्ठेन साम्ना अमृता अमृतसंज्ञका देवाः सत्येन सह क्षत्रं क्षतत्राणं हविर्वयश्च इन्द्रे दधुर्दधतु ।

अध्यात्मपक्षे —शैशिराद्यधिष्ठातृदेवताभिः सह अमृता ब्रह्मात्मका देवा इन्द्रे जीवे बलादिकं दधुः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, येऽमृताः स्तुताः शैशिरेणर्तुना देवाः सत्येन सह त्रयस्त्रिशे विद्वांसो रेवतीरिन्द्रे हविः क्षत्रं वयश्च दधुस्तेभ्यो भूम्यादिविद्याः गृह्णीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशाध्याहारस्य निर्मूलत्वात् । पूर्वं पञ्चदशादिशब्दैर्व्यवहारा गृहीताः, इह मन्त्रे तमर्थमपहाय वस्वादिदेवानां ग्रहणे बीजानुक्तेः । स्वरूपेण सर्वेऽमृता इति तादृशव्याख्यायास्तात्पर्यं वक्तव्यम् ॥ २८ ॥

होता यक्षत्समिधाग्निमिडस्पदेऽश्विनेन्द्रꣳ सरस्वतीमजो धूम्रो न गोधूमैः कुवलैर्भेषजं मधु शष्पैर्न तेज इन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—यहाँ से बारह मन्त्र प्रैष कहलाते हैं। आहवनीय वेदि में स्थित दिव्य होता समिधा से अग्नि को, अश्विनीकुमार, इन्द्र और सरस्वती को आहुत करते हैं, अर्थात् इनके निमित्त आहवनीय स्थान में आहुति देते हैं। उसमें धूम्र वर्ण का अज, गेहूँ, बदरी फल और अँकुरित व्रीहि सहित मधुर औषधियाँ होती हैं, जो कि तेज और बल को देने वाली हैं। अश्विनीकुमार, सरस्वती और इन्द्र देवताओं से पूजित होकर जल का सारभूत, महौषधियों से निचोड़ा गया सोम रस मधु और घृत का पान करता है। हे हवन करने वाले मनुष्य! तुम भी इसी प्रकार घृत से हवन कर देवताओं को प्रसन्न करो ॥ २९ ॥

'होता यक्षत्समिधाग्निमिति प्रयाजप्रैषास्त्रिपशोः' (का० श्रौ० १९।६।१४)। होता यक्षत्समिधाग्निमिडस्पद इत्यादयो द्वादश कण्डिकास्त्रिपशोः प्रयाजप्रैषाः स्युरिति सूत्रार्थः। द्वादशाप्रीणां प्रयाजयाज्यानां प्रैषा अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याः। तत्र आद्या अष्टिः। अथ मन्त्रार्थः—दैव्यो देवसम्बन्धी होता समिधा प्रयाजदेवतया सह अग्निमश्विना अश्विनौ इन्द्रं सरस्वतीं च इडःपदे गोपदे आहवनीये यक्षद् यजतु, गोष्पदेऽवस्थितमाहवनीयमग्निमश्व्यादिदेवताश्च यजत्वित्यर्थः। तत्र यागेऽजो धूम्रो न, नकारौ समुच्चयार्थौ, अजो धूम्रो मेषश्च गोधूमैः कुवलैर्बदरैः शष्पैरङ्कुरितव्रीहिभिश्च सहितो भेषजमौषधं भवति, इन्द्रायेति शेषः। कीदृशं भेषजम्? तत्राह—मधु मधुरं तेजस्तेजःप्रदम्, इन्द्रियम् इन्द्रियसामर्थ्यप्रदम्। किञ्च, तेऽश्विसरस्वतीन्द्रा देवा दैव्येन होत्रेज्यमानाः सन्तः पयःपरिस्रुता सुरया सह सोमः सोमं घृतं मधु च व्यन्तु पिबन्तु। सोम इति विभक्तिव्यत्ययः। हे होतर्मनुष्यहोतः, त्वमप्याज्यस्य यज अश्व्यादिभ्य आज्यं देहि। कर्मणि षष्ठी, यजतिश्च दानार्थः।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होताग्निमिडस्पदे गोपदे आहवनीयरूपेणावस्थितमग्निमश्व्यादिदेवताश्च यक्षद् यजतु। देवता-द्रव्य-कर्म-कर्त्रादिकं सर्वमपि ब्रह्मात्मकमेव, तस्मादग्न्यादिरूपेण भगवानेवेज्यते।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता दाता इडस्पदे पृथिव्यन्नस्थाने समिधेन्धनैरग्निमश्विनौ इन्द्रं सरस्वतीमजो धूम्रो न कश्चिज्जीवो गोधूमैः कुवलैर्भेषजं यक्षत्, तथा शष्पैर्न यानि तेजो मध्विन्द्रियं पयःपरिस्रुता सह सोमो घृतं मधु व्यन्तु, तैः सह वर्तमानमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, पृथिव्यन्नस्थानेऽग्निसूर्यचन्द्रजीववागादीनां सङ्गतिकरणं किमर्थमित्यनुक्तेः। धूम्रवर्णेन मेषेण तुल्यो जीवः कथमत्र कर्ता? जीवस्य नीरूपत्वात् कथं धूम्रवर्णत्वमुपपद्यते? ॥ २९ ॥

होता यक्षत्तनूनपात् सरस्वतीमविर्मेषो न भेषजं पथा मधुमता भरन्नश्विनेन्द्राय वीर्यं बदरैरुपवाकाभिर्भेषजं स्तोक्मभिः पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने प्रयाज देवता, सरस्वती और अश्विनीकुमारों का यजन किया है। इस यज्ञ में बेर, इन्द्रयव, अंकुरित व्रीहि, अजा और मेष का दुग्ध-घृत, इन्द्र के निमित्त रस वाली यज्ञमार्ग से बल को पुष्ट करने वाली औषधियाँ आहुति के रूप में दी जाती हैं, परिस्रुत दुग्ध, सोम और मधुर घृत का अश्विनीकुमार और सरस्वती आदि देवता पान करते हैं। हे आहुति देने वाले मनुष्य! तुम भी इसी प्रकार घृत से यजन करो ॥ ३० ॥

एकाधिका अत्यष्टिः। तनूनपादिति प्रथमा द्वितीयार्थे। इन्द्रायेति चतुर्थी द्वितीयार्थे। नकारश्चार्थकः। दैव्यो होता तनूनपात् तनूनपातं प्रयाजदेवं सरस्वतीमश्विना अश्विनौ इन्द्राय न इन्द्रं च यक्षद् यजतु। तत्र यागे अविरजो मेषश्च। नश्चार्थे। मधुमता मधुररसवता पथा यज्ञमार्गेण भरन् आत्मानं हरन् सन् बदरैर्बदरीफलैः, उपवाकाभिरिन्द्रयवैः, तोक्मभिरङ्कुरितव्रीहिभिर्यवैर्वा सहितो वीर्यं वीर्यकरं भेषजं भवति। अश्विसरस्वतीन्द्रा दैव्येन होत्रा इज्यमाना पयआदीनि व्यन्तु। हे होतः, त्वमपि आज्यस्य यज आज्यं देहि।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणः सार्वात्म्यविवक्षया सौत्रामणीयागे दैव्यो होता ब्रह्मात्मकैर्द्रव्यैर्ब्रह्मात्मकान् अश्विप्रभृतीन् देवान् यथा यजति, तथैव लौकिकोऽपि होताऽऽज्येन तान् यजतीत्याह मन्त्रः।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा तनूनपाद् होता सरस्वतीमविर्मेषो न मधुमता पथा भेषजं भरन्निन्द्रायाश्विना वीर्यं बदरैरुपवाकाभिर्भेषजं यक्षत्, तथा यानि तोक्मभिः पयःपरिस्रुता सह सोमो घृतं मधु च व्यन्तु। तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वादेव। तन्वा उनं पाति स तनूनपादिप्यत्यसङ्गतम्, निरर्थकत्वात्। हिन्दीभाष्ये पातीत्यस्य पूरयतीत्यर्थः कृतः, सोऽपि निर्मूल एव। होता आदाता बहुज्ञानवतीं वाचं मधुमता मार्गेण भेषजं भरन्निति केन किं श्लिष्यते? मेषाजाभ्यां मार्गे कीदृक् साधर्म्यमभिप्रेतम्? किञ्च, तेन विवक्षितमित्यस्याप्यस्पष्टत्वात्। भावार्थस्तु मन्त्रार्थेभ्यो दूरतो निरस्तः॥ ३०॥

होता यक्षन्नराशꣳसं न नग्नहुं पतिꣳ सुरया भेषजं मेषः सरस्वती भिषग्रथो न चन्द्र्यश्विनोर्वपा इन्द्रस्य वीर्यं बदरैरुपवाकाभिर्भेषजं तोक्मभिः पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥ ३१॥

मन्त्रार्थ— देवताओं के होता ने मनुष्यों के द्वारा स्तुत रक्षक औषधियों की आहुति दी, महौषधि का रस, बेर, इन्द्रयव और व्रीहियों सहित मेष का घृत, अश्विनीकुमार का सुवर्णमय रथ और घृतसार को सरस्वती ने इन्द्र के निमित्त बलकारक औषधि के रूप में कल्पित किया था, उसके रस के साथ दूध, सोम और मधुर औषधि रूप घी को पिलाया था। हे होता! तुम भी घृत के द्वारा इनका यजन करो॥ ३१॥

दैव्यो होता नराशंसं प्रयाजदेवं सरस्वती सरस्वतीं भिषग् भिषजोरश्विनो रथो रथं च यक्षद् यजतु। कीदृशो रथः? चन्द्रं सुवर्णमस्मिन्नस्तीति चन्द्री सुवर्णमयः। 'स्वर्णेऽपि भूरिचन्द्रौ द्वौ' (अ० को० ३।३।१८२) इति कोषात्। कीदृशं नराशंसम्? पतिम्, जगतोऽधिपतिम्। यज्ञो हि नराशंसः, स आहुतिपरिणामद्वारा जगद्बिभर्ति। अश्विनो रथस्य यजनं नासमञ्जसमनुसन्धेयम्, रथस्यापि तदात्मकत्वेनादोषात्। तथा चाह बृहद्देवतायाम्—'आयुधं वाहनं वापि स्तुतौ यस्येह दृश्यते। तमेव तु स्तुतं विद्यात् तस्यात्मा बहुधा हि सः॥' (४।१४३) इति। तथा चाह भगवान् यास्कोऽपि—'आत्मजन्मान आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्वा आत्मायुधमात्मेषवः' (निरु० ७।४) इति। तत्र सुरया सह नग्नहुम्, नग्नहुः पूर्वोक्तः, किण्वो मेषः, वपा बहुत्वात् त्रिपशुसम्बन्धिन्यो वपा बदरैरुपवाकाभिर्यवैस्तोक्मभिश्च व्रीहिभिः सहिता इन्द्रस्य वीर्यकरमौषधं भवतु। अश्व्यादयः पयआदीनि पिबन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि आज्यस्य यज आज्यं देहि। भेषजशब्दाभ्यास आर्षः।

उव्वटाचार्यरीत्या तु—दैव्यो होता नराशंसं पतिं सुरया सहितं नग्नहुं च यक्षद् यजतु। भेषजं मेष इन्द्रस्य करोत्विति वाक्यशेषः। सरस्वती भिषग् इन्द्रस्य भवतु। रथो न चन्द्री अश्विनोः, रथश्च भिषगिन्द्रस्य

भवतु। कथंभूतो रथः ? चन्द्री। अश्विनोः सम्बन्धी। वपा इन्द्रस्य वीर्यं कुर्वन्त्विति शेषः। बदरैरुपवाकाभिः स्तोक्मभिरिन्द्रस्य भेषजं भवत्विति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव यज्ञगतैस्तैस्तैः संस्कारैरिन्द्रस्य जीवस्य भेषजं भवति, 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' (मनु० २।२८) इति स्मृतेः।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता दाता नराशंसं न यो नरैराशस्यते प्रशस्यते तमिव नग्नहुं यो नग्नान् दुष्टान् जुहोति कारागारे निक्षिपति, तं पतिं स्वामिनं सुरया उदकेन सह वर्तमानं मेषमिन्द्रस्य वीर्यं यक्षत्। मेष उपदेष्टा, सरस्वती विद्यासम्बन्धिनी वाक्, भिषग् वैद्यः, रथो न रथ इव चन्द्रं बहुविधं सुवर्णं विद्यते यस्य स चन्द्री। अश्विनोर्द्यावापृथिव्योर्वपा वपनीयाभिः क्रियाभिर्बदरैरुपवाकाभिः सह भेषजं यक्षत्, तथा यानि तोक्मभिः सह पयः स्तुताः स सोमो घृतं मधु च व्यन्तु। तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यस्य यज' इति, तन्न, वैदिकप्रसिद्धिविरुद्धार्थाङ्गीकारेऽपि विशृङ्खलितार्थत्वात्॥ ३१॥

होता॑ यक्ष॒दिडे॑डि॒त आ॒जुह्वा॑नः॒ सर॑स्वती॒मिन्द्रं॒ बले॑न व॒र्धय॑न्नृष॒भेण॒ गवे॑न्द्रि॒यम॒श्विनेन्द्रा॑य भेष॒जं यवैः॑ क॒र्कन्धु॑भि॒र्मधु॑ ला॒जैर्न मास॑रं॒ पयः॒ सोमः॑ परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥ ३२॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के होता ने प्रशंसित वाणी से स्तुत होकर इडा आदि देवियों का आह्वान किया और बलवती गौ के घृत-दुग्ध आदि से बल को बढ़ाते हुए सरस्वती, इन्द्र और अश्विनीकुमारों के निमित्त यज्ञ किया। उस यज्ञ में बेर, इन्द्रजौ आदि बलकारक औषधियों को इन्द्र के निमित्त उन देवताओं ने प्रदान किया है। हे होता ! तुम भी इन द्रव्यों के द्वारा उक्त देवताओं का यजन करो॥ ३२॥

दैव्यो होता ऋषभेण गवा धेन्वा च बलेन वर्धयन् इडादीन् समर्धयन् ईडितः संस्तुत ऋत्विग्भिरिडादीन् आजुह्वान इडा इडां प्रयाजदेवतां सरस्वतीमिन्द्रमश्विनौ च यक्षद् यजतु। तत्र यवैर्लाजैश्च सहितं मधु मासरमोदनं निःस्रावं च इन्द्राय इन्द्रियं वीर्यकरं भेषजं भवति। अश्विसरस्वतीन्द्रा होत्रेज्यमानाः पयआदीनि पिबन्तु। हे होतः, त्वं च तेभ्य आज्यं देहि।

उव्वटाचार्यरीत्या तु होता यक्षद् यजतु। कीदृशः सः ? इडेडित इडया प्रयाजदेवतया ईडितः स्तुतः। किं कुर्वन् ? आजुह्वानः सरस्वतीम् इन्द्रमश्विना सरस्वतीमिन्द्रमश्विनौ च आह्वयन् 'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य तत्। अर्थतो ह्यसमानानामानन्तर्यमकारणम्॥' इत्यभियुक्तोक्तेः। किञ्च, इन्द्रं बलेन वर्धयन् ऋषभेण गवा च इन्द्रस्य इन्द्रियं वर्धयन् मधु मासरं च, उपादायेति शेषः। यवैः कर्कन्धुभिर्लाजैश्च भेषजमिन्द्रस्य वर्धयन् अश्विसरस्वतीन्द्राश्च दैव्येन होत्रेज्यमानाः पयःप्रभृतीनि व्यन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि आज्यस्य यज, तेभ्य आज्यं देहीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—भगवदाराधनबुद्ध्याऽनुष्ठितेन सौत्रामणीयागेन दैव्यो होता ऋत्विगादिभिरीडितः सरस्वत्यादीन् पूर्वोक्तान् देवान् आजुह्वानो बलेन इन्द्रं देवराजं वर्धयन् ऋषभादिभिरिन्द्रस्य इन्द्रियं वर्धयन् यजतु। अश्व्यादय इज्यमानानि पयआदीनि पिबन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वं च तेभ्य आज्यं देहि। अनया रीत्या जीवात्मरूप इन्द्रेऽपि बलं वर्धते।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, य इडेडित आजुह्वानः सत्कारेणाहूतो होता बलेन सरस्वतीं वाचमिन्द्रमृषभेण गन्तुं योग्येन गवा इन्द्रियमश्विना यवैरिन्द्राय भेषजं वर्धयन् कर्कन्धुभिर्मधुर्लाजैर्न मासरं यक्षत्। तथा यानि परिस्रुता सह सोमः पयो घृतं मधु व्यन्तु तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। न च प्रसिद्धेषु श्रौतेषु यागेषु भक्तरसमध्वादिकं हूयते, न वा तथा विधीयते। भावार्थे तु रोगान् हत्वा आरोग्यप्राप्तिसम्पादनमुपदिश्यते, मूलेन तत्सम्बन्ध एव नास्ति। संस्कृतव्याख्यानवदेव हिन्दीव्याख्यानमप्यस्पष्टमेव। आजुह्वान इत्यस्य सत्कारेणाहूत इत्यर्थोऽप्यसङ्गत एव, कर्तृप्रत्ययविरोधात्। होता प्रशंसनीयो मनुष्यो बलेन सरस्वतीं वाणीमिन्द्रमैश्वर्यम्, चलनार्हेण उत्तमेन गवा इन्द्रियं धनमश्विनौ द्यावापृथिव्यौ यवादिभिरन्नैरिन्द्रियैश्वर्याय भेषजं वर्धयन्नित्यपि निःसारमेव, यवादिभिर्द्यावापृथिव्योर्वर्धनादर्शनात्। कर्कन्धुक्रियापि त्वदभ्यूहरूपैव, सर्वथापि दुःसाहसमेव ॥ ३२ ॥

होता॑ यक्षद्ब॒र्हिरूर्ण॑म्रदा भि॒षङ्नास॑त्या भि॒षजा॒श्विनाश्वा॒ शिशु॑मती भि॒षग्धे॒नुः सर॑स्वती भि॒षग् दु॒ह इन्द्रा॑य भेष॒जं पयः॒ सोमः॑ परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मध॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य होत॒र्यज॑ ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ– देवताओं के होता ने उनके समान कोमल प्रयाज देवताओं के, सत्यस्वरूप देवताओं के, वैद्य अश्विनी-कुमार और सरस्वती के निमित्त यजन किया था। इससे बाल अवस्था वाली घोड़ी और बछड़े वाली गौ चिकित्सक का काम करती है। इन्द्र के निमित अश्व आदि की दक्षिणा के रूप में ये देवता भेषज को पूर्ण करते हैं। हे होता! तुम भी भेषज के द्वारा इनका यजन करो ॥ ३३ ॥

दैव्यो होता ऊर्णम्रदा ऊर्णमिव म्रदीयो बर्हिः प्रयाजदेवं भिषजौ सुवैद्यौ नासत्या नासत्यौ न सत्यौ असत्यौ न असत्यौ नासत्यौ सर्वदा दृढसत्यरूपौ तौ भिषजा भिषजौ सुवैद्यौ अश्विना अश्विनौ सरस्वती सरस्वतीं च यक्षद् यजतु। तत्र शिशुमती स्वशावकोपेता अश्वा वडवा, भिषक् धेनुर्भिषक्, भिषग् च इन्द्राय भेषजमौषधं दुहे दुग्धे प्रपूरयति। अश्वादयोऽत्र दक्षिणारूपेणोपयुज्यन्ते। 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तलोपः। ते सर्वे पयआदीनि पिबन्तु। हे होतः, त्वं च तेभ्य आज्यं देहि। यद्वा—होता यक्षद् यजतु, प्रकृता देवता इति शेषः। बर्हिश्च प्रयाजदेवताम्। सा च ऊर्णम्रदा ऊर्णेव मृदुर्भिषग् भवतु। छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः। भिषग् वैद्यः। नासत्या भिषजाश्विना नासत्यौ नासाप्रभवौ। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० सू० ६।३।१०९) इति साधीयः। अश्विनौ भिषजौ भवतामिन्द्रस्य। अश्वा वडवा शिशुमती धेनुश्च इन्द्रस्य भिषग् भवतु। इत्थम्भूता हि सा दक्षिणा पठ्यते। कस्मात्पुनरेवमाशास्यते? इत्यत आह—सरस्वतीति। यतः सरस्वती भिषक् स्वयमेव दुहे दोग्धि इन्द्राय भेषजम्, अतो यूयमपि भिषजो भवथेति। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—यथानुपहूतसोमपानाद् भ्रष्टस्य इन्द्रस्य वीर्यं नमुचिरसुरोऽपिबत्। तत्र देवैरिन्द्रस्य भैषज्यं कृतम्। तत्र अश्विनौ सरस्वती च भिषजः, सौत्रामणी त्वौषधम्। तथा च ब्राह्मणम् 'त्वष्टा हतपुत्रः। अभिचरणीयमुपेन्द्रꣳ सोममाहरत् तस्येन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा सोममपिबत् स विष्वङ् व्यार्छत् तस्य मुखात् प्राणेभ्यः श्रीयशसान्यूर्ध्वान्युदक्रामंस्तानि पशून् प्राविशंस्तस्मात् पशवो यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सौत्रामण्याभिषिच्यते। ततोऽस्मा एतमश्विनौ च सरस्वती च यज्ञꣳ समभरन् सौत्रामणीं भैषज्याय तयैनमभ्यषिञ्चंस्ततो वै स देवानाꣳ श्रेष्ठोऽभवच्छ्रेष्ठः स्वानां भवति य एनयाभिषिच्यते' (श० १२।८।३।१-२)। तथैवेन्द्रस्य परमात्मन एवांशभूतो जीवोऽपीन्द्र एव सन् मायामोहितो भूत्वा अदत्तादानाद् विशीर्यते। तस्य

यशआदीनि ततो विनिःसृत्यान्यत्र गतानि भवन्ति । सर्वे देवास्तं भिषज्यन्ति । तत्राश्विनौ सरस्वती च भिषजः सर्वे महात्मानः कारुणिकाः सन्तश्चात्र देवाः । रामलक्ष्मणौ बलकृष्णावश्विनौ, महाशक्तिः श्रीसीता राधा वा सरस्वती । तत्र भगवदाराधनबुद्धया सौत्रामण्युपलक्षितविविधयागानुष्ठानेन संस्कृतोऽभिषिक्तो जीवोऽपि सर्वा आर्तीरीप्सामूला उन्मूल्य अविद्यां तत्परिवारांश्च बाधित्वा तत्त्वज्ञानादिक्रमेण ब्रह्मात्मभावं स्वाराज्यमाप्नोति ।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होतोर्णम्रदा भिषक् शिशुमती अश्वा च दुहे बर्हिर्यक्षत् नासत्यावश्विनौ भिषजा यजेतां भिषग् धेनुः सरस्वती भिषगिन्द्राय यक्षत्, तथा यानि परिस्रुता भेषजं पयः सोमो घृतं व्यन्तु, तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात् । प्रशंसितबाला वडवा कस्य पूर्णतायै अन्तरिक्षं सङ्गता स्यात् ? उत्तमवैद्यौ किमर्थं सङ्गतौ स्याताम् ? रोगनिवारको भिषग् धेनुरुत्तमविज्ञानवती वाणी भिषक् च जीवाय सङ्गच्छेरन्नित्यादिकमपि विश्रृङ्खलमेव, अल्पज्ञानां जडानां च तादृशाभिप्रायेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः ॥ ३३ ॥

होता॑ यक्षद् दुरो॒ दिशः॑ कव॒ष्यो॒ न व्यच॑स्वतीर॒श्विभ्यां॒ न दुरो॒ दिश॒ इन्द्रो॒ न रोद॑सी दुघे॑ दुहे धे॒नुः सर॑स्वत्य॒श्विनेन्द्रा॑य भेष॒जꣳ शु॒क्रं न ज्योति॑रिन्द्रि॒यं पयः॒ सोमः॑ परि॒स्रुता॑ घृतं मधु॑ व्य॒न्त्वाज्य॑स्य होत॒र्यज॑ ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के होता ने दिशाओं के समान अवकाश वाले झरोखों से गमनागमन के योग्य द्वारों की देवियों के, इन्द्र सरस्वती तथा अश्विनीकुमारों के निमित्त यजन किया, जहाँ दिशाओं के समान द्वार, अश्विनीकुमारों के साथ परिपूर्णता को प्रदान करने वाले द्यावापृथिवी तथा इन्द्र के निमित औषध को पूर्ण किया था । सरस्वती ने धेनु बन कर इन्द्र के निमित्त शुद्ध तेज और वीर्य को पूर्ण किया था । हे होता ! तुम भी इसी प्रकार देवताओं का यजन करो ॥ ३४ ॥

दैव्यो होता दुरो यज्ञद्वारः प्रयाजदेवी इन्द्र इन्द्रं सरस्वती सरस्वतीं अश्विना अश्विनौ च यक्षद् यजतु । नकाराश्चार्थाः । दुरं इति द्वारशब्दस्य सम्प्रसारणम् । कीदृशीर्द्वारः ? दिशः, दिश इव सावकाशाः । कवष्यः सच्छिद्राः । अत एव व्यचस्वतीः, व्यचो व्यञ्चनं विविधं गमनं विद्यते यासु ताः, अधिकृतजनगमनवत्यः । दिशो दिक्तुल्या दुरो द्वारः । अश्विभ्यामधिष्ठिता यज्ञगृहद्वारो दिश इव बभूवुः । रोदसी द्यावापृथिव्यौ इन्द्राय भेषजं दुहे दुग्धे । कीदृश्यौ रोदसी ? दुघे, दुग्ध इति दुघे, 'दुहः कब्घश्च' (पा० सू० ३।२।७०) इति हकारस्य घकारः, अभीष्टपूरके । सरस्वती च धेनुर्भूत्वा इन्द्राय शुक्रं शुक्लं शुद्धं ज्योतिरिन्द्रियं वीर्यं च दुहे दुग्धे । यद्वा इन्द्रो रोदसी दुघे । इन्द्रश्च या द्वारोऽधिष्ठाय रोदसी द्यावापृथिव्यौ दुघे दुग्धवान् । हकारस्य घकारः । याश्चाधिष्ठाय सरस्वती धेनुर्भूत्वा अश्विनौ च दुहे । कस्मै च दुहे ? किञ्च दुहे ? इत्यत आह—इन्द्राय दुहे । भेषजं शुक्रं शुक्लं ज्योतिश्च इन्द्रियं दुहे तादृशीर्द्वारो यजत्विति सम्बन्धः । अश्विसरस्वतीन्द्राश्च पयःप्रभृतीनि व्यन्तु । हे मनुष्यहोतः, त्वमाज्यस्य यज ।

अध्यात्मपक्षे—तत्तधिष्ठातारो ब्रह्मात्मका देवा इन्द्राय शुक्लं ज्योतिर्दुहत इत्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥

होता यक्षत्सुपेशसोषे नक्तन्दिवाश्विना समञ्जाते सरस्वत्या त्विषिमिन्द्रे न भेषजꣳ श्येनो न रजसा हृदा श्रिया न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के होता ने सुन्दर रूप वाले दिन-रात, सरस्वती तथा अश्विनीकुमारों के निमित्त यजन किया था, इस यज्ञ में उन्होंने रात-दिन की ज्योति के द्वारा चित्त और लक्ष्मी के साथ औषध-यव आदि को, औषधि के जल, श्येनपत्र तथा कान्ति को इन्द्र में संश्लिष्ट किया था। हे होता ! तुम भी इन्हीं द्रव्यों से उक्त देवताओं का यजन करो ॥ ३५ ॥

दैव्यो होता सुपेशसा सुरूपे उषे द्विवचनाद्रात्रिश्च नक्तोषे प्रयाजदेवौ सरस्वत्या सहितौ अश्विनौ च यक्षद् यजतु, तौ चाश्विनौ नक्तं दिवा दिने च रजसा ज्योतिषा, रजःशब्दो ज्योतिर्वचनः, हृदा चित्तेन, श्रिया च सह मासरं भेषजं मासररूपमौषधं श्येनः श्येनपत्रं त्विषिं कान्तिं च इन्द्रे समञ्जाते संश्लेषयतः। ते पयआदीनि व्यन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमाज्यस्य यज। यद्वा नक्तं दिवा रात्रावहनि च सरस्वत्या सहितौ यावश्विनौ इन्द्रे त्विषिं दीप्तिं भेषजं च संश्लेषयतः, यश्च श्येनो रजसा ज्योतिषा हृदा हृदयेन श्रिया न श्रिया च मासरमुपादाय इन्द्रे समनक्ति, तं च होता यजतु। श्येनः सूर्यः। स हि श्येनपक्षिवत् स्वच्छन्दमन्तरिक्षे चरति। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता सुपेशसा सुपेशसौ सुष्ठु शोभनं पेशो रूपं ययोस्तौ, उषे नक्तोषे तदभिमानिनौ प्रयाजदेवौ यजतु। यौ चाश्विनौ नासाधिष्ठातृदेवौ इन्द्रे देवराजे जीवे च त्विषिं दीप्तिं भेषजमस्वास्थ्यनिवारकं समञ्जाते संश्लेषयतः, यश्च श्येनश्चिदाकाशे स्वच्छन्दविहरणशीलः सूर्यमण्डलाधिष्ठातृदेवो रजसा ज्योतिषा श्रिया च सह मासरमुपादाय इन्द्रे समनक्ति, तं च होता यजतु। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा सुपेशसौ सुखरूपे स्त्रियौ उषे कामं दहन्त्यौ नक्तं दिवा अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसौ सरस्वत्या विज्ञानवत्या वाचा इन्द्रे त्विषिम् ऐश्वर्यवति प्राणिनि भेषजं जलं समञ्जाते, न च रजसा सह श्येनो न होता श्रिया न हृदा मासरं यक्षत्तथा यानि परिस्रुता पयः सोमो घृतं मधु व्यन्तु, तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वादेव। के ते स्त्रियौ ? कथं च ते कस्मिन्नैश्वर्यवति प्राणिनि दीप्तिं जलं च समञ्जाते ? सूर्याचन्द्रमसोस्तत्र कथमुपयोगः ? कथं च श्येनपदवाच्यो विद्वान् ? लोकैस्तस्य कथं सहभावः ? सर्वथापि निरर्थकोऽयं व्यापारः ॥ ३५ ॥

होता यक्षद्दैव्या होतारा भिषजाश्विनेन्द्रं न जागृवि दिवानक्तं न भेषजैः शूषꣳ सरस्वती भिषक् सीसेन दुह इन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के होता ने देवसम्बन्धी हवि के वाहक अग्निदेव, मध्यम प्रयाजदेव, वैद्य अश्विनीकुमार और इन्द्र का यजन किया था। दिन-रात जागने वाली, अपने कार्य को सिद्ध करने में सावधान, वैद्य का काम करने वाली सरस्वती ने औषधियों के साथ बल और वीर्य को बढ़ाने वाले शीशे से रसायन का निर्माण किया था। इन्हीं द्रव्यों से वह उक्थ देवताओं का यजन करती थी। हे होता ! तुम भी इन्हीं द्रव्यों से अग्नि आदि देवताओं का यजन करो ॥ ३६ ॥

दैव्यो देवानां सम्बन्धी होता ह्वाता दैव्या दैव्यौ होतारा होतारौ अयमग्निरसौ च मध्यमो वायुस्तावेतौ प्रयाजदेवौ भिषजौ सुरवैद्यौ अश्विनौ इन्द्रं च यक्षद् यजतु। नकाराश्चार्थीयाः। भिषग्भूता सरस्वती दिवानक्तं जागृवि जागरणशीला सती स्वकार्यसाधने कदाचनाप्यप्रमत्ता, 'जॄशॄस्तॄजागृभ्यः क्विन्' (उ० ४।५५), प्रातिपदिकत्वात् सौ, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति सोर्लुकि रूपम्। इन्द्रम् इन्द्रार्थं भेषजैः सह शूषं बलमिन्द्रियं वीर्यं च सीसेन कृत्वा दुहे दोग्धि। तां च दैव्यो होता यजतु। अश्व्यादयः पयआदीनि व्यन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमाज्यस्य यज।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मविवर्तो ब्रह्मरूपो दैव्यो होता ब्रह्मात्मकावेव दैव्यौ होतारौ यक्षद् यजति। भिषक् सर्वरोगनिर्वर्तिका सरस्वती ब्रह्मविधारूपा जागृवि स्वकार्यसाधने जागरूका दिवानक्तं भेषजैः शमदमादिभिः सह शूषं बलं निष्ठादाढर्यं सीसेन सीसवत् स्वच्छेन विचारेणेन्द्रियं वीर्यं च इन्द्रार्थं जीवार्थं दुग्धे।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता दैव्यौ होतारौ भिषजौ अश्विनौ इन्द्रं न यक्षद् दिवानक्तं जागृवि सरस्वती भिषग् भेषजैः सीसेन शूषं न इन्द्रियं दुहे, तथा यानि परिस्रुता पयः सोमो घृतं मधु व्यन्तु, तैः सह वर्तमानस्त्वम् आज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। दैव्यौ होतारौ भिषजौ कथं सङ्गतौ करणीयौ? तत्र विद्युत उपमानस्य कोऽभिप्रायः? वैद्यकशास्त्रविज्ञात्री स्त्री भिषक् च जलैर्धनुर्व्यवहारेण मूलवद् धनं पूरयतीति त्वदुक्तरीत्याऽर्थाङ्गीकारेऽपि तेन किं सिद्धयति? किं सरस्वतीभिषजौ धनुर्व्यापारयिष्यतः? सीसपदस्य कथं धनुरर्थः? एवं प्रकारेणोल्लङ्घ्यापि शब्दमर्यादां सर्वमपि निःसारमेव ॥ ३६ ॥

होता यक्षत्तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपसो रूपमिन्द्रे हिरण्ययमश्विनेडा न भारती वाचा सरस्वती मह इन्द्राय दुह इन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के होता ने इडा, भारती और सरस्वती नामक तीन प्रयाज देवियों के तथा इन्द्र और अश्विनीकुमारों के निमित्त यजन किया था। कर्मवान् त्रयीरूप वेदवाणी से ओषधियों को प्रकाशित कर इन्द्रिय-बल को बढ़ाने के लिये इन्द्र के निमित्त सरस्वती ने इस अनुष्ठान को पूर्ण किया था। हे होता। तुम भी इसी प्रकार इडा आदि का यजन करो ॥ ३७ ॥

दैव्यो होता इडा भारती सरस्वती चेति तिस्रो देवीः प्रयाजदेवता या इन्द्रे भेषजं कुर्वन्ति, ता इन्द्रे इन्द्रम् अश्विना अश्विनौ च यक्षद् यजतु। नद्वयं समुच्चयार्थीयम्। सरस्वती वाचा वेदत्रयीरूपया त्रयस्त्रिधातवस्त्रिभिः पशुभिश्च इन्द्रार्थमौषधं हिरण्ययं दीप्यमानं रूपं महस्तेज इन्द्रियं च दुहे दुग्धे। त्रयस्त्रिधातव इति तृतीयार्थे प्रथमा। त्रयो धातव इति प्रधानाङ्गोपाङ्गलक्षणाः प्रकारा येषां ते त्रिधातवः पशवः। ते च त्रय आश्विनो धूम्रः, सारस्वतो मेषः, ऐन्द्र ऋषभः। कीदृशाः पशवः? अपसः, 'अप इति कर्मनामसु' (निघ० २।१।१), तद्वन्तोऽपश्विनः कर्मवन्तः। छान्दसम् अपस् इति। तादृशैः क्रमोपयुक्तैस्त्रिभिः पशुभिः, भेषजरूपेन्द्रियमहांसि इन्द्राय दुग्धे प्रपूरयन्ति। अग्नयो वा त्रयस्त्रिधातवः, तैस्त्रिभिरग्निभिर्गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निभिस्तत्सर्वं दुग्धे।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता तिस्रो देवीर्न भेषजं यक्षत्, यथापसस्त्रिधातवस्त्रयो हिरण्ययं रूपमिन्द्रे यजेरन्, अश्विनेडा भारती च। सरस्वती वाचेन्द्राय मह इन्द्रियं दुहे। यथा यानि परिस्रुता पयः सोमो घृतं मधु व्यन्तु, तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, होतृपदस्य

विद्यादानाद्यर्थताया निर्मूलत्वात् । देवीरित्यस्य दीप्त्यर्थतासत्त्वेऽपि नीत्यर्थताऽसम्प्रतिपत्तिः । त्रयस्त्रिधातव-स्त्रयस्तदस्मद्युष्मत्पदवाच्याः, दधति सर्वान् विषयानिति धातवः, त्रयो धातवो येषां ते जीवा इत्यपि यत्किञ्चित्, अजीवानामपि त्रिगुणत्वेन त्रिधातुत्वोपपत्तेः । अन्यदपि नितान्तमसम्बद्धम् ॥ ३७ ॥

होता॑ यक्षत्सु॒रेत॑सम॒षभं॒ नर्या॑पसं॒ त्वष्टा॑र॒मिन्द्र॑म॒श्विना॑ भि॒षजं॒ न सर॑स्वती॒मोजो॒ न जू॒तिरि॑न्द्रि॒यं वृको॒ न र॑भ॒सो भि॒षग्यश॒ः सुर॑या भेष॒जꣳ श्रि॒या न मास॑रं॒ पय॒ः सोम॑ः परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ--दिव्य होता ने सुन्दर वर्षा के लक्षण वाले वीर्य से युक्त, वृष्टि के प्रवर्तक, मनुष्यों के हितकारी त्वष्टा नामक प्रयाज देवता का इन्द्र, अश्विनीकुमार और सरस्वती रूप चिकित्सकों के निमित्त यजन किया था। इन्होंने उद्यमयुक्त वैद्य, वृक और महोषधि के रस एवं ऐश्वर्य के साथ यजन किया था। इसमें मासर, पक्वान्न आदि औषधियों के रूप में प्रयुक्त हुए। इस यज्ञ के अनुष्ठान से इन्द्र अवश्य ही तेज, वेग, बल और यश के भागी होते हैं। हे होता, तुम भी इन पदार्थों से त्वष्टा आदि देवताओं का यजन करो ॥ ३८ ॥

अत्रापि नकाराः समुच्चयार्थीयाः । होता त्वष्टारं प्रयाजदेवमिन्द्रमश्विना अश्विनौ सरस्वतीं भिषजं च यक्षद् यजतु । त्वष्टारं विशिनष्टि—सुरेतसमिति । सुष्ठु शोभनं रेतो वीर्यं वृष्टिलक्षणं यस्य स सुरेताः, यद्वा सुष्ठु रेतो यस्मात् स सुरेताः, तम् । पुंसो रेतःकारणभूतम् । ऋषभं वर्षितारम् । नर्यापसं नरेभ्यो हितं नर्यम्, नर्यमपः कर्म यस्यासौ नर्यापाः, तम् । तादृशं त्वष्टारं होता यजतु । केन यजत्वित्यपेक्षायामाह—रभसो भिषग् वृक इति । रभसः सोद्यमो दक्षो भिषग् वैद्यभूतो यो वृकस्तेन । तृतीयार्थे प्रथमा । सौत्रामण्यां सुरायां वृकलोमानि प्रक्षिप्यन्ते, अतो वृकेन सुरया च यजतु । तथा भेषजं यन्मासरं तेन च यजतु । एवं सति यागे ओजस्तेजः, जूतिर्वेगः, इन्द्रियं वीर्यम्, श्रिया सह यशश्च इन्द्रे, भवन्त्विति शेषः । शेषं पूर्ववत् । यद्वा ओजो जूतिर्जव इन्द्रियं च वीर्यरूपो यो रभसः सोद्यमो दक्षो भिषग्भूतो वृकः, तेन यजतु । सुरायां वृकलोम्नां प्रक्षेपेण वृकगता ओजआदयो गुणा उद्भवन्ति । तथा मासरमुपादाय सुरया च यजतु । यशो भेषजं श्रिया सह इन्द्रे यजमाने वा भवन्तु । अन्यत् पूर्ववत् ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, त्वं यथा होता सुरेतसमृषभं बलीवर्दं नर्यापसं त्वष्टारं दुःखच्छेत्तारमिन्द्रं परमैश्वर्यवन्तमश्विनौ वायुविद्युतौ भिषजं न वैद्यमिव सरस्वतीं बहुविज्ञानयुक्तां वाचमोजो न बलमिव जूतिर्वेग इन्द्रियं मनो वृको वज्रं रभसो वेगं यशो धनं बलं वा सुरया भेषजं श्रिया न इव मासरं संस्कृतभोजनं यक्षत् प्राप्नुयात्, तथा परिस्रुता सर्वतोऽभिगतेन पुरुषार्थेन पयः पातुं योग्यं सोममैश्वर्यं घृतं मधु च व्यन्तु । तैः सह वर्तमानस्त्वमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात् ॥ ३८ ॥

होता॑ यक्ष॒द्वन॒स्पति॑ꣳ शमि॒तार॑ꣳ श॒तक्र॑तुं॒ भी॒मं न म॒न्युꣳ राजा॑नं व्या॒घ्रं नम॑सा॒श्विना॑ भाम॒ꣳ सर॑स्वती भि॒षगिन्द्रा॑य दुह इन्द्रि॒यं पय॒ः सोम॑ः परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने क्रोधरूप भयदायक अनेक यज्ञों के सम्पादक, संस्कार करने वाले, वनस्पतिरूप प्रयाज देवता के लिये विशेष कर सूंघने वाले व्याघ्र के समान राजा शतक्रतु इन्द्र के लिये, अश्विनीकुमार और सरस्वती के लिये अन्न के द्वारा यजन किया था। वैद्यरूप सरस्वती ने इन्द्र के निमित्त क्रोध और बल को दुहा था। हे होता! तुम भी उक्त देवताओं के निमित्त इसी प्रकार यजन करो ॥ ३९ ॥

दैव्यो होता वनस्पतिं प्रयाजदेवं शमितारं पशूनां संस्कर्तारं भीमं यूपरूपेण भयङ्करं मन्युं क्रोधात्मानं व्याघ्रं विशेषेण आसमन्ताज्जिघ्रतीति व्याघ्रस्तम्, व्याघ्रमिव राजानमारण्यानां शतक्रतुं बहुकर्माणम् इन्द्रमश्विनौ सरस्वतीं च नमसान्नेन यक्षद् यजतु। भिषग्वैद्यरूपा या सरस्वती इन्द्राय भीमं भयङ्करं मन्युं क्रोधमिन्द्रियं च दुहे दोग्धि, तां च दैव्यो होता यजतु। इज्यमानास्ते वनस्पत्यादयः पयआदीनि पिबन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमप्याज्यस्य यज।

अध्यात्मपक्षे—भौमरथादिरूपेण भूमिरिव तत्तत्क्रियाकारकद्रव्यदेवतादिरूपेण परमात्मैव क्रीडति।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा भिषग् होता इन्द्राय वनस्पतिमिव शमितारं शतक्रतुं भीमं न मन्युं नमसा व्याघ्रं न राजानं यक्षत्। सरस्वती अश्विनौ भीमं दुहे तथा परिस्रुता इन्द्रियं पयः सोमो घृतं मधु व्यन्तु, तैः सह त्वमाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः, असङ्गतेः, असम्बद्धत्वाच्च। वनस्पतिपदस्य किरणपालकत्वार्थानुपपत्तिः, भीमं न मन्युं नमसेत्यसङ्गतिश्च ॥ ३९ ॥

होता यक्षदग्निꣳ स्वाहाज्यस्य स्तोकानाꣳ स्वाहा मेदसां पृथक् स्वाहा छागमश्विभ्याꣳ स्वाहा मेषꣳ सरस्वत्यै स्वाहा ऋषभमिन्द्राय सिꣳहाय सहस इन्द्रियꣳ स्वाहाग्निं न भेषजꣳ स्वाहा सोममिन्द्रियꣳ स्वाहेन्द्रꣳ सुत्रामाणꣳ सवितारं वरुणं भिषजां पतिꣳ स्वाहा वनस्पतिं प्रियं पाथो न भेषजꣳ स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणो अग्निर्भेषजं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने घृत के उत्तम बिन्दुओं से अग्नि का यजन किया, मेदावर्धक पदार्थ से अग्नि का यजन किया। अश्विनीकुमारों के निमित्त छाग की, सरस्वती के निमित्त मेष की, सिंह के समान पराक्रमी बलरूप इन्द्र के निमित्त उपयोगी बलसम्पन्न वृषभ की आहुति दी और हितकारी अग्नि की स्तुति की। बलकारी सोम की भी आहुति दी। सुरक्षक इन्द्र, सविता देवता और वैद्यों के पति वरुण के निमित्त आहुति दी। प्रिय अन्नभूत भेषज की वनस्पति के निमित्त आहुति दी। आज्यपा नामक घृत पीने वाले देवता, औषधि सेवन करने वाले अश्विनीकुमार, सरस्वती, इन्द्र आदि देवता सोम का पान करें। हे मनुष्य होता! तुम भी उनकी प्रीति के निमित्त घृत आदि की आहुति दो ॥ ४० ॥

दैव्यो होता अग्निं प्रयाजदेवमाहवनीयं वा यक्षद् यजतु। किञ्च, आज्यस्य घृतस्य स्तोकानां विप्रुषां स्वाहा सुष्ठु शोभनमाह वदतीति स्वाहा। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः, यजमान इति शेषः। यजमानो घृतबिन्दून् शोभनान् वदतीत्यर्थः। स्तोकानामिति कर्मणि षष्ठी। तथैव यजमानो मेदसां पृथक् स्वाहा, वपासम्बद्धानां मेदसां वपासम्बन्धीनि मेदांसि समीचीनानि पृथग् वदति। वपाः श्रप्यमाणा आज्येनाभिघार्यन्ते, तदभिप्रायमेतत्। तथा अश्विभ्यामश्विनोरर्थाय छागं स्वाहा छागं पशुं शोभनमाह। सरस्वत्यै मेषं पशुं स्वाहा। इन्द्राय इन्द्रियं वीर्यप्रदमृषभं स्वाहा शोभनमाह। कीदृशायेन्द्राय? सिंहाय, हिनस्तीति सिंहः, तद्वच्छत्रूणामभिभविता, तस्मै। सहसे बलात्मकाय भेषजं न भेषजवद्धितकारिणमग्निं च स्वाहा शोभनमाह।

इन्द्रियं वीर्यप्रदं सोमं सु आह। एतावग्नीषोमावाज्यभागौ च सु आह। सुत्रामाणं सुष्ठु त्रायते सुत्रामा तमिन्द्रं सवितारं भिषजां वैद्यानां पतिं वरुणं स्वाहा शोभनं वदति। पशुपुरोडाशदेवतां सु आह, प्रियमिष्टं पाथोऽन्नमन्नभूतं भेषजं च पशुदेवतानां वनस्पतिं प्रयाजदेवं सु आह। आज्यपा देवा आज्यपान् देवान् सु आह, 'प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपाः' (श० १।५।३।२३) इति श्रुतेः। स्वाहेति क्रियाया यजमानः कर्ता। 'देवा ह वा ऊचुर्हन्त विजितमेवानु सर्वं यज्ञꣳ सꣳस्थापयामः' (श० १।५।३।२१) इत्युपक्रम्य 'त उत्तमे प्रयाजे स्वाहाकारेणैव सर्वं यज्ञꣳ समस्थापयन् स्वाहाग्निम्' (१।५।३।२२) इति श्रुतेः समाप्तिवचनाः स्वाहाकाराः। जुषाणः प्रीत्या सेवमानोऽग्निरिन्द्राय यजमानाय वा भेषजमौषधं करोतु। भेषजमौषधभूतं जुषाणः सेवमानोऽग्निरश्व्यादयश्च दैव्येन होत्रेज्यमानाः पयःप्रभृतीनि व्यन्तु। हे मनुष्यहोतस्त्वमाज्यं यज।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्म ब्रह्मविकारभूतो दैव्यो होता ब्रह्मात्मकमग्निं यक्षद् यजति, ब्रह्मभूतश्च यजमानो ब्रह्मभूतान् आज्यस्य बिन्दून् सु आह शोभनं ब्रह्मात्मकमाह। एवमेवोत्तरत्रापि ज्ञेयम्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होताज्यस्य स्वाहा स्तोकानां मेदसां स्वाहाग्निं पृथक् स्वाहाश्विभ्यां छागं सरस्वत्यै स्वाहा भेषजमिन्द्राय स्वाहर्षभं सहसे सिंहाय स्वाहेन्द्रियं स्वाहाग्निं न भेषजं सोममिन्द्रियं स्वाहा सुत्रामाणमिन्द्रं भिषजाम्पतिं सवितारं वरुणं स्वाहा वनस्पतिं स्वाहा प्रियं पाथो न भेषजं यक्षद्यथाज्यपा देवा भेषजं जुषाणोऽग्निश्च यक्षद्यथा यानि परिस्रुता पयः सोमो घृतं मधु व्यन्तु, तैः सहाज्यस्य यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आज्यस्य प्राप्तुं योग्यस्य स्तोकानामुत्तमक्रियारूपस्वाहानिरूपणात्, स्निग्धपदार्थाः स्तोकानामिति कस्य विशेषणमित्यनिरूपणाच्च, मेदसां स्निग्धानां स्वाहा सुष्ठुरक्षणक्रियानिरूपणाच्च। किञ्च, घृतस्योत्तमक्रियया स्निग्धानां रक्षणक्रियया च अग्निः स्वाहा भिन्न-भिन्न-रीत्या अश्विभ्यां राज्यस्वामिपशुपालकाभ्यां छागं दुःखं छेत्तुं सरस्वत्यै विज्ञानयुक्तवाण्यै उत्तमक्रियया मेषं सेक्तारं परमैश्वर्यपरमोत्तमक्रियया ऋषभं यक्षत् सङ्गमयेदिति योजनेऽपि प्रयोजनानिष्पत्तेः। किञ्च, वनस्पतिं स्वाहोत्तमविद्यया सङ्गमयेदित्यस्य कोऽभिप्रायः? सर्वानेव कुतो नोत्तमविद्यया योजयेत्? तत्तत्पदानां ते तेऽर्था अपि चिन्त्या एव। अश्विपदस्य राज्यस्वामिपशुपालार्थता कथमिति तु नोक्तम्॥ ४०॥

होता यक्षदश्विनौ छागस्य वपाया मेदसो जुषेताꣳ हविर्होतर्यज। होता यक्षत्सरस्वतीं मेषस्य वपाया मेदसो जुषताꣳ हविर्होतर्यज। होता यक्षदिन्द्रमृषभस्य वपाया मेदसो जुषताꣳ हविर्होतर्यज॥ ४१॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने अश्विनीकुमार का यजन किया। छाग की वपा की आहुति दी, अर्थात् यजमानों के छागों के पूर्ण पुष्ट होने पर जाना गया कि हवि स्वीकृत हुई। हे होता! तुम भी इसी प्रकार यजन करो। दिव्य होता ने सरस्वती का यजन किया, मेष की वपा को मेदा के रूप में स्वीकार कर हवि को स्वीकार किया, अर्थात् यजमान के मेषों के पूर्ण पुष्ट होने पर जाना गया कि हवि पूर्ण पुष्ट हुई। हे होता! तुम भी इसी प्रकार यजन करो। दिव्य होता ने इन्द्र का यजन किया, वृषभ की वपा को मेदा बनाकर हवि प्रदान की, अर्थात् यजमानों के वृषभों के पूर्ण हृष्ट-पुष्ट होने पर जाना गया कि इन्द्र ने हवि को स्वीकार कर लिया है। हे मनुष्य होता! तुम भी इसी प्रकार यजन करो॥ ४१॥

'होता यक्षदश्विनाविति त्रयो वपानां प्रैषा यथालिङ्गम्' (का० श्रौ० १९।६।२२) एकस्यामस्यां 'होता यक्षदश्विनौ' इति कण्डिकायाम् (१) होता यक्षदश्विनौ छागस्य, (२) होता यक्षत्सरस्वतीम्,

(३) होता यक्षदिन्द्रमृषभस्य इति त्रयो वपात्रयस्य क्रमात् प्रैषा इति सूत्रार्थः। सप्त लिङ्गोक्तदेवताः। तत्राद्यास्त्रयो वपानां प्रैषाः। त्रयाणां प्राजापत्यापङ्क्तिश्छन्दः। द्वितीयस्य द्व्यधिका प्रथमतृतीययोरेकाधिका। दैव्यो होता अश्विनौ यक्षद् यजतु। इज्यमानौ तौ छागस्य वपाया मेदसो हविर्जुषेताम्, वपाया मेदः स्निग्धभागरूपं हविः प्रीत्या सेवेतामित्यर्थः। हे होतर्यज। होता सरस्वतीं यक्षत्। सा चेज्यमाना मेषस्य वपाया मेदसो हविर्जुषताम्। हे होतस्त्वं यज। होता इन्द्रं यक्षत्। स इन्द्र इज्यमान ऋषभस्य वपाया मेदसो हविर्जुषताम्। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणः सार्वात्म्यवर्णनप्रसङ्गेन ब्रह्मभूतो दैव्यो होता अश्विनौ ब्रह्मभूतावेव यक्षद् यजतु। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, त्वं यथा होताऽनेकव्यवहारान् यक्षत् सङ्गमयेत्, अश्विनौ पशुपालकृषीबलौ छागस्य वपाया बीजतन्तुसन्तानिकायाः क्रियाया मेदसो हविर्जुषेताम्, तथा यज। हे होतः, त्वं यथा होता मेषस्य वपाया बीजवर्धिकायाः क्रियाया मेदसो हविः सरस्वतीं च जुषताम्, यक्षत्तथा यज। हे होतः, त्वं यथा होतर्षभस्य वपाया बीजवर्धिकाया रीत्या मेदसो हविरिदं च जुषतां यक्षत्तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विपदेन पशुपालकृषीबलार्थबोधने मानाभावात्। तथैव वपापदस्यानेकेऽर्थाः कल्पनामात्रसारा निर्मूला एव। अपि च, लोके यैर्येषां सङ्गतिर्हितकारिणी, तल्लोकत एव सिद्धेति कृतं तदुपदेशपरेण वेदेनेति ॥ ४१ ॥

होता॑ यक्षद॒श्विनौ॒ सर॑स्वती॒मिन्द्र॑ꣳ सु॒त्रामा॑णमि॒मे सोमाः॑ सु॒रामा॑णश्छागै॒र्न मे॒षैर्ऋ॑ष॒भैः स॒ताः शष्पै॒र्न तोक्म॑भिर्ला॒जैर्मह॑स्वन्तो॒ मदा॒ मास॑रेण॒ परि॑ष्कृताः शु॒क्राः पय॑स्वन्तो॒ऽमृताः॒ प्रस्थि॑ता वो मधु॒श्चुत॒स्तान॒श्विना॒ सर॑स्वतीन्द्रः॑ सु॒त्रामा॑ वृत्र॒हा जु॒षन्ता॑ꣳ सो॒म्यं मधु॒ पिब॑न्तु॒ मद॑न्तु॒ व्यन्तु॒ होत॒र्यज॑ ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने अश्विनीकुमार, सरस्वती और सुरक्षक इन्द्र का यजन किया। यह छाग, मेष और वृषभों के द्वारा मनोहर तथा तृण, अन्न, यवांकुर तथा खीलों के तेज से युक्त प्रसन्न करनेवाला, पक्व तण्डुल आदि से शोभित कान्तिमान्, दुग्धयुक्त अमृत रूप हवि की ओर आता हुआ मधु जैसा मिठास टपकाने वाला यह सोम रस आप लोगों के निमित्त प्रस्तुत है। अश्विनीकुमार, सरस्वती और सुरक्षक वृत्रनाशक इन्द्र इनका सेवन करें। मधु के जैसे मधुर सोम का पान करें, तृप्त होकर इस यज्ञ में विराजमान हों। हे होता! तुम भी इन देवताओं की स्तुति करते हुए इनका यजन करो ॥ ४२ ॥

'ग्रहाणां चतुर्थः' (का० श्रौ० १९।६।२३)। होता यक्षदश्विनौ सरस्वतीमिन्द्रमिति चतुर्थो ग्रहाणां प्रैष इति सूत्रार्थः। होता अश्विनौ सरस्वतीं सुत्रामाणं सुरक्षितारमिन्द्रं च यक्षद् यजतु। एवं होतारमुक्त्वा अथाध्वर्यूनाह—हे अध्वर्यवः, इमे सोमाः सुरामाणः सुरमणीयाः सुरावन्तो सुरामया वा छागैरजैः, मेषैरविभिश्च ऋषभैश्च सुता अभिषुताः समर्थीकृताः, तथा शष्पैस्तोक्मभिर्यवाङ्कुरैर्लाजैश्च महस्वन्तस्तेजस्विनः। मदा मदयन्ति तर्पयन्तीति मदास्तृप्तिकारिणः। मासरेण पूर्वोक्तेन परिष्कृता अलङ्कृताः शुक्राः शोचिष्मन्तः पयस्वन्तो पयसा संयुक्ता अमृता अमृततुल्यास्तद्वद्गुणकरा इति यावत्। प्रस्थिता होमाभिमुखं प्रचलिता इव वो युष्मत्सम्बन्धेन, अध्वर्युविषयमेतत्। मधुश्चोतन्तीति मधुश्चुतो मधुस्राविणो विद्यन्ते। तानेतान् सोमान् अश्विनौ सरस्वती सुत्रामा सम्यक्त्राण इन्द्रो वृत्रहा वृत्रघातको जुषन्ताम्, जुषित्वा च सोम्यं सोममयं मधु पिबन्तु च मदन्तु व्यन्तु राजन्तां

हविर्भक्षयन्तु वा। त्वमपि हे मनुष्यहोतर्यज। यद्वा हे अध्वर्यवः, इमे सोमा वो युष्माकं युष्माभिः सुता अभिषुताश्छागैर्मेषैर्ऋषभैश्च सुरामाणः सुष्ठु रमयन्ति ये ते सुरमणीया वा सुरावन्तः सुरामया वा। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मभूतो होता तादृशानेव अश्व्यादीन् यजतु।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा दाताश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ सरस्वतीं विज्ञानवतीं वाचं सुत्रामाणमिन्द्रं यक्षद् यजेत्। य इमे सुरामाणः सुदातारः सोमाः सुता ऐश्वर्यवन्त सभासदः, अभिषेक इव क्रियाजाताः। छागैर्न मेषैर्ऋषभैः शष्पैर्हिंसकैर्न तोक्मभिर्लाजैर्महस्वन्तो मदा मासरेण परिष्कृताः शुक्राः पयस्वन्तोऽमृता मधुश्च्युताः प्रस्थिता वो निर्मितास्तान् यक्षत्। यथाश्विना सरस्वती सुत्रामा वृत्रहेन्द्रश्च सोम्यं मधु जुषन्तां पिबन्तु सकलविद्या व्यन्तु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विपदस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात्। सोमपदस्य ऐश्वर्यवन्तः सभासदोऽर्थ इत्यपि निर्मूलमेव। न च तेषामभिषेकविधानं श्रूयते। ते च छागैरिव मेषैर्ऋषभैर्हिंसकैरिव तोक्मभिर्लाजैश्च पयस्वन्तः सत्कारवन्त इत्यप्यर्थासिद्धिः। तस्माद्यत्किञ्चित्। सर्वस्य चैतस्यार्थस्य लौकिकत्वाद् वेदैकसमधिगम्यत्वाभावेन वेदविषयत्वायोगात्॥ ४२॥

होता यक्षदश्विनौ छागस्य हविष आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घस्तां नूनं घासे अज्राणां यवसप्रथमानाᳬं सुमत्क्षराणाᳬं शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करत एवाश्विना जुषेताᳬं हविर्होतर्यज॥ ४३॥

मन्त्रार्थ—होता ने अश्विनीकुमारों का यजन किया, उन्हें छाग की पोषक हवि प्रदान की, मध्य भाग में मेदा से पूर्ण हवि निश्चित रूप से रखी गई। यज्ञ के द्वेषी असुरों के आने से पहले ही, पुरुषार्थ वाली इडा के आने से पहले ही वह हवि अश्विनीकुमारों द्वारा स्वीकार कर ली गई। ग्रास में नवीन रुचि करने वाले अन्नों में मुख्य, अपने आप सुरक्षित, अनेकों मन्त्रों से प्रशंसित, पाक के समय प्रथम अग्नि द्वारा आस्वादित, स्थूल अंग के निकट रहने वाले पार्श्व भाग से, कटि भाग से, पाद स्थान से और उत्सादन स्थान से, प्रत्येक अंगों से धर्मानुसार ग्रहण की गई हवि को अश्विनीकुमार तृप्तिपर्यन्त स्वीकार करें। हे मनुष्य होता! तुम भी घृत से हवन करो। इसका अभिप्राय यह है कि रात-दिन रूप अश्विनीकुमार छाग आदि की हवि को क्षणिक परिणाम से लय करते रहते हैं, उनका कुछ भी शेष नहीं रहता। यह दिव्य हवन निरन्तर चलता रहता है। मनुष्यों को चाहिये कि वे प्रतिदिन देवताओं को घृत की आहुति से तृप्त करें॥ ४३॥

'हविषामुत्तरे यथालिङ्गम्' (का० श्रौ० १९।६।२४)। चतुर्थात् प्रैषादग्रे पठ्यमाना 'होता यक्षदश्विनौ छागस्य हविषः' इत्याद्यास्त्रयो यथालिङ्गमाश्विनादिहविर्यागानां प्रैषा इति सूत्रार्थः। दैव्यो होता अश्विनौ यक्षद् यजतु। ताविज्यमानावश्विनौ देवौ छागस्य छागाङ्गस्य हविषश्छागसम्बन्धि हविरात्ताम् अभक्षयताम्। 'अद भक्षणे' इत्यस्य रूपम्। हविष इति कर्मणि षष्ठी। अद्य अस्मिन्नहनि मध्यत उदरमध्याद् उद्भृतमुद्धृतं मेदो वपारूपमात्ताम्। उद्भृतमित्यत्र 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ८।२।३२, वा० १) इति हकारस्य भकारः। द्वेषोभ्यो द्विषन्तीति द्वेषांसि, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन् प्रत्ययः, तेभ्यो यज्ञद्वेष्टृभ्योऽसुररक्षोभ्यः पुरा पूर्वमेवोद्धृतम्। यावदसुररक्षांसि पराभवाय आगच्छन्ति, ततः पूर्वमेवोद्धृतमित्यर्थः। तथा पुरा गृभो गृह्यते भक्ष्यार्थमृत्विग्भिरिति गृप्, तस्या इडायाः पुरा प्रथममुद्भृतम्। वपायागे इडाग्रहणभक्षणाभावात्। कीदृश्या

गृभः ? पौरुषेय्याः, पुरुषार्थमियं पौरुषेयी, ऋत्विगर्था हि सा, तस्याः । तावश्विनौ नूनं निश्चयेन अङ्गानां सम्बन्धि स्वांशभागं घस्तां भक्षयताम्, अङ्गानि वा भक्षयताम् । कर्मणि षष्ठी । प्रयुक्तैर्विशेषणैर्विशेष्याणामध्याहारः । कीदृशानामङ्गानाम् ? घासे ग्रासे अज्राणां भक्षणे अजराणां नवानां नवनवायमानत्वेन रुचिजनकानाम् । अन्यानि घासेषूत्तरोत्तरं रुचिं जनयन्ति, नेमानि तथेत्यर्थः । तथा यवसप्रथमानां यवसानामन्नानां मध्ये प्रथमानां मुख्यानाम्, मांसत्वात्, 'एतद्वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्' इति श्रुतेः । सुमत्क्षराणां सुमत् स्वयं क्षरन्ति यानि तानि सुमत्क्षराणि, तेषाम् । 'सुमत्' इति स्वयंपर्यायः । शतरुद्रियाणाम्, 'रुद्र इति स्तोतृनामसु' (निघ० ३।१६।१२), रुद्रस्य स्तोतुरिमा रुद्रियाः स्तुतयः, शतमसंख्या रुद्रिया येषां ते शतरुद्रियाणाम्, अर्थाद् बहुभिर्मन्त्रैः स्तुतानाम् । अग्निष्वात्तानाम् अग्निना साधुपाकार्थमासादितानां साधुश्शृतानाम्, अग्निना वा स्वात्तानाम् आस्वादितानाम् । पाककाले पूर्वमग्निना सुश्शृतानामित्यर्थः । पीवोपवसनानाम्, पीवस्शब्दोऽसुन्नन्तः स्थूलवाची, पीवसां स्थूलानामङ्गानामुप समीपे वसनं स्थितिर्येषां तानि पीवोपवसनानि, तेषां स्थूलाङ्गसमीपस्थितानाम्, सूक्ष्माणामङ्गानामित्यर्थः । 'उपवसने पीवः' (वा० प्रा० ३।५४) इति सूत्रेणोपवसने परे पीवसो विसर्गलोपः । किञ्च, पार्श्वतः पार्श्वप्रदेशात् श्रोणितः कटिप्रदेशात् शितामतो बाहुप्रदेशात् । शितामशब्देन बाहुयकृद्योनिमेदांस्युच्यन्ते (निरु० ४।३) । प्रकृते बाहुरेव गृह्यते । उत्सादत, उत्सादनमुत्सादश्छेदनप्रदेशः, तस्मात् । एवमङ्गादङ्गात् । अङ्गादिति एकपदम् 'नित्यवीप्सयोः' (पा० सू० ८।१।४) इति द्वित्वम् । प्रसङ्गादवत्तानाम् अवदानधर्मेण गृहीतानामश्विनौ घस्तां तान् भक्षयतामिति सम्बन्धः । सर्वत्र कर्मणि षष्ठी । अथवा अङ्गादङ्गादवत्तानां पार्श्वतोऽवत्तानां पार्श्वं परशुमयमङ्गं भवति । श्रोणितोऽवत्तानाम् । एवमश्विनौ हविर्जुषेतां सेवेताम् । भक्षितावदानौ तौ करतः कुरुतः, तृप्तिमिति शेषः । विकरणव्यत्ययः । आदरायाभ्यासः । हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज ।

अध्यात्मपक्षे—होता अश्विनौ तद्वत् सुन्दरौ रामलक्ष्मणौ यक्षद् यजतु । तौ चेज्यमानौ छागस्य तनुतां गतस्य स्वात्मानमेव भगवद्भोग्यत्वेनोपस्थापयतः सम्बन्धि हविः प्रेमरसात्मकम् अत्तां भक्षयताम् । अद्य अस्मिन्नवसरे मध्यतो हृदयाद् मेदः स्नेहात्मकं तत्त्वं द्वेषोभ्यो द्वेष्टृभ्योऽसुरराक्षसेभ्यो विघ्नार्थं प्रवृत्तेभ्यः प्रागेवोद्भृतम् उच्चैर्धारितं पुरा च पौरुषेय्या गृभो गृह्णातीति गृप्, कर्तरि क्विप्, तस्या ग्रहातिग्रहलक्षणायाः पुरुषसम्बन्धिया बाधायाः प्रवृत्तेः पुरैव प्रागेव उद्भृतम् । यावेवं उद्भृतं मेदः प्रेमात्मकं हविरात्ताम्, तावेव अद्य घस्ताम् आस्वादयताम्, अङ्गानां प्रेमरसाङ्गानां श्रवणादीनां स्वांशभूतमिति शेषः । अत्र विशेषणे विशेष्यस्य अध्याहारः । कीदृशानामङ्गानाम् ? नूनं निश्चयेन घासे ग्रासे, अज्राणाम् अजराणामित्थं नूत्नानां नवनवायमानानां यवसप्रथमानां यवसानामन्नानां भोग्यानां मध्ये प्रथमानां मुख्यानाम् । सर्वभोग्यापेक्षया प्रेमरसाङ्गानां लोकोत्तरत्वं प्रसिद्धमेव । सुमत्क्षराणां सुमत्स्वयं क्षरन्तीति सुमत्क्षराणि, तेषाम् । रसमयानां श्रवणकीर्तनस्मरणध्यानार्चनादीनां रसक्षरणशीलानाम् । शतरुद्रियाणां रुद्रस्य स्तोतुरिमा रुद्रियाः स्तुतयः, शतं रुद्रिया येषां तेषाम् । वेदपुराणादिषु श्रवणादीनामगणिताः स्तुतयः प्रसिद्धा एव । अग्निष्वात्तानाम् अग्निना विप्रलम्भरूपेण सुश्शृतानां परिपक्वानां पीवोपवसनानां पीवसां स्थूलानामङ्गानामुप समीपे वसनं स्थितिर्येषां तेषाम् । सूक्ष्माणामङ्गानां स्मरणसख्यात्मनिवेदनादीनां पार्श्वतः प्रेमरसाङ्गिनः पार्श्वप्रदेशात् श्रोणितः कटिप्रदेशात् शितामतो बाहुप्रदेशाद् उत्सादत उद् ऊर्ध्वं सादनं परमात्मने स्वात्मार्पणम्, तस्मात् । एवमङ्गादङ्गादवत्तानाम् अवदानधर्मेण गृहीतानाम् अङ्गानां स्वांशभूतम् अङ्गान्येव वा अश्विनौ आस्वादयताम् । एवं तौ हविर्जुषेताम् । एवं जुषमाणौ तौ करतः कुरुतः, तृप्तिमिति शेषः । तृप्तौ तौ भक्तानां तृप्तिं कुरुतः ।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता अश्विनौ यक्षत् तौ चाद्य छागस्य मध्यतो हविषो मेद उद्भृतमात्ताम्, यथा वा पुरा द्वेषोभ्यो गृभो ग्रहीतुं योग्यायाः पौरुषेय्याः पुरुषाणां समूहे साध्व्याः पुरा नूनं घस्ताम् । यथा वा

यवसप्रथमानां घासे, अज्राणां भोजनेऽग्रे प्राप्तव्यानां सुमत्क्षराणां सुष्ठु मदा क्षरणं चालनं येषां तेषां शतरुद्रियाणां शतं रुद्रा देवता येषां तेषां पीवोपवसनानाम् अग्निष्वात्तानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः शितास्तीक्ष्णा आपो अपरिपक्वा यस्मिन् तस्मात्, उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां नम्रीभूतानामुत्कृष्टानामङ्गानामेवाश्विना करतो हविर्गुणैर्जुषेताम्, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विपदेनाध्यापकोपदेशकग्रहणे मानाभावात्, अन्येषामपि पदानामुक्तार्थताया निर्मूलत्वात्। गृभ इत्यनेन कथं स्त्रिया ग्रहणम्? तदतिरिक्तेऽपि ग्राह्यत्वसम्भवात्। ततः पुरैव कुतो भोक्तव्यमिति सर्वथापि निरर्थकमसम्बद्धं चेदं व्याख्यानम्॥ ४३॥

होता॑ यक्ष॒त्सर॑स्वतीं मे॒षस्य॑ ह॒विष॒ आव॑यद॒द्य म॑ध्य॒तो मेद॒ उद्भृ॑तं पु॒रा द्वेषो॑भ्यः पु॒रा पौरु॑षेय्या गृ॒भो घस॑न्नू॒नं घा॒से अ॑ज्रा॒णां यव॑सप्रथमानाᳬं सु॒मत्क्ष॑राणाᳬं शत॒रु॒द्रिया॑णामग्नि- ष्वा॒त्ता॒नां पीवो॑पवसनानां पार्श्व॒तः श्रो॑णि॒तः शि॑ताम॒त उ॑त्साद॒तोऽङ्गा॑दङ्गादव॑त्ता॒नां कर॑दे॒वᳬं सर॑स्वती जु॒षताᳬं ह॒विर्हो॑त॒र्यज॑ ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने सरस्वती का यजन किया। उसने मेष की पोषक हवि को स्वीकार किया। सकल अंगों का शक्तिदानपूर्वक सेवन किया। ऐसी सरस्वती हवि को स्वीकार करे। घास में नवीन रुचि करने वाले, अन्नों में मुख्य, अपने आप सुरक्षित, अनेकों मन्त्रों से प्रशंसित, पाक के समय प्रथम अग्नि द्वारा आस्वादित, स्थूल अंग के निकट रहने वाले, पार्श्व भाग से, कटि भाग से, पाद स्थान से, उत्सादन स्थान से, प्रत्येक अंगों से धर्मानुसार ग्रहण की गई हवि को अश्विनीकुमार तृप्तिपर्यन्त स्वीकार करें। हे मनुष्य होता! तुम भी घृत से हवन करो॥ ४४॥

होता सरस्वतीं यक्षद् यजतु। या सरस्वती मेषस्य हविषो हविर् आवयद् अभक्षयत्, आङ्पूर्वस्य वेतेर्लङि शपो लुगभावे रूपम्, यद्वा भक्षयतु, लेटि अडागमे वा रूपम्। आवयतेर्भक्षणे वृत्तिः (निघ० २।८।१)। अद्य मध्यतो मेद इत्यादिकं पूर्ववद् व्याख्येयम्। सा अङ्गानि घसत्। एवं सरस्वती हविर्जुषताम्, तृप्तिं च करदिति।

अध्यात्मपक्षे—सरस्वती ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री यक्षत्। मेषस्य मेषवद् युद्धकुशलस्यात्मनः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होताद्य मेषस्य उपदिष्टस्य शितामतस्तीक्ष्णस्वभावाद् हविषो मध्यतो यन्मेद उद्भृतम्, तत्सरस्वती चावयत् प्राप्नोति यक्षत्। द्वेषोभ्यः पुरा गृभो ग्रहीतुं योग्यायाः पौरुषेय्याः पुरा नूनं घसत्। घासेऽज्राणां भोजने कमनीयानां यवसप्रथमानां सुमत्क्षराणां श्रेष्ठानन्दवर्षकराणां पीवोपवसनानां स्थूल- वस्त्रधारिणामग्निष्वात्तानामग्निविद्यावतां शतरुद्रियाणां पार्श्वतः श्रोणित उत्सादतः, अङ्गादङ्गादवत्तानां सकाशाद्विद्यां करदेवमेषा सरस्वती जुषताम्, तथा त्वं च हविर्यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मेषस्य उपदिष्टस्य शितामतस्तीक्ष्णस्वभावादित्यर्थस्य निर्मूलत्वात्। न च तथात्वे नियमः, उपदिष्टस्य मधुरस्वभावस्यापि दर्शनात्। दातुमर्हस्य पदार्थस्य कः प्रसिद्धव्यवहारः? तस्मात् कः स्निग्धपदार्थ उद्भ्रियते, तं वाचं च कः प्राप्नोति? शत्रुभ्यः पुरा ग्रहणयोग्यायाः पुरुषसम्बन्धिन्याः स्त्रियः पुरा निश्चये घसत् खादेद् इत्यादिकं सर्वमसम्बद्धमेव॥ ४४॥

होता॑ यक्ष॒दिन्द्र॑मृष॒भस्य॑ ह॒विष॒ आव॑यद॒द्य म॑ध्य॒तो मेद॒ उद्भृ॑तं पु॒रा द्वेषो॑भ्यः पु॒रा पौरु॑षेय्या गृ॒भो घस॑न्नू॒नं घा॒से अ॑ज्रा॒णां यव॑सप्रथमानाᳬं सु॒मत्क्ष॑राणाᳬं शत॒रु॒द्रिया॑णामग्नि- ष्वा॒त्ता॒नां पीवो॑पवसनानां पार्श्व॒तः श्रो॑णि॒तः शि॑ताम॒त उ॑त्साद॒तोऽङ्गो॑दङ्गादव॑त्ता॒नां कर॑दे॒वमिन्द्रो॑ जु॒षताᳬं ह॒विर्हो॑त॒र्यज॑ ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने इन्द्र का यजन किया, ऋषभ की पुष्टिकारक और उपकारक हवि को अर्पित किया, उसने मध्य भाग में मेदा को पूर्ण रूप से स्थापित किया। यज्ञ के द्वेषी असुरों के आने से पहले ही उसने हवि का भक्षण कर लिया। ग्रास में नवीन रुचि करने वाले, अन्नों में मुख्य, अपने आप रक्षित, अनेकों मन्त्रों से प्रशंसित, पाक के समय प्रथम अग्नि द्वारा आस्वादित, स्थूल अंग के निकट रहने वाले पार्श्व भाग से, कटि भाग से, पाद स्थान से और उत्सादन स्थान से, प्रत्येक अंगों से धर्मानुसार ग्रहण की हुई हवि को इन्द्रदेव स्वीकार करें। हे मनुष्य होता! तुम भी इसी प्रकार हवन करो ॥ ४५ ॥

होता इन्द्रं यक्षद् यजतु। स इन्द्र ऋषभस्य हविष आवयद् भक्षयतु। एवमिन्द्रो हविर्जुषतामित्यन्तं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—ऋषभस्य श्रेष्ठस्य तत्तुल्यस्य पवित्रस्य साधकस्य। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता घासेऽज्राणां यवसप्रथमानां सुमत्क्षराणामग्निष्वात्तानां शतरुद्रियाणामवत्तानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतोऽङ्गादङ्गाद्धविरिन्द्रं च करदिन्द्रो जुषतां यथाद्यर्षमस्य हविषो मध्यतो मेद उद्भृतं भावयत, द्वेषोभ्यः पुरा गृभः पौरुषेय्याः पुरा घसत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऋषभस्य मध्यतो मेदः किं कथमुद्भ्रियते? इत्यस्यानिरूपणात्। कथञ्चिद् गौण्या वृत्त्या लौकिकसाधारणार्थग्रहणेऽपि पुरुषार्थाभावात् ॥ ४५ ॥

होता॑ यक्ष॒द्वन॒स्पति॑म॒भि हि पि॒ष्टत॑मया॒ रभि॑ष्ठया रश॒नयाधि॑त। यत्रा॒श्विनो॒श्छाग॑स्य ह॒विषः॑ प्रि॒या धामा॑नि॒ यत्र॒ सर॑स्वत्या मे॒षस्य॑ ह॒विषः॑ प्रि॒या धामा॑नि॒ यत्रेन्द्र॑स्य ऋष॒भस्य॑ ह॒विषः॑ प्रि॒या धामा॑नि॒ यत्रा॒ग्नेः प्रि॒या धामा॑नि॒ यत्र॒ सोम॑स्य प्रि॒या धामा॑नि॒ यत्रेन्द्र॑स्य सु॒त्राम्णः॑ प्रि॒या धामा॑नि॒ यत्र॑ सवि॒तुः प्रि॒या धामा॑नि॒ यत्र॒ वरु॑णस्य प्रि॒या धामा॑नि॒ यत्र॒ वन॒स्पतेः॑ प्रि॒या पाथा॑ᳪसि॒ यत्र॑ दे॒वाना॑माज्य॒पानां॑ प्रि॒या धामा॑नि॒ यत्रा॒ग्नेर्होतुः॑ प्रि॒या धामा॑नि॒ तत्रै॒तान् प्र॒स्तुत्ये॑वोप॒स्तुत्ये॑वोपाव॑स्रक्षद्र॒भीय॑स इव कृ॒त्वी कर॑द्दे॒वं दे॒वो वन॒स्पति॑र्जु॒षता॑ᳪ ह॒विर्होत॒र्यज॑ ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने वनस्पति यूप का यजन किया, क्योंकि यह रसवान् पशुओं को रोकने वाली रज्जु के द्वारा अपने अपने स्थान पर स्थिर रखता है, जहाँ कि अश्विनीकुमार के छाग की उपकारक हवि का प्रिय स्थान है, सरस्वती के मेष की उपकारक और इन्द्र के वृषभ की उपकारक हवि का प्रिय स्थान है। जहाँ अग्नि का, सोम का, सुरक्षक इन्द्र का, सविता का, वरुण का, वनस्पतियों का, घी पीने वाले देवताओं का और होता अग्नि का प्रिय स्थान है। इन अति वेगयुक्त स्थानों की भली प्रकार प्रशंसा करके ही, समीप में स्तुति करके ही, उक्त स्थानों में स्थित वनस्पति देवता स्वयं हवि का सेवन करते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ४६ ॥

'उत्तमौ वनस्पतिस्विष्टकृतोः' (का० श्रौ० १९।६।२५) अन्ते पठ्यमानौ 'होता यक्षद्वनस्पतिमभि' (वा० सं० २१।४६) तथा 'होता यक्षदग्निं स्विष्टकृतम्' (वा० सं० ४७) इति क्रमेणेमौ वनस्पतियागे स्विष्टकृद्यागे च प्रैषौ इति सूत्रार्थः। वनस्पतिप्रकृतिको यूपो देवता। दैव्यो होता वनस्पतिं तत्प्रकृतिकं यूपं यक्षद् यजतु। हि यस्माद्वनस्पती रशनया रज्ज्वा अभ्यधित अभिधारितवान्, पशूनिति शेषः। दधातेर्लुङि 'स्थाघ्वोरिच्च'

(पा० सू० १।२।१७) इतीकारः। यूपे पशून् बध्नातीत्येतदभिप्रायम्। कथम्भूतया रशनया ? पिष्टतमया। पिष्टशब्दोऽत्र रूपवाची (निरु० ८।२०), अत्यन्तं पिष्टा पिष्टतमा सुरूपा, अत्यन्तं दृढा, एवमादिगुणयुक्ता तया, रभिष्टया रभते पशून्नियच्छतीति रब्धी, तृच् ङीप्, अतिशयेन रब्धी रभिष्ठा, 'तुश्छन्दसि' (पा० सू० ५।३।५९) इति इष्ठनि, 'तुरिष्ठेमेयःसु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः, अतिशयेन नियमकारिणी तया, समर्थयेति यावत्।

अथ वनस्पतिः प्रार्थ्यते—यत्र देशेऽश्विनोर्नासत्ययोः सम्बन्धिनश्छागस्य हविषश्छागरूपस्य हविषः प्रिया प्रियाणि इष्टानि धामानि स्थानानि, वर्तन्त इति शेषः। यत्र सरस्वत्या मेषस्य मेषरूपस्य हविषः प्रियाणि धामानि, यत्र इन्द्रस्य ऋषभस्य हविषः प्रियाणि धामानि, एते पशुपुरोडाशदेवाः। यत्र सोमस्य प्रियाणि धामानि, यत्राग्नेः प्रियाणि धामानि, एतावाज्यभागौ। यत्र सुत्राम्ण इन्द्रस्य, यत्र सवितुः प्रियाणि धामानि, यत्र वनस्पतेः प्रियाणि पाथांस्यन्नानि, यत्र देवानामाज्यपानां प्रयाजानुयाजानां प्रियाणि धामानि, यत्र होतुरग्नेः स्विष्टकृतः प्रियाणि धामानि, तत्र तेषु स्थानेषु, एतान् पशून् रभीयस इव च कृत्वी कृत्वा, रभन्ते ये ते रब्धारः, अतिशयेन रब्धारो रभीयांसः, तान् सरभसांश्च कृत्वा। एतान् पशून् प्रस्तुत्येव प्रस्तुत्य च। इवश्चार्थः। उपस्तुत्येव उपस्तुत्य च उप समीपे स्तुत्वा। पुनर्वचनमादरार्थम्। वनस्पतिर्देव उपावस्रक्षत्, उपावसृजतु स्थापयतु। सृजेर्लुङि रूपम्, लेटि वा 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिप्प्रत्ययेऽडागमे च रूपम्। वनस्पतिर्देव एवं करत् करोतु, हविश्च जुषताम्। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मात्मको होता ब्रह्मात्मकैर्हविर्भिर्ब्रह्मात्मकान् देवान् यजतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता पिष्टतमया रभिष्टया रशनया रश्मिना यत्राश्विनोः सूर्याचन्द्रमसोश्छागस्य छेदकस्य हविषः प्रिया धामानि, यत्र सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रिया कमनीयानि धामानि स्थानानि, यत्रेन्द्रस्यर्षभस्य प्राप्तुं योग्यस्य हविषः प्रिया धामानि, यत्राग्नेः प्रिया धामानि, यत्र सवितुः प्रेरकस्य प्रिया धामानि, यत्र वरुणस्य श्रेष्ठस्य प्रिया धामानि, यत्र वनस्पतेर्वटादेः प्रिया पाथांसि, यत्राज्यानां देवानां पृथिव्यादीनां प्रिया धामानि, यत्र होतुर्दातुरग्नेः प्रिया धामानि सन्ति, तत्रैतान् प्रस्तुत्येव प्रकरणेन संश्लाघ्य उपस्तुत्येव उपावस्रक्षद् रभीयस इव कृत्वी कृत्वा कार्येषूपयुञ्जीतैवं करद् यथा वनस्पतिर्देवो हविर्जुषतां हि वनस्पतिमभिस्रक्षदधित तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यथाकथञ्चिद् गौणार्थस्वीकारेण प्रयोजनवदर्थासिद्धेः। अतिशयेन पिष्टाया अत्यन्तशीघ्रवर्धनशीलाया विविधारम्भाया रशना का ? कीदृशी च सा ? कथं च तया सह छागेन सम्बन्धः ? छागस्य च कथं सूर्याचन्द्रमसोः सम्बन्धेन पलितत्वम् ? मनुष्यादीनामपि तत्सम्बन्धेन पलितत्वाविशेषात्। सरस्वत्या नद्या मेषस्य हविषश्च जन्मानि स्थानानि नामानि क्व च कुत्र सन्ति ? तत्र कथमेतेषां पदार्थानां प्रकरणेन संश्लाघनमुपस्तवश्चेत्यादिकं सर्वमप्यस्पष्टमेव ॥ ४६ ॥

होता॑ यक्षद॒ग्निᳬ स्वि॑ष्ट॒कृत॒मया॑ड॒ग्निर॒श्विनो॒श्छाग॑स्य ह॒विषः॑ प्रि॒या धामा॒न्यया॒ड् सर॑स्वत्या मे॒षस्य॑ ह॒विषः॑ प्रि॒या धामा॒न्यया॒डिन्द्र॑स्य ऋ॒ष॒भस्य॑ ह॒विषः॑ प्रि॒या धामा॒न्यया॑ड॒ग्नेः प्रि॒या धामा॒न्यया॒ट् सोम॑स्य प्रि॒या धामा॒न्यया॒डिन्द्र॑स्य सु॒त्राम्णः॑ प्रि॒या धामा॒न्यया॑ट् सवि॒तुः प्रि॒या धामा॒न्यया॒ड् वरु॑णस्य प्रि॒या धामा॒न्यया॒ड् वन॒स्पते॒ः प्रि॒या पाथाᳬस्यया॑ड् दे॒वाना॑माज्य॒पानां॑ प्रि॒या धामा॑नि यक्ष॑द॒ग्नेर्होतुः॑ प्रि॒या धामा॑नि यक्ष॒त् स्वं म॑हि॒मान॒माय॑जता॒मेज्या॒ इषः॑ कृ॒णोतु॒ सो अ॑ध्व॒रा जा॒तवे॑दा जु॒षताᳬ ह॒विर्होत॒र्यज॑ ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने स्विष्टकृत् अग्नि का यजन किया। स्विष्टकृत् अग्नि ने अश्विनीकुमारों के छाग की, सरस्वती के मेष की और इन्द्र के ऋषभ की उपकारक हवि से प्यारे धामों का यजन किया, अर्थात् तीनों देवताओं के पशुओं को हवि से पुष्ट किया। हवि के प्यारे धामों का, सोम के प्यारे धामों का, सुरक्षक इन्द्र के प्यारे धामों का, सविता और वरुण के प्यारे धामों का और वनस्पति के प्रिय धामों का यजन किया। घी पीने वाले देवताओं के और होता अग्नि के प्यारे धामों का यजन किया, अपनी महिमा का यजन किया। सब प्रकार से यजनयोग्य सकाम प्रजा इसी प्रकार यजन करे, यह प्रज्ञा वाला अग्नि यज्ञों को सम्पन्न करे, हवि का सेवन करे। इस प्रकार देवनियम का कार्य प्रवृत्त रहता है। हे मनुष्य होता, तुम भी शक्ति के अनुसार घृत से यजन करो॥ ४७॥

होता स्विष्टकृतमग्निं यक्षद् यजतु। योऽग्निः स्विष्टकृद् अश्विनोश्छागस्य हविषः सम्बन्धीनि प्रियाणि धामानि अयाट् अयाक्षीद् इष्टवान्, अवदानानि यजति स्मेत्यर्थः। एवमग्रेऽपि। सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रियाणि धामान्यवदानानि अयाट्, इन्द्रस्य ऋषभस्य हविषः प्रियाणि धामान्ययाट्, एताः प्रधानदेवताः। अग्नेः प्रियाणि धामान्ययाट्, सोमस्य प्रियाणि धामान्ययाट्। एतावाज्यभागौ। सुत्राम्णः सुष्ठु त्रायत इति सुत्रामा इन्द्रः, तस्य प्रियाणि धामान्ययाट्, सवितुः प्रियाणि धामान्ययाट्, वरुणस्य प्रियाणि धामान्ययाट्, एताः पशुपुरोडाश-देवताः। वनस्पतेः प्रियाणि पाथांस्यन्नानि, एतत् प्रधानाङ्गम्। आज्यपानां देवानां प्रिया प्रियाणि धामानि यक्षद् यजतु। एते प्रयाजानुयाजाः। होतुरग्नेः स्विष्टकृतः स्वस्यैव प्रिया प्रियाणि धामानि यक्षद् इष्टवान्, स्वं महिमानं स्वां विभूतिं यक्षत्। किञ्च, एज्या आ समन्ताद् इज्या यष्टुं योग्या यागार्हा इषः, इच्छन्तीति इषः, सकामाः प्रजाः, आ यजतां सम्यग् यजतु, यागशीला यागयोग्याश्च प्रजा आसमन्ताद् यजन्त्वित्यर्थः, वचनव्यत्ययः, स जातवेदाः स्विष्टकृदग्निरध्वरा अध्वरान् यज्ञान् कृणोतु करोतु, हविश्च जुषताम्। हे मनुष्यहोतः, त्वं यज। यद्वा इषा अन्नेन प्रजानां स्थितिरुत्पत्तिश्चेति इषः प्रजा उक्ताः। एज्या आसमन्ताद् यष्टुं योग्या देवता आयजताम्, यजन्त्वित्यर्थः। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मात्मको होता ब्रह्मात्मकैर्हविर्भिर्ब्रह्मात्मकान् देवान् आयजतामित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता स्विष्टकृतमग्निं यक्षत्, यथाग्निरश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामान्य-याट्, सरस्वत्या मेषस्य प्रिया धामानि ... स्वं महिमानमायजताम्, यथा जातवेदा य एज्या इषः कृणोतु सोऽध्वरा हविश्च जुषताम्, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदबाह्यत्वादसम्बद्धत्वाच्च। स्विष्टकृतमग्निमित्यत्र स्विष्टेन कृतमित्युक्तम्, अत्र किं स्विष्टं केन कृतमित्यादिकं सर्वमस्पष्टं निर्मूलं च। इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य ऋषभस्य उत्कृष्टगुणकर्मस्वभावस्य राज्ञ इन्द्रस्य सेना ईशस्य आज्यपानां ज्ञातव्यरक्षकाणां रसानामित्यादिकं सर्वमपि निर्मूलं निरर्थकं च॥ ४७॥

दे॒वं ब॒र्हिः सर॑स्वती सु॒दे॒वमिन्द्रे॑ अ॒श्विना॑। तेजो॒ न चक्षु॑र॒क्ष्योर्ब॒र्हिषा॑ दधुरिन्द्रि॒यं व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑॥ ४८॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर देवता वाले अनुयाज देवता बर्हि (कुशा) के साथ सरस्वती, अश्विनीकुमार और इन्द्र में तेज को स्थापित करते हुए, दोनों नेत्रों में चक्षु इन्द्रिय को धारण करते हुए धनलाभ के निमित्त इन्द्र को समृद्ध करने वाली हवि का भक्षण करें। हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो। जैसे इन्होंने इन्द्र को तेज दिया, वैसे ही तुम्हें भी दें॥ ४८॥

'अनुवाचनप्रैषौ समस्याऽनुयाजप्रैषा देवं बर्हिरिति' (का० श्रौ० १९।७।२)। 'याज्याश्च' (का० श्रौ० १९।७।३)। अनुब्रूहीत्यनुवाचनम्, अमुं यजेति प्रैषश्च समस्य कर्तव्यौ, अश्विभ्यां सरस्वत्या इन्द्राय सुत्राम्णेऽनुब्रूहीत्येवम् । देवं बर्हिः सरस्वतीत्याद्या एकादश कण्डिकास्त्रिपशोरनुयाजानां प्रैषा याज्याश्च भवन्तीत्यर्थः। एकादशानुयाजप्रैषा अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याः, चतस्र आर्ष्यस्त्रिष्टुभो व्यवहितपदप्रायाः। सुदेवं शोभना देवा यस्य तत्, यद् बर्हिः, देवम् अनुयाजदेवता, तेन बर्हिषा सरस्वती अश्विना अश्विनौ च इन्द्रे तेजो दधुर्दधतु। अक्ष्योरिन्द्रनेत्रयोश्चक्षुर्गोलकयोश्चक्षुरिन्द्रियमिन्द्रियसामर्थ्यं च दधुः। नकारश्चार्थः। वसुवने वसुवननाय धनलाभाय वसुधेयस्य वसुनो धेयं वसुधेयं तस्य, वसुनिधानाय च अश्विसरस्वतीन्द्रा व्यन्तु हविर्भक्षयन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज। यद्वा यद्देवं बर्हिः सुदेवं शोभनदेवताकं तेन बर्हिषा सरस्वती अश्विनौ चेन्द्रे तेजः, नकारः समुच्चयार्थः, चक्षुश्च इन्द्रियं च अक्ष्योरक्ष्णोर्दधुः, वसुवने वसुवननाय धनलाभाय वसुधेयस्य वसुनिधानार्थम्, उभयत्र विभक्तिव्यत्ययः, अक्षिगोलकं स्थूलम्, तत्र सूक्ष्मं चक्षुरिन्द्रियं चक्षुषीन्द्रिये रूपदर्शनसामर्थ्यं च ततोऽपि सूक्ष्मम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे - यद्देवं दिव्यशक्तिसम्पन्नं बर्हिर्बर्हिरुपलक्षितं यज्ञादि कर्म, तेन बर्हिषा सरस्वती संविद् अश्विनौ परमात्मरूपौ, तद्वत् सुन्दरौ रामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ च इन्द्रे जीवे तेजो दधुर्दधतु। अक्ष्योरक्ष्णोश्चक्षुः, तत्रेन्द्रियं रूपदर्शनसामर्थ्यं च दधुर्दधतु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा सरस्वती स्त्री इन्द्रे देवं दिव्यं सुदेवं शोभनं विद्वांसं बर्हिरन्तरिक्षमश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ चक्षुस्तेजो न यजतः, तथा च विद्वांसो वसुधेयस्य वसुवनेऽक्ष्योर्बर्हिषेन्द्रियं दधुर्व्यन्तु च, तथैतत् त्वं धेहि प्राप्नुहि च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धार्थत्वात्, हिन्दीभाषार्थस्य संस्कृतव्याख्यानासम्बद्धत्वाच्च ॥ ४८ ॥

दे॒वीर्द्वारो॑ अ॒श्विना॑ भि॒षजेन्द्रे॒ सर॑स्वती । प्रा॒णं न वी॒र्यं॒ न॒सि द्वारो॑ दधुरिन्द्रि॒यं व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य द्वारदेवियों ने अनुयाज देवताओं के साथ वैद्य अश्विनीकुमार, सरस्वती और इन्द्र में बल और तेज का आधान करते हुए, नासिका में प्राण इन्द्रिय को धारण करते हुए, धनलाभ के निमित्त इन्द्र को समृद्ध करने वाली हवि का भक्षण करते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो। जैसे इन्होंने इन्द्र को तेज दिया, वैसे ही तुम्हें भी दें ॥ ४९ ॥

या देवीर्देव्यो द्वारो यज्ञगृहद्वारो देव्योऽनुयाजदेवा द्वारो द्वार्भिः, तृतीयार्थे प्रथमा, विभक्तिव्यत्ययः। सह भिषजा भिषजौ अश्विना अश्विनौ वैद्यौ सरस्वती च इन्द्रे वीर्यं बलं दधुः, नसि इन्द्रस्य नासिकायां प्राणमिन्द्रियं घ्राणेन्द्रियं च दधुः। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे - या देव्यो यज्ञगृहद्वारो अनुयाजदेवतास्ताभिः सह अश्व्यादय इन्द्रे जीवे वीर्यं दधुः, नसि प्राणं घ्राणमिन्द्रियं च दधुः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथाश्विनौ सरस्वतीभिषजौ इन्द्रे देवीर्द्वारः प्राप्नुवतो नसि प्राणं न वीर्यं द्वारश्च दधुर्वसुवने वसुधेयस्येन्द्रियं विद्वांसो व्यन्तु, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः। वायुसूर्यौ विज्ञानवती स्त्रीवैद्यौ च इन्द्रे ऐश्वर्यनिमित्तं द्वारः प्राप्नुवतो नसि प्राणं दधुः। शरीरस्य न छिद्राणि दधुरित्यादिकं सर्वं निरर्थकं निर्मूलं च। त्वद्रीत्या वायुसूर्ययोर्जडत्वेन स्त्रीवैद्यानां चाल्पशक्तिज्ञानत्वेन तेषां कुत्रापि बलाद्याधाने सामर्थ्याभावात् ॥ ४९ ॥

देवी उषासावश्विना सुत्रामेन्द्रे सरस्वती । बलं न वाचमास्य उषाभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य गुण वाली रात्रि और उषा काल की अधिष्ठात्री देवता, रात्रि और उषाकाल के साथ अश्विनीकुमार और सरस्वती इन्द्र में बल का और मुख में वाणी का बल बढ़ाते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी उसी प्रकार यजन करो। इन्द्र के समान तुम्हारे भी तेज में ये वृद्धि करें ॥ ५० ॥

देवी देव्यौ उषासौ नक्तोषासौ, अत्र छान्दस आदिपदलोपो द्रष्टव्यः, उषासाविति द्विवचनसामर्थ्याद्वा नक्तपदलोपोऽनुमातव्यः। नक्तोषसी अनुयाजदेव्यौ ताभ्यामुभाभ्यां नक्तोषाभ्यां सह अश्विनौ सुत्रामा शोभन-रक्षणकर्त्री सरस्वती च इन्द्रे बलं दधुः। तस्येन्द्रस्य आस्ये मुखे वाचमिन्द्रियं वागिन्द्रियसामर्थ्यं च दधुः। वागिन्द्रियमेव वा दधुः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवी देदीप्यमाने उषासौ सायंप्रातःसन्धिवेले सुत्रामा सरस्वती अश्विनौ वसुवने वसुधेयस्य इन्द्रे बलमास्ये वाचमुषाभ्यामिन्द्रियं दधुः, सर्वान् व्यन्तु च, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उषासादिभिर्मुखे वागाधानस्य धनाधानस्य चासिद्धेः ॥ ५० ॥

देवी जोष्ट्री सरस्वत्यश्विनेन्द्रमवर्धयन् । श्रोत्रं न कर्णयोर्यशो जोष्ट्रीभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—सुख का सेवन करने वाली देवी द्यावापृथिवी अहोरात्र के द्वारा सरस्वती, अश्विनीकुमार और इन्द्र के बढ़ते हुए यश को बढ़ाते हैं, कान में श्रवणेन्द्रिय की शक्ति को धारण करते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो, जिससे तुम्हारे तेज की वृद्धि हो ॥ ५१ ॥

ये जोष्ट्री जोषयित्र्यौ तर्पयित्र्यौ सुखस्य सेवयित्र्यौ वा देवी देव्यौ अनुयाजदेवते द्यावापृथिव्यौ अहोरात्रे वा, 'सस्यं च समा चेति कात्थक्यः' (नि० ९।४१), धान्याद्यधिष्ठात्री देवता संवत्सराधिष्ठात्री देवता चेति तदर्थः। तथा च कालाधिष्ठातृदेवतानुग्रहात् सुवृष्ट्या सुभिक्षं सुक्षेमं लोकप्रसिद्धमेव। सस्यानां पर्यवसानं द्यावापृथिव्योः संवत्सरस्य चाहोरात्रयोरिति कात्थक्यमतम्। ताभ्यां जोष्ट्रीभ्यां सह सरस्वती अश्विना अश्विनौ चेन्द्रमवर्धयन्। कथङ्कारमवर्धयन्? तत्राह—इन्द्र यशो दधुः, तत्कर्णयोश्च श्रोत्रमिन्द्रियं दधुः। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवी प्रकाशदात्री जोष्ट्री सेवनीया सरस्वत्यश्विनौ इन्द्रं सूर्यमवर्धयन्, मनुष्या वा जोष्ट्रीभ्यां सेविकाभ्यां कालवेलाभ्यां कर्णयोर्यशः श्रोत्रं न दधुः, वसुधेयस्य वसुवन इन्द्रियं व्यन्तु, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोद्धृतनिरुक्तविरोधात्, असम्बद्धत्वाच्च, पूर्वापरविरोधश्च। क्वचिद् विज्ञानवती स्त्री सरस्वती, क्वचित्तादृशी स्त्री। अत्र तु विज्ञाननिमित्तेत्युक्तम्। एतादृशविषमार्थे किं मूलम्। जोष्ट्रीभ्यामिति कण्डिकायां द्विवचनप्रयोगः, तदनुरोधात् जोष्ट्रीति पदमपि कथङ्कारं न द्विवचनान्तम्? कालवेलयोर्मनुष्यसेविकात्वमपि चिन्त्यमेव ॥ ५१ ॥

देवी ऊर्जाहुती दुघे सुदुघेन्द्रे सरस्वत्यश्विना भिषजावतः। शुक्रं न ज्योतिस्तनयोराहुती धत्त इन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—सभी कामनाओं को भली प्रकार पूरा करने वाली, रसवती, आह्वान रूप दिव्य सरस्वती और वैद्य अश्विनीकुमार सबकी रक्षा करते हैं, इन्द्र में वीर्य और हृदय में तेज का आधान करते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो, जिससे तुम्हारे तेज की वृद्धि हो ॥ ५२ ॥

ये देवी देव्यौ ऊर्जाहुती ऊर्जा रसवती आहुतिराह्वानं होमो वा ययोस्ते ऊर्जाहुती दुघे दुग्धो ये ते दुघे कामपूरयित्र्यौ सुदुघे सुदोहने ताभ्यामाहुतिभ्यां सह सरस्वती भिषजा भिषजौ सुरवैद्यौ अश्विनौ इन्द्रे इन्द्रम्, छान्दस इकारलोपः, अवतोऽवन्ति, वचनव्यत्ययः। कथङ्कारं कृत्वेति तदाह—ज्योतिस्तेज इन्द्रे धत्तो दधति, स्तनयोः शुक्रमिन्द्रियं च धत्तो दधति, वचनव्यत्ययः, नश्चार्थः। उत्तरार्धे आहुतीशब्दस्तृतीयार्थकः। जोष्टचोरेव देवताविकल्पः।

अध्यात्मपक्षे—याभ्यां देवीभ्यामूर्जाहुतिभ्यां सह सरस्वत्यादय इन्द्रे ज्योतिस्तदीयस्तनयोः शुक्रं दधुस्तत्सर्वं लीलया लोककल्याणाय ब्रह्मैव तेन तेन रूपेण विवर्तते।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यूयं यथा देवी कमनीये दुघे प्रपूरके प्रातःसायंवेले इन्द्रे ऊर्जाहुती अन्नरसाहुती सरस्वती सुदुघा भिषजा अश्विना अध्यापकोपदेशकौ च शुक्रं जलं न इव ज्योतिरवतस्तथा स्तनयोराहुती धत्त, वसुधेयस्य वसुवन इन्द्रियं धत्त, येनैतानि सर्वे व्यन्तु। हे गुणग्राहिन्, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रातःसायंवेलयोः कथमुत्तमतापूरकत्वम्? कथं आहुतिसरस्वत्यादीनां प्रकाशरक्षकत्वम्? स्तनयोर्ग्रहणयोग्या कीदृशी क्रिया? कथं च तद्धारणम्? एतत्सर्वमस्पष्टमेव, धर्मब्रह्मपर्यवसायिनि वेदे तदयोगाच्च ॥ ५२ ॥

देवा देवानां भिषजा होताराविन्द्रमश्विना। वषट्कारैः सरस्वती त्विषिं न हृदये मतिᳪं होतृभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ--देवताओं के देवता, होता और अनुयाज देव होता के द्वारा वैद्य अश्विनीकुमार और सरस्वती इन्द्र में और हृदय में वषट्कारों की सहायता से कान्ति, बुद्धि और इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो, जिससे तुम्हारे तेज की वृद्धि हो ॥ ५३ ॥

देवा यौ देवौ होतारौ अनुयाजदेवौ देवानां भिषजौ अश्विना अश्विनौ सरस्वती च ताभ्यां होतृभ्यां सह वषट्कारैश्च सह इन्द्रम् इन्द्रे, विभक्तिव्यत्ययः, त्विषिं कान्तिं दधुः। हृदये पुण्डरीकाकारे मांसपिण्डे मतिमिन्द्रियं बुद्धिरूपेन्द्रियं दधुः। 'मनसश्चेन्द्रियत्वेऽयं प्रमाणं मन्त्रवर्णकः'। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव व्याख्या।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, भवन्तो यथा देवानां होतारौ देवा भिषजाश्विना वषट्कारेन्द्रियं दध्याताम्, सरस्वती त्विषिं न हृदये मतिं दध्यात्, तथा होतृभ्यां सहैता वसुधेयस्य वसुवन इन्द्रियं दधुर्व्यन्तु। हे मनुष्य, तथा त्वमपि यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, होताराविति द्विवचनस्यातन्त्रत्वात्, सरस्वत्या एकत्वं वैद्यद्वित्वं च किमभिप्रायकमित्यनुक्तेः ॥ ५३ ॥

दे॒वीस्ति॒स्रस्ति॒स्रो दे॒वीर॒श्विनेडा॒ सर॑स्वती। शूषं॒ न मध्ये॒ नाभ्या॒मिन्द्रा॑य दधुरिन्द्रि॒यं व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—इडा, सरस्वती और भारती नामक तीनों देवियों के साथ अश्विनीकुमार इन्द्र के निमित्त नाभि के मध्य में बल और इद्रिय की स्थापना करते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो, जिससे तुम्हारे तेज की वृद्धि हो ॥ ५४ ॥

यास्तिस्रो देवीर्देव्यो भारती इडा सरस्वती च तिस्रो देवीस्ताभिस्तिसृभिः, विभक्तिव्यत्ययोऽध्याहारश्च वाक्यवशात्, भारतीडासरस्वतीभिः सह अश्विना अश्विनौ इडा च सरस्वती च इन्द्राय इन्द्रे नाभ्यां मध्ये शूषं बलमिन्द्रियं च दधुः, नश्चार्थकः। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिन्, यथा तिस्रो देवीर्वसुधेयस्य मध्ये वसुवन इन्द्राय तिस्रो देवीर्दधुः, यथैत एतानि व्यन्तु तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च, अध्यापिकोपदेष्ट्र्यो-र्द्वित्वेन त्रित्वायोगात्, संसारे सर्वेऽप्युत्तमधनाकाङ्क्षिण इति तेषां मध्य इत्युक्तेर्निरर्थकत्वाच्च। तिसृणामुत्तम-मध्यम-निकृष्टानां कन्यानां धारकाः के? किमर्थं च ते कन्या धारयेयुरित्यस्याप्यनुक्तेः ॥ ५४ ॥

दे॒व इन्द्रो॒ नरा॒शꣳस॑स्त्रिवरू॒थः सर॑स्वत्या॒श्विभ्या॑मीयते॒ रथः॑। रेतो॒ न रू॒पम॒मृतं॑ ज॒नित्र॒मिन्द्रा॑य॒ त्वष्टा॒ दध॑दिन्द्रि॒याणि॑ व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—ऐश्वर्यवान् सभामण्डप, हविर्धान और आग्नीध्र रूप तीन घर वाला, जगत् का कर्ता, जहाँ बैठकर मनुष्य स्तुति करते हैं, ऐसा देवयाग के योग्य यज्ञरूपी रथ वीर्य, सौन्दर्य, अमृतमय उत्तम जन्म और इन्द्रियों की शक्ति को इन्द्र की आराधना के निमित्त लगावे। यह रथ सरस्वती और अश्विनीकुमार का वहन करता है। अभिप्राय यह है कि मन्त्रोक्त देवता इस यज्ञ के कर्ता यजमान के वीर्यरूप अमृत को बढ़ावें, सब इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ावे, विशेष कर जननेन्द्रिय को निज कार्य के साधन में समर्थ करें ॥ ५५ ॥

नराशंसो देवोऽनुयाजरूपो यज्ञः, 'नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यो नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति' (निरु० ८।६) इति यास्कोक्तेः। रेतो वीर्यं रूपं सौन्दर्यममृतं जनित्रम् उत्तमं जन्म इन्द्राय दधद् दधातु। नश्चार्थकः। कीदृशो नराशंसः? इन्द्रः परमैश्वर्यवान्। पुनः कीदृशः? त्रिवरूथः, त्रीणि त्रिसंख्याकानि वरूथानि गृहाणि सदोहविर्धानाग्नीध्ररूपाणि त्रिलोकीरूपाणि वा यस्य सः। पुनः कीदृशः? त्वष्टा जगतः कर्ता, यज्ञादेव जगदुत्पत्तेः। त्वक्षतेरत्र करोतौ वृत्तिः। तथा च यास्कः—'त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः' (निरु० ८।१३), 'त्वक्षतेर्वा स्यात् क्रियासामान्यमात्रवाचिन उत्सृष्टतनूकरणस्वार्थस्य' इति भगवद्दुर्गः। यस्य नराशंसस्य यज्ञस्य रथः सरस्वत्या अश्विभ्यां च ईयते उह्यते नीयते च। शिष्टव्याख्यानं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा त्रिवरूथ इन्द्रो देवः सरस्वत्या नराशंसोऽश्विभ्यां रथ ईयत इव सन्मार्गे गमयति, यथा वा जनित्रममृतं रेतो न रूपं वसुधेयस्य वसुवन इन्द्रायेन्द्रियाणि त्वष्टादयः। अथैत एतानि व्यन्तु तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यस्य त्रिवरूथत्वासम्भवात्, निरुक्तविरोधाच्च। न च जीवेष्विन्द्रियाणां धारणे मनुष्याः प्रयोजकाः सन्ति, कर्मसहकृतेश्वरसाध्यत्वात् ॥ ५५ ॥

दे॒वो दे॒वैर्वन॒स्पति॒र्हिर॑ण्यपर्णो॑ अ॒श्विभ्या॒ᳬं सर॑स्वत्या सुपिप्प॒ल इन्द्रा॑य पच्यते॒ मधु॑। ओज॒ न जू॒तिर्ऋ॑ष॒भो न भाम॒ वन॒स्पति॑र्नो॒ दध॑दिन्द्रि॒याणि॑ व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥५६॥

मन्त्रार्थ—देवताओं से अधिष्ठित होने के कारण सुवर्ण के वर्ण वाले अश्विनीकुमार सरस्वती के द्वारा सुन्दर फल वाले पूज्य वनस्पति देवता इन्द्र के निमित्त मधुर फल देते हैं। वही वनस्पति हममें तेज, वेग, परिमित क्रोध तथा इन्द्रियों के बल का आधान करें, अर्थात् हमारी दोनों फलप्रद भुजाएँ तेजस्विनी हों और चरणों में शीघ्र गमन की शक्ति प्राप्त हो। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो, जिससे तुम्हारे तेज की वृद्धि हो॥ ५६ ॥

वनस्पतिर्यूपो देवो नोऽस्माकमोजस्तेजो जूतिर्जूतिम्, विभक्तिव्यत्ययः, वेगम्, भामं क्रोधमिन्द्रियाणि दधद् दधातु, यो वनस्पतिर्देव इन्द्राय मधु मधुरं फलं पच्यते पचति, फलतीति यावत्, इन्द्राय मधुरं फलं ददातीति तात्पर्यम्। नकारौ चार्थकौ। कीदृशो वनस्पतिः? देवैर्हिरण्यपर्णः हिरण्यरूपाणि पर्णानि यस्य सः, देवा यस्य हिरण्यमयानि पर्णानीत्यर्थः। पुनः कीदृशो वनस्पतिः? अश्विभ्यां सरस्वत्या च सुपिप्पलः, सुष्ठु शोभनं पिप्पलं फलं यस्य सः, अश्विनौ सरस्वती च यस्य वनस्पतेः फलानीत्यर्थः। पुनः कीदृशो वनस्पतिः? ऋषभः पूज्यः। ऋषभशब्दः पूजावचन इत्युव्वटमहीधरौ। लोकेऽप्युत्तरपदस्थः पूजावचनः, तथा चामरसिंहः—'स्युरुत्तर-पदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः। सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः॥' (३।१।५९) इति। अत्र रूपकालङ्कारः। तल्लक्षणं च—'रूपको रूपितारोपो विषये निरपह्नवे' इति। अथवा यो वनस्पतिर्देवैर्हिरण्यपर्णः, यस्य देवा एव हिरण्यमयानि पर्णानि, योऽश्विभ्यां सरस्वत्या च सुपिप्पलः, इन्द्रार्थं यो मधुराणि फलानि फलति, स ऋषभः पूज्यो जूतिर्वेगवान् ओजो भाममिन्द्रियाणि च नो दधातु।

अध्यात्मपक्षे—यो देवो वनस्पतिः, वनस्पतिरिव वनस्पतिः परमेश्वरो देवैर्हिरण्यपर्णो देवा एव यस्य ज्योतिर्मयानि पर्णानि, अश्विभ्यां सरस्वत्या च सुपिप्पलः, अश्विनौ सरस्वती च यस्य शोभनानि फलानि, इन्द्राय जीवाय यो विविधानि फलानि पच्यते, विविधानि मधुराणि फलानि ददातीत्यर्थः, स जूतिर्जववान् ऋषभः पूज्यश्च भगवान् नोऽस्माकमोजो बलमान्तरं बाह्यं च भामं क्रोधमिन्द्रियाणि च दधद् दधातु। क्रोधोऽपि व्यवहारेऽपेक्ष्यते। तथा चाह भारविः—'अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः' इति। वसुवने धनलाभाय वसुधेयस्य वसुनिधानाय, विभक्तिव्यत्ययः, तद्विभूतयोऽश्व्यादयो हविर्व्यन्तु गृह्णन्तु। हे होतस्त्वं यज।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथाश्विभ्यां देवैः सह देवो हिरण्यपर्णो वनस्पतिः सरस्वत्या सुपिप्पल इन्द्राय मध्विव पच्यते। जूतिरोजो न भाममृषभो न वनस्पतिर्वसुधेयस्य नो वसुवन इन्द्रियाणि दधद्यथैतानेतानि व्यन्तु त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विपदेन जलविद्युद्ग्रहणे मानाभावात्। वनस्पतिः सूर्य इत्यपि निर्मूलमेव। सरस्वती नीतिरित्यपि चिन्त्यम्, नीत्या सुपिप्पलस्य कः सम्बन्ध इत्यनुक्तेः॥ ५६ ॥

दे॒वं ब॒र्हिर्वारि॑तीनामध्व॒रे स्ती॒र्णम॒श्विभ्या॒मूर्ण॑म्रदाः सर॑स्वत्या स्यो॒नमि॑न्द्र ते॒ सदः॑। ई॒शायै॑ म॒न्युᳬं राजा॑नं ब॒र्हिषा॑ दधुरिन्द्रि॒यं व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, जल से उत्पन्न होने वाली औषधियों से दीप्तिमान्, ऊन के समान कोमल सुखरूप तुम्हारी सभा में और यज्ञ में अश्विनीकुमार और सरस्वती के द्वारा फैलाये हुए बर्हि के द्वारा दीप्तिमान् क्रोधरूपी इन्द्रिय को ऐश्वर्य के निमित्त स्थापित करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो, जिससे तुम्हारे तेज की वृद्धि हो॥ ५७ ॥

वारितीनाम्, वारि जले इतिर्गतिर्यासां ता वारितयः, तासां वारिप्रभवाणामुदकवतीनां वरतराणामोषधीनाम्, वारामुदकानामितिर्निर्यासो वारितिर्दर्भौषधियुता, बहुत्वे वारितयः, तासां वा सम्बन्धि बर्हिः, हे इन्द्र, ते तव सदः सदसि, अध्वरे यज्ञेऽश्विभ्यामध्वर्युभ्यां सरस्वत्या च स्तीर्णमास्तृतम्। कीदृशं बर्हिः? देवं देदीप्यमानम्, ऊर्णम्रदा ऊर्णेव म्रदीय ऊर्णम्रदाः, अतिशयेन मृदु म्रदीयः, ईयसुनि प्रत्यये टिलोपे, 'र ऋतो हलादेर्लघोः' (पा० सू० ६।४।१६१) इति रेफादेशे ईय्भागस्य छान्दसे लोपे रूपसिद्धिः। अत एव स्योनं सुखरूपम्। हे इन्द्र, अश्विसरस्वत्योर्बर्हिषा सह राजानं दीप्यमानं मन्युं क्रोधमिन्द्रियं च त्वयि ईशायै ऐश्वर्याय ईशनमीशा तस्यै, स्त्रीत्वविवक्षायां 'गुरोश्च हलः' (पा० सू० ३।३।१०३) इत्यकारप्रत्यये टाप्, त्वयि दधुः। व्याख्यातमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—देवं देदीप्यमानं बर्हिः, ब्रह्मात्मकत्वाद् वारितीनामुदकवतीनामौषधीनां सम्बन्धि बर्हिः, अश्विभ्यां सरस्वत्या च ते तव सदः स्थानं स्तीर्णमास्तीर्णम्, तच्च स्योनं सुखात्मकम्, तस्मिन् सदसि ईशायै ईशितायै ऐश्वर्याय मन्युं क्रोधं त्वां राजानमिन्द्रिय अश्विनौ सरस्वती च बर्हिषा दधुः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र इन्द्रियस्वामिन्, यस्य ते तव सरस्वत्या सह स्योनं सदोऽस्ति, यथोर्णम्रदा य ऊर्णैराच्छादकैर्मृदन्ते, अश्विभ्यामध्वरे वारितीनां स्तीर्णं देवं बर्हिरीशायै मनुं राजानमिव बर्हिषा वसुधेयस्य वसुवन इन्द्रियं दधुर्व्यन्तु, तथा त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्योनस्य सुखस्य सदश्च वाण्याऽसम्बन्धात्। सदो नौयानमित्यपि कल्पनामात्रम्, अश्विपदेन वायुविद्युतोर्ग्रहणमपि निर्मूलमेव। अध्वरस्य शिल्पार्थतापि चिन्त्या। दिव्यमन्तरिक्षमीशायै यया क्रिया ऐश्वर्यं प्राप्यते, तस्यै मन्युं मननं राजानमिव प्रकाशमानमित्यादिकमप्यसम्बद्धमेव ॥ ५७ ॥

देवो अग्निः स्विष्टकृद् देवान् यक्षद्यथायथꣳ होताराविन्द्रमश्विना वाचा वाचꣳ सरस्वतीमग्निꣳ सोमꣳ स्विष्टकृत्स्विष्ट इन्द्रः सुत्रामा सविता वरुणो भिषगिष्टो देवो वनस्पतिः स्विष्टा देवा आज्यपाः स्विष्टो अग्निरग्निना होता होत्रे स्विष्टकृद्यशो न दधदिन्द्रियमूर्जमपचितिꣳ स्वधां वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर याग करने वाले अग्नि देवता ने यथायोग्य होता मित्रावरुण, अश्विनीकुमार, इन्द्र, वाणी सरस्वती, अग्नि और सोम देवताओं का वाणी से यजन किया। सुन्दर यज्ञ करने वाले सुरक्षक इन्द्र का भली प्रकार यजन किया गया। सविता देवता, वरुण, वैद्य देवता और वनस्पति का भी यजन किया गया। घी पीने वाले देवताओं का भी भली प्रकार यजन किया गया। अग्नि के द्वारा भी अग्नि का यजन किया गया। भली प्रकार यजन करने वाले दिव्य होता ने मनुष्य होता के निमित्त यश, इन्द्रिय, बल, अन्न और पितरों के लिये दिव्य स्वधा का आह्वान किया। धनवान् की यज्ञसिद्धि के निमित दी हुई आहुति के अपने अपने भाग को देवता स्वीकार करें। हे मनुष्य होता, तुम भी घृत से यजन करो ॥ ५८ ॥

देवो द्योतमानोऽग्निः स्विष्टकृत् सुष्ठु शोभनमिष्टं यागं करोतीति तथोक्तः, यथायथं यथास्वम्, अर्थाद् यो यथा यष्टव्यस्तथा वक्ष्यमाणान् तान् देवान् यक्षद् इष्टवान्। एवं सामान्यत उक्त्वा विशेषत आह—होतारौ अयं चाग्निरसौ च मध्यमो वायुः, होतृमैत्रावरुणौ वा इन्द्रम् अश्विना अश्विनौ च वाचा मन्त्रेण वाचं च यक्षत् सरस्वतीमग्निं सोमं च यक्षद् यजतु। किञ्च, स्विष्टकृत् शोभनयज्ञकारी सुत्रामा शोभनत्राणकृद् इन्द्रः

स्विष्टः सुष्ठु इष्टः। सविता वरुणो भिषग् इष्टः। वनस्पतिर्देवश्च इष्टः। आज्यपा देवाः प्रयाजानुयाजाः स्विष्टाः। अग्निरधिष्ठाता अग्निना भौमेन सुष्ठु इष्टः, हविर्द्वारेति शेषः। किञ्च, होता दैव्यः स्विष्टकृद् होत्रे मानुषाय यश इन्द्रियं ऊर्जमन्नमपचितिं पूजां स्वधां पित्रर्थमन्नं दधद् दधातु, ददात्वित्यर्थः। नकारश्चार्थकः। वसुवननाय वसुनिधानाय च देवा व्यन्तु हविरदन्तु। हे मनुष्यहोतः, यज।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर एव तत्तद्देवतारूपेण स्विज्यते।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वसुधेयस्य वसुवने स्विष्टकृद्देवोऽग्निर्देवान् यथायथं यक्षत्, यथा होतारौ अश्विनौ इन्द्रं वाचा सरस्वतीं वाचमग्निं सोमं च यथायथं गमयतः, यथा स्विष्टकृत् स्विष्टः सुत्रामेन्द्रः सविता वरुणो भिषगिष्टो देवो वनस्पतिः स्विष्टा आज्यपा देवा अग्निना स्विष्टो होता स्विष्टकृद् अग्निर्होत्रे यशो नेन्द्रियमूर्जमपचितिं स्वधां यथायथं दधत्, यथैतानेतानि व्यन्तु, तथा यथायथं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वैदिकप्रसिद्धस्विष्टकृद्देवताद्यज्ञानविजृम्भितत्वात्। शोभनमिष्टं सुखं करोतीति स्विष्टकृत् को वा भवति? सर्वथापि व्याख्यानमेतदसम्बद्धमेव। अत एव यत्किञ्चिदुच्यते। अश्विपदेन वायुविद्युदादिग्रहणं सर्वथापि निर्मूलमेव ॥ ५८ ॥

अ॒ग्निम॒द्य होता॑रमवृणीता॒यं यज॑मान॒: पच॒न् प॒क्तीः पच॑न् पु॒रो॒डाशा॑न् ब॒ध्नन्न॒श्विभ्यां॒ छाग॒ᳪ सर॑स्वत्यै मे॒षमिन्द्रा॑य ऋष॒भᳪ सु॒न्वन्न॒श्विभ्या॒ᳪ सर॑स्वत्या॒ इन्द्रा॑य सु॒त्राम्णे॑ सुरासो॒मान् ॥५९॥

मन्त्रार्थ— **इस यजमान ने आज पकाने योग्य हवियों को पकाते हुए पुरोडाश का पाचन किया। अश्विनीकुमारों से प्रार्थना करने के निमित्त छाग को, सरस्वती के लिये मेष को और इन्द्र के लिये वृषभ को यूप से बाँधते हुए हवि से सन्तुष्ट किया। अश्विनीकुमार, सरस्वती और सबकी रक्षा करने वाले इन्द्र के निमित्त महान् औषधियों के रस और सोम को अभिषुत करके होता ने अग्नि का वरण किया ॥ ५९ ॥**

'अग्निमद्येति सूक्तवाकप्रैषः' (का० श्रौ० १९।७।४)। अग्निमद्य होतारमित्यादिर्ब्रूहीत्यन्तः कण्डिकात्रयात्मकः सूक्तः सूक्तवाके प्रैषो भवतीति सूत्रार्थः। लिङ्गोक्तदैवतः प्रैषः। प्रथमा अष्टिः, द्वितीया धृतिः, तृतीया विकृतिः। अद्य अस्मिन् दिवसे, अयं यजमानः, अग्निं होतारम् अवृणीत वृतवान्। वृणातेर्लङि रूपम्। किं कुर्वन्? पक्तीः पक्तव्यानि हवींषि पचन्। सामान्यमेतत्। विशेषत आह—पुरोडाशान् पचन्। अश्विभ्यामश्विनोरर्थे छागं बध्नन्, यूप इति शेषः। सरस्वत्यै मेषं बध्नन्। इन्द्राय ऋषभं च बध्नन्। तथा अश्विभ्यां सरस्वत्यै सुत्राम्णे शोभनत्राणकृते इन्द्राय च सुरासोमान् सुन्वन्।

अध्यात्मपक्षे—अयं यजमानः साधको बहुतिथं कालं संसृतिसरणानन्तरं पुण्यपुञ्जवशादद्य रक्षकत्वेन आश्रयत्वेन च अग्निम् अग्रगण्यं भगवन्तमवृणीत वृतवान्, पक्तीः पक्तव्यानि नैवेद्यादीनि पचन्, पक्तव्यानि कर्माणि वा पचन् क्षपयन्। तदङ्गतया तस्मै पुरोडाशान् अश्विभ्यां छागं यूपे बध्नन् इन्द्राय ऋषभं बध्नन् वृथाजनितमन्नादिलक्षणं हविः प्रयोजयन् सरस्वत्यै मेषमिन्द्राय सुत्राम्णे सुरासोमान् समर्पयन्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथायं पक्तीः पचन् पुरोडाशान् पचन् यजमानो होतारमवृणीत, यथाश्विभ्यां छागं सरस्वत्यै मेषमिन्द्रायर्षभं बध्नन्, अश्विभ्यां सरस्वत्यै सुत्राम्णे इन्द्राय सुरासोमान् सुन्वन्, तथा यूयमद्य कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथा सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्, छागं मेषमृषभं बध्नन्नित्यस्य निरर्थकत्वाच्च। नहि त्वद्रीत्या देवतोद्देश्येन पशूनां यूपे बन्धनम्, तथा सत्यपसिद्धान्तापातात् ॥ ५९ ॥

सप॒स्था अ॒द्य दे॒वो वन॒स्पति॑रभवद॒श्विभ्या॒ञ्छागे॑न॒ सर॑स्वत्यै मे॒षेणेन्द्रा॑य ऋष॒भेणा-क्ष॒॑स्तान्मे॑द॒स्तः प्रति॑ पच॒ताग॒॑भीष॒तावी॑वृधन्त पु॒रो॒डाशै॒॑रपु॒॑र॒श्विना॒ सर॑स्व॒तीन्द्र॑ः सु॒त्रामा॑ सुरास॒ोमान् ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—आज पशुओं के पोषक वनस्पति देवता छागों की वृद्धि का आशीर्वाद देने के लिये आये अश्विनीकुमारों के निमित्त भली प्रकार उपस्थित हुए। मेषों की वृद्धि का आशीर्वाद देने के निमित्त आई सरस्वती देवी के लिये और वृषभ की वृद्धि का आशीर्वाद देने के लिये आये इन्द्र के निमित्त भली प्रकार से उपस्थित हुए। उन देवताओं ने छाग आदि पशुओं को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिये अपने अधिष्ठातृत्व के आधार से अपने-अपने कर्तव्यों का निर्वाह किया, पक्व हवियों को स्वीकार किया, पुरोड़ाश प्राप्त कर अपने बल को बढ़ाया। अश्विनीकुमार, सरस्वती और सुरक्षक इन्द्र ने रस और सोम का पान किया ॥ ६० ॥

अद्य अस्मिन् दिने, वनस्पतिर्देवश्छागेन हेतुना अश्विभ्यां सूपस्थाः सुष्ठु उपतिष्ठत इति तथोक्तः, छागेन अश्विनोः पूजां करोतीत्यर्थः। मेषेण सरस्वत्यै सूपस्था अभवत्। ऋषभेण इन्द्राय सूपस्था अभवत्। वनस्पतिना यूपात्मकेन छागमेषर्षभैरश्व्यादीनामुपस्थानं कृतमिति कुतो विज्ञायते? तत्राह—अश्व्यादयो मेदस्तो वपामारभ्य तान् छागादीनक्षन् अभक्षयन्। पुनः पचता पचतानि, पच्यन्त इति पचतानि पक्वानि, विभक्तेराकारः, 'भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिहर्येभ्योऽतच्' (उ० ३।११०) इत्यतच्प्रत्ययः पचेः। अवदानानि प्रत्यगृभीषत प्रत्यगृह्णन्। पुनश्च ते पुरोडाशैरवीवृधन्त ऐधन्त। अश्विना अश्विनौ सरस्वती सुत्रामा इन्द्रश्च सुरासोमानपुः पीतवन्तः। सुराश्च सोमाश्च सुरासोमास्तान्, सुरामयान् सोमान् वा। पिबतेर्लङि पिबादेशाभावश्छान्दसः। अथवा पातेर्लङि रूपम्, अरक्षन्नित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' (भ० गी० ४।२४) इति श्रीमद्भगवद्गीतारीत्या ब्रह्मणः सार्वात्म्यमत्र प्रतिपाद्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाद्य सूपस्था देवो वनस्पतिरिव येन येनाश्विभ्यां छागेन सरस्वत्यै मेषेणेन्द्राय ऋषभेण अक्षंस्तान् मेदस्तः सुरासोमानपुस्तथा भवानभवद् भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः। सुष्ठु समीपे तिष्ठन्ति ते सूपस्था इति व्याख्यातम्। के च ते कश्च देवेन सार्धं तेषां सम्बन्धः। न च देव इत्यस्य वनस्पतिना सम्बन्धः, हिन्दीव्याख्यानविरोधात्। तत्र दिव्यगुणः पुरुष इत्युक्तम्। वनस्य पतिरिवेत्यपि निर्मूलम्, सादृश्यबोधकपदस्य मूलेऽभावात्। छागस्य दुःखच्छेदकत्वं कथम्? कश्च प्रकृते छागस्योपयोगः? एवमेतादृशमन्यदप्यूह्यम् ॥ ६० ॥

त्वाम॒द्य ऋ॑ष आर्षे॑य ऋषीणां नपादवृणीता॒यं यज॑मानो ब॒हुभ्य॒ आ सङ्ग॑तेभ्य ए॒ष मे॑ दे॒वेषु॒ वसु॒ वार्याय॑क्ष्यत॒ इति॒ ता या दे॒वा दे॑व दाना॒न्यदु॒स्तान्य॑स्मा॒ आ च॒ शास्स्वा च॑ गुरस्वेषि॒तश्च॑ होत॒रसि॑ भद्र॒वाच्या॑य॒ प्रेषि॑तो॒ मानु॑षः सूक्तवा॒काय॑ सू॒क्ता ब्रू॑हि ॥ ६१ ॥

॥ इत्येकविंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—हे मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों के पुत्रों! अथवा यजमान के द्वारा ऋषियों के निमित्त वरण किये गये ऋषियों के पौत्रों! आज यह यजमान बहुत से देवताओं के यजन के निमित्त आप सबका वरण करता है। यह अग्नि देवता वरण करने योग्य धन देवताओं को देने के निमित्त वृत है। हे अग्निदेव, आपने यह जो दान देवताओं को

दिया, उसे आप इस यजमान को दीजिये और दान का उद्योग भी कीजिये। हे होता, तुम स्वस्ति कहने के लिये प्रेरित किये गये हो, मनुष्य होता सूक्त पढ़ने के लिये प्रेरित किया गया है। हे मनुष्य होता, तुम सूक्तों को पढ़ो।

उन्तीसवीं कण्डिका से यहाँ तक के मन्त्रों में दो प्रकार के यज्ञों का वर्णन है—एक दैव और दूसरा मानुष। देवताओं का यज्ञ निरन्तर सदा चलता रहता है। अश्विनीकुमाररूप दिन-रात, वाणीरूप सरस्वती इस जगत् की उत्पत्ति-लय की प्रक्रिया को चलाते हुए ज्योतीरूप तेज को बढ़ाते हैं। इस तेजःस्वरूप इन्द्र की प्रतिदिन वृद्धि होती है और इस यज्ञ की समाप्ति कभी नहीं होती। सारा संसार इस यज्ञ की सामग्री है। इस यज्ञ के मुख्य तीन देवता उक्त तीन पशुओं की पुष्टि से प्रसन्न होते हैं। इन पशुओं के साथ देवताओं का आध्यात्मिक सम्बन्ध है। वे इन पशुओं के शरीर में अधिष्ठाता के रूप से रहते हुए संसार-यज्ञ का निर्वाह करते हैं। देवताओं ने जिस समय जिस पदार्थ से इन्द्र की चिकित्सा कर उसकी इन्द्रियों को सशक्त बनाया, उसी प्रकार उसी पदार्थ से यज्ञ करके मनुष्य होता भी यजमान की सकल इन्द्रियों को बलिष्ठ कर सकता है। मनुष्य होता का यज्ञ देवताओं के सदृश नहीं होता, क्योंकि मनुष्य होता का यज्ञ नियत देश-काल में होता है और इसके निमित्त घृत आदि पदार्थों की आवश्यकता रहती है। इन्हीं की वृद्धि के लिये इन पशुओं का सत्कार करते हुए इनके अधिष्ठात्री देवताओं से इनके हृष्ट-पुष्ट रहने की प्रार्थना की जाती है। यही इस पूरे प्रकरण का अभिप्राय है॥ ६१॥

दैव्यो होताग्निरत्रोच्यते। हे ऋषे मन्त्राणां द्रष्टः! हे आर्षेय यजमानार्षेयैर्व्रियत इत्येवं सम्बोध्यते। अथवा हे आ ऋषेय ऋषिकुलोत्पन्न! हे ऋषीणां ऋत्विजां नपात् पुत्र! अयं यजमानो बहुभ्यः सङ्गतेभ्यो मिलितेभ्यो देवेभ्यस्त्वामेवेति हेतोरा अवृणीत सम्यग् वृतवान्। हेतुमेव दर्शयति—एष इति। एषोऽग्निर्मे मह्यं देवेषु वारि वरीतुं योग्यं वरणीयं वसु धनमायक्ष्यतेऽत्यर्थं दास्यतीत्यभिप्रायेणावृणीतेति सम्बन्धः। दानार्थाद् यजतेर्लृट्। किञ्च, हे देव! अग्ने या यानि ता तानि दानानि देवा अदुर्दत्तवन्तः, तानि दानानि अस्मै यजमानाय आशास्व इच्छ च, तानि यजमानाय दातव्यानीति इच्छेत्यर्थः। आगुरस्व च उद्यच्छ, 'गुरी उद्यमने' दानायोद्यमं कुर्वित्यर्थः। आकारौ चकारौ च भिन्नक्रमौ। हे होतः, त्वमिषितोऽसि प्रेषितोऽसि, प्रेरितोऽसीति यावत्। कस्मै प्रयोजनायेति चेत्, तदाह—भद्रवाच्याय, वक्तुं योग्यं वाच्यं भद्रं शुभं च तद् वाच्यं भद्रवाच्यम्, तस्मै। भद्रं ब्रूहीति प्रेषितोऽसीत्यर्थः। किञ्च, सूक्ता सूक्तानि वक्तुं सूक्तानि त्वं ब्रूहीति सूक्तवाकः, तस्मै। मानुषो होता च प्रेषितोऽस्तीति महीधराचार्यः।

यद्वा हे ऋषे! अतीन्द्रियार्थानां द्रष्टः, अयं यजमानो बहुभ्यः सङ्गतेभ्यो देवेभ्यस्त्वामेवावृणीत। किमर्थमेतत्? एष मे मह्यं देवेषु वारि वरणीयं वसु धनमायक्ष्यते आदास्यते, अयं दातुं समर्थ इति हेतोस्त्वामेवावृणीतेति सम्बन्धः। एवं च या यानि हे देव! दानानि देवा अदुर्दत्तवन्तः, इमान्यस्मै यजमानाय दातव्यानीति ता तान्यस्मै यजमानाय आ च शास्व इच्छ। आ च गुरस्व उद्यच्छ। दानायेषितः प्रेषितश्चासि। हे होतः, भद्रवाच्या भद्रं च वचनं त्वं ब्रूया इति।

अथेदानीं प्रेषितो मानुषो होता सूक्तवाकाय कथं कृत्वा सूक्ता सूक्तानि साधुवचनानि वदेत्युव्वटाचार्यः। हे ऋषे, हे आर्षेय, हे ऋषीणां नपात् पुत्र, अयं यजमानस्त्वामद्य अवृणीत। बहुभ्यो देवेभ्य उपसङ्गतेभ्योऽपि तानपहाय त्वामेव वृतवान्। तत्कस्य हेतोः? एष दैव्यो होता अग्निर्मे मह्यं देवेषु यद्वारि वरणीयं वसु धनमस्ति, तत आयक्ष्यते आदास्यते। तादृशं धनं दातुमयं समर्थ इत्यर्थः। हे देव, तानि यानि दानानि देवा अदुर्दत्तवन्तः, इमान्यस्मै यजमानाय दातव्यानीति तान्यस्मै यजमानाय आ च शास्व आ च गुरस्व। दानायोद्यमं कुरु। हे होतः, भद्रवाच्याय भद्रं शुभं च वचनं त्वं ब्रूयाः। अथेदानीं मानुषो होता प्रेषितः। कथं कृत्वा? सूक्ता सूक्तानि साधुवचनानि ब्रूहि वद इत्याश्वास्येति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—हे ऋषे सर्वद्रष्टः, हे आर्षेय ! ऋषीणामयं ध्येय आर्षेयस्तत्सम्बुद्धौ। ऋषीणां नपात् नपातयति रक्षतीति नपात्, तत्सम्बुद्धौ, रक्षक। अयं यजमानोऽर्चको बहुभ्य आसङ्गतेभ्यो मिलितेभ्यो देवेभ्यो जन्मजन्मान्तरीयपुण्यपरिपाकादद्य त्वामेव अवृणीत वृतवान्। किमर्थमिति चेत्तत्राह—एष भगवान् मे मह्यं देवेष्वपि वारि वरणीयं यत् तद्वसु आयक्ष्यत इति हेतोः। ता तानि या यानि हे देव, देवा दानानि अदुर्दत्तवन्तः, तानि आ चाशास्व इच्छ। आ च गुरस्व, दातुमुद्यमं कुरु। इषितोऽस्मद्भक्त्या प्रेषितः, भद्रवाच्याय भद्रं शुभं च ब्रूयाः। हे मानुषहोतः, सूक्तवाकाय प्रेषितोऽसि यतः, तस्मात् त्वं सूक्तानि ब्रूहि। सर्वतः सम्प्लुतोदकस्थानीये मधुररससमुद्रे यथा वापीकूपतडागादिसम्पादनीयं सर्वं कार्यं सम्पद्यते, तद्वत् परमात्मप्राप्तिरूपे महाफले सर्वाण्येव फलान्तराण्यन्तर्भवन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे ऋषे, आर्षेय ऋषीणां नपात्, यजमानोऽयमद्य बहुभ्यः सङ्गतेभ्यस्त्वामवृणीत। एष देवेषु मे वसु वारि चावृणीत। हे देव, यद्याचक्ष्यते देवाय यानि दानान्यदुः, तानि चास्मै आशास्व। प्रेषितः सन्नागुरस्व च। हे होतरिषितो मानुषो भद्रवाच्याय सूक्तावाकाय सूक्ता ब्रूहीति, तान् प्राप्तवांश्चासि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बहुभ्यः सङ्गतेभ्यो योग्यपुरुषेभ्यो मन्त्रद्रष्टुः प्राप्तव्यताऽसिद्धेः। तथैवान्यदपि सर्वं व्याख्यानमसम्बद्धमेव॥ ६१॥

इति सौत्रामणीयागः सम्पूर्णः।

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदस्य वेदार्थपारिजातभाष्ये एकविंशोऽध्यायः ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

तेजो॑ऽसि शु॒क्रम॒मृत॑मायु॒ष्पा आयु॑र्मे पाहि । दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्या॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्या॒माद॑दे ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—सब प्रकार की कामना वाले राजा को अश्वमेध यज्ञ करना चाहिये । यह यज्ञ फाल्गुन शुक्ल अष्टमी को आरम्भ किया जाता है । चक्रवर्ती राजा ही इसको करके अपने मनोरथ की सिद्धि पा सकता है । इस अध्याय के प्रथम मन्त्र से अध्वर्यु यजमान के कण्ठ में सुवर्ण का निष्क नामक आभूषण बाँधता है । मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

हे सुवर्ण, अग्निसम्बन्धी होने से तुम तेजःस्वरूप हो । अग्नि के अक्षय वीर्य हो और आयु के रक्षक हो । तुम मेरी आयु की रक्षा करो । इसके उपरान्त अध्वर्यु रस्सी लेकर ब्रह्मा से कहे कि मैं घोड़े को बाधूंगा—हे रसना, सविता देवता की आज्ञा में वर्तमान मैं अश्विनीकुमारों की भुजाओं और पूषा देवता के हाथों से तुम्हें ग्रहण करता हूँ ॥ १ ॥

उक्ताः सौत्रामण्या मन्त्राः । इत आरभ्य चतुर्ष्वध्यायेष्वाश्वमेधिका मन्त्रा आम्नाताः । ते व्याख्यायन्ते । तत्र प्रथमेऽनुवाकेऽश्वमेधाङ्गस्याश्वस्य संस्कारका मन्त्रा आम्नाताः । 'राज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य' (का० श्रौ० २०।१।१) । 'अष्टम्यां नवम्यां वा फाल्गुनीशुक्लस्य' (का० श्रौ० २०।१।२) । सर्वकामस्य राज्ञोऽश्वमेधः, फाल्गुनशुक्लाष्टम्यां नवम्यां वारम्भ इति सूत्रद्वयार्थः । 'निष्कं प्रतिमुञ्चन् वाचयति तेजोऽसीति' (का० श्रौ० ३०।१।९) । चतुःसुवर्णनिर्मित आभरणविशेषो निष्कः, तं यजमानकण्ठे प्रतिबध्नन्नध्वर्युस्तेजोऽसीति मन्त्रं पाहीत्यन्तं वाचयतीति सूत्रार्थः । तं च निष्कं प्रातर्होमान्ते पूर्णाहुतिं कृत्वाऽध्वर्यवे दद्यात् । राजशब्दोऽत्राभिषिक्तक्षत्रियपरः, 'राजेत्येतानभिषिक्तानाचक्षते' (ऐ० ब्रा० ८।१४) इति श्रुतेः । प्राप्तराज्याभिषेकस्यैव क्षत्रियस्य राजपदवाच्यत्वमित्यवेष्टयधिकरणे निर्णीतम् । तादृशस्य राज्ञः सर्वकामस्याश्वमेधः । सर्वकामोऽत्र मुमुक्षुरिति कर्काचार्यः, मोक्षप्राप्तावेव सर्वकामप्राप्तेः सम्भवात्, उपासनासहितस्याश्वमेधानुष्ठाने ब्रह्मलोकप्राप्तिक्रमेण ब्रह्मात्मसाक्षात्कारक्रमेण मोक्षोपपत्तेः । राजग्रहणाच्च ब्राह्मणवैश्ययोर्नात्राधिकारः, क्षत्रियत्वजातिविशिष्टस्य प्राप्तराज्याभिषेकस्यैव तत्राधिकारोक्तेः । 'ग्रीष्म एके' (का० श्रौ० २०।१।३) । ज्येष्ठाषाढयोरन्तराले शुक्लाष्टम्यां नवम्यां वा तदारम्भ इति सूत्रार्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'ब्रह्मौदनं पचति । रेत एव तद्धत्ते यदाज्यमुच्छिष्यते तेन रशनामभ्यञ्ज्यादत्ते तेजो वा आज्यं प्राजापत्योऽश्वः प्रजापतिमेव तेजसा समर्धयत्यपूतो वा एषोऽमेध्यो यदश्वः' (श० १३।१।१।१) । 'प्रजापतिरकामयत । सर्वान् कामान् आप्नुयाम्' (१३।४।१।१) । तदर्थं ब्रह्मौदनपाकः । ब्रह्मभ्य ऋत्विग्भ्यो देय ओदनो ब्रह्मौदनः, तमध्वर्युः पचति । एतेन ब्रह्मौदनेन ऋगादिप्रयोगसामर्थ्यात्मकं कुर्वन्ति । यदाज्यं ब्रह्मौदन ऋत्विग्भिर्भुज्यमाने परिशिष्यते, तेनोत्तरेद्युः पौष्ण्या इष्टेरनन्तरमश्वाभिधानिकां रशनां तेनाज्यशेषेणाभ्यज्य देवस्य त्वेत्यादत्ते । प्राजापत्योऽश्वः । तेन रशनाद्वारेण प्रजापतिमेव तेजसा समर्धयति । अपूतश्चामेध्यश्चाश्वो भवति, प्राग्दर्भरशनासम्पर्कादिति शेषः । 'दर्भमयी रशना भवति । पवित्रं वै दर्भाः पुनात्येवैनं पूतमेवैनं मेध्यमालभते' (श० १३।१।१।२) । 'अश्वस्य वा आलब्धस्य रेत उदक्रामत् । तत्सुवर्णꣳ हिरण्यमभवद्यत्सुवर्णꣳ हिरण्यं ददात्यश्वमेव रेतसा समर्धयति' (श० १३।१।१।३) । प्रसन्नं ब्राह्मणम् ।

इतश्चत्वारोऽध्याया अश्वमेधमन्त्राः। तेषां प्रजापतिर्ऋषिः। तेजोऽसीत्यस्य सौवर्णं निष्कं देवता प्राजापत्यानुष्टुप् छन्दः। हे निष्क ! त्वं तेजोऽसि, आग्नेयत्वात् सुवर्णस्य। शुक्रमग्नेर्वीर्यं चासि, 'अग्निर्ह वाऽपोऽभिदध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति ताः सम्बभूव तासु रेतः प्रासिञ्चत्तद्धिरण्यमभवत्' (श० २।१।१।५) इति श्रुतेः। अमृतं चासि, वह्नितापेऽनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वात्, दानेन अमृतत्वप्रदानाच्च, [1]'हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते' इति श्रुतेः। तथा आयुष्पा असि। आयुः पातीति आयुष्पाः, आयुषो रक्षिता। अतो याचे मे मम आयुः पाहि रक्ष। अत्र यज्ञसमाप्तिपर्यन्तमायुः प्रार्थ्यते। 'देवस्य त्वेति रशनामादाय ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामीत्याह' (का० श्रौ० २०।१।२५)। देवस्य त्वेत्यादिना सरमारपन्तीत्यन्तेन मन्त्रेण त्रयोदशारत्निं दर्भमयीं द्विगुणामश्वबन्धनार्थां रशनां रज्जूमादाय 'ब्रह्मन्नश्वम्' इत्यारभ्य 'तेन राध्यासम्' (वा० सं० २२।४) इत्यन्तं मन्त्रं ब्रह्माणं प्रत्याहाध्वर्युरिति सूत्रार्थः। सवितुर्देवस्य प्रसवेऽनुज्ञायां त्वामश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे।

अध्यात्मपक्षे—ज्योतिर्मयं सुवर्णं तत्त्वतः पश्यन्नाह—तेजोऽसि सर्वभासकं चिज्ज्योतिरात्मकमसि। शुक्रमसि दीप्तिमदसि। अमृतमसि, जन्मादिषड्भावविकारशून्यत्वात्। आयुष्पा असि, सर्वत्र सत्तास्फूर्तिप्रदत्वात्। आयुर्मे पाहि। 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥' (तै० उ० २।६) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वां त्वदर्थं हविराददे।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्नहं सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्धारणाकर्षणाभ्यामिव बाहुभ्यां पूष्णः किरणैरिव हस्ताभ्यां यं त्वाददे, यस्त्वममृतं शुक्रं तेज इत्यायुष्पा असि, स त्वं स्वं दीर्घायुः कृत्वा मे आयुः पाहि' इति, तदपि न मनोज्ञम्, जीवमात्रे विद्युति तेजस्त्वानुपपत्तेः। अमृतत्वादिकं स्वरूपेण त्वद्रीत्या नोपपद्यते, कर्तृत्वेन विकारापत्त्या विनाशापत्तेः। न चायुषः पालकत्वमपि सम्भवति। यः स्वस्याप्यायुषो रक्षणेऽसमर्थः सोऽन्येषामायुष्पा भवेदिति कथङ्कारं सम्भवति ? तथैव आकर्षणविकर्षणयोर्धारणाकर्षणयोर्वा बाहुत्वारोपः, किरणे हस्तत्वारोपोऽप्यारोप एव, मुख्यार्थासम्भव एव तथात्वात्॥ १॥

इ॒माम॑गृभ्णन् रश॒नामृ॒तस्य॒ पूर्व॒ आयु॑षि वि॒दथे॑षु क॒व्या।
सा नो॑ अ॒स्मिन् सु॒त आ ब॑भूव ऋ॒तस्य॒ साम॑न् स॒रमा॒रप॑न्ती॥ २॥

मन्त्रार्थ—रसना हाथ में लेकर अध्वर्यु कहे कि यज्ञानुष्ठान में कुशल प्रजापति ने यज्ञ के आरम्भ काल में इस रसना को ग्रहण किया था। वह रसना यज्ञारम्भ में यज्ञ के फैलाव को बताती हुई हमारे लिये इस यज्ञ में प्रकट हुई है॥ २॥

यज्ञपुरुषदृष्टा रशनादेवत्या त्रिष्टुप्। नोऽस्माकमस्मिन् सुते यज्ञे, सवनं सुतं यज्ञः, तस्मिन् भावे क्तः। सा रशना आबभूव आविर्बभूव उत्पन्ना। सा केत्याह—विदथेष्वित्यादि। विदथेषु विद्यते लभ्यते स्वर्गो यैस्ते विदथा यज्ञाः, 'रुदिविदिभ्यां ङित्' (उ० ३।११५) इति विदेरथः प्रत्ययः, तेषु। कव्याः कवयः। सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना विभक्तेर्ड्यादेशः। अर्थाद् यज्ञविधौ कुशला विश्वस्रष्टारः प्रजापत्यादय ऋतस्य यज्ञस्य पूर्वे प्रथमे आयुषि प्रारम्भे यामिमां रशनामगृभ्णन् अगृह्णन् गृहीतवन्तः, ते हि सृष्टिं यज्ञादसृजन्त। या पूर्वैर्गृहीता रशना सात्रोद्भूतेत्यर्थः। कीदृशी सा रशना ? ऋतस्य यज्ञस्य सामन् साम्नि प्रारम्भे सरं प्रसरं यज्ञप्रसारम् आरपन्ती आलपन्ती, यज्ञप्रसारो भवत्विति वदन्तीवेत्यर्थः।

---

१. इयं श्रुतिरनुपलब्धमूला।

अत्र ब्राह्मणम्—'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते यजुष्कृत्यै यज्ञस्य समृद्ध्यै द्वादशारत्नि-र्भवति' (श० १३।१।२।१)।

अध्यात्मपक्षे—यामिमां रशनामिव कुण्डलिनीरूपां मूलाधारादाब्रह्मबिलं विलसन्तीं बिसतन्तुतनीयसीं विद्युत्पुञ्जपिञ्जरां तेजोदण्डरूपामृतस्योपसनालक्षणस्य पूर्वे प्रारम्भे कव्याः कुशला अगृभ्णन् गृहीतवन्तो ध्यानेन साक्षात्कृतवन्तः, सा नोऽस्माकं सुते यज्ञे उपासनालक्षणे आबभूव अभिव्यक्तिमुपगता। कीदृशी सा ? ऋतस्य ब्रह्मणः सामन् सम्मनने प्रारम्भे, सम्पूर्वकस्य मन्यतेः प्रारम्भार्थकत्वात्, सरं प्रसरमारपन्ती प्राप्नुवती।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, या ऋतस्य सत्यकारणस्य सरं प्राप्तियोग्यमारपन्ती आबभूव, यामिमामृतस्य रशनां विदथेषु पूर्व आयुषि कव्या अगृभ्णन्, सा अस्मिन् अन्ने सुते सामन्नाबभूव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बुद्धेर्वक्तृत्वायोगात्। न च शब्दोच्चारणस्य बुद्धिपूर्वकत्वेन तस्या वक्तृत्वमिति वाच्यम्, शब्दानां नित्यत्वेन तत्पूर्वकत्वायोगात्। न च पदवाक्यादीनां पौर्वापर्यमूलकत्वेन तत्त्वमिति वाच्यम्, तथात्वे सर्ववाक्यादीनां तथात्वेन सत्यकारणस्य प्राप्तियोग्यं शब्दं वदन्तीति विशिष्य हेतुत्वानुपपत्तेः। यज्ञादिषु प्राणधारयितृत्वमपि चिन्त्यमेव, कार्यमात्रेऽपि तथात्वे विशेषानुपपत्तेः। एवमन्यदप्यूह्यम्। सामन्नन्ते कर्मणीत्यपि यत्किञ्चित्, कार्यपूर्ति-कार्यनाशयोरैक्यायोगात् ॥ २ ॥

अभिधा असि भुवनमसि यन्तासि धर्ता। स त्वमग्निं वैश्वानरꣳ सप्रथसं गच्छ स्वाहाकृतः ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—**अश्व को बाँधते हुए अध्वर्यु कहे कि हे अश्व! तुम स्तुति के योग्य हो, सबके आश्रय-स्थान हो, नियन्ता और जगत् के धर्ता हो, अर्थात् पशुओं में प्रसिद्ध और सवारी देने वाले हो। तुम स्वाहाकार युक्त सबके हितकारी, संसार में सर्वत्र व्याप्त अग्नि के तेज को प्राप्त करो अथवा अग्नि देवता के अधिष्ठातृत्व को प्राप्त करो ॥ ३ ॥**

'तं बधानेति ब्रह्मानुज्ञातोऽभिधा असीति बध्नात्यश्वम्' (का० श्रौ० २०।१।२६)। 'तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहि' (वा० सं० २२।४) इति मन्त्रेण ब्रह्मणानुज्ञातोऽध्वर्युः 'अभिधा असि भुवनमसि यन्तासि धर्ता। स त्वमग्निं वैश्वानरꣳ सप्रथसं गच्छ स्वाहाकृतः। स्वगा त्वा देवेभ्यः प्रजापतये' (२२।३-४) इति मन्त्रेण रशनयाश्वं बध्नातीति सूत्रार्थः। लिङ्गोक्तदैवतानि यजूंषि। हे अश्व! यस्त्वम् अभिधा असि। अभिधीयते स्तूयत इत्यभिधाः। भुवनमसि सर्वेषामाश्रयश्चासि, प्रजापतिरूपत्वात्। यन्तासि यच्छतीति यन्ता नियमनकर्ता चासि। धर्ता जगद्धारयिता चासि, प्रजापतिरूपत्वादेवेत्यर्थः। स एवंविधस्त्वं स्वाहाकृतः स्वाहाकारेण कृतो हुतः सन् अग्निं गच्छ प्राप्नुहि। कीदृशमग्निम् ? वैश्वानरं विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितम्, सप्रथसं प्रथनं प्रथो विस्तारः, तत्सहितम्। प्रथतेः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन्प्रत्ययः। यद्वा सप्रथाः सर्वतस्तिर्यगूर्ध्वमधश्च प्रथत इति सप्रथाः, तम्। सर्वतःशब्दस्य सादेशः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अभिधा असीति। तस्मादश्वमेधयाजी सर्वा दिशोऽभिजयति भुवनमसीति भुवनं तज्जयति यन्तासि धर्तेति यन्तारमेवैनं धर्तारं करोति स त्वमग्निं वैश्वानरमित्यग्निमेवैनं वैश्वानरं गमयति सप्रथसं गच्छेति प्रजयैवैनं पशुभिः प्रथयति स्वाहाकृत इति वषट्कार एवास्यैष स्वगा त्वा देवेभ्य इति' (श० १३।१।२।३)।

अध्यात्मपक्षे—अश्वमेधे प्रजापतिदेवताकोऽश्वः प्रजापतिरूपेण चिन्त्यः। 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' इति बृहदारण्यके। प्राजापत्यत्वादश्वस्य उषसः शिरःस्थानीयत्वम्। तेन प्रजापतिपरतया सर्वाणीमानि

विशेषणानि सङ्गमनीयानि। हे समष्टिजीवरूपप्रजापते ! त्वमभिधाः स्तुत्योऽसि। भुवनमसि भुवनवत् सर्वाधारभूतोऽसि। यन्ता सर्वनियन्ता शासकः परमेश्वरोऽसि। स त्वं हे प्रजापते ! स्वाहाकृतः स्वाहाकारेण हुतः सन्, अथवा स्वाहाकृतः सर्वस्वात्मनिवेदनेन समर्पितः सन् अग्निमधिष्ठानभूतं परमात्मानं गच्छ प्राप्नुहि। कीदृशमग्निम् ? वैश्वानरं विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितं सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन सर्वहितकरं सप्रथसमनन्तानन्तविस्तारयुक्तम्, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वं भुवनमुदकमिवासि, अभिधा योऽभिदधाति सोऽसि। यन्तासि धर्तासि त्वं स्वाहाकृतः सप्रथसं वैश्वानरमग्निं गच्छ जानीहि' इति, तदपि मन्दम्, जीवस्य विदुषो निरपेक्षयन्तृत्वायोगात्। न च सोऽग्निं गच्छति, चेतनस्य जडत्वायोगात्। न चाग्निज्ञानमात्रं विवक्षितम्, अपुरुषार्थत्वात् ॥ ३ ॥

स्वगा त्वा देवेभ्यः प्रजापतये ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्यासम्। तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहि ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! देवताओं के और प्रजापति के निमित्त तुमको स्वयंगामी बनाता हूँ। अध्वर्यु ब्रह्मा से आज्ञा माँगे कि हे ब्रह्मन् ! देवताओं और प्रजापति की प्रसन्नता के लिये घोड़े को बाँधूगा। ब्रह्मा आज्ञा दे कि हे अध्वर्यो, उसको देवताओं को और विशेष कर प्रजापति की प्रसन्नता के लिये बाँधो, इसको बाँध कर तुम सिद्धि प्राप्त करो ॥ ४ ॥

हे अश्व, त्वा त्वां देवेभ्यः प्रजापतये च स्वगा, करोमीति शेषः। स्वेनैव गच्छतीति स्वगा डाजन्तः, विभक्तेर्डादेशो वा, स्वयंगामिनमित्यर्थः। 'ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि' इति यजुषो ब्रह्मा देवता। तथा चाध्वयुर्ब्रह्माणमामन्त्रयते। हे ब्रह्मन्, अश्वं भन्त्स्यामि, अश्वबन्धनं करिष्यामीति यावत्। बध्नातेर्लृटि स्यप्रत्यये 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' (पा० सू० ८।२।३७) इति भष्भावे रूपम्। किमर्थमिति प्रश्ने उत्तरमाह—देवेभ्यः प्रजापतये च, तेनाश्वबन्धनेनाहं राध्यासम्, 'राध संसिद्धौ', कर्मसमाप्तिरूपां सिद्धिं प्राप्नुयाम्। आशीर्लिङ्। ब्रह्मा प्रसौति—तं बधानेत्यादि। अध्वर्युदेवत्यं यजुः। हे अध्वर्यो, यं बद्धुमिच्छसि तमश्वं बधान। किमर्थम् ? देवेभ्यः प्रजापतये च तेनाश्वबन्धनेन कर्मणा राध्नुहि, यज्ञसमाप्तिलक्षणां सिद्धिं प्राप्नुहि। राधेर्लोटि स्वादित्वात् श्नुः प्रत्ययः।

अत्र ब्राह्मणम्—'स्वगा त्वा देवेभ्य इति देवेभ्य एवैनꣳ स्वगाकरोति प्रजापतय इति प्राजापत्योऽश्वः स्वयैवैनं देवतया समर्धयति' (श० १३।१।२।३)।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मन् ब्रह्मरूप जीवात्मन्, त्वा त्वां स्वगाकरोमि, स्वात्मनिष्ठं करोमीति यावत्। देवेभ्यः प्रजापतये त्वां भन्त्स्यामि श्रौतस्मार्तादिधर्मानुष्ठाननियमेन त्वां बद्धं नियन्त्रितं करोमि। तेन बन्धनेनाहं राध्यासं भगवत्साक्षात्काररूपां सत्त्वशुद्धिलक्षणां वा सिद्धिं प्राप्नुयाम्। गुरुरनुजानाति तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये च तत्तद्भावप्राप्त्यर्थं बन्धनेन राध्नुहि सिद्धिं प्राप्नुहि।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मन्नहं त्वा स्वगाकरोमि देवेभ्यः प्रजापतयेऽर्थाय भन्त्स्यामि तेन देवेभ्यः प्रजापतये च राध्नुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वं प्रति स्वगमनासिद्धेः, कर्मकर्तृविरोधात्, परसमवेतक्रियाफलशालिन एव कर्मत्वात्, अश्वस्य बृहदुत्तमगुणार्थतायास्तद्बन्धनस्य चासिद्धेः। तस्य देवप्रजापत्यर्थतापि चिन्त्यैव ॥ ४ ॥

प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वायवे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि। यो अर्वन्तं जिघांसति तमभ्यमीति वरुणः परो मर्तः परः श्वा ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—कूप आदि के स्थिर जल के समीप जाकर अध्वर्यु अश्व का प्रोक्षण करे। हे अश्व! प्रजापति के प्रिय पात्र तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। इससे अश्व वीर्यवान् बनता है। इन्द्र और अग्नि देवता के तुम प्रिय हो, तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। इससे अश्व में ओज आता है। तुम वायु के प्रिय हो, वायु की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। इससे अश्व में वेग आता है। विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। इससे अश्व में यश का आधान होता है। सब देवताओं की प्रीति के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। इससे सब देवताओं का अश्व में आवाहन होता है। अध्वर्यु यजमान से कहलावें कि जो शत्रु वेगवान् अश्व को मारना चाहता है, वरुण उसको मारें। कुक्कुर को बेंत की चटाई पर रखकर घोड़े के नीचे तैरावे और कहे कि इससे घोड़े को मारने की इच्छा वाला शत्रु तिरस्कृत हुआ। श्वान के समान तुच्छ ताड़न के अधिकारी शत्रु का तिरस्कार किया गया ॥ ५ ॥

'स्थावरा अपो गत्वा प्रजापतये त्वेति प्रोक्षत्यश्वं प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २०।१।३५)। ततोऽध्वर्युः स्थावराः, तिष्ठन्ति तद्धर्म इति स्थावराः, अवहनशीलास्तडागादिस्थाः, 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' (पा० सू० ३।२।१७५) इति वरचि रूपसिद्धिः, ता अपो गत्वा ताभिरद्भिः पञ्चमन्त्रैः प्रतिमन्त्रमश्वं प्रोक्षतीति सूत्रार्थः। लिङ्गोक्तदेवत्यानि पञ्च यजूंषि। हे अश्व, प्रजापतये जुष्टं प्रीत्या सेवितं त्वा त्वां प्रोक्षामि। अनेन प्रोक्षणेन प्रजापतेरिव अश्वे वीर्यं दधाति, 'स प्रोक्षति। प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति प्रजापतिर्वै देवानां वीर्यवत्तमो वीर्यमेवास्मिन् दधाति तस्मादश्वः पशूनां वीर्यवत्तमः' (श० १३।१।२।५) इति श्रुतेः। इन्द्राग्निभ्यां जुष्टं त्वां प्रोक्षामीत्यनेनेन्द्राग्न्योरिवाश्वे ओजो दधाति, 'इन्द्राग्नी वै देवानामोजस्वितमा ओज एवास्मिन् दधाति तस्मादश्वः पशूनामोजस्वितमः' (श० १३।१।२।६) इति श्रुतेः। 'वायवे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि' इत्यनेन वायोरिवाश्वे वेगं दधाति, 'वायुर्वै देवानामाशिष्ठो जवमेवास्मिन् दधाति तस्मादश्वः पशूनामाशिष्ठः' (१३।१।२।७)। आशिष्ठो वेगवत्तरः। अतिशयेन आशुः आशिष्ठः। विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामीत्यनेनाश्वे यशो दधाति, 'तस्मादश्वः पशूनां यशस्वितमः' (श० १३।१।२।८) इति श्रुतेः। सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामीत्यनेन सर्वा देवता अश्वे दधाति, 'सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामीति सर्वा एवास्मिन् देवता अन्वायातयति' (श० १३।१।२।९) इति श्रुतेः। 'यो अर्वन्तमिति वाचयति' (का० श्रौ० २०।२।१)। 'आयोगवमाह श्वानं चतुरक्षमभिमन्यस्वेति' (का० श्रौ० २०।१।३६)। शूद्राद्वैश्यायां जात आयोगवः। तेन पुंसा अध्वर्युप्रेरितेन चतुर्नेत्रे शुनि चतुरक्षस्य शुनोऽभावाद् यस्याक्षिसमीपे पौण्ड्राणि स गुणवृत्त्या चतुरक्ष इति कर्कः। शुनश्चतुरक्षत्वं गर्तचतुष्टययोगेनेति याज्ञिकाः। खादिरमुसलेन हते सति योऽर्वन्तमित्यादि वरुण इत्यन्तं मन्त्रं यजमानं वाचयतीति सूत्रार्थः। गायत्री। पूर्वार्धेऽश्वस्तुतिः, परेऽर्धे लिङ्गोक्तदेवता। योऽर्वन्तमश्वं जिघांसति हन्तुमिच्छति द्रुह्यति, वरुणस्तमश्वं जिघांसन्तमभ्यमीति हिनस्ति, 'अम् हिंसायाम्' एतस्य लटि 'तुरुस्तुशम्यमः' (पा० सू० ७।३।९५) इति ईप्रत्ययः। 'वेतसकटेनाधोऽश्वं प्लावयति परो मर्त इति' (का० श्रौ० २०।२।२)। वेतसनिर्मितेन कटेन मृतं श्वानमश्वाऽधो जले तारयतीति सूत्रार्थः। मर्तोऽश्वं जिघांसुर्मनुष्यः परः पराभूतोऽधस्पदं नीतः। श्वा च परः पराकृतः। श्वरूपेणाश्वहन्तेव पराकृत इत्यर्थः। 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥' (ई० उ० ३) इति मन्त्रवर्णात्।

अत्र ब्राह्मणम् 'ईश्वरो वा एषः। आर्तिमार्तोऽर्यो ब्रह्मणे देवेभ्योऽप्रति प्रोच्याश्वं बध्नाति ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्यासमिति ब्रह्माणमामन्त्रयते ब्रह्मण एवैनं प्रति प्रोच्य बध्नाति नार्तिमार्छति तं बधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहीति ब्रह्मा प्रसौति स्वयैवैनं देवतया समर्धयति' (श० १३।१।२।४) इत्यादिब्राह्मणवाक्यैः पूर्वोक्तः एवार्थो व्यज्यते।

अध्यात्मपक्षे— हे गतिशील जीवात्मन्, प्रजापतये त्वां देवेभ्यस्त्वां प्रोक्षामि प्रोक्षणेन संस्करोमि। तेन त्वयि प्रजापतेरिव वीर्यं दधामि इन्द्राग्निभ्यां त्वां प्रोक्षामि। इन्द्राग्निभ्यां प्रोक्षणेन तयोरेवौजो दधामि। अन्यदपि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु 'हे विद्वन्, यः परो वरुणो मर्तोऽर्वन्तं जिघांसति ताडयति, यः परः श्वेव वर्तते यस्तं निवारयति, तं प्रजापतये जुष्टं त्वां प्रोक्षामि। इन्द्राग्निभ्यां जुष्टं त्वां प्रोक्षामि। वायवे त्वां जुष्टं प्रोक्षामि। विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वां जुष्टं प्रोक्षामि। सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुष्टं त्वां प्रोक्षामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः। यः श्रेष्ठः स किमर्थमश्वं ताडयति ? किमर्थं च तत्ताडनेन सर्वतः प्राप्नोति। किं प्राप्नोतीत्यप्यस्पष्टमेव। श्वेवेति गौणार्थग्रहणमपि निर्मूलमेव। यः परः श्वेव वर्तते कुत्सितकर्मा यस्तं रोधयति तं त्वा जुष्टं प्रोक्षामीत्यपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे रोधनार्थकपदाभावात्। सिञ्चनमपि किमर्थम् ? किं तेन सिद्धचतीत्यनुक्तेः॥ ५॥

अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहा॒ऽपां मोदा॑य॒ स्वाहा॑ सवि॒त्रे स्वाहा॑ वा॒यवे॒ स्वाहा॒ विष्ण॑वे॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॒ बृह॒स्पत॑ये॒ स्वाहा॑ मि॒त्राय॒ स्वाहा॒ वरु॑णाय॒ स्वाहा॑॥ ६॥

मन्त्रार्थ— जल के समीप से अश्व को अग्नि के समीप लाकर अध्वर्यु इन मन्त्रों से घृत की आहुति दे—हम सोम को हवि अर्पित करते हैं, जल के आमोदक देवताओं को हवि देते हैं, सविता देवता को आहुति देते हैं, वायु देवता को, विष्णु देवता को, इन्द्र देवता को और बृहस्पति देवता को आहुति देते हैं। मित्र देवता और वरुण देवता के निमित्त यह हवि अर्पित की जाती है। इन सब देवताओं को इस अश्व की रक्षा के निमित्त आहुति दी जाती है॥ ६॥

अग्निसमीपमानीयाग्नये स्वाहेति जुहोत्यनुवाकेन प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २०।२।३) स्थावराद्भ्योऽद्भ्यः सकाशादश्वमग्निसमीपमानीयाग्नये स्वाहेत्येककण्डिकात्मकेनानुवाकेन प्रतिमन्त्रं सकृद् गृहीत्वा जुह्वा स्तोकीयसंज्ञा दशाज्याहुतीर्जुहुयादिति सूत्रार्थः। 'सहस्रं वावर्तम्' (का० श्रौ० २२।२।४) यद्वा शतकृत्योऽनुवाकमावर्त्य सहस्रमाज्याहुतीर्जुहुयादिति सूत्रार्थः। दश यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। अग्नये स्वाहा, अङ्गतीत्यग्निः, तस्मै सुहुतमस्तु। सोमाय स्वाहा, सूतेऽमृतमिति सोमः, 'अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्' (उ० १।१४०) इति साधुः, तस्मै। अपां जलानां मोदाय मोदयति हर्षयतीति मोदः, 'मुद हर्षे' भौवादिकस्य ण्यन्तस्य, तस्मै स्वाहा। सवित्रे स्वाहा, सुवतीति सविता तस्मै। वायवे स्वाहा, वातीति वायुस्तस्मै। विष्णवे स्वाहा, वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुस्तस्मै। इन्द्राय स्वाहा, इन्दतीतीन्द्रस्तस्मै। बृहस्पतये स्वाहा, बृहतां वेदानां पतिर्बृहस्पतिस्तस्मै। मित्राय स्वाहा, मिद्यति स्निह्यतीति मित्रस्तस्मै। वरुणाय स्वाहा, वृणोति भजते भक्तमिति वरुणस्तस्मै। एतेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा हविर्दत्तं भवतु। एताभिराहुतिभिरेतेभ्यो दश देवेभ्योऽश्वं ददाति।

अत्र ब्राह्मणम्—'यथा वै हविषो हुतस्य स्कन्देत्। एवमेतत्पशोः स्कन्दति यन्निक्तमनालब्धमुत्सृजन्ति यत्स्तोकीया जुहोति सर्वहुतमेवैनं जुहोत्यस्कन्दायास्कन्नꣳ हि तद्यद्धुतस्य स्कन्दति सहस्रं जुहोति सहस्रसम्मितो वै स्वर्गो लोकः स्वर्गस्य लोकस्याभिजित्यै' (श० १३।१।३।१)। अहुतस्य हविषः स्कन्दनेऽवश्यं प्रतिक्रियते,

एवमेतत्। अश्वस्य पशोः स्कन्दति। निक्तं प्रक्षालितमनालब्धं पोषणाय त्वचमुत्सृजन्ति। तत्र कः प्रतीकारः इत्यपेक्षिते आह—यत्स्तोकीया जुहोतीति। स्तोकमानां प्रस्रवणबिन्दूनां निष्क्रयणतया सम्बन्धिनीराहुतीर्जुहोति। सर्वहुतमेव एनमश्वं जुहोत्यस्कन्दाय हविषोऽविप्रणाशाय। अस्कन्नं हि तद्यस्य हुतस्य स्कन्दति। एताभिश्च निष्क्रयणीभिराहुतिभिस्तद्धुतमेव भवतीत्यभिप्रायः। सहस्रं जुहोत्यग्नये स्वाहेत्येता दशाहुतीः शतकृत्व आवृत्ता जुहोति, तथा जुहोति यथा आवृत्त्या सहस्रं भवतीत्यर्थः। सहस्रसम्मितो वै स्वर्गो लोक इति। गायत्रीरात्रे गोसहस्रं प्रकृत्याह—'यावदस्य सहस्रस्योत्तरा गौर्गतिप्रतिष्ठा भवति तावदस्माल्लोकादसौ लोक इत्येवं सहस्र-सम्मितः स्वर्गलोकः' इति। 'तदाहुः। यन्मिता जुहुयात् परिमितमवरुन्धीतेत्यमिता जुहोत्यपरिमितस्यैवावरुद्ध्या उवाच ह प्रजापतिः स्तोकीयासु वा अहमश्वमेधꣳ सꣳस्थापयामि तेन सꣳस्थितेनैवात ऊर्ध्वं चरामीति' (श० १३।१।३।२)। अमिता जुहोतीति कल्पान्तरम्। स्तोकीयासु वा अहमिति। सर्वेभ्योऽश्व आलभ्यत इति तेषां निष्क्रयणीभिराहुतिभिः संस्थापित एवाश्वमेधो भवतीत्यभिप्रायः। अथ सर्वाभ्यो वै देवताभ्योऽश्व आलभ्यते। एतावन्तश्च सर्वे देवा यावन्तोऽग्न्यादयः, तेभ्यो हुतः संस्थापित एव भवतीति। 'अग्नये स्वाहेति। अग्नय एवैनं जुहोति सोमाय स्वाहेति सोमायैवैनं जुहोत्यपां मोदाय स्वाहेत्यद्भ्य एवैनं जुहोति सवित्रे स्वाहेति सवित्र एवैनं जुहोति वायवे स्वाहेति वायव एवैनं जुहोति विष्णवे स्वाहेति विष्णव एवैनं जुहोतीन्द्राय स्वाहेतीन्द्रायैवैनं जुहोति बृहस्पतये स्वाहेति बृहस्पतय एवैनं जुहोति मित्राय स्वाहेति मित्रायैवैनं जुहोति वरुणाय स्वाहेति वरुणायै-वैनं जुहोत्येतावन्तो वै सर्वे देवास्तेभ्य एवैनं जुहोति पराचीर्जुहोति पराङिव वै स्वर्गो लोकः स्वर्गस्य लोकस्याभि-जित्यै' (श० १३।१।३।३)। अग्न्यादिभ्य आज्याहुत्या न केवलमाज्यं जुहोति, किन्त्वेनमश्वमेव जुहोति। आवृत्त्या पराचीः, अनावृत्ता इति यावत्। सकृदेव दशैता आहुतीर्जुहुयादिति कल्पान्तरम्। पराङ् स्वर्गो लोक इति परतः श्रेय इत्यभिप्रायः।

'ईश्वरो वा एषः। पराङ् प्रदघोऽर्यः पराचीराहुतीर्जुहोति पुनरावर्ततेऽस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठत्येताꣳ ह वाव स यज्ञस्य सꣳस्थितिमुवाचास्कन्दायास्कन्नꣳ हि तद्यद्धुतस्य स्कन्दति' (श० १३।१।३।४) इति चतुर्थ्या कण्डिकया आवृत्तिपक्षस्य निन्दया आवृत्तिमत्तां यज्ञस्य संस्थितिं स्तोकीयास्वाह—ताः पराचीरिति। 'यथा वै हविषो हुतस्य स्कन्देत्। एवमेतत् पशो स्कन्दति यत्प्रोक्षितमनालब्धमुत्सृजन्ति यद्रूपाणि जुहोति सर्वहुतमेवैनं जुहोत्यस्कन्दायास्कन्नꣳ हि तद्यद्धुतस्य स्कन्दति हिङ्काराय स्वाहा हिङ्कृताय स्वाहेत्येतानि वा अश्वस्य रूपाणि तान्येवावरुन्धे' (श० १३।१।३।५)। यथा वै हविष इति चतसृभिरेताभिः कण्डिकाभिरश्वरूपाणां हिङ्कारादीनां निष्क्रमणात्मिका रूपाख्या आहुतय उच्यन्ते, ता एवात्र प्रक्रम्या इति वक्ष्यन्ते। 'तदाहुः। अनाहुतिर्वै रूपाणि नैता होतव्या इत्यथो खल्वाहुरत्र वा अश्वमेधः सन्तिष्ठते यद्रूपाणि जुहोति होतव्या एवेति बहिर्धा वा एतमायतनात् करोति भ्रातृव्यमस्मै जनयति यस्यानायतनेऽ-न्यत्राग्नेराहुतिर्जुहोति' (श० १३।१।३।६)। यस्यानायतने आहुतिर्जुहोतीति। किं पुनस्तदायतनम्? अन्यत्राग्ने-रिति। अन्वाहार्यपचने वा अश्वपदे वा परिलिखिते।

अध्यात्मपक्षे—अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहेत्यादिभिस्तत्तद्भावापन्नाय परमात्मन एव स्वात्म-निवेदनमुच्यते।

दयानन्दस्तु—'यदि मनुष्या अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा····वरुणाय स्वाहा क्रियेरन्, तर्हि किं किं सुखं न प्राप्येत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाहापदस्य तदर्थत्वे मानाभावात्, उत्तमक्रियायाश्चानिरूपणात्, निष्प्रमाणा-ध्याहारमूलकत्वाच्च ॥ ६ ॥

हिङ्काराय स्वाहा हिङ्कृताय स्वाहा क्रन्दते स्वाहावक्रन्दाय स्वाहा प्रोथते स्वाहा प्रप्रोथाय स्वाहा गन्धाय स्वाहा घ्राताय स्वाहा निविष्टाय स्वाहोपविष्टाय स्वाहा सन्दिताय स्वाहा वल्गते स्वाहासीनाय स्वाहा शयानाय स्वाहा स्वपते स्वाहा जाग्रते स्वाहा कूजते स्वाहा प्रबुद्धाय स्वाहा विजृम्भमाणाय स्वाहा विचृताय स्वाहा सᳬहानाय स्वाहोपस्थिताय स्वाहायनाय स्वाहा प्रायणाय स्वाहा ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ— दक्षिणाग्नि में प्रक्रम नामक ४९ आहुतियाँ देते हुए अध्वर्यु कहता है—इस अश्व का हिंकार हमारे अनुकूल हो, हे अग्निदेव इसके लिये आपको हवि देते हैं। **शब्द करते हुए घोड़े की अनुकूलता के लिये, नीचा शब्द करने वाले, मुंह से फूत्कार करने वाले, अपने मुंह को हिलाने वाले, वस्तुओं को सूंघने वाले, बैठने की चेष्टा करने वाले, स्थिर खड़ा रहने वाले, सम्यक् बन्धन वाले, चलते हुए, बैठते हुए, लेटे हुए, सोये हुए, जागते हुए, शब्द करते हुए, ज्ञान युक्त, जम्हाई लेते हुए, विशेष दीप्तिमान्, संगत शरीर वाले, हमारे सामने उपस्थित, विशेष ज्ञान सम्पन्न और अतिगमन करने वाले अश्व के निमित्त हम आपको हवि अर्पित करते हैं ॥ ७ ॥**

'दक्षिणाग्नौ जुहोति हिङ्काराय स्वाहेति प्रक्रमान्' (का० श्रौ० २०।३।३)। एतदर्थमेवोद्धृते दक्षिणाग्नौ प्रतिमन्त्रं प्रक्रमसंज्ञान् एकोनपञ्चाशद्धोमान् जुहुयादिति सूत्रार्थः। अश्वस्य एकोनपञ्चाशच्चेष्टितानि (व्यापाराः) कण्डिकाद्वयेन निर्दिश्यन्ते। तत्र हिङ्काराय, हिङ्करणं हिङ्कारः, तस्मै। कृतं यद्धिङ्कृतं तस्मै। क्रन्दते क्रन्दतीति क्रन्दन्, तस्मै। अवक्रन्दाय अव नीचैः क्रन्दतीत्यवक्रन्दः, तस्मै। प्रोथते प्रोथतीति प्रोथन्, तस्मै। 'प्रोथृ पर्याप्तौ' पर्याप्तिगताविति भट्टभास्करमिश्रः। प्रप्रोथाय प्रकृष्टः प्रोथो घोणा यस्य सः प्रप्रोथः, तस्मै। 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' (अ० को० २।८।४९)। गन्धाय गन्धोऽस्यास्तीति गन्धस्तस्मै। घ्राताय घ्रातं घ्राणमस्यास्तीति घ्रातस्तस्मै। निविष्टाय निविशत इति निविष्टः, तस्मै। उपविष्टाय उपविशतीत्युपविष्टः, तस्मै। सन्दिताय सम्यक् दितं खण्डनं यस्य स सन्दितः, तस्मै। वल्गते वल्गतीति वल्गन्, तस्मै। आसीनाय आस्तेऽसावासीनः, तस्मै। 'ईदासः' (पा० सू० ७।२।८३) इति शानच ईकारादेशः। शयानाय शेतेऽसौ शयानः, तस्मै। स्वपते स्वपितीति स्वपन्, तस्मै। जागर्तीति जाग्रत्, तस्मै। कूजते कूजतीति कूजन्, तस्मै। प्रबुद्धाय प्रकर्षेण बुद्धचत इति प्रबुद्धः, तस्मै। विजृम्भमाणाय विशेषेण जृम्भत इति विजृम्भमाणः, तस्मै। विचृताय विशेषेण चृततीति विचृतः, तस्मै। संहानाय संहन्तीति संहानः, तस्मै संहतशरीरायेत्यर्थः। उपस्थिताय उपतिष्ठत इत्युपस्थितः, तस्मै। अयनाय अयत इत्ययनः, ल्युः, तस्मै। प्रकृष्टमयते प्रायणः, तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—संवत्सरात्मकप्रजापतिदेवताकस्य प्रजापतिरूपस्याश्वस्य हिङ्कारादीनि चेष्टितान्यपि देवतारूपाणि, तस्य सर्वात्मकत्वात्। तेभ्यो रूपेभ्यः स्वाहाकारेण सोपकरणः प्रजापतिरिष्टो भवति।

दयानन्दस्तु—'यैर्मनुष्यैर्हिङ्काराय स्वाहा उत्तमक्रिया हिङ्कृताय ... प्रायणाय स्वाहा क्रियन्ते, तैर्दुःखानि वियोज्य सुखानि लभ्यन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हिङ्कारादयः किंरूपाः ? काश्चोत्तमक्रियाः ? दृष्टार्थवादिनश्चार्वाकप्रायस्य तवान्यस्य वा को लाभस्तेनेत्यनुक्तेः। सिद्धान्ते तु प्रजापतिरूपस्याश्वस्य चेष्टितानि देवतारूपाणि। तेभ्यः स्वाहाकारेण सोपकरणस्य प्रजापतेर्यजनं सम्पद्यते ॥ ७ ॥

यते स्वाहा धावते स्वाहोद्द्रावाय स्वाहोद्द्रुताय स्वाहा शूकाराय स्वाहा शूकृताय स्वाहा निषण्णाय स्वाहोत्थिताय स्वाहा जवाय स्वाहा बलाय स्वाहा विवर्तमानाय स्वाहा विवृत्ताय स्वाहा विधून्वानाय स्वाहा विधूताय स्वाहा शुश्रूषमाणाय स्वाहा शृण्वते स्वाहेक्षमाणाय स्वाहेक्षिताय स्वाहा वीक्षिताय स्वाहा निमेषाय स्वाहा यदत्ति तस्मै स्वाहा यत्पिबति तस्मै स्वाहा यन्मूत्रं करोति तस्मै स्वाहा कुर्वते स्वाहा कृताय स्वाहा ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—जाते हुए, दौड़ते हुए, तीव्र गति वाले, शूँ शब्द करने वाले, बैठे हुए, खड़े हुए, वेगवान्, बलरूप, विशेष चेष्टा करते हुए, तिरछी गति वाले, अपने शरीर को कँपाने वाले, सुनने की चेष्टा करने वाले, देखने की चेष्टा करने वाले, पलक झपकाने वाले, अश्व के निमित्त हम आपको हवि अर्पित करते हैं। वह जो कुछ खाता है, जो पीता है, मूत्र आदि क्रिया करता है, उसकी अनुकूलता के लिये हवि अर्पित करते हैं। वह अश्व जो कुछ कर रहा है या करेगा, वे सब क्रियाएँ अधिष्ठात्री देवताओं के अनुग्रह से सुसम्पन्न हों ॥ ८ ॥

यते एतीति यन्, तस्मै स्वाहा। धावते धावतीति धावन् तस्मै। उद्द्रावाय उद् उत्कृष्टोऽधिको वा द्रावो गतिर्यस्य स उद्द्रावः, तस्मै। उद्द्रुताय उद् अधिकं द्रुतं यस्य स उद्द्रुतः, तस्मै। शू इति करोतीति शूकारः, तस्मै। शूकृताय शू इति कृतमस्यास्तीति शूकृतः, तस्मै। निषण्णाय न्यषीददिति निषण्णः, तस्मै। उत्थिताय उदतिष्ठदित्युत्थितः, तस्मै। जवाय जवतीति जवः, पचाद्यच्, जु इति सौत्रो धातुः, 'प्रजोरिनिः' (पा० सू० ३।२।१५६) इति पठितः, तस्मै। बलाय बलमस्यास्तीति बलः, तस्मै। विवर्तमानाय यो विवर्तते स विवर्तमानः, तस्मै। विवृत्ताय यो विवर्तते स्म स विवृत्तः, तस्मै। विधून्वानाय विशेषेण धूनुते कम्पत इति विधून्वानः, 'धुञ् कम्पने' सौवादिकः, अयं दीर्घान्तोऽपीति स्वामि-शिवस्वामि-काश्यपाः, चान्द्रा अपि उभयं पठन्ति, तस्मै। विधूताय विविधं धूयते स्मेति विधूतः, तस्मै। शुश्रूषमाणाय श्रोतुमिच्छति यः स शुश्रूषते, शुश्रूषतेऽसाविति शुश्रूषमाणः, 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' (पा० सू० १।३।५७) इत्यात्मनेपदम्, ततः शानच्, तस्मै। शृण्वते शृणोतीति शृण्वन्, तस्मै। ईक्षमाणाय ईक्षते यः स ईक्षमाणः, तस्मै। ईक्षिताय ईक्षते स्मेतीक्षितः, तस्मै। वीक्षिताय विशेषेणेक्षितो वीक्षितः, तस्मै। निमेषाय निमिषतीति निमेषः, तस्मै। स्पर्द्धार्थात्मकोऽयम्। उपसर्गबलादर्थान्तरे वृत्तिः। यत्किञ्चिदत्ति तस्मै, भक्षणकर्त्रे। यज्जलादिकं पिबति तस्मै पानकर्त्रे। यन्मूत्रं करोति तस्मै मूत्रयते। कुर्वते करोतीति कुर्वन्, तस्मै कुर्वते। कृताय कृतमस्यास्तीति कृतः, तस्मै। स्वाहा सुहुतमस्तु। इत्येकोनपञ्चाशत् प्रक्रमाः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदर्थः।

दयानन्दस्तु—'ये मनुष्या यते स्वाहा ····कृताय स्वाहा कुर्वन्ति ते सर्वाणि सुखानि लभन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वाणि सुखानि लभन्त इत्यश्रुतफलकल्पनस्य निर्मूलत्वात् ॥ ८ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—इस सर्वप्रकाशक, सबके प्रेरक, आदित्य के अन्तर्गत स्थित पुरुषरूप ब्रह्म का, जो सभी के द्वारा प्रार्थनीय है, जो सम्पूर्ण संसार का प्रकाशक तेज है, हम ध्यान करते हैं। वह सविता देवता हमारी बुद्धि को सत्कर्म के अनुष्ठान के लिये प्रेरित करें ॥ ९ ॥

षड् ऋचः सवितृदेवत्या गायत्र्यः सावित्रीणामिष्टीनां याज्यानुवाक्याः। सवितुः प्रपञ्चोत्पादयितुर्जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलस्य परमेश्वरस्य तद् वेदान्तेषु ब्रह्मवित्सु च प्रसिद्धं स्वरूपभूतं भर्गस्तेजो धीमहि, यो नोऽस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात् सत्कर्मज्ञानादिषु प्रेरयति॥ ९॥

हिर॑ण्यपाणिमू॒तये॑ सवि॒तार॒मुप॑ह्वये। स चेत्ता॑ दे॒वता॑ प॒दम्॥ १०॥

मन्त्रार्थ—ज्योतिःस्वरूप हाथ वाले परमात्मा को मैं अपनी रक्षा के लिये पुकारता हूँ। वह सर्वज्ञ प्रकाशस्वरूप परमात्मा सब ज्ञानियों का आश्रय है॥ १०॥

मेधातिथिदृष्टा। अहं हिरण्यपाणिं हिरण्यमयौ पाणी यस्य स हिरण्यपाणिः, तम्। सवितारमुपह्वये आह्वयामि। किमर्थम्? ऊतये अवनाय। यतः स सविता चेत्ता चेतयिता, सर्वज्ञ इति यावत्। तथा देवता महती विभूतिः। पदं च पदनीयं गमनीयम्, प्राप्यमिति यावत्, ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनाम्। ज्ञानिनामपि, मुक्तोपसृप्यमपीति यावत्। तस्मादवनाय स आहूयते।

अत्र ब्राह्मणम्—'सावित्र्या एवेष्टेः। पुरस्तादनुद्रुत्य सकृदेव रूपाण्याहवनीये जुहोत्यायतन एवाहुतीर्जुहोति नास्मै भ्रातृव्यं जनयति यज्ञमुखे यज्ञमुखे जुहोति यज्ञस्य सन्तत्या अव्यवच्छेदाय' (श० १३।१।३।७)। सावित्र्या एवेष्टेः पुरस्तात्, स्तोकीयानन्तरमेवेत्यर्थः। सावित्रीष्टिषु संस्थितासु प्रयुङ्क्तेऽश्वे पारिप्लव आख्याते वीणागाथिनः सम्प्रेष्य अध्वर्युः प्रक्रमान् जुहोति, अन्वाहार्यपचनेऽश्वस्य पदं वा परिलिख्येति तस्य वाचनिकस्य क्रमस्य बाधनार्थं पुरस्तादनुद्रुत्येत्याह। अनुद्रुत्य आनुपूर्व्येणोच्चार्य 'हिङ्काराय स्वाहा' इत्यादिकमाज्येनैव जुहुयादित्यभिप्रायः। सकृदेवेति, न स्तोकीयावदावर्तयेत्। यज्ञमुखे यज्ञमुख इति दीक्षणीया, प्रायणीया, आतिथ्या, प्रवर्ग्यः, उपसदः, अग्नीषोमीयः, सुत्या, अवभृथः, उदयनीया, अनूबन्ध्या, उदवसानीया—इत्येतेषु कर्मस्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सवितारं प्रपञ्चोत्पादयितारं परमात्मानमुपह्वये आह्वयामि। कीदृशम्? हिरण्यपाणिं हिरण्योपलक्षितो दिव्यज्योतिर्मयो मोक्षो पाणौ यस्य तम्। किमर्थम्? ऊतये रक्षणाय। स परमात्मा चेत्ता चेतयिता सर्वज्ञाता देवता परदेवता ब्रह्मरूपा, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० ६।११) इति श्रुतेः। पदं पद्यते गम्यते प्राप्यते यत् तत् पदं मुक्तोपसृप्यम्, 'तद्विष्णोः परमं पदम्' (ऋ० सं० १।२२।२०) इति मन्त्रवर्णात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यमहमूतये हिरण्यपाणिं पदं सवितारमुपह्वये, स चेत्ता देवताऽस्तीति यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजांसि पाणौ स्तवने यस्य तमिति व्याख्यानस्यातन्त्रत्वात्, सूर्यादीनां त्वद्रीत्या स्तवनानुपयोगित्वात्॥ १०॥

दे॒वस्य॒ चेत॑तो म॒हीं प्र स॑वि॒तुर्ह॑वामहे। सु॒म॒तिँ स॒त्यरा॑धसम्॥ ११॥

मन्त्रार्थ—सबको चेतना शक्ति देने वाले, सर्वज्ञ, सबके प्रेरक परमात्मा की हम सत्य की साधना और सुमति के लिये प्रार्थना करते हैं, अर्थात् परमात्मा हमको सत्यमयी बुद्धि प्रदान करें, यह हमारी प्रार्थना है॥ ११॥

देवस्य द्योतमानस्य दानादिगुणयुक्तस्य वा। चेततः, चेततीति चेतन्, तस्य जानतः। सवितुः सम्बन्धिनीं सुमतिं शोभनां बुद्धिं प्रहवामहे प्रकर्षेण प्रार्थयामहे। कीदृशीं सुमतिम्? महीं महतीम्, पूज्यां वा। पुनः कीदृशीम्? सत्यराधसं सत्यमनश्वरं राधो धनं यस्यास्ताम्, यद्वा सत्यं राधयति साधयति या सा सत्यराधास्ताम्।

अध्यात्मपक्षे—सवितुः परमेश्वरस्य देवस्य स्वप्रकाशस्य सम्बन्धिनीं शोभनां मतिं परमात्मस्वरूप-विषयिणीं तदवद्योतिकां मतिं प्रहवामहे प्रार्थयामहे। कीदृशस्य सवितुः ? चेततः सर्वज्ञस्य। कीदृशीं सुमतिम् ? महीं महतीं महद्विषयत्वात् सत्यमनश्वरं ब्रह्मरूपं राधो धनं यस्याः प्रभावाल्लभ्यते ताम्, सत्यसाधयित्रीं वा।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं सवितुश्चेततो देवस्येश्वरस्योपासनां कृत्वा महीं सत्यराधसं सुमतिं प्रहवामहे, तथैतमुपास्य तां यूयं प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारादिदोषदुष्टत्वात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ ११ ॥

सुष्टुतिᳪं सुमतीवृधो रातिᳪं सवितुरीमहे। प्र देवाय मतीविदे ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—सबके मन को जानने वाले, सर्वान्तर्यामी दिव्य गुण सम्पन्न, सुबुद्धि के दाता, सबके प्रेरक परमात्मा की स्तुति करने की सामर्थ्य रूप धन को हम बहुत चाहते हैं। हमारी इस इच्छा को परमात्मा पूरी करें ॥ १२ ॥

वयं सवितुः सूर्यस्य देवस्य सुष्टुतिं शोभनां स्तुतिं रातिं दानं च प्रकर्षेण ईमहे याचामहे। 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इति धातोः परः प्रशब्दः। कीदृशस्य सवितुः ? सुमतीवृधः शोभनां मतिं वर्धयतीति सुमतीवृत्, तस्य। 'संहितायाम्' (पा० सू० ६।३।११४) इत्यधिकारे, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। देवाय, मतीविदे इति षष्ठयर्थे चतुर्थी। देवाय देवस्य। मतीविदे मतीविदः, मतिं वेत्तीति मतीवित्, तस्य। पूर्ववत् पूर्ववर्णस्य दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—सवितुः परमेश्वरस्य सुष्टुतिं शोभनां जन्ममरणादिनिवारिणीं स्तुतिं रातिं तत्सम्बन्धि दानं च प्र प्रकर्षेण ईमहे याचामहे। कीदृशस्य सवितुः ? सुमतीवृधः शोभनबुद्धिवर्धकस्य। देवस्य दानादिगुणकस्य मतीविदो बुद्धिसाक्षिणः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं सुमतीवृधः सवितुरीश्वरस्य सुष्टुतिं कृत्वा एतस्मान्मतीविदे देवाय रातिं प्रेमहे, तथैतस्माद् यूयमपि याचध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गतौ सत्यामध्याहारस्यासङ्गतत्वात्। किञ्च, यः परमात्मानं स्तुत्वा मतिं विदन्ते, स तस्मादेव रातिमपि प्राप्तुं शक्नोति, तत् कृतं युष्माकं तद्याच्ञया ॥ १२ ॥

रातिᳪं सत्पतिं महे सवितारमुपह्वये। आसवं देववीतये ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—चारों पदार्थों को देने वाले, सत्पुरुषों के रक्षक, सब कर्मों के प्रेरक सविता देव का हम देवताओं की तृप्ति के निमित्त आह्वान करते हैं और उनका पूजन करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा की प्रार्थना और उपासना से सब देवता तृप्त होते हैं ॥ १३ ॥

अहं सवितारमुपह्वये आह्वयामि, महे पूजयामि च, 'मह पूजायाम्' भौवादिकः। कस्मै प्रयोजनाय ? देववीतये देवानामिन्द्रादीनां वीतिस्तर्पणं देववीतिस्तस्यै। कीदृशं सवितारम् ? रातिम्, रातिं ददातीति रातिस्तं दातारम्। कर्तरि क्तिच्। सत्पतिं सतां पालयितारम्। आसवम् आसमन्तात् सौति कर्माण्यनुजानातीत्यासवस्तम्। ईदृशं सवितारमाह्वय इति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—रातिं कर्मफलदातारं सत्पतिं सतां पालकम्। आसवं सत्कर्मप्रेरकं सवितारमहमुपह्वये आह्वयामि, महे पूजयामि च। किमर्थम् ? देववीतये देवानामिन्द्रियाणां वीतये तर्पणाय, तेषां भगवत्स्वरूपरसा-स्वादनेन तृप्तिसम्पादनाय, तदुपयोगिपरमानन्दमयश्रीविग्रहधारणाय।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं महे देववीतये रतिमासवं सत्पतिं सवितारमुपह्वये, तथा यूयमप्येनं प्रशंसत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गुरूपचरणादिना लौकिकेनैवोपायेन विद्याप्राप्तिसम्भवे तदर्थं परमात्मप्रार्थनासङ्गतेः ॥ १३ ॥

दे॒वस्य॑ सवि॒तुर्म॒तिमा॑स॒वं वि॒श्वदे॑व्यम् । धि॒या भग॑ मनामहे ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—बुद्धिरूप सकल ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाले सब देवताओं के कल्याण हेतु यज्ञ आदि करने के लिये हम भक्तिमयी बुद्धि के द्वारा सबके प्रेरक परमात्मा से धन की याचना करते हैं ॥ १४ ॥

सवितुः सूर्यस्य देवस्य द्योतमानस्य मतिं बुद्धिं प्रति धिया स्वकीयया प्रज्ञया भगं भजनीयं धनं मनामहे वयं याचामहे, सवितुर्देवस्य मतिरस्मासु धनदानतत्परा भवत्वित्यर्थः। कीदृशं भगम्? आसवम् आसौति अनुजानाति येन तम् आसवम्, धनप्रभावेणैव सर्वेषां कृते आज्ञा दातुं शक्यत इत्यर्थः। विश्वदेव्यं विश्वेभ्यो देवेभ्यो हितम्, तेनैव यज्ञदानादिभिः सर्वदेवतातर्पणसम्भवात्। मनामह इति याच्ञाकर्मसु (निघ० ३।१९।१६)। धातोरस्य द्विकर्मकत्वान्मतिभगशब्दयोर्द्वितीया।

अध्यात्मपक्षे—देवस्य स्वप्रकाशस्य सवितुर्विश्वोत्पत्त्यादिकारणस्य मतिं सर्वज्ञानलक्षणायाः प्रज्ञायाः सकाशाद् वयं ज्ञानविज्ञानलक्षणं भगं भजनीयं धनं मनामहे याचामहे। कीदृशं भगम्? आसवं येन सर्वोऽपि सूयत आज्ञाप्यते तादृशम्। विश्वदेव्यं विश्वेभ्यो देवेभ्यो हितम्, सर्वेषु देवेषु ब्रह्मात्मबुद्धिहेतुत्वात्, भेददर्शिनां देवकर्तृकपरादानश्रवणात्, 'देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद' (बृ० उ० ४।५।७) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं सवितुर्देवस्य परमात्मनः सकाशान्मतिमासवं सकलैश्वर्यहेतुं च प्राप्य तया धिया सर्वं वैश्वदेव्यं भगमुत्तममैश्वर्यं मनामहे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्राप्यपदाध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। किञ्च, येन प्रयत्नेन परमेश्वरस्य सकाशाद् बुद्धिरैश्वर्यहेतुरुपलभ्यते, तेनैवोत्तमैश्वर्यप्राप्तिरपि सम्भवत्येवेति प्रयत्नद्वयवैयर्थ्यात् ॥ १४ ॥

अ॒ग्निᳪ स्तोमे॑न बोधय समिधा॒नो अम॑र्त्यम् । ह॒व्या दे॒वेषु॑ नो दधत् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अध्वर्यु! तुम मरणधर्मरहित अग्नि को प्रज्वलित करते हुए स्तुति के द्वारा उसे प्रसन्न करो, जिससे कि वह हमारी हवियों को देवताओं तक पहुँचावे ॥ १५ ॥

तिस्रः स्विष्टकृति पुरोऽनुवाक्या अग्निदेवत्या गायत्र्यः क्रमशः सुतम्भर-विश्वामित्र-विश्वरूपदृष्टाः। हे अध्वर्यो, त्वं समिधानः सन्दीपयन् अग्निं देवं स्तोमेन स्तुतिभिर्बोधय अवगतार्थं कुरु। कीदृशमग्निम्? अमर्त्यं मरणधर्मरहितम्। किमर्थं पुरस्कृत्य बोधयामीति चेत्, तत्राह—हव्या हव्यानि हवींषि नोऽस्माकं सम्बन्धीनि देवेषु दधद् धारयतु, तत्र तस्याधिकृतत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—अग्निं परमेश्वरं स्तोमेन स्तुतिभिः हे साधक, बोधय स्वविषयिणीं सानुग्रहां बुद्धिं जनय। किं कुर्वन्? समिधानः, गुणगणार्णवस्मारणेनानुग्रहमुद्दीपयन्। कीदृशमग्निम्? अमर्त्यम्, मरणोपलक्षितषड्विधभावविकारवर्जितम्। किमुद्दिश्योद्बोधनमिति चेत्, तत्राह—देवेषु हव्या नोऽस्मत्सम्बन्धीनि हव्यानि दधद् धारयतु, आहवनीयादिरूपेण तस्यैव हविर्विधारकत्वात्। देवेष्विन्द्रियेषु तदभीष्टस्वकीयदिव्यरूपस्पर्शगन्धादि दधातु धारयतु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यः समिधानोऽग्निर्देवेषु वाय्वादिषु हव्या दातुमादातुं योग्यानि नो दधत्, तममर्त्यमग्निं स्तोमेन बोधय प्रदीपय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दातुमादातुं योग्येषु लौहसुवर्णमण्यादिषु हव्यपदप्रयोगायोगात्। न च बुध्यतेरग्निप्रज्वालनमर्थः, उद्बोधनादिषूपसर्गप्रयोगदर्शनात् ॥ १५ ॥

स ह॒व्यवाडम॑र्त्य उ॒शिग्दू॒तश्चनो॑हि॒तः । अ॒ग्निर्धि॒या समृ॑ण्वति ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हवियों को देवताओं तक पहुँचाने वाला, अमरणधर्मा, बुद्धिमान्, देवताओं का दूत और हमें हितकारी अन्न की प्राप्ति कराने वाला अग्नि देवता बुद्धिपूर्वक देवताओं तक हवि पहुँचाने के निमित्त हमारे यज्ञानुष्ठान में आता है ॥ १६ ॥

सोऽग्निर्धिया बुद्धया समृण्वति सङ्गच्छते देवैः सह हविः समर्पणाय। कथम्भूतोऽग्निः ? यो हव्यवाट्, हव्यं वहतीति हव्यवाट्, हविषां वोढा। यश्चामर्त्यो मरणादिविकारशून्यः। उशिग् यो वष्टि उश्यते वा स उशिक् कामयिता, सर्वकामनाविषयश्च, मेधावी वा। दूतो देवानां दूत्यकर्ता। चनोहितः, चनसोऽन्नस्य हविर्भूतस्य भक्षणार्थं हितो निहितः स्थापितः। चन इत्यन्ननाम। (निरु० ६।१६)।

अध्यात्मपक्षे—यो हव्यवाड् देवेभ्यो हविर्वहत्यग्निरूपेण, यश्चामर्त्यो मरणादिरहितः सर्वैरुश्यते, परप्रेमास्पदात्मरूपत्वात्, यश्च भक्तान् वष्टि कामयते, यश्च इतः पाण्डवानां दौत्यकर्मकृत् कृष्णरूपेण, यश्च चनोहितश्चनसो हविर्भूतस्यान्नस्य भक्षणाय आहवनीयादिरूपेण हितो निहितः स्थापितः, सोऽग्निरग्रणीर्भगवान् धिया प्रज्ञया समृण्वति सङ्गच्छते भक्तैरभीष्टदानाय।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, योऽमर्त्यो हव्यवाडुशिग् दूतश्चनोहितोऽग्निरस्ति, स धिया समृण्वति शिल्पादिकारिणा सम्यक् प्राप्यते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भौतिकाग्नावमर्त्यत्वायोगात्। न च परमाणुरूपस्य तस्य तथात्वमिति वाच्यम्, तादृक्षस्याग्नेर्हव्यवाहकत्वानुपपत्तेः, दूतपदस्यास्वारस्याच्च। अन्नप्रापकत्वं च तस्य चिन्त्यम्, उपपत्तिसापेक्षत्वात् ॥ १६ ॥

अ॒ग्निं दू॒तं पु॒रो द॑धे हव्य॒वाह॒मुप॑ ब्रुवे । दे॒वाँ २॥ आसा॑दयादि॒ह ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के दूत, उनके निमित्त हवि को धारण करने वाले अग्निदेव को मैं यहां स्थापित करता हूँ और उनसे ही प्रार्थना करता हूँ कि हे अग्निदेव, इस यज्ञ में आप देवताओं को बुलाकर स्थापित कीजिये ॥ १७ ॥

यमग्निमहं दूतं देवानां दूतं हव्यवाहं हविषो वोढारम् अहं पुरो दधे पुरतोऽग्रतः स्थापयामि, तमुपब्रुवे तमुपगम्य ब्रवीमि। किं ब्रवीमीत्याह श्रुतिः—देवानासादयादिह इह अस्मिन् यज्ञे देवान् आसादयाद् आसादय, स्थापयेति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—यमग्निं दूतं देवानां दूत्यकर्मकारिणं हव्यवाहमहमाहवनीयादिरूपेण पुरो दधे पुरतः स्थापयामि, तं सर्वात्मानमहमुपब्रुवे उपगम्य ब्रवीमि—हे अग्ने, इह अस्मिन् यज्ञे देवान् आसादयाद् आसादय। देवानामावाहनं तेभ्यो हविःप्रापणं सर्वज्ञसर्वशक्तिमत्परमात्मकर्तृकमेवेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य इह देवानासादयात्तं हव्यवाहं दूतमग्निं पुरोदधे। युष्मान् प्रत्युपब्रुवे यूयमप्येवं कुरुत' इति, तदप्ययुक्तम्, भौतिकस्याग्नेर्दिव्यभोगप्रापकत्वासिद्धेः, युष्मानित्याद्यध्याहारापेक्षत्वाच्च ॥ १७ ॥

अजी॑जनो॒ हि प॑वमान॒ सूर्यं॑ वि॒धारे॒ शक्म॑ना॒ पयः॑ । गोजी॑रया॒ रꣳह॑माण॒ पुर॑न्ध्या ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे पवित्रकारी पवमान, आपने अपनी धाराओं के द्वारा वेग से गमन करते हुए सूर्य को प्रकट किया है। गायों की जीविका के लिये अपनी सामर्थ्य से आप अवश्य ही उत्तम जल को धारण करते हैं ॥ १८ ॥

त्र्यरुणत्रसदस्युभ्यां दृष्टा पवमानदेवत्या पिपीलिकमध्याकृतिरनुष्टुप्। यस्या आद्यतृतीयौ पादौ द्वादशार्णौ द्वितीयोऽष्टार्णः सा पिपीलिकमध्याकृतिरनुष्टुप्, 'जागतावष्टकश्च कृतिर्मध्ये चेदष्टकः पिपीलिकमध्या' (सर्वा० सू० ५।४) इति भगवत्कात्यायनवचनात्। पवमानस्तुतिः। हे पवमान, हि यस्मात् त्वं सूर्यमादित्यमजीजन उत्पादितवानसि, जनेर्ण्यन्ताल्लुङि रूपम्, यस्माच्च शक्मना सामर्थ्येण, शक्लृधातोर्मनिन्प्रत्ययः, पयो जलं विधारे विधारयसि, पुरुषव्यत्ययः, धारयतेस्तङि लटि उत्तमैकवचने 'धारये' इति प्राप्ते 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति शितोऽप्यार्धधातुकत्वात् 'णेरनिटि' (पा० सू० ६।४।५१) इति णिलोपे 'धारे' इति रूपम्। तच्च धारणं वृष्टये। अथवा शक्मना चर्मणा, शक्यतेऽनेन कर्तुमिति शक्म, त्वगिन्द्रियाभावे कर्तुमसामर्थ्यात्। चर्मणेव नभोव्यापिना मेघेन पयो विधारे उपरिष्टाद्विधारयसि, तस्मात् त्वां स्तुम इति शेषः। केन हेतुना पयो विधारयसीति चेत्, तत्राह—गोजीरया, जीवनं जीरा, वस्य छान्दसो रेफः, गवां जीरा गोजीरा, तया गोजीविकया हेतुना जलं धारयसि, तासां हविषा यज्ञनिष्पत्तेः, ततः प्राणिनां जीवनाच्च। कथम्भूतस्त्वम्? पुरन्ध्या रंहमाणः पुरं विपुलं दधातीति पुरन्धिर्धारा, तया बहुधारयित्र्या धारया रंहमाणः, रंहत इति रंहमाणो गच्छन्, दशापवित्राद् द्रोणकलशमभिगच्छन्। तादृशस्त्वं हे पवमान, यस्मात् त्वं सूर्यं जनितवान्, गोजीवनार्थं यज्ञनिष्पत्तये प्राणिनां जीवनाय च वृष्टये शक्मना सामर्थ्येन चर्मणेव मेघेन वा पयो जलं धारयसि, तस्मात् त्वां स्तुम इति निष्कर्षः।

अध्यात्मपक्षे—प्रतिक्षणं भक्तान् पवयन् हे पवमान, स्वयं च पावन परमात्मन्, हि यस्मात् त्वं सूर्यमजीजनः, शक्मना स्वसामर्थ्येन पयो जलं गोजीरया गवां जीवनहेतुना, वृष्टिद्वारा यज्ञनिष्पत्तेः, प्राणिनां जीवनाय विधारे विधारयसि, वृष्टयै गोजीरया गवां जीविकया यज्ञनिष्पत्तये प्रजननाय जीवनाय जलं धारयसि, स त्वं हे पवमान, पुरन्ध्या बहुधारयित्र्या पद्धत्या रंहमाणो रंहन् गच्छन् आसीस्तस्मात् त्वां स्तुमः।

दयानन्दस्तु—'हे पवमानाग्निवत् पवित्रजन, पुरन्ध्या पुरधारिकया क्रियया रंहमाणः सूर्यमजीजनः, शक्मना कर्मणा गोजीरया गोजीवनक्रियया पयश्चाहं विधारे हि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रस्य सूर्यमण्डल-धारकत्वानुपपत्तेः। पशुजीवनक्रियया पयोधारणमपि चिन्त्यम्, न च पुरधारणक्रियया गमनं सम्भवति॥ १८॥

विभूर्मात्रा प्रभूः पित्राश्वोऽसि हयोऽस्यत्योऽसि मयोऽस्यर्वासि सप्तिरसि वाज्यसि वृषासि नृमणा असि। ययुर्नामासि शिशुर्नामास्यादित्यानां पत्वान्विहि। देवा आशापाला एतं देवेभ्योऽश्वं मेधाय प्रोक्षितᳬ रक्षत। इह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा॥१९॥

मन्त्रार्थ—अध्वर्यु और यजमान घोड़े के दाहिने कान में इस मन्त्र को पढ़ते हैं—हे अश्व, तुम पृथ्वी माता की सहायता से समर्थ होते हो, द्युलोक रूप पिता तुम्हें समर्थ बनाते हैं। तुम मार्ग को व्याप्त करने वाले हो, तीव्र गति के कारण तुम्हारा नाम हय है। तुम निरन्तरगामी हो, सुखरूप हो, शत्रुनाशक हो, सेना से मिलने वाले हो, अनेक प्रकार की गति वाले हो, सेचन में समर्थ हो, यजमान के मन को रखने वाले हो, अश्वमेध में सर्वत्र यथेच्छ विचरण करने के कारण तुम्हारा नाम ययु है। तुम शिशु नाम वाले हो, अदितिपुत्र देवताओं के मार्ग स्वर्ग में गमन कर सकते हो। दूसरा मन्त्र पढ़कर अश्व की वड़वा और जल आदि से एक वर्ष पर्यन्त रक्षा करे। रक्षा करने के निमित्त चौबीस वर्ष की आयु के १०० कवचधारी राजपुत्र, १०० खड्गधारी क्षत्रिय कुमार, १०० तरकशधारी सारथि-पुत्र, १०० लगुडधारी क्षत्रियों के पालितपुत्र साथ चलें। सेना भी साथ में रहे। सौ घोड़ों के बीच में यह घोड़ा चले। तब तक यजमान और उसकी पत्नी भूमि पर ही सोते हैं। सावित्री वीणा गान करती है। पारिप्लव शास्त्रपाठ और घृत होम

होता है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—दिशाओं का पालन करने वाले हे देवस्वरूप राजपुत्रों, देवताओं के निमित्त यज्ञ करने के लिये प्रोक्षित इस अश्व की तुम सब रक्षा करो। घोड़े को छोड़कर एक वर्ष तक प्रतिदिन सायंकाल अग्निहोत्र से पहले, अग्निहोत्र की अग्नि में चार आहुति इन मन्त्रों से दी जाती है—हे अग्निदेव, यहाँ हम अश्व का स्मरण करते हैं, यहाँ अश्व रमण करें, यहाँ अश्व का सन्तोष हो, यहाँ धारण हो, अर्थात् वह यहाँ सुरक्षित लौट आवे। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १९ ॥

'अध्वर्युयजमानौ दक्षिणेऽश्वकर्णे जपतो विभूर्मात्रेति' (का० श्रौ० २०।२।९)। तृतीयायां सावित्र्यामिष्टौ समाप्तायामध्वर्युयजमानौ दक्षिणेऽश्वकर्णे जपतो विभूर्मात्रेति सूत्रार्थः। अश्वदैवतं यजुः, अतिजगतीच्छन्दस्कम्। हे अश्व, त्वं मात्रा मातुः पृथिव्याः सकाशाद् विभूर्विशेषेण भवसीति विभूः समर्थोऽसि। पित्रा पितुर्दिवः सकाशात् प्रभूः प्रकर्षेण भवसीति प्रभूः समर्थोऽसि। पञ्चम्यर्थे तृतीये। अथवा हे अश्व, यस्त्वं मात्रा पृथिव्या विभूरसि विभवसि, पित्रा द्युलोकेन प्रभूरसि प्रभवसि, तथा च श्रुतिः—'इयं वै माताऽसौ पिताऽऽभ्यामेवैनं परिददाति' (श० १३।१।६।१) इति। वृष्टिलक्षणरेतःपरिग्रहादियं माता, उदकासेकादसौ पिता। आभ्यामेवैनमश्वं परित्रातुं निवेदयतीति श्रुत्यर्थः। अथ नामभिरश्वं स्तौति—अश्वोऽसीत्यादिना। अश्वोऽसि, अश्नुषे व्याप्नोसि मार्गमित्यश्वः, 'अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्' (उ० १।१५१) इत्यनेनाशेः क्वन्प्रत्यये रूपम्। अश्नातीति वाश्वः, महाशन इति यावत्। हयोऽसि, हयति गच्छतीति हयः, पचाद्यच्। अत्योऽसि, अतति सततं गच्छतीत्यत्यः, औणादिको यत्प्रत्ययः। मयोऽसि, मयते गच्छतीति मयः, 'मय गतौ' पचाद्यच्। यद्वा मय इति सुखनाम (निघ० ३।६।७), सुखरूपोऽसि। अर्वासि इयर्ति गच्छतीत्यर्वा। 'स्नामदिपद्यर्तिपृशकिभ्यो वनिप्' (उ० ४।११४) इति वनिष्प्रत्यये साधु। यद्वा अर्वति हिनस्ति शत्रूनित्यर्वा, 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५६) इति बाहुलकात् कनिन्प्रत्यये साधु। सप्तिरसि, सपति समवैति सैन्येनेति सप्तिः। 'षप् समवाये' अस्मात् क्तिन्प्रत्यये साधु। वाजी असि, वजति तच्छील इति वाजी, 'वज गतौ' ताच्छीलिको णिनिः। गतिवैविध्यसूचनाय गत्यभ्यासः। अथवा अवश्यं वजतीति वाजी। 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' (पा० सू० ३।३।१७०) इति णिनिः। यद्वा वाजाः पक्षा अभूवन्नस्येति वाजी। वृषासि वर्षति सिञ्चतीति वृषा, औणादिकेन कनिन्प्रत्ययेन साधु। नृमणा असि नृषु यजमानेषु मनो यस्य स नृमणाः, नृणां मनुष्याणां मनो यत्रासौ नृमणाः, नृभिर्विषयभूतैर्विना न भवतीति वा। ययुर्नामासि ययुरित्येवं नामा त्वमसि। अत्यर्थं यातीति ययुः, 'यो द्वे च' (उ० १।२१) इत्युः, 'ययुरश्वोऽश्वमेधीयः' (अ० को० २।८।४५) इति कोषात्। शिशुर्नामासि शिशुरित्येवंनामा त्वमसि शंसनीयो भवतीति वा। श्यति कृशं करोति स्तनमिति शिशुः। 'शः कित् सन्वच्च' (उ० १।२०) इत्युः। सन्वद्भावात् द्वित्वमित्वं च 'सन्यङोः' (पा० सू० ६।१।९), 'सन्यतः' (पा० सू० ७।४।७९) इति सूत्राभ्याम्। यस्त्वमेवंप्रभावस्तं त्वां ब्रवीमि। आदित्यानाम् अदितेरपत्यानां देवानाम्, पत्वा पत्वना पतनमार्गेण, अन्विहि अनुगच्छ। येन मार्गेण आदित्या देवा गच्छन्ति, तेन मार्गेणानुगच्छेत्यर्थः। अथवा पत्वा पत्वानम् अन्विहि अनुगच्छ।

'पशुवदुत्सर्जनं निरष्टेऽश्वशते' (का० श्रौ० २०।२।१०)। 'देवा आशापाला इति रक्षिणोऽस्यादिशत्यनुचरीजातीयांस्तावतस्तावतः कवचिनिषङ्गिकलापिदण्डिनो यथासंख्यम्' (का० श्रौ० २०।२।११)। अश्वशते शतानामश्वानां मध्ये पशुवदीशान्यां दिश्यध्वर्युयजमानौ अश्वमुत्सृजतः। कीदृशेऽश्वशते निरष्टे। अश्वस्य दन्तगतान्यष्टौ वयोव्यञ्जनानि। तेषामेकैकं त्रीणि त्रीणि वर्षाण्यनुवर्तन्ते। तानि निर्गतानि यस्मादिति निरष्टम्, अतीतचतुर्विंशतिवर्षमित्यर्थः। तस्मिन् निरष्टे, गतयौवन इति यावत्। चतुर्विंशतिवार्षिकाश्वशतमध्यस्थस्य ऐशान्यामुत्सृष्टस्य रक्षकान् नरान् अनुचरीजातीयान्, तावतस्तावतोऽनुचरीसंख्यान्, अर्थात् शतं राजपुत्रान्

कवचिनः, शतं क्षत्रियपुत्रान् खड्गधारिणः, शतं सूतग्रामण्याः पुत्रान् (सूता अश्वपोषकाः, तेषां मध्ये ग्रामण्यो मुख्याः, तत्सुतान्), शतं क्षात्रसंग्रहीतॄणां पुत्रान् वंशादिदण्डधारिणः (क्षत्तार आयव्ययाध्यक्षाः, तत्समूहः क्षात्रम्, तत्राधिकृताः क्षात्रसंग्रहीतारः, तत्सुतान्) अध्वर्युरादिशतीति सूत्रद्वयार्थः। किमादिशतीति चेत्, आह भगवान् कात्यायनः—'वडवाभ्यो वारणम्, प्रस्नेयाच्चोदकात्' (का० श्रौ० २०।२।१२-१३)। हे रक्षिणो भवद्भिरश्वस्य वडवाभ्यः स्नानार्हादुदकाच्च वारणं कर्तव्यमिति सूत्रद्वयार्थः। यावद् (वर्षपर्यन्तम्) अश्वरक्षणं तावद् यजमानो ब्रह्मचारी सन् वावाताया ऊर्वोः शेते, सावित्रीः कारयति, वीणागानं पारिप्लव-शस्त्रपाठं धृतिहोमादिकं सूत्रकारप्रोक्तं ज्ञातव्यम्। देवदेवत्यं यजुः, ऋगुष्णिक्।

आशापाला देवाः, आशा दिशः पालयन्तीत्याशापालाः, हे देवाः, यूयमेतमश्वं रक्षत। कीदृशमश्वम्? देवेभ्यो मेधाय यागाय प्रोक्षितं प्रोक्षणेन संस्कृतम्। पूर्वोक्ता राजपुत्रादय एव आशापालाः, 'शतं वै तल्प्या राजपुत्रा आशापालास्तेभ्य एवैनं परिददाति' (श० १३।१।६।२) इति श्रुतेः। 'आहवनीयेऽस्तमिते चतस्रो धृतीरिह रन्तिरिति' (का० श्रौ० २०।३।४)। अस्तमितेऽर्केऽग्निहोत्रहोमात् प्रागग्निहोत्राद्धते आहवनीयेऽग्नौ (१) इह रन्तिः स्वाहा, (२) इह रमताꣳ स्वाहा, (३) इह धृतिः स्वाहा, (४) इह स्वधृतिः स्वाहा—इति चतस्रो धृतिसंज्ञा आहुतीः प्रतिमन्त्रं प्रत्यहं वर्षपर्यन्तं जुहुयादिति सूत्रार्थः। तदेवं सम्भूय आहुतीनां चत्वारिंशदधिका चतुर्दशशती भवति। तथा च श्रुतिः—'संवत्सरमाहुतीर्जुहोति षोडश नवतीरेता वा अश्वस्य बन्धनं ताभिरेवैनं बध्नाति' (श० १३।१।६।२) इति। चत्वारि यजूंष्यग्निदेवत्यानि। चतुर्थमन्त्रान्ते स्वाहाकारश्रवणात् त्रिष्वपि मन्त्रेषु स्वाहाकारप्रयोगः। अश्वं प्रत्युच्यते—हे अश्व, इह रन्तिः रमणं तेऽस्तु। इह भवान् रमताम्। इह ते धृतिरस्तु सन्तोषोऽस्तु। हृदये सन्तुष्यतु भवान्। इह यज्ञे स्वधृतिः स्वा निजा धृतिर्धारणमस्तु। अथवा स्वन्यते प्रशस्यत इति स्वा, स्वा शोभना साध्वी वा धृतिः स्वधृतिः, 'अन्यत्रापि दृश्यत इति वक्तव्यम्' (पा० सू० ३।२।४८, वा० ४) इति डः। स्वाहा सुहुतमस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रजापतिरश्वमेधमसृजत। सोऽस्मात् सृष्टः पराङैत् स दिशोऽनुप्राविशत् तं देवाः प्रैषमैच्छंस्तमिष्टिभिरनुप्रायुञ्जत तमिष्टिभिरन्वैच्छंस्तमिष्टिभिरन्वविन्दन् यदिष्टिभिर्यजतेऽश्वमेव तन्मेध्यं यजमानोऽन्विच्छति' (श० १३।१।४।१) इति। प्रजापतिरश्वमेधमसृजत। सृष्टो भ्रष्टः। अस्मात् प्रजापतेः। पराङ् पराङ्मुखः। ऐत् गतः। स दिशः अनुप्राविशत् प्रविष्टः, अस्तं गत इत्यर्थः। तं देवास्तदीया ऋत्विजः। प्रैषं द्रष्टुम्। अन्वेषणे प्रकर्षेण अन्विष्यान्विष्य ऐच्छन्। तम् इष्टिभिः सावित्रीभिः। अनु पश्चात् प्रकर्षेण अयुञ्जत। ताभिर्न यथा प्रणश्यति तथा अकुर्वन्त। तमिष्टिभिरन्वियेषुः, अन्वविन्दंश्च। 'सावित्र्यो भवन्ति। इयं वै सविता यो वा अस्मान्निलयते योऽन्यत्रैत्यस्यां वाव तमनुविन्दन्ति' (श० १३।१।४।२)। इयं वै सविता अनुज्ञाता। कथं यो वै अस्यां पृथिव्यां निलयते गृहाद्बहिर्भूमिं गच्छति। पश्चादन्तरिक्षं गच्छति। अस्यामेव च तमनुविन्दन्ति लभन्ते। न चेमां कश्चिदपि तिर्यगूर्ध्वं चातिवर्तते। 'तदाहुः। प्र वा एतदश्वो मीयते यत्पराङेति नह्येनं प्रत्यावर्तयन्तीति यत्सायं धृतीर्जुहोति क्षेमो वै धृतिः क्षेमो रात्रिः क्षेमेणैवैनं दाधार तस्मात् सायं मनुष्याश्च पशवश्च क्षेम्या भवन्त्यथ यत्प्रातरिष्टिभिर्यजत इच्छत्येवैनं तत्तस्माद्दिवा नष्टैष एति यद्वेव सायं धृतीर्जुहोति प्रातरिष्टिभिर्यजते योगक्षेममेव तद्यजमानः कल्पयते तस्माद्यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते क्लृप्तः प्रजानां योगक्षेमो भवति' (श० १३।१।४।३)। धृतयो विधीयन्ते। प्रमीयते हिंस्यते। हिंसनेन हि तमश्वं हिंस्रेभ्योऽपि प्रत्यावर्तयन्तीति यत्सायं धृतीः। यद् अवधारणार्थः। सायं धृतिहोमेन तमश्वं हिंस्रेभ्योऽपि प्रत्यावर्तयन्तीति। इह रतिरिह रमताम् इत्येता आहुतीर्जुहोति। तत्क्षणेनैव रात्रिलक्षणेन एनमश्वं दाधार धारयत्यध्वर्युः। तस्मात् सायं मनुष्याश्च पशवश्च क्षेम्याः क्षेमसम्बद्धा भवन्ति। कथमिति चेत्, क्षेमो वै धृतिः। धारणमेव क्षेम इति यावत्। गृहेषु यदिह धृतिरस्तु इत्येवं

प्रार्थ्यते। क्षेमो रात्रिः। तत्र हि गृहे स्थितानां सर्वतो भयं न भवति। ततश्च तस्यां धृतीराहुतीर्जुहोति। जुह्वतः प्रकर्षोऽर्थः। इच्छत्येवैषः। एष नष्टमन्विच्छति, गवेषत इत्यर्थः। दिवा नष्टैष एति गच्छति। नष्टमन्विच्छति गवेषयतीति नष्टैषः। योगक्षेमं योगेन सहितं क्षेमम्। इष्टिभिः सावित्रीभिर्योगम्। धृतिभिः क्षेमं यजमानः प्रजाभ्यः कल्पयते।

'अप वा एतस्मात्। श्री राष्ट्रं क्रामति योऽश्वमेधेन यजते यदा वै पुरुषः श्रियं गच्छति वीणास्मै वाद्यते ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ संवत्सरं गायतः श्रियै वा एतद्रूपं यद्वीणा श्रियमेवास्मिस्तद्धत्तः' (श० १३।१।५।१)। योऽश्वमेधेन यजते तस्मात् श्रीः समृद्धिः, राष्ट्रं जनपदश्च अपक्रामति। तत्प्रतीकाराय ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ संवत्सरं गायतः। श्रियो ह्येतद्रूपं या वीणा वीणागानेन श्रियमेवास्मिन् धत्तः। 'विभूर्मात्रा प्रभूः पित्रेति। इयं वै माताऽसौ पिताभ्यामेवैनं परिददात्यश्वोऽसि हयोऽसीति शास्त्येवैनं तत्तस्माच्छिष्टाः प्रजा जायन्तेऽत्योऽसि मयोऽसीत्येवैनं नयति तस्मादश्वः पशूनत्येति तस्मादश्वः पशूनाᳪ श्रैष्ठ्यं गच्छत्यर्वासि सप्तिरसि वाज्यसीति यथा यजुरेवैतद् वृषासि नृमणा असीति मिथुनत्वाय ययुर्नामासि शिशुर्नामासीत्येतद्वा अश्वस्य प्रियं नामधेयं प्रियेणैवैनं नाम्नाऽभिवदति तस्मादप्यामित्रौ सङ्गत्य नाम्ना चेदभिवदतोऽन्योन्यᳪ समेव जानाते' (श० १३।१।६।१)। तृतीयायां सावित्र्यामिष्टौ संस्थितायां 'एतस्याᳪ संᳪ स्थितायाम्। उपोत्थायाध्वर्युश्च यजमानश्चाश्वस्य दक्षिणे कर्णे आजपतो विभूर्मात्रा प्रभूः पित्रेति' (श० १३।४।२।१५)। शिशुरिति प्रियं नामधेयमश्वस्य। अत्यर्थं विषयान् यातीति ययुः। आमित्रौ अमित्रायाः पुत्रौ ययुः शिशुरिति नामनी सममेव जानाते। शिशुः शंसनीयो भवतीति प्रशंसानिमित्तत्वात् प्रियम्।

'आदित्यानां पत्वान्विहीति। आदित्यानेवैनं गमयति देवा आशापाला एतं देवेभ्योऽश्वमेधाय प्रोक्षितᳪ रक्षतेति शतं वै तल्प्या राजपुत्रा आशापालास्तेभ्य एवैनं परिददातीह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहेति संवत्सरमाहुतीर्जुहोति षोडश नवतीरेता वा अश्वस्य बन्धनं ताभिरेवैनं बध्नाति तस्मादश्वः प्रमुक्तो बन्धनमागच्छति षोडश नवतीरेता वा अश्वस्य बन्धनं ताभिरेवैनं बध्नाति तस्मादश्वः प्रमुक्तो बन्धनं न जहाति' (श० १३।१।६।२)। तल्प्याः तल्पसाधवः। शतं शय्यागताः, तल्पेन समं रात्रौ ये साधु रक्षन्ति राजपुत्राः, तेभ्य एवैनं परिददातीति ब्रुवन् देवशब्दं तेष्टे गौणं दर्शयति। अथैते देवा इत्यत्र देवा आशापाला लक्ष्यन्ते। इह रन्तिः, इह रमतामित्यादयो धृतयः संवत्सरे षोडशनवत्यः सम्पद्यन्ते। 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः। राष्ट्र एते व्यायच्छन्ते येऽश्वᳪ रक्षन्ति तेषां य उदृचं गच्छन्ति राष्ट्रेणैव ते राष्ट्रं भवन्त्यथ ये नोदृचं गच्छन्ति राष्ट्रात्ते व्यवच्छिद्यन्ते तस्माद्राष्ट्र्यश्वमेधेन यजेत परा वा एष सिच्यते योऽबलोऽश्वमेधेन यजते यद्यमित्रा अश्वं विन्देरन् यज्ञोऽस्य विच्छिद्येत पापीयान् स्याच्छतं कवचिनो रक्षन्ति यज्ञस्य सन्तत्या अव्यवच्छेदाय न पापीयान् भवत्यथान्यमानीय प्रोक्षेयुः सैव तत्र प्रायश्चित्तिः' (श० १३।१।६।३)। राष्ट्रं जनपदः, अश्वमेधकारणम्, तस्माद्राष्ट्रमश्वमेधः। यस्मद्राष्ट्रे एते विविधमायच्छन्ते व्याप्रियन्ते। तेषां ये राजपुत्रादयो राजन्यादय उदृचं समाप्तिं गच्छन्ति, ते राष्ट्रेणैव अश्वमेधेन हेतुना राष्ट्रात् स्वं रक्षन्ति राजपुत्रादयो भवन्ति। तयैव सेवया देशा आप्ताश्च प्राप्ताश्च भवन्ति। देशान् प्राप्नुवन्तीति। येनोदृचं गच्छन्ति जीवन्त एव प्रत्यावर्तन्त इति यावत्। ते राष्ट्राद् व्यवच्छिद्यन्ते। तस्माद् राष्ट्री राष्ट्रपतिः, अश्वमेधेन यजेतेति विधिः। परा बहिः। परासिच्यते परासिच्यन्ते क्षीयन्तेऽरातय इति यावत्। यद्यबलो मन्दबलः सामन्तेभ्यो यद्यश्वमेधेन यजेत, तत्र यद्यमित्रा अश्वं विन्देरन्, तदास्य यज्ञो व्यवच्छिद्येत स पापीयान् भवति। तस्मात् सबल एव यजते।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व जीवात्मन्, त्वं मात्रा पृथिव्या हेतुना विभूः समर्थोऽसि, पित्रा द्युलोकेन च प्रभूः, ताभ्यामाप्यायितस्यैव कार्यकारणसङ्घातस्य पुरुषार्थसमत्वात्। त्वमश्वोऽसि महाशनोऽसि, 'तयोरन्यः पिप्पलं

स्वाद्वत्ति' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रवर्णात् । हयोऽसि गमनशीलोऽसि, कर्मपरतन्त्रत्वात् । अत्योऽसि अन्यानतिक्रान्तो भवसि, सततगतिशीलो वासि । मयोऽसि सुखरूपोऽसि, स्वतः शुद्धब्रह्मरूपत्वात् । अर्वासि रिपूणां हन्तासि । सप्तिः सरणशीलोऽसि, संसारित्वात् । वाजी वेजनवानसि, विविधगतित्वात् । गत्यर्थकधात्वभ्यासः । वृषासि सेक्तासि । नृमणासि नृणां मनो यत्र परमात्मनि तद्रूपोऽसि । ययुरसि अत्यर्थं यातीति ययुः । शिशुरसि श्यतीति शिशुः सूक्ष्मरूपोऽसि । एवंविधनामा त्वं देवानां पत्वा मार्गमन्विहि, तेन गमने क्रमेण ब्रह्मप्राप्तिसम्भवात् । देवा आशापाला सर्वासु दिक्षु पालकाः, तेभ्य एतमश्वं गतिशीलं वर्धिष्णुं मेधाय यज्ञाय प्रोक्षितं प्रोक्षणेन संस्कृतं पशुमिव हे देवा, एनं दुर्मार्गप्रवृत्तेः कामक्रोधादिभ्योऽरातिभ्यो रक्षत । हे अश्व, ते तव इह परमात्मप्राप्तिमार्गे रन्तिः रमणमस्तु । इह धृतिर्धारणं मनसोऽस्तु स्वधृतिः स्वस्मिन् स्वरूपभूते परमात्मनि धृतिर्मनसो धारणमस्तु ।

दयानन्दस्तु -'हे आशापाला देवा विद्वांसः, यूयं यो मात्रा पृथिव्या विभूर्व्यापकः, पित्रा वायुना प्रभूः समर्थः, अश्वो योऽश्नुते व्याप्नोति सः, हयोऽसि अत्योऽसि मयोऽसि अर्वासि सप्तिरसि वाज्यसि वृषासि नृमणासि ययुर्नामासि शिशुर्नामासि आदित्यानां पत्वान्विहि । एतमश्वं स्वाहा । देवेभ्यो मेधाय प्रोक्षितं रक्षत । येनेह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वचनवैरूप्यात् । आशापाला देवा इति बहुवचनम्, यो मात्रा विभूरसि पित्रा प्रभूरसीति विषमः खलूपन्यासः । नाम वागसीति नोपपद्यते, सम्बोध्यस्य मनुष्यस्य वाक्त्वानुपपत्तेः । आदित्यानां मासानां योऽधः पतति स अनु इहि एति इति चानुपपन्नम्, कालस्य व्यापकत्वेन ऊर्ध्वाधोभावानुपपत्तेः । न च द्वादशमासातिक्रमणमेवाधःपतनमिति वाच्यम्, उत्क्रमणातिक्रमणादीनामधःपतनभिन्नत्वानुभावात् । न च वह्निर्व्यापको भवति, परिच्छिन्नत्वात् । न वा वह्निः सिच्यते, सेके तल्लोपप्रसङ्गात् । न चात्र जीवात्मनो व्यापकत्वं विवक्षितम्, त्वद्रीत्या जीवानामणुत्वात् ॥ १९ ॥

काय स्वाहा कस्मै स्वाहा कतमस्मै स्वाहा स्वाहाधिमाधीताय स्वाहा स्वाहा मनः प्रजापतये स्वाहा चित्तं विज्ञातायादित्यै स्वाहादित्यै मह्यै स्वाहादित्यै सुमृडीकायै स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा त्वष्ट्रे स्वाहा त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा विष्णवे स्वाहा विष्णवे निभूयपाय स्वाहा विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति देवता को यह आहुति प्राप्त हो । श्रेष्ठ प्रजापति को, परमेष्ठी प्रजापति को, विद्या-बुद्धि को धारण करने वाले को, मन में वर्तमान प्रजापति को, चित्त के साक्षी आदित्य देवता को, अदिति को, पूजनीय अदिति को, सुखदायक अदिति को, सरस्वती को, शोधक सरस्वती को, महती सरस्वती को, पूषा देवता को, मार्ग में प्राप्त पूषा देवता को, वैदिक मनुष्यों के शिक्षक को, त्वष्टा देवता को, वेग के रक्षक पूषा देवता को, बहुरूप त्वष्टा देवता को, विष्णु देवता को और अनेक अवतारधारी सबके रक्षक विष्णु देवता को हम यह आहुति देते हैं । पशु-प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट विष्णु देवता के निमित्त यह आहुति देते हैं ॥ २० ॥

'काय स्वाहेति चाश्वमेधिकानि त्रीणि, कृष्णाजिनदीक्षातः, अध्वरदीक्षणीयायाश्चत्वारि त्रीणि त्रीणि चाश्वमेधिकानि' (का० श्रौ० २०।४।३-५)। चत्वार्याध्वरिकाण्यौद्ग्रभणानि चतुर्थेऽध्याये सप्तमाष्टमकण्डिकयोराम्नातानि हुत्वा काय स्वाहेत्यादीन्याश्वमेधिकानि त्रीण्यौद्ग्रभणानि जुहुयात् । अत औद्ग्रभणहोमानन्तरं

दीक्षणीयाशेषं समाप्य कृष्णाजिनदीक्षा तत्रोपवेशनान्ता कर्तव्या, 'सप्ताहं प्रचरन्ति' (श० १३।१।७।२) इति श्रुतेः सप्ताहं दीक्षणीया कार्येति सूत्रार्थः। तत्र प्रत्यहं कर्तव्यमाह—'पश्वालम्भनाद्याध्वरदीक्षणीयायाः कृत्वा चत्वार्यौद्ग्रभणानि जुहोत्याध्वरिकाणि' (का० श्रौ० २०।४।२)। अध्वरदीक्षणीयायाश्चत्वारि चत्वार्यौद्ग्रभणानि 'आकूत्यै प्रयुजे (४।७) इत्यादीनि त्रीणि त्रीणि चाश्वमेधिकानि काय स्वाहेत्यादिकण्डिका-पठितानि प्रत्यहमन्यान्यन्यानि पाठक्रमेण, एवं सप्त सप्त प्रत्यहं हूयन्ते। काय स्वाहेति कण्डिकायां सप्तत्रिकाणि पठितानि। तन्मध्ये सप्तस्वहःसु क्रमेणैकैकं त्रिकं हूयते। तत्र द्वितीयत्रिके स्वाहाकाराद्यं मन्त्रत्रयं स्वाहाधिमा-धीतायेत्यादीति सूत्रार्थ इति महीधराचार्यः।

औद्ग्रभणसंज्ञानि यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। काय प्रजापतये स्वाहा सुहुतमस्तु। कस्मै प्रजापतये स्वाहा। कतमस्मै प्रजापतिश्रेष्ठाय स्वाहा—इति स्वाहाकारान्तास्तिस्र आहुतयः। अथ स्वाहादय आहुतयः। स्वाधिम् आधिराधानम्, तम्। अत्र चतुर्थी कर्तव्या, आधये। विभक्तिव्यत्ययः। आधीताय आधानं प्राप्ताय स्वाहा। मनो मनसि वर्तमानाय प्रजापतये स्वाहा। चित्तं चित्तस्य विज्ञाताय सर्वेषां चित्तसाक्षिणे स्वाहा। अदित्यै अखण्डितायै स्वाहा। अदित्यै मह्यै पूजितायै स्वाहा। अदित्यै सुमृडीकायै सुखयित्र्यै स्वाहा। सरस्वत्यै वागधिष्ठात्र्यै स्वाहा। सरस्वत्यै पावकायै पावयतीति पावका तस्यै शोधयित्र्यै स्वाहा। सरस्वत्यै बृहत्यै महत्यै स्वाहा। पूष्णे स्वाहा पूष्णे प्रपथ्याय प्रगतः पन्थाः प्रपथः, तत्र भवः प्रपथ्यः, तस्मै स्वाहा। प्रपथादनपेतो वा प्रपथ्यः। 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' (पा० सू० ४।४।९२) इति यत् प्रत्ययः।

पूष्णे नरन्धिषाय स्वाहा। 'धिष शब्दे' जुहोत्यादिश्छान्दसः। नरं दिधेष्टि शब्दयत्युदयेन यः स नरन्धिषः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कः। त्वष्ट्रे स्वाहा, त्वक्षतीति त्वष्टा, तृच्, तस्मै। त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा। तुतोर्तीति तुरीः, 'अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः' (उ० ३।१५८) इति बाहुलकात् ईः, वेगः, तं पाति रक्षतीति तुरीपस्तस्मै। त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा। पुरूणि बहूनि रूपाणि यस्य तस्मै विष्णवे स्वाहा, वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः। 'विषेः किच्च' (उ० ३।३९) इति नुः, तस्मै। विष्णवे निभूयपाय स्वाहा। नितरां भूत्वा मत्स्यादिरूपेणावतीर्य निभूय निभूय पातीति निभूयपः। विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा। शिपिषु पशुषु प्राणिषु विष्टः प्रविष्टोऽन्तर्यामिरूपेणेति शिपिविष्टस्तस्मै।

उव्वटाचार्यरीत्या तु—आधिमाध्यानम्, चतुर्थी चात्र कर्तव्या। आधये स्वाहा आधीताय स्वाहेति। चित्तं विज्ञाताय, चित्तायेति विभक्तिव्यत्ययः। मनो मनसे इति विभक्तिव्यत्ययः। नीचैर्भूत्वा यः पाति स निभूयपः, तस्मै। शिपिं पशुं यज्ञस्य वेष्टयति साधुं करोतीति शिपिविष्टस्तस्मै। शेषं पूर्ववत्। एते औद्ग्रभणमन्त्राः।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रजापतिरकामयत। अश्वमेधेन यजेयेति सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सप्तधात्मनो देवता अपाक्रामन् सा दीक्षाभवत् स एतानि वैश्वदेवान्यपश्यत्तान्यजुहोत्तैर्वै स दीक्षामवारुन्ध यद्वैश्वदेवानि जुहोति दीक्षामेव तैर्यजमानोऽवरुन्धेऽन्वहं जुहोत्यन्वहमेव दीक्षामवरुन्धे सप्त जुहोति सप्त वै ता देवता अपाक्रामंस्ताभिरेवास्मै दीक्षामवरुन्धे' (श० १३।१।७।१)। अश्वमेधेन यियक्षिषोः श्रान्तस्य तप्तस्य य आत्मा शरीरं तस्मात् सप्तभेदात् चक्षुरादिभिश्छिद्रैर्देवता अपक्रान्ताः। सा च दीक्षा आश्वमेधिकी अभवत्। स प्रजापतिस्तस्या दीक्षादेवताया अवरोधार्थं काय स्वाहेत्यादिमन्त्रकाण्यपक्रान्तसप्तदेवताकानि वक्ष्यमाणानि वैश्वदेवानि नामानि हवनान्यपश्यत्। अन्वहमहन्यहनि जुहोति, न तु सर्वाणि, किन्तु वक्ष्यमाणेन विभागेन सप्त जुहोति समानदेवतानि त्रीण्येकीकृत्य, एवं सप्तेति ताभिरेव देवताभिस्तर्पिताभिरस्मै यजमानाय दीक्षामवरुन्धे। 'अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति। ये दीक्षामतिरेचयन्ति सप्ताहं प्रचरन्ति सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः प्राणा दीक्षा प्राणैरेवास्मै प्राणान् दीक्षामव-रुन्धे त्रेधा विभज्य देवता जुहोति त्र्यावृतो वै देवास्त्र्यावृत इमे लोका ऋद्ध्यामेव वीर्य एषु लोकेषु प्रतितिष्ठति'

(श० १३।१।७।२)। ये दीक्षामवरुद्धच वैश्वदेवान्यतिरेचयन्ति, एकाहर्दीक्षया सप्ताहर्दीक्षया प्रचरन्ति। सप्त वैश्वदेवानि जुह्वति दीक्षायाः सकाशाद् वैश्वदेवानि व्यतिरेचयन्ति। तेभ्यः प्राणा अपक्रामन्ति। तत्प्रतीकाराय सप्ताहं दीक्षया प्रचरति सप्त ये शीर्षण्याः प्राणास्ते आश्वमेधिकीदीक्षाभूताः। ततश्च प्राणैरेव दीक्षात्मकैः प्राणात्मिकां दीक्षामवरुन्धे। त्रेधा त्रीणि रूपाणि विभज्य देवतां जुहोति। काय स्वाहेत्यादिना। त्र्यावृतो वसुरुद्रादित्यात्मकैरवयवैस्त्रिगुणा देवाः। अग्निः, सोमः, इन्द्र इत्येवमाद्यात्मिकास्त्र्यावृतो वा। एवं लोका अपि त्रिगुणाः समस्ताः। प्रत्येकं चादिमध्यान्तविभागेन त्र्यावृतः। ततश्च त्रिगुणाभिर्देवताभिरिष्टाभिस्त्रिगुणश्च दीर्घवत्सु समृद्धेष्वेषु लोकेषु प्रतितिष्ठति। 'एकविꣳशतिः सम्पद्यन्ते। द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविꣳशस्तद्दैवं क्षत्रꣳ सा श्रीस्तदाधिपत्यं तद् ब्रध्नस्यविष्टपं तत्स्वाराज्यमश्नुते' (श० १३।१।७।३)। तानि च सप्त सप्त त्रिकाणि। सप्तत्रिगुणान्येकविंशतिः सङ्गच्छते। यदेव द्वादशमासाः पञ्चर्तवः त्रय इमे लोकाः, असावादित्यः—सम्भूय एकविंशतिः, तद्दैवं देवेषु भवं क्षत्रम् सा श्रीरिति तत्सौभाग्यतामाश्रित्याह—तदेव ब्रध्नस्य आदित्यस्य सम्बन्धि प्रकाश्यम् तदेव च आधिपत्यम् अधिपतिभवम्। तत् स्वाराज्यमेकैश्वर्यमश्नुते।

'त्रिꣳशतमौद्ग्रभणानि जुहोति। त्रिꣳशदक्षरा विराड् विराड् कृत्स्नमन्नं कृत्स्नस्यैवान्नाद्यस्यावरुद्धचै चत्वार्यौद्ग्रभणानि जुहोति त्रीणि वैश्वदेवानि सप्त सम्पद्यन्ते सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः प्राणा दीक्षा प्राणैरेवास्मै प्राणान् दीक्षामवरुन्धे पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति प्रत्युत्तब्ध्यै सयुक्त्वाय' (श० १३।१।७।४)। तैरेकविंशत्या वैश्वदेवैस्त्रिशतमौद्ग्रभणानि जुहोति। सप्तभिर्दिवसैः कृते एकविंशतिः सम्पद्यत इति सम्पदधिकारात्, चत्वार्यौद्ग्रभणानि जुहोतीति च एकस्मिन्नहनि चतुर्होमवचनाच्च। चत्वार्यौद्ग्रभणानि प्रत्यहं जुहोति। प्रागल्भ्येन सप्तमे तु षडग्निकानि जुहोति। कुत एवम्? त्रिंशत्सम्पद्वचनात्, तेषां च साग्निचित्येऽवश्यं होम्यत्वात्, अध्वरस्य त्वनग्नेरित्येतेनापि तत्प्राप्तिः। शीर्षण्याः शिरसि भवाः, 'शरीरावयवाद्यत्' (पा० सू० ५।१।६) इति यति, 'ये च तद्धिते' (पा० सू० ६।१।६) इति शीर्षन्नादेशे रूपम्। याः सप्त प्राणदेवता अपाक्रामन्, सा दीक्षा। इत्येवं प्राणदीक्षया प्राणैरेव सप्तभिरधियज्ञियैः प्राणान् दीक्षात्मकान् अधिदैवकान् अवरुन्धे। पूर्णाहुतिमुत्तमां 'विश्वो देवस्य' (वा० सं० २२।२१) इत्येतां जुहोति। किमर्थम्? पूर्वेषामौद्ग्रभणानाम्, उत्तब्ध्यै महत्यै कथं नाम प्रतिष्टम्भः स्यात्, प्रतिस्तब्धानि च सयुञ्जि कथं स्युरिति? प्रतिस्तब्धानि वर्तुलानि हि संहत्यकारीणि भवन्ति।

'विश्वो देवस्य नेतुरिति पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोतीयं वै पूर्णाहुतिरस्यामेवान्ततः प्रतितिष्ठति' (श० १३।१।८।८)। प्रजापतिरश्वमेधं यजुरात्मकं विग्रहवन्तं सृष्टवान्। स सृष्टः सन् यजुषामपूर्वाणां बहुत्वाद् बलवत्त्वाद् बलवत्तर इति कृत्वा ऋग्यजुषी सामयजुषी च प्रावृणोत्, अवष्टभ्य सङ्कोचितवान्। तं यजुरात्मकमश्वमेधमतिगुरुं वैश्वदेवानि होमकर्माण्युत्क्षिप्तवन्ति इत्याचार्यो हरिस्वामी।

'काय स्वाहा। कस्मै स्वाहा कतमस्मै स्वाहेति प्राजापत्यं मुख्यं करोति प्रजापतिमुखाभिरेवैनं देवताभिरुद्यच्छति' (श० १३।१।८।२)। प्राजापत्यं वैश्वदेवं त्रिप्रभेदं मुख्यं मुखमिव प्रथमं करोति। यदेव पूर्वासां व्याहृतीनां वा प्राजापत्यानां ब्राह्मणं 'प्रजापतिमुखाभिरेवैनं देवताभिरुद्यच्छति' इति ब्रुवत आह। 'स्वाहाधिमाधीताय स्वाहा। मनः प्रजापतये स्वाहा चित्तं विज्ञातायेति यदेव पूर्वासां ब्राह्मणं तदत्र' (श० १३।१।८।३)। 'आधिमाधीताय मनश्चित्तम्' इत्येता द्वितीयाहे पूर्वोक्तरेष्टौ हूयमाना चतुर्थी द्रष्टव्या 'त्वष्ट्रे स्वाहा। त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहेति त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानाꣳ रूपकृद्रूपैरेवैनमुद्यच्छति' (श० १३।१।८।७)। त्वष्टा वै। आत्मिकं वाश्वात्मकः। पशूनां मिथुनानाम्। आध्यात्मिकं तावद्रूपकृद्

रूपाणि नानाविधानि करोतीति । 'विष्णवे स्वाहा । विष्णवे निभूयपाय स्वाहा विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहेति यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञेनैवैनमुद्यच्छति' (श० १३।१।८।८) ।

अध्यात्मपक्षे—तत्तद्रूपापन्नाय ब्रह्मणे तत्तद्रूपापन्नायै राजराजेश्वर्यै भगवत्यै तत्तद्विशेषणविशिष्टाय विष्णवे त्वष्ट्रे तथाभूताय विष्णवे याज्ञिकाहुतिप्रदानेन स्वात्मसमर्पणेन सर्वाधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मण एवार्चनं भवतीति । अक्षरार्थस्तु पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'यैर्मनुष्यैः काय स्वाहा कस्मै स्वाहा कतमस्मै स्वाहा आधीताय स्वाहा प्रजापतये मनः स्वाहा विज्ञाताय चित्तमदित्यै स्वाहा मह्या अदित्यै स्वाहा सुमृडीकायै अदित्यै स्वाहा सरस्वत्यै पावकायै सरस्वत्यै स्वाहा बृहत्यै सरस्वत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा प्रपथ्याय स्वाहा शिपिविष्टाय विष्णवे स्वाहा कृतास्ते कथं न सुखिनः स्युः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाहाशब्दस्य सत्यक्रियार्थत्वे मानाभावात्, अभ्युपगमेऽपि तदनिरूपणात्, कमित्यस्य सुखार्थत्वेऽपि सुखसाधनार्थत्वे मूलाभावात् । कतमस्मै बहूनां मध्ये वर्तमानायेत्यप्यशुद्धम्, तादृशार्थताया निर्मूलत्वात् । आधीतेत्यस्य विद्यावृद्धयर्थतापि चिन्त्यैव । यो नितरां रक्षितो भूत्वाऽन्यान् पाति स निभूयप इत्यपि निर्मूलम्, भूयशब्दस्य तादृशार्थेऽशक्तेः, मनश्चित्तमित्यनयोः पदयोरन्वयानुपपत्तेश्च ॥ २० ॥

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम् । विश्वो॑ रा॒य इ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—सभी मनुष्य कर्मफल को प्रदान करने वाले सविता देव की मित्रता चाहते हैं । सभी कोई धन की, यश अथवा अन्न की प्राप्ति के लिये और अपनी सन्तति की पुष्टि के लिये सविता देव से प्रार्थना करते हैं ॥ २१ ॥

'षडाग्निकानि चतुःस्थाने, दशमं विश्वो देवस्येति' (का० श्रौ० २०।४।९-१०) । सूत्रद्वयेन सप्तम्यां दीक्षणीयायां कियानपि विशेषः प्रतिपाद्यते । प्रत्यहं यानि चत्वार्यौद्ग्रभणान्याध्वरिकाणि हूयन्ते, तेषां चतुर्णां स्थाने षडाग्निकानि 'आकूतिमग्निं प्रयुजᳪं स्वाहा' (वा० सं० ११।६६) इति हुत्वा, आश्वमेधिकानि त्रीणि विष्णवे स्वाहेत्यादीनि हुत्वा, विश्वो देवस्येति दशममौद्ग्रभणं जुहोतीति सूत्रार्थः । सवितृदेवत्यानुष्टुप् स्वस्त्यात्रेयदृष्टा । विश्वो मर्तः सर्वोऽपि मनुष्यो नेतुः कर्मफलप्रापकस्य देवस्य सवितुः सख्यं सखिभावं वुरीत वृणुते प्रार्थयते । 'वृञ् वरणे' अस्माद् लिङि तङि प्रथमपुरुषैकवचने व्यत्ययेन शपो लुकि 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (पा० सू० ७।१।१०२) इति ऋत उदादेशः । किञ्च, विश्वो जनो राये धनाय इषुध्यति सवितारं प्रार्थयते । इषुध्यति याच्ञाकर्मसु पठितः (निघ० ३।१९।१४) । द्युम्नं यशोऽन्नं वा वृणीत प्रार्थयते । किमर्थम् ? पुष्यसे पोषाय स्वप्रजापालनाय । 'तुमर्थे सेसेन ' (पा० सू० ३।४।९) इति रूपसिद्धिः । इयमृग् विशेषतश्चतुर्थेऽध्यायेऽष्टम्यां कण्डिकायां व्याख्याता ॥ २१ ॥

आ ब्रह्म॑न् ब्राह्म॒णो ब्र॑ह्मवर्च॒सी जा॑यता॒मा रा॒ष्ट्रे रा॑ज॒न्यः शूर॑ इष॒व्यो॒ऽतिव्या॒धी म॑हार॒थो जा॑यतां॒ दोग्ध्री॑ धे॒नुर्वोढा॑ऽन॒ड्वाना॒शुः सप्तिः॒ पुर॑न्धि॒र्योषा॑ जि॒ष्णू र॑थे॒ष्ठाः स॒भेयो॒ युवा॒ऽस्य यज॑मानस्य वी॒रो जा॑यतां॒ नि॒का॒मे नि॑कामे नः प॒र्जन्यो॑ वर्षतु॒ फल॑वत्यो न॒ ओष॑धयः पच्यन्तां योगक्षे॒मो नः॑ कल्पताम् ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—कृष्णाजिन की दीक्षा से लेकर उखा में १३ समिधाओं के रखने तक अध्वर्यु पढ़े—हे ब्रह्मन्, हमारे देश में यज्ञ करने वाले और वेदाध्ययनशील ब्राह्मण सब ओर उत्पन्न हों, शूरवीर बाणविद्या में चतुर, शत्रु को भली प्रकार बेधने वाले, महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों, इस यजमान की गायें खूब दूध दें, बैल बोझा उठाने में समर्थ हों, घोड़ा शीघ्रगामी हो, स्त्री सर्वगुणसम्पन्न हो, रथ में बैठने वाला जयशील हो, पराक्रमी युवा सभा के योग्य पुत्र हो, हमारे यहाँ इच्छानुसार वृष्टि हो, औषधियाँ फलवती हों और शीघ्र पक जाँय। हमें अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु की रक्षा प्राप्त हो ॥ २२ ॥

'कृष्णाजिनाद्यासमिदाधानात्कृत्वाऽऽब्रह्मन्निति जपति' (का० श्रौ० २०।४।११)। 'उत्सर्गकाल एके' (का० श्रौ० २०।४।१२) कृष्णाजिनदीक्षात आरभ्य उखायां त्रयोदशसमिदाधानान्तं कर्म कृत्वाऽध्वर्युराब्रह्मन्निति जपेत्। 'उत्सर्गैरुपतिष्ठते' (श० ७।५।२।२८) इत्युत्सर्गमन्त्रैरुपहितानां पशुशिरसामुपस्थानं श्रुतम्। तदानीं जपः, अथवा अश्वोत्सर्गकाल एव विभूर्मात्रेति जपानन्तरमेव जपं केचिदिच्छन्तीति सूत्रद्वयार्थः। लिङ्गोक्तदेवता। उत्कृतिश्छन्दः। हे ब्रह्मन्, राष्ट्रे अश्वमेधयाजिनो देशे ब्राह्मणो ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टो ब्रह्मवर्चसी यज्ञाध्ययनशीलः, आजायताम् उत्पद्यताम्, जन्मनैव वर्णव्यवस्थोपपत्तेः, वेदाध्ययनाङ्गभूत उपनयने जन्मना ब्राह्मणक्षत्रियविशामधिकारात्। राजन्यः क्षत्रियश्च, शूरः शूरयत इति शूरः पराक्रमी, इषव्य इषुभिर्विध्यतीति इषव्यः, यद्वा इषौ बाणविद्यायां कुशल इषव्यः, 'उगवादिभ्यो यत्' (पा० सू० ५।१।२) इति यति साधुः, अतिव्याधी अत्यन्तं विध्यतीत्यतिव्याधी महारथः, य एकः सहस्रं जयति सः। 'एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च स महारथ उच्यते ॥' इति स्मरणात्। तादृशो राजन्योऽस्मिन् राष्ट्रे आजायतामिति सम्बन्धः। दोग्ध्री दुग्धप्रपूरयित्री धेनू राष्ट्रे आजायतामिति सर्वत्र सम्बन्धः। अनड्वान् नवो वृषभो वोढा वहनशीलः। सप्तिः अश्वः आशुः शीघ्रगामी जायताम्। योषा स्त्री पुरन्धिः पुरं शरीरं सर्वगुणसम्पन्नं दधातीति। रथेष्ठा रथे तिष्ठतीति क्विप् सप्तम्या अलुक्। जिष्णुः रथे स्थितो युयुत्सुर्नरो जयनशीलो जिष्णुर्जायताम्। अस्य यजमानस्य युवा समर्थः सभेयः सभायां साधुः योग्यो वीरो पुत्र आजायताम्। 'ढश्छन्दसि' (पा० सू० ४।४।१०६) इति सभाशब्दात् तत्र साधुरित्यर्थे ढप्रत्ययः। किञ्च, नो राष्ट्रे पर्जन्यो मेघो निकामे निकामे कामनायां सत्यां नितरां वर्षतु, वीप्सार्थोऽभ्यासः, यदा यदा प्रार्थना स्यात्तदा तदावश्यं वर्षतु। फलवत्योऽतिशयेन फलयुक्ताः, अतिशायने मतुप्, यवाद्या ओषधयो नो राष्ट्रे पच्यन्तां स्वयमेव पक्वा भवन्तु। नोऽस्माकं योगेनाप्राप्तप्राप्तिरूपेण युक्तः क्षेमः प्राप्तरक्षणरूपः कल्पतां क्लृप्तो भवतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'आ ब्रह्मन्। ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामिति ब्राह्मण एव ब्रह्मवर्चसं दधाति तस्मात्पुरा ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जज्ञे' (श० १३।१।९।१)। आ समिदाधानात् कृत्वा ब्रह्मन्निति (आसमिदाधानादुखायां त्रयोदशसमिदाधानान्तं कर्म कृत्वा) अध्वर्युर्जपति, आशीरूपत्वात्, क्रियान्तरे चाविनियोगात्। एवमाशासानोऽध्वर्युर्ब्राह्मणे ब्रह्मवर्चसं दधाति। 'आ राष्ट्रे राजन्यः। शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतामिति राजन्य एव शौर्यं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे' (श० १४।१।९।२)। तस्माच्च पुरा यदा राजानोऽश्वमेधैरीजिरे तदा ब्रह्मवर्चसी जज्ञे उत्पन्नः। राजन्यश्च महारथो जज्ञे। 'दोग्ध्री धेनुरिति। धेन्वामेव पयो दधाति तस्मात् पुरा धेनुर्दोग्ध्री जज्ञे' (श० १३।१।९।३), 'धेन्वामेव पयो दधाति। वोढानड्वानिति। अनडुह्येव बलं दधाति तस्मात् पुरानड्वात् वोढा जज्ञे' (श० १३।१।९।४)। 'आशुः सप्तिरिति। अश्व एव जवं दधाति तस्मात् पुराऽश्वः सर्ता जज्ञे' (श० १३।१।९।५)। 'पुरन्धिर्योषेति। योषित्येव रूपं दधाति तस्माद्रूपिणी युवतिः प्रिया भावुका' (श० १३।१।९।६)। 'जिष्णू रथेष्ठा इति। राजन्य एव जैत्रं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यो जिष्णुर्जज्ञे' (श० १३।१।९।७)। 'सभेयो युवेति। एष वै सभेयो युवा यः प्रथमवयसी

स्त्रीणां प्रियो भावुकः' (श० १३।१।९।८)। 'आस्य यजमानस्य वीरो जायतामिति। यजमानस्यैव प्रजायां वीर्यं दधाति तस्मात् पुरेजानस्य वीरो जज्ञे' (श० १३।१।९।९)। अतिव्याधी अतिक्रम्य अन्येषां लक्ष्यं विध्यतीति। दोग्ध्री साधु दुग्धा। प्रथमवयसी प्रथमं वयो यस्य सः। तस्मात् पुरा ईजानस्य अश्वमेधेन इष्टवतो वीरो जायते स्म।

अध्यात्मपक्षे—अध्यात्मनिष्ठा व्यष्टिहितापेक्षया समष्टिहितं कामयन्ते। यथा 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥' 'स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया। मनश्च भद्रं भजतादधोक्षज आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥' (भा० म०) तथैवात्र समष्टिशुभाशंसा। हे ब्रह्मन् परमात्मन्, आसमन्तादस्मिन् राष्ट्रे ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्, वेदाध्ययनाध्यापनतदर्थानुष्ठानजनितं तेजो ब्रह्मवर्चसम्, तदस्यास्तीति ब्रह्मवर्चसी। तेन शुभवातावरणसंस्कृते राष्ट्रे स्वधर्मानुष्ठानवेदान्तश्रवणादिसौविध्यं सम्पद्यते। तथैव राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्यो भवेत्। पूर्ववदेव व्याख्यानम्। सुभिक्षे सुराष्ट्रे चतुर्थाश्रमधर्मपालनश्रवणादिसौष्ठवं सम्भाव्यते।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मन्, यथा नो राष्ट्रे ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण आजायताम्, इषव्योऽतिव्याधी महारथः शूरो राजन्य आजायताम्, दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा रथेष्ठा जिष्णुः सभेयो युवा जायताम्। अस्य यजमानस्य राष्ट्रे वीरो जायताम्, नो निकामे निकामे पर्जन्यो वर्षतु, ओषधयः फलवत्यो नः पच्यन्ताम्, नो योगक्षेमः कल्पताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। तथाहि—कर्मणा वर्णव्यवस्थाभ्युपगमे पौनरुक्त्यापत्तिः। यो वेदविद्यादिप्रकाशयुक्तः स एव कर्मणा ब्राह्मणो भवति, ब्रह्मवर्चस्यपि स एव भवतीत्युद्देश्यविधेयभावानुपपत्तिः। तथैव राजन्यो जिष्णुः शूरो जायतामित्यत्रापि सैवापत्तिः। पुरून् व्यवहारान् दधातीति पुरन्धिरित्यप्यसङ्गतम्, बहुव्यवहारधारकत्वस्यान्यत्रापि सत्त्वेन व्यभिचारात् ॥ २२ ॥

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहा मनसे स्वाहा ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हम प्राण के निमित्त आहुति देते हैं, अपान के निमित्त, व्यान के निमित्त, चक्षु की ज्योति बढ़ाने के निमित्त, श्रवण शक्ति को बढ़ाने के निमित्त, वाक् शक्ति को बढ़ाने के निमित्त और मनोबल को बढ़ाने के निमित्त आहुति देते हैं ॥ २३ ॥

'आज्य-सक्तु-धाना-लाजानामेकैकं जुहोति प्राणाय स्वाहेति प्रतिमन्त्रꣳ सर्वरात्रमावर्तम्' (का० श्रौ० २०।४।३२)। आज्यादीनां प्रतिप्रहरमेकैकं द्रव्यं क्रमेण सर्वस्यां रात्रौ उत्तरवेदिस्थाग्नौ जुहोति प्राणाय स्वाहेत्यादि-द्वादशकण्डिकात्मकैरनुवाकैः। कथङ्कारम्? आवर्तम्, प्राणाय स्वाहेत्यादिकमेकशताय स्वाहेत्यन्तं मन्त्रगणमावर्त्य आवर्त्य। सर्वरात्रमिति द्वितीयाग्रहणात् 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २।३।५) इति सूत्रार्थानुसारं होमक्रियाया रात्रेः कार्त्स्न्येन संयोगः। ततः प्रथमयामे घृतेन यागः, द्वितीये सक्तुभिः, तृतीये धानाभिः, चतुर्थे लाजैः। एकस्मै स्वाहेति द्वादशेऽनुवाके एकस्मै स्वाहा, द्वाभ्याꣳ स्वाहेत्यादौ त्रिभ्यः स्वाहा, चतुर्भ्यः स्वाहा, पञ्चभ्यः स्वाहा, षड्भ्यः स्वाहा, सप्तभ्यः स्वाहा, अष्टाभ्यः स्वाहा, नवभ्यः स्वाहेत्येवमादयो मन्त्रा अपठिता अप्येकैकोच्चयेन शतपर्यन्ताः प्रयोज्याः, 'एकोत्तरा जुहोति' (श० १३।२।१।५), 'नैकशतमत्येति' (श० १३।२।१।६) इत्यादिश्रुतिभ्यः। व्युष्टायां समाप्तायां रात्रौ व्युष्ट्यै स्वाहेति घृताहुतिमेकाम्, उदिते च सूर्ये स्वर्गाय स्वाहेत्येकामाहुतिं जुहोतीति सूत्रार्थः। इह त्रिभ्यः स्वाहेत्यारभ्य नवनवतिभ्यः स्वाहेत्यन्तः स्वाध्याय

उपसंहृतस्वाध्यायो लुप्तस्वाध्यायो वा उच्यते। स च जपपारायणहवनादिकर्मस्वनुसन्धेयः। लिङ्गोक्तदेवत्यानि यजूंषि। प्राणादय इन्द्रियदेवाः, एवम् अपानाय स्वाहेत्यादिकम्। चक्षुःश्रोत्रमनांस्यपि देवता एव, तेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रजापतिर्देवेभ्यो यज्ञान् व्यादिशत्। स आत्मन्नश्वमेधमधत्त ते देवाः प्रजापतिमब्रुवन्नेष वै यज्ञो यदश्वमेधोऽपि नोऽत्रास्तु भाग इति तेभ्य एतानन्नहोमानकल्पयद्यदन्नहोमान् जुहोति देवानेव तत्प्रीणाति' (श० १३।२।१।१)। 'आज्येन जुहोति। तेजो वा आज्यं तेजसैवास्मिंस्तत्तेजो दधात्याज्येन जुहोत्येतद्वै देवानां प्रियं धाम यदाज्यं प्रियेणैवैनान् धाम्ना समर्धयति' (श० १३।२।१।२)।'......लाजैर्जुहोति। नक्षत्राणां वा एतद्रूपं यल्लाजा नक्षत्राण्येव तत्प्रीणाति प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहेति नामग्राहं जुहोति नामग्राहमेवैनांस्तत्प्रीणात्येकस्मै स्वाहा द्वाभ्याᳪ स्वाहा शताय स्वाहैकशताय स्वाहेत्यनुपूर्वं जुहोत्यनुपूर्वमेवैनांस्तत्प्रीणात्येकोत्तरा जुहोत्येकवृद्वै स्वर्गो लोक एकधैवैनᳪ स्वर्गं लोकं गमयति पराचीर्जुहोति पराङिव वै स्वर्गो लोकः स्वर्गस्य लोकस्याभिजित्यै' (श० १३।२।१।५)। 'ईश्वरो वा एष। पराङ्प्रदघोर्यः पराचीराहुतीर्जुहोति नैकशतमत्येति यदेकशतमतीयादायुषा यजमानं व्यर्धयेदेकशतं जुहोति शतायुर्वै पुरुष आत्मैकशत आयुष्येवात्मन् प्रतितिष्ठति व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहेत्युत्तमे आहुती जुहोति रात्रिर्वै व्युष्टिरहः स्वर्गोऽहोरात्रे एव तत्प्रीणाति' (श० १३।२।१।६)। 'तदाहुः। यदुभे दिवा वा नक्तं वा जुहुयादहोरात्रे मोहयेद् व्युष्टचै स्वाहेत्यनुदित आदित्ये जुहोति स्वर्गाय स्वाहेत्युदितेऽहोरात्रयोरव्यतिमोहाय' (श० १३।२।१।७)। अन्नहोमब्राह्मणमेतत्। देवानां सक्तवो रूपम्, सन्ततत्वात्। नक्षत्राणां लाजारूपम्, समर्थत्वात्। प्राणादीनां नाम, गृहीतत्वात् नामग्राहम्। एकैक उत्तरद्रष्टव्यो देवो यास्वाहुतिषु ता एकोत्तरा आहुतीर्जुहोतीति विधिः। पूर्वपूर्वमनूत्तरस्मै इत्येतस्मिन्नर्थेऽनुपूर्वमित्यव्ययीभावः। एषोऽपि विधिरभावः। ततश्च 'त्रिभ्यः स्वाहा, चतुर्भ्यः स्वाहा, पञ्चभ्यः स्वाहा' इत्यादि तावज्जुहुयाद् यावच्छताय स्वाहैकशताय स्वाहेति। पराचीः वृत्ताः। सर्वां रात्रिं जुहोति। द्विशताय चतुःशताय स्वाहेत्यादिका इति हेयः कल्पः। 'ईश्वरो वा एष पराङ्प्रदघोर्यः पराचीराहुतीर्जुहोति नैकशतमतिक्रामति' इति स्थितिकल्प इत्याचार्यहरिस्वामी। तदेवार्थवादेन स्पष्टयति—यदेकशतमतीयादायुषा यजमानं व्यर्द्धयेदित्यादिना। अन्यत् स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—प्राणाय स्वाहा। बहिर्वृत्तिः प्राणः। व्यष्टिप्राणभिन्नाय समष्टिप्राणायेत्यर्थः। अपानाय स्वाहा। अन्तर्वृत्तिरपानः। व्यानाय सर्वशरीरगाय स्वाहा। समष्टिसूत्रात्मान्तर्गताः सर्वे प्राणाः। चक्षुषे तदभिन्नाय सूर्याय। श्रोत्राय श्रोत्राभिन्नाय दिग्देवतात्मने। वाचे सरस्वत्यै। मनसे हिरण्यगर्भाय स्वाहा। समष्टिप्राणादिषु व्यष्टिप्राणादीनामन्तर्भावचिन्तनमेवात्र स्वाहाकारार्थः।

दयानन्दस्तु—'यैर्मनुष्यैः प्राणायामा मनसे स्वाहा च प्रयुज्यन्ते, ते विद्वांसो जायन्ते' इति, तदपि निरर्थकमेव, स्वाहाशब्दस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात् ॥ २३ ॥

प्राच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा दक्षिणायै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा प्रतीच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहोदीच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहोर्ध्वायै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—हम पूर्व दिशा के निमित्त आहुति देते हैं, आग्नेय दिशा के निमित्त, दक्षिण दिशा के निमित्त, नैर्ऋत्य दिशा के निमित्त, पश्चिम दिशा के निमित्त, वायव्य दिशा के निमित्त, उत्तर दिशा के निमित्त, ईशानकोण के निमित्त, ऊर्ध्व दिशा के निमित्त और अधो दिशा के निमित्त, सबसे नीचे की दिशा के निमित्त, पृथ्वी गोलक में स्थित प्रत्येक गोल के नीचे स्थित दिशा के निमित्त आहुति देते हैं। इससे उन दिशाओं के देवता और प्राणी तृप्त हों ॥ २४ ॥

प्राच्यादयो दिग्देवताः। ताभ्यः स्वाहा सुहुतमिदमस्त्विति।

अध्यात्मपक्षे—परमात्मन एव प्राच्यादिदिग्रूपेणापि समर्हणीयत्वम् ॥ २४ ॥

अद्भ्यः स्वाहा वार्भ्यः स्वाहोदकाय स्वाहा तिष्ठन्तीभ्यः स्वाहा स्रवन्तीभ्यः स्वाहा स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा कूप्याभ्यः स्वाहा सूद्याभ्यः स्वाहा धार्याभ्यः स्वाहार्णवाय स्वाहा समुद्राय स्वाहा सरिराय स्वाहा ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—हम जल देवता के निमित्त हवि अर्पित करते हैं। वारि जलों को आहुति देते हैं। सूर्य की किरणों के ऊपर जाने वाले जल देवताओं के निमित्त, बहते हुए जल के निमित्त, टपकते हुए जल के निमित्त, कूप के जल के निमित्त, वर्षा के जल के निमित्त, धारण योग्य जल के निमित्त, नदियों में स्थित जल के निमित्त, समुद्र के जल के निमित्त और सबके उपकारक श्रेष्ठ जल के निमित्त आहुति देते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सभी प्रकार के जल के अधिष्ठात्री देवता प्रसन्न होकर हमारे इस यज्ञ के अनुकूल रहें ॥ २५ ॥

अत्र कण्डिकायां जलदेवता उक्ताः। तिष्ठन्तीभ्यः स्थिराभ्यः। स्रवन्तीभ्यः प्रवहमानाभ्यः। स्यन्दमानाभ्यः स्रोतोरूपेण प्रादुर्भवन्तीभ्यः। कूप्याभ्यः कूपसमुद्भवाभ्यः। सूद्याभ्यः शोभनोद्गमाभ्यः। धार्याभ्यो मणिकादिषु स्थापिताभ्यः। अर्णवाय अर्णांसि विद्यन्ते यत्र तस्मै। 'अर्णसो लोपश्च' (पा० सू० ५।२।१०९, वा० २) इति वप्रत्यये प्रकृतेः सकारस्य च लोपे रूपम्। समुद्राय समुनत्तीति समुद्रः, 'स्फायितञ्चि' (उ० २।१३) इत्यादिना रक्, अथवा समीचीना उद्रा जलचरविशेषा यस्मिन् तस्मै, आहोस्वित् समुद्रवन्ति आपो यत्रासौ समुद्रः, तस्मै। सरिराय सलिलाय स्वाहा।

अध्यात्मपक्षे—विविधजलरूपेण प्रादुर्भूतस्य परमात्मनः समर्हणम्।

दयानन्दस्तु—'यैर्मनुष्यैर्यज्ञेषु सुगन्ध्यादिद्रव्यं हवनाय अद्भ्यः स्वाहा वार्भ्यः स्वाहा''''सरिराय स्वाहा विधीयते, ते सर्वेषां सुखप्रदा जायन्ते' इति, तदपि निर्मूलम्, स्वाहापदार्थस्य स्वाभ्यूहितत्वात्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ २५ ॥

वाताय स्वाहा धूमाय स्वाहाभ्राय स्वाहा मेघाय स्वाहा विद्योतमानाय स्वाहा स्तनयते स्वाहाऽवस्फूर्जते स्वाहा वर्षते स्वाहा ववर्षते स्वाहोग्रं वर्षते स्वाहा शीघ्रं वर्षते स्वाहोद्गृह्णते स्वाहोद्गृहीताय स्वाहा प्रुष्णते स्वाहा शीकायते स्वाहा प्रुष्वाभ्यः स्वाहा ह्रादुनीभ्यः स्वाहा नीहाराय स्वाहा ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—हम वायु देवता के निमित्त आहुति देते हैं। मेघ के कारण-भूत धूम के लिये भली प्रकार हवन करते हैं। अभ्र के निमित्त, मेघ के निमित्त, चमकती हुई बिजली के निमित्त, गर्जन करते हुए मेघ के निमित्त, वज्रनिर्घोष के निमित्त, वर्षा करते हुए बादलों के निमित्त, थोड़ी वर्षा करने वाले बादलों के लिये, उग्र वर्षा करने वाले बादलों के लिये, शीघ्र वर्षा करने वाले बादलों के लिये, जल को ऊँचा ले जाने वाले बादलों के लिये, जल को ऊपर ग्रहण करने वाले बादलों के लिये, बहुत जल गिराने वाले बादलों के लिये, ठहर-ठहर कर वर्षा करने वाले बादलों के लिये, घोर वर्षा करने वाले बादलों के लिये, बार-बार गर्जन करने वाले बादलों के लिये, कुहरे के समान छा जाने वाले बादलों के लिये हम आहुति देते हैं। सब प्रकार के मेघों के अधिष्ठात्री देवता इन आहुतियों से प्रसन्न होकर हमारे इस यज्ञ के अनुकूल हों॥ २६॥

अत्र मेघोपयोगिदेवताभ्यः स्वाहाकारः। वाताय स्वाहा, वातीति वातः, 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१७४) इति क्तप्रत्यये साधु, तस्मै वर्षानुकूलाय पुरोवाताय। धूमाय धूनोति कम्पयतीति धूमः, 'इषियुधि' (उ० १।१४५) इति मक्प्रत्ययेन सिद्धिः, तस्मै यज्ञधूमाय स्वाहा, 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' (भ० गी० ३।१४) इति गीतोक्तेः। अभ्राय अपो बिभर्तीत्यभ्रम्, मूलविभुजादेराकृतिगणत्वात् कः, तस्मै मेघनिमित्ताय स्वाहा। अथवा न भ्रश्यन्त्यापो यस्मात्तदभ्रम्, 'न भ्रश्यन्ति यतस्तेभ्यो जलान्यभ्राणि तान्यतः' इति पुराण-वचनात्, 'अन्येष्वपि दृश्यते' (पा० सू० ३।२।१०१) इति डप्रत्ययेन रूपसिद्धिः। मेघाय स्वाहा, मेहतीति मेघः, 'मिह सेचने' पचाद्यच्, 'न्यङ्क्वादीनां च' (पा० सू० ७।३।५३) इति कुत्वम्। विद्योतमानाय विशेषेण द्योतते योऽसौ विद्योतमानः, तस्मै स्वाहा। स्तनयते स्वाहा, स्तनयतीति स्तनयन् तस्मै, 'स्तन देवशब्दे' अदन्तो धातुः। अवस्फूर्जते स्वाहा, अवस्फूर्जति यः सोऽवस्फूर्जन् तस्मै, 'टुओस्फूर्जा वज्रनिर्घोषे'। वर्षते स्वाहा, वर्षतीति वर्षन् तस्मै, 'वृषु सेचने'। अववर्षते स्वाहा, अव अवाचीनं वर्षतीति तस्मै। उग्रं वर्षते स्वाहा, उग्रं धारासम्पात-रूपेण वर्षतीति तस्मै। शीघ्रं वर्षते स्वाहा, सार्पे हि नक्षत्रे विना मेघदर्शनमपि वर्षा भवतीति लौकिकी प्रसिद्धिः। उद्गृह्णते स्वाहा, पतद्वस्तु इन्द्रगोपमत्स्यादिकमूर्ध्वमेव गृह्णातीति तस्मै, अथवा सौरैस्तिग्मरश्मिभिः सविता जलमुद्गृह्णाति, तत एव वृष्टिर्भवति। तथा चाह कविकुलगुरुः कालिदासः—'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः' (रघुवंशे १।१८)। उद्गृहीताय स्वाहा, वायुना ऊर्ध्वमेव गृहीत्वा स्थापिताय। प्रुष्णते स्वाहा, प्रुष्णाति स्नेहयति सेचयति पूरयति चेति प्रुष्णन् तस्मै। शीकायते स्वाहा, शीक्यत इति शीका, 'गुरोश्च हलः' (पा० सू० ३।३।१०३) इति अः प्रत्ययः, 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० सू० ४।१।४) इति टापि रूपम्, तामाचष्टे शीकायते, बाहुलकात् शता, 'शीकृ सेचने' शीलकरणमाचष्टे शीकायत इति वा। प्रुष्वाभ्यः स्वाहा प्रुष्णन्तीति प्रुष्वाः, औणादिको वः, ताभ्यः। ह्रादुनीभ्यः स्वाहा, ह्रादन्त इति ह्रादुनयः, स्त्रीत्वविवक्षायां ह्रादुन्यस्ताभ्यः, 'ह्राद अव्यक्ते शब्दे' औणादिक उनिः, निर्ह्रादकर्त्रीभ्यः। नीहाराय स्वाहा निर्ह्रियत इति नीहारः, 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१९) इति घञ्, 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (पा० सू० ६।३।१२२) इत्युपसर्गस्य दीर्घः, तस्मै मिहिकायै॥ २६॥

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहेन्द्राय स्वाहा पृथिव्यै स्वाहाऽन्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा दिग्भ्यः स्वाहाशाभ्यः स्वाहोर्व्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा॥ २७॥

मन्त्रार्थ—हम अग्नि के निमित हवि अर्पित करते हैं। सोम, इन्द्र, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के अधिष्ठात्री देवताओं को आहुति देते हैं। दिशाओं के अधिष्ठात्री देवताओं को, विदिशाओं (ईशानादि कोणों) के अधिष्ठात्री देवताओं को, पृथिवी की अधिष्ठात्री देवता को और नीचे की दिशा के देवताओं को हम आहुति देते हैं॥ २७॥

अग्न्यादयः प्रसिद्धाः। दिग्भ्यः प्राच्यादिमहादिग्भ्यः। आशाभ्य आशेरते प्राणिन आसु इयाशा दिशः, ताभ्यः। अथवा आ समन्तादश्नुते व्याप्नोतीत्याशा, 'अशूङ् व्याप्तौ सङ्घाते च' इति, पचाद्यच्, चतुर्थी-बहुवचने आशाभ्यः। उर्व्यै दिशे, उर्वी विस्तीर्णा ऊर्ध्वा दिक्, तस्यै। अर्वाच्यै दिशे, अवर इत्यर्वाची अधस्ताद् वर्तमाना अधरा दिक्, तस्यै। पृषोदरादित्वात् साधु। स्पष्टमन्यत् ॥ २७ ॥

नक्षत्रेभ्यः स्वाहा नक्षत्रियेभ्यः स्वाहाहोरात्रेभ्यः स्वाहार्धमासेभ्यः स्वाहा मासेभ्यः स्वाहा ऋतुभ्यः स्वाहार्तवेभ्यः स्वाहा संवत्सराय स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬं स्वाहा चन्द्राय स्वाहा सूर्याय स्वाहा रश्मिभ्यः स्वाहा वसुभ्यः स्वाहा रुद्रेभ्यः स्वाहादित्येभ्यः स्वाहा मरुद्भ्यः स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा मूलेभ्यः स्वाहा शाखाभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा पुष्पेभ्यः स्वाहा फलेभ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हम नक्षत्रों के निमित्त आहुति देते हैं। नक्षत्र सम्बन्धी देवताओं को, दिन-रात के देवताओं को, अर्धमास के देवताओं को, मासों के देवताओं को, ऋतुओं के देवताओं को, ऋतुओं में उत्पन्न हुए पदार्थों को, संवत्सर को, द्यावापृथिवी को, चन्द्रमा को, सूर्य को, सूर्य की किरणों को आहुति देते हैं। हम वसुओं के निमित, रुद्रों के निमित्त, आदित्यों के निमित्त, मरुद्गणों के निमित्त, विश्वेदेव देवताओं के निमित्त आहुति देते हैं। हम मूल (जड़) के निमित्त, शाखाओं के निमित्त, वनस्पतियों के निमित्त, पुष्पों के निमित्त, फलों के निमित्त और ओषधियों के निमित्त आहुति देते हैं। हमारी यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २८ ॥

नक्षत्रेभ्यः स्वाहा न क्षदन्ते हिंसन्तीति नक्षत्राणि, 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' (उ० ४।१६०) इनि ष्ट्रन्, यद्वा नक्षन्तीति नक्षत्राणि, 'अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन्' (उ० ३।१०५) इत्यत्रन्। 'णक्ष गतौ' इत्यस्य रूपम्। यद्वा न क्षण्यन्ति हिंसन्तीति नक्षत्राणि, 'क्षणु हिंसायाम्' ष्ट्रन्। अथवा नाक्षन्ति दिव्याप्नुवन्ति यानि तानि नक्षत्राणि, अत्रन्प्रत्यये प्रकृतेरकारलोपे च सिद्धिः, 'अक्षू व्याप्तौ' तेभ्यः। अथवा न क्षरन्तीति नक्षत्राणि। 'नभ्राण्नपात्' (पा० सू० ६।३।७५) इति रूपसिद्धिः, तेभ्यः। नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा। नक्षत्रमण्डले भवा नक्षत्रियाः, नक्षत्रसम्बन्धिनो वा तेभ्यः, 'नक्षत्राद् घः' (पा० सू० ४।४।१४१) इति रूपसिद्धिः। अर्धमासेभ्यः पक्षेभ्यः। आर्तवेभ्यः, ऋतव एव आर्तवास्तेभ्यः, ऋतुसम्बन्धिभ्य इत्यर्थः। नक्षत्रादयः कालाधिष्ठात्र्यो देवताः। सुगममन्यत् ॥ २८ ॥

पृथिव्यै स्वाहाऽन्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाऽद्भ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा परिप्लवेभ्यः स्वाहा चराचरेभ्यः स्वाहा सरीसृपेभ्यः स्वाहा ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—हम पृथिवी के निमित्त आहुति देते हैं। अन्तरिक्ष के निमित्त द्युलोक के निमित्त, सूर्य के निमित्त, चन्द्रमा के निमित्त, नक्षत्रों के लिये, जल, ओषधी और वनस्पतियों के लिये, सब ओर भ्रमण करने वाले ग्रहों के निमित्त, चर और अचर प्राणियों के निमित्त और सरकने वाले सर्प आदि जीवों के निमित्त आहुति देते हैं। यह भली प्रकार गृहीत हो। इससे सबका कल्याण हो ॥ २९ ॥

पृथिव्यादयो लोकाधिष्ठात्र्यो देवताः। परिप्लवेभ्यः परितः प्लवन्ते सञ्चरन्तीति परिप्लवाः, तेभ्यः। चराचरेभ्यश्चरन्तीति चराचराः, चरेर्गत्यर्थात् पचाद्यचि, 'चरिचलिपतिवदीनां वा द्वित्वमच्याक् चाभ्यासस्येति वक्तव्यम्' (पा० सू० ३।१।१३४, वा० १) इत्यागमस्य दीर्घत्वसामर्थ्यादभ्यासह्रस्वो हलादिशेषश्च न, तेभ्यः। सरीसृपेभ्यः कुटिलं सर्पन्तीति सरीसृपाः, 'नित्यं कौटिल्ये गतौ' (पा० सू० ३।१।२३) इति यङि, 'सन्यङोः' (पा० सू० ६।१।९) इति द्वित्वे, 'रीगृदुपधस्य च' (पा० सू० ७।४।९०) इत्यभ्यासस्य रीगागमे पचाद्यचि 'यङोऽचि च' (पा० सू० २।४।७४) इति यङो लुकि रूपम्, तेभ्यः॥ २९॥

अस॑वे॒ स्वाहा॒ वस॑वे॒ स्वाहा॑ वि॒भुवे॒ स्वाहा॒ विव॑स्वते॒ स्वाहा॑ गण॒श्रिये॒ स्वाहा॑ गण॑पतये॒ स्वाहा॑ऽभि॒भुवे॒ स्वाहा॒ऽधि॑पतये॒ स्वाहा॑ शू॒षाय॒ स्वाहा॑ सꣳसर्पाय॒ स्वाहा॑ च॒न्द्राय॒ स्वाहा॒ ज्योति॑षे॒ स्वाहा॑ मलिम्लु॒चाय॒ स्वाहा॒ दिवा॑ प॒तय॑ते॒ स्वाहा॑॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—हम प्राणों के निमित्त आहुति देते हैं। वसु और विभु देवताओं के निमित्त, विवस्वान् सूर्य के निमित्त, गणश्री देवताओं के निमित्त, गणपति के निमित्त, हमारे सम्मुख आने वाले प्राणियों के निमित्त, सबके अधिपति के निमित्त, बलवान् के निमित्त, गमनशील देवताओं के निमित्त, चन्द्रमा आदि ज्योतिर्मय देवताओं के निमित्त, मलिम्लुच देवताओं के निमित्त और दिन के पति सूर्य के निमित आहुति देते हैं॥ ३०॥

अस्वादयोऽपि तादृश्य एव देवताः। असवे, अस्यति सर्वमित्यसुः प्राणः, तस्मै इदं हविः स्वाहुतमस्तु। वसवे, वसति देहे आत्माऽनेनेति वसुरपानम्, तस्मै। विभुवे, विभवति व्याप्नोति सर्वं गात्रमिति विभुर्व्यानः, तस्मै। विवस्वते, विवसति परिचरणकर्मविपाके सति परिचरतीति विवस्वानुदानः, तस्मै। गणश्रिये, इत्थं प्राणादिचतुष्टयलक्षणं गणं श्रयतीति गणश्रीः समानः, तस्मै। गणपतये, गणस्य उक्तप्राणादिवायुसङ्घस्य इन्द्रिय-वर्गस्य पतिः स्वामी आत्मा गणपतिः, तस्मै। अभिभुवे, अभिभवति सर्वं तेजसा इत्यभिभूरग्निः, तस्मै। अधिपतये, अधिकः सर्वाधिक्येन वर्तमानः पतिरधिपतिः, प्रजापतिरिति यावत्, तस्मै। शूषाय 'शूषमिति बलनाम' (निघ० २।९।१६), तस्मै बलयुक्ताय देवाय। संसर्पाय क्षयमासे जायमाने ततः पूर्वोऽधिमासः संसर्पः, तस्मै। उत्तर-श्चांहमस्पतिः। ज्योतिषे सूर्यचन्द्रादिसर्वज्योतिष्वनुस्यूताय तेजसे। मलिम्लुचाय मलमासाख्याय। दिवापतयते दिवा अहनि पतयति गच्छतीति दिवापतयन्, तस्मै देवाय स्वाहा सुष्ठु आहुतमस्तु॥ ३०॥

मध॑वे॒ स्वाहा॒ माध॑वाय॒ स्वाहा॑ शु॒क्राय॒ स्वाहा॒ शुच॑ये॒ स्वाहा॒ नभ॑से॒ स्वाहा॑ न॒भ॒स्याय॒ स्वाहे॒षाय॒ स्वाहो॒र्जाय॒ स्वाहा॒ सह॑से॒ स्वाहा॑ स॒ह॒स्याय॒ स्वाहा॒ तप॑से॒ स्वाहा॑ त॒प॒स्याय॒ स्वाहा॑ꣳहसस्प॒तये॒ स्वाहा॑॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—हम चैत्र मास के अधिष्ठाता देवता को, वैशाख मास के अधिष्ठाता देवता को, ज्येष्ठ मास के अधिष्ठाता देवता को, आषाढ़ मास के अधिष्ठाता देवता को, श्रावण के अधिष्ठाता देवता को, भाद्रपद मास के अधिष्ठाता देवता को, आश्विन मास के अधिष्ठाता देवता को, कार्तिक मास के अधिष्ठाता देवता को, मार्गशीर्ष मास के अधिष्ठाता देवता को, पौष के अधिष्ठाता देवता को, माघ के अधिष्ठाता देवता को, फाल्गुन मास के अधिष्ठाता देवता को और मलमास के अधिष्ठाता देवता को आहुति देते हैं॥ ३१॥

मध्वादयो मासाधिष्ठातारो देवाः। मधवे मधुरादिगुणसम्बन्धिने चैत्राय, माधवाय वैशाखाय, शुक्राय विशेषदीप्तिमते ज्येष्ठाय, शुचये आषाढाय, नभसे श्रावणाय, नभस्याय भाद्रपदाय, इषाय आश्विनाय, ऊर्जाय कार्तिकाय, सहसे मार्गशीर्षाय, सहस्याय पौषाय, तपसे माघाय, तपस्याय फाल्गुनाय—इति द्वादश मासा उक्ताः। यस्मिन् वर्षे क्षयमासो भवति, तत्र द्वौ अधिमासौ—प्रथमः संसर्पः, द्वितीयः अंहसस्पतिः। तत्रेतः पूर्वस्यां कण्डिकायां संसर्प उक्तः। अत्र अंहसस्पतिरुच्यते। अंहसस्पतये परभाविने अधिकमासाय। स्वाहा सुष्ठु हुतमस्तु ॥ ३१ ॥

वाजा॑य॒ स्वाहा॑ प्रस॒वाय॒ स्वाहा॑ऽपि॒जाय॒ स्वाहा॒ क्रत॑वे॒ स्वाहा॒ स्वः॒ स्वाहा॑ मू॒र्ध्ने स्वाहा॑ व्यश्नु॒विने॒ स्वाहान्त्या॑य॒ स्वाहान्त्या॑य भौव॒नाय॒ स्वाहा॒ भुव॑नस्य॒ पत॑ये॒ स्वाहाऽधि॑पतये॒ स्वाहा॑ प्र॒जाप॑तये॒ स्वाहा॑ ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हम अन्न के अधिपति देवताओं को आहुति देते हैं। पदार्थों के उत्पादक देवताओं को, जल से उत्पन्न विविध अन्नों को, यज्ञ के योग्य अन्नों को, स्वर्गीय अन्न को, अन्नों के अधिपति सूर्य को, सर्वत्र व्यापक अन्नों को, महत् स्वरूप अन्नों को, व्यवहार से महान् सांसारिक अन्नों को, संसार के पालक अन्नाधीश देवता को, सब के अधिपति अन्न को और प्रजाओं के पालक अन्न को हवि समर्पित करते हैं ॥ ३२ ॥

वाजोऽन्नं बलं वा, तस्मै तदभिमानिदेवाय। प्रसवः प्रेरणम् उत्पत्तिर्वा, अनुज्ञारूपाय देवायेति यावत्, तस्मै। अपिजाय अपि अप्सु जायत इत्यपिजः, तस्मै। क्रतवे क्रतुः सङ्कल्पो यज्ञो वा, तस्मै। स्वः सुखम्, सुखरूपो देवः, तस्मै। मूर्ध्ने मूर्धवच्छ्रेष्ठाय। व्यश्नुविने विशेषेणाश्नुते व्याप्नोति तच्छील इति व्यश्नुवी, तस्मै व्यापनशीलाय। अन्त्याय अन्ते अवसाने भवोऽन्त्यः, तस्मै, सर्वकारणायेति यावत्। अन्त्याय भौवनाय भुवनानामयं भौवनः, तस्मै। भुवनस्य लोकस्य पतये पालयित्रे। अधिपतये अधिकपालयित्रे। प्रजापतये सर्वलोकपालयित्रे, 'प्रजापतिर्वा भुवनस्य पतिः' (श० ९।४।२।१६) इति श्रुत्यन्तरात्। स्वाहा सुहुतमस्तु ॥३२॥

आयु॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॑ प्रा॒णो य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॑ऽपा॒नो य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॑ व्या॒नो य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहो॑दा॒नो य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॑ स॒मा॒नो य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॒ चक्षु॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॒ श्रोत्रं॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॒ वाग्य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॒ मनो॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॒त्मा य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॑ ब्र॒ह्मा य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॒ ज्योति॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॒ स्व॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॑ पृ॒ष्ठं य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॑ य॒ज्ञो य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪ स्वाहा॑ ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हमारी आयु यज्ञ के अनुष्ठान से बढ़े, इसी इच्छा से हम हवि अर्पित करते हैं। प्राण यज्ञ के द्वारा बलिष्ठ हो, अपान यज्ञ से कल्पित हो, व्यान वायु के द्वारा बलिष्ठ हो, उदान वायु यज्ञ के द्वारा बलशाली हो, समान वायु यज्ञ के द्वारा बलिष्ठ हो, इसके लिये हम हवि अर्पित करते हैं। चक्षु यज्ञ से ज्योति प्राप्त करे, श्रोत्रेन्द्रिय यज्ञ से श्रवण-शक्ति प्राप्त करे, वाणी यज्ञ से वाक्शक्ति प्राप्त करे, मेरा मन यज्ञ से निर्मल हो, मेरी आत्मा यज्ञ से निर्मल हो, वेद यज्ञ के द्वारा मुझे कृतार्थ करें, आत्मज्योति यज्ञ के द्वारा प्रज्वलित हो, स्वर्ग यज्ञ के द्वारा हमें प्राप्त हो, ब्रह्मलोक यज्ञ के द्वारा हमें प्राप्त हो और हम यज्ञ के इस अनुष्ठान से यज्ञ का फल प्राप्त कर सकें, इसके लिये हम हवि अर्पित करते हैं ॥ ३३ ॥

आयुर्जीवनं यज्ञेन अश्वमेधरूपेण साधनेन कल्पतां सम्पद्यताम्। एवमेवोत्तरेष्वपि योजना। प्राणाद्याः पञ्च वायवः प्रसिद्धाः, चक्षुरादीनीन्द्रियाणि च प्रसिद्धानि। एतेषामधिपतिरात्मा जीवः, तदधिष्ठानभूतो देहो वा। पृष्ठं देहस्य पृष्ठभागः। ब्रह्म ब्राह्मणजातिर्वेदो वा। सिद्धमन्यत्॥ ३३॥

एकस्मै स्वाहा द्वाभ्याᳪं स्वाहा शताय स्वाहैकशताय स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहा स्वर्गाय स्वाहा॥ ३४॥

इति द्वाविंशोऽध्यायः॥

मन्त्रार्थ—हम अद्वितीय परमात्मा को आहुति समर्पित करते हैं। हम प्रकृति-पुरुष, जीव-ईश्वर अथवा कार्यकारण स्वरूप दो पदार्थों को आहुति समर्पित करते हैं। सैकड़ों स्वरूप वाले, बहुरूप होने के कारण एक में और सौ में भी व्याप्त परमात्मा को, रात्रि के देवता को और दिन के स्वामी को हम आहुति देते हैं। यह भली प्रकार गृहीत हो। यहाँ तक दिशाओं के देवताओं को, जल देवताओं को और अन्य प्राण आदि देवताओं को प्रसन्न करने के लिये आहुतियाँ दी गई हैं। इनमें आयु की वृद्धि की प्रार्थना के साथ परमात्मा की महिमा का वर्णन करके अन्त में संसार के माता-पितारूप दिन और रात्रि को आहुति देकर विश्राम लिया गया है॥ ३४॥

अत्र संख्याधीशा देवाः। एकस्मै अद्वितीयब्रह्मणे स्वाहा सुहुतमस्तु। द्वाभ्यां प्रकृतिपुरुषाभ्याम्। शताय अनन्ताय। एकशताय स्वाहा सुहुतमस्तु। 'व्युष्ट्या इति व्युष्टायाम्' (का० श्रौ० २०।४।३३)। 'स्वर्गायेत्युदिते' (का० श्रौ० २०।४।३४)। व्युष्टायां समाप्तायां रात्रौ व्युष्ट्यै स्वाहेत्येकामाहुतिमाज्येन जुहुयात्। उषसि प्रादुर्भूतायामेषाहुतिः। उदिते च सूर्ये स्वर्गाय स्वाहा इत्येकामाहुतिं जुहुयादिति सूत्रद्वयार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'तदाहुः। यदुभे दिवा वा नक्तं वा जुहुयादहोरात्रे मोहयेद् व्युष्ट्यै स्वाहेत्यनुदित आदित्ये जुहोति स्वर्गाय स्वाहेत्युदितेऽहोरात्रयोरव्यतिमोहाय' (श० १३।२।१।७)। प्राणाय स्वाहेति त्रयोविंशीं कण्डिकामारभ्य द्वादशभिः कण्डिकासम्मितैरनुवाकैरुक्ता देवता लोककालाग्न्यादिवपुषो हविर्भिराज्यादिभि-रर्हणीयाः। सर्वे चैते यागा महतोऽश्वमेधस्यावयविनोऽवयवभूताः। यथा मनुष्यस्याऽवयविनोऽवयवभूताः शिरःपाण्यादयः, तद्वत्। प्रजापतेरवयवभूतोऽश्वमेधः सर्वे देवाश्च। सर्वं चैतत्परमात्मन आत्मैव, 'सर्वमिदं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६) इति श्रुतेः। स चात्मैव सर्वत्र स्तूयते, इज्यते च।

अध्यात्मपक्षे—परमात्मनः सार्वात्म्यमिदं निगदव्याख्यातम्।

दयानन्दस्तु—'तेभ्यस्तेभ्यः स्वाहा उत्तमक्रिया' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तत्तदुपयोगिनीनां विशिष्टाना-मुत्तमक्रियाणामनुक्तेः, अनिरूपणाच्च। संसर्पांहसस्पतीशब्दौ क्षयमासपूर्वोत्तरभाविनोरधिकमासयोः प्रसिद्धौ। मलिम्लुचशब्दश्च प्रतितृतीयवर्षं जायमानेऽसंक्रान्तमासे प्रसिद्धः। तदेतदपहाय महात्मायं यः सम्यक् सर्पति गच्छतीत्यादिव्युत्पत्तिबलेन यौगिकमर्थं विदधाति, अर्थवाच्यं कमप्यर्थं न निरूपयति। सर्वत्रैव एतादृश एवास्य वाग्जालः॥ ३४॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनशाखाया वेदार्थपारिजातभाष्ये द्वाविंशोऽध्यायः॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—अश्वमेध यज्ञ करते समय उक्थसंस्था नामक दूसरे दिन प्रातःकाल के समय महिम नामक ग्रह का सुनहले ऊखल में इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए ग्रहण करे— सृष्टि से पहले जो अद्वितीय हिरण्यगर्भ था, सृष्टि होने पर वही सकल विश्व का पालक हुआ, वही अपनी शक्ति से इस पृथ्वी और द्युलोक को थामे हुए है। वह कैसा है ? इसको कोई स्थूल दृष्टि वाला नहीं बता सकता । ऐसे देवता की प्राप्ति के लिये हम आहुति देते हैं ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन् द्वाविंशेऽध्याये होममन्त्रा उक्ताः । अत्र त्रयोविंशेऽध्याये शिष्टं कर्मोच्यते। 'प्रातरुक्थ्यः, महिमानौ गृह्णाति सौवर्णेन पूर्वꣳ हिरण्यगर्भ इति, द्वितीयꣳ राजतेन यः प्राणत इति' (का० श्रौ० २०।५।१-२) । प्रातर्द्वितीयेऽहन्युक्थ्यसंस्थमहर्भवति । तत्र महिमसंज्ञौ द्वौ ग्रहौ गृह्णाति । आगन्तुकत्वादाग्रयणोक्थ्ययोर्मध्ये तौ गृह्णाति, 'अन्तराग्रयणोक्थ्यावागन्तुस्थानं ग्रहाणाम्' (का० श्रौ० १२।५।१) इति वचनात् । द्वयोर्मध्ये पूर्वं महिमानं सौवर्णेनोलूखलेन गृह्णाति हिरण्यगर्भ इति मन्त्रेण, द्वितीयं महिमानं ग्रहं राजतेन उलूखलेन यः प्राणत इति मन्त्रेण गृह्णातीति सूत्रद्वयार्थः । हिरण्यपुरुषरूपे ब्रह्माण्डे गर्भरूपेणावस्थितः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः । यद्वा हिरण्यानि हिरण्यमयान्यनन्तब्रह्माण्डानि गर्भे यस्य सः । अनन्तचिद्रूपे ब्रह्मणि कस्मिंश्चित् स्वल्पेंऽशे माया भवति । मायाया एकदेशेऽनन्तानि ब्रह्माण्डानि भवन्ति । भूतस्य प्राणिजातस्योत्पत्तेः पुरा समवर्तत स्वयं शरीरधारी बभूव । स च जात उत्पन्नमात्र एक एव सर्वस्योत्पत्स्यमानस्य पतिरीश्वर आसीत् । स पृथिवीमन्तरिक्षं द्यां द्युलोकम्, उतापि च इमां भूमिं लोकत्रयं दाधार धारयति । कस्मै काय प्रजापतये देवाय वयं हविषा विधेम हविर्दद्मः, विभक्तिव्यत्ययः, अत्रत्यो विशेषस्त्रयोदशेऽध्याये चतुर्थ्यां कण्डिकायां द्रष्टव्यः ॥ १ ॥

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिः सूर्यस्ते महिमा । यस्तेऽहन्त्संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते वायावन्तरिक्षे महिमा सम्बभूव यस्ते दिवि सूर्ये महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये स्वाहा देवेभ्यः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—ग्रहण के उपरान्त महिम ग्रह को स्थापित कर पुनः इस मन्त्र से आहुति दे—हे ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, प्रजापति के तुम प्रिय हो, मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ । यह तुम्हारा स्थान है, सूर्य तुम्हारी महिमा है, तुम्हारी यह महिमा दिन में वर्ष भर प्रकट होती रहती है । तुम्हारी जो महिमा वायु में, अन्तरिक्ष में प्रकट हुई, जो द्युलोक में सूर्यलोक में प्रकट हुई, तुम्हारी उस महिमा वाले प्रजापति को और देवताओं को हम यह आहुति देते हैं ॥ २ ॥

हे ग्रह ! प्रजापतये जुष्टमभिरुचितं त्वा त्वामहं गृह्णामि । 'एष ते योनिरिति ग्रहसादनम्' (का० श्रौ० ९।५।२४) । दशापवित्रेण ग्रहं परिमृज्य 'एष ते योनिः' इति मन्त्रेण ग्रहसादनं कुर्यात् । एष ते योनिः स्थानम् । सूर्यस्ते महिमा महाभाग्यशक्तिः, दीपस्येव प्रभा । 'यस्तेऽहन्निति जुहोति' (का० श्रौ० २०।७।१६) । पूर्वं महिमानं ग्रहं ग्रहगृहीतं सोमं जुहोति वषट्कृत इति सूत्रार्थः । देवदेवत्यं यजुः । द्व्यधिका शक्वरी । हे महिमन् !

महिमाख्यग्रह, यस्ते तव महिमा अहन् अह्नि दिवसे संवत्सरे च निमित्ते सम्बभूव उत्पन्नः, अहनि निमित्तभूते सर्वाण्येव भूतानि सम्पद्यन्ते। निमित्तसप्तम्यश्चैताः, 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्' इतिवत्। वायौ अन्तरिक्षे च निमित्ते यस्ते तव महिमा सम्बभूव, दिवि सूर्ये च निमित्ते यस्ते तव महिमा सम्बभूव, ते तव तस्मै महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यश्च स्वाहा हविरिदं स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रजापते! त्वमुपयामगृहीतोऽसि श्रद्धया गृहीतोऽसि, तस्मै तुभ्यं जुष्टमभिरुचितं नैवेद्यं गृह्णामि। हे नैवेद्य! एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्। हे प्रजापते परमेश्वर, सूर्यस्ते महिमा शक्तिः। अहन् अह्नि दिवसे संवत्सरे वायौ अन्तरिक्षे दिवि सूर्ये च निमित्तभूते महिमा सम्बभूव। तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यश्च स्वाहा नैवेद्यमिदं सुहुतमस्तु। शक्तिमाहाभाग्यं कार्यं वा महिमा भवति, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि' (छा० उ० ७।२।४।१) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु –'हे भगवन् जगदीश्वर, यस्त्वमुपयामैर्यमसम्बन्धिभिः कर्मभिर्गृहीतोऽसि साक्षात्कृतोऽसि, तं जुष्टं त्वा प्रजापतयेऽहं गृह्णामि। यस्य त एष योनिरस्ति, यस्ते सूर्यो महिमा, यस्तेऽहन् संवत्सरे महिमा सम्बभूव, यस्ते वायावन्तरिक्षे महिमा सम्बभूव, तस्मै महिम्ने प्रजापतये ते देवेभ्यश्च स्वाहा सर्वैः संग्राह्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परमात्मसाक्षात्कारे कृतार्थत्वेन कामनान्तरानुपपत्तेः। किञ्च, प्रजापालनकर्तृ राज्ञः पालनाय कः परमात्मानं गृह्णाति, कथं च गृह्णाति, तद्ग्रहणेन कथं तत्पालनं स्यादित्यनुक्तेः। 'एष ते तव योनिर्जगत्कारणं प्रकृतिः' इत्यप्यसङ्गतम्, योनिशब्दस्य जगत्कारणार्थकत्वे प्रकृतिः कस्य शब्दस्यार्थ इत्यनुक्तेः॥ २॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

मन्त्रार्थ— चाँदी के ऊखल में दूसरे महिम ग्रह को इस मन्त्र से ग्रहण करे— जो प्रजापति श्वास-प्रश्वास लेते समय, पलक झपकते समय जगत् के प्राणियों में अद्वितीय महिमा के साथ विराजमान है, जो मनुष्य, पक्षी आदि दोपायों और गाय, घोड़े आदि चौपायों का शासन करता है, उस प्रजापति देवता को हम हवि समर्पित करते हैं॥ ३॥

यः प्राणत इति मन्त्रेण राजतेनोलूखलेन द्वितीयग्रहग्रहणमिति पूर्वमुक्तम्। मन्त्रोऽधुना व्याख्यायते। हिरण्यगर्भदृष्टा कदेवत्या त्रिष्टुप्। तस्मै कस्मै जगत्सृष्ट्यादिलीलाविनोदिने प्रजापतये देवाय वयं हविषा विधेम हविर्दद्मः। विदधातिरत्र दानार्थः। तृतीया द्वितीयार्थे। यः प्रजापतिः प्राणतः, प्राणितीति प्राणन् तस्य जीवनं धारयतः, निमिषतो निमिषतीति निमिषन्, तस्य निमेषणं कुर्वतः, उपलक्षणमेतत्, प्राणचक्षुःश्रोत्रादि-तत्तदिन्द्रियव्यापारवतः सचेतसो जगतो विश्वस्य महित्वा महित्वेन महनं महिः, 'मह पूजायाम्' इत्यस्मा-दौणादिक इः, बाहुलकात्, महेर्भावो महित्वम्, तेन। विभक्तेः पूर्वसवर्णः। स्वकीयेन माहाभाग्येन एक इदेक एव जगतः समस्तस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य राजा, राजते दीप्यत इति राजा, 'कनिन् युवृषितक्षिराजि·····' इत्यादिना कनिन्प्रत्ययेन साधु। देदीप्यमानः स्वामी शासको वा बभूव संवृत्तः। यश्चास्य द्विपदः, द्वौ पादौ यस्यासौ द्विपात्, 'संख्यासुपूर्वस्य' (पा० सू० ५।४।१४०) इत्यकारस्य लोपः समासान्तः, तस्य द्विपदः, 'पादः पत्' (पा० सू० ६।४।१३०) इति पदादेशे रूपम्। ईशे इष्टे, ऐश्वर्यं करोति। यश्च चतुष्पदः, चत्वारः पादा यस्यासौ चतुष्पात्, तस्य। मनुष्यपक्ष्यादेः, गोहस्त्यादेरित्यर्थः। उपलक्षणमेतत्, समस्तस्य प्राणिजातस्येति तात्पर्यम्। 'ईष्टे' इत्यत्र 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तकारलोपे 'ईशे' इति रूपम्, 'अधी-गर्थदयेशां कर्मणि' (पा० सू० २।३।५२) इति कर्मणि शेषे षष्ठी।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! यथा अयमेक इद् महित्वा निमिषतः प्राणतो द्विपदश्चतुष्पदोऽस्य जगतो राजा बभूव। योऽस्येशे, तस्मै कस्मै देवाय हविषा विधेम, तथास्य भक्तिविशेषो भवद्भिर्विधेयः' इति, तदपि न चारु, भक्तिविशेषस्य परमादरणीयत्वेऽपि हविषा भक्तिविशेषेणेति विवरणस्यासङ्गतत्वात्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वाच्च। निराकारस्य कमनीयत्वमपि चिन्तनीयम्, प्रत्यगभिन्नस्य निराकारस्य परोक्षस्य प्रेमास्पदत्वादर्शनात् ॥ ३ ॥

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिश्चन्द्रमास्ते महिमा यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते पृथिव्यामग्नौ महिमा सम्बभूव यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—दूसरे महिम ग्रह को भी पूर्ववत् स्थापित करते हुए इस मन्त्र से आहुति दे—हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, प्रजापति के प्रिय हो, मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ, यह तुम्हारा स्थान है, चन्द्रमा तुम्हारी महिमा है। तुम्हारी यह महिमा प्रत्येक रात्रि में वर्ष भर प्रकट होती रहती है, तुम्हारी जो महिमा पृथ्वी पर अग्नि में प्रकट हुई, तुम्हारी जो महिमा तारागण और चन्द्रमा में प्रकट हुई, उस महिमा से सम्पन्न प्रजापति और देवताओं को हम आहुति देते हैं ॥ ४ ॥

हे ग्रह! प्रजापतये जुष्टमभिरुचितं त्वामहं गृह्णामि। एष ते योनिरिति ग्रहसादनं कुर्यात्। चन्द्रमास्ते तव महिमा महाभाग्यशक्तिः। 'वपान्ते द्वितीयेन पूर्ववद्यस्ते रात्राविति जुहोति' (का० श्रौ० २०।७।२६)। वपायागान्ते द्वितीयं महिमानं ग्रहं ग्रहगृहीतं सोमं पूर्ववज्जुहोतीति सूत्रार्थः। अष्टिः। हे महिमन्, रात्रौ संवत्सरे च यस्ते तव महिमा सम्बभूव, पृथिव्यामग्नौ च यस्ते महिमा सम्बभूव, नक्षत्रेषु चन्द्रमसि च यस्तव महिमा सम्बभूव, सर्वव्यापकस्तव यो महिमा, तस्मै महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यश्च स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थो ज्ञातव्यः ॥ ४ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—एक वर्ष तक भ्रमण करके वापस आये घोड़े को ऋत्विक्गण इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए रथ में जोतें—कर्म के अनुष्ठान के निमित्त बैठे हुए ऋत्विक्गण क्रोधरहित सर्वत्र विचरण कर आये प्रभावशाली अश्व को रथ में जोतते हैं। जैसे आदित्य की दीप्ति आकाश में प्रकाशित होती है, उसी प्रकार भूमि पर घूमने वाले प्रभावशाली अश्व को हम रथ में जोतते हैं ॥ ५ ॥

'युनक्त्येनं युञ्जन्ति ब्रध्नमिति' (का० श्रौ० २०।५।१०)। युञ्जन्ति ब्रध्नमिति मन्त्रेणाश्वं रथे युञ्ज्यादिति सूत्रार्थः। मधुच्छन्दोदृष्टा आदित्यदेवत्या गायत्री। तस्थुषस्तस्थिवांसः, विभक्तिव्यत्ययः, कर्मार्थं स्थिता ऋत्विज इति यावत्। ब्रध्नं तिमिरं बध्नातीति ब्रध्नः, 'बन्धेर्ब्रधिबुधी च' (उ० ३।५) इति नक्प्रत्ययः, बध्नातेर्ब्रध आदेशश्च, तमादित्यम्, रथे युञ्जन्ति योजयन्ति। अश्वोऽत्रादित्यरूपेण स्तूयते, 'असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुमेवास्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्टयै' (श० १३।२।६।१) इति श्रुतेः। अमुमेवास्मा आदित्यं युनक्तीति वाक्यशेषात् शाखान्तरवचनाच्चाश्वं रथेन युनक्तीति गम्यते। कीदृशं ब्रध्नम्? अरुषम्, रोषति क्रुध्यतीति रुषः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (पा० सू० ३।१।१३१) इति कः, न रुषोऽरुषस्तं क्रोधरहितम्। परिचरन्तं

श्रौतस्मार्तकर्मसिद्ध्यर्थं सर्वत्र गच्छन्तम्। यस्य भासा प्रकाशेन दिवि द्युलोके रोचना रोचनानि दीप्तानि चन्द्रग्रहतारकादीनि रोचन्ते देदीप्यन्ते, तं ब्रध्नमादित्यरूपमश्वमृत्विजो युञ्जन्तीति सम्बन्धः, 'तेजसां गोलकः सूर्यो नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः' इति ज्यौतिषशास्त्रोक्तेः। यद्वा यस्य ब्रध्नस्य रोचना दीप्तयो दिवि आकाशे रोचन्ते, रोचन्त इति रोचनाः, 'ब्रहुलमन्यत्रापि' (उ० २।७८) इति युचि रूपसिद्धिः। 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' (पा० सू० ३।२।१४९) इति युचि तु रोचन इति स्यात्, पुल्लिङ्गतेति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—'तस्थुषस्तस्थिवांसो ब्रह्मणि स्थिता ब्रह्मविदस्तं ब्रध्नं चिदादित्यं परमात्मानं युञ्जन्ति मनसा ध्यायन्ति। कीदृशं ब्रध्नम्? अरुषम्, न रुषो यस्मिन्, यस्मिन् ध्याते कामक्रोधादिदोषा निवर्तन्ते सोऽरुषः, तम्। परिचरन्तं सर्वसाक्षिरूपेण सर्वत्र प्राप्नुवन्तम्। यस्य ब्रध्नस्य चिदादित्यस्य भासा दीप्त्या रोचना आदित्यादयो रोचन्ते प्रकाशन्ते 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७), 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' (मुण्डको० २।२।१०) इत्यादिश्रुतिभ्यः। 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥' (भ० गी० १३।३३) इति गीतास्मृतेश्च।

दयानन्दस्तु—'ये परितस्थुषश्चरन्तं विद्युतमिव वर्तमानमरुषम् अरुःषु मर्मसु सीदन्तं ब्रध्नं परमात्मानमात्मना सह युञ्जन्ति, ते दिवि सूर्ये रोचनाः किरणा इव रोचन्ते। हे मनुष्याः! प्रतिब्रह्माण्डे यथा सूर्यः प्रकाशते, तथा सर्वस्मिन् जगति परमात्मा प्रकाशते। योगाभ्यासेनान्तर्यामिणं परमात्मानं स्वात्मना ये युञ्जते, ते सर्वतः प्रकाशिता जायन्त इति भावार्थः' इति, तत्सर्वमसङ्गतम्, मन्त्रार्थासम्बन्धात्। अरुषम् अरुःषु सीदन्तमिति द्रविडप्राणायामायितम्, अक्रोधनमित्यर्थस्य सरलत्वात्। किञ्च, निरर्थकमप्येतत्, परमात्मनः सर्वव्यापित्वेन मर्मस्थलव्यापित्वमपि सिद्धमेवेति निरर्थकमेव तद्वचनम्। उपासनार्थं तु हृदयस्थलमेवादीयते, न मर्मस्थलम्। ननु मर्मरक्षार्थं मर्मस्थलत्वोक्तिरिति चेन्न, तस्य सङ्कल्पमात्रेण यत्र कुत्र स्थितस्यापि जन्तो रक्षितुं समर्थत्वात्। न च ज्ञानार्थं तत्रावस्थानम्, व्यापित्वेन सर्वज्ञत्वेन च तदुपपत्तेः। न च साधकस्य पुरुषस्य स्थावरप्राणिनां मर्मस्थलीयपीडानिवारणार्थं मर्मस्थलत्वोक्तिरिति वाच्यम्, अणुपरिमाणपरिमितस्य जीवस्य स्वशरीरेऽपि सर्वत्रासतोऽनेकेषां स्थावराणां मर्मस्थलस्थायित्वस्य दूरतोऽपास्तत्वात्। किञ्च, विद्युतमिवेति कस्य पदस्यार्थः? न खलु चरन्तमिति पदस्य, तस्य प्राप्नुवन्तमित्यर्थस्य विवृतत्वात्। न च ब्रध्नशब्दस्य परमात्मार्थः, तस्य महान्तमिति व्याख्यानात्। न च तेन सह आत्मनो योजनमपेक्षितम्, व्यापकेन सह सर्वस्य नित्ययोगात्। तस्माद् भावार्थोऽयं यत्किञ्चिदेव, मूलाक्षरासम्बन्धात्, तादृशार्थबोधकस्य कस्यापि पदस्य मूलेऽभावात्। अत्र केन कं के योजयन्तीति वक्तव्यम्। ब्रध्नमिति पदेन परमात्मोच्यते चरन्तमित्यनेन जीवात्मोच्यते। ताभ्यामुभाभ्यां भिन्ना योजकाः के? तन्निरूपणमसम्भवदुक्तिकम्। किञ्च, तादृशविवक्षायां ब्रध्नेन चरन्तं युञ्जन्तीति स्यात्। वस्तुतस्तु चरन्तमित्यस्य ब्रध्नविशेषणत्वोपपत्तौ तदतिरिक्तकल्पना निर्मूलैव ॥ ५ ॥

यु॒ञ्जन्त्य॑स्य॒ काम्या॒ हरी॒ विप॑क्षसा॒ रथे॑। शोणा॑ धृ॒ष्णू नृ॒वाह॑सा ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—इस अश्व के सहायक, विविध पक्ष वाले, रक्त वर्ण, प्रगल्भ, वहन में समर्थ अन्य दो अश्वों को भी ऋत्विक्गण रथ में जोतते हैं। इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अन्य दो अश्वों को भी रथ में जोतें ॥ ६ ॥

'इतरांश्च युञ्जन्त्यस्येति' (का० श्रौ० २०।५।११)। इतरान् त्रीनश्वान् रथे युञ्ज्यादिति सूत्रार्थः। प्रत्यश्वं मन्त्रावृत्तिः। गायत्री। अश्वस्तुतिः। अस्य आश्वमेधिकस्याश्वस्य काम्या काम्यौ, काम्येते इति काम्यौ लक्षणया कामसम्पादिनौ। न त्वेको रथं वोढुं शक्त इति द्वौ काम्यौ हरी हरितवर्णौ अश्वौ अथवा हरिणौ

वेगवन्तौ । विपक्षसौ पक्षयन्ति शरीरं गृह्णन्तीति पक्षसः, 'पक्ष परिग्रहे' इत्यस्मादसुन्, पक्षाः । विविधाः पक्षसो ययोस्तौ, विविधदेहधारिणौ इत्यर्थः । यद्वा 'विरिति शकुनिनाम, वेतेर्गतिकर्मणः' (निरु० २।६) इति यास्कः । वेः पक्षिण इव पक्षसः पक्षा ययोस्तौ विविधपक्षवन्तौ । शोणा शोणौ रक्तौ । रक्तो वर्णो धूम्राभासः शोण इत्युच्यते । 'शोणः कोकनदच्छविः' (१।५।१५) इत्यमरः, धूम्राभासौ वा । धृष्णू प्रगल्भौ, 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये', 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' (पा० सू० ३।२।१४०) इति क्नुः प्रत्ययः । नृवाहसा नॄन् वहत इति नृवाहसा नृवाहसौ नॄणां वोढारौ रथे ऋत्विजो युञ्जन्ति । अत्र आकारान्तेषु शब्देषु सर्वत्र विभक्तेराकारः ।

अध्यात्मपक्षे अस्य परमात्मनः सम्बन्धिनौ हरी विषयाहरणशीलौ बाह्यान्तःकरणग्रामौ वेदज्ञा रथे रमते आत्मनीति रथः परमात्मा, 'हनिकुषिनरिकाशिभ्यः मथन्' (उ० २।२) इति साधुत्वम्, 'आत्मैवैषां रथः' (निरु० ७।४) इति तत्रभवान् यास्कः, तस्मिन् परमात्मनि युञ्जन्ति । कीदृशौ तौ ? काम्यौ भगवन्निष्ठौ सन्तावेव कामनास्पदौ, 'के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि तान्येव मित्राणि जितानि यानि' इति प्रश्नोत्तर्यामाचार्यभगवत्पादोक्तेः । पुरुषार्थप्रापकत्वेन प्रेमगोचरौ वा । विपक्षसौ विविधपक्षधरौ । शोणौ शोणपदेन रञ्जनात्मकं रजो गृह्यते, रजो गुणाप्रभावितौ । धृष्णू प्रगल्भौ नृवाहसौ नॄन् जीवान् भोगमोक्षाभ्यां वहत इति तथोक्तौ । रथे रथस्थे शरीररथस्थे वा परमात्मनि वेदज्ञा युञ्जन्ति ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यथा शिक्षकाः काम्या कमनीयौ हरी हरणशीलौ विपक्षसा विविधैः परिगृहीतौ शोणा रक्तगुणविशिष्टौ धृष्णू दृढौ नृवाहसौ नृवाहकौ रथे युञ्जन्ति, तथा योगिनोऽस्य परमेश्वरस्य मध्य इन्द्रियाणि मनः प्राणांश्च युञ्जन्ति' इति, तदपि न किञ्चित्, दार्ष्टान्तिस्य मूलेऽवचनात्, मूले दृष्टान्तसूचकस्येवादिशब्दप्रयोगस्याभावाच्च । न वा दार्ष्टान्तिसङ्गतिः । न च परमात्मा रथस्थानीयः, तस्य प्राप्यत्वेन रथवत् स्थानान्तरप्रापकत्वाभावात् । न च रथेऽश्वयोरिव परमात्मनि मन-इन्द्रिय-प्राणानां संयोजनं सम्भवति, परकीयात्मना मनआदीनां सम्बन्धायोगात् । अन्यथा परकीयात्मनः संयोगेन स्वात्मसाक्षात्कारवत् परकीयात्मसाक्षात्कारोऽपि स्यात् । न चेष्टापत्तिः, चेष्टावत्त्वादिना परकीयात्मानुमानस्यैव प्रसिद्धेः, परकीयसुखादिसाक्षात्कारापत्तेश्च । परमात्मनो व्यापित्वेन सर्वसंयोगवत् सर्वमनःसंयोगोऽपि विद्यत एवेति व्यर्थमेव तद्वचनम् ॥६॥

यद्वातो अपो अगनीगन् प्रियामिन्द्रस्य तन्वम् ।

एतᳪ स्तोतरनेन पथा पुनरश्वमावर्तयासि नः ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—अध्वर्यु और यजमान रथ पर चढ़कर सरोवर के निकट जाँय और घोड़ों को जल में उतार कर इस मन्त्र का पाठ करें—हे अध्वर्यु ! वायु के समान शीघ्रगामी अश्व ने जल को और इन्द्र के प्रिय शरीर को पाया है । हे अध्वर्यु ! हमारे इस घोड़े को इसी मार्ग से फिर वापस ले आओ ॥ ७ ॥

'अपो यात्वावगाढेषु वाचयति यद्वात इति' (का० श्रौ० २०।५।१४) । चतुर्भिरश्वैर्युक्तं रथमारुह्याऽध्वर्युर्यजमानश्च तडागादिकं प्रति गच्छतः । तत्र जलं प्रविष्टेष्वश्वेष्वध्वर्युर्यजमानं यद्वात इति मन्त्रं वाचयेदिति सूत्रार्थः । एतच्च वाचनं प्रायश्चित्तरूपेण जलावगाहनात्, जलावगाहनतो वडवासङ्गतश्च परिवर्जनविधानात् । बृहतीच्छन्दः, अश्वदेवत्या । वातो वातवेगोऽश्वः, सिंहो माणवक इतिवत् प्रयोगः, वातपदमश्वपरम् । अपो जलानि, अगनीगन् अतिशयेन गतवान् । इन्द्रस्य प्रियां तन्वं चात्यर्थं गतवान्, गमेर्लङि श्लौ अभ्यासस्य चुत्वाभावो नीगागमश्च, 'दाधर्तिदर्धर्तिदर्धर्षि' (पा० सू० ७।४।६५) इति निपातनाद् यङ्लुगन्तो वा निपातः । अतो हेतोर्ब्रवीमि हे स्तोतः ! अध्वर्यो, एतं नोऽस्माकमश्वमनेन पथा येन मार्गेण गतः पुनस्तेन मार्गेण आवर्तयासि आवर्तय आनय । 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागमः । पुरुषव्यत्ययः ।

अध्यात्मपक्षे वातो वातवेगोऽन्तःकरणग्रामः, अपः कर्माणि लोकान् विषयान् इन्द्रस्य परमेश्वरस्य प्रियं तन्वमधिष्ठानाख्यं स्वरूपमत्यर्थं गतः। हे स्तोतः, अनेन पथा नोऽश्वमश्ववद्वेगवन्तमन्तःकरणग्रामम्, आवर्तयासि आवर्तय, येन परमात्मस्वरूपे प्रतिष्ठितो भवेत्।

दयानन्दस्तु—'हे स्तोतः, यथा शिल्पिजना इन्द्रस्य विद्युतः प्रियां तन्वं विस्तृतं शरीरं वात इव प्राप्य यद्यत् कलायन्त्रमयं यमश्वमपो जलानि च, अगनीगन् प्राप्नुवन्ति, तथा एतत्कलायन्त्राश्वमाशुगामिनमनेन पथा विद्युन्मार्गेण त्वं प्राप्नोषि पुनर्नोऽस्मानावर्तयासि वर्तयेस्तं भवन्तं वयं सत्कुर्याम' इति, तदप्यसाम्प्रतम्, मूले शिल्पिबोधकपदाभावात्। कलायन्त्रबोधकपदमपि मूले नास्ति। अश्वपदस्य तथार्थत्वं प्रमाणशून्यमेव। वात इव प्राप्येत्यपि निर्मूलमेव, प्रयोगाभावात्। सिद्धान्ते तु वातरंहस्यश्वे वातपदप्रयोगो निरूढलक्षणया सङ्गच्छते। अनेनेति पदं कथं विद्युद्बोधकमित्यपि चिन्त्यम्॥ ७॥

वस॑वस्त्वाऽञ्जन्तु गाय॒त्रेण॒ च्छन्द॑सा रु॒द्रास्त्वा॑ञ्जन्तु त्रैष्टु॑भेन॒ च्छन्द॑साऽऽदि॒त्यास्त्वा॑ऽञ्जन्तु जाग॑तेन च्छन्द॑सा भूर्भुवः स्व॒र्लाजी३ञ्छाची३न्यव्ये॒ गव्य॑ ए॒तदन्न॑मत्त देवा ए॒तदन्न॑मद्धि प्रजापते॥ ८॥

मन्त्रार्थ—लौटने पर रथ से छूटे घोड़ों के शरीर को राजमहिषी आदि घृत से सींचे—वसु देवता गायत्री छन्द से तुमको लिप्त करें, रुद्र देवता त्रिष्टुप् छन्द से, बारह आदित्य देवता जगती छन्द से तुमको लिप्त करें। इतना करके वे एक सौ एक सुवर्ण की मणियों को सिर, कन्धे और पूँछ में बाँधे। उस समय यह मन्त्र पढ़ा जाता है—भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक तुम्हें सुशोभित करें। इसके बाद हवन से बचा हुआ सत्तू, खील आदि घोड़ों को खाने के लिये दे। न खाय तो जल में डाल दे—हे देवताओं! खील, सत्तू, दही, दूध, जौ की लप्सी रूप इस अन्न को आप ग्रहण करें, हे प्रजापते! इस अन्न को आप खाँय॥ ८॥

'आयाय विमुक्तमश्वं महिषी-वावाता-परिवृक्ताज्येनाभ्यञ्जन्ति पूर्वकायमध्यापरकायान् यथादेशं वसवस्त्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २०।५।१५)। आयाय जलप्रदेशाद्देवयजनमागत्य रथाद्विमुक्तमश्वं महिष्याद्यास्तिस्रः पत्न्यो यथाक्रममश्वस्य घृतेन पूर्वकायं महिषी वसव इत्यादिमन्त्रेण वावाता देहमध्यं रुद्रा इति मन्त्रेण परिवृक्ता अपरकायम् आदित्या इति मन्त्रेण अभ्यञ्जन्तीति सूत्रार्थः। त्रीणि यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। हे अश्व! वसवः, अष्टौ वसवो देवा गायत्रेण छन्दसा त्वा त्वामभ्यञ्जन्तु स्निग्धं कुर्वन्तु, रुद्रा एकादश रुद्रा देवा त्वा त्वां त्रैष्टुभेन छन्दसा अभ्यञ्जन्तु, आदित्या द्वादश आदित्या देवा जागतेन छन्दसा त्वा त्वामभ्यञ्जन्तु। 'अश्वा१९श्यमानान् मणीन् सौवर्णानेकशतमेकशतं केसरपुच्छेष्वावयन्ति भूर्भुवःस्वरिति प्रतिमहाव्याहृति' (का० श्रौ० २०।५।१६)। महिष्याद्यास्तिस्रः पत्न्य एकाधिकं शतं सुवर्णमयमणीन् यथा न पतन्ति तथा केसरयोः शिरःस्कन्धस्थयोः पुच्छेष्वाबध्नीयुरिति सूत्रार्थः। तत्र महिषी अश्वशिरोरोमसु भूरिति मन्त्रेण एकाधिकशतं मणीन् प्रवयति। वावाता ग्रीवारोमसु भुव इति मन्त्रेण, परिवृक्ता पुच्छरोमसु स्वरिति मन्त्रेण प्रवयतीति विज्ञेयम्। भूर्भुवःस्वरिति महाव्याहृतयः। प्रजापतेरार्षम्। पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोका अभिधेयाः, ब्रह्मक्षत्रविशो वर्णा वा, अन्न-प्रजापशवो वा। भवति सर्वं जगदस्मादिति भूः, भूत्वा वसति च सर्वं यस्मिंस्तद् भुवः, स्वरति लयं गच्छति यस्मिन्स्तत् स्वः। विशेषस्तु तृतीये पञ्चमकण्डिकाव्याख्यान उक्तः, तत्रैवानुसन्धेयम्। 'अश्वाय रात्रिहुतशेषं प्रयच्छति लाजी३ञ्छाची३निति' (का० श्रौ० २०।५।१८)। सक्तु-धाना-लाजादिरूपं रात्रिहुतशेषमश्वाय भक्षयितुं दद्यादिति सूत्रार्थः। 'अप्स्ववहरणमखादति' (का० श्रौ० २०।५।१९)। अश्वो नात्ति चेत् तदा जलमध्ये प्रक्षिपेदिति

सूत्रार्थः। लाजीनित्याद्यश्वदेवत्यं यजुः। लाजीन् लाजानां समूहो लाजीन् इत्युक्तः। शाचीन् सक्तूनां समूहः शाचीन् इत्युक्तः। सक्तवो ह्यतितरां शचीभिः कर्मभिर्निष्पाद्यन्त इति शाचीन् इत्युच्यन्ते। यश्चायं यव्ये यवानां समूहो यव्यः, तस्मिन्। गव्ये, गोविकारसमूहो दध्यादिर्गव्यः, तस्मिन्। हे देवाः! एतदन्नमत्त भक्षयत। हे प्रजापते! एतदन्नमद्धि भक्षय। येभ्योऽश्वः प्रोक्षितस्तद्रूपोऽश्वः सम्बोध्यते।

अत्र ब्राह्मणम् —'तदाहुः। पराङ्वा एतस्माद्यज्ञ एति यस्य पशुरुपाकृतोऽन्यत्र वेदेरेतीत्येत७ँ स्तोतरनेन पथा पुनरश्वमावर्तयासि न इति वायुर्वै स्तोता तमेवास्मा एतत्परस्ताद् दधाति तथा नात्येति' (श० १३।२।६।२)। अत्राश्वमेधीयाश्वस्य जलप्रदेशाद् देवयजनं प्रति प्रत्यावर्तनं स्पष्टमुक्तम्। एतेन दयानन्दीयं व्याख्यानमपव्याख्यानमेवेति मन्तव्यम्। 'अप वा एतस्मात्। तेज इन्द्रियं पशवः श्रीः क्रामन्ति योऽश्वमेधेन यजते' (श० १३।२।६।३)। 'वसवस्त्वाञ्जन्तु। गायत्रेण छन्दसेति महिष्यभ्यनक्ति तेजो वा आज्यं तेजो गायत्री तेजसी एवास्मिन् समीची दधाति' (श० १३।२।६।४)। 'रुद्रास्त्वाञ्जन्तु। त्रैष्टुभेन छन्दसेति वावाता तेजो वा आज्यमिन्द्रियं त्रिष्टुप् तेजश्चैवास्मिन्निन्द्रियं च समीची दधाति' (श० १३।२।६।५)। 'आदित्यास्त्वाञ्जन्तु। जागतेन छन्दसेति परिवृक्ता तेजो वा आज्यं पशवो जगती तेजश्चैवास्मिन् पशूंश्च समीचो दधाति' (श० १३।२।६।६)। 'पत्न्योऽभ्यञ्जन्ति। श्रियै वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः श्रियमेवास्मिंस्तद्दधाति नास्मात्तेज इन्द्रियं पशवः श्रीरपक्रामन्ति' (श० १३।२।६।७)। अश्वमेधयाजिनस्तेजः, इन्द्रियम्, पशवः श्रीश्चापक्रामन्ति। मन्त्रपूर्वकपत्नीकर्तृकाभ्यञ्जनेन तानि सर्वाणि नापक्रामन्तीति। महिष्याद्यास्तिस्रः पत्न्यो मन्त्रेण वस्वादिभावनया चाज्येनाश्वं यथाक्रमसभ्यञ्जन्तीत्युक्तमेव। तथा च कात्यायनसायणादिव्याख्यानमेव समर्थ्यते ब्राह्मणवचनैः।

'यथा वै हविषोऽहुतस्य स्कन्देत्। एवमेतत्पशोः स्कन्दति यस्य निक्तस्य लोमानि शीयन्ते यत्काचानावयन्ति लोमान्येवास्य सम्भरन्ति हिरण्मया भवन्ति तस्योक्तं ब्राह्मणमेकशतमेकशतं काचानावयन्ति शतायुर्वै पुरुष आत्मैकशत आयुष्येवात्मन् प्रतितिष्ठति भूर्भुवःस्वरिति प्राजापत्याभिरावयन्ति प्राजापत्योऽश्वः स्वयैवैनं देवतया समर्द्धयन्ति लाजी३ञ्छाची३न्यव्ये गव्य इत्यतिरिक्तमन्नमश्वायोपावहरति प्रजामेवान्नादीं कुरुत एतदन्नमत्त देवा एतदन्नमद्धि प्रजापत इति प्रजामेवान्नाद्येन समर्द्धयति' (श० १३।२।६।८)। पशोर्निक्तस्येति प्रथमास्थाने छान्दसी षष्ठी। यस्य लोमानि शीयन्ते सद्यशानने पतन्ति यस्य काचान् मणीनावयन्ति आबध्नन्ति। लोमान्येवास्य भरन्ति। अत्र काचपदेन मणयो ग्राह्याः। 'हिरण्मयोऽश्वस्य शासो भवति''''ज्योतिर्वै हिरण्यं राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिः' (श० १३।२।२।१६) इत्यादिब्राह्मणवचनात्। मणीनामासञ्जनेन लोमान्येवास्य सम्भरन्ति। एकैका पत्नी एकशतमेकशतं मणीनावयति। केसरपुच्छेषु भूर्भुवःस्वरित्येताभिर्व्याहृतिभिर्यथासंख्यम्। प्रथमया व्याहृत्या महिषी, द्वितीयया वावाता, तृतीयया परिवृक्ता। अनुचरी तु तूष्णीमेव। एकैकशतमणीनां बन्धनेन एकशतवत्सरान् स्वात्मन आयुषि प्रतिष्ठापयति यजमानः। अतिरिक्तमन्नमाज्यसक्तुलाजात्मकं रात्रिहुतशेषमश्वायोपावहरति, अश्वस्य भक्षणार्थं तत्समीपमाहरति। यथा स भक्षयेत् तथा ढौकयति। भक्षणाभावे जलप्रक्षेप उक्त एव। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व गतिशील जीवात्मन्, वसवो देवास्त्वां गायत्रेण छन्दसा अञ्जन्तु स्नेहयन्तु, रुद्रा एकादश त्रैष्टुभेन छन्दसा, आदित्या द्वादश जागतेन छन्दसा त्वा त्वामञ्जन्तु स्नेहयन्तु संस्कुर्वन्तु। भूर्भुवः स्वरिति महाव्याहृतिभिश्च पूर्वोक्ता देवास्त्वां संस्कुर्वन्तु। संस्कृतो जीवो देवान् प्रजापतिं च तर्पयति। देवा लाजीन् लाजानां समूहान्, शाचीन् सक्तूनां समूहांश्च, यव्ये यवमयसमूहान्, गव्ये गोविकारसमूहान् एतदन्नम् एतान् भवतां भक्षणीयान् पदार्थान् अत्त भक्षयत। हे प्रजापते! एतदन्नमद्धि भक्षय।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजापते ! वसवः प्रथमकल्पा विद्वांसो गायत्रेण छन्दसा गायत्रीछन्दोवाच्येनार्थेन यन्त्वाञ्जन्तु कामयन्ताम्, रुद्रा मध्यकल्पा विद्वांसस्त्रैष्टुभेन छन्दसा यन्त्वाञ्जन्तु, आदित्या उत्तमा विद्वांसो जागतेन च्छन्दसा यन्त्वाञ्जन्तु, स त्वमेतदन्नमद्धि । हे देवाः, यूयं यव्ये यवानां क्षेत्रे जातम्, गव्ये गोविकारे एतदन्नमत्त । लाजीन् स्वकक्षायां चलितान्, शाचीन् व्यक्तान् भूर्भुवःस्वर्लोकान् प्राप्नुत च' इति, तदपि निरर्थकमेव, अव्यापारेषु व्यापारत्वात्, वस्वादिपदानां तादृशार्थताया निर्मूलत्वात् । न च छन्दसां कश्चनार्थो भवति, छन्दोविशिष्टानां मन्त्राणामेवार्थसम्भवात् । न च छन्दःशब्दोऽर्थपरः, अर्थानां गायत्र्यादित्वानुपपत्तेः । कामनायां च गायत्र्यादीनां कीदृशः सम्बन्धः ? इत्यस्यापि वक्तव्यत्वात्, कामनायाश्च फलं वक्तव्यम् । यं, स, त्वम् इत्यपि निर्मूलम्, मूले तादृशपदाभावात् । लाजानित्यस्य स्वकक्षायां चलितानिति कथमर्थः ? भूरादीनां चलनं चाप्यसिद्धम्, तस्य खण्डितत्वात् ॥ ८ ॥

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः ।

किꣳ स्विद्धिमस्य भेषजं किं वावपनं महत् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—यूप के दक्षिण में उत्तरमुख होकर ब्रह्मा यूप के उत्तर में दक्षिणमुख होता से पूछे—कहो कौन अकेला विचरता है ? कहो कौन फिर प्रकाश पाता है ? कहो हिम की औषध क्या है और बड़ा क्षेत्र कौन है ? ॥ ९ ॥

'ब्रह्मा पृच्छति होतारं यूपमभितः कः स्विदेकाकीति' (का० श्रौ० २०।५।२०)। यूपस्य दक्षिणत उदङ्मुखो ब्रह्मा यूपस्योत्तरतो दक्षिणामुखं होतारं पृच्छेत् कः स्विदेकाकी चरतीति सूत्रार्थः । ब्रह्मोद्ये कर्मणि होतुर्ब्रह्मणश्च प्रश्नप्रतिप्रश्नभूताश्चतस्रोऽनुष्टुभ इति चतस्रः सहैव व्याख्यायन्ते। स्विदिति वितर्के। एकाकी असहायः कः चरति गच्छति। उ इति पादपूरणः। कः स्वित् विनष्टः सन् पुनर्जायते उत्पद्यते। किं स्विद् हिमस्य शीतस्य भेषजम् औषधम्। किं स्विद् महद् आवपनम् आसमन्ताद् उप्यते यस्मिंस्तद् आवपनस्थानम् ॥ ९ ॥

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ।

अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार है—सूर्य, ज्योतिस्वरूप ब्रह्म अद्वितीय होकर सर्वत्र व्याप्त है, वह अकेला अपनी धुरी पर घूमता है। चन्द्रमा पुनः पुनः प्रकाश पाता है अथवा मन बार बार नवीन होकर प्रकाशित होता है। अग्नि हिम की औषध है। ज्ञानाग्नि से अज्ञानरूपी हिम दूर होता है और भूलोक कर्मबीज के बोने का बड़ा क्षेत्र है ॥१०॥

'सूर्य इत्याचष्टे' (का० श्रौ० २०।५।२१)। होता ब्रह्माणं प्रति सूर्य इत्याद्यृचमुत्तरयतीति सूत्रार्थः। ब्रह्माणं प्रति होतुरुक्तिः—सूर्यः एकाकी असहायो गच्छति। अनया प्रथमयोक्त्या होतृब्रह्माणौ यजमाने ब्रह्मवर्चसम्, चन्द्रमाः क्षीणः सन् पुनर्जायते वर्धतेऽनया द्वितीययोक्त्या आयुः, अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमनया तृतीययोक्त्या तेजः, भूमिरयं लोको महदावपनमित्यनया चतुर्थोक्त्या प्रतिष्ठां च धत्तः ॥ १० ॥

का स्विदासीत् पूर्वचित्तिः किꣳ स्विदासीद् बृहद्वयः ।

का स्विदासीत् पिलिप्पिला का स्विदासीत् पिशङ्गिला ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—होता पुनः प्रश्न करता है—पूर्व स्मरण का विषय कौन था ? बहुत उड़ने वाला अथवा स्वर्गपर्यन्त पहुँचा हुआ कौन था ? लक्ष्मी कौन थी ? और रूप को निगलने वाली कौन थी ? ॥ ११ ॥

'होता ब्रह्माणं का स्विदासीदिति' (का० श्रौ० २०।५।२२)। होता ब्रह्माणं पृच्छेत् का स्विदासीदिति सूत्रार्थः। होतुर्ब्रह्माणं प्रति प्रश्नः—पूर्वचित्तिः पूर्वं चिन्त्यत इति पूर्वचित्तिः सर्वेषां प्रथमस्मृतिविषया का स्विदासीत्। किं स्विद् बृहद् महद् वयः पक्षी आसीत्। पिलिप्पिला चिक्कणा मृद्वी च का स्विद् आसीत्। पिशङ्गिला पिशं रूपं गिलतीति पिशङ्गिला का स्विद् आसीत्॥ ११ ॥

द्यौरा॑सीत् पू॒र्वचि॑त्ति॒रश्व॑ आसीद् बृ॒हद्वयः॑ ।
अवि॑रासीत् पिलि॒प्पि॒ला रात्रि॑रासीत् पिश॒ङ्गि॒ला ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा का उत्तर—सब प्राणियों को अभीष्ट, वृष्टि का दाता द्युलोक प्रथम स्मरण का विषय था। अश्वमेध यज्ञ स्वर्गपर्यन्त पहुँचाने वाला है। सबकी रक्षा करने वाली पृथ्वी ही लक्ष्मी है। महामोह रूप वाली रात्रि ज्ञानमय रूप को निगल जाती है ॥ १२ ॥

'द्यौरिति प्रत्याह' (का० श्रौ० २०।५।२३)। ब्रह्मा प्रश्नान् व्याकरोति द्यौरासीदित्यादीति सूत्रार्थः। ब्रह्मा होतारं प्रत्युत्तरयति -द्यौरित्यादि। पूर्वचित्तिः पूर्वस्मरणविषया द्यौर्वृष्टिरासीत्। द्योशब्देनात्र वृष्टिर्लक्ष्यते, सर्वप्राणिनामिष्टत्वात्। अश्वो बृहद्वय आसीत्। अश्वशब्देनात्र अश्वमेधो वयसेव स्वर्गं लोकमारोहतीत्यश्वमेधो वयः। अविर् अवतीत्यविः पृथिवी। 'सर्वधातुभ्य इन्' (उ० ४।११८) इति साधुः। पिलिप्पिला चिक्कणा मृद्वी च। वृष्ट्या भूः क्लिद्यमाना पिलिप्पिला भवति। रात्रिः पिशङ्गिला आसीत्। पिशमिति रूपनाम। पिशं रूपं गिलतीति पिशङ्गिला रात्रिः। रात्रिर्हि सर्वाणि रूपाणि गिलति स्वात्मसात्करोति, अदृश्यानि करोतीति यावत्। अथवा पिशति अवयवान् करोतीति पिशङ्गः, तरत्यादेराकृतिगणत्वात् 'तरत्यादिभ्यश्च' (उ० १।१२०) इत्यङ्गच्। पिशङ्गमिलति क्षिपति स्वात्मसात्करोतीति पिशङ्गिला। 'इल स्वप्नक्षेपणयो' इति तौदादिकः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अप वा एतस्मात्। तेजो ब्रह्मवर्चसं क्रामति योऽश्वमेधेन यजते होता च ब्रह्मा च ब्रह्मोद्यं वदत आग्नेयो वै होता बार्हस्पत्यो ब्रह्मा ब्रह्म बृहस्पतिस्तेजश्चैवास्मिन् ब्रह्मवर्चसं च समीची धत्तो यूपमभितो वदतो यजमानो वै यूपो यजमानमेवैतत्तेजसा च ब्रह्मवर्चसेन चोभयतः परिधत्तः' (श० १३।२।६।९)। योऽश्वमेधेन यजते, एतस्मात्तेजो ब्रह्मवर्चसं चापक्रामति। यजमाने पुनस्तेजसो ब्रह्मवर्चसस्य चाधानाय ब्रह्मोद्यं कर्म विहितम्। ब्रह्मणि वेदे वदनं ब्रह्मोद्यं प्रश्नप्रतिवचनात्मकम्। होता च ब्रह्मा च ब्रह्मोद्यं वदतः। आग्नेयः, अग्नेरधिदेवात्मकस्याधिष्ठेयो होता। बार्हस्पत्यो बृहस्पतेरधिदेवभूतस्याधिष्ठेयो ब्रह्मा। ब्रह्म बृहस्पतिः। ततश्च तेजश्च ब्रह्मवर्चसं च समीची धत्तः। यूपो वै यजमानः। तौ चोभयतो यजमानमेव तेजसा ब्रह्म वर्चसेन परिधत्तः समर्धयतः।

'कः स्विदेकाकी चरतीति। असौ वा आदित्य एकाकी चरत्येष ब्रह्मवर्चसं ब्रह्मवर्चसमेवास्मिस्तद्धत्तः' (श० १३।२।६।१०)। ब्रह्मा पृच्छति होतारम् - कः स्विदेकाकी चरतीति। असौ वा आदित्य एकाकी असहायश्चरतीति प्रतिवचनार्थः। प्रश्नप्रतिवचनान् विवृणोति—असौ वा आदित्य एकाकी चरति, तेन सह अन्यस्य कस्यचिददर्शनात्। एष ब्रह्मवर्चसम् एतेन ब्रह्महोतारौ यजमाने ब्रह्मवर्चसमेव धत्तः। 'क उ स्विज्जायते पुनरिति। चन्द्रमा वै जायते पुनरायुरेवास्मिस्तद्धत्तः' (श० १३।२।६।११)। पूर्ववत् प्रश्नोत्तरविवृतिः। चन्द्रमा वै नष्टः कलाभिः क्षीणः सन् पुनर्मासान्तरे कलावृद्धया जायते। तादृशप्रश्नप्रतिप्रश्नाभ्यां तौ ब्रह्महोतारौ

अस्मिन् यजमाने आयुरेव धत्तः। 'कि\u0f7f स्विद्धिमस्य भेषजमिति। अग्निर्वै हिमस्य भेषजं तेज एवास्मिंस्तद्धत्तः' (श० १३।२।६।१२)। अग्निर्वै हिमस्य भेषजमिति प्रश्नप्रतिप्रश्नाभ्यामस्मिन् यजमाने तेजो धत्तः। 'किं वा-वपनं महदिति। अयं वै लोक आवपनं महदस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति' (श० १३।२।६।१३)। अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामाभ्यामिति। 'का स्विदासीत् पूर्वचित्तिरिति। द्यौर्वै वृष्टिः पूर्वचित्तिर्दिवमेव वृष्टिमवरुन्धे' (श० १३।२।६।१४)। 'का स्विदासीत् पूर्वचित्तिरिति होता ब्रह्माणं पृच्छति' इति शाखान्तरात्। द्यौर्वै वृष्टिहेतुः। ततश्च राष्ट्रोपकाराय दिवं वृष्टिमेवावरुन्धे यजमानः, आभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामिति यावत्। 'कि\u0f7f स्विदासीद् बृहद्वय इति। अश्वो वै बृहद्वय आयुरेवावरुन्धे' (श० १३।२।६।१५)। अश्वो वै बृहद्वयः, महान् पशुरिति ब्रुवद्भ्यां शब्दसामान्याद् महद्वयः शतार्धकमायुर्यजमानोऽवरुन्धे। 'का स्विदासीत्पिलिप्पिलेति। श्रीर्वै पिलिप्पिला श्रियमेवावरुन्धे' (श० १३।२।६।१६)। श्रीर्वै पिलिप्पिला। रूपानुकरणशब्दोऽयं बहुरूपविलासोद्योतनवती श्रीः। मन्त्रे तु अविः पिलिप्पिला उक्ता। सा तु श्रीरेवेति ब्राह्मणे विवृतम्। कथमियं वै अविः पृथिवी। सा च श्रीः, 'श्रीर्वा इयम्' इति शाखान्तरवचनात्। 'का स्विदासीत्पिशङ्गिलेति। अहोरात्रे वै पिशङ्गिले अहोरात्रयोरेव प्रतितिष्ठति' (श० १३।२।६।१७)। अहोरात्रे वै पिशङ्गिले इति मन्त्रे रात्रिग्रहणेनैव अहरपि संगृहीतमिति दर्शयति। ततश्च एताभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामहोरात्रयोर्यजमानः प्रतितिष्ठति, उभयोरपि राज्यं करोतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यश्चिदादित्यः, एकाकी चरति सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यः सन् मायया प्रपञ्चात्मना चरति। चन्द्रमाः सोमात्मिका महाशक्तिः षोडशी, पञ्चदशसु कलासु क्षीणासु क्षीयत इव मासान्तरे कलासु वर्धमानासु पुनर्जायत इव, षोडश्या एव नित्यसिद्धत्वात्। हिमस्य शीतस्य जडतया अग्निश्चैतन्यमेव भेषजम्, तेजस उद्रेके शीतस्येव चैतन्यस्योद्रेके जडताया अपाकरणात्। भूमिः प्रकृतिरेव महत् सर्वोत्कृष्टमावपनस्थानम्, तत एव प्राकृतभूम्यादेरपि सम्भवात्। पूर्वचित्तिः सर्वप्राचीना स्मृतिः केति प्रश्नस्योत्तरम्—द्यौरासीत् पूर्वचित्तिरिति। द्योतनात्मिकायाश्चित एव सर्वपूर्वत्वात् सैव सर्वपूर्वस्मृतिविषया। किं स्विदासीद् बृहद्वय इति प्रश्नस्योत्तरम्—अश्व आसीद् बृहद्वय इति। अश्नुत इत्यश्वः परमात्मैव बृहद्वयो महान् पक्षी, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति श्रुतेः, जीवात्मपक्षिणोऽल्पत्वेऽपि परस्य व्यापकत्वेन महत्त्वात्। का स्विदासीत्पिलिप्पिलेति प्रश्नस्य प्रतिवचनम्—अविरासीत्पिलिप्पिलेति। अवतीत्यविः। चितिरेव मायया भक्त्या स्निग्धा सती पिलिप्पिला चिक्कणा मृद्वी जायते। का स्विदासीत्पिशङ्गिलेत्यस्योत्तरम्— रात्रिरासीत्पिशङ्गिलेति। रात्रिः प्रकृतिविशिष्टा चितिः सर्वकारणभूता, सैव सर्वाणि रूपाणि प्रलयकाले स्वात्मनि प्रविलापयन्ती पिशङ्गिला भवति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः! कः स्विदेकाकी चरति? किमु आवपनं महदस्तीति पृच्छामः। हे जिज्ञासवः! सूर्यः सविता एकाकी स्वकक्षायां चरति। चन्द्रमाः चन्द्रलोकः पुनः प्रकाशितो जायते। अग्निः पावको हिमस्य भेषजम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ब्रह्महोत्रोर्ब्रह्मोद्यवदनबोधकश्रुतिविरोधात्, सूर्याकर्षणासिद्धेश्च। 'हे विद्वांसः! वयं युष्मान् प्रति का स्वित् पूर्वचित्तिरित्यादि पृच्छामः। हे जिज्ञासवः, पूर्वचित्तिः प्रथमस्मृतिविषया द्यौर्दिव्यगुणप्रदा वृष्टिः। अश्वो योऽश्नुते मार्गान् सोऽग्निः। बृहद्वयो यो वेत्ति गच्छति स वयः, अविः रक्षणादिकर्त्री पृथिवी पिलिप्पिला पिशङ्गिला रात्रिरासीदिति यूयं बुध्यध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्वस्य मार्गव्यापित्वेऽप्यग्नेस्तदनुपपत्तेः, प्रकाशस्यैव रात्रिनाशकत्वेन रात्रेः प्रकाशनिराकरणायोगात्॥ १२॥

वायुष्ट्वा पचतैरवत्वसितग्रीवश्छागैर्न्यग्रोधश्चमसैः शल्मलिर्वृद्ध्या। एष स्य राथ्यो वृषा पड्भिश्चतुर्भिरेदगन् ब्रह्माऽकृष्णश्च नोऽवतु नमोऽग्नये॥ १३॥

मन्त्रार्थ—इस मन्त्र से अश्व का प्रोक्षण किया जाता है—हे अश्व ! वायु पाकक्रिया के द्वारा तुम्हारी रक्षा करे, धूम से श्यामग्रीव अग्नि छागों के साथ, वट वृक्ष चमस रूप से, सेमल वृक्ष अपनी वृद्धि के समान तुम्हारी रक्षा करे, तुम्हें सब प्रकार से श्रेष्ठ बनावें। यह मनोरथदाता अश्वाभिमानी देव हमारे मनोरथों की वर्षा करे। यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार चरणों से हमारे पास आवे। निर्मल ब्रह्मा हमारी रक्षा करें, हम अग्नि का नमन करते हैं॥ १३॥

'अश्वप्रोक्षणमद्भ्यस्त्वा वायुष्ट्वेति' (का० श्रौ० २०।६।७)। 'अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः' (वा० सं० ६।९) इति प्रकृतमन्त्रेण वायुष्ट्वेत्यारभ्य देवः सविता दधात्वित्यन्तेन कण्डिकाचतुष्टयेन अश्वाभिषेकेण चाश्वप्रोक्षणं करोतीति सूत्रार्थः। चत्वारि यजूंषि, अश्वदेवत्यानि। हे अश्व ! वायुर्देवस्त्वा त्वां पचतैः पाकैः, अवतु रक्षतु। वायुसंयोगादग्निः शीघ्रं पचति। असितग्रीवः, असिता ग्रीवा यस्य धूमेनेत्यसितग्रीवोऽग्निश्छागैरजैस्त्वामवतु, 'अग्निर्वा असितग्रीवः' (श० १३। ।७।२) इति श्रुतेः। 'कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे' (वा० सं० २४।१) इति वक्ष्यमाणत्वादश्वाङ्गेषु कृष्णग्रीवादयः पञ्चदश पर्यङ्ग्याः पशवः सन्ति, तैरग्निरवत्वित्यर्थः। अश्वाङ्गेष्वा-लभ्यमानाः पर्यङ्ग्या अदृष्टद्वारा अश्वायोपकुर्वन्तीत्यर्थः। न्यग्रोधो वटवृक्षश्चमसैः सोमपात्रैस्त्वामवतु। शल्मलि-र्वृक्षविशेषः स्वकीयया वृद्धचा त्वामवतु, 'शल्मलिर्वनस्पतीनां वर्षिष्ठं वर्धते' (श० १३।२।७।४) इति श्रुतेः। किञ्च, एष स्यः स एष वृषा सेक्ता अश्वो राथ्यो रथे साधुः, चतुर्भिः पड्भिः पद्भिः पादैरेव एदगन् आ इद् अगन् आगतः। ननु सर्वेऽपि चतुष्पादश्चतुर्भिरेव पादैर्गच्छन्तीति निरर्थकं चतुर्ग्रहणमिति चेन्न, अश्वस्त्रिभिः पादैस्तिष्ठति चतुर्भिर्गच्छतीति तत्र विशेषात्। तथा च श्रुतिः—'तस्मादश्वस्त्रिभिस्तिष्ठंस्तिष्ठत्यथ युक्तः सर्वैः पद्भिः सममायुते' (श० १३।२।७।६)। आयुते आगच्छति। पदादेशस्य डान्तत्वं छान्दसम्। किञ्च, अकृष्णोऽविद्यमानं कृष्णं लाञ्छनं यस्मिन् सः, तथाविधो ब्रह्मा चन्द्रो नोऽस्मानवतु नोऽस्माकमश्वमवत्विति वा, 'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णश्चन्द्रमस एवैनं परिददाति' (श० १३।२।७।७) इति श्रुतेः। नमोऽग्नये अग्नये नमस्कारोऽस्तु। विघ्ना-भावाय इयमग्नये नतिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'राजा वा एष यज्ञानां यदश्वमेधः। यजमानो वा अश्वमेधो यजमानो यज्ञो यदश्वे पशून्नियुनक्ति यज्ञ एव तद्यज्ञमारभते' (श० १३।२।२।१)। राजेव राजा, अनुचरभूतानां तूपरादीनामग्रे सरस्वत्याः संस्कारातिरेकाच्च एष यज्ञानां यज्ञसाधनानां पशूनां यदश्वमेधः। यज्ञसाधनमश्वमेधः। अश्वः पशूनां राजेव राजत इत्यर्थः। ततश्च 'सेनामुखमेवास्यैतेन सꣳश्यति' इत्यादिभी राजोपकरणैर्योक्ष्यते। यजमानो वा अश्वमेधः पशुर्यज्ञसाधनभूतो यज्ञसाधनत्वाद् यजमान एव। ततश्च यज्ञात्मकाद्यजमानादभिन्नत्वा-दश्वोऽपि यज्ञः, तूपरादयोऽपि यज्ञ इति कृत्वा यदश्वे पशून् कृष्णग्रीवादीन् नियुनक्ति, तद् यज्ञ एव। कृष्णग्रीवात्मके यज्ञमश्वात्मकमारभते प्राप्नोति। उपकरणभूत उपकार्यभूतम्। 'अश्वं तूपरं गोमृगमिति। तान् मध्यमे यूप आलभते सेनामुखमेवास्यैतेन सꣳश्यति तस्माद्राज्ञः सेनामुखं भीष्मं भावुकम्' (श० १३।२। २।२)। तूपरमश्रृङ्गमजम्। गोमृगं मृगाकारं गामिति। एवमेव यथा निर्दर्शितान् तानिति, एतदः स्थाने तदः प्रयोगः, एतान् मध्यमे यूपे आलभते। सेनामुखमेव अस्य अश्वस्य राजभूतस्य। एतेन रूपेण मध्यमे यूपे आलब्धानेतान् संश्यति संस्करोति, राजभूतमप्यश्वं सेनामुख एव करोतीत्यर्थः। 'कृष्णग्रीवमाग्नेयꣳ रराटे पुरस्तात्। पूर्वाग्निमेव तं कुरुते तस्माद्राज्ञः पूर्वाग्निर्भावुकः' (श० १३।२।२।३)। कृष्णग्रीवमजमग्निदेवत्यम्। रराटे ललाटे अश्वस्य यूपभूते उपायेनालभते नियुनक्ति। पुरस्ताद् अग्रतोऽश्वस्येत्यर्थः। ननु पूर्वस्यां दिशि पशूनां प्रत्यङ्मुखानां सामर्थ्यादेवालम्भे सति पूर्वस्यां दिश्यालम्भानुपपत्तेः पूर्वाग्निमेव तं कुरुत इत्यनुपपन्नमिति चेदत्राह—त्रेताग्नेर्यः पूर्वोऽग्निरावसथ्यरूपस्तमेवाश्वस्य राजभूतस्य पूर्वाग्निं कुरुते। तस्मात्तदनुकारेण राज्ञः

पूर्वाग्निः साधुर्भवति। तत्राहितस्य शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकादीनि बहूनि कर्माणि क्रियन्ते। 'सारस्वतीं मेषीमधस्ताद्धन्वोः। स्त्रीरेव तदनुगाः कुरुते तस्मात् स्त्रियः पुꣳसोऽनुवर्त्मानो भावुकाः' (श० १३।२।२।१४)। सारस्वतीं मेषीं हन्वोर्यूपभूतयोरुपायेनालभते। हन्वोर्हि मेष्यालम्भ्या। सा चाधस्तादेव भवति। स्त्रीरेव तत्तेन अनुगा अनुगामिनीः पुंसः कुरुते। तस्मात् स्त्रियः पुरुषस्यानुवर्तमानाः साधु भवन्ति। अनुवर्त्मत्वेन कृतानुकारता। अनुकारकारिणीत्यानुकूल्यं लक्ष्यते। 'आश्विनावधोरामौ बाह्वोः। बाह्वोरेव बलं धत्ते तस्माद्राजा बाहुबली भावुकः' (श० १३।२।२।१५)। बाह्वोर्बलमस्यास्तीति बाहुबली।

'नियुक्तेषु पशुषु। प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्तेऽश्वं प्रोक्षिष्यन्नन्वारब्धे यजमान आध्वरिकं यजुरनुद्रुत्याश्वमेधिकं यजुः प्रतिपद्यते' (श० १३।२।७।१)। नियुक्तेषु पशुषु। अन्वारब्धे यजमाने। आध्वरिकं प्रोक्षणयजुः 'अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः' (वा० सं० ६।९) इत्येतत्। अनुद्रुत्योच्चार्य। 'अश्वप्रोक्षणमद्भ्यस्त्वा वायुष्ट्वेति' (का० श्रौ० २०।६।७) इति सूत्रात्। सूत्रार्थस्तु पूर्वं दर्शितः। यजुरिति चैकवचनाच्चतस्रोऽप्येता मन्त्रकण्डिकाः (वा० सं० २३।१३-१६) एकं वाक्यमिति दर्शयति वायुष्ट्वेति। 'वायुष्ट्वा पचतैरवत्विति। वायुरेवैनं पचत्यसितग्रीवश्छागैरित्यग्निर्वा असितग्रीवोऽग्निरेवैनं छागैः पचति' (श० १३।२।७।२)। वायुरेवैनमश्वं पचति। अग्निमुपोद्बलयतीति ब्रुवन् पाकैर्वायुस्तावन्नित्येतमर्थं दर्शयति — अग्निर्वा असितग्रीव इति। धूममिश्रत्वात् स तथाविधः। स च एनं छागैः सह पचति। 'न्यग्रोधश्चमसैरिति। यत्र वै देवा यज्ञेनायजन्त त एतांश्चमसान् न्यौब्जंस्ते न्यञ्चोऽरोहंस्तस्मान्न्यञ्चो न्यग्रोधा रोहन्ति' (श० १३।२।७।३)। न्यग्रोधः स्वकीयैश्चमसैः सोमाङ्गभूतैश्चावत्विति मन्त्रार्थः प्रसिद्ध एवेति न व्याख्यातः। चरकाणां हि नैयग्रोधाश्चमसाः पच्यन्ते। तेषु च सत्स्वश्वमालभते नावत्स्विति। तानुपपादयन् न्यग्रोधाश्वमुपाकरोति। चमसभवत्वं न्यग्रोधस्याह। कथं नाम देवचमसप्रकृतिकन्यग्रोधविकाराश्चमसा मंस्यन्ते? तत्राह न्यौब्जन् इति। 'उब्ज आर्जवे' इति तौदादिकस्य रूपम्। देवा एतांश्चमसान् अधोमुखांश्चक्रुरित्यर्थः। ते न्यञ्चोऽरोहन्। तस्मान्न्यञ्चो न्यग्रोधा रोहन्ति। 'शल्मलिर्वृद्ध्येति। शल्मलौ वृद्धिं दधाति तस्माच्छल्मलिर्वनस्पतीनां वर्षिष्ठं वर्धते' (श० १७।२।७।४)। शल्मलिरुपमानम्। वृद्ध्या त्वां चतुः संस्करोति। शल्मलिरिव कायतो वर्द्धस्वेति मन्त्रार्थः। नाप्सूद्वृद्धासु शल्मलिमुपाददानः शल्मलौ वृद्धिं दधातीति गम्यते। तथा च रामाश्रमोऽमरकोषटीकायां वचनमेकमुद्दधार— 'षष्टिर्वर्षसहस्राणि वने जीवति शाल्मलिः'। शल्मलिरित्यपि। 'एष स्य राथ्यो वृषेति। अश्वेनैव रथꣳ सम्पादयति तस्मादश्वो नान्यद्रथाद्वहति' (श० १३।२।७।५)। राथ्यः, रथे साधुः, रथाय हितो वा। राथ्य इत्युक्तेः श्वेतरथसम्पत्तिर्गम्यते। 'पड्भिश्चतुर्भिरेदगन्निति। तस्मादश्वस्त्रिभिस्तिष्ठंस्तिष्ठत्यथ युक्तः सर्वैः पद्भिः सममायुते' (श० १३।२।७।६)। आयुते आगच्छति। 'ब्रह्माकृष्णश्च नोऽवत्विति। चन्द्रमा वै ब्रह्माकृष्णश्चन्द्रमस एवैनं परिददाति नमोऽग्नय इत्यग्नय एव नमस्करोति' (श० १३।२।७।७)। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे — हे अश्व! त्वां वायुः पचतैः पाकरूपैर्निष्ठादाढर्चैरवतु। असितग्रीवो नीलकण्ठः शिवश्छागैश्छातैस्तनूकरणसाधनैर्बुद्धैः कुशाग्रतापादनेन अवतु। न्यग्रोधाधिष्ठातृदेवश्चमसैश्चमससम्बन्धिभिः सोमैस्त्वामवतु। शल्मल्यधिष्ठातृदेवो वृद्ध्या त्वामवतु। स एष राथ्यो शरीरलक्षणरथारूढो वृषा धनवर्षणशीलश्चतुर्भिः पद्भिः विश्वतैजसप्राज्ञतुर्यैः, आ इद् अगन् आगतः, संसारक्षेत्रेऽवतीर्ण इति यावत्। ब्रह्मा चन्द्रः परमेश्वरोऽकृष्णो लाञ्छनहीनो नोऽस्मानवतु। अग्नये परमात्मदेवाय नमोऽस्तु।

दयानन्दस्तु — 'हे विद्यार्थिनः, पचतैः परिपाकपरिणामैर्वायुरादिमः स्थूलकार्यरूपः, छागैश्छेदनैश्चमसैर्मेघैर्न्यग्रोधो वटः, वृद्ध्या वर्धनेन शाल्मलिर्वृक्षविशेषस्त्वामवतु। य एष राथ्यो रथेषु हितस्तासु कुशलो वृषा वर्षकः स्यः स चतुर्भिः पड्भिः पादैरिदेव त्वागन् गच्छति। ब्रह्मा चतुर्वेदविद् अकृष्णोऽविद्यान्धकाररहितो नोऽस्मानवतु

प्रवेशयतु । अग्नये प्रकाशमानाय विदुषे नमोऽन्नं देयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, स्वाभाविके कार्ये प्रार्थनानुपपत्तेः । प्राणात्मको वायुः परिपाकपरिणामैर्यत्करोति तत्करिष्यत्येवेति व्यर्थमेव तद्वचनम् । जडत्वाच्च तस्य तदनुपपन्नम् । क्रियाभिरसितग्रीवोऽग्निः कथमुपकरोतीत्यपि चिन्त्यम् । छेदनक्रियाकर्तृत्वं कथमग्नौ सम्भवति ? वटो मेघैः कथं रक्षति ? वृद्धया च शल्मलिः कथं रक्षिष्यति ? जडानां प्रार्थना स्तुतिश्च तवापसिद्धान्त एव । कोऽयं राथ्यो यश्चतुर्भिः पद्भिर्विद्यार्थिनं प्राप्नोतीत्यस्पष्टमेव । अन्यान्यपि दूषणानि तथैवोह्यानि ॥ १३ ॥

सꣳशितो रश्मिना रथः सꣳशितो रश्मिना हयः ।
सꣳशितो अप्स्वप्सुजा ब्रह्मा सोमपुरोगवः ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—रथ रश्मि से प्रशंसित होता है, अश्व लगाम से शोभित होता है, अश्व जल में शोभित होता है, ब्रह्मा सोम को आगे रखकर इसको स्वर्ग में पहुँचाता है ॥ १४ ॥

अश्वदेवत्याऽनुष्टुप् । रथो रश्मिना संशितो दर्शनीयतमः शोभनो भवति । रश्मिरश्वनियामिका लोहरूपा प्रग्रहरूपा रज्जुः (लगाम इति भाषायाम्), सम्पूर्वः श्यतिः शोभनार्थः, 'तस्माद्रथः पर्युतो दर्शनीयतमो भवति' (श० १३।२।७।८) इति श्रुतेः । हयोऽश्वो रश्मिना संशितः शोभितः । अप्सुजा अप्सु जायत इत्यप्सुजा अश्वः, अप्सु अद्भिः, विभक्तिव्यत्ययः, संशितः शोभितः, 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' (श० १३।२।७।९) इति श्रुतेः । पुनः किम्भूतोऽश्वः, ब्रह्मा बिभर्ता परिवृढो वा । पुनः कथम्भूतः ? सोमपुरोगवः सोमः पुरोगवः पुरोगमोऽग्रगामी यस्य सः । सोमं पुरस्कृत्य स्वर्गं लोकं गच्छतीति यावत्, 'सोमपुरोगवमेवैनꣳ स्वर्गं लोकं गमयति' (श० १३।२।७।१०) इति श्रुतेः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'सꣳशितो रश्मिना रथ इति । रश्मिनैव रथꣳ सम्पादयति तस्माद्रथः पर्युतो दर्शनीयतमो भवति' (श० १३।२।७।८) । पर्युतः परिवेष्टितः, रज्जुभिः परितः प्रतिकृतः । 'सꣳशितो रश्मिना हय इति । रश्मिनैवाश्वꣳ सम्पादयति तस्मादश्वो रश्मिना प्रतिहृतो भूयिष्ठꣳ रोचते' (श० १३।२।७।९) । 'सꣳशितो अप्स्वप्सुजा इति । अप्सुयोनिर्वा अश्वः स्वयैवैनं योन्या समर्धयति ब्रह्मा सोमपुरोगव इति सोमपुरोगवमेवैनꣳ स्वर्गं लोकं गमयति' (श० १३।२।७।१०) । अद्भिः संशितः आपश्चाश्वस्य योनिरित्यद्भिः संश्यति । स्वयैव योन्या संश्यति । पूर्वं सोमः प्रदीयते पश्चादश्व इत्येतदभिप्रायमेतत् ।

अध्यात्मपक्षे—शरीररूपो रथो रश्मिना मनःप्रग्रहेण संशितः प्रतिकृतः शोभते । रश्मिना तेनैव मनः-प्रग्रहेण हय इन्द्रियसमूहः संशितो नियन्त्रितः शोभते । संशितोऽप्सु अद्भिः प्राणैः, 'आपोमयः प्राणः' (छा० ६।५।४) इति श्रुतेः । विभक्तिव्यत्ययः । अप्सुजा अश्वः संशितो भवति । कीदृशोऽश्वः ? ब्रह्मा विधाता सोमपुरोगवः सोमस्तदात्मकं मनः पुरोगवः पुरोगामी यस्य सः, मनोऽन्तरेन्द्रियसमूहस्य अकिञ्चित्करत्वात्, 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥' (कठोप० १।३) इति श्रुतेः ।

दयानन्दस्तु—'यदि मनुष्येण रश्मिना किरणसमूहेन रथो रमणसाधनः संशितः सम्यक् सूक्ष्मीकृतः, रश्मिना हयोऽश्वः संशितः स्तुतः, अप्सु प्राणेषु जायमानः, सोमपुरोगव ओषधिगणबोध ऐश्वर्ययोगो वा पुरोगामी यस्य सः, ब्रह्मा महायोगी संशितः क्रियेत, तर्हि किं किं सुखं न लभ्येत' इति, तदपि यत्किञ्चित्,

स्वाच्छन्द्यमूलकत्वात्, संशितः स्तुत इत्यस्य निर्मूलत्वात्, धात्वर्थविरोधात्, शिष्टैस्तथा अप्रयुक्तत्वाच्च। किरणैरद्यापि रथो वा यानं वा संश्यति। यानस्य सूक्ष्मत्वापादनमन्यत्, सूक्ष्मया शिल्पविद्यया निर्माणमन्यत्। तथैव प्राणेषु प्राणवायुरूपेण सञ्चारी पवनो बाष्पो वेत्यादिकं तु मूढजनप्रतारणमेव। सोमपुरोगव इत्यस्य ओषधिबोध ऐश्वर्ययोगो वा कथमर्थः ? ब्रह्मेति पदं महायोगिपरमपि कथमिति चिन्त्यम् ॥ १४ ॥

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व । महिमा तेऽन्येन न संनशे ॥१५॥

मन्त्रार्थ— हे अश्व ! तुम अपने शरीर की यथायोग्य यथेच्छ कल्पना करो, स्वयं तुम ही यजन करो, स्वयं तुम ही अपने इष्ट स्थान तक पहुँच जाओ। तुम्हारी महिमा दूसरों की महिमा से नष्ट नहीं हो सकती ॥ १५ ॥

आश्वी विराट्। हे वाजिन्, स्वयं स्वयमेव तन्वं शरीरं कल्पयस्व, 'स्वयं रूपं कुरुष्व यादृशमिच्छसि' (श० १३।२।७।११) इति श्रुतेः। स्वराज्यं तवास्तीत्यर्थः। अतः स्वयमेव यजस्व, न त्वदन्यो यष्टास्तीति। स्वयं जुषस्व स्वयं चाभिरुचितं स्थानं सेवस्व, हविर्वा सेवस्व, तव प्रजापतिरूपत्वात्। यतस्ते तव महिमा अन्येन महिम्ना न सन्नशे न सन्नश्यते, अन्येन महिम्ना न व्याप्यत इति यावत्। 'सन्नश्यते' इत्यत्र यको लोपेन 'सन्नशे' इति रूपं छान्दसम्। नशिरन्यत्रादर्शनार्थोऽप्यत्र व्याप्त्यर्थः। अतो ब्रवीमि स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्वेति।

अत्र ब्राह्मणम्—'स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्वेति। स्वयꣳ रूपं कुरुष्व यादृशमिच्छसीत्येवैनं तदाह स्वयं यजस्वेति स्वाराज्यमेवास्मिन् दधाति स्वयं जुषस्वेति स्वयं लोकꣳ रोचयस्व यावन्तमिच्छसीत्येवैनं तदाह महिमा तेऽन्येन न सन्नश इत्यश्वमेव महिम्ना समर्धयति' (श० १३।२।७।११)। स्वयं वाजिंस्तन्वं यजस्वेत्यत्र यजिर्दानकर्मा। यः स्वयं ददाति स्वशरीरादि चेत्यभिप्रायः। महिमा तेऽन्येन न सन्नश इति ब्रुवन् अश्वमेव केवलं महिम्ना समर्धयति।

अध्यात्मपक्षे – हे वाजिन्, वाजिवत् संसरणशील जीवात्मन् ! स्वयं तन्वं स्वरूपं यथेच्छं कल्पयस्व स्वयं यजस्व यज्ञदानादिकर्म कुरु स्वयं जुषस्व विषयान् सेवस्व। ते महिमा अन्येन महिम्ना न व्याप्यते, ब्रह्मस्वरूपेण तवानन्तत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन्, जिज्ञासो ! स्वयं तन्वं कल्पयस्व समर्थयस्व, स्वयं यजस्व सङ्गच्छस्व स्वयं जुषस्व सेवस्व। यतस्ते महिमा अन्येन सह न सन्नशे सम्यग् नश्येत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः, अस्वारस्याच्च। तथाहि —यजेर्गत्यर्थताया निष्पत्तावपि इच्छार्थत्वानुपपत्तिः, स्वयंपदस्य स्वारस्यानुपपत्तिश्च। महिमा न सन्नश इत्येतावतैवाभीष्टसिद्धा अन्येनेति पदस्य वैयर्थ्यापत्तेश्च ॥ १५ ॥

न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ इदेषि पथिभिः सुगेभिः ।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ – हे अश्व ! तुम निःसन्देह नहीं मरते हो, कभी नष्ट नहीं होते हो, किन्तु सुगम मार्ग से देवताओं के पास वहाँ पहुँचते हो, जहाँ पुण्यात्मा निवास करते हैं। वे पुण्यात्मा जहाँ गये हैं, सबका प्रेरक सविता देवता तुमको भी वहीं स्थापित करे ॥ १६ ॥

आश्वी त्रिष्टुप्। हे अश्व, यत् त्वमस्माभिः संज्ञप्यसे यज्ञोद्देश्येन, एतत् त्वं न म्रियसे, न च रिष्यसि विनश्यसि विशस्यमानोऽपि, आत्मनो नित्यत्वात्, देवोद्देश्येन संज्ञपनस्य स्वर्गहेतुत्वात्। वै, उ इति निपातौ पादपूरणार्थौ। यत्सुगेभिः सुगैः साधुगमनैः पथिभिर्देवयानमार्गैर्देवान् इद् देवान् प्रति एषि गच्छसि, यत्र यस्मिन्

स्वर्गे सुकृतः साधुकारिणो नरा आसते तिष्ठन्ति, यत्र ते सुकृतो ययुर्गताः, तत्र स्वर्गे सुखसाधनोपेते लोके सविता परमैश्वर्यशाली देवः परमात्मा त्वा त्वां दधातु स्थापयतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसीति। प्रश्वासयत्येवैनं तद्देवाँ २॥ इदेषि पथिभिः सुगेभिरिति देवयानानेवैनं पथो दर्शयति यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुरिति सुकृद्भिरेवैनꣳ सलोकङ्करोति तत्र त्वा देवः सविता दधात्विति सवितैवैनꣳ स्वर्गे लोके दधाति प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीत्युपाꣳश्वथोपगृह्णाति' (श० १३।२।७।१२)। ब्राह्मणेनानेनोक्तमेव मन्त्रव्याख्यानं समर्थ्यते। प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीत्येनं देवतादेशमस्मिन् कुरुते। उपांशु ब्रूयात्। क्रमार्थं चेदं वचनम्, अप्राप्तत्वात्। आध्वरिकत्वाद्धि पूर्वमेवायं देवतादेशः प्राप्नुयात्। उपांशुत्वं तु सर्वेषां यजुषां सिद्धमनूच्यते। 'उच्चैर्ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा' इत्यादिश्रुतेः। अथोपगृह्णाति। आध्वरिकं यजुरनुद्रुत्येति वर्तते। प्राकृतं यजुः 'अपां पेरुः' (वा० सं० ६।१०) इत्युच्चार्य 'अग्निः पशुः' इत्याश्वमेधिकैर्यजुर्भिरुपगृह्णात्यभिघारयति।

अध्यात्मपक्षे—हे जीवात्मन्, न वा उ नैव त्वं म्रियसे, न च रिष्यसि नश्यसि, कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठानेन यज्ञार्थं शास्त्रविधिनोपयुक्तस्त्वं देवानेव एषि गच्छसि, यत्र सुकृतः साधुकर्मकारिण आसते। यत्र ते ययुः, तत्र सविता त्वां दधातु प्रतिष्ठापयतु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिनः, यत्र ते सुकृत आसते, सुखं ययुः, यत्र सुगेभिः पथिभिस्त्वं देवानेषि, यत्रैतद् वर्तते, स्थितस्त्वं न म्रियसे न वै रिष्यसि, तत्रैव सविता देवो दधातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विविधासङ्गतेः। तथाहि—यत्रासते इत्यनेनैवाभीष्टसिद्धौ ययुरित्यस्य वैयर्थ्यापत्तिः। न च सुखं ययुरिति तदन्वयः, मूले सुखशब्दाभावात्। न च दिव्यगुणानां दिव्यगुणवतां वा प्राप्तये सुगमः पन्था अपेक्षितः, तेषां तत्प्राप्तिमार्गस्य च लोकसिद्धत्वात्। न च तदर्थं सवितृकर्तृकं प्रतिष्ठापनमप्यपेक्षितम्। तस्मात्सिद्धान्तानुसारि व्याख्यानमेव युक्तम्॥ १६॥

अ॒ग्निः प॒शुरा॑सी॒त्तेना॑यजन्त॒ स ए॒तँल्लो॒कम॑जय॒द्यस्मि॑न्न॒ग्निः स ते॑ लो॒को भ॑विष्यति॒ तं जे॑ष्यसि॒ पिबै॒ता अ॒पः। वा॒युः प॒शुरा॑सी॒त्तेना॑यजन्त॒ स ए॒तँल्लो॒कम॑जय॒द्यस्मि॑न् वा॒युः स ते॑ लो॒को भ॑विष्यति॒ तं जे॑ष्यसि॒ पिबै॒ता अ॒पः। सूर्यः॑ प॒शुरा॑सी॒त्तेना॑यजन्त॒ स ए॒तँल्लो॒कम॑जय॒द्यस्मि॑न् सूर्यः॒ स ते॑ लो॒को भ॑विष्यति॒ तं जे॑ष्यसि॒ पिबै॒ता अ॒पः॥ १७॥

मन्त्रार्थ—प्रोक्षणी को अश्व के मुख पर लगा कर इस मन्त्र का उच्चारण करे—अग्नि ने पशु का रूप धारण किया, उससे देवताओं ने यजन किया, उस अग्नि ने इस लोक को जीत लिया। जिस लोक में अग्नि का निवास है, हे अश्व! वह लोक तुम्हारा है, तुम उसको जीतोगे, इस जल का पान करो। वायु ने पशु का रूप धारण किया, उसके द्वारा यजन किया गया, उसने इस लोक को जीता। जिस लोक में वायु रहता है, वह लोक तुम्हारा होगा, उस लोक को तुम जीतोगे, इस जल को पियो। एक समय सूर्य ने पशु का रूप धारण किया, देवताओं ने उससे यजन किया, उसने इस लोक को जीत लिया। जिस लोक में सूर्य निवास करता है, वह तुम्हारा है, तुम उसे जीतोगे, इस जल को पियो। अभिप्राय यह है कि यज्ञ के निमित्त पशु बनकर अग्नि, वायु और सूर्य ने अपने अपने लोकों को जीता है, तुम भी इस यज्ञ में पशुत्व स्वीकार करो। इससे तुम भू आदि लोकों को जीतकर देवत्व प्राप्त करोगे॥ १७॥

'उपगृह्णात्यपां पेरुरग्निः पशुरिति' (का० श्रौ० २०।६।८)। अपां पेरुरिति षाष्ठेन प्राकृतेन मन्त्रेणाग्निः पशुरिति वैकृतेन च मन्त्रेणाश्वस्य मुखे प्रोक्षणीर्धारयेदिति सूत्रार्थः। हे पशो, त्वमपां पेरुः पानशीलोऽसि, तत

इदं पिब। आपो देवीर्देव्यः स्वदन्तु आस्वादयन्तु एनं पशुं यतो देवहविर्देवानां हविः पशुलक्षणं स्वात्तम् अद्भिः स्वादितं सत् शोभनं देवयोग्यम्, भूयादिति शेषः। अद्भिः प्रक्षालितस्य हविषो मेध्यत्वादिति भावः। एवंविधोऽर्थः प्राकृतस्य मन्त्रस्य। अग्निरिति प्रकृतकण्डिकायां त्रीणि यजूंष्यश्वदेवत्यानि। सृष्टिदेवानां यज्ञेऽग्निः पशुरासीत्। तेन अग्निरूपेण पशुना देवा अयजन्त। स चाग्निस्तत्र पशुभावमुपगतः सन् एतं पृथ्वीलोकमजयत्। हे अश्व, यस्मिल्लोकेऽग्निर्विराजते, तं लोकं त्वं जेष्यसि, एताः प्रक्षिणीरपः पिब। अनयैव रीत्या द्वे यजुषी व्याख्येये। वायुः पशुरासीत्, सूर्यः पशुरासीदिति। वायुलोकोऽन्तरिक्षम्, सूर्यलोकः स्वर्गः। तवापि ते भविष्यत इत्यर्थः। अग्निवायुसूर्या महान्तोऽपि पशुभावमासाद्यैव महत्त्वमाप्नुवन्तः। तस्मात् प्रशस्तः पशुभाव इति।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्निः पशुरासीत्। तेनायजन्त स एतं लोकमजयद्यस्मिन्नग्निः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अप इति यावानग्नेर्विजयो यावांल्लोको यावदैश्वर्यं तावांस्ते विजयस्तावांल्लोकस्तावदैश्वर्यं भविष्यतीत्येवैनं तदाह' (श० १३।२।७।१३)। 'वायुः पशुरासीत्। तेनायजन्त स एतं लोकमजयद्यस्मिन् वायुः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अप इति यावान् वायोर्विजयो यावांल्लोको यावदैश्वर्यं तावांस्ते विजयस्तावांल्लोकस्तावदैश्वर्यं भविष्यतीत्येवैनं तदाह' (श० १३।२।७।१४)। 'सूर्यः पशुरासीत्। तेनायजन्त स एतं लोकमजयद्यस्मिन् सूर्यः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अप इति यावान् सूर्यस्य विजयो यावांल्लोको यावदैश्वर्यं तावांस्ते विजयस्तावांल्लोकस्तावदैश्वर्यं भविष्यतीत्येवैनं तदाह तर्पयित्वाश्वं पुनः सँ स्कृत्य प्रोक्षणीरितरान् पशून् प्रोक्षति तस्यातः' (श० १३।२।७।१५)। विजयो विजितः, लोकः स्थानम्, ऐश्वर्यमिच्छानुविधानम्। पुनः संस्कृत्येति वचनमप्राप्तत्वात् तस्य प्रोक्षणीनां पुनः संस्कारस्य। अतः, अतः परं ब्राह्मणं वक्ष्यत इति शेषः। 'अन्यैरेवैनं तत्पशुभिर्व्याकुर्वन्ति' (श० १३।२।८।१) इति, तदत्रापि द्रष्टव्यम्। तर्पयित्वाश्वम्, पुनः संस्कृत्य प्रोक्षणीः, ताभिरितरान् पशून् प्रोक्षति, इति कर्तव्यमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व जीवात्मन्, अग्निवायुसूर्याः पशव आसन्, तैर्देवा अयजन्। तस्मादेव ते तांस्ताँल्लोकानाप्नुवन्। देवतोद्देश्येन स्वात्मसमर्पणमेव पशुभावः। त्वमपि चेद्देहादिमोहं परित्यज्य देवतोद्देश्येन स्वात्मसमर्पणं करिष्यसि तदा तांस्ताँल्लोकानवाप्स्यसि। एता अपः पिब, एतानि कर्माणि आत्मसात्कुरु।

दयानन्दस्तु—'हे जिज्ञासो, यस्मिन् सोऽग्निः पशुर्दृश्य आसीत्, तेनायजन्त, तेन त्वं यज। यथा स विद्वान् तेनैतं लोकं द्रष्टव्यमजयत्, तथैनं जय। तं चेज्जेष्यसि, तर्हि सोऽग्निस्ते लोको भविष्यति, अतस्त्वमेव यज्ञेन शोधिता अपः पिब। यस्मिन् स वायुः पशुरासीत्···· यस्मिन् स सूर्यः पशुरासीत्····यदि त्वं तं जेष्यसि, तर्हि सूर्यस्ते लोको भविष्यति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पशुशब्दस्य पश्यतेर्निष्पन्नत्वेऽपि द्रष्टव्यार्थे प्रमाणाभावात्, चतुष्पदप्राणिषु पशुशब्दप्रसिद्धेः। नहि 'घट चेष्टायाम्' इति धातोर्निष्पन्नस्यापि घटशब्दस्य चेष्टार्थकता। तथाङ्गीकारे च असम्बद्धता, अस्पष्टार्थता च। यस्मिन्निति पदेन लोकश्चेद् गृह्येत, तर्हि तेन लोकेन कथं यजनमित्यनुक्तेः। नहि व्रीह्यादिवल्लोको यजनसाधनं भवति। सति च तथात्वे लोकस्य जेतव्यत्वानुपपत्तिः, साधनस्यैव फलत्वायोगात्। यज्ञेन शोधिता अपः पिबेत्यपि निर्मूलम्, मूले तादृशपदाभावात्॥ १७॥

प्राणाय स्वाहा अपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा। अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन। ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्॥ १८॥

मन्त्रार्थ—प्रस्तुत मन्त्र से तीन आहुतियाँ दी जाती हैं। प्राण के निमित्त, अपान के निमित्त और व्यान के निमित ये श्रेष्ठ आहुतियां दी जा रही हैं। इनसे यज्ञीय पशु में प्राणों का आधान होता है। यह इसलिये किया जाता

है कि जीवित पशु ही यज्ञ का साधन बन सकता है। अश्व का संस्कार करते हुए महाविद्या कहती है कि हे अम्बे, अम्बिके और अम्बालिके ! यह आत्मज्ञान रहित अश्व उस अविद्या का, जो कि कामरूपा स्त्री का भ्रममय रूप बनाकर महामाया से आवृत संसार में बसती है, आश्रय ग्रहण करके शयन करती है। कोई मुझ महाविद्या को उसके पास नहीं जाने देता ॥ १८ ॥

'परिपशव्ये हुत्वा प्राणाय स्वाहेति तिस्रोऽपराः' (का० श्रौ० २०।६।११)। परिपशव्ये स्वाहा, देवेभ्यः स्वाहेति द्वे आहुती हुत्वा प्राणायेत्याद्यास्तिस्र आहुतीर्जुहोति। एकामश्वसंज्ञपनादौ, चतस्रोऽन्त इति सूत्रार्थः। त्रीणि यजूंषि—प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा। आभिराहुतिभिरश्वं प्राणवन्तं करोति। 'वाचयति पत्नीर्नयन्नमस्तेऽम्ब इति' (का० श्रौ० २०।६।१२)। नेष्टा सर्वाः पत्नीः पशुशोधनाय पान्नेजनीहस्ताः पशून् प्रति नयन् नमस्ते आतानेति षाष्ठं प्राकृतं मन्त्रम्, 'अम्बे' इत्याश्वमेधिकं च वाचयतीति सूत्रार्थः। अश्वदेवत्याऽनुष्टुप्। पत्न्यः परस्परं वदन्ति हे अम्बे, हे अम्बिके, हे अम्बालिके, नामान्येतानि। एभिर्नामभिस्ताः सम्बोद्ध्या इत्यर्थः। कश्चन नरो मामश्वं प्रति न नयति न प्रापयति। मदगमने च अश्वकः कुत्सितोऽश्वः, पक्षपातित्वादकुत्सितोऽपीर्ष्यया कुत्स्यते, ससस्ति अन्यां परिगृह्य शेते। 'षस् स्वप्ने' अदादिः। अत्र मन्त्रे ह्वादिः प्रयुक्तः। छन्दसि दृष्टानुविधिः। कामन्यामित्यपेक्षायामाह—सुभद्रिकामिति। कुत्सिता सुभद्रा सुभद्रिका ताम्। ईर्ष्यया अकुत्सितापि कुत्स्यते। काम्पीलवासिनीम्, काम्पीले नगरे वसतीति काम्पीलवासिनी, ताम्। काम्पीलवासिनीमिव सुरूपाम्। काम्पीलनगरे हि सुभगा सुरूपा विदग्धा विनीताश्च कामिन्यो भवन्ति। मदगमनेनाश्वोऽन्यां सुभगामादाय शयिष्यत इति मया गम्यते, न तु मां तत्र कश्चिन्नयतीति भावः। अम्बे अम्बिके इत्यत्र 'आपो जुषाणो वृष्णो वर्षिष्ठेऽम्बेऽम्बालेऽम्बिके पूर्वे' (पा० सू० ६।१।११८) इति प्रकृतिभावः।

अत्र ब्राह्मणम्—'देवा वा उदञ्चः। स्वर्गं लोकं न प्राजानंस्तमश्वः प्राजानाद्यदश्वेनोदञ्चो यन्ति स्वर्गस्य लोकस्य प्रज्ञात्यै वासोऽधिवासꣳ हिरण्यमित्यश्वायोपस्तृणन्ति यथा नान्यस्मै पशवे तस्मिन्नेनमधि संज्ञपयन्त्यन्यै-रेवैनं तत्पशुभिर्व्याकुर्वन्ति' (श० १३।२।८।१)। देवा वा उदञ्चः, यदश्वेनोदञ्चो यन्तीत्यनुवाद एव। देवाः स्वर्गं लोकं न प्राजानान्। तं स्वर्गं लोकमश्वः प्राजानात्। यस्मादश्वेनेष्ट्वा ऊर्ध्वगामिनः सन्तो देवा यन्ति, ततो वासोऽधिवासं हिरण्यमित्येतत् त्रयमश्वायोपस्तृणन्तीत्येतत्सम्बन्धार्थम्। वासो यदन्तर्द्धानायालम्। अधिवासो यदाच्छादनायाप्यलम्। तच्च वास उपर्यास्तरणीयम्। तयोरुपरि हिरण्यम्। तस्मिंस्त्रये एनम् अधि उपरि संज्ञपयन्ति। अन्यैरेव एनमश्वं तत्पशुभिर्विलक्षणं तेभ्योऽधिकं कुर्वन्ति। एतेन च त्रयेण दर्भो न निवर्त्यते, भिन्नार्थत्वात्। एतद्धि तस्मिन्नेनमधि संज्ञपयन्तीति संज्ञपनार्थः, 'तद्यदेवास्य विशस्यमानस्य किञ्चित् स्कन्दति तदेतस्मिन् प्रतितिष्ठति' (श० ३।८।१।१४) इति श्रुतेः। 'पश्चात्तृणमुपास्यति वर्षो वर्षीयसीति' (का० श्रौ० ६।५।२४)। शामित्रस्य पश्चाद् हस्तस्थयोर्वेदितृणयोरन्यतरत् तृणं प्रागग्रं प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः। 'घ्नन्ति वा एतत् पशुम्। यदेनꣳ संज्ञपयन्ति प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहेति संज्ञप्यमान आहुतीर्जुहोति प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति तथा हास्यैतेन जीवतैव पशुनेष्टं भवति' (श० १३।२।८।२)। 'संज्ञप्यमाने' इति वचनात् परिपशव्यान्तराल इति प्राप्नोति। सूत्रकारस्तु—'परिपशव्ये हुत्वा प्राणाय स्वाहेति तिस्रोऽपराः' (का० श्रौ० २०।६।११) इत्याह। तस्याभिप्रायस्तु 'संज्ञप्यमाने' इति 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' (पा० सू० ३।३।१३१) इत्येवं वर्तमानोपदेशोऽयमिति। कुतः ? 'प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति' इति वाक्यशेषात्। उत्क्रान्तानां हि प्राणानां पुनर्विधानं युक्तम्, नानुत्क्रान्तानामिति हरिस्वामिनः। पुरोडाशादिषु यथा मन्त्रेण भावनया वा जीवनदानं क्रियते, तथैवात्राहुत्योत्क्रान्तप्राणस्याऽश्वस्य सप्राणत्वं सम्पाद्यते। तेन संस्कारविशेष एवायम्, न व्यावहारिकदृष्ट्या पशोः पुनर्जीवनं सम्पद्यते, तस्याङ्गानामुत्तरकर्मसु विनियोगदर्शनात्। 'अम्बे

अम्बिकेऽम्बालिके । न मा नयति कश्चनेति पत्नीरुदानयत्यह्वतैवैना एतदथो मेध्या एवैनाः करोति' (श० १३।२।८।३)। उदानयतीति वचनाद् उदानकरण एष मन्त्रः प्रतिभाति । पूर्वोक्तकात्यायनसूत्रस्यायमभिप्रायः—'नमस्ते' इति प्राकृतम् 'अम्बे अम्बिके' इत्याश्वमेधिकं वाचयन् पत्नीरुदानयत्येष श्रुत्यर्थ इति । अह्वत एव एना एतदिति । 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' इति भौवादिकस्य लुङि 'अह्वत' इति । मेध्यतामुच्चारयतश्चोपपन्नं वाचनमिति । अथो मेध्या मेधार्हा एव एनाः करोति, मन्त्रेण वाचनेनेत्यभिप्रायः । एतदपि वाचने लिङ्गम् ।

अध्यात्मपक्षे— प्राणाय प्राणाधिष्ठात्रे भगवते स्वाहा स्वात्मसमर्पणमस्तु । अपानाय स्वाहा अपानाधिष्ठात्रे, व्यानाय स्वाहा व्यानाधिष्ठात्रे देवाय स्वाहा स्वात्मनिवेदनमस्तु । बुद्धिराह—हे अम्बे, हे अम्बिके, हे अम्बालिके, अश्वं प्रजापतिं परमेश्वरं प्रति मा मां कश्चन न नयति । अश्वकः, अश्नुते व्याप्नोतीत्यश्वः परमेश्वरः, कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः । प्रणयकोपेनेर्ष्यावशादेषोक्तिः । बुद्धिः परमात्मानं कामयते । तत्प्राप्तयेऽहमहमिकया प्रवर्तमाना बुद्धयः परस्परं स्पर्धन्ते । स सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीमिव सुरूपां काञ्चिदादाय ससस्ति शेते । सोऽन्यामपहाय मामेव कामयेतेति कामना ।

दयानन्दस्तु—'हे अम्बे मातः, हे अम्बिके पितामहि, हे अम्बालिके प्रपितामहि, कश्चनाश्वको यां काम्पीलवासिनीं सुभद्रिकामादाय ससस्ति न मानयति, अतोऽहं प्राणाय प्राणपोषणाय स्वाहा सत्या वाक्, अपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा च करोमि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अम्बिकाऽम्बालिकाशब्दयोस्तादृशार्थत्वे मानाभावात् । अश्वकशब्दस्याप्यश्वसदृशशीघ्रगामीति गौण एवार्थः, असत्यामनुपपत्तौ मुख्यार्थत्यागस्यायुक्तत्वात् । तथैव काम्पीलवासिनीं सुभद्रिकामित्यनयोर्लक्ष्म्यर्थताऽपि चिन्त्यैव । कं सुखं पीलति बध्नातीति कम्पीलः, स एव काम्पीलः, तं वासयितुं शीलं यस्यास्तां लक्ष्मीमिति व्युत्पत्तिरप्यसङ्गतैव, लक्ष्म्याः सुखकामयितृविमुखत्वात्, सुखनिरपेक्षेष्वेव तत्प्रवृत्तेश्च । नयतेर्वशीकरणार्थतापि चिन्त्या । अपानायेत्यस्य हिन्दीव्याख्याने दुःखापाकरणायेत्युक्तम् । व्यानाय सर्वशरीरव्यापिन आत्मने सत्ययुक्तां वाणीं करोतीत्यपि निर्मूलम्, तथार्थत्वे मानाभावात्, प्राणप्रसङ्गेनापानव्यानयोः प्राणविशेषयोरेव ग्रहणौचित्यात् ॥ १८ ॥

ग॒णानां॑ त्वा ग॒णप॑तिꣳ हवामहे प्रि॒याणां॑ त्वा प्रि॒यप॑तिꣳ हवामहे निधी॒नां त्वा॑ निधि॒प॑तिꣳ हवामहे वसो मम । आह॑मजानि गर्भ॒धमा त्वम॑जासि गर्भ॒धम् ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—यजमान की पत्नी अश्व की परिक्रमा करके अश्व के पास आकर कहती है कि हे अश्व के अधिष्ठात्री देव ! प्रजापति परमात्मन् ! मनुष्य आदि गणों (समुदायों) के अधिपति गणपति के रूप में विद्यमान आपका मैं आवाहन करती हूँ । संसार के सकल प्रिय पदार्थों से अधिक प्रिय होने के कारण अथवा सर्वोपरि रक्षक होने के कारण प्रिय पति के रूप में आपका आवाहन करती हूँ । विद्या आदि पोषणकारक सुखनिधियों के पति के रूप में विद्यमान आपका आवाहन करती हूँ । सबके प्राणरूप अथवा जिनमें सब प्राणी बसते हैं, ऐसे हे वसु नामक परमात्मन् ! आप मेरे रक्षक बनिये, मैं गर्भधारण कराने वाले वीर्य को अपने पति से प्राप्त करूँ । आप गर्भ को धारण कराने वाले वीर्य को प्रतिलोम्मुख रूप से प्रेरित करते हैं, अतः मेरे पति में भी उसे स्थापित कीजिये ॥ १९ ॥

'अश्वं त्रिस्त्रिः परियन्ति पितृवन्मध्ये गणानां प्रियाणां निधीनामिति' (का० श्रौ० २०।६।१३)। सर्वाः पत्न्यः पान्नेजनहस्ता एव प्राणशोधनात् प्राग् अश्वं त्रिस्त्रिः परियन्ति । सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम् । मध्ये पितृवद् अप्रदक्षिणं परियन्ति त्रिः त्रिभिर्मन्त्रैः । वसो ममेति त्रिष्वप्यनुषङ्गः । ततश्चैवं क्रमः—प्रथमं गणानां त्वेति त्रिः प्रदक्षिणम्, ततः प्रियाणां त्वेति त्रिरप्रदक्षिणम्, ततो निधीनां त्वेति त्रिः प्रदक्षिणमिति

पितृवन्मध्य इत्यस्यार्थः। अन्ते सकृदितरथावृत्तिः। वसो ममेत्यस्य त्रिष्वप्यनुषङ्गः। एवं नवकृत्वः परिक्रमणमिति सूत्रार्थः। त्रीणि यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। हे अश्व, वयं त्वां हवामहे आह्वयामः। कीदृशं त्वाम् ? गणानां स्त्रीगणानां मध्ये त्वां युगपद् गणपतिम्, यद्वा गणानां मध्ये गणपतिं गणरूपेण पालकम्, प्रियाणां वल्लभानां मनुष्याणां मध्ये त्वामेव प्रियपतिं प्रियभर्तारं प्रियस्य वा पालकं हवामहे। निधीनां सुखनिधीनां मध्ये त्वामेव निधिपतिं सुखनिधेर्वा पालकं हवामहे। हे वसो! वसुरूप अश्व, मम पतिस्त्वं भूया इति शेषः। 'प्रक्षालितेषु महिष्यश्वमुपसंविशत्याहमजानीति' (का० श्रौ० २०।६।१४)। संज्ञपनानन्तरं मृतस्य पशोः प्राणेषु पत्नीभिरध्वर्युणा यजमानेन च प्रक्षालितेषु शोधितेषु सत्सु महिषी अश्वसमीपे शयीतेति सूत्रार्थः। अश्वदेवत्यं यजुः। हे अश्व, गर्भधं गर्भं दधातीति तथोक्तं गर्भधारकं रेतोऽहम् आ अजानि निष्कृष्य क्षिपामि, 'अज गतिक्षेपणयोः'। तं च गर्भधं रेत आ अजासि निष्कृष्य क्षिपसीत्युव्वटमहीधरौ, काण्वसंहिताभाष्ये सायणोऽपि।

अत्र ब्राह्मणम्—'गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामह इति। पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा एतदतो न्वेवास्मै ह्नुवतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं तल्लोकैर्धुवते त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते षड् वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं धुवते' (श० १३।२।८।४)। अत्र हरिस्वामिनः—अनेन मन्त्रेण सकृदेव, अर्थात् सर्वाः पत्न्योऽश्वं परिभ्रमन्ति। अपह्नुवते विस्मरन्त्येवास्मै, एतत्प्रदक्षिणावर्तनेन संज्ञपनमुन्नयन्तीत्यर्थः। अपि वा अविस्मृतमपि निह्नुवति क्षमयन्ति च ऋत्विग्यजमाना एतत्संज्ञपने प्रदक्षिणकरणेन। अथो धुवते, 'धू विधूनने' तौदादिकः परस्मैपदी। धवित्रैरुपवीजयन्त्येनमश्वं राजानमिव व्यजनैरेतत्। त्रिः पुनः परियन्ति पत्न्यः प्रियाणां त्वा प्रियमिति। कुत ? मन्त्रक्रमात्। 'अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति। ये यज्ञे धुवनं तन्वते नवकृत्वः परियन्ति नव वै प्राणाः प्राणानेवात्मन् दधते नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधमिति प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशूनात्मन् धत्ते' (श० १३।२।८।५)। ये ऋत्विग्यजमाना यज्ञे धुवनं तन्वते, तेषां प्राणा अपक्रामन्ति। पत्नीप्रयोगद्वारेण तेषामयं दोषोऽपाक्रियते। नवकृत्वः पत्न्यः परियन्ति। पत्नीषु तथा परियतीषु एतेभ्य ऋत्विग्यजमानेभ्यः प्राणा नापक्रामन्ति, आहमजानि गर्भधमिति महिषी अश्वमुपसंविशति, लिङ्गात्।

अध्यात्मपक्षे—हे वसो, वसति सर्वभूतेषु वासयति च सर्वं जगदिति वसुस्तत्सम्बुद्धौ, गणानां महदादिगणानां वसुरुद्रादित्यादिगणानां गणपतिं गणपालकम्, प्रियाणां मित्रपुत्रकलत्रादीनां प्रियपतिं प्रियपालकं प्रियप्रेमास्पदं पतिं वा, निधीनां शङ्खपद्मादिनिधीनामाकराणाम्, निधीयन्ते स्वर्णरत्नमण्यादिधनादि येषु तेषाम्, सुखानि वा निधीयन्ते येषु तेषां निधीनां निधिपालकं हवामहे आह्वयामहे। प्रकृतियोनौ गर्भं प्रतिबिम्बात्मकं चैतन्यं यो दधाति, स गर्भधो बिम्बभूतः परमात्मा, तमहं मम, विभक्तिव्यत्ययः, हृदये त्वमजासि धारयसि। अहं च आसमन्तात् तं गर्भधं प्रतिबिम्बधारकं बिम्बरूपं गर्भधं परमात्मानं हृदयेऽजानि हृदये धारयामि। त्रिगुणात्मिका जडा प्रकृतिर्ब्रह्मचैतन्यप्रतिबिम्बधारणेनैव चैतन्यायिता सती विश्वं सृजति 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥' (भ० गी० १४।३) इति गीतोक्तेः। महद्ब्रह्म प्रकृतिः।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर, वयं गणानां गणपतिं समूहपालकं त्वां हवामहे स्वीकुर्महे। प्रियाणां प्रियपतिं त्वां हवामहे। निधीनां विद्यादिपदार्थपोषकाणां त्वा निधिपतिं हवामहे। हे वसो, मम न्यायाधीशो भूयाः। यं गर्भधं यो गर्भं प्रकृतिं दधाति तं त्वमजासि प्राप्नुयाः। तं गर्भधं प्रकृतिमहमाजानि जानीयाम्' इति, तथा हिन्दीभाष्ये तु—'गर्भवत् संसारधारयित्र्याः प्रकृतेर्धारकस्त्वं जन्मादिदोषरहितः सम्यक् प्राप्नोषि। गर्भधं प्रकृतिधारकं त्वामहं सम्यग् जानीयाम्' इत्युक्तम्, तच्च सर्वमप्यसङ्गतमेव, असम्बद्धत्वात्, न्यायाधीशो भूया

इत्यस्य मन्त्रबाह्यत्वात् । ननु सिद्धान्तव्याख्यानेऽपि –'मम पतिर्भूयादिति शेषः' इत्युक्तम्, तदपि व्याख्यानं तथाविधमेवेति चेन्न, ब्राह्मण-सूत्र-सन्दर्भानुसारं तथा व्याख्यातत्वात् । न च त्वदीये व्याख्याने तादृशं किञ्चिदपि प्रमाणमस्ति । त्वया प्रथम-गर्भधशब्दस्य यो गर्भं दधातीति व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता, सा च त्वदीयहिन्दीभाष्य-विरुद्धा । तत्र तु प्रकृतेर्गर्भधारकतोक्ता, परमात्मनस्तु प्रकृतिधारकतोक्ता । एवमेव 'त्वं जन्मादिदोषरहितः सम्यक् प्राप्नोषि' इति रिक्तं वचः, किं प्राप्नोषीत्यनुक्तेः । पदार्थव्याख्याने प्रकृतिमित्युक्तम्, हिन्द्यां तु प्रकृति-धारकमहं जानीयामित्युक्तम् । तच्चाशुद्धम्, नहि गर्भशब्दस्य प्रकृतिरर्थः । परस्परविरुद्धश्चायमर्थः । भूमिकायां दयानन्देन यन्महीधरभाष्यं दूषितम्, तत्तु भूमिकायामेवास्माभिः खण्डितम् ॥ १९ ॥

ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—पत्नी अपने पति **यजमान से कहती है कि मैं और तुम दोनों चार चरणों को भली प्रकार फैलावें अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों का साधन करें । हे अश्व के अधिष्ठाता प्रजापति देव ! आप इस यज्ञशाला को अपने तेज और ऐश्वर्य से आच्छादित कर दें । हे प्रजापते ! सेचन में समर्थ तेजोमय वीर्य को धारण करने वाला मेरा बलवान् पति मुझमें तेजोयुक्त वीर्य को स्थापित करे ॥ २० ॥**

अत्र काण्वानां पूर्वमन्त्रशेषः—'ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव' इति । यौ आवां कृतसङ्केतौ तौ उभौ त्वमहं च चतुरः पदः पादान् । द्वौ तव सम्बन्धिनौ द्वौ च मम सम्बन्धिनौ, आवां सम्प्रसारयाव । एवं स्त्रीपुंस-सम्बन्धे संवेशनप्रकारः ।

'अधीवासेन प्रच्छादयति स्वर्गे लोक इति' (का० श्रौ० २०।६।१५) । अधीवासः, अध उपरिष्टाच्च आच्छादनक्षमो बहुमूल्यः कम्बलविशेषः । तेन महिषीमश्वं च स्वर्गे लोक इति मन्त्रेण प्रच्छादयेदिति सूत्रार्थः । अश्वदेवत्यं यजुः । अध्वर्युर्वदति—हे अश्वमहिष्यौ, युवां स्वर्गे लोकेऽस्यां यज्ञभूमौ प्रोर्णुवाथां वास आच्छादयतम्, 'ऊर्णुञ् आच्छादने', 'एष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुँ संज्ञपयन्ति' (श० १३।२।८।५) इति श्रुतेः । 'अश्व-शिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति' (का० श्रौ० २०।६।१६) । महिषी अश्वशिश्नं स्वयमेवाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति वृषा वाजीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः । अश्वदेवत्यं यजुः । वाजी अश्वो रेतो दधातु मयि वीर्यं स्थापयतु । कीदृशोऽश्वः ? वृषा सेक्ता, रेतोधा रेतसो वीर्यस्य धारयिता ।

अत्र ब्राह्मणम् –'ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुद्ध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुँ संज्ञपयन्ति तस्मादेवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुद्ध्यै' (श० १३।२।८।५) । एतावप्यधिवासेन सम्प्रोर्णुवन्ति यस्मादेष स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति, तस्मादेव-माह—स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामिति । वृषा वाजी रेतोधा इति महिषी अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुत इति हरिस्वामिनः ।

अध्यात्मपक्षे—तौ शिष्याचार्यौ उभौ चतुरः पदः पुरुषार्थान्, सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य-सायुज्यात्मकान् मोक्षान् वा सम्प्रसारयाव स्वयं प्राप्य प्रचारयाव । वेद आदिशति—हे शिष्याचार्यौ, युवां स्वर्गे स्वर्गोपमे भारते वर्षे ज्ञानविज्ञानाभ्यां सर्वं जगदाच्छादयतम् । वर्षति धर्मान् तत्फलानि च यः स वृषा परमेश्वरः । वाजी, वाजं ज्ञानादिलक्षणमन्नमस्यास्तीति वाजी, रेतोधाः प्रजासु रेतो वीर्यं पराक्रमं दधाति यः स रेतोधा, अस्मासु रेतो बलं पराक्रमं दधातु ।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजे, युवामुभौ तौ यथा स्वर्गे लोके चतुरः पदो धर्मार्थकाममोक्षान् प्रोर्णुवाथां प्राप्नुयाथां तथैतानावामध्यापकोपदेशकौ सम्प्रसारयाव, यथा रेतोधा रेतः श्लेषमालिङ्गनं दधाति, स वृषा दुष्टानां शक्तिप्रतिबन्धको वाजी विज्ञानवान् राजा प्रजासु रेतो वीर्यं दध्यात् तथा प्रजापि दधातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'ऊर्णुञ् आच्छादने' इति धात्वर्थविरोधात्। राजप्रजे इति सम्बोधनमपि प्रमाणशून्यम्, क्रियाबलादावामित्यध्याहारस्यौचित्येऽप्यध्यापकोपदेशकयोर्ग्रहणे मानाभावात्, अध्यापकोपदेशकौ किं प्रसारयावेति सम्प्रसरण्यानुक्तेः। रेतः श्लेष इत्यपि निर्मूलम्, वृषा शक्तिप्रतिबन्धकः, वाजी विज्ञानवानित्यपि निर्मूलम् ॥ २० ॥

उत्सक्थ्या अवगुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्। यः स्त्रीणां जीवभोजनः ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—यजमान अश्वाभिमानी प्रजापति परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे सकल मनोरथों की वर्षा करने में समर्थ प्रजापते ! जिसकी ऊरु ऊपर को है, ऐसी मेरी पत्नी के प्राणों पर तेज को स्थापित करें, उस तेज को प्रविष्ट करावें, जो कि स्त्रियों के जीवन का साधन है ॥ २१ ॥

'उत्सक्थ्या इत्यश्वं यजमानोऽभिमन्त्रयते' (का० श्रौ० २०।६।१७)। स्पष्टार्थं सूत्रम्। अश्वदेवत्या गायत्री। हे वृषन् सेक्तः अश्व, महिष्या गुदमव गुदोपरि, योन्युपरीति यावत्। रेतो धेहि वीर्यं धारय। कथम्भूताया महिष्यास्तत्राह—उत्सक्थ्याः, उद् ऊर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्याः सा उत्सक्थी, 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (पा० सू० ५।४।११३) इति षचि, 'षः प्रत्ययस्य' (पा० सू० १।३।६) इति षकारस्येत्संज्ञायाम्, 'षिद् गौरादिभ्यश्च' (पा० सू० ४।१।४१) इति ङीषि रूपम्, तस्याः। कथं तदाह—अञ्जिम् अनक्ति व्यनक्ति पुंस्त्वमित्यञ्जिः पुंस्प्रजननम्, तं सञ्चारय स्त्रीप्रजनने सन्निवेशय। यः स्त्रीणां जीवभोजनः, जीवयति स जीवः, भोजयति यः स भोजनः, जीवश्चासौ भोजनश्चेति जीवभोजनः। यस्मिन्नुपस्थे सन्निविष्टे ता जीवन्ति भोजनेनेव तृप्यन्ति च।

अध्यात्मपक्षे—हे वृषन्, वर्षति कामानिति वृषा, तत्सम्बुद्धौ। हे परमेश्वर, उत्सक्थ्या उद् ऊर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्याः सा उत्सक्थी, तस्या भार्याया इव प्रकृतेः स्वरूपभूतां योनिमव योन्युपरि रेतो वीर्यं प्रपञ्चोत्पादनसामर्थ्यं धेहि धारय। अनक्ति व्यनक्ति प्रकृतौ स्वचैतन्यमित्यञ्जिः प्रतिबिम्बभूतः स्वस्वरूपभूतः, तं प्रकृतिरूपायां योनौ सञ्चारय, 'अश्वरश्मिमतिसुमतिश्वसुतचारय' (वा० प्रा० ३।९७) इत्यादिना वकारे परे दीर्घः। योऽञ्जिः पुरुषप्रतिबिम्बः स्त्रीणां जडानां प्रकृतिमहदहङ्कारादीनां जीवनं भोजनश्च, तद्वत्तृप्तिकर इति यावत्। स्वातन्त्र्यं पुंस्त्वम्, पारतन्त्र्यं स्त्रीत्वम्। प्रकृत्यादौ स्वतः सत्तास्फूर्त्यभावेन पारतन्त्र्यम्। पुरुषस्य चेतनस्य स्वतः सत्तास्फूर्तिमत्त्वेन स्वातन्त्र्यम्। तेन चेतन एव प्रकृतेर्जीवनम्, तदधीनसत्ताकत्वात्। स एव च तृप्तिकरः, तदपेक्षापूरकत्वात्। उत्सक्थ्या गुदमिति राहोः शिर इतिवद् अभेदे षष्ठी। सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपा प्रकृतिरेव त्रिकोणा योनिरित्यागमिकैराख्यायते।

दयानन्दस्तु—'हे वृषन्, यः स्त्रीणां जीवभोजनो जीवा भोजनं भक्षणं यस्य सः। व्यभिचारी व्यभिचारिणी वा स्त्री वर्तेत, तं तां च निगृह्य उत्सक्थ्या ऊर्ध्वं सक्थिनी यस्यास्तस्याः प्रजायास्ताडय, स्वप्रजायाश्च गुदं क्रीडामवधेहि। अञ्जिं प्रसिद्धं न्यायं सञ्चारय' इति, तदप्युपहासास्पदम्, पदार्थासङ्गतेः। जीवा भोजनं भक्षणं यस्य स जीवभोजन इति जीवभोजनशब्दस्यार्थ उक्तः। हिन्दीभाष्ये तस्य मांसभक्षक इति व्याख्यानम्। अन्वये तु व्यभिचारी व्यभिचारिणी वा स्त्रीति तत्पर्यायान्तरमुक्तम्। तदेतत्सर्वं परस्परविरुद्धमेव। नहि मांसभक्ष-व्यभिचारिशब्दौ पर्यायवाचकौ, निरामिषाणामपि व्यभिचारसम्भवात्, सामिषाणामप्यव्यभिचारित्वसम्भवात्। न च जीवा भक्ष्यन्ते, तेषां निराकारत्वात्। न च प्राणिदेहा एव जीवाः, तेषां देहभिन्नत्वात्।

न च स्त्रीणामिति पदस्य सार्थक्यम्, मांसभक्षकत्व-व्यभिचारित्वयोरुभयत्र सम्भवेन व्यावर्तकत्वायोगात्। स्त्रीणां मध्ये पुरुषो व्यभिचारी पुरुषाणां मध्ये स्त्रीणां व्यभिचार इति विवरणमपि निःसारम्, तस्य अर्थात् सिद्धत्वात्, पुरुषः स्त्रीषु व्यभिचरति स्त्री पुरुषेष्वित्यर्थसिद्धमेव। उत्सक्थ्याः प्रजाया इत्यप्यसङ्गतम्, उत्सक्थीत्वस्य व्यष्टिधर्मत्वेन समष्टिप्रजायां तदसम्भवात्, निगृह्य ताडयेदित्यादिपदानां मूलेऽभावेन निर्मूलत्वाच्च। स्वप्रजाया गुदमवधेहीत्यप्यसङ्गतम्, मूले स्वप्रजाया इति पाठाभावात्। न चोत्सक्थ्या इति प्रजाया बोधकः शब्दः, तथाभ्युपगमेऽपि तस्यास्ताडनीयत्वेन क्रीडाधानासम्भवात्। न चाञ्जिशब्दस्य प्रसिद्धोऽप्रसिद्धो वा न्यायोऽर्थः, निर्मूलत्वात्, काव्यकोषादिष्वप्रयोगात्, धात्वर्थविरोधाच्च। यत्तु भावार्थे—हे राजन्, ये विषयसेवायां क्रीडन्तो जना क्रीडन्त्यः स्त्रियो वा व्यभिचारं वर्धयेयुः, ते ताश्च तीव्रेण दण्डेन शासनीया इति, तत्तु पूर्वोक्तविरुद्धमेव। पूर्वं तु राजकर्तृकं प्रजासु क्रीडाया धारणमुक्तम्, इह तु तद्विरुद्धमुच्यते। भावार्थस्य मूलाक्षरसम्बन्धवैधुर्यं त्वतिस्पष्टमेव। तस्मात् सिद्धान्तव्याख्यानमेव मन्त्राक्षरानुगुणम्। तत्राश्लीलता-दोषशङ्कासमाधानं तूपरिष्टाद् वक्ष्यते ॥ २१ ॥

यकाऽसकौ शकुन्तिकाऽऽहलगिति वञ्चति।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ – अध्वर्यु आदि देवी से संवाद करते हैं – जो यह अपरा प्रकृति है, वह ठगती है, सही मित्र तो आत्मा ही है। यज्ञीय तेज आत्मयजनकारी की ऐश्वर्यमय आत्मा में आगमन करता है। सर्वाधार परा शक्ति उस आत्मयोगी के लिंगशरीर को कवलित कर लेती है ॥ २२ ॥

'अध्वर्युब्रह्मोद्गातृहोतृक्षत्तारः कुमारीपत्नीभिः संवदन्ते यकासकाविति दशर्चस्य द्वाभ्यां द्वाभ्याᳬ हये हयेऽसावित्यामन्त्र्यामन्त्र्य' (का० श्रौ० २०।६।१८)। अध्वर्य्वादयः पञ्च यजमानस्य कुमार्या पत्नीभिश्च सह यथाक्रमं हये हयेऽसाविति सम्बुद्ध्यन्तनामोच्चारणपूर्वकं सम्मुखीकृत्य यकासकाविति दशर्चसम्बन्धिनीभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यामृग्भ्यां सह सोपहासं संवदन्ते। तत्र प्रथममध्वर्युः कुमारीं पृच्छति हये हये कुमारि यकासकौ शकुन्तिकेति सूत्रार्थः। कुमार्यादिदेवत्या दश। तत्र द्वितीयोपरिष्टाद्बृहती। शिष्टा नवानुष्टुभः। यकासकौ या असौ। 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' (पा० सू० ५।३।७१) इति प्रागिवीयार्थेऽकच्। अत्र कुत्सायाम्। शकुन्तिका शकुन्तिः पक्षिणी, अल्पा शकुन्तिः शकुन्तिका, 'अल्पे' (पा० सू० ५।३।८५) इति कन्, अल्पपक्षिणीव। 'आहलक्' इति शब्दानुकरणम्। हले हले इति शब्दयन्ती ब्रुवन्ती वा वञ्चति गच्छति। स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः। अध्वर्युरङ्गुल्या योनिं प्रदर्शयन्नभिमेथयति। गभे भगे योनौ, वर्णविपर्यय आर्षः। शकुनिसदृश्यां यदा पसो लिङ्गमाहन्ति आगच्छति, 'पसः सपतेः स्पृशतिकर्मणः' (निरु० ५।१६) इति यास्कः। अत्र स्कन्दस्वामी—पसः पुनः सपतेः, 'षप् समवाये' इत्यस्य स्पृशत्यर्थस्य विपरीतस्य। स्पर्शश्चात्र सुरतस्य सुखातिशयोऽभिप्रेतः, न त्वगिन्द्रियविषयसंस्पर्शमात्रकम्, सपति स्पर्शयति सुखयतीति। पस इति पुंस्प्रजननस्य नाम। तद् यदा भग आगच्छति तदा धारका, धरति लिङ्गमिति धारका योनिः, निगल्गलीति नितरां गलति वीर्यं क्षरति। यद्वा शब्दानुकरणं गल्गलेति शब्दं करोतीत्यर्थः। हन्तिर्गत्यर्थः। यद्वा तस्या अपि गभे भगे पसः पुंस्प्रजननमाहन्ति आगच्छति, अन्तर्भावितण्यर्थो वा हन्तिः, तस्या भगे पसमागमयति प्रवेशयति, भगे शिश्नमाहन्ति आगच्छति प्रवेशयति वा तत्, शब्दं करोतीत्युक्तमेव।

अत्र ब्राह्मणम्—'यकासकौ शकुन्तिकेति। विड् वै शकुन्तिका हलगिति वञ्चतीति विशो वै राष्ट्राय वञ्चत्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति विड् वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री

विशं घातुकः' (श० १३।२।९।६)। विड् वै शकुन्तिका। तस्माद्विड् वै हलाहलेति शब्दायमाना वञ्चति व्यवहरति। विशश्च राष्ट्रय राष्ट्रहिताय वञ्चति कृषिवाणिज्यपशुपाल्यादिकं कुर्वन्ति। गभे पसो निगल्गलीतीत्यस्य गूढमर्थमाह श्रुतिः—विड् वै गभः, राष्ट्रमेव पसः। गभे पस आविश्याहन्तीत्यस्यायमेव गूढोऽर्थो यद् राष्ट्रमेव विश्याविश्याहन्ति। तस्माद् राष्ट्री राष्ट्रमस्मास्तीति राष्ट्री राजा विशं घातुको भवति।

अध्यात्मपक्षे—यका या शकुन्तिका अल्पीयसी पक्षिणीव प्रकृतिराहलगिति हले हले शब्दं ब्रुवन्तीव वञ्चति गच्छति, महदादिकार्यनिष्पत्त्यर्थं प्रवर्तते, तदा तस्या गभे भगे त्रिगुणात्मके शरीरे, असकौ असौ पसो वीर्यधारकः प्रतिबिम्ब आहन्ति आगच्छति, तदा धारका विश्वगर्भधारयित्री प्रकृतिर्योनिर्निनितरां गिलति क्षरति। तत एव वीर्यवज्जगज्जायते।

दयानन्दस्तु—'यस्यां गभे प्रजायां राजा स्वीयं पसो राष्ट्रमाहन्ति जानाति प्राप्नोति वा, सा धारका सुखधारयित्री प्रजा निगल्गलीति निरन्तरं भृशं सुखं निगलतीव वर्तते। यतो यका या असकौ असौ प्रजा शकुन्तिका अल्पा पक्षिणीव निर्बला वर्तते, तस्मादिमामहलग् राजा वञ्चतीति, आ समन्ताद् हलं विलेखनमञ्चतीति सः। हलेन कृष्टाया भूमेः करग्रहीता राजा वञ्चति तथा धनं गृह्णाति, यथा प्रजा सुखवती स्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सुखानुगुणग्रहणस्य वञ्चकत्वानुपपत्तेः, राजपदस्य मूलेऽभावाच्च, तादृश्याः प्रजायाः शकुन्तिकाया इव निर्बलत्वासम्भवात्। हलेन विलेखनं भवति, न तु हलशब्दस्य विलेखनमर्थः॥ २२॥

यकोऽसकौ शकुन्तक आहलगिति वञ्चति।
विवक्षत इव ते मुखमध्वर्यो मा नस्त्वमभिभाषथाः॥ २३॥

मन्त्रार्थ—देवी उत्तर देती है कि हे अध्वर्यु! अविद्या में बँधा हुआ जीवरूप पक्षी ही ठगता है वही सब ओर से आसक्त होता है, बोलते हुए तुम्हारे मुँख के समान चंचलता से इधर-उधर चलायमान होता है। तुम व्यर्थ की बकवास मत करो, अर्थात् **मौनी होकर आत्मविचार करो, तभी तुम्हारा उद्धार होगा।** २३॥

अङ्गुल्या शिश्नं प्रदर्शयन्ती कुमारी अध्वर्युं प्रत्याह—यकः यः असकौ असौ शकुन्तक इव आहलगिति वञ्चति, योऽसौ शकुन्तक इव पक्षीव विवक्षतो वक्तुमिच्छतस्ते तव मुखमिव आहलगिति इतस्ततश्चलति। अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते, अतो नोऽस्मान् प्रति मा अभिभाषथाः, मा वद, तुल्यत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—साधिष्ठाना प्रकृतिर्वक्ति—योऽसौ शकुन्तक इव सोपाधिकः सशरीरः पुरुष आहलगिति वञ्चति, इतस्ततश्चलति कर्म करोति, हे अध्वर्यो! कर्मपरायण, वक्तुमिच्छतस्ते तव मुखमिव प्रधानं भवति। त्वमस्मान् प्रति मा वद, प्रकृतेरिव सोपाधिकपुरुषस्यापि तथात्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे अध्वर्यो, त्वं नो माभिभाषथाः, मिथ्याभाषणं विवक्षत इव ते मुखं मा भवतु। यद्येवं यकोऽसकौ करिष्यसि शकुन्तक इव राजा हलगिति न वञ्चति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्वर्योर्यज्ञस्यैवाचरणा-निरूपणात्, अभिभाषथा इत्यस्य मिथ्याभाषणार्थकत्वायोगात्। विवक्षत इत्यस्य 'निरर्गलं विवक्षतो मनुष्यस्य मुखमिव ते मुखं मास्तु' इति हिन्दीव्याख्यानमपि निर्मूलमेव, मूलाक्षराननुसारित्वात्। निर्बलपक्षिवदुच्छिन्नो भविष्यतीति निर्मूलमेव॥ २३॥

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः।
प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंसयत्॥ २४॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा महिषी से कहता है कि तुम्हारी माता महाशक्ति भूमि और पिता महानारायण की विभूति-स्वरूप द्युलोक भी पंचभूत रूप वृक्ष के श्रेष्ठ ऊर्ध्व भाग को, अर्थात् ऊपर के लोक में वर्तमान पुत्र, पौत्र आदि के रूप में प्रकट करते हैं। तुम्हारा पिता द्युलोक में पर्जन्य रूप जल में मुट्ठी के समान संकुचित हुए जीवसम्बन्धी तेज को छोड़ता है। इस प्रकार के बीजप्रक्षेप से मैं प्रसन्न होता हूँ ॥ २४ ॥

ब्रह्मा महिषीमभिमेथति—हे महिषि, यदा ते तव माता ते तव पिता च मैथुनार्थं वृक्षस्य वार्क्ष्यस्य पर्यङ्कस्य अग्रमुपरितनं भागं रोहतस्तदा प्रतिलामि प्रकर्षेण स्निह्याम्यहमनेन कर्मणा, 'तिल स्नेहने' तौदादिकः, इति वदन् ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्ट्याकारं शिश्नमतंसयदक्षिपत्, एवं तवोत्पत्तिरित्यभिप्रायः। वृक्षस्येत्यत्र तद्धितलोपः। 'तसि अलङ्कारे' चुरादिः। यद्वा मुष्टिं मुष्टितुल्यं शिश्नमुत्थानेन अलङ्करोति, किं कुर्वन् प्रतिलामीति वदन्निति शेषः। तव भोगेन स्निह्यामीति वदन्निति यावत्। एवं तवोत्पत्तिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अप वा एतस्मात्। श्री राष्ट्रं क्रामति योऽश्वमेधेन यजते' (श० १३।२।९।१)। 'तयोः शयानयोरश्वं यजमानोऽभिमेथत्युत्सक्थ्या अवगुदं धेहीति' (श० १३।५।२।३)। 'अथाध्वर्युः कुमारीमभिमेथति' (श० १३।५।२।४) इत्यादि वक्ष्यते। तत्र यास्वभिमेथिकासु किञ्चिद्दर्शनं गूढमस्ति, तदत्र ब्राह्मणेनोच्यते। योऽश्वमेधेन यजते तस्माद् ऋत्विग्भ्यो दीयमाना राष्ट्रात्मिका श्रीरपक्रामति। तत्समाधानार्थं भार्याभिर्मेथिका कर्तव्या। ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापयेति। श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियः कारणं भवति। ततश्चाभि-मेथिकाभिस्तस्याः श्रिय उच्छ्रयणं क्रियते। 'माता च ते पिता च त इति। इयं वै माताऽसौ पिताऽऽभ्यामेवैनꣳ स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रꣳ श्रियमेवैनꣳ राष्ट्रस्याग्रं गमयति प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतꣳसयदिति विड् वै गभो राष्ट्रं मुष्टी राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः' (श० १३।२।९।७)। इयं पृथिवी एव माता असौ द्युलोकः पिता। एतदुक्त्या आभ्यामेवैनं यजमानं स्वर्गं लोकं गमयति। श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रं वृक्षस्याग्रं रोहत इति कथनेन एनं यजमानं राष्ट्रस्य श्रियं गमयति। प्रतिलामीति विड् वै गभो राष्ट्रं मुष्टिः। राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः।

अध्यात्मपक्षे—श्राद्धेन सन्तुष्टः परमात्मा साधकं वदति—ते तव माता ते तव पिता च वृक्षस्य संसार-वृक्षस्य अग्रं श्रेष्ठमुत्कृष्टं भागं ब्रह्मलोकं रोहतः। तेनाहं प्रतिलामि त्वां प्रति स्निह्यामि। ते पिता गभे संसारस्य मूलभूते भगे प्रकृतिरूपायां योनौ मुष्टिं ब्रह्मग्रहणलक्षणं मुष्टिमतंसयद् अलङ्कृतवान्।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यदि ते पृथिवीव माता च सूर्य इव पिता च वृक्षस्याग्रं रोहतः, यदि ते पिता गभे मुष्टिमतंसयत्, तर्हि प्रजाजनोऽहं प्रतिलामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, छेदनार्हस्य संसारस्य राज्यस्य वा अग्रस्यापि तथात्वेन आरोढुमनर्हत्वात्। मुष्टिमित्यस्य मुष्ट्या धनग्राहकं राज्यमित्यप्यपव्याख्यानमेव, तादृश-लक्षितलक्षणायां बीजाभावात् ॥ २४ ॥

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य क्रीडतः।
विवक्षत इव ते मुखं ब्रह्मन् मा त्वं वदो बहु ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—महिषी ब्रह्मा से कहती है कि हे ब्रह्मन्! तुम्हारे द्यावापृथिवी रूप माता-पिता जिस समय वृक्ष के समान विस्तीर्ण पांच भूतों के ऊपर क्रीड़ा करते हैं, अर्थात् पौत्र आदि शरीर में रमण करते हैं, तब कुछ कहने की इच्छा करने वाला तुम्हारा मुख दिखाई पड़ता है। लेकिन तुम कुछ कहो मत, किन्तु द्वैत भ्रम में न पड़कर ब्रह्म के एकत्व का मनन करो ॥ २५ ॥

सानुचरी महिषी ब्रह्माणं प्रत्याह हे ब्रह्मन्, ते तव माता ते तव पिता च यदि वृक्षस्य वृक्षविकारस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रे क्रीडतो रमेते, तदा तवोत्पत्तिरिति तवापि तुल्यम्, ततस्त्वयेदं न वक्तव्यम्, चोद्यस्य परिहारस्य चोभयत्र समत्वात्, 'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तादृशः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थ-विचारणे ॥' इति न्यायात्। एवं सत्यपि विवक्षत इव वक्तुमिच्छत इव, असाधु वदितुमिच्छत एव ते तव मुखं लक्ष्यते। हे ब्रह्मन्, त्वं मा बहु वदः।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मन्, ते तव माता प्रकृतिः पिता परमेश्वरो वृक्षस्य संसारवृक्षस्य अग्रे उत्कृष्टभागे हृदये क्रीडतः। यथा विवक्षतस्तव मुखं प्रधानं त्वं बहु मा वद, किन्तु तद्बोधकमोमित्येवं वद, अन्या वाचः परित्यज, 'नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्' (बृ० ४।४।२१ तथा शाट्यायन० २३) इति श्रुतेः, 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथाऽमृतस्यैष सेतुः' (मु० २।२।५), तथा 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (मु० २।२।६) इति श्रुतेश्च।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मन्, यस्य ते माता च पिता च यस्य ते वृक्षस्याग्रे क्रीडतस्तस्य ते विवक्षत इव यन्मुखं तेन त्वं बहु मा वद' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वृक्षस्याग्रे मध्ये क्रीडत इत्यस्य निःसारत्वात्। अग्रे विद्या राजलक्ष्म्यामित्यपि निर्मूलम्, अर्थशब्दस्य तथार्थत्वे मानाभावात्, विवक्षत इव यन्मुखं तेन त्वं बहु मा वद, इत्यस्यापि निष्प्रयोजनत्वात्, बहु मा वदेत्यनेनैवेष्टसिद्धौ शेषस्य निरुद्देश्यत्वापत्तेः ॥ २५ ॥

ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापय गिरौ भारᳪं हरन्निव।
अथास्यै मध्यमेधताᳪं शीते वाते पुनन्निव ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—उद्गाता वावाता से कहता है कि हे प्रजापते ! इस जीव को ऊर्ध्वलोक प्राप्त कराओ, जैसे कि पर्वत पर भार को चढ़ाने वाला उसको ऊँचा करता है तथा जैसे शीतल पवन के चलने पर धान्य बोने वाला धान्य के पात्र को ऊँचा करता है। अभिप्राय यह है कि यज्ञ करने पर प्रज्ञा द्वारा ऊर्ध्व लोक की प्राप्ति होने से पाप दूर होकर पुण्यवश यज्ञकर्ता को दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है। इसके बाद इसका मध्यलोक प्रतिष्ठा के द्वारा ऐश्वर्यमय हो जाता है ॥ २६ ॥

उद्गाता वावातामभिमेथयन् कश्चित् पुरुषमाह—हे पुरुष, एनां पुरोवर्तिनीं वावातामूर्ध्वामुच्छ्रापय उच्छ्रितां कुरु। कथमिव ? तत्राह—गिरौ भारं हरन्निव यथा कश्चन पर्वतोपरि भारमारोपयन् मध्ये प्रगृह्य तमुच्छ्रयति तथैनामूर्ध्वां कुरु। अथशब्दो यथार्थः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तथाशब्द उन्नेयः। एनां तथा उच्छ्रापय यथा अस्यै अस्याः, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, वावातायाः मध्यं शरीरमध्यप्रदेशः, योनिरिति यावत्, एधतां वर्धताम्। यथा योनिर्विवृता विशाला स्यात्, तथा प्रगृह्य वावातां मध्यमां वैश्यकन्यां राजवल्लभाम् उच्छ्रितां कुरु। दृष्टान्तान्तरमाह—शीते वाते पुनन्निवेति। यथा कृषीवलो धान्यशुद्धिं कुर्वन् धान्यपात्रस्य ग्रहणमोक्षौ झटिति करोति तद्वत्। यद्वा धान्यपवनं कुर्वन् कृषीवलो धान्यपात्रं यथा ऊर्ध्वं करोति, तथैनामुच्छ्रापयेत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापयेति। श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति' (श० १३।२।९।२)। अत्र वावाताभिमेथनप्रसङ्गेन यत्तस्या उच्छ्रयणमुक्तम्, तेन यजमानस्य राष्ट्रात्मिकां श्रियमेवोच्छ्रा-पयति। 'गिरौ भारᳪं हरन्निवेति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः श्रियमेवास्मै राष्ट्रᳪं सन्नह्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधि निदधाति' (श० १३।२।९।३)। 'अथास्यै मध्यमेधतामिति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यᳪं श्रियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति' (श० १३।२।९।४)। 'शीते वाते पुनन्निवेति। क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै

करोति' (श० १३।२।९।५)। उद्धृतस्य ब्राह्मणवाक्यस्यार्थः स्पष्ट एव। आन्तरस्तु श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधश्रियः कारणम्। ततश्च श्रियमेव राष्ट्रमस्मै यजमानाय क्रियते। क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं तेन तदुक्त्या राष्ट्रस्य क्षेममविनाशमविघ्नमभ्युदयं करोति, शास्त्रप्रामाण्यात्। यथा मन्त्रादिजपात् शास्त्रोक्तजपफलं सम्पद्यते, तथाभिमेथिकैस्तैस्तैः प्रकथनैस्तत्रोक्तानि फलानि सम्पद्यन्ते।

अध्यात्मपक्षे साधकमुपदिशत्याचार्यः—हे साधक, एनां बुद्धिमूर्ध्वामूर्ध्वमुखीम्, ऊर्ध्वं च सूक्ष्मत्वाद् व्यापकत्वात् कारणत्वाद् ब्रह्म, तदभिमुखीं तद्विषयिणीमुच्छ्रापय ब्रह्मविषयतया उच्छ्रितां कुरु। कथमिव ? यथा अस्यै अस्या बुद्धेर्मध्यं मुख्यभाग एधताम्, ब्रह्मविषयत्वेन विषयाकाराकारितं सद् वृद्धिं यायात्। यथा कृषीबलः शीतले वायौ धान्यं पुनन् धान्यं पावनं कुर्वन् झटिति ग्रहणमोक्षौ करोति, तद्वद् विषयवैमुख्यब्रह्मसाम्मुख्ये कुरु। यद्वा स शीतले वायौ धान्यपवनं कुर्वन् तृणखण्डेभ्यो गुरुभ्यो धान्यं विविनक्ति, तथाऽनात्मप्रपञ्चाद् ब्रह्मात्मानं विवेचयेति।

दयानन्दस्तु—'हे राजन् ! गिरौ भारं हरन्निवैनां राज्यश्रिया युक्तां प्रजामूर्ध्वामुच्छ्रापय। अथास्यै मध्यं प्राप्य शीते वाते पुनन्निव भवानेधताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राज्यश्रिया युक्तस्य राजत्वोपपत्त्या प्रजाया राजश्रिया युक्तत्वायोगात्, प्रजावत्या भूमेरेव राजश्रीत्वेन प्रजायास्तत्त्वे स्वात्माश्रयदोषापत्तेः। अस्याः प्रजाया मध्यं लक्ष्मीं प्राप्य भवानेधतामित्यपि दुष्टम्, मूले प्राप्येति पदाभावेन तदसङ्गतेः, अध्याहारस्य च निर्मूलत्वात्, शतपथविरोधाच्च। तत्र हि श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेध इत्युक्तम्, न तु प्रजाया मध्यं श्रीरित्युक्तम्। तथा राष्ट्रस्योच्छ्रयणमुक्तम्। उत्तरत्र च श्रीर्वै राष्ट्रसार इत्युक्तम्। भारवहनोक्त्या अस्मै यजमानाय श्रियमेव राष्ट्रं सन्नह्यतीत्युक्तम्। तत उत्तरत्र श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यमुक्तम्, न प्रजाया मध्यस्य श्रीत्वमुक्तम्। ब्राह्मणं तु सिद्धान्तव्याख्यानप्रसङ्गे व्याख्यातमेव ॥ २६ ॥

ऊर्ध्वमेनमुच्छ्रयताद् गिरौ भारꣳ हरन्निव।
अथास्य मध्यमेजतु शीते वाते पुनन्निव ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—वावाता उद्गाता से कहती है कि हे प्रजापति ! इस उद्गाता को यज्ञ कर्म द्वारा ऊँचा उठाओ, जैसे कि पर्वत पर भार को चढ़ाने वाला उसको ऊँचा उठाता है अथवा जैसे शीतल वायु चलने पर कृषक धान्यपात्र को ऊँचा उठाता है। ऐसा होने पर इसका मध्यलोक का तेज प्रदीप्त हो ॥ २७ ॥

वावाता उद्गातारं प्रत्याह—भवतोऽप्येतत् समानमेव। कश्चिन्नर एनमुद्गातारमूर्ध्वमुच्छ्रयताद् उच्छ्रितं कुरुतात्। कथमिव ? गिरौ भारं हरन्निव। अथ यथा अस्य उद्गातुर्मध्यं लिङ्गमेजतु कम्पताम्। 'एजृ कम्पने' शीते वाते यवान् पुनन्निव एनं निगृह्णातु।

अध्यात्मपक्षे—गुरुराह, हे भगवन् परमेश्वर ! एनं साधकम्, ऊर्ध्वं ब्रह्म तदभिमुखं भवानुच्छ्रयतात्। कथमिव ? गिरौ भारं हरन्निव। यथा अस्य मध्यमन्तःकरणम् एजतु एजतां दीप्यतु ब्रह्माभिमुखं सत् प्रकाशताम्। यथा शीतले वायौ कृषीबलो धान्यं पुनन् शोधयन् बुसादिभ्यो विवेचयति, तदा धान्यं स्पष्टतरं पृथक् प्रकाश्यते, तथास्यान्तःकरणं स्वात्मानमनात्मभ्यो विविच्य स्पष्टतरं प्रकाशताम्।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजास्थ विद्वन्, भवान् गिरौ भारं वहन्निव एनं राजानमूर्ध्वमुच्छ्रयतात्, यथास्य मध्यं प्राप्य शीते वाते पुनन्निव एजतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वकण्डिकाप्रदर्शितदोषग्रस्तत्वात्। यत्तु हिन्दीव्याख्याने 'शुद्धं भवदन्नमिव एजतु उत्तमकर्मसु चेष्टताम्' इत्युक्तम्, तदप्यसङ्गतम्, नहि दृष्टान्तेऽन्नं

कम्पते, किन्तु अन्नाधारं पात्रं कम्पते। कम्पयिता तु कृषीबलः। दार्ष्टान्ते तु विद्वान् चेष्टते न कम्पते। न च तस्यान्यः कम्पयिता। किञ्च, सकर्मकोऽयं पुनातिः। तेन अन्नस्य पुनातिकर्मत्वमेव न कर्तृत्वम्। वैरूप्यं च। तथाहि– प्रथममन्त्रे राजानं सम्बोध्य भवानेधतामित्युक्तम्। अत्र तु विद्वांसं सम्बोध्य तस्य उत्तमकर्मसु चेष्टोच्यते। पूर्वत्र प्रजाया मध्यं लक्ष्मीं प्राप्य तस्य वर्धनमुक्तम्, इह तु विदुषो राज्यस्य मध्यं लक्ष्मीं प्राप्य चेष्टनमुच्यते। पूर्वत्र तु राज्यश्रिया युक्तायाः प्रजाया ऊर्ध्वोन्नयनमुक्तम्, इह तु राजोन्नयनमुच्यते। पदानां समानतायामप्यर्थवैषम्ये का विनिगमना ? ॥ २७ ॥

यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्।
मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—होता परिवृक्ता से कहता है कि हे देहाभिमान ! जब इस पापी के निवास-स्थान अपरा प्रकृति का स्थूल और सूक्ष्म शरीर क्षय को प्राप्त होता है, तब इस अपरा प्रकृति के चोर, काम और मोह ही मिथ्या रूप से प्रकाशित होते हैं, जैसे कि जलपूर्ण गोखुर में निश्चेष्ट दो मत्स्य ॥ २८ ॥

होता परिवृक्तामभिमेथयति—यद् यदा अस्या अंहुभेद्या अंहु भगो भेद्यो विदार्यो यस्यास्तस्या अंहुभेद्याः। 'अंहतिश्चांहश्चांहुश्च हन्तेर्निरूढोपधाद्विपरीतात्' (नि० ४।२५) इति भगवान् यास्कः। 'अंहतिश्च, अंहश्च, अंहुश्च इत्येते शब्दा हन्तेर्निरूढोपधाद् विपरीताद् अकारमुपधातोर्निष्कृष्य आदौ कृत्वा ततो हकारनकारौ विपर्ययेण भवतः' इति तत्रभवान् दुर्गः। हन्तव्या च योनिरक्षतयोन्याः कौमारहरणे, अतोऽहुशब्देन योनि- र्गृहीता। अथवा अंहु भगो भिद्यते वा यस्यास्तस्या अंहुभेद्याः। यद्वा—अंहुर्हन्तव्यो भेद्यप्रदेशः प्रजननं यस्याः परिवृक्तायाः सा अंहुभेदी, तस्या योनिं प्रति कृधु ह्रस्वं योनिस्पर्शेच्छया च स्थूलं च पुंस्प्रजननमुपातसद् उपगच्छेत्, अथ तदा योनेरल्पत्वाद् मुष्कौ वृषणौ इद् एव, अस्याः प्रजननोपरि एजतः कम्पेते। कथमिव ? गोशफे उदकपूर्णे गोष्पदे शकुलौ मत्स्याविव।

अध्यात्मपक्षे—यद् यदा अंहुभेद्या अंहु हन्तव्यो भेद्यः पापसमूहो यया तस्याः पापसमूहविनाशिन्या बुद्धेः, कृधु स्वल्पं स्थूलं महच्च सर्वं विषयजातम्, उपातसद् बुद्धिमुपालङ्करोति, अपापाया बुद्धेः सर्वस्यैव स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वा विषयस्य ब्रह्मात्मनैव भासमानत्वात्। तदा तादृशा उभावपि विषयौ गोष्पदे शकुलौ मत्स्याविव मुष्कौ मुष्णीतो दुःखानीति मुष्कौ 'सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक्' (उ० ३।४१) इति मुषेः कक्प्रत्ययेन साधु, दुःखापहारकावेव भूत्वा एजतः क्रीडतः।

दयानन्दस्तु—'यद् यो राजा राजपुरुषश्च अस्या अंहुभेद्या अपराधभेदिन्याः प्रजायाः कृधु स्वल्पं स्थूलं महत् कर्म उपातसद् उपभूषयेत्, तौ अस्या गोशफे शकुलाविव मुष्कौ मूषकौ इदेव एजतः कम्पयतः। यथा प्रीतिमन्तौ मत्स्यावल्पेऽपि जलाशये निवसतस्तथा राज-राजपुरुषौ अल्पेऽपि करलाभे न्यायेन प्रीत्या वर्तेयाताम्। यदि दुःखार्दितायाः प्रजायाः स्वल्पं महदुत्तमं कर्म प्रशंस्येयाताम्, तर्हि तौ प्रजा उपरक्ताः कृत्वा स्वविषये प्रीतिं कारयेताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अंहुपदस्य अपराधार्थत्वे मानाभावात्, राज-राजपुरुषावित्यस्य च मन्त्रबाह्य- त्वात्। भावार्थस्तु कल्पनाप्रधान एव, मूलासम्बद्धत्वात् ॥ २८ ॥

यद् देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिनमाविषुः।
सक्थना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—परिवृक्ता होता से कहती है कि जब प्राण ज्ञानरसयुक्त ब्रह्मानन्दमय जीव को ब्रह्म में प्रविष्ट कराते हैं, तब परा शक्ति विष्णु महानारायण, ब्रह्मा और शिव के रूप में दिखाई पड़ती है। जैसे कि सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ २९ ॥

परिवृक्ता होतृप्रभृतीन् सर्वानेव ऋत्विजः परिवदति। यद् यदा देवासो दीव्यन्तीति देवास एते देवा होत्रादय ऋत्विजः शिश्नदेवाः शिश्नक्रीडनका ललामगुं ललामं सुखं कर्तुं गच्छतीति ललामगुर्लिङ्गं तं पुंस्प्रजननम्। यद्वा ललामं पुण्ड्रं गच्छतीति ललामगुः, तं लिङ्गं योनिं प्रविशद् उत्थितं सत् पुण्ड्राकारं भवतीति ललामगुं पुंस्प्रजननम्। प्रविष्टीमिनं प्रवेश्य विष्टभ्य च आविषुरालिङ्गनचुम्बनादिभिर्नारीं व्याप्नुवन्ति, अथ तदा नारी सक्थ्ना सक्थिकृतेन कुटिलगमनेन निर्दिश्यते लक्ष्यते, सक्थ्नोऽन्यत्र सर्वाङ्गाणां पुरुषेण व्याप्तत्वात्। कथमिव? सत्यस्य अक्षिभुवो यथा। द्विप्रकारं हि सत्यम्—अक्षिप्रभवमनक्षिप्रभवं चेति। अक्षिप्रभवमक्षिग्राह्यम्, तत्र हि सर्वं व्याप्तम्। अनक्षिप्रभवं श्रोत्रग्राह्यम्, तत्तु साकाङ्क्षं वक्तुराप्ततामपेक्षते। अतो विशिनष्टि—अक्षिभुव इति। सत्यस्य अक्षिभुवो यथा अवितथवस्तुबोधकत्वम्, तथा ऊरुणा नारी बोध्यते। यद्वा—यदा देवासो ललामगुं लिङ्गमाविषुर्योनौ प्रवेशयन्ति, 'अव रक्षे गतौ कान्तौ तृप्तौ प्रीतौ श्रुतौ श्रुतौ। प्राप्तौ श्लेषेऽर्पणे वेशे भागे वृद्धौ गृहे वधे॥' इत्युक्तेरत्र अवधातुः प्रवेशनार्थः। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति कालसामान्ये लिङ्। 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इति व्यवहितस्यापि प्रोपसर्गस्य प्रयोगः। कीदृशं ललामगुम्? विष्टीमिनम्, 'ष्टीम आर्द्रीभावे', विशेषेण स्तीमनं क्लेदनं विष्टीमः, घञ्प्रत्ययः, सोऽस्यास्तीति विष्टीमी, 'अत इनिठनौ' (पा० सू० ५।२।११५) इति इनिः। शिश्नस्य योनिप्रवेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः। पुंस्प्रजननस्य स्त्रीप्रजनने प्रवेशे क्लेदनं भवति। तादृशं विष्टीमिनं ललामगुं देवासो आविषुः प्रवेशयन्ति, तदालिङ्गनचुम्बनादिभिर्व्याप्तत्वाद् ऊरुभ्यां देदिश्यते निर्दिश्यतेऽत्यन्तं लक्ष्यते।

अध्यात्मपक्षे दीव्यन्ति संसारं विजिगीषन्तीति देवासः, ललामगुं ललामं ललामवदलङ्कारवद् गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति यं तं विष्टीमिनं विशिष्टस्नेहार्द्रं भक्तानुग्रहकातरं परमात्मानमाविषुः कामयन्ते। यथाक्षिभुवः सत्यस्य अवैतथ्यमक्ष्णा लक्ष्यते तथा, यथा सक्थ्ना ऊरुमार्दवेन नारी देदिश्यते निर्दिश्यते, तथा प्रेम्णा परमात्मा लक्ष्यत इति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यथा सत्यस्याक्षिभुवो मध्ये वर्तमाना देवासः सक्थ्ना नारीव यद्विष्टीमिनं ललामगुं न्यायं प्रविषुः, यथाप्तेन सत्यमेव देदिश्यते, तथा त्वमाचर। न्यायेनेप्सां गच्छन्ति ललामगुं विशिष्टा बहवः ष्टीमा आर्द्रीभूताः पदार्था विद्यन्ते यस्मिन् तम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारेऽपि विस्पष्टताया अभावात्, न्यायस्यामूर्तत्वेन तत्र आर्द्रपदार्थानां विद्यमानत्वायोगात्। 'यथा शरीरावयवैः स्त्रियः पुरुषा वा लक्ष्यन्ते, तथा प्रत्यक्षादिप्रमाणैः सत्यं लक्ष्यते। यथा विद्वांसः प्राप्तव्यमार्द्रीभावं प्राप्नुयुस्तथेतरे राजप्रजास्थाः स्त्रीपुरुषा विद्यया विनयं प्राप्य सुखमन्विच्छन्तु' इत्यादिभावस्तु सर्वथा मन्त्रबाह्य एव, मन्त्रार्थाननुगमात् ॥२९॥

यद्ध॒रि॒णो यव॒मत्ति॒ न पु॒ष्टं प॒शु मन्य॑ते। शू॒द्रा यदर्य॑जारा॒ न पोषा॑य धनायति ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—क्षत्ता पालागली से कहता है कि जब वासनारूप हरिणी विषयरूप जौ को खाती है, तब हृदयाकाश में परमात्मा वासनाओं से भरे हुए संस्कारहीन पशुसमान जीव को सद्गुणों से पुष्ट नहीं मानते। जब द्वैत के उपासक जीव की पत्नीरूप बुद्धि ब्रह्मभाव से रहित हो अन्य देवताओं की भक्त होती है, तब वह मोक्ष-धन की दाता नहीं हो सकती। अतः ब्रह्मभाव को जगाते हुए जीव को अनन्य रूप से एक ही देव की भक्ति करनी चाहिये ॥ ३० ॥

क्षत्ता पालागलीमभिमेथयति— यद् यदा हरिणो मृगो यवं सस्यमत्ति भक्षयति, अथ तदा क्षेत्री पशु पशुं हरिणम्, विभक्तिलोपः, पुष्टं न मन्यते मम क्षेत्रभक्षणेन पशुः पुष्टो जातः सम्यगिति न जानाति, किन्तु मदीयं क्षेत्रं भक्षितमिति दुःखी भवति। एवं शूद्रा शूद्रत्वजातिविशिष्टा स्त्री, 'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः' (पा० सू० ४।१।४, वा० ३) इति शूद्रशब्दात् टाप्। अर्यजारा, अर्यो वैश्यो जारो यस्याः सा तथोक्ता, 'अर्यः स्वामि-वैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) इति निपातः। अर्येण वैश्येन स्वपत्न्यां शूद्रायां भुक्तायां मद्भार्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति शूद्रो न मन्यते, किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवति। न च तस्यां धनायति धनमिव तां न मन्यते, परोपभोग्यत्वात्।

अध्यात्मपक्षे यद् यदा हरिणो मनोमृगो यवं विषयजातमत्ति, तेन साधको मनःपशुः पुष्टो जात इति न मन्यते, किन्तु खिद्यत एव, शमदमादिपरिपन्थित्वात्। तथैव शूद्रा शूद्रतुल्या मलिना बुद्धिरर्यमभिगम्यं श्रेष्ठगुणं जरयति या सा अर्यजारा तादृशी बुद्धिः, पोषाय भक्तिज्ञाननिष्ठायै न, कल्पत इति शेषः। न च सा धनायति न च तां धनवन्मन्यते, तस्या ज्ञानवैराग्यादिधननाशनिमित्तत्वात्।

दयानन्दस्तु—'यद् यो राजा हरिणो यवमत्तीव पुष्टं पशु न मन्यते, सपद्यर्यजारा शूद्रेव पोषाय न धनायति' इति, तदपि यत्किञ्चित, मूले राजप्रजापदाभावात्, भावार्थवैपरीत्याच्च। तथाहि—यो राजा पशुवद् व्यभिचारे वर्तमानः प्रजापुष्टिं न करोति, स धनाढ्या शूद्रा अर्यजारा दासीव सद्यो रोगी भूत्वा पुष्टिं विनाश्य धनहीनतया दरिद्रः सन् म्रियते। तस्माद्राजा कदाचिदपि ईर्ष्यां व्यभिचारं च नाचरेदिति भावार्थे तद्विपरीतमुक्तवान्। भावार्थोऽपि मूलासंस्पर्श्येव ॥ ३० ॥

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते। शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनुमन्यते ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—पालागली क्षत्ता से कहती है कि जब मनरूपी हिरण विषयों का उपभोग करता है, तब हृदयाकाशस्थ परमात्मा उसको बहुत पुष्ट नहीं मानता। जब संस्कारहीन आत्मा भेदोपासना में लग जाता है, पूर्ण ब्रह्म को त्याग कर माया में आसक्त हो जाता है, तब अन्तर्यामी परमात्मा उसकी पुष्टि को नहीं मानता ॥ ३१ ॥

पालागली क्षत्तारमाह—यद् यदा हरिणो यवमत्ति तदा क्षेत्री बहु यथा स्यात्तथा पशुं पुष्टं न मन्यत इति यद् भवानाह, तत्तु भवतोऽपि तुल्यम्। इयांस्तु विशेषः—यद् यदा शूद्रः, अर्यायै अर्याया वैश्यायाः, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, जारो भवति, तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते, किन्तु शूद्रेण स्वपत्न्यां भुक्तायां क्लिश्यत एव। इत्यश्लीलभाषणम्।

अध्यात्मपक्षे—यद् यदा हरिणो मनोमृगो यवं विषयमत्ति, तदा साधको न तद्बहु मन्यते, सर्वत्र विषय-भोगस्य सुलभत्वात्, निवृत्तेरेव महाफलत्वात्, 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला' (म० ५।५६) इति मनुवचनात्। यदा शूद्रोऽर्याया जारो भवति, तत्तु वर्णाश्रमविरुद्धत्वात् क्लेशावहमेव। वर्णाश्रमाचारवत एव भगवदुपासनादिभिः शुद्धस्वान्तस्य सतो बुद्धिशुद्धि-ब्रह्मविविदिषादिक्रमेण ब्रह्मज्ञानसम्भवात्, तद्विपरीतस्य संसारहेतुत्वाच्च।

दयानन्दस्तु—'यद् यः शूद्रो मूर्खकुलोत्पन्नोऽर्यायै जारो भवति यथा पोषं नानुमन्यते। यद् यो राजा हरिणो यवमत्तीव पुष्टं प्रजाजनं बहु न मन्यते, स सर्वतः क्षीणो जायते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बुद्धिमत्कुलो-त्पन्नस्य व्यभिचारानुमत्यापत्तेः, मूले राजपदाभावाच्च। स सर्वतः क्षीणो जायत इत्यपि मन्त्रबाह्यमेव, मूले तदभावात्।

अत्र किमपि वक्तव्यम्—दयानन्दोऽन्ये च तादृक्षा आधुनिकाः 'गणानां त्वा' इत्यारभ्य 'यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते' इत्यन्तस्य मन्त्रसमूहस्य सायणोव्वटमहीधराणां व्याख्यानमश्लीलं मत्वा निन्दित्वा च तान् मन्त्रानन्यथा व्याचक्षते। तत्तु दयानन्दीयभूमिकादिभिः स्पष्टं भवति। तदीयं व्याख्यानं बलादिव मन्त्रेष्वारोपितमेव स्पष्टं तद्विदामाभाति। वस्तुतः स्पष्टमेव शतपथश्रुत्यापि तेषां मन्त्राणामश्लीलभाषणपरत्व-मङ्गीकृतमेव। उव्वटमहीधरव्याख्यानमेव श्रुत्यापि समर्थ्यते। केचित्तु गणानां त्वेति मन्त्रेण महिष्या अश्वेन सह मैथुनवर्णनं मत्वाऽश्लीलतां मन्यन्ते। तत्तु सर्वथा श्रुतिसूत्रविरुद्धमेव, संज्ञप्तेन मृतेन अश्वेन मैथुनासम्भवात्। न केवलमश्वो मृतः, अपि तु सर्वे संज्ञपनीयाः पशवः संज्ञप्ताः, तेषां तत्तदवयवाश्च यथाविध्यवत्ताः। तथा च ब्राह्मणम्—'तस्मिन्नेनमधि संज्ञपयन्त्यन्यैरेवैनं तत्पशुभिर्व्याकुर्वन्ति' (श० १३।२।८।१), 'घ्नन्ति वा एतत्पशुम्। यदेनꣳ संज्ञपयन्ति प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहेति संज्ञप्यमान आहुतीर्जुहोति प्राणानेवा-स्मिन्नेतद्दधाति तथो हास्यैतेन जीवतैव पशुनेष्टं भवति' (श० १३।२।८।२) इति स्पष्टं प्रतीयते यदश्वसंज्ञ-पनानन्तरं प्राणाय स्वाहेत्यादिभिराहुतिभिरश्वे प्राणादिसन्निधापनेन जीवदानं कृत्वा सजीवेन पुरोडाशादिना यजति, तथैव सजीवेनैवाश्वेन यजति, नानेनाश्वस्य पुनर्जीवनं मन्तव्यम्। प्राणाद्याधानस्य तु पुरोडाशेषु जीव-दानवत् संस्कारमात्रत्वमेव। 'निष्ठितेषु पान्नेजनेषु। महिषीमश्वायोपनिपादयन्त्यथैनावधिवासेन सम्प्रोर्णुवन्ति स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳ संज्ञपयन्ति' (श० १३।५।२।२) इत्यनेनापि पशुसंज्ञ-पनानन्तरं संज्ञपनस्थानस्यैव स्वर्गलोकत्वम्। तस्मिन् स्वर्गे लोक एव अश्वमहिष्योः सह निवासः।

सूत्रकारा अपि तथैवाहुः—'प्रक्षालितेषु महिष्यश्वमुपसंविशत्याहमजानीति' (का० श्रौ० २०।६।१४)। संज्ञपनानन्तरं मृतस्य पशोः प्राणेषु पूर्ववत् प्रक्षालितेषु सत्सु महिषी अश्वसमीपे शयीतेति सूत्रार्थः। 'मुखं नासिके चक्षुषी कर्णौ नाभिं मेढ्रं पायुं पादान् सꣳहृत्य वाचं ते शुन्धामीति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० ६।६।३)। 'शेषेण यजमानश्च शिरःप्रभृत्यनुषिञ्चतो मनस्त इति शिरः' (का० श्रौ० ६।६।४)। पान्नेजनशेषेण यजमानो-ऽध्वर्युश्च पशोः शिरःप्रभृत्यङ्गान्यनुषिञ्चेताम्। तत्र मनस्त इति मन्त्रेण पशोः शिरोऽनुषिञ्चत इति सूत्रार्थः। 'यत्ते क्रूरमित्यङ्गानि' (का० श्रौ० ६।६।५)। यत्ते क्रूरमिति सर्वाण्यङ्गान्यनुषिञ्चत इति सूत्रार्थः। 'शमहोभ्य इति पश्चात्पशोर्निषिञ्चतः' (का० श्रौ० ६।६।६)। पशोर्जघनप्रदेशे पान्नेजनशेषमुभावपि निनयत इति सूत्रार्थः। 'उत्तानं पशुं कृत्वाऽग्रेण नाभिं तृणं निदधात्योषध इति' (का० श्रौ० ६।६।७)। अध्वर्युः पशुमुत्तानं कृत्वा नाभेरग्रतो (वपायाः स्थाने) चतुरङ्गुलं त्यक्त्वा प्रागग्रं तृणं निदध्यादिति सूत्रार्थः। इत्येवमेभिः सूत्रैर्मृतस्य पशोरङ्गानां च संस्काराः क्रियन्ते। एवं प्रक्षालितेषु महिषी अश्वसमीपे शेते। एवं मृतस्याश्वस्याङ्गेषु यथा-विध्यवत्तेषु (छिन्नेषु) प्रक्षालितेषु 'अधीवासेन प्रच्छादयति स्वर्गे लोक इति' (का० श्रौ० २०।६।१५)। अथ आस्तृतेन अधीवासेन अश्वमहिष्यौ प्रच्छादयेत् स्वर्गे लोक इति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। 'अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति' (का० श्रौ० २०।६।१६)। महिषी अश्वस्य मृतस्य संस्कृतस्य संस्कृतं शिश्नं स्वयमेवादाय स्वयोनिप्रदेशे स्थापयेदिति सूत्रार्थः। नहि मृतेनाश्वेन मैथुनं संभवति, संस्कारमात्रं तु क्रियते।

अश्वमेधीयोऽश्वः 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' (बृ० १।१।१) इत्यादिश्रुत्या बृहदारण्यके प्रजापति-रूपेणोपास्यः श्रुतः। संस्कारार्थमेव तदुपस्थस्य महिष्या स्वयोनिप्रदेशे धारणम्, पत्नीसन्नहनादिवदस्यापि संस्काररूपत्वात्।

न केवलं सूत्रकार एव, किन्तु शातपथी श्रुतिरपि तथैवाह—'निरायत्याश्वस्य शिश्नं महिष्युपस्थे निधत्ते वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैव सर्वत्वाय' (श० १३।५।२।२) इति। पुरोडाशे जीवदानं यथा वा मृते पशौ प्राणापानाद्याधानं संस्कारार्थमेव, तथैव रेतोधा इति मन्त्रेणापि संस्कार एव क्रियते, न रेतोधानम्,

मृते पशौ रेतोधातृत्वायोगात् । 'तयोः शयानयोरश्वं यजमानोऽभिमेथत्युत्सक्थ्या अव गुदं धेहीति तन्न कश्चन प्रत्यभिमेथति नेद्यजमानं प्रतिप्रतिः कश्चिदसदिति' (श० १३।५।२।३)। तथात्वे यजमानः प्रतिद्वन्द्वीकृतः स्यात् । न च तन्नुक्तम्, तस्य भाविप्रजापतित्वेनाप्रतिद्वन्द्वित्वात् ।

दयानन्दस्तु गणानां त्वेत्यत्र जगदीश्वरं सम्बोधयति, ता उभौ इत्यत्र प्रजाराजानौ सम्बोधयति, उत्सक्थ्या इत्यत्र वृषा राजा सम्बोधितः । एवं तत्र तत्र यथेष्टं मनुष्या राजानश्च सम्बोधिताः । तच्च सर्वमसङ्गतम्, निर्मूलत्वात् ।

उव्वटमहीधरादयस्तु श्रुत्यनुसारेणैव कः कं प्रति वक्तीति स्पष्टमुक्तवन्तः । तथा च श्रुतयः - यजमानोऽभिमेथति' (श० १३।५।२।३), 'अथाध्वर्युः कुमारीमभिमेथति । कुमारि हये हये कुमारि यकासकौ शकुन्तिकेति तं कुमारी प्रत्यभिमेथत्यध्वर्यो हये हयेऽध्वर्यो यकोऽसकौ शकुन्तक इति' (श० १३।५।२।४)। 'अथ ब्रह्मा महिषीमभिमेथति । महिषि हये हये महिषि माता च ते पिता तेऽग्रं वृक्षस्य रोहत इति तस्यै शतꣳ राजपुत्र्योऽनुचर्यो भवन्ति ता ब्रह्माणं प्रत्यभिमेथन्ति ब्रह्मन् हये हये ब्रह्मन् माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडत इति' (श० १३।५।२।५)। 'अथोद्गाता वावातामभिमेथति । वावाते हये हये वावात ऊर्ध्वमिनामुच्छ्रापयेति तस्यै शतꣳ राजन्या अनुचर्यो भवन्ति ता उद्गातारं प्रत्यभिमेथन्त्युद्गातर्हये हय उद्गातरूर्ध्वमेनमुच्छ्रयतादिति' (श० १३।५।२।६)। अथ होता परिवृक्तामभिमेथति । परिवृक्ते हये हये परिवृक्ते यदस्या अꣳहुभेद्या इति तस्यै शतꣳ सूतग्रामण्यां दुहितरोऽनुचर्यो भवन्ति ता होतारं प्रत्यभिमेथन्ति होतर्हये हये होतर्यद्देवासो ललामगुमिति' (श० १३।५।२।७)। एतेन सायणादिव्याख्यानमेव श्रुतिसम्मतम्, न दयानन्दीयमिति निगदव्याख्यातम् ।

'चतस्रो जाया उपक्लृप्ता भवन्ति । महिषी वावाता परिवृक्ता पालागली सर्वा निष्किण्योऽलङ्कृता मिथुनस्यैव सर्वत्वाय ताभिः सहाग्न्यगारं प्रपद्यते पूर्वया द्वारा यजमानो दक्षिणया पत्न्यः' (श० १३।४।१।८)। प्रथमपरिणीता पत्नी महिषी । वावाता वल्लभा । परिवृक्ता अवल्लभा । पालागली दूतपुत्री । 'मेथतिराक्रोशकर्मा' (नि० ४।२)। अश्लीलभाषणमेवोक्तमन्त्राणां व्याख्यानं युक्तम् । यतः श्रुत्यैव तादृशभाषणेन वाचोऽपूतता वर्ण्यते । तत्पूततायै मन्त्रान्तरेण वाचः शुद्धिर्विधीयते, 'अप वा एतेभ्य आयुर्देवताः क्रामन्ति । ये यज्ञेऽपूतां वाचं वदन्ति वाचमेवैतत्पुनते देवयज्यायै देवतानामनपक्रमाय' (श० १३।५।२।१०) इति श्रुतेः । यज्ञेऽपूताया वाचो वदनेन आयुर्देवानामपक्रमणं भवति, अतस्तासां देवतानामनपक्रमणाय दधिक्राव्ण इति मन्त्रेण वाचमेव पुनते ॥ ३१ ॥

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।

सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूꣳषि तारिषत् ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ – अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, होता और क्षत्ता महिषी को उठाकर पढ़ते हैं कि सवारी को धारण कर चलते, जयशील, गमनशील, वेगगामी अश्व का हमने संस्कार किया है । मन्त्रपाठ से हमारे मुखों को सुगन्धित किया है । अश्वाभिमानी देव हमारी बाल्य आदि तीनों अवस्थाओं को बढ़ावें ॥ ३२ ॥

अस्य मन्त्रस्य द्विविधं व्याख्यानं दृश्यते । तद्यथा—

(१)

हे प्रजापतिरूपाश्व ! नोऽस्माकं मुखा मुखानि सुरभि सुरभीणि करत् करोतु, यज्ञ इति शेषः । अश्लीलभाषणेन दुर्गन्धं प्राप्तानि मुखानि यज्ञः सुरभीणि करोत्वित्यर्थः, 'अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति । ये यज्ञेऽ-

पूतां वाचं वदन्ति दधिक्राव्णो अकारिषमिति सुरभिमतीमृचमन्ततोऽन्वाहुर्वाचमेव पुनते नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्ति' (श० १३।२।९।९) इति श्रुतेः। अतः पूर्वमन्त्राणामश्लीलभाषणमेवार्थ इति स्पष्टम्।

ननु यद्यश्लीलभाषणेन वाचोऽपूतता भवति, तर्हि किमर्थं श्रुत्या मन्त्रैरश्लीलभाषणं विहितम्? 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति न्यायेन परिवर्जनस्यैव युक्तत्वात्? इति चेन्न, वाचः सर्वाप्त्यै तादृशभाषणस्याश्वमेधाङ्गत्वेनावश्यकर्तव्यत्वात्। तदुक्तं श्रुत्यैव—'समाप्तिर्वा एषा वाचः। यदभिमेथिकाः सर्वे कामा अश्वमेधे सर्वया वाचा सर्वान् कामान् आप्नवामेति' (श० १३।५।२।९) इति।

अश्वमेधस्य प्रजापतिदेवता सर्वदेवरूपः। अश्वमेधस्य पशुरश्वः सर्वदैवतो भवति। 'सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्धयै तस्यां वरेण वाचं विसृजते वरं ददामि ब्रह्मण इति सर्वं वै वरः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्धयै' (श० १३।४।१।१०)। 'सर्वा वै देवता अश्वमेधे अन्वायत्ताः' (श० १३।१।२।९)। 'तस्मादश्वमेधयाजी सर्वा दिशोऽभिजयति' (श० १३।१।२।३)। 'प्रजापतिर्वै देवानां वीर्यवत्तमो वीर्यमेवास्मिन् दधाति' (श० १३।१।२।५)। 'सर्वाभ्यो वै देवताभ्योऽश्व आलभ्यते' (श० १३।३।४।१)। 'प्रजापतिरकामयत। सर्वान् कामानाप्नुयाꣳ सर्वा व्यष्टीर्व्यश्नुवीयेति स एतमश्वमेधं त्रिरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्तमाहरत्तेनायजत तेनेष्ट्वा सर्वान् कामानाप्नोत् सर्वा व्यष्टीर्व्याश्नुत सर्वान् ह वै कामानाप्नोति सर्वा व्यष्टीर्व्यश्नुते योऽश्वमेधेन यजते' (श० १३।४।१।१)। यथाश्वमेधः सर्वदेवात्मकः, यथाश्वः सर्वदैवतः, यथाश्वमेधेन सर्वान् कामानाप्नोति, सर्वा दिशो जयति, तथैव वाचोऽपि सर्वाप्तिरपेक्ष्यते। वैदिकेषु वाङ्मयेष्वश्लीलेतराः सर्वा वाचोऽन्तर्भवन्ति, अश्लीलभाषणेन वाचः सर्वाप्तिर्भवति। पुराणेषु केषाञ्चिद्राक्षसाद्युपद्रवाणां विद्रावणायाश्लीलभाषणं विहितम्। तच्च फाल्गुनमासे होलिकायां परां काष्ठामुपगच्छति। अश्वमेधश्च फाल्गुनशुक्लपक्षे समारभ्यते—'सा याऽसौ फाल्गुनी पौर्णमासी भवति। तस्यै पुरस्तात् षडहे वा सप्ताहे वर्त्विज उपसमायन्त्यध्वर्युश्च होता च ब्रह्मा चोद्गाता चैतान् वा अन्वन्य ऋत्विजः' (श० १३।४।१।४) इति श्रुतेः, 'अष्टम्यां नवम्यां वा फाल्गुनीशुक्लस्य' (का० श्रौ० २०।१।२) इति कात्यायनस्मरणाच्च। अश्वमेधविषयश्च भूमिकायां पर्याप्तं पर्यालोचितः। तत्रैव कणेहत्य बुभुत्सोपशमनीया।

(२)

'महिषीमुत्थाप्य पुरुषा दधिक्राव्ण इत्याहुः' (का० श्रौ० २०।६।२१)। महिषीं यजमानस्य प्रथमपरिणीतां पत्नीमश्वसमीपे सुप्तामुत्थाप्य पुरुषा अध्वर्युब्रह्मोद्गातृहोतृक्षतारः सुरभिमतीमृचं दधिक्राव्ण इति मन्त्रमश्लीलभाषणजनितमुखदौर्गन्ध्यापनोदाय पठेयुरिति सूत्रार्थः। वामदेवात्मजदधिक्रावदृष्टा अश्वदेवत्याऽनुष्टुप्। यद् अश्वस्य मार्गव्यापनशीलस्य संस्कारार्थं वयमश्लीलभाषणमकारिषमकार्षमकार्ष्म कृतवन्तो वयम्, वचनव्यत्ययः, एकवचनस्थाने बहुवचनं द्रष्टव्यम्। अश्लीलभाषणेन हि दुर्गन्धीनि मुखानि भवन्ति, पापहेतुत्वात्। नोऽस्माकं मुखा मुखानि, विभक्तिलोपश्छान्दसः, 'सुपां सुलुक्.....' (पा० सू० ७।१।३९) इति लुक्। सुरभि सुरभीणि करत् करोतु, यज्ञ इति शेषः। कीदृशस्य अश्वस्य? दधिक्राव्णः, दधाति धारयति नरमिति दधिः, 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' (पा० सू० ३।२।१७१) इति किः प्रत्ययः। तथा च दधिः सन् क्राम्यतीति दधिक्रावा, तस्य नरान् पृष्ठोपरि धारयित्वा क्रमणशीलस्य अश्वस्य, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति वनिप्, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इति धातोराकारः। पुनः कथम्भूतस्य अश्वस्य? जिष्णोर्जयनशीलस्य। पुनः कीदृशस्य? वाजिनोऽवश्यं वजतीति वाजी तस्य, 'वज गतौ' भौवादिकः, तस्मात् 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' (पा० सू० ३।३।१७०) इति णिनिः। वाजाः पक्षा अस्य सन्तीति वा वाजी। 'अत इनिठनौ' (पा० सू० ५।२।११५) इति रूपसिद्धिः। अथवा विनक्तीति वाजी। 'ओविजी भयचलनयोः'

इकारस्याकारश्छान्दसः, वेजनवान्, वेगवानिति यावत्। तादृशस्य अश्वस्य संस्कारार्थं यदश्लीलभाषणं कृतवन्तो वयम्, तेन नो दुर्गन्धयुक्तानि मुखानि यज्ञः सुरभीणि करोतु। किञ्च, नोऽस्माकमायूंषि जीवनानि, बहुवचनबलाद् बाल्ययौवनवार्धकानि, प्रतारिषत् प्रतारयतु प्रवर्धयतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'ये यज्ञेऽपूतां वाचं वदन्ति दधिक्राव्णो अकारिषमिति सुरभिमतीमृचमन्ततोऽन्वाहुर्वाचमेव पुनते नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्ति' (श० १३।२।९।९)। प्रसन्नं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे—दधिक्राव्णः, सर्वं प्रपञ्चं धारयतीति दधिः, दधिः सन् क्राम्यति लोकत्रयं यः स दधिक्रावा विष्णुस्तस्य, जिष्णो रावणादीनां जेतुरश्वस्य व्यापकस्य वाजिनोऽन्नवतो भगवतोऽकारिषं कृतवन्तो वयम्, स्तवमिति शेषः। तेन भगवत्स्तवेतरवाग्व्याहारजनितदौर्गन्ध्ययुक्तानि मुखानि सुरभि सुरभीणि करत् करोतु, भगवानिति शेषः। स एव नोऽस्माकमायूंषि प्रतारिषत् प्रवर्धयतु, येन भगवत्तत्त्वज्ञानाय निर्विघ्नं श्रवणादिकं सम्पद्येत।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यथाहं दधिक्राव्णो यो दधीन् पोषकान् धारकान् वा क्राम्यति, तस्य वाजिनो जिष्णोरश्वस्येव वीर्यमकारिषम्, तथा भवान् नः सुरभि मुखे वीर्यं करन्न आयूंषि तारिषत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गवादेरपि दधिक्रावत्वापत्तेः, वीर्यमित्यस्याध्याहारस्य निर्मूलत्वाच्च। सिद्धान्ते तु प्रकृतमश्लील-भाषणमिति तदध्याहारो युक्तः। सुरभि करदिति वचनेनापि दौर्गन्ध्यहेतुभूतस्याश्लीलभाषणस्याध्याहारः श्लिष्यते। किञ्च, कोऽयं वक्ता ? न जीवः, तस्य तथात्वे मानाभावात्। नापीश्वरः, तस्य मुखाभावेन सुरभि-मुखप्रार्थनायोगात्। नापि तस्यायुः प्रतरणाशंसा युक्ता, तस्य नित्यत्वात्॥ ३२॥

गायत्री त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप् पङ्क्त्या सह।
बृहत्युष्णिहा ककुप् सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥ ३३॥

मन्त्रार्थ—प्रस्तुत और अगले मन्त्र से तीनों रानियाँ तांबा, चाँदी और सोने की सूची से अश्व के शरीर पर रेखा करें। हे अश्व! गायक की रक्षा करने वाला गायत्री छन्द, तीन संख्या वाले प्रतिकूल पदार्थों का निरोधक त्रिष्टुप् छन्द, जगत् में विस्तीर्ण जगती छन्द, संसार के दुःखों के नाशक अनुष्टुप्, पंक्ति और बृहती छन्द, मंगलमय प्रभात का दाता उष्णिक् छन्द और अच्छे पदार्थों वाला ककुप् छन्द सूचियों के द्वारा तुमको शान्त करे॥ ३३॥

'तिस्रः पत्न्योऽसिपथान् कल्पयन्त्यश्वस्य सूचीभिर्लौहराजतसौवर्णीभिर्मणिसंख्याभिर्गायत्री त्रिष्टुबिति द्वाभ्यां द्वाभ्याम्' (का० श्रौ० २०।७।१)। महिष्याद्यास्तिस्रः पत्न्यस्ताम्ररूप्यस्वर्णमयीभिः सूचीभिः प्रत्येक-मेकाधिकशतसंख्याभिरश्वस्य शरीरेऽसेः सुखेन प्रवेशार्थं वितुद्य वितुद्य त्वचं जर्जरां कुर्युरिति सूत्रार्थः। अश्व-देवत्याः षड्ऋचः। आद्या उष्णिक्, चतस्रोऽनुष्टुभः, परा त्रिष्टुप्। हे अश्व, गायत्री च त्रिष्टुप् च जगती च पङ्क्त्या सह बृहती च उष्णिहा सह ककुप् च, एतानि छन्दांसि सूचीभिरेताभिस्त्वां शम्यन्तु संस्कुर्वन्तु। विकरणव्यत्ययः, असिपथार्थं त्वग्भेदनं संस्कारः।

अत्र ब्राह्मणम्—'यदसिपथान् कल्पयन्ति। सेतुमेव त ँ᳭ संक्रमणं यजमानः कुरुते स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै' (श० १३।२।१०।१)। असेः शासस्य पन्थानोऽसिपथाः, तान् सूचीभिर्लौह्यादिभिः कल्पयन्ति। तच्च स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै सव्याप्त्यै प्राप्तिसाधनं सेतुमेव कल्पयन्ति।

अध्यात्मपक्षे हे अश्व ! व्यापिनो विष्णोर्गायत्र्यादीनि छन्दांसि सूचीभिर्गुणसूचयित्रीभिः स्तुतिभिस्त्वां शम्यन्तु प्रसादयन्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, ये विद्वांसः पङ्क्त्या सह गायत्री त्रिष्टुब् जगत्यनुष्टुबुष्णिहा सह बृहती ककुप् सूचीभिरिव त्वा त्वां शम्यन्तु तास्त्वं सेवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गायत्र्यादीनां छन्दसां गानकर्तृत्वायोगात्, गानकर्तृणां छन्दस्त्वायोगाच्च। तथैव छन्दोरूपे त्रिष्टुभि तापत्रयस्तम्भकत्वमपि न सम्भवति, जगत्याश्चामूर्ताया विस्तीर्णतापि न सम्भवति। न च विस्तृता क्रिया पङ्क्तिः, अक्षररूपत्वाच्छन्दसाम्। न वा छन्दसोष्णिहोषः स्निह्यति। न च विद्वांसः सीवनसाधिकाभिः सूचीभिर्यथा वस्त्राणि सीव्यन्ति, तथा राजानं सीव्यन्ति। न च सीवनशमनयोः सादृश्यं सम्भवति, परस्परविरुद्धत्वात् ॥ ३३ ॥

द्विपदा याश्चतुष्पदास्त्रिपदा याश्च षट्पदाः ।
विच्छन्दा याश्च सच्छन्दाः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! दो पाद वाले, चार पाद वाले, तीन पाद वाले, छह पाद वाले, छन्दों के लक्षणों से रहित अथवा छन्दों के लक्षणों से युक्त ये सभी छन्द सूचियों के द्वारा तुम्हें शान्त करें ॥ ३४ ॥

द्विपदाः, द्वे पदे यासां ता द्विपदाः, याश्चतुष्पदाश्चत्वारि पदानि यासां ताश्चतुष्पदाः, यास्त्रिपदास्त्रीणि पदानि यासां ताः, याश्च षट्पदाः षट् पदानि यासां ताः। या विच्छन्दा विगतं छन्दो याभ्यस्ताश्छन्दोलक्षणहीनाः, याः सच्छन्दाश्छन्दोलक्षणवत्यः, ताः सर्वाश्छन्दोजातयः, हे अश्व ! त्वां सूचीभिः शम्यन्तु संस्कुर्वन्तु। छन्दोदेवताः सूचीभिस्त्वां संस्कुर्वन्तु ।

अध्यात्मपक्षे हे अश्व प्रजापते ! पूर्वोक्ता विविधाश्छन्दोजातयः सूचीभिर्गुणगणसूचीभिः स्तुतिभिस्त्वां शम्यन्तु प्रसादयन्तु ।

दयानन्दस्तु—'ये विद्वांसः सूचीभिर्या द्विपदा याश्चतुष्पदा यास्त्रिपदा याश्च षट्पदा या विच्छन्दा याश्च सच्छन्दास्त्वां ग्राहयित्वा शम्यन्तु शमं प्रापयन्तु, ता नित्यं सेवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, क्रियासु द्विपदत्वाद्यसम्भवेन तथोक्तेः प्रलापमात्रत्वात्। पदानि वाक्यानि चाक्षरधर्माः, क्रियाश्च द्रव्यधर्मा इति केन किं श्लिष्यते ? ॥ ३४ ॥

महानाम्न्यो रेवत्यो विश्वा आशाः प्रभूवरीः ।
मैघीर्विद्युतो वाचः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—महानाम वाली शक्वरी ऋचा, रेवत साम वाली ऋचा, सम्पूर्ण दिशाएँ, सकल यज्ञ कर्म, मेघों की बिजलियाँ और वेदवाणियाँ तुमको सूचियों से शान्त करें ॥ ३५ ॥

महानाम्न्य ऋचः [1]शक्वर्य इति भण्यन्ते। महन्नाम यासां तास्तथोक्ताः। रेवत्योऽपि ऋचः, यासु गीयमानं साम रैवतं साम सम्पद्यते। विश्वाः सर्वा आशा दिशः। कीदृश्य आशाः ? प्रभूवरीः प्रभवन्ति सर्वभूतानि धारयितुं समर्था भवन्ति यास्ताः प्रभूवर्यः। प्रपूर्वाद् भवतेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति

१. 'विदा मघवन्' इत्याद्यास्तिस्र ऋचः शक्वर्य इति काण्वभाष्ये सायणाचार्यः ।

वनिप् 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (पा० सू० ४।१।५) इति ङीप्, 'वनो र च' (पा० सू० ४।१।७) इति नकारस्य रेफादेशे पूर्वसवर्णदीर्घत्वे च 'प्रभूवरीः' इति रूपम् । मैघीः, मेघे भवा मैघ्यः—अत्रापि पूर्वसवर्णदीर्घः । मेघोत्था विद्युतः । वाचो वेदलक्षणाः । अन्या अपि एताः सर्वाः सूचीभिस्त्वां हे अश्व ! शम्यन्तु संस्कारेण प्रजापतियोग्यं हविः कुर्वन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्ताः सर्वा अप्येता वाचः सूचीभिः स्तुतिभिस्त्वां शम्यन्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे जिज्ञासो, सूचीभिर्या महानाम्न्यो रेवत्यो बहुधनयुक्ताः प्रभूवरीर्विश्वा आशा मैघीर्विद्युत इव च वाचस्त्वां शम्यन्तु तास्त्वं गृहाण' इति, तदपि यत्किञ्चित्, महानाम्न्यः का इत्यनुक्तेः । रेवत्यश्च काः ? धनयुक्ताः प्रभुत्वयुक्ताश्च स्त्रियोऽपि भवन्त्येव । मूले इवशब्दप्रयोगोऽपि नास्ति । विद्युत इवेति वाचो विशेषणत्वकल्पनमपि निर्मूलमेव ॥ ३५ ॥

नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया ।
देवानां पत्न्यो दिशः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! पतिव्रता नारियाँ बुद्धिपूर्वक तुम्हारे लोमों को पृथक् करें, देवताओं की पत्नियों के रूप में पालित दिशाएँ सूचियों के द्वारा तुम्हें शान्त करें ॥ ३६ ॥

हे अश्व ! नार्यो नृणामपत्यानि स्त्रियस्ते तव लोम रोमाणि मनीषया मनस इच्छया मनसः पर्यालोचनेन विचिन्वन्तु पृथक्कुर्वन्तु । लोमेति जातावेकवचनम्, विभक्तिलोपो वा । कीदृश्यो नार्यः ? पत्न्यः, यजमानभार्या महिष्याद्याः । 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पा० सू० ४।१।३३) इतीकारस्य नकारे नान्तत्वाद् ङीप् । देवानामिन्द्रादीनां च पत्न्यो दिशः प्राच्यादयः सूचीभिस्त्वां शम्यन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व व्यापिन् प्रजापते, नार्यो मानुष्यः पत्न्यो यज्ञसम्बन्धिन्यो मनीषया स्नेहवत्या बुद्ध्या ते तव लोम लोमानि लोमतुल्याः शक्तीर्विचिन्वन्तु अन्विच्छन्तु, ते लोम एकमपि लोम अन्विच्छन्ति, एकस्य लोम्नोऽपि कृतार्थताप्रयोजकत्वात् । देवानां पत्न्यो दिशश्च सर्वाः सूचीभिः सौन्दर्यमाधुर्यवर्णयित्रीभिः स्तुतिभिस्त्वा शम्यन्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे विदुषि, याः कुमार्यो मनीषया ते लोमानुकूलवचनं विचिन्वन्तु सञ्चितं कुर्वन्तु, ता देवानां नार्यः पत्न्यो भवन्तु । हे कुमारि, या देवानां पत्न्यो भूत्वा सूचीभिरनुसन्धानक्रियाभिर्दिश इव शुद्धा विदुष्यः सन्ति, तास्त्वा शम्यन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लोमपदस्यानुकूलवचनार्थत्वे मानाभावात् । सूचीशब्दस्यानुसन्धानक्रियार्थतापि चिन्त्या, निर्मूलत्वात् ॥ ३६ ॥

रजता हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते कर्मभिः ।
अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सिमाः शम्यन्तु शम्यन्तीः ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—चाँदी, सुवर्ण और सीसे की सूचियां संयुक्त होकर इस कार्य में लगी हैं । ये अश्व का संस्कार करती हुई वेगवान् अश्व की त्वचा में शान्तिपूर्वक रेखाएँ खींचती हैं ॥ ३७ ॥

रजता रजतमय्यो हरिणीर्हरिण्यः सुवर्णमय्यः सीसाः सीसं ताम्रम्, वक्ष्यमाणश्रुत्यनुरोधात् । सूचीनां दिग्रूपत्वादश्वसंस्कारक्षमत्वम् । ताः सूच्योऽश्वदेहे सीमाकरणलक्षणैः कर्मभिर्युज्यन्ते योगं प्राप्नुवन्ति, सीमाकरण-

योग्या भवन्तीत्यर्थः। कीदृश्यस्ताः ? युजः सहयोजनाः, एकीभूता इत्यर्थः। ताः सूच्यो वाजिनो वेगवतोऽश्वस्य त्वचि सिमाः सीमारेखाः शम्यन्तु सम्यक् कुर्वन्तु। सिमाशब्दः सीमापर्यायः। कीदृश्यस्ताः सूच्यः ? शम्यन्त्यो हविः संस्कुर्वाणाः।

अत्र ब्राह्मणम् —'सूचीभिः कल्पयन्ति। विशो वै सूच्यो राष्ट्रमश्वमेधो विशं चैवास्मिन् राष्ट्रं च समीची दधति हिरण्मय्यो भवन्ति तस्योक्तं ब्राह्मणम्' (श० १३।२।१०।२)। 'त्रय्यः सूच्यो भवन्ति। लोहमय्यो रजता हरिण्यो दिशो वै लोहमय्योऽवान्तरदिशो रजता ऊर्ध्वा हरिण्यस्ताभिरेवैनं कल्पयन्ति तिरश्चीभिश्चोर्ध्वाभिश्च बहुरूपा भवन्ति तस्माद्बहुरूपा दिशो नानारूपा भवन्ति तस्मान्नानारूपा दिशः' (श० १३।२।१०।३)। दिशः सूच्यः, बहुत्वात् क्षुद्रत्वाच्च। ता लोहमय्यस्ताम्रमय्यो रजतमय्यो हिरण्मय्यः। एतदनुरोधादेव मन्त्रस्थसीसशब्दस्य ताम्र एवार्थः। सूच्यश्चैता दिग्रूपाः। तत्र दिशो लोहमय्यः, अवान्तरदिशो रजतमय्यः, ऊर्ध्वा हरिण्यः सुवर्णमय्यः। तिरश्चीभिरूर्ध्वाभिश्च दिशो बहुरूपा भवन्ति।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व ! रजता रजतमय्यो राजस्यः, हरिणीर्हरिण्यः सात्त्विक्यः, सीसास्ताम्रमय्यस्तामस्यो नानाविधाः सूच्यन्ते। गुणसूचिकाः स्तुतयो युजाः पापापनोदनपुण्यार्जनात्मकैः कर्मभिरेकीभूताः। वाजिनो वेगवन्तोऽश्वस्य व्यापिनस्त्वचि स्वरूपे सिमाः मर्यादारूपा युज्यन्ते। शम्यन्तीः शम्यन्त्यः स्तोतॄणां हृदयानि संस्कुर्वाणाः शम्यन्तु भवन्तं प्रसादयन्तु। पूर्वोक्तेषु मन्त्रेष्वश्वपदेनाशनाद् व्यापनाच्च जीवोऽप्यश्व उच्यते। भगवत्स्तुतिरूपाभिः सूचीभिः सोऽपि संस्क्रियते।

दयानन्दस्तु —'हे मनुष्याः, तत्र सुशिक्षिताः स्वयंवरा भूत्वा स्त्रीपुरुषाः स्वेच्छया परस्परस्मिन् प्रीता विवाहं कुर्वन्ति, ते भद्रान् लावण्यगुणस्वभावयुक्तान् सन्तानानुत्पाद्य सदा नन्दन्तीति भावार्थः। यथा स्वयंवरा वाजिनोऽश्वस्य त्वचि संयुज्यन्ते, तथा कर्मभी रजता हरिणीः सीसा युजः शम्यन्तीः सिमा हृद्यान् पतीन् प्राप्य शम्यन्तु' इति, तदसङ्गतमेव, मूले स्वयंवराबोधकपदाभावात्। त्वक्पदस्य वस्त्रार्थताप्यसिद्धैव। रजतशब्दस्यानुरागार्थतापि चिन्त्यैव। सीसशब्दस्य प्रेमार्थतापि निर्मूलैव ॥ ३७ ॥

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, जिस प्रकार इस लोक में बहुत यवधान्य से सम्पन्न किसान यव से पूर्ण शस्य को अलग करके शीघ्र काटता है, उसी तरह से अल्प मात्रा में रहने पर भी तुम देवगणों के प्रिय हो, इस यजमान के लिये नाना प्रकार की भोजन सामग्री इकट्ठी कर दो। कुशा के आसन पर बैठे ऋत्विक्गण हवि लक्षण वाले अन्न से याज्या का नाम लेकर याग करते हैं ॥ ३८ ॥

सोमदेवत्या अनिरुक्ता त्रिष्टुप्। हे सोम ! यथा यवमन्तो बहुयवसम्पन्नाः कृषीवलाः कुविद् बहुलं सर्वं यवमयं सस्यं चिद् विचार्य अनुपूर्वम् आनुपूर्व्येण वियूय पृथक्कृत्य अङ्ग क्षिप्रं दान्ति लुनन्ति, तथा एषां यजमानानां सम्बन्धीनि भोजनानि भोज्यानि वस्तूनि, इह अस्मिन्नेव यजमाने कृणुहि कुरु। केषामेषाम् ? ये बर्हिष उपरि स्थिता नमउक्तिं यजन्ति हविर्लक्षणमन्नमादाय याज्यामभिधाय यजन्ति। दशमे द्वात्रिंशत्तमे व्याख्यातेयमृक् ॥ ३८ ॥

कस्त्वाऽऽच्छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति ।
क उ ते शमिता कविः ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—प्रस्तुत मन्त्र से अश्व का विशसन किया जाता है—हे अश्वाभिमानी जीव ! प्रजापति तुम्हें छिन्न, अर्थात् माया से पृथक् करते हैं, प्रजापति तुम्हें आवरण रूप त्वचा से पृथक् करते हैं, प्रजापति तुम्हारे भावी जन्मों के शरीरों को शान्त करते हैं, ज्ञानी प्रजापति तुमको शक्ति प्रदान करते हैं ॥ ३९ ॥

'अश्वं विशास्त्यनुवाकेन कस्त्वा छ्यतीति' (का० श्रौ० २०।७।६) । षड्ऋचेनानुवाकेन अश्वं विशास्ति अश्वोदरं पाटयति मेदस उद्धरणाय । अश्वे वपाया अभावादुदरमध्यस्थानं स्त्यानं घृताभं घनं श्वेतं मांसं मेद इति सूत्रार्थः । अश्वदेवत्याः षड् ऋचः । आद्या गायत्री । शिष्टा अनुष्टुभः । हे अश्व, कः प्रजापतिः, त्वा त्वामाच्छ्यति आच्छिनत्ति । 'छो छेदने' 'ओतः श्यनि' (पा० सू० ७।३।७१) इत्योकारलोपः । हे अश्व ! कः प्रजापतिस्त्वां विशास्ति त्वचा वियोजयति । ते तव गात्राण्यङ्गानि शम्यति शमनेन संस्कारेण हविर्भावमापादयति । क उ कश्च प्रजापतिरेव कविर्मेधावी क्रान्तदर्शनो वा ते तव शमिता शमयिता शामित्रकर्म करोति । स एव सर्वं करोति नाहमित्यर्थः । प्रश्नार्थक आक्षेपार्थको वा किंशब्दः । कोऽयं मनुष्यस्त्वामाच्छ्यति ? न कश्चिदपीत्यर्थः । कस्त्वा विशास्ति ? कश्च ते गात्राणि शम्यति ? कश्च ते शमिता कविः ? न कश्चिदित्यभिप्रायः । उः पादपूरणः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व व्यापिन् भोक्तः ! कस्त्वा आच्छिनत्ति ? न कोऽपि छेत्तुं समर्थः, अच्छेद्यत्वात् । कस्त्वां विशास्ति त्वगुत्पाटनं करोति, तव शरीराद् भिन्नत्वात् । कस्ते गात्राणि शम्यति संस्करोति, असंस्कार्यत्वात् । कविर्मेधावी ते तव शमिता हन्ता । 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च' (भ० गी० २।२४) इति गीतोक्तेः ।

दयानन्दस्तु—'हे अध्येतः, त्वा क आच्छ्यति, कस्त्वा विशास्ति, कस्ते गात्राणि शम्यति, क उ ते शमिता कविरध्यापकोऽस्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रश्नार्थत्वे प्रतिवचनस्यापि वक्तव्यत्वापातात् । अन्यत् सर्वं वेदबाह्यमेव, स्वाभ्यूहितत्वात् ॥ ३९ ॥

ऋतवस्त ऋतुथा पर्व शमितारो विशासतु ।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—सत्यमयी योगशक्तियाँ तुम्हें शान्ति देती हैं । वे समय समय पर प्रजापति के तेज से शान्तिप्रद योगक्रियाओं के द्वारा तुम्हारी कर्म-ग्रन्थियों को काटती हैं । सत्यमयी योगशक्तियाँ तुमको शान्त करती हैं ॥ ४० ॥

यस्मिन् पक्षे कस्त्वा प्रजापतिस्त्वाच्छ्यतीति व्याख्यातम्, तस्मिन् पक्षे व्याख्यायते—हे अश्व, ऋतव ऋतुदेवाः शमितार ऋतुथा ऋतौ ऋतौ काले काले ते तव पर्व पर्वाणि अस्थिग्रन्थीन् शमीभिः कर्मभिर्विशासतु विशासनेन भिन्नानि कुर्वन्तु । केनापरेण संवत्सरस्य संवत्सरात्मकस्य कालस्य तेजसा । किञ्च, ऋतवस्त्वा शम्यन्तु पर्वविशसनेन हविः सम्पादयन्तु । प्रजापतिः संवत्सरात्मक ऋतवश्च तदंशभूता ऋतुथा ऋतौ ऋतौ संवत्सरस्य तेजसा तव पर्वाणि अस्थिग्रन्थीन् शमीभिः कर्मभिः शम्यन्तु । हे अश्व, कस्त्वां विशसितुं समर्थ इति प्रश्नार्थकत्वे त्वेवं मन्त्रार्थो ज्ञातव्यः—ऋतवो देवास्ते शमितार इति । अन्यत् पूर्ववत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्वभोक्तः, पारमार्थिकदृष्ट्या शरीरादिशून्यस्य तव नास्त्येव छेदनादिकं यद्यपि, तथाप्याध्यासिकसम्बन्धेन व्यावहारिकदृष्ट्या तु ऋतव ऋतुदेवता ऋतुथा यथाकालं शमितारः। ते संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः कर्मभिस्त्वा शम्यन्तु संस्कुर्वन्तु। एवं संस्कृतः सन् ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण कृतार्थतामेष्यति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिनः, यथा ते ऋतवः पर्वेव शमितारोऽध्येतारं विशासतु संवत्सरस्य तेजसा शमीभिस्त्वां शम्यन्तु, तास्त्वं सदैव सेवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापकाध्येतृबोधकपदयोर्मूलेऽभावात् ॥ ४० ॥

अर्धमासाः परूᳪंषि ते मासा आच्छ्यन्तु शम्यन्तः।
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टᳪं सूदयन्तु ते ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ हे अश्वाभिमानी जीव ! तुमको शान्त करते हुए ऋत्विजों की योगसाधना के मास, पक्ष आदि तुम्हारी कर्म-ग्रन्थियों को काटते हैं। दिन-रात और प्राणाभिमानी देवता तुम्हारे शान्तिप्रद कर्मों की न्यूनता को पूर्ण करते हैं ॥ ४१ ॥

हे अश्व ! अर्धमासाः पक्षा मासाश्च ते तव परूंषि पर्वाणि, 'ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी' (अ० को० २।४।१६२), आच्छ्यन्तु छिन्दन्तु। किं कुर्वन्तः ? शम्यन्तः शमनेन संस्कारेण हविर्भावमापादयन्तः। किञ्च, अहोरात्राणि अहोरात्राभिमानिनो देवा मरुतश्च देवास्ते तव विलिष्टं विशेषेणाल्पमङ्गम्, 'लिश अल्पीभावे', सूदयन्तु सन्दधतु, 'षूद क्षरणे' इति चौरादिकस्य। प्रकृते तु सन्धानार्थः, क्षरणार्थे वैयर्थ्यापत्तेः। अर्धमासाद्यधिष्ठातृदेवा एव ग्राह्याः, स्वतस्तेषां जडत्वे कार्यव्यापृत्ययोगात्।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व भोक्तः, अर्धमासा मासाश्च पक्षाद्यधिष्ठातृदेवास्ते तव परूंष्युग्राणि कर्माणि शम्यन्तः संस्कुर्वन्त आच्छ्यन्तु छिन्दन्तु नाशयन्तु। अहोरात्राणि मरुतश्च ते तव विलिष्टं विशिष्टां न्यूनतां व्यङ्गतां सूदयन्तु निर्मूलयन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिन्, अहोरात्राणि अर्धमासा मासाश्च परूंषीव ते शम्यन्तो मरुतो दुर्व्यसनान्याच्छ्यन्तु। ते तव मासा विलिष्टं सूदयन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आयुर्दुर्व्यसनशब्दयोर्मूलेऽभावेन स्पष्टमसङ्गतेः ॥ ४१ ॥

दैव्या अध्वर्यवस्त्वाऽऽच्छ्यन्तु वि च शासतु।
गात्राणि पर्वशस्ते सिमाः कृण्वन्तु शम्यन्तीः ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य शक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञानयज्ञ के कर्ता अध्वर्यु तुम्हें देहाभिमान से छुड़ाते हैं और उपदेश देते हैं। संस्कार करती हुई दिव्य शक्तियाँ तुम्हारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को सकल कर्मबन्धनों के साथ विष्णु में लीन कर दें ॥ ४२ ॥

हे अश्व, दैव्या देवानामिमे दैव्याः, दिव्या येऽध्वर्यवोऽश्विप्रभृतयः, 'अश्विनौ वै देवानामध्वर्यू' (श० १२।८।२।२२) इति श्रवणात्। त्वा त्वामाच्छ्यन्तु आच्छिन्दन्तु। वि च शासतु चकारो भिन्नक्रमः। विशासतु हविर्भावमापादयन्तु। किञ्च, ते तव गात्राणि गात्रेषु, विभक्तिव्यत्ययः, शरीरेषु पर्वशः पर्वणि पर्वणि सिमाः सीमा मर्यादाः कृण्वन्तु कुर्वन्तु। कीदृशीः सिमाः ? शम्यन्तीः, मर्यादादर्शनेन शमनं कुर्वाणाः संस्कुर्वाणा वा।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्व साधक, दैव्या देवसम्बन्धिनोऽध्वर्यवः, त्वा त्वामाच्छ्यन्तु अनात्मतादात्म्याद् वियोजयन्तु पृथक्कुर्वन्तु, विशासतु विशेषेण शासतु ब्रह्मात्मतत्त्वमुपदिशन्तु। गात्राणि मुखपादादीनि तदुपलक्षितं सर्वमनात्मजातं सिमाः कृण्वन्तु शमोत्पादनेन आत्मानात्मनोः सीमाः कुर्वन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिन् विद्यार्थिनि वा, दैव्या अध्वर्यव आत्मनोऽहिंसाख्यं यज्ञमिच्छन्तस्तव दोषान् छिन्दन्तु वि च शासतु उपदिशन्तु च। पर्वशो गात्राणि परीक्षन्ताम्। सिमाः प्रेमबद्धाः शम्यन्तीर्दुष्टस्वभावं वारयन्तीः सत्यो मातरोऽप्येवं शिक्षां कृण्वन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अहिंसाख्यस्य यज्ञस्य श्रौतसूत्रेष्वप्रसिद्धत्वात्। दोषान् परीक्षन्ताम्, मातरः शिक्षामित्यादिपदानां मूलेऽभावेन तादृशार्थस्य बलात्कृतत्वात्॥ ४२॥

द्यौस्ते पृथिव्यन्तरिक्षं वायुश्छिद्रं पृणातु ते।
सूर्यस्ते नक्षत्रैः सह लोकं कृणोतु साधुया॥ ४३॥

मन्त्रार्थ— स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष तुम्हारे छिद्र को पूर्ण करें, वायु तुम्हारे छिद्र को पूर्ण करे, नक्षत्रों सहित सूर्य देवता तुम्हें श्रेष्ठ लोक प्रदान करें॥ ४३॥

हे अश्व, द्यौर्द्युलोकः पृथिवी अन्तरिक्षं लोकत्रयाभिमानिनो देवा अग्निवायुसूर्या वायुरन्योऽपि शरीरस्थः प्राणादिस्ते तव छिद्रं पृणातु पृणन्तु पूरयन्तु, वचनव्यत्ययः, न्यूनतामपनीय साङ्गतामापादयन्तु। नक्षत्रैरश्विन्यादिनक्षत्रगणैः सह सूर्यः सविता ते तव साधुया साधु समीचीनं लोके कृणोतु करोतु, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेर्यादेशः। नक्षत्रसहितः सूर्यस्तुभ्यमुत्तमं लोकं ददात्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, द्युलोकपृथिव्यन्तरिक्षाधिष्ठातारो देवा वायुः सूत्रात्मा च ते तव च्छिद्रं व्यङ्गतां पृणातु पृणन्तु पूरयन्तु। नक्षत्रैः सह सूर्यस्ते तव साधुया साधुं लोकं कृणोतु करोतु।

दयानन्दस्तु— 'हे शिष्येऽध्यापिके वा, यथा द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं वायुः सूर्यो नक्षत्रैः सह चन्द्रश्च ते छिद्रमिन्द्रियं पृणातु। ते तव व्यवहारं साध्नोतु तथा ते तव साधुया साधुं सत्यं लोकं दर्शनीयं कृणोतु' इति, तदपि न मनोज्ञम्, छिद्रशब्दस्येन्द्रियार्थकत्वे मानाभावात्। न चेन्द्रियस्य पूरणमपेक्षितम्, पूर्णस्यैव परमात्मना निर्मितत्वात्, न च पृणातेर्व्यवहारसाधनार्थता, लोकोऽपि स्वत एव दर्शनीय इति तत्कारणानुपपत्तेः। सिद्धान्ते तूत्तमलोकप्रापणमेव लोककरणम्। न च त्वया लोकान्तरप्राप्तिरभ्युपेयते॥ ४३॥

शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः।
शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव॥ ४४॥

मन्त्रार्थ—तुम्हारी ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों से दूर होकर तुम्हें सुख प्रदान करें, तुम्हारी कर, चरण आदि कर्मेन्द्रियां भी सुख प्रदान करें, अस्थियों से और मज्जा से भी तुम्हें सुख मिले, तुम्हारा सारा शरीर शान्ति और कल्याण का सम्पादन करे॥ ४४॥

हे अश्व, ते तव परेभ्य उच्चेभ्यो गात्रेभ्यः शिरआद्यवयवेभ्यः शं सुखमस्तु। अवरेभ्योऽधःस्थेभ्यश्च पादादिभ्यो गात्रेभ्यः शमस्तु। अस्थभ्यस्तव अस्थिभ्यश्च शं सुखमस्तु, 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' (पा० सू० ७।१।७५) इत्यनुवृत्तौ 'छन्दस्यपि दृश्यते' (पा० सू० ७।१।७६) इत्यनेन हलादावप्यस्थिशब्दस्यानङादेशः। मज्जभ्यः पृष्ठधातुभ्यः शं सुखमस्तु। शं चास्तु तव तन्वै किं बहुना तव तन्वै तन्वाः सर्वस्यापि

शरीरस्य शमु सुखमेवास्तु। 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वाच्या' (पा० सू० २।३।६२, वा० १) इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। उ एवार्थे।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, ते तव परेभ्योऽवरेभ्यश्च गात्रेभ्यः शमस्तु, अस्थिभ्यो मज्जभ्यश्च शमस्तु, तव तन्वाः शमस्तु, येन शुद्धः संस्कृतः सन् पुरुषार्थयोग्यो भवेः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यामिच्छो, यथा पृथिव्यादितत्त्वं तव तन्वै शमस्तु परेभ्यो गात्रेभ्यः शमवरेभ्यो मध्यस्थेभ्यो निकृष्टेभ्यो वा गात्रेभ्यः शमस्तु। अस्थभ्यो मज्जभ्यः शमस्तु। स्वकीयैरुत्तमगुणैः कर्मस्वभावैरध्यापकास्ते शङ्करा भवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अन्तिमभागस्य निर्मूलत्वात् ॥ ४४ ॥

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
किᳬं स्विद्धिमस्य भेषजं किं वावपनं महत् ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—कौन अकेला विचरता है? कौन फिर प्रकाश पाता है? हिम को औषधि क्या है? सबसे बड़ा क्षेत्र कौनसा है? ॥ ४५ ॥

'प्राग्वपाहोमाद्धोताऽध्वर्यू च सदसि संवदेते चतसृभिः कः स्विदेकाकीति' (का० श्रौ० २०।७।१०)। वपाहोमात् प्राक् चतसृभिर्ऋग्भिः पूर्ववदुक्तिप्रत्युक्त्या सदो मध्ये गत्वा होता अध्वर्युश्च संवादं कुरुत इति सूत्रार्थः। अष्टादश ऋचो ब्रह्मोद्यसंज्ञाः। ऋत्विजां परस्परं ब्रह्मणो (वेदस्य) वदनं ब्रह्मोद्यम्। 'वदः सुपि क्यप् च' (पा० सू० ३।१।१०६) इति क्यपि, 'वचिस्वपियजादीनां किति' (पा० सू० ६।१।१५) इति सम्प्रसारणे रूपम्। आद्याश्चतस्रः का स्विदित्याद्याश्चतस्रोऽनुष्टुभः, शिष्टास्त्रिष्टुभः। इयमृगत्रैवाध्याये नवम्यां व्याख्याता, तद्वदत्रापि व्याख्येया ॥ ४५ ॥

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य, ज्योतिस्वरूप ब्रह्म अद्वितीय होकर सर्वत्र व्याप्त है, वह अकेला अपनी धुरी पर घूमता है। चन्द्रमा पुनः पुनः प्रकाश पाता है, अथवा मन बार-बार नवीन होकर प्रकाशित होता है। अग्नि हिम की औषध है। ज्ञानाग्नि से अज्ञानरूपी हिम दूर होता है और भूलोक कर्मबीज को बोने का सबसे बड़ा क्षेत्र है ॥ ४६ ॥

पूर्वस्यामृचि होताऽध्वर्युं पृच्छति। तमुत्तरयन्नाहाध्वर्युः सूर्य एकाकीति। इहैवाध्याये व्याख्याता, तद्वदिहापि व्याख्येया ॥ ४६ ॥

किᳬं स्वित् सूर्यसमं ज्योतिः किᳬं समुद्रसमᳬं सरः।
किᳬं स्वित् पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य के समान ज्योति क्या है? समुद्र के समान विस्तृत सरोवर कौन सा है? पृथ्वी से महान् क्या है? किसका परिमाण नहीं है? ॥ ४७ ॥

अध्वर्युर्होतारं पृच्छति—हे होतः, स्विदिति वितर्के। सूर्यसमं सूर्यमण्डलतुल्यज्योतिस्तेजः किं तद् ब्रूहि। समुद्रसमं सरस्तडागः किं स्वित्। पृथिव्यै पृथिव्याः सकाशाद् वर्षीयोऽतिशयेन वृद्धं वर्षीयः, 'प्रियस्थिरस्फिरो....' (पा० सू० ६।४।१५७) इत्यादिना वर्षिरादेशः। तत्र इकार उच्चारणार्थः। कस्य मात्रा परिमाणं न विद्यते ॥ ४७ ॥

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमꣳ सरः।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ सूर्य के समान ज्योति ब्रह्म है, द्युलोक समुद्र के समान सरोवर है, अणिमा आदि ऐश्वर्यों से युक्त इन्द्र वसुन्धरा से महान् है। यशोमयी गाय और वेदवाणी की कोई मात्रा (परिमाण) नहीं है ॥ ४८ ॥

अध्वर्युं होता प्रत्युत्तरयति— ब्रह्म त्रयीलक्षणं परं च सूर्यसमं ज्योतिः। द्यौः समुद्रसमं सरः। पृथिव्यै पृथिव्याः सकाशात्, विभक्तिव्यत्ययः, इन्द्रः सूर्यो वर्षीयान्, गोर्धेनोर्मात्रा परिमाणमियत्तया परिच्छेदो न विद्यते, यज्ञहेतोः पयोघृतादिहविषो धारकत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्म वेदान्तवेद्यं सत्यज्ञानादिलक्षणं ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः, 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥' (भ० गी० १३।३३) इति गीतोक्तेः। द्यौर्द्युलोकः समुद्रतुल्यं सरो जलाशयः, तस्य विस्तृतत्वात्, जलाधारमेघसूर्याधारत्वाच्च। इन्द्र आदित्य-मण्डलान्तर्गतः पुरुषः पृथिव्या वर्षीयान् बृहत्तरः, 'आदित्याद् भूमिर्जायते' इति सूर्योपनिषच्छ्रुतेः। गोः परस्या वाचो मात्रा परिमाणं न विद्यते, सर्वप्रपञ्चजननीत्वात्। 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थ-भावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥' (वा० प० १।१।१), 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥' (वा० प० १।१।१२३) इत्युक्तेः।

दयानन्दस्त्वस्मिन् प्रश्नोत्तरे एवमाह—'हे विद्वन्! किं स्वित् सूर्यसमं ज्योतिः ? हे जिज्ञासो! ब्रह्म बृहत् सर्वेभ्यो महद् अनन्तसूर्यसमं ज्योतिः प्रकाशकम्, समुद्रसमं सरो द्यौः, पृथिव्यै वर्षीयानिन्द्रः सूर्यः, गोर्वाचो मात्रा न विद्यते' इति, तदप्ययुक्तम्, उपपत्त्यनुक्तेः, कात्यायनविरोधाच्च ॥ ४८ ॥

पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।
येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमाविवेशाँ३॥ ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा प्रश्न करता है कि हे मित्रदेव! ज्ञानप्राप्ति के लिये तुमसे प्रश्न करता हूँ। यदि तुम ठीक से जानते हो तो बताओ कि व्यापक परमात्मा जिन तीन पदों में पूजा गया है, क्या उनमें सम्पूर्ण संसार प्रविष्ट हुआ ? ॥ ४९ ॥

'ब्रह्मौद्गातारौ च पृच्छामि त्वेति' (का० श्रौ० २०।७।११)। ब्रह्मोद्गातारं पृच्छति—चकारा-च्चतुर्भिर्ऋग्भिर्ब्रह्मोद्गातारौ सदोमण्डपे संवादं कुरुतः पूर्ववदुक्तिप्रत्युक्त्येति सूत्रार्थः। ब्रह्मोद्गातारं पृच्छति—हे देवसख, देवानां सखा देवसखस्तत्सम्बुद्धौ, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (पा० सू० ५।४।९१) इति टचि रूपम्। हे देवानां मित्र उद्गातः, त्वा त्वां चितये ज्ञानाय अहं पृच्छामि, न विजिगीषार्थमिति भावः। अत्र मत्कृते प्रश्ने पृष्टः सन् मनसा प्रश्नविवेचनाय सूक्ष्मानर्थान् जगन्थ ७।८ जानासि, गमेर्लिटि रूपम्। गतिर्ज्ञानम्। किं पृच्छसीत्यत

आह—विष्णुर्व्यापनशीलो यज्ञो येषु त्रिषु पदेषु गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निषु, एष्ट आसमन्ताद् यागेन इष्टस्तर्पितः, यजेर्निष्ठायां रूपम्। तेषु त्रिषु पदेषु विश्वं सर्वं भुवनमाविवेश? प्रविष्टमुत नेति प्रश्नः। भुवनमाविवेशाँ३ ॥ इति प्रश्नेषु प्लुतः ॥ ४९ ॥

अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमाविवेश।

सद्यः पर्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवो अस्य पृष्ठम् ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—उद्गाता का उत्तर—ईश्वर का उपदेश है कि मैं ही उन तीन पदों में हूँ, जिनमें सकल विश्व प्रकट हुआ है। पृथ्वी को, द्युलोक को तथा इस स्वर्ग के ऊपर के भाग को भी क्षण मात्र में मैं एक ही चरण के द्वारा व्याप्त करता हूँ ॥ ५० ॥

उद्गाता ब्रह्माणं प्रत्याह—येषु त्रिषु पदेषु विश्वं भुवनमाविवेशेति यत् त्वया पृष्टं तेषु त्रिषु पदेषु गार्हपत्यादिष्वहमस्मि, अर्थाद् अहमपि तत्रैव स्थितोऽस्मि। अपिशब्दात् त्वं च तत्रैवासि। न केवलमेतावदेव जानामि, किन्तु पृथिवीमुतापि च द्यां स्वर्गं दिवः स्वर्गस्य पृष्ठमुपरिभागमपि सद्यस्तत्क्षणमेव एकेनाङ्गेन मनसा पर्येमि परिगच्छामि, सर्वं जानामि। किं पुनर्भूतानि प्रविष्टानीति भावः।

अध्यात्मपक्षे—सब्रह्मचारिणौ संवादं कुरुतः। हे देवसख, देवः परमात्मा सखा मित्रं यस्य स देवसखः, तत्सम्बुद्धौ। त्वां चितये ज्ञानाय विद्यावैशद्याय पृच्छामि। अत्र मत्कृते यदि मनसा शास्त्राचार्योपदेशसंस्कार-संस्कृतेन जगन्थ सूक्ष्मानर्थान् जानासि, तदा पृच्छामीत्यर्थः। किं पृच्छसीत्यपेक्षायामाह—येषु त्रिषु पदेषु पदनीयेषु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु विराड्हिरण्यगर्भाव्याकृतेषु विष्णुर्व्यापकश्चिदात्मा प्रविष्टः, एष्ट आसमन्ताद् इष्टः पूजितः, तेषु पदेषु विश्वं सर्वं भुवनं कार्यमाविवेश उत नेति? येषु त्रिषु पदेषु विश्वं भुवनमाविवेशेति यत् त्वया पृष्टम्, तत्र ब्रूमः—तेषु त्रिषु पदेष्वहमपि सद्य एककालमेव पर्येमि, अपिशब्दात् त्वमपि तत्रैव स्थितोऽसि। नैतावदेव, किन्त्वेकेन अङ्गेन मनसा पृथिवीम् उतापि द्यां स्वर्गमस्य दिवः पृष्ठमुपरिभागमपि सद्यः क्षणेन पर्येमि परिगच्छामि, किमुत विश्वं भुवनम्? तत्र प्रविष्टं जानाम्येवेति भावः। न केवलं भौतिकं जगत्, किन्त्वाध्यात्मिक-माधिदैविकं च सर्वमेव तत्र प्रविष्टमिति जानामि।

दयानन्दस्तु—'हे देवसख, यदि त्वं मनसा जगन्थ, तर्हि त्वां चितये पृच्छामि—यो विष्णुर्येषु त्रिषु पदेषु आ इष्टोऽस्ति, तेषु व्याप्तः सन् विश्वं भुवनमाविवेश, तं च पृच्छामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तेषु नाम-स्थान-जन्माख्येषु व्याप्त्यैव भुवनव्याप्तिसिद्ध्या भुवनव्याप्तिवचनस्य नैरर्थक्यापातात्। प्रश्नसूचकप्लुतोच्चारणेन पृच्छामीति निगदव्याख्यानेन च प्रश्नः सूच्यते। तेन न परमात्मनोऽस्तित्वसम्बन्धिप्रश्नः, किन्त्वाविवेशेति प्लुतत्वेन आवेशसम्बन्धिन एव प्रश्नस्य निश्चयात्। न च परमात्मावेशः प्रश्नार्हः, तस्य लोकवेदसिद्धत्वात्। यच्च 'हे मनुष्याः, यो जगत्स्रष्टेश्वरोऽहं येषु त्रिषु पदेषु विश्वं भुवनमाविवेश, तेष्वप्यहं व्याप्तोऽस्मि। अस्य दिवः पृष्ठं पृथिवीमुत द्यां चैकेनाङ्गेन सद्यः पर्येमि। तं मां सर्वे यूयमुपासध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असामञ्जस्यात्। तथाहि—कारणस्य सूक्ष्मस्य व्यापकत्वं कार्यस्य स्थूलस्य च व्याप्यत्वं प्रसिद्धम्। त्वद्रीत्या च निराकारस्य निरवयवस्य निरङ्गस्य अङ्गानुपपत्तिः। न च व्यवहारो देशो वा तस्याङ्गं सम्भवति, तस्य देशकालव्यवहारा-तीतत्वात्, 'अव्यवहार्यम्' (मा० उ० ७) इति श्रुतेः ॥ ५० ॥

केष्वन्तः पुरुष आविवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।

एतद् ब्रह्मन्नुपवल्हामसि त्वा किंँ स्विन्नः प्रतिवोचास्यत्र ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—उद्गाता प्रश्न करता है—हे ब्रह्मन् ! सकल विश्व में व्यापक परमात्मा किन पदार्थों के भीतर प्रविष्ट हुआ ? पुरुष के भीतर कौन कौन से पदार्थ अर्पित हैं ? ये प्रश्न मैं तुमसे स्पर्धापूर्वक पूछता हूँ । इस विषय में तुम्हारा क्या कहना है ? ॥ ५१ ॥

उद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति—हे ब्रह्मन्, पुरुषः केषु पदार्थेष्वन्तर्मध्ये आविवेश प्रविष्टः, कानि च वस्तूनि पुरुषेऽन्तः पुरुषमध्येऽर्पितानि स्थापितानि, एतत् त्वा त्वाम्, वयमुपवल्हामसि उपवल्हामः, सर्वथा पृच्छामः । 'वल्ह प्राधान्ये', इह तु आह्वानपूर्वे संहर्षे विद्यते । उपसङ्गम्य आहूयोत्क्षिप्य बाहू पृच्छामि भवन्तम् । 'वल्ह प्राधान्ये परिभाषणहिंसादानेषु', लट् 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) इति मस इगागमे रूपम् । यद्वा स्पर्धया पृच्छामः किं स्वित् त्वमत्रास्मिन् प्रश्ने प्रतिवोचासि उत्तरं प्रतिवदसि । 'वच उम्' (पा० सू० ७।४।२०) इति लेटि छान्दस उम्, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागमः ।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेव प्रश्नार्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मन्, केषु पुरुषोऽन्तराविवेश । कानि पुरुषेऽन्तरर्पितानि, येन वयमुपवल्हामसि प्रधाना भवामः । एतत् त्वां पृच्छामः । तत्किं स्विदस्त्यत्र नो प्रतिवोचासि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रश्नस्य प्राधान्याप्रयोजकत्वात्, उत्तरस्यैव च प्राधान्यहेतुत्वात् ॥ ५१ ॥

पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।
एतत् त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत् ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा का उत्तर – परमात्मा पांच प्राण, पाँच भूत या पाँच तन्मात्राओं के भीतर प्रविष्ट हुआ है । वह पुरुष के भीतर प्रविष्ट है, अर्थात् आत्मा बिना प्राण आदि की और बिना प्राण आदि के आत्मा की स्थिति नहीं हो सकती । तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मैं बहुत समझ-बूझ कर दे रहा हूँ, तुम मुझसे बहुत अधिक बुद्धिमान् नहीं हो ॥५२॥

ब्रह्मा उद्गातारं प्रतिवक्ति पञ्चसु प्राणेष्वन्तः प्राणमध्ये पुरुष आत्मा आविवेश प्रविष्टः, तानि प्रसिद्धानि श्रोत्रादीनि पुरुषेऽन्तः पुरुषमध्येऽर्पितानि, प्राणात्मनामन्योन्यापेक्षासिद्धत्वात् । आत्मानमाश्रित्यैव ते लब्धात्मकाः, 'न[1] प्राणानन्तरेणात्मा' इति बह्वृचश्रुतेः । आत्मापि न प्राणानन्तरेण व्यज्यते । यद्वा पञ्चसु भूतेषु पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेष्वात्मा प्रविष्टः, तानि चात्मनि प्रविष्टानि । आत्मनः कारणत्वात् तेषां च कार्यत्वात् तेष्वात्मा प्रविष्टः, कार्याणां च कारणाश्रितत्वादात्मनि तेषां प्रवेशः । यथा तन्तुषु पटस्याश्रितत्वात् तन्तुषु पटः प्रविष्टः, तन्तवश्च पटेषूपलभ्यमानत्वात् तत्र तन्तवः प्रविष्टा इत्युच्यन्ते, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' (तै० उ० २।६।१) इति श्रुतेः । हे उद्गातः ! अहमत्र प्रश्ने त्वा त्वां प्रति एतदुत्तरं प्रतिमन्वानः प्रतिजानानोऽस्मि, एवमुत्तरं ददामीत्यर्थः । किञ्च, मायया बुद्ध्या मद् मत्त उत्तरोऽधिकस्त्वं न भवसि, मत्तोऽधिकबुद्धिमान्नासीरित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—इदमेवोत्तरम् ।

दयानन्दस्तु—'हे जिज्ञासो, पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश, तानि पुरुषेऽन्तरर्पितानि । एतदत्र त्वा प्रतिमन्वानोऽहं समाधाताऽस्मि । यदि मायया प्रज्ञया युक्तस्त्वं तर्हि मदुत्तरः समाधाता कश्चिन्नास्तीति विजानीहि' इति, तदपि न युक्तम् । व्याप्तानां भूतानां कार्यत्वात् कारणभूते परमात्मनि प्रवेशानुपपत्तेः । न च त्वया परमात्मन्युपादानत्वमङ्गीक्रियत इति न काचिदनुपपत्तिः ॥ ५२ ॥

---

१. अनुपलब्धमिदं वचनम् ।

का स्विदासीत् पूर्वचित्तिः किᳬ स्विदासीद् बृहद्वयः ।
का स्विदासीत् पिलिप्पिला का स्विदासीत् पिशङ्गिला ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ — होता प्रश्न करता है — पूर्व स्मरण का विषय कौन था, बहुत उड़ने वाला अथवा स्वर्गपर्यन्त पहुँचा हुआ कौन था ? लक्ष्मी कौन थी ? और रूप को निगलने वाली कौन थी ? ॥ ५३ ॥

'पुनः पूर्वावपरेणोत्तरवेदिं का स्विदासीदिति' (का० श्रौ० २०।७।१९)। ततः सदसो निष्क्रम्य हविर्धानस्य पुरस्ताद् उत्तरवेदेः पश्चादुपविश्य पूर्वौ पूर्वोक्तौ होत्रध्वर्यू चतुर्ऋग्भिः संवदेते इति सूत्रार्थः। होताऽध्वर्युं पृच्छति—का स्विदिति । इयमृग् अस्मिन्नेवाध्याये एकादश्यां कण्डिकायां व्याख्याता ॥ ५३ ॥

द्यौरासीत् पूर्वचित्तिरश्व आसीद् बृहद्वयः ।
अविरासीत् पिलिप्पिला रात्रिरासीत् पिशङ्गिला ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ — ब्रह्मा का उत्तर — सब प्राणियों को अभीष्ट वृष्टि का दाता द्युलोक प्रथम स्मरण का विषय था। अश्वमेध यज्ञ स्वर्ग पर्यन्त पहुँचाने वाला है। सबकी रक्षा करने वाली पृथ्वी ही लक्ष्मी है। महामोह रूप वाली रात्रि ज्ञानमय रूप को निगल जाती है ॥ ५४ ॥

होतारं प्रत्याहाध्वर्युः—द्यौरिति । अस्मिन्नेवाध्याये द्वादश्यां कण्डिकायामियमृग् व्याख्याता ॥ ५४ ॥

का ईमरे पिशङ्गिला का ईं कुरुपिशङ्गिला ।
क ईमास्कन्दमर्षति क ईं पन्थां विसर्पति ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ — अध्वर्यु का प्रश्न — हे होता ! रूपों को निगलने वाली कौन है ? शब्दपूर्वक रूपों को निगलने वाली कौन है ? उत्प्लवन गति से चलने वाला कौन है ? कौन मार्ग में नाना प्रकार से चलता है ? ॥ ५५ ॥

अध्वर्युर्होतारं पृच्छति—का ईमरे इति । ईमिति चकारार्थो निपातः । अरे इत्यामन्त्रणविषयो निपातः । अरे होतः, का च पिशङ्गिला का च कुरुपिशङ्गिला । क ईं कश्च आस्कन्दम्, णमुलन्तमेतत् । आस्कन्द्य उत्प्लुत्य अर्षति गच्छति । 'ऋषी गतौ' तुदादिः । व्यत्ययेन शप् । क ईं कश्च पन्थां पन्थानं मार्गं प्रति विसर्पति विविधं गच्छति ॥ ५५ ॥

अजारे पिशङ्गिला श्वावित् कुरुपिशङ्गिला ।
शश आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां विसर्पति ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ — होता का उत्तर — हे अध्वर्यु ! विद्यारूप परा शक्ति रूपों का भक्षण करने वाली है। देहाभिमान से प्राप्त होने वाली अपरा शक्ति कर्मकाण्ड के रूप का लय करती है। शरीर में शयन करने वाला प्राण उत्प्लवन गति से चलता है। मध्यस्थानी जीवात्मा संसार मार्ग में नाना प्रकार से चलता है ॥ ५६ ॥

होता अध्वर्युं प्रति वक्ति—अजेति । अरे अध्वर्यो अजा पिशङ्गिला, अजा नित्या माया वा रात्रिर्वा पिशङ्गिला, पिशं रूपं गिलति भक्षयतीति पिशङ्गिला । माया विश्वं ग्रसते, रात्रावपि रूपाणि न प्रतीयन्ते,

तमसाच्छन्नत्वात् । श्वावित् श्वानं विध्यतीति श्वावित्, 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (पा० सू० ६।३।११६) इति पूर्वपदस्य दीर्घः । सेधा 'शाहीति भाषायां प्रसिद्धा' कुरुपिशङ्गिला कुरु इति शब्दानुकरणम्, 'पिश अवयवे' इति तौदादिकात् 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययेन पिशः । कुरु इति शब्दं कुर्वाणा पिशान् मूलाद्यवयवान् गिलति भक्षयतीति कुरुपिशङ्गिला, मूलानां शतं भक्षयति शतं च कुक्षौ धारयतीति सेधायाः स्वभावः । शशो वन्यो जीवविशेषः, आस्कन्दम् आस्कन्द्य आस्कन्द्य अर्षति, स हि तस्यापि स्वभावः । अहिः सर्पः पन्थां पन्थानं विसर्पति विकुर्वन् गच्छति ।

अध्यात्मपक्षे—गुरुराह । हे साधक, अजावद् अजा यथा लोहितशुक्लकृष्णा बर्करी समाना लोहितशुक्लकृष्णा बह्वीः प्रजाः सृजति, तथैव अजा प्रकृती रजःसत्त्वतमोगुणा पिशङ्गिला पिशं सर्वं रूपं गिलति स्वात्मनि प्रविलापयति । श्वावित् श्वावित्तुल्या बुद्धिः कुरु कुरु इति शब्दमनुसन्धाय शतं विषयान् गृह्णाति शतं च वासनारूपेण कुक्षौ स्थापयति । शशवन्मन आस्कन्दम् आस्कन्द्य आस्कन्द्य दूराद् दूरमुत्प्लुत्य अर्षति गच्छति । अहिस्तद्वद्दीर्घमन्युः पुरुषः पन्थां पन्थानं सौहार्दमार्गं विसर्पति विकुर्वन् दूषयन् गच्छति ।

दयानन्दस्तु—'अरे स्त्रि, का ईं पिशङ्गिला का वारं वारं रूपावरणकारिणी, का च वारं वारं कुरुपिशङ्गिला यवाद्यन्नावयवान् गिलति, का ईं आस्कन्दमर्षति विलक्षणां गतिं गच्छति, कश्च ईं जलस्य पन्थां मार्गं विसर्पतीति समाधेहीति । तत्रोत्तरम्—अरे मनुष्याः, अजा प्रकृतिः पिशङ्गिला प्रलये प्रविलापयति, श्वावित् पशुविशेषः कुरुपिशङ्गिला कुरोः कृतस्य कृष्यादेः पिशान्यङ्गानि गिलति, शशः पशुविशेष आस्कन्दमर्षति । अहिर्मेघः पन्थां मार्गं विसर्पति विविधं गच्छतीति विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, कुरोः कृतस्येति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वाच्च । सिद्धान्ते तु सूत्रमूलकं सम्बोधनम् ॥ ५६ ॥

कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः ।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतार ऋतुशो यजन्ति ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा होता से प्रश्न करता है—इस यज्ञ के कितने अन्न हैं ? वेदवचन कितने हैं ? हवन कितने हैं ? कितने प्रकार की समिधाओं से अग्नि प्रज्वलित होती हैं ? और प्रत्येक ऋतु में कितने होता यजन करते हैं ? यज्ञ की प्रक्रिया को जानने के लिये ये प्रश्न मैंने तुमसे पूछे हैं ॥ ५७ ॥

'उत्तरौ च कत्यस्येति' (का० श्रौ० २०।७।१३) । उत्तरौ पश्चादुक्तौ ब्रह्मोद्गातारौ चतुर्ऋग्भिः संवदेते । ब्रह्मोद्गातारं प्रति पृच्छति—अस्य यज्ञस्य कति विष्ठाः ? विशेषेण तिष्ठति यासु ता विष्ठा अन्नानि, कियन्त्यन्नानीत्यर्थः । अक्षराणि च कति । होमासो होमाश्च कति कियत्संख्याकाः । कतिधा समिद्धः कति प्रकाराः समिधः । धकारस्य द्वित्वमार्षम् । यज्ञस्य विदथा वेत्तीति विदः, विदस्य भावो विदथा, यज्ञवेदितृत्वेन हेतुनाऽत्र सदसि त्वामहमपृच्छं पृच्छामि । पृच्छतेर्लङ्, अडभाव आर्षः । ऋतुश ऋतौ ऋतौ कति होतारो यजन्ति ॥ ५७ ॥

षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः ।
यज्ञस्य ते विदथा प्रब्रवीमि सप्त होतार ऋतुशो यजन्ति ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ के सभी अन्न छः रसों से युक्त हैं । वेदवचन सैकड़ों हैं । हवनों की संख्या ८० है । तीन समिधाएँ प्रमुख हैं । सात होता प्रत्येक ऋतु में यजन करते हैं । यज्ञ की प्रक्रिया को जानने के लिये यह मैंने तुम्हें बताया है ॥५८॥

उद्गाता ब्रह्माणमुत्तरयति—षडस्येति। रससंख्ययोपसञ्जिहीर्षुराह—हे ब्रह्मन्, अस्य यज्ञस्य षड् विष्ठा अन्नानि, सर्वेषामन्नानां षड्रसात्मकत्वात्। छन्दसामुद्धारेणोपसञ्जिहीर्षुराह—अस्य यज्ञस्य शतमक्षराणि। छन्दोभिर्यज्ञस्य निष्पाद्यमानत्वात् छन्दांसि च गायत्र्यादीन्यतिधृत्यन्तानि चतुर्दश चतुर्विंशत्यक्षरादीनि चतुर्वर्णान्तराणि। तेषां क्रमोत्क्रमगत्या द्वाभ्यां द्वाभ्यां शतमक्षराणि भवन्ति। तद्यथा—गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा, अतिधृतिः षट्सप्तत्यक्षरा, एवं द्वे मिलित्वा शतमक्षराणि। उष्णिग् अष्टाविंशत्यक्षरा, धृतिर्द्वासप्तत्यक्षरा, सङ्कलय्य शतम्। अनुष्टुब् द्वात्रिंशदक्षरा, अत्यष्टिरष्टषष्ट्यक्षरा, सङ्कलय्य शतम्। अष्टिश्चतुःषष्टयक्षरा, बृहती षट्त्रिंशदक्षरा, सङ्कलय्य शतम्। अतिशक्वरी षष्टयक्षरा पङ्क्तिश्चत्वारिंशदक्षरा, सङ्कलय्य शतम्। शक्वरी षट्पञ्चाशदक्षरा, त्रिष्टुप् चतुश्चत्वारिंशदक्षरा, सङ्कलय्य शतम्। अतिजगती द्वापञ्चाशदक्षरा, जगती अष्टा-चत्वारिंशदक्षरा, सङ्कलय्य शतम्। अनेनाभिप्रायेण शतमक्षराणीत्युक्तम्।

एकविंशतिरश्वमेधे यूपाः। तथा च रामायणे -'एकविंशतियूपास्ते एकविंशत्यरत्नयः। वासोभिरेक-विंशद्भिरेकैकं समलङ्कृताः॥' (वा० रा० १।१४।२५)। तत्राग्निष्ठे मध्यमयूपेऽश्वतूपरगोमृगान् नियुनक्ति। अश्वः प्रसिद्धः। तूपरः शृङ्गहीनश्छागः। गोमृगो गवयः। इतरेषु षोडशपशून्नियुनक्ति। तत्र विंशतियूपेषु चतस्रोऽशीतयः पशवो भवन्ति। तदभिप्रायमेतत्। अशीतिर्होमा इति स्फुटम्। कतिधा समिद्ध इति यदुक्तं तत्रेदमुच्यते। अश्वतूपरगोमृगाः प्राजापत्याः पशवः। तद्रूपाभिः समिद्भिर्यज्ञो दीप्त इति तिस्रः समिध उक्ताः। यज्ञस्य विदथा वेदनेन हेतुना ते तुभ्यं प्रब्रवीमि प्रवदामि। किञ्च, सप्तहोतारो वषट्कर्तार ऋतुश ऋतुयागेषु यजन्ति।

अध्यात्मपक्षे—अस्य यज्ञस्य कति विष्ठा इत्यादयः प्रश्नाः पूर्ववज्ज्ञेयाः। अस्य यज्ञस्य विष्णोः षड् विष्ठा विशिष्टाः स्थितयः षट्। त्रयो गुणा त्रयश्च तदभिमानिनः। अस्य शतमनन्तान्यक्षराणि व्यापनानि। अस्याऽशीतिर्होमाः। पञ्च विषयाः शब्दादयः, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च तेषां कर्माणि। एतानि सर्वाणि विंशतिः। अत्र प्रत्येकं सात्त्विकराजसतामसनिर्गुणभेदेन चतुर्विधं सम्भूय चाशीतयो भवन्ति। एतानि च सर्वाणि चिदग्नौ हूयन्त इति होमा अशीतयो भवन्ति। तिस्रो ह समिधो हास्य चिदग्नेरभिज्वलनसाधनभूताः प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणानि। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति सप्त होतारः। यद्वा चत्वारो वर्णास्त्रय आश्रमा इति सप्त होतार ऋतुशो यजन्ति, परमात्मानं स्वकर्मभिर्यजन्ति। 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इति श्रुतिरीत्या त्रय एवाश्रमा भवन्ति। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—प्रश्नाः पूर्ववदेव व्याख्याताः। उत्तराणि दददाह—'हे जिज्ञासवः, अस्य यज्ञस्य जगतः षड्ऋतवो विष्ठाः स्थितिसाधकाः। शतमसंख्यातानि जलादिवस्तून्यक्षराणि व्यवहारसाधकानि। अशीतिरसंख्याता होमा दानादानयोग्याः पदार्थाः। आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन तिस्रः समिधो ज्ञानादिप्रकाशिका विद्याः। पञ्च प्राणा मन आत्मा च सप्तहोतारो दानादानव्यवहर्तारः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऋतूनां हि परिवर्तनहेतुत्वं प्रसिद्धम्, न तु स्थितिसाधनत्वम्। न चाक्षशब्दस्योत्पत्तिसाधनत्वमर्थः। न चाशीतिशब्दोऽ-नन्तबोधकः, शतादीनामेव तथात्वात्। एवमन्यदप्यूह्यम्॥ ५८॥

को अ॒स्य वे॑द॒ भुव॑नस्य॒ नाभि॒ं को द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरि॑क्षम्।

कः सूर्य॑स्य वेद बृह॒तो ज॒नित्रं॒ को वे॑द च॒न्द्रम॑सं य॒तो॒जाः॥ ५९॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा पुनः प्रश्न करता है—इस ब्रह्माण्ड के कारण को कौन जानता है? द्युलोक, भूलोक और अन्त-रिक्ष लोक को कौन जानता है? महान् सूर्य के जन्म को कौन जानता है? चन्द्रमा को कौन जानता है? और ये सब जिससे उत्पन्न हुए, उसको भी कौन जानता है?॥ ५९॥

उद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति—को अस्येति। हे ब्रह्मन्, अस्य भुवनस्य भवनशीलस्य कार्यरूपस्य जगतो नाभिं नह्यते बध्यते यत्र तं नाभिं बन्धनस्थानम्, कारणमिति यावत्, तत्कारणं को वेद जानाति। 'णह बन्धने' दैवादिकः, अस्मात् 'नहो भश्च' (उ० ४।१२७) इतीञ्प्रत्यये हकारस्य भकारादेशे च रूपम्। द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च को वेद। बृहतो महतः सूर्यस्य जनित्रं जन्मकारणं को वेद, सूर्यस्योत्पत्तिः कस्मादित्यर्थः। जनेरित्रो बाहुलकात्। चन्द्रमसं व्यत्ययेन चन्द्रमसो यतोजा जन्म, जनेर्डासप्रत्ययो बाहुलकात्, इति को वेद। यद्वा यतो जायत उत्पद्यत इति यतोजाः, यत इत्युपपदे 'जनसनखनक्रमगमो विट्' (पा० सू० ३।२।६७) इति जनेर्विट्प्रत्ययः, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इति नकारस्यात्वम्। प्रथमा द्वितीयार्था। यत उत्पन्नं चन्द्रमसमिन्दुं को वेद, यतश्चन्द्रस्योत्पत्तिस्तं को जानातीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्।
वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ - इस ब्रह्माण्ड के कारण परब्रह्म को मैं जानता हूँ। द्युलोक, भूलोक और अन्तरिक्ष लोक को ब्रह्म की विभूति के रूप में मैं जानता हूँ। महान् सूर्य की उत्पत्ति के कारण ब्रह्म को मैं जानता हूँ और चन्द्रमा को भी मैं जानता हूँ। यह सब प्रपंच जिससे पैदा हुआ है, उस परमात्मा को भी मैं जानता हूँ ॥ ६० ॥

ब्रह्मा प्रत्युत्तरमाह वेदेति। अस्य भुवनस्य कार्यजातस्य नाभिं नहनं बन्धनं कारणं परं ब्रह्मेत्यहं जानामि। द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च ब्रह्मविकारत्वेन अहं वेद जानामि। बृहतः सूर्यस्य जनित्रमुत्पत्तिकारणं ब्रह्मैवेत्यहं जानामि। अथो अपि च यतोजाश्चन्द्रमसमहं वेद। परमात्मनो जातं चन्द्रमहं जानामीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'विडन्नस्य भुवनस्य नाभिं मध्यमाङ्गं बन्धनस्थानं को वेद। द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च को वेद। बृहतः सूर्यस्य जनित्रं को वेद। यतोजास्तं चन्द्रमसं च को वेदेति समाधेहि। हे जिज्ञासो, अस्य भुवनस्य नाभिं बन्धनं स्थितिकारणमहं वेद। लोकत्रयस्य कारणं सूर्याचन्द्रमसोश्चोपादाननिमित्ते एतत्सर्वमहं जानामि। ब्रह्मैवास्य सर्वस्य निमित्तं प्रकृतिश्चोपादानम्' इति, तदपि महीधराद्यनुकरणमेव। उपादानं प्रकृतिरिति तु निर्मूलमेव, 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्' (ब्र० सू० १।४।२३) इति ब्रह्मण एव प्रकृतित्वविरोधात् सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ ६० ॥

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ - यजमान का प्रश्न—पृथ्वी की अन्तिम अवधि के विषय में मैं तुमसे पूछता हूँ। ब्रह्माण्ड के कारण के विषय में, मनोरथ पूर्ण करने वाले प्रजापति की सामर्थ्य के विषय में और त्रयी वाणी के उत्तम स्थान के विषय में भी मैं तुमसे प्रश्न करता हूँ ॥ ६१ ॥

'यजमानोऽध्वर्युं पृच्छामि त्वेति' (का० श्रौ० २०।७।१४)। यजमानोऽध्वर्युं पृच्छति पृच्छामि त्वेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। हे अध्वर्यो, पृथिव्याः परम् अन्तमवधिभूतं पर्यन्तं त्वामहं पृच्छामि। द्विकर्मकोऽयं धातुः। यत्र यस्मिन् स्थले भुवनस्य भूतजातस्य नाभिर्नहनं कारणम्, तदपि त्वां पृच्छामि। वृष्णः सेक्तुरश्वस्य रेतो वीर्यं त्वां पृच्छामि। वाचो वाण्यास्त्रयीलक्षणायाः परममुत्कृष्टं व्योम व्यवनं स्थानं त्वां पृच्छामि ॥ ६१ ॥

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।

अयꣳ सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—यह उत्तरवेदी रूप गगनमण्डल देहरूप भूमि की अन्तिम सीमा है। यज्ञपुरुष सारे ब्रह्माण्ड का कारण है। सारे मनोरथों को पूर्ण करने वाली सामर्थ्य प्रजापति का वीर्य है। यह सोम और ब्रह्मा वेदवाणी के उत्तम स्थान हैं ॥ ६२ ॥

'इयं वेदिरित्यध्वर्युः' (का० श्रौ० २०।७।१५)। अध्वर्युर्यजमानमुत्तरयन् इयं वेदिरिति मन्त्रं ब्रूत इति सूत्रार्थः। इयं वेदिरुत्तरवेदिः पृथिव्याः परोऽन्तोऽवधिः, वेदेः सर्वपृथिवीरूपत्वात्। अयं यज्ञोऽश्वमेधो भुवनस्य प्राणिजातस्य नाभिः कारणम्, 'यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' (श० १।९।२।५) इति श्रुतेः। अयं सोमश्चन्द्रः सोमलता वा वृष्णः सेचनसमर्थस्याश्वस्य आदित्यात्मकस्य रेतो वीर्यम्, यस्मात् सूर्यसकाशाच्चन्द्रमसस्तेजः-प्राप्तिस्तत इत्यर्थः। अथवा सोमलताश्वस्य वीर्याज्जातेत्यर्थः। अयं ब्रह्मा ऋत्विग् वाचस्त्रयीरूपायाः परमं व्योम स्थानम्, ब्रह्मणस्त्रिवेदसंयोगादित्यर्थः। समाप्तं ब्रह्मोद्यम्।

अध्यात्मपक्षे—इयं वेदिः परमात्मस्वरूपा चितिः पृथिव्या मायाभूमेः परोऽन्तः, तत्रैव तस्या अध्यस्तत्वात्। अयं यज्ञोऽपरोक्षात्मा भिन्नो विष्णुः परमेश्वरो भुवनस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य कार्यजातस्य वा नाभिर्नहनं बन्धनस्थानं कारणम्, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते····तद्ब्रह्म' (तै० उ० ३।१)। अयं सोमश्चन्द्रमा वृष्णोऽभीष्टवर्षणशीलस्याश्वस्य प्रजापतेः परमेश्वरस्य रेतो वीर्यं बलम्, 'चन्द्रमा मनसो जातः' (वा० सं० ३१।१२) इति मन्त्रवर्णात्, तत्सङ्कल्पादेव सर्वोत्पत्तेश्च। अयं ब्रह्मा रजोऽवच्छिन्नश्चेतनो विश्वविधाता वाचो वेदलक्षणायाः परमं व्योम स्थानम्, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' (बृ० उ० २।४।१०) इति श्रुतेः। 'कः स्विदेकाकी चरति' इत्यादिब्रह्मोद्यमन्त्रेषु दयानन्देन यथेच्छं सम्बोधनानि कल्पितानि। उव्वट-सायण-महीधराचार्यैस्तु शतपथानुसारेणैव सम्बोधनमुपात्तम्।

अत्र दयानन्दः—'हे विद्वन्, अहं पृथिव्या अन्तं सीमानं भुवनस्य नाभिं मध्याकर्षणेन बन्धकं वृष्णोऽश्वस्य बलवतो रेतः पृच्छामि। वाचः परमं प्रकृष्टं व्योम आकाशरूपं स्थानं पृच्छामि। तदुत्तरम्—हे जिज्ञासो, इयं वेदिर्मध्यरेखा पृथिव्याः परोऽन्तः। अयं यज्ञः पूज्यो जगदीश्वरो भुवनस्य संसारस्य नाभिः। अयं सोम ओषधिराजो वृष्णो वीर्यकरस्य अश्वस्य बलेन युक्तस्य रेतः पराक्रमः। ब्रह्मा चतुर्वेदविद् वाचः परमं व्योमास्ति' इति, तदप्यसङ्गतम्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। वेदिपदस्य मध्यरेखार्थत्वे मानाभावात्। तथैव नाभिपदस्य मध्याकर्षणार्थतापि निर्मूलैव। सोमः पराक्रम इत्यप्यनर्थः, पराक्रमस्य पुरुषधर्मत्वात्, सोमस्य बाह्यत्वाच्च ॥६२॥

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे। दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—अध्वर्यु सुवर्णमय पात्र में महिम ग्रह को ग्रहण कर कहता है—यह बात प्रसिद्ध है कि सबके आदि-कारण, विश्व के उत्पादक, अपनी इच्छा से प्रकट होने वाले परमात्मा ने महान् विस्तार वाले कल्पान्त काल के सागर में ब्रह्माण्ड रूप गर्भ को स्थापित किया था। इसी से प्रजापति ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई थी ॥ ६३ ॥

सुभूरिति पूर्वस्य प्राजापत्यस्य महिम्नो ग्रहस्य पुरोऽनुवाक्या उत्तरस्य याज्या च, 'उदिते ब्रह्मोद्ये प्रपद्याध्वर्युर्हिरण्मयेन पात्रेण प्राजापत्यं महिमानं ग्रहं गृह्णाति तस्य पुरोरुग्घिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इत्यथास्य पुरोऽनुवाक्या सुभूः स्वयम्भूः प्रथम इति होता यक्षत् प्रजापतिमिति प्रैषः प्रजापते न त्वदेतान्यन्य इति होता

यजति वषट्कृते जुहोति यस्तेऽहन् संवत्सरे महिमा सम्बभूवेति नानुवषट्करोति सर्वहुतꣳ हि जुहोति' (श० १३।५।२।२३) इति श्रुतेः। प्रजापतिदेवत्याऽनुष्टुप्। प्रथमः सर्वस्य आदिरनादिनिधनः सुभूः सुष्ठु भवतीति सुभूः साधुभवनः, अथवा भवनं भूरुत्पत्तिः, सुष्ठु सर्वेषां भूरुत्पत्तिर्यस्मात् स सुभूर्विश्वोत्पादकः। स्वयम्भूः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः स्वेच्छया धृतविग्रहः, पुरुषो हिरण्यगर्भो महत्यर्णवे कल्पान्तकालिके समुद्रेऽन्तर्मध्ये गर्भं दधे स्थापितवान्। ह इति प्रसिद्धौ। कीदृशं गर्भम्? ऋत्वियम्, ऋतुः प्राप्तो यस्य स ऋत्वियः, तं प्राप्तकालम्। 'छन्दसि घस्' (पा० सू० ५।१।१०६) इति घस्। यतो गर्भात् प्रजापतिर्ब्रह्मा जात उत्पन्नः।

अत्र ब्राह्मणम्—'शृतासु वपासु। स्वाहाकृतिभिश्चरित्वा प्रत्यञ्चः प्रतिपरेत्य सदसि ब्रह्मोद्यं वदन्ति पूर्वया द्वारा प्रपद्य यथाधिष्ण्यं व्युपविशन्ति' (श० १३।५।२।११)। 'स होताध्वर्युं पृच्छति। कः स्विदेकाकी चरतीति तं प्रत्याह सूर्य एकाकी चरतीति' (श० १३।५।२।१२)। 'अथाध्वर्युर्होतारं पृच्छति। किꣳ स्वित् सूर्यसमं ज्योतिरिति तं प्रत्याह ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिरिति' (श० १३।५।२।१३)। 'अथ ब्रह्मोद्गातारं पृच्छति। पृच्छामि त्वा चितये देवसखेति तं प्रत्याहापि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मीति' (श० १३।५।२।१४)। 'अथोद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति। केष्वन्तः पुरुष आविवेशेति तं प्रत्याह पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेशेति' (श० १३।५।२।१५)। 'एतस्यामुक्तायामुत्थाय। सदसोऽधि प्राञ्चो यजमानमभ्यायन्त्यग्रेण हविर्धाने आसीनमेत्य यथायतनं पर्युपविशन्ति' (श० १३।५।२।१६)। 'स होताध्वर्युं पृच्छति। का स्विदासीत् पूर्वचित्तिरिति तं प्रत्याह द्यौरासीत् पूर्वचित्तिरिति' (श० १३।५।२।१७)। 'अथाध्वर्युर्होतारं पृच्छति। का ईमरे पिशङ्गिलेति तं प्रत्याहाऽजारे पिशङ्गिलेति' (श० १३।५।२।१८)। 'अथ ब्रह्मोद्गातारं पृच्छति। कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणीति तं प्रत्याह षडस्य विष्ठाः शतमक्षराणीति' (श० १३।५।२।१९)। 'अथोद्गाता ब्रह्माणं पृच्छति। को अस्य वेद भुवनस्य नाभिमिति तं प्रत्याह वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिमिति' (श० १३।५।२।२०)। 'अथाध्वर्युं यजमानः पृच्छति। पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्या इति तं प्रत्याहेयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या इति' (श० १३।५।२।२१)। 'सर्वाप्तिर्वा एषा वाचः। यद् ब्रह्मोद्यꣳ सर्वे कामा अश्वमेधे सर्वया वाचा सर्वान् कामानाप्नवामेति' (श० १३।५।२।२२)। एवं श्रुतीराधृत्य उव्वटसायणादिव्याख्यानम्। तस्मात् सायणाद्याचार्यव्याख्यानमेव सर्वतो विजयतेतमाम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे जिज्ञासो, यतः प्रजापतिर्जातः, यश्च सुभूः स्वयम्भूः प्रथमो जगदीश्वरो महत्यर्णवेऽन्तऋत्वियं गर्भं दधे तं ह सर्वे जना उपासीरन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। सुभूःस्वयम्भूरित्यनयोरन्यतरेणैव गतार्थत्वेनान्यतरस्य वैयर्थ्यापत्तेः। न च निराकारस्य निरवयवस्य बीजधारणं सम्भवति। सिद्धान्ते तु हिरण्यगर्भस्य सङ्कल्पवशात् सर्वं सम्भवति विनश्यति चेति नानुपपत्तिः। न च त्वन्मते सङ्कल्पोऽपि सम्भवति, तद्धेतोरात्ममनःसंयोगस्याभावात्। न च संयोगोऽपि सम्भवति, तद्धेतोरभावात्॥ ६३॥

होता॑ यक्षत् प्र॒जाप॑ति॒ꣳ सोम॑स्य महि॒म्नः। जु॒षतां॒ पिब॑तु॒ सोम॒ꣳ होत॒र्यज॑ ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—होता ने महान् सोम सम्बन्धी प्रजापति का यजन किया था। पूजित प्रजापति ने सोम का सेवन किया था। हे मनुष्य होता! तुम भी यजन करो और सोम का पान करो॥ ६४॥

महिम्नः प्रैषः, 'होता यक्षत् प्रजापतिमिति प्रैषः' (श० १३।५।२।२३) इति श्रुतेः। आर्षी गायत्री। महिम्नो महिमसंज्ञकस्य सोमग्रहस्य सम्बन्धिनं प्रजापतिं दैव्यो होता यक्षद् यजतु। इज्यमानः स प्रजापतिर्जुषतां सोमं महिमग्रहं च प्रीत्या परिगृह्णातु पिबतु च। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता प्रजापतिं परमात्मानं यक्षद् यजतु। इज्यमानः स देवः सोमपूर्णं महिमग्रहं प्रीत्या सेवतां पिबतु च। हे मनुष्यहोतः, दैवहोतृवत् त्वमपि परमात्मानं प्रजापतिं यज।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता सोमस्य महिम्नः प्रजापतिं यक्षतु जुषतां च सोमं च पिबतु, तथा त्वं यज पिब च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शतपथब्राह्मणविरोधात्। तत्र महिमाख्यो ग्रहो महिमपदार्थो व्याख्यातः, न महत्त्वमिति॥ ६४॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६५॥

॥ इति त्रयोविंशोऽध्यायः॥

मन्त्रार्थ—हे प्रजापते! प्रजापालन आदि कार्यों में तुमसे अधिक निपुण कोई नहीं है, अतः तुम ही हमारी प्रार्थना पूरी कर सकते हो। हे देव! हम जिस कामना से हवन करें, वह सफल हो। आपकी कृपा से हम अपरिमित धन के स्वामी बनें॥ ६५॥

पूर्वस्य महिम्नो याज्या, 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्य इति होता यजति' (श० १३।५।२।२३) इति श्रुतेः। हे प्रजापते, त्वत् त्वत्तोऽन्यो देवताविशेषः, तान्येतानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाणि नानाजातीयानि वर्तमान-भूतभविष्यत्कालत्रयविषयाणि न परिबभूव परिभवितुं नाशयितुं समर्थो नाभूत्। परिभवः सृष्टेरप्युपलक्षकम्। त्वदन्यो देव एतानि स्रष्टुं पालयितुं चाप्यसमर्थः, अतो वयं यत्कामास्ते जुहुमस्तत्कामरूपं नोऽस्मासु सुभृशं स्यात्। वयं रयीणां पतयः स्याम। इयमृग् विशेषतो दशमेऽध्याये २० कण्डिकायां व्याख्याता॥ ६५॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनसंहिताया वेदार्थपारिजातभाष्ये त्रयोविंशोऽध्यायः॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे पुरस्तात् सारस्वती मेष्यधस्ताद्धन्वोराश्विनावधोरामौ बाह्वोः सौमापौष्णः श्यामो नाभ्याᳯं सौर्ययामौ श्वेतश्च कृष्णश्च पार्श्वयोस्त्वाष्ट्रौ लोमशसक्थौ सक्थ्योर्वायव्यः श्वेतः पुच्छ इन्द्राय स्वपस्याय वेहद्वैष्णवो वामनः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ – अश्वमेध में २१ यूप (यज्ञस्तम्भ) होते हैं। उनमें मध्यम यूप का नाम अग्निष्ठ है। उसके समीप सत्रह पशुओं को बाँधकर उनके अधिष्ठात्री देवताओं का स्मरण तथा उन देवताओं के गुणों और चिह्नों का वर्णन किया जाता है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है –अश्व, श्रृंगोत्पत्ति के समय भी श्रृंगहीन पशु और गवय ये तीनों प्रजापति देवता वाले हैं। इनको प्रजापति की प्रीति के निमित्त बाँधता हूँ। अग्नि देवता वाले काली गर्दन के अज को अश्व के आगे ललाट के पास बाँधे, हनु के नीचे सरस्वती देवता वाली मेषी को बाँधे, अधोभाग में अश्विनीकुमार देवता वाली शुक्ल वर्ण की दो अजाओं को अश्व की बाहुओं के निकट बाँधे, सोम और पूषा देवता वाले शुक्ल और कृष्ण रोम वाले अज को नाभि के समीप बाँधे, सूर्य और यम देवता वाले श्वेत और काले पशुओं को अश्व के दोनों ओर बाँधे, बहुत रोम वाले पूँछ वाले त्वष्टा देवता के पशु को जाँघों के समीप बाँधे, वायु देवता वाले श्वेत वर्ण पशु को पूँछ के पास बाँधे, शु॰ कर्मा इन्द्र के निमित्त गर्भघाती विष्णुसम्बन्धी नाटे पशु को बाँधे ॥ १ ॥

श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां देवतासम्बन्धविधायिनोऽनेनाध्यायेनोच्यन्ते। तत्राश्वमेधे एकविंशतिर्यूपाः। तत्र मध्यमो यूपोऽग्निष्ठनाम्ना प्रसिद्धः। तत्र सप्तदश पशवो नियुज्यन्ते। देवतासम्बन्धकथनपूर्वकं तानाह—अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्या इति। अश्वः प्रसिद्धः, तूपरः शृङ्गोत्पत्तिकालेऽतीतेऽपि शृङ्गहीनो योऽजः स तूपरः, गोमृगो गवयः—त एते प्राजापत्याः प्रजापतिर्देवता येषां ते, अर्थात् प्रजापतिदेवताकाः। ततः प्रजापतये जुष्टं नियुनज्मीति मन्त्रेण ते पशवस्तत्र यूपे बन्धनीयाः। एवमग्रेऽपि यो यद्देवत्यः पशुः स अमुष्मै जुष्टं नियुनज्मीत्यादिमन्त्रैर्बन्धनीयः।

अत्र सर्वत्र पशुविधिषु यत्र यो जातिविशेषबोधकः शब्दस्तत्र तज्जातीय एव पशुः, विशेषश्रवणाभावे तु अज एव पशुः। कृष्णग्रीवः, कृष्णा ग्रीवा यस्यासौ। आग्नेयोऽग्निदेवत्यः, रराटे ललाटे। छान्दसो रेफः। पुरस्ताद् अश्वस्य पुरस्तात्, ललाट इति यावत्। तत्रोपनये बन्धनीयः। सारस्वती सरस्वत्या इयं सारस्वती सरस्वतीदेवत्या मेषी हन्वोरश्वहनुप्रदेशयोरधस्तान्नियोज्या। आश्विनौ अश्विदेवत्यौ, अधोरामौ अधः कायस्य अधोभागः, रामो रमणीयः शुक्लवर्णो ययोस्तौ, एवंभूतावजौ बाह्वोरश्वस्य पूर्वपादयोरेकैको बन्धनीयः। सौमापौष्णः, सोमश्च पूषा च सोमपूषणौ, तौ देवते यस्य स सौमापौष्णः सोमपूषदेवत्यः श्यामः कृष्णरोमाऽजः, अश्वस्य नाभ्यां नाभिप्रदेशस्याधस्तान्नियोक्तव्यः। सौर्ययामौ, सूर्यो देवता यस्यासौ सौर्यः, यमो देवता यस्यासौ यामः, सौर्यश्च यामश्च सौर्ययामौ, श्वेतश्च कृष्णश्च तौ सौर्ययामौ यथाक्रमं श्वेतवर्णः कृष्णवर्णश्च भवतः। तौ कुत्र बन्धनीयावित्याह –पार्श्वयोरिति। अर्थात् श्वेतः सूर्यदेवत्यो दक्षिणपार्श्वे, यमदेवत्यः कृष्णोऽश्वस्य वामपार्श्वे। लोमशसक्थौ लोमानि सन्ति ययोस्ते लोमशे, 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः' (पा॰ सू॰

५।२।१००) इति शः। लोमशे लोमबहुले सक्थिनी ऊरुमूले ययोस्तौ लोमशसक्थौ। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (पा० सू० ५।४।११३) इति षचि साधुः। तौ पशू त्वाष्ट्रौ त्वष्टृदेवत्यौ बहुरोमपुच्छकौ सक्थ्योः अश्वस्य पश्चात्पदयोरेकैको नियोजनीयः। वायव्यो वायुदेवत्यः श्वेतः पशुः पुच्छेऽश्वस्य पुच्छे बन्धनीयः। स्वपस्याय इन्द्राय, 'अप इति कर्मनामसु' (निघ० २।१।१), अपसि कर्मणि साधु अपस्यं धनम्, शोभनमपस्यं यस्य स स्वपस्यः, तस्मै इन्द्राय वेहद् गर्भघातिनी। वामनः, वामयतीति वामनः, नन्दादित्वाल्ल्युः। अथवा वाममतिसुन्दरमस्त्यस्येति वामनः, पामादित्वान्नः। खर्वावयवः पशुर्वैष्णवो विष्णुदेवत्यः, स च पुच्छ एव बन्धनीयः, अङ्गान्तरानुक्तेः।

एवमश्वादयः सङ्कलय्य पञ्चदश पशवो भवन्ति। एते पर्यङ्ग्या उच्यन्ते। परितोऽङ्गेषु भवा पर्यङ्ग्याः, कृष्णग्रीवा इत्यादयः। अत्र अश्वस्य शरीरं तुम्बीफलवद्रज्जुं बद्ध्वा गुम्फनीयम्। ततः कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे इत्यादयोऽश्वस्य शरीरे यथोक्तस्थाने सम्बद्धायां रज्ज्वां बन्धनीयाः। ततोऽग्रिमायां कण्डिकायां श्रुता रोहितः, धूम्ररोहितः, कर्कन्धुरोहित इत्यादयः; शितिबाहुः, अन्यतःशितिबाहुः, समन्तशितिबाहुः, ते बार्हस्पत्या इत्यन्ता द्वादशपशवो मध्यम एव यूपे नियोज्याः। ततः पृषती क्षुद्रपृषतीत्यादीनां श्वेताः सौर्या इत्यन्तानामेकोनविंशीं कण्डिकां यावत्पठितानां शतत्रयसंख्याकानां पशूनां मध्ये पञ्चदश पञ्चदश पशून् नियुञ्ज्यात्। एवं मध्यमं यूपं विहाय इतरेषु यूपेषु पञ्चदश पञ्चदश एते पशवः, एकैकश्च एकादशिन इति षोडश षोडश पशवो भवन्ति। तथा चाह श्रुतिः—'सप्तदशैव पशून् मध्यमे यूप आलभेत। प्रजापतिः सप्तदशः सर्वᳪ सप्तदशः सर्वमश्वमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्यै षोडश षोडशेतरेषु षोडशकलं वा इदं सर्वम्' (श० १३।५।१।१५)।

अध्यात्मपक्षे अत्र भगवतः सार्वात्म्यबोधनाय तत्तद्देवताकानां पशूनां तत्तद्देवतानां च हिरण्यगर्भप्रजापतिसम्बन्धः, प्रजापतेश्च सर्वाधिष्ठानभूतेन परमात्मनाऽभेदबोधनात् तस्य सर्वात्मता व्यज्यते। अश्वस्तूपरो गोमृगश्चैते पशवः प्राजापत्याः। प्रजापतिश्च परमात्मैव, परमात्मकार्यत्वात्। मृद्विकाराणामिव मृत्तिकारूपवदिति। मन्त्रव्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यूयमश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णग्रीव आग्नेयस्ते पुरस्ताद् रराटे मेषी सारस्वतोऽधस्ताद् हन्वोर्बाह्वोरधोरामौ आश्विनौ सौमापौष्णः श्यामो नाभ्यां पार्श्वयोः श्वेतश्च कृष्णश्च सौर्ययामौ सक्थ्यौ लोमशसक्थ्यौ त्वाष्ट्रौ पुच्छे श्वेतो वायव्यो वेहद् वैष्णवो वामनश्च स्वपस्यायेन्द्राय संयोजयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रार्थानवगमात्, असङ्गतेश्च। यथा कश्चिदमरकोशश्लोकैश्चिकित्सां साधयेत्, तत्तु बलात्कारितमेवेति, तद्वत्। अश्वादिषु सूर्यदेवतागुणाः कथं सिद्ध्यन्ति? किञ्च तैः कर्तव्यमित्याद्यनुक्तेः। कृष्णग्रीवस्य कथमग्निदेवताकत्वम्? कथं च तस्य ललाटनिमित्तत्वमिति? हन्वोरधस्तात् सरस्वती देवता का? मेषी कथं किमर्थं च कर्तव्येत्यादिकं सर्वं दुःसमाधेयमेव ॥ १ ॥

रोहि॑तो धू॒म्ररो॑हितः कर्क॒न्धुरो॑हित॒स्ते सौ॒म्या ब॒भ्रुर॑रु॒णब॑भ्रुः शुक॑बभ्रु॒स्ते वा॑रु॒णाः शि॑ति॒रन्ध्रो॒ऽन्यत॑ः शितिर॒न्ध्रः स॒म॒न्तशि॑तिरन्ध्र॒स्ते सा॑वि॒त्राः शि॑ति॒बा॒हुर॒न्यत॑ः शितिबा॒हुः स॒मन्तशि॑तिबाहु॒स्ते बा॑र्हस्प॒त्याः पृष॑ती क्षु॒द्रपृ॑षती स्थू॒लपृ॑षती॒ ता मै॑त्रावरु॒ण्य॑ः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वरक्त, धूम्र वर्ण से मिला रक्त और बेर के समान रक्त—ये तीनों वर्णों के पशु सोम देवता वाले हैं। नेवले के समान भूरे वर्ण के, लाल भूरे रंग के और तोते के समान हरे और कपिल वर्ण के - ये सब पशु वरुण देवता के हैं। मर्मस्थान में श्वेत वर्ण और अन्य स्थानों में श्वेत रंध्र वाले तथा सब ओर से श्वेत रन्ध्र वाले—ये सब

पशु सविता देवता वाले हैं। श्वेत पूर्व पद वाले, एक स्थान में श्वेत पूर्व पद वाले और सब श्वेत चरण वाले—ये सब पशु बृहस्पति देवता के हैं। विचित्र वर्ण चित्ती के शरीर वाले, सूक्ष्म विचित्र चित्ती वाले और स्थूल विचित्र चित्ती वाले—ये तीनों पशु मित्रावरुण देवता से सम्बन्ध रखने वाले हैं ॥ २ ॥

रोहितः सर्वरक्तः, धूम्ररोहितो धूम्रवर्णमिश्रो रक्तः, कर्कन्धुरोहितो बदरसदृशरक्तः -इत्येते त्रयः सौम्याः सोमदेवत्याः पशवः सोमाय जुष्टं नियुनज्मीत्यादिमन्त्रेण प्रत्येकं सोमदेवतायै मध्यमे यूप एव नियोज्याः। बभ्रुः कपिलवर्णः। अरुणबभ्रुररुणवर्णमिश्रः कपिलः, कैर इति भाषायाम्, शुकबभ्रुः शुकपक्षिसमवर्णः कपिलश्च, ते त्रयो वारुणा वरुणदेवत्या मध्यमयूप एव नियोज्याः। श्वेतबभ्र्वादिगुणवाचिनोऽपि शब्दास्तदभिधानद्वारेण गुणिनि पशौ पर्यवस्यन्ति। शितिरन्ध्रः शिति कृष्णं रन्ध्रं छिद्रं (छिद्रमिव दृश्यते) यस्मिन् पशौ स शितिरन्ध्रः, अन्यतः शितिरन्ध्रोऽन्यत एकपार्श्वे शितिरन्ध्रं यस्य सः, समन्तशितिरन्ध्रः समन्तं सर्वतः शितिरन्ध्रं यस्य स समन्तशितिरन्ध्रः, स्वभावतः शुक्लवर्णे पशौ-सर्वस्मिन् गात्रे रन्ध्रसमाः कृष्णबिन्दवो यस्यासौ समन्तशितिरन्ध्रः। ते त्रयः सावित्राः सवितृदेवत्याः पशवो मध्यमयूप एव नियोज्याः। शितिबाहुः शिती श्वेतौ बाहू पूर्वपादौ यस्य सः शितिबाहुः, अन्यतः शितिबाहुरेकस्मिन्नेव पार्श्वे शितिपादः, समन्तशितिबाहुः सर्वः श्वेतबाहुः 'शिती धवलमेचकौ' (अ० को० ३।३।८३) इति कोषात्, त एते त्रयः पशवो बार्हस्पत्या बृहस्पतिदेवत्याः। एतेऽपि मध्यम एव यूपे नियोज्याः। पृषती पृषन्ति विचित्रवर्णबिन्दवो यस्यां सा, क्षुद्रपृषती क्षुद्राणि सूक्ष्माणि पृषन्ति बिन्दवो यस्यां सा, स्थूलपृषती स्थूलविचित्रबिन्दुयुक्ता, ता एताः स्त्रीपशवो मैत्रावरुण्यो मित्रावरुणदेवत्या द्वितीये यूपे नियोज्याः। एवं पञ्चदशपशुके एको गणो मतः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वे चैते पशवो यस्यै यस्यै देवतायै नियुज्यन्ते, सा सा परमात्मरूपैव।

दयानन्दस्तु —'ये चन्द्रादिगुणयुक्ताः पशवः सन्ति, तैस्तत्तत्कार्यं मनुष्यैः साध्यमिति भावार्थः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्, केन किं कार्यं साध्यमित्यनुक्तेश्च, सौम्याः सावित्रा वारुणा इत्यादिभिर्बोधितदेवता-सम्बन्धाभिप्रायानुक्तेश्च। नहि बृहस्पत्यादयो देवताः पशूनां गुणाः सम्भवन्ति, तथात्वे मानाभावात् ॥ २ ॥

शुद्धवालः सर्वशुद्धवालो मणिवालस्त आश्विनाः श्येतः श्येताक्षोऽरुणस्ते रुद्राय पशुपतये कर्णा यामा अवलिप्ता रौद्रा नभोरूपाः पार्जन्याः ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—शुद्ध केश वाले, सर्वशुद्ध केश वाले और मणि के समान स्वच्छ केश वाले—ये तीनों पशु अश्विनी-कुमार देवता वाले हैं। श्वेत, श्वेतनेत्र और लाल वर्ण के पशु पशुसमाज के, कर्मबद्ध जीवों के स्वामी रुद्रदेव की प्रीति के निमित्त नियुक्त किये गये हैं। चन्द्रमा के समान श्वेत कान वाले तीन पशु यम देवता के, गर्वीले तीन पशु रुद्र देवता के और आकाश के समान नील वर्ण वाले तीन पशु पर्जन्य देवता के माने जाते हैं ॥ ३ ॥

गणान्तरमाह—शुद्धवाल इति। शुद्धवालः शुद्धो वालः केशो यस्य स शुभ्रवालः। सर्वशुद्धवालः सर्वतः शुद्धो वालो यस्य सः, मणिवालो मणिभिरलङ्कृत इव वालो यस्य सः। एवंविधा ये पशवस्ते आश्विना अश्वि-देवत्याः। एते द्वितीये यूपे नियोज्याः। श्वेतः श्वेतवर्णः पशुः, श्येताक्षः श्येते शुक्लवर्णे अक्षिणी यस्य सः। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (पा० सू० ५।४।११३) इति साधुः। अरुणो रक्तः, अव्यक्तराग इति सायणाचार्यः। य एवंरूपाः पशवस्ते पशुपतये रुद्राय पशुपालनविशिष्टरुद्रदेवतायै नियोक्तव्याः। एतेऽपि द्वितीये यूपे नियोज्याः। कर्णाश्चन्द्रसदृशश्वेतकर्णास्त्रयः पशवः, 'कर्णश्चन्द्रे च वृक्षे च' इति विश्वकोषोक्तिरीत्यार्थो ज्ञेयः। अत्र यद्यपि त्रित्वसंख्या पशुविशेषणतया नोपात्ता, तथापि 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' इति वाक्यं विषयीकृत्य विचारपरे

कपिञ्जलाधिकरणे बहुवचनस्य त्रित्वे पर्यवसानस्य मीमांसायां सिद्धान्तितत्वाद् बहुवचनोपपत्तये त्रित्वसंख्या पशुविशेषणतया योजनीया। त एते पशवो यामा यमदेवत्या द्वितीये यूपे नियोज्याः। अवलिप्ताः सगर्वास्त्रयः पशवो रौद्रा रुद्रदेवत्याः, एते द्वितीये यूपे पञ्चदश पशवः। अथ तृतीये यूपे नभोरूपा आकाशवन्नीलवर्णास्त्रयः पशवः पार्जन्याः पर्जन्यदेवत्यास्तृतीये यूपे नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे - सर्वे चैते पशवस्तैर्यजनीया देवताश्च ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपा ज्ञातव्याः।

दयानन्दस्तु पूर्ववदेवमर्थमाह—'यो यस्य पशोर्देवतास्ति, स तस्य गुणोऽस्तीति वेद्यमिति भावार्थे विशेषः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्, पशुषु यमरुद्रपर्जन्यगुणानामदर्शनाच्च ॥ ३ ॥

पृश्निस्तिरश्चीनपृश्निरूर्ध्वपृश्निस्ते मारुताः फल्गूर्लोहितोर्णी पलक्षी ताः सारस्वत्यः प्लीहाकर्णः शुण्ठाकर्णोऽद्ध्यालोहकर्णस्ते त्वाष्ट्राः कृष्णग्रीवः शितिकक्षोऽञ्जिसक्थस्त ऐन्द्राग्नाः कृष्णाञ्जिरल्पाञ्जिर्महाञ्जिस्त उषस्याः ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ - चित्र वर्ण, तिरछी रेखा वाले और ऊपर नीचे लम्बी रेखा वाले तीन पशु मरुद् देवता के, अपुष्ट शरीर, लोहित रोम वाले और श्वेत वर्ण के तीन पशु सरस्वती देवता के, कान पर प्लीहा रोग वाले अथवा लम्बे कान वाले, छोटे-छोटे कान वाले और रक्तवर्ण कान वाले पशु त्वष्टा देवता के, ग्रीवा में कृष्ण वर्ण रोम वाले, बगल में श्वेत वर्ण रोम वाले और जंघा पर रेखाक्रम के रोम वाले त्रिविध पशु इन्द्र और अग्नि देवताओं के, शरीर पर काली रेखा वाले, देह पर दो चार रेखा वाले और पूरे शरीर पर बड़ी-बड़ी रेखा वाले त्रिविध पशु उषा देवता के माने जाते हैं ॥ ४ ॥

पृश्निर्विचित्रवर्णः, तिरश्चीनपृश्निस्तिरश्चीनानि पृश्नीनि बिन्दवो यस्य सः, ऊर्ध्वपृश्निरूर्ध्वानि पृश्नीनि यस्य सः, एवं विविधबिन्दूपेतः, तिरश्चीनबिन्दुः, ऊर्ध्वबिन्दुश्चैते त्रयो मारुता मरुद्देवत्याः। एते तृतीये यूपे नियोज्याः। पृश्निरल्पतनुः, तिरश्चीनपृश्निस्तिर्यक्प्रमाणेनाल्पशरीरः, ऊर्ध्वपृश्निरूर्ध्वप्रमाणेन आयामेन अल्पाकार इति सायणाचार्यः। फल्गूरपुष्टशरीरा, सम्पुष्टशरीरेति सायणः। विश्वकोषे फल्गुशब्दस्योभयार्थकत्वम्। लोहितोर्णी रक्तरोमयुक्ता, पलक्षी श्वेता, पलक्षशब्दो वलक्षार्थः श्वेतपर्यायः। एतास्तिस्रोऽजाः सारस्वत्यः सरस्वतीदेवताकाः। एतेऽपि पशवस्तृतीये यूपे नियोज्याः। प्लीहाकर्णः प्लीहा वामकुक्षिवर्तिमांसपिण्डविशेषः, तथाप्यत्र रोगविशेषः, प्लीहा कर्णे यस्य स प्लीहाकर्णः, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। शुण्ठाकर्णः शुण्ठौ ह्रस्वौ कर्णौ यस्य सः शुण्ठाकर्णः, पूर्ववद्दीर्घः। अद्ध्यालोहकर्णो रक्तवर्णकर्णः। ते त्रयस्त्वाष्ट्रास्त्वष्टृदेवत्यास्तृतीये यूपे नियोज्याः। कृष्णग्रीवः, शितिकक्षः श्वेतकक्षः, अञ्जिसक्थोऽञ्जि पुण्ड्रं सक्थ्नोरूर्वोर्यस्य सः, अभिव्यक्तोरुरिति सायणाचार्यः, ते त्रय ऐन्द्राग्ना इन्द्राग्निदेवत्या इति पञ्चदशसंख्याकाः पशवस्तृतीये यूपे नियोज्याः। अथ चतुर्थे यूपे कृष्णाञ्जिः कृष्णमञ्जि पुण्ड्रं यस्य सः, अल्पाञ्जिरल्पमञ्जि यस्य सः, महाञ्जिर्महद् अञ्जि यस्य सः, कृष्णाञ्जिः कृष्णवर्णाभिव्यक्तिमान्, अल्पाञ्जिरीषदभिव्यक्तिमान्, महाञ्जिर्महापुंस्त्वाभिव्यक्तिमानिति सायणाचार्यः। त एते त्रय उषस्या उषोदेवत्याश्चतुर्थे यूपे नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे—एते पशवस्तैर्यष्टव्या देवताश्च ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपा ज्ञातव्याः।

दयानन्दस्तु—'पृश्निः प्रष्टव्यः, तिरश्चीनः पृश्निः स्पर्शो यस्य सः' इति, एतच्च निर्मूलमेव, प्रमाणशून्यत्वात्। या फलानि गच्छति प्राप्नोति सा फल्गुरिति, तदपि न, रूढ्या योगापहारात्। पलक्षी पले चञ्चले अक्षिणी यस्या सा पलक्षीत्यपि न, वलक्षशब्दस्य श्वेतार्थे रूढत्वात्, 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इत्यमरात्। शुण्ठ

शुष्कौ कर्णौ यस्य स शुण्ठाकर्ण इत्यपि निर्मूलम्, ह्रस्वार्थतायां शुण्ठशब्दप्रसिद्धेः। प्लीहेव कर्णे यस्येत्यपि निर्मूलम्, प्लीहशब्दस्य वामकुक्षिवर्तिमांसपिण्डविशेषे रूढत्वात्। रोगस्तु तत्र विकारः। न च कर्णे प्लीहा भवति, तस्माद् रोगविशेष एव प्लीहेति मन्तव्यम्। 'अधिगतं च तल्लोहं च सुवर्णं च तद्वद्वर्णो यस्य सः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशपश्वप्रसिद्धेः। कृष्णा विलिखिता अञ्जिर्गतिर्यस्येत्यादिकमपि यत्किञ्चित्, गतेर्विलेखनस्याप्रसिद्धत्वात्। 'ये पशवः पक्षिणश्च वायुगुणा ये नदीगुणा ये सूर्यगुणा ये वायुविद्युद्गुणा ये चोषोगुणाः सन्ति, तैस्तदनुकूलानि कार्याणि साधनीयानीति भावार्थः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथाविधानां पशूनां तदनुकूलानां कार्याणां चानिरूपणात्। नहि विद्युत्कार्यं दहनप्रकाशादिकं पशुभिः सम्पादयितुं शक्यम्, तथाऽदर्शनात् ॥ ४ ॥

शि॒ल्पा वै॑श्वदे॒व्यो॒ रोहि॑ण्यस्त्र्यव॒यो वा॒चेऽवि॑ज्ञाता॒ अदि॑त्यै॒ सरू॑पा धा॒त्रे व॑त्सत॒र्यो॒ दे॒वाना॒ं पत्नी॑भ्यः ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—विचित्र वर्ण के पशु विश्वेदेव देवताओं के, रक्त वर्ण डेढ़ वर्ष की अवस्था वाले पशु वाक् देवता के, उपर्युक्त लक्षणों से न पहचाने जा सकने वाले पशु अदिति देवता के, इकरंगे पशु धात्री देवता के और कम उम्र की छागी देवपत्नियों की प्रीति के निमित्त नियुक्त हैं ॥ ५ ॥

शिल्पा विचित्रवर्णाः स्त्रीपशवो वैश्वदेव्यो विश्वेदेवदेवत्या विश्वेदेवा देवता यासां तास्तिस्रश्चतुर्थे यूपे नियोज्याः। रोहिण्यो रक्तवर्णाः, त्र्यवयः सार्धसंवत्सरायुष्मत्यस्तिस्रोऽवयो वाचे वाग्देवतायै चतुर्थे यूपे, नियोक्तव्या इति शेषः। अविज्ञाताः कृष्णग्रीवादिचिह्नविशेषविज्ञानशून्यास्त्रयः पशवोऽदित्यै अदितिदेवतायै चतुर्थे यूपे नियोज्याः। सरूपाः समानरूपास्त्रयः पशवो धात्रे धातृदेवतायै चतुर्थे यूपे नियोज्याः। एवं पञ्चदश पशवः सम्पन्नाः। अथ पञ्चमे यूपे वत्सतर्यो बालछाग्यः, उपरतस्तनपाना इत्यर्थः। तास्तिस्रो देवानां पत्नीभ्यो देवपत्नीदेवत्याः पञ्चमे यूपे नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिर्याः शिल्पा वैश्वदेव्यो वाचे रोहिण्यस्त्र्यवयोऽदित्या अविज्ञाता धात्रे सरूपा देवानां पत्नीभ्यो वत्सतर्यश्च ता विज्ञेयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सुस्पष्टं महीधराद्युक्तमर्थमपहाय सुदृढबद्धद्वेषतया निरर्थकप्रलापमात्रत्वात्। सुरूपाः शिल्पकार्यसाधिका आरोढुमर्हाश्च काः? किञ्च ताभिः कर्तव्यमित्यादेरस्पष्टत्वात् ॥ ५ ॥

कृ॒ष्णग्री॑वा आग्ने॒याः शि॑ति॒भ्रवो॒ वसू॑ना॒ꣳ रोहि॑ता रु॒द्राणा॒ꣳ श्वे॒ता अ॑व॒रोकिण॑ आदि॒त्याना॒ं नभो॑रूपाः पार्ज॒न्याः ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—काली ग्रीवा वाले तीन पशुओं का देवता अग्नि है, तीन भौं वाले तीन पशुओं का देवता वसु है, रक्त वर्ण तीन पशुओं का देवता रुद्र है, श्वेत वर्ण के तीन पशुओं का देवता आदित्य है, आकाश के समान वर्ण वाले तीन पशुओं का देवता पर्जन्य है ॥ ६ ॥

कृष्णग्रीवाः कृष्णाः कृष्णवर्णा ग्रीवाः कण्ठा येषां ते, तथाभूतास्त्रयः पशव आग्नेया अग्निदेवत्याः पञ्चमे यूपे नियोज्याः। शितिभ्रवः शितिः श्वेतवर्णा भ्रूर्येषां ते तथाविधास्त्रयः पशवो वसूनां कृते पञ्चमे यूपे नियोज्याः। रोहिता लोहितवर्णास्त्रयः पशवो रुद्राणां कृते पञ्चमे यूपे नियोज्याः। श्वेता अवरोकिणोऽवलो-

किनः। यद्वा अत्र अधस्ताद् रोकं छिद्रमवरोकम्, तदस्ति येषां तेऽवरोकिणः 'छिद्रं निर्व्यथनं रोकम्' (१।८।२) इत्यमरः, ते त्रय आदित्यानां कृते पञ्चमे यूपे नियोज्याः। अथ षष्ठे यूपे नभोरूपा नीलवर्णास्त्रयः पार्जन्याः पर्जन्यदेवत्याः षष्ठे यूपे नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये कृष्णग्रीवाः कृष्णाकर्षिका ग्रीवा निगरणं येषां ते आग्नेयाः, वसूनां पृथिव्यादीनां ये शितभ्रवस्ते वसूनाम्, ये रोहितास्ते रुद्राणाम्, ये श्वेता अवरोकिणोऽवरोधिकास्त आदित्यानाम्, ये नभोरूपास्ते पार्जन्या बोध्याः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पृथिव्यादिभिस्तेषां सम्बन्धविशेषानिरूपणात्। यत्तु भावार्थे—'मनुष्यैरग्नेराकर्षणक्रियाः पृथिव्यादीनां धारणक्रिया वायूनां प्ररोहणक्रिया विदित्वा कार्येषूपयोज्याः' इति, तदतीव मन्दम्, कृष्णग्रीवेति पशूनां बोधकः शब्दः, अनेन अग्नेराकर्षणक्रिया कथं सिद्ध्यति ? न चाग्नेराकर्षणक्रियया कृष्णग्रीवपशूनां सम्बन्धविशेषः सिद्ध्यति। न चैतद्वचनबलादेव तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, वचनानां ज्ञापकत्वेन कारकत्वायोगात्। तथैव शितभ्रुपशूनां पृथिव्यादिभिरपि सम्बन्धविशेषोऽसिद्ध एव। अवरोकशब्दस्य अवरोधार्थकतापि चिन्त्यैव, प्रमाणविरहात्॥ ६॥

उन्नत ऋषभो वामनस्त ऐन्द्रावैष्णवा उन्नतः शितिबाहुः शितिपृष्ठस्त ऐन्द्राबार्हस्पत्याः शुकरूपा वाजिनाः कल्माषा आग्निमारुताः श्यामाः पौष्णाः॥ ७॥

मन्त्रार्थ—ऊँचे आकार वाला हृष्ट-पुष्ट और नाटे शरीर वाला—ये तीन पशु इन्द्र और विष्णु देवता के हैं। ऊँचा श्वेत वर्ण, श्वेत चरण वाला और श्वेत पीठ वाला - ये तीन पशु इन्द्र और बृहस्पति देवता के हैं। शुक पक्षी के समान वर्ण वाले पशुओं का देवता वाजी है। चितकबरे वर्ण वाले पशुओं के देवता अग्नि और वायु हैं। शुक्ल-कृष्ण वर्ण वाले पशुओं के देवता पूषा हैं॥ ७॥

उन्नत उच्छ्रिताङ्गः, ऋषभ ऋषतीति ऋषभः परिपुष्टाङ्गः, वामनो वामयति मदमिति वामनः, बहुनि वयस्यतिक्रान्तेऽपि वृद्धिरहितः, अर्थाद् ह्रस्वकायः, त एते त्रय ऐन्द्रावैष्णवा इन्द्राविष्णुदेवत्याः षष्ठे यूपे नियोज्याः। उन्नत उच्छ्रितः, शितिबाहुः श्वेतपूर्वपादः, शितिपृष्ठः श्वेतपृष्ठः, ते त्रय ऐन्द्राबार्हस्पत्या इन्द्राबृहस्पतिदेवत्याः षष्ठे यूपे नियोज्याः। शुकरूपाः शुकः रूपं (शुकस्य रूपमिव रूपम्) येषां ते, शुकसमानवर्णास्त्रयः पशवो वाजिना वाजिदेवत्याः षष्ठे यूपे नियोज्याः। कल्माषाः कर्बुरास्त्रयः पशव आग्निमारुताः षष्ठे यूपे नियोज्याः। एवं पञ्चदशपशवः। कल्माषशब्देन कृष्णाः पशवो गृह्यन्त इति सायणाचार्यः। 'कल्माषः कर्बुरे कृष्णे' इति मूर्धन्यान्तेषु रभसः। अथ सप्तमे यूपे श्यामाः कृष्णवर्णाः पौष्णाः पूषदेवत्यास्त्रयः पशवो नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'उन्नत ऋषभो वामनो वक्राङ्गः, ते ऐन्द्रावैष्णवाः, य उन्नतः शितिबाहुः शितिपृष्ठश्च सन्ति ते त्रय ऐन्द्रावैष्णवाः, उन्नतः शितिबाहुः शिती तनूकर्तारौ बाहू इव बलं यस्य सः, शिति तनूकरणं पृष्ठं यस्य सः, त ऐन्द्राबार्हस्पत्याः, वाजिना वेगवन्तः, कल्माषाः श्वेतकृष्णवर्णाः। अन्यत् पूर्ववत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, रुढेर्योगापहारकत्वात्। वाजिना वेगवन्त इत्यप्यसङ्गतम्, वाजिना इति देवतानिर्देशात्, सूत्रब्राह्मणविरोधाच्च। तत्र हि पञ्चदशसंख्यापूर्तिरपि विवक्षिता॥ ७॥

एता ऐन्द्राग्ना द्विरूपा अग्नीषोमीया वामना अनड्वाह आग्नावैष्णवा वशा मैत्रावरुण्योऽन्यत एन्यो मैत्र्यः ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—कबरे वर्ण वाले पशुओं के देवता इन्द्र और अग्नि हैं। दो वर्ण वाले पशुओं के देवता अग्नि और सोम हैं। नाटे बैलों के देवता अग्नि और विष्णु हैं। वन्ध्या अजाओं के देवता मित्र और वरुण हैं। एक तरफ चितकबरे वर्ण वाले अजा-पशुओं के देवता मित्र हैं ॥ ८ ॥

एताः कर्बुरवर्णास्त्रयः पशव ऐन्द्राग्ना इन्द्राग्निदेवत्याः सप्तमे यूपे नियोक्तव्याः। एता-एनी-शब्दौ कर्बुरवर्णबोधकौ, 'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे' (अ० को० १।५।१७) इति कोषात्। द्विरूपा द्वे रूपे येषां ते, शुक्लकृष्णात्मकवर्णद्वयोपेतास्त्रयोऽग्नीषोमीया अग्नीषोमदेवत्या सप्तमे यूपे नियोक्तव्याः। वामना ह्रस्वाङ्गाः, अनड्वाहो भारोद्वहनदक्षबलीवर्दास्त्रय आग्नावैष्णवा अग्निविष्णुदेवत्याः सप्तमे यूपे नियोज्याः। वशा वन्ध्यास्तिस्रोऽजा मैत्रावरुण्यो मित्रावरुणदेवत्याः सप्तमे यूपे नियोज्याः। अथाष्टमे यूपे—अन्यत एन्य एकपार्श्वे कर्बुरवर्णास्तिस्रोऽजा मैत्र्यो मित्रदेवत्या अष्टमे यूपे नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे—तास्ता देवतास्तत्तद्देवत्याः पशवश्च ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपा एवेति पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'एताः पूर्वोक्ताः.....अन्यत एन्या अन्यतो यन्ति ताः' इति, तदेतत्सर्वमविदितवैदिकवृत्तान्तस्यैव शोभते, पूर्वोक्तानां ग्रहणे संख्यापूर्त्यसम्भवात्। अन्यतो यन्तीति व्युत्पत्तौ तादृशरूपसाधनस्य दुर्निरूपत्वाच्च ॥ ८ ॥

कृष्णग्रीवा आग्नेया बभ्रवः सौम्याः श्वेता वायव्या अविज्ञाता अदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यो देवानां पत्नीभ्यः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—कृष्ण ग्रीवा वाले पशुओं का देवता अग्नि है, कपिल वर्ण वाले पशुओं का सोम, श्वेत वर्ण वालों का वायु, चिह्नविशेष से अज्ञात पशुओं का देवता अदिति, समान रूप वालों का धाता और बाल अजाओं की देवता देवपत्नियाँ हैं ॥ ९ ॥

कृष्णग्रीवाः कण्ठे कालास्त्रयः पशव आग्नेया अग्निदेवत्या अष्टमे यूपे नियोक्तव्याः। बभ्रवः कपिलवर्णास्त्रयः पशवः सौम्याः सोमदेवत्या अष्टमे यूपे नियोक्तव्याः। श्वेताः श्वेतवर्णास्त्रयः पशवो वायव्या वायुदेवत्या अष्टमे यूपे नियोक्तव्याः। अविज्ञाता लक्षणतश्चिह्नविशेषेण वाऽज्ञायमानास्त्रयः पशवोऽदित्यै अदितिदेवतायै अष्टमे यूपे नियोक्तव्याः। अथ नवमे—सरूपाः समानं रूपं येषां ते सरूपा एकरूपास्त्रयः पशवो धात्रे धातृदेवतायै नवमे यूपे नियोक्तव्याः। वत्सतर्यस्तिस्रो देवपत्नीभ्यो नवमे यूपे नियोक्तव्याः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'कृष्णग्रीवाः कृष्णकण्ठा आग्नेयाः, बभ्रवो नकुलवर्णाः सौम्याः श्वेता वायव्या अविज्ञाता अदित्यै अखण्डितायै जनित्वक्रियायै, 'अदितिर्जनित्वम्' इति मन्त्रात्, सरूपा धात्रे धारकाय, अतिशयेन वत्सा वत्सतर्यो देवानां सूर्यादीनां पत्नीभ्यः पालिकाभ्यः क्रियाभ्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूर्यलोकपालनक्रियासु पत्नीपदप्रयोगस्य निर्मूलत्वात्, ताभ्यश्च पशवः कथं प्रयोक्तव्या इत्यनुक्तेश्च ॥ ९ ॥

कृष्णा भौमा धूम्रा आन्तरिक्षा बृहन्तो दिव्याः शबला वैद्युताः सिध्मास्तारकाः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—कृष्ण वर्ण वाले पशुओं की देवता भूमि है। धूम्र वर्ण वालों का अन्तरिक्ष, बड़े-बड़े पशुओं का स्वर्ग, चितकबरे वर्ण वालों का विद्युत् और सिध्म रोग वालों के देवता नक्षत्र हैं ॥ १० ॥

कृष्णाः कृष्णवर्णास्त्रयः पशवो भौमा भूमिदेवत्या नवमे यूपे नियोज्याः। धूम्रा धूम्रवर्णास्त्रयः पशव आन्तरिक्षा अन्तरिक्षदेवत्या नवमे यूपे नियोज्याः। बृहन्तः स्थूलकायास्त्रयः पशवो दिव्या द्युदेवत्या नवमे यूपे नियोज्याः। अथ दशमे शबलाः कर्बुरास्त्रयः पशवो वैद्युता विद्युद्देवत्या दशमे यूपे नियोक्तव्याः। सिध्माः सिध्मलाः सिध्मरोगवन्तस्त्रयः पशवस्तारका नक्षत्रदेवत्या दशमे यूपे नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'यदि मनुष्याः कर्षणादिकार्यधारकान् पश्वादिपदार्थान् भूम्यादिषु संयोजयेयुस्तर्हि मङ्गलमाप्नुयुः' इति, तदपि व्याख्यानस्वाच्छन्द्यमेव, मन्त्रेषु तादृशार्थबोधकपदाभावात् ॥ १० ॥

धूम्रान् वसन्तायालभते श्वेतान् ग्रीष्माय कृष्णान् वर्षाभ्योऽरुणाञ्छरदे पृषतो हेमन्ताय पिशङ्गाञ्छिशिराय ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—धूम्र वर्ण के पशुओं को वसन्त के निमित्त नियुक्त किया गया है। श्वेत वर्ण वालों को ग्रीष्म के निमित्त, कृष्ण वर्ण वालों को वर्षा के निमित्त, रक्त वर्ण वालों को शरद् के निमित्त, अनेक प्रकार की बिन्दियों वाले पशुओं को हेमन्त के निमित्त और लाली मिले कपिल वर्ण वाले पशुओं को शिशिर के निमित्त नियुक्त किया गया है ॥ ११ ॥

धूम्रान् धूम्रवर्णान् त्रीनजान् वसन्ताय वसन्तर्त्वभिमानिदेवाय आलभते आलम्भनं कुर्यात्। तान् दशमे यूपे नियुञ्ज्यात्। श्वेतान् श्वेतवर्णान् त्रीनजान् ग्रीष्माय ग्रीष्माभिमानिदेवतायै, आलभत इत्यनुषङ्गः। एतान् दशमे नियुञ्ज्यात्। कृष्णान् कृष्णवर्णान् त्रीन् पशून् वर्षाभ्यो वर्षाभिमानिदेवतायै नियुञ्ज्यात्। तान् दशमे यूपे नियुञ्ज्यात्। अथैकादशे यूपेऽरुणानऽरुणवर्णान् त्रीन् पशून् शरदे शरदधिष्ठातृदेवतायै एकादशे यूपे नियुञ्ज्यात्। पृषतो नानावर्णबिन्दुयुक्तान् त्रीन् पशून् हेमन्ताय हेमन्तर्त्वभिमानिदेवतायै एकादशे बध्नीयात्। पिशङ्गान् लोहितमिश्रकपिलवर्णान् त्रीन् पशून् शिशिराय शिशिरर्त्वभिमानिदेवतायै एकादशे बध्नीत।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'यो मनुष्यो वसन्ताय वसन्ततौ सुखाय धूम्रान् धूम्रवर्णान् पदार्थान् ग्रीष्माय श्वेतान् वर्षाभ्यः कृष्णान् शरदेऽरुणान् हेमन्ताय पृषतः शिशिराय पिशङ्गानालभते प्राप्नोति, स सततं सुखी भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पशुप्रसङ्गे पदार्थोपादानस्य निर्मूलत्वात्, रागप्राप्तस्य विधानायोगात्, ग्रीष्मादिष्विष्टधूम्रादिवर्णपदार्थप्राप्तावपि सुखानुपलम्भाच्च ॥ ११ ॥

त्र्यवयो गायत्र्यै पञ्चावयस्त्रिष्टुभे दित्यवाहो जगत्यै त्रिवत्सा अनुष्टुभे तुर्यवाह उष्णिहे ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—डेढ़ वर्ष वाले पशुओं को गायत्री के निमित्त, ढाई वर्ष वालों को त्रिष्टुप् छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त, दो वर्ष वालों को जगती छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त, तीन वर्ष वालों को अनुष्टुप् छन्द के अभिमानी देवता और तीन वर्ष वाले पशुओं को उष्णिक् छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त नियुक्त किया गया है ॥ १२ ॥

त्र्यवयः सार्धसंवत्सरास्त्रयः पशवो गायत्र्यै तदभिमानिदेवतायै एकादशे यूपे नियोक्तव्याः। अवीनां षड्भिर्मासैर्गर्भविमोचनादविशब्देन षण्मासात्मकः कालो लक्ष्यते। त्र्यविश्च सार्धसंवत्सरात्मकः काल इति। पञ्चावयः सार्धद्विसंवत्सरास्त्रयः पशवस्त्रिष्टुभे त्रिष्टुबभिमानिदेवतायै तद्दैवतोद्देश्येन एकादशे यूपे नियोज्याः। अथ द्वादशे—दित्यवाहो द्विसंवत्सरवयस्कास्त्रयः पशवो जगत्यै जगत्यधिष्ठात्रे देवाय द्वादशे यूपे नियोज्याः। अथवा दित्यै खण्डनार्थं वहन्तीति दित्यवाहः, ईदृगवस्थास्त्रयः पशवः, त्रिवत्सास्त्रिवर्षास्त्रयः पशवोऽनुष्टुभेऽनुष्टुप्छन्दोधिष्ठातृदेवतायै द्वादशे यूपे नियोक्तव्याः। तुर्यवाहः सार्धत्रिवत्सा इति महीधरः, चतुर्वत्सरा इति सायणः, उष्णिहे उष्णिक्छन्दोऽधिष्ठातृदेवतायै द्वादशे यूपे बन्धनीयाः।

मन्त्रद्वयस्य आध्यात्मिकोऽर्थः, दयानन्दीयार्थालोचना च सार्धमेव निरूपयिष्यते ॥ १२ ॥

पष्ठवाहो विराज उक्षाणो बृहत्या ऋषभाः ककुभेऽनड्वाहः पङ्क्त्यै धेनवोऽतिच्छन्दसे ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ— चार वर्ष के पशुओं को विराट् छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त, सेचन समर्थ तीन पशुओं (उक्षा) को बृहती छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त, उक्षा (वृषभ) से अधिक अवस्था वाले तीन पशुओं को ककुप् छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त, शकट वहन में समर्थ पशुओं को पंक्ति छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त और नवप्रसूता धेनुओं को अतिच्छन्द के अभिमानी देवता के निमित्त नियुक्त किया गया है ॥ १३ ॥

पष्ठवाहश्चतुःसंवत्सरवयस्कास्त्रयः पशवो विराट्छन्दोऽधिष्ठातृदेवतायै द्वादशे यूपे बन्धनीयाः। पष्ठवाहः पृष्ठभागेन वोढुं शक्ताः पञ्चवर्षास्त्रयः पशव इति सायणः। उक्षाणः सेचनसमर्था बृहत्यै बृहतीच्छन्दोऽधिष्ठातृदेवतायै द्वादशे यूपे नियोक्तव्याः। अथ त्रयोदशे यूपे—ऋषभा उक्ष्णोऽप्यधिकवयस्कास्त्रयः पशवः, अन्नकर्षणव्यापारास्त्रयः पशव इति सायणः, ककुभे ककुप्छन्दोऽधिष्ठातृदेवतायै त्रयोदशे यूपे बन्धनीयाः। अनड्वाहः शकटवहनसमर्था अजास्त्रयः पङ्क्त्यै पङ्क्तिच्छन्दोदेवतायै त्रयोदशे यूपे बन्धनीयाः। धेनवो नवप्रसूता अजास्तिस्रः, गावस्तिस्र इति सायणः, अतिच्छन्दसे शक्वर्यादिकमतिच्छन्दः, तदभिमानिदेवतायै इति सायणः, त एते त्रयोदशे यूपे बन्धनीयाः। एतावता श्रुतिगणेन 'यत्पञ्चदशिन आलभते अर्धमासानेव तैर्यजमानोऽवरुन्धे' (श० १३।२।५।१) इति ब्राह्मणप्रतिपादिताः पञ्चदशिनः पशवो गताः।

अध्यात्मपक्षे – मन्त्रोक्ताः पशवः तैर्यष्टव्या देवताश्च ब्रह्मात्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपा एव।

दयानन्दस्तु –'यथा विद्वांसोऽधीतैर्गायत्र्यादिच्छन्दोऽर्थैः सुखानि वर्धयन्ते, तथा पशुपालका घृतानि वर्धयेयुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'त्र्यवयः' इत्यादिशब्दानां तिस्रोऽवयो मेष्यः, त्रयोऽवयो मेषा वा भवेयुर्येषां तेषां गायत्र्यादिछन्दोविशेषैः सम्बन्धस्य साधयितुमशक्यत्वात्। मन्त्राश्चेमे वयोहोमे विनियुक्ताः। वयोबोधकमन्त्रैर्होमो वयोहोमः, 'वयांसि जुहोति। पशवो वै वया꣡ꣳसि पशुभिरेवैनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो पशुभिरेवैनमेतदन्नेनाभिषिञ्चति' (श० ९।३।३।७) इति श्रुतेः। अत एव अविः षण्मासात्मकः कालः, त्रयोऽवयो यस्य स त्र्यविः सार्धसंवत्सरवयस्कः पशुरेवात्र ग्राह्यः। वयश्च पश्वादिविशेषणतयैव प्रतीयते। एवमेव पञ्चाव्यादीनामपि त्रिष्टुबादिभिः सम्बन्धविशेषोऽनिरूपणीय एव। तथैव—'यैर्मनुष्यैर्विराजे पष्ठवाहो बृहत्या उक्षाणः ककुभे पङ्क्त्या अनड्वाहोऽतिच्छन्दसे धेनवः स्वीक्रियन्ते, तेऽतिसुखं लभन्ते' इत्यपि मूर्खजनप्रतारणमेव, बह्वध्याहारेऽप्यर्थास्पष्टत्वात्। त्वद्रीत्या पष्ठवाहादिभिर्विराडादीनां सम्बन्धविशेषासिद्धेः। 'यथा विद्वांसो विराडादिछन्दोभ्यो

बहूनि विद्याकार्याणि साध्नुवन्ति, तथोष्ट्रादिपशुभ्यो गृहस्था अखिलानि कार्याणि साध्नुयुः' इति भावार्थोऽप्यसङ्गत एव, तथार्थबोधकशब्दानां मूलेऽभावात्। यथा-तथा-शब्दावपि मूले न स्तः। पशूनामुपयोगनिर्देशस्य विवक्षितत्वे पश्वन्तराणामपि निर्देशापत्त्युदयात्॥ १३॥

कृष्णग्रीवा आग्नेया बभ्रवः सोम्या उपध्वस्ताः सावित्रा वत्सतर्यः सारस्वत्यः श्यामाः पौष्णाः पृश्नयो मारुता बहुरूपा वैश्वदेवा वशा द्यावापृथिवीयाः॥ १४॥

मन्त्रार्थ—कृष्णग्रीव पशुओं का देवता अग्नि है। कपिल वर्ण वालों का सोम, अधः पतनशील वर्णान्तर मिश्रित पशुओं का सविता, बछड़ों की सरस्वती, शुक्ल कृष्ण वर्ण वालों का पूषा, विचित्र वर्ण वालों का मरुत्, अनेक रूप वालों के विश्वेदेव और वन्ध्या पशुओं के देवता पृथ्वी और स्वर्ग हैं॥ १४॥

अथ 'चातुर्मास्यान् पशूनालभते' (श० १३।२।५।२) इति श्रुतिविहिताश्चातुर्मास्यदेवत्याः पशव उच्यन्ते, कृष्णग्रीवा इत्यारभ्य श्वेताः सौर्या इत्यन्ताः। तत्र प्रथमं वैश्वदेवपर्वपशवः कृष्णग्रीवास्त्रयः पशव आग्नेया अग्निदेवत्याः कार्याः। बभ्रवः कपिलवर्णास्त्रयः सौम्याः सोमदेवत्याः कार्याः। एते च त्रयोदशे यूपे बन्धनीयाः। अथ चतुर्दशे यूपे-उपध्वस्ता उपध्वंसनगुणविशिष्टाः, उपध्वंसनमधःपतनम्, वर्णान्तरमिश्रिता वा त्रयः पशवः सावित्राः सवितृदेवत्याश्चतुर्दशे यूपे बन्धनीयाः। वत्सतर्यस्तिस्रः सारस्वत्यः सरस्वतीदेवत्याश्चतुर्दशे यूपे बन्धनीयाः। श्यामाः शुक्लकृष्णवर्णाः पौष्णाः पूषदेवत्यास्त्रय पशवश्चतुर्दशे यूपे बन्धनीयाः, पृश्नयो ह्रस्वकाया विचित्रवर्णा वा त्रयः पशवो मारुता मरुद्देवत्याश्चतुर्दशे यूपे नियोजनीयाः। बहुरूपा अनेकरूपाः वैश्वदेवा विश्वदेवदेवत्यास्त्रयः पशवश्चतुर्दशे यूपे बन्धनीयाः। अथ पञ्चदशे यूपे—वशा वन्ध्यास्तिस्रो द्यावापृथिवीया द्यावापृथिवीदेवत्याः पञ्चदशे यूपे बन्धनीयाः। इति वैश्वदेवपशवः।

अध्यात्मपक्षे पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिर्ये कृष्णग्रीवास्ते आग्नेयाः, ये बभ्रवस्ते सौम्याः, य उपध्वस्तास्ते सावित्राः, या वत्सतर्यस्ताः सारस्वताः, ये श्यामास्ते पौष्णाः, ये पृश्नयस्ते मारुताः, बहुरूपा वैश्वदेवाः, ये वशास्ते द्यावापृथिवीया विज्ञातव्याः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पशूनां दैवतविधाने तात्पर्याभावात्। सूत्रानुसारेण तत्तद्यूपे तत्तद्देवत्यपशूनां नियोजनस्य विधानम्। 'यथा शिल्पिनोऽग्न्यादिभ्यः पदार्थेभ्योऽनेकानि कार्याणि साध्नुवन्ति, तथा कृषीवलाः पशुभिर्बहूनि कार्याणि साध्नुयुः' इति भावार्थस्तु तादृशाभिप्रायबोधकशब्दानां मूलेऽभावात् शशशृङ्गायित एव। अन्वयोक्तार्थविरोधश्चापरो गण्डस्योपरि स्फोटः। अन्वये हि पशूनां तत्तद्देवतासम्बन्धज्ञानं विधीयते, भावार्थस्तु तं विरुणद्धि। ततः कुतस्त्या भावार्थता॥ १४॥

उक्ताः सञ्चरा एता ऐन्द्राग्नाः कृष्णा वारुणाः पृश्नयो मारुताः कायास्तूपराः॥ १५॥

मन्त्रार्थ—कृष्णग्रीव आदि पन्द्रह पशुओं की ऊपर चर्चा हुई है। कर्बुर वर्ण वाले पशुओं के देवता इन्द्राग्नी हैं। कृष्ण वर्ण वालों का वरुण और दुर्बल शरीर वालों का मरुत् देवता है। शृंगहीन पशुओं का देवता प्रजापति है॥ १५॥

अथ वरुणप्रघासाख्ये द्वितीयपर्वणि या देवतास्तद्देवत्यान् पशूनाह—उक्ता इति। अग्नि-सोम-सवितृ-सरस्वती-पूषात्मकं देवतापञ्चकं चातुर्मास्येषु चतुर्ष्वपि पर्वसु सञ्चरति, अनुवर्तत इति यावत्। ततश्च सञ्चरशब्देन कृष्णग्रीवा आग्नेया इत्यादयः पूर्वकण्डिकोक्ताः पञ्चदश पशव उच्यन्ते, पञ्च सञ्चराणि हवींषि भवन्तीतिवत्।

यथा चातुर्मास्येषु चतुर्ष्वपि पर्वस्वाग्नेयादीनि पञ्च हवींषि समानानि, एवमत्रापि चतुर्णां पर्वणां सम्बन्धिनामाद्यानां पञ्चानां देवानामाद्या एते पञ्चदश पशवः समाना एव भवन्ति। तेनैते सञ्चरा उक्ताः। उक्ताः सञ्चराः, आग्नेयादयः पञ्चदश पशव उक्ता इत्यर्थः। आग्नेयाः कृष्णग्रीवास्त्रयः पञ्चदशे, बभ्रवस्त्रयः पञ्चदशे, सावित्रा उपध्वस्तास्त्रयः पञ्चदशे सारस्वत्यो वत्सतर्यस्तिस्रः पञ्चदशे। अथ षोडशे—पौष्णाः श्यामास्त्रयः षोडशे, एते सञ्चरा उक्ताः। एताः कर्बुरा ऐन्द्राग्ना इन्द्राग्निदेवत्यास्त्रयः पशवः षोडशे, कृष्णाः कृष्णवर्णा वारुणा वरुणदेवत्यास्त्रय पशवः षोडशे, पृश्नयो ह्रस्वशरीरास्त्रयो मारुता मरुद्देवत्याः षोडशे, तूपराः शृङ्गविहीनाः कायाः, कः प्रजापतिः, तद्देवत्यास्त्रयः पशवः षोडशे यूपे नियोक्तव्याः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, एता उक्ताः सञ्चरा ऐन्द्राग्नाः कृष्णा वारुणाः पृश्नयो मारुतास्तूपरा हिंसकाः कायाः सन्तीति बोध्यम्' इति, भावार्थे तु—'ये नानादेशसञ्चारिणः प्राणिनः सन्ति, तैर्मनुष्या यथायोग्यानुपकारान् गृह्णीयुः' इति, तदपि निःसारम्, मूले तेषामुपकारग्रहणविधानानुपलम्भात्। किञ्च, रागवशादेव तेभ्यस्तेभ्य उपकारग्रहणसिद्धेस्तथाविधानकल्पनस्य नैरर्थक्याच्च। न च प्राणिनः पूर्वदेशविदेशसञ्चारिणो विहिताः, सञ्चरशब्दस्य तथार्थत्वे मानाभावात्॥ १५॥

अ॒ग्नयेऽनी॑कवते प्रथम॒जाना॒लभते म॒रुद्भ्यः॑ सान्तप॒नेभ्यः॑ सवा॒त्यान् म॒रुद्भ्यो॑ गृह॒मे॒धिभ्यो॑ ब॒ष्किहान् म॒रुद्भ्यः॑ क्रीडि॒भ्यः॑ स॒ꣳसृष्टान् म॒रुद्भ्यः॑ स्वत॑वद्भ्योऽनु॒सृष्टान्॥ १६॥

मन्त्रार्थ—माता के प्रथम गर्भ से उत्पन्न पशुओं को हविर्ग्रहण करने योग्य ख मवाले अग्नि के निमित्त नियुक्त किया गया है। वायुमण्डल में स्थित तीन अजों को सान्तपन मरुद्गणों के निमित्त, चिरकाल से उत्पन्न हुए पशुओं को गृहमेधी मरुतों के निमित्त, एक साथ उत्पन्न हुए पशुओं को क्रीड़ा में तत्पर मरुतों के निमित्त और अनुक्रम से उत्पन्न हुए पशुओं को स्वतवान् मरुद्गणों के निमित्त नियुक्त किया गया है॥ १६॥

अथ साकमेधे पर्वानुष्ठानात् पूर्वदिवसे प्राण्यङ्गतयाऽनुष्ठेयानामिष्टीनामग्निरनीकवान् मरुतः सान्तपना इत्याद्या या देव्यस्तद्देवत्यान् पशूनाह—अग्नय इति। अथ साकमेधपशवः सप्तदशे यूपे नियोक्तव्याः। प्रथमजान् मातुः प्रथमगर्भे जातान् त्रीनजान् अनीकवते स्वसैन्ययुक्तायाग्नये आलभते सप्तदशे यूपे नियुनक्ति। सान्तपनेभ्यः सन्तपनो मध्यन्दिनगतः सूर्यः, तत्सम्बन्धिनः सान्तपनास्तेभ्यो मरुद्भ्यः सवात्यान्, वातानां समूहो वात्या, 'पाशादिभ्यो यः' (पा० सू० ४।२।४९) इति यः प्रत्ययः, तया सह वर्तन्त इति सवात्या वातमण्डलीमध्यस्थाः, तान् त्रीनजान् सप्तदशे यूपे नियुनक्ति। समानगर्भोत्पन्नानिति सायणः। गृहमेधिभ्यो गृहैर्दारैर्मेधन्ते सङ्गच्छन्त इति गृहमेधिनस्तेभ्यः, 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा० सू० ३।२।७८) इति णिनिः, मरुद्भ्यो बष्किहान् चिरप्रसूतान् त्रीन् पशून् आलभते सप्तदशे यूपे नियुनक्ति। क्रीडिभ्यः क्रीडाविशिष्टेभ्यो संसृष्टान् सहोत्पन्नान् त्रीन् पशून् सप्तदशे यूपे नियुनक्ति। अनुसृष्टान् अनुक्रमेण जातान् त्रीन् पशून् स्वतवद्भ्यः स्वावयवकृतबलेभ्यो मरुद्भ्यः सप्तदशे यूपे नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'अनीकवते प्रशंसितसेनायाग्नयेऽग्निवद् वर्तमानाय सेनापतये प्रथमजान् प्रथमाद् विस्तीर्णात् कारणाज्जातानालभते। सान्तपनेभ्यो मरुद्भ्यः सवात्यान्, गृहमेधिभ्यो मरुद्भ्यो बष्किहान्, मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः संसृष्टान् स्वतवद्भ्यो स्वतो वासो येषां तेभ्योऽनुसृष्टाननुषङ्गिण आलभते प्राप्नोति, तथैव यूयमेतान्

आलभध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आङ्पूर्वस्य लभतेः प्राप्त्यर्थत्वे मानाभावात्। अन्यच्च अन्यार्थप्राप्तेरपुरुषार्थत्वात्। यथा विद्वद्भिर्विद्यार्थिनः पशवश्च पाल्यन्ते, तथैवेतरैर्मनुष्यैः पालनीया इति भावार्थोऽपि चिन्त्यः, तथा भावार्थबोधकसामग्र्या मूलेऽभावात् ॥ १६ ॥

उ॒क्ताः स॑ञ्च॒रा ए॒ता ऐ॑न्द्रा॒ग्नाः प्रा॑शृ॒ङ्गा मा॑हे॒न्द्रा ब॑हु॒रू॒पा वै॑श्वकर्म॒णाः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—कृष्णग्रीव आदि पन्द्रह पशुओं की चर्चा ऊपर हुई है। इनमें कर्बुर वर्ण वाले पशुओं के देवता इन्द्राग्नी हैं। सुन्दर सींग वालों के महेन्द्र और बहुत रूप वाले पशुओं के देवता विश्वकर्मा हैं ॥ १७ ॥

अथ साकमेधपर्वणि प्रधानभूता या महेन्द्रेष्टिः, तस्या या देवतास्तद्देवत्यान् पशूनाह, महाहविःपशूनिति यावत्। ते च पञ्चसु संघेषु उक्ताः। तद्यथा—कृष्णग्रीवास्त्रयः, बभ्रवस्त्रयः, उपध्वस्तास्त्रयः, वत्सतर्यस्तिस्रः, श्यामास्त्रय इति पञ्चदश पशवः। ते चाष्टादशे यूपे बन्धनीयाः। तदेतत् समाहृत्योक्तम्—उक्ताः सञ्चरा इति। अथैकोनविंशे यूपे—एताः कर्बुरास्त्रय ऐन्द्राग्ना इन्द्राग्निदेवत्या एकोनविंशे यूपे बन्धनीयाः। प्राशृङ्गाः प्रकृष्टः शृङ्गो येषां ते प्राशृङ्गाः, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः, प्रकृष्टशृङ्गयुक्ताः, माहेन्द्रा महेन्द्रदेवत्यास्त्रय एकोनविंशे यूपे बन्धनीयाः। बहुरूपा नानारूपास्त्रयो वैश्वकर्मणा विश्वकर्मदेवत्या एकोनविंशे यूपे नियोज्याः।

अत्र द्वयोः कण्डिकयोः सहैव व्याख्यानम् ॥ १७ ॥

धू॒म्रा ब॒भ्रुनी॑काशाः पि॒तॄणा॑ᳪ सोम॑वतां ब॒भ्रवो॑ धू॒म्रनी॑काशाः पि॒तॄणां॑ ब॒र्हि॒षदां॑ कृ॒ष्णा ब॒भ्रुनी॑काशाः पि॒तॄणाम॑ग्निष्वा॒त्ताना॑ कृ॒ष्णाः पृष॑न्तस्त्रैयम्ब॒काः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—काले और लाल वर्ण के मिलने से बने कपिल वर्ण के पशु सोमवत् पितरों के निमित्त नियोज्य हैं। कपिल और धूम्र वर्ण के मिलने से बने वर्ण वाले पशु बर्हिषद् पितरों की प्रीति के निमित्त, कृष्ण वर्ण और कपिल वर्ण के मेल से बने वर्ण वाले पशु अग्निष्वात्त पितरों की प्रीति के निमित्त और बिन्दुयुक्त पशु त्र्यम्बक देवता के निमित्त नियुक्त हैं ॥ १८ ॥

माहेन्द्रादूर्ध्वं याः साकमेधाङ्गभूतपित्रादिदेवताः, तद्देवत्यान् पशूनाह—धूम्रा इति। धूम्राः कृष्णवर्णमिश्रा लोहितवर्णाः, बभ्रुनीकाशाः कपिलवर्णसदृशास्त्रयः पशवः सोमवतां पितॄणां कृते नियोजनीया एकोनविंशे यूपे नियोजनीयाः। बभ्रवः कपिलवर्णा धूम्रनीकाशा धूम्रसदृशवर्णास्त्रयः पशवो बर्हिषदां पितॄणां कृते एकोनविंशे यूपे नियोजनीयाः। अथ विंशे यूपे—कृष्णाः कृष्णवर्णा बभ्रुनीकाशा कपिलवर्णसदृशास्त्रयः पशवोऽग्निष्वात्तानां पितॄणां कृते विंशे यूपे नियोजनीया इति। पितृयज्ञानन्तरम्—'प्रतिपुरुषमेककापालान्निर्वपति' (तै० ब्रा० २।६।१०।१) इति यजमानसंख्याकाः पुरोडाशा विहिताः। अत्र तत्स्थाने कृष्णाः कृष्णवर्णाः पृषन्तो बिन्दुयुक्तास्त्रयः पशवस्त्रैयम्बकास्त्र्यम्बकदेवत्या विंशे यूपे नियोजनीयाः।

अध्यात्मपक्षे—उभयोरपि कण्डिकयोः पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'उक्ताः सञ्चराः। हे मनुष्याः, य एता ऐन्द्राग्नाः प्राशृङ्गा माहेन्द्रा बहुरूपा वैश्वकर्मणाः सञ्चरा उक्तास्तेषु गन्तव्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। तथाहि—सञ्चरन्ति येषु ते संचरा मार्गा इत्युक्तम्। न चैता ऐन्द्राग्ना अन्ये वा मार्गाः, तेषामिन्द्राग्निदेवत्यपशुत्वात्। न चैता इति पदेन पूर्वोक्ता

गृह्यन्ते, तेषां स्वतवन्मरुद्देवत्यत्वात् । न च पूर्वोक्ताः पुमांसः पशव 'एताः' इति निर्देशार्हाः, 'एते' इति निर्देशार्हत्वात् । 'धूम्राशा हे मनुष्याः, सोमवतां पितॄणां बभ्रुनीकाशा धूम्रा····कृष्णाः पृषन्तस्त्र्यम्बकाश्च सन्तीति विज्ञेयाः । ये जनका विद्याजन्मप्रदातारश्च सन्ति, तेषां घृतादिभिर्गवादिदानैश्च यथायोग्यं सत्कारः कर्तव्यः' इति तत्सर्वमुच्छृङ्खलमेव, पदपदार्थासम्बद्धत्वात् ॥ १८ ॥

उक्ताः स॑ञ्च॒रा ए॒ता॑ शु॑नासी॒री॒याः॑ श्वे॒ता वा॑य॒व्याः॒ श्वे॒ताः सौ॒र्याः ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—आग्नेय आदि पन्द्रह पशु ऊपर कहे गये हैं। इनमें चितकबरे वर्ण के पशुओं के देवता इन्द्र हैं। श्वेतों के वायु और सूर्य देवता हैं। इस प्रकार अश्व से लेकर सौर्य पर्यन्त ग्राम्य पशुओं को इक्कीस यूपों में देवताओं की प्रीति के लिये बाँधे ॥ १९ ॥

अथ शुनासीरीयपशवः—चतुर्दश्यां कण्डिकायामुक्ताः कृष्णग्रीवा आग्नेया इत्यादयः पञ्चदेवत्याः पञ्चदश पशवोऽत्रापि वेदितव्याः । तेन कृष्णग्रीवा आग्नेयास्त्रयः पशवो विंशे, बभ्रवः सौम्यास्त्रयः पशवो विंशे, उपध्वस्तास्त्रयः पशवो विंशे यूपे नियोक्तव्याः । अथैकविंशे यूपे—तिस्रो वत्सतर्यः सारस्वत्य एकविंशे यूपे बन्धनीयाः । त्रयः श्यामाः पौष्णा एकविंशे यूपे बन्धनीयाः । एताः कर्बुरास्त्रयः पशवः शुनासीरीयाः, 'शु इत्यव्ययं पूजार्थकम्, शु शोभनं नासीरं सेनामुखं यस्य स शुनासीर इन्द्रः । यद्वा शु शोभना नासीरा अग्रेसरा यस्य स शुनासीरः । अथवा शुनति क्षिप्रं गच्छत्यन्तरिक्षमिति शुनो वायुः, 'शुन गतौ तौदादिकः' इगुपधलक्षणः कः । सरति सदा सततं गच्छतीति सीरः सूर्यः । औणादिक ईरन् टिलोपश्च । शुनश्च सीरश्च शुनासीरौ, 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इत्यानङ्, शुनासीरौ स्तोऽस्येति शुनासीर इन्द्रः । अयं शब्दो दन्त्यद्वयस्तालव्यद्वयश्च । शुनासीरस्येमे शुनासीरीयाः । शुनासीरदेवत्या एकविंशे यूपे बन्धनीयाः । श्वेताः श्वेतवर्णाश्च त्रयः पशवो वायव्या वायुदेवत्या एकविंशे यूपे नियोक्तव्याः । श्वेताः श्वेतवर्णाश्च त्रयः पशवः सौर्याः सूर्यदेवत्या एकविंशे यूपे नियोक्तव्याः । एवमग्निष्ठे यूपे सप्तदश, इतरेषु दशसु यूपेषु प्रतियूपं षोडश षोडश, इतरेषु दशसु यूपेषु प्रतियूपं पञ्चदश पञ्चदश १७ + १६० + १५० = ३२७ इति गणनया सप्तविंशत्यधिकशतत्रयं ग्राम्याः पशवः सर्वे उक्ताः ।

अध्यात्मपक्षे - सर्वे चैते पशवस्तैर्यष्टव्याश्च देवता ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मात्मका इति ज्ञातव्यम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं य एताः शुनासीरीयाः सञ्चरा वायव्याः श्वेता सौर्याः श्वेताश्चोक्तास्तान् कार्येषु सम्प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि शब्दशास्त्रे स्वैरित्वमेव, निर्मूलत्वात्, श्रुतिसूत्रादिविरोधात् । यदपि 'शुनासीरशब्देन कृषिसाधका देवताः' इति, तदप्यसङ्गतम्, वैश्वदेव-वरुणप्रघास-साममेध(महाहविः)-शुनासीरीयपर्वानभिज्ञानविजृम्भितत्वात् ॥ १९ ॥

व॒स॒न्ताय॑ क॒पिञ्ज॑लाना॒लभते ग्री॒ष्माय॑ कल॒विङ्का॑न् व॒र्षाभ्य॑स्ति॒त्तिरी॑ञ्छ॒रदे॑ व॒र्तिका॑ हे॒म॒न्ता॒य॒ कक॑रा॒ञ्छिशि॑राय॒ विक॑करान् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—अब आरण्य पशुओं का विधान करते हैं। इनको इक्कीस यूपों के मध्य के जो बीस अन्तराल हैं, उनमें बांधा जाता है। तीन कपिंजलों को वसन्त ऋतु के अभिमानी देवता के निमित्त, तीन चटकों को ग्रीष्म ऋतु के अभिमानी देवता के निमित्त, तीन तीतरों को वर्षा ऋतु के अभिमानी, तीन वर्तकों को ग्रीष्म ऋतु के अभिमानी, तीन ककरों को हेमन्त ऋतु के अभिमानी और तीन विककरों को शिशिर ऋतु के अभिमानी देवता के निमित्त नियुक्त किया जाता है ॥ २० ॥

'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' इत्यारभ्य 'विश्वेषां देवानां पृषतः' इत्यन्ता अध्यायसमाप्ति यावदारण्याः पशवः प्रोच्यन्ते । अत्र एकविंशतिर्यूपाः । तेषां विंशतिरन्तरालभूमयः । तत्रान्तरालोत्पत्तिक्रमेण कपिञ्जलादयस्त्रयोदश त्रयोदश पशव आलम्भनीयाः । अत्र यूपान्तरालभूमिष्वारण्यपशूनां बन्धनोपाय उक्तो मानवश्रौत्रसूत्रे—'नाडीषु प्लुषिमशकान् करण्डेषु सर्पान् पञ्जरेषु मृगव्याघ्रसिंहान् कुम्भेषु मकरमत्स्यमण्डूकान् जालेषु पक्षिणः कारासु हस्तिनो नौषु चौदकानि यथार्थमितरान्' इति ये पशवो येनोपायेन यूपान्तरालेषु तिष्ठन्ति, ते तेनोपायेन स्थापनीया इति तात्पर्यम् । अत्र येषामारण्यजीववाचिपदानामर्था न ज्ञायन्ते, तानि निगमनिरुक्तनिघण्टुव्याकरणोणादिवृत्त्यभिधानग्रन्थेभ्यो विलोक्यावगन्तव्यानि । केचिज्जीवा आटविकेभ्यश्च लक्षणीया इति महीधराचार्यः ।

तत्र प्रथमोत्पन्ने यूपान्तराले कपिञ्जलान् त्रीन् पक्षिविशेषान् पशून् वसन्ताय वसन्तर्त्वभिमानिदेवाय आलभते नियुनक्ति । कलविङ्कान् त्रीन् पशून् चटकान् ग्रीष्माय तदधिष्ठातृदेवाय नियुनक्ति । तित्तिरीन् कररकान् त्रीन् पक्षिविशेषान् पशून् वर्षाभ्यो वर्षर्त्वभिमानिदेवतायै उपाकुर्यात् । वर्तिकाः (पक्षिविशेषान् त्रीन् पशून्, 'वटेर' इति भाषा) तिस्रः शरदे शरदृत्वभिमानिदेवतायै उपाकुर्यात् । हेमन्ताय हेमन्तर्त्वभिमानिदेवतायै ककरान् ककराख्यपक्षिविशेषान् त्रीन् पशून् उपाकुर्यात् । तत्रैकं प्रथमेऽन्तराले द्वौ पशू द्वितीयेऽन्तराल इति विवेकः । शिशिराय शिशिरर्त्वभिमानिदेवाय विककरान् विककराख्यपक्षिविशेषान् त्रीन् पशून् उपाकुर्याद् द्वितीयेऽन्तराल एव ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, पक्षिविज्जनो वसन्ताय यान् कपिञ्जलान् ग्रीष्माय कलविङ्कान् वर्षाभ्यस्तित्तिरीन् शरदे वर्तिका हेमन्ताय ककरान् शिशिराय विककरानालभते, तान् यूयं जानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विज्ञानमात्रस्य अकिञ्चित्करत्वात्, 'सर्वत्रैव हि विज्ञानं परार्थत्वेन गम्यते । पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्यताम् ॥' इत्यभियुक्तोक्तेः ॥ २० ॥

समुद्राय शिशुमारानालभते पर्जन्याय मण्डूकानद्भ्यो मत्स्यान् मित्राय कुलीपयान् वरुणाय नाक्रान् ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—तीन शिशुमार जलचरों को समुद्राभिमानी देवता के निमित्त, तीन मण्डूकों को पर्जन्य देवता के निमित्त, तीन मत्स्यों को जल देवता के निमित्त, तीन कुलीपयों को मित्र देवता के निमित्त और तीन नाकों को वरुण देवता के निमित्त नियुक्त करे ॥ २१ ॥

समुद्राय तदधिष्ठातृदेवतायै शिशुमारान् त्रीन् जलचरजन्तून् पशून् आलभते उपाकुर्यात् । पर्जन्याय पर्जन्याधिष्ठातृदेवतायै मण्डूकान् भेकान् त्रीन् पशून् उपाकुर्यात् । अद्भ्योऽबधिष्ठातृदेवताभ्यो मत्स्यान् त्रीन् पशूनुपाकुर्यात् । तत्र द्वितीयेऽन्तराले द्वौ ककरौ त्रीन् विककरान् त्रीन् शिशुमारान् त्रीन् मण्डूकान् द्वौ मत्स्यौ इति सम्मेल्य त्रयोदश पशूनुपाकुर्यात्, तृतीये चान्तरालेऽब्देवत्यमेकं मत्स्यमुपाकुर्यादिति विवेकः । मित्राय मित्रदेवतायै कुलीपयान् त्रीन् जलचरप्राणिविशेषान्, वरुणाय वरुणदेवतायै नाक्रान्, नक्रा एव नाक्राः, तान् त्रीन् जलचरविशेषान् पशून् तृतीय एवान्तराले उपाकुर्यात् । नाक्रान् नक्रापत्यभूतान् प्राणिन इति सायणाचार्यः ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, जलजन्तुपालनविद् यथा समुद्राय शिशुमारान् पर्जन्याय मण्डूकान् अद्भ्यो मत्स्यान् मित्राय कुलीपयान्, नाक्रान् वरुणायालभते, तथैव यूयमपि आलभध्वम्' इति, तदपि बालभाषितम्, सर्वेषां मनुष्याणां तत्प्राप्तेरनभीष्टत्वात् ॥ २१ ॥

सोमाय हꣳसानालभते वायवे बलाका इन्द्राग्निभ्यां क्रुञ्चान् मित्राय मद्गून् वरुणाय चक्रवाकान् ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—तीन हंसों को सोम देवता के निमित्त, तीन बलाकाओं को वायु के निमित्त, तीन क्रौंचों को इन्द्र और अग्नि देवता के निमित्त, तीन जलकाकों को मित्र देवता के निमित्त और तीन चक्रवाकों को वरुण देवता के निमित्त नियुक्त करे ॥ २२ ॥

सोमाय सोमदेवतायै हंसान् त्रीन् पशून् आलभते। वायवे वायुदेवतायै बलाकास्तिस्रो बकयोषितः। एतान् त्रयोदशपशून् तृतीयेऽन्तराले नियोजयेत्। अथ चतुर्थेऽन्तराले—इन्द्राग्निभ्यामिन्द्राग्निदेवताभ्यां क्रुञ्चान् त्रीन् पक्षिविशेषान् पशून् उपाकुर्यात्। मित्राय मित्रदेवतायै मद्गून् त्रीन् जलकाकान् उपाकुर्यात्। वरुणाय वरुणदेवतायै चक्रवाकान् नियोजयेत्।

अध्यात्मपक्षे पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'यथा पक्षिषु गुणविज्ञानी जनः सोमाय हंसान्····वरुणाय चक्रवाकानालभते, तथा यूयमप्यालभध्वम्' इति, तदपि निरर्थकमेव, अव्यवहार्यत्वात्। सिद्धान्ते तु तत्तद्देवताभ्यस्ते ते पशव उपयुज्यन्ते ॥ २२ ॥

अग्नये कुटरूनालभते वनस्पतिभ्य उलूकानग्नीषोमाभ्यां चाषानश्विभ्यां मयूरान् मित्रावरुणाभ्यां कपोतान् ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—तीन कुटुरों को अग्नि देवता के निमित्त, तीन उलूकों को वनस्पतियों के निमित्त, तीन चाषों को अग्नीषोम देवताओं के निमित्त, तीन मयूरों को अश्विनीकुमारों के निमित्त और तीन कपोतों को मित्रावरुण देवता के निमित्त नियुक्त करे ॥ २३ ॥

अग्नयेऽग्निदेवतायै कुटरून् कुक्कुटान् त्रीन् आलभते उपाकुर्यात्। वनस्पतिभ्यो वनस्पत्यधिष्ठातृदेवताभ्य उलूकान् काकवैरिणस्त्रीन् उपाकुर्यात्। तन्मध्ये एकमुलूकं चतुर्थेऽन्तराले। इति सम्मेल्य त्रयोदश पशून् चतुर्थेऽन्तराले उपाकुर्यादिति विवेकः। अथ पञ्चमेऽन्तराले शिष्टौ द्वा उलूकौ काकारी उपाकुर्यात्। अग्नीषोमाभ्यां चाषान् त्रीन् उपाकुर्यात्। अश्विभ्यां मयूरान् त्रीनुपाकुर्यात्। मित्रावरुणाभ्यां कपोतान् कपोताभिधान् त्रीन् पक्षिण उपाकुर्यात्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'कुक्कुटादिपक्षिणो न जानन्ति, तान् वर्धयन्ति' इति, तदपि मन्त्रबाह्यमेव, एतस्यार्थस्य अक्षराननुगुणत्वात् ॥ २३ ॥

सोमाय लवानालभते त्वष्ट्रे कौलीकान् गोषादीर्देवानां पत्नीभ्यः कुलीका देवजामिभ्योऽग्नये गृहपतये पारुष्णान् ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—तीन लवों को सोम के निमित्त, तीन कौलीकों को त्वष्टा के निमित्त, तीन गोषादियों को देवपत्नियों के निमित्त, तीन कुलीकाओं को देवबन्धुओं के निमित्त और तीन पारुष्णों को गृहपति अग्निदेवता के निमित्त नियुक्त करे ॥ २४ ॥

सोमाय सोमदेवतायै लवान् लावकान् त्रीन् पक्षिविशेषान् आलभते उपाकुर्यात् । त्रयाणां लावकानां मध्ये द्वौ पञ्चमेऽन्तराले (सम्मेल्य त्रयोदशपशून्) उपाकुर्यात् । अथ षष्ठेऽन्तराले लवमेकं सोमाय उपाकुर्यात् । त्वष्ट्रे त्वष्टृदेवतायै कौलीकान् एतन्नामकान् त्रीन् पक्षिविशेषान् उपाकुर्यात् । गोषादीः, गाः सादयन्तीति गोषाद्यः, ता गोषादीस्तिस्रः पक्षिणीर्देवानां पत्नीभ्य उपाकुर्यात् । कुलीकास्तिस्रः पक्षिणीर्देवजामिभ्यो देववधूभ्यः, 'जामिः स्वसृकुलस्त्रियोः' (अ० को० ३।३।१४२) इति कोषः । गृहपतयेऽग्नये गृहपतिसंज्ञायाग्नये पारुष्णान् त्रीन् (सम्भूय त्रयोदशपशून् षष्ठेऽन्तराले) उपाकुर्यात् ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'यथा पक्षिकर्मविज्जनः सोमाय लवान् त्वष्ट्रे कौलीकान् देवानां पत्नीभ्यो गोषादीर्देवजामिभ्यो विदुषां भगिनीभ्यः पारुष्णान् आलभते, तथैव यूयमालभध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषां पत्नीभ्यो भगिनीभ्यश्च पक्षिणामुपयोगावर्णनात् ॥ २४ ॥

अह्ने॑ पारा॒व॒ताना॑लभते रात्र्यै॑ सीचा॒पूर॑होरा॒त्रयोः॑ स॒न्धिभ्यो॑ ज॒तूर्मासे॑भ्यो दात्यौ॒हान् सं॑वत्स॒राय॑ मह॒तः सु॑प॒र्णान् ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—तीन पारावतों को दिवाभिमानी देवता के निमित्त, तीन सीचापुओं को रात्रि के अभिमानी देवता के निमित्त, तीन जतुओं को अहोरात्र की सन्धियों के निमित्त, तीन नीलकण्ठों को मासाभिमानी देवता के निमित्त और तीन बड़े सुपर्णों को संवत्सर के अभिमानी देवता के निमित्त नियुक्त करे ॥ २५ ॥

अथ सप्तमेऽन्तराले—अह्ने अहरभिमानिदेवतायै पारावतान् त्रीन् कलरवान् आलभते । रात्र्यै रात्र्यभिमानिदेवतायै सीचापूरेतदाख्यास्तिस्रः पक्षिणीः । अहोरात्रयोः सन्धिभ्योऽहोरात्रयोर्मध्ये ये सन्धयस्तदभिमानिदेवताभ्यो जतूः पात्राख्याः पक्षिणीस्तिस्र उपाकुर्यात् । मासेभ्यो मासाभिमानिदेवताभ्यो दात्यौहान् कालकण्ठान् त्रीन् उपाकुर्यात् । संवत्सराय संवत्सराभिमानिने देवाय महतः सुपर्णान् त्रीन् बृहत्पक्षिण उपाकुर्यात् । तत्र एकं बृहत्पक्षिणं सप्तमेऽन्तराले (सम्भूय त्रयोदशपशून् उपाकुर्यात्) । अथाष्टमेऽन्तराले द्वौ महान्तौ सुपर्णौ उपाकुर्यादिति विवेकः ।

अध्यात्मपक्षे—सर्वे चैते पक्षिणस्तच्छेषिणो देवाश्च ब्रह्मण्यध्यस्तत्वात् तद्रूपा एव, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अनङ्गीकारात् ।

दयानन्दस्तु—'ये मनुष्याः स्वस्वसमयानुकूलक्रीडाकराणां पक्षिणां स्वभावं विदित्वा स्वस्वभावं कुर्युः, ते बहुविदः स्युः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रबाह्यत्वात् ॥ २५ ॥

भूम्या॑ आ॒खूना॑लभते॒ऽन्तरि॑क्षाय पा॒ङ्क्त्रान् दि॒वे काशा॑न् दि॒ग्भ्यो न॒कु॒लान् ब॒भ्रु॒कान॑वान्तरदि॒शाभ्यः॑ ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—तीन मूषकों को भूमि के निमित्त, दो पांक्त्रों को अन्तरिक्ष के निमित्त, तीन काशों को स्वर्ग के निमित्त, तीन नकुलों को दिशाओं के निमित्त और तीन बभ्रुकों को विदिशाओं के निमित्त नियुक्त करे ।। २६ ।।

अथ बिलजान् प्राणिनः पशुत्वेनाह—भूम्या इति । भूम्यै भूम्यधिष्ठात्र्यै देवतायै आखून् मूषकान् त्रीनालभते उपाकुर्यात्, अष्टमेऽन्तराल इति शेषः । अन्तरिक्षाय अन्तरिक्षाधिष्ठातृदेवतायै पाङ्क्त्रान् मूषकजातिविशेषान् त्रीन् उपाकुर्यात् । दिवे द्युदेवतायै काशान् मूषकविशेषानेव त्रीनुपाकुर्यात् । दिग्भ्यो दिगधिष्ठातृदेवताभ्यो नकुलान् त्रीन् उपाकुर्यात् । अत्र द्वौ नकुलावष्टमे (सम्भूय त्रयोदशपशून्) उपाकुर्यात् । अथ नवमेऽन्तराले एकं नकुलमुपाकुर्यादिति विवेकः । बभ्रुकान् बिलचरप्राणिविशेषान् त्रीन् अवान्तरदिशाभ्यस्तदधिष्ठातृदेवताभ्य उपाकुर्यात् ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'ये भूम्यादिवद् मूषकादिगुणान् विदित्वोपकुर्युस्ते बहुविज्ञाना जायन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदबाह्यत्वात् ।। २६ ।।

वसुभ्य ऋश्यानालभते रुद्रेभ्यो रुरूनादित्येभ्यो न्यङ्कून् विश्वेभ्यो देवेभ्यः पृषतान् साध्येभ्यः कुलुङ्गान् ।। २७ ।।

मन्त्रार्थ - तीन ऋश्य मृगों को वसुओं के लिये, तीन रुरु मृगों को रुद्रों के लिये, तीन न्यंकु मृगों को आदित्यों के लिये, तीन पृषत् मृगों को विश्वेदेव देवताओं के लिये और तीन कुलुंगों को साध्यों के लिये नियुक्त करे ।। २७ ।।

अथारण्यान् पशूनाह—वसुभ्य इति । वसुभ्यो देवेभ्य ऋश्यान् त्रीन् मृगविशेषान् उपाकुर्यात् । रोहितानिति सायणः । नवमेऽन्तराल इति शेषः । रुद्रेभ्यो देवेभ्यो रुरून् त्रीन् महतः कृष्णसारान् उपाकुर्यात् । आदित्येभ्यो देवेभ्यो न्यङ्कून् त्रीन् मृगविशेषान् (सम्भूय त्रयोदशपशून् नवमेऽन्तराले) उपाकुर्यात् । अथ दशमेऽन्तराले - विश्वेभ्यो देवेभ्यः पृषतान् बहुभिर्बिन्दुभिर्युक्तान् त्रीन् पशूनुपाकुर्यात् । साध्येभ्यः, साध्या नाम देवगणास्तेभ्यः, कुलुङ्गान् त्रीन् हरिणानुपाकुर्यात् ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु -'वस्वादिभ्य ऋश्यादीन् यथालभते, तथा यूयमालभध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या तेषामुपयोगाविज्ञानात् ।। २७ ।।

ईशानाय परस्वत आलभते मित्राय गौरान् वरुणाय महिषान् बृहस्पतये गवयाँस्त्वष्ट्र उष्ट्रान् ।। २८ ।।

मन्त्रार्थ— तीन परस्वत् मृगों को ईशान के लिये, तीन गौर मृगों को मित्र के लिये, तीन महिषों को वरुण के लिये, तीन गवयों को बृहस्पति के लिये और तीन ऊँटों को त्वष्टा के लिये नियुक्त करे ।। २८ ।।

ईशानाय देवाय परस्वतस्त्रीन् मृगविशेषान् आलभते उपाकुर्यात्, दशमेऽन्तराल इति शेषः । मित्राय देवाय गौरान् त्रीन् मृगान् उपाकुर्यात् । वरुणाय वरुणदेवाय महिषान् त्रीन् उपाकुर्यात् । तत्रैकं महिषं दशमेऽन्तराले (सम्भूय त्रयोदशपशून्) उपाकुर्यात् । द्वौ च एकादशेऽन्तराले उपाकुर्यादिति विवेकः । बृहस्पतये

बृहस्पतिदेवतायै गवयान् गोसदृशान् आरण्यकपशून् त्रीन् उपाकुर्यात्, एकादशेऽन्तराल इति शेषः। त्वष्ट्रे त्वष्टृदेवतायै उष्ट्रान् त्रीनुपाकुर्यात्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दीयमतमपि पूर्ववन्निराकरणीयम्, तादृशकार्यकारणभावाप्रसिद्धेः। यो राजा मनुष्यो वा समर्थजनाय परस्वतो मृगानालभते, मित्राय गौरान् मृगान्, अतिथिश्रेष्ठाय महिषान्, महद्रक्षकाय गवयान्, त्वष्ट्रे, उष्ट्रानालभते प्राप्नोति, स धनधान्ययुक्तो भवतीति प्रमाणशून्यम्, को वा तेषां तेषां पशूनां तेषु तेषूपयोगः, किञ्च तत्र बीजमित्याद्यनुक्तेः॥ २८॥

प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते वाचे प्लुषींश्चक्षुषे मशकाञ्छ्रोत्राय भृङ्गाः॥ २९॥

मन्त्रार्थ—तीन नर हाथियों को प्रजापति के लिये, तीन वक्रतुण्डों को वाणी के लिये, तीन मशकों को चक्षु के लिये और तीन भ्रमरों को श्रोत्र के लिये नियुक्त करे॥ २९॥

प्रजापतये प्रजापतिसंज्ञकाय देवाय पुरुषान् पुंस्त्वविशिष्टान् हस्तिनस्त्रीन् आलभते उपाकुर्यात्, एकादशेऽन्तराल इति यावत्। वाचे वाग्देवतायै प्लुषीन् वक्रतुण्डान् त्रीनुपाकुर्यात्। तत्र द्वौ प्लुषी एकादशेऽन्तराले (सम्भूय त्रयोदशपशून्) उपाकुर्यात्। अथ द्वादशेऽन्तराले एकं प्लुषिम्। प्लुषिर्वक्रतुण्ड इति महीधरः, पुत्तिका इति द्विवेदगङ्गः, परमाणुतुल्यपुत्तिकादिशरीरमिति ब्रह्मयोगिनः, पुत्तिकाशरीरमिति भगवत्पादाः। चक्षुषे चक्षुरभिमानिदेवतायै मशकान् त्रीनुपाकुर्यात्, द्वादशेऽन्तराल इति यावत्। श्रोत्राय श्रोत्राधिष्ठातृदेवतायै भृङ्गाः, भृङ्गान् भ्रमरान् द्वादशेऽन्तराले नियुञ्जीतेति, विभक्तिव्यत्ययः। यद्वा भृङ्गास्त्रयो नियोज्या इति व्याख्येयम्। एवं त्रयस्त्रय आरण्याः पशवो गताः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वे चैते पशवस्तैर्यष्टव्याः, देवाश्च ब्रह्मोत्पन्नत्वात्, तद्विकारत्वात्, तत्कल्पितत्वाद्वा तद्रूपा एवेति मन्तव्यम्।

दयानन्दस्तु—'यो मनुष्यः प्रजापतये पुरुषान् हस्तिनो वाचे प्लुषीन् चक्षुषे मशकानालभते श्रोत्राय भृङ्गा आलभते, स बलिष्ठो दृढेन्द्रियो जायते' इति, तदपि निरर्थकम्, तदुपयोगानिरूपणात्, भृङ्गा आलभते इत्यसङ्गतेश्च॥ २९॥

प्रजापतये च वायवे च गोमृगो वरुणायारण्यो मेषो यमाय कृष्णो मनुष्यराजाय मर्कटः शार्दूलाय रोहिदृषभाय गवयी क्षिप्रश्येनाय वर्तिका नीलङ्गोः क्रिमिः समुद्राय शिशुमारो हिमवते हस्ती॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति और वायुदेवता के लिये गवय को, वरुण के लिये वन के मेष को, यम के लिये काले मेष को, मनुष्य राजा के लिये मर्कट को, शार्दूल के लिये रोहित को, ऋषभ के लिये गवयी को, शीघ्रगामी श्येन की अधिष्ठात्री देवता के लिये वर्तिका को, नीलंगव के लिये क्षुद्र कीट को, समुद्र के लिये शिशुमार को और हिमालय के लिये हस्ती को नियुक्त करे॥ ३०॥

अथैकैकश आलभ्यान् पशूनाह—प्रजेति। प्रजापतये च वायवे च गोमृगो गोसदृशो मृगो गवय एक आलब्धव्यः, एकवचनत्वात्। स च द्वादशेऽन्तराले। वरुणाय वरुणदेवतायै आरण्योऽरण्यजातो मेष एक

आलब्धव्यः। यमाय यमदेवतायै कृष्णः कृष्णवर्ण एको मेष आलब्धव्यः। मनुष्यराजाय मनुष्याणां राजा मनुष्यराजस्तस्मै मनुष्यराजाभिमानिदेवतायै मर्कटः कपिरेक आलब्धव्यः। शार्दूलाय व्याघ्राद्यधिष्ठातृदेवतायै रोहिद् रोहित ऋष्य एको नियोक्तव्यः, छान्दसोऽकारलोपः। ऋषभाय ऋषभाख्यदेवतायै गवयी गवयमृगस्त्री एका (सम्भूय एतान् त्रयोदशपशून् द्वादशेऽन्तराले नियुञ्ज्यात्)। अथ त्रयोदशेऽन्तराले—क्षिप्रश्येनाय क्षिप्रगुणयुक्तश्येनाय वर्तिका एतन्नाम्नी पक्षिणी आलब्धव्या। नीलङ्गोः, नीलङ्गवे, विभक्तिव्यत्ययः, नितरां लङ्गति गच्छतीति नीलङ्गुः, क्रिमिजातिः, तस्मै। 'नीलङ्गुस्तु क्रिमिः' (अ० को० २।५।१३) इत्यमरः, नीलङ्ग्वधिष्ठातृदेवतायै कृमिः, क्राम्यतीति कृमिः, 'क्रमितमिशतिस्तम्भामत इच्च' (उ० ४।१२३) इति इन्-प्रत्ययः, अकारस्येकारादेशश्च। अनया प्रक्रियया क्रिमिशब्दसिद्धिः। अस्मिन् सूत्रे सम्प्रसारणानुवृत्तौ कृमिरिति साधुः। कीट एक आलब्धव्यः। समुद्राय तदधिष्ठातृदेवतायै शिशुमारो जलचरविशेष एक आलब्धव्यः। हिमवते हिमोऽस्त्यत्रेति हिमवान्, तन्नामा पर्वतविशेषः, तस्मै तदधिष्ठातृदेवाय हस्ती एक आलब्धव्यः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिः प्रजापतये वरुणाय च गोमृगः ···· हिमवते हस्ती च प्रयोक्तव्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रयोगस्वरूपानिरूपणात्॥ ३०॥

मयुः प्राजापत्य उलो हलिक्ष्णो वृषदꣳशस्ते धात्रे दिशां कङ्को धुङ्क्षाग्नेयी कलविङ्को लोहिताहिः पुष्करसादस्ते त्वाष्ट्रा वाचे क्रुञ्चः॥ ३१॥

मन्त्रार्थ – तुरंगवदन किन्नर प्रजापति देवता को समर्पित है। उल मृग, हलिक्ष्ण सिंह और बिडाल ये धाता के लिये हैं। दिशाओं के निमित्त कंक, धुंक्ष अग्नि देवता के निमित्त, चटक, लाल सर्प और कमलभक्षी पक्षी – ये सब त्वष्टा देवता के निमित्त और क्रुंच वाग्देवता के लिये नियुक्त है॥ ३१॥

मयुस्तुरङ्गवदनः किन्नरः प्राजापत्यः प्रजापतिदेवत्यः, प्रजापतिदेवतार्थमालब्धव्यः। उलो मृगविशेषः। हलिक्ष्णः, महद् हलं हलिः, तद्वाहकानपि महाबलान् वृषभान् क्षिणोति हिनस्तीति हलिक्ष्णः सिंहविशेषः, वृषदंशो वृषान् आखून् दशतीति वृषदंशो मार्जारः, एते ते पशवो धातृशब्दाभिधेयाय प्रजापतये आलब्धव्याः। दिशां दिग्देवतानां कृते कङ्कः, बक इति महीधरः, लोहपृष्ठनामा पक्षिविशेष इति सायणः। धुङ्क्षा पक्षिणी इति महीधरः, धुङ्क्षो ध्वाङ्क्षः काकविशेषः। तज्जातीया स्त्री धुङ्क्षा। एका सा आग्नेयी अग्निदेवत्या, अग्नये आलब्धव्येति यावत्। कलविङ्कश्चटकः, लोहिताही रक्तसर्पः, पुष्करसादी पुष्करे कमले सीदतीति पुष्करसादः कमलभक्षी पक्षिविशेषः, ते त्रयस्त्वाष्ट्रास्त्वष्टृदेवत्यास्त्वष्टृदेवतायै आलब्धव्याः। सम्भूय एते त्रयोदश पशवस्त्रयोदशेऽन्तराल आलब्धव्याः। अथ चतुर्दशे—वाचे वाग्देवतायै क्रुञ्च उच्चैःशब्दकारी क्रौञ्चाख्यः पक्षी सारस एक आलब्धव्यः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—पूर्ववदेवान्वयः। 'ये शृगालसर्पादीन् वशं नयन्ति, ते धुरन्धराः सन्तीति भावार्थः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पदपदार्थासम्बन्धात्॥ ३१॥

सोमाय कुलुङ्ग आरण्योऽजो नकुलः शका ते पौष्णाः क्रोष्टा मायोरिन्द्रस्य गौरमृगः पिद्वो न्यङ्कुः कक्कटस्तेऽनुमत्यै प्रतिश्रुत्कायै चक्रवाकः॥ ३२॥

मन्त्रार्थ—सोम के लिये कुलुंग हरिण, वन का छाग, नकुल और शकुन्ती पूषा देवता के निमित्त, शृगाल मायु देवता के निमित्त, गौर मृग इन्द्र के निमित्त, न्यंकु, पिद्व और कक्कट अनुमती देवी के निमित्त और चक्रवाक प्रतिश्रुत्का देवता के निमित्त नियोजित है ॥ ३२ ॥

सोमाय सोमदेवतायै कुलुङ्गः कुरङ्गो हरिण एकश्चतुर्दशेऽवकाश आलब्धव्यः। आरण्यः अरण्योद्भवः, अजश्छागः, नकुलः सर्पाहिरेकः, शका शकुन्तिका एका, त एते त्रयः पशवः पौष्णाः पूषदेवत्याश्चतुर्दशेऽवकाशे आलब्धव्याः। क्रोष्टा शृगाल एकः, मायोः मिनोति प्रक्षिपति पित्तमिति मायुर्मृत्युः, तस्य। मायवे मृत्युदेवतायै एकस्तत्रैवालब्धव्यः। इन्द्रस्य इन्द्राय देवराजाय गौरमृग आरण्यो मृगविशेष एक आलब्धव्यः। तथा पिद्वो मृगविशेषः, व्याघ्र इति सायणः, एकः। न्यङ्कुः नितरामञ्चतीति न्यङ्कुर्मृगविशेष एकः। कक्कटः मृगविशेषः, कर्कटक इति सायणः, एकः। त एते त्रयः। अनुमत्यै अनुमतिदेवतायै आलब्धव्याः। प्रतिश्रुत्कायै प्रतिध्वनिदेवतायै चक्रवाको रथाङ्गनामा पक्षी एकश्चतुर्दशेऽवकाशे नियोज्यः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यदि युष्माभिः सोमाय कुलुङ्गः, आरण्योऽजः, प्रतिश्रुत्कायै चक्रवाकः सम्प्रयुज्यते, तर्हि बहु कृत्यं कर्तुं शक्येत' इति, तदपि निरर्थकम्, मन्त्राक्षराऽनानुगुण्यात्। एतादृशैर्व्याख्यानैरिदमेव स्पष्टं भवति यत् प्राचीनं परम्पराप्राप्तं सायणादिव्याख्यानमुपेक्ष्य यत्किञ्चित् प्रलपितमेव श्रुतिषु बलादारोप्यत इति ॥ ३२ ॥

सौरी बलाका शार्गः सृजयः शयाण्डकस्ते मैत्राः सरस्वत्यै शारिः पुरुषवाक् श्वाविद् भौमी शार्दूलो वृकः पृदाकुस्ते मन्यवे सरस्वते शुकः पुरुषवाक् ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—बलाका सूर्य के निमित्त, शार्ङ्ग, सृजय और शयाण्डक नामक पक्षी मित्र देवता के लिये, पुरुष के समान बोलने वाली मैना सरस्वती के लिये, साही भूमि देवता के लिये, व्याघ्र, चीता और सर्प मन्यु देवता के लिये और पुरुष के समान बोलने वाला तोता समुद्र के लिये नियोजित है ॥ ३३ ॥

सौरी सूर्यदेवत्या बलाका बिसकण्डिका बकस्त्री एका चतुर्दशेऽन्तराले नियोज्या। शार्गः पक्षिविशेषः, सृजयो नीलमक्षिका, शुक्लसर्प इत्येके, नीलपक्षिणी इत्यपरे। शयाण्डकः पक्षिविशेष इति महीधरः, कृकलास इति सायणः। ते त्रयो मैत्रा मित्रदेवत्या उपाकर्तव्याः। तत्र शार्गश्चतुर्दशेऽन्तराल उपाकर्तव्यः। अथ पञ्चदशेऽन्तराले—सृजयः शयाण्डकश्च उपाकरणीयौ। सरस्वत्यै सरस्वतीदेवतायै शारिः शारिका शुकस्त्री एका उपाकरणीया। तद्विशेषणं पुरुषवागिति, पुरुषवद्वक्तीति पुरुषवाक्। श्वाविद् श्वानं विध्यतीति श्वावित् शल्यकः सेधा (साही), यस्य लोमानि शल इत्याख्यायन्ते तज्जातीया स्त्री एका भौमी भूमिदेवत्या पञ्चदशेऽन्तराले उपाकरणीया। शार्दूलो व्याघ्रः, वृकश्चित्रक इति महीधरः, बालमारक इति सायणः। पृदाकुः सर्पः। त एते त्रयो मन्यवे मन्युदेवतायै पञ्चदशेऽन्तराले उपाकर्तव्याः। सरस्वते समुद्राय देवाय शुकः पुरुषवाग् एक उपाकर्तव्यः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'ये बलाकादयः पशुपक्षिणस्तेषां मध्यात् केचित् पालनीयाः, केचित्ताडनीयाः सन्तीति वेद्यमिति भावार्थः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्। अक्षराऽननुगुणत्वात् ॥ ३३ ॥

सुपर्णः पार्जन्य आतिर्वाहसो दर्विदा ते वायवे बृहस्पतये वाचस्पतये पैङ्गराजोऽलज आन्तरिक्षः प्लवो मद्गुर्मत्स्यस्ते नदीपतये द्यावापृथिवीयः कूर्मः ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—सुपर्ण पर्जन्य देवता के निमित्त, आति, वाहस और कठकुटा पक्षी वायु देवता के निमित्त, पैंगराज पक्षी वाणी के स्वामी बृहस्पति देवता के निमित्त, अलज अन्तरिक्ष के निमित्त, प्लव, कारण्डव और मत्स्य समुद्र के निमित्त और कच्छप द्यावापृथिवी के निमित्त नियुक्त किया गया है ॥ ३४ ॥

सुपर्णो गरुत्मान् पक्षीन्द्रजातीय एकः पक्षी पार्जन्यः पर्जन्यदेवत्यः पञ्चदशेऽन्तराले उपाकरणीयः। आतिः आडी, कक्कुटी इति सायणः। वाहसः (मात्रावाहकः) शुक्तिकान्तर्गतो जलप्राणिविशेषः। दर्विदा दर्विणा श्येनेन आदीयत इति दर्विदा जलपक्षी, द्रुमकुक्कुट इत्येक इति सायणः, काष्ठकुट्ट इति महीधरः। ते त्रयो वायवे वायुदेवतायै उपाकरणीयाः। बृहस्पतये बृहतां पतिर्बृहस्पतिः, एतन्नामा देवः, तस्मै। वाचस्पतये वाचो वाण्याः पतिर्वाचस्पतिः, एतद्गुणविशिष्टस्तस्मै सुरगुरवे देवाय पैङ्गराजः, पक्षिविशेष इति महीधरः, भरद्वाजाख्यः पक्षी समुद्रतरङ्गेषु संचारी महापक्षी पैङ्गराज इति केचिदिति सायणः। सम्भूय एते त्रयोदश पशवः पञ्चदशेऽवकाशे उपाकरणीयाः। अथ षोडशेऽवकाशे—अलजो भाषाख्यः पत्रिविशेषः, आन्तरिक्षोऽन्तरिक्ष-देवत्य उपाकरणीयः। प्लवो मज्जन् मज्जन् वर्तमानो जलचरः पक्षी, मद्गुर्जलकाक इति सायणः, कारण्डव इति महीधरः। मत्स्यः प्रसिद्धः, त एते त्रयः पशवो नदीपतये समुद्रदेवतायै उपाकरणीयाः। कूर्मः कच्छपो द्यावापृथिवीयो द्यावापृथिवीदेवत्यः षोडशेऽवकाशे उपाकरणीयः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'यः सुपर्णः स पार्जन्यो य आतिर्वाहः सः दर्विदा च ते वायवे पैङ्गराजो बृहस्पतये वाच-स्पतये''''यः कूर्मः स द्यावापृथिवीयश्च विज्ञेयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बन्धविशेषस्यानिरूपणात् सम्बन्ध-सामान्यस्यावक्तव्यत्वाच्च ॥ ३४ ॥

पुरुषमृगश्चन्द्रमसो गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनां कृकवाकुः सावित्रो हꣳसो वातस्य नाक्रो मकरः कुलीपयस्तेऽकूपारस्य ह्रियै शल्यकः ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—पुरुष मृग चन्द्रमा के निमित्त, गोधा, कालका और सारस वनस्पति देवता के निमित्त, ताम्रचूड़ सविता देवता के निमित्त, हंस वायु देवता के निमित्त, नाक, मकर और कुलीपय समुद्र के निमित्त तथा साही ह्री देवता के निमित्त नियुक्त किये गये हैं ॥ ३५ ॥

पुरुषमृगः पुम्मृगः, चन्द्रमसश्चन्द्रमसे देवाय आलम्भनीयः। 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।३।६२) इति षष्ठी। पुरुषाकारो मृग इति सायणः। गोधा (गोहशब्देन लोके ख्यातो जन्तुविशेषः), मुसलिकेति सायणः, महागोधेत्येके। कालका पक्षिविशेष इति महीधरः। उपलखण्डिनीति सायणः। दार्वाघाटः सारसः। द्रुमकुक्कुट इति सायणः। त एते त्रयो वनस्पतीनां वनस्पतिदेवताभ्यः षोडशेऽन्तराले प्रोक्षणीयाः। कृकवाकुः कृकेन गलेन वक्तीति कृकवाकुस्ताम्रचूडः सावित्रः सवितृदेवत्यः षोडशेऽन्तराले प्रोक्षणीयः। हंसो वातस्य वाताय वायुदेवतायै षोडशेऽन्तराले प्रोक्षणीयः। नाक्रः, न आक्राम्यतीति नाक्रो दीर्घतुण्डो ग्राहः, दीर्घपुच्छो मत्स्यविशेष इत्येके। मकरः सर्पतुण्डः। कुलीपयो बहुपान्मत्स्यविशेषः, त एते त्रयो जलचरविशेषा अकूपारस्य

अकूपाराय समुद्राय देवाय आलभ्याः। तत्र द्वौ षोडशेऽन्तराले, एकः कुलीपयश्च सप्तदशेऽन्तराले आलभ्यः। ह्रियै लज्जादेवतायै शल्यक एकः सप्तदशेऽन्तराले आलभ्यः।

अध्यात्मपक्षे— पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः पुरुषमृगः स चन्द्रमसो ये गोधादयस्ते वनस्पतीनां ह्रियै लज्जायै शल्यको विज्ञेयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बन्धविशेषानिरूपणात्॥ ३५॥

एण्यह्नो मण्डूको मूषिका तित्तिरिस्ते सर्पाणां लोपाश आश्विनः कृष्णो रात्र्या ऋक्षो जतूः सुषिलीका त इतरजनानां जहका वैष्णवी॥ ३६॥

मन्त्रार्थ—मृगी अह्नो देवता के निमित्त, मण्डूक, मूषक और तीतर सर्पों के निमित्त, लोपाश अश्विनीकुमारों के निमित्त, कृष्णमृग रात्रि के निमित्त, भालू, जतू और सुषिलीका इतर जनदेवताओं के निमित्त एवं जहका विष्णु देवता के निमित्त नियुक्त किये गये हैं॥ ३६॥

एणी मृगी, बिन्दुमती हरिणीति सायणः। अह्नः अहर्देवतायै सप्तदशेऽन्तराले नियोज्या। मण्डूको भेकः, मूषिका आखुः, तित्तिरिः कुररः, त एते त्रयः पशवः सर्पाणां सर्पेभ्यः सप्तदशेऽन्तराले नियोज्याः। लोपाशो वनचरविशेषः, क्रोष्टेति सायणः। आश्विनः अश्विदेवत्यः सप्तदशेऽन्तराले नियोज्यः। कृष्णः कृष्णमृगः, रात्र्यै रात्रिदेवतायै नियोज्यः। ऋक्षो भल्लूकः, जतूः जतुका अजिनपत्रा, सुषिलीका प्राणिविशेषः, जतूः सुषिलीका च पक्षिविशेषाविति महीधरः। त एते त्रयः पशव इतरजनानामितरजनाधिष्ठातृदेवेभ्यो नियोज्याः। जहका गात्रसङ्कोचनी वैष्णवी विष्णुदेवत्या। एते सर्वे पशवः सप्तदशेऽन्तराले नियोज्याः।

अध्यात्मपक्षे पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिर्यैणी साह्नः, ये मण्डूका मूषिका तित्तिरिश्च ते सर्पाणाम्, यो लोपाशः स आश्विनः, यः कृष्णः स रात्र्यै, य ऋक्षो जतुः सुषिलीका च त इतरजनानाम्, या जहका सा वैष्णवी च विज्ञेया' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भावार्थस्यास्पष्टत्वात्। इतरजनाः के? तेषां लोपाशादिभिः किं प्रयोजनं सिद्ध्यति? मण्डूकमूषिकातित्तिरीणां सर्पेषु क उपयोग इत्यनुक्तेः॥ ३६॥

अन्यवापोऽर्धमासानामृश्यो मयूरः सुपर्णस्ते गन्धर्वाणामपामुद्रो मासां कश्यपो रोहित्कुण्डृणाची गोलत्तिका तेऽप्सरसां मृत्यवेऽसितः॥ ३७॥

मन्त्रार्थ—कोयल शुक्ल और कृष्ण पक्ष के देवताओं के निमित्त, ऋष्य मृग, मोर और सुपर्ण गन्धर्वों के निमित्त, कर्कट जल देवता के निमित्त, कच्छप मास देवता के निमित्त, रोहित, वनचरी और गोलत्तिका अप्सराओं के निमित्त तथा कृष्ण पशु मृत्यु देवता के निमित्त नियुक्त हैं॥ ३७॥

अन्यवापः परभृतः कोकिलः पक्षी अर्धमासनामकानां देवानां पशुः, अन्यवापो मृगविशेष इति सायणः। एते सम्भूय त्रयोदश पशवः सप्तदशेऽवकाशे नियोज्याः। अथाष्टादशेऽवकाशे—ऋश्यो मृगविशेषः, रोहित इति सायणः। मयूरो बर्ही, सुपर्णो गरुत्मान्, श्येन इति सायणः। त एते त्रयो गन्धर्वाणां पशवोऽष्टादशेऽवकाशे नियोज्याः। उद्रो जलचरः कर्कटसंज्ञोऽपां पशुः, उद्र उदनशीलः पक्षिविशेष इति सायणः। मासां मासाधि-

देवतानां कश्यपः कच्छपः । कश्यपः पक्षिविशेष इति सायणः । रोहिद् ऋश्यस्त्री, कुण्डृणाची वनचरीविशेषः । गृहगोधिकेति सायणः । गोलत्तिका सापि वनचरीविशेषः । खञ्जरीटकेति सायणः । पीतशुक्लेति केचित् । त एते त्रयः पशवोऽप्सरसां देवतानाम् । मृत्यवे मृत्युदेवतायै असितः कृष्णः पशुः, कृष्णसर्प इति सायणः ।

अध्यात्मपक्षे एते पशवस्तत्सम्बन्धिनो देवाश्च ब्रह्मात्मका एव, तद्विकारत्वात् ।

दयानन्दस्तु—अन्वयं पदार्थं च महीधरादिवदेवाह । भावार्थे तु—'ये कालादिगुणाः पशुपक्षिणस्ते उपकारिणः सन्तीति वेद्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथात्वे देवसम्बन्धवर्णनस्य नैरर्थक्यापातः । न च देवानां गुणाः पशुषु विवक्षिता इति वाच्यम्, अर्धमासानां के गुणाः कोकिले विद्यन्त इत्याद्यनिरूपणात् ॥ ३७॥

वर्षाहूर्ऋतूनामाखुः कशो मान्थालस्ते पितृणां बलायाजगरो वसूनां कपिञ्जलः कपोत उलूकः शशस्ते निर्ऋत्यै वरुणायारण्यो मेषः ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—भेकी ऋतु देवताओं के निमित्त, मूषक, कश और मान्थाल पितरों के निमित्त, अजगर बल के लिये, कपिंजल वसु देवताओं के लिये, कपोत, उलूक और शश निर्ऋति देवता के लिये एवं वन का मेष वरुण देवता के लिये नियुक्त हैं ॥ ३८ ॥

वर्षाहूः वर्षाभूः, वर्षासु भवतीति । भेकीति महीधरः, भेक इति सायणः । स ऋतूनाम् ऋतुदेवानां पशुः । आखुः कशो मान्थाल इति त्रयोऽपि मूषकविशेषाः । त एते त्रयः पितृणां पितृदेवानां पशवः । सम्भूय एते त्रयोदश पशवोऽष्टादशेऽवकाशे नियोज्याः । अथ एकोनविंशेऽवकाशे—बलाय बलदेवतायै अजगरो महासर्पः, एकः पशुरेकोनविंशेऽवकाशे नियोज्यः । वसूनां वसुदेवताभ्यः कपिञ्जल एकः पशुर्नियोज्यः । 'चित्रपक्षः कपिञ्जलः' इति सायणोद्धृतं वचनम् । कपोतः, उलूकः, शशः—त एते त्रयः पशवो निर्ऋत्यै निर्ऋतिदेवतायै नियोक्तव्याः । वरुणाय वरुणदेवतायै आरण्यो मेष एकः पशुर्नियोज्यः ।

अध्यात्मपक्षे सर्वे चैते पशवस्तद्देवताश्च ब्रह्मरूपा इति ब्रह्मणः सार्वात्म्यं निगदव्याख्यातम् ।

दयानन्दस्तु—'ऋत्वादिगुणाः पशुपक्षिणस्ते तद्गुणा विज्ञेयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आख्वादीनां पितृगुणत्वानुपपत्तेः ॥ ३८ ॥

श्वित्र आदित्यानामुष्ट्रो घृणीवान् वार्ध्रीनसस्ते मत्या अरण्याय सृमरो रुरू रौद्रः क्वयिः कुटरुर्दात्यौहस्ते वाजिनां कामाय पिकः ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—चितकबरा मृग आदित्य देवताओं के लिये, ऊँट, चील और कण्ठ में स्तन वाले पशु मति देवता के निमित्त, गवय अरण्य के निमित्त, रुरु रुद्र देवता के लिये, क्वयि, मुर्गा और कालकण्ठ वाजी देवता के लिये तथा कोयल कामदेव के लिये नियुक्त हैं ॥ ३९ ॥

श्वित्रः श्वेतः पशुरिति महीधरः, पशुविशेष इति सायणः, आदित्यानां पशुर्भवति । उष्ट्रो दीर्घग्रीवो घृणीवान् घृणिवान्, संहितायां दीर्घः, तेजस्वी पशुविशेषः, वार्ध्रीनसः कण्ठे स्तनवानजः, त एते त्रयो मत्यै बुद्ध्यभिमानिदेवतायै । अरण्याय देवाय सृमरो गवयः, रुरुर्महाकृष्णसारः, रौद्रो रुद्रदेवत्यः, क्वयिः पक्षिविशेषः । सम्मेल्य एते त्रयोदश पशव एकोनविंशेऽवकाशे नियोज्याः । अथ विंशेऽवकाशे—कुटरुः कुक्कुटः, दात्यौहः कालकण्ठः—त एते त्रयः क्वयि-कुटरु-दात्यौहा वाजिनां देवतानाम् । तत्र क्वयिरेकोनविंशेऽवकाशे नियोज्यः । कुटरुदाहौत्यौ च विंशेऽवकाशे नियोज्याविति विवेकः । कामाय देवाय पिको विंशेऽवकाशे नियोज्यः ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'ये आदित्यगुणाः पशुपक्षिणस्ते तत्तत्स्वभावाः सन्तीति वेद्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उष्ट्रादीनां मतिगुणत्वादर्शनात् ॥ ३९ ॥

खड्गो वैश्वदेवः श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभस्तरक्षुस्ते रक्षसामिन्द्राय सूकरः सिꣳहो मारुतः कृकलासः पिप्पका शकुनिस्ते शरव्यायै विश्वेषां देवानां पृषतः ॥ ४० ॥

॥ इति चतुर्विंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—गेंड़ा विश्वेदेव देवताओं के लिये, काला कुत्ता, छिन्न कानों वाला गदहा और व्याघ्र राक्षसों के निमित्त, सूकर इन्द्र के लिये, सिंह मरुद् देवताओं के लिये, गिरगिट, पिप्पका और शकुनि शरव्या देवता के लिये और पृषत् मृग विश्वेदेव देवों के निमित्त नियुक्त किये गये हैं ॥ ४० ॥

खड्गो मृगविशेषो वैश्वदेवो विश्वदेवदेवत्यो विशेऽवकाशे नियोज्यः। श्वा कृष्ण एकः कृष्णवर्णः सारमेयः, द्वितीयः कर्णः छिन्नकर्णो गर्दभः, तृतीयस्तरक्षुर्मृगादनः—त एते त्रयो रक्षसां पशवः। इन्द्राय सूकर एको नियोज्यः। सिंहो मारुतो मरुद्देवत्यः, कृकलासः सरटः, पिप्पका पक्षिणी, शकुनिः पक्षी—ते त्रयः पशवः शरव्यायै, शरव्यं लक्ष्यम्, तदभिमानिदेवतायै। पिप्पका कुलायिनाम्नी पक्षिणी, शकुनिः काक इति सायणः। एकः पृषतः पृषद्भिर्बिन्दुभिर्युक्तो मृगविशेषो विश्वेषां देवानां पशुर्भवति। विश्वेभ्यो देवेभ्यो जुष्टं नियुनज्मीति नियोज्यः। सम्भूय एते त्रयोदश पशवो विशेऽवकाशे नियोज्याः। एवं षष्ट्यधिकं शतद्वयमारण्याः पशव उक्ताः।

एतदुक्तं भवति—'अश्वस्तूपरो गोमृगः' (वा० सं० २४।१) इति प्रधानभूताः पशवः, 'रोहितो धूम्ररोहितः' (वा० सं० २४।२) इत्याद्याः पञ्चदशिनः, 'कृष्णग्रीवा आग्नेया बभ्रवः सोम्याः' (वा० सं० २४।१४) इत्याद्याश्चातुर्मास्यपशवः, 'वसन्ताय कपिञ्जलान्' (वा० सं० २४।२०) इत्याद्या ऋतुपशवः, 'समुद्राय शिशुमारान्' (वा० सं० २४।२१) इत्याद्याः पञ्चदशिनः, 'प्रजापतये च वायवे च गोमृगः' (वा० सं० २४।३०) इत्याद्या एकादशिनः। अत्र द्वाविंशतिरेकादशिनः, सप्तविंशत्यधिकानि त्रीणि शतान्यश्वादयः सौर्यान्ताः, षष्ट्यधिकं शतद्वयं कपिञ्जलादयः पृषतान्ता आरण्याः पशवः। सर्वे मिलित्वा षट्शतानि नवाधिकानि पशवो भवन्ति। अत्र श्लोकः—'षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिश्चाधिकानि च ॥' इति। तेष्वारण्याः सर्व उत्स्रष्टव्याः, न तु हिंस्याः।

अत्रार्थे ब्राह्मणम्—'तदाहुः। अपशुर्वा एष यदारण्यो नैतस्य होतव्यं यज्जुहुयात्क्षिप्रं यजमानमरण्यं मृतꣳ हरेयुररण्यभागा ह्यारण्याः पशवो यन्न जुहुयाद्यज्ञवेशसꣳ स्यादिति पर्यग्निकृतानेवोत्सृजन्ति तन्नैव हुतं नाहुतं न यजमानमरण्यं मृतꣳ हरन्ति न यज्ञवेशसꣳ भवति' (श० १३।२।४।३)। प्रसन्नं ब्राह्मणम्। अत्र ये दुर्लभा दुर्ग्रहाश्चारण्याः पशवस्तान् सर्वान् पटे चित्ररूपे लिखित्वा तेषामुपाकरणादिसंस्काराः कर्तव्या इति केचित्।

तमिममर्थं कात्यायनोऽप्यसूत्रयत्—'पञ्चदश पञ्चदश रोहितादीन् सौर्यान्तानितरेषु' (का० श्रौ० २०।६।५)। इतरेषु यूपेषु पञ्चदश पञ्चदश पशून्नियुञ्ज्यादिति सूत्रार्थः। तेन सप्तदश मध्यमे, षोडश षोडशेतरेषु यूपेषु बद्धाः। अत्र २२ ऐकादशिनाः, ३२७ अश्वादयः सौर्यान्ताः, २६० कपिञ्जलादयः। एवं सङ्कलय्य ६०९ पशवः। 'कपिञ्जलादीन् पृषतान्तांस्त्रयोदश त्रयोदश यूपान्तरेषु' (का० श्रौ० २०।६।६)। 'वसन्ताय कपिञ्जलान्' (वा० सं० २४।२०) इत्यारभ्य 'विश्वेषां देवानां पृषतः' (वा० सं० २४।४०) इत्यन्तान् त्रयोदश त्रयोदश

संख्याकान् पशून् यूपानामन्तरालेष्ववकाशेषूत्पत्तिक्रमेण नियुञ्ज्यात् । 'कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्' (का० श्रौ० २०।६।९) । अत्र नियोगक्रमेणोत्सर्गः । ततस्ते कपिञ्जलादयः पञ्जरादेर्निष्काश्य मुच्यन्ते । ततो यथेच्छं गच्छन्ति ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु— 'ये सर्वे पशुपक्षिणः सर्वगुणाः सन्ति, तान् विज्ञाय व्यवहारसिद्धये सर्वे मनुष्या नियोजयन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात् ।

'प्रजापतेरक्ष्यश्वयत् । तत्परापतत्ततोऽश्वः समभवद्यदश्वयत्तदश्वस्याश्वत्वं तद्देवा अश्वमेधेनैव प्रत्यदधुरेष ह वै प्रजापतिꣳ सर्वं करोति योऽश्वमेधेन यजते सर्व एव भवति सर्वस्य वा एषा प्रायश्चित्तिः सर्वस्य भेषजꣳ सर्वं वा एतेन पाप्मानं देवा अतरन्नपि वा एतेन ब्रह्महत्यामतरंस्तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' (श० १३।३।१।१) । 'सोऽकामयत । मेध्यं म इदꣳ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति ततोऽश्वः समभवत्' (श० १०।६।५।७) इति सकलप्राजापत्यकार्यात्मताऽश्वस्य दर्शिता । तस्यैव सर्वप्राप्तिफलं वक्ष्यते । इह तु प्रजापत्यक्षिप्रभवत्वं ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं चोच्यते । कथं नामानेनैव दर्शनेन प्रायश्चित्तिं प्रयुञ्जीत । अश्वयत् स्वतन्त्रतया बहिः पतितं गतम् । ततोऽक्ष्णो देवतामाहाभाग्यादश्वः सम्बभूव । तदेतदश्वशब्दनिर्वचनं दर्शनार्थम् । तदक्षि देवा अश्वमेधेन क्रतुना तस्मिन् प्रजापतौ प्रतीपं स्थापितवन्तः । एष एव प्रजापतिं सर्वमविकलमधियज्ञं करोति, योऽश्वमेधेन क्रतुना यजते । स च तदनुकारेणाविकल एव भवति । सर्वस्य च पातकोपपातकादेः पापस्यैषाऽश्वमेधात्मिका प्रायश्चित्तिः, सर्वस्य भेषजम्, सर्वस्य जन्मान्तरकृतपापप्रभवव्याधेरेषोऽश्वमेधः भेषजम् ।

'एष वै प्रभूर्नाम यज्ञः । यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव प्रभूतं भवति' (श० १३।३।७।१) । (१) प्रभूः, (२) विभूः, (३) व्यष्टिः, (४) विधृतिः, (५) व्यावृत्तिः, (६) ऊर्जस्वान्, (७) पयस्वान्, (८) ब्रह्मवर्चसी, (९) अतिव्याधी, (१०) दीर्घः, (११) क्लृप्तिः, (१२) प्रतिष्ठा—इति द्वादशनामभिरश्वमेधस्तुतिः ।

'एतत्पारिप्लवम् । सर्वाणि राज्यान्याचष्टे सर्वा विशः सर्वान् वेदान् सर्वाणि भूतानि सर्वेषाꣳ ह वै स एतेषाꣳ राज्यानाꣳ सायुज्यꣳ सलोकतामश्नुते सर्वासां विशामैश्वर्यमाधिपत्यं गच्छति सर्वान् वेदानवरुन्धे सर्वान् देवान् प्रीत्वा सर्वेषु भूतेष्वन्ततः प्रतितिष्ठति यस्यैवंविदेतद्धोता पारिप्लवमाख्यानमाचष्टे यो वैतदेवं वेदैतदेव समानमाख्यानं पुनः पुनः संवत्सरं परिप्लवते तद्यत्पुनः पुनः परिप्लवते तस्मात् पारिप्लवꣳ षट्त्रिꣳ शतं दशाहानाचष्टे षट्त्रिꣳशदक्षरा बृहती बार्हताः पशवो बृहत्यैवास्मै पशूनवरुन्धे' (श० १३।४।३।१५) । एतत्पारिप्लवाख्यानमित्युपसंहारः । सर्वाणि राज्यान्याचष्टे होता । तत्र पारिप्लवमिति दर्शनार्थानुवादः । एष एव तु आवृत्तिविधिः । तद्यत्पुनः पुनरिति । पारिप्लवमिति सावनसंवत्सरपरिग्रहाय वचनम् । इतरथा पार्वणो वा सौरो वा नाक्षत्रो वा संवत्सरः पक्षे परिगृह्येत । अथवा दर्शनार्थ एवायमनुवादः । ततः श्रुतिवाक्यशेषबलादेव सावनः संवत्सरो नियम्यते, 'सावने संवत्सरे षट्त्रिꣳशतं दशाहानाचष्टे' इति वचनात् । स च अश्वोत्सर्गदिवसादारभ्य गणनीयः, न ब्रह्मौदनदिवसात् । कुतः ? 'संवत्सरꣳ रक्षन्ति' (श० १३।४।२।१६) इति वचनात् ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

शादं दद्भिरवकां दन्तमूलैर्मृदं बर्स्वैस्तेगां दꣳष्ट्राभ्याꣳ सरस्वत्या अग्रजिह्वं जिह्वाया उत्सादमवक्रन्देन तालु वाजꣳ हनुभ्यामप आस्येन वृषणमाण्डाभ्यामादित्याँश्मश्रुभिः पन्थानं भ्रूभ्यां द्यावापृथिवी वर्त्तोभ्यां विद्युतं कनीनकाभ्याꣳ शुक्लाय स्वाहा कृष्णाय स्वाहा पार्याणि पक्ष्माण्यवार्या इक्षवोऽवार्याणि पक्ष्माणि पार्या इक्षवः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—इस अध्याय के प्रथम नौ मन्त्रों से विभिन्न देवताओं को पशुओं के अंग अर्पित किये जाते हैं और घृत की आहुति दी जाती है। मन्त्रों के अर्थ इस प्रकार हैं—दाँतों से शाद नामक महाकाल को प्रसन्न करता हूँ। दन्तमूलों से अवका नामक महाकाली को, दन्तपीठ से अपरा प्रकृति मिट्टी को, दाढ़ों से परा प्रकृति तेगा को, अथवा हे प्रजापते ! तुम्हारी वाणी को प्रसन्न करता हूँ। जिह्वाग्र से सरस्वती को, जिह्वा से प्रलयाग्नि के अधिष्ठाता उत्साद देवता को, तालु से जल देवता अवक्रन्द को, हनुभाग से अन्नाधिष्ठात्री देवता को, मुख से जल देवता को, वृषणों से कामना के दाता देवता को, श्मश्रु से आदित्यों को, दोनों भौंहों से देवयान मार्ग की अधिष्ठात्री देवता को, पलकों से द्यावापृथिवी को, नेत्र की पुतलियों से विद्युत् देवता को प्रसन्न करता हूँ। सत्त्वगुणमय विष्णुदेव के निमित्त और तमोगुणमय रुद्रदेव के निमित्त श्रेष्ठ आहुति देता हूँ। नेत्रों के ऊपर की पलकों के देवता पार हैं, नीचे की पलकों के देवता अवार हैं ॥ १ ॥

'स्विष्टकृद्वनस्पत्यन्तरे शूल्यꣳ हुत्वा देवताऽश्वाङ्गेभ्यो जुहोत्यमुष्मै स्वाहेति प्रतिदेवतꣳ शादप्रभृतित्वगन्तेभ्यः' (का० श्रौ० २०।८।४), 'विमुखान्न परेभ्यः' (का० श्रौ० २०।८।५)। स्विष्टकृद्वनस्पत्योरन्तरे वनस्पतियागानन्तरं स्विष्टकृद्यागात् पूर्वं शूले संस्कृतं शूल्यं मांसं 'प्राजापत्योऽश्वः' (तै० सं० ३।२।६।३) इति तित्तिरिवचनात् प्रजापतये हुत्वा अमुष्मै स्वाहेति प्रतिदेवतं शादादित्वगन्तेभ्यो देवताश्वाङ्गेभ्यो देवताभ्योऽश्वाङ्गेभ्यश्च घृतं जुहुयात्, अनादेशे घृतस्य उक्तत्वात्। तत्र शादं दद्भिरित्यादि पृथिवी त्वचेत्यन्तः संहिताभागो ब्राह्मणं न मन्त्राः। शादादयो देवताः, दन्तादीन्यङ्गानि। ततश्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा शादाय स्वाहा, दद्भ्यः स्वाहा, अवकाभ्यः स्वाहा, दन्तमूलेभ्यः स्वाहेत्यादि पृथिव्यै स्वाहा त्वचे स्वाहेत्यन्तं जुहुयादित्येकः पक्षः शाखान्तरोदितः। स्वपक्षे तु 'शादं दद्भिः' इत्यादिमन्त्रेषु द्वितीयया विभक्त्या निर्दिष्टाः शादादयोऽश्वमेधाङ्गभूता देवताः। दद्भिरित्यादि तृतीयया विभक्त्या निर्दिष्टानि हवींषि। अत्र शादमित्यादि द्वितीयानिर्दिष्टान् देवविशेषान् दद्भिरित्यादि तृतीयानिर्दिष्टैर्हविर्भिः प्रीणामि, स्वाहेत्यध्याहारेण वाक्यपूर्तिः। ततश्च शादं दद्भिः प्रीणामि स्वाहेत्यादयो होममन्त्राः।

तत्र देवता भोक्त्री द्वितीयया, अश्वाङ्गं भोग्यं च तृतीयया निर्दिश्यते। क्वचित् केवला देवतैव निर्दिश्यते, यथा शुक्लाय स्वाहा, कृष्णाय स्वाहेति। क्वचिद्विभक्त्यन्तरेणैव द्रव्यदेवतयोर्निर्देशः, यथाग्नेः पक्षतिर्वायोर्निपक्षतिरिति। तथा च श्रुतिः—'शादं दद्भिरवकान् दन्तमूलैरित्याज्यमवदाना कृत्वा प्रत्याख्यायन् देवताभ्य आहुतीर्जुहोति या एव देवता अपिभागास्ता भागधेयेन समर्धयति' (श० १३।३।४।१)। शादनामकं शादनशीलं तदभिमानिदेवविशेषं दद्भिरश्वदन्तैः, प्रीणयामीति शेषः। तदर्थमवत्तमिदमाज्यं स्वाहुतमस्त्विति

होमार्थमध्याहृतस्य स्वाहाशब्दस्यार्थः। आज्यमवदानीकृत्वा आज्यमेवाश्वाङ्गत्वेन परिकल्प्य प्रत्याख्याय अवदानमवदानं प्रति शादादिदेवता आख्यायाख्याय आज्याहुतीर्जुहोति। सङ्कल्पिताश्वाङ्गभवा घृताहुतीः शादादिभ्यो ददाति। एवं कुर्वन्नपिभागाः, अपिः कल्पनार्थः, कल्पितभागास्ता देवता भागेन समर्धयति, प्रीणातीत्यर्थः।

अथ कण्डिकार्थः—दद्भिरश्वदन्तैः शादं देवं प्रीणयामि। दन्तमूलैरवकां देवतां प्रीणामि। मृदं शादावकयोरधस्तात् वर्तमाना घनीभूता या मृत् तां तदभिमानिदेवतां वस्वैर्दन्तस्याधस्ताद् ग्रन्थिरूपेण वर्तमानैर्मांसविशेषैर्दन्तपीठाख्यैः प्रीणामि। 'वस्वं स्याद्दन्तपीठिका'। शादादयोऽप्रसिद्धाः देवाः, आदित्यादयः प्रसिद्धाः। अश्वस्य दंष्ट्राभ्यां पूतदन्ताभ्यां तेगां देवतां प्रीणामि। तेगा नाम जलचराः प्राणिनः, तदभिमानिनो देवानिति यावत्। सरस्वत्यै अग्रजिह्वम्। अत्र चतुर्थ्या देवतोद्देशः (देवतानामकीर्तनम्) प्रथमया चाङ्गस्य। अतो विभक्तिव्यत्ययः कार्यः। जिह्वाया अग्रम्, अग्रजिह्वम्। 'राजदन्तादिषु परम्' (पा० सू० २।२।३१) इति जिह्वाशब्दस्य परनिपातः, 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (पा० सू० ६।३।६३) इति ह्रस्वे च रूपम्। जिह्वाग्रेण अग्रजिह्वेन सरस्वतीं प्रीणामि। जिह्वाया उत्सादम्, अत्र षष्ठ्याश्वाङ्गोद्देशः, द्वितीयया च देवस्य। विभक्तिव्यत्ययः। जिह्वया उत्सादम् उत्सः कूपः, जलप्रस्रवणं वा, तदत्तीति उत्सादः, तदभिमानिनं देवं प्रीणामि। अथवा उद् ऊर्ध्वं सादयति जनानित्युत्सादः, तम्। यद्वा उत्सीदन्ति नश्यन्ति दोषा यस्मिंस्तमुत्सादम्, अथवा चतुर्थ्या देवतोद्देशो जिह्वायै, उत्सादम् उत्सृजन्तं जिह्वामध्यम्, उत्सादेन जिह्वामध्येन जिह्वां तदभिमानिनीं देवतां प्रीणामि। अवक्रन्देन तालु। तत्र देवे तृतीया, अङ्गे प्रथमा, व्यत्ययः। अव अवाचीनं क्रन्दति आह्वयतीत्यवक्रन्दः। तालुनाऽवक्रन्दं देवं प्रीणामि। अथवाऽवक्रन्दो जिह्वामूलम्। तेन तालु तदभिमानिदेवतां प्रीणामि। यद्वा अवक्रन्दन्ति दुष्टा यस्मात्तम्। वाजम्, 'वाज इति बलनाम' तदभिमानिदेवतां हनुभ्याम्, दन्तपङ्क्तिर्यत्र समाप्यते ते हनू वक्त्रैकदेशौ, ताभ्यां प्रीणामि, अश्वसम्बन्धिभ्यां हनुभ्यामिति यावत्। अपोऽब्देवता आस्येन अश्वसम्बन्धिमुखेन प्रीणामि। वृषणं कामानां वर्षणशीलं देवम् आण्डाभ्यां वृषणाभ्यां प्रीणामि। आदित्यान् अदितिसुतान् देवान् श्मश्रुभिरश्वमुखकेशैः प्रीणामि। पन्थानं मार्गं मार्गरक्षकं देवं भ्रूभ्याम् अश्वस्य ललाटगरोमपङ्क्तिभ्यां प्रीणामि। द्यावापृथिवी देवते वर्तोभ्याम्, वर्ताः पक्ष्मपङ्क्तिः, द्विवचने वर्तसौ, ताभ्यां प्रीणामि। अथवा गमनागमनाभ्यां द्यावापृथिवी सूर्यभूमी प्रीणामि। विद्युतं विद्युद्देवतां कनीनकाभ्यां नेत्रमध्यवर्तिकृष्णगोलाभ्यां प्रीणामि। शुक्लाय स्वाहा, कृष्णाय स्वाहा इति देवोद्देश एव न त्वङ्गम्। शुक्लाय कृष्णाय देवाय स्वाहा सुहुतमस्तु। यद्वोभयत्र चतुर्थ्या अश्वाङ्गमेव निर्दिश्यते। प्राजापत्योऽश्व इति वचनाद् देवोऽध्याहर्तव्यः। शुक्लेन कृष्णेन चाश्वाङ्गेन प्रजापतिं प्रीणामि। एवं लोमभ्यः स्वाहा इत्यादावपि बोध्यम्। पार्याणि नयनस्योपरिभागभवानि पक्ष्माणि अक्षिरोमाणि। अत्र तद्धितेन देवतोद्देशः। पार्याणि पारदेवत्यानि ततः पक्ष्मभिः पारं देवं प्रीणामि। अवार्या इक्षवोऽवारेऽधोभागे वर्तमाना या इक्षव ईक्षणशक्तयः, इक्षवोऽवारदेवत्याः। तत इक्षुभिरवारं प्रीणामि। विपरीतं वा अवारदेवत्यानि पक्ष्माणि। इक्षवः पार्याः पारदेवत्याः। शं कल्याणम् आसमन्ताद् ददातीति शादं परब्रह्म। अवति सर्वमित्यवका परदेवता। औणादिको वुन्। तत्परोक्षमिदन्तया गच्छत्यवगच्छति जानातीति तेगा देवताविशेषः। पृषोदरादीनि यथोपदिष्टमिति रूपसिद्धिः।

अध्यात्मपक्षे—अश्वस्तदङ्गानि तैः प्रीणनीया देवताश्च ब्रह्मरूपा एव, तस्यैव सर्वात्मत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे जिज्ञासो, ते दद्भिः शादं शीयते छिनत्ति यस्मिंस्तं व्यवहारं दन्तमूलैर्वस्वैर्दन्तपृष्ठैश्चावकां रक्षिकां मृदं दंष्ट्राभ्यां सरस्वत्यै प्रशस्तविज्ञानवत्यै वाचे गां वाणीं जिह्वाया अग्रजिह्वम् अवक्रन्दे विकलतारहितेनोत्सादम् ऊर्ध्वं सीदन्ति यस्मिंस्तम्, तालु आस्यावयवम्, हनुभ्यां मुखैकदेशाभ्यां वाजमन्नम्, आस्येन आस्यन्दन्ति क्लेदीभवन्ति यस्मिंस्तेनापो जलानि, आण्डाभ्यां वीर्यधाराभ्यां वृषणं वर्षयितारम्, श्मश्रुभिः

आदित्यान् मुख्यान् विदुषो भ्रूभ्यां पन्थानं वर्तोभ्यां गमनागमनाभ्यां द्यावापृथिवी सूर्यभूमी कनीनकाभ्यां कृष्णगोलकताराभ्यां विद्युतमहं बोधयामि, त्वया शुक्राय स्वाहा ब्रह्मचर्यक्रियया कृष्णाय विद्याकर्षणाय स्वाहा सुशीलतायुक्तया क्रियया पार्याणि पूरयितुं योग्यानि पक्ष्माणि परिग्रहीतुं योग्यानि कर्माणि नेत्रोर्ध्वलोमानि अवार्याणि अवारे भवा इक्षवोऽवार्याण्यवारेषु भवानि पक्ष्माणि परिग्रहणानि लोमानि वा, पार्याः पारितुं पालयितुं योग्या इक्षवो गुडादिनिमित्ताः संग्राह्याः' इति, तदपि साहसमात्रम्, निर्मूलत्वात्। मूलेऽवबोधयामीति पदमपि नास्ति। कथञ्चित् तदध्याहारेऽपि दन्तैः शादनव्यवहारं बोधयामीति प्रथमवाक्यस्यार्थः स्यात्, तदपि निरर्थकमेव, पश्वादिभिरपि जन्मनैव दन्तैश्छेदनव्यवहारस्य ज्ञातत्वात्। दन्तमूलैर्वर्स्वैः दन्तपृष्ठैः, अवकां रक्षिकां मृत्तिकामवबोधयामीत्यपि निरर्थकमेव, दन्तानां मूलैः पृष्ठैश्च रक्षिकायाः मृत्तिकायाः कथमवबोधन-मित्यनुक्तेः। तथैव दंष्ट्राभ्यां वाचे वाणीं बोधयामीत्यस्य को वार्थः? जिह्वाया अग्रजिह्वबोधनमपि कथमिति वक्तव्यम्? अवक्रन्दशब्दस्य विकलतारहितव्यवहारोऽपि नार्थः, निर्मूलत्वात्। कथञ्चित् तदभ्युपगमेऽपि कथं तेन तालुबोधनम्? आस्येन जलबोधनमित्यादिकमपि बालभाषितम्, तद्बोधने तदहेतुत्वात्, लोके सिद्धहेत्वन्तरस्य च सत्त्वात्। आण्डाभ्यां वृषणबोधनं भवति किम्?, तदन्तरापि तज्ज्ञानस्य सिद्धत्वात्। श्मश्रुभिर्विदुषां बोधन-मभ्युपेयते चेदहो धाष्टर्चम्, अविदुषामपि श्मश्रुसत्त्वात्। भ्रूभ्यां मार्गबोधनम्, गमनागमनाभ्यां सूर्यभूमि-बोधनमित्यादिकमपि निर्मूलम्। शुक्लशब्दस्य वीर्यार्थता कृष्णशब्दस्य कर्षणार्थतापि निर्मूलैव। न च स्वाहा-पदस्य ब्रह्मचर्यक्रियार्थता न वा सुन्दरशीलयुक्तक्रियार्थता, निर्मूलत्वात्। अन्यदपि सर्वमस्पष्टमनुपपन्नं चेत्यलं दोषगवेषणेन। सर्वोऽप्यस्यार्थः श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वादुपेक्षणीय एव॥ १॥

वातं॑ प्रा॒णेना॑पा॒नेन॒ नासि॑के उपया॒मम॑ध॒रेणौष्ठे॑न॒ सदुत्त॑रेण॒ प्रका॑शे॒नान्त॑रमनूका॒शेन॒ बाह्यं॑ निवे॒ष्यं मू॒र्ध्ना स्त॑नयि॒त्नुं नि॑र्बा॒धेना॒शनिं॑ म॒स्तिष्के॑ण वि॒द्युतं॑ क॒नीन॑काभ्यां॒ कर्णा॑भ्या॒ᳪ श्रोत्र॒ᳪ श्रोत्रा॑भ्यां॒ कर्णौ॑ ते॒दनी॑मध॒रक॑ण्ठेना॒पः शु॑ष्कक॒ण्ठेन॑ चि॒त्तं मन्या॑भि॒रदि॑ति॒ᳪ शी॒र्ष्णा निर्ऋ॑तिं॒ निर्ज॑र्जल्येन शी॒र्ष्णा सं॑क्रो॒शैः प्रा॒णान् रे॒ष्माण॑ᳪ स्तु॒पेन॑॥ २॥

मन्त्रार्थ—प्राण से वायु को, अपान से विराट् पुरुष की नासिका को, नीचे के ओठ से उपयाम देवता को, ऊपर के ओठ से सत् देवता को, ऊपर की शारीरिक कान्ति से आन्तर देवता को, नीचे के शरीर की कान्ति से बाह्य देवता को, मस्तक से प्रवेशयोग्य व्यापक परमात्मा को, सिर की अस्थि में लगे मज्जा भाग से स्तनयित्नु को, शिर में स्थित जर्जर मांस भाग से अशनि देवता को, आँखों की पुतलियों से ब्रह्मशक्ति विद्युत् को, कानों से समष्टि श्रोत्र देवता को, श्रोत्रेन्द्रियों से समष्टि कर्ण देवता को, कण्ठ के अधोभाग से तेदनी देवता को, शुष्क कण्ठ से जल देवता को, ग्रीवा की पिछली नाड़ियों से समष्टि चित्त को, शिर से अदिति को, अति जर्जरित शिरो भाग से मृत्यु भार्या को, शब्द युक्त अंगों से प्राणों को और शिखा रूप ऊँचे अंग से अनाहत शब्दमयी ब्रह्मज्योति को तृप्त करता हूँ॥ २॥

अश्वमेधीयस्य हयस्य प्राणेन प्राणवायुना वातं देवं प्रीणामि। तस्यापानेनापानवायुना नासिके नासि-काभिमानिदेवते प्रीणामि। उपयाममुपयामसाधनं देवताविशेषम्, अधरेणौष्ठेन अधोभागवर्तिना ओष्ठेन प्रीणामि। सत् सत्संज्ञं सत्ताभिमानिदेवं वा, उत्तरेण उपरितनेन ओष्ठेन प्रीणामि। प्रकाशेनोपरितनदेहकान्त्या अन्तरं देवम् अश्वदेहान्तर्वर्तमानमन्तरात्मानं वा प्रीणामि। अनूकाशेन अधस्तनदेहकान्त्या 'उपसर्गस्य

घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (पा० सू० ६।३।१२२) इत्यनोर्दीर्घः। बाह्यम् अश्वस्य बाह्याङ्गसम्बन्धिनीं देवतां प्रीणामि। मूर्ध्ना मस्तकेन निवेष्यं निषेकस्य पालकं देवं प्रीणामि। निर्बाधेन निश्चितं बध्यते निर्बाधः, शिरोऽस्थिमध्यसंलग्नो मज्जाभागः शिरःकपालं वा, तेन स्तनयित्नुं मेघगर्जनाभिमानिदेवं प्रीणामि। मस्तिष्केण मस्यत इति मस्ति, तन्मस्कत इति मस्तिष्कम्। पृषोदरादिः। शिरोमध्यस्थजर्जरो मांसभागः। तेन शिरःकपालवर्तिना मांसेन अशनिं देवं प्रीणामि। 'मस्तिष्कं गोर्दम्' (अ० को० २।६।६५), मस्तकमिष्यति गच्छतीति मस्तिष्कम्, 'इष् गतौ', मस्तकमज्जेति क्षीरस्वामी। कनीनकाभ्यां विद्युतं प्रीणामीति। कर्णाभ्यां कर्णशष्कुलीभ्यां श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियाभिमानिदेवं प्रीणामि। श्रोत्राभ्यां श्रोत्रेन्द्रियाभ्यां कर्णौ देवौ प्रीणामि। अधरकण्ठेन कण्ठस्याधरोऽधोभागोऽधरकण्ठः, तेन तेदनीं तीक्ष्णां देवतां प्रीणामि। शुष्ककण्ठेन शुष्को रसविधुरः कण्ठः शुष्ककण्ठः, यद्वा कण्ठस्य यः शुष्को निर्मांसप्रदेशस्तेन अपो देवताः प्रीणामि। मन्याभिः, मन्यत आभिरिति मन्याः, ग्रीवापश्चान्नाड्यः, यद्वा मनोवृत्तयः, ताभिश्चित्तं चित्ताभिमानिदेवतां प्रीणामि। 'पश्चाद्ग्रीवा शिरा मन्या' (अ० को० २।६।६५) इत्यमरः। शीर्ष्णा शिरसा 'शीर्षंछन्दसि' (पा० सू० ६।१।६०) इति शीर्षन्नादेशः, अदितिम् अखण्डनीयां देवतां प्रीणामि। निर्जर्जल्येन नितरां जर्जरीभूतेन शिरोभागेन, जर्जल्याः केसरा इति सायणाचार्यः, तद्रहितेन शीर्ष्णा शिरोभागेन निर्ऋतिं नियता ऋतिर्घृणा जुगुप्सा यस्यां सा निर्ऋतिः पापदेवता, यद्वा निर्गता ऋतेः शुभादिति निर्ऋतिरलक्ष्मीर्देवता, 'स्यादलक्ष्मीस्तु निर्ऋतिः' (अ० को० १।९।२) इत्यमरकोषात्, तां निर्ऋतिं देवतां प्रीणामि। संक्रोशैः सम्यक् क्रोशन्ति शब्दायन्ते यानि तानि संक्रोशानि, गच्छतोऽश्वस्य यान्यङ्गानि शब्दं कुर्वन्ति, तैरङ्गैः प्राणान् प्राणदेवताः प्रीणामि। यद्वा सम्यक् क्रुश्यन्त इति संक्रोशा ह्लेषाशब्दाः, तैः प्राणान् देवान् प्रीणामि। स्तुपेन उच्छ्रितेन शिखाभूतेनाङ्गेन, समुत्सृजेन शिरोभागेनेति सायणः, रेष्माणं रेष्मणशीलां देवतां प्रीणामि। 'स्तूप उच्छ्राये' इति धातोः रूपम्। छान्दसो ह्रस्वः। एष क्षीरस्वाम्यादिसम्मतः पाठः।

अध्यात्मपक्षे – वातं वाताधिष्ठातारम्, नासिके नासिकाधिष्ठातारौ, उपयामम् उपयामग्रहाधिष्ठातारम्, सदिति सत्याधिष्ठातारम्, अन्तरं सर्वान्तरमन्तर्यामिणम्, बाह्यं बाह्यप्रपञ्चाधिष्ठातारम्, निवेष्यं नितरां व्यापकम्, स्तनयित्न्वधिष्ठातारम्, अशन्यधिष्ठातारम्, विद्युतं रेष्माणं प्रलयहेतुं देवं तैस्तैरश्वमेधीयाश्वाङ्गैः संवत्सरकालात्मकप्रजापत्यवयवभिन्नं तर्पयित्वा तदात्मको भूत्वा ब्रह्मात्मभावं प्राप्नोतीति शेषः। 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥' (भ० गी० ४।२४) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु – 'हे जिज्ञासो, उपदेशग्रहणेन त्वं प्राणेनापानेन वातं वायुं नासिके उपयाममुपगतनियममधरेणौष्ठेन उत्तरेण उपरिस्थेन प्रकाशेन सदन्तरमाभ्यन्तरमनूकाशेन अनुप्रकाशेन बाह्यं मूर्ध्ना निवेष्यं निश्चयेन व्याप्तुं योग्यं निर्बाधेन नितरां बाधेन हेतुना सह स्तनयित्नुं शब्दनिमित्तां विद्युतम् अशनिम् व्यापिकां घोषयुक्तां मस्तिष्केण विद्युतं कनीनकाभ्यां प्रदीप्ताभ्यां कमनीयाभ्यां कर्णाभ्यां श्रोत्रं शृणोति येन तत् श्रोत्राभ्यां च श्रोत्रं तेदनीं श्रवणक्रियाम् अधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तं मन्याभिर्विज्ञानक्रियाभिरदितिमनाशिकां क्रियां शीर्ष्णा शिरसा निर्ऋतिं भूमिं निर्जर्जल्येन शीर्ष्णा नितरां जर्जरीभूतेन शीर्ष्णा संक्रोशैः सम्यगाह्वानैः प्राणान् प्राप्नुहि। स्तुपेन हिंसनेन रेष्माणमविद्यादिरोगं हिन्धि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशकार्यकारणभावस्यासिद्धत्वात्। वायुविशेषस्यैव प्राणत्वमिति प्राणेन वातप्राप्तिरात्माश्रयदोषदुष्टा। अपानेन नासिकाप्राप्तिरपि चिन्त्यैव। न चाधरेणौष्ठेन प्राप्तनियमप्राप्तिः सम्भवति, न च निर्बाधेन स्तनयित्नुप्राप्तिरपि। मस्तिष्केण विद्युत्प्राप्तिरपि तथैव। तेदनीशब्दस्य श्रवणक्रियार्थतापि निर्मूलैव। प्राप्नुहि, हिन्धीत्याद्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव ॥ २ ॥

म॒श॒कान् केशै॒रिन्द्र॑ᳯं स्वप॑सा वहे॑न बृह॒स्पति॑ᳯं शकुनिसा॒देन॑ कू॒र्मा॑ञ्छ॒फैरा॒क्रम॑णᳯं स्थू॒राभ्या॑मृक्ष॒ला॑भिः क॒पिञ्ज॑लान् ज॒वं जङ्घा॑भ्याम॒ध्वान॑ं बा॒हुभ्यां॑ जाम्बी॒लेना॑र॑ण्यम॒ग्निम॑ति॒रुग्भ्यां॑ पू॒षणं॑ दो॒र्भ्याम॒श्विना॒वᳯंसा॑भ्याᳯं रु॒द्रᳯं रोरा॑भ्याम् ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—केशों से मशक या गगनस्थित मेघों को, शुभ कर्मों के कर्ता स्कन्ध से इन्द्र को, पक्षी समान गमन करने वाले जीवात्मा से बृहस्पति को, खुरों से कूर्म देवताओं को, गुल्फों से आक्रमण देवता को, गुल्फ के नीचे की नाड़ियों से कपिंजलों को, जंघाओं से वेग के देवता को, भुजाओं से मार्ग के देवता को, जंबीर फलाकार जानु के मध्य भाग से वन देवताओं को, अतिसुन्दर जानुओं से अग्नि देवता को, दोनों बाहुओं से पूषा देवता को, दोनों कन्धों से अश्विनीकुमारों को और कन्धों की गाँठों से रुद्र देवता को तृप्त करता हूँ ॥ ३ ॥

केशैरश्वस्य स्कन्धरोमभिर्मशकान् तदभिमानिदेवान् प्रीणामि। स्वपसा वहेन, अप इति कर्मनाम, सु शोभनम् अपः कर्म (पर्याणधारण-नरवाहनादिकं) यस्य स स्वपाः, तेन। वहतीति वहः स्कन्धः, तेन इन्द्रं देवं प्रीणामि। शकुनिसादेन सादो गमनं वेगवत् कूर्दनम्, शकुनिवत्सादः शकुनिसादस्तेन बृहस्पतिं देवं प्रीणामि। शफैः खुरैः कूर्मान् देवान् प्रीणामि। स्थूराभ्यां स्थूलाभ्याम्, रलयोरभेदः, गुल्फाभ्यामिति शेषः, आक्रमणं देवं प्रीणामि। ऋक्षलाभिर्गुल्फाधःस्थाभिर्नाडीभिः कपिञ्जलान् चित्रपक्षाभिमानिनो देवान् प्रीणामि। जङ्घाभ्यां गुल्फजानुनोर्मध्यभागाभ्यां जवं देवं प्रीणामि। बाहुभ्यामग्रपादयोर्जानूर्ध्वभागाभ्याम् अध्वानं देवं प्रीणामि। जाम्बीलेन जम्बीरस्य तरोः फलं जाम्बीरम्, तदेव जाम्बीलम्, रलयोरभेदात्, लक्षणया तदाकारो जानुमध्य-भागो जाम्बील उच्यते, तेनारण्यं देवं प्रीणामि। अतिरुग्भ्यां अतिरोचेते यौ तावतिरुचौ जानुदेशौ, ताभ्यामग्निं देवं प्रीणामि। दोर्भ्याम् अग्रपादयोर्जान्वधो दोषौ करौ, ताभ्यां पूषणं देवं प्रीणामि। अंसाभ्यां स्कन्धाभ्या-मश्विनौ देवौ प्रीणामि। रोरावंसग्रन्थी, ताभ्यां रुद्रं देवं प्रीणामि।

अध्यात्मपक्षे—सर्वे देवाः परमात्मांशत्वात् तद्रूपा एव। अश्वाङ्गानि च प्रजापत्यवयवत्वात् तद्रूपाण्येव। मशकास्तदधिष्ठातारो देवाः, कूर्मास्तदधिष्ठातारो देवाः। आक्रमणाधिष्ठातृदेव एवाक्रमणपदवाच्यो देवः। जवाध्वारण्यपदान्यपि तत्तदधिष्ठातृदेवतापराण्येव। अन्ये च देवाः प्रसिद्धा एव।

दयानन्दस्तु—'मनुष्यैर्बहुभिरुपायैरुत्तमा गुणाः प्रापणीयाः, विघ्नाश्च निवारणीयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्राक्षरैस्तदसिद्धेः। न च केशैरिन्द्रप्राप्तिर्दृश्यते। न च शकुनिसादेन कूर्मान् मशकांश्च कश्चिदाप्नोति। तत्प्राप्तावपि न किञ्चित् फलम्। न च मनुष्येषु खुराः सम्भवन्ति। तस्मात् श्रुतिसूत्रानुसारि सायणमहीधरादि-सम्मताश्वमेधीयादिसम्बन्धिप्राणादिपरमेव व्याख्यानं युक्तम् ॥ ३ ॥

अ॒ग्नेः प॑क्ष॒तिर्वा॒योर्निप॑क्षति॒रिन्द्र॑स्य तृ॒तीया॒ सोम॑स्य चतु॒र्थ्यदि॑त्यै पञ्च॒मीन्द्रा॒ण्यै ष॒ष्ठी म॒रुता॑ᳯं सप्त॒मी बृह॒स्पते॑रष्ट॒म्य॒र्य॒म्णो न॑व॒मी धा॒तुर्द॑श॒मीन्द्र॑स्यैकाद॒शी वरु॑णस्य द्वाद॒शी य॒मस्य॑ त्रयोद॒शी ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ दक्षिण पार्श्व की अस्थि से अग्नि देवता को, दक्षिण पार्श्व की दूसरी अस्थि से वायु देवता को, तीसरी से इन्द्र को, चौथी से सोम को, पाँचवीं से अदिति को, छठी से इन्द्राणी को, सातवीं से मरुद्देवताओं को, आठवीं से बृहस्पति को, नवीं से अर्यमा को, दसवीं से धाता को, ग्यारहवीं से इन्द्र को, बारहवीं से वरुण को और तेरहवीं से यम देवता को तृप्त करता हूँ ॥ ४ ॥

अत्र कण्डिकायां षष्ठ्या देवतोद्बोधनम्, प्रथमया चाङ्गस्य। ततोऽस्त्वित्यध्याहारः। अग्नेर्देवस्य पक्षतिरस्तु। 'पक्षो मासार्धके पार्श्वे ग्रहे साध्यविरोधयोः। केशादेः परतो वृन्दे बले सखिसहाययोः॥ चुल्लीरन्ध्रे पतत्रे च वाजिकुञ्जरपार्श्वयोः।' (मेदिनी० १६६।१८-१९) इत्यभिधानादत्र पक्षशब्दः पार्श्ववाची। पक्षस्य मूलं पक्षतिः। 'पक्षात्तिः' (पा० सू० ५।२।२५) इति मूलार्थे तिप्रत्ययः। ततः पक्षस्य पार्श्वस्य मूलभूतान्यस्थीनि वङ्क्रिशब्द-वाच्यानि पक्षतिशब्देनोच्यन्ते। तानि च प्रतिपार्श्वं त्रयोदश भवन्ति, 'षड्विᳪंशतिरस्य वङ्क्रयः' (शां० ब्रा० १०।४) इति श्रुतेः। तेषां क्रमेण देवतासम्बन्धं वक्ति— तत्रादौ दक्षिणपार्श्वास्थ्नां देवता आह—अग्नेः पक्षतिरिति। पक्षतिः प्रथमं दक्षिणपार्श्वास्थि अग्नेरस्तु। विभक्तिव्यत्ययो वा। अश्वमेधीयाश्वस्य पक्षत्याग्निं देवं प्रीणामीति। वायोर्निपक्षतिः। ततो निम्ना पक्षतिर्निपक्षतिः, द्वितीयं दक्षिणपार्श्वास्थि वायोर्देवस्यास्तु। द्वितीयदक्षिणपार्श्वास्थ्ना वायुं देवं प्रीणामीति वा। एवमग्रेऽपि व्याख्येयम्। तृतीया पक्षतिरिन्द्रस्य, चतुर्थी पक्षतिः सोमस्य, पञ्चमी पक्षतिरदित्यै अदितेः। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। इन्द्राण्यै इन्द्राण्याः षष्ठी पक्षतिः। मरुतां सप्तमी पक्षतिः। बृहस्पतेरष्टमी पक्षतिः। अर्यम्णो देवस्य नवमी पक्षतिः। धातुर्देवस्य दशमी पक्षतिः। इन्द्रस्य देवस्य एकादशी पक्षतिः। वरुणस्य देवस्य द्वादशी पक्षतिः। यमस्य देवस्य त्रयोदशी पक्षतिर्दक्षिणपार्श्वास्थि अस्तु। त्रयोदश्या पक्षत्या यमं देवं प्रीणामीति वा।

अध्यात्मपक्षे—तानि तानि मेध्याश्वाङ्गानि ते ते देवाश्च ब्रह्मात्मकान्येव, तद्विवर्तत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिरग्नेः पक्षतिः, वायोर्निपक्षतिः, इन्द्रस्य तृतीया, सोमस्य चतुर्थी, अदितेः पञ्चमी, इन्द्राण्याः षष्ठी, मरुतां सप्तमी, बृहस्पतेरष्टमी, अर्यम्णो नवमी, धातुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी, वरुणस्य द्वादशी, यमस्य त्रयोदशी क्रिया कर्तव्या' इति, तदपि सर्वथा निरर्थकम्, मूले क्रियापदाभावात्। न च पक्षतिपदस्यैव क्रियार्थतेति वाच्यम्, परिग्रहस्य मूलमिति त्वयैवार्थापनात्, षड्विंशतिरस्य वङ्क्रय इति पूर्वोक्त-शाङ्खायनब्राह्मणविरोधाच्च॥ ४॥

इन्द्राग्न्योः पक्षतिः सरस्वत्यै निपक्षतिर्मित्रस्य तृतीयाऽपां चतुर्थी निर्ऋत्यै पञ्चम्यग्नीषोमयोः षष्ठी सर्पाणाᳪं सप्तमी विष्णोरष्टमी पूष्णो नवमी त्वष्टुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यम्यै त्रयोदशी द्यावापृथिव्योर्दक्षिणं पार्श्वं विश्वेषां देवानामुत्तरम्॥ ५॥

मन्त्रार्थ—वाम पार्श्व की पहली अस्थि से इन्द्राग्नी देवताओं को, दूसरी से सरस्वती को, तीसरी से मित्र देवता को, चौथी से जल देवताओं को, पाँचवीं से निर्ऋति देवता को, छठी से अग्नि और सोम को, सातवीं से सर्पों को, आठवीं से विष्णु को, नवीं से पूषा को, दसवीं से त्वष्टा को, ग्यारहवीं से इन्द्र को, बारहवीं से वरुण को और तेरहवीं से यम देवता को तृप्त करता हूँ। दक्षिण पार्श्व द्यावापृथिवी के निमित्त और वाम पार्श्व सकल देवताओं के निमित्त अर्पित किये जाते हैं॥ ५॥

अथ वामपार्श्वास्थ्नां देवानाह—इन्द्राग्न्योरिन्द्राग्निदेवयोः पक्षतिः प्रथममुपरिस्थं वामपार्श्वास्थि अस्तु। सरस्वत्यै सरस्वत्याः, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, निपक्षतिस्ततो निम्ना द्वितीया पक्षतिः। मित्रस्य देवस्य तृतीया पक्षतिः। अपां देवतानां चतुर्थी पक्षतिः। निर्ऋत्यै निर्ऋतेर्देवस्य पञ्चमी पक्षतिः। अग्नीषोमयोर्देवयोः षष्ठी पक्षतिः। सर्पाणां देवानां सप्तमी पक्षतिः। विष्णोर्देवस्य अष्टमी पक्षतिः। पूष्णो देवस्य नवमी पक्षतिः। त्वष्टुर्देवस्य दशमी पक्षतिः। इन्द्रस्य देवस्य एकादशी पक्षतिः। वरुणस्य देवस्य द्वादशी पक्षतिः। यम्यै यमस्येयं

यमी, तस्यै प्रथमार्थे चतुर्थी, यमसम्बन्धिनीति यावत् । त्रयोदशी पक्षतिः, अथ समस्तयोः पार्श्वयोर्देवानाह— द्यावापृथिव्योर्देवयोर्दक्षिणं पार्श्वम्, अस्त्विति शेषः । विश्वेषां देवानामुत्तरं वामं पार्श्वमस्त्विति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे— पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयमिन्द्राग्न्योः पक्षतिः, यस्यै त्रयोदशी क्रिया, द्यावापृथिव्योर्दक्षिणं पार्श्वम्, विश्वेषां देवानामुत्तरं पार्श्वं विजानीत' इति, तदपि निरर्थकम् पौर्वापर्यानपेक्षणात्, तासां तासां क्रियाणामतिरूपणाच्च । दक्षिणं पार्श्वमुत्तरं च पार्श्वं कस्य ? ते च कथं द्यावापृथिव्योर्विश्वेषां देवानामित्यनुक्तेः । सर्वथापि श्रुतिसूत्रविरोधादुपेक्षणीय एवायमर्थः ॥ ५ ॥

मरुताᳫं स्कन्धा विश्वेषां देवानां प्रथमा कीकसा रुद्राणां द्वितीयादित्यानां तृतीया वायोः पुच्छमग्नीषोमयोर्भासदौ क्रुञ्चौ श्रोणिभ्यामिन्द्राबृहस्पती ऊरुभ्यां मित्रावरुणावल्गाभ्यामाक्रमणᳫं स्थूराभ्यां बलं कुष्ठाभ्याम् ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—कन्धे मरुत् देवताओं के निमित्त, पीठ पर की पहली अस्थि विश्वेदेव देवताओं के लिये, दूसरी रुद्रों के लिये और तीसरी आदित्यों के लिये अर्पित है । पुच्छ वायु को, दोनों नितम्ब अग्नीषोम देवताओं को, कटिप्रदेश क्रुंच देवताओं को, ऊरु इन्द्र और बृहस्पति को, जंघाएँ मित्रावरुण को, स्थूल नितम्बों के अधोभाग आक्रमण देवताओं को और नितम्बों के दोनों आवर्तों को, बल देवताओं को समर्पित कर प्रसन्न किया जाता है ॥ ६ ॥

अथाङ्गान्तराणां देवता आह—मरुतां मरुत्संज्ञकान् देवान् स्कन्धाः स्कन्धैः स्कन्धप्रदेशैः प्रीणामि । विभक्तिव्यत्ययः । अश्वपुच्छोपरि तिस्रोऽस्थिपङ्क्तयः सन्ति, तासां देवता आह—विश्वेषां देवानां विश्वान् देवान् प्रथमा कीकसा प्रथत इति प्रथमम् आद्यम्, 'की' इति कसति ध्वनिं कुर्वच्चलतीति कीकसम् अस्थि, 'कीकसं कुल्यमस्थि च' (अ० को० २।६।६८), प्रथमानि कीकसानि पुच्छोपरिस्थाद्यास्थिपङ्क्तिः, तथा चार्थः— प्रथमकीकसैर्विश्वान् देवान् प्रीणामि । अथवा प्रथमा पुच्छास्थिपङ्क्तिर्विश्वेषां देवानामस्तु । रुद्राणां द्वितीयास्थिपङ्क्तिः, द्वितीयैः रुद्रान् प्रीणामि । आदित्यानां तृतीया तृतीयानि कीकसानि, तृतीयैः कीकसैरादित्यान् प्रीणामि । वायोः पुच्छम्, पुच्छेन वायुं प्रीणामि । अग्नीषोमयोर्भासदौ भासेते तौ भासदौ, नितम्बौ पश्चिमसक्थ्नोऽवयवाविति सायणः । भासद्भ्यामग्नीषोमौ प्रीणामि । एतदन्तं षष्ठयन्तेन देवतापदेन प्रथमान्तस्य द्रव्यपदस्य सम्बन्धः प्रतिपादितः । अथ पूर्ववद् द्वितीयया विभक्त्या देवता निर्दिश्य तृतीयया द्रव्यसम्बन्धः प्रतिपाद्यते । क्रुञ्चौ पक्षिविशेषौ तदभिमानिनौ देवौ श्रोणिभ्यां दक्षवामाभ्यां कटिप्रदेशाभ्यां प्रीणामि । 'कटिः श्रोणिः ककुद्मती' (अ० को० २।६।७४) इत्यमरः । इन्द्राबृहस्पती देवौ ऊरुभ्यां सक्थिभ्यां प्रीणामि । 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' (अ० को० २।६।७३) इति कोषः । मित्रावरुणौ अल्गाभ्याम् अलमत्यर्थं गच्छत ऊरुभ्यां संयोगं प्राप्नुत इत्यल्गौ वङ्क्षणौ ऊरुसन्धी, ताभ्यां प्रीणामि । आक्रमणं स्थूराभ्यां स्थूलाभ्यां स्फिग्भ्यां प्रीणामीति महीधरः । खुरस्योपरि यौ स्थूलावयवौ ताभ्यामिति सायणः । बलं बलाभिमानिनं देवं कुष्ठाभ्याम्, कुष्येते तौ कुष्ठौ नितम्बस्थौ कूपकौ आवर्तौ ककुन्दरशब्दवाच्यौ, ताभ्यां प्रीणामि ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिर्मरुतां स्कन्धा विश्वेषां देवानां प्रथमा कीकसा भृशं शासनानि रुद्राणां द्वितीया ताडनक्रिया आदित्यानां न्यायाधीशानां तृतीया न्यायक्रिया वायोः पुच्छम् अग्नीषोमयोर्भासदौ यौ प्रकाशं दधातां तौ क्रुञ्चौ श्रोणिभ्यामिन्द्राबृहस्पती ऊरुभ्यां मित्रावरुणौ अल्गाभ्याम् आक्रमणं कुष्ठाभ्यां स्थूराभ्यां बलं च निष्पादनीयम्' इति, तदपि निरर्थकमेव, असम्बद्धत्वात्, श्रोणिभ्यामिन्द्रबृहस्पत्योर्निर्माणस्य सामाजिकैरपि कर्तुमशक्यत्वात् ॥ ६ ॥

पूषणं वनिष्ठुनान्धाहीन् स्थूलगुदया सर्पान् गुदाभिर्विह्रुत आन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमाण्डाभ्यां वाजिनᳪ शेपेन प्रजाᳪ रेतसा चाषान् पित्तेन प्रदरान् पायुना कूश्माञ्छकपिण्डैः ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—बड़ी आँत के स्थानीभूत घृत से पूषा देवता को, स्थूल गुदा से अन्धे सर्पों को, गुदा के अन्य भागों से सर्पों को, छोटी आँतों से विह्रुत देवता को, बस्ति से जल देवता को, वृषणों से कामनावर्षी वृषण देवता को, मेढ्र से वाजी को, वीर्य से प्रजा को, पित्त से चाष को, पायु से प्रदर को और लीद के पिण्डों से कूश्मों को प्रसन्न करता हूँ ॥ ७ ॥

पूषणं देवं वनिष्ठुना, 'वन सम्भक्तौ' वनति सम्भजतीति वनिष्ठुः स्थूलान्त्रम्, तेन प्रीणामि। अन्धाहीन् अन्धाश्च तेऽहयश्च अन्धाहयस्तान् तदभिमानिनो देवान् स्थूलगुदया स्थूला चासौ गुदा चेति स्थूलगुदा, तया गुदस्य स्थूलभागेन प्रीणामि। 'गुदं त्वपानं पायुर्ना' (अ० को० २।६।७३) इति गुदशब्दस्य यद्यपि क्लीबता, तथापि गुदेति स्त्रीत्वं छान्दसम्। सर्पान् देवान् गुदाभिरश्वस्य स्थूलगुदातिरिक्तैर्गुदभागैः प्रीणामि। विह्रुतो विहरन्तीति विह्रुतो देवविशेषास्तान् आन्त्रैः, अमत्यनेनेत्यन्त्रम्, 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' (उ० ४।१५९) इति रूपसिद्धिः। 'अम् गत्यादिषु, गतौ शब्दे सम्भक्तौ च' अमति भजत्यनेनान्नमित्यन्त्रम्, अन्त्रे भवा आन्त्रा अन्त्रसम्बन्धिनो मांसभागाः, तैः प्रीणामि। अपोऽब्देवता वस्तिना वसति मूत्रमत्रेति वस्तिर्मूत्राशयः, 'वस्तिर्नाभेरधो द्वयोः' (अ० को० २।६।७३) इति कोषात्। तेन नाभेरधो वर्तमानेनाश्वस्य मूत्रपुटेन प्रीणामि। अश्वमेधीयस्याश्वस्य प्रजापतिरूपत्वात् तदङ्गान्यपि दिव्यान्येव। वृषणं सेचनसमर्थं देवम् आण्डाभ्याम् अण्डौ लिङ्गोभयपार्श्वस्थौ मांसपिण्डौ, 'मुष्कोऽण्डकोशो वृषणः' (अ० को० २।६।७६) इति कोषात्। अण्डावेव आण्डौ, ताभ्यां प्रीणामि। वाजिनं वेगवन्तं देवं शेपेन लिङ्गेन प्रीणामि। शेते रेतःपात इति शेपः। 'वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुट् च' (उ० ४।१०२) इति रूपसिद्धिः। अयमदन्तः, सान्तोऽपि 'शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः' (पा० सू० ६।३।२१, वा० १) इति वार्त्तिकादिति भावः। प्रजां प्रजाभिमानिदेवतां रेतसा वीर्येण, रिणातीति स्रवतीति रेतः 'स्रुरीभ्यां तुट् च' (उ० ४।२०३) इति रूपसिद्धिः, प्रीणामि, 'शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' (अ० को० २।६।६२) इति कोषः। चाषान् तदभिमानिदेवान् पित्तेन, अपि दीयते पाल्यत इति पित्तम्, 'देङ् पालने' इत्यस्यात् क्तः। 'वष्टि भागुरिः' इत्यकारलोपः। 'पित्तं जामातरमिव' इत्यायुर्वेदप्रसिद्धिः, प्रीणामि। प्रदरान् तदाख्यदेवान् प्रदररोगाधिष्ठातॄन् देवान् वा पायुना पाति मलोत्सर्गमिति पायुर्गुदम्, तेन उक्तातिरिक्तगुदतृतीयभागेन प्रीणामि। कूश्मान् कूश्माण्डाख्यान् देवजातिविशेषान् शकपिण्डैः, 'शको देशे नृपे विशि' इति वचनात् शकस्य (अश्व)-विष्ठायाः पिण्डैः, लेण्डैरिति यावत्, प्रीणामि।

अध्यात्मपक्षे—अश्वमेधीयाश्वस्य तानि तान्यङ्गानि तैस्तर्पणीया देवाश्च ब्रह्मात्मकान्येव, तज्जलानत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं वनिष्ठुना पूषणं स्थूलगुदया सह वर्तमानानन्धाहीन् गुदाभिः सहितान् विह्रुत आन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमाण्डाभ्यां वाजिनं शेपेन रेतसा प्रजां पित्तेन चाषात् प्रदरान् पायुना शकपिण्डैः कूश्मान् निगृह्णीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वनिष्ठुना याचनेन पूषणं पुष्टिकरं निगृह्णीतेत्यस्य निरर्थकत्वात्। न चाङ्गविशेषवाचकेन वनिष्ठुशब्देन याचनमर्थो ग्रहीतुं शक्यते, रूढेर्योगापहारात्। नहि घटमानयेत्यत्र चेष्टानयनं प्रतीयते। न वा गुदाभिः सह अन्धाः सर्पा वर्तन्ते। न च गुदेन्द्रियैः सार्धं कुटिलाः सर्पास्तिष्ठन्ति। न वा तेषां ग्रहणमभीष्टम्, निगृह्णीतेति क्रियापि मन्त्रबाह्यैव। न चाण्डाभ्यां वाजिनग्रहणं सम्भवति। तस्मात् सर्वमप्येतद् बालभाषितमेव ॥ ७ ॥

इन्द्र॑स्य क्रो॒डोऽदि॑त्यै पाज॒स्यं॑ दि॒शां ज॒त्रवोऽदि॑त्यै भ॒सज्जी॒मूता॑न् हृदयौप॒शेना॒न्तरि॑क्षं पु॒री॒तता॒ नभ॑ उद॒र्ये॑ण चक्रवा॒कौ म॑त॒स्नाभ्यां॒ दिवं॑ वृ॒क्काभ्यां॑ गि॒रीन् प्ला॒शिभि॒रुप॑लान् प्ली॒ह्ना व॒ल्मीका॑न् क्लो॒मभि॑ग्लौ॒भि॒र्गुल्मा॑न् हि॒राभिः॒ स्रव॑न्तीर्ह्र॒दान् कु॒क्षिभ्या॑ᳪ समु॒द्रमु॒दरे॑ण वैश्वान॒रं भस्म॑ना ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—वक्षस्थल का मध्यभाग इन्द्र के निमित्त, बलकारक अन्न अदिति को, कन्धे और कोखों की सन्धियाँ दिग्देवताओं को, मेढ़ का अग्र भाग अदिति को, हृदय का मांस मेघों को, हृदय की नाड़ियों से अन्तरिक्ष को, उदर के माँस से आकाश को, हृदय के दोनों ओर की अस्थियों से चक्रवाकों को, कोंख के माँस से स्वर्ग के देवताओं को, मेढ़-मूल की नाड़ियों से पर्वत के अधिष्ठाता देवों को, प्लीहा से उपल देवताओं को, कण्ठ की नाड़ियों से वल्मीकों को, हृदय की नाड़ियों से गुल्मों को, अन्नवाहिनी नाडियों से स्रवन्तियों को, कोखों से ह्रदों को, उदर से समुद्र को और भस्म से वैश्वानर को प्रसन्न करता हूँ ॥ ८ ॥

अत्रापि मन्त्रे देववाचके शब्दे षष्ठी, अङ्गवाचके शब्दे प्रथमा विज्ञेया। इन्द्रस्य क्रोडः, क्रुड्यत इति क्रोडः, 'क्रुड भृड निमज्जन इत्येके' इत्यात्रेयः। 'क्रुड निमज्जने, भृड इत्येके, ध्रुड इत्यपरे' इति मैत्रेयः। 'क्रुड वाल्पेऽदने' इति रामाश्रमः। भुजान्तरम् अस्तु। अथवा क्रोडेन वक्षोमध्यभागेन इन्द्रं प्रीणामि। 'न ना क्रोडो भुजान्तरम्' (अ० को० २।६।७७) इत्यमरसिंहः। अग्रेऽप्युभयथा व्याख्यानम्। अदित्यै अदितेर्देवतायाः पाजस्यं पाजसे बलाय हितं पाजस्यं बलकरमङ्गमस्तु। दिशां दिग्देवतानां जत्रवो जत्रूणि सन्तु। अंसकक्षयोः सन्धिर्जत्रु 'सन्धी तस्यैव जत्रुणी' (अ० को० २।६।७८) इत्यमरः। जायते बाहुरस्मादिति जत्रु, 'जत्र्वादयश्च' (उ० ४।१०३) इति साधु। अंसकक्षयोः सन्धिः। छान्दसं पुंस्त्वम्। अंसकक्षसन्धिरूपैर्जत्रुभिर्दिग्देवताः प्रीणामि, भसद् बभस्ति दीप्यत इति भसद् लिङ्गाग्रम्, तेन अदित्यै अदितिं देवतां प्रीणामि।

अथ पुनर्देवे द्वितीया, अङ्गे तृतीया। जीमूतान्, मूतं बद्धं 'मूङ् बन्धने' कर्मणि क्तः, जीवनं जलं मूतं यैस्ते जीमूताः। अथवा ज्यानं जीः, सम्पदादित्वात् क्विप्, जिया वयोहान्या मूता बद्धा इति जीमूताः। मेघाभिमानिनो देवाः, तान् हृदयौपशेन हृदय उपशेत इति हृदयौपशम्, यद्वा हृदयमुपशेतेऽस्मिन्निति हृदयौपशं हृदयस्थं मांसम्, तेन प्रीणामि। अन्तरिक्षं द्यावापृथिव्योरन्तरीक्ष्यत इत्यन्तरिक्षम्, छान्दसं ह्रस्वत्वम्, अन्तरिक्षाभिमानिनं देवं पुरीतता पुरीं शरीरं तनोतीति पुरीतत्, 'गमादीनामिति वक्तव्यम्' (पा० सू० ६।४।४०, वा० १) इत्यनुनासिकलोपः, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) इति तुकि रूपम्। अथवा पुरिः हृदयाख्यमांसखण्डविशेषः, तं तनोत्याच्छादयतीति विग्रहः। 'पुरीतता हि हृदयमाच्छाद्यते' इति श्रुतिरिति कर्कभाष्यम्।

तनेः क्विपि तकारलोपे तुकि 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (पा० सू० ६।३।११६) इति दीर्घः, हृदयाच्छादकमन्त्रम्, तेन प्रीणामि। नभो नभोऽभिमानिनं देवमुदर्येण, उदरे भवमुदर्यम्, 'शरीरावयवाद्यत्' (पा० सू० ५।१।६) इति यति रूपम्, तेन प्रीणामि। चक्रवाकौ चक्रवाकदम्पतीवन्नित्यसम्बद्धौ देवविशेषौ मतस्नाभ्यां ग्रीवाधस्ताद्भागस्थितहृदयोभयपार्श्वस्थे अस्थिनी मतस्ने, ताभ्यां प्रीणामि। दिवं वृक्काभ्यां वृक्यते स्वादुतया गृह्यत इति वृक्का, 'नान्तः पुंस्ययं शब्दः, स्त्रीत्येके' इति क्षीरस्वामी, वृक्कौ कुक्षिस्थौ मांसगोलकावाम्रफलाकृती इति याज्ञिकाः, ताभ्यां वृक्काभ्यां दिवं देवतां प्रीणामि। गिरीन्द्रान् देवान् प्लाशिभिः प्रकर्षेणाश्नन्ति भुञ्जतेऽन्नानीति प्लाशयः शिश्नमूलनाड्यः, तन्नाडीद्वारैवान्नस्य सञ्चारात्, रलयोरभेदः, ताभिः प्रीणामि। प्लीह्ना, प्लीहा हृदयवामभागे शिथिलो मांसभागः, स एव पुस्पुससंज्ञः। प्लेहत इति प्लीहा। 'श्वन्नुक्षन् ···' (उ० १।१५९) इति निपातितो नान्तः शब्दः। तेन प्लीह्ना अश्वस्याङ्गविशेषेणोपलानुपलाधिष्ठातॄन् देवान् प्रीणामि। 'गुल्मस्तु प्लीहा पुंसि' (अ० को० २।६।६६) इत्यमरः। क्लोमभिः क्लवत इति क्लोमा, 'क्लुङ् गतौ' इत्यस्मान्मनिन्प्रत्ययः। यथा हृदयस्य वामभागे प्लीहा, तथा तस्य दक्षिणभागे क्लोमा भवति, स एव यकृदुच्यते। 'हृदयस्य दक्षिणे यकृत् क्लोमा वामे प्लीहा पुस्पुसश्चेति वैद्याः' इति क्षीरस्वामी। क्लोमा गलनाडीति कर्कः। क्लोमभिर्वल्मीकान् देवान् प्रीणामि। ग्लौभिः, ग्लायन्ति श्राम्यन्तीति ग्लावो हृदयनाड्यः, ताभिर्गुल्मान् देवान् प्रीणामि। हिराभिः, हरन्ति अन्नरसमिति हिरा अन्नवाहिन्यो नाड्यः, ताभिः स्रवन्तीर्नद्यधिष्ठात्रीर्देवताः प्रीणामि। कुक्षिभ्यामुदरस्य दक्षवामभागौ कुक्षी, ताभ्यां ह्रदान् ह्रदाधिष्ठातॄन् देवान् प्रीणामि। उदरेण जठरेण समुद्रं देवं प्रीणामि। भस्मनाङ्गोत्थेन वैश्वानरं देवं प्रीणामि।

अध्यात्मपक्षे—द्रव्यं देवता च कर्मणां रूपम्। विहितानि द्रव्याणि देवताश्च ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपा एव। द्रव्याणां देवतानां कियद् बृहत्क्षेत्रमित्यश्वमेधयज्ञाध्ययनेन स्पष्टं भवति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिः प्रयत्नेनेन्द्रस्य क्रोडोऽदित्यै पाजस्यं दिशां जत्रवोऽदित्यै भासच्च विज्ञेयाः। जीमूता हृदयौपशेन पुरीततान्तरिक्षमुदर्येण नभश्चक्रवाकौ मतस्नाभ्यां दिवं वृक्काभ्यां गिरीन्द्रान् प्लाशिभिरुपलान् प्लीह्ना वल्मीकान् क्लोमभिर्ग्लौभिश्च गुल्मान् हिराभिः स्रवन्तीर्ह्रदान् कुक्षिभ्यां समुद्रमुदरे भस्मना च वैश्वानरं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वैदिकद्रव्यदेवतादिवृत्तान्तानभिज्ञानविजृम्भितत्वात्। क्रोड-पाजस्य-जत्रु-हृदयौपश-पुरीतन्मतस्नादिशब्दानां तत्तदङ्गेषु प्रसिद्धत्वादन्यत्र तेषां वृत्तेर्बलात्कारितत्वात्। कथञ्चित्तथार्थाभिगमेऽपि नैरर्थक्यमेव। विद्युतो मज्जनस्य पृथिव्या कः सम्बन्धः? किंप्रयोजना चेयमुक्तिः? इत्यनुक्तेः। मतस्नाभ्यां प्रकाशस्य कः सम्बन्धः? किमुद्दिश्य तद्वर्णनमित्यनुक्तेश्च ॥ ८ ॥

विधृ॑तिं नाभ्या॑ घृतꣳ रसे॑नापो यूष्णा मरी॑चीर्विप्रुड्भिर्नी॑हारमू॒ष्मणा॑ शीनं वस॑या प्रुष्वा॒ अश्रु॑भिर्ह्रा॒दुनी॑र्दूषीका॑भिर॒स्ना रक्षा॑ꣳसि चि॒त्राण्यङ्गै॒र्नक्ष॑त्राणि रू॒पेण॑ पृथि॒वीं त्वचा॑ जु॒म्बका॑य॒ स्वाहा॑ ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—नाभि से विधृति को, वीर्य से घृत को, पक्वान्न रस से जल को, वसाबिन्दुओं से मरीचियों को, शरीर की ऊष्मा से नीहार को, वसा से शीन को, अश्रुओं से प्रुष्वा देवताओं को, नेत्रमल से ह्रादिनी देवताओं को, रुधिर से राक्षसों को, शेष अंगों से चित्र देवताओं को, रूप से नक्षत्रों को और त्वचा से पृथ्वी को तृप्त करता हूँ।

यहाँ तक के मन्त्रों को चतुर्थ्यन्त बोलकर घृत की आहुति दे, अगले ब्रह्महत्यानाशक मन्त्र को पढ़ कर जल में आहुति दी जाती है कि वरुण देवता को दी हुई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हारीत ऋषि ने कहा है कि

वाजसनेय वेद में यह जुम्बका नाम की गायत्री है। जल के भीतर एक बार भी जपने पर यह ब्रह्महत्या के पाप को दूर करती है। यज्ञीय अश्व के सब अंग देवताओं के भाग हैं। वह दिव्य गुणों से युक्त हो जाता है, अतः सकल देवताओं को प्रसन्न कर सकता है। इसके प्रत्येक अंग का नाम लेकर घृत की आहुति देने से देवता प्रसन्न और तृप्त होते हैं। इस अश्वमेध यज्ञ का अभिप्राय यह है कि अश्व का अधिष्ठाता देवता प्रजापति है, अथवा स्वयं अश्व ही प्रजापति है। उसके विराट् शरीर के ऊपर वर्णित सभी अंग और अवयवों से सभी देवता तृप्त और पुष्ट होते हैं। यह अभिप्राय कल्पित नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रारम्भ में ही अश्वमेध का ऐसा अभिप्राय दिखाया गया है ॥ ९ ॥

विधृतिं विधारणाधिष्ठातृदेवतां नाभ्या अश्वसम्बन्धिनाभिदेशेन प्रीणामि। उदराधःस्थितो ग्रन्थिर्नाभिः। घृतमाज्याभिमानिदेवतां रसेन वीर्येण धातुविशेषेण वा प्रीणामि। 'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः। शृङ्गारादिरसे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे॥' इति विश्वकोषः। यूष्णा, यूषः क्वथितो रसस्तेन, 'पद्दन्नोमास्' (पा० सू० ६।१।६३) इत्यादिना यूषन्नादेशः, अपः अब्देवताः प्रीणामि। विप्रुड्भिर्वसाबिन्दुभिर्मरीचीर्देवताः प्रीणामि। 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियः' (अ० को० १।१०।६) इत्यमरः। ऊष्मणा अश्वशरीरगतेनौष्ण्येन नीहारं देवं प्रीणामि। 'ऊष्माणस्तु निदाघोष्णग्रीष्माः शष्पसहा अपि' इति विश्वः। वसया, वस्ते मांसमिति वसा मांसस्नेहः, 'शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसेति वैद्याः' इति क्षीरस्वामी, 'मेदस्तु वपा वसा' (अ० को० २।६।६४) इत्यमरः, तया शीनं मेदोऽभिमानिनं देवं प्रीणामि। अश्रुभी रोदनजन्यनेत्रजलैः प्रुष्वा देवताः, परुषणशीला इति यावत्, ता देवताः प्रीणामि। दूषीकाभिरश्वनेत्रमलैः 'दूषिका नेत्रयोर्मलम्' (अ० को० २।६।६७) इत्यमरः, ह्रादुनीर्देवताः प्रीणामि। अस्ना अस्यते क्षिप्यत इत्यसृक्, बाहुकाद् ऋज्प्रत्ययः, अथवा न सृज्यत इत्यसृक्, 'ऋत्विग्दधृक्' (पा० सू० ३।२।५९) इत्यादिना सृजेः क्विनि रूपम्, 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' (पा० सू० ८।२।६२) इत्यादिना कुत्वम्, तेन अस्ना रुधिरेण। 'पद्दन्नोमास्.....' इत्यादिनाऽसृज्शब्दस्यासन्नादेशः, 'अल्लोपोऽनः' (पा० सू० ६।४।१३४) इत्यकारलोपे रूपम्, रक्षांसि प्रीणामि। अङ्गैः पूर्वानुक्तैरश्वावयवैश्चित्राणि दैवतानि प्रीणामि। रूपेण अश्वसम्बन्धिवर्णेन सौन्दर्यातिशयेन वा, नक्षत्राणि देवताः प्रीणामि। न क्षरते हिनस्तीति नक्षत्रम्, क्षद इति सौत्रो धातुर्हिंसार्थ आत्मनेपदी। (उ० ४।१५९) इति ष्ट्रन्प्रत्ययः, 'नभ्राण्नपान्न' (पा० सू० ६।३।७५) इति नञः प्रकृतिभावः। अथवा 'णक्ष गतौ' नक्षतीति नक्षत्रम्, 'अमिनक्षि....' (उ० ३।१०५) इत्यादिना अत्रन्। अथवा न क्षणोतीति नक्षत्रम्। 'क्षणु हिंसायाम्' ष्ट्रन्, बाहुलकाण्णलोपः। अथवा न क्षत्रं देवत्वात् क्षत्रभिन्नत्वात्। एवं नैकधा व्युत्पत्तिः कल्पयितुं शक्या। त्वचा अश्वचर्मणा पृथिवीं देवीं प्रीणामि। स्वाहेति मन्त्रैराहुतिं जुहोतीत्यर्थः।

अत्र 'अग्निꣳ हृदयेनाशनिꣳ हृदयाग्रेण' इत्यारभ्य 'द्यावापृथिवीभ्याꣳ स्वाहा' (३९।८-१३) इत्यन्ता आहुतीर्जुहुयात्, आश्वमेधिकत्वात्। तथा चानुक्रान्तम्—'अग्निꣳ हृदयेनाश्वमेधिका तत्रत्य एवर्षिर्लोमभ्यः स्वाहेति प्रायश्चित्ताहुतयो द्विचत्वारिंशत्' इति। 'अवभृथेष्टचन्तेऽप्सु मग्नस्य पिङ्गलखलतिविक्लिधशुक्लस्य मूर्धनि जुहोति जुम्बकाय स्वाहेति' (का० श्रौ० २०।८।१६)। अवभृथयागान्तेऽप्सु मग्नस्य पिङ्गलाक्षस्य खल्वाटस्य विक्लिधस्य दन्तुरस्य शुक्लस्य अतिगौरस्य पुंसो मूर्ध्नि जुम्बकाय स्वाहेति मन्त्रेण सकृद्गृहीतमाज्यं जुहुयादिति सूत्रार्थः। वरुणदेवत्या द्विपदा यजुर्गायत्री उदन्यपुत्रमुण्डिभदृष्टा जुम्बकाय वरुणाय स्वाहा सुहुतमस्तु। 'वरुणो वै जुम्बकः साक्षादेव वरुणमवयजते शुक्लस्य खलतेर्विक्लिधस्य पिङ्गाक्षस्य मूर्धनि जुहोत्येतद्वै वरुणस्य रूपꣳ रूपेणैव वरुणमवयजते' (श० १३।३।६।५) इति श्रुतेः। एषा चान्तर्जले जप्ता पापनाशिनी। तदुक्तं हारीतेन—'जुम्बका नाम गायत्री वेदे वाजसनेयके। अन्तर्जले सकृज्जप्ता ब्रह्महत्यां व्यपोहति॥' इति।

अध्यात्मपक्षे – पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं नाभ्या विधृतिं घृतं रसेनापो यूष्णा मरीचीर्विप्रुड्भिर्नीहारमूष्मणा शीनं संकुचितं वसया प्रुष्वा अश्रुभिर्ह्रादुनी दूषिकाभिश्चित्राणि रक्षांस्यस्नाङ्गैः रूपेण नक्षत्राणि त्वचा पृथिवीं विदित्वा जुम्बकाय स्वाहा प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि निरर्थकमसम्बद्धत्वात्, नाभ्या विधारणस्य रसेन घृतस्य अपो यूष्णा कथं ज्ञानमित्यनुक्तेः। विप्रुड्भिर्मरीचीनामूष्मणा नीहारस्य ऊष्मणा शीनस्य सम्बन्धविशेषासिद्धेः। दूषिकाभिश्चित्राणि रक्षांस्यस्नाङ्गैः रूपेण नक्षत्राणां कः सम्बन्धः ? त्वचा कथं पृथिवी वेदितव्या ? तद्वेदनस्य चातिवेगवता कः सम्बन्धः ? तत्र सत्यवाण्याः किमर्थं प्रयोग इत्याद्यनुक्तेः ॥ ९ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १० ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।

य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—सृष्टि के पहले जो अद्वितीय हिरण्यगर्भ था, सृष्टि होने पर वही सकल विश्व का पालक हुआ, वही अपनी शक्ति से इस पृथ्वी और द्युलोक को थामे हुए है। वह कैसा है ? इसको कोई स्थूलदृष्टि नहीं बता सकता। ऐसे देवता की प्रीति के लिये हम आहुति देते हैं ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—जो प्रजापति श्वास-प्रश्वास लेते समय, पलक झपकते समय जगत् के प्राणियों में अपनी अद्वितीय महिमा के साथ विराजमान है, जो मनुष्य-पक्षी आदि दोपायों और गाय-घोड़े आदि चौपायों पर शासन करता है, उस प्रजापति देवता के निमित्त हम हवि समर्पित करते हैं ॥ ११ ॥

चतस्रः कदेवत्यास्त्रिष्टुभः प्रजापतिसुतहिरण्यगर्भदृष्टाः। प्राजापत्यपशूनामश्वादीनां याज्यानुवाक्याः। तत्र प्रथमा त्रयोदशेऽध्याये चतुर्थकण्डिकास्थले, द्वितीया च त्रयोविंशेऽध्याये तृतीयकण्डिकास्थले व्याख्याता ॥ १०-११ ॥

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रꣳ रसया सहाहुः ।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—ये शिखर वाले पर्वत जिसकी महिमा को कहते हैं, पृथ्वी सहित समुद्र जिसकी महिमा है, ये सब दिशाएँ जिसकी महिमा को गाती हैं, जिसकी भुजाएँ जगत् की रक्षा करती हैं, उस अनिर्वचनीय प्रजापति के लिये हम हवि अर्पित करते हैं ॥ १२ ॥

वयं कस्मै देवाय प्रजापतये देवाय हविषा विधेम हविर्दद्मः, विभक्तिव्यत्ययः, कशब्दस्य सर्वनामत्वमार्षम्। अत्र—'एकशब्दः प्रधानार्थकः 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते॥' तथा च छान्दस एकारलोपः। कस्मै एकस्मै प्रधानाय देवाय हविर्दद्मः' इति तत्रभवान् शङ्कराचार्यः। इमे हिमवन्तो हिमयुक्ताः पर्वताः, बहुवचनादन्येऽपि पर्वता ग्राह्याः, प्रथमास्थाने द्वितीया। इमान् हिमवद्विन्ध्यादीन् पर्वतान् यस्य प्रजापतेर्महित्वा महित्वं महिमानमाहुः, बुधा इति शेषः, महित्वेति विभक्तेराकारः। रसया नद्या

सह, 'रसा नदी, रसतेः शब्दकर्मणः' (नि०११।२५) इति यास्कः। समुद्रं यस्य महित्वमाहुः। रसयेति जातावेकवचनम्। इमाः प्रदिशः पूर्वाद्याः प्रकृष्टा दिशो यस्य महित्वमाहुः। यस्य बाहू भुजौ जगद्रक्षणायोद्यताविति शेषः। हिमवदाद्युपलक्षितं सर्वं जगद् यस्य प्रजापतेर्विलासमात्रम्, तस्मै कस्मै प्रजापतये देवाय हविषा विधेमेति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—इमान् हिमवदादीन् पर्वतान् नदीभिः सह सर्वान् समुद्रान् सर्वा (दिशः) प्रदिशश्च यस्य कार्यत्वाद् वेदान्ता बुधाश्च यस्य महिमानं विलासमात्रमाहुः, यस्य परमेश्वरस्य बाहू सदैव तद्रक्षणायोद्यतौ स्तः, तस्मै कस्मै प्रजापतये परमेश्वराय हविषा विधेम परिचरेम।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यस्य सूर्यस्य महित्वा महत्त्वेनेमे हिमवन्त आकर्षिताः प्रकाशिताः सन्ति, यस्य रसया सह समुद्रमाहुः, यस्येमा दिशो यस्य प्रदिशश्च बाहू इवाहुः, तस्मै कस्मै देवाय हविषा विधेम। एवं यूयमपि विधत्त' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रार्थस्य मन्त्रबाह्यत्वात्। अध्याहारादिमूलकत्वेनापव्याख्यानत्वाच्च। न चाकर्षणार्थकः कश्चनापि शब्दो मन्त्रे श्रुतः। दिश इति शब्दोऽपि मूले नास्ति, तस्माद् दिक्षु प्रदिक्षु च बाहुत्वारोपोऽपि निराधार एव। तथात्वे दिशां बहुत्वेन बाहूनामपि बहुत्वं स्यात्। इवशब्दोऽपि मूले नास्ति, प्रजापतेर्बाहुद्वयवर्णनान्निराकारत्वकल्पनापि व्याहन्येत ॥ १२ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—जो परमात्मा भक्तों को सायुज्य देते हैं, अचेतन शरीर में चेतना का संचार करते हैं, बल देते हैं, सारा विश्व जिनके शासन में है, देवता जिसके अनुग्रह को चाहते हैं, अथवा सूर्य आदि देवता जिसके शासन में कार्य करते हैं, जिसकी छाया अमृत (मुक्ति) को देने वाली है, जिसको न जानने से मृत्यु का, जरामरण का भय सदा बना रहता है, उस प्रजापति देवता के निमित्त हम हवि अर्पित करते हैं ॥ १३ ॥

कस्मै देवाय हविषा विधेमेति व्याख्यातम्। यः स्वतः सिद्धः प्रजापतिः, आत्मदा आत्मानं ददातीत्यात्मदा उपासकानां स्वात्मरूपसायुज्यप्रदः, बलदा बलं सामर्थ्यं ददातीति बलदा भोगमोक्षप्राप्तिसामर्थ्यप्रदः, विश्वे सर्वे मनुष्यादयो यस्य प्रजापतेः प्रशिषं प्रशासनमुपासते, देवाश्च यस्य प्रशिषमुपासते, तदुक्तम्—'यस्य ज्ञेयावधि ज्ञानं शिक्षावधि च शासनम्। कार्यावधि च कर्तृत्वं स स्वयम्भूः पुनातु वः॥' इति। यस्य छाया छायावदाश्रयणं ज्ञानपूर्वकमुपासनममृतममृतत्वं मुक्तिहेतुः, यद्वा बलदा ये देवास्तेऽपि यस्य प्रशासनमुपासते, यस्य चामृतममृतत्वं मोक्षसाधनं छायेव स्वाधीनं भवति, यस्य चाज्ञानमिति शेषः, मृत्युः संसारहेतुः, तदुक्तम्—'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति' (श्वे० उ० ३।१०) इति। यद्वा—यथा छाया कायमाश्रयते, तथैव य इममाश्रयते ज्ञानपूर्वकमुपास्ते, स चित्तशुद्धितत्त्वसाक्षात्कारक्रमेण मुच्यते। यस्य अज्ञानं वैमुख्यं वा संसारहेतुः, यद्वा यस्य च मृत्युर्मरणादिधर्मयुक्तः संसारः स्वपतो भवति, तस्मै हविषा विधेमेति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—इदमेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य आत्मदा बलदा, यस्य प्रशिषं विश्वे देवा उपासते, यस्य सकाशात् सर्वे व्यवहारा जायन्ते, यस्य छायामृतम्, यस्याज्ञाभङ्गो मृत्युः, तस्मै कस्मै देवाय वयं हविषा विधेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या आत्मदत्वानुपपत्तेः। नहि सर्वगतः परिच्छिन्नाय जीवायापरिच्छिन्नं स्वात्मानं दातुं शक्नोति। सिद्धान्ते तु सायुज्यप्रदत्वेनात्मप्रदत्वमपि सम्भवत्येव ॥ १३ ॥

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—सब ओर से निर्विघ्न, स्वयं अज्ञात, अन्य यज्ञों को प्रकट करने वाले कल्याणकारी यज्ञ हमें प्राप्त हों। सब प्रकार से आलस्यरहित होकर प्रतिदिन रक्षा करने वाले देवता सदैव हमारी वृद्धि के निमित्त प्रयत्नशील हों ॥ १४ ॥

वैश्वदेवानां पशूनां याज्यानुवाक्या दशर्चो विश्वदेवदेवत्या गोतमदृष्टाः । तत्रादौ पञ्च जगत्यः । क्रतवो यज्ञाः सङ्कल्पा वा नोऽस्मान् प्रति आयन्तु आगच्छन्तु, वयं यष्टारः शुभसङ्कल्पाश्च भवेमेत्यर्थः । कीदृशाः क्रतवः ? भद्रा भन्दनीयाः स्तुत्याः, 'भदि कल्याणे सुखे च' भन्दते कल्याणं सुखं च प्राप्नोत्यनेनेति भद्रम्, अथवा भद्रं प्राप्नोतीति भद्रः, बहुषु भद्राः कल्याणकारिणः कल्याणमयाः । 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्र' (उ० २।२९) इत्यादिना रन्प्रत्ययः, नकारलोपो निपातनात् । भद्रशब्दार्थं सायणाचार्यः स्वीय-ऋक्संहिताभाष्ये (१।१।६) इत्यत्र निरूपयन् शाट्यायनश्रुतिमुज्जहार । तद्यथा—'भद्रशब्दार्थं शाट्यायनिनः समानन्ति—'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद् भद्रम्, गृहा भद्रम्, पशवो भद्रम्' इति। तथा विश्वतः सर्वतोऽनुपहिंसिताः, निर्विघ्ना इति यावत्, अपरीतासो न परीता अपरीता अपरिगताः, अपरिज्ञाताः केनचिदिति भावः, फलानुमेया एवेत्यर्थः । उद्भिद उद्भिन्दन्ति प्रकटयन्तीत्युद्भिदः, यज्ञान्तराणां प्राकट्यकर्तार इत्यर्थः । किञ्च, यथा येन प्रकारेण देवा नोऽस्माकं सदमित् सदैव वृधे वृद्ध्यै असन् भवेयुस्तथा क्रतव आयन्त्वित्यर्थः । सदमित्यव्ययं सदार्थे । कीदृशा देवाः ? अप्रायुवः, प्रकर्षेण आसमन्ताद् युवन्ति प्रमाद्यन्ति ये ते प्रायुवः, यौतेः क्विपि तुगभाव आर्षः, न प्रायुवोऽप्रायुवोऽप्रमत्ताः, अस्मद्वृद्धये भवन्त्वित्यर्थः । तथा दिवे दिवे प्रतिदिनं रक्षितारः पालका भवेयुरित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—देवा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यधिष्ठातारः क्रतवः सङ्कल्पा उपासनरूपा नोऽस्माकं भद्राः कल्याणमया आयन्तु अनुकूला भवन्तु, 'तत्क्रतुर्भवति' (बृ० उ० ४।४।५) इति श्रुतेः । कीदृशास्ते ? विश्वतः सर्वतः, अदब्धासोऽनुपहिंसिताः, अपरीतासोऽपरिज्ञाताः फलानुमेयाः, उद्भिदा विशिष्टफलोत्पादका देवाः पूर्वोक्ता यथा नोऽस्माकं वृधे वृद्ध्यै ब्रह्मप्राप्तिलक्षणायै सदमित् सदैव असन् भवेयुः, तथा क्रतव आयन्तु । कीदृशा देवाः ? अप्रायुवः सदा सावधानाः, तथा दिवे दिवे प्रतिदिनं रक्षितारः पालकाः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा नोऽस्मान् विश्वतो भद्रा अदब्धासोऽपरीतासोऽन्यैरव्याप्ता उद्भिदो दुःखभेदकाः क्रतवो यज्ञा बुद्धयो वा आयन्तु । यथा नः सदं सभां प्राप्ता अप्रायुवोऽनष्टायुषो देवाः पृथिव्यादय इव विद्वांसो दिवे दिवे वृधे रक्षितारोऽसन्, तथानुतिष्ठन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यज्ञानां बुद्धीनां वा स्वप्रयत्नसाध्यत्वेन विद्वत्प्रार्थनानुपयोगात् । त्वद्रीत्या क्रतूनामनुष्ठाने सर्वेषामधिकारादन्यैरव्याप्तिरपि न सम्भवत्येव ॥ १४ ॥

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाᳬं रातिरभि नो निवर्तताम् ।
देवानाᳬं सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—यजमान की इच्छा रखने वाले देवताओं की कल्याणकारिणी श्रेष्ठ बुद्धि सदा हमारे सन्मुख रहे, देवताओं का दान हमें प्राप्त हो, हम देवताओं की मित्रता प्राप्त करें, देवता हमारी आयु को जीने के निमित्त बढ़ावें ॥ १५ ॥

भद्रा कल्याणकारिणी देवानां सुमतिः शोभना बुद्धिर्नोऽस्मान् प्रति अभिनिवर्तताम् अभितो नितरां वर्तताम्, अस्मदभिमुखी भवतु । कथम्भूतानां देवानाम् ? ऋजूयताम् ऋजु सरलमवक्रं यन्ति गच्छन्तीति ऋजूयन्तः,

छान्दसो दीर्घः, तेषाम्। यद्वा ऋजु अवक्रं प्रगुणं साधुं वा यजमानं कामयन्ते, ते ऋजूयन्तः, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि शता, 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (पा० सू० ७।४।२५) इति दीर्घः, तेषां साधुं यजमानं कामयमानानां देवानां रातिर्दानं नोऽस्मान् प्रत्यभिनिवर्ततामाभिमुख्येन नितरां वर्तताम्, देवा अस्मभ्यमभीष्टं ददत्वित्यर्थः। तेभ्यो लब्धदाना वयं देवानां सख्यं सखिभावं मैत्रीमुपसेदिमा प्राप्नुयाम, सदेर्लिटि उत्तमबहुत्वे रूपम्, संहितायां दीर्घः। देवा नोऽस्माकं सखीनामायुर्जीवसे प्रतिरन्तु प्रवर्धयन्तु।

अध्यात्मपक्षे—देवानाम्, पूजायां बहुवचनम्, देवस्य स्वप्रकाशस्य परमेश्वरस्य भद्रा भक्तकल्याणकारिणी सुमतिर्नोऽस्मान् प्रत्याभिमुख्येन नितरां वर्तताम्, देवस्य परमेश्वरस्य रातिर्दानं नोऽभिनिवर्तताम्, वयं देवानां परमेश्वरस्य सख्यमुपसेदिम प्राप्नुयाम, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रवर्णात्। देवः परमेश्वरो न आयुः प्रतिरतु प्रवर्धयतु। किमर्थम् ? जीवसे, चिररात्राय जीवनाय अमृतत्वाय, मोक्षलाभायेति यावत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा देवानां भद्रा सुमतिरस्मान् ऋजूयताम्, देवानां रातिर्नोऽस्मान् अभिनिवर्तताम्, वयं देवानां सख्यमुपसेदिम, देवा नो जीवसे आयुः प्रतिरन्तु, तथा युष्मान् प्रति वर्तन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य युष्मान् प्रति वर्तन्तामित्यस्य च मन्त्रवर्णबाह्यत्वेन निर्मूलत्वात्, गुरूणां नियोगानर्हत्वाच्च, आयुर्वर्धनकर्तृत्वस्य मनुष्येषु विद्वत्स्वसम्भवाच्च। विद्यादातृषु गुरुत्वबुद्धिर्भवति, न सख्यम् ॥ १५ ॥

तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम्।

अर्यमणं वरुणꣳ सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हम वेदरूप सनातन वाणी के द्वारा अच्युतरूप भग, मित्र, अदिति, प्रजापति, अर्यमा, वरुण, चन्द्रमा और अश्विनीकुमारों का आह्वान करते हैं। ऐश्वर्यमयी सरस्वती महावाणी हमें सब प्रकार का सुख प्रदान करे ॥ १६ ॥

तान् देवान् पूर्वया अकृत्रिमया स्वयम्भुवा निविदा, निविदिति वाङ्नाम, वाचा वेदरूपया वयं हूमहे आह्वयामः। तान् कानित्याह—भगं मित्रमदितिं देवमातरं दक्षं प्रजापतिमर्यमणं वरुणं सोममश्विना अश्विनौ, अस्रिधमित्येतेषां सर्वेषां विशेषणम्। दक्षमित्यस्य विशेषणमित्युव्वटाचार्यः। न स्रेधति, 'षिध गत्याम्' इत्यत्र षिधेति पाठः, गतिरत्र क्षरणरूपा, न च्योतत इत्यस्रित् तमस्रिधम्, अप्रच्युतसद्भावम्। किञ्च, एतैः सहिता सरस्वती सुभगा सुष्ठु शोभनं भगं भाग्यं यस्याः सा सुभगा भजनीया, नोऽस्माकं मयः करत् सुखं करोतु।

अध्यात्मपक्षे—तान् ब्रह्मरूपान् देवान् पूर्वया स्वयम्भुवा वाचा वेदरूपया हूमहे। देवविशेषानाह—भगं भजनीयं मित्रं स्नेहवन्तमदितिमखण्डनीयां दक्षं कुशलमस्रिधमच्युतमर्यमणमर्यमभिगन्तव्यं मननीयं च वरुणं वरणीयं सोममुमासहितमश्विनौ अश्विद्वयरूपं सुभगा शोभनभाग्यविधात्री ज्ञानविज्ञानलक्षणा सरस्वती तैस्तैर्भगवद्रूपैः सहिता मयः सुखं करत् करोतु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं पूर्वया निविदा दक्षमर्यमणमस्रिधं भगं मित्रमदितिं वरुणं सोममश्विनौ हूमहे, यथा सुभगा सरस्वती नोऽस्मभ्यं मयस्करत्, तथा तान् यूयमाह्वयत कुरुत च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मात्रामात्रस्यापि कल्पने मानाभावात्, मनुष्यातिरिक्तानां देवजातिविशेषाणां साधितत्वात् ॥ १६ ॥

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।

तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम् ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—वायु देवता हमें सुखकारी औषधियाँ प्राप्त करावें। माता पृथ्वी और पिता स्वर्ग भी हमें सुखकारी ओषधियाँ प्रदान करें। सोम का अभिषव करने वाले सुखदाता ग्रावा उस औषधरूप अदृष्ट को प्रकट करें। हे अश्विनीकुमारों, आप दोनों सबके आधार हैं, हमारी प्रार्थना सुनिये ॥ १७ ॥

वातः पवनः, नोऽस्माकं भेषजं हितं यथा स्यात्तथा वातु, 'वा गतिगन्धनयोः' प्रवातु, अनुगृह्णात्वित्यर्थः। कीदृशं भेषजम् ? मयोभु मयः सुखं भवति यस्मात्तन्मयोभु सुखभावयितृ भेषजं हितं ददात्वित्यर्थः। माता जगन्निर्मात्री पृथिवी तद् हितं वातु। पिता पालको द्यौः स्वर्गस्तद् भेषजं वातु। सोमसुतः सोमं सुन्वन्ति ते तथोक्ताः सोमाभिषवकारिणो ग्रावाणो दृषदो मयोभुवः सुखभावयितारः सुखदातारस्तद् भेषजं वान्तु ददतु। हे अश्विना ! हे अश्विनौ, युवं युवां तद् वातादिभ्यो भेषजप्रार्थनं शृणुतम्, युवामपि हितं दत्तमित्यर्थः। कीदृशौ युवाम् ? धिष्ण्या धिष्ण्यौ गृहवद्धारयितारौ।

अध्यात्मपक्षे—वातो हिरण्यगर्भः समष्टिसूक्ष्मप्रपञ्चचेतनरूपः परमेश्वरो मयोभु सुखकारिभेषजं हितं वातु ददातु। माता पृथिवी पिता द्यौश्च तद् भेषजं वातु। सोमसुतो मयोभुवो ग्रावाणश्च तत्प्रवान्तु। हे अश्विना अश्विनौ, धिष्ण्यौ धारकौ युवां तद्भेषजं शृणुतं दत्ताम्। सर्वत्र तत्तदवच्छिन्नचेतनरूपा भेषजं हितं सुखं ददत्वित्यर्थः, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ धिष्ण्यौ अध्यापकाध्येतारौ, युवमस्माभिरधीतं शृणुतम्, यथा नो वातस्तन्मयोभु भेषजं वातु तन्माता पृथिवी पिता द्यौस्तत्सोमसुतो मयोभुवो ग्रावाणो मेधा वान्तु तद्युष्मभ्यमस्तु' इति, तदप्यसम्बद्धमेव, अस्माभिरधीतमित्यस्य कर्मत्वे मानाभावात्। अधीतश्रवणेन वातादिकर्तृकभेषजप्राप्त्या कः सम्बन्धः ? भेषजं पृथिव्यामेव भवतीति तत्प्राप्तिवचनं निरर्थकमेव। द्युमेधादिप्राप्तिवर्णनमपि न सम्भवति ॥ १७ ॥

तमीशा॑नं जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धिय॒ञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम्।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हम स्थावर-जंगम के स्वामी, बुद्धि को संतोष देने वाले, रुद्रदेवता का रक्षा के निमित्त आह्वान करते हैं। वैदिक ज्ञान व धन की रक्षा करने वाले, पुत्र आदि के पालक, अविनाशी पुष्टिकर्ता देवता हमारी वृद्धि और कल्याण के निमित्त हों ॥ १८ ॥

तं लोकवेदप्रसिद्धम् ईशानं रुद्रं जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च भूतजातस्य पतिं पालकं धियञ्जिन्वं धिया बुद्ध्या, सङ्कल्पमात्रेणेति यावत्, जिन्वति प्रीणातीति धियञ्जिन्वस्तम्, विभक्तिव्यत्ययः, अलुक् च। यद्वा धियं बुद्धिं जिन्वति प्रीणातीति धियञ्जिन्वस्तं बुद्धिसन्तोषकारकम्, तादृशं परमात्मानमवसे अवितुं तर्पयितुं हूमहे आह्वयामः, तुमर्थे असेप्रत्ययः। यथा येन प्रकारेण पूषा पुष्टिकारकः सविता वेदसां धनानां रक्षिता पालकः, पायुः पुत्रादीनां पालकः, ज्ञानानां वा पालकः, अदब्धोऽनुपहिंसितो नोऽस्माकं वृधे वृद्ध्यै स्वस्तये कल्याणाय च असद् भवतु, तथा हूमह इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—तमीशानं परमात्मानं जगतस्तस्थुषश्च सर्वस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य पतिं सङ्कल्पमात्रेण तर्पयितारम्, अवसे अविद्यातत्कार्यात्मकसंसाराद् रक्षणाय हूमहे। यथा वेदसां रक्षिता पूषा पायुरभीष्टानां पालकः, अदब्धः स नोऽस्माकं जीवानां वृधे वृद्ध्यै स्वस्तये च भूयात् तथा तमाह्वयामः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वयमवसे जगतस्तस्थुषः पतिं धियञ्जिन्वं तमीशानं हूमहे, स यथा नो वेदसां वृधे पूषा रक्षिता स्वस्तये पायुरदब्धोऽसत्तथा यूयं कुरुत। स च युष्मभ्यमप्यस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथाध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। सिद्धान्तरीत्या अध्याहारं विनापि तात्पर्योपपत्तेः ॥ १८ ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—महती कीर्ति वाला ऐश्वर्यशाली इन्द्र हमारा कल्याण करे, सर्वज्ञ सबके पोषणकर्ता सूर्य हमारा कल्याण करें। जिनकी चक्रधारा के समान गति को कोई रोक नहीं सकता, वह गरुड़देव हमारा कल्याण करें। वेदवाणी के स्वामी बृहस्पति हमारा कल्याण करें ॥ १९ ॥

षष्ठीयं विराट्स्थाना। आद्यौ पादौ नववर्णौ तृतीयः पादो दशाक्षरः। चतुर्थश्च व्यूहेन एकादशाक्षरः। 'नवकौ वैराजस्त्रिष्टुभश्च द्वौ वा वैराजौ नवकस्त्रैष्टुभश्च विराट्स्थाना' (ऋ० सर्वा० ९) इति दशविधत्रिष्टुभो मध्ये चतुर्थी विराट्स्थाना त्रिष्टुप्। इन्द्रः परमैश्वर्योपेतो देवराजः परमेश्वरो वा नोऽस्मभ्यं स्वस्ति अविनाशं शुभं दधातु ददातु। कथम्भूत इन्द्रः ? वृद्धश्रवाः, श्रव इत्यन्नस्य कीर्तेर्वा नामधेयम्, वृद्धं महत् श्रवो यस्य स वृद्धश्रवाः। पूषा देवो नोऽस्मभ्यं स्वस्ति क्षेमं दधातु स्थापयतु। कीदृशः पूषा ? विश्ववेदाः, विश्वं सर्वं वेदो धनं यस्य सः, विश्वं वेत्तीति वा विश्ववेदाः। तार्क्ष्यः, तृक्षस्यापत्यं तार्क्ष्यः, 'गर्गादिभ्यो यञ्' (पा० सू० ४।१।१०५) इति रूपसिद्धिः। 'तार्क्ष्यस्तु स्यन्दने वाहे गरुडे गरुडाग्रजे' इति हैमः। स्यन्दनं गरुडो वा नः स्वस्ति दधातु। कीदृशः तार्क्ष्यः ? अरिष्टनेमिः, अरिष्टा अनुपहिंसिता नेमिश्चक्रधारा पक्षो वा यस्य सः, नयतीति नेमिः, 'नियो मिः' (उ० ४।४४) चक्रावयवः पक्षो वा। बृहस्पतिः 'तद्बृहतोः करपत्योः' (पा० सू० ६।१।१५७, वा०-?) इति रूपसिद्धिः। देवगुरुः स्वस्ति दधातु ददातु।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरो वृद्धश्रवा महायशा नोऽस्मभ्यं स्वस्ति कल्याणं मोक्षरूपं दधातु धारयतु। विश्ववेदाः सर्वज्ञः पूषा सर्वपोषकत्वगुणविशिष्टो नः स्वस्ति दधातु। तार्क्ष्यो गरुत्मान् अरिष्टनेमिरव्याहतपक्षो नोऽस्मभ्यं स्वस्ति दधातु बृहस्पतिर्बृहतां वेदलक्षणानां वाचां पतिः परमेश्वरः, तादृशगुणविशिष्टः स्वस्ति दधातु। एतैरिन्द्रादिपदैः परमात्मन एव व्यपदेशः, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वृद्धश्रवा इन्द्रो नः स्वस्ति यो विश्ववेदाः पूषा नः स्वस्ति, यस्तार्क्ष्य इवारिष्टनेमिः, स नः स्वस्ति, यो बृहस्पतिर्नः स्वस्ति दधाति, स युष्मभ्यमपि सुखं दधातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहृतपदानां निर्मूलत्वात्। बहुश्रोतुर्वृद्धश्रवस्त्वमपि चिन्त्यम्, यशसि श्रुतौ कर्णे नक्षत्रे च श्रवःशब्दप्रसिद्धेः। तथा च मेदिनी—'श्रवः श्रुतौ च कर्णे च नक्षत्रे न नपुंसकम्' इति ॥ १९ ॥

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—चितकबरे वर्ण के घोड़ों वाले, अदिति माता से उत्पन्न, सबका कल्याण करने वाले, यज्ञशालाओं में जाने वाले, सर्वज्ञ, सूर्यरूप नेत्र वाले मरुद्गण और विश्वेदेव देवता हविरूप अन्न को ग्रहण करने के लिये हमारे इस यज्ञ में आवें ॥ २० ॥

जगती। मरुतो देवाः पृषदश्वाः प्रावृषि सर्वतः पृषत्यो विचित्रा मेघमाला अश्वा येषां ते तथोक्ताः। अथवा पृषत्यः पृषतीसंज्ञा अश्वा वडवा (वाहनं) येषां ते तथोक्ताः, पुंवद्भावः, 'पृषत्यो मरुताम्' (निघ० १।१५।६) इति निघण्टूक्तेः। यद्वा पृषद्भिर्बिन्दुभिर्युक्ताः पृषद्युक्ताः, पृषद्युक्ता अश्वा येषां ते पृषदश्वाः, मध्यमपदलोपः। यद्वा पृषन्तः शबला अश्वा येषां ते पृषदश्वाः। पृश्निमातरः पृश्निर्द्यौर्गौर्दितिर्वा माता जननी येषां ते तथोक्ताः। शुभंयावानः शुभं कल्याणं यान्ति प्राप्नुवन्ति प्रापयन्ति वा ये ते शुभंयावानः, 'या प्रापणे' इत्यस्मात् 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' (पा० सू० ३।२।७४) इति वनिप्, द्वितीयाया अलुक्। विदथेषु यज्ञगृहेषु जग्मयो गमनशीलाः, 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' (पा० सू० ३।२।१७१) इति किः। अग्निजिह्वा अग्निर्जिह्वा भोजनसाधनं येषां ते, 'अग्निमुखा उ वै सर्वे देवाः' (श० १३।७।१।३) इति श्रुतेः, हुताद इत्यर्थः। विदथेषु वेत्ति देवपूजादिकं यत्र तानि विदथानि 'विद् ज्ञाने', विन्दति लभते हि दक्षिणादिकमत्रेति विदथानि 'विदॢ लाभे', विन्ते विचारयति मन्त्राणां छन्दोदेवर्ष्यादिसम्बन्धविशेषरूपं विनियोगमत्रेति विदथानि, विद्यते कर्मणां विविधानां प्रचारो यत्र तानि विदथानि यज्ञस्थानानि, 'सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे। विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम्शेष्विदं क्रमात्॥' तेषु जग्मयो गमनशीलाः। ईदृशा मरुतो देवा अवसा हविर्लक्षणेनान्नेन निमित्तेन आहूताः सन्त इह यज्ञे आगमन् आगच्छन्तु। मनवो मन्यन्ते जानन्ति ये ते मनवः सर्वज्ञाः, सूरचक्षसः सूरः सूर्यश्चक्षश्चक्षुर्येषां ते, अथवा सूर्यं चक्षते पश्यन्ति ये ते सूरचक्षस आदित्यदर्शनाः, न केवलं मरुतः, किन्तु विश्वे सर्वे देवा नोऽस्माकमवसा हविर्लक्षणेनान्नेन निमित्तेन इहास्माकं यज्ञे, आगच्छन्त्विति भावः।

अध्यात्मपक्षे—तत्तद्विशेषणविशिष्टा मरुतोऽन्ये चाग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे देवाः परमात्मांशभूता इह यज्ञे यजनस्थाने आगच्छन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे पृश्निमातर इव पृषदश्वा मरुतो मनुष्याः, विदथेषु शुभं यावानो जग्मयोऽग्निजिह्वाः सूरचक्षसो विश्वेदेवा मनवोऽवसा सह वर्तन्ते, त इह नोऽस्मानागमन्' इति, तदपि निरर्थकम्, प्रार्थनामात्रेण पृषदश्वानां मनुष्याणां विदुषां चागमनासम्भवात्। यत्तु –'पृषतः पुष्टयादिसंसिक्ताङ्गा अश्वा येषां ते पृषदश्वाः' इति, तदपि न, पृषच्छब्दस्य तादृशार्थतायां मानाभावात्, 'पर्षति सिञ्चति हिनस्ति वा तत् पृषद् मृगविशेषो बिन्दुर्वा' इति त्वदुक्तेः। न च विद्वांसोऽन्तरिक्षमातरो भवन्ति, नापि तेऽग्निजिह्वा भवन्ति, न चाग्निशब्देन तद्वद्दीप्तिरर्थः, मुख्यार्थत्यागे मानाभावात्॥ २०॥

भ॒द्रं कर्णे॑भिः शृणुयाम देवा भ॒द्रं प॑श्येमा॒क्षभि॒र्यज॑त्राः।
स्थि॒रैरङ्गै॑स्तुष्टु॒वाᳬसँ॑स्त॒नूभि॒र्व्य॑शेमहि दे॒वहि॑तं॒ यदायुः॑॥ २१॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान के रक्षक देवताओं! हम दृढ़ अंगों वाले शरीर से पुत्र आदि के साथ मिलकर आपकी स्तुति करते हुए कानों से कल्याण की बातें सुनें, नेत्रों से कल्याणमय वस्तुओं को देखें, देवताओं की उपासना योग्य आयु को पावें॥ २१॥

तिस्रस्त्रिष्टुभः। हे देवाः, कर्णेभिः कर्णैर्भद्रं कल्याणमनुकूलं वयं शृणुयाम। हे यजत्राः, यजन्तं त्रायन्ते रक्षन्तीति यजत्रा यजमानपालकाः, तत्सम्बोधने। अथवा इज्यन्ते ये ते यजत्राः। 'अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन्' (उ० ३।१०५) इत्यत्रन्प्रत्ययेन साधुः, तत्सम्बोधने हे यजत्रा यष्टव्या देवाः। अक्षभिरक्षिभ्याम्, 'छन्दस्यपि दृश्यते' (पा० सू० ७।१।७६) इत्यनङ्ङादेशः। भद्रं कल्याणं पश्येम। किञ्च, देवहितं यदायुर्देवैर्हितं निहितं स्थापितं देवेभ्यो हितं वा, देवोपासनयोग्यमिति यावत्, यदायुर्जीवनं तद् वयं व्यशेमहि व्यश्नुवीमहि

प्राप्नुयाम। कीदृशा वयम्? स्थिरैर्दृढैरङ्गैरवयवैर्हस्तपादादिभिस्तनूभिः शरीरैश्च पुत्रादिभिर्वा युतास्तुष्टुवांसो भवतः स्तुवन्तः सन्तः।

अध्यात्मपक्षे—त्रिगुणात्मके संसारे देवानुग्रहादेव भद्रदर्शनं भद्रश्रवणं च सम्पद्यते, अतो भगवदंशा देवा एव प्रार्थ्यन्ते। हे देवाः, वयं कर्णैः श्रोत्रैन्द्रियैर्भद्रं मङ्गलमयं भगवच्चरित्रं भगवत्तत्त्वप्रतिपादकं वैदिकमार्षं शिष्टवाक्यं शृणुयाम, नेत्रैश्च भद्रं माङ्गलिकं भगवद्भागवतस्वरूपादिकं पश्येम। उपलक्षणमेतत्। वाचापि मङ्गलं भगवन्नामस्तुत्यादिकं वदेम, मनसापि भगवन्तं सङ्कल्पयेम, तमेवाध्यवस्याम। तदुक्तं परमभागवतेन प्रह्लादेन श्रीमद्भागवते—'स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया। मनश्च भद्रं भजतादधोक्षज आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥' (५।१८।९)। ब्रह्मणाप्युक्तं तत्रैव—'न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः। न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥' (२।६।३३) इति। हे यजत्रा यष्टृरक्षका यजनीया वा भगवन्तः, वयं स्थिरैर्दृढैः संस्कृतैश्चाङ्गैः करचरणादिभिस्तनूभिः समष्टिशरीरैश्च भार्यापुत्रप्रपौत्रादिभिर्वा तुष्टुवांसो भवतः स्तुवन्तः सन्तो देवहितं देवैः स्थापितमायुर्जीवनं देवानां हितयजनोपासनाद्यनुकूलं वा जीवनं व्यशेमहि व्यश्नुवीमहि।

दयानन्दस्तु—'हे यजत्रा देवाः, भवत्संगेन वयं कर्णेभिर्भद्रं शृणुयाम, अक्षभिर्भद्रं पश्येम, स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसः सन्तस्तनूभिर्यद्देवहितमायुस्तद्व्यशेमहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्येभ्यो देवेभ्यस्तथाभिलषितासिद्धेः। लिङ्लकारोऽध्येषणाद्यर्थको भवति, अन्यथा कर्तुः श्रवणदर्शनादिक्रियासु स्वातन्त्र्येण तथावचनस्य नैरर्थक्यात्। अङ्गानां तनूनां स्थैर्यं देवहितायुःप्रार्थनं न मनुष्येभ्योऽल्पशक्तिभ्यः प्राप्तुं शक्यमिति विशिष्टशक्तिमन्तो देवाः परमेश्वरश्च प्रार्थनीया इति मन्तव्यम्॥ २१॥

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥ २२॥

मन्त्रार्थ—हे देवताओं! आप सौ वर्ष की आयु पर्यन्त हमारे समीप रहें, जिस आयु में हमारे शरीर को जरा अवस्था प्राप्त हो, जिस आयु में हमारे पुत्र पिता, अर्थात् पुत्रवान् बन जाँय, हमारी उस गमनशील आयु को आप लोग बीच में खण्डित न होने दें॥ २२॥

हे देवाः, शतमित् शतमपि शरदो वर्षाणि यूयमन्ति अन्तिके, भवतेति शेषः। आकल्पकालं युष्माकं सन्निधानमस्त्वित्यर्थः। यत्रा यत्र यस्मिन् शरच्छते, 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्' (पा० सू० ६।३।१३३) इति दीर्घः। नोऽस्माकं तनूनां शरीराणां यूयं जरसं जरां जरानिमित्तां शक्तिं चक्रा चक्र कुरुथ, कृतवन्त इति यावत्, 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः, वार्धकावधि यूयं समीपे भवतेत्यर्थः। यत्रास्माकं जरायां पुत्रासोऽस्मत्पुत्राः पितरो भवन्ति पुत्रवन्तो भवन्ति, यावदस्माकं पौत्रा भवन्तीत्यर्थः, तावन्मध्या मध्ये नोऽस्माकमायुर्मा रीरिषत मा हिंसीष्ट, रिषतेर्हिंसार्थस्य णिजन्तस्य चङि रूपम्। कीदृशमायुः? गन्तोः, गन्तृ गमनशीलम्, 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' (पा० सू० ३।४।१३) इति तोसुन्प्रत्ययः। उक्तं च—'सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य तमुग्रदण्डं मृत्युं मनुष्यस्य विचक्षणस्य। वर्षासु सिक्ता इव चर्मबन्धाः सर्वे प्रयत्नाः शिथिलीभवन्ति॥' इति। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्तीत्यत्र उव्वटाचार्यः—"पुत्रा अग्नयो यत्र शरदां शते यजमानस्य पितरो जनितारो भवन्ति। तदुक्तम्—'यत्र वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे' (श० २।३।३।१) इत्युपक्रम्य 'तं जनयित्वाबिभः' (श० २।३।३।२) इति। यत्र पितरो भवन्ति। एतदप्युक्तमेव, 'स यत्र म्रियते। यत्रैनमग्नावभ्यादधाति

तदेषोऽग्नेरधिजायते स एष पुत्रः सन् पिता भवति' (श० २।३।३।५)। अथवा पुत्रा एव पितॄणामौर्ध्वदैहिकं कुर्वाणाः पितरो यत्र सम्पद्यन्ते, तदपि शरदां शतमन्तिक एवेति' इति। यजमानोऽग्नीनादधाति त्रेताग्नयोऽस्य पुत्रा भवन्ति मरणानन्तरं यदा यजमानमग्नावभ्यादधाति, तदा तेभ्योऽग्निभ्य एव तस्याभीष्टस्वर्गादिसुखोपभोग-योग्यं जन्म भवति। तदा तेऽग्नयो यजमानस्य पुत्रा भवन्तीति।

अध्यात्मपक्षे—हे देवाः, शतमिन्नु शतमपि शरदो वर्षाणि अन्ति अन्तिके समीपे भवतेति। देवानां सन्निधानेन सद्बुद्धिसदाचरणानि सिद्ध्यन्ति। तावन्मध्ये गन्तोर्गन्तृ गमनशीलमायुर्मा रीरिषित। तावत्कालं निर्विघ्नजीवनप्राप्त्या श्रवणमननादिभिर्ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण जन्मसाफल्यमपि सम्पद्यते। मन्त्रार्थव्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे देवाः, भवदन्तिस्थितानां नोऽस्माकं यत्र तनूनां जरसं शतं शरदः स्युस्तन्नु चक्र यत्र पुत्रास इतिपतरो भवन्ति तन्नो गन्तोरायुर्मध्या मा रीरिषत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मानुषेभ्यो देवेभ्योऽदृष्टद्वारा तत्कार्यसम्पत्तेः। दृष्टो व्यवहारो लौकिको नास्ति सम्प्रतिपन्नो येन तत्सिद्ध्येत। मनुष्येभ्यो भिन्ना विशिष्टशक्तिसम्पन्ना देवास्त्वया नाभ्युपेयन्ते, तत एव तत्सम्बद्धानि कर्माण्यपि नोपेयन्ते। घृताद्याहुतयश्च वाय्वादिशुद्ध्यर्था एवेति कुतोऽभीष्टसिद्धिः स्यात्। गन्तोरित्यस्य गमनमित्यर्थोऽपि चिन्त्यः, तुमर्थे तोसुन्-विधानात्॥ २२॥

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑तिर्जनि॑त्वम्॥ २३॥

मन्त्रार्थ—अखण्डित परा शक्ति स्वर्ग है, वही अन्तरिक्ष रूप है, वही परा शक्ति माता, पिता और पुत्र भी है। सकल देवता परा शक्ति के ही स्वरूप हैं, अन्त्यज सहित चारों वर्णों के सकल मनुष्य पराशक्तिमय हैं, जो उत्पन्न हो चुका है और जो उत्पन्न होगा, सब परा शक्ति के ही स्वरूप हैं॥ २३॥

मन्त्रदृक् सर्वात्मभावेनादितिं स्तौति—अदितिर्देवमाता सर्वमाताऽनन्तब्रह्माण्डजननी चिती राजराजेश्वरी, न द्यति खण्डं परिच्छेदं प्राप्नोतीत्यदितिरपरिच्छिन्नाऽखण्डा स्वप्रकाशा चित्। सैव द्यौः स्वर्गः, तदधिष्ठानत्वात् तदधिष्ठातृत्वाच्च। अदितिरन्तरिक्षम्। अदितिरेव माता जननी पुत्रश्च। स साऽदितिः, लिङ्गव्यत्ययः। पिता जनकः स सादितिरेव पुत्रः। विश्वे सर्वे देवा अदितिः पञ्चजनाः पञ्चभिर्भूतैर्जन्यन्त इति पञ्चजनाः, 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१९) इति घञ्, 'जनिवध्योश्च' (पा० सू० ७।३।३५) इति वृद्ध्यभावः। अथवा पञ्चजना उत्पादका यस्य ते पञ्चजना मनुष्याः, 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः' (२।६।१) इत्यमरवचनात्। निषादपञ्चमाश्चत्वारो वर्णाः पञ्चजना आख्यायन्ते, अथवा गन्धर्वाप्सरसो देवा असुरा रक्षांसि—इत्येते सर्वेऽपि पञ्चजना इति सायणः। एते सर्वेऽप्यदितिरेव। किं बहुना, जातमुत्पन्नं प्राणिजातं जनित्वं जनिष्यमाणं च सर्वमदितिरेव। यद्वा—द्यौरन्तरिक्षं माता पिता पुत्रो विश्वे देवाः पञ्चजना जातं जनित्वं च सर्वमदितिरदीना महाभाग्ययुक्तमस्त्वित्यध्येषणा।

अध्यात्मपक्षे—इदमेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिर्द्यौरदितिर्माता च पिता स पुत्रश्चादितिः पञ्चजना अदितिर्जातं जनित्वं चादितिरस्तीति वेदितव्यम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या कार्यस्य कारणत्वासम्भवात्। परमेश्वरस्तु

निमित्तकारणमेव। न च कार्यस्य निमित्तकारणरूपत्वम्, घटादीनां कुलालरूपत्वापत्तेः। स्वरूपेण नित्यत्वेऽपि न ब्रह्मरूपता सम्भवति, कालाकाशादीनां नित्यत्वेऽपि परमात्मरूपत्वाभावात्। सिद्धान्ते तु—'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा-दृष्टान्तानुपरोधात्' (ब्र० सू० १।४।२३) इति न्यायेन परमात्मन एवाभिन्ननिमित्तोपादानत्वेन 'तदनन्यत्व-मारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) इति न्यायेन कार्यस्य कारणानन्यत्वेन ब्रह्मरूपत्वमेव ॥ २३ ॥

मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः परि ख्यन् ।
यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ में सूर्य से उत्पन्न देवताओं के अश्वों के चरित्रों का जो हम वर्णन करेंगे, उसके कारण मित्र, वरुण, सूर्य, वायु, इन्द्र, प्रजापति और मरुद् देवता हमारी निन्दा न करें ॥ २४ ॥

'मा नो मित्र इति च प्रत्यृचमनुवाकाभ्याम्' (का० श्रौ० २०।८।६)। मा न इत्यादि षोडशकण्डिकात्मकेनानुवाकद्वयेन पूर्ववच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा जुहोतीति सूत्रार्थः। 'मा नो मित्रो यदश्वस्याष्टकौ' इत्यनुवाक-सूत्रवचनम्, 'षोडशाश्वस्तोमीया जुहोति' (श० १३।३।६।५) इति श्रुतिश्च। अत आरभ्य द्वाविंशतिर्ऋचोऽश्व-स्तुतिपरत्वादश्वदेवत्यास्त्रिष्टुभो दीर्घतमोदृष्टाः, अत्र 'या तेनोच्यते सा देवता' (निरु०) इति नियमात्। अत्र 'एष छागः' इति तृतीया (अध्यायारम्भतः षड्विंशी) 'यूपव्रस्का' इति षष्ठी (अध्यायारम्भत एकोनत्रिंशी) इत्येते द्वे जगत्यौ। ततः षोडशभिर्होमः, षड्भिः स्तुतिः, सर्वाभिर्वा होमः, 'अश्वस्तोमीयꣳ हुत्वा द्विपदा जुहोति' (श० १३।३।६।३) इति श्रुतेः।

मन्त्रार्थस्तु—यद्वयं विदथे यज्ञे वाजिनोऽश्वस्य वीर्याणि चरित्राणि प्रवक्ष्यामो वर्णयिष्यामः, तत्र मित्रादयो देवा नोऽस्मान् मा परिख्यन् मा गर्हन्ताम्। परिख्यानं गर्हणम्, परिपूर्वात् ख्यातेर्लुङि 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (पा० सू० ३।१।५२) इति च्लेरङ्, 'न माङ्योगे' (पा० सू० ६।४।७४) इत्यडभावः। अस्माभिर्देवाः स्तुत्याः, न त्वश्वप्रभृतयस्तिर्यञ्च इति यद्यपि निन्दा युक्ता, तथाप्यश्वरूपेण देवानामेव स्तुतत्वान्न गर्हणीया वयमित्यर्थः। कथम्भूतस्य अश्वस्य ? देवजातस्य, देवात् सूर्याज्जात उत्पन्नो देवजातस्तस्य देवैर्जनितस्य वा, 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' (वा० सं० २९।१३) इति मन्त्रवर्णात्। सप्तेः, सपति समवैति देवैः सहेति सप्तिः, 'षप् समवाये' इत्यस्मात् 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१७४) इति क्तिच्प्रत्ययः, तस्य। के मा गर्हन्ताम् ? तानाह—मित्रः, अहरभिमानी देवः। वरुणो रात्र्यभिमानी देवः। अर्यमा आदित्यः। आयुरेति सततं गच्छतीत्यायुः, 'एतेर्णिच्च' (उ० २।१२०) इति इसिः, वायुः। इन्द्रो देवराजः। ऋभुक्षा ऋशब्दवाच्यः स्वर्गोऽदितिर्वा, स्वरादिपाठादव्ययत्वम्, तत्र भवन्ति ततो वा भवन्तीति ऋभवो देवाः, मित्रद्र्वादित्वाद् डुः, ऋभवः क्षियन्त्यत्रेति ऋभुक्षाः, औणादिक इनिः। 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (पा० सू० ७।१।८५) इति सौपर आकारोऽन्तादेशः, देवाधारः प्रजापतिरिति यावत्। यद्वा—इयर्ति व्याप्नोति सर्वमिति ऋभुक्षाः, अर्तेर्भुक्षिनक्प्रत्ययः। मरुतो देवतान्तराणि। एते सर्वेऽपि मा परिख्यन्। सप्तगुणितसप्तसंख्याका मरुतो वा मा परिख्यन्नित्यनुषङ्गः।

अध्यात्मपक्षे—देवार्थं जातस्य सप्तेर्वाजिनो यद्वयं वीर्याणि प्रवक्ष्यामस्तेन मित्रादयो नोऽस्मान् मा परिख्यन् मा गर्हन्ताम्, प्रजापतिदैवतत्वेन तस्यापि देवरूपत्वात्। यथा शालग्रामो विष्णुबुद्ध्या स्तूयते, तथैवाश्वोऽपि प्राजापत्यात्मना स्तूयते।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा मित्रो वरुणोऽर्यमेन्द्र ऋभुक्षा मरुतो न आयुर्मा परिख्यन्, येन वयं देव-जातस्य वाजिनः सप्तेरिव विदथे यद्वीर्याणि प्रवक्ष्यामस्तानि मा परिख्यन्, तथा यूयमुपदिशत' इति, तदपि

यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागगौणार्थग्रहणयोर्निर्मूलत्वात्, परिख्यन्नित्यस्य नाशार्थत्वायोगाच्च । देवजातस्य दिव्यैर्गुणैः प्रसिद्धस्येत्यपि नार्थः, तथार्थे तस्याशक्तत्वात् । सप्तिपदस्याप्यश्ववाचकस्य तत्तुल्यार्थतापि निर्मूलैव । न च मित्रादिषु कस्यचिदायुर्नाशकत्वं प्रसक्तम्, येन तन्निषेधसार्थक्यं स्यात् ॥ २४ ॥

यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति ।
सुप्राङजो मेम्यद्विश्वरूप इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—जिस समय ब्राह्मण स्नान से और सुवर्ण, मणि आदि से संस्कार को प्राप्त हुए अश्व के मुखाग्र में ग्रहण किये घृत, सत्तू, धाना रूप दान को प्राप्त कराते हैं, तब ललाट के निकट बँधा हुआ शब्दकारी विचित्र वर्ण का छाग इन्द्र और पूषा देवता के प्रिय अन्नभाव को प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

यद् यदा विप्रा निर्णिजा निर्णेजनोदकस्नानेन प्रावृतस्य संस्कृतस्य, आलम्भनकालेऽश्वस्य यत् स्नपनं तदभिप्रायेणैतदुक्तम् । तथा रेक्णसा धनेन मणिसुवर्णादिना प्रावृतस्य केसरपुच्छेषूपचितस्य, 'मणीन् सौवर्णान्''''केसरपुच्छेष्वावयन्ति' (का० श्रौ० २०।५।१६) इत्युक्तेः, अस्य महिषी-वावातादय इति शेषः । रेक्ण इति धननाम (निघ० २।१०।२), निर्णेजनं निर्णिक्, तया । 'णिजिर् शौचपोषणयोः' सम्पदादित्वात् क्विप् । तादृशस्य अश्वस्य मुखतो मुखाग्रे गृभीतां गृहीतां रातिं दानमाज्यसक्तुधानालक्षणं नयन्ति प्रापयन्ति, 'अश्वाय रात्रिहुतशेषं प्रयच्छतीति' इति कात्यायनोक्तेः । तदा अजश्छागोऽप्येति, अश्वाय समर्पिताज्यसक्तुधानादिभक्षणायागच्छति । कीदृशोऽजः ? सुप्राङ् सुष्ठु प्राञ्चतीति सुप्राङ्, ललाटे बद्ध इत्यर्थः, 'कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे पुरस्तात्' (वा० सं० २४।१) इत्युक्तेः । तथा मेम्यत्, शब्दानुकरणमेतत्, मे मे इति शब्दं कुर्वाणः, तथा विश्वरूपो विश्वानि रूपाणि वर्णानि यस्य सः । इन्द्रापूष्णोरिन्द्रश्च पूषा चेति इन्द्रापूषणौ, 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इत्यानङ्, इन्द्रस्य पूष्णश्च प्रियमिष्टं पाथोऽन्नं पशुलक्षणं तदप्येति नाभिबद्धोऽपि भक्षाय आगच्छति, 'सौमापूष्णः श्यामो नाभ्याम्' (वा० सं० २४।१) इत्युक्तेः । हुतशेषमन्नं यदाश्वाय दीयते, तदा ललाटनाभिबद्धावजौ भक्षायागच्छतः ।

अध्यात्मपक्षे यथा प्रजापतिसंसृष्टा अग्न्यादयः, तथैव अश्वसंसृष्टा अजादयः पशवः । प्रजापतेरन्नमेवाग्न्यादीनामन्नम्, तथैवाश्वसमर्पितसक्तुधानादिकमजौ भक्षयतः । व्याख्यानं तु पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'यन्मनुष्या निर्णिजा सुरूपेण रेक्णसाधनेन प्रावृतस्य युक्तस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति, यो मेम्यत् सुप्राङ् यः सुष्ठु पृच्छति स विश्वरूपोऽजः, इन्द्रापूष्णोः प्रियं पाथोऽप्येति, ते स च सुखमाप्नुवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मूले मनुष्यपदाभावात् । न च निर्णिक्पदमपि सुरूपपरम्, धात्वर्थाननुरोधात् । यो गृभीतां रातिं मुखतः सुप्राङ् सुष्ठु पृच्छतीत्यपि यत्किञ्चित्, पृच्छतेस्तादृशरूपत्वायोगात् । न वाऽजस्य जीवस्य विश्वं रूपं सम्भवति, तस्य विश्वविलक्षणत्वात् । न वा तस्य विद्युत्पवनयोगः, तस्यासङ्गत्वात् । सुखं प्राप्नुवन्तीत्यपि मन्त्रबाह्यमेव ॥ २५ ॥

एष छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः ।
अभिप्रियं यत्पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेनꣳ सौश्रवसाय जिन्वति ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—जब यह अग्निदेवता का भाग सब देवताओं का हितकारी अज वेगवान् अश्व के आगे किया जाता है, तब प्रजापति ही वेगवान् अश्व के द्वारा सब प्रकार से देवताओं को तृप्त करने वाले आगे देने योग्य इस अज को श्रेष्ठ कीर्ति के लिये तृप्त करते हैं ॥ २६ ॥

यद् यदा एषोऽग्निदेवत्यश्छागोऽजो वाजिना वेगवताऽश्वेन (व्यापकेन) पुरोऽग्रतो नीयते, ललाटबद्धत्वात्। अश्वस्य पुरोगमनेन तस्य पुरोगमनं सिद्ध्यति, अश्वस्य पर्यङ्ग्यत्वात्। तदा त्वष्टा इत् त्वष्टैव प्रजापतिरेव अर्वताऽश्वेन सह एनं छागं जिन्वति प्रीणाति। कीदृशश्छागः? पूष्णो भागः, पुष्णाति देवानिति पूषाग्निः, तस्य भागो भजनीयः, 'आग्नेयो रराटे' (वा० सं० २४।१) इत्युक्तत्वात्। तथा विश्वदेव्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यो हितः सर्वदेवार्हः, अग्नेः सर्वदेवात्मकत्वात्। किमर्थमेनं छागमश्वेन सह जिन्वतीत्याह—सौश्रवसाय शोभनं श्रवः कीर्तिर्यस्य स सुश्रवाः, तस्य भावः सौश्रवसम्, तस्मै सुकीर्तये, यज्ञ आलब्धान्तं स्वर्गप्राप्तेरुक्तत्वात्। कीदृशमेनं छागम्? अभिप्रियमभिप्रेतम्, अभिप्रीणातीत्यभिप्रियस्तं समन्ताद्देवानां प्रीणयितारम्। तथा पुरोडाशम्, पुरो दाश्यते दीयत इति पुरोडाशः, 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१९) इति कर्मणि घञ्, पृषोदरादिः, तं देवेभ्यः पुरस्ताद् दातव्यम्। यद्वा पशुपुरोडाशरूपम्। यच्च पुरोडाशं कर्तुमर्वताऽश्वेन सहितम्, स हि संज्ञपनकाले संज्ञप्यते पशुपुरोडाशः क्रियते, तदेतदुक्तमित्युव्वटाचार्योऽभिप्रैति। सौश्रवसाय शोभनान्तःकरणाय जिन्वति, स हि तस्याधिकार इति च।

अध्यात्मपक्षे—यः सर्वैर्देवैः सह प्रजापतिं प्रीणयितुमनिच्छयापि स्वात्मानं तत्पुरोडाशत्वेनोपस्थापयति, तं स त्वष्टा प्रीणाति। तदनन्तरं यज्ञं चाभिवर्धयति। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'विद्वद्भिर्य एष पुरो विश्वदेव्यो विश्वेषु देवेषु साधुः पूष्णो भागः सेवनीयश्छागश्छेदको वाजिनाऽश्वेन सह नीयते, यदभिप्रियं पुरोडाशमर्वता गन्त्रा सह त्वष्टैनं सौश्रवसायेज्जिन्वति, स सदा पालनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, छेदक क इत्यस्यानुक्तत्वात्। भावार्थेऽजादीन् पशूनित्युक्तत्वादज एव छागो ग्राह्यः। कथं च तस्य छागस्य सर्वेषु देवेषु विद्वत्सु साधुत्वमित्यपि वक्तव्यम्? कथं किमर्थं व तस्य पूष्णा सेव्यत्वम्? अश्वेन च सह तस्य कः सम्बन्धः? पुरोडाशे कीदृशं कमनीयत्वम्? पुरोडाशप्रापकेनाश्वेन सार्धं तं छागं प्राप्य त्वष्टा सौश्रवसाय कथं जिन्वतीत्यादिप्रश्नानां दुःसमाधेयत्वात् ॥ २६ ॥

यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति।
अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ - जिस समय ऋत्विक्गण हवि के योग्य यज्ञकाल में देवयान मार्ग से जाने वाले अश्व की तीन परिक्रमा करते हैं, उस समय अग्नि का भागरूप अज अग्रगामी होता हुआ, देवताओं के निमित्त यज्ञ को जताता हुआ प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

यद् यदा हविष्यं हविषे हितं हविर्योग्यम्, ऋतुश ऋतौ ऋतौ इति ऋतुशः, 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (पा० सू० ५।४।४३) इति शस्प्रत्ययः, यज्ञकाले देवयानं देवानां प्रापणीयम्, देवेषु वा यानं गमनं यस्य तम्, देवयानमार्गगामिनं वा, देववदादित्यवद् यानं गतिर्यस्य तं वा, आदित्यवदनिवारितगतिमित्यर्थः। अश्वं मानुषा मनुष्या ऋत्विजस्त्रिः परिणयन्ति प्रदक्षिणीकुर्वन्ति, वारत्रयं पर्यग्निकुर्वन्ति वा। स्नपनव्यञ्जनसुवर्णमणिकप्रवारैः त्रिः संस्कृतं वा परिणयन्ति परितो नयन्ति। अत्रा अत्र, 'ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्'

(पा० सू० ६।३।१३३) इति दीर्घः, तत्रेत्यर्थः। तस्मिन् काले, अत्रास्मिन् समये पर्यग्निकरणकाले वा पूष्णः पोषकस्याग्नेः प्रथमो भागोऽजाख्यः, एति आगच्छति, देवेभ्यो यज्ञं प्रतिवेदयन् स्वकीयेन शब्देन। तदभिप्रायेणैव चरकश्रुतौ—'पूष्णो[1] ललाटे' इति पठ्यते। यद्वा अत्रास्मिन् समये पर्यग्निकरणकाले पूष्णः पूषति वर्धत इति पूषाग्निः, 'पूष वृद्धौ' भौवादिकः, तस्य पोषकस्य वृद्धस्याग्नेर्भागोऽजः प्रथमः पुरोगामी सन्नेति आगच्छति। किं कुर्वन् ? देवेभ्यो यज्ञं प्रतिवेदयन् स्वशब्देन ज्ञापयन्।

अध्यात्मपक्षे—अश्वमेधादिभिर्यज्ञैः सोपासनैर्देवयानमार्गः प्राप्यते। तत्र संस्कृतस्याश्वस्य पुरोगामी छागो देवेभ्यः स्वशब्दैर्यज्ञं प्रतिवेदयति। सर्वमेतद् ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपमेव वेदितव्यम्। अक्षरार्थस्तूक्त एव।

दयानन्दस्तु —'मानुषा ऋतुशो ऋत्वहं हविष्यं देवयानमश्वं त्रिः परियन्ति, योऽत्र पूष्णः प्रथमो भागो देवेभ्यो यज्ञं प्रतिवेदयन्नेति, स सदा रक्षणीयः' इति, तदपि पूर्ववदेव प्रत्याख्येयम्, छागः कथं देवेभ्यः सत्कारं प्रतिवेदयतीत्यस्यानुक्तत्वात्॥ २७॥

होताऽध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शꣳस्ता सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरङ्कृतेन स्विष्टेन वक्षणा आपृणध्वम्॥ २८॥

मन्त्रार्थ—होता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, आग्नीध्र, ग्रावस्तोता, प्रशास्ता और ब्रह्मा ये सब ऋत्विक्‌गण हवि, दक्षिणा आदि से शोभित, भली प्रकार से अनुष्ठित अश्वमेध यज्ञ के द्वारा घृतकुल्या वाली नदियों को पूर्ण करें॥ २८॥

हे होत्रादय ऋत्विजः, तेन प्रसिद्धेन यज्ञेनाश्वमेधेन वक्षणा वहन्तीति वक्षणास्ता नदीः, औणादिकः सनन् बाहुलकात्, देवानां तुष्टिकरा घृतकुल्याद्या आपृणध्वम्, घृतपयोदधिपयस्यापुरोडाशमांसैरापूरयध्वम्। साङ्गोपाङ्गयज्ञानुष्ठानेन फलं प्रापयत। कीदृशेन यज्ञेन ? स्वरङ्कृतेन रलयोरभेदात् स्वलङ्कृतेन सुष्ठु अलङ्कृतेन विप्रहविर्दक्षिणादिभिः शोभितेन स्विष्टेन सुष्ठु इष्टेन यजनेन। के ऋत्विजः ? तानाह—होता शंस्ता शस्त्राणाम् आह्वाता देवानाम्, होतृनामक ऋत्विग् इति यावत्। अध्वर्युरध्वरमिच्छतीति, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि, 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इति लोपे, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्ययेन साधुः। यद्वा न ध्वरति पुमान् यत्रासावध्वरः। 'ध्वृ कौटिल्ये' पचाद्यच्, अध्वरं याति यौति युनक्ति वेत्यध्वर्युः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति विचि सर्वापहारिलोपे, 'मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्' (पा० सू० ३।२।१८०, वा० १) इति वार्त्तिकेन डुः। आवया अव आभिमुख्येन यजतीत्यावयाः, 'अवे यजः' (पा० सू० ३।२।७२) इति ण्विन्, सौ च पदत्वेन 'श्वेतवहादीनां डस्पदस्येति वक्तव्यम्' (पा० सू० ३।२।७१, वा० १) इति ण्विनोऽपवादो डस्। भागुरिमतेन अकारलोपः, आङ् चोपसर्गः। अथवा आङ् आभिमुख्येन अवयजतीत्यावयाः प्रतिप्रस्थाता। अग्निमिन्धः, अग्निमिन्धे दीपयतीत्यग्निमिन्धः, अग्नीत्। 'भ्राष्ट्राग्न्योरिन्धे' (पा० सू० ६।३।७०, वा० ५) इति मुमागमः। ग्रावग्राभो ग्राव्णो गृह्णातीति ग्रावग्राभः, कर्मण्यण्, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ३।१।८४, वा० १) इति भः, सोमाभिषवाय ग्रावग्रहणशीलो ग्रावस्तुत्। उतापि शंस्ता 'तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ' (उ० २।९) इति सिद्धिः, प्रशास्ता। सुविप्रः शोभनो विप्रो ब्राह्मणः, 'ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति' (निरु० १।८) इत्युक्तेः। अयमनुक्तर्त्विगुपलक्षकः। सर्वे ऋत्विजो यूयं यज्ञेन वक्षणा आपृणध्वमिति सम्बन्धः।

---

१. अनुपलब्धं वचनमेतत्।

अध्यात्मपक्षे—ये चैत ऋत्विजः स्वलङ्कृतेन स्विष्टेन यज्ञेन वक्षणा आपूरयन्ति, साध्यसाधनात्मकं सर्वमपि तद् ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मैवेति ध्येयम् । व्याख्यानं तु पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा होता आवया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभः शंस्तोत सुविप्रोऽध्वर्युर्येन स्वरङ्कृतेन स्विष्टेन यज्ञेन वक्षणा अलङ्करोति, तथा तेन यूयमपि आपृणध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, होत्रादिशब्दानामृत्विग्विशेषादिषु प्रसिद्धानां ग्रहीत्राद्यर्थकल्पनस्य निर्मूलत्वात्, नदीनां पूरणस्य यज्ञमन्तरापि दर्शनात् ॥ २८ ॥

यूपव्रस्का उत ये यूपवाहाश्चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति ।
ये चार्वते पचनꣳ सम्भरन्त्युतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—जो ऋत्विक्गण यूप के निमित्त वृक्ष को काटते हैं, जो यूप को उठाने वाले हैं, जो अश्व को बाँधने के लिये यूप के निमित्त चषाल को बनाते हैं, जो अश्व के निमित्त पाकसाधन काष्ठ, भाण्ड आदि को लाते हैं, उन ऋत्विजों का उद्यम हमें तृप्त करे ॥ २९ ॥

तेषामृत्विजामभिगूर्तिरभिगोरणमभिगूर्तिः, उद्यम इति यावत् । नोऽस्मान् इन्वतु प्रीणातु व्याप्नोतु वा, अस्माकं यज्ञं सम्यक् साधयत्वित्यर्थः । 'इवि व्याप्तौ' लोटि शपि 'इदितो नुम् धातोः' (पा० सू० ७।१।५८) इति नुमागमे रूपम् । तेषां केषाम् ? ये यूपव्रस्का यूपाय वृश्चन्ति तरूंश्छिन्दन्ति ते यूपव्रस्काः, उतापि ये यूपवाहाः, यूपं वहन्तीति यूपवाहाश्छिन्नस्य यूपस्य वोढारः, ये चाश्वयूपायाश्वबन्धनयूपार्थं चषालं तक्षति तक्षन्ति यूपाग्रभागे स्थाप्यं कटकाकारं काष्ठं तक्षन्ति, 'चषालो यूपकटकः' (अ० को० २।७।१८) इत्यमरकोषः । 'तक्षू तनूकरणे', साधु सम्पादयन्तीत्यर्थः । उतो अपि च ये नरा अर्वतेऽश्वाय पचनं पच्यतेऽनेनेति पचनं पाकसाधनं काष्ठभाण्डादिकं सम्भरन्ति संहरन्ति आनयन्ति, तेषां समेषामुद्यमोऽस्मान् प्रीणात्वित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—येषां प्रयासेन यज्ञः सम्पद्यते, तेषामुद्यमः सङ्कल्पो वास्मान् प्रीणात्वित्यनेन साधनसाध्यो यागः सापेक्षो ब्रह्मात्मपर्यवसायी स्यात्, ब्रह्मात्मभावस्यैव निरपेक्षत्वात् । मन्त्रार्थस्तु पूर्वोक्त एव ।

दयानन्दस्तु—'ये यूपव्रस्का उतापि ये यूपवाहा अश्वयूपाय चषालं यूपावयवं तक्षन्ति, ये चार्वते पचनं पाकसाधनं सम्भरन्ति, उतो ये प्रयतन्ते, तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अन्योद्यमापेक्षया उक्तोद्यमेषु वैशेष्यानुक्तेः । यद्यश्वमेधयज्ञोपयोगित्वादस्योद्यमस्य वैशेष्यम्, तदा तदनुगुणमेव व्याख्यानं किमिति नाद्रियते ? तदन्तरा तु सर्वमुन्मत्तप्रलपितमेव ॥ २९ ॥

उप प्रागात् सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशा उप वीतपृष्ठः ।
अन्वेनं विप्रा ऋषयो मदन्ति देवानां पुष्टे चकृमा सुबन्धुम् ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—मेरे मन के अभीष्ट फल स्वयं मेरे समीप आवें । मैं उनको धारण करता हूँ । पुष्ट पीठ वाला अश्व देवताओं के मनोरथ को पूर्ण करने के लिये आवे । हमने देवताओं की पुष्टि के लिये सब प्रकार का प्रबन्ध किया है । इसका वेदों को जानने वाले ऋषि अनुमोदन करते हैं ॥ ३० ॥

मन्म मननीयं फलं सुमत् स्वयम् उपप्रागाद् उपगच्छतु, 'सुमत् स्वयमित्यर्थः' (निरु० ६।२२) इति यास्कोक्तेः । अथवा सुष्ठु मदहेतुरतिहर्षादिकारणं मदफलं सुमत्, मे मम यद् मन्म मननमधायि निहितं तत्

स्वयमुपप्रागात् । किं तदिति चेत्, देवानामाशा आशंसनानि साधु साधु अयं पशुरागच्छेदित्येवमादीनि । तन्मन्म मननीयं फलं मे मया अधायि धृतम् । वीतपृष्ठो वीतं पुष्टं पृष्ठं साधुपोषणेन यस्य सः, यद्वा वीतं कामितं पृष्ठं यस्य सः । अश्वपृष्ठं हि सर्व एवोपारोढुं कामयन्त इत्यश्वो वीतपृष्ठ उच्यते । स देवानामाशाः, पूरयितुमिति शेषः, उप उपैतु । उपोपसर्गेण क्रियावृत्तिः । किञ्च, देवानां पुष्टे, भावे निष्ठानिमित्ते सप्तमी, देवपुष्टिनिमित्तं यमश्वं वयं सुबन्धुं चकृमा कृतवन्तः, छान्दसो दीर्घः, शोभनो बन्धुर्बन्धनं यस्यासौ सुबन्धुस्तं शोभनबन्धनोपेतं कृतवन्त इत्यर्थः । एनमश्वं विप्रा मेधाविन ऋषयो मन्त्रद्रष्टार ऋत्विजोऽनुमदन्ति अनुमोदन्ताम्, तुष्यन्त्वित्यर्थः । यद्वा देवानां पुष्टे पोषणाय सुबन्धुं शोभनबन्धनं शोभनमर्थवादं वा कृतवन्तस्तमेनमृषयो मेधाविनोऽनुमदन्ति ।

अध्यात्मपक्षे—अश्वमेधीयाश्वसाध्योऽश्वमेधः, तत्फलं चाश्वहेतुकम्, अश्वश्च प्रजापतिदैवतः संवत्सरात्मकः प्रजापतिरूपेणोपास्यः । यथा शालग्रामे विष्णुबुद्धिस्तथैवाश्वमेधीयाश्वे केनचित् साम्येन प्रजापतिबुद्धिः क्रियते । यथा कालात्मके संवत्सरे उषःकालस्य प्राधान्यम्, अश्वे च शिरसः प्राधान्यम्, तत एव 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' (बृ० १।१।१) इत्यादिकं श्रूयते । मन्त्रार्थस्तु पूर्वोक्त एव ।

दयानन्दस्तु—'येन सुमत् स्वयं देवानां वीतपृष्ठो व्याप्तपृष्ठो व्यवहारो यज्ञोऽधायि, येनैतेषां मे च मन्म विज्ञानमाशाश्चोपप्रागात्, यमेनमनु देवानां पुष्टे ऋषयो विप्रा उपमदन्ति, तं सुबन्धुं वयं चकृम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, व्यवहारग्रहणस्यागतिकगतित्वात्, निर्मूलत्वाच्च । केन देवानां वीतपृष्ठ उत्तमव्यवहारः स्वयमेव कार्यते ? केन चैतेषां मे च मन्मात्मं विज्ञानं आशाश्च कः प्राप्नोति ? कश्च प्रत्यक्षं व्यवहारमनुसृत्य देवानां मध्ये पुष्टो जनः ? यमृषयोऽनुमदन्तीत्यादिकं सर्वमसम्बद्धमेव ॥ ३० ॥

यद्वाजिनो दाम सन्दानमर्वतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य ।
यद्वा घास्य प्रभृतमास्ये तृणꣳ सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—इस वेगवान् अश्व की ग्रीवाबन्धन की रज्जु, चरण बन्धन की रज्जु, शिरोबन्धन की रज्जु, कटिबन्धन की रज्जु तथा इसके मुख में स्थित तृण आदि, हे अश्व ! तुम्हारी ये सब वस्तुएँ देवताओं के लिये उपयोगी हों ॥ ३१ ॥

वाजिनो वेगवतोऽर्वतोऽश्वस्य यद् दाम ग्रीवाबद्धा रज्जुः, यच्च सन्दानं सम्यगवच्छेदकं पादबन्धनरज्जुः, या च शीर्षण्या शिरसि भवा शिरसि बद्धा नियोजनीयास्याश्वस्य रज्जुः, शिरःशब्दात् 'भवे च्छन्दसि' (पा० सू० ४।४।११०) इति यत्, 'ये च तद्धिते' (पा० सू० ६।१।६१) इति शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशः । या चास्यान्यापि कटिस्था रज्जुः, यच्च अस्याश्वस्य आस्ये मुखे प्रक्षिप्तं तृणं घ प्रसिद्धम्, हे अश्व ! ते तव सर्वाः सर्वाणि तानि देवेष्वस्तु देवोपयोगीनि भवन्तु, देवत्वं वा प्राप्नुवन्तु । सन्त्विति प्राप्ते वचनव्यत्ययेनैकवचनम् । अत्रोपयुक्तानां सर्वेषां देवत्वमाशास्यते । यद्वा घः पादपूरणे । अस्याश्वस्य प्रभृतं प्रहृतं निक्षिप्तमास्ये मुखे, सर्वाणि तानि हे यजमान, तवापि देवेष्वपि प्रजापतयेऽस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—अश्वोपयुक्तरज्जुतृणादीनामपि देवत्वादिकं प्रजापत्यभेदोपासनयैव सम्पद्यते । अक्षरार्थस्तु पूर्वोक्त एव ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, वाजिनोऽस्यार्वतो यद्दाम सन्दानं या शीर्षण्या रशना रज्जुः, यद्वास्यास्ये तृणं प्रभृतम्, ताः सर्वास्ते सन्तु, एतत्सर्वं देवेष्वप्यस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्वस्य विविधरशनारज्जुतृणानां याजमानत्वेन देवसम्बन्धित्वे किं सिद्ध्यतीत्यनुक्तत्वात् ॥ ३१ ॥

यदश्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति ।
यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—इस अश्वाभिमानी जीव के हाथ, हृदय, मन, मुख, नासिका और बुद्धि के जिन अंशों को आवरण डालने वाली विषयवासना रूप मक्षिका ने भक्षण किया है, जो अंश हिंसा के साधन अहंमय शस्त्ररूप मन में लिप्त हैं, जो भूतात्मा के हाथों में और दस इन्द्रियों में लिप्त हैं, हे अश्व ! तुम्हारे ये सब अंश देवताओं को प्राप्त हों ॥ ३२ ॥

यदस्य अश्वस्य क्रविषोऽश्वाङ्गभूतस्य क्रव्यस्य मांसस्य अङ्गम् 'क्रव्यो विकृत्ताज्जायत इति नैरुक्ताः' (निरु० ६।११), मक्षिका आश भक्षितवती । वा अथवा यन्मांसं स्वरौ पश्वञ्जनकाले, '[1]स्वरुणा पशुमनक्ति' इति श्रुतेः । रिप्तं लिप्तमस्ति । यद्वा स्वधितौ शासे छेदनकालेऽवदानकाले च रिप्तं लिप्तमस्ति । यच्च शमितुर्हस्तयोर्लिप्तम्, यच्च शमितुर्नखेषु लिप्तम्, हे अश्व, सर्वा ता सर्वास्ता सर्वाणि तानि देवेष्वस्तु देवभोग्यानि भवन्तु, विभक्तेराकारः । यद्वा मक्षिका अश्वस्य क्रविषः क्रविः क्रव्यं मांसम्, कर्मणि षष्ठी, यदाश भक्षितवती । आशेत्यश्नातेर्लिटि रूपम् । अन्यत् पूर्ववत् ।

अध्यात्मपक्षे अश्वमेधीयाश्वाङ्गादिवद् अस्माकं सर्वाः प्रवृत्तयो मनोवाक्शरीरारम्भा भगवत्प्रीत्यै भूयासुरित्यर्थः । अक्षरार्थस्तु पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, यद् यदा मक्षिका क्रविषोऽश्वस्याश वा यत्स्वरौ स्वधितौ स्तः, शमितुर्हस्तयोर्यद्रिप्तं यच्च नखेषु रिप्तमस्ति, ताः सर्वा ते सन्तु, एतत्सर्वं देवेष्वप्यस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात् । शमितुर्यज्ञकर्तुरित्यपि निर्मूलम्, शामित्रप्रसङ्गाज्ज्ञानादेव मुक्तिसम्भवात् । मक्षिका यदाश यच्च यज्ञकर्तुर्हस्तयोर्नखेषु रिप्तं ताः सर्वास्ते सन्त्वित्यर्थस्यास्पष्टत्वात् । किञ्च तेन सिद्धयति ? मनुष्यैरीदृशाया मश्वशालायामश्वा बन्धनीयाः, यत्रैषां रुधिरादिकं मक्षिकादयो न पिबेयुः, यथा यज्ञकर्तुर्हस्तयोर्हविःप्रक्षालनादि निवारयन्ति, तथैवाश्वादीनां शरीरे लिप्तानि धूल्यादीनि नित्यं निवारयन्त्विति भावार्थस्तु मूलमन्त्रात् सर्वथाप्युदक्षर एव ॥ ३२ ॥

यदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति ।
सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूत मेधꣳ शृतपाकं पचन्तु ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—जो योगी उदर के वध करने योग्य भोगलेश समाधि से दूर होता है, योग से अपक्व हस्त, हृदय, मन, मुख, नेत्र, नासिका और बुद्धि का जो गन्धमात्र भी है, काम की शामक वृत्तियाँ उन सबको शोभन संस्कारयुक्त करें, देवताओं के योग्य पवित्र करें एवं ब्रह्माग्नि में पकावें ॥ ३३ ॥

उदरस्य ऊवध्यमर्धजीर्णतृणपुरीषं यद् अपवाति अपगच्छति । आमाशयस्थमपक्वमर्धपक्वं भक्षिततृणादिकमूवध्यमुच्यते । आमस्य अपक्वस्य क्रविषो मांसस्य यो गन्धो लेशोऽस्ति, शमितारो विशसितारस्तत्सर्वं सुकृता सुकृतं संस्कृतम्, विभक्तेराकारः, कृण्वन्तु कुर्वन्तु । उतापि च मेधं मेध्यमश्वं शृतपाकं यथा

---

१. अनुपलब्धा श्रुतिरियम् । मन्येऽत्र श्रुतिशब्देन विनियोजकं प्रमाणं गृहीतं भवेत् । तादृशं वचनं क्वचित् श्रौतसूत्रे स्यादिति ।

भवति, तथा पचन्तु । शृतो देवयोग्यो जातः पाको यस्मिन् कर्मणि तथा पचन्तु । अतिपक्वमीषत्पक्वं च मा कुर्वन्त्वित्यर्थः । उव्वटाचार्यरीत्या यश्च आमस्य अपक्वस्य क्रविषो मांसस्य गन्धोऽस्ति, सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तु सुकृतानि सुसंस्कृतानि दोषरहितानि कुर्वन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापत्यात्मकस्याश्वस्य मेध्यस्य उपासनं शरीरावयवकल्पनया श्रुतौ विहितम् । तथाहि—'ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः । सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य । द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वेऽवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो माꣳसानि । ऊवध्यꣳ सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि उद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचन् जघनार्धो तद्विजृम्भते यद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक्' (बृ० उ० १।१।१) इति ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, उदरस्य यदूवध्यं मलिनमपवाति, य आमस्य क्रविषो गन्धोऽस्ति, तच्छमितारः शान्तिकर्तारः सुकृता सुष्ठु संस्कृतं कृण्वन्तूतापि मेधं शृतपाकं पचन्तु' इति तदपि यत्किञ्चित्, शान्तिकर्तारो मलिनस्य गन्धस्य च किं कुर्युरित्यनुक्तेः ॥ ३३ ॥

यत्ते गात्रा॑द॒ग्निना॑ प॒च्यमा॑नाद॒भिशू॑लं॒ निह॑तस्याव॒धाव॑ति ।
मा तद्भूम्या॒मा श्रि॑ष॒न्मा तृणे॑षु दे॒वेभ्य॑स्तदु॒शद्भ्यो॑ रा॒तम॑स्तु ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वाभिमानी जीव ! जिसके बन्धन नष्ट हुए हैं, ब्रह्माग्नि से पकते ऐसे तुम्हारे शरीर से जो आत्मांशु किसी विषयवासना के कारण रुद्रशूल के सन्मुख दौड़ते हैं, वे पुनर्जन्ममय संसारभूमि का स्पर्श न करें, तृण के समान असार भोगों में आसक्त न हों, हवि चाहने वाले देवताओं के लिये वे समर्पित हों, अर्थात् दिव्य भाव को प्राप्त हों ।। दिव्य शरीर प्राप्त कर देवलोक में जाते हुए अश्व के प्रति यह उक्ति है ॥ ३४ ॥

शूले सशेषश्रपणमभिवदत्ययं मन्त्रः । हे अश्व, अग्निना पच्यमानात् तव गात्रात् शरीराद् यद् ऊष्मा रसो वा अवधावति अधस्ताद् गच्छति, तथा निहतस्य निःशेषेण हतस्य तस्य यदङ्गं रसादिकं शूलमभिधावति शूलेन पाके क्रियमाणे यन्निर्गच्छति, तन्निर्गतं भूम्यां मा आश्रिषद् आश्लिषद् आश्लिष्टं माभूत् । श्लिषेः पुषादित्वात् च्लेरङ् । तथा तृणेषु माश्रिषत् विशसनसमये तृणलग्नं मास्तु । किं तर्हि तत्पतितं तृणलग्नं सर्वं देवेभ्यो रातं दत्तमस्तु । कीदृशेभ्यो देवेभ्यः ? उशद्भ्यः, उशन्ति कामयन्ते ये ते उशन्तः, तेभ्यो हविः कामयमानेभ्यो देवेभ्यः, शत्रन्तम् ।

अध्यात्मपक्षे—वैदिकविधानबलाद् मन्त्रबलाच्च प्रजापतिदृष्टया दृष्टस्य प्रजापतिदैवतस्याश्वमेधीयस्याश्वस्य सर्वाण्यङ्गानि रसादिकं च देवेभ्यो गच्छति । सर्वाणि च तत्रत्यान्यवध्यादीन्यपि प्रजापत्यात्मकान्येवेति । मन्त्रार्थस्तु पूर्वोक्त एव ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, निहतस्य निश्चयेन कृतश्रमस्य ते तव अग्निना अन्तःकरणरूपेण तेजसा पच्यमानाद् गात्राद् यच्छूलं शु शीघ्रं लाति बोधं गृह्णाति, येन तद्वचनमभ्यधावति, तद् भूम्यां माश्रिषत् तत्तृणेषु माश्रिषत्, किन्तु तच्चोशद्भ्यो देवेभ्यो रातमस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बलात्कारेणार्थान्तराश्रयणात्, ह्रस्वशुशब्देन दीर्घशूलशब्दानिष्पत्तेः, लातेः कर्मानिर्देशात्, विपरीतस्यापि सुवचत्वात् । न चाग्निपदमन्तःकरणपरम्, तस्याहङ्कारिकत्वात्, वेदान्तिरीत्या पाञ्चभौतिकत्वाच्च । न च निहतपदमपि कृतश्रममनुष्यपरम्, धात्वर्थप्रातिकूल्यात् । न च वाक्यस्य भूम्या तृणैर्वा संश्लेषः प्रसक्तः, येन तन्निषिद्ध्येत । तस्मादुपेक्षणीयमेव तत् ॥ ३४ ॥

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति ।
ये चार्वतो माᳬसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—जो ऋत्विक्गण ब्रह्माग्नि में परिपक्व अश्वाभिमानी जीव को देखते हैं, जो परा शक्ति को कहते हैं कि यह पाक श्रेष्ठ हुआ है, इसे आप ग्रहण कीजिये, जो देवता अश्वाभिमानी शुद्ध जीवात्मा की स्वरूप-भिक्षा को चाहते हैं, उनका भी संकल्परूप उद्यम हमें तृप्त करे ॥ ३५ ॥

ये जनाः पक्वं सन्तं वाजिनं वेगवन्तमश्वं परिपश्यन्ति, अयं पक्व इति परितो जानन्ति, ईमित्यव्ययं चार्थे, ये च एनं सुरभिः सुगन्धोऽयं परिपक्वो जातः, अतो निर्हर अग्नेः सकाशाद् उत्तारयेत्येवं य आहुः कथयन्ति, ये च जना अर्वतोऽश्वस्य मांसभिक्षामुपासते हुतशिष्टमांसयाच्ञां कुर्वते, उतो अपि च तेषां पाकनिर्हरणयाच्ञादिकर्तॄणां जनानामभिगूर्तिरुद्यमो नोऽस्मानिन्वतु प्रीणातु। यद्वा ये देवाः पक्वं वाजिनं परिपश्यन्ति कदा होष्यतीति प्रतीक्षन्ते, ये च विलम्बं दृष्ट्वा सुरभिः पाको जातः, अस्मभ्यं निर्हर देहीत्याहुः, ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासते मांसयाच्ञां कुर्वते, तेषामभिगूर्तिस्तादृशः सङ्कल्पोऽस्मान् प्रीणातु साफल्यमासाद्य अस्मान् कृतार्थयत्वित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—देवेभ्यो यन्निवेद्यते शास्त्रविधिना भक्त्या च यत्संस्क्रियते, देवा अपि तत्कामयन्ते। किं बहुना, प्रतीक्षन्ते याचन्ते भिक्षां च लिप्सन्ते। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥' (९।२६) इति गीतोक्तेः ।

दयानन्दस्तु—'येऽर्वतो मांसभिक्षामुपासते, येऽश्वमीं प्राप्तं हन्तव्यमाहुः, तान्निर्हर दूरे प्रक्षिप। ये वाजिनं पक्वं परिपश्यन्ति, उतोऽपि तेषां सुरभिरभिगूर्तिर्न इन्वतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारसापेक्षत्वात्, उक्तरीत्याऽध्याहारमन्तरापि मन्त्रार्थोपपत्तेः, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च, अश्वमेधे यागेऽश्वस्य हविःप्रकृतित्वेनैवोपयोगस्य तत्र तत्र वर्णितत्वात् ॥ ३५ ॥

यन्नीक्षणं माᳬस्पचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि ।
ऊष्मण्यापिधाना चरूणामङ्काः सूनाः परि भूषन्त्यश्वम् ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—जीव के कर्मों के परिपक्व होने की पात्रता रखने वाला आत्मा दिव्य दृष्टि से अपने स्वरूप का जो दर्शन करता है, ज्ञानामृत रूप रस को रखने की पात्रता वाली जो इन्द्रियाँ हैं, जीव-शक्ति से परिपूर्ण पात्ररूप कमलों के ऊष्मा-धारक जो प्राणायाम रूप ढक्कन हैं, उन कमलों में देवताओं के जो स्वरूप स्थित हैं, जीवोपाधि के नाशक जो ज्ञान आदि हैं, वे सब अश्वाभिमानी जीव को शोभित करते हैं ॥ ३६ ॥

एतानि वक्ष्यमाणानि सर्वाण्येनमश्वं परिभूषन्ति स्वव्यापारेणाश्वमलङ्कुर्वन्ति। 'भूष अलङ्कारे' भ्वादिः। कानि तानीत्याह—मांस्पचन्या मांसं पच्यते यस्यां सा मांस्पचनी तस्या मांसपाकाधिकरणभूताया उखायाः स्थाल्या यन्नीक्षणं नितरामवलोकनम्। यद्वा—यन्नीक्षणं नितरामीक्ष्यते शृताश्च तव सम्बन्धिनोऽर्था इति येन दध्यादिना तन्नीक्षणम्। मांस्पचन्या इत्यत्र 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३।३।११७) इति ल्युट्। 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुङ्काममनसोरपि। समो वा हिततत्तयोर्मांसस्य पचि युड्घञोः ॥' इतीष्टया मांसशब्दस्याकारलोपे, 'टिड्ढाणञ्' (पा० सू० ४।१।१५) इति ङीप्, प्रातिपदिकत्वेन ङस् विभक्तिः, ततो रूपसिद्धिः।

तथा यूष्णो वसायाः पक्वरसस्य वा आसेचनानि, आसिच्यते येषु तानि, आरोचनसाधनानि या यानि पात्राणि। 'पद्दन्नो' (पा० सू० ६।१।६३) इति यूषशब्दस्य यूषन्नादेशः। यानि च चरूणां मांसपूर्णपात्राणामपिधाना अपिधानान्याच्छादनपात्राणि। कीदृशानि तानि ? ऊष्मण्या ऊष्मण्यानि, ऊष्माणं धारयन्ति यानि तानि। धारणार्थे छान्दसो यः प्रत्ययः। आच्छादनेनोष्मा बहिर्न याति। तथा ये च अङ्काश्चिह्नसाधनानि हृदयाद्यवयवज्ञापकानि वेतसमयानि। शरीरवचनोऽङ्कशब्दः, सूना विशसनकरणभूताः स्वधित्यादयः, एतानि सर्वाणि परिभूषन्त्यश्वमलङ्कुर्वन्ति।

अध्यात्मपक्षे—अश्वमेधयज्ञस्य यानि कानिचिदप्यश्वसम्बन्धीनि कर्माणि, तानि सर्वाण्यपि परिभूषयन्त्यश्वम्, पारम्पर्येणापि भगवत्सम्बन्धिनां भगवदात्मत्वापत्तेः सौलभ्यात्। मन्त्रार्थस्तु पूर्वोक्त एव।

दयानन्दस्तु—'या ऊष्मण्या पिधाना सेचनानि पात्राणि, यन्मांस्पचन्या उखाया नीक्षणं चरूणामङ्काः सूनाः यूष्णोऽश्वं परिभूषन्ति, तानि स्वीकर्तव्यानि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। अपिधानान्यासेचनानि मांस्पचन्या उखाया नीक्षणं चरूणामङ्काः कथमश्वं भूषयन्तीत्यनुक्तेः ॥ ३६ ॥

मा त्वाग्निर्ध्वनयीद् धूमगन्धिर्मोखा भ्राजन्त्यभिविक्त जघ्रिः।
इष्टं वीतमभिगूर्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रतिगृभ्णन्त्यश्वम् ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वाभिमानी जीव ! प्राण की गन्ध रखने वाला ब्रह्माग्नि तुमसे अहंकार-ममकार की ध्वनि न करावे, दीप्तिमान् गन्ध का ग्रहण करने वाला आत्माग्नि पाप कर्म से चलित न हो, उस विशेषताप्राप्त निरन्तर संकल्पित प्रिय वषट्कार से संस्कृत अश्वाभिमानी जीव को दिव्य शक्तियाँ प्राप्त हों ॥ ३७ ॥

हे अश्व, त्वा त्वामग्निर्मा ध्वनयीद् मा शब्दं कारयेत्। ध्वनिः शब्दकर्मा। 'नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः' (पा० सू० ३।१।५१) इति ण्यन्ताच्चङ्प्रतिषेधः, 'ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्' (पा० सू० ७।२।५) इति वृद्धिनिषेधश्च। कीदृशोऽग्निः ? धूमगन्धिः, धूमस्य गन्धो लेशो यत्रासौ धूमगन्धिः, 'अल्पाख्यायाम्' (पा० सू० ५।४।१३६) इति गन्धस्येकारोऽन्तादेशः। 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः, अल्पधूमवानिति यावत्। मांसं हि पचन्नग्निर्दहन्नप्यल्पधूमावरणो भवति। तच्च दह्यमानं सिमसिमाशब्दं करोति, अतस्तथोच्यते। या च उखा स्थाली भ्राजन्ती सन्दीपिता अत्यन्ताग्निसंयोगेन मा अभिविक्त मा चलतु। 'ओविजी भयचलनयोः' इति धातोर्लुङि तङि, 'झलो झलि' (पा० सू० ८।२।२६) इति सिचः सकारलोपे रूपम्, 'न माङ्योगे' (पा० सू० ६।४।७४) इत्यडभावः। अभिविक्त अभिनष्टा विदीर्येत वा। कम्भूता उखा ? जघ्रिः, जिघ्रति गन्धं गृह्णातीति जघ्रिः। 'आदृगमहन' (पा० सू० ३।२।१७१) इति किन्प्रत्ययः, लिड्वद्भावश्च, गन्धग्रहणशीला। ननु कथमचेतनोखा गन्धं जिघ्रतीति चेत्, अधिष्ठात्रीणां देवतानामिह विवक्षितत्वात्। इष्टं योगेन सङ्गतीकृतं वीतं कामितमभिगूर्तमभ्युद्यतं वषट्कृतं चादानकाले। यद्वा इष्टं प्रयाजैर्वीतम् आप्रीभिः पर्यग्निकृतम्, अभिगूर्तं ये यजामह इत्यभिगूर्त्योक्तम्, वषट्कृतं वषट्कारेण संस्कृतम्, तं तादृशमश्वं देवासो देवाः प्रतिगृभ्णन्ति प्रतिगृह्णन्ति।

अध्यात्मपक्षे—एवंभावनया मन्त्रैस्तत्संस्कारैश्च संस्कृतमश्वं प्रजापत्यादयो देवाः प्रतिगृह्णन्ति। सर्वं चैतत् साध्यसाधनात्मकमश्वमेधकर्म प्रजापतिरूपमेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा देवासो यमिष्टं वीतमभिगूर्तमभितः कृतोद्यमं वषट्कृतमश्वं प्रतिगृह्णन्ति, तं यूयमभिविक्त। त्वा तं धूमगन्धिरग्निर्मा ध्वनयीत् तं जघ्रिः, जिघ्रति यस्याः सा भ्राजन्त्युखा, मा ध्वनयीत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्पष्टत्वात्। यच्च भावार्थे—हे मनुष्याः, यथा विद्वांसो मांसाहारिणो निवार्याश्वादीनां वृद्धिं रक्षां कुर्वन्ति, तथा यूयमपि कुरुत, अग्न्यादिविघ्नेभ्यः पृथग् रक्षत' इति, तत्तु सर्वथापि मन्त्राक्षरासम्बद्धमेव ॥ ३७ ॥

नि॒क्रम॑णं नि॒षद॑नं वि॒वर्त॑नं यच्च॒ पड्वी॑शमर्व॑तः।
यच्च॑ प॒पौ यच्च॑ घा॒सिं ज॒घास॒ सर्वा॒ ता ते॒ अपि॑ दे॒वेष्व॑स्तु ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—अश्वाभिमानी जीव की जो पाद-विक्षेपरूप गति है, इन्द्रिय रूपों से रूपान्तरित जो स्थिति है, जो गति-निरोध है, जो कुछ उसने पान किया है, अन्न का भक्षण किया है, वे सब विविध गतियाँ देवताओं के लिये समर्पित हों ॥ ३८ ॥

यन्निष्क्रमणं नितरां क्रमते यत्र तन्निष्क्रमणस्थानम्। निषदनं नितरां सीदत्यस्मिन्निति निषदनम् उपवेशनस्थानम्। विवर्तनं विविधं वर्तते यत्र यद् भ्रमणम् इतस्ततो लुण्ठनस्थानम्। अत्र सर्वत्राधिकरणे ल्युट्। यच्चार्वतोऽश्वस्य पड्वीशं पादेषु विशतीति पड्वी, पड्वीशं पादबन्धनम्। निक्रमणादयः शब्दाः क्रियापरा वा। आलम्भसमये यान्यश्वस्य निक्रमणादीनि चेष्टितानि, यच्च पपौ यज्जलं पीतवान्, यच्च घासिमदनीयं तृणादिकं जघास भक्षितवान्, हे अश्व! ता तानि सर्वाणि ते तव निक्रमणादीनि देवेषु, अस्तु सन्तु। देवार्थस्याश्वस्य कानिचिदपि चेष्टितानि निरर्थकानि मा भूवन्नित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—देवतोद्देश्येन समर्पितानि वस्तूनि सामस्त्येन देवतात्मभावमुपगच्छन्ति। व्याख्यानं तु पूर्वोक्तमेव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यत्तेऽर्वतो निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च पड्वीशं यच्चायं पपौ यच्च घासिं जघास, ताः सर्वा युक्त्या सन्तु, तद्देवेष्वप्यस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारमूलकत्वात्, तत्सर्वं निन्द्यमित्यध्याहारेण त्वद्भाष्यस्य त्वत्खण्डनपरत्वेन योजयितुं शक्यत्वाच्च ॥ ३८ ॥

यदश्वा॑य॒ वास॑ उपस्तृ॒णन्त्य॑धीवा॒सं या हिर॑ण्यान्यस्मै।
स॒न्दान॒मर्व॑न्तं॒ पड्वी॑शं प्रि॒या दे॒वेष्वा या॑मयन्ति ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—इस अश्वाभिमानी जीव के निमित्त जो देहाच्छादक रूप त्वगिन्द्रिय है, जो अन्य ज्योतीरूप इन्द्रियाँ हैं, जो सिर में स्थित ज्ञानेन्द्रियों का निरोध है, जो गतियों का निरोध है, उन सबको ऋत्विक्गण देवताओं को अर्पित करते हैं, उन प्रिय इन्द्रियों को और अश्वाभिमानी जीव को हम देवताओं के लिये समर्पित करते हैं ॥ ३९ ॥

यदश्वाय संज्ञप्यमानाय वासो वस्त्रमुपस्तृणन्ति सर्वत आच्छादयन्ति, यच्चाधीवासमुपर्याच्छादनयोग्यं वास उपस्तृणन्ति, या यानि हिरण्यानि सौवर्णशकलान्यस्मै अश्वाय उपस्तृणन्ति, तथा अर्वन्तम् अर्वते, विभक्तिव्यत्ययः, अश्वायेति सामानाधिकरण्यात्। षष्ठ्यर्थे वा द्वितीया। यच्चार्वतोऽर्वते वा सन्दानं सन्दीयतेऽनेनेति सन्दानं शिरोबन्धनम्, पड्वीशं पादबन्धनम्, प्रिया प्रियाण्येतानि सर्वाण्यश्वस्य वस्तूनि ऋत्विजो देवेष्वायामयन्ति आगमयन्ति।

अध्यात्मपक्षे - सर्वात्मकप्रजापतिदेवत्यत्वेन अश्वस्य सर्वाण्यपि प्रियाणि देवेषु गमितानि सर्वात्मभावमुपगच्छन्तीति । अन्यत् पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यावन्तोऽस्मा अश्वाय यद्वासोऽधीवासं सन्दानं या हिरण्यानि उपस्तृणन्ति, यं पड्वीशं पद्भिर्विशन्तमर्वन्तमायामयन्ति, तानि सर्वाणि देवेषु प्रियाः सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वासाधीवासादीनां यस्याश्वस्तस्य प्रीतिकरत्वेऽपि विद्वत्सु प्रीतिकरत्वे हेत्वभावात्, देवपदेन विशिष्टशक्तिमन्तो जातिविशिष्टा देवाः, न मनुष्या इति भूमिकायां साधितत्वाच्च, वासाधीवासादिशब्दानां त्वदुक्तार्थबोधकानामाच्छादकत्वायोगात् ॥ ३९ ॥

यत्ते॑ सा॒दे मह॑सा॒ शूकृ॑तस्य॒ पार्ष्ण्या॑ वा॒ कश॑या वा तु॒तोद॑ ।
स्रु॒चेव॒ ता ह॒विषो॑ अध्व॒रेषु॒ सर्वा॒ ता ते॒ ब्रह्म॑णा सूदयामि ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वाभिमानी जीव ! तुम जब लक्ष्मी-नारायण के द्वारा रचित विषयों की ओर बढ़ते हो, तब कामदेव अपने बल से, एड़ी (ठोकर) या चाबुक मार कर तुम्हें शिक्षा देता है ! तुम्हारी उस सारी पीड़ा को योगयज्ञ और मधुर वाणी द्वारा मैं उसी प्रकार दूर करता हूँ, जैसे स्रुक् पात्र द्वारा हवन के निमित्त आहुतियाँ दी जाती हैं ॥ ४० ॥

हे अश्व ! यत् ते तव सादे सीदन्त्यस्मिन्नश्वारोहिण इति सादोऽश्वपृष्ठम्, तस्मिन्नवस्थितोऽश्ववारो महसा महत्त्वेनान्वितः सन् शूकृतस्य, शब्दानुकरणमेतत्, शूत्कारं कुर्वतो महसा बलेनान्वितस्य तव । अश्वेन वा सम्बद्ध्यते, पार्ष्ण्या पादमूलाधोभागेन कशया वा तुतोद व्यथयामास पीडितवान्, अध्वरेषु ता सर्वा तानि सर्वाणि ते तव पार्ष्णिकशाघातादीनि ब्रह्मणा मन्त्रेणाहं सूदयामि क्षारयामि, 'षूद क्षरणे' चुरादिः, यज्ञे आहुतित्वेन कल्पयामि । तत्र दृष्टान्तः—हविषः स्रुचेव, हविराज्यादिकं यथा स्रुचा जुह्वा सूदयामि तद्वत्, विभक्तिव्यत्ययः, एकं 'ता' पदं पादपूरणार्थम् ।

अध्यात्मपक्षे पार्ष्णिकशाघातादिकमनिष्टमपि प्राजापत्याश्वसम्बन्धादाहुतित्वेन सङ्कल्पादश्वस्य यजमानस्य देवानां च प्रियकरं भवति, किमुत तेन देवानामिज्यया प्रियसम्पत्तौ वक्तव्यम् ।

दयानन्दस्तु —'हे विद्वन्, ते सादे महसा शूकृतस्य शीघ्रं शिक्षितस्य कशया वा तत् पार्ष्ण्या वा तुतोद, ता तान्यध्वरेषु हविषः स्रुचेव करोषि, ता सर्वा ते ब्रह्मणाहं सूदयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, करोतेः शिक्षणार्थत्वे मानाभावात् । न वा पार्ष्णिपदस्य पर्शुरर्थः, कोषनिरुक्तादेस्तत्रासाक्ष्यात् । 'पुमान् पार्ष्णिस्तयोरधः' (अ० को० २।६।७२) इत्यमरसिंहः, 'पार्ष्णिः स्त्रीपुंसयोः पादमूले स्याद् ध्वजिनीकटौ' इति रन्तिदेवश्च सैद्धान्तिकमेवार्थं ब्रूतः । त्वदीयार्थे पार्ष्ण्येति तृतीयानुपपत्तिः, निर्मूलव्यत्ययापत्तिश्च ॥ ४० ॥

चतु॑स्त्रि॒ꣳशद्वा॒जिनो॑ दे॒वब॑न्धो॒र्वङ्क्री॒रश्व॑स्य॒ स्वधि॑तिः॒ समे॑ति ।
अच्छि॑द्रा॒ गात्रा॑ व॒युना॑ कृणोत॒ परु॑ष्परुरनु॒घुष्या॒ वि श॑स्त ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—ज्ञान रूपी खड्ग वेगवान् देवताओं के प्रिय इस अश्वाभिमानी जीव की मन सहित ग्यारह इन्द्रियों, दस प्राणों, दस विषयों और जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं—इस प्रकार इन चौंतीस बन्धनों के छेदन के निमित्त प्राप्त होता है । हे ज्ञानचक्षु ! ब्रह्मज्ञान के द्वारा अश्वाभिमानी जीव के अङ्गों को छिद्रहीन करो और प्रत्येक अंग की उपाधियों का अपने मधुर उपदेशों के द्वारा नाश करो ॥ ४१ ॥

वाजिनः, वजति वेगेन गच्छतीति वाजी, तस्य। देवबन्धोः, बध्नाति प्रेम्णेति बन्धुः, देवानां बन्धुः, देवा वा बन्धवो यस्य स देवबन्धुः, तस्य। भाविनीं वा वृत्तिमाश्रित्य देवबन्धुशब्दः प्रयुक्तः। भविष्यत्ययं देवबन्धुर्देवप्रियः, तस्य देवबन्धोरश्वस्य। ईदृशेऽर्थे महाकवेः कालिदासस्य रघुवंशे प्रयोगः—'वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे' (१४।३३) इति। चतुस्त्रिंशद् वङ्क्रीश्चतुस्त्रिंशत्संख्याकान्युभयपार्श्वस्थान्यस्थीनि, स्वधितिः स्वं धियतीति स्वधितिः पशुच्छेदनसाधनोऽसिः, समेत्येकमित्यविभक्तावयवमिति कृत्वा छेदनाय सम्यगागच्छति। अश्वस्य चतुस्त्रिंशद्वङ्क्रयः, अजादीनां षड्विंशतिः। अतो हे शमितारः, वयुना वयुनेन ज्ञानेन अश्वस्य गात्रा गात्राणि अच्छिद्रा अच्छिद्राणि छिद्ररहितानि यूयं कृणोत कुरुत। स्वधितिना छिन्नानि सच्छिद्राणि वर्तन्ते, तान्यच्छिद्राणि कुरुत, ब्रह्मणः सङ्कल्पेन व्यङ्गकर्मप्रतिसन्धानस्मरणात्। तथा च श्रीमद्भागवतम्—'यत्तत्कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवेत्' (८।२३।१४)। किञ्च, परुष्परुः प्रतिपर्व प्रत्यवयवं हृदयाद्यङ्गमनुघुष्य इदमिदमिति नाम्ना संशब्द्य यूयं विशस्त छेदनं कुरुत। 'ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी' (अ० को० २।४।१६२) इत्यमरः। 'नित्यवीप्सयोः' (पा० सू० ८।१।४) इति द्वित्वम्। 'शसु हिंसायाम्' इत्यस्य छान्दसे शपो लोपे विशस्तेति रूपम्। अनुघुष्या अनुघुष्य घुषिरविशब्दने' इत्यस्मात् क्त्वो ल्यप्।

अध्यात्मपक्षे—देवतोद्देश्येन विशसनमपि कल्याणकरम्, 'न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ इदेषि' (वा० सं० २५।४४), 'हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकमेष्यतीति' (ऐ० ब्रा० २।३) इत्यादिवचनेभ्यः सत्सङ्कल्पेन स्वधितिना कृतानि छिद्राण्यच्छिद्राणि भवन्तीति। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाश्वशिक्षको देवबन्धोर्वाजिनोऽश्वस्य चतुस्त्रिंशद्वङ्क्रीः समेत्याच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोतु, तस्य परुष्परुरनुघुष्य स्वधितिरिव रोगान् यूयं विशस्त' इति, तदपि छद्मैव, रोगानित्यस्याश्रुतस्याध्याहारात्। चतुस्त्रिंशत् शिक्षणानीत्यपि निर्मूलमेव। श्रुतहान्यश्रुतकल्पने च प्रसज्येयाताम्॥ ४१॥

एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवतस्तथ ऋतुः।
या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ता ता पिण्डानां प्रजुहोम्यग्नौ॥ ४२॥

मन्त्रार्थ—दीप्तिमान् अश्वाभिमानी जीव को अमर पद का दाता एक तो प्रारब्ध कर्मों का समाप्ति काल है—तथा इसके नियमन कर्ता दो हैं—प्रकृति और पुरुष। तुम्हारी आत्मा में एकत्व को प्राप्त हुए अंगों के जिन आवरणों को मैं काटता हूँ, प्रारब्ध कर्म का समाप्ति काल आने पर उन आवरणों को ज्ञानाग्नि में होम देता हूँ॥ ४२॥

त्वष्टुः, त्विष्यते दीप्यत इति त्वष्टा, 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ' (उ० २।९७) इति निपातनात् साधुः। यद्वा त्विषेस्तृनि 'त्विषेर्देवतायामकारश्चोपधायाः' (पा० सू० ३।२।१३५, वा० ३) इति वार्तिकेनोपधाया अकारे विहिते साधुः, तस्य। आदित्यादुत्पन्नत्वात् तद्रूपस्य, 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' (वा० सं० २९।१३) इति मन्त्रवर्णात्। तादृशस्य अश्वस्या अश्वस्य एक ऋतुः, ऋतूपलक्षितः संवत्सरात्मा प्रजापतिः, विशस्ता विशसनकर्ता, शसेस्तृच्, 'संवत्सरस्य तेजसा' (वा० सं० २३।४०) इति मन्त्रवर्णात्। तथा अस्य अश्वस्य यन्तारा यन्तारौ नियन्तारौ द्वा द्वौ द्यावापृथिव्यधिष्ठातारौ, तयोरेव सर्वनियन्तृत्वात्। तथ ऋतुः 'ऋत्यकः' (पा० सू० ६।१।१२८) इति ह्रस्वप्रकृतिभावौ। एवमश्वस्य विशसितृयन्तृनुक्त्वाध्वर्युः स्वकर्माह—हे अश्व, ते तव गात्राणां गात्रसम्बन्धिनां पिण्डानां मांसपिण्डानां वा या या यानि यान्यङ्गान्यहं कृणोमि छिनद्मि, ऋतुथा ऋतूपलक्षिते वसन्तादौ यज्ञकाले ता ता तानि तान्यङ्गानि प्रकर्षेण हुतानि करोमि।

अध्यात्मपक्षे—व्यष्टिजीवकर्मणामपि समष्टिजीवात्मकप्रजापतिकर्तृकत्वमेव, मनुष्य-पशु-पक्ष्यादयोऽपि द्यावापृथिवीभ्यामुत्पन्नत्वात् तन्नियन्त्रिता एव। यथा मनुष्यादयो न भौतिका एव, किन्तु चैतन्याधिष्ठिताः, तथैव द्यावापृथिव्योरपि विशिष्टचैतन्याधिष्ठितत्वम्। विशिष्टचैतन्यं चेश्वरकोटिप्रविष्टम्। व्याख्यानं पूर्वोक्तमेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथैक ऋतुस्त्वष्टुरश्वस्य विशस्ता भवति। यौ द्वौ यन्तारौ भवतस्तथा या ते गात्राणां पिण्डानामृतुथा वसून्यहं कृणोमि, तानि तान्यग्नौ प्रजुहोमि' इति, तदप्यसम्बद्धमेव, पदार्थाननुगमात्, ऋतोः कथमेकस्याश्वस्य भेदकत्वमित्यनुक्तेश्च। कौ द्वौ यन्तारा इत्यपि नोक्तम्, मनुष्यगात्राणां पिण्डानां वसूनि कोऽग्नौ किमर्थं जुहोति? इत्यस्य सर्वस्य प्रमत्तप्रलपितत्वमेव। 'यथाश्वशिक्षया प्रत्यृत्वश्वान् सुशिक्षयन्ति तथा गुरवो विद्यार्थिनां चेष्टाकरणानि शिक्षयन्ति, यथाग्नौ पिण्डान् हुत्वा वायुं शोधयन्ति, तथा विद्याग्ना अविद्याभ्रमान् हुत्वात्मनः शोधयन्ति' इति भावार्थस्तु दूरतोऽपि मन्त्राक्षराणि न स्पृशति ॥ ४२ ॥

मा त्वा॑ तपत्प्रि॒य आ॒त्मा पि॒यन्तं॒ मा स्वधि॑तिस्त॒न्व॒ आति॑ष्ठिपत्ते।
मा ते॑ गृध्नु॒र॑विश॒स्ताति॒हाय॑ च्छि॒द्रा गात्रा॑ण्य॒सिना॒ मिथू॑ कः ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वाभिमानी जीव! तुम्हारा प्रिय मन परा शक्ति में जाने वाले तुमको दुःखी न करे, ज्ञानखड्ग तुम्हारे भोगायतन शरीर की स्थिति को काट दे, लोभी मन तुम्हारे हस्त, पाद आदि इन्द्रिय रूप अंगों को त्याग कर ज्ञानखड्ग से मिथ्या छिद्रों को न करे ॥ ४३ ॥

हे अश्व, प्रियोऽभीष्टो भोगायतनत्वात् तव आत्मा देहः प्राणो वा त्वा त्वां विज्ञानात्मानं सुखदुःखयोर्भोक्तारं मा तपत् तप्तं दुःखितं मा कार्षीत्, देहवियोगजनिता व्यथा तव भोक्तुर्मा भूदित्यर्थः। कीदृशं त्वाम्? देवानां पियन्तम्, देवलोकगमनाय प्रवृत्तम्। अथवा अपियन्तम्, अप्येतीत्यपियन् अपिपूर्वादितेः शता तम्, देवभावं प्राप्नुवन्तम्। भागुरिमतेन अवोरुपसर्गयोरल्लोपरीत्या पियन्तमिति रूपम्। किञ्च, स्वधितिः स्वधितिः शस्त्रं ते तव तन्वस्तनूरङ्गानि मा आतिष्ठिपद् मा स्थापयतु, सर्वाण्यङ्गानि छित्वा देवेभ्यो ददात्वित्यर्थः। तिष्ठतेर्ण्यन्तस्य लुङि चङि 'तिष्ठतेरित्' (पा० सू० ७।४।५) इतीकारे कृते द्वित्वादि। किञ्च, शमिता ते तव गात्राण्यङ्गान्यतिहाय त्यक्त्वा शास्त्रोक्तक्रमं त्यक्त्वा असिना शासेन मिथुर्मिथ्या छिद्रा छिद्राणि अथवा छिन्नानि मा कः, मा कार्षीत्। करोतेर्लुङि 'मन्त्रे घसह्वर' इत्यादिना च्लेर्लुकि 'हल्ङ्याभ्यो दीर्घात्·····' (पा० सू० ६।१।६८) इति तिपो लोपे विसर्गः। मिथु इति मिथ्यार्थेऽव्ययम्। संहितायां दीर्घः। कथम्भूतः शमिता? अविशस्ता विशसनेऽकुशलः। पुनः कथंभूतः? गृध्नुः, गृध्यतीति गृध्नुः, 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' (पा० सू० ३।२।१४०) इति क्नुः, गर्धनः केवलं मांसग्रहणेच्छुः। शमिता शास्त्रदृष्टिरगर्धनोऽन्यथा माच्छिदत्, एकादशावदानानि सम्यक् करोत्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अज्ञानलोभविवर्जिताः शास्त्रज्ञाः शास्त्रतत्परा एव यजमानर्त्विज उपासनापूर्वकाणि कर्माण्यनुष्ठायाविद्यया मृत्युं तीर्त्वा उपासनारूपया विद्यया अमृतत्वमश्नुवन्ति। अक्षरार्थस्तु पूर्वोक्त एव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, ते प्रियः, यः प्रीणाति कामयत आनन्दयति वा आत्मा स्वरूपम् अपियन्तं त्वा त्वामतिहाय मा तपत्, स्वधितिस्ते तन्वो मातिष्ठिपत्, ते छिद्राण्यविशस्ता गृध्नुर्मातिष्ठिपत्, असिना मिथुर्मा कः कुर्यात्' इति, तदप्यसङ्गतम्, प्रियस्य आत्मनः स्वरूपत्यागस्याशक्यत्वेनाप्रसक्तत्वात्। स्वधितेरत्यङ्गे स्थितिरप्राप्तैवेति व्यर्थ एव तन्निषेधः। गृध्नुरपि धनं वाञ्छति, न शरीरे स्वधितिस्थितिमिति तदपि निरर्थकमेव।

'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर.' (बृ० उ० १।१।१) इत्यारभ्य बृहदारण्यकेऽश्वमेधीयाश्वविषयं दर्शनमुपासनमुक्तम्। तत्र यज्ञेऽश्वस्य प्राधान्यम्। तच्च तन्नामाङ्कितत्वात्, प्राजापत्यत्वाच्च। तत्र 'उषा' इति ब्राह्मो मुहूर्तः। स च प्रसिद्धः कालः। अश्वस्य शिरः कालात्मके प्रजापतौ ब्राह्ममुहूर्तरूपस्योषसः प्राधान्यम्, शिरसश्च शरीरावयवानां प्राधान्यम्। तस्मान्मेध्यस्य मेधार्हस्याश्वस्योषा शिर इति सम्बन्धः। कर्माङ्गस्य पशोः संस्कर्तव्यत्वात् तस्य शिरआदिषु उषःकालादिदृष्टयः कर्तव्याः। प्रजापतिदृष्ट्यध्यारोपणाच्च तस्य प्राजापत्यत्वम्। काललोकदेवतात्वाध्यारोपणं च पशोरश्वस्य प्रजापतित्वकरणम्। यथा शालग्रामादौ विष्णुत्वादिकरणमिति तद्वत्। यथा शालग्रामादि विष्ण्वादिदृष्ट्योपास्यते, तथैवायमश्वमेधीयोऽश्व कालदृष्टया संवत्सरात्मककालरूपेण, लोकदृष्टया सर्वलोकात्मरूपेण, देवतादृष्टया प्रजापतिरूपेण चोपास्यते। सूर्यश्चक्षुः शिरसोऽनन्तरत्वात् सूर्यदेवत्यत्वाच्चाश्वस्य चक्षुः सूर्यरूपेणोपास्यम्। वातः प्राणः, तस्य प्राणे समष्टिवातदृष्टिः कर्तव्या, उभयोर्वायुस्वाभाव्यात्। अश्वस्य व्यात्तं विवृतं मुखमग्निर्वैश्वानरः, वैश्वानरनामाग्निरश्वस्य विवृतं मुखमिति चिन्तनीयम्, मुखस्य अग्निदैवतत्वात्। संवत्सर आत्मा संवत्सरो द्वादशमासस्त्रयोदशमासो वाऽस्याश्वस्य आत्मा शरीरम्। कालावयवानां क्षण-मुहूर्ताहोरात्र-पक्ष-मासानां संवत्सरः शरीरम्, 'मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा' (ऐ० आ० २।३।५) इति श्रुतेः।

अस्य मेध्यस्याश्वस्य द्यौः पृष्ठम्, ऊर्ध्वत्वसामान्यात्। अन्तरिक्षमुदरम्, सुषिरत्वसाम्यात्। नहि साधारणपृष्ठोदरादिकमस्याश्वस्य, किन्तु द्यौः पृष्ठम्, अन्तरिक्षमुदरम्, पृथिवी पाजस्यम्, वर्णव्यत्ययेन दकारस्य जकारः, पादस्यमिति यावत्, मेध्यस्याश्वस्य पादासनस्थानं खुरम्, तस्य खुरे समष्टिपृथिवीदृष्टिः कर्तव्या। पार्श्वे दिशः, पार्श्वयोश्चतस्रो दिशश्चिन्तनीयाः, पार्श्वेन दिशां सम्बन्धात्। ननु पार्श्वयोर्दिशां च संख्यावैषम्यात् कथं पार्श्वयोर्दिशादृष्टिरिति चेन्न, अश्वस्य सर्वमुखत्वोपपत्त्या पार्श्वाभ्यां चतसृणामपि दिशां सम्बन्धात्।

अवान्तरदिश आग्नेय्याद्याः पर्शवः पार्श्वास्थीनि। अत्राप्यस्य प्राङ्मुखत्वे प्रत्यङ्मुखत्वे च दक्षिणोत्तरयोः, तन्मुखत्वे च प्राच्य-प्रतीच्योर्दिशोस्ताभ्यां सम्बन्धसम्भवात्। तेनैव पार्श्वास्थिष्ववान्तरदिशां सम्बन्धः। ऋतवोऽङ्गानि संवत्सरस्य अङ्गभूता ऋतवोऽस्याङ्गानि हस्तपादादीनि, तस्याङ्गेषु ऋतुदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः, अङ्गसाधर्म्यात्। मासाश्चार्धमासाश्चास्य पर्वाणि सन्धयः। मासादीनां संवत्सरसन्धित्वं सन्धित्वसामान्यात्। अस्याङ्गेषु मासादिदृष्टयः कर्तव्याः। अहोरात्राणि युगसहस्राभ्यामेकं प्राजापत्यमहोरात्रम्। बहुवचनात् प्राजापत्य-दैव-पित्र्य-मानुषाण्यहोरात्राण्यश्वस्य मेध्यस्य प्रतिष्ठाः पादाः, प्रतितिष्ठत्येतैरिति प्रतिष्ठाः, अहोरात्रैः कालात्मा प्रतितिष्ठति पादैश्चाश्व इति पादेष्वहोरात्रदृष्टिः कर्तव्या। नक्षत्राण्यस्थीनि शुक्लत्वसामान्यात्। नभो नभःस्था मेघा मांसान्यस्य, अन्तरिक्षस्योदरत्वोक्तेः। तस्य मांसेषु मेघदृष्टिः कार्या। यथा मेघो जलं सिञ्चति, तथैव मांसं रुधिरं सिञ्चतीति सेककर्तृत्वसामान्यात्। तथा च नाश्वस्य मांसास्थ्यादिष्वपि प्राकृतमांसादिदृष्टिः कर्तव्या, किन्तु मेघनक्षत्रादिदृष्ट्यैव तानि द्रष्टव्यानि। ऊवध्यमुरस्थमर्धजीर्णघासाद्यशनं सिकताः, तत्र सिकतादृष्टिः कार्या, विश्लिष्टावयवत्वसाम्यात्। सिन्धवो नद्यो गुदानाड्यः, स्पन्दनसाम्यात्, बहुवचनाच्च। यकृच्च क्लोमानश्च हृदस्याधस्ताद् दक्षिणोत्तरौ मांसखण्डौ, क्लोमान इति दारशब्दवन्नित्यं बहुवचनान्तः शब्दः, पर्वतास्तत्र पर्वतदृष्टिः कर्तव्या, कठिनादुच्छ्रितत्वाच्च। ओषधयः क्षुद्राः स्थावरा लतागुल्मादयः, वनस्पतयो महान्तो वृक्षा वटाश्वत्थादयोऽस्य लोमानि केशाश्च। उद्यन्नुद्गच्छन् आमध्याह्नाद् अश्वस्य पूर्वार्धो नाभेरूर्ध्वमित्यर्थः। निम्लोचन्नस्तं गच्छन् आमध्याह्नाद् अश्वस्य जघनार्धः परार्धः, पूर्वापरत्वसाधर्म्यात्। यद्विजृम्भते गात्राणि विनामयति विक्षिपति तद्विद्योतते, विद्युद्विद्योतनम्, मुखघनविदारणसाम्यात्। यद्विधूनुते गात्राणि कम्पयति तत्स्तनयति गर्जनशब्दसाम्यात्। यन्मेहति तद्वर्षति तस्य मूत्रणे वर्षणदृष्टिः कार्या, कालात्मकत्वाल्लोकात्मकत्वात्

प्रजापतिरूपत्वाच्च। तस्याश्वस्य मूत्रणादिकमपि न लौकिकदृष्टचा द्रष्टव्यम्। वागेव शब्दः, अश्वस्य वागेव वाक्।

'अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमा न्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमा न्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः सम्बभूवतुः' (बृ० उ० १।१।२) सौवर्णराजतौ महिमाख्यौ ग्रहौ सोमग्रहणसाधनौ, अश्वस्याग्रतः पृष्ठतश्च स्थाप्येते। तद्विषयमिदं दर्शनम्। अहः सौवर्णो ग्रहः, दीप्तिसामान्यात् अश्वस्य प्रजापतिरूपत्वात्। स ह्यादित्यलक्षणोऽह्ना लक्ष्यते। अश्वं लक्षयित्वाऽजायत सौवर्णो महिमा ग्रहः। तस्य ग्रहस्य पूर्वे पूर्वः समुद्रे समुद्रः योनिः, विभक्तिव्यत्ययः, योनिरासादनस्थानम्। तथा रात्री राजतो ग्रहः, वर्णसामान्याज्जघन्यत्वसामान्यात्। एनमश्वं पश्चात् पृष्ठतो महिमा न्वजायत। तस्यापरः समुद्रो योनिरासादनस्थानम्। एवं महिमाख्यौ ग्रहौ अश्वमभितः सम्बभूवतुः। इत्थमसावश्वो महत्त्वयुक्त इत्यर्थः॥ ४३॥

न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२॥ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्थाद्वाजो धुरि रासभस्य॥ ४४॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वाभिमानी जीव! तुम ब्रह्म हो, निश्चय ही तुम्हारी कभी मृत्यु नहीं होती, तुम कभी हिंसित नहीं होते। तुम सुगम योगमार्ग को सहायता से ब्रह्म की दिव्य शक्तियों को प्राप्त कर सकते हो। जीव और ईश्वर रूप तुम्हारी ज्योति ब्रह्म से युक्त हो जाय, तुम्हारे मन और बुद्धि आत्मा में विलीन हो जाँय, प्राण की धुरी में आत्म-प्रतिबिम्ब स्थित हो जाय॥ ४४॥

'हे अश्व, त्वं यद्यज्ञे संज्ञप्स्यसे नैवैतन्म्रियसे, इतराश्ववत् मृतो न भवसि। वै एवार्थकः, उ निर्धारणार्थकः, अश्वस्य देवत्वप्राप्तेः शास्त्रसिद्धत्वात्। अत एव न रिष्यसि न हिंस्यसे, व्यर्थहिंसाया अभावात्, अहिंसनीयाननुग्राहकप्राणवियोगानुकूलव्यापारत्वाभावात्। ननु मरणमङ्गनाशश्च प्रत्यक्षमेव दृश्यते, कथमेवमपलाप इति चेत्तत्राह—सुगेभिः पथिभिर्देवान् इदेषीति। सुष्ठु गम्यते यत्र ते सुगाः, तैः सुगेभिः सुगैः साधुगमनैः पथिभिर्मार्गैर्देवयानरूपैर्देवान् इद् देवानेव एषि गच्छसि, अतो युक्तमेव नैतन्म्रियसे न रिष्यसीति कथनमित्यर्थः। रिषतेर्यकि 'भावकर्मणोः' (पा० सू० १।३।१३) इत्यस्य जागरूकत्वात् परस्मैपदमार्षम्। देवत्वप्राप्तिप्रकार एवोच्यते—हरी ते युञ्जा इत्यादिना। हे अश्व हरी इन्द्राश्वौ (निघ० १।१५।१) इत्यादेशेन साहचर्यज्ञानार्थमुपयुज्यन्त इत्यादिष्टोपयोजनानि। युञ्जा युञ्जौ तव रथे योजनार्हौ प्रतिधुरौ वोढारौ अभूतां भविष्यतः। 'आशंसायां भूतवच्च' (पा० सू० ३।३।१३२) इति भविष्यदर्थे भूतकालप्रयोगः। तथा पृषती मरुतां सम्बन्धिन्यौ वाहनभूतौ अश्वौ, 'पृषत्यो मरुताम्' (निघ० १।१५।६), तव युञ्जौ अभूतां भविष्यतः। पर्षतीति सिञ्चतीति पृषत्, 'वर्तमाने पृषद्बृहन्मह०' (उ० २। ५) इति निपातितः। युञ्जा, युङ्क्त इति युञ्जौ, 'ऋत्विग्दधृक्' (पा० सू० ३।२।५९) इत्यादिना क्विन्, 'युजेरसमासे' (पा० सू० ७।१।७१) इति सर्वनामस्थाने नुमि, 'नश्चापदान्तस्य झलि' (पा० सू० ८।३।२४) इत्यनुस्वारे परसवर्णे च रूपम्, विभक्तेराकारः। किञ्च, रासभस्याश्विवाहनस्य धुरि स्थाने वाजी कश्चिदश्व उपास्थाद् उपस्थास्यति। त्वामागतमुपश्रुत्य स्वयमेव वाजी त्वां वोढुमुपस्थास्यति। एवं संज्ञपनेन देवभावं प्राप्तस्य तव वहनायेन्द्रादयः स्वस्ववाहनानि प्रेषयिष्यन्तीत्यर्थः। तानि दिव्यानि वाहनानि स्वयमेव त्वां वक्ष्यन्तीति वा।

अध्यात्मपक्षे—'एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्। यत्सत्यमनृतेनेह सत्येनाप्नोति मामृतम्॥' (भा० पु० ११।२९।२२) इति श्रीमद्भागवतपद्यानुसारेण क्षणभङ्गुरस्य शरीरस्य मर्त्यस्यामृतत्वप्राप्तौ साधनत्वं सम्पद्यते। देवार्थं यस्य शरीरमुपयुज्यते, *तस्यैतन्मन्त्रव्याख्यानुसारेण* देवत्वप्राप्तिर्भवति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यद्येतद्विज्ञानं प्राप्नोषि, तर्हि न त्वं म्रियसे, न वै रिष्यसि, सुगेभिः पथिभिर्देवानिदेषि। यदि ते पृषती युञ्जा हरी अभूताम्, तर्हि वाजी रासभस्य धुर्युपस्थात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशयोगस्य मन्त्रेऽनुक्तत्वात्। न कोऽपि योगः पूर्वमुक्तः। त्वद्दृष्टचा देवा मनुष्यानतिरिक्ता इति तत्प्राप्तावपि न मार्गान्तरमपेक्षितम्। न वा स्थूलशरीरावश्वौ भवेतां तदा वाजी अश्वतरधारणं कुर्यात् ॥ ४४ ॥

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुꣳसः पुत्राँ२॥ उत विश्वापुषꣳ रयिम्। अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वो वनताꣳ हविष्मान् ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—यह दिव्य भाव को प्राप्त हुआ अश्वाभिमानी जीव हमें श्रेष्ठ गौ, अश्व, पुरुषार्थ साधक पुत्र और सबके पोषण में समर्थ धन को प्राप्त कराता है, हमें निष्पाप बनाता है। हवि को प्राप्त करने वाले प्रजापति और परा शक्ति हमारे बल को निरन्तर बढ़ाते रहते हैं ॥ ४५ ॥

अथेदानीं याच्ञा क्रियते। वाजी देवत्वं प्राप्तो हयो नोऽस्माकं सुगव्यं गवां समूहो गव्यम्, 'खलगोरथात्' (पा० सू० ४।२।५०) इति यप्रत्ययः, शोभनं गव्यं सुगव्यं गोसमूहं शोभनं कृणोतु करोतु। तथा स्वश्व्यं शोभनमश्वानां समूहं करोतु। 'केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्' (पा० सू० ४।२।४८) इति वैकल्पिको यञ्। तथा पुंसः पुत्रान् कृणोतु। अत्र पुत्रशब्दोऽपत्यपर्यायः, स च दुहितृपुत्रोभयार्थकः। अतो दुहितृव्यवच्छेदार्थे पुंस इति विशेषणम्। यद्वा पुंसः पुरुषार्थसाधकान् पुत्रान् कृणोतु करोतु। उतापि विश्वापुषम्, पुष्णातीति पुषः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः, विश्वस्य सर्वस्य पुषः सर्वजनपोषणसमर्थः, तं तादृशं रयिं धनं करोतु। संहितायां विश्वशब्दस्य छान्दसो दीर्घः। किञ्च, नोऽस्माकमनागास्त्वम्, ईयते प्राप्यते बाधकत्वेनेत्यागः, 'इण आग अपराधे च' (उ० २।२१३) इत्यसुन्यागादेशे च रूपसिद्धिः, नास्त्यागो यस्यासावनागाः, तस्य भावोऽनागस्त्वम्, अनागास्त्वमिति छान्दसो दीर्घः, निष्पापत्वमित्यर्थः। कृणोतु करोतु अश्वः, निरपराधत्वाभावे तादृशफलप्राप्त्यसम्भवात्। किञ्च, अश्वो नोऽस्माकं क्षतत्राणं पुरालम्भनाद्रक्षणं वा वनतां करोतु। कीदृशोऽश्वः? अदितिः, अदीनोऽखण्डितो वा। पुनः कीदृशः? हविष्मान् हविरस्यास्तीति हविष्मान् हविर्भूतावयवः। देवत्वप्राप्त्या वा हविष्मान् भूमप्रशस्तहविर्युक्तः, तादृशोऽश्वो नः क्षत्रं वनतां करोतु। पुनः कथंभूतः? अदितिः, नास्ति दितिर्दैन्यं खण्डनं वा यस्य सः। वनतिः करोत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिदेवत्योऽश्वो देवत्वमुपगतो यजमानस्य कामान् पूरयितुं शक्नोति। सर्वपोषणसमर्थधनपुरुषार्थसाधकपुत्राद्यभीष्टवर्षी भवति, मुख्यदेवप्रजापतित्वप्राप्त्या अनैश्वर्यहान्या परमैश्वर्यवत्त्वात्।

दयानन्दस्तु—'यो नो वाजी सुगव्यं सुष्ठु गोभ्यो हितं स्वगव्यं करोति, यो विद्वान् पुंसः पुत्रानुत विश्वापुषं रयिं च प्राप्नोति। यथादितिः कारणरूपेणाविनाशिनी भूमिर्नोऽनागास्त्वं करोति, तथा भवान् कृणोतु। यथा हविष्मानश्वो नः क्षत्रं वनतां सम्भजतां तथा त्वं सेवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्वस्य सुगव्यत्वादिहेतुत्वादर्शनात्। न चाश्वः पुरुषार्थिपुत्रान् जनयन् दृश्यते, न वा विश्वापुषं रयिं सम्पादयन् दृश्यते, न च भूमिरपि जडत्वादनागास्त्वं कर्तुं समर्था, न च प्राणी त्वद्रीत्या व्याप्तिशीलः, त्वया तस्याणुत्वाभ्युपगमात् ॥ ४५ ॥

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः। आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत्। यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधाति ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—इन समस्त भुवनों को और त्रिदेव रूपधारी नारायण को हमने प्राप्त कर लिया है। ऐश्वर्यवान् अपने परिवार के साथ इन्द्र, विश्वेदेव, बारह आदित्य और मरुद्‌गण हमारा कल्याण करें। देवराज इन्द्र द्वादश आदित्यों के साथ हमारे यज्ञ की, शरीर की तथा पुत्र आदि प्रजा की रक्षा करें॥ ४६॥

'इमा नु कमिति च द्विपदाः' (का० श्रौ० २०।८।११)। अयस्मय-अश्वलोहितहोमानन्तरमिमा नु कमित्याद्याः षड् द्विपदा जुहोति। इह कण्डिकाद्वये षडर्धानि सन्ति, तैः षडाहुतीर्जुहोतीत्यर्थः। ताः षड् द्विपदा विराजः। तिस्रो वैश्वदेव्यः, तिस्र आग्नेय्यः, आप्तिपुत्रभुवनदृष्टास्तिस्र ऋचः। इमा इमानि, विभक्तेराकारः, भुवना भुवनानि भूतजातानि, वयं सीषधाम साधयामः, स्वायत्तानि कुर्म इत्यर्थः। साधयतेर्लुङि उत्तमपुरुषबहुवचने रूपम्, अडभाव आर्षः। किञ्च, इन्द्र ऐश्वर्यवान् सगणो निजगणैः परिवारैः सहितो देवराजो द्वादशभिरादित्यैरेकोनपञ्चाशत्संख्याकैर्मरुद्भिः सहिता विश्वेदेवाश्च अस्मभ्यं भेषजा भेषजानि औषधानि हितानि करत् कुर्वन्तु। हितपरमत्र भेषजपदम्, सर्वे देवा अस्माकं हितकारिणो भवन्त्विति यावत्। किञ्च, इन्द्र आदित्यैः सह नोऽस्माकं यज्ञमश्वमेधं तन्वं शरीरं प्रजां पुत्रादिकां च सीषधाति साधयतु वश्यं करोतु, नीरोगाः सपुत्रा वयं यज्ञं सम्यक् कुर्म इत्यभिप्रायः। नु कम् एतौ निपातौ पादपूरणार्थौ।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः सगणः साङ्गोपाङ्गः स्वविभूतिभूतैरादित्यैर्मरुद्भिश्च तदंशभूता विश्वे च देवा अस्मभ्यं भेषजानि हितानि करत् कुर्वन्तु। हे देवाः, भवत्प्रसादाद् वयमिमानि भुवनानि सीषधाम वशीकुर्मः। भवद्विभूतिभूत इन्द्रो देवराज आदित्यैस्तदुपलक्षितैः सर्वैर्देवैः सह नोऽस्माकं त्वदाराधनलक्षणं यज्ञमश्वमेधं तन्वं प्रजां च सीषधाति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथेन्द्रश्च विश्वेदेवाश्चेमा विश्वा भुवनानि धरन्ति, यथा वयं कं सुखं नु सद्यः सीषधाम, यथा सगण इन्द्र आदित्यैः सह सर्वांल्लोकान् प्रकाशयति, तथा मरुद्भिः सह वैद्योऽस्मभ्यं भेषजा करत्, यथादित्यैः सहेन्द्रो नो यज्ञं विद्वत्सत्कारादिकं च तन्वं च प्रजां च सीषधाति, तथा वयं साध्नुयाम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तानुपपत्तेः, यथा राजा सर्वे विद्वांसो भुवनानि धरन्ति तथा वयं शीघ्रं सुखं साधयेमेति सादृश्याभावात्। सुखं तु कर्मवशादनायासप्राप्तम्, भुवनधारणं तु प्रयत्नसाध्यम्। न च भुवनानि मनुष्या धारयितुं शक्नुवन्ति, 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' (वा० सं० २५।१०) इति मन्त्रवर्णविरोधोऽपि। वैद्यपदमपि मूले नास्ति। न च सत्काररूपो यज्ञो वेदे विवक्षितः, तस्य लोकतः प्राप्तत्वात्। न च सभापतिस्तन्वं प्रजां च साधयति, तथात्वे तदर्थं प्रयत्नान्तरानुपपत्तेः॥ ४६॥

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः। वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः। तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः॥ ४७॥

मन्त्रार्थ—हे गार्हपत्य अग्निदेव! आप सदा हमारे पास रहें, हमारा पालन करें और शान्त होकर हमारे पुत्र आदि का रक्षण करें। आप समस्त लोगों के आश्रय स्थान हो, आहवनीय आदि रूपों से गमन करने वाले हो और धनदाता के रूप में तुम्हारा यश सर्वत्र फैला है। हे अग्निदेव, निर्मल स्वभाव होकर आप हमारे हवन स्थान में आवें, अर्थात् जब-जब हम हवन करें, तब प्रत्येक समय हमारी हवनशाला में उपस्थित रहें और अत्यन्त प्रकाशमय द्रव्य हमें दें। हे ज्वालायुक्त सर्वप्रकाशक अग्निदेव, इन सब गुणों से विशिष्ट आपसे हम अपने मित्रों के कल्याण की कामना करते हैं॥ ४७॥

हे अग्ने, त्वं नो अन्तमः, अमति समीपं प्राप्नोतीत्यम्, अतिशयितः अम् अन्तमः, निकटतमः। उतापि त्राता रक्षकः। शिवः शान्तः। भवा भव, संहितायां दीर्घः। वरूथ्यः, वरूथः पुत्रादिसमूहो गृहं वा, तस्मै हितः। वसुर्जनानां वासयिता। अग्निराहवनीयादिरूपेण गतिशीलः, 'अगि गतौ', अङ्गतीत्यग्निः। वसुश्रवा वसुना धनेन श्रवः कीर्तिर्यस्यासौ वसुश्रवाः। हे अग्ने, त्वमच्छानक्षि अस्मानभिव्याप्नुहि। यद्वा— हे अच्छ, स्वच्छस्वभाव! त्वं नक्षि यज्ञस्थानमागच्छ, 'नक्ष गतौ'। किञ्च, द्युमत्तममतिदीप्तियुक्तं रयिं धनं दा देहि। हे शोचिष्ठ दीप्तिमत्तम, हे दीदिवः सर्वस्य दीपयितः, तं तादृशं त्वा त्वां सखिभ्यः सुम्नाय, द्वितीयार्थे चतुर्थी, सुम्नं सुखं नूनं निश्चयेन ईमहे याजयामहे। यद्वा सुम्नाय सुखार्थम्, सखिभ्योऽस्मत्सखीनामुपकाराय। इमे ऋचे तृतीयेऽध्याये पञ्चविंश्यां षड्विंश्यां च कण्डिकायां व्याख्याते। एवमश्वमेधाख्यं कर्म तदुपासनं च महतेऽभ्युदयाय क्रममुक्तये पारम्पर्येण बुद्धिशुद्धिक्रमेण निःश्रेयसाय च सम्पद्यते।

इति समासोऽश्वमेधः सप्तविंशत्युत्तरवर्षमात्रसाध्यः। तत्र वर्षमात्रं परिभ्रमणमश्वस्य। द्वादश दीक्षाः, द्वादशोपसदः, तिस्रः सुत्या इति सप्तविंशतिदिनैः। अतः परमेकोनत्रिंशेऽध्याये हौत्रमन्त्रा आम्नाताः, 'आश्वमेधिकोऽध्यायः' इति सर्वानुक्रमवचनात्॥ ४७॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां
पञ्चविंशोऽध्यायः॥

षड्विंशोऽध्यायः

अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते मे सन्नमतामदो वायुश्चान्तरिक्षं च सन्नते ते मे सन्नमतामद आदित्यश्च द्यौश्च सन्नते ते मे सन्नमतामद आपश्च वरुणश्च सन्नते ते मे सन्नमतामदः। सप्त स^ꣳसदो अष्टमी भूतसाधनी। सकामाँ२॥ अध्वनस्कुरु संज्ञानमस्तु मेऽमुना ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—अग्नि और भूमि भोग के लिये प्राप्त हैं, ये मेरी अमुक अभिलाषा को पूरी करें। वायु और अन्तरिक्ष भी भोग के लिये प्राप्त हैं, वे मेरे लोभ को नियन्त्रित करें। सूर्य और स्वर्ग भोग के लिये प्राप्त हैं, वे मेरे मोह को वशवर्ती बनावें। जल और वरुण भी भोग के लिये प्राप्त हैं, वे दोनों क्रोध को मेरा वशवर्ती बनावें। हे सात अधिष्ठानों (अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, स्वर्ग, जल और वरुण) और आठवीं प्राणियों की आधारभूत भूमि, आप सब हमारे मार्गों को सफल करें, इन सबसे मेरी संगति हो ॥ १ ॥

मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं गरुडध्वजः।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलायतनो हरिः॥

इषे त्वेत्यारभ्य दर्शपौर्णमासपितृयज्ञाग्निहोत्रोपस्थानपशुचातुर्मास्याग्निष्टोमवाजपेयराजसूयाग्निचयनसौत्रामण्यश्वमेधसम्बन्धिनो मन्त्रा व्याख्याताः। इदानीं खिलान्युच्यन्ते, क्वचिद्विनियोगाभावात्। एतेषां मन्त्राणां विवस्वान् ऋषिः, अन्यस्यानुक्तेः। 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजू^ꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' (बृ० उ० ६।५।३) इति श्रुतेर्याज्ञवल्क्यो वा ऋषिः। अग्निश्च पृथिवी चेति सप्त लिङ्गोक्तानि यजूंषि, चतस्र ऋग्गायत्र्यः, सप्त संसदः, आसुर्यनुष्टुप्। सकामानिति प्राजापत्यानुष्टुप्। यथेमां वाचं ब्राह्मी गायत्री। एतेषामविनियुक्तानां मन्त्राणां लैङ्गिको विनियोगः। तद्यथा अग्निश्च पृथिवी चेति सप्त सन्नतिमन्त्राः, ते च लिङ्गबलात् कल्पितश्रुत्या विनियुज्यन्ते। शब्दानामर्थप्रकाशनसामर्थ्यं लिङ्गम्, 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इत्यभियुक्तोक्तेः। अग्निश्च पृथिवी च सन्नते। तत्र सन्नमनं सन्नतिः प्रह्वीभावः, आनुकूल्येन प्रवृत्तिः। तथा च भोगाय सन्नते सङ्गते स्याताम्। ते अग्निपृथिव्यौ मे मम अदोऽमुकं सन्नमताम्। अत्र णिलोपश्छान्दसः। तथा च अग्निश्च पृथिवी च मे मम अदः सन्नमयताम् अमुकं वशवर्तिनं कुरुताम्। अद इति पुरुषादेर्नाम द्वितीयान्तं प्रयोज्यम्। 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति शपोऽप्यार्धधातुकत्वात्, 'णेरनिटि' (पा० सू० ६।४।५१) इति णिलोपे सन्नमतामिति रूपम्। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्।

वायुश्चान्तरिक्षं च सन्नते सङ्गते स्याताम्। ते मे ममादोऽमुकं सन्नमयताम्। आदित्यश्च द्यौश्च सन्नते ते मे अदोऽमुकं सन्नमयताम्। आपश्च वरुणश्च सन्नते ते मे अदः सन्नमयताम्। परमात्मानं प्रत्युच्यते—हे परमेश्वर, यस्य तव सप्त संसदः संसदनान्यधिष्ठानानि प्रकृतान्यग्निवाय्वन्तरिक्षादित्यद्युलोकाम्बुवरुणान्तानि सन्ति, यस्य तव भूतसाधनी पृथिवी त्वदीयशक्तिभूता प्रकृतिर्वा, (पृथिव्याः सप्तसंसत्स्वन्तर्भावात्), तामन्तरेण भूतानामनुत्पत्तेः, स त्वं सर्वाधिष्ठानभूतोऽस्यतः प्रार्थ्यसे। अध्वनो मार्गान् अस्माकं सकामान् कुरु। येषु मार्गेषु

मया गम्यते तत्रास्माकं कामपूर्तिरस्त्वित्यर्थः। किञ्च, ममामुनाऽभीष्टेन देवदत्तादिना संज्ञानं सङ्गतं ज्ञानम्, सौहार्दमिति यावत्, अस्तु। इष्टेन मम प्रीतिरस्तु। विज्ञानात्मा वाऽनेनोच्यते। यस्य तव सप्त, मनोबुद्धी द्वे पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाणीति सङ्कलय्य सप्त संसदः सप्तायतनानि, अष्टमी भूतसाधनी सर्वप्राणिनां वशयित्री वाक् चास्ति, स त्वं नोऽस्माकमध्वनः सकामान् सफलान् कुरु। अमुना सह मे संज्ञानं संगतमस्तु। अस्मिन् पक्षेऽप्यभीष्टसाधको विज्ञानात्मावच्छिन्नोऽन्तर्याम्येव।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, भवत्प्रसादादग्न्यादीनि मे सन्नतानि भवन्ति। तानि च ममाभीष्टानि सन्नमयन्तु प्रापयन्तु। हे परमेश्वर, यस्य ते तव महदादीनि सप्त संसदः सदनानि तेषु सम्यक् सीदति भवान्। अष्टमी प्रकृतिर्भूतसाधनी सर्वोत्पादयित्री, स त्वं ममाध्वनो मार्गान् सकामान् सफलान् कुरु अमुनाभीष्टेन मम संज्ञानं सौहार्दमस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा ये मे अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते अदः सन्नमयताम्। ये मे वायुश्चान्तरिक्षं च सन्नते ते चादः सन्नमयताम्। ये मे आदित्यश्च द्यौश्च सन्नते ते अदः सन्नमयताम्। या ये मे आपश्च वरुणश्च सन्नते स्तस्ते अदः सन्नमयताम्। अष्टमी भूतसाधनी सप्त संसदः सकामानध्वनः कुर्यात् तथा कुरु, अमुना मे संज्ञानमस्तु, तथैतत्सर्वं युष्माकमस्तु' इति, तदप्यसङ्गतम्, नमतेरकर्मकस्य णिचमन्तराऽनुकूलं कुर्यातामित्यर्थासङ्गतेः। किञ्च, जडानां तेषामनुकूलभवनान्यानुकूलभावनानुपपत्तेः, भूतसाधनी केत्यनुक्तेश्च, संसदः सप्त का इत्यनुक्तेश्च। न चाष्टमीति संसदां विशेषणं सम्भवति, संख्यावैषम्यात्॥ १॥

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्म राजन्याभ्याᳪ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृद्ध्यतामुप मादो नमतु॥ २॥

मन्त्रार्थ—मैं इस कल्याणकारक वाणी को, 'ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिये, शूद्र और वैश्य के लिये, स्वजनों और शत्रुओं के लिये एवं समस्त जनों के कल्याण के लिये दिया जाय, भोजन किया जाय' इस तरह की कल्याणकारक वाणी को सब ओर से बोलता हूँ, अतः मैं इस यज्ञ में देवताओं का और जिनके लिये धन-धान्य आदि दिया जाता है, उन सबका प्यारा बनूँ, मेरी पुत्र-धन आदि की प्राप्ति की कामना पूरी हो॥ २॥

यजमानो भगवन्तं प्रार्थयते—हे भगवन्, यथाहं दीयतां भुज्यतामित्येवंरूपां कल्याणीमनुद्वेगकरीं वाचमावदानि आसमन्तात् सर्वेभ्यो जनेभ्यो वच्मि। के ते जना येभ्यः कल्याणी वाक् प्रयोक्तव्येति, तत्राह—ब्रह्मराजन्याभ्यां ब्रह्मणे ब्राह्मणाय राजन्याय क्षत्रियाय शूद्राय च अर्याय वैश्याय। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) इति निपातनात् साधु। स्वाय आत्मीयाय, अरणाय अरणोऽपगतोदकः कुटुम्बगोत्रादि-बाह्यः। यद्वा नास्ति रणं भाषणमपि येन सह सोऽरणः, शत्रुरिति यावत्। सोऽपीदानीं सत्कर्तव्यः। प्रियो देवानामिति मध्येऽवसानरहितानुष्टुप्, लौगाक्षिदृष्टा। यथेति पूर्वोक्तेरत्र तथाशब्दोऽध्याहार्यः। यथा यतोऽहं ब्राह्मणादिभ्यः कल्याणीं वाचं वदामि, तथा ततोऽहं देवानां प्रियो भूयासम्। इह संसारे दक्षिणायै दक्षिणाया दातुश्च प्रियो भूयासम्। देवा दक्षिणादातारश्च मयि प्रीतिं कुर्वन्तु। ममायं कामः समृद्ध्यतां सफलो भवतु। अयमिति नामनिर्देशः। धनपुत्रादिलाभो मे सम्पद्यतामित्यर्थः। अद इति नामग्रहणम्। मा माम् उपनमतु देवदत्तादिर्मां प्रीणयत्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—यजमानः परिजनाननुशास्ति परमेश्वरं च प्रार्थयते—यथा येन प्रकारेणाहं जनेभ्यः सर्वेभ्यो ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय वैश्याय स्वाय अरणाय शत्रवे च इमामागम्यतामुपविश्यतां भुज्यतां पीयतामित्येवंरूपां कल्याणीमनुद्वेजिनीं वाचमावदानि, तथा तेनैव प्रकारेण यूयमपि तथाभूतां वाणीं संवदध्वम्, समेषां दान-सम्मानादिभिः सत्कारं कुरुध्वम्। हे परमेश्वर, अहं देवानाम्प्रियो भूयासम्। दक्षिणाया दातुश्चाहं प्रियो भूयासम्। ये दक्षिणादिदाने धनादिसाहाय्यं कुर्वन्ति, तेषामहं प्रियः स्याम्। येन यज्ञेषु पुष्कलदक्षिणाया दाता स्याम्। अयममुको धनपुत्रादिलाभरूपः कामो मे समृद्धयतां सम्पद्यताम्, अदोऽभीष्टं ज्ञानविज्ञानादिकं अन्यद्वा अभीष्टं वस्तु मा मामुपनमतु प्राप्नोतु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहमीश्वरो ब्रह्मराजन्याभ्यामार्याय शूद्राय वैश्याय स्वाय स्वकीयाय अरणाय सल्लक्षणाय प्राप्ताय अन्त्यजाय च जनेभ्य इहास्मिन् संसारे इमां प्रत्यक्षीकृतां वाचं वेदचतुष्टयीं वाणीमावदानि, तथा भवन्तोऽप्यावदन्तु। यथाहं दातुर्देवानां विदुषां दक्षिणायै दानाय प्रियो भूयासम्। मेऽयं कामः समृद्धयताम्, मादः परोक्षं सुखमुपनमतु, तथा भवन्तोऽपि भवन्तु' इति, तदप्यशुद्धम्, पूर्णकामस्य परमेश्वरस्य तादृशकामानुपपत्तेः। नहि परमेश्वरस्याहं प्रियो भूयासम्, अयं मे कामः समृद्धयताम्, अदः परोक्षसुखं मामुपनमत्विति प्रार्थना सम्भवति। न च परमेश्वरः सर्वेभ्यो वेदचतुष्टयीं वाणीमुपदिशन्नुपलभ्यते। अध्यापको यस्मै वेदं पाठयति स तमध्यापकं न पश्यति। नहि ब्राह्मणानां विदुषामपि वेदोपदेष्टुः परमेश्वरस्य दर्शनं भवति। नहि सोऽज्ञः सम्भवति, यस्य परमेश्वरोऽध्यापकः। किञ्च, नहि परमेश्वराध्यापितस्यान्याध्यापकापेक्षेति कुतो भवन्तोऽप्यावदन्त्विति परमेश्वरोक्तिः सम्भवति। तस्मात् पूर्वोक्तमेव व्याख्यानं युक्तम्॥ २॥

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद्द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु। यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्। उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतये त्वैष ते योनिर्बृहस्पतये त्वा॥ ३॥

मन्त्रार्थ—हे सत्य से प्रकट होने वाले वेदों के पालक सर्वाधार भगवन्! आप अनेक प्रकार का धन हम यजमानों को प्राप्त कराइये, जो धन ईश्वर के अधिकतर सत्कारयोग्य है, कान्तिमान् है, यज्ञ के योग्य है, प्राणियों में अनेक प्रकार से शोभित होता है, अपने बल से दूसरे धन को लाता है, उस धन को हमें प्राप्त कराइये। हे ग्रह! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, बृहस्पति की तुष्टि के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, बृहस्पति की तुष्टि के निमित्त तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ॥ ३॥

ब्रह्मदेवत्या त्रिष्टुप्, गृत्समददृष्टा। बृहस्पतिसवे बार्हस्पत्यग्रहणेऽस्याः सोपयामाया विनियोगः। हे ऋत-प्रजात ऋतात् सत्याद् ब्रह्मणः सकाशात् प्र प्रकृष्टं जातं जन्म यस्यासौ ऋतप्रजातः, तत्सम्बुद्धौ। हे बृहस्पते बृहतां वेदानां पतिः पालको बृहस्पतिः, 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (पा० सू० ६।१।१५७, वा० १) इति साधुः, तत्सम्बुद्धौ। चित्रं नानाविधं तद् द्रविणमस्मासु यजमानेषु धेहि धारय, देहीत्यर्थः। किं तद् द्रविणमित्याह—अर्यो यद् अर्हात्। अर्यः स्वामी यद्धनम् अर्हाद् अर्हति। 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागमः, ईश्वरयोग्यमतिशयेन धनं प्रयच्छेत्यर्थः। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) इति निपातनाद् ऋधातोर्यति रूपसिद्धिः। तस्य च 'यतोऽनावः' (पा० सू० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते, 'स्वामिन्यन्तोदात्तत्वं च वक्तव्यम्' (पा० सू० ३।१।१०३, वा० १) इत्यन्तोदात्तत्वम्। वैश्ये चार्थे आद्युदात्तत्वम्। यच्च धनमति अतिशयेन द्युमद् 'द्यु अव्ययं दीप्त्यर्थकम्' दीप्तिमद् इत्यर्थः। अथवा द्योतते येनासौ द्यौर्दीप्तिः, द्यौरस्ति यस्य तद् द्युमद् दीप्तिमत्, 'दिव उत्' (पा० सू० ६।१।१३१) इत्युकारादेशः। क्रतुमज्जनेषु क्रतवो

विद्यन्तेऽनुष्ठेयत्वेन येषां ते क्रतुमन्तो यज्ञानुष्ठातारः, क्रतुमन्तश्च ते जनाश्च क्रतुमज्जनाः, तेषु। विभाति विशेषेण शोभते। यच्च धनं शवसा बलेन दीद्यद् दाययति प्रापयति वा धनान्तरमिति तादृशं धनं देहीत्यर्थः। 'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु' इति धातोर्णिजन्ताल्लुङि रूपम्, अडभाव आर्षः। हे बार्हस्पत्य ग्रह, उपयामपात्रेण गृहीतोऽसि, बृहस्पतये देवाय त्वा गृह्णामि। एष ते योनिः स्थानम्, बृहस्पतये त्वां सादयामि। इति स्थापनमन्त्रः।

अध्यात्मपक्षे—हे बृहतां वेदानां महदादीनां वा पालक परमेश्वर, यदतिद्युमद् द्रविणमतिशयेन दीप्तिमद् ब्रह्मज्ञानात्मकम्, तदस्मासु धेहि। यच्चार्य ईश्वरोः, अर्हात् पूजयति, यच्च क्रतुमज्जनेषु, क्रतव उपासनालक्षणाः सङ्कल्पा येषां ते क्रतुमन्तः, ते च ते जनाश्च क्रतुमज्जनास्तेषु विभाति विभासते। हे ऋतप्रजात, ऋतं सत्यं प्रजातं यस्मात् स त्वम् ऋतप्रजातः, तत्सम्बुद्धौ। चित्रं विविधमैहिकामुष्मिकमन्यच्च यद्धनम्, तदपि मयि धेहि। हे समर्पणीय सोमादिद्रव्य, त्वमुपयामगृहीतोऽसि प्रेम्णा गृहीतोऽसि। बृहस्पतये त्वां गृह्णामि तस्मै त्वां सादयामि।

दयानन्दस्तु 'हे बृहस्पते, यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तं त्वा बृहस्पतये यस्यैष ते योनिरस्ति तस्मै त्वा वयं स्वीकुर्मः। हे ऋतप्रजातार्यस्त्वं जनेष्वर्हाद्यद्द्युमत् क्रतुमदति विभाति यच्छवसा दीदयद्यदस्ति तच्चित्रं विज्ञानं द्रविणं चास्मासु धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे यशोबोधकपदाभावात्। न च द्रविणमेव यश इति वाच्यम्, तथात्वे धनं यशश्चेति त्वदुक्तिविरोधात्, द्युमत्क्रतुमदिति पदाभ्यां मनोबुद्ध्योर्ग्रहणे मानाभावात्। बृहस्पतये बृहत्या वाचः पालनायेत्यप्यसङ्गतम्, पतिशब्दस्य पालकार्थत्वेन पालनार्थत्वायोगात् ॥ ३ ॥

इन्द्र गोमन्निहायाहि पिबा सोमᳪं शतक्रतो। विद्यद्भिर्ग्रावभिः सुतम्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे शोभन यज्ञ वाले, अनन्त कर्मों वाले, परम ऐश्वर्य सम्पन्न गोमान् इन्द्र देवता, आप इस यज्ञ में आइये, विशेष प्रकार के पाषाणों से अभिषुत हुए सोम को पीजिये। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, गोमान् इन्द्र की प्रीति के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ, यह तुम्हारा स्थान है, गोमान् इन्द्र की प्रीति के निमित्त तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ४ ॥

इन्द्रदेवत्ये गायत्र्यौ रम्याक्षिदृष्टे। गोसवे यज्ञे इन्द्राय गोमते ग्रहग्रहणे विनियुक्ते। हे शतक्रतो! शतमसंख्यातानि क्रतवः कर्माणि यस्य स शतक्रतुः, क्रियते योऽसौ क्रतुः, 'कृञः कतुः' (उ० १।७६) इति रूपसिद्धिः। शतक्रतोः सम्बोधने हे शतक्रतो शताश्वमेधानुष्ठायिन्! हे गोमन्! गावो धेनवः स्तुतयः किरणा वा विद्यन्ते यस्य स गोमान्, तत्सम्बुद्धौ, हे इन्द्र इह यज्ञे आयाहि आगच्छ। सोमं च पिबा पिब, 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः। कीदृशं सोमम्? ग्रावभिः पाषाणविशेषैः सुतम् अभिषुतम्। कीदृशैर्ग्रावभिः? विद्यद्भिर्विशेषेण द्यन्ति खण्डयन्तीति विद्यन्तः, तैः। 'दोऽवखण्डने' इति धातोः शतरि दिवादित्वात् श्यनि च 'ओतः श्यनि' (पा० सू० ७।३।७१) इत्योकारलोपे च रूपसिद्धिः। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे— हे इन्द्र परमेश्वर! शतक्रतो अनन्तसृष्ट्यादिकर्तः! गोमन् गोपालकृष्णरूपेण बहुगोयुक्त! इह भक्तानां हृदये आयाहि प्राकट्यमुपगच्छ। सोमं पिब। कीदृशं सोमम्? विद्यद्भिर्ग्रावभिः सुतमभिषुतम्। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। इन्द्राय गोमते वा गृह्णामि। एष आराधनप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्। तत्र त्वां तादृशाय इन्द्राय सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे शतक्रतो गोमन्निन्द्र, त्वमिहायाहि विद्यद्भिर्ग्रावभिः सुतं सोमं पिब। यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्माद् गोमत इन्द्राय त्वा यस्यैष ते योनिरस्ति तस्मै गोमत इन्द्राय त्वा च वयं सत्कुर्मः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विद्यद्भिरिति पदस्य वैयर्थ्यापातात्, अविद्यमानस्य हेतुत्वानुपपत्तेः ॥ ४ ॥

इन्द्रायाहि वृत्रहन् पिबा सोमᳯं शतक्रतो। गोमद्भिर्ग्रावभिः सुतम्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ— हे वृत्रनाशक सौ यज्ञों को करने वाले देवराज इन्द्र, आप यहाँ आइये, स्तुतियुक्त पाषाणों से अभिषुत सोम का पान कीजिये। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, इन्द्र की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, इन्द्र की योनिस्वरूप तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ५ ॥

हे वृत्रहन् वृत्रं हतवानिति वृत्रहा, तत्सम्बुद्धौ। हे शतक्रतो हे इन्द्र, त्वमायाहि सोमं च पिब। कीदृशं सोमम्? गोमद्भिः स्तुतिमद्भिः, ग्रावभिरश्मभिः, सुतमभिषुतम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—वर्तते सदैवेति वृत्रोऽज्ञानम्, तं हतवानिति वृत्रहा, तत्सम्बुद्धौ। हे शतक्रतो बहुकर्मन् हे इन्द्र, आयाहि स्तुतिमद्भिर्ग्रावभिः सुतं सोमं पिब, परमेश्वरपूजोपकरणनिष्पादकवस्तूनामपि वेदैः स्तूयमानत्वात्। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि प्रेम्णा गृहीतोऽसि, इन्द्राय गोमते त्वां गृह्णामि।

दयानन्दस्तु—'हे शतक्रतो वृत्रहन्, त्वं गोमद्भिर्ग्रावभिः सदायाहि, सुतं सोमं पिब। यतस्त्वं गोमत इन्द्रायोपयामगृहीतोऽसि, तं त्वा यस्यैष ते गोमत इन्द्राय योनिरस्ति, तं त्वा वयं सत्कुर्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागगौणार्थग्रहणयोर्निर्मूलत्वात्। नहि कस्यचिन्मनुष्यस्य सूर्यतुल्यत्वमपि सम्भवति, न वा गर्जनयुक्तैः किरणैः सहागमनं सम्भवति ॥ ५ ॥

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं घर्ममीमहे। उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—सत्यस्वरूप अविनाशी तेज के पालक अनुपहिंसनीय, दीप्तिकारी, सब प्राणियों के हितकारी, परमात्मस्वरूप अग्निदेव की हम प्रार्थना करते हैं। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, वैश्वानर की प्रीति के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, वैश्वानर की तुष्टि के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ६ ॥

तिस्रो वैश्वानरीयाः पुरोनुवाक्याः। तत्राद्या गायत्री प्रादुराक्षिदृष्टा। वयं वैश्वानरमीमहे याचामः, यज्ञसमाप्तिमिति शेषः। 'ईमह इति याच्ञाकर्मसु पठितः' (निघ० ३।१९।१) कीदृशं वैश्वानरम्? ऋतावानम्, ऋतं सत्यं यज्ञं जलं वास्यास्तीति ऋतवा, 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ' (पा० सू० ५।२।१०९, वा० २) इत्यस्त्यर्थे वनिप्प्रत्ययः, संहितायां ऋतस्य छान्दसो दीर्घः, ऋतावा, तं ऋतावानम्। दुह्यादेर्धातोर्द्विकर्मकत्वात् कर्मद्वयम्। ऋतस्य सत्यस्याबाध्यस्य ज्योतिषस्तेजसः पतिं पालकम्, तेजोऽधिष्ठानमित्यर्थः। 'जसु मोक्षणे' दैवादिकः। अयं नञ्पूर्वः स्वभावतः क्रियासातत्ये वर्तते। न जस्यतीत्यजस्रम्, 'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः' (पा० सू० ३।२।१६७) इति रः, सन्ततमित्यर्थः। घर्मम्, जिघर्तीति घर्मः, 'घृ क्षरणदीप्त्योः' इत्यस्मात् 'घर्मग्रीष्मौ' (उ० १।१४९) इति मक्प्रत्यये साधु, तं घर्मम्। ईमहे वैश्वानरयज्ञसमाप्तिं याचामहे। उपयामेति पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे -वैश्वानरं विश्वेषां नराणां हितं हितकारिणं परमात्मानम्, ईमहे याचामहे, भक्तिमिति शेषः। कीदृशम् ? ऋतावानम्, सत्यव्रतं यज्ञवन्तं वा, ऋतस्य सत्यस्य यज्ञस्य वा पालकम्। ज्योतिषः सूर्यादेः पतिं पालकम्। अजस्रमक्षीणं घर्ममक्षरणं दीप्तं स्वप्रकाशं वा। उपयामगृहीतोऽसीति। हे निवेदनीय द्रव्य, त्वमुपयामेन प्रेम्णा गृहीतोऽसि। वैश्वानराय त्वा गृह्णामि। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु 'हे मनुष्याः, यथा वयं ऋतावानं वैश्वानरं तस्य ज्योतिषस्पतिं घर्ममीमहे, तथा यूयमप्येनं याचत। यतस्त्वं वैश्वानरायोपयामगृहीतोऽसि, तं त्वा यस्यैष ते योनिरस्ति तं त्वा च वैश्वानराय सत्कुर्मः, तथा यूयमपि कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विशेष्यानिर्देशात्। भावार्थे त्वग्निरुक्तः। त्वद्रीत्या तस्य जाड्यमेवेति कुतो याचनीयता, चेतनस्यैव याच्यमानत्वदर्शनात्। सत्करणादिकमपि तस्य न सङ्गतम्, त्वद्रीत्या जडपूजनस्य निन्दितत्वात् ॥ ६ ॥

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः। इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण। उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—सम्पूर्ण जगत् के हितकारी वैश्वानर देव की सुबुद्धि में हम गृहीत हों, क्योंकि वह सम्पूर्ण भुवनों और प्राणियों का आश्रयस्थल वैश्वानर देव इस भूलोक में अथवा ज्ञानाग्नि में प्रकट होकर इस चराचर जगत् को देखता है। सूर्य के साथ स्पर्धा करता है, सब प्रकार से दीप्तिमान् है, अथवा सूर्य रूप से वृष्टि आदि कर्मों में निरत है। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, वैश्वानर देव की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, वैश्वानर की तुष्टि के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ७ ॥

त्रिष्टुप् कुत्सदृष्टा। वैश्वानरस्य देवस्य सुमतौ शोभनायां सानुग्रहायां बुद्धौ वयं स्याम भवेम, तदनुग्रहभाजनानि भवेमेत्यर्थः। कं निपातः पादपूरणः। हि यस्माद्धेतोर्वैश्वानरः, इतोऽरणितो जातोऽरणिमन्थनादुत्पन्नः सन् इदं विश्वं सर्वं विचष्टे कर्मानुरूपं पश्यति, सूर्येण सह यतते स्पर्धते च, स्वकीयदीप्त्या सूर्यसमानतेजस्क इत्यर्थः। कीदृशो वैश्वानरः ? राजा, भुवनानां भूतग्रामाणां लोकानां वा। अभिश्रीः, अभि अभितः समन्तात् श्रीयते सेव्यत इत्यभिश्रीः, सर्वभूतैः सर्वलोकैराश्रयणीय इति यावत्। कर्मणि क्विप्। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—विश्वान् नृणाति स विश्वानरः, स एव वैश्वानरः, स्वार्थिकोऽण्। यः सर्वनियामकोऽन्तर्यामी यश्च राजा राजमानः स्वयंप्रकाशः, यश्च भुवनानां सर्वलोकानामभिश्रीः सर्वलोकैः समन्तादाश्रयणीयः, यश्च इतोऽरणितोऽन्यतो वा जात इदं विश्वं सर्वं विचष्टे सौविध्यदानायाविशेषेण पश्यति, यश्च सूर्येण यतते सूर्यद्वारा विश्वपोषणाय प्रयतते, तस्य वैश्वानरस्य भगवतः सुमतौ सानुग्रहायां बुद्धौ वयं स्याम भवेम। शेषोंऽशः पूर्ववद् व्याख्येयः।

दयानन्दस्तु—'वयं यथा राजा भुवनानामभिश्रीः कं हि साध्नोति, इतो जातः सन् विश्वमिदं विचष्टे। यथा सूर्येण सह वैश्वानरो यतते, तथा वयं वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम। हे विद्वन्, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्माद्वैश्वानराय त्वा यस्यैष ते योनिरस्ति तं त्वा च वैश्वानराय सत्करोमि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, साध्नोतीति क्रियापदस्य मूलेऽभावात्। अध्याहारश्च निर्मूल एव। न च त्वद्रीत्या सूर्यः कं सुखं साधयति, तस्य जडत्वेन

कृतिमत्त्वाभावात्। अतश्चेतनस्यैव विचार्यकारित्वेन हेत्वपेक्षणात्, न जडे कारणापेक्षापि। परमेश्वरस्य सुमतौ सर्वेषां विषयत्वेऽपि राज्ञोऽल्पज्ञस्य सुमतौ समेषां सत्त्वासम्भव एव। विद्वान् कथं कैर्नियमैर्गृह्यते, तं च वैश्वानराय किमर्थं गृह्णातीत्यादिकं सर्वं विशृङ्खलितमेव ॥ ७ ॥

वैश्वानरो न ऊतय आ प्रयातु परावतः। अग्निरुक्थेन वाहसा। उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—सारे जगत् का हितकारी अग्नि देवता हमारी रक्षा के लिये स्तोमरूप वाहन के द्वारा दूर देश से यहाँ आवे। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, वैश्वानर की प्रीति के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, वैश्वानर की तुष्टि के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ८ ॥

गायत्री। वैश्वानरोऽग्निर्नोऽस्मान् ऊतये अवनाय पालनाय परावतो दूरदेशाद् आप्रयातु आगच्छतु। यो हि पालनाय दूरादागच्छेत्, स समीपादप्यागच्छेदेवेत्यभिप्रायः। केन आप्रयातु? तदुच्यते—उक्थेनेति। उक्थेन स्तोमेन वाहसा वाहनेन वाहनभूतेनोक्थेनाप्रयात्वित्यर्थः, [1]'वाहिष्ठो वाहनानां स्तोमो दूतो हुतं नरा' इति श्रुत्यन्तरे स्तोमस्य वाहनत्वश्रवणात्। उपयामेत्यादिकं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—वैश्वानरः परमेश्वरः, नोऽस्माकं भक्तानामूतये पालनाय कार्यसाधनाय परावतो दूरदेशादपि आप्रयातु। परमेश्वरस्य सर्वव्यापकत्वेऽपि भक्तानुग्रहार्थं धृतविग्रहस्य सुदूरवर्तिनामपि भक्तानां पालनाय दूरं गतस्यापि समागमनं सम्भवति, किमुत समीपवर्तिन इति भावः। स चाग्निरग्निवत्पापनाशकः। उक्थेन स्तोमेन वाहसा वाहनेन यातु, शीघ्रमिति शेषः। भगवतो वाहनस्य गरुडस्य छन्दोमयत्वं प्रसिद्धमेव। हे पूजोपकरण, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। वैश्वानराय त्वां गृह्णामि। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्, वैश्वानराय त्वा सादयामि।

दयानन्दस्तु—'यथा वैश्वानरः परावतो न ऊतये आप्रयातु, तथाग्निरुक्थेन वाहसा सहाप्नोतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यस्य कस्यचित् सर्वेषां रक्षणाय दूरादागमनं न सम्भवति, तदागमनात् प्रागेव रक्षणीयविनाशसम्भवात्। न वा तस्य उक्थेन वाहनेनागमनं सम्भवति, उक्थपदस्य प्रशस्तार्थतापरत्वे मानाभावात्। तस्माद्देवविशेषः परमेश्वर एव वा वैश्वानरपदार्थ इति मन्तव्यम्, तत्रैव विशेषणानां सामञ्जस्यात् ॥ ८ ॥

अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम्। उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चस एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—जो अग्निदेवता प्रकाशक मन्त्रद्रष्टा पवित्रतम सकल मनुष्यों का हितकारी है, यज्ञ में हितकारी होने से हम उसे यहाँ आगे स्थापित करते हैं। उस महती स्तुति वाले की प्रार्थना करते हैं। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, तेजोरूप अग्नि की तुष्टि के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, तेजोयुक्त अग्नि के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ९ ॥

अग्निदेवत्या गायत्री वसिष्ठभरद्वाजदृष्टा पुरोरुक् पुरोऽनुवाक्या। योऽग्निर्ऋषिर्मन्त्राणां द्रष्टा, पवमानः पवत इतस्ततो गच्छतीति पवमानः, 'पूङ् पवने'। यद्वा पवते पवित्रयति शोधयतीति पवमानः, पाञ्चजन्यः

---

१. नेदानीं श्रुतिरियमुपलभ्यते।

चत्वारो वर्णा निषादपञ्चमाः पञ्चजनाः, तेषां यज्ञाधिकारात्, तेभ्यो हितः पाञ्चजन्यः, 'पञ्चजनादुपसंख्यानम्' (पा० सू० ४।३।५८, वा० १) इति ञ्यः प्रत्ययः। पञ्चजनानामेवाधिकारः शास्त्रबलाद् यज्ञेषु लभ्यते। तथाहि—ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशामुपनयनपूर्वकवेदाधिकाराद् यथायोग्यमधिकारिता। शूद्राणामनुपनीतानां च पाकयज्ञाधिकारः। 'तया निषादस्थपतिं याजयेत्' (मै० सं० २।२।४) इतीष्टिविशेषे निषादस्याप्यधिकारः, शास्त्रदृष्टीनां शास्त्रवचनादेव प्रवृत्तिनिवृत्त्योः सम्भवात्। यश्च पुरोहितः पुरो दधाति यज्ञं कुर्वाणो यं सः, अथवा पुरोऽग्रे हितः स्थापितो वा, तं तादृशं महागयं महान् गयो गातुं योग्या कीर्तिः स्तुतिर्वा यस्य स महागयः, तम्। महान्तं गृहरूपं वा, 'गय इति गृहनाम' (निघ० ३।४।१), महत्त्वं च गृहस्य द्रव्यनिबन्धनम्। अग्निमभीष्टं याचामहे। उपयामेत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—यश्चाग्निरग्रणीर्ऋषिरतीन्द्रियदर्शी पवमानः पवित्रकारकः, यश्च पाञ्चजन्यः सर्वजनहितैषी, पुरोहितः सर्वेषु कार्येषु पुरोहितवत् पूज्यः, तं महागयं महागृहं संसारगृहिणं संसारगृहपतिं परमेश्वरमीमहे याचामहे संसारसागरोत्तरणाय। हे अग्ने, त्वमुपयामेन प्रेम्णा गृहीतोऽसि। अग्नये वर्चसे तेजोरूपाय त्वा त्वां गृह्णामि समाश्रये। एष मे आत्मा ते योनिर्निवासस्थानम्, तत्र त्वा सादयामि स्थापयामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः पाञ्चजन्यः पुरोहितः पवमान ऋषिरग्निरस्ति, तं महागयं यथा वयमीमहे तथा त्वं वर्चसेऽग्नये उपयामगृहीतोऽसि। यस्यैष ते योनिर्वर्चसेऽग्नयेऽस्ति, तं त्वा वयमीमहे, तथैतं यूयमपीहध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एकस्य मनुष्यविशेषस्य पाञ्चजन्यत्वाद्यनुपपत्तेः, गौणार्थकल्पनाया निर्मूलत्वात्। न च तत्राग्नित्वाद्युपपत्तिः, सर्वपञ्चजनसाधुत्वमपि तत्र नोपपद्यते, मनुष्यविशेषतारतम्यसमाप्त्यसम्भवात् ॥ ९ ॥

महाँ२॥ इन्द्रो वज्रहस्तः षोडशी शर्म यच्छतु। हन्तु पाप्मानं योऽस्मान् द्वेष्टि। उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—श्रेष्ठ वज्रधारी पाँच प्राण, दस इन्द्रिय और एक मन—इस प्रकार १६ पदार्थों से युक्त लिंगशरीर वाला, अथवा परिपूर्ण आत्मस्वरूप परम ऐश्वर्यवान् इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें। उस पापी को नष्ट करें, जो हमारे प्रति द्वेष करता है। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। महेन्द्र की प्रीति के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है, महेन्द्र की पुष्टि के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ १० ॥

महेन्द्रदेवत्या गायत्री वशिष्ठदृष्टा पुरोरुक्। इन्द्रः शर्म सुखं यच्छतु ददातु। योऽस्मान् द्वेष्टि तं पाप्मानं पापिष्ठं हन्तु विनाशयतु। यद्वा अस्मद्द्वेष्टारं पाप्मानं पापं ब्रह्महत्यादिकं च हन्तु। 'अस्त्री पङ्कं पुमान् पाप्मा' (अ० को० १।४।२३) इत्यमरः। कीदृश इन्द्रः? महान् सर्वश्रेष्ठः, वज्रहस्तो वज्रं हस्ते यस्य सः, षोडशी पञ्च प्राणा दशेन्द्रियाणि मनश्चेति षोडशपदार्था लिङ्गशरीररूपा यस्य सः। यद्वा षोडशकलादिरूपाणि यस्मिन् स षोडशी, आत्मस्वरूप इत्यर्थः। योऽस्मान् द्वेष्टि तं पाप्मानं हन्तु। उपयामेत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरः शर्म सुखं लौकिकं मोक्षरूपं वा यच्छतु। स महान् ब्रह्मरूपत्वाद् निरतिशयमहत्त्वोपेतः। वज्रहस्तः, वज्रश्चक्रादिरूपो हस्ते यस्य सः। षोडश कला यस्मिन् अध्यस्ता सः। यः संसाररूपः पाप्मा नो द्वेष्टि तं पाप्मानं हन्तु, अज्ञानतत्कार्यरूपं संसारं हन्तु निवर्तयतु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वज्रहस्तः षोडशी महानिन्द्रः शर्म यच्छतु, योऽस्मान् द्वेष्टि तं पाप्मानं हन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लौकिकस्य राज्ञो वज्रहस्तत्वाभावात्। षोडशकलत्वमपि न तत्राव्यभिचारि, सर्वस्यैव जीवस्य तद्वत्त्वात् ॥ १० ॥

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—अपने बल से शत्रुओं को जीतने वाले, दर्शनीय स्वरूप, स्थिति हेतु अन्न से प्रसन्न होने वाले ऐश्वर्यवान् परमात्मा को स्तुति रूप पवित्र वाणियों से हम सब प्रकार से उसी प्रकार प्रणाम करते हैं, जैसे कि चरने को गई गायें अपने बछड़ों को हुँभारव से बुलाती हैं ॥ ११ ॥

इन्द्रदेवत्या पथ्याबृहती नोधागोतमदृष्टा जपस्वाध्यायादिषु विनियुक्ता । आदित्ययाज्ञवल्क्ययोरार्षम् आ अध्यायपरिसमाप्तेः । हे यजमानाः, तमिन्द्रं गीर्भिः स्तुतिलक्षणाभिर्नवामहे अभिष्टुमः, 'णु स्तुतौ' व्यत्ययेन शपो लुग् न । कीदृशमिन्द्रम् ? वो युष्मभ्यं दस्मं दर्शनीयं प्रियदर्शनं कार्यसाधकं च, 'इषियुधीन्धिदसिश्या-धूसूभ्यो मक्' (उ० १।१४५) इति दसेर्मक्प्रत्ययः । 'दस दर्शने' चुरादिः । पुनः कथम्भूतम् ? ऋतीषहम् अरणम्, ऋतिः 'ऋ गतौ' इत्यस्मात् क्तिन्प्रत्यये ऋतिर्गतिः, तया शत्रून् सहतेऽभिभवतीति ऋतिषाट्, संहितायां तु 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (पा० सू० ६।३।११६) इति दीर्घः । ऋतीषहम् 'सहेः पृतनर्ताभ्यां च' (पा० सू० ८।३।१०९) इत्यत्र सहेरिति योगविभागान्मूर्धन्यादेशः । अवग्रहे तु ऋतिसहमित्येव । वसोः वासयितुः सोमस्य स्वकीयेनैकदेशेन मन्दानं माद्यन्तम्, अन्धसोऽन्नस्य स्वकीयेनैवांशेन माद्यन्तम् । यद्वा तृतीयार्थे षष्ठी । वसोरन्धसो वसुना अन्धसा वासयित्रा स्थितिहेतुभूतेनान्धसा अन्नेन मन्दानं मोदमानम् । 'मदि स्तुति-मोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' इति धातोः शानचि शपो लुकि रूपम् । कथमिव नवामहे ? तत्राह—अभिवत्सं न स्वसरेषु धेनव इति । नकार उपमार्थीयः । स्वसरेषु स्वयमेव सरन्ति किरणा येषु तानि स्वसराण्यहानि, तेषु अभि आभिमुख्येन यथा धेनवो नवप्रसूता गावो अतिहार्दात् स्नेहातिशयाद् वत्सं शब्दैराश्वासयेयुः, एवं वयमप्यतिसौहार्देन इन्द्रं गीर्भिर्नवामह इति ।

अध्यात्मपक्षे—तं वेदादिशास्त्रप्रसिद्धमिन्द्रं परमात्मानं वयं गीर्भिर्नवामहे । कीदृशम् ? वो युष्माकं दस्मं दर्शनीयम्, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० उ० २।४।५) इति श्रुतेः । ऋतीषहम् ऋत्या ज्ञानेन अज्ञाना-हङ्कारादिशत्रून् सहतेऽभिभवतीति तम् । वसोरन्धसा वसुना स्थितिभूतेनान्धसा अन्नेन मन्दानं मोदमानम्, सर्वं मोदयन्तं हर्षयन्तम्, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) इति श्रुतेः । कथमिव नवामह इति तत्राह—अभिवत्सं न स्वसरेषु धेनव इति । स्वसरेषु दिवसेषु धेनवो नवप्रसूता गावो अभिवत्समिव यथा ता आभिमुख्येन स्नेहाति-शयेन वत्सं शब्दैराश्वासयन्ति, तथा वयं सौहार्दातिशयेन भगवन्तं गीर्भिर्नवामहे ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वयं स्वसरेषु धेनवो वत्सं न यं दस्मंमृतीषहं वसोरन्धसो मन्दानमिन्द्रं वो गीर्भिरभिनवामहे, तथा तं भवन्तोऽपि सदा प्रीतिभावेन स्तुवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजस्तुतौ ब्रह्मपरस्य वेदस्य पर्यवसानायोगात् । न च राज्ञो दुःखक्षयित्वमपि सम्भवति, तेन रक्ष्यमाणस्यापि मरणादिदुःखदर्शनात् । गतिसहत्वं तु न तदव्यभिचारि, तस्य प्रजास्वपि सम्भवात् । धनेनान्धसा आनन्दवत्त्वमपि तादृशमेव, तस्यान्यत्रापि सत्त्वात् ॥ ११ ॥

यद्वाहिंष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो । महिंषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—इच्छित पदार्थ को प्राप्त कराने वाले बृहत्साम का गान अग्निदेव की तुष्टि के लिये किया जाता है । सामगान से प्रत्यक्ष हुए अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि हे ज्योतिर्मय अग्निदेव आपसे उसी प्रकार धन प्राप्त होता है, अन्न प्राप्त होता है, जैसे कि पटरानी पति को भोग पदार्थ देती है ॥ १२ ॥

अग्निदेवत्यानुष्टुप्, वसूयोरार्षम्। हे उद्गातः, यद् वाहिष्ठमतिशयेन वाहयितृ इति विग्रहे 'तुच्छन्दसि' (पा० सू० ५।३।५९) इति इष्ठनि, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृशब्दस्य लोपे वाहिष्ठमिति रूपम्, वोड्ढृतमम्। साम अग्नये अग्न्यर्थमर्च गाय, अग्न्यर्थं बृहत्सामगानं कुरु। वाहयति प्रापयत्यभीष्टमिति वाहयितृ। किञ्च, बृहत्सामगानेन अग्निं प्रत्यक्षीकृत्य ब्रूहि। हे विभावसो, विभा कान्तिरेव वसु धनं यस्यासौ विभावसुस्तत्सम्बुद्धौ, हे अग्ने, महिषीव त्वद्रयिः, महिषी प्रथमपरिणीता धर्मार्थकामात्मिका, सा यथा उदीर्ते उत्तिष्ठते सुखात्मिका भवति, एवं त्वद्रयिः सुखात्मिका उदीर्ते उत्तिष्ठते, वाजाश्च उदीरते उत्तिष्ठन्ते। अथवा महिषी यथा सर्वान् भोगान् उदीर्ते उत्क्षिपति परोपकाराय, एवं त्वत्तो रयिरुदीर्ते त्वत्तश्च वाजा अन्नानि उदीरते उद्गच्छन्ति परोपकाराय। 'ईर गतौ कम्पने च' लट्, आदादित्वात् शपो लुक्, 'अदभ्यस्तात्' (पा० सू० ७।१।४) इति झस्य अदादेशः। यद्वा रयिर्धनम्, वाजा अन्नानि त्वत्तः सकाशादुदीरते उद्गच्छन्ति भक्तेभ्यो हिताय। यथा प्रथमपरिणीता पत्नी भोगार्थं पतिमुदीर्ते उद्गच्छति, तद्वत्। अस्मिन् पक्षे एकं त्वपदं पादपूरणार्थम्।

अध्यात्मपक्षे हे उद्गातः, अग्नये सर्वपापदाहकाय स्वरूपप्रकाशकाय परमात्मने वाहिष्ठं वोड्ढृतमं बृहत्साम अर्च गाय। एवमुद्गातारमुक्त्वा अग्निमाह—हे विभावसो, विभा प्रज्ञानं धनं यस्य तत्सम्बुद्धौ, प्रज्ञानं धनं त्वत् त्वत्तो रयिर्ज्ञानवैराग्यादिधनं उदीर्ते, त्वत् त्वत्तश्च वाजा अन्नानि स्वरूपसुखभोगा वा उदीरते भक्तानां हितायोद्गच्छन्ति। कथमिव ? महिषीव प्रथमपरिणीता पत्नीव। सा यथौत्सुक्येन पतिं प्रति उदीर्ते उद्गच्छति, तद्वत्।

दयानन्दस्तु—'हे विभावसो, अग्नये यद् बृहद् वाहिष्ठमस्ति तदर्च, तद्वयमप्यर्चेम। महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजाश्चोदीरते तं वयं सत्कुर्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दृष्टान्तासिद्धेः। नहि राज्ञ्याः समेषां सुखप्रापकत्वं धनप्रदत्वं वा प्रसिद्धम्, राज्ञा समानयोगक्षेमत्वात्। किं तद्वाहिष्ठं बृहद्यदग्नयेऽर्चनीयमित्यस्यास्पष्टत्वात्। सत्कारकरणस्य चर्चापि मन्त्रे नास्तीति वृथैव तदुपढौकनम्॥ १२॥

एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्धास इन्दुभिः॥ १३॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप भली प्रकार यहाँ आइये। मैं अपनी वाणी से भली प्रकार से आपकी स्तुति करता हूँ। इस सोम रस का पान कर आप वृद्धि को प्राप्त कीजिये॥ १३॥

आग्नेयी गायत्री भरद्वाजदृष्टा। हे अग्ने, त्वमेहि आगच्छ। उः पादपूरणः। 'इकः सुञि' (पा० सू० ६।३।१३४) इति संहितायां दीर्घः। हे भगवन्नग्ने, इत्था इत्थमनेन प्रकारेण त्वदीयैर्नामबन्धकर्मरूपैर्ग्रथिता इतराः स्तुतिलक्षणा गिरस्ते तव सुब्रवाणि साधु ब्रवाणि। यद्वा—इत्थमुद्गातृस्तोत्रजनिता इतरा गिरो या गीयन्ते तास्तु सुब्रवाणीति सुतरां वदानि। किञ्च, एभिरिन्दुभिरध्वर्युणाऽभिषुतैः सोमैस्त्वं वर्धासे वर्धस्व।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन्, एहि आगच्छ। आगमने हेतुमाह—इत्था इत्थं त्वदीयगुणकर्मनामोपबृंहिता इतरा असाधारणीः स्तुतिलक्षणा गिरः सुब्रवाणि साधु ब्रवाणि, तादृशीभिर्गीर्भिरध्वर्युणाऽभिषुतैरिन्दुभिः सोमैश्च त्वं वर्धासे वर्धस्व।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, अहमित्था त इतरा गिरः सुब्रवाणि यतस्त्वमेता एहि। उ एभिरिन्दुभिर्वर्धासे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्याग्निपदार्थत्यागस्य निर्मूलत्वात्। नहि प्रकाशितप्रज्ञस्य अज्ञाता वाचः सम्भवन्ति, न वा तस्योपदेशो युक्तः, प्रकाशितप्रज्ञस्य कृते तन्नैरर्थक्यात्॥ १३॥

ऋतवस्ते यज्ञं वितन्वन्तु मासा रक्षन्तु ते हविः ।
संवत्सरस्ते यज्ञं दधातु नः प्रजां च परिपातु नः ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, सब ऋतुएँ आपके इस यज्ञ को विस्तीर्ण करें, सभी महीने आपके पुरोडाश आदि की रक्षा करें। संवत्सर की अधिष्ठात्री देवताएँ आपके और हमारे लिये यज्ञ को पुष्ट करें एवं हमारी सन्तति की रक्षा करें ॥ १४ ॥

अग्निदेवत्या बृहती एकवर्णाधिकपादा, 'नवकाष्टैकादशाष्टिनो विषमपदा चतुर्नवका बृहत्येव' इति भगवत्कात्यायनवचनात् । हे अग्ने, ऋतव ऋतूपलक्षिताः कालविशेषाः, ते तव यज्ञं वितन्वन्तु विस्तारयन्तु । मासाश्चैत्राद्यधिष्ठातारः, ते तव हविश्चरुपुरोडाशादिकं रक्षन्तु । संवत्सरः संवत्सराधिष्ठाता देवः, ते तुभ्यं त्वदर्थं नोऽस्माकं यज्ञं दधातु पुष्णातु । स एव संवत्सरो नोऽस्माकं प्रजां च पुत्रादिलक्षणां परिपातु ।

अध्यात्मपक्षे –हे अग्ने, ऋतव ऋतुदेवतास्ते तव यज्ञं त्वत्कर्मकं यजनं वितन्वन्तु । मासाश्चैत्रादयो हविस्ते तव रक्षन्तु । संवत्सरात्मा हिरण्यगर्भस्ते तव यज्ञं दधातु पुष्णातु प्रजां च परिपातु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वंस्ते यज्ञमृतवो वितन्वन्तु । ते हविर्मासा रक्षन्तु । यज्ञं ते संवत्सरो दधातु, प्रजां च परिपातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऋतूनां मासानां संवत्सरस्य च कथं व्यवहारः ? यज्ञस्य च कथं विस्तारः ? कथं वा हविषो वर्धनम् ? पोषणं च कथमित्याद्यनुक्तेः । कालादीनां कार्यमात्रं प्रति साधारणकारणत्वेन एषोक्तिश्चेत्, तथा सति प्रार्थनानुपपत्तिः ॥ १४ ॥

उपह्वरे गिरीणाᳬं सङ्गमे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—पर्वतों के निकट, अर्थात् ऋषीकेश आदि पवित्र स्थानों के समीप और नदियों के संगम, अर्थात् गंगा-सागर आदि पवित्र स्थानों में अपने अपने साधन और बुद्धि के प्रभाव के अनुसार विप्रत्व अथवा ब्रह्मत्व प्राप्त किया जाता है ॥ १५ ॥

सोमदेवत्या गायत्री वत्सदृष्टा । गिरीणां पर्वतानामुपह्वरे निकटे, नदीनां गङ्गादीनां च सङ्गमे, विप्रो मेधावी सोमः, अजायत उत्पन्नः । केन प्रकारेण अजायत ? तत्राह—धिया, विप्रादयो मया यज्ञं करिष्यन्तीति बुद्ध्या, विचार्येति शेषः । अथवा एकाहाहीनसत्राणि मया क्रियन्तामित्यनया धिया विप्रो मेधावी सोमो जगद् धारयितुमिच्छन् अजायतेति । सोमश्चन्द्रोऽपि तद्रूप एवेति तस्य विप्रत्वम्, 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳬं राजा' (वा० सं० १०।१८) इति मन्त्रवर्णात् । लतारूपस्य सोमस्यापि तदधिष्ठातुश्चन्द्रमसश्चेतनत्वेन विप्रत्वं मेधावित्वं वा, जडमात्रे तदसम्भवात् ।

अध्यात्मपक्षे—गिरीणामुपह्वरे नदीनां च सङ्गमे धिया ब्रह्मानुसन्दधानो विप्रो मेधावी ब्रह्मसाक्षात्कारवान् जायते ।

दयानन्दस्तु—'यो मनुष्यो गिरीणामुपह्वरे नदीनां च सङ्गमे योगेनेश्वरं विचारेण विद्यां चोपासीत, स धिया विप्रोऽजायत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथाध्याहारस्य निर्मूलत्वात् ॥ १५ ॥

उच्चा ते जातमन्धसो दिविसद् भूम्याददे । उग्रᳬं शर्म महि श्रवः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ हे सोम, तुम्हारे रसरूप अन्न से वेदी रूप उच्च भूमि के द्वारा उत्पन्न हुए स्वर्ग में विद्यमान उत्तम सुख और महान् कीर्तिरूपी धन को मैं ग्रहण करता हूँ ॥ १६ ॥

सोमदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्य आमहीयवदृष्टाः। हे सोम, ते तव अन्धसोऽन्नाद् रसरूपाज्जातमुत्पन्नं यज्ञपरिणामभूतमदृष्टमपूर्वं वा उच्चा उच्चैर्दिविसद् द्युलोके देवादिदेहरूपेण विद्यमानं भूम्या भूमिः, विभक्तेराकारादेशः, छान्दसो वा विसर्गलोपः, ततः सन्धिः, आददे गृहीतवती। किं तद् यद् द्युलोकं प्राप्तं भूमिराददे, तदाह—उग्रम् उद्गूर्णं महाचौरादिभिरप्यनाधृष्यम्, अदृष्टत्वादेव शर्म शरणं गृहं पुण्यादिरूपमदृष्टमेव प्राणिनां शरणम्, महिश्रवो महच्च श्रवणीयं च तद् धनम्, शास्त्रसंस्तुतत्वात्। पञ्चाहुतिपरिणामोद्घाटनमेतत्। यथाऽऽहुतिः प्रथमं दिवि गच्छति, ततोऽन्तरिक्षे जलरूपेण, ततो भूमावन्नरूपेण, ततो नरे रेतोरूपेण, ततो भार्याया योनौ पुरुषरूपेण। 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति छान्दोग्यश्रुतिः।

अध्यात्मपक्षे– अयमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्नहं ते यदुच्चान्धसो जातं दिविसदुग्रं महिश्रवः शर्माददे, तद् भूमीव भवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अन्धसो जातस्य गृहस्याप्रसिद्धत्वात्। 'दिवि प्रकाशे वर्तमानम्' इत्यपि यत्किञ्चित्, दिवसे सामान्यगृहस्यापि विद्यमानत्वात्। महत्त्वं प्रशस्तत्वं च प्रशस्तितुल्यमेव ॥ १६ ॥

स न॒ इन्द्रा॑य॒ यज्य॑वे॒ वरु॑णाय म॒रुद्भ्यः॑। व॒रि॒वो॒वित् परि॑स्रव ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, आप कीर्तिरूप धन के दाता अथवा प्राप्त कराने वाले हैं। आप यजनयोग्य इन्द्र के निमित्त, वरुण के निमित्त और मरुद्गणों की तृप्ति के लिये रस रूप होकर आहुति भाव को प्राप्त कीजिये ॥ १७ ॥

हे सोम, यस्त्वं वरिवोविद् वरिवो धनं विन्दति वेत्ति वेति वरिवोदाः, 'वरिव इति धननामसु' (निघ० २।१०।५), धनस्य लब्धा वेदिता वा स नः सोऽस्माकम्, यज्ञमिति शेषः। यज्यवे यष्टुं योग्यो यज्युः, 'यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्' (उ० ३।२०) इति रूपसिद्धिः, तस्मै इन्द्राय देवराजाय वरुणाय जलाधिराजाय मरुद्भ्यश्चार्थाय परिस्रव रक्ष। यद्वा विभक्तिव्यत्ययेन वरिवोविदिति इन्द्रादीनां विशेषणम्। वरिवोविद इन्द्राय वरिवोविदे वरुणाय वरिवोविद्भ्यो मरुद्भ्यो यज्ञं परिस्रव रक्ष। क्रियाविशेषणं वा, एतेभ्यो देवेभ्यो यथा वरिवोविद्भवति, तथा परिस्रवेति। यद्वा हे सोम, स त्वं नोऽस्माकं परिस्रव परितः क्षर। रसरूपो भूत्वाऽऽहुतित्वमेहि। किमर्थमिति चेत्, इन्द्राय वरुणाय मरुद्भ्यश्च। कीदृशाय ? यज्यवे, यष्टुं योग्याय इन्द्राय यज्यवे वरुणाय यज्युभ्यो मरुद्भ्यश्चेति त्रयाणां विशेषणम्। कीदृशस्त्वम् ? वरिवोवित्, धनस्य ज्ञाता प्रापकश्चेति।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, उमया सहित शिव ! श्रेयःस्तुतिस्वरूप ! त्वं यष्टुं योग्येभ्य इन्द्रादिभ्यस्तदभीष्टं रसं परिस्रव क्षर। कीदृशस्त्वम् ? वारिवोवित्, लौकिकं मणिरत्नसुवर्णादिकमलौकिकं धर्मब्रह्मज्ञानवैराग्यादिकं धनं वेत्सि जानासि विन्दसि प्राप्नोसि च।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, मरुद्भ्यो न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय वरिवोवित् संस्त्वं परिस्रव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, मरुदिन्द्रादिपदानां मनुष्याद्यर्थकत्वस्य च निर्मूलत्वात्, इन्द्रपदस्य ऐश्वर्यवदर्थकत्वेऽप्यैश्वर्यार्थकत्वायोगात्। तथैव यज्युपदस्याप्यर्थश्चिन्त्यः ॥ १७ ॥

एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् । सिषासन्तो वनामहे ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे देवेश स्वामिन्, आप सभी मनुष्यों को धन और यश का भागी बनाइये । दान करने वाले हम यजमान सोम के दिये हुए धन-धान्य आदि का सम्यक् उपभोग करें ॥ १८ ॥

अर्यः स्वामी, ईश्वरः सोमः, एना एनानि, विश्वानि सर्वाणि, मानुषाणां मनुष्याणां द्युम्नानि धनानि यशांसि वा आ आदाय अस्मभ्यं ददात्विति शेषः । तानि च सोमदत्तानि द्युम्नानि सिषासन्तः सनितुं दातुमिच्छन्तः, सनेः सन्नन्तात् शता, 'जनसनखनां सञ्झलोः' (पा० सू० ६।४।४२) इत्यात्वम्, 'सन्यतः' (पा० सू० ७।४।७९) इत्यभ्यासस्येकारः, वनामहे वयं द्युम्नानि सम्भुञ्महे सम्भजामहे वा, दानं कुर्वाणा धनभाजः स्यामेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—अयमीश्वरः, एना एनानि, मानुषाणां विश्वानि सर्वाणि द्युम्नानि धनानि आदाय अस्मभ्यं प्रयच्छतु । तानि च सिषासन्तो दातुमिच्छन्तो दानायाभिमुखीभूता वयं यज्ञदानादिभिर्वनामहे भजामहे, परमेश्वरमिति शेषः ।

दयानन्दस्तु—'यो यो मानुषाणामेना विश्वानि द्युम्नानि प्रदीप्तानि यशांसि शास्ति, तं सिषासन्तः सेवितुमिच्छन्तः, वयं सुखान्यावनामहे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारमूलत्वात् । 'शास्ति-सुखानि' इति पदे मूले न स्तः । अन्यथा मानुषाणामार्यब्रुवाणां द्युम्नान्यादायास्मभ्यं प्रयच्छत्वित्यपि किं न स्यात् ॥ १८ ॥

अनु वीरैरनु पुष्यास्म गोभिरन्वश्वैरनु सर्वेण पुष्टैः ।
अनु द्विपदानु चतुष्पदा वयं देवा नो यज्ञमृतुथा नयन्तु ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हम वीर पुत्रों से, गायों से, अश्वों से, सब कामनाओं से, गृह आदि से, दास आदि से और चौपायों से सब प्रकार से पुष्ट हों । हर समय देवता हमारे यज्ञ को सम्पन्न कराने के लिये तत्पर हों ॥ १९ ॥

आशीरियं देवदेवत्या त्रिष्टुप्, मुद्गलदृष्टा । वयं वीरैः पुत्रैः, अनु पुष्यास्म पुष्टा भूयास्म । पुषेराशीर्लिङि उत्तमबहुवचने रूपम् । गोभिर्धेनुभिरनु पुष्यास्म, अश्वैरनु पुष्यास्म, सर्वेणान्येनापि कामेन अनु पुष्यास्म । उपसर्गावृत्त्या क्रियावृत्तिः । पुष्टैः सर्वैः पदार्थैर्गृहादिभिः पुष्यास्म । यद्वा अनु सर्वेण पुष्टैः, अत्र वचनव्यत्ययः, सर्वैः पुष्टैर्गृहादिभिरनु पुष्यास्म, पुष्टा भूयास्मेत्यर्थः । द्विपदा द्वौ पादौ यस्य स द्विपात्, 'संख्यासुपूर्वस्य' (पा० सू० ५।४।१४०) इत्यकारलोपः । तेन द्विपदा 'पादः पत्' (पा० सू० ६।४।१३०) इति पदादेशे रूपम् । मनुष्येण दासादिना चतुष्पदा गजाश्वादिना चानु पुष्यास्म । किञ्च, देवा नोऽस्माकं यज्ञम् ऋतुथा ऋतौ ऋतौ काले काले नयन्तु प्रापयन्तु प्राप्नुवन्तु ।

अध्यात्मपक्षे हे परमेश्वर, भवत्कृपया वयं वीरैर्धर्मनिष्ठैर्भगवद्भक्तैः पुत्रैस्त्वत्सेवोपयोगिभिर्गोभिरश्वैः सर्वैः पुष्टैरनु पुष्यास्म पुष्टा भूयास्म । नोऽस्माकं यज्ञमर्चनं ऋतुथा काले काले देवा नयन्तु प्रापयन्तु, भगवदुपासने देवानामनुग्रहस्योपकारकत्वात् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा वयं पुष्टैर्वीरैरनु पुष्यास्म, पुष्टैर्गोभिरनु पुष्यास्म, पुष्टैरश्वैरनु पुष्यास्म, सर्वेणानु पुष्यास्म, द्विपदानु पुष्यास्म, चतुष्पदाऽनु पुष्यास्म, तथा देवा नो यज्ञमृतुथा नयन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असामञ्जस्यात् । तथाहि अत्र यज्ञपदेन धर्म्यव्यवहारो गृहीतः । तस्य विद्वत्कर्तृकं कथं नयनम् ? धर्म्यस्य अधर्म्यस्य वा व्यवहारस्य व्यवहर्तृसाध्यत्वेन तत्र देवानपेक्षणात् । ज्ञाने विदुषामपेक्षणेऽपि व्यवहारे तेषामन्यथासिद्धत्वात् ॥ १९ ॥

अग्ने पत्नीरिहावह देवानामुशतीरुप । त्वष्टारꣳ सोमपीतये ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप देवताओं की हवि की इच्छा रखने वाली पत्नियों को और त्वष्टा देवता को सोमपान के निमित्त हमारे इस यज्ञ में बुलाइये ॥ २० ॥

अग्निदेवत्या गायत्री मेधातिथिदृष्टा । इत उत्तरं पञ्च याज्या अग्निष्टोमे नेष्टुः । तत्र आद्या प्रातःसवने नेष्टृचमसयागे प्रयुज्यते । हे अग्ने, देवानां पत्नीः, इह यागे त्वमुपावह आगमय । कथम्भूतास्ताः ? उशतीर्हविः कामयमानाः, वशेः शत्रन्तात् 'उगितश्च' (पा० सू० ४।१।६) इति ङीप् । त्वष्टारं देवं च उपावह । किमर्थम् ? सोमपीतये, पीतिः पानम्, सोमस्य पीतिः सोमपीतिस्तस्यै सोमस्य पानाय ।

अध्यात्मपक्षे हे अग्ने, कृष्ण परमेश्वर ! देवानामिन्द्रादीनां पत्नीः शक्तिरूपा उपावह स्वसमीपमानय । कीदृशीस्ताः ? उशतीः परमेश्वरप्रीतिं कामयमानाः । त्वष्टारं देवं च उपावह । किमर्थम् ? सोमपीतये सोमस्य त्वदीयस्वरूपसौन्दर्यमाधुर्यामृतस्य वा पीतये पानाय । देवा इन्द्रियाधिष्ठातारः, तत्पत्न्यश्चेन्द्रियशक्तयः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वमिह स्वसदृशान् पतीनुशतीः कामयमाना देवानां पत्नीः सोमपीतये त्वष्टारं देदीप्यमानमुपावह' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पत्नीनां पत्यन्तरकामनाया धर्मविरुद्धत्वात्, त्वष्टृपदस्य देदीप्यमानपतिबोधकत्वे बहुवचनस्य प्रयोक्तव्यत्वात्, पत्नीपदस्थाने कन्यापदस्य प्रयोक्तव्यत्वापाताच्च ॥ २० ॥

अभि यज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्टः पिब ऋतुना । त्वꣳ हि रत्नधा असि ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे पत्नीयुक्त नेष्टा नामक अग्निदेव, आप हमारे यज्ञ की सराहना कीजिये, ऋतु देवता के साथ सोमपान कीजिये, क्योंकि आप रमणीय धन को धारण करने वाले हैं ॥ २१ ॥

ऋतुदेवत्ये गायत्र्यौ मेधातिथिदृष्टे । ऋतुयागे नेष्टुर्याज्ये । नेष्टा स्वकीयामधिष्ठात्रीं देवतां ब्रवीति । हे ग्नावः, गमयन्ति प्रापयन्ति धर्मं पतिमिति ग्नाः पत्न्यः । गमिधातोरौणादिको नप्रत्ययः, टिलोपः । ग्नाः सन्ति यस्यासौ ग्नावान्, तत्सम्बुद्धौ हे ग्नावः, 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इत्यलोऽन्त्यपरिभाषामहिम्ना नकारस्य रुः, तस्य च विसर्गः । हे नेष्टः, नोऽस्माकं यज्ञमभिगृणीहि स्तुहि । 'गॄ शब्दे' क्र्यादित्वात् श्ना, 'ई हल्यघोः' (पा० सू० ६।४।११३) इत्याकारस्येकारः, 'प्वादीनां ह्रस्वः' (पा० सू० ७।३।८०) इति ह्रस्वः, गृणीहीति रूपम् । ऋतुना देवेन सह पिब, सोममिति शेषः । हि यस्मात् त्वं रत्नधा असि, रत्नानि दधाति धारयति यजमानायेति रत्नधा, रमणीयधनानां दातेति यावत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे ग्नावः, पत्नीवन् पत्नीवन्तो देवाः, व्यत्ययेनैकवचनम्, यज्ञं परमेश्वरं भगवन्तं श्रीकृष्णमभिगृणीहि अभिगृणीत, आभिमुख्येन स्तुतिं कुरुतेत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे ग्नावः, नेष्टुः स्वमृतुना सह नो यज्ञमभिगृणीहि । यतस्त्वं हि रत्नधा असि, तस्मात् सदोऽवधिरासीनः पिब' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, ऋत्विग्विशेषे प्रसिद्धस्य नेष्टृशब्दस्य नायकार्थत्वायोगात् । नहि शिष्या उत्तमस्यापि स्वव्यवहारस्यैव प्रशंसाकरणार्थं प्रेरयन्ति । यः स्तोता स एवोत्तमरत्नधारक इत्यप्यसङ्गतम्, निर्धनानामपि स्तोतृत्वदर्शनात् ॥ २१ ॥

द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत । नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—धन के दाता अग्निदेव सोमपान करना चाहते हैं। हम उनकी प्रीति के लिये आहुति देते हैं, अनुष्ठान करते हैं। हे अग्निदेव, आप नेष्टा के धिष्ण्य स्थान से ऋतु देवताओं के साथ सोमपान के लिये जाइये ॥ २२ ॥

हे ऋत्विजः, अयमग्निर्द्रविणोदाः, द्रविणो धनं बलं वा ददातीति द्रविणोदाः, द्रविणस्शब्दो धनस्य बलस्य च वाचकः। पिपीषति पातुमिच्छति, सोममिति शेषः। 'पीङ् पाने' दिवादिः। अतो ब्रवीमि—हे ऋत्विजः, यूयं जुहोत जुहुत। प्र च तिष्ठत कर्मसूद्युक्ता भवतेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अयं परमेश्वरो द्रविणोदाः, द्रविणसो धनस्य भौतिकस्य आध्यात्मिकस्य च दाता। पिपीषति प्रेमामृतं पेतुमिच्छति, नान्यत्, पूर्णकामत्वात्। अतः प्रेम्णा जुहोत स्वसर्वस्वं निवेदयत। प्रतिष्ठत तदुपासनासु स्थिरा भवत। ऋतुभिर्देवैः सह नेष्ट्राद् नेष्टुरधिष्ठानं नेष्ट्रम्, वृद्ध्यभाव आर्षः, तस्मान्नेष्टुर्धिष्ण्याद् ऋतुभिर्देवैः सह नेष्ट्रुपलक्षितानां युष्माकं धिष्ण्येभ्यः स्वस्थानेभ्यस्तं प्रति इष्यत आश्रयत्वेन निश्चिनुत।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा द्रविणोदा ऋतुभिः सह नेष्ट्राद्विनयाद् रसं पिपीषति, तथा यूयं रसमिष्यत जुहोत प्रतिष्ठत च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। नेष्ट्रशब्दस्य विनयार्थतापि चिन्त्यैव ॥ २२ ॥

तवायꣳ सोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमꣳ सुमना अस्य पाहि।
अस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर इन्दुमिन्द्र ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव, यह सोम आपके लिये है, आप हमारे सम्मुख आइये। प्रसन्न मन से बहुत काल तक इस सोम की आप रक्षा कीजिये। इस यज्ञ में स्थित होकर इस सोम को आप उदरस्थ कीजिये ॥ २३ ॥

इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप् विश्वामित्रदृष्टा, माध्यन्दिने सवने नेष्टृचमसयागे याज्या। हे इन्द्र, यतस्तवायं माध्यन्दिनीयः सोमोऽस्ति, अतोऽस्माभिः प्रार्थ्यमानोऽर्वाङ् अस्मदभिमुखः, त्वमेहि आगच्छ। एत्य च शश्वत्तमं शाश्वतिकं सर्वकालं सोमं सोमभागं गृहाण। संगृह्य च सुमनाः प्रसन्नचित्तो भूत्वा अस्य सोमस्य इमं सोमम्, कर्मणि षष्ठी, पाहि रक्ष। अस्मिन् यज्ञे बर्हिष्यास्तृतदर्भेषु निषद्यावस्थानं कृत्वा उपविश्य इमं पुरोवर्तिनम् इन्दुं सोमं जठरे उदरे दधिष्व धारयस्व। 'धि धारणे' तौदादिकः, व्यत्ययेन शपः श्लुः, तङ्, अभ्यासेकारस्याकारश्च।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, यतोऽयं सोमः सोमोपलक्षितो निवेदनीयः पदार्थोऽस्ति, अतोऽर्वाङ् अस्मदभिमुखः, त्वमेहि आगच्छ। सुमनाः प्रसन्नमनाः शश्वत्तमस्य सोमस्य इमं सोमं रक्ष। अस्मिन् यज्ञे बर्हिष्यास्तीर्णेषु कुशेषु निषद्य अवस्थाय इममिन्दुं जठरे उदरे दधिष्व धारयस्व, पिब खाद च। परमेश्वरस्य नित्यत्वात् तस्मै देयं भोग्यं सोमादिकमपि प्रवाहरूपेण नित्यमेव।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र विद्वन्, यस्तवायं सोम ऐश्वर्ययोगोऽस्ति, तत्त्वमेहि प्राप्नुहि। सुमना अर्वाङ् सन् अस्य शश्वत्तमं पाहि। अस्मिन् बर्हिषि उत्तमे साधुनि यज्ञे सङ्गन्तव्ये निषद्य जठरे इममिन्दुं चादधिष्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रपदेन गौणार्थग्रहणे बीजाभावात्। सोमपदस्य ऐश्वर्यार्थतापि प्रसिद्धिविरुद्धैव। तस्य च नित्यत्वे प्राप्त्यभिधानं निरर्थकं स्यात्। न च शश्वत्तममिति शब्देन धर्मो गृह्यते, विशेष्यानिर्देशेन विनिगमनाविरहात् ॥ २३ ॥

अमेव नः सुहवा आ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन ।
अथा मदस्व जुजुषाणो अन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—हे देवपत्नियों, आप अपने घर के समान समझ कर हमारे इस यज्ञ में अवश्य आइये। कुशा के आसन पर बैठकर परस्पर वार्तालाप करते हुए प्रसन्नता पूर्वक यहाँ बैठिये। हे त्वष्टादेव, देवपत्नियों के आने पर, हविरूप अन्न का सेवन करने वाले देवता और देवपत्नियों के तृप्त होने पर, आप भी उनके साथ तृप्तिलाभ कीजिये ॥ २४ ॥

त्वष्टृदेवत्या जगती गृत्समददृष्टा, तृतीयसवने नेष्टृचमसयागे याज्या। देवपत्न्यः प्रार्थ्यन्ते। अमाशब्दो गृहवचनः (निघ० ३।४।११)। हे देवपत्न्यः, नोऽस्माकं यज्ञगृहाणि अमेव स्वगृहमिव यूयमागन्तन आगच्छत। गमेर्लोटि मध्यमबहुवचने शपो लुकि रूपम्। हिः पादपूरणः। आगत्य च बर्हिषि दर्भे निषदतन निषीदत उपविशत। निषद्य च रणिष्टन रतिं प्रीतिं कुरुत। अथवा 'रण शब्दे' लुङि रूपम्, अडागमाभावः, परस्परं वार्तां कुरुत। 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति सर्वत्र तनबादेशः। कीदृश्यो देवपत्न्यः ? सुहवाः, सुष्ठु शोभनो हव आह्वानं यासां ताः। अथोपविष्टासु देवपत्नीषु त्वष्टारमाह—हे त्वष्टः, अन्धसः सोमस्य स्वमंशं जुजुषाणः सेवमानः, 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' व्यत्ययेन शानचि शपः श्लुः। कथम्भूतस्त्वम् ? देवेभिर्देवैर्जनिभिर्जननहेतुभूताभिर्देवपत्नीभिः सुमद्गणः, सुष्ठु माद्यन्ति हृष्यन्तीति सुमदः। मदेः क्विप्। सुमदः परमसन्तुष्टा देवगणाः स्त्रीगणाश्च यस्य स सुमद्गणः।

अध्यात्मपक्षे—हे देवपत्न्यः, सुहवाः शोभनाह्वाः, अमेव स्वगृहवत्, नोऽस्माकं यज्ञगृहाणि आगन्तन आगच्छत। बर्हिषि निषदतन निषीदत। रणिष्टन प्रीतिं कुरुत। एवं देवैः सह देवपत्न्यो यज्ञे उपासनारूपे परमेश्वरस्य सौन्दर्यामृतास्वादनाय आगच्छन्ति। त्वष्टा विश्वनिर्माता परमेश्वरस्तमाह—अथागतासु सपतिकासु देवपत्नीष्वन्धसः, अन्धः सोमलक्षणमन्नं जुजुषाणो मदस्व तृप्यस्व। कीदृशस्त्वम् ? देवैस्तदीयाभिर्जनिभिश्च सुमद्गणः सुप्रसन्नगणो देवानां जनीनां च यस्य सः। भक्तानां प्रसादे भगवानपि प्रसीदति। यथा भक्ता भगवन्तं दृष्ट्वा तदीयसौन्दर्यामृतपाने माद्यन्ति, तथैव भगवानपि भक्तानां प्रेमामृतमास्वाद्य माद्यतीति ॥ २४ ॥

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, अत्यन्त स्वादिष्ट अति हर्ष को प्रदान करने वाली धारा के साथ तुम दशापवित्र से द्रोणकलश में आओ, क्योंकि तुम इन्द्र के पान के निमित्त अभिषुत हुए हो ॥ २५ ॥

सौम्यौ पावमान्यौ गायत्र्यौ मधुच्छन्दोदृष्टे जपादिषु विनियुक्ते। उक्तं च—'रसीभूतो यदा सोमः पवित्रात् क्षरति ग्रहम्। ऋग्भिः स्वादिष्ठयाद्याभिः पवमानः स उच्यते ॥' इति। हे सोम, धारया कृत्वा पवस्व दशापवित्राद् द्रोणकलशं प्रति पवस्व गच्छ। कीदृश्या धारया ? स्वादिष्ठया स्वादो विद्यते यस्यां सा स्वादवती, अत्यन्तं स्वादवती स्वादिष्ठा, तया। 'विन्मतोर्लुक्' (पा० सू० ५।३।६५) इति मतुपो लुक्। मदिष्ठया मदयतीति मदयित्री, अतिशयेन मदयित्री मदिष्ठा, तया। 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः। यत इन्द्राय तन्नामकाय देवाय पातवे पातुं त्वं सुतोऽभिषुतोऽस्यस्माभिरतो धारया पवस्व।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, उमया सहित शिव, त्वं सोमरसो भूत्वा इन्द्राय परमैश्वर्यवते भगवते विष्णवे श्रीरामाय श्रीकृष्णाय च स्वादिष्ठया मदिष्ठया धारया पवस्व द्रोणकलशं प्रति गच्छ, यतस्त्वमिन्द्राय भगवते पातवे तस्य पानाय सुतोऽभिषुतोऽस्यस्माभिः। भक्ताः सर्वशेषिणे भगवते स्वात्मानमपि तदुपकरणं कुर्वन्ति, भगवद्भोग्यतां चोपगच्छन्ति। तेन उमया सहितः शिव एव सोमत्वमुपगम्य स्वादिष्ठया मदिष्ठया धारया भगवन्तं तर्पयति। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव ॥ २५ ॥

रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहते । द्रोणे सधस्थमासदत् ॥ २६ ॥

॥ इति षड्विंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—राक्षसों का नाश करने वाले, सभी प्राणियों के शुभ-अशुभ कर्मों को देखने वाले अथवा समस्त ऋत्विक् और यजमानों से युक्त त्वष्टा देव के शस्त्र से संस्कृत द्रोणकलश में स्थित होकर हे सोमरस, तुम इस यज्ञ-स्थान में सबके सम्मुख स्थित रहो ॥ २६ ॥

अयमेव सोमो रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । विश्वचर्षणिर्विश्वं कृषतीति विश्वचर्षणिः, 'कृषेरादेश्च चः' (उ० २।१०६) इत्यनिप्रत्ययः, धातोरादेश्चकारश्च । अथवा विश्वं सर्वं जगच्चष्टे पश्यतीति विश्वचर्षणिः, बाहुलकादनिः, रमागमश्च । सर्वस्य जगतो द्रष्टा । यद्वा विश्वे सर्वे चर्षणयो मनुष्या ऋत्विग्यजमानलक्षणा कण्डनाहरणादिषु प्रवृत्ता यस्य सः । एतादृशः सोमो योनिं स्थानं द्रोणे द्रोणम्, विभक्तिव्यत्ययः, द्रोणकलशरूपं योनिं स्थानमभि आभिमुख्येन आसदत् सीदति । कीदृशे द्रोणे ? अयोहते अयसा कृष्णलोहेन हते उत्कीर्णे, योनि-मित्यनेन सामानाधिकरण्यात् । अयसा कृत्वा वास्या तक्ष्णा सोमभाजनीकृतं द्रोणं तद्रूपं स्थानम्, तथा सधस्थं सह सार्धं तिष्ठन्ति सोमा यत्र स सधस्थः, 'सुपि स्थः' (पा० सू० ३।२।४) इति कप्रत्ययः, 'आतो लोप इटि च' (पा० सू० ६।४।६४) इत्याकारलोपः, 'सध मादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति सहस्य सधादेशः । असदत् 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति सदेर्लडर्थे लुङ् । 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मै-पदेषु' (पा० सू० ३।१।५५) इति च्लेरङि रूपम् । किञ्च, नेष्ट्राद् नेष्टुरिदं नेष्ट्रम्, वृद्ध्यभाव आर्षः, नेष्टुर्धिष्ण्याद् ऋतुभिर्देवैः सह इष्यते सोमं प्रति गच्छति । 'इष् गतौ' दिवादित्वात् श्यन् ।

अन्तःसदसं प्राक् पदद्वयमवशेष्य पृष्ठ्यायां तथैव होतुः खरं करोति—'वह्निरसि हव्यवाहनो रौद्रेणानीकेन पाहि माग्ने पिपृहि माग्ने गोपाय मा नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः' इति । अयं होतृखरो होतृधिष्ण्यमुच्यते । अग्रेणाहवनीयं पर्याहृत्य होतृधिष्ण्याद् दक्षिणतोऽरत्निमात्रे मैत्रावरुणस्य खरं करोति—'श्वात्रोऽसि प्रचेता रौद्रेणानीकेन पाहि माग्ने पिपृहि माग्ने गोपाय मा नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः' इति । अयं खरो मैत्रावरुणधिष्ण्यम् । तस्य धिष्ण्यस्योत्तरतोऽरत्निमात्रे ब्राह्मणाच्छंसिनः खरं करोति—'ॐ तुथोऽसि विश्ववेदा रौद्रेणानीकेन पाहि माग्ने पिपृहि माग्ने गोपाय मा नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः' इति । अयं खरो ब्राह्मणाच्छंसि-धिष्ण्यम् । तस्योत्तरतोऽरत्निमात्रे पोतुः खरं करोति—'उशिगसि कवी रौद्रेणानीकेन पाहि माग्ने पिपृहि माग्ने गोपाय मा नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः' इति । अयं खरः पोतृधिष्ण्यम् । तदुत्तरतोऽरत्निमात्रे नेष्टुः खरं करोति—'अङ्घारिरसि बम्भारी रौद्रेणानीकेन पाहि माग्ने पिपृहि माग्ने गोपाय मा नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः' इति । अयं खरो नेष्टृधिष्ण्यमुच्यते ।

अध्यात्मपक्षे – स सोमः साम्बसदाशिवः, रक्षोहा रक्षसामपहन्ता विश्वचर्षणिः सर्वस्य द्रष्टा द्रोणमयोहतं द्रोणकलशं सधस्थमभ्यासदत् ।

दयानन्दस्तु—'यो रक्षोहा विश्वचर्षणिर्विद्वानयोहतेऽयसा सुवर्णेन हते द्रोणे सधस्थं योनिमभ्यासदत्, स सर्वं सुखमाप्नुयात्' इति, तदप्यसङ्गतम्, द्रोणकलशादिवैदिकवृत्तान्तानभिज्ञानात्, सोमप्रसङ्गमपहाय विद्व-त्प्रसङ्गयोजने प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गाच्च । नहि विद्वानयोहते द्रोणे योनिमासीदति ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां षड्विंशोऽध्यायः ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आभाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, महीने-महीने, ऋतु-ऋतु और प्रत्येक संवत्सर में ऋषिगण जिन सत्यरूप मन्त्रों से आपकी वृद्धि करते हैं, उनसे दिव्य कान्ति द्वारा आप प्रदीप्त हों। चारों दिशाओं और विदिशाओं को आप प्रकाशित करें ॥ १ ॥

अयमध्यायः पञ्चचितिकस्याग्नेः सम्बन्धी प्रजापतिदृष्टः। नव ऋचोऽग्निदेवत्यास्त्रिष्टुभोऽग्निना दृष्टाः। इष्टकापशौ समिध्यमानसमिद्धत्योरन्तराले आसां विनियोगः। अग्निर्ऋषिः कर्माङ्गभूतमग्निं स्तौति—हे अग्ने, समा मासाः, नात्र समाशब्दः संवत्सरवचनः, संवत्सरा इति पृथगुक्तेः। ऋतवो वसन्ताद्याः, संवत्सरास्तदधिष्ठातारो देवाः, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च। यानि सत्या सत्यानि, सत्यरूपा मन्त्रा इत्यर्थः, एते त्वां वर्धयन्तु। त्वमप्येतैर्वर्धमानः सन् दिव्येन दिवि भवो दिव्यस्तेन, 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्' (पा० सू० ४।२।१०१) इति यत्। रोचनेन दीप्त्या सन्दीदिहि सन्दीप्यस्व। क्रीडाविजिगीषाद्यर्थकस्य दिवेर्व्यत्ययेन श्लौ 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इति तुजादीनामाकृतिगणत्वादभ्यासदीर्घः। किञ्च, विश्वाः सर्वाः प्रदिशो विदिशश्चतस्रो दिशश्च आभाहि प्रदीपय, अन्तर्भूतो ण्यर्थः, 'भा दीप्तौ'।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, एते मासास्त्वां वर्धयन्तु तव वर्धापनं कुर्वन्ति। तैरेवं वर्धापितस्त्वं दिव्येनालौकिकेनाद्भुतेन रोचनेन दीप्त्या सन्दीदिहि सन्दीप्यस्व। विश्वाः सर्वाः प्रदिशोऽवान्तरदिशश्चतस्रो दिशश्च आभाहि प्रदीपय। माधुर्यभावेन वशिष्ठादय इव ब्रह्मादिदेवा अपि भगवन्तं रामचन्द्रं वर्धापयन्ति। तैर्वर्धापितो भगवान् प्रदीप्यते, सर्वाः प्रदिशः, चतस्रः प्राच्यादिदिशश्च प्रदीपयति।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, समा ऋतवः संवत्सरा ऋषयो यानि सत्यानि सन्ति ते त्वा वर्धयन्तु, यथाग्निर्दिव्येन रोचनेन विश्वाश्चतस्रः प्रदिशः प्रकाशयति, तथा विद्यां सन्दीदिहि, न्याय्यं धर्ममाभाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारमूलकत्वात्। नहि खलु ऋतवो जडाः सन्तः प्रार्थनाः श्रोतुं शक्नुवन्ति, कुतः पूरयितुम्? प्राकृतिकनियमबद्धत्वात्। न वा त्वद्रीत्या जडाः स्तोतुमर्हाः। सिद्धान्ते तु तत्तदवच्छिन्नचैतन्यात्मानो देवा माहाभाग्यात् शृण्वन्ति कर्तुं शक्नुवन्ति च। न च विद्यान्याय्यधर्मादिशब्दा मूले सन्ति, तस्माद् वेदबाह्यमेवैतत् सर्वमिति ॥ १ ॥

सं चेद्धयस्वाग्ने प्र च बोधयैनमुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा च रिषदुपसत्ता ते अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप प्रदीप्त होइये और इस यजमान को प्रबोधित कीजिये। महान् ऐश्वर्य के निमित्त तत्पर होइये। हे अग्निदेव, आपकी उपासना करने वाले भक्त का अनिष्ट न हो, ऋत्विक्गण और यजमान यशस्वी हों। जिनको आपके प्रति भक्ति नहीं है, वे यशस्वी न हों ॥ २ ॥

हे अग्ने, समिद्धचस्व दीप्यस्व। 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इत्युपसर्गक्रिययोर्व्यवधानेन प्रयोगः। व्यत्ययेन च श्यन्। तथा च प्रबोधय एनं यजमानम्, यथाग्निश्चेतव्य इति यजमानमवगतार्थं कुरु, महते बृहते सौभगाय लोकोत्तरैश्वर्याय उत्तिष्ठ च तथाभूतमैश्वर्यं दातुमुद्यतो भवेत्यर्थः। हे अग्ने, ते तवोपसत्ता उपसीदतीत्युपसत्ता, 'ण्वुल्तृचौ' (पा० सू० ३।१।१३३) इति तृच्, सेवको मा रिषद् मा नश्यतु च। स ह्यग्निमुपसीदति। हे अग्ने, ते तव ब्रह्माणस्तव सम्बन्धिन ऋत्विग्यजमाना यशसो यशस्विनः सन्तु। मत्वर्थीय-प्रत्ययलोपः। मा अन्ये, अन्येऽयज्वानो यशस्विनो मा सन्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर श्रीराम, समिद्धचस्व प्रतापतेजोभ्यां प्रज्वल, प्रबोधय चैनं यजमानं भजनपरायणम्। स्वभक्तस्य महते सौभगाय उत्तिष्ठ बद्धकक्षो भव, तीव्रतममुद्योगं कुर्विति यावत्। हे भगवन्, ते तवोपसत्ता उपसदनकर्ता त्वदाराधको मा रिषद् मा नश्यतु, ते तव सम्बन्धिनो ब्रह्माणो ब्राह्मणा यशस्विनः सन्तु। अन्ये तथा मा सन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं समिद्धचस्व एनं प्रबोधय च। महते सौभगाय चोत्तिष्ठ। उपसत्ता भवान् सौभगं मा रिषत्। हे अग्ने, ते ब्रह्माणोऽन्ये च मा सन्तु। ते यशस उन्नतिर्मा रिषत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विशृङ्खलान्वयात्। अध्याहारमन्तरापि ते तव उपसत्ता सेवको मा रिषद् मा विनश्यत्वित्यन्वयोपपत्तौ सौभग-मित्यध्याहारानौचित्यात्। नहि सेवातः समुपसत्ता भवति, उपसदनस्य सेवकधर्मत्वात्। ब्रह्माणोऽन्ये च मा सन्तु, ते यशस उन्नतिर्मारिषदित्यसङ्गतेः, तथा प्राप्त्यभावेन निषेधायोगात्॥ २॥

त्वाम॑ग्ने वृणते ब्राह्म॒णा इ॒मे शि॒वो अ॑ग्ने सं॒वर॑णे भवा नः।
स॒प॒त्न॒हा नो॑ अभिमाति॒जिच्च॒ स्वे गये॑ जागृ॒ह्यप्र॑युच्छन्॥ ३॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, ये ब्राह्मण आपकी उपासना करते हैं। ब्राह्मणों के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर आप हमारा कल्याण कीजिये। हमारे शत्रुओं के नाशक, अभिमानियों को जीतने वाले आप हमारे गृह में प्रमादरहित होकर जागिये॥ ३॥

हे अग्ने, इमे ब्राह्मणा ऋत्विजस्त्वां वृणते यागाय सम्भजन्ते। यत एवमतः प्रार्थयामहे। हे अग्ने, संवरणे ब्राह्मणैः सह एकस्मिन् वरणे जाते सति नोऽस्माकं कृते शिवः शान्तो भव। नोऽस्माकं सपत्नहा शत्रुहन्ता भव, अभिमातिजिच्च भव, जयतीति जित्, अभिमातीनां शत्रूणां जिदभिमातिजित्, हतावशिष्टानां शत्रूणां जेता च भव। स्वे स्वकीये गये गृहेऽप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन्, 'युछ् प्रमादे', जागृहि सावधानो भव।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन्, इमे ब्राह्मणा ब्रह्मविदस्त्वां वृणते सम्भजन्ति समाश्रयन्ते। हे अग्ने, एवं संवरणे भक्तकर्तृकसमीचीनवरणे कृते सति शिवो मोक्षप्रदानेन तेषां सुखमयो भव। व्यवहारे च तेषां सपत्नानां हन्ता भव, हतावशिष्टानामभिमातीनां जेता भव। स्वे गये स्वीये भक्तानां गये भवनेऽप्रमाद्यन् जागृहि। कथञ्चिदपि यथा तेषां भक्तानां ब्राह्मणानां मनागपि हानिर्न स्यात्तथा सावधानो भवेति सदाऽवहितस्याप्यवधानं प्रार्थयन्ते भक्ताः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, य इमे ब्राह्मणास्त्वां वृणते, तान् प्रति त्वं च संवरणे शिवो भव। नोऽस्माकं सपत्नहा भव। हे अग्ने, अप्रयुच्छन्नभिमातिजिच्च त्वं स्वे गये जागृहि। नोऽस्मांश्च जागृतान् कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रस्य विदुषः प्रार्थितसम्पादने सामर्थ्याभावात्। न चाविद्वानेवं विद्वांसं प्रति वक्तुमर्हति,

प्रार्थनीयोपदेष्टव्ययोर्भेदात् । न चोभौ उपदेष्टव्या एवेति वाच्यम्, अस्माकं सपत्नहा भवेत्युक्तेः । अभिमातिपदं च शत्रौ प्रसिद्धमिति नाभिमानबोधकम् ॥ ३ ॥

इ॒हैवाग्ने॒ अधि॑ धारया र॒यिं मा त्वा॒ निक्र॑न् पू॒र्व॒चितो॑ निका॒रिण॑ः ।
क्ष॒त्रम॑ग्ने सु॒यम॑मस्तु॒ तुभ्य॑मुपस॒त्ता व॑र्धतां ते॒ अनि॑ष्टृतः ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप इन यजमानों के धन में वृद्धि कीजिये, अधिक यज्ञ करने वाले ऋत्विक्गण आपकी अवज्ञा न करें। हे अग्निदेव, आपके प्रभाव से क्षत्रिय जाति हमारे लिये सुख से वश में करने योग्य हो, आपका भक्त किसी प्रकार भी दुःखित न होकर धन-पुत्र आदि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त करे ॥ ४ ॥

हे अग्ने, इहैव कर्मणि वर्तमानानामस्माकमधि उपरि रयिं धनं धारय। यद्वा--इहैव अस्मास्वेव यजमानेषु रयिं धनं त्वमधि अधिकं धारया देहि, संहितायां दीर्घः। पूर्वचितः पूर्वं येऽग्निं चितवन्तः, अत एव निकारिणो नितरां यज्ञशीला ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनो यज्ञानुष्ठायिनो वा, ते त्वां मा निक्रन् मा नीचैः कुर्वन्तु, माऽवजानन्त्वित्यर्थः। करोतेर्लङि शपि लुप्ते प्रथमपुरुषबहुवचने रूपम्। किञ्च, हे अग्ने! क्षत्रं क्षत्रियजातिस्तुभ्यं तव प्रसादात् सुयमं साधु नियन्तृ अस्तु। अथवा क्षत्रजातिस्तव सुयमं सुखेन नियन्तुं वशीकर्तुं शक्यमस्तु, 'ईषद्-दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' (पा० सू० ३।३।१२६) इति सुपूर्वाद्यमेः खल्प्रत्यये रूपम्। ते तव उपसत्ता उपसदनकर्ता यजमानः, अनिष्टृतोऽनुपहिंसितः सन् वर्धतां धनपुत्रादिभिः। निपूर्वस्य 'स्तृञ् आच्छादने' इत्यस्य निष्ठायां रूपम्। अत्र हिंसायां वृत्तिः।

अध्यात्मपक्षे -हे अग्ने ईश्वर, इहैवास्मास्वेव यजनशीलेषूपासकेषु रयिं धनं बाह्यमाध्यात्मिकं च ज्ञानवैराग्यादिलक्षणं धारय स्थापय। निकारिणो नितरां कर्मकारिणः कर्मणा त्वा मा निक्रन् माऽवजानन्तु, 'वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः' (भ० गी० २।४२) इति गीतोक्तेः। हे अग्ने परमेश्वर, क्षत्रं तुभ्यं तव सुयमं सुखेन नियन्तुं शक्यमस्तु। ते तव उपसत्ता उपासकः, अनिष्टृतोऽनुपहिंसितो वर्धताम्, क्रममुक्त्या कैवल्यमुक्त्या वोत्कर्षं प्राप्नुतात्।

दयानन्दस्तु -'हे अग्ने, त्वमिह रयिं धारय। पूर्वचितो निकारिणस्त्वा मा निक्रन्। हे अग्ने, ते सुयमं क्षत्रमस्तु, येनोपसत्ता सन्निष्टृतो भूत्वा एव भवानधिवर्धताम्। तुभ्यं क्षत्रं सुसुखदातृ भवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पुनरुक्त्यादिदोषदुष्टत्वात्। ते सुयमं क्षत्रमस्तु, तुभ्यं क्षत्रं सुसुखदातृ भवत्विति पुनरुक्ते-र्निर्मूलत्वात्। सुखदात्रित्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव। क्षत्रपदस्य धनराज्यपरत्वमपि निर्मूलमेव। पूर्वचित इत्यस्य पूर्वैः प्राप्तविज्ञानादिभिर्वृद्धैरित्यर्थोऽपि न युक्तः, चिनोतेश्श्रयतेर्वा तथार्थत्वायोगात् ॥ ४ ॥

क्ष॒त्रेणा॑ग्ने॒ स्वायु॒ः सꣳ र॑भस्व मि॒त्रेणा॑ग्ने मित्र॒धेये॑ यतस्व ।
स॒जा॒ताना॑ं मध्यम॒स्था ए॑धि॒ राज्ञा॑मग्ने विह॒व्यो॒ दीदिहीह ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे श्रेष्ठ दशा वाले अग्निदेव, आप क्षत्रिय यजमान के साथ यज्ञ का आरम्भ करें। सूर्य के साथ आप इस यजमान के यज्ञ में प्रयत्नशील हों। यह सजातियों के मध्य में स्थित होकर वृद्धि पावें। हे अग्निदेव, राजाओं के द्वारा आहूत होकर आप इस यज्ञ में प्रदीप्त हों ॥ ५ ॥

हे अग्ने, त्वं क्षत्रेण आत्मानं सम्पाद्य स्वायुः, सुष्ठु शोभन आयुर्जीवितकालो यस्यासौ स्वायुः सन्, यज्ञं वोढुं संरभस्व समारभस्व। मित्रेण सम्पाद्य आत्मानं मित्रधेये यतस्व, यथा मित्राणि धार्यन्ते तथा यतस्व। सजातानां समानजन्मनां मध्यमस्थाः, मध्यमे तिष्ठतीति मध्यमस्थाः, क्विपि रूपम्, मध्यमस्थः सन् एधि। यथा सजाता अपि यज्वानो भवन्तु तथा एधि। हे अग्ने, राज्ञां राजभिः, कर्तरि षष्ठी, विहव्यो विविधं हूयत आहूयत इति तथोक्तः, राजभिर्यज्ञे आह्वातव्यस्त्वमिह यज्ञगृहे दीदिहि दीप्यस्व, दीव्यतेर्व्यत्ययेन शपः श्लौ 'श्लौ' (पा० सू० ६।१।१०) इति धातोर्द्वित्वे, 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इति तुजादेराकृतिगणत्वाद् दीर्घे, 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) इति वकारलोपे रूपम्।

यद्वा—हे अग्ने, त्वं क्षत्रेण संरभस्व समारभस्व समारम्भय, यज्ञमिति शेषः। अन्तर्भावितण्यर्थो बोध्यः। क्षत्रियान् यज्ञे प्रवर्तयेत्यर्थः। स्वायुः, एति प्राप्नोति सर्वान् पुरुषार्थानित्यायुः; 'छन्दसीणः' (उ० १।२) इत्येतेरुण्प्रत्ययः, मनुष्यः, सुष्ठु शोभन आयुर्मनुष्यो यजमानो यस्यासौ स्वायुः, अयमुकारान्त आयुशब्दो मनुष्यवाची। मित्रेण सूर्येण सह वर्तमानः सन् मित्रधेये, धातुं योग्यं धेयं कार्यं यागादिलक्षणम्, मित्रस्य यजमानस्य धेयं मित्रधेयम्, तत्र। त्वं यतस्व यजमानेन यज्ञादिकं कारयेत्यर्थः। शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे हे अग्ने भगवन् विष्णो, त्वं क्षत्रेण श्रीरामरूपेणात्मानं सम्पाद्य यज्ञं संरभस्व विविधान् यज्ञान् अनुष्ठाय यज्ञमर्यादां स्थापय। हे अग्ने विष्णो, सुग्रीवविभीषणादेर्मित्ररूपेणात्मानं सम्पाद्य मित्रधेये मित्रसम्पादनार्थे कार्ये यतस्व, सुग्रीवविभीषणाद्यभीष्टं कार्यं कुरु। सजातानां समानजन्मनामन्येषां मध्यमस्था एधि, सजाता अपि यथा यज्वानो भवन्ति तथा भव। हे अग्ने, इह यज्ञस्थाने भक्तहृदये च दीदिहि दीप्यस्व। कीदृशस्त्वम् ? राज्ञां विहव्यः, राजभिर्विविधैः प्रकारैर्हूयते यः सः, राजभिरपि य आश्रीयते, आत्मरक्षार्थमाहूयते स राजराजेश्वरोऽग्निरित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वमिह क्षत्रेण सह स्वायुः संरभस्व। हे अग्ने, मित्रेण सह मित्रधेये यतस्व। हे अग्ने, सजातानां राज्ञां मध्ये मध्यमस्था एधि। विहव्यः सन् दीदिहि च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदाक्षर-बाह्यत्वात्, क्षत्रशब्दस्य राज्यधनार्थतासिद्धेः। मध्यमाः पक्षपातरहिता ये तेषां नाधिकरणता, न वाग्नेराधेयता सम्भवति। अग्निपदस्य न्यायप्रकाशतारूपोऽर्थोऽपि गौण एव। न च मुख्यार्थतायां सत्यां गौणार्थता युक्ता। साक्षीत्यर्थस्तु दुर्लभ एव। सत्यां गतौ न व्युत्क्रमेणान्वयः। तेन सजातानां राज्ञामिति नान्वयः॥ ५॥

अति॒ निहो॒ अति॒ स्रिधोऽत्यचि॑त्ति॒मत्यरा॑ति॒मग्ने।
विश्वा॒ ह्य॑ग्ने दु॒रि॒ता स॒हस्वाथा॒स्मभ्य॑ꣳ स॒हवी॑राꣳ र॒यिं दाः॥ ६॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप जीवघातियों का अतिक्रमण कर, दुराचारियों का अतिक्रमण कर, चंचल चित्त वालों का अतिक्रमण कर, कृपणों का अतिक्रमण कर सकल पापों को अवश्य दूर करें। तदनन्तर हे परमात्मन्, हमें वीर पुत्रों और धन से सम्पन्न करें॥ ६॥

हे अग्ने, हि निश्चयेन विश्वा विश्वानि दुरिता दुरितानि पापानि त्वं सहस्व अभिभव, विनाशयेत्यर्थः। किं कृत्वा ? निहः, निहान् निहन्तॄनतिक्रम्य निघ्नन्तीति निहाः, निपूर्वात् हन्तेः 'अमन्ताड्डः' (उ० १।११३) डः, डित्वाट्टिलोपः, तान्, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति शसः सुः, निहान् अतिक्रान्तोऽतिक्रम्य स्थित इति यावत्। अति स्रिधः, स्रेधतिः कुत्सितकर्मा, स्रेधन्तीति स्रिधः कुत्सिताचरणान् अतिक्रम्य। अत्यचित्तिम्

अन्यमनस्कतामतिक्रम्य । अरातिम्, न रातिर्दानं यस्यासावरातिः, तम्, अदातारमतिक्रम्य, हे अग्ने, हि निश्चितं दुष्टान् सर्वानतिक्रम्य पापं नाशयेत्यर्थः । किञ्च, अथ अनन्तरं हे अग्ने, अस्मभ्यं सहवीरां वीरैः पुत्रैः सहितां रयिं दाः देहि ।

अध्यात्मपक्षे— सर्वमेतदाञ्जस्येन भगवत्येव सङ्गच्छते । हे भगवन्नग्ने परमेश्वर, विश्वानि सर्वाणि दुरितानि सहस्व अभिभव नाशय । यस्य नाम्नापि पातकानि प्रणश्यन्ति, किमु वक्तव्यं तस्य दुरितनाशकत्वे । हे भगवन्, निहो निहान् निहन्तॄन् अतिक्रम्य स्रिधो दुराचारानतिक्रम्य अचित्तिममनस्कतामन्यमनस्कतां वा अतिक्रम्य अरातिमतिक्रम्य सर्वान् दोषानतिक्रम्य दुरितानि नाशय । अस्मभ्यं सहवीरां रयिं श्रियं च देहि ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वमतिनिहः सन् स्रिधोऽतिसहस्व । अचित्तिमत्यरातिं सहस्व । हे अग्ने, त्वं हि विश्वा दुरितानि सहस्व । अथ अस्मभ्यं सहवीरां रयिं दाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वैरूप्यार्थस्वीकारात् । योऽसत्यं नितरां जहाति स निह इत्यप्यसङ्गतम्, असत्यपदस्य अत्राश्रुतत्वात् । तदपेक्षया निहन्तीति निह इत्यधिकं श्लिष्यते । हिन्दीभाष्ये दुराचारानतिसहस्वेत्युक्तम्, तत्र सहस्वेत्यनेन सहनमुक्तम् । तथात्वेऽचित्तिमज्ञानमतिसहस्वेत्यत्रापि तथार्थः किन्न स्यात् ॥ ६ ॥

अनाधृष्यो जातवेदा अनिष्टृतो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह ।
विश्वा आशाः प्रमुञ्चन्मानुषीर्भियः शिवेभिरद्य परिपाहि नो वृधे ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ— हे अग्निदेव, आप तिरस्कार के अयोग्य, सर्वज्ञ, अविनाशी, सर्वत्र राजमान क्षात्र तेज को पुष्ट करने वाले हैं । इस कर्म में सकल आशाओं को परिपूर्ण कीजिये, मनुष्य सम्बन्धी भय को दूर करते हुए शान्त भाव से हमारे ऐश्वर्य में वृद्धि कीजिये, हमारी रक्षा कीजिये ॥ ७ ॥

हे अग्ने, इह कर्मणि विद्यमानस्त्वं सर्वा आशा दिशो दीदिहि दीप्यस्व प्रकाशयस्व । नोऽस्मान् अस्मिन् दिने वृधे वर्धनाय शिवेभिः शिवैः शान्तैरर्चिभिः सर्वतः परिपाहि । वर्धनं वृत्, सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्, तस्यै । कीदृशस्त्वम् ? अनाधृष्यः, अप्रधृष्यः, पराभवितुमशक्य इति यावत् । जात उत्पन्नो वेदो धनं ज्ञानं वा यस्मात् स जातप्रज्ञानः । अनिष्टृतः, निःशेषेण स्तृतो हिंसितो निष्टृतः, न निष्टृतोऽनिष्टृतः । आच्छादनार्थकस्याप्यत्र हिंसार्थे वृत्तिः, निघण्टौ द्वितीयेऽध्याये एकोनविंशेऽनुच्छेदे स्तृणातेर्वधकर्मसु परिगणनात् । विराट्, विविधं राजत इति विराट् । क्षत्रभृत् क्षत्रं बिभर्तीति क्षत्रपोषकः । तथा मानुषीर्मनुष्यस्य इमा मानुष्यः, ता भियो मनुष्यसम्बन्धिनोर्जन्मजरामृतिशोकादिकाः प्रमुञ्चन् निवर्तयन् सर्वतः परिपाहीति ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, इहास्मिन् संसारकान्तारेऽज्ञानान्धतमसे विश्वाः सर्वा आशाः शिवैः शान्तैः प्रकाशैर्दीदिहि प्रकाशय, परमेश्वरस्यैव तव तादृशसामर्थ्यसत्त्वात् । अद्यास्मिन् दिने नोऽस्मान् सर्वत आन्तराद् बाह्याच्चोपद्रवान्मानुषीर्मनुष्यसम्बन्धिनीर्भियो जन्मजरामरणशोकदैन्योत्थानि प्रमुञ्चन् अपसारयन् परिपाहि रक्ष । किमर्थम् ? वृधे वर्धनाय उपाधिपरिच्छेदनिवृत्तिपूर्वकभूमपदप्राप्तये । कीदृशो भवान् ? अनाधृष्यः प्रधर्षयितुमशक्यः, जातवेदा जाताः प्रादुर्भूता वेदाः सर्वविद्योद्गमस्थानभूता ऋगादयो यस्मात् सः, अनिष्टृतो नित्यत्वादद्वितीयत्वादसङ्गत्वाच्चानुपहिंसितः । विराड् विशेषेण राजते दीप्यत इति विराट् स्वप्रकाशः । क्षत्रभृत् क्षत्रस्य क्षत्रं धर्मं बिभर्तीति क्षत्रभृद् धर्मरक्षकः, 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥' (भ० गी० ४।७-८) इति गीतास्मरणात् ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, योऽद्येहास्मिन् राजव्यवहारे मानुषीर्भियो नाशयन् शिवेभिश्च सभ्यैः सह अनिष्टृतोऽनाधृष्यो जातवेदा जातविद्यो विराड् यः क्षत्रं राज्यं बिभर्ति, स क्षत्रभृद्यदस्ति स त्वं नो दीदिहि कामय। विश्वा आशाः प्रमुञ्चन् त्वं नो वृधे परिपाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'अग्ने' इत्यस्य 'सुसंगृहीतराजनीते' इति विवरणे मानाभावात्, धर्मब्रह्मपरे वेदे राजनीतिपरायणमनुष्यमात्रवर्णने तात्पर्यासम्भवात्, शिवैरित्यस्यानेकार्थसम्भवे विशेष्यानिर्देशात् सभ्यैरित्यर्थविवरणे विनिगमनाविरहात्। न च कामना विधेया, तस्याः कृत्यगोचरत्वात्, जानातीच्छत्यथ करोतीति नियमात्। न चाशा बाध्यन्ते, तासामनन्तत्वात् ॥ ७ ॥

बृह॑स्पते सवितर्बो॒धयै॑नꣳ सꣳशि॑तं चित्सन्त॒राꣳ सꣳशि॑शाधि ।
व॒र्धयै॑नं मह॒ते सौभ॑गाय॒ विश्व॑ एनमनु॑मदन्तु दे॒वाः ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे बृहस्पति और सविता देव, आप इस यजमान को कर्म का ज्ञाता बनाइये, शिक्षित को भी पुनः शिक्षित कीजिये। महान् ऐश्वर्य की ओर उसे बढ़ाइये, जिससे कि सभी देवता इस यजमान की प्रशंसा करें ॥ ८ ॥

हे बृहस्पते ! हे सवितः, एतं यजमानं बोधय त्वदाराधनलक्षणकर्मावबोधवन्तं कुरु। संशितं चित्, चिदप्यर्थे, संशितव्रतमपि शिक्षितमपि वा सन्तरामतितरां संशिक्षय, शासेः शपः श्लौ द्वित्वम्, अभ्यासस्य छान्दसमित्वम्। किञ्च, महते सौभगाय महैश्वर्याय एनं यष्टारं वर्धय। विश्वे सर्वे देवा एनमनुमदन्तु समुत्साहयन्तु प्रहर्षयन्तु वा। अन्तर्भावितणिजर्थो द्रष्टव्यः। अत्र सामिधेन्यङ्गभूतो बृहस्पतिसवितृशब्दाभ्यामग्निरेवोच्यते। अग्नौ बृहताम्पतित्वेन बृहस्पतित्वं विश्वहेतुत्वेन सवितृत्वं च सम्भवत्येव। वाक्यद्वयं वा मन्तव्यम्। एकेन बृहस्पतिरपरेण सविता च बोध्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे बृहस्पते, बृहतां महदादीनां ब्रह्मादीनां वा पालक, हे सवितः सर्वप्रसवितः परमेश्वर, एवं स्वशरणागतं भक्तं बोधय स्वस्वरूपगुणमाहात्म्यादिज्ञानवन्तं कुरु। संशितं चित् शिक्षितमपि सन्तरामतितरां संशिशाधि शिक्षितं कुरु। महते सौभगाय त्वत्स्वरूपसाक्षात्कारसौभाग्यप्राप्तये, एनं वर्धय उपाध्यध्यासापनोदनेन स्वाभाविकं ब्रह्मात्मभावमाविर्भावय। विश्वे सर्वे देवा एनं भगवद्भावप्राप्तये समुद्यतमनुमदन्तु प्रहर्षयन्तु ॥ ८ ॥

अमु॒त्र॒भूया॒दध॒ यद्य॒मस्य॒ बृह॑स्पते अ॒भिश॑स्ते॒रमु॑ञ्चः ।
प्रत्यौ॑हताम॒श्विना॑ मृ॒त्युम॑स्माद्दे॒वाना॑मग्ने भि॒षजा॒ शची॑भिः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे बृहस्पति देव, आप हमें मृत्यु से, यमराज के नरकपात से और सभी प्रकार के शापों से मुक्त कीजिये। हे अग्निदेव, देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार इस यजमान की मृत्यु को अपनी कुशलता से दूर भगा दें ॥ ९ ॥

हे बृहस्पते, अमुत्रभूयाद् अमुत्र परलोके भवनममुत्रभूयम्, 'भुवो भावे' (पा० सू० ३।१।१०७) इति भवतेर्भावे क्यप्, तस्मात् परलोकगमनरूपान्मरणात्, अमुञ्चः, मोक्षय, मरणाद्रक्षेत्यर्थः। अध अथ अनन्तरं यद् यमस्य भयं परलोकभयं नरकपातादि, तस्माच्च रक्ष। यद्वा अमुत्र परलोके यत् शरीरं भूयाद् भवेत्, अध अथ यद् यमस्य सदने च शरीरं भूयात्, तस्य च अमुञ्चो मुक्तं कुरु। अथ अभिशस्तेश्च लोकापवादादपि मुञ्च। देवानां भिषजा भिषजौ अश्विना अश्विनौ अस्माद् यजमानान्मृत्युं प्रत्यौहतां निवर्तयताम्। कैः साधनैः ? शचीभिः शुभकर्मभिः। 'शचीति कर्मनामसु' (निघ० २।१।२१)। अत्र बृहस्पतिरग्निरेव, सामिधेनीप्रकरणस्य आग्नेयत्वात्। ननु बृहस्पतिशब्दो नैघण्टुके पञ्चमेऽध्याये पदपाठेष्वेव पठ्यते। तत्कथङ्कार-

मग्निशब्दार्थतास्य युक्तेति चेच्छृणु, 'ता आग्नेय्यः प्राजापत्या यदग्निरपश्यत्तेनाग्नेय्यो यत्प्रजापतिꣳ समैन्धं तेन प्राजापत्याः' (श० ६।२।१।२७) इति श्रुतेः प्रजापतेः सर्वदेवात्मकत्वात्, 'तस्मादेतं प्रजापतिꣳ सन्तमग्निरित्याचक्षते' (श० ६।१।२।१३) इति श्रुत्यन्तराच्च ।

अध्यात्मपक्षे—हे बृहस्पते अग्ने परमेश्वर, एनं त्वच्छरणं भक्तममुत्रभूयात् परलोकगमनरूपान्मरणभयाद् यमस्य सदने यन्नरकपातादिभयं तस्माच्च अमुञ्चः मोचय, मरणादिभयापनोदनेन संसारादेव मुक्तं कुरु। अभिशस्तेरभिशापात्, अर्थाद् लोकापवादाच्च मुक्तं कृत्वा शोकमोहादिरहितं कुरु। त्वत्कृपया देवानां भिषजौ वैद्यौ अस्माद् भक्ताद् मृत्युं प्रत्यौहताम् अपसारयताम् । शचीभिश्चिकित्सालक्षणैः, प्रज्ञानैर्वा ।

दयानन्दस्तु—'हे बृहस्पते, त्वममुत्रभूयात् परजन्मनि भाविनोऽभिशस्तेः सर्वतोऽपराधाद् एनममुञ्चः। अथ यद्यो यमस्य शासने तिष्ठेत्तस्य मृत्युममुञ्चः। हे अग्ने, त्वं यथाश्विनौ भिषजौ शचीभिः प्रत्यौहताम्, तस्मादस्माद्देवानामारोग्यं सम्पादय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बृहस्पत्यग्न्यादिसम्बोधनानां मनुष्यमात्रपर्यवसायित्वे वेदानां ब्रह्मपरत्वासिद्धेः। नहि परजन्मभाविनोऽपराधान्मोचने मर्त्यस्य सामर्थ्यमस्ति। हिन्दीभाष्ये मुक्तो भवेत्यर्थः कृतः, सोऽपि न युक्तः, तस्य परोक्षत्वे तत्रापि मर्त्यस्य सामर्थ्याभावात्। तदर्थं तु स्वधर्मानुष्ठान-निषिद्धानुष्ठानवर्जने एव कर्तव्ये। अभिशस्तिपदं तु लोकापवादे रूढम्, न सर्वतोऽपराधपरम्। धर्मात्मनोऽपि मृत्यमोचनं न सामान्यजनेन सम्भवति, मृत्युदण्डातिरिक्तान्मृत्योर्मोचने राज्ञोऽपि सामर्थ्याभावात्, तस्यापि मरणदर्शनात्। 'अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ' इत्यपि निर्मूलमेव। सिद्धान्ते कर्मपक्षेऽग्न्यादिदेवानां परमेश्वरांशत्वेन विशिष्टशक्तिमत्त्वेन आपेक्षिकमरणादिभयनिवर्तकत्वम्। अध्यात्मपक्षे तु परमेश्वरस्य सर्वशक्तिमत्त्वेन मृत्युलक्षणात् संसारादेव मोचकत्वं सम्भवति ॥ ९ ॥

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—अन्धकारमय लोक से परम श्रेष्ठ स्वर्गलोक की ओर जाते हुए, देवलोक में सूर्यदेवता को देखते हुए, हम श्रेष्ठ ब्रह्मज्योति को प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥

वयं तमसस्परि तमसः सकाशात् तमोबहुलादस्माल्लोकाद् उद् ऊर्ध्वमगन्म उद्गता भवेम। कीदृशा वयम्? उत्तरम् उत्कृष्टतरं स्वः स्वर्गं पश्यन्त ईक्षमाणाः। किञ्च, देवत्रा देवलोके सूर्यं देवं पश्यन्तः, उत्तमं ज्योतिर्ब्रह्माख्यम् उदगन्म प्राप्ताः। अत्र यद् वक्तव्यं तद् विंशेऽध्याय एकविंश्यां कण्डिकायामुक्तम्। तत्रैव व्याख्यातैषा ऋक् ॥ १० ॥

ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचीꣳष्यग्नेः । द्युमत्तमा सुप्रतीकस्य सूनोः ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—शोभन मुख वाले, पुत्रवत् अत्यन्त प्रिय इस अग्नि की समिधा ऊर्ध्वगामिनी होती है। इसकी शुद्ध विश्वप्रकाशक किरणें ऊर्ध्वगामिनी होती हैं ॥ ११ ॥

द्वादशाप्रीदेवत्या उष्णिहो विषमपादा आग्नेय्योऽग्निना दृष्टाः। आप्रियः प्रयाजदेवत्याः, 'ता विषया विषमपदाः। विषमाक्षरा विषमाणि हि छन्दाꣳसि' (श० ६।२।१।३४) इति श्रुतेः। अग्निः प्रजापतित्वेन स्तूयते, तेन प्राजापत्या अपि, 'ता आग्नेय्यः प्राजापत्या यदग्निरपश्यत् तेनाग्नेय्यो यत्प्रजापतिमाप्रीणात् तेन प्राजापत्याः' (श० ६।२।१।३३) इति श्रुतेः।

अस्य प्रजापतिरूपेण स्तूयमानस्याग्नेः समिध ऊर्ध्वाः प्रगुणा देवमार्गेण यायिन्यो भवन्ति। ऊर्ध्वा शुक्रा शुक्राणि शुद्धानि शोचींषि अर्चींषि ऊर्ध्वानि भवन्ति। द्युमत्तमा द्युमत्तमानि। दीव्यत इति द्यौः, भावे औणादिको डिविः, अव्युत्पन्नप्रातिपदिको वा दिवशब्दः। द्यौर्द्योतनं प्रकाशो वा येषां तानि द्युमन्ति, 'दिव उत्' (पा० सू० ६।१।१३१) इत्युकारोऽन्तादेशः। अतिशयेन द्युमन्तीति द्युमत्तमानि दीप्तिमत्तमानि वीर्यवत्तमानि च भवन्ति। कीदृशस्याग्नेः? सुप्रतीकस्य, शोभनं सुष्ठु प्रतीकं मुखं यस्य सुप्रतीकस्तस्य सूनोर्यजमानपुत्रस्य, 'यदेनं जनयति तेनास्यैष सूनुः' (श० ६।२।१।३२) इति श्रुतेः। य ईदृशोऽग्निस्तं स्तुम इति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—अस्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नस्याग्नेः परमेश्वरस्य समिधः समिन्धाना ज्ञापिकास्तदाकारा वृत्तय ऊर्ध्वा उत्कृष्टा उत्कृष्टब्रह्मविषयत्वात् तत्प्राकट्याच्च, अस्य शोचींषि तेजांसि स्वरूपभूताः प्रकाशा ऊर्ध्वा ध्यानमात्रेणोर्ध्वब्रह्मप्रापयित्र्यः। कीदृशानि तानि? शुक्रा शुक्राणि शुद्धानि सर्वोपाधिविवर्जितानि, द्युमत्तमानि दीप्तिमत्तमानि, सूर्यादिज्योतिषामपि ज्योतिष्ट्वात्। कीदृशस्याग्नेः? सुप्रतीकस्य सुमुखस्य सुप्रसन्नस्य सुन्दरमुखस्य वा, श्रीरामादिरूपेणातिसुन्दरमुखस्य, सूनोः दशरथादिसूनुरूपेण प्रादुर्भूतस्य।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यस्यास्य सुप्रतीकस्य शोभनानि प्रतीकानि प्रतीतिकराणि यस्य तस्य सूनोः प्राणिगर्भविमोचकस्याग्नेरूर्ध्वा उत्तमाः समिधः प्रदीपकाः, ऊर्ध्वा ऊर्ध्वाणि द्युमत्तमा शुक्रा शोचींषि भवन्ति, तं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रतीकशब्दस्य प्रतीतिकरकर्मार्थताया निर्मूलत्वात्। सूनुशब्दस्यापि प्राणिगर्भविमोचकतारूपोऽर्थो निर्मूल एव, स्वयं त्वया उणादिकोषे सूनुशब्दार्थस्यान्यथा वर्णनात् ॥ ११ ॥

तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देवः। पथो अनक्तु मध्वा घृतेन ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—जलदेवता के पौत्र, प्राणवान्, सब प्रकार के धन के स्वामी, देवताओं में श्रेष्ठ अग्निदेव मधुर घृत से यज्ञ-मार्ग को व्याप्त करते हैं ॥ १२ ॥

तनूनपात्, न पातयतीति नपात्, पतेर्ण्यन्तात् क्विपि रूपम्, अपत्यनामसु नपात्शब्दः, तादृशमिदं व्याख्यानम्। तथा च मनुः—'पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते। अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥' (म० स्मृ० ९।१३७) इति। यद्वा नुतशब्दस्य नपाद्भावः, पुत्रापेक्षया नीचैः सुतरां नुतो हि पौत्रः। तन्वन्त्यस्यां पयआदयो भोग्यपदार्था इति तनूर्गौः, 'कृषिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः स्त्रियाम्' (उ० १।८०) इति रूपसिद्धिः। गोः पयो जायते, पयस आज्यम्। तन्वा गोर्नपात् पौत्रस्तनूनपात्, आज्यमिति यावत्। अथवा तता अन्तरिक्ष इति तन्व आपः, तासां नपात् तनूनपादग्निः। अद्भ्य ओषधिवनस्पतयो जायन्ते, तेभ्योऽग्निर्जायते, अरणेः प्रसूतेः। अथवा तनूं न पातयति जठररूपेण धारयतीति तनूनपादग्निः। कीदृशोऽग्निः? असुरः, असुः प्राणो बलं सोऽस्ति यत्रासौ असुरः, मत्वर्थीयो रः। यद्वा वसुरो धनवान्। अस्मिन् पक्षे आदिलोपः। विश्ववेदा विश्वं वेदो धनं यस्य सः, विश्वानि सर्वाणि वेदांसि ज्ञानानि वा यस्य सः, सर्वज्ञ इत्यर्थः। देवो दानादिगुणकः। देवेष्वपि देवो दीप्तिमान्। य ईदृशः स पथो यज्ञमार्गान् मध्वा मधुरस्वादवता घृतेन, अभ्यनक्तु श्लक्ष्णयतु। इत्थं नाम प्रभूतं यज्ञे घृतमस्तु, येन मार्गा अप्यभ्यक्ताः स्युः। मध्वेत्यत्र आगमशास्त्रस्य अनित्यत्वान्नुमभावः। 'पथो अनक्तु' इत्यत्र 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावः। आज्यपक्षेऽप्याज्याधिष्ठातृदेव एव ग्रहीतव्यः, तत्रैव विशेषणानां समन्वयसम्भवात्।

अध्यात्मपक्षे—तनूनपात् परमेश्वरः, तनूनामपां नपात् पौत्रोऽग्निः, तदुपलक्षितोऽसुरो बलवान्, विश्ववेदाः सर्वज्ञः, देवो दानादियुक्तः, देवेषु देवो ब्रह्मादिष्वपि देववत्पूज्यः, पथो मार्गान् मध्वा मधुरेण घृतेन अनक्तु श्लक्ष्णं करोतु, घृतबाहुल्येन मार्गा अपि सिक्ता भवन्तु, मधुरेण घृतस्नेहेन प्रेम्णा सर्वानेव कर्म-ज्ञान-भक्तिमार्गान् श्लक्ष्णान् करोतु, प्रेमान्तरा सर्वस्यैव रूक्षत्वात् ।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यो देवेषु देवोऽसुरः प्रकाशरहितो विश्ववेदास्तनूनपात् शरीरेषु न पतति देवो मध्वा घृतेन सह पथोऽनक्तु, तं यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उत्तमगुणयुक्तेष्वपि पदार्थेष्वपि य उत्तमगुणवान् भवति, तस्यासुरत्वासम्भवात्, असुरपदस्य प्रकाशरहितार्थत्वायोगात् । किञ्च, वायुश्चेदसुरः, स शरीरेषु न पततीत्यपि न युक्तम्, तस्य सर्वगतत्वेन शरीरपातित्वेन तथात्वासम्भवात् । जलेन वायुः श्रोत्रादिमार्गान् प्रकटयतीत्यपि विसङ्गतमेव ॥ १२ ॥

मध्वा॑ य॒ज्ञं न॑क्षसे प्रीणा॒नो न॒रा॒शꣳसो॑ अग्ने । सु॒कृद् दे॒वः स॑वि॒ता वि॒श्ववा॑रः ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ— हे अग्निदेव, आप देवताओं को तृप्त करने वाले हैं । ऋत्विक्गणों के द्वारा स्तुति किये जाने पर सभी का शुभ करने वाले, प्रकाशयुक्त विश्व को उत्पन्न करने वाले, सबके वरणीय आप स्वादयुक्त घृत से यज्ञ को व्याप्त करते हैं ॥ १३ ॥

हे अग्ने, त्वं मध्वा स्वादुना घृतेन यज्ञं नक्षसे व्याप्नोषि, 'नक्षति व्याप्तिकर्मा' (निघ० २।१८।२)। कथम्भूतस्त्वम् ? देवान् इन्द्रादीन् प्रीणानः, प्रीणीते यः स प्रीणानो देवान् तर्पयन्, नराशंसो नरैर्ऋत्विग्भि-राशंस्यते स्तूयत इति तथोक्तः । सुकृत् साधुकृच्च । देवो दीप्तिमान् । सविता विश्वस्योत्पादकः । विश्ववारो विश्वस्य सर्वस्यैव वरणीयः, विश्वेन वा व्रियते, विश्वं वृणोति अङ्गीकरोति वा, सर्वस्य वरणीयोऽङ्गीकर्ता वा भवसि, तं त्वा स्तुम इति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे— हे अग्ने भगवन्, यस्त्वं यज्ञं मध्वा मधुना मधुरेण घृतगन्धिना स्नेहेन यज्ञं यजनीयं देवं दातव्यं वा सर्वं नक्षसे व्याप्नोषि, प्रीणानो देवांस्तर्पयन् नरैः सर्वैरेव भाग्यशालिभिराशंस्यस इति नराशंसः, सुकृत् शोभनकर्मकारी देवो दानशीलः सविता सर्वोत्पादको विश्ववारः सर्वैर्वरणीयो भवसि, अतस्त्वां स्तुमः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यो नराशंसः सुकृद्विश्ववारः प्रीणानः सविता देवस्त्वं मध्वा यज्ञं नक्षसे, तं वयं प्रसादयेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विशेषानिर्देशात् । मधुरेण वचनेन पूर्वप्रसङ्गानुसारेण घृतेन वेत्यर्थविशेषे विनिगमनाविरहात्, प्रकरणस्य बलीयस्त्वेन घृतेनेत्यस्यैव युक्तत्वात्, मन्त्रस्य देवसामान्यपरत्वापेक्षया देवविशेष-परत्वस्य (परमेश्वरपरत्वस्यैव) युक्तत्वात् । नहि सामान्यजीवो विश्ववारः सम्भवति ॥ १३ ॥

अच्छा॒यमे॑ति॒ शव॑सा घृ॒तेनेडा॒नो वह्नि॒र्नम॑सा । अ॒ग्निꣳ स्रुचो॑ अध्व॒रेषु॑ प्र॒यत्सु॑ ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—अपने ज्ञानबल से देवताओं की स्तुति करने वाला यज्ञ का अनुष्ठाता यह अध्वर्यु यज्ञ के प्रवृत्त होने पर घृत और हविरूप अन्न से भरी हुई जुहू को लेकर अग्नि के समीप आता है ॥ १४ ॥

अयमध्वर्युरध्वरेषु प्रयत्सु वर्तमानेषु सस्त्वग्निं देवम्, अच्छ एति, अभ्येति, 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' (नि० ५।२८) इति यास्कोक्तेः । कीदृशोऽध्वर्युः ? शवसा स्वकीयेन प्रज्ञानबलेन युक्तः । पुनः कथंभूतः ? वह्निः, वोढा वहति यज्ञभारमिति वह्निः, स चाध्वर्युः । घृतेन गृहीतेन ईडानः स्तुवन्, 'ईड स्तुतौ' । नमसा

हविर्लक्षणेनान्नेन अभ्युद्यतेन स्रुचो बाहुभ्यां गृहीत्वा अग्निमभ्येतीत्यनुषङ्गः। यद्वा घृतेन नमसान्नेन हविर्लक्षणेनोपलक्षिता जुह्वाद्या गृहीत्वाऽभ्येतीति।

अध्यात्मपक्षे—अयं जीवः साधकः, अध्वरेषु ज्ञानध्यानरूपेष्वध्वरेषु यज्ञेषु प्रयत्सु वर्तमानेषु शवसा प्रज्ञानबलेन भक्तिबलेन वा अग्निं भगवन्तं परमेश्वरमच्छा एति अभ्येति, घृतेन स्नेहलक्षणेन ईडानः स्तुवन् वह्निं भगवन्तं हृदये वहन् नमसा हविर्लक्षणेनान्नेन युक्ताः स्रुचो गृहीत्वा अभ्येतीति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, योऽयमीडानो वह्निः प्रयत्स्वध्वरेषु शवसा घृतेन नमसा सह वर्तमानमग्निं स्रुचश्चाच्छैति, तं यूयं सत्कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यन्त्रचालनार्थमग्निजलादिजनितशवसादिनिर्माणे स्तुतेरनुपयोगात्। स्रुगादियोगोऽपि न तत्रापेक्षितः। वस्तुतस्तु श्रुतिषु बलादारोपितोऽयमर्थः, न मनागपि तादृशोऽर्थोऽतो व्यज्यते॥ १४॥

स य॑क्षदस्य महि॒मान॑म॒ग्नेः स ईं॑ म॒न्द्रा सु॑प्र॒यसः॑। वसु॒श्चेति॑ष्ठो वसु॒धात॑मश्च॥ १५॥

मन्त्रार्थ—यह यज्ञ-कर्म में प्रवृत्त, सबको सावधान करने वाला और अत्यन्त धन-सम्पन्न दानशील यजमान इस शुभ अन्न वाले अग्नि की महिमा को जानकर यज्ञ में प्रवृत्त हो। अध्वर्यु मदजनक हवियों की देवताओं के लिये आहुतियाँ दे॥ १५॥

स पूर्वोक्तोऽध्वर्युरस्याग्नेर्महिमानं महाभाग्यं यक्षद् यजतु। स ईं स एवास्मै मन्द्रा मन्दनीयानि मदजनकानि हविर्लक्षणान्यन्नानि च यक्षद् यजतु ददातु। कथम्भूतस्याग्नेः? सुप्रयसः, सुष्ठु शोभनानि प्रयांस्यन्नानि हविर्लक्षणानि यस्य स सुप्रयास्तस्य। अथ कस्मादन्यदेवताः परित्यज्याग्नेर्महिमानं यजत्वध्वर्युरिति चेत्तत्राह—वसुरिति। योऽसावग्निर्वसुर्वासयिता, स एव जीवनदानेन स्थितिहेतुः। स एव च चेतिष्ठोऽतिशयेन चेतयिता कृत्याकृत्यज्ञापयिता। वसुधातमश्च वसूनां धनानां धातमो दातृतमश्च, अतोऽग्निरेवेज्यते स्तूयते च। सुप्रयसः, सुष्ठु शोभनानि प्रयांसि प्रीतान्यन्नानि यस्मात् स सप्रयाः, तस्य।

अध्यात्मपक्षे—सोऽध्वर्युरध्वरयोजकः, अस्य प्रत्यगभिन्नस्य परमेश्वरस्य महिमानं स्वरूपभूतं महाभाग्यं यजतु पूजयतु। स एवास्मै परमेश्वराय मन्द्राणि स्तुत्यानि हवींषि यजतु समर्पयतु। कुत इति चेत्तत्राह—यतोऽयमग्निर्वसुर्वासयिता चेतिष्ठोऽतिशयेन चेतयिता। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'स मनुष्यः सुप्रयसोऽग्नेर्महिमानं यक्षत्, स वसुश्चेतिष्ठो वसुधातमश्च, स न ईं जलं मन्द्रा आनन्दप्रदानि हवींषि यक्षद् यजेत संगच्छेत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्याग्नेः प्रीतान्नहेतुत्वासिद्धेः। न वा वैज्ञानिकस्य वासयितृत्वं सिद्ध्यति। 'ईं' इत्यस्य जलार्थतापि चिन्त्या॥ १५॥

द्वारो॑ दे॒वीरन्व॑स्य॒ विश्वे॑ व्र॒ता द॑दन्ते अ॒ग्नेः। उ॒रु॒व्यच॑सो॒ धाम्ना॒ पत्य॑मानाः॥ १६॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर अवयव वाले, धाम (स्थान) से ऐश्वर्यवान् दिव्य द्वार इस अग्नि के कर्मों को धारण करते हैं। इसके बाद अन्य सब देवता भी अग्नि के व्रत को धारण करते हैं॥ १६॥

अस्याग्नेः प्रथमं द्वारो देवीर्द्वारदेव्यो व्रता व्रतानि कर्माणि ददन्ते दधन्ते धारयन्ति, दानार्थकस्यापि ददेरत्र धारणार्थे वृत्तिः। अनु अनन्तरं विश्वे सर्वे देवा अग्निव्रतानि ददन्ते। अत्र मन्त्रे देवशब्दलोपो द्रष्टव्यः।

व्यवहितपदप्रायोऽर्धर्चः। कथंभूता द्वारः? उरुव्यचसः, उरु विशालं व्यचोऽवकाशो यासां ता विशालान्तराः। तथा धाम्ना स्थानेन ऋत्विक्सम्बन्धिना पत्यमाना ऐश्वर्यं कुर्वाणाः। पत्यन्ते ईशते यास्ताः, 'तप ऐश्वर्ये' दैवादिकः। अत्राक्षरव्यत्यासेन केचित् 'पत ऐश्वर्ये' इति पठन्ति। तथा च यास्कः—'इरज्यति, पत्यते, क्षयति, राजतीति चत्वार ऐश्वर्यकर्माणः' (निघ० २।२१।१-४)। अस्माकं तूभयेऽप्याचार्याः प्रमाणम्।

अध्यात्मपक्षे—अस्याग्नेर्भगवतः परमेश्वरस्य द्वारो देवीर्देव्यो द्वाररक्षित्र्यो देव्यः, तत्सख्यो व्रतानि तत्प्रापककर्मनियमान् ददन्ते, शास्त्रोक्तान्यपि तदनुग्रहेणैव प्राप्यन्ते। यथाह—'न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः। न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥' (भा० पु० २।६।३३)। मृषाभाषणाद्वाचो निवृत्तिः, मनसश्च मृषागतिनिवृत्तिः, इन्द्रियाणामसत्पथान्निवृत्तिश्च देवानामनुग्रहादेव भवति। श्वशृगालादिभक्ष्यशरीरादहन्ता-ममतानिवृत्तिर्देवमायातितरणं विवेके सत्यपि दुर्लभमेव, भगवतोऽनुग्रहादेव तत्सम्भवः। तथा चाह श्रीमद्भागवते व्यासः—'येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः सर्वात्मना श्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्। ते दुस्तरामति तरन्ति च देवमायां नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये॥' (भा० पु० २।७।४२)। कीदृश्यो द्वारदेव्यः? उरुव्यचसः, उरु विशालं व्यचो हृदयावकाशो यासां ता विशालहृदयाः, उरुतरा इति यावत्। अन्येऽपि भक्ता भगवद्रसमास्वादयन्त्विति। तथैव विश्वे सर्वे भगवतः परिकरा अग्निव्रतानि ददन्ते। धाम्ना स्वतेजसा पत्यमाना ईशनं कुर्वाणा विघ्नान् नियच्छमानाः।

दयानन्दस्तु—'ये विश्वे पत्यमाना उरुव्यचसो अस्याग्नेर्धाम्ना देवीर्द्वारो व्रता ददन्ते, ते स्वैश्वर्या जायन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'अग्नेर्द्वारः' इत्यस्य 'अग्निविद्याद्वारः' इत्यर्थासङ्गतेः, अग्नेर्धाम्ना स्थानेन स्वामित्वायोगाच्च। अनुददन्ते उपदिशन्तीत्यप्यसङ्गतम्, धात्वर्थाननुरोधात्॥ १६॥

ते अ॒स्य योष॑णे दि॒व्ये न योना॑ उ॒षासा॒नक्ता॑। इ॒मं य॒ज्ञम॑वतामध्व॒रं नः॥ १७॥

मन्त्रार्थ—इस अग्नि की भार्या स्वर्ग में स्थित है। वह अहोरात्री नामक देवी हमारे इस कुटिलता-रहित शास्त्रोक्त यज्ञ की यज्ञपुरुष बन कर रक्षा करे॥ १७॥

उषासानक्ता उषाश्चाहश्च नक्ता च रात्रिश्चेत्युषासानक्ता। 'उषासोषसः' (पा० सू० ६।३।३१) इत्युषस्-शब्दस्य उषासादेशः। ते प्रसिद्धे उषासानक्ता अहोरात्रिदेव्यौ नोऽस्माकमिमं यज्ञमवताम्, सुगुप्तं कुरुताम्। कीदृश्यौ ते? अस्याऽग्नेर्योषणे भार्ये। तथा दिव्ये दिवि भवे स्वर्गस्थे। कीदृशस्याग्नेः? योना योनौ आहवनीयाख्ये स्थाने स्थितस्य, अथवा योनौ गार्हपत्यस्थाने स्थितस्य। कीदृशं यज्ञम्? अध्वरं न ध्वरतीत्यध्वरः, 'ध्वृ कौटिल्ये' इत्यस्मात् पचाद्यच्। यद्वा—अध्वरं सोमं च नः सम्पादयताम्। नकारः पादपूरणार्थः।

अध्यात्मपक्षे—उषासानक्ता अहोरात्राभिमानिन्यौ तन्नियामके वा देवते नोऽस्माकमिमं यज्ञमुपासना-लक्षणमवतां सुगुप्तं कुरुताम्। ते प्रसिद्धे श्रीलक्ष्म्यौ, अस्याग्नेर्विष्णोर्योषणे पत्न्यौ, 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या' (वा० सं० ३१।२२) इति मन्त्रवर्णात्। दिव्ये दिवि भवे दिव्यलोकनिवासिन्यौ। कीदृशस्याग्नेः? योनौ विश्वयोनौ कारणे आदित्ये स्थितस्य। कीदृशं यज्ञम्? अध्वरमकुटिलम्, शास्त्रोक्तमध्वरं सोमं च सम्पादयताम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ते उषासानक्ता रात्रिन्दिवौ अस्य योषणे भार्ये वर्तमाने अस्य योनौ दिव्ये योषणे न इव यमिममध्वरं यज्ञमवताम्, तं यूयं जानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अहोरात्रयोर्गृहसम्बन्धायोगात्, तत्कर्तृकयज्ञावनस्याप्रसिद्धत्वाच्च॥ १७॥

दैव्या होतारा ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वामभिगृणीतम् । कृणुतं नः स्विष्टिम् ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्नि और वायु नामक दिव्य होताओं, आप हमारे इस शुभ यज्ञ को सम्पादित कीजिये, हमारे यज्ञ और अग्नि की ज्वाला को देवमार्गगामी बनाइये ॥ १८ ॥

अयमग्निः, असौ च मध्यमो वायुः । हे दैव्यौ देवसम्बन्धिनौ होतारावग्निवायू, युवां नोऽस्माकमध्वरं यज्ञमूर्ध्वं देवयानमार्गयायिनं कुरुतमित्यर्थः । अग्नेर्देवस्य जिह्वां मुखं ज्वालां वा अभिगृणीतं साधु वर्णयतम्, समीचीनं मुखं ज्वाला वेति संस्तुतं कुरुतमिति यावत् । नोऽस्माकं स्विष्टिं साधुयजनं कृणुतं कुरुतम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे दैव्यौ देवसम्बन्धिनौ होतारौ देवानामाह्वातारौ अग्निवायू वाक्प्राणौ, युवां नोऽध्वर-मुपासनालक्षणं यज्ञमूर्ध्वं ब्रह्मपरत्वाद् व्यापकत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च ब्रह्मपर्यवसितं कुरुतम् । अग्नेः परमेश्वरस्य जिह्वां वेदलक्षणां वाचमभिगृणीतम्, साधु वर्णयतम् । नोऽस्माकं स्विष्टिं साधुयजनं च कृणुतं कुरुतम् ।

दयानन्दस्तु—'यौ दैव्यौ होतारौ जिज्ञास्वध्यापकौ सुखस्य दातारौ नोऽस्माकमूर्ध्वं प्राप्तोन्नतिमध्वरमहिंस-नीयं व्यवहारमभिगृणीतं प्रशंसेताम्, तौ नः स्विष्टिं शोभना इष्टिर्यस्यां तामग्नेः पावकस्य जिह्वां ज्वालां कृणुतम्' इति, भावार्थे तु जिज्ञास्वध्यापकौ तावित्युक्तम्, तत्सर्वमपि असम्बद्धमेव, शिष्टानां स्वव्यवहारप्रशंसने प्रेरणानुपपत्तेः, तस्य पुरुषार्थानुपयोगित्वेन निरर्थकत्वाच्च ॥ १८ ॥

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳ सदन्त्विडा सरस्वती भारती । मही गृणाना ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वाधाररूप इडा, स्तुति को प्राप्त सरस्वती और भारती नामक तीनों देवियाँ इस कुशा के आसन पर बैठें ॥ १९ ॥

तिस्रस्त्रिसङ्ख्याका देवीर्देव्य इदं बर्हिरासदन्तु आसीदन्तु, विभक्तिव्यत्ययः सीदादेशाभावश्च छान्दसः, 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इत्याङोपसर्गेण क्रियापदव्यवधानम् । कास्ता देव्यः ? इत्यत आह—इडा पृथिवीस्थाना, सरस्वती मध्यस्थाना, भारती द्युस्थाना । मही महती गृणाना स्तुवन्तीति विशेषणद्वयं तिसृणामपि । यद्वा एकमेव वाक्यम्, महत्यो गृणाना इडा-सरस्वती-भारत्यो देव्यो बर्हिरिदमासदन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—मही महत्त्वोपेता गृणाना परमेश्वरं स्तुवन्ती इडा गवामधिष्ठात्री, सरस्वती ज्ञान-विज्ञानाधिष्ठात्री, भारती वाचामधिष्ठात्री—इत्येतास्तिस्रो देव्य इदं बर्हिर्भगवदाराधनरूपं यज्ञमासदन्तु साद्गुण्यायाधितिष्ठन्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं या मही गृणाना इडा सरस्वती भारती च तिस्रो देवीर्देव्य इदं बर्हिरन्तरिक्षमासदन्तु, ताः सम्यग्विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तासामन्तरिक्षे सत्त्वेऽपि पुरुषार्थानुपयोगित्वेन निरर्थकत्वात् । न चैतास्तिस्रो वाच एव, वाचां प्रशस्तज्ञानजनकत्वेऽपि जडत्वेन ज्ञानवत्त्वायोगात्, सर्वशास्त्र-मयत्वेऽपि सर्वशास्त्रधारकत्वायोगात् । तस्मात् पूर्वोक्तमेव व्याख्यानं युक्तम् ॥ १९ ॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु त्वष्टा सुवीर्यम् । रायस्पोषं विष्यतु नाभिमस्मे ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—त्वष्टा देवता उस अद्भुत, बहुत से प्राणियों अथवा शरीरों में निवास करने वाली, श्रेष्ठ सामर्थ्य वाली, हमको शीघ्र अभीष्ट फल देने वाली, धन की अथवा योग की लक्ष्मी को पुष्टि के लिये हमारी गोद में छोड़ें ॥ २० ॥

तत् प्रसिद्धं रायस्पोषं धनस्य पुष्टिं नोऽस्मभ्यमस्मदर्थं तुरीपं तूर्णं शीघ्रमश्नुते भोजयति, तूर्णमाप्नोतीति वा तुरीपम्, तुरा वेगेन वा प्राप्नोतीति तुरीपं शीघ्रं प्रापकम्। अद्भुतं महदभूतपूर्वमाश्चर्यमयम्, पुरुक्षु पुरुषु बहुषु यत् क्षियति निवसति तत् पुरुक्षु, सुवीर्यं साधुवीर्यमित्येतादृशं रायस्पोषं त्वष्टा देवोऽस्मेऽस्मासु नाभिमध्ये प्रतिविष्यतु विमुञ्चतु। 'स्यतिरुपसृष्टो विमोचने' (निरु० १।१७) इति यास्करीत्या सोपसर्गः स्यतिः 'षोऽन्तकर्मणि' धातुर्विमोचनार्थकः सम्पद्यते।

यद्वा—त्वष्टा देवस्तं प्रसिद्धं रायस्पोषं नोऽस्माकं नाभिं प्रति विष्यतु विमुञ्चतु, नाभौ मुक्तमुत्सङ्गे पततीति रीत्या मदायत्तं करोत्वित्यर्थः। 'पुरुक्षु' इत्यत्र 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेर्लुक्। क्षियतेरौणादिको डुप्रत्ययः। साधु वीर्यं साधु समीचीनं वीर्यं सामर्थ्यमुत्साहो वा येन तादृशं धनं देहीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे त्वष्टा देवः परमेश्वरस्तं रायो बाह्यस्य रत्नसुवर्णादेरान्तरस्य ज्ञानवैराग्यादेश्च धनस्य पोषं पोषकं भगवदनुरागरूपं नोऽस्माकं नाभिं हृदयं प्रति विष्यतु मुञ्चतु वर्षतु। कीदृशं तम्? तुरीपं तूर्णं ब्रह्मानन्दादिसुखप्रापकम्, अद्भुतं महान्तम्, अभूतपूर्वमानन्दमयं वा, पुरुषु शुक-शौनक-सनक-नारदादिषु क्षियति निवसतीति पुरुक्षु। सुवीर्यं शोभनमुत्कृष्टं वीर्यं जायते येन तम्, तादृशं रायस्पोषमस्माकं नाभिं हृदयं प्रति राष्ट्रमध्ये वा प्रतिविष्यतु मुञ्चतु।

दयानन्दस्तु—'त्वष्टाऽस्मे नाभिं प्रति तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु सुवीर्यं तं रायस्पोषं ददातु, नो दुःखाद्विष्यतु च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अचेतने धने सुष्ठुबलाद्ययोगात्। परिच्छिन्नस्यैव वस्तुनः कस्यचिन्नाभिं प्रति विमोचनसम्भवः, नापरिच्छिन्नस्य सर्वत्र व्यापकस्येति ॥ २० ॥

वन॑स्पतेऽव॑सृजा ररा॑णस्त्मना॑ दे॒वेषु॑। अ॒ग्निर्ह॒व्यꣳ श॑मि॒ता सू॑दयाति ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—शान्ति को देने वाले अग्निदेव हव्य का संस्कार करते हैं। इस कारण हे वनस्पति देवता, आप भी अपनी आत्मा के द्वारा देवताओं को हवि देते हुए हव्य को छोड़ें ॥ २१ ॥

यतोऽग्निः शमिता शामित्रोऽग्निर्हव्यं हविर्जातं पशोर्हृदयादिकं सूदयाति सूदयति, 'षूद क्षरणे', अत्र संस्कारार्थे वृत्तिः, संस्करोति, अतो हे वनस्पते, स्रुगुपादानभूतं तत्संस्कृतं हव्यमवसृज स्रुङ्मुखतोऽवाचीनं क्षिप। कीदृशस्त्वम्? त्मना आत्मना, 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा० सू० ६।४।१४१) इत्याकारलोपः। स्वेन हविर्देवेषु रराणः, 'रा दाने' इत्यस्मात् कानच्, ददान इति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—वनस्पतयोऽपि विग्रहवन्तश्चेतनास्तत्तदधिष्ठातारः सम्बोध्यन्ते। स्रुक्स्रुवजुह्वादयस्तत्र तत्र तदुपादानभूतवनस्पतिरूपेण सम्बोध्यन्ते। घृतादिरूपं हविरग्निः संस्करोति, संस्कृतं च हविः स्रुचा देवेषु दीयते। कारणरूपेणान्तर्यामिरूपेण च परमेश्वर एव तत्र तत्र स्तूयते। स एवाग्निरूपेण हविःसंस्कारकः, स एव च स्रुगादिरूपेण देवेभ्यो हविर्दधाति। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे वनस्पते, वनस्य सम्भजनीयस्य शास्त्रस्य पालक, यथा शमिताग्निर्हव्यं सूदयाति सूक्ष्मीकृत्य वायौ प्रसारयति, तथात्मना देवेषु रराणः सन् हव्यमवसृज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वनस्पतिपदस्य प्रसिद्धार्थत्यागे यौगिकार्थग्रहणे च मानाभावात्, वनपदेन 'वन संभक्तौ' इति धातोरर्थानुगमाद् वननीयं संभजनीयं धर्मब्रह्मादिकमपि ग्रहीतुं शक्यत इति तादृशार्थग्रहणे विनिगमनाभावात्। तथैव सूदयातीति क्रियापदस्य सूक्ष्मीकृत्य प्रसारयतीति नार्थः, 'षूद क्षरणे' इति धात्वर्थाननुसरणात्। न च शास्त्रपालको जिज्ञासुर्भवति, तस्य शास्त्रज्ञानेनैव निवृत्तजिज्ञासत्वात् ॥ २१ ॥

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेद इन्द्राय हव्यम् । विश्वेदेवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सर्वज्ञ अग्निदेव, आप इन्द्र के लिये स्वाहाकार-पूर्वक घृत आदि की आहुति दें, अन्य सब देवता इस हवि का सेवन करें ॥ २२ ॥

हे जातवेदः ! जातप्रज्ञान अग्ने, इन्द्राय देवाय हव्यं स्वाहा कृणुहि स्वाहाकारेण हव्यं प्रयच्छ। विश्वे सर्वे देवा द्योतमाना इदं हविर्जुषन्तां सेवन्ताम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदः ! सर्वज्ञ हे अग्ने श्रीराम परमेश्वर, इन्द्राय ऐश्वर्याय स्वाहा सत्यां वाचं कृणुहि स्वाहाकारेण प्रयच्छ। विश्वे सर्वे च देवास्त्वद्दत्तं हविर्जुषन्ताम् ।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदोऽग्ने, त्वमिन्द्राय स्वाहा हव्यं कृणुहि। विश्वे देवा इदं हविर्जुषन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रपदस्य ऐश्वर्यार्थत्वायोगात् । स्वाहापदस्य सत्यवागर्थतापि चिन्त्या ॥ २२ ॥

पीवोअन्ना रयिवृधः सुमेधाः श्वेतः सिषक्ति नियुतामभिश्रीः ।
ते वायवे समनसो वितस्थुर्विश्वेन्नरः स्वपत्यानि चक्रुः ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—शुभ बुद्धि वाले, नियुत नामक घोड़ों के स्वामी वायुदेव पुष्ट अन्न वाले और धन-धान्य की वृद्धि करने वाले घोड़ों का सेवन करते हैं। वे मनस्वी घोड़े वायु के लिये रथ में जुतते हैं। ऋत्विजों ने शुभ सन्तान प्राप्त कराने वाले शुभ कर्मों का अनुष्ठान किया है ॥ २३ ॥

'अथैतं वायवे नियुत्वते शुक्लं तूपरमालभते' (श० ६।२।२।६) इति हुतस्य पशोः 'पीवोअन्ना रयिवृधः' इत्याद्याः षड् याज्यानुवाक्याः। द्वे वायुदेवत्ये त्रिष्टुभौ वशिष्ठदृष्टे। 'शुक्लो हि वायुः' (श० ६।२।२।७)। यान् नियुतोऽश्वान् पीवोअन्ना पीवः पुष्टमन्नं येषां ते पीवोअन्नाः, 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावः, तान् पीवोअन्ना, छान्दसो नकारलोपः। रयिवृधो रयिं धनं वर्धयन्ति ये ते रयिवृधस्तान्। तादृशानश्वान् श्वेतः श्वेतवर्णो वायुः सिषक्ति, 'षच् सेचने', अयं सेवनार्थोऽपि, सिञ्चति सेवते वा। श्लौ रूपम्। ते नियुतोऽश्वाः समनस्काः सममनस्काः सन्तो वायवेऽर्थाय वितस्थुर्विशेषेणावतिष्ठन्ति। कीदृशः श्वेतः ? सुमेधाः सु सुष्ठु शोभना मेधा यस्य सः, कल्याणप्रज्ञान इति यावत्। पुनः कथम्भूतः ? नियुतामश्वानामभिश्रीरभितः श्रयणीयः। एवं वायुना अश्वयोगे कृते नरो मनुष्या ऋत्विजो विश्वा इद् विश्वानि सर्वाण्येव स्वपत्यानि शोभनापत्यप्रापकाणि चक्रुः, कर्माणीति शेषः। वाय्वश्वसंयोगे सति सर्वमिदं यज्ञादिकर्म प्रवर्तत इति भावः।

अध्यात्मपक्षे—श्वेतः शुक्लः सत्त्वगुणविशिष्टो विष्णुर्वायूपलक्षितश्चेतनः परमात्मा, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।४६)। अग्निर्मित्रो वरुणः सुमेधाः सर्वज्ञः, यान् पीवोअन्नान् रयिवृधो धनवर्धयितॄन् नियुतो वायुसम्बन्धिनोऽश्वान् सिषक्ति सिञ्चति प्रेमामृतप्रदानेन आप्याययति, नितरां यूयन्ते सेवायां सङ्गता भवन्ति ये ते नियुतः, कर्तरि क्विप्, साधकाः, नियुतां तादृशानामनन्योपासकानामभितो मनसा वाचा कर्मणा चाश्रयणीयः। पीवः पुष्टं भगवत्स्वरूपमेवान्नं भोग्यं येषां तान् पीवोअन्नान् रयिवृधः स्वोपासकानां धर्मवर्धयितॄन्, 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः' (मु० उ० ३।१।१०) इति श्रुतेः। सिषक्ति सिञ्चति प्रेमामृतेनाप्याययति सेवते वा। औषधं सेवत इतिवत् प्रयोगः। ते समनसो सानुरागमनस्का वायवे

वायूपलक्षिताय परमात्मने वितस्थुर्विविधच्छत्रसिंहासनपादुकादिरूपेण चिन्मात्रसिद्धहविःसौख्यादिरूपेण च भोज्यरूपेण तिष्ठन्ति। नरो मनुष्या ऋत्विग्यजमाना विश्वा विश्वानि इद् एव सर्वाण्येव स्वपत्यानि शोभनान्यपत्यानि फलानि वा येभ्यः कर्मभ्यस्तानि कर्माणि चक्रुः कुर्वन्ति, कर्मफलदातारं भगवन्तं विना कर्मसु फलदानसामर्थ्यायोगात्, 'क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते। अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा कृतपरिकरः कर्मसु जनः॥' (महिम्नस्तोत्रम्, २०) इत्युक्तेः। अनुष्ठानानन्तरकर्मफलजन्यादृष्टरूपेणान्तःकरणे सुप्ते सति क्रतुमतां फलयोगे कर्मफलप्रापणे त्वमेव जाग्रद् जागरूको भवसि, यतः पुरुषाराधनमन्तरा प्रध्वस्तं कर्म क्व फलदं भवति ? अत एव फलदाने प्रतिभुवं प्रतिभूरूपं त्वां परमात्मानं सम्प्रेक्ष्य श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा कृतपरिकरः सन्नद्धो भवति।

दयानन्दस्तु—'ये समनसो रयिवृधः सुमेधाः पीवोअन्नाः पीवांसि पुष्टिकराण्यन्नानि येषु पीवोअन्ना विश्वा स्वपत्यानि चक्रुः, ते इद्वायवे वितस्थुः। नियुतामधिश्रीरभितः श्रीः शोभा यस्य, श्वेतो गन्ता वर्धको वा वायुः सर्वान् सिषक्ति तदा स श्रीमान् जायते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वायुपदस्य वायुविद्यार्थकत्वे मानाभावात्। नहि स्वोत्पादनस्य वायुविद्योत्पत्तौ हेतुत्वम्, येन तद्वतां तदधिकारः सिद्ध्येत्। न चाधिकारसूचकपदमस्ति मन्त्रे॥ २३॥

रा॒ये नु यं ज॒ज्ञतु॒ रोद॑सीमे रा॒ये दे॒वी धि॒षणा॑ धाति दे॒वम्।
अध॑ वा॒युं नि॒युतः॑ सश्चत॒ स्वा उ॒त श्वे॒तं वसु॑धितिं निरे॒के॥ २४॥

मन्त्रार्थ—इस पृथ्वी और स्वर्ग ने वायु को जलरूप धन के निमित्त शीघ्र उत्पन्न किया है। ब्रह्मशक्ति दिव्य धन के निमित्त वायु को धारण करती है। श्वेत वर्ण के वायु के घोड़े निश्चय ही धन को धारण करने वाले वायु को बहुजनाकीर्ण स्थान में ले जाते हैं॥ २४॥

यं वायुं राये धनायोदकलक्षणाय, नु क्षिप्रम्, इमे रोदसी द्यावापृथिव्यौ जज्ञतुर्जनयामासतुः, वायुमन्तरेण द्यावापृथिव्योः संयोगेऽपि तेन जगद्धारणानुपपत्तेः। धिषणा धियं बुद्धिं कर्म वा सनोति सम्भजते, धियं बुद्धिं सनोति ददाति वा या सा धिषणा। अत्र ह्रस्व आर्षः। वाक् मध्यस्थाना देवी, दीव्यतीति देवी, देवं दानादिगुणकं वायुं राये धनाय धाति दधाति, शपो लुक्। अध अथोत्पत्तिसमनन्तरमेव तं वायुम् उत निश्चितं स्वा नियुतो निजाश्वाः सश्चतः सरन्तः सचन्ते सेवन्ते। उतापि च श्वेतं वायुं वसुधितिं वसुनो धनस्य उदकलक्षणस्य धारयितारम्, यद्वा वसुनो धनस्य धितिर्धारणं यत्र तम्, निरेके रेको रेचनं शून्यता, निर्गतो रेको यस्मात्तादृशे बहुजनाकीर्णे स्थानेऽवस्थितं वायुं नियुतः स्वाः सश्चत इति सम्बन्धः। अत्र उव्वटाचार्यमतेन सश्चत इति प्रातिपदिकम्। महीधराचार्यश्च सश्चतेति मध्यमपुरुषबहुवचनमाह। अत एव स पुरुषव्यत्ययं मनुते।

अध्यात्मपक्षे—वायुं वाति सर्वं जगद् गच्छति चेष्टते यस्माद् स वायुस्तं परमेश्वरं हिरण्यगर्भं वा, इमे रोदसी द्यावापृथिव्यौ जज्ञतुरुत्पादितवत्यौ प्रकटयाञ्चक्रतुर्वा। किमर्थम् ? राये विश्वस्य अभ्युदयाय देवी दीव्यन्ती धिषणा मध्यमस्थाना वाक् च यं देवं द्योतमानं धाति धारयति। यद्वा धिषणा समष्टिबुद्धिर्यं धाति धारयति अभिव्यञ्जयति वा। अध अथान्तरमेव श्वेतं स्वच्छं वायुं पूर्वोक्ताः स्वा निजा नियुतः समाराधकाः सश्चतः। कीदृशं वायुम् ? वसुधितिम्, आध्यात्मिकाधिभौतिकादेर्धनस्य धारयितारम्। क्व ? निरेके प्रदेशेऽपि सेवन्ते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, इमे रोदसी राये यं जज्ञतुः, धिषणा प्रज्ञा यं देवं राये नु धाति, अथ निरेके निर्गतशङ्के स्थाने स्वा नियुतो मिश्रणामिश्रणकर्तारः श्वेतं वृद्धमुत वसुधितिं वायुं सश्चतः प्राप्नुवन्ति, तं यूयं

विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या द्यावापृथिव्योर्जडत्वेन प्रेक्षापूर्वकारित्वाभावेन कस्याप्युत्पादकत्वासम्भवात्, धिषणापदस्य स्त्रीवाचकत्वे देवशब्दस्य पतिवाचकत्वे च मानाभावात्। न च पत्नी धनाय पतिं धारयति, तथात्वे पण्यवधूत्वापत्तेः। के जना मिश्रणामिश्रणकर्तारः? कथं च ते वृद्धं वायुं प्राप्नुवन्ति? तदर्थं निःशङ्कस्थानस्य को वोपयोगः? इत्याद्याक्षेपाऽसमाधानात्। शरीरे च वायुवृद्धिरपि रोग एवेति किमर्थं तादृशस्य वायोर्धारणम्॥ २४॥

आपो॑ ह॒ यद् बृ॑ह॒तीर्विश्व॒माय॒न् गर्भं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर॒ग्निम्।
ततो॑ दे॒वाना॑ᳪ समव॑र्त्त॒तासु॒रेकः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥ २५॥

मन्त्रार्थ—यह बात प्रसिद्ध है कि जब ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले अग्निरूप हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करने की इच्छा से महान् ब्रह्माण्ड रूप जल देवताओं ने विश्व का रूप धारण किया, तब एक वर्ष पर्यन्त गर्भ में स्थित देवताओं का प्राणरूप आत्मा लिंगशरीरमय हिरण्यगर्भ के रूप में उत्पन्न हुआ। उस प्रजापतिरूप देवता के निमित्त हम हवि देते हैं॥ २५॥

द्वे प्रजापतिदेवत्ये त्रिष्टुभौ हिरण्यगर्भदृष्टे प्रथमा द्व्यक्षराधिका 'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास' (श० ११।१।६।१) इति ब्राह्मणमेतत्कण्डिकयोर्निदानम्। पुराकल्पद्योतको ह इति निपातः। यद् यदा पुराकल्पे बृहतीर्बृहत्यो महत्यो बहुला आपो जलानि गर्भं हिरण्यगर्भलक्षणं दधाना धारयन्त्यः, अग्निमग्निरूपं हिरण्यगर्भं जनयन्तीर्जनयन्त्य उत्पादयिष्यन्त्यः, गर्भं हिरण्यमयमण्डं दधाना विश्वं सर्वमात्मत्वेन आयन्, तदा ततो गर्भात् संवत्सरोषिताद् देवानामसुः प्राणरूप एक आत्मा समष्टिलिङ्गशरीररूपो हिरण्यगर्भः समवर्तत समभवत्, उदपद्यत। य इत्थंभूतो हिरण्यगर्भस्तस्मै कस्मै प्रजापतिरूपाय देवाय हिरण्यगर्भाय वयं हविषा विधेम हविर्दद्मः, विभक्तिव्यत्ययः। विधतिर्दानार्थः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मत्वलक्षणवैराजपदप्राप्त्युपोद्घातत्वेन 'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास' (श० ११।१।६।१) इति ब्राह्मणमाख्यायिकया सृष्टिं प्रतिपादयति। आपो हेति। इदं सर्वं सृज्यमानं जगत् सृष्टेः पूर्वमाप एव अबात्मकमेव, तत्कार्यत्वात्। कथमिति चेत्तत्रोच्यते—अग्रे सृष्टेः पूर्वं सर्वात्मकमिदं सर्वं सलिलमेव उदकपरिशेषं बभूव। ता अबभिमानिन्यो देवता अकामयन्त। अत्र ब्राह्मणमेवोद्ध्रियते—

'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेमहीति ता अश्राम्यँस्तास्तपोऽतप्यन्त तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डᳪ सम्बभूवाजातो ह तर्हि संवत्सर आस तदिदᳪ हिरण्मयमाण्डं यावत् संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यप्लवत' (श० ११।१।६।१)। कथं नु केन प्रकारेण विविधजगदात्मना प्रकर्षेण जायेमहि। ताः कामयमाना आपोऽश्राम्यन्त खिन्ना अभूवन्। 'श्रमु तपसि खेदे च' इति दैवादिकः। ताः श्रान्ता आपस्तप आलोचनरूपं कृतवत्यः। तद् हिरण्मयं हिरण्यस्य विकारं हिरण्मयं हिरण्यनिर्मितमण्डमप्सु प्रथमं मयूरकुकुटाण्डवत् सम्बभूव। अतः संवत्सराभावाद् यावती संवत्सरस्य वेला प्रान्तः सम्भाव्यते तावत्पर्यप्लवत। 'ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिस्तस्माद् संवत्सर एव स्त्री वा गौर्वा वडवा वा विजायते संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत स इदᳪ हिरण्मयमाण्डं व्यरुजन्नाह तर्हि काचन प्रतिष्ठास तदेनमिदमेव हिरण्मयमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेलासीत् तावद्बिभ्रत् पर्यप्लवत' (श० ११।१।६।२)। तदण्डं परिप्लुतमपामुपरि स्थितमासीत्। ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। ततस्तस्मादण्डात् संवत्सरे काले गते सति पुरुषः शरीरी कश्चन समभवत्। स

पुरुषः प्रजापतिः। लोके शरीरिणामुत्पत्तिः संवत्सरकालसाध्या दृश्यते। यतो हि स्त्र्यादयो गर्भाशयस्थाने आण्डरूपे गर्भं धृत्वा तदवसाने पुत्रादिकं जनयन्ति। स उत्पन्नः प्रजापतिरिदं हिरण्मयमण्डं व्यरुजद् भग्नं कृतवान्, 'रुजो भङ्गे' तौदादिकः। एवमाश्रयभूतस्याण्डस्य विरुग्णत्वात् तस्य प्रजापतेः प्रतिष्ठा आस्पदं काचन किमपि नैवास। स च निराधारत्वात् स्थातुमशक्नुवन् इदमेव भिन्नं हिरण्मयमण्डं पुनः संवत्सरपर्यन्तं बिभ्रद् धारयन् तास्वेवाप्सु परिप्लवत। 'स संवत्सरे व्याजिहीर्षत्। स भूरिति व्याहरत् सेयं पृथिव्यभवत् भुव इति तदिदमन्तरिक्षमभवत् स्वरिति साऽसौ द्यौरभवत् तस्मादु संवत्सर एव कुमारो व्याजिहीर्षति संवत्सरे हि प्रजापतिर्व्याहरत्' (श० ११।१।६।३)। प्रसन्नं ब्राह्मणम्।

'स वा एकाक्षर-द्व्यक्षराण्येव। प्रथमं वदन् प्रजापतिरवदत्तस्मादेकाक्षरद्व्यक्षराण्येव प्रथमं वदन् कुमारो वदति' (श० ११।१।६।४)। 'तानि वा एतानि। पञ्चाक्षराणि तान् पञ्चर्तूनकुरुत त इमे पञ्चर्तवः स एवमिमाँल्लोकान् जातान् संवत्सरे प्रजापतिरभ्युदतिष्ठत् तस्मादु संवत्सर एव कुमार उत्तिष्ठासति संवत्सरे हि प्रजापतिरुदतिष्ठत्' (श० ११।१।६।५)। हेमन्त-शिशिरयोः समासाभिप्रायेण ऋतूनां पञ्चसंख्या। स परिप्लवमानः प्रजापतिरेकस्मिन् संवत्सरे गते सत्याण्डं विहाय इमान् सृष्टान् पृथिव्यादिलोकानवलम्ब्य उदतिष्ठद् ऊर्ध्वं स्थितवान्। यस्मादेवं तस्मादेव कारणाज्जन्मानन्तरं संवत्सरे काले गते एव कुमार उत्तिष्ठासति। 'स सहस्रायुर्जज्ञे। स यथा नद्यै पारं परापश्येदेवꣳ स्वस्यायुषः पारं पराचख्यौ' (श० ११।१।६।६)। 'सोऽर्चञ्छ्राम्यँश्चचार प्रजाकामः। स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त स आस्येनैव देवानसृजत ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजानाय दिवेवास तद्वेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजानाय दिवेवास' (श० ११।१।६।७) स आत्मनि स्वशरीर एव प्रजोत्पत्तिसाधनं योनिमधत्त। तत आस्येन ते देवा दिवं द्युलोकमभिपद्य असृज्यन्त। तस्माद्दिवमभिपन्नास्ते। तस्माद् द्युसम्बन्धात् तेषां देवत्वं देवशब्दाभिधेयता सम्पन्ना। एतावता 'विद्वांसो हि देवाः' (श० ३।७।३।१०) इति श्रुतेरशुद्धमर्थं व्याचक्षाणाः सामाजिकाः परास्ताः। अत्र स्पष्टं द्युलोकसम्बन्धित्वेन देवत्वमुक्तम्। दिवेव प्रकाश इव बभूव। 'अथ योऽयमवाङ् प्राणः। तेनासुरानसृजत त इमामेव पृथिवीमभिपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजानाय तम इवास' (श० ११।१।६।८)। 'सोऽवेत्। पाप्मानं वा असृक्षि यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति ताँस्तत एव पाप्मनाविध्यत् ते तत एव पराभवँस्तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इति हास्रे त्वत्ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्ते तत एव पराभवन्निति' (श० ११।१।६।९)। योऽयमवाङ्मुखः प्राणस्तेन प्रजापतिरसुरान् असृजत। ते पृथिवीमेवाभिपद्यासृज्यन्त। असुरान् सृष्टवते प्रजापतये सासुरसृष्टिरन्धकार इवाभवत्। ततः प्रजापतिः पापमेव खल्वहं सृष्टवानस्मि यत्सृष्टौ तम इवाभूदित्येवं पर्यालोच्य तमोरूपेण पाप्मना अविध्यत्। तस्मात्कारणादभिज्ञा आहुः—यतः प्रजापतिना सृष्टिसमय एवासुरा निराकृताः, तेन देवासुरं देवाश्चासुराश्चेति युद्धादिकं यदस्ति तन्नैवास्ति।

यद् देवैः सार्धमसुरसृष्टिप्रतिपादनम्, तदेकमेवेदम्, तदुभयं नैवास्ति, सृष्टिसमय एव पापवेधेन तेषां पराभूतत्वात्। 'तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्। न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति मायेत्सा यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स इति' (श० ११।१।६।१०)। उक्तार्थदार्ढ्याय मन्त्रमुदाहरति—हे इन्द्र, त्वं न युयुत्से युद्धं न कृतवान्, त्वत्प्रतिभटानामसुराणामभावात्। कतमच्च किमपि शत्रुसैन्यं नाहः नावधीः। हे मघवन्, ते तव प्रकृतसृष्टावमित्रस्तव कश्चन न कोऽपि। 'स ऐक्षत प्रजापतिः। सर्वं वा अत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति स सर्वत्सरोऽभवत् सर्वत्सरो ह वै नामैतद्यत्संवत्सर इति स यो हैवमेतत्संवत्सरस्य सर्वत्सरत्वं वेद यो हैनं पाप्मा मायया त्सरति न हैनꣳ सोऽभिभवत्यथ यमभिचरत्यभि हैवैनं भवति य

एवमेतत्संवत्सरस्य सर्वत्सरत्वं वेद' (श० ११।१।६।१२)। योऽहमिमा देवता असृक्षि सृष्टवानस्मि, सोऽहं सर्वं स्रष्टव्यं जगद् अत्सारिषम् छद्मगत्या प्राप्तवानस्मि, 'त्सर छद्मगतौ' भौवादिकः। इत्यादिब्राह्मणेन यदुक्तं तदेवास्मिन् मन्त्रद्वये प्रोक्तम्। या बृहत्य आपोऽग्निं जनयिष्यन्त्यो गर्भमाण्डं हिरण्मयं दधाना विश्वं सर्वं स्वात्मत्वेनायन् अवापुः, ततः संवत्सरोषितात् देवानामसुः प्राणभूत एवात्मा हिरण्यगर्भः समवर्तत समभवत्, य ईदृशो देवानामात्मभूतो हिरण्यगर्भस्तस्मै कस्मै हविषा विधेम।

दयानन्दस्तु—'बृहतीर्जनयन्तीर्यद्धविरिव गर्भं दधानाः सत्या आप आयंस्ततोऽग्निं देवानामेकोऽसु समवर्तत। तस्मै ह कस्मै देवाय वयं हविषा विधेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या जडानामपां पृथिव्यादि-स्रष्टृत्वासम्भवात्, गर्भपदस्य प्रधानार्थतापि निर्मूलैव। देवानां पृथिव्यादीनामेकः समवर्तत, अत्र परमात्मा कस्य शब्दस्यार्थः ? न चासुशब्दस्य परमात्मार्थः, तस्य प्राणवाचकत्वात् ॥ २५ ॥

यश्चिदापो॑ महि॒ना प॒र्यप॑श्य॒द् दक्षं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर्य॒ज्ञम् ।
यो दे॒वेष्वधि॑ दे॒व एक॒ आसी॒त् कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—जिस अविनाशी ब्रह्म ने अपनी महिमा से प्रजापतिरूप हिरण्यगर्भ को धारण करने वाले, यज्ञवाली प्रजा को भी उत्पन्न करने वाले, निजकिरणरूप जल देवता को सब ओर से देखा। जो देवताओं में प्रमुख रूप से एक होता हुआ भी नाना प्रकार के अवतारों से क्रीड़ाशील हुआ, उस ब्रह्मदेव के निमित्त हम यह आहुति देते हैं ॥ २६ ॥

यश्चिद् योऽपि, चिदप्यर्थकः, देवो अन्तर्यामी महिना महाभाग्येन आपोऽपः, विभक्तिव्यत्ययः, पूर्वोक्ताः पर्यपश्यत् सर्वतो ददर्श। कीदृशीः ? दक्षं कुशलं प्रजापतिं दधानाः। यज्ञं सृष्टिरूपं यज्ञं च जनयन्तीः। यज्ञं यज्ञकर्त्रीः प्रजा वा, लक्षणया यज्ञशब्देन यज्ञकर्त्रीणां प्रजानां वा विवक्षितत्वात्। यश्च देवेषु अधि अधिक उत्कृष्ट एको मुख्यो देव आसीत्, तस्मै देवाय हविषा विधेम हविर्दद्मः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्व एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'यो महिना दक्षं दधाना यज्ञं जनयन्तीरापः सन्ति, ताः पर्यपश्यत्। यो देवेष्वधिकोऽधिदेव आसीत्। तस्मै चित् कस्मै देवाय वयं हविषा विधेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बलस्य संसारस्य चोत्पादने जलानामपामहेतुत्वात्। देवेषु प्रकृत्यादिजीवेष्वित्यप्यनर्थः, जडानां भोग्यत्वेन भोक्तृत्वायोगात्। न च यज्ञपदेन सङ्गत्या संसारोऽर्थः, तथात्वे संसारमग्नस्य याज्ञिकत्वेन यज्ञफलप्रापकत्वापत्तेः। न च परमेश्वरे ज्ञानोत्पत्तिः सम्भवति, आत्ममनःसंयोगाभावात्। न च संयोगो विद्यते, निर्हेतुकत्वात्, न च निर्हेतुकमेव ज्ञानम्, तथात्वे पर्यपश्यदित्यागन्तुकत्वानापत्तेः। न च नित्यमपि सम्भवति, ज्ञानानामनित्यत्वदर्शनात्। सिद्धान्ते तु परमेश्वरस्य ज्ञानस्वरूपत्वेन नित्यत्वेऽपि भास्यसंसर्गस्यागन्तुकत्वेनागन्तुकत्वोपपत्तिः ॥ २६ ॥

प्र याभि॒र्यासि॑ दा॒श्वा२ꣳस॒मच्छा॑ नि॒युद्भि॑र्वायवि॒ष्टये॑ दु॒रो॒णे ।
नि नो॑ र॒यिꣳ सु॒भोज॑सं युवस्व॒ नि वी॒रं गव्य॒मश्व्यं॑ च॒ राधः॑ ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे सर्वव्यापी वायुदेव, आप जिन घोड़ों की सहायता से यज्ञशाला में वर्तमान यज्ञ के अनुष्ठान के निमित्त हवि देते हुए यजमान के सम्मुख जाते हैं, तब आप हमें सुख भोग के साधन धन को दीजिये, वीर पुत्र, गो, अश्व आदि धन को भी दीजिये ॥ २७ ॥

द्वे वायुदेवत्ये त्रिष्टुभौ वशिष्ठदृष्टे। हे वायो, त्वं याभिर्नियुद्भिरश्वाभिरिष्टये यागाय दुरोणे यज्ञगृहे वर्तमानं दाश्वांसं हविर्दत्तवन्तं यजमानम् अच्छा आभिमुख्येन प्रयासि। नियुच्छब्द उभयलिङ्गः स्त्रियां पुंसि च। 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति संहितायामच्छेति दीर्घः। 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इति प्रेत्यस्य व्यवहितः प्रयोगः। ताभिर्नियुद्भिरागत्य नोऽस्मभ्यं सुभोजसं सुष्ठु भुज्यत इति सुभोजास्तम्, भुजेरसुन् औणादिकः। किञ्च, वीरं पुत्रं गव्यं गोसम्बन्धि अश्व्यं अश्वसम्बन्धि च रायो धनं नियुवस्व देहि। निपूर्वो यौतिर्दानार्थः, व्यत्ययेन शः। तथा रयिं सुवर्णादिरूपां लक्ष्मीं च नियुवस्व देहि।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो सर्वान्तर्यामिन् वायुरूपधारिन्, त्वं याभिर्नियुद्भिर्वडवाभिरिष्टये यागाय दुरोणे यज्ञगृहे वर्तमानं दाश्वांसं यजमानम्, अच्छाभिमुख्येन प्रयासि, ताभिरागत्य नोऽस्मभ्यं सुभोजसं रयिं धनं नियुवस्व, वीरं पुत्रं गव्यं गोसम्बन्धि अश्व्यं अश्वसम्बन्धि रायो धनं च नियुवस्व देहि। किञ्चिद् धनं सदपि सुभोजो न भवति, दुर्जरत्वात्, रोगादिजनकत्वाद्वा। तत एवार्थशास्त्रेषु धर्मानुबन्धमर्थानुबन्धं च धनमाद्रियते, नाधर्मानुबन्धमनर्थानुबन्धमननुबन्धं चेति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् वायो, वायुरिव त्वं प्रयाभिः कमनीयाभिर्नियुद्भिर्नियतैर्गुणैरिष्टयेऽच्छयासि दुरोणेन सुभोजसं दाश्वांसं रयिं नियुवस्व वीरं गव्यमश्व्यं च राधो नियुवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित् गौणार्थाश्रयणात्, धनमिश्रणासङ्गतेश्च, नियुत्पदस्य नियतगुणार्थत्वे मानाभावाच्च, दुरोण इति पदस्य वैयर्थ्यापाताच्च। दाश्वश्शब्दस्यापि रयिशब्देनासङ्गतिरेव, रये जडत्वेन तत्रानौपचारिकदातृत्वायोगात्। विज्ञानादिगुणप्राप्तिरपि तत्रासङ्गतैव ॥ २७ ॥

आ नो॑ नि॒युद्भिः॑ श॒तिनी॑भिरध्व॒रᳪ स॑ह॒स्रिणी॑भि॒रुप॑याहि य॒ज्ञम्।

वायो॑ अ॒स्मिन् सव॑ने मादयस्व यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ— हे वायुदेव, शत-सहस्र संख्या वाले घोड़ों की सहायता से आप हमारे सत्पथ दाता यज्ञ स्थान पर आइये, इस तीसरे सवन से तृप्त होइये। हे ऋत्विजों, आप सब समस्त कल्याणों के साथ हमारी सदा रक्षा कीजिये ॥ २८ ॥

हे वायो, नियुद्भिरश्वाभिर्वडवाभिर्नोऽस्माकमध्वरं यज्ञमुपयाहि। कीदृशीभिर्नियुद्भिः? शतिनीभिः सहस्रिणीभिः शतं सहस्रं च संख्या यासां ताभिः, सपरिकरोऽस्मद्यज्ञमुपागच्छ। सवाहनस्य सपरिकरस्य तर्पणे वयं सक्षमा इति भावः। एत्य चास्मिन् सवने तृतीये मादयस्व तृप्यस्व। इदानीमृत्विजो मन्त्रपादेनाह—हे ऋत्विजः, यूयं स्वस्तिभिरविनाशैः कल्याणैर्वा नोऽस्मान् सदा पात रक्षत।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो! विश्वचालक परमेश्वर वायुरूपधारिन्, नोऽध्वरमुपयाहि। हे ऋत्विजः, यूयं तादृशस्य वायोर्यजनेन तज्जनितैः स्वस्तिभिः कल्याणैर्नः सदा पात। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे वायो, यथा वायुर्नियुद्भिर्निश्चितैर्गमनागमनैः शतिनीभिः शतानि बहूनि कर्माणि विद्यन्ते यासु, सहस्रिणीभिः सहस्राण्यसंख्या वेगा विद्यन्ते यासु गतिषु, ताभिरस्मिन् सवने नोऽध्वरं यज्ञं संगन्तव्यं व्यवहारमुपगच्छन्ति, तथा त्वमेतमायाहि मादयस्व। हे विद्वांसो यूयमेतद्विद्यया स्वस्तिभिर्नः सदा पात' इति, तदप्युपहासास्पदम्, असङ्गतत्वात्, सम्बोधनार्हाणां निर्मूलत्वाच्च, गतिमिति विशेषणस्य मूलेऽनिर्देशात्। यौतेर्गत्यर्थतायां मिश्रणामिश्रणादेर्निर्मूलता, अन्यथा गत्यर्थतानिर्मूलता, व्यवहारस्यापि गतिविशेषरूपत्वात्, तं प्रति गत्यन्तरानपेक्षणाच्च, दार्ष्टान्ते विदुषस्तादृशगत्यसिद्धेश्च, किञ्चैतस्य पश्वादिसाधारण्येन वेदे तद्वर्णनस्य निरर्थकत्वाच्च ॥ २८ ॥

नियुत्वान् वायवागह्ययᳪं शुक्रो अयामि ते । गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ— हे वायुदेवता, आप यजमान के गृह में आइये, वहाँ अश्व पर चढ़ कर आइये, यह शुक्र ग्रह आपको समर्पित है ॥ २९ ॥

षड़ृचो वायव्या वायव्येष्टकापशुपक्षे वपादीनां याज्यानुवाक्यात्वेन विनियुक्ताः। तत्राद्या गायत्री गृत्समदस्यार्षम् । हे वायो ! यतः सुन्वतोऽभिषवं कुर्वतो यजमानस्य गृहं प्रति त्वं गन्ता गमनशीलोऽसि । तृन्नन्तोऽयं शब्दः, आद्युदात्तत्वात् । तच्छीलः, तद्धर्मः, तत्साधुकारी वा—एते हि तृनोऽर्थाः, 'आ क्वेस्तच्छील-तद्धर्मतत्साधुकारिषु' (पा० सू० ३।२।१३४) इति पाणिनिस्मृतेः । अतो ब्रवीमि नियुत्वान् अश्वावान् नियुद्गुणको वा भूत्वा आगहि आगच्छ । शपो लुक् । अयं शुक्रो ग्रहस्ते त्वां प्रति अयामि आगच्छतु प्राप्नोतु । लकारपुरुष-व्यत्ययः । शुक्रादिग्रहाणां त्वमेव पात्रमित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो परमेश्वर, सुन्वतः सोमाभिषवं कुर्वतो यजमानस्य गृहं प्रति गमनशीलोऽसि, अतो नियुत्वान् भूत्वा आगहि । अयं शुक्रो ग्रहोऽपि त्वां प्रत्यागच्छतु, सर्वात्मकस्य भगवत एव वायुरूपेणाप्यव-स्थितत्वात् । अथवा हे भगवन्, अयं त्वद्भक्तोऽहं शुक्रः पवित्रो भूत्वा ते तव धाम स्वरूपं वा अयामि प्राप्नोमि । अपरिच्छिन्नोऽपि भगवान् भक्तानुग्रहकातरो भूत्वा रामकृष्णादिविग्रहेण दिव्याश्वादिवाहनैः सुन्वतो भक्तस्य गृहं प्रति यातीत्यहो भक्तवात्सल्यम् ।

दयानन्दस्तु—'हे वायो, नियुत्वान् ईश्वरस्त्वं यथायं शुक्रो गन्ता वायुः सुन्वतो गृहं गच्छति, तथा मामागहि, यतस्त्वमीश्वरोऽसि तस्मात्ते स्वरूपमहमयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नियच्छते नियुत्वानित्यसिद्धेः । पृषोदरादिसमाश्रयणं त्वसति गत्यन्तरे बोध्यम् । न चेश्वरो गन्ता स्वेन रूपेण भवति, तस्य व्यापकत्वेना-नाप्तस्य गन्तव्यदेशस्याभावात्, परिच्छिन्नस्यैव उत्क्रमणसंक्रमणादिसम्भवात् ॥ २९ ॥

वायो शुक्रो अयामि ते मध्वो अग्रं दिविष्टिषु ।
आयाहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—हे वायुदेवता, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में रस के सारभूत इस शुक्र ग्रह को आपके लिये समर्पित करता हूँ । हे वायुदेवता, हमारे यजमान के यहाँ अपने अभीष्ट सोमपान के लिये अश्वयुक्त रथ से आइये ॥ ३० ॥

अनुष्टुप् पुरुमीढाजमीढदृष्टा । हे वायो, शुक्रो ग्रहस्ते त्वां प्रत्ययामि आगच्छतु । कीदृशः शुक्रो ग्रहः ? दिविष्टिषु द्यौः स्वर्ग इष्यते प्रार्थ्यते याभिस्ता दिविष्टयस्तासु, 'ज्योतिष्टोमेन[1] स्वर्गकामो यजेत' इति श्रुतेः । मध्वो मधुनो रसस्य अग्रं सारभूतः, यज्ञरसेषु शुक्रो ग्रहः सारभूत इत्यर्थः । किञ्च, हे देव वायो ! नियुत्वता अश्वावता रथेन सोमपीतये सोमपानाय आयाहि आगच्छ । कीदृशस्त्वम् ? स्पार्हः स्पृहायोग्यः, यजमानादिभिः स्पृहणीय इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो, दिविष्टिषु यज्ञेषु मध्वो मधुनो रसस्य अग्रं सारभूतं त्वां शुक्रः शुद्धो भूत्वा अहमयामि प्राप्नोमि । हे देव, अश्वावता रथेन सोमपीतये सोमोपलक्षितभक्तसमर्पितनैवेद्यग्रहणाय आयासि । त्वं सर्वस्य प्राणिमात्रस्य स्पृहणीयः, सर्वस्यात्मत्वेन सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात् ।

---

१. अनुपलब्धमूलं वचनमिदम् ।

दयानन्दस्तु—'हे वायो, यो वायुरिव शुक्रस्त्वमसि, यो मध्वोऽग्रं दिविष्टिष्वहमायामि। हे देव, स्पार्हस्त्वं नियुत्वता सह सोमपीतय आयाहि' इति, तदपि विशृङ्खलितमेव, मध्व इत्यस्य मधुरवचनबोधकत्वे मानाभावात्, दिविष्टिष्वित्यस्य उत्तमसङ्गत्यर्थकत्वस्य चिन्त्यत्वात्। यः स्पृहयति तस्यायं स्पार्हः। हिन्दीभाष्ये तु उत्तमगुणाभिलाषवतः पुत्र इति व्याख्यानम्, तदपि निर्मूलम्, बाह्यसापेक्षार्थापेक्षया निरपेक्षार्थस्यैव ज्यायस्त्वात् ॥ ३० ॥

वायुरग्रेगा यज्ञप्रीः साकं गन्मनसा यज्ञम्। शिवो नियुद्भिः शिवाभिः ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—अग्रगामी, यज्ञ से तृप्त होने वाला, सबका कल्याण करने वाला वायुदेवता कल्याणरूप घोड़ियों के साथ प्रसन्न मन से हमारे यजमान के इस यज्ञ में आवे ॥ ३१ ॥

द्वे गायत्र्यौ। वायुरग्रेगा अग्रे गमनशीलः, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इत्याकारः। यज्ञप्रीर्यज्ञेन प्रीयते तुष्यतीति यज्ञप्रीः, शिवः कल्याणकरः, शिवाभिः कल्याणरूपाभिर्नियुद्भिरश्वाभिर्मनसा साकं चित्तेन सार्धं सादरं यज्ञं गन् गच्छतु।

अध्यात्मपक्षे—वायुर्वायोरपि शीघ्रगामी मनसो जवीयः, 'तद्धावतोऽन्यानत्येति' (वा० सं० ४०।४) इति मन्त्रवर्णात्। व्यापकस्यापि सतस्तत्र तत्राभिव्यक्त्यपेक्षया तन्व्यां विद्युत इव गमनमुपचर्यते। अग्रेगा अग्रे गमनशीलः, यज्ञप्रीर्यज्ञेन प्रीयते तुष्यतीति यज्ञप्रीः, सर्वयज्ञैर्भगवत एव समर्हणीयत्वात्। मनसा सानुरागेण साकं शिवः कल्याणकरः कल्याणरूपः, शिवाभिः कल्याणमयीभिर्नियुद्भिर्वडवाभिरश्वैर्वा यज्ञमिमं गन् आगच्छतु। आञ्जस्येन सर्वाणीमानि विशेषणानि भगवत्येव सङ्गच्छन्ते।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वायुर्नियुद्भिः शिवाभिर्यज्ञं गन्, तथा शिवोऽग्रेगान् यज्ञप्रीः संस्त्वं मनसा साकं यज्ञमायाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वायोर्विदुषश्च क्रियासु साम्याभावेन तदनुपपत्तेः। सम्बोधनमपि निर्मूलमेव ॥ ३१ ॥

वायो ये ते सहस्रिणो रथासस्तेभिरागहि। नियुत्वान् सोमपीतये ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हे वायुदेवता, आपके पास हजारों रथ हैं, उन रथों में अश्वों को जोत कर आप हमारे इस यजमान के यहाँ आइये ॥ ३२ ॥

हे वायो, ये ते तव सहस्रिणः सहस्रसंख्याभिर्युक्ता रथासो रथास्तेभिस्तैरथैरागहि आगच्छ। किमर्थम्? सोमपीतये सोमपानाय। कीदृशस्त्वम्? नियुत्वान्, अश्वायुक्तः, 'नियुतो वायोः' (निघ० १।१५।१०) इति निघण्टूक्तेः।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो! वायुरिव विश्वपावन भगवन्, ते तव सहस्रिणो रथाः, सहस्रपदमनन्तबोधकम्, अनन्तरथाः। तै रथैः साधनभूतैः सोमपीतये सोमपानाय आगहि आगच्छ। त्वं वायुरूपेण नियुत्वानश्वावानसि। यद्वा निपूर्वस्य यौतेर्दानार्थकत्वेनानन्तदानादिगुणकोऽसि। क्विबन्तान्मतुबिति भावः।

दयानन्दस्तु—'हे वायो! वायुरिव वर्तमान विद्वन्, ये ते सहस्रिणो रथाः सन्ति, तेभिः सह नियुत्वान् सन् त्वं सोमपीतय आगहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वायुर्यज्ञमुद्दिश्याऽऽयातीति निश्चेतुमशक्यम्, त्वद्रीत्या तस्य जडत्वेन प्रेक्षापूर्वकारित्वायोगात्। तस्य काः शिवाः काश्चाशिवा नियुत इत्यप्यशक्यनिर्णयम्, जीवानामल्पज्ञत्वात्। विदुषोऽपि क्रियाणामपि तथात्वमशक्यनिर्णयमेव ॥ ३२ ॥

एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विंशती च ।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्च ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे आत्मरूप समृद्धि वाले वायुदेव, एक, दो, तीन, दस, बीस और तीस वाहनों से आकर हमारे इस यजमान के यज्ञ की सम्पत्ति के लिये जिन पात्रों को आपने धारण किया था, उनको अब छोड़िये ॥ ३३ ॥

अनयर्चा पात्राणि मुच्यन्ते । हे वायो, स्वभूते, स्वा स्वकीया भूतिः सर्वजगद्रूपा समृद्धिर्यस्य स स्वभूतिस्तत्सम्बुद्धौ, यानि पात्राणि इष्टये देवयज्यायै एकया नियुता, दशभिः, द्वाभ्यां विंशती ; विंशत्या पूर्वसवर्णः, तिसृभिः त्रिंशता च नियुद्भिरश्वाभिः कृत्वा वहसे, ता तानि पात्राणि इह यज्ञे विमुञ्च । पञ्चचकाराः समुच्चयार्थाः ।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो भगवन्, हे स्वभूते, स्वकीया भूतिर्जगद्रूपा समृद्धिर्यस्यासौ स्वभूतिस्तत्सम्बुद्धौ, ब्रह्मरूपेण सर्वस्य जगतो ब्रह्मविकारत्वात् । हिरण्यगर्भरूपेणापि सूत्रात्मरूपस्य वायोरेव सर्वं जगदुत्पद्यते । स चैकया दशभिर्द्वाभ्यां विंशत्या तिसृभिश्च त्रिंशता नियुद्भिरश्वैरश्वतुल्याभिः शक्तिभिर्योग्यतानुसारेण एकया द्वाभ्यां तदुपलक्षितैरनन्ताभिः शक्तिभिः कल्याणपात्राणि वहति, ताभिश्च जगते कल्याणानि प्रापयतीत्यर्थः । इह यज्ञे । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे स्वभूते वायो, यथा पवन इहेष्टये एकया च गत्या दशभिर्दशविधाभिर्गतिभिर्द्वाभ्यां विद्यापुरुषार्थाभ्यामिष्टये विद्यासङ्गतये विंशती चत्वारिंशत् तिसृभिस्त्रिशता च नियुद्भिः सह यज्ञं वहति, तथा वहसे, स त्वं ता विमुञ्च, अर्थात् ता उपदिश' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैवार्थस्य स्वकपोलकल्पितत्वात् । नियुत्पदेन नियता गतिरित्यर्थः कथङ्कारं ग्रहीतुं शक्यते ? लोके वेदे च एकादीनां गतीनामप्रसिद्धेः । 'नियुतो वायोः' (निघ० १।१५।१०) इति च निघण्टुप्रसिद्धिः ॥ ३३ ॥

तव वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत । अवांस्या वृणीमहे ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे सत्यपालक, सूर्य के जामाता, आश्चर्य रूप वाले वायुदेव, हम यजमान के लिये आपसे धन-धान्य की और सभी प्रकार की रक्षा की कामना करते हैं ॥ ३४ ॥

गायत्री व्यश्वदृष्टा । हे वायो, हे ऋतस्पते ! ऋतस्य सत्यस्य पतिः पालक इति ऋतस्पतिः, ऋतस्य पतौ परे सुडागमः, तत्सम्बुद्धौ । यज्ञपालक वा, ऋतशब्दस्य यज्ञवचनत्वात् । हे त्वष्टुरादित्यस्य जामातः ! आदित्यादपः कन्या आदाय ता वायुर्गर्भिणीः करोति । ततो वृष्टिर्भवति । तस्माद्वायुरादित्यस्य जामाता । हे अद्भुत आश्चर्यरूप, तव अवांसि अन्नानि, 'अव इत्यन्ननामसु' (निघ० २।७।९), आवृणीमहे प्रार्थयामहे ।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर एव प्रसिद्धवायुरूपेण ऋतस्पतिरादित्यस्य च जामाता कन्यापतिर्भवति । स एवाश्चर्यरूपः, स एव चान्नानां दाता, अतस्तस्मादन्नानि प्रार्थ्यन्ते । पुराणेषु च आदित्यस्त्वष्टुर्जामाता प्रसिद्धः । आदित्यस्य च तेजः सोढुमसमर्था त्वष्टुः कन्या संज्ञा वडवा भूत्वा तपश्चचार । त्वष्ट्रा च सूर्यस्य सौन्दर्याय तदीयतेजसां बाहुल्यस्य शातनं कृतम् । ततो वडवारूपायां संज्ञायामश्विनोरुत्पत्तिर्जाता ।

दयानन्दस्तु—'हे ऋतस्पते जामातरद्भुतवायो, वयं यानि त्वष्टुर्विद्यया दीप्तस्य तवावांसि रक्षणादीन्यावृणीमहे, तानि त्वमपि स्वीकुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकृते कन्यापतिसादृश्यानिरूपणात्, विदुषः सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च । ततोऽवसां प्रार्थनमपि सिकतातस्तैलप्रार्थनाकल्पमेव ॥ ३४ ॥

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हे शौर्यवान् परमेश्वर, आप इस जगत् के स्वामी हैं, सूर्यरूपी नेत्र वाले हैं, इस स्थावर जगत् के स्वामी हैं। हम आपके सम्मुख खड़े हो उसी प्रकार स्तुति करते हैं, जिस प्रकार कि बिना दुही हुई गाय बछड़ों के सम्मुख आती है ॥ ३५ ॥

बृहती सतोबृहती द्वयं प्रगाथं वसिष्ठदृष्टमिन्द्रदेवत्यम्। 'रथन्तरं दक्षिणे पक्षे' (श० ९।१।२।३६) इति श्रुतिः। 'नान्योऽध्वर्योर्गायेत्' (श० ९।१।२।४३) इति श्रुत्याध्वर्योर्गानं विहितम्। अतः साम्नां योनय ऋचः पठ्यन्ते। तत्रैन्द्रः प्रगाथो रथन्तरस्य योनिः। हे शूर ! हे इन्द्र, वयं त्वा त्वामभिनोनुमोऽभिष्टुमः। कथमिव ? अदुग्धा धेनव इव। यथा अदुग्धा अकृतकृत्या धेनवो वत्सान् अभिष्टुवन्ति तद्वत्। कीदृशं त्वामभिनोनुमः ? अस्य जगतो जङ्गमस्य ईशानं परमेश्वरम्, तथा स्वर्दृशं स्वः स्वर्गं परलोकं पश्यत्यापरोक्ष्येणेति स्वर्दृक्, तम्। यद्वा स्व आदित्य इव यो दृश्यते स स्वर्दृक्, तम्। अथ च तस्थुषः स्थितवतः स्थावरस्य ईशानं नियन्तारं त्वाभिनोनुमः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमेश्वर, परमैश्वर्यस्य ब्रह्मण्येव सम्भवात्। हे शूर, निरतिशय-शौर्यस्यापि तत्रैव सम्भवात्। वयं त्वामभिनोनुमः। जगतस्तस्थुषश्चेशानत्वमपि परमेश्वर एव पर्यवस्यति। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे शूर इन्द्र, धेनवोऽदुग्धा इव वयमस्य जगतस्तस्थुष ईशानं स्वर्दृशमिवेशानं त्वामभि-नोनुमः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कस्यचिद्राज्ञः सभापतेर्वा वर्णने वेदस्य तात्पर्याभावात्। न चेश्वरतुल्यं सामर्थ्यं राज्ञि सम्भवति, जीवमात्रस्यैवाल्पैश्वर्यवत्त्वात् ॥ ३५ ॥

न त्वावाँ२॥ अन्यो दिव्यो न न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे पूर्ण धनवान् परमेश्वर, आपके समान कोई दूसरा देव नहीं है, मनुष्य भी नहीं है। आपके समान न कोई उत्पन्न हुआ है और न होगा। इस कारण अश्वों को चाहने वाले, गायों की कामना करने वाले हम हवियुक्त होकर आपका आह्वान करते हैं ॥ ३६ ॥

हे मघवन् धनवन् हे इन्द्र, येन त्वावान् त्वमिव दृश्यत इति त्वावान्, त्वत्सदृशः। 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्' (पा० सू० ५।२।३९) इत्यत्र वतुबिति योगविभागाद् वतुप्प्रत्ययः। पृषोदरादिः। अन्यो दिव्यो दिवि भवः, पार्थिवः पृथिवीभवः, नास्तीति शेषः। न च पूर्वं जातः, न वा जनिष्यत उत्पत्स्यते। कालत्रयेऽपि त्वत्तुल्यस्यान्यस्याभावाद् वयं त्वा त्वां हवामहे आह्वयामः। कीदृशा वयम् ? वाजिनः, वाजं हविर्लक्षणमन्नमस्ति येषां ते, हविषा युक्ताः। पुनः कीदृशाः ? अश्वायन्तः, आत्मनोऽश्वान् इच्छन्ति कामयन्त इत्यश्वायन्ति, 'अश्वाघस्यात्' (पा० सू० ७।४।३७) इत्यात्वम्, ततः शतरि अश्वायन्तः, अर्थाद् अश्वान् कामयमानाः। पुनः कीदृशाः ? गव्यन्तः, गोकामा वयं त्वा हवामहे। गवाश्वान् देहीति तात्पर्यम्।

अध्यात्मपक्षे—हे मघवन्, ज्ञानविज्ञानादिकं लौकिकं पारलौकिकं च मघं धनमस्ति यस्य स मघवान् तत्सम्बुद्धौ। हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमात्मन्, त्वावान् दिव्यः पार्थिवश्चान्यः कश्चन नास्ति, 'न त्वत्समोऽ-

स्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः' (भ० गी० ११।४३) इति भगवद्वचनेनाप्ययमर्थः समर्थितो भवति। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु- 'हे मघवन्निन्द्रेश्वर, वाजिनो गव्यन्तोऽश्वायन्तो वयं त्वां हवामहे, यतः कश्चिदन्यः पदार्थो न त्वावान् दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते, तस्माद् भवानेवास्माकमुपास्यो देवोऽस्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या पूर्वस्मिन् मन्त्रे राज्ञः स्तुतिरित्यकस्मात् कुत ईश्वरप्रसङ्ग इति पर्यनुयोक्तुं शक्यत्वात्। किञ्चात्र मनुष्यातिरिक्तो देवोऽङ्गीकृत इत्यपसिद्धान्तापातश्च ॥ ३६ ॥

त्वामिद्धि हवा॑महे सा॒तौ वाज॑स्य का॒रव॑: ।
त्वां वृ॒त्रेष्विन्द्र॒ सत्प॑तिं॒ नर॒स्त्वां काष्ठा॒स्वर्व॑तः ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर, यज्ञ के कर्ता हम ऋत्विक्‌गण सत्पुरुषों के पालक आपका ही धन-धान्य की प्राप्ति के लिये आह्वान करते हैं, शत्रु अथवा पाप के नाश के लिये भी आपका ही आह्वान करते हैं। हमारा अश्व दिग्विजयी हो, इसके लिये भी हम आपका ही आह्वान करते हैं ॥ ३७ ॥

ऋग्द्वयमैन्द्रः प्रगाथः शम्युदृष्टो बृहत्साम्नो योनिः, अध्वर्योर्गानिस्योक्तेः। आद्या बृहती द्वितीया सतो-बृहती, 'बृहदुत्तरे पक्षे' (श० ९।१।२।३७) इति श्रुतेः। हे इन्द्र ! कारवः कर्तारः स्तोमानां यज्ञानां वा नर ऋत्विजो वयं त्वामेव हवामहे आह्वयामः, इद् एवार्थको हि निश्चयार्थकश्च। किन्निमित्तमाह्वानमिति चेत्, तत्राह- वाजसाताविति। वाजस्य अन्नस्य सातिर्लाभो वाजसातिस्तस्याम्, अन्नलाभनिमित्तमित्यर्थः। वृत्रेषु शत्रुषु हन्तव्येषु घातनिमित्तम्। काष्ठासु दिक्षु जेतव्यासु दिग्विजयनिमित्तम्। कीदृशं त्वाम् ? सत्पतिं सतां श्रुतिस्मृतिविहितकर्मानुष्ठातॄणां निषिद्धकर्मत्यागिनां पतिं पालयितारम्। तथा अर्वतः, अर्वतामश्वानां प्राप्तिनिमित्तं त्वामाह्वयन्ति। यद्वा विषयसप्तमी—वाजसातौ अन्नलाभविषये शत्रुघातविषये च सत्पतिं त्वां सन्तो नरो मनुष्याः, आह्वयन्तीति शेषः। अर्वतोऽश्ववतो रथिनो वा आह्वयन्ति। त्वदृते मनुष्याणामभीष्टासिद्धेः। आवृत्तिरादरार्था।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, त्वामित् त्वामेव हि निश्चयेन वयं कारवः स्तुतीनां यज्ञानां वा कर्तारो हवामहे। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, वाजस्य ज्ञानविज्ञानजन्यस्य हि कारवो नरो वयं सातौ त्वां वृत्रेषु सूर्यमिव सत्पतिं त्वामर्वत इव सेनायां पश्येम, काष्ठासु त्वामिद्धवामहे गृह्णीमः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाजपदस्य विद्याविज्ञानकार्यार्थत्वे मानाभावात्, सूर्यमिवेति पदस्य मूलेऽभावाच्च। सेनायामिति पदमपि मन्त्रबाह्यमेव। न चार्वत उपमानं राज्ञि युक्तम्, तस्य पशुत्वेनोपकरणत्वेन चापकृष्टत्वात् ॥ ३७ ॥

स त्वं न॑श्चित्र वज्रहस्त धृष्णु॒या म॒हः स्त॑वा॒नो अ॑द्रिवः ।
गामश्व॑ᳬं र॒थ्यमिन्द्र॒ सङ्कि॑र स॒त्रा वाजं॒ न जि॒ग्युषे॑ ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अति आश्चर्यकारी, वज्रधारी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रूप धारण करने वाले परमेश्वर, हम आपकी अत्यन्त प्रगल्भ और ओजस्वी वाणी से स्तुति करते हैं। आप हमें गायों और रथ में जोतने योग्य अश्वों को दीजिये। इसी तरह से संग्राम में विजय प्राप्त कराने वाले अश्व की रक्षा के निमित्त सुरक्षा और अन्न भी प्रदान कीजिये ॥ ३८ ॥

स लोकवेदप्रसिद्धस्त्वं नोऽस्मभ्यं हे इन्द्र, हे वज्रहस्त वज्रं हस्ते यस्यासौ वज्रहस्तस्तत्सम्बुद्धौ ! हे अद्रिवः, अद्रयोऽजेयत्वेन सन्तीत्यद्रिवान्, वज्रस्य अद्रिसारमयत्वात्, तत्सम्बुद्धौ हे अद्रिवः, 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इति रुः। 'छन्दसीरः' (पा० सू० ८।२।१५) इति मस्य वः। हे चित्र चायनीय आश्चर्यकारिन् वा, गामश्वं च संकिर देहि। सम्पूर्वः किरतिर्दानार्थः। कीदृशमश्वम् ? रथ्यं रथे साधुम्, रथवहन-समर्थम्। यतो हि त्वं धृष्णुया प्रागल्भ्येन महो महसा, विभक्तिव्यत्ययः, प्रसहनेन महत्वेन च स्तवानः स्तूयमानोऽसि। धृषेः क्नुः, ततो विभक्तेर्यादेशः। धृष्णुना धृष्णुत्वेन, भावप्रधानो निर्देशः। स्तवान इत्यत्र विकरणव्यत्ययः। कथमिव संकिरेति ? तत्राह—सत्रा वाजं न जिग्युषे। नकार उपमार्थीयः। यथा जिग्युषे जितवतेऽश्वाय हस्तिने वा सत्रा त्राणसहितं वाजं यवसं सस्नेहमपरिमितं संकिरेयुर्दद्युस्तद्वत्, अस्मभ्यमश्वहस्त्यादिकं सस्नेहं प्रभूतं देहीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमैश्वर्यवन्, हे चित्र आश्चर्यस्वरूप, 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' (भ० गी० २।२९) इत्युक्तेः। हे वज्रहस्त वज्रायुधहस्त, हे अद्रिवः ! अद्रयो वशंवदाः सन्ति यस्य तत्सम्बुद्धौ, त्वं धृष्णुया धृष्णुत्वेन महो महत्त्वेन तेजसा वा स्तवानः स्तूयमानः, जिग्युषे विजितवतेऽश्वाय हस्तिने वा सत्रा वाजं न सस्नेह-ममितवाजं यवसमिव नोऽस्मभ्यं गां रथ्यं रथवहनसमर्थमश्वं संकिर देहि।

दयानन्दस्तु—'हे चित्र ! वज्रहस्ताद्रिव इन्द्र, धृष्णुया महः स्तवानः स त्वं जिग्युषे न सत्रा वाजं न गां रथ्यमश्वं संकिर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यं राजानं प्रति तादृशयाच्ञानुपपत्तेः। न च तत्रेन्द्रत्वं वज्रहस्तत्व-मद्रिवत्त्वं चाञ्जस्येन सङ्गच्छते, मनुष्येषु तददर्शनात्। परमेश्वरे देवविशेषे च तदुपपत्तेः॥ ३८॥

कया॑ नश्चि॒त्र आ भु॑वदू॒ती स॒दावृ॑धः॒ सखा॑। कया॒ शचि॑ष्ठया वृ॒ता॥ ३९॥

मन्त्रार्थ—सदा सबकी वृद्धि करने वाला, आश्चर्यरूप परमेश्वर किस तर्पण या प्रीति से, अथवा किस वर्तमान याग-क्रिया से हमारा सहायक होगा ?॥ ३९॥

तिस्रो गायत्र्य इन्द्रदेवत्या वामदेवदृष्टाः। वामदेव्यस्य साम्नो योनिः, 'वामदेव्यमात्मन्' (श० ९।१।२ ३८) इति श्रुतेः। अन्त्या पादनिचृत् सप्ताक्षरत्रिपादा। इन्द्रपदं पूर्वर्चोऽनुवर्तनीयम्। इन्द्रो देवः, कया ऊती ऊत्या अवनेन तर्पणेन प्रीणनेन वा नोऽस्माकं सखा सहाय आभुवद् आभिमुख्येन भवति ? ऊतीत्यत्र तृतीयैकवचनस्य 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पा० सू० ७।१।३९) इति पूर्वसवर्णः, आभुवदित्यत्र 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति तिप इकारलोपः। शपश्छान्दसे ङित्त्वे गुणाभावेन धातोरुवङादेशः। कीदृश इन्द्रः ? चित्रश्चायनीयो विचित्रः पूज्यो वा, सदावृधः सदा वर्धत इति सदावृधः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः। तथा कया वृता वर्तत इति वृत् तया वृता वर्तमानया शचिष्ठया अतिशयेन शचीति शचिष्ठा तया अतिशयवत्या यागक्रियया नोऽस्माकं सखा भवति, सा ऊती सा क्रिया च अस्माभिः सततं स्पृहणीये प्रापणीये चेत्यर्थः। यद्वा कया ऊती ऊत्या केनावनेन तर्पणेन वा नोऽस्माकं चित्र-श्चायनीय इन्द्रो भुवद् भूयात्। आकारो वृता सह सम्बद्ध्यते। तथा च कया नाम शचिष्ठया अतिशयकर्मवत्या आवृता कर्मणा च सदावृधः सदाकालं वर्धयिता सखा च भूयादिति तदिन्द्रकर्तृकमवनं तच्च कर्म सदा स्पृहणीयम्। आवर्त्यत इत्यावृत् क्रिया कर्म वा, तया। अत्र सायणाचार्यः—सदावृधः सदा वर्धमानः, चित्रश्चायनीयः पूजनीयः, सखा मित्रभूत इन्द्रः कया ऊती ऊत्या तर्पणेन नोऽस्मान् प्रति आभुवद् आभिमुख्येन भवेत्। शचिष्ठया प्रज्ञा-वत्तमया प्रज्ञासहितानुष्ठीयमानेन कर्मणा कया वृता वर्तनेन कर्मणा चाभिमुखो भवेत्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरः कया ऊती ऊत्या केन तर्पणेन वा नोऽस्माकं सखा आभुवद् आभिमुख्येन भवति, कया वृता वर्तमानया शचिष्ठयातिशयवत्या यागक्रियया नोऽस्माकं सखा भवति, तदेव प्रीणनं तर्पणं सैव च क्रिया सर्वतोभावेनास्माभिरावर्तनीयमित्यर्थः। कीदृश इन्द्रः ? चित्र आश्चर्यरूपः। सदावृधो वर्धयिता।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, चित्रः सदावृधः सखा भुवत् कयोती नोऽस्मान् रक्षेः ? कया शचिष्ठया वृताऽस्मान्नियोजयेः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलबह्वध्याहारमूलकत्वेन मन्त्रबाह्यत्वात्। विद्वन्निति सम्बोधनमपि निर्मूलमेव ॥ ३९ ॥

कस्त्वा॑ स॒त्यो मदा॑नां॒ मꣳहि॑ष्ठो मत्स॒दन्ध॑सः। दृ॒ढा चि॑दा॒रुजे॒ वसु॑ ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर, सोमरूप अन्न की मदजनक हवियों में कौन सा श्रेष्ठ अंश आपको प्रसन्न करता है ? जिस प्रसन्नता में कि दृढ़ता से रहने वाले भक्तगणों को आप धन का विभाग करके देते हैं ॥ ४० ॥

हे इन्द्र, अन्धसोऽन्नस्य सोमात्मकस्य कोंऽशस्त्वा त्वां मत्सद् माद्यति मदयुक्तं करोति, 'मदी हर्षे' इत्यस्माल्लेटि 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति धातोः सिबागमे, इकारपकारानुबन्धयोर्लोपे, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इति लेटोऽडागमे सिबादेशे, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपे मत्सदिति रूपम्। कीदृशोऽन्धसोंऽशः ? मदानां मदयन्तीति मदानि मदजनकानि हवींषि, तेषां मध्ये मंहिष्ठः श्रेष्ठः, अत्यन्तमदजनकः। 'महि वृद्धौ' भ्वादिः, मंहते वर्धत इति मंही, अत्यन्तं मंही मंहिष्ठः, येनांशेन मत्तः सन् दृढा चिद् दृढान्यपि वसु वसूनि कनकादीनि त्वमारुजे, 'रुजो भङ्गे' तुदादिः, पुरुषपदव्यत्ययः, आरुजसि दातुं चूर्णयसि भनक्षि, भङ्क्त्वा भङ्क्त्वा ददासीति यावत्। यद्वा कस्त्वा को नाम त्वा त्वां मत्सद् मादयति सोऽन्धसः सोमरूपस्यांशस्य अंशः सत्योऽवितथः। स च मदानां मध्ये मंहिष्ठोऽतिशयेन मदजनकः। येन मत्तः सन् त्वं दृढा चित् सुदृढान्यप्यसुरवृन्दानि, आरुजे आरुजसि चूर्णयसि, वसु च ददासीति शेषः। यद्वा दृढान्यपि वसु वसूनि सुवर्णप्रभृतीनि चिरकालावस्थायीन्यारुजसि चूर्णयसि दानाय।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, अन्धसः सोमलक्षणस्यान्नस्य को मदानां मदजनकानां हविषां मध्ये मंहिष्ठः श्रेष्ठः, अतिशयेन मदजनकस्त्वा त्वां मत्सद् मादयति, येन मत्तः सन् दृढा चिद् दृढान्यप्यसुरवृन्दानि, आरुजे आरुजसि, वसु च ददासि, तमेवांशं भक्तिरसपरिप्लुतं तुभ्यं समर्पयामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, कः सुखप्रदः सत्यः सत्सु साधुर्मंहिष्ठो विद्वांस्त्वान्धसो मदानां मध्ये मत्सद् आनन्दयेत, आरुजे समन्ताद्रोगे औषधानि चिदिव दृढा वसु सञ्चिनुयात्, सोऽस्माभिः पूजनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, क इत्यस्य सुखार्थत्वे सत्यपि सुखप्रदार्थत्वस्य निर्मूलत्वात्। अन्धसो मदानामानन्दानां निराकारत्वेन तन्मध्यत्वापरिच्छेदात्। औषधानि सञ्चिनुयादित्यस्य तु वेदबाह्यत्वमेव, मन्त्रे तदनुपलम्भात् ॥ ४० ॥

अ॒भी षु ण॒: सखी॑नामवि॒ता ज॑रितॄ॒णाम्। श॒तं भ॑वास्यू॒तये॑ ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव, मित्ररूप में आपकी स्तुति करने वाले हम भक्तों के आप रक्षक हैं। हमारी रक्षा के लिये भली प्रकार से अभिमुख होकर आप राम-कृष्ण आदि अनेक रूपों को धारण करते हैं ॥ ४१ ॥

हे इन्द्र, अभी षु णः, नोऽस्माकं सखीनां मित्राणां अभी आभिमुख्येन सुष्ठु शोभनरीत्या अविता पालयिता रक्षकोऽसि। जरितॄणां स्तोतॄणामस्माकम् 'जरितेति स्तोतृनामसु' (निघ० ३।१६।२), ऊतये पालनाय शतं भवासि भवसि, अनन्तरूपेण प्रादुर्भवसीत्यर्थः। अभी षु ण इत्यत्र 'इकः सुञि' (पा० सू० ६।३।१३४) इत्यनेन

अभीत्यस्य दीर्घः, 'सुञः' (पा० सू० ८।३।१०७) इति मूर्धन्यः, 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा० सू० ८।४।२७) इति नस्य णः। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रे परमेश्वरस्य जीवानां च परस्परं सख्यसम्बन्धस्योक्तत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, नोऽस्माकं सखीनां सख्यभावेन भजताम्, अविता पालयितासि। जरितॄणां स्तोतॄणामस्माकमूतये रक्षणाय शतं भवासि अनन्तरूपो भवसि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वं नः सखीनां जरितॄणां चाविता ऊतये शतं सुभवासि सोऽभियुज्यः स्याः' इति, तदप्यसङ्गतम्, विदुषः कस्यचिन्मनुष्यस्य शतं सुभवनासम्भवात्। पूज्यस्य रागास्पदत्वेन विधेयत्वायोगाच्च, 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इति सिद्धान्तात्॥ ४१॥

य॒ज्ञा य॑ज्ञा वो अ॒ग्नये॑ गि॒रा गि॑रा च॒ दक्ष॑से।
प्रप्र॑ व॒यम॒मृतं॑ जा॒तवे॑दसं प्रि॒यं मि॒त्रं न शं॑ᳪ सिषम्॥ ४२॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर, हम प्रत्येक यज्ञ में आपकी स्तुति करते हुए आपके निमित्त अतिबली, अविनाशी, सर्वज्ञ, प्रीतिजनक, मित्र के समान अग्नि के रूप में आपका गुणगान करते हैं॥ ४२॥

तृचः प्रगाथः, अग्निदेवत्यः। यज्ञायज्ञियस्य साम्नो योनिः, 'यज्ञायज्ञियं पुच्छम्' (श० ९।१।२।३।९) इति श्रुतेः। शंयोरार्षम्। द्वे बृहत्यौ, तृतीया सतोबृहती। यज्ञा यज्ञा इति वीप्सायां सप्तम्येकवचनस्य आ आदेशः। 'वः' इति द्वितीयाबहुवचनमेकवचनार्थे, यजमानविषयं वा। 'अग्नये' इत्यस्य व्यत्ययेन अग्निमित्यर्थः। गिरा गिरेति वीप्सायां द्वित्वम्। चः पादपूरणः। 'दक्षसे' इति द्वितायार्थे चतुर्थी। 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा० सू० ८।१।६) इति द्वित्वम्। शंसिषमित्याख्यातेन सम्बन्धः। वयमिति बहुवचनमेकवचनार्थे। तथा चैवं मन्त्रार्थः—यज्ञा यज्ञाऽनेकेषु यज्ञेषु गिरा गिरा अनेकया स्तुतिरूपया गिरा वाचा वस्त्वामग्नयेऽग्निं प्रशंसिषं स्तौमि। 'शंसु स्तुतौ' भौवादिकः। लुङि रूपम्। अडभाव आर्षः। यद्वा—वो युष्माकमर्थेऽग्निं प्रशंसिषम्। कीदृशमग्निम्? दक्षसे दक्षसम्, उत्साहवन्तम्। वृद्धयर्थकस्य दक्षतेरत्रोत्साहे वृत्तिः। दक्षतेरसुन्-प्रत्ययः। दक्षते उत्सहत इति दक्षास्तम्। यद्वा—दक्षसं बलवन्तम्। 'दक्ष इति बलनाम' (निघ० २।९।१३)। अन्तर्भावितमत्वर्थं द्रष्टव्यम्। अमृतं मरणरहितं जातवेदसं जातप्रज्ञानं वेदो ज्ञानं धनं वा यस्मात्तम्, प्रियं प्रेमास्पदं प्रीतिजनकं वा मित्रं स्नेहवन्तं न इव। यथा कश्चित् प्रियं मित्रं स्तौति, तद्वदग्निं स्तुम इत्याशास्महे। यद्वा अहं यज्ञे यज्ञे वो युष्माकं यजमानानामर्थेऽग्निमुत्साहवन्तममृतं जातवेदसं तया तया गिरा स्तुतिरूपया वाचा प्रियं मित्रमिव प्रशंसिषमिति।

अध्यात्मपक्षे—यज्ञा यज्ञा प्रतियज्ञं वस्त्वामग्निं परमात्मानममृतं षड्विधभावविकारवर्जितं जातवेदसं ज्ञानधनादिजनकं प्रियं सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदं मित्रं स्नेहवन्तं दक्षसमुत्साहवन्तं निरतिशयप्रशस्तबलवन्तं वा गिरा गिरा तया तया स्तुतिरूपया वाचा प्रियं मित्रमिव प्रशंसिषं स्तौमि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहमग्नये गिरा गिरा दक्षसे यज्ञा यज्ञा वो युष्मान् प्रशंसिषम्, वयं जातवेदस-ममृतं प्रियं मित्रं न वो युष्मान् प्रशंसेम, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, मनुष्याणां प्रशंसनं किमर्थमित्यनुक्तेः। यज्ञे यज्ञे गिरा गिरा नहि मनुष्यस्य प्रशंसा भवति, तादृशविध्यदर्शनात्, 'अग्नये' इति चतुर्थ्यन्तस्य सम्बन्धायोगाच्च। 'दक्षसे' इत्यस्य न बलमर्थः, तस्य तद्वत्त्वबोधकत्वात्। न च मनुष्याणा-ममृतमित्यादीनि विशेषणानि सङ्गच्छन्ते, तेषां मरणादिधर्मकत्वात्॥ ४२॥

पाहि नो अग्न एकया पाह्यु त द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—हे धनधान्य के स्वामी अग्निदेव, आप सबके आश्रय-स्थान हैं। आप ॐकार का अथवा अद्वय श्रुतियों का उपदेश कर हमारी रक्षा करें, निर्गुण के साथ सगुण स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली वेदवाणी का उपदेश कर हमारी रक्षा करें, ऋक्, यजु और सामरूप त्रयी वेदवाणी का उपदेश कर हमारी रक्षा करें, चारों वेदों के मन्त्रों से हमारी रक्षा करें ॥ ४३ ॥

गर्गदृष्टा। हे अग्ने, हे ऊर्जाम्पते अन्नानां बलानां रसानां वा पालक, हे वसो वासयितः! अथवा लुप्तमत्वर्थः। हे वसुमन् धनवन्, एकया ऋग्लक्षणया गिरा, गिरेति पदस्य पूर्वतोऽनुषङ्गः। स्तुतः, सन्निति वाक्यशेषः। नोऽस्मान् पाहि रक्ष। उतापि च द्वितीयया यजुर्लक्षणया गिरा स्तुतः सन्नः पाहि। तिसृभिर्गीर्भि-ऋग्यजुःसामलक्षणाभिः स्तुतः सन्नः पाहि। चतसृभिऋग्यजुःसामनिगदलक्षणाभिः स्तुतो नः पाहि। ऋगाद्यास्तिस्रो गद्यपद्यकाव्यादिरूपा चतुर्थी गीर्ज्ञेया, अथर्वाङ्गिरसां तु पद्यरूपत्वेन ऋक्ष्वेवान्तर्भावात्। ब्रह्मर्त्विक्सम्बन्धेन तु तस्य चतुर्थत्वेन परिगणनमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, हे ऊर्जां बलानां रसानां वा पते, हे वसो, सर्वत्र वसति सर्वाणि वा वसन्त्यस्मिन्निति वसुः, तत्सम्बुद्धौ। त्वमेकया ऋग्लक्षणया अग्नेरद्वितीयया द्वाभ्यामृग्यजुर्लक्षणाभ्यां गीर्भ्यां तिसृभिः स्तुतः सन्नोऽस्मान् पाहि। चतसृभिऋगाद्याभिर्गद्यपद्यादिलक्षणया चतुर्थ्या च गिरा स्तुतः सन् नः पाहि, अविद्यातत्कार्यनिवर्तनेन स्वरूपसाक्षात्कारसम्पादनेन च पाहि।

दयानन्दस्तु—'हे वसो! सुवासप्रद हे अग्ने, त्वमेकया सुशिक्षया द्वितीयया अध्यापनक्रियया तिसृभिः कर्मोपासनज्ञापिकाभिः, हे ऊर्जाम्पते, चतसृभिर्धर्मार्थकाममोक्षज्ञापिकाभिः क्रियाभिर्नोऽस्मान् पाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यस्याल्पैश्वर्यस्य सतः सर्वसुवासप्रदत्वासम्भवात्। न च कश्चिदेकस्तादृशो विद्वान् सम्भवति, यः सुवासप्रदोऽपि स्यात्, सर्वस्य बलानां रक्षकोऽपि स्यात्, सुशिक्षामध्यापनं च कुर्यात्, कर्मोपासन-ज्ञानधर्मार्थकाममोक्षज्ञापिकाभिः क्रियाभिश्च पालयेत्। न च स तादृशः केनचिन्नियोक्तव्यो भवेत्, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रत्वात् ॥ ४३ ॥

ऊर्जो नपातꣳ स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये।
भुवद्वाजेष्ववि॒ता भुवद्वृध उत त्राता तनूनाम् ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अध्वर्यु, तुम जलदेवता के पौत्र अग्निदेव को तृप्त करो। यह अग्निदेव हमें चाहते हैं, इस कारण हवि देने का हम संकल्प करते हैं और ये अग्निदेव हमारे धन-धान्य की रक्षा करते हैं, हमारी सब प्रकार की समृद्धि के निमित्त हमारे शरीर की भी रक्षा करते हैं ॥ ४४ ॥

यजमानोऽध्वर्युं प्रार्थयते। हे अध्वर्यो, ऊर्जो नपातमपां पौत्रम्, ऊर्जशब्देनात्रापो गृह्यन्ते, ताभ्योऽद्भ्यश्च ओषधिवनस्पतयो जायन्ते, तेभ्यो वनस्पतिभ्योऽरणिरूपेभ्य एवाग्निर्जायत इत्यपां पौत्रोऽग्निर् 'अपांनपात्' उच्यते। अग्नि स त्वं हिन हिनु तर्पय। 'हि गतौ वृद्धौ च' स्वादिः, लोट्, उलोपश्छान्दसः। यतोऽयमग्निरस्मयु-रस्मानिच्छतीत्यस्मयुः, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युः, अतो हव्यदातये हविषो दानाय दाशेम

सङ्कल्पयामः, 'दाशृ दाने' भ्वादिः। अत्र सङ्कल्पार्थे वृत्तिः। यतोऽयं वाजेष्वन्नेषु विषयभूतेष्ववित्ता गोप्ता भुवद् भवति, उतापि तनूनां शरीराणां त्राता रक्षिता भवति, वृधे वृद्धौ च भुवद् भवति। तनूनामिति बहुवचनं भार्या-पुत्रादिशरीराणां ग्रहणार्थम्। अग्निरन्नतनुरक्षिता वर्धयिताऽस्मान् कामयते, अतो हविर्दानाय तं सङ्कल्पयामः। यत एवमत ऊर्जो नपातं हिनु इति सम्बन्धः। एवमदूरविप्रकर्षेण विषममन्त्रा व्याख्येया इत्युव्वटाचार्यः। एतेन दूरविप्रकर्षेण व्याख्यातारोऽपास्ता वेदितव्याः।

अध्यात्मपक्षे—ऊर्जो नपातम् ऊर्जः शक्तेर्बलरसस्याष्टमधातोर्नपातम्, न पातयतीति नपातः, तम्। परमेश्वरं हे साधक, हिन हिनु तर्पय। अयमस्मयुः, अस्मानिच्छतीत्यस्मयुः, अकारणकरुणः करुणावरुणालयो भगवान् वत्सला गौर्वत्समिव भक्तान् कामयते। अतो हव्यदातये तस्मै हविषो दानाय दाशेम सङ्कल्पं कुर्याम, यतोऽयं वाजेष्वन्नेषु विषयभूतेष्ववित्ता गोप्ता भुवद् भवति, वृधे अस्माकं वर्धनाय च भवति, उतापि च त्राता तनूनामस्मच्छरीरस्यास्मद्भार्यापुत्रादिशरीराणां च रक्षको भवति। तादृशाय परमोपकारिणेऽस्मान् कामयित्रे परमात्मने हविर्दानाय सङ्कल्पयामः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिन्, स त्वमूर्जः पराक्रमस्य नपातं विद्याबोधनं हिन हिनु वर्धय, यतोऽयं भवान-स्मयुर्वाजेष्ववित्ता भुवत्, उतापि तनूनां वृधे त्राता भुवत्, ततस्त्वां हव्यदातये वयं दाशेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, पराक्रमापातयितृणां ब्रह्मचर्यादीनां सत्त्वेन विद्याबोधग्रहणे विनिगमनाविरहात्, विद्याबोधवतामप्यदान्तानां पराक्रमनाशकत्वोपलब्धेः। योऽस्मान् कामयते, तं दातव्यानां दानाय स्वीकुर्यामिति रागसिद्धा प्रवृत्तिरिति धर्मब्रह्मपरे वेदे न तत्स्थानमर्हति ॥ ४४ ॥

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। उषसस्ते कल्पन्ता-महोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ताᳬं संवत्सरस्ते कल्पतात्। प्रेत्या एत्यै सञ्चाञ्च प्र च सारय। सुपर्णचिदसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद ॥ ४५ ॥

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—ज्योतिष शास्त्र में उक्त योगाध्यक्ष पंचसंवत्सर रूप प्रजापति की स्तुति करते हैं कि हे अग्निदेव, आप संवत्सर हैं, परिवत्सर हैं, इदावत्सर हैं, इद्वत्सर हैं और वत्सर हैं। प्रातःकाल आदि आपके अवयव के रूप में कल्पित हैं। दिन-रात्रि, पक्ष, चैत्र आदि मास, वसन्त आदि ऋतुएँ—ये सभी आपके अवयव के रूप में कल्पित हैं। संवत्सररूपी काल भी आपका ही अवयव है। आप गति और आगति के लिये इच्छापूर्वक अपना संकोच-विकास करते हैं। आप सुपर्णाकार चैतन्य-स्वरूप हैं। उस वाग्रूप देवता के साथ अंगिरा ऋषि के समान अचल होकर हमारे यज्ञ में विराजमान होइये ॥ ४५ ॥

अग्निदेवत्यं यजुः। अत्र यजुषि नवनवतिरक्षराणि। एको व्यूहः, ततः शताक्षराभिकृतिश्छन्दः। चित्याग्नेरभिमर्शने विनियोगः। 'पञ्चसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्' इति ज्योतिःशास्त्रे यदुक्तं तदिहोच्यते। हे अग्ने, त्वं संवत्सरोऽसि सर्वस्य सारितासि, न त्वामन्यः सारयति। अत्र सूर्यात्मकोऽग्निरुक्तः, तद्गमनागमनै-रेव संवत्सरव्यवहारात्। कालात्मकत्वात् स एव सर्वस्य सारिता परिच्छेदकः, न तस्यान्यः कश्चन परिच्छेदकः, सर्वस्य कालपरिच्छिन्नत्वात्, तस्य च कालातीतत्वात्। यश्च त्वं परिवत्सरोऽसि सर्वतः सारितासि। इदा-

वत्सरोऽसि इदानीं सारितासि। इदा इदानीमिति समानार्थौ (निघ० ३।२८।५-६)। इद्वत्सरोऽसि। इदिति निपातः, स च पादपूरणार्थः। तथा च दुर्गाचार्यः—'क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषवत्। सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः॥' इति। यश्च वत्सरोऽसि निर्विशेषेण वत्सररूपोऽसि। एवं पञ्चवत्सरात्मकयुगरूपोऽसीत्यर्थः, 'युगं भवेद् वत्सरपञ्चकेन' इति ज्यौतिषशास्त्रोक्तेः। तादृशस्य ते उषसः प्रातःसङ्गव-मध्याह्नादयः कालविशेषा अहोरात्रा अर्धमासाः पक्षा मासाश्चैत्रादय ऋतवो वसन्तादयः कल्पन्तामवयवत्वेन क्लृप्ता भवन्तु। संवत्सरस्ते कल्पतां संवत्सरोपलक्षिताः पञ्चापि वत्सरा अवयवत्वेन क्लृप्ता भवन्तु। कल्पन्तामिति क्रियावृत्तिरादरार्था। किञ्च, प्रेत्यै प्रगमनाय, एत्यै आगमनाय, सञ्चाञ्च प्रसारय, स्वेच्छया सङ्कोचविकासधर्मा भव। यद्वा समञ्च संकुच प्रसारय च। किञ्च, सुपर्णाकारेण चयने चितत्वात् सुपर्णचिदसि, तया देवतया वाचा सहितः सन् अङ्गिरस्वद् अङ्गिरस इव प्राणा इव ध्रुवः स्थिरः सीद अवस्थानं कुरु।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वमेव संवत्सरोऽसि, परिवत्सरोऽसि, इदावत्सरोऽसि इद्वत्सरोऽसि, वत्सरोऽसि। सर्वात्मकत्वाद् देशकालवस्तूनि त्वय्येव कल्पितानि। तानि त्वदन्तर्गतानि, न त्वं तैः परिच्छिद्यसे। उषसः प्रातःकालादयस्ते तवावयवत्वेन कल्पन्ताम्। अर्धमासा मासाश्च तेऽवयवत्वेन कल्पन्ताम्। संवत्सरस्तेऽवयवत्वेन कल्पताम्। उपलक्षणमेतत् पञ्चविधानामपि। पञ्चापि तेऽवयवत्वेन कल्पन्ताम्। प्रेत्यै प्रगमनाय, एत्यै आगमनाय, सञ्चाञ्च प्र च सारय स्वेच्छया सङ्कोचविकासधर्मा भव। प्राणिनां कर्मानुसारेण तत्तद्धर्मवत्त्वेनाविर्भावितयेति यावत्। हे अग्ने, त्वं सुपर्णचिदसि, सुपर्णाकारेण चयने चितत्वात्। तया देवतया वाचा सहितः सन् अङ्गिरस्वतोऽङ्गिरसः प्राणा इव ध्रुवः सन् सीद।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् जिज्ञासो वा, यतस्त्वं संवत्सरोऽसि, परिवत्सरोऽसि, इदावत्सरोऽसि, इद्वत्सरोऽसि, वत्सरोऽसि, तस्मात्ते कल्याणकर्य उषसः कल्पन्ताम्, मङ्गलप्रदा अहोरात्रा अर्धमासाः कल्पन्ताम्, ते मासास्ते ऋतवः कल्पन्ताम्, ते संवत्सराः कल्पन्ताम्, त्वं च प्रेत्यै समञ्च त्वमेत्यै स्वप्रभावं प्रसारय च, यतस्त्वं सुपर्णचिदसि तस्मात्तया देवतया सहाङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषः संवत्सरादित्वायोगात्। संवत्सर इव नियमेन वर्तमानत्वात् संवत्सर इति चेत्, अश्वादिवद् गन्तृत्व-भोक्तृत्वादिना अश्वत्वाद्यापत्तेः। वर्जितव्यो वत्सरे इव दुष्टाचारत्यागित्वात् परिवत्सर इत्यपि निरर्थकम्, संवत्सरे त्यागग्रहणायोगेन दुष्टाचारत्यागेन परिवत्सरत्वायोगात्। न च निश्चयेन समन्ताद् वर्तमानत्वं सम्भवति, परिच्छिन्नत्वात्, वर्णो इवेत्यत्र तद्धर्मानुक्तेः। 'उषसः प्रभाता मङ्गलप्रदाः' इत्यपि निर्मूलम्, मन्त्रे तादृशशब्दाभावात्। 'यः शोभनानि पर्णानि पालनानि चिनोति सोऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, चयनादियागवृत्तान्तानभिज्ञानमूलकत्वात्। 'य आप्ता व्यर्थं कालं न नयन्ति, सुनियमेन वर्तमानाः कर्तव्यानि कुर्वन्ति, त्यक्तव्यानि त्यजन्ति, तेषां सुप्रभाता अहोरात्रादयः' इति, तदपि फल्गु, वेदाक्षरबाह्यत्वात्। त्वं च प्रेत्यै एत्यै स्वप्रभावे विस्तारयेत्यादिकमपि निर्मूलम्, वेदाक्षरबाह्यत्वात्॥ ४५॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां सप्तविंशोऽध्यायः॥

●

अष्टाविंशोऽध्यायः

होता यक्षत्समिधेन्द्रमिडस्पदे नाभा पृथिव्या अधि। दिवो वर्ष्मन्त्समिद्धचत ओजिष्ठश्चर्षणीसहां वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने समिधा के द्वारा इन्द्र का यजन किया। यह इन्द्र तीन स्थानों में प्रदीप्त होता है। पृथ्वी के यजनीय देश में अग्निरूपी आत्मा से, पृथ्वी की नाभि अन्तरिक्ष में विद्युत् रूपी आत्मा से और तीसरे ऊपर स्वर्ग के श्रेष्ठ स्थान में आदित्य रूप से यह प्रदीप्त होता है। मनुष्य का अभिभव करने वालों में अतितेजस्वी इन्द्र घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ १ ॥

'इन्द्रमिडः सौत्रामणिकोऽध्यायः' (सर्वानुक्रमे तृतीये) इति कात्यायनोक्त्याऽयमध्यायः सौत्रामणियाग-सम्बन्धी सौत्रामण्यङ्गभूतयोरैन्द्रवायोधसयोराद्यन्तपश्वोः प्रयाजानुयाजप्रैषरूपः। आप्रीदेवतास्तु इन्द्रस्यैव विभूतय इति। ततश्च प्रजापत्यश्विसरस्वत्योऽध्यायस्य ऋषयः। आद्येऽनुवाके एकादश ऐन्द्रपशोः सम्बन्धिन आप्रीदेवताः। समित्तनूनपादित्यादिदेवताकाः प्रयाजानां प्रैषाः 'होता यक्षत्समिधेन्द्रम्' इत्यादयो 'होता यक्षदिन्द्रम्' इत्यन्ताः। अथ मन्त्रार्थः—आर्षी त्रिष्टुप्। दैव्यो होता। समिधा समित्काष्ठेन हविर्भूतेन। अथवा समिधाप्री-देवतया सहितमिन्द्रं होता यक्षद् यजतु। कोऽसाविन्द्र इत्यत आह—य इन्द्रस्त्रिषु स्थानेषु समिध्यते सम्यग् दीप्यते। प्रथमम् इडः पृथिव्याः पदे यजनीयप्रदेशे अग्न्यात्मना समिध्यते, द्वितीयं पृथिव्या अन्तरिक्षस्य नाभौ मध्ये अधि उपरि विद्युदात्मना समिध्यते, तृतीयं दिवः स्वर्गस्य वर्ष्मन् वर्ष्मणि वर्षिष्ठे प्रदेशे आदित्यात्मना समिध्यते। कथम्भूत इन्द्रः? चर्षणीसहामोजिष्ठः, 'चर्षणयो मनुष्याः' (निघ० २।३।८), तान् सहन्तेऽभिभवन्तीति चर्षणीसहो देवाः, तेषां मध्ये ओजिष्ठोऽतिशयेन ओजस्वीत्योजिष्ठः, 'विन्मतोर्लुक्' (पा० सू० ५।३।६५) इति विनो लुकि, 'टेः' (पा० सू० ६।४।१५५) इति टिलोपे रूपम्। संहितायां चर्षणिशब्दस्य 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (पा० सू० ६।३।११६) -इति दीर्घः। स च इज्यमान इन्द्रो वेतु स्वांशमाज्यस्य पिबतु। हे मनुष्यहोतस्तं यज।

अध्यात्मपक्षे—देवानां सम्बन्धी होता इन्द्रं परमात्मानं समिधा यक्षद् यजतु। स एव लीलया इडः पृथिव्याः पदे यजनीयप्रदेशे अग्न्यात्मना समिद्धचते। पृथिव्या अन्तरिक्षस्य नाभौ मध्ये अधि उपरि विद्युदात्मना समिद्धचते। स एव दिवः स्वर्गस्य वर्ष्मन् वर्ष्मणि वर्षिष्ठे प्रदेशे आदित्यात्मना समिद्धचते। यश्च चर्षणीसहा-मोजिष्ठः, स आज्यस्य स्वांशं वेतु। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि तं यज। परमेश्वर एव लीलया तत्र तत्र दीप्यते, इज्यते च।

दयानन्दस्तु—'हे होतस्त्वं यथा होता आदाता ज्ञानप्रकाशेन समिधास्पदे वाण्याः पदे प्राप्तव्ये पृथिव्या भूमेर्नाभौ दिवोऽधि वर्ष्मन्निन्द्रं वर्षके मेघे विद्युदाख्यमग्निं यक्षत्, तेनौजिष्ठः सन् चर्षणीसहां मध्ये समिध्यत आज्यस्य वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, योद्धृकर्तृकघृतादिपानस्य लोकसिद्धत्वात्, सर्वत्रैव वाण्या ज्ञानपूर्वकत्वेन तत्राप्यवैशेष्यात्। पृथिव्या मध्ये प्रकाशस्य उपरि वर्षके मेघमण्डले इन्द्रविद्युदाख्यमग्निं सङ्गमयेत्यपि यत्किञ्चित्, मेघमण्डले विद्युतः सङ्गतेः स्वतः सिद्धत्वेन नियोगानर्हत्वात्। वर्ष्मन्नित्यस्य मेघमण्डलार्थतापि चिन्त्यैव, होतुरपि चर्षणित्वेन तस्य चर्षणीसहामोजिष्ठत्वायोगात् ॥ १ ॥

होता॑ य॒क्ष॒त्तनू॒नपा॑तमू॒तिभि॒र्जेता॑र॒मप॑राजितम्। इन्द्रं॑ दे॒वꣳ स्व॒र्विदं॑ प॒थिभि॒र्मधु॑मत्तमै॒-न॒राश॒ꣳसे॑न॒ तेज॑सा वे॒त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता तेजस्वी मनुष्यों से प्रशंसनीय देव के सहित तनूनपात् को तथा शत्रुओं को जीतने वाले, किसी से न हारने वाले, स्वयं अपने को और स्वर्ग को जानने वाले देव इन्द्र को तृप्त करने वाली रक्षा और यजमान को स्वर्ग में ले जाने वाली अतिमधुर हवियों के द्वारा यजन करें। इस प्रकार दो देवताओं से युक्त इन्द्र घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ २ ॥

अतिजगती। नराशंसेन देवेन युतमिन्द्रं देवं च दैव्यो होता यक्षद् यजतु। केन यजतु ? तत्राह—पथिभिः, पतन्ति द्रुतं गच्छन्ति स्वर्गं लोकं प्रति यजमाना यैस्ते पन्थानो हवींषि, तैः। कथम्भूतैः ? मधुमत्तमैः, अतिशयं मधुमन्त इति मधुमत्तमाः, अतिशयेन रसयुक्तास्तैः। पुनः कथम्भूतैः ? ऊतिभिः, अवन्ति तर्पयन्तीत्यूतयः, 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' (पा० सू० ३।३।९७) इति बाहुलकात् कर्तरि निपातः, तैः। कीदृशमिन्द्रम् ? तनूनपातम्। इदं विशेषणम् आप्रीदेवताभिप्रायमिन्द्राभिप्रायं वा। स हि मरीचेः पौत्रः। पुनः कथम्भूतम् ? जेतारम्, शत्रूणामयज्वनां पराभवितारम्। तथा स्वयमपराजितं केनाप्यपराभूतम्, देवं दानादिगुणयुक्तम्। स्वर्विदं स्वः स्वर्गं वेत्ति स्वामित्वेन स्वीयं जानातीति स्वर्वित्, तम्। यद्वा स्वः स्वर्गे विद्यत इति स्वर्वित्, तम्। 'विद् सत्तायाम्'। पुनः कथंभूतम् ? तेजसा तेजस्विना नराशंसेन नरा आशंस्यन्ते देवरूपेण यत्र स नराशंसो यज्ञः, तेन। अत्र तनूनपान्नराशंसावेकस्मिन् प्रयाजे पठिता इत्युभयवानयं प्रयाजः। स चेज्यमान इन्द्र आज्यस्य स्वमंशं वेतु पिबतु।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता तनूनपातं भक्तानां तनूर्न पातयतीति तनूनपात्, तमिन्द्रमैश्वर्यवन्तं परमेश्वरं देवं दानादिगुणयुक्तम्। स्वर्गे सुखरूपे स्वरूपे विद्यते यस्तम्। मधुमत्तमैरत्यन्तमधुरैः पथिभिर्हविर्भिर्यक्षद् यजतु। कथम्भूतमिन्द्रम् ? नराशंसेन सर्वजनप्रशंसितेन तेजसा ज्ञानलक्षणेन स्वरूपेण सहितम्। स चेज्यमानो देव आज्यस्य आज्यं वेतु पिबतु।

दयानन्दस्तु—'हे होतर्भवान् यथा होता ऊतिभिर्मधुमत्तमैः पथिभिस्तनूनपातं जेतारमपराजितं स्वर्विदं देवमिन्द्रं यक्षन्नराशंसेन तेजसाज्यस्य वेतु तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, होता सुखदाता ऊतिभी रक्षायुक्तैर्मधुमत्तमैर्मधुरजलयुक्तैः पथिभिर्मार्गैरित्यस्यार्थस्य, शरीराणां रक्षकं जेतारमपराजितं सुखप्रापकं देवं विद्याविनयशोभितं परमैश्वर्यवन्तं राजानं सङ्गच्छेत, तथा नराशंसेन तेजसा आज्यं ज्ञातुं योग्यं विषयं वेतु प्राप्नोतु त्वं सङ्गच्छस्वेत्यस्यासङ्गतेरित्यस्य च निरर्थकत्वात्, त्रयाणामसङ्गतेः। होता यथा राजानं संगच्छेत्, तथा कश्चिद् ज्ञातुं योग्यं विषयं प्राप्नोतु, त्वं च यज संगच्छेति किं केन शिलष्यत इत्यनवगमात्, यजेत्यस्य किं कर्मेत्यनुक्तेश्च ॥ २ ॥

होता॑ यक्ष॒दिडा॑भि॒रिन्द्र॑मीडि॒तमा॒जुह्वा॑न॒मम॑र्त्यम्। दे॒वो दे॒वैः सवी॑र्यो॒ वज्र॑हस्तः पुर॒न्द॒रो वे॒त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता प्रयाज देवताओं के साथ वेद मन्त्रों से स्तुत, यजमानों से आहूयमान मरणधर्मरहित इन्द्र का यजन करे। देवताओं के समान धर्म वाले वज्रधारी पुरन्दरदेव घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ ३ ॥

ब्राह्मी उष्णिक्। होता इडाभिः प्रयाजदेवताभिः सह इन्द्रं यजतु। कीदृशमिन्द्रम्? ईडितम्, ऋत्विग्भिः स्तुतम्, आजुह्वानम् यजमानैराहूयमानम्, यजमानैर्देवान् आह्वयन्तं वा, अमर्त्यममरणधर्माणम्। स चेज्यमानो देवो द्युस्थान इन्द्रो देवैर्द्युस्थानैः सवीर्यः समानं वीर्यं यस्य स सवीर्यः, सर्वदेवेषु यादृशं वीर्यं तदेकस्मिन्निन्द्र इत्यर्थः। वज्रहस्तो वज्रं हस्ते यस्य सः। पुरन्दरः पुरां दारयिता। वेतु आज्यस्य स्वमंशं पिबतु, त्वमपि हे मनुष्य, होतर्यज।

अध्यात्मपक्षे—होता इन्द्रं परमात्मानं यक्षद् यजतु। कीदृशम्? ईडितम्, वेदैर्ऋषिभिर्भक्तैश्च संस्तुतम्। आजुह्वानं आर्तैरर्थार्थिभिर्जिज्ञासुभिर्ज्ञानिभिर्यजमानैराहूयमानः, स चेज्यमानो देवो देवानामपि देवः, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० ६।११) इति श्रुतेः। देवैर्द्युस्थानैः सवीर्यः समानवीर्यो वज्रहस्तो वज्रादप्युग्रचक्रहस्तः। पुरन्दरो रावणादिशत्रुपुराणां दारयिता आज्यस्य आज्यम्, कर्मणि षष्ठी, घृतगन्धि प्रेमपरिप्लुतभक्तसमर्पितपत्रपुष्पफलजलादिकं वेतु पिबतु। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥' (भ० गी० ९।२६) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे होतस्त्वं यथा होतेडाभिरमर्त्यमाजुह्वानमीडितमिन्द्रं यक्षत्, यथायं वज्रहस्तः पुरन्दरः सवीर्यो देवो देवैः सहाज्यस्य विज्ञानेन रक्षितुं योग्यस्यावयवान् वेतु यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, होत्रादिशब्दानामर्थविशेषे प्रसिद्धत्वात्, त्वदुक्तेऽर्थे तेषामसङ्गतेः। त्रयाणां पुरुषाणामप्यसङ्गतिरेव। राज-राजपुरुषसाधारणव्यवहारवर्णनमपि निरर्थकमेव, वेदस्य धर्मब्रह्मणोरेव तात्पर्यात्। तत्प्रसङ्गेनैव व्यवहारादिकं वर्णयितुं योग्यमेव॥ ३॥

होता यक्षद्बर्हिषीन्द्रं निषद्वरं वृषभं नर्यापसम्। वसुभी रुद्रैरादित्यैः सयुग्भिर्बर्हिरासदद् वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥ ४॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता ने बैठने वालों में श्रेष्ठ, वर्षणकारी, यजमानों के हितकारी इन्द्र की कुशा के आसन पर पूजा की है, समान योग वाले वसु, रुद्र और आदित्यों के साथ कुशा के आसन पर बैठ कर ये घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो॥ ४॥

आर्षी त्रिष्टुप्। बर्हिषि प्रयाजदेवतायां स्थितमिन्द्रं दैव्यो होता यक्षद् यजतु। प्रयाजदेवता बर्हिरत्र यज्ञसाधनमेव। कथम्भूतमिन्द्रम्? निषद्वरम् अनिराकुर्वतां वरमुत्कृष्टम्। निषीदन्तीति निषद उपदेष्टारः, तेषां वरं श्रेष्ठं वृषभं वर्षितारम्, नर्यापसं नरेभ्यो यजमानेभ्यो हितं नर्यम्, नर्यमपः कर्म यस्यासौ नर्यापस्तम्। 'अप इति कर्मनामसु' (निघ० २।१।१), आप्नोति कर्तारं फलरूपेणेत्यपः। 'आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा' (उ० ४।२०९) इत्यसुनि ह्रस्वे नुडभावे च रूपम्। स तादृश इन्द्रो वसुभी रुद्रैरादित्यैश्च सवनत्रयदेवैः सहितो बर्हिरासदत्, आसीदतु, आज्यस्व स्वमंशं वेतु पिबतु च। कीदृशैर्वस्वादिभिः? सयुग्भिः, सह युञ्जन्ति ये ते सयुजस्तैः समानयोजनैः। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि तं यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता बर्हिषि प्रयाजदेवतायां स्थितमिन्द्रं परमात्मानं यक्षद् यजतु। कीदृशम्? निषद्वरं बर्हिषि निषीदतां सर्वेषां देवानां वरं श्रेष्ठं देवम्, देवत्वाद् वृषभम्, वर्षतीति वृषः, इगुपधलक्षणः कः, वृषो धर्मः, स भाति येनासौ वृषभस्तमभीष्टवर्षितारं वा। नर्यापसं जीवानां हितकर्मकारिणम्, तं तादृश इन्द्रः समानयोगैर्वस्वादिभिर्देवैः सहितो बर्हिरासदद् आसीदतु, आज्यं वेतु। होतस्त्वमपि तं यज।

दयानन्दस्तु--'हे होतः, होता यथा सयुग्भिर्वसुभी रुद्रैरादित्यैः सह बर्हिषि उत्तमायां विद्वत्सभायां निषद्वरं निषीदन्ति वराः श्रेष्ठा यस्य सविधे तं वृषभं नर्यापसं नृषु साधून्यपांसि यस्य तमिन्द्रं नीत्या शोभमानं यक्षद् आज्यस्य बर्हिरासदत् सुखं वेतु तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धार्थप्रतिपादनात्। तथाहि--बर्हिःपदस्य विद्वत्सभा, आज्यपदस्य कर्तुं योग्यो न्यायः, होतृपदस्य सुखेप्सुरित्यादयोऽर्थास्तथाविधा एव। निषीदन्ति नरा यस्य सविधे स निषद्वर इत्यपि चिन्त्यम्, गौरवावहत्वादपर्यवसानाच्च। एवमेव वस्वादिपदानामप्यर्थाः काल्पनिका निर्मूला एव ॥ ४ ॥

होता यक्षदोजो न वीर्यꣳ सहो द्वार इन्द्रमवर्धयन्। सुप्रायणा अस्मिन् यज्ञे विश्रयन्तामृतावृधो द्वार इन्द्राय मीढुषे व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता ने इन्द्र का यजन किया है। द्वारदेवता ने इन्द्रिय के, शरीर के और मन के बल को बढ़ाया है। सुख से जाने योग्य, यज्ञ के कारण खुले हुए द्वार अमृत का सिंचन करने वाले इन्द्र के निमित्त खुल जाँय। इस यज्ञ में इन्द्र घृत का पान करे। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ ५ ॥

अतिजगती। नकारः समुच्चयार्थकः। दैव्यो होता ता द्वारः प्रयाजदेवता यक्षद् यजतु, या इन्द्रं इन्द्रे, सप्तम्यर्थे द्वितीया, ओज इन्द्रियबलम्, वीर्यं शारीरं बलम्, सहो मनोबलम्, समुच्चितानीन्द्रियशरीरमनोबलानि, अवर्धयन् वर्धयन्ति। ताश्च द्वार इन्द्राय इन्द्रार्थं विश्रयन्तां विवृता भवन्तु। कथम्भूतायेन्द्राय ? मीढुषे, मेहतीति मीढ्वान्, 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० सू० ६।१।१२) इति क्वसन्तो निपातः, तस्मै सेक्त्रे। कीदृश्यो द्वारः ? सुप्रायणाः, सु सुखेन अनायासेन प्रकृष्टमयनं गमनं यासु ताः, विवृतत्वादिति यावत्। ऋतं यज्ञं वर्धयन्तीति ऋतावृधः, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। ताश्च द्वारदेवता अस्मिन् यज्ञे आज्यस्य स्वं स्वमंशं व्यन्तु पिबन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि ता यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता ता द्वारः प्रयाजदेवता यक्षद् यजतु, या इन्द्रं इन्द्रे जीवे ओजश्च वीर्यं च सहश्चावर्धयन् वर्धयन्ति। ताश्च द्वारो मीढुषे देवाभीष्टहविषां वर्षित्रे इन्द्राय कर्मोपासनानिष्ठाय जीवाय विश्रयन्तां विश्रिता विवृता भवन्तु। कीदृश्यो द्वारः ? सुप्रायणा ऋतावृधः। अस्मिन् यज्ञे ता द्वारः प्रयाजदेवता आज्यस्य व्यन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि ता यज।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा याः सुप्रायणा द्वार ओजो न च वीर्यं सह इन्द्रं चावर्धयन्, ता ऋतावृधो द्वारो मीढुष इन्द्रस्य अस्मिन् यज्ञे विद्वांसो विश्रयन्ताम् आज्यस्य व्यन्तु। होता च यक्षत् तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजाश्रयणस्य रागप्राप्तत्वेन वेदे तद्विधानायोगात्, पदानां तेषु तेषु त्वदुक्तार्थेष्वसङ्गतेश्च। द्वारपदस्य विद्याविनयद्वारा अर्थ इत्यपि चिन्त्यम्, निघण्टुरीत्या ओज इत्युदकनामप्रसिद्ध्यापि जलवेगार्थस्य कल्पितत्वात्। 'द्वारो जलवेगः समानं वीर्यं बलं सहनमिन्द्रमैश्वर्यं च वर्धयन्ति' इत्यपि यत्किञ्चित्, वीर्ये सहने ऐश्वर्ये च जलवेगतुल्यतानुपपत्तेः। न चेन्द्रपदस्य ऐश्वर्यमर्थः, तस्य ऐश्वर्यवच्चेतनपरत्वात्। 'मीढुषे स्निग्धवीर्यवते इन्द्राय राज्ञे' इत्यपि निर्मूलम्, मीढ्वस्पदस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात्। यज्ञपदस्य सङ्गतियोग्यः संसारोऽर्थ इत्यपि चिन्त्यम्। एवमन्येऽपि दोषा ज्ञातव्याः ॥ ५ ॥

होता यक्षदुषे इन्द्रस्य धेनू सुदुघे मातरा मही। सवातरौ न तेजसा वत्समिन्द्रमवर्धतां वीतामाज्यस्य होतर्यज ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ - दिव्य होता ने इन्द्र की मातास्वरूप सुन्दर दूध देने वाली दो गायों का रूप धारण करने वाली रात्रि और उषा का यजन किया है, इन्होंने इन्द्र के तेज को बढ़ाया है। जैसे एक ही बछड़े वाली दो गायें बछड़े को पुष्ट करती हैं, उसी प्रकार हे इन्द्र, तुम पुष्टि के लिये घृत का पान करो। मनुष्य होता भी इसी अभिप्राय से यजन करे॥ ६॥

आर्षी त्रिष्टुप्। दैव्यो होता उषे, अत्र पूर्वपदलोपश्छान्दसः, नक्तोषे इत्यर्थः, नक्तोषाधिष्ठात्र्यौ देवते यजतु। ते च नक्तोषे देवते तेजसा इन्द्रमवर्धतां वर्धयताम्, आज्यस्य आज्यं वीतां पिबतां च। कीदृश्यौ उषे? तत्राह—इन्द्रस्य धेनू धिनुतो ये ते धेनू प्रीणयित्र्यौ। सुदुघे सुष्ठु दुग्धो ये ते सुदुघे सुष्ठु दोहने सुष्ठु दुग्धे पूरयित्र्यौ वा, मातरा मातरौ मातृवत् पालयित्र्यौ, विभक्तेराकारः, मही मह्यौ महत्यौ, विभक्तिलोपः। कथमिव ते इन्द्रं वर्धयताम्? तत्र दृष्टान्तः—सवातरौ न, नकार उपमार्थीयः, वातृशब्दो वत्सवचनः, समानो वाता वत्सो ययोस्ते, एकशिशुके गावौ यथा वत्सं वर्धयेते, तद्वन्नक्तोषे तेजसा इन्द्रं वर्धयतामित्यर्थः। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि ते यज।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रं भगवत्परायणं साधकं जीवं नक्तोषे रात्र्यहनी तेजसा अवर्धतां वर्धयताम्, ते इन्द्रस्य धेनू प्रीणयित्र्यौ। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—हे होतः, त्वं यथेन्द्रस्य विद्युतः सुदुघे मातरा मही धेनू सवातरौ वायुना सह वर्तमानौ न उषे प्रतापयुक्ते भौतिकसूर्याग्न्योस्तेजसा इन्द्रं परमैश्वर्यं वत्सं वीतां प्राप्नुताम्। होताज्यस्य प्रक्षेप्तुं योग्यस्य यक्षद् वर्धताम्, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'उषे' इति पदेन प्रतापयुक्तयोर्भौतिकसूर्याग्न्योर्ग्रहणे मानाभावात्, उषापदस्य उषसोऽनन्तरभाविनः सूर्यस्य ततस्तद्गतप्रतापस्य ततस्तद्वतोर्भौतिकसूर्याग्न्योर्ग्रहणे विप्रकृष्टलक्षणापत्तेः, तयोश्च विद्युतः पोषकत्वमपि चिन्त्यमेव॥ ६॥

होता॑ यक्ष॒द्दैव्या॒ होता॑रा भि॒षजा॒ सखा॑या ह॒विषेन्द्रं॑ भिषज्यतः। क॒वी दे॒वौ प्रचे॑तसा॒-विन्द्रा॑य धत्त इन्द्रि॒यं वी॒तामाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥ ७॥

दिव्य होता ने वैद्य, मित्र, दीप्तिमान् क्रान्तिदर्शी परमज्ञानी देवताओं के दोनों होताओं का यजन किया है। इन्द्र की चिकित्सा करते हुए इन्द्र को बलवान् बनाते हुए ये दोनों दैवी होता घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो॥७॥

अतिजगती। दैव्यो होता दैव्यौ होतारौ, अयं चाग्निरसौ च मध्यमस्थानो वायुः, तौ यजतु यौ च हविषा इन्द्रं भिषज्यतश्चिकित्सतः, 'भिषज् चिकित्सायाम्' कण्ड्वादिभ्यो यक्, तस्माच्छतरि रूपम्। इन्द्राय इन्द्रे इन्द्रियं वीर्यं धत्तः स्थापयतः। तौ च आज्ये वीतां पिबताम्। कीदृशौ तौ? भिषजा भिषजौ चिकित्साकुशलौ, सखाया सखायौ परस्परं स्नेहवन्तौ समानख्यानौ वा, कवी क्रान्तदर्शनौ, देवौ द्युस्थानौ दीप्यमानौ वा, प्रचेतसौ प्रकृष्टं चेतो ज्ञानं ययोस्तौ प्रकृष्टज्ञानवन्तौ। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि तौ यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता शास्त्राचार्यरूपौ दैव्यौ होतारौ यजतु। यौ च इन्द्रं भवरोगपीडितं जीवं हविषा भिषज्यतः, धर्मब्रह्मात्मतत्त्वोपदेशेन चिकित्सतः। कीदृशौ तौ भिषजौ? भवरोगवैद्यौ, सखायौ परस्परं स्नेहवन्तौ, कवी अतीतानागतवर्तमानदर्शनौ सर्वज्ञकल्पौ, देवौ दिव्यौ दिव्यात्मभावप्रापकौ प्रकृष्टं ब्रह्मात्मविषयं चेतसा साक्षात्कारात्मकं ज्ञानं याभ्यां तौ, यौ च इन्द्राय साधकाय जीवाय, तस्मिन् जीव इत्यर्थः, इन्द्रियं वीर्यं धत्तः स्थापयतः, तौ चेज्यमानौ वीतां पिबताम् आज्यं घृतगन्धिस्नेहं स्वीकुरुताम्। हे होतः, साधक! त्वमपि तौ यज।

दयानन्दस्तु—'हे होतः सुखप्रदातः, त्वं यथाज्यस्य यक्षद्दैव्यौ विद्वत्सु साधू होतारा रोगमपसार्य सुखदातारौ सखाया कवी प्रचेतसौ देवौ भिषजौ हविषेन्द्रं भिषज्यतः, इन्द्राय इन्द्रियं धत्तः, आयुर्वीताम्, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, आयुरादिमन्त्रबाह्यपदाध्याहारादिदोषात्। एवमेव होतृपदस्य युक्ताहारविहारतद्वैद्योऽर्थ इत्यपि स्वातन्त्र्यमेव। आज्यं ज्ञातुं योग्यं निदानं सङ्गमय, होतारौ रोगं निवर्त्य सुखस्य प्रदातारौ हविषा यथायोग्येन ग्रहीतव्येन व्यवहारेणेत्यादिव्याख्यानमपि निर्मूलमेव, तथात्वे शब्दक्षेत्रेऽराजकताप्रसङ्गात् ॥ ७ ॥

होता यक्षत्तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपस इडा सरस्वती भारती महीः। इन्द्रपत्नीर्हविष्मतीर्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने भेषज रूप तीन लोक और अग्नि, वायु, सूर्य नामक तीन धातुओं को धारण करने वाली, शीत, उष्ण आदि को धारण करने वाली महती इन्द्र की पत्नी और हवि से युक्त इड़ा, सरस्वती, भारती—इन तीन देवियों का यजन किया है। ये सब घृत का पान करें। मनुष्य होता भी उनका यजन करे ॥ ८ ॥

ब्राह्मी अनुष्टुप्। दैव्यो होता भेषजरूपा ये त्रयो लोकास्तान् इडा-सरस्वती-भारतीति तिस्रो देवीश्च यक्षत् यजतु। इज्यमानाश्च ता आज्यं व्यन्तु पिबन्तु। नकारोऽत्रापि समुच्चयार्थकः। कीदृशास्त्रयो लोकाः? त्रिधातवः, त्रयोऽग्निवायुसूर्या धातवो धर्तारो येषां ते तथोक्ताः। अपसः अपस्विनः, मत्वर्थीयलोपः, 'अप इति कर्मनामसु' (निघ० २।१।१) कर्मवन्तः, शीतोष्णवातवर्षादीनि हि तेषां कर्माणि, तैः कर्मवन्तो लोकाः। कीदृश्यस्तिस्रो देव्यः? महीर्मह्यः, महत्य इति यावत्। इन्द्रपत्नीरिन्द्रस्य पालयित्र्यः, हविष्मतीर्हविष्मत्यः, हवींषि विद्यन्ते यासां ताः, हविषा संयुक्ता इत्यर्थः। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—होता देवानामाह्वाता साधकस्तिस्रो देवीरिडा-सरस्वती-भारतीरूपाः, ये च भेषजं भेषजरूपास्त्रयो लोकाः, त्रिधातवस्त्रयोऽग्निवायुसूर्या धातवो धर्तारो येषां ते। अपसोऽपस्विनः शीतोष्णवातवर्षादियुक्ताः, तांश्च यक्षद् यजतु। कीदृश्यो देव्यः? महीर्मह्यो महत्यः, इन्द्रपत्नीरिन्द्रस्य जीवस्य पालयित्र्यः, हविष्मतीर्हविषा युक्ताः। ताश्चेज्यमाना आज्यस्य स्वमंशं व्यन्तु पिबन्तु। होतर्यज। इडा वागधिष्ठात्री, सरस्वती ज्ञानाधिष्ठात्री, भारती प्रतिभाधिष्ठात्रीत्येतास्तिस्रो देव्यो भोगापवर्गसम्पादकत्वेन जीवस्य पालयित्र्यः, मह्यश्च महत्त्वपूर्णाश्च। त्रयो लोका अपि भेषजं भेषजरूपाः क्षुत्पिपासानिद्रातन्द्रालस्याज्ञानप्रमादादिनाशहेतुत्वेनौषधरूपाः। तत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि—त्रिधातवः, अग्निवायुसूर्यैर्धृतत्वात् शीतोष्णादिकर्मवत्त्वाच्च। देहादिकार्यकारणसङ्घातोपबृंहकत्वेनोपकारकत्वेन तेषां तासां च यजनं पूजनं यथा दैव्यो होता करोतु, तथैव मानुषोऽपि होता यजतु।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होताज्यस्य यक्षद् यथा ये धातवो यास्तिस्रो देवीर्न भेषजं मही इडा सरस्वती भारती च हविष्मतीरिन्द्रपत्नीर्व्यन्तु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, व्यक्तिविशेषाभ्यूहस्य वेदार्थत्वायोगात्। प्रयोक्तृ-प्रतिपत्तृ-व्यवहारारूढार्थैरेव शब्दैर्व्यवहरन्ति व्यवहर्तारः। होता विद्याया दाता आदाता वा, देवीः सकलविद्याप्रकाशिकाः, त्रयोऽध्यापकोपदेशकवैद्याः, हविष्मतीर्विविधज्ञानसहिताः—इत्यादिव्याख्यानानि व्यक्तिविशेषाभ्यूहमात्राणि ॥ ८ ॥

होता यक्षत् त्वष्टारमिन्द्रं देवं भिषजꣳ सुयजं घृतश्रियम् । पुरुरूपꣳ सुरेतसं मघोनमिन्द्राय त्वष्टा दधदिन्द्रियाणि वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने परम ऐश्वर्य युक्त, रोगनिवर्तक, सुपूज्य, दिव्य किरण जाल से शोभित, बहुरूप के आदि कारण, सुवीर्यवान्, धनवान् त्वष्टा देव का यजन किया है। त्वष्टा ने इन्द्र के लिये पराक्रम किया है, घृत का आस्वादन किया है। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ९ ॥

अतिजगती। दैव्यो होता त्वष्टारं देवं प्रयाजदेवतां यक्षद् यजतु। कीदृशं त्वष्टारम् ? इन्द्रम्, परमैश्वर्यवन्तं प्रभुम्। देवं दानादिगुणकं दातारम्। भिषजं रोगनिवर्तकं सुयजं यः सुष्ठु इज्यते तम्। साधुयष्टव्यमक्लेशयागं घृतश्रियं घृतेन श्रीः शोभा यस्य तम्। आज्यहविष्का हि प्रयाजाः। पुरुरूपं पुरूणि बहूनि रूपाणि यस्य तम्। सुरेतसं शोभनवीर्यम्। स त्वष्टा इन्द्राय इन्द्रे, विभक्तिव्यत्ययः, दधद् धारयतु आज्यं वेतु।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता त्वष्टारं विश्वस्य प्रकाशकं रचयितारं परमात्मानं देवं यक्षद् यजतु। कीदृशं त्वष्टारम् ? इन्द्रं परमैश्वर्यवन्तम्, निरतिशयैश्वर्यस्य परमात्मन्येव पर्यवसानात्। देवं स्वप्रकाशं द्योतमानं वा दातारं वा। भिषजं भवरोगवैद्यम्। सुयजं सुखेन अनायासेन पत्रपुष्पफलजलादिना यष्टुं शक्यम्। घृतश्रियं घृतगन्धिना स्नेहेन श्रीः स्वाराज्यलक्ष्मीर्मोक्षलक्ष्मीः साम्राज्यलक्ष्मीर्विजयलक्ष्मीर्वा लभ्यते यस्मात्तम्। पुरुरूपं पुरूणि बहूनि मत्स्य-कूर्म-वराहादीनि ब्रह्मविष्णुशिवादीनि वा रूपाणि यस्य तम्। सुरेतसं शोभनं रावणादिपराभवितृ रेतो वीर्यं पराक्रमो वा यस्य तम्। मघोनं कामधेनुचिन्तामणिकल्पवृक्षकौस्तुभादिबाह्यधनवन्तं तथा ज्ञानवैराग्यादिलक्षणान्तरधनवन्तम्। इज्यमानस्तादृशस्त्वष्टा इन्द्राय इन्द्रे स्वांशे जीवे इन्द्रियाणि वीर्याणि निद्रालस्याज्ञानाद्यपनोदनक्षमाणि दधत् स्थापयतु। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता त्वष्टारं दोषविच्छेदकं सुरेतसं मघोनं पुरुरूपं घृतश्रियमुदकेन शोभमानं भेषजं देवमिन्द्रं यक्षद् आज्यस्येन्द्रायेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि धनानि दधत् सन् त्वष्टा वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्। सामान्यवैद्यादिप्रतिपादेन वेदस्य तात्पर्यायोगात् ॥ ९ ॥

होता यक्षद्वनस्पतिꣳ शमितारꣳ शतक्रतुं धियो जोष्टारमिन्द्रियम्। मध्वा समञ्जन् पथिभिः सुगेभिः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने संस्कारकर्ता बहुकर्मी बुद्धि के सेवक इन्द्र के हितकारी वनस्पति देवता का यजन किया है। स्वादु घृत से सींचते हुए वे वनस्पति देवता सुगम मार्ग से स्वादु घृत के द्वारा यज्ञ को देवताओं को प्राप्त कराते हैं। वे वनस्पति देवता घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ १० ॥

शक्वरी। होता वनस्पतिं प्रयाजदेवतां यजतु। कीदृशं वनस्पतिम् ? शमितारम् उलूखलादिरूपेण हविषां संस्कर्तारम्, तण्डुलादिरूपेण निष्पादयितारम्। शतक्रतुं शतं क्रतवः कर्माणि यस्य तं बहुकर्माणम्, धियो जोष्टारं बुद्धेः कर्मणो वा सेवितारम्, 'जुषी प्रीतिसेवनयोः', इन्द्रियं वीर्यरूपमिन्द्रायात्मने हितं वा। स चेज्यमानो वनस्पतिर्मध्वा समञ्जन् मधुस्वादुना घृतेन यज्ञं संमृष्टीकुर्वन् पथिभिः सुगेभिः शोभनगमनैर्मार्गैर्मधुना स्वादुना घृतेन युक्तं यज्ञम्, स्वदाति देवान् प्रापयतीति। स्वदातिः प्रापणार्थः। वेतु पिबतु चाज्यस्य स्वमंशम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—व्रीहियवादिहविषामुलूखलादिरूपेण संस्कर्तारं दैव्यो होता यजतु। परमात्मनः सर्वात्मभावं निरूपयन् मन्त्रवर्ण आह—होता यक्षदिति। उलूखलादिरूपवनस्पत्यभिमानिविशेषणानीमानि सङ्गच्छन्ते। अन्यथा वनस्पतौ संस्कर्तृत्वशतक्रतुत्वधियोजोष्टृत्वयज्ञसमञ्जनकर्तृत्वादिकं निरालम्बनमेव स्यात्। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता वनस्पतिमिव वनानां किरणानां स्वामिनं सूर्यमिव शमितारं शतक्रतुं धियो जोष्टारं यक्षन् मध्वा सुगेभिः पथिभिराज्यस्येन्द्रियं समञ्जन् स्वदाति मधुना घृतेन यज्ञं वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वनस्पतिपदस्य तथार्थत्वायोगात्। शमितृपदस्य यजमानपरत्वमपि चिन्त्यमेव। मधुना मधुरेण विज्ञानेनेत्यपि निर्मूलम्। प्रकृते किमभिप्रेत्य सूर्यस्योपमानत्वमुक्तमित्यनुक्तेः। आज्यस्य संसारार्थतापि न युक्ता, ज्ञातुं योग्यानां बहुत्वेन विनिगमनाविरहात्। घृतेन जलेन सङ्गतियोग्यव्यवहारस्य कथं प्राप्तिरित्याद्यनुक्तेश्च ॥ १० ॥

होता यक्षदिन्द्रꣳ स्वाहाज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा स्तोकानाꣳ स्वाहा स्वाहाकृतीनाꣳ स्वाहा हव्यसूक्तीनाम्। स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा इन्द्र आज्यस्य व्यन्तु होतर्यज ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ दिव्य होता ने इन्द्र का स्वाहाकारपूर्वक यजन किया। यह घृत भाग सुगृहीत हो, मेदावर्धक हवि सुगृहीत हो, सोम की बिन्दु सुगृहीत हो। स्वाहाकार से देवताओं के निमित्त प्रयाज देवता का यजन करें, स्वाहाकार से हव्यसम्बन्धी सुवचनों के साथ देवताओं का यजन करें, स्वाहाकार से प्रसन्न हो देवताओं के साथ इन्द्र घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ११ ॥

शक्वरी। दैव्यो होता इन्द्रं यक्षद् यजतु। स एव होता स्वाहाकारेण आज्यस्य देवान् यक्षद् यजतु। स्वाहाकारेण मेदसो देवान् यजतु। स्वाहाकारेण स्तोकानां सोमबिन्दूनां देवान् यजतु। स्वाहाकारेण स्वाहाकृतीनां देवानां स्वाहाकृतीः प्रयाजदेवता यजतु। स्वाहाकारेण हव्यसूक्तीनां हव्यसम्बन्धिसुवचनानां देवान् यजतु। स्वाहाकारेणाज्यपा देवाः प्रयाजा जुषाणाः प्रीयमाणा भवन्तः सन्त इन्द्रश्च आज्यं व्यन्तु। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—होता इन्द्रं परमात्मानं यजतु। तद्विभूतिभूतानाज्यस्य शास्त्रस्य देवान् स्वाहाकारेण यजतु। तथैव मेदसो देवान् सोमबिन्दूनां च देवान् यजतु, परमात्मन एव सर्वात्मत्वेन सूर्यरूपेण पूज्यत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथेन्द्रः परमैश्वर्यप्रदो होताज्यस्य स्वाहा सत्यां वाचं मेदसः स्वाहा स्तोकानां स्वाहा स्वाहाकृतीनां स्वाहा हव्यसूक्तीनां स्वाहेन्द्रं यक्षद्यथा स्वाहाज्यस्य जुषाणा आज्यपा देवा इन्द्रं व्यन्तु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सन्निकृष्टान्वयापेक्षया विप्रकृष्टान्वयस्यायुक्तत्वात्, असम्बद्धत्वाच्च। इन्द्रः परमैश्वर्यप्रद इत्यपि निर्मूलम्, प्रदेत्यंशस्य मन्त्रबाह्यत्वात्। स्वाहापदानामपि तत्तदुक्तार्था निर्मूला एव, तत्र तत्रार्थेषु तेषां पदानामशक्तत्वात् ॥ ११ ॥

देवं बर्हिरिन्द्रꣳ सुदेवं देवैर्वीरवत् स्तीर्णं वेद्यामवर्धयत्। वस्तोर्वृतं प्राक्तोर्भृतꣳ राया बर्हिष्मतोऽत्यगाद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—श्रेष्ठ देवता वाले, देवताओं में वीर्यवान्, वेदि पर बिछाये गये, दिन में काटकर रात भर रखे गये कुशाओं के देवता इन्द्र को पुष्ट करते हैं, धनसम्पन्न बर्हि वाले अन्य यागों से बढ़कर धन देने की इच्छा करने वाले यजमान के घर में धन-धान्य की वृद्धि करने के लिये घृत का पान करे। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ १२ ॥

एकादश ऐन्द्रपशोः सम्बन्धिन एवानुयाजप्रैषाः। देवता बर्हिरादयः। अतिजगती। मैत्रावरुणो वदति—देवं बर्हिर्बर्हिःसंज्ञानुयाजदेवता इन्द्रमवर्धयत् पुष्णाति। कीदृशं बर्हिः? सुदेवं शोभना देवा मरुदादयो यत्र तत्, तथा देवैर्दातृभिर्ऋत्विग्भिर्वीरवद् वीरयुतम्, वेद्यां स्तीर्णमाच्छादितम्, आहवनीयगार्हपत्यमध्यवर्तिन्यामिति यावत्। वस्तोर्वृतम् अहनि लूनम्, धातोरनेकार्थत्वात्। अक्तोः रात्रौ प्र प्रकर्षेण भृतं धृतम्। वस्तोः, अक्तोः—इत्युभयमव्ययं क्रमशो दिवारात्रिपर्यायम्। यद् बर्हिः, राया हविर्लक्षणेन धनेन, बर्हिष्मतो बर्हिषायुक्तानन्यान् यजमानान् अत्यगाद् अतिक्रम्य गतं संस्कारोत्कर्षात्, तद् बर्हिर्वसुवने वसुवननाय धनदानाय वसुधेयस्य वसुधेयाय वसुनो धानाय निधानाय यजमानगृहे निखननाय वेतु आज्यं पिबतु। वसुवने वसुधेयस्येति सप्तमीषष्ठ्यौ चतुर्थ्यर्थे। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज। यद्वा—यज्ञसाधनभूतं बर्हिरिह देवता विवक्षिता। यद्देवं बर्हिरिन्द्रमवर्धयत्। कथंभूतमिन्द्रम्? सुदेवं शोभना देवा मरुदादयो यस्य परिकरभूतास्तम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्। एवमग्रेऽपि कण्डिकाशेषो व्याख्येयः।

अध्यात्मपक्षे—बर्हिर्देवं बर्हिःसंज्ञानुयाजदेवता इन्द्रं देहेन्द्रियादिदीपयितारं जीवमवर्धयत्। कीदृशं बर्हिः? सुदेवम्। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा बर्हिष्मतोऽत्यगाद् वसुधेयस्य वसुवने वेद्यां स्तीर्णं वस्तोर्वृतम् अक्तोर्भृतं हुतं द्रव्यनैरोग्यं प्रावर्धयत् सुखं वेतु, तथा बर्हिरिव राया सह देवं देवैः सह वीरवद्वर्तमानं सुदेवमिन्द्रं यज' इति, तदपि न, असम्बद्धत्वात्, अध्याहारादिमूलकत्वाच्च। बर्हिःपदस्यान्तरिक्षार्थत्वेऽपि तत्तुल्यार्थता त्वसङ्गतैव, निष्ठान्तस्य स्तीर्णशब्दस्य आच्छादितमर्थो न त्वाच्छादनीयमिति। वेद्यामित्यस्य हवनाधारकुण्डार्थता निर्मूला, नहि दिने स्वीकृतस्य रात्रौ धारितस्य द्रव्यस्य हवनाङ्गत्वेन विधानम्, तथाऽदर्शनात्। नैरोग्यमिति तु मन्त्रबाह्यमेव। हुतं द्रव्यं सुखमित्यादिकमपि वेदबाह्यमेव, मन्त्रे तथाऽदर्शनात् ॥ १२ ॥

दे॒वीर्द्वार॒ इन्द्र॑ᳬ संघा॒ते वी॒ड्वीर्याम॑न्नवर्धयन्। आ व॒त्सेन॒ तरु॑णेन कु॒मारे॑ण च मीव॒तापार्वा॑णᳬ रे॒णुक॑काटं नुदन्तां वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—देहली, किवाड़ आदि में दृढ़ द्वार वाली देवी ने अपने कर्मों से इन्द्र को सब तरह से बढ़ाया है, ये मरखने तरुण और कुमार वत्स द्वारा अभिमुख गमन से कुत्सित धूल और वृष्टि को हटावें, धन देने के लिये यजमान के घर में धन की वृद्धि के लिये घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ १३ ॥

एकाधिका शक्वरी। यज्ञगृहद्वारोऽत्र देवताः। यमन्, यच्छन्ति नियता भवन्ति ऋत्विजो यत्र तद् याम कर्म, तस्मिन् यामन्, यमेरनिण्प्रत्ययो वृद्धिश्च, सप्तम्याश्च लुक्। या द्वारो देव्य इन्द्रमवर्धयन्। कीदृश्यो द्वारः? सङ्घाते देहली-कपाट-द्वार-शाखार्गलादिसमूहे सति विड्वीर्वीड्व्यो दृढाः, सङ्घातं विना द्वारां दृढत्वाभावात्। ता द्वारो रेणुककाटमपनुदन्ताम्। काटः कूपः, कुत्सितः काटः ककाटः, रेणुभिर्हेतुना ककाटो रेणुककाटः, तमपनुदन्तां निवर्तयन्तु। उपलक्षणमेतत्, यज्ञभ्रंशकराणि कूपादीनि यज्ञमार्गादपनयन्त्वित्यर्थः।

कीदृशं रेणुककाटम् ? वत्सेन गोपुत्रेण तरुणेन कुमारेण च आ आभिमुख्येन अर्यते गम्यते पत्यते यत्रेत्यर्वा, तम् अर्वाणम्, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति ऋधातोर्वनिप्। कीदृशेन वत्सेन ? मीवता, 'मीञ् हिंसायाम्' भावे क्विपि मीः, मीरस्यास्तीति मीवान्, तेन हिंसाशीलेन। हिंसाशीलाश्चञ्चला उच्चलन्तो वत्साः कुमाराश्च यत्र पतन्ति, तं रेणुककाटमपनुदन्तु, वसुवननाय वसुनिधानाय च ता व्यन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज। यद्वा या देव्यो द्वारो यज्ञगृहद्वारो यामन् यामनि कर्मणि कर्मप्राप्तौ सत्यामिन्द्रमवर्धयन् वर्धयन्ति, याश्च सङ्घाते सति विड्वीर्दृढाः, ता इदानीमाभिमुख्येन स्थित्वा वत्सेन गोवत्सेन तरुणेन कर्मक्षमेण कुमारेण मीवता शत्रूणां हिंसावता अर्वाणं रेणुककाटमपनयन्तु। यस्मिन् कूपे वत्सादीनां पतनं सम्भाव्यते, तदादीनि यज्ञविघ्नकराण्यपनुदन्तु।

अध्यात्मपक्षे—देव्यो दीव्यमाना द्वारो यज्ञगृहद्वारदेवता इन्द्रं यज्ञादिकर्तारं साधकं जीवं वर्धयन्ति। याश्च सङ्घाते सति विड्वीर्वीड्व्यो दृढास्ता बाह्याध्यात्मिकयज्ञविघ्नकराणि चापनुदन्तु। ता द्वारो वसुवननाय स्वर्णरत्नज्ञानवैराग्यादिरूपधनदानाय वसुधानाय तादृशधननिधानाय व्यन्तु। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा विड्वीर्विशेषेण स्तोतुं योग्याः, देवीर्देदीप्यमाना द्वारो रेणुककाटं यामन् वर्जयित्वा तरुणेन मीवता कुमारेण वत्सेन च सह वर्तमानमर्वाणमिन्द्रमवर्धयन्, वसुवने सङ्घाते वसुधेयस्य विघ्नमपनुदन्तु व्यन्तु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वादसम्बद्धत्वाच्च। नहि द्वारः स्तुत्यर्हाः, त्वद्रीत्या जडानामपूज्यत्वात्। रेणुककाटं यामन् मार्गे वर्जयित्वेत्यपि निर्मूलम्, वर्जयित्वेति क्रियापदस्य मूलेऽभावात्। न च मार्गे तादृशः कूपः सम्भाव्यते। नह्यर्वतो हिंसावत्कुमारादिभिः सहभावो युक्तः। न चार्वत ऐश्वर्यस्य च साधर्म्यं युज्यते, येन सामानाधिकरण्यं स्यादिति ॥ १३ ॥

दे॒वी उ॒षासा॒नक्तेन्द्रं॑ य॒ज्ञे प्र॑य॒त्य॒ह्वेताम्। दैवी॒र्विश॒ः प्राया॑सिष्टाᳪं सुप्री॑ते॒ सुधि॑ते वसु॒वने॒ वसु॒धेय॑स्य वीतां॒ यज॑ ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—पूर्ण प्रीतिमान् परम हितकारी देवी, उषा और रात्रि की देवता यज्ञ के प्रवर्तमान होने पर इन्द्र का आह्वान करें। देवता सम्बन्धी प्रजा वसु, रुद्र आदि को निरन्तर प्रवृत्त करें, धन देने के लिये यजमान के घर में धन की वृद्धि के निमित्त घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ १४ ॥

ब्राह्मी उष्णिक्। उषाश्च नक्ता चेत्युषासानक्ता, 'उषासोषसः' (पा० सू० ६।३।१) इति उषःशब्दस्य उषासादेशः, विभक्तेश्च आकारादेशः। अहोरात्राधिष्ठात्र्यौ देवी देव्यौ यज्ञे प्रयति प्रवर्तमाने सतीन्द्रं देवमह्वेतामाहूतवत्यौ। ये च देव्यौ दैवीर्विशो देवसम्बन्धिनीः प्रजाः प्रायासिष्टां प्रगतवत्यौ, यातेर्लुङि रूपम्, वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इत्यादयो देवसम्बन्धिन्यः प्रजाः। यद्वा—दैवीर्विशो यज्ञाङ्गभूतान् पशून् प्रति प्रायासिष्टां प्रगतवत्यौ, 'दैव्यो वा एता विशो यत्पशवः' (श० ३।७।३।९) इति श्रुतेः। अनुयाजेषु तयोर्देवतयोर्भाग इत्यभिप्रायः। ये च सुधिते साधुहिते सुतरां हिते वा, ये च सुप्रीते अतितुष्टे, ते वसुवने वसुवननाय वसुधेयस्य वसुधानाय वीतां पिबताम्, आज्यस्य स्वं भागमिति यावत्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—देवी देव्यौ उषासानक्ता अहोरात्राधिष्ठात्र्यौ यज्ञे प्रवर्तमाने इन्द्रं परमात्मानमह्वेतामाहूतवत्यौ, अनादिकालादनन्तकालं यावत् परमात्मानमाह्वयत इत्यर्थः। अहोरात्रयोस्तथाकरणेन तदन्तर्गतसर्वप्रजानां तथाकरणं सिद्ध्यति, तयोश्च सुप्रीतसुधितत्वादिना सर्वप्रजानामपि सुप्रीतत्वादिलाभः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा सुप्रीते सुधिते देवी उषासानक्ता प्रयति यज्ञ इन्द्रमह्वेताम्, वसुधेयस्य वसुवने दैवीर्विशः प्रायासिष्टाम्, सर्वं जगद् वीतां व्याप्नुताम्, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्ठान्तस्य सुप्रीतशब्दस्य सुप्रीतिहेत्वर्थत्वानुपपत्तेः। हितकारित्वमपि तयोर्नोपपद्यते, त्वद्रीत्या तयोर्जडत्वेन हितज्ञानाभावात्। दैवीर्विशो न्यायकारिणां विदुषां प्रजाः प्रति तयोर्गमनमपि नोपपद्यते, विवेकाभावात्। न च तयोः शब्दव्यवहारकारयितृत्वमपि युक्तम्, जडत्वादेव॥ १४॥

दे॒वी जो॒ष्ट्री वसु॑धिती दे॒वमिन्द्र॑मवर्धताम्। अया॑व्य॒न्याघा॒द्वेषा॑ᳬ॒स्यान्या व॑क्ष॒द्वसु॒ वार्या॑णि॒ यज॑मानाय शिक्षि॒ते व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वी॒तां यज॑॥ १५॥

मन्त्रार्थ—प्रीतियुक्त तत्त्वज्ञाता धन के निधान द्यावापृथिवी ने देव इन्द्र को बढ़ाया। इन दोनों में से एक पाप और दुर्भाग्य को दूर करती है तथा दूसरी वरणीय भोगयोग्य धन यजमान को देती है। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो॥ १५॥

एकाधिकातिजगती। जोष्ट्री जोष्ट्र्यौ जुषेते इति जोष्ट्र्यौ प्रीतियुक्ते, जोषयित्र्यौ वा, देवी देव्यौ, वसुधिती वसुनो धनस्य धारयित्र्यौ, अथवा वसुनो धनस्य धितिर्धारणं याभ्यां ते। के ते? द्यावापृथिव्यौ वा अहोरात्रे वा, 'सस्यं च समा चेति कात्थक्यः' (नि० ९।४१) इति यास्कोक्तेः। सस्यं व्रीह्यादि, समा संवत्सरः। ते इन्द्रं देवमवर्धतां वर्धयेताम्। तयोर्मध्ये अन्या एका अघा अघानि पातकानि द्वेषांसि दौर्भाग्यानि च अयावि दूरीकरोति। 'यु मिश्रणे, अमिश्रणे च'। यौतेश्चिण् लकारव्यत्ययश्च। अन्या द्वितीया वार्याणि वरणीयानि वसु वसूनि धनानि यजमानाय आवक्षद् आवहति। कीदृश्यौ ते? शिक्षिते विनीते ज्ञातज्ञेये प्रबुद्धे। ते च वसुवननाय वसुधानाय च वीतां पिबताम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि ते यज।

अध्यात्मपक्षे—जोष्ट्र्यौ इन्द्रं जीवं वर्धयताम्, भोगमोक्षप्रदानेन पोषयताम्। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वसुधिती जोष्ट्री सेवमाने देवी उषासानक्ता इन्द्रं देवमवर्धताम्, तयोरन्याऽघाद्वेषांस्ययावि, अन्या च वसु वार्याणि च वक्षत्। यजमानाय वसुधेयस्य वसुवने शिक्षिते वीतां तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जडाभ्यामहोरात्राभ्यां सूर्यस्य वर्धनासम्भवात्, तयोस्तज्जन्यत्वाच्च तदनुपपत्तेः। न चान्धकाररूपाया रात्रेः पापद्वेषसां पृथक्कारकत्वं सम्भवति, अन्धकाररूपत्वेन विवेचकत्वाभावात्। नहि स्वापजनकत्वेन तद्वत्त्वं सम्भवति, स्वापेऽपि संस्कारात्मना पापानां सत्त्वात्। अन्यथा स्वापमात्रेण सर्वोऽपि मुक्तः स्यादिति कृतं प्रायश्चित्तादिभिः। न च दिनस्यापि वसुवार्यादिप्रापकत्वम्, जडत्वाविशेषात्। शिक्षितत्वमपि तयोर्दुर्लभमेव। न च तयोर्मनुष्यस्य शिक्षितत्वेन अधिकरणविधया तथात्वम्, तथात्वे भूमिभवनादेरपि शिक्षितत्वापातात्॥ १५॥

दे॒वी ऊ॒र्जाहु॑ती दु॒घे॑ सु॒दुघे॒ पय॒सेन्द्र॑मवर्धताम्। इष॒मूर्ज॑म॒न्या व॑क्ष॒त्सग्धि॒ᳬ॒ सपी॑तिम॒न्या नवे॑न॒ पूर्वं॒ दय॑माने पु॒रा॒णेन॒ नव॒मधा॑ता॒मूर्ज॑मू॒र्जाहु॑ती ऊ॒र्जय॑माने॒ वसु॒ वार्या॑णि॒ यज॑मानाय शिक्षि॒ते व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वी॒तां यज॑॥ १६॥

मन्त्रार्थ—अन्नजल सहित आह्वान वाली कामदुघा, कामनारूप दूध से परिपूर्ण दोनों देवियाँ दूध से इन्द्र को बढ़ाती हैं। उनमें से एक अन्न और रसरूप जल का वहन करती है तथा दूसरी सहभोजन और सहपान को देती है। कृपामयी ऊर्जायुक्त आह्वान वाली, रस को बढ़ाने वाली, तत्त्व को जानने वाली देवी नवीन अन्न के परिवर्तन में पुरातन और पुरातन के परिवर्तन में नूतन अन्न को धारण करती हैं, यजमान को वरणीय धन देती है। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो ॥ १६ ॥

विकृतिश्छन्दः। अधस्तनमन्त्रोक्त एव देवताविकल्पः। देवी देव्यौ पूर्वप्रैषमन्त्रोक्ते पयसा दुग्धेन इन्द्रमवर्धताम् अवर्धयताम्, 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति शप आर्धधातुकत्वात् णिचो लोपः। कीदृश्यौ ? ऊर्जाहुती ऊर्जा बलं तद्युक्ता आहुतिराह्वानं ययोस्ते। दुघे दुग्धः प्रपूरयत इति दुघे दोग्ध्र्यौ, 'दुहः कब्घश्च' (पा० सू० ३।२।७०) इति दुहेः कप्प्रत्ययो हकारस्य घकारादेशश्च, 'अनयोरनुसम्भोगमिमाः सर्वाः प्रजा अनु सम्भुञ्जते' (श० १।७।२।१६) इति श्रुतेः। सुदुघे सुष्ठु साधु दुग्ध इति सुदुघे साधुदोहने, तयोर्मध्ये अन्या एका इषमन्नमूर्जं तदुपसेचनं दध्यादि च वक्षद् वहति यजमानाय। अन्या द्वितीया सग्धिम्, अदनं ग्धिः, समाना ग्धिः सग्धिः, अदेः 'स्त्रियां क्तिन्' (पा० सू० ३।३।९४) इति क्तिनि, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।३९) इति घसादेशे, घस् + ति इत्यवस्थायाम् 'घसिभसोर्हलि च' (पा० सू० ६।४।१००) इत्युपधालोपे घ्सति इत्यवस्थायाम्, 'झलो झलि' (पा० सू० ८।२।२६) इति सकारलोपे घ् + ति इत्यवस्थायाम्, 'झषस्तथोर्धोऽधः (पा० सू० ८।२।४०) इति तकारस्य धकारे घ् + धि इत्यवस्थायाम्, 'झलां जश झशि' (पा० सू० ८।४।५३) इति घकारस्य गकारे 'ग्धिः' इति रूपम्, 'सुपा' (पा० सू० ३।१।४) इति समासे सग्धिरिति, ताम्। सपीतिः समाना पीतिः पानं सपीतिः, ताम्। अर्थात् पुत्रादिभिः सह समानपानभोजने वक्षद् वहति। ये च देव्यौ नवेन नवीनेनान्नेन पूर्वं पुराणमन्नमधातां धारयन्त्यौ पुराणेनान्नेन नवमन्नमधातां धारयन्त्यौ यजमानाय वार्याणि वरणीयानि वसु वसूनि धनानि च अधातां धारितवत्यौ, अन्नं धनं चाक्षयं कृतवत्यौ। पुराणेन धान्येन वपनादिद्वारा नवीनं धान्यमुत्पाद्य, नवीनेन च धान्येन पुराणं सुरक्षितं धान्यं रक्षयित्वा धारितवत्यौ। नवीनानुत्पत्त्या पुराणस्य भक्षणादिना समाप्त्यापत्तेः। कीदृश्यौ ? दयमाने दयामनुग्रहं कुर्वन्त्यौ, उक्षन्त्यौ कृपयन्त्यौ वा, ऊर्जाहुती ऊर्जावती हुतिर्होमो ययोस्ते, ऊर्जं रसं ऊर्जयमाने वर्धयन्त्यौ। शिक्षिते कृतशिक्षे ते वीताम्। हे होतस्त्वमपि इमे यज। यद्वा ये देव्यौ नवेन ऊर्जाधान्येन पूर्वं पुरातनमूर्जं धान्यं दयमाने रक्षितवत्यौ सत्यौ अधाताम्, पुराणेन च ऊर्जाधान्येन नवमूर्जाधान्यमधातां धारितवत्यौ, ये च ऊर्जाहुती ऊर्जयमाने स्वीकुर्वाणे, वरणीयानि वसूनि यजमानाय ऊर्जयमाने स्वीकुर्वाणे। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—ये देवी देव्यौ पयसा इन्द्रं जीवात्मानमवर्धताम्। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वसुधेयस्य वसुवने वर्तमाने विद्वद्भिर्वसुवार्याणि शिक्षिते रात्रिदिने यजमानाय व्यवहारं वीताम्, तथोर्जाहुती देवी पयसा दुघे सुदुघे सत्याविन्द्रमवर्धताम्, तयोरन्या इषमूर्जं वक्षद् अन्या सपीतिं सग्धिं वक्षत्। दयमाने सत्यौ नवेन पूर्वं पुराणेन नवमधाताम्, ऊर्जयमाने ऊर्जाहुती ऊर्जमधातां तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्, ईश्वरस्य नित्यैश्वर्यवत्त्वेन तत्रैश्वर्यस्य धारणासङ्गतेः। ईश्वरस्य धनदानस्थानं जगदित्यपि चिन्त्यमेव, देयसम्प्रदानयोरपि जगदन्तःपातित्वेन जगादित्युक्तेरपार्थकत्वात्। रात्रिदिनयोः शिक्षितत्वं पूर्वमेवापास्तम्। यजमानायेत्यस्य सङ्गत्यर्थं प्रवर्तमानायेत्यर्थोऽपि यत्किञ्चित्, यज्ञपतौ यज्ञानुष्ठातरि तत्प्रसिद्धेः, रूढ्या योगापहारात्। अहोरात्रयोर्बलप्राणधारणमपि प्रमाणसापेक्षम्। भोजनपानप्रापकत्वमपि तयोः साध्यमेव, तयोरैश्वर्यवृद्धिकारणत्वे सर्वस्यैश्वर्यवत्त्वापत्तेः, तयोः सर्वान्

प्रति सौलभ्यात्। नवेन पूर्वं पुराणेन नवमधातामित्यप्यपास्तमेव। यत्तु 'दयमाने गमनागमनगुणवत्यौ प्राचीने द्वे निशे प्रवर्तमाने नवपदार्थेन साधं पूर्वं पुराणेन साधं नवं वस्तु धारयतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नवस्य कालातिक्रमणेन प्राचीनत्वापत्तौ सत्यामपि पुराणस्य नवत्वापत्तौ मानाभावात्। यदपि च—'वर्तमानरूपे रात्रिदिने पूर्वापरस्वरूपज्ञापिके' इति, तदपि न, तथात्वेऽपि प्रकृतमन्त्रेण तदसम्बन्धात्॥ १६॥

देवा दैव्या होतारा देवमिन्द्रमवर्धताम्। हताघशꣳसावाभार्ष्टां वसु वार्याणि यजमानाय शिक्षितौ वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥ १७॥

मन्त्रार्थ—पाप कर्म के प्रशंसकों को दूर करने वाले, ईश्वरीय नियम के अनुसार शुभाशुभ फल देने वाले देवसम्बन्धी दिव्य दो होता इन्द्र को बढ़ाते हुए यजमान के लिये वरणीय धन लाते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो॥ १७॥

अतिजगती। देवा देवौ दैव्या दैव्यौ होतारा होतारौ, विभक्तेराकारः। एकः पार्थिवोऽग्निः, अन्यो मध्यम इन्द्रं देवमवर्धताम् अवर्धयताम्। यजमानाय वार्याणि वरणीयानि वसु वसूनि च आभार्ष्टाम् आहार्ष्टाम्, आहृतवन्तौ। आङ्पूर्वात् हरतेर्लुङ्, हस्य च भः। कथम्भूतौ तौ? हताघशंसौ। अघं पापं शंसन्तीच्छन्तीत्यघशंसाः, हता अघशंसा याभ्यां तौ, पापनिवर्तकौ इति यावत्। तौ वीतां पिबताम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—तौ दैव्यौ देवौ इन्द्रं देवं साधकं परमात्मानं वा ध्येयाकाराकारितवृत्तिमदन्तःकरणादिभिरुत्साहयताम्। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा दैव्या होतारा देवौ वायुवह्नी इन्द्रं देवमवर्धताम्, हताघशंसौ रोगानभार्ष्टाम्, यजमानाय शिक्षितौ सन्तौ वसुधेयस्य वसुवने वसु वीर्याणि च वीताम्, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ताभ्यां सूर्यवर्धनस्यासाध्यत्वात्। अघशब्दस्य चौरेऽशक्तत्वात्, रोगानित्यस्य मन्त्रबाह्यत्वाच्च। यजमानाय कर्मसु प्रवर्तमानाय शिक्षितावित्यपि निर्मूलम्, तयोस्त्वद्रीत्या जडत्वेन विवेकायोगात्। वसुधेयशब्दस्य ईश्वरार्थतापि न युक्ता, समुद्रेषु वृष्टिवत् तत्र वसूनां धानस्य निरर्थकत्वात्॥ १७॥

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीः पतिमिन्द्रमवर्धयन्। अस्पृक्षद्भारती दिवꣳ रुद्रैर्यज्ञꣳ सरस्वतीडा वसुमती गृहान्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥ १८॥

मन्त्रार्थ—तीन देवियों ने मिलकर अपने पति इन्द्र को बढ़ाया। भारती ने द्युलोक को, रुद्रों सहित सरस्वती ने यज्ञ को और धन वाली इड़ा ने गृहों को स्पर्श किया। ये तीनों देवियाँ धन की प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिये घृतपान करती हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी तरह से यजन करो॥ १८॥

अतिजगती। तिस्रो देवीर्देव्यः पतिं पालकमिन्द्रमवर्धयन्, आदरार्थोऽभ्यासः। भरतः, बिभर्ति सर्वमिति भरत आदित्यः, तस्येयं कान्तिर्भारती दिवं द्युलोकमस्पृक्षत् स्पृशति, स्पृशेर्लुङि च्लौ तस्य 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (पा० सू० ३।१।४५) इति क्सादेशे, 'व्रश्चभ्रस्ज' (पा० सू० ८।२।३६) इति शस्य षत्वे, तस्य 'षढोः कः सि' (पा० सू० ८।२।४१) इति ककारे, 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० सू० ८।३।५९) इति मूर्धन्यादेशे रूपम्। सरस्वती, सरतीति सरो ज्ञानम्, तदस्यास्तीति सरस्वान्, तस्येयं शक्तिः सरस्वती, रुद्रैर्युता यज्ञमस्पृक्षत्

स्पृशति। इडा पृथिवी वसुमती वसुभिः सहिता गृहान् अस्पृक्षत् स्पृशति। अत्र गृहशब्देनायं लोक उच्यते लक्षणया, पृथिवीस्थानत्वादिडायाः। ता वसुदानाय वसुधानाय व्यन्तु पिबन्तु। हे होतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—तिस्रो देव्य इन्द्रं परमेश्वरं पतिं सर्वपालकमवर्धयन् स्तुत्यादिभिः प्रोत्साहितवत्यः। काः ताः? इत्यत आह—भारतीति। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, रुद्रैर्भारती धारिका दिवं सरस्वती यज्ञं वसुमती इडा प्रशस्ता वाणी गृहान् धारयन्त्यो देवीर्दिव्याः क्रियास्तिस्रो देवीः पतिमिन्द्रं सूर्यमिव जीवं चावर्धयन्, वसुधेयस्य वसुवने गृहान् व्यन्तु, यस्त्वं यत्र भवानस्पृक्षत् स्पृहेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलगौणार्थाश्रयणात्। किञ्च, कोऽयं सूर्यतुल्यो जीवः, यमेतास्तिस्रो देव्यो वर्धयन्ति। रुद्रैः प्राणैर्भारती धारिकेत्यपि न युक्तम्, कस्या धारिका, का च सेति विशेषानिर्देशात्। विज्ञानयुक्तापि वाक् प्रशंसनीया भवति। सा कुत इडातो भिद्यत इत्यनुक्तेश्च। गृहान् गृहस्थानित्यपि निर्मूलम्, लक्षणामन्तरा तदयोगात्। न च सा युक्ता, निर्बीजत्वात्॥ १८॥

दे॒व इन्द्रो॒ नरा॒शꣳस॑स्त्रिवरू॒थस्त्रि॒बन्धु॒रो दे॒वमिन्द्र॑मवर्धयत्। श॒तेन॑ शितिपृ॒ष्ठाना॒माहि॑तः स॒हस्रे॑ण॒ प्रव॑र्तते मि॒त्रावरु॑णे॒द॑स्य हो॒त्रम॑र्हतो॒ बृह॒स्पति॑ः स्तो॒त्रम॒श्विना॒ध्व॑र्यवं॒ वसु॒वने॒ वसु॒धेय॑स्य वे॒तु॒ यज॑॥ १९॥

मन्त्रार्थ—देवताओं की प्रशंसा का स्थान यज्ञ, सदोमण्डप, हविर्धान, आग्नीध्र युक्त ऋक्, यजुः, सामरूप बन्धन वाला यज्ञदेव दिव्यरूप इन्द्र को बढ़ाता है, श्याम पृष्ठ वाली सैकड़ों, हजारों गायों के साथ चलता है। इस यज्ञ के होता मित्रावरुण हैं, स्तोता बृहस्पति हैं और अध्वर्यु के कर्म में अश्विनीकुमार लगे हुए हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो॥ १९॥

कृतिः। देवो दानादिगुणक इन्द्र ऐश्वर्यवान्, 'इदि परमैश्वर्ये' इत्यस्मात् 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्र' (उ० २।२९) इत्यादिना रन्नन्तो निपातितः। नराशंसो नरा यस्मिन्नासीनाः शंसन्ति तादृशो यज्ञः, इन्द्रं देवमवर्धयत्। स कीदृशः? त्रिवरूथः, वरूथशब्दो गृहवचनः, त्रीणि वरूथानि गृहाणि सदोहविर्धानाग्नीध्राणि यस्य सः। त्रिबन्धुरः, बन्धुरशब्दः सारथिस्थानवचनः, त्रीणि बन्धुराणि ऋग्यजुःसामलक्षणानि सारथिस्थानानि यस्य स त्रिबन्धुरः। अथवा त्रीणि बन्धुराणि ऋग्यजुःसामलक्षणानि बन्धनानि यस्यासौ। शितिपृष्ठानां शिति श्यामं पृष्ठं यासां ताः शितिपृष्ठाः, तासां शतेन आहितः सन्, अर्थात् शतसंख्याकाभिः शितिपृष्ठाभिर्गोभिराहितः, शतगुणो ह्यग्निराधेय इत्यभिप्रायमेतत्। सहस्रेण गवां प्रवर्तते, सहस्रेण गवां यष्टव्यमित्यभिप्रायमेतत्। यस्य चास्य नराशंसस्य यज्ञस्य मित्रावरुणा इद् मित्रावरुणावेव होत्रमर्हतो होतृकर्मणि योग्यौ भवतः, बृहस्पतिः स्तोत्रम् औद्गात्रं कर्म अर्हति, अश्विना अश्विनौ आध्वर्यवमर्हतः, स वसुवननाय वसुधानाय वेतु। हे होतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—नाराशंसो यज्ञ इन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानं देवं द्योतनवन्तं स्वप्रकाशं वाऽवर्धयत्। कीदृशः स देवः? इन्द्रः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा त्रिवरूथस्त्रिबन्धुरो नराशंसो नरान् शंसो नरान् शंसति स्तौतीति। देवो जीव इन्द्र ऐश्वर्यमिच्छुः शतेन इन्द्रं देवमवर्धयत्, यः शितिपृष्ठानां मध्य आहितः सहस्रेण प्रवर्तते, मित्रावरुणा अस्य होत्रमर्हतः, वसुधेयस्य बृहस्पतिः स्तोत्रमश्विनाध्वर्यवं वसुवने वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरङ्कुश-

त्वात्। देवो जीव इन्द्र ऐश्वर्यमिच्छुरित्यादिकं निर्मूलमेव, तथा प्रमाणानुपन्यासात्। त्रीत्यनेन त्रिविधसुखप्रदानीति कथं ग्रहीतुं शक्यते, तत्र तदशक्तेः। शतेन शतसंख्याकेन कर्मणेत्यपि स्वातन्त्र्यमेव, तथा प्रमाणानुपन्यासात्। शितिपृष्ठानां शतेनेति सरलतयान्वये सम्भवति पदान्तराध्याहरणमुपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पनन्यायमनुसरति। तथैव गोसहस्रेण यष्टव्यमिति श्रौतमध्याहारं परित्यज्य पुरुषार्थपदाहरणमपि। शितिपृष्ठपदव्युत्पत्तिरपि स्वैरित्वमेव तस्य गमयति। नहि पृष्ठे गतयो भवन्ति, तस्य स्थिरत्वात्। होत्र-स्तोत्राध्वर्यवादिपदानां श्रौतार्थानभिज्ञानमूलकमेव यत्किञ्चित् प्रलपनम् 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' इत्याभाणकमनुसरति॥ १९॥

दे॒वो दे॒वैर्वन॒स्पति॒र्हिर॑ण्यपर्णो॒ मधु॑शाखः सुपिप्प॒लो दे॒वमिन्द्र॑मवर्धयत्। दिव॒मग्रे॑णा- स्पृक्ष॒दान्तरि॑क्षं पृथि॒वीम॑दृँ्ँहीद्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वे॒तु यज॑॥ २०॥

मन्त्रार्थ—सुवर्णमय पत्र वाले, मधुमय शाखाओं से युक्त, अतिस्वादु फल वाले वनस्पति देव ने अन्य देवताओं के साथ मिल कर कान्तिमान् इन्द्र के बल को बढ़ाया। वनस्पति देव ने अग्र भाग से स्वर्ग को, मध्य भाग से अन्तरिक्ष को और मूल भाग से पृथ्वी को स्पर्श करते हुए यह कार्य सम्पन्न किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो॥ २०॥

अतिशक्वरी। यूपोऽत्र स्तूयते। वनस्पतिर्यूपः, वनस्पतिकार्यत्वात्। देवो द्योतमानः, अभिमान्यभिप्रायेणैतत्। तथा च ब्रह्मसूत्रम्—'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' (२।१।५)। देवैः सह इन्द्रमवर्धयत्। कथम्भूतो वनस्पतिर्देवः? हिरण्यपर्णः। हिरण्यमयानि पर्णानि पत्राणि यस्य सः। कारणभूतवनस्पत्यभिप्रायेणैतत्। मधुशाखः, मधुर्मधुररसवती शाखा यस्य सः। सुपिप्पलः, सु शोभनानि पिप्पलानि फलानि यस्य सः। यो वनस्पतिः, अग्रेणोपरितनेन भागेन दिवं द्युलोकमस्पृक्षत् स्पृशति। अन्तरिक्षं अन्तरिक्षपर्यन्तमाऽस्पृक्षत्, मध्येनेति शेषः, साकाङ्क्षत्वात्, आस्पृशति। पृथिवीमदृंहीद् दृढामकरोत्, अपरेणेति शेषः, अधस्तनेन भागेनेत्यर्थः। स वनस्पतिर्वसुवननाय वसुधानाय च वेतु। त्वमपि हे होतर्यज।

अध्यात्मपक्षे—वनस्पतिर्देवो देवैः सह इन्द्रं परमात्मानं देवमवर्धयत्। कीदृशो देवः? हिरण्यपर्ण इत्यादिकं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवैः सह वर्तमानं हिरण्यपर्णो मधुशाखः सुपिप्पलो देवो वनस्पतिर्देवमिन्द्रमवर्धयत्, अग्रेण दिवमस्पृक्षत्, अन्तरिक्षं तत्स्थान् लोकान्, पृथिवीं चादृंहीत्, वसुवने वसुधेयस्य वेतु तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वनस्पतिमात्रे पूर्वोक्तविशेषणानुपपत्तेः, जडस्य वनस्पतेः स्पृहासम्भवात्। दिवमन्तरिक्षं पृथिवीं च वनस्पतिः कथं द्रढयतीत्यनुक्तेः। सिद्धान्ते तु यूपाभिमानिदेवस्याचिन्त्यैश्वर्यवत्त्वेन नानुपपत्तिः॥ २०॥

दे॒वं ब॒र्हिर्वारि॑तीनां दे॒वमिन्द्र॑मवर्धयत्। स्वा॒स॒स्थमिन्द्रे॒णास॑न्नम॒न्या ब॒र्हीँ्ँष्यभ्य॒भूद् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वे॒तु यज॑॥ २१॥

मन्त्रार्थ—जलाश्रित औषधियों के मध्य में दीप्तिमान्, सुखासन से बैठे हुए इन्द्र के आश्रित अनुयाज देवताओं ने इन्द्र के बल को बढ़ाया और बर्हियों को तिरस्कृत किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो॥ २१॥

आर्षी त्रिष्टुप्। देवं बर्हिरनुयाजदेव इन्द्रं देवमवर्धयत्। अन्या अन्यानि बर्हींष्यभ्यभूद् अभिभवति, तिरस्करोति। कालसामान्ये लुङ्। कीदृशं बर्हिः? वारितीनाम्, वार् उदकम् इतिः स्थानं यासां ता वारितयः, अथवा वारि उदके इतिर्गतिर्यासां ता वारितयः, जलाश्रिता ओषधयः, तासां मध्ये देवं दीप्यमानम्, श्रेष्ठमिति यावत्। यद्वा वारिभवा वार्या इतयो दर्भरूपेणावस्थानं येषां ते वारितयो दर्भाः, 'तद्यदेताभ्यामुत्पुनाति' (श० १।१।३।३) इत्युपक्रम्य 'तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे""त इमे दर्भाः' (श० १।१।३।५) इति दर्भोत्पत्तिप्रतिपादकशातपथश्रुतेः। यच्च स्वासस्थं सुखेनासनेन आस्थीयते यत्र तत् स्वासस्थम्, यद्वा सुष्ठु साधु आस्थेयं देवमनुष्यैरिति स्वासस्थम्, इन्द्रेणासन्नमाश्रितम्, तद् वसुवननाय वसुधानाय च वेतु पिबतु। हे होतः, त्वमपि यज, याज्यां पठेति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—बर्हिर्देवं बर्हिरनुयाजदेवता इन्द्रं देवं परमात्मानमवर्धयत्, स्तवनैर्जयशब्दैश्च। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवं वारितीनां वरणीयानां पदार्थानां मध्ये वर्तमानं स्वासस्थमिन्द्रेण सहासन्नमिन्द्रं बर्हिर्देवमवर्धयत्, अन्यानि बर्हींष्यभ्यभूत्, वसुवने वसुधेयस्य वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वरणार्थस्य धातोस्तादृशरूपायोगात्। अनायासलब्धस्यान्तरिक्षस्य वरणीयत्वमपि न सम्भवति, कुतस्तेषु श्रेष्ठत्वम्? न च तस्य विद्युतो वर्धकत्वमपि, तस्य निर्व्यापारत्वात्। ईश्वरेणासन्नतापि दुर्निरूप्यैव। न चान्तरिक्षे सम्भवन्ति, तस्य निरवयवत्वात्॥ २१॥

दे॒वो अ॒ग्निः स्वि॑ष्ट॒कृद् दे॒वमिन्द्र॑मवर्धयत्। स्वि॑ष्टं कु॒र्वन् स्वि॑ष्ट॒कृत्स्वि॑ष्टम॒द्य क॑रोतु नो वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥ २२॥

मन्त्रार्थ—साधक की श्रेष्ठ अभिलाषाओं को पूरा करने वाले दिव्य अग्नि ने इन्द्र के बल में वृद्धि की, स्विष्टकृत् देवता श्रेष्ठ कर्मों का सम्पादन करते हुए हमारी श्रेष्ठ अभिलाषाओं को, शुभ मनोरथों को पूरा करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो॥ २२॥

आर्षी त्रिष्टुप्। स्विष्टकृत्, शोभनमिष्टं कर्तव्यं यस्यायमधिकारः स स्विष्टकृद् देवोऽग्निरिन्द्रं देवमवर्धयत्। यश्च स्विष्टं कुर्वन् स्विष्टकृन्नामभूतो नाम्ना प्रसिद्धः, स नोऽस्माकं स्विष्टं साध्विष्टमद्यास्मिन् कर्मणि करोतु। अपि च, वसुवननाय वसुधानाय च वेतु। हे होतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—स्विष्टकृद्देवो देवं स्वप्रकाशं परमात्मानमवर्धयत्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा स्विष्टकृद्देवोऽग्निरिन्द्रं देवमवर्धयत्, यथा च स्विष्टं कुर्वन् स्विष्टकृत् सन्नग्निः स्विष्टं करोति, तथाद्य नः सुखं करोतु, घृतं वेतु, वसुधेयस्य वसुवने यज' इति, तदपि न सङ्गतम्, श्रौतार्थवृत्तान्तानभिज्ञानात्, इष्टस्य यज्ञस्य स्विष्टत्वं येन सम्पाद्यते, तस्य कर्मविशेषस्य स्विष्टकृन्नाम्ना प्रसिद्धत्वात्। त्वद्रीत्या जडेऽग्नौ वर्धनानुकूलव्यापारवत्त्वासम्भवः। न खलु जडः किमिष्टमिति ज्ञातुं प्रभवति। अद्य नः सुखं करोत्विति तु मन्त्रबाह्यमेव॥ २२॥

अ॒ग्निम॒द्य होता॑रमवृणीता॒यं यज॑मानः पच॒न् पक्तीः॒ पच॑न् पु॒रो॒डाशं॑ ब॒ध्नन्निन्द्रा॑य॒ छाग॑म्। सू॒प॒स्था अ॒द्य दे॒वो वन॒स्पति॑रभव॒दिन्द्रा॑य॒ छागे॑न। अघ॒त्तं मे॑द॒स्तः प्रति॑ पच॒ताग्र॑भीदवीवृधत् पु॒रो॒डाशे॑न त्वाम॒द्य ऋ॒षे॥ २३॥

मन्त्रार्थ—इस यजमान ने आज पकाने के योग्य हवियों को पकाते हुए पुरोडाशों को पकाया। इसने इन्द्र के लिये छाग को आगे किया। आज पशुपोषक वनस्पति देवता छाग की वृद्धि का आशीर्वाद देने के लिये आये। इसलिये इन्द्र के लिये छाग का पुरोडाश बनाया जाता है। इन्द्र को पशुओं की मेदा की वृद्धि के लिये आहुति दी गई। इसी प्रकार हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ २३ ॥

इयं कण्डिका एकविंशेऽध्यायेऽन्त्योपान्त्यापोपान्त्यासु व्याख्याता। तत्राग्निमद्य होतारमिति प्रथमा, सूपस्था अद्य देव इति द्वितीया, त्वामद्य ऋषे इति तृतीया। अत्र तृतीयायाः कण्डिकायाः प्रतीकमात्रम्। सा च ऐन्द्रानुवाके वायोधसानुवाके चोभयत्रापि सकला ज्ञेया। अग्निमद्य एकाधिका प्राजापत्या जगती। सूपस्था ब्राह्मी उष्णिक्। त्वामद्य ऋषे एकाधिका विकृतिः। अयं यजमानोऽद्याग्नि होतारमवृणीत वृतवान्। किं कुर्वन्? पक्तीः पक्तव्यानि हवींषि पचन्। इति सामान्येनोक्त्वा विशेषमाह—पुरोडाशान् पचन्, यूपे इन्द्राय छागं बध्नन्। अद्य अस्मिन् दिवसे सूपस्थाः साधु यज्ञमुपतिष्ठतीति सूपस्थाः, वनस्पतिर्देवश्छागेन कृत्वा इन्द्राय सूपस्था अभवत्, छागेन इन्द्रस्य सेवां चकारेत्यर्थः। इन्द्रो मेदस्तो मेदोवपामारभ्य छागमधत्त धारितवान्। पचता पचतानि, पच्यन्त इति पचतानि पक्वानि, विभक्तेराकारः। पचेः 'मृदशियजी' (उ० ३।१०९) इत्यतचि रूपम्। प्रत्यग्रभीत्, पक्वान्यवदानानि प्रत्यगृह्णात्, अवीवृधच्च पुरोडाशेन। हे ऋषे, त्वामद्यायं होतारमवृणीत वृतवान् ॥ २३ ॥

होता यक्षत् समिधानं महद्यशः सुसमिद्धं वरेण्यमग्निमिन्द्रं वयोधसम्। गायत्रीं छन्द इन्द्रियं त्र्यविं गां वयो दधद् वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने गायत्री छन्द, बल, डेढ़ वर्ष की गौ और आयु को स्थापित किया, दीप्यमान महान् यश से पुनः प्रदीप्त वरणीय अग्नि का और आयु को देने वाले इन्द्र का यजन किया। इसी प्रकार हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ २४ ॥

एकादश वायोधसे पशौ प्रयाजप्रैषाः। समित्तनूनपादाद्या आप्रीदेवताः। अतिजगती। दैव्यो होता अग्निं वायोधसमिन्द्रं च यक्षद् यजतु। वय आयुर्दधातीति वयोधाः, तमायुषो धातारं धारयितारं वा। कीदृशमग्निम्? समिधानं दीप्यमानम्। महद्यशो महता यशसा, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति तृतीयैकवचनस्य सुरादेशः। समिद्धं दीप्तं वरेण्यं वरणीयम्। किं कुर्वन् यजतु? गायत्रीं छन्द इन्द्रियं वीर्यं त्र्यविं गां वय आयुश्च दधत् स्थापयन्, इन्द्र इति शेषः। षड्भिर्मासैरवयः प्रसुवते, तेनाविशब्देन लक्षणया षण्मासात्मकः कालो लक्ष्यते। त्रयोऽवयो यस्याः सा त्र्यविः सार्धसंवत्सरा गौः, ताम्। इन्द्रयुक्ता प्रयाजदेवता आज्यं वेतु। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता अग्निं वाचामधिष्ठातारमिन्द्रं देहेन्द्रियादिदीपयितारं यक्षद् यजतु। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, त्वं यथा होताग्निमिव समिधानं सुसमिद्धं वरेण्यं महद्यशो वयोधसमिन्द्रं गायत्रीं छन्द इन्द्रियं त्र्यविं गां वयश्च दधत् सन् यक्षद् आज्यस्य वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विद्यादिग्रहीतरि मनुष्ये तदसामर्थ्यात्। नहि कश्चिद् योगोऽग्नितुल्यो भवति, न वा प्रकाशवान् भवति, तस्य नीरूपत्वात्। तत्र कीर्तिमत्ता भवति, न तु कीर्तिरूपता। इन्द्रमित्यपि न योगस्य विशेषणम्, भिन्नप्रवृत्ति-

निमित्तकानां शब्दानां समानविभक्तिकत्वेऽपि सामानाधिकरण्यासम्भवात्। किञ्च, नात्र मन्त्रे योगशब्दः, न चोक्तविशेषणानि योगाव्यभिचारीणि, तदन्यत्रापि तत्सङ्गतेः। आज्यपदस्य विज्ञानरसार्थतापि निर्मूलैव ॥ २४ ॥

होता यक्षत्तनूनपातमुद्भिदं यं गर्भमदितिर्दधे शुचिमिन्द्रं वयोधसम्। उष्णिहं छन्द इन्द्रियं दित्यवाहं गां वयो दधद् वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ— दिव्य होता ने पवित्र यज्ञ-फलों को प्रकट करने वाले अग्नि का और अदिति ने जिसको गर्भ में धारण किया, उस आयु के दाता इन्द्र का यजन किया। शुचि देवता ने उष्णिक् छन्द सहित इन्द्रिय बल, दो वर्ष की गाय और आयु को स्थापित किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ २५ ॥

एकाधिका जगती। दैव्यो होता तनूनपातं प्रयाजदेवं वयोधसम् आयुषो धातारमदितिर्यं गर्भं दधे, तमिन्द्रं च यजतु। कीदृशमिन्द्रम्? उद्भिदम्, उद्भिनत्ति प्रकटयति फलमित्युद्भित्, तं यज्ञफलानामुद्भेत्तारम्। शुचिं पवित्रम्। किं कुर्वन् दैव्यो होता यजतु? उष्णिहं छन्द इन्द्रियं वीर्यं दित्यवाहं गां द्विवर्षां गां वय आयुश्च इन्द्रे दधत्। प्रयाजदेवता च इन्द्रसहिता वेतु आज्यस्य स्वमंशं पिबतु। त्वमपि हे मनुष्यहोतर्यज।

अध्यात्मपक्षे दैव्यो होता तनूनपातं तन्वा रक्षकं प्रयाजदेवं वयोधसमायुषो धातारमिन्द्रं जीवं तदन्तर्यामिणं च यक्षद् यजतु। कीदृशम्? अदितिरखण्डनीया चितिरनाद्यविद्योपहिता यं गर्भं दधे धारितवती, मायाविशिष्टायाश्चितेः सकाशादेव सोपाधिकस्य जीवस्य जन्यत्वात्। कीदृशं तनूनपातम्? उद्भिदं कर्मफलदातारम्। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्। उष्णिगादिधारणं तु संस्कारार्थम्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा होता तनूनपातमुद्भिदमदितिं गर्भमिव यं दधे वयोधसं शुचिमिन्द्रं यक्षदाज्यस्योष्णिहं छन्द इन्द्रियं दित्यवाहं गां च वयश्च दधत् सन् वेतु, तथैतान् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। गर्भस्य शरीररक्षकत्वमुद्भिद्य जायमानत्वं च नोपपन्नम्, प्रत्यक्षविरोधात्। यमित्यस्य को वार्थ इत्यनुक्तेश्च। न चेन्द्रस्यैव तद्विशेषणमिति वाच्यम्, तस्य होतृकर्तृकधारणानुपपत्तेः। न चावस्थावर्धकत्वमपि तस्य सम्भवति, जडत्वात्। न च गायत्र्युष्णिगादिच्छन्दसामर्थवैलक्षण्यम्, छन्दसां नामभेदस्याक्षरसंख्यामूलकत्वात्। न च छन्दःशब्दस्य बलकरत्वमर्थः, तथात्वे उष्णिगादीनां छन्दोभिन्नत्वापातात्। हे मनुष्याः, यथा माता गर्भं जातं बालं च रक्षति, तथा शरीरमिन्द्रियाणि च रक्षयित्वा विद्यायुषी वर्धयन्तु' इति भावार्थस्तु मूर्खजनप्रतारणायैव, दूरतोऽपि मन्त्रसम्बन्धाभावात् ॥ २५ ॥

होता यक्षदीडेन्यमीडितं वृत्रहन्तममिडाभिरीड्यँ सहः सोममिन्द्रं वयोधसम्। अनुष्टुभं छन्द इन्द्रियं पञ्चाविं गां वयो दधद् वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने स्तुतियोग्य देवताओं से स्तुत, वृत्रनाशक, इड़ा अथवा प्रयाज देवता आदि से स्तुतियोग्य, आयु और बल को देनेवाले, सोम के समान प्रसन्न करने वाले इन्द्र का यजन किया। अनुष्टुप् छन्द के साथ बल, ढ़ाई वर्ष की गाय और पूर्णायु को यजमान अथवा इन्द्र में स्थापित किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ २६ ॥

व्यूहेन शक्वरी। दैव्यो होता इडाभिः प्रयाजदेवताभिः सह वयोधसमिन्द्रं यक्षद् यजतु। कीदृशमिन्द्रम्? ईडेन्यम् ईडितुं योग्यम्, ईडेरेन्य औणादिकः प्रत्ययः। ईडितम् ऋषिभिर्मन्त्रैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्वा स्तुतम्, वृत्रहन्तमम् अतिशयेन वृत्रहन्तारम्, 'नाद् घस्य' (पा० सू० ८।२।१७) इति नुडागमः। ईड्यं सर्वैः स्तुतम्। उव्वटाचार्यरीत्या त्विडाभिः प्रयाजदेवताभिरीड्यम्। पुनः कीदृशम्? सहःसोमम्, सहसा बलेन सोमवदाह्लादकम्, वयोधसं वयस आयुषो धारयितारम्। किं कुर्वन्? इन्द्रेऽनुष्टुभं छन्दः, अनुष्टुप्छन्दसः सामर्थ्यविशेषम् इन्द्रियं वीर्यं पञ्चाविं गां सार्धद्विवर्षां गां वय आयुश्च दधत्। प्रयाजदेवता च इन्द्रसहिता वेतु पिबतु, आज्यस्य स्वमंशम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता देवसम्बन्ध्याह्वाता इन्द्रं परमात्मानं यक्षद् यजतु। कीदृशम्? ईडेन्यं स्तोतुं योग्यम्, ईडितमृषिभिः स्तुतम्, सहःसोमं सहसा बलेन सोमवदाह्लादकम्, वयोधसम् आयुषो धातारम्। किं कुर्वन् यजतु? अनुष्टुभमिन्द्रियं पञ्चाविं गां वयश्च स्वकीयं सर्वमिन्द्रे दधद् इन्द्राय समर्पयन्।

दयानन्दस्तु—हे होतः, यथा होता आदाता वृत्रहन्तममिवेडाभिर्वाग्भिरीडेन्यमीडितं सहो बलमीड्यं सोमं वयोधसमिन्द्रं यक्षत् सङ्गच्छेत, इन्द्रियमनुष्टुभं छन्दः पञ्चाविं गां वयश्च आज्यस्य दधद्वेतु, तथैतान् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः, जीवे सूर्यतुल्यतानिरूपणात्। प्राणधारकत्वं सोमाद्यौषधगणधारकत्वं च न स्वातन्त्र्येण जीवे सम्भवति, तथात्वे स्वच्छन्दमृत्युत्वापातात्। न च होतुरपि जीव इन्द्रियादिधारणे सामर्थ्यम्। न च पृथिवीरूपाया अपि गोः पञ्चप्राणरक्षकत्वेन पञ्चावित्वम्, तस्यां सत्यामपि प्राणापगमदर्शनात्। तस्मात् यत्किञ्चिदेतद् व्याख्यानम् ॥ २६ ॥

होता यक्षत् सुबर्हिषं पूषण्वन्तममर्त्यꣳ सीदन्तं बर्हिषि प्रियेऽमृतेन्द्रं वयोधसम्। बृहतीं छन्द इन्द्रियं त्रिवत्सं गां वयो दधद् वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने सुबर्हि, पोषण में समर्थ, अमर, रुचिर, अविनाशी कुशाओं पर स्थित आयुदाता इन्द्र का यजन किया। बृहती छन्द के बल के साथ तीन वर्ष की गाय और आयु को स्थापित किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ २७ ॥

शक्वरी। दैव्यो होता सुबर्हिषं शोभनं बर्हिः प्रयाजदेवता यस्य तम्। पूषण्वन्तं पूषास्यास्तीति पूषण्वान् तम्, पूष्णा संयुक्तम्, अमर्त्यममरणधर्माणम्, प्रिये प्रेमास्पदे, अमृता अमृतेऽनश्वरे बर्हिषि सीदन्तं वयोधसम् आयुषो धातारम् इन्द्रं यक्षद् यजतु। किं कुर्वन्? बृहतीं छन्द इन्द्रियं वीर्यं त्रिवत्सं गां वत्सो वत्सरः, त्रयो वत्सा यस्य गोः स त्रिवत्सो वृषः, त्रिवत्सं गां वयश्च दधत् स्थापयन्। वेतु पिबतु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं परमेश्वरं होता यक्षद् यजतु। कीदृशमिन्द्रम्? सुबर्हिषम्, शोभनं बर्हिर्दर्भ आस्तरणं यस्य तं सुबर्हिषं समुद्रतटे दर्भशयने स्थितं श्रीरामचन्द्रं पूषण्वन्तं पूष्णा सूर्येण स्वपूर्वपुरुषेण युक्तम्, अमर्त्यं मर्त्यरूपेणावतीर्णमप्यमरणधर्माणम्, प्रियेऽभिरुचितेऽमृता अमृते बर्हिषि सीदन्तं तिष्ठन्तम्। किं कुर्वन्? बृहतीं छन्द इन्द्रियं त्रिवत्सं गां वयो दधत् सन् स वेतु पिबतु आज्यस्य स्वमंशम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यथा स होता अमृता बर्हिषि प्रिये सीदन्तममर्त्यं पूषण्वन्तं सुबर्हिषं वयोधसमिन्द्रं यक्षत्, स आज्यस्य बृहतीं छन्द इन्द्रियं त्रिवत्सं गां वयश्च दधत् सन् कल्याणं वेतु, तथैतानि यज'

इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'बर्हिषि' इत्यस्य बर्हिस्तुल्यार्थत्वे मानाभावात्। न च सामानाधिकरण्यानुपपत्त्या तुल्यार्थताग्रहणमिति वाच्यम्, सिद्धान्तरीत्यापि तदुपपत्तेः। न च जीवेऽवकाशे जलं वा विद्यते, तस्यासङ्गत्वादमूर्तत्वाच्च ॥ २७ ॥

होता॑ यक्षद् व्यच॑स्वतीः सुप्राय॒णा ऋ॑ताव॒धो द्वारो॑ दे॒वीर्हि॑र॒ण्ययी॒र्ब्रह्मा॑णमिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म्। पङ्क्तिं छन्द॑ इ॒हेन्द्रि॒यं तु॑र्य॒वाहं॒ गां वयो॒ दध॒द् व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने बड़े अवकाश वाले, श्रेष्ठ गति के सत्यवर्धक इन्द्र का स्वर्णमयी द्वार देवी के साथ यजन किया। पंक्ति छन्द, इन्द्रिय बल, साढ़े तीन वर्ष की गाय और आयु को इस इन्द्ररूपी यजमान में स्थापित करते हुए प्रयाज देवता घृत पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ २८ ॥

अतिशक्वरी। दैव्यो होता व्यचस्वतीर्व्यञ्जनवतीः, व्यचो व्यञ्जनं गमनावकाशो विद्यते यासु ता व्यचस्वत्यः। सुप्रायणाः शोभनं प्रकर्षेणायनं गमनं यासु ताः सुप्रायणाः। ऋतावृधः सत्यवर्धयित्रीर्यज्ञवर्धयित्रीर्वा। देवीर्यज्ञफलदात्रीः। हिरण्ययीर्हिरण्यमयीरविनाशिनीः, द्वारो यज्ञगृहद्वारः, तथा ब्रह्माणं परिवृढं वयोधसमिन्द्रं च यक्षद् यजतु। किं कुर्वन्? पङ्क्ति छन्द इन्द्रियं तुर्यवाहं गां वयश्च इह इन्द्रे दधद् धारयन्। तुर्यं चतुर्थं वर्षं वहतीति तुर्यवाहं सार्धत्रिवर्षं गां वयश्च दधत्, आज्यस्य स्वमंशं पिबतु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—होता साधकः, देवीर्द्योतनवतीः, द्वारो ब्रह्मप्राप्तिद्वारः, वाङ्निरोधापरिग्रहादीन् ब्रह्माणं ब्राह्मणं गुरुं वयोधसं वयोधर्तारं दीर्घायुषं पुराणं नित्यसिद्धमिन्द्रं परमात्मानं यक्षद् यजतु। द्वारां विशेषणानि—व्यचस्वतीः, सुप्रायणाः, ऋतावृधः, देवीः, हिरण्ययीः। इह इन्द्रे पङ्क्ति छन्दो वीर्यं तुर्यवाहं गां वयश्च दधत् समर्पयन्।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, त्वं यथेह होता व्यचस्वतीः सुप्रायणा ऋतावृधो हिरण्ययीर्देवीर्द्वारो वयोधसं ब्रह्माणमिन्द्रं पङ्क्ति छन्द इन्द्रियं तुर्यवाहं गां वयश्च दधदाज्यस्यैतानि यक्षद् यथा च जना व्यन्तु, तथैतानि यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गृहादिद्वास्सु सत्यवर्धकत्वस्यानिरूपणात्। यक्षद्, दधत् इत्युभयक्रियापदयोः सर्वैर्द्वितीयान्तपदैः सम्बन्धे विप्रकृष्टान्वयादिदोषापत्तेः। न च द्वारां ब्राह्मणस्य विद्यैश्वर्यस्य च समानं धारणं सङ्गमनं वा, वैरूप्यात्। न च घृतमेव प्राप्तियोग्यम्, घटादेरपि तत्त्वेन आज्यत्वापत्तेः। किञ्च, केन कस्य सङ्गतिकरणं यजनमित्यपि वक्तव्यम्? नहि पङ्क्त्या गोः सङ्गतिकरणं सम्भवति ॥ २८ ॥

होता॑ यक्षत् सु॒पेश॑सा सुशि॒ल्पे बृ॑ह॒ती उ॒भे नक्तो॒षासा॒ न द॑र्श॒ते विश्व॒मिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म्। त्रिष्टु॒भं छन्द॑ इ॒हेन्द्रि॒यं प॑ष्ठ॒वाहं॒ गां वयो॒ दध॒द् वी॒तामाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता ने सुरूप और सुन्दर परस्पर एक रूप महान् दर्शनीय दोनों नक्त (रात्रि) एवं उषा देवियों को और सर्वात्मक आयुदाता इन्द्र को पूजा। त्रिष्टुप् छन्द और इन्द्रिय बल के साथ भार उठाने में समर्थ वृष और आयु को इस यजमान इन्द्र में स्थापित करते हुए नक्तोषासा घृत-पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ २९ ॥

अतिशक्वरी। दैव्यो होता उभे नक्तोषासा नक्तोषसौ विश्वं सर्वात्मकं वयोधसमायुषो धर्तारमिन्द्रं च यक्षद् यजतु। नक्ता रात्रिः, उषा रात्रेरपरभागः। नकारः समुच्चयार्थः। कीदृश्यौ नक्तोषसौ? सुपेशसौ, शोभनं पेशो रूपं ययोस्ते सुरूपे। सुशिल्पे सुष्ठु शोभनं शिल्पं निर्माणकौशलं ययोस्ते, अन्योन्यं प्रतिरूपे, 'यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्' (श० ३।२।१।५) इति श्रुतेः। बृहती बृहत्यौ। दर्शते दर्शनीये, 'भृमृदृशियजि' (उ० सू० ३।११०) इत्यादिना दृशेरतच्। किं कुर्वन् यजतु? त्रिष्टुभं छन्द इन्द्रियं पष्ठवाहं भारवहनसमर्थं गां च वयश्च इह इन्द्रे दधद् धारयन्। सेन्द्रे नक्तोषसाविज्यमाने वीतां पिबतामाज्यस्य स्वमंशम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता उभे नक्तोषसौ सुपेशसौ सुरूपे सुशिल्पे विश्वप्रपञ्चनिर्माणकौशलवत्यौ बृहती महत्यौ, महत्प्रपञ्चोत्पादनत्वात्। दर्शते, द्रष्टव्यजगद्धेतुत्वात्। किं कुर्वन्? तस्मिन्निन्द्रे त्रिष्टुबादीन् धारयन्। इन्द्रेण सहिते ते वीताम्। यद्यपि स्वरूपतः प्राधान्यमिन्द्रस्य, तथापि पानकर्तृत्वं विद्याविद्ययोरेवेति पाने तयोरेव प्राधान्यम्।

दयानन्दस्तु—'हे होतस्त्वं यथेह बृहत्युभे सुशिल्पे दर्शते नक्तोषासा न सुपेशसा विश्वं वयोधसमिन्द्रं त्रिष्टुभं छन्दो वय इन्द्रियं पष्ठवाहं गां वीताम्, यथाज्यस्यैतानि दधत् स न होता यक्षत्, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापकोपदेशकयो रात्रिदिनतुल्यत्वानिरूपणात्। न च तयोः सुपेशस्त्वमावश्यकम्, तयोर्विद्यादि-गुणवत्त्वस्यैवादरणीयत्वात्। न च तयोर्जगत्यादिधारकत्वमुपपन्नम्, तयोस्तत्रासामर्थ्यात्, अंशतोऽन्यैरपि तद्धारकत्वोपपत्तेश्च। विप्रकृष्टगौणार्थाश्रयणं तु सर्वत्रैव दोषः॥ २९॥

होता यक्षत् प्रचेतसा देवानामुत्तमं यशो होतारा दैव्या कवी सयुजेन्द्रं वयोधसम्। जगतीच्छन्द इन्द्रियमनड्वाहं गां वयो दधद् वीतामाज्यस्य होतर्यज॥ ३०॥

मन्त्रार्थ— दैवी होता ने सुचित्त देवताओं में श्रेष्ठ, यशस्वी, क्रान्तदर्शी, परस्पर सखा, दोनों दिव्य होताओं के साथ आयुधारक इन्द्र का यजन किया। दैवी होता जगती छन्द, इन्द्रिय बल, शकटवहनयोग्य वृष और आयु को इस यजमान रूपी इन्द्र में स्थापित करते हुए घृत-पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो॥ ३०॥

एकाधिका शक्वरी। दैव्यो होता दैव्यौ होतारौ वयोधसमिन्द्रं च यजतु। अयं चाग्निरसौ च मध्यमो वायुः, एतावेव दैव्यो होतारौ। कीदृशौ होतारौ? प्रचेतसा प्रचेतसौ प्रकृष्टं चेतो ययोस्तौ प्रकृष्टज्ञानौ। देवानामुत्तमं यशः पुञ्जीकृतदेवयशोरूपौ। कवी क्रान्तदर्शनौ। सयुजा सयुजौ सह युङ्क्त इति सयुजौ तौ समानयोगौ। किं कुर्वन्? जगतीं छन्द इन्द्रियमनड्वाहं गां वयश्च इन्द्रे दधत्। अनः शकटं वहतीत्यनड्वान्, अन उपपदे वहेः क्विपि तस्य डादेशे वकारस्य सम्प्रसारणे च अनडुहः सिद्धिः, तम्। तौ च दैव्यौ होतारौ सेन्द्रा-विज्यमानौ आज्यस्य स्वमंशं वीतां पिबताम्। त्वमपि हे मनुष्यहोतर्यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता साधकोऽग्निवायुतुल्यौ लक्ष्मणहनूमन्तौ इन्द्रं रामं च यजतु। कीदृशौ तौ? प्रचेतसौ, प्रकृष्टज्ञानौ देवानामुत्तमयशःस्वरूपौ सयुजौ सहयोगिनौ। कीदृशमिन्द्रम्? वयोधसम्, आयुषो धारयि-तारम्। किं कुर्वन् यजतु? जगत्यादीनि इन्द्रे परमात्मनि दधद् धारयन्, समर्पयन्निति यावत्।

दयानन्दस्तु—'हे होतस्त्वं यथा देवानां प्रचेतसौ सयुजौ दैव्यौ होतारौ कवी अध्यापकाध्येतारौ श्रोतृ-श्रावयितारौ वा वयोधसमिन्द्रं जगतीं छन्द इन्द्रियमनड्वाहं गां च वीताम्, यथाज्यस्य मध्य एतानि दधत्

सन् होता यक्षत्, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तयोर्जगत्यादिविशेषधारकत्वे मानाभावात्, पारम्पर्येण सर्वच्छन्दआदीनामपि धारकत्वेन विशेषानुपपत्तेः ॥ ३० ॥

होता यक्षत् पेशस्वतीस्तिस्रो देवीर्हिरण्ययीर्भारतीर्बृहतीर्महीः पतिमिन्द्रं वयोधसम् । विराजं छन्द इहेन्द्रियं धेनुं गां न वयो दधद् व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता ने रूपसम्पदा वाली, सुवर्णमयी, विशाल, आदित्य, इन्द्र और अग्नि के तेज से बढ़ी हुई इड़ा, सरस्वती, भारती नामक तीनों देवियों का और आयुदाता सबके पालक इन्द्र का यजन किया। विराट् छन्द, इन्द्रिय बल, दुधारू गाय और आयु को यजमान इन्द्र में स्थापित करते हुए घृत का पान किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३१ ॥

एकाधिका शक्वरी। दैव्यो होता तिस्रो देवीः पतिं पालकं वयोधसमिन्द्रं च यक्षद् यजतु। कीदृशीस्तिस्रो देवीः? पेशस्वतीः, पेशो रूपमस्ति यासां ताः पेशस्वत्यः, रूपसमृद्धास्ताः। हिरण्ययीर्हिरण्यालङ्कारालङ्कृतदेहाः। भारतीर्भरत आदित्यस्तस्येमाः, बहुवचनमिडासरस्वत्योरुपलक्षणार्थम्, इडासरस्वतीभारतीस्तिस्रो देवीरित्यर्थः। बृहतीः प्रभावेण। महीर्महतीस्तेजसा, आदित्येन्द्राग्निसम्बन्धात्। किं कुर्वन्? विराजं छन्द इन्द्रियं धेनुं दोग्ध्रीं गां वयश्च इन्द्रे दधद् धारयन्। नकारः समुच्चयार्थः। सेन्द्रास्तिस्रो देव्यो व्यन्तु पिबन्तु, आज्यस्य स्वमंशम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता तिस्रो देवीः पतिं पालकमिन्द्रं परमेश्वरं च यक्षद् यजतु। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्, अधिष्ठानब्रह्मसहितासु तिसृषु महाशक्तिष्याञ्जस्येन मन्त्रसङ्गतेः।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, यो होता तिस्रो हिरण्ययीः पेशस्वतीर्भारती बृहतीर्महीर्देवीस्त्रिविधा वाचो वयोधसं पतिमिन्द्रं विराजं छन्दो वय इन्द्रियं च यक्षत्, स धेनुं गां न व्यन्तु, तथैतानि दधत् सन्नाज्यस्य फलं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तात्पर्यशून्यत्वात्, तिसृणां हिरण्यमयीनां स्त्रीणां महद्भिर्गृहीतानां प्राप्तेः प्रयोजनानुक्तेः, तथैव विराट्छन्दःप्रभृतीनामपि प्राप्तेः कैमर्थ्यानुक्त्या निरर्थकत्वात् ॥ ३१ ॥

होता यक्षत् सुरेतसं त्वष्टारं पुष्टिवर्धनं रूपाणि बिभ्रतं पृथक् पुष्टिमिन्द्रं वयोधसम् । द्विपदं छन्द इन्द्रियमुक्षाणं गां न वयो दधद् वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता ने जगत् के उत्पादक सुन्दर वीर्य वाले, पुष्टिवर्धक, सबमें पृथक् पृथक् रूपों को और पुष्टि को धारण करने वाले पूषा देवता और आयुवर्धक इन्द्र का यजन किया। द्विपदा छन्द, इन्द्रिय बल, अनड्वान् वृष और आयु को यजमान में स्थापित करते हुए त्वष्टा देव घृत का पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३२ ॥

एकाधिका शक्वरी। दैव्यो होता सुरेतसं शोभनं जगदुत्पत्तिबीजत्वाद् रेतो वीर्यं यस्य स सुरेतास्तम्। पुष्टिवर्धनं पुत्रादिपुष्टेर्वर्धयितारं पृथग् नानाजातिषु रूपाणि पुष्टिं पोषणं च बिभ्रतं धारयन्तं त्वष्टारं वयोधसम् आयुषो धारयितारमिन्द्रं च यजतु। किं कुर्वन्? द्विपदं छन्द इन्द्रियमुक्षाणं रेतःसेकक्षमं गां वृषं च वयश्चेन्द्रे दधत्। नश्चार्थः। सेन्द्रस्त्वष्टा वेतु पिबत्वाज्यस्य स्वमंशम्। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता सुरेतसं त्वष्टारं जगत्स्रष्टारं वयोधसमिन्द्रं परमेश्वरमधिष्ठानभूतं स्वप्रकाशं यजतु । एतदानुगुण्येन विशेषणान्तराण्यपि योज्यानि ।

दयानन्दस्तु—'हे होतस्त्वं यथा होता सुरेतसं त्वष्टारं पुष्टिवर्धनं रूपाणि पृथग् बिभ्रतं वयोधसं द्विपदं छन्द इन्द्रियमुक्षाणं गां न इव वयः सन् आज्यस्य यक्षद्वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित् निरर्थकत्वात् । शुभगुणग्रहीता कथं सुरेतसं त्वष्टारं कथं च सुन्दररूपाणि पृथग् धारयेत् ? इन्द्रं द्विपदं च कथं धारयेत् ? किञ्च तस्य प्रयोजनम् ? यथा वृषभो गर्भिणीः कृत्वा पशून् वर्धयति, तथा गृहस्थाः स्त्रीर्गर्भवतीः कृत्वा प्रजा वर्धयेयुः, सन्तानेच्छया पुष्टिर्वर्धनीया, इत्यादिभाववर्णनं तु सर्वथा दुःसाहसमेव, मन्त्रबाह्यत्वात् ॥३२॥

होता यक्षद्वनस्पतिँ शमितारँ शतक्रतुँ हिरण्यपर्णमुक्थिनँ रशनां बिभ्रतं वशिं भगमिन्द्रं वयोधसम् । ककुभं छन्द इहेन्द्रियं वशां वेहतं गां वयो दधद् वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—दैवी होता ने संस्कार के कर्ता, बहुकर्मी, सुवर्णमय पत्र वाले, यज्ञयुक्त रज्जुधारी, मनोहर, भजनीय, वनस्पति और आयुवर्धक इन्द्र का यजन किया । वनस्पति देवता ककुप् छन्द, इन्द्रिय बल, वन्ध्या गर्भघातिनी गाय और आयु को इस यजमान में धारण करते हुए घृतपान करें । हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३३ ॥

अत्यष्टिः । दैव्यो होता वनस्पतिं यूपं वयोधसमिन्द्रं च यक्षद् यजतु । कीदृशं वनस्पतिम् ? शमितारम्, हविषां संस्कर्तारम् । शतक्रतुं शतमनन्तं क्रतवः कर्माणि यस्य तम् । हिरण्यपर्णं हिरण्यमयानि पर्णानि यस्य तम् । उक्थिनम् उक्थानि शस्त्राणि सन्ति यस्य तम् । रशनां रज्जुं बिभ्रतं धारयन्तम् । यूपे हि पशुबन्धनाय रज्जुः सम्बद्धचते । वशिं कान्तं भगं भजनीयम् । किं कुर्वन् ? ककुभं छन्द इन्द्रियं वशां वन्ध्यां गां वेहतं गर्भोपघातिनीं च गां वयश्च इह इन्द्रे दधत् स्थापयन् इन्द्रसहितो वनस्पतिर्वेतु । हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज ।

अध्यात्मपक्षे—दैव्यो होता वनस्पतिं यूपमिन्द्रं परमेश्वरं वयोधसं यक्षद् यजतु । शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे होतस्त्वं यथेहाज्यस्य होता शमितारं शान्तिकरं हिरण्यपर्णं वनस्पतिं सूर्यमिव शतक्रतुमुक्थिनं रशनां बिभ्रतं वशिं भगं वयोधसमिन्द्रं ककुभं छन्द इन्द्रियं वशां वेहतं गां वयश्च दधत् सन् यक्षद् वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरर्थकत्वादनुपपत्तेश्च । कथं हि पुरुषः पुरुषान्तरं धारयेत् ? स्वाङ्गुलिं सर्वोऽपि धारयति, अङ्गुलिं च किमर्थं कथं धारयेत् ? वन्ध्यां गर्भघातिनीं च किमर्थं धारयेत् ? इत्याद्यसमाधानात् । यथाकथञ्चिदेवं गौणादिवृत्त्या किञ्चिदर्थलाभेऽपि निरर्थकमेव ॥ ३३ ॥

होता यक्षत् स्वाहाकृतीरग्निं गृहपतिं पृथग् वरुणं भेषजं कविं क्षत्रमिन्द्रं वयोधसम् । अतिच्छन्दसं छन्द इन्द्रियं बृहदृषभं गां वयो दधद् व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य होता ने भिन्न-भिन्न यज्ञों में गृहों के पति, वरणीय, रोगनाशक, क्रान्तदर्शी, रक्षक, आयुदाता, अग्रगामी इन्द्र और स्वाहाकृती प्रयाजदेवता का यजन किया । अतिच्छन्द नामक छन्द, इन्द्रिय-बल, महान् पुष्ट वृषभ और आयु को यजमान में स्थापित करते हुए प्रयाज देवता घृतपान करें । हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३४ ॥

अतिशक्वरी। दैव्यो होता स्वाहाकृतीः प्रयाजदेवता यक्षद् यजतु, इन्द्रं च पृथग् यज्ञेष्वागमनानन्तरं यजतु। अग्निम्, अङ्गतीत्यग्निस्तम्। गृहपतिं पृथग् यजतु। वरुणम्, व्रियतेऽसौ वरुण ऋत्विग्भिर्वरणीयस्तम्। भेषजं रोगनाशकम्। कविं क्रान्तदर्शिनम्। क्षत्रं क्षतात् प्रहारात् त्रातारम्। वयोधसम् आयुषो धातारम्। किं कुर्वन्? अतिच्छन्दसं छन्द इन्द्रियं च वीर्यं बृहद् महद् ऋषभं पुष्टं गां वय आयुश्च इन्द्रे दधद् धारयन्। सेन्द्राः स्वाहाकृतय आज्यस्य स्वमंशं व्यन्तु पिबन्तु। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे दैव्यो होता स्वाहाकृतीः प्रयाजदेवता इन्द्रं परमेश्वरं च यक्षद् यजतु। कीदृशमिन्द्रम्? अग्निम्, अग्रे गन्तारं पृथक् प्रत्येकं यज्ञेष्वग्निमग्रे गन्तारं यजतु। कथंभूतमग्निम्? गृहपतिं संसारगृहस्य पालकम्, वरुणं व्रियते सर्वैरिति वरुणः सर्वैर्वरणीयस्तम्, भेषजं भेषजवद्रोगनिवारकम्, कविं सर्वज्ञं क्षत्रं क्षतात् प्रहारात् त्रातारम्, वयोधसमायुषो दातारम्। किं कुर्वन्? अतिच्छन्दसं छन्दआदिकं दधत्। तस्मिन्निन्द्रे छन्दआदीनामाधानम्, तस्मिन् समर्पणम्, तैरभ्यर्हणं च।

दयानन्दस्तु—'हे होतस्त्वं यथा होता स्वाहाकृतीरग्निमिव गृहपतिं वरुणं पृथग्भेषजं कविं वयोधसमिन्द्रं क्षत्रमतिच्छन्दसं छन्दो बृहदिन्द्रियमृषभं गां वयश्च दधत् सन्नाज्यस्याहुतिं यक्षत्, यथा जना एतानि व्यन्तु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाहाकृत्यादीनां धारणासिद्धेः, निष्प्रयोजनत्वाच्च; केषाञ्चिद् रागप्राप्तत्वात्, तद्विधानवैयर्थ्याच्च ॥ ३४ ॥

दे॒वं ब॒र्हिर्व॑यो॒धसं॑ दे॒वमिन्द्र॑मवर्धयत्। गा॒य॒त्र्या छन्द॑सेन्द्रि॒यं चक्षु॒रिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑ ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—बर्हि ने दिव्य आयु को बढ़ाने वाले इन्द्रदेव को बढ़ाया। गायत्री छन्द के द्वारा नेत्र इन्द्रिय, बल और आयु को यजमान में स्थापित करते हुए प्रयाज देवता धन-प्राप्ति और उसकी स्थिति के निमित्त घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी ऐसा ही करो ॥ ३५ ॥

वयोधसे पशावेव एकादशानुयाजानां प्रैषाः, बर्हिरादिदेवताः। एकाधिके आर्ष्यौ त्रिष्टुभौ। देवं बर्हिर्यद् द्योतनं बर्हिर्वयोधसमिन्द्रं च देवमवर्धयत्। कीदृशं बर्हिः? गायत्र्या छन्दसा चक्षुरिन्द्रियं वयश्च इन्द्रे दधद् धारयत्। तद् वसुवने वसुवननाय वसुधेयस्य वसुधानाय च वेतु पिबतु, आज्यस्य स्वमंशम्। सप्तमीषष्ठ्यौ चतुर्थ्यर्थे। हे मनुष्यहोतः, त्वमपि यज याज्यां पठ।

अध्यात्मपक्षे—देवं बर्हिरिन्द्रं जीवात्मानं देवमवर्धयत् प्रोत्साहितवत्। गायत्र्या कृत्वा इन्द्रे चक्षुरिन्द्रियं वयश्च दधत्। शेषं पूर्ववद्व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवं बर्हिर्वयोधसं देवमिन्द्रमवर्धयत्, यथा गायत्र्या च्छन्दसा चक्षुरिन्द्रियं वयश्चेन्द्रे दधत् सद्वसुधेयस्य वसुवने वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बर्हिषोऽन्तरिक्षस्य जडत्वेन वर्धकत्वायोगात्। न च जीवेऽपि गायत्र्या छन्दसा चक्षुरादिकं धार्यते ॥ ३५ ॥

दे॒वीर्द्वारो॑ वयो॒धस॑ꣳ शु॒चिमिन्द्र॑मवर्धयन्। उ॒ष्णिहा॒ छन्द॑सेन्द्रि॒यं प्रा॒णमिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द्वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—द्वारदेवियों ने उष्णिक् छन्द के द्वारा प्राण, इन्द्रिय-बल और आयु को यजमान में स्थापित करते हुए आयुदाता पवित्र इन्द्र को बढ़ाया। इन्द्र यजमान की धनप्राप्ति और उसकी स्थिति के निमित्त घृत पान करे। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३६ ॥

देवीर्देव्यो द्वारो वयोधसमायुषो धारकं शुचिं पवित्रमिन्द्रमवर्धयन्। कीदृश्यो द्वारः? उष्णिहा छन्दसा कृत्वा सह वा प्राणमिन्द्रियं वीर्यं वयश्च इन्द्रे दधद् दधत्यः, लिङ्गवचनव्यत्ययः, ता व्यन्तु। हे होतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—देव्यो द्वार इन्द्रं जीवात्मानमवर्धयन्। कीदृशम्? शुचिम्, स्वधर्मानुष्ठानेन विशुद्धान्तःकरणम्। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवीर्द्वारो वयोधसं शुचिमिन्द्रमिन्द्रियं प्राणमिन्द्रे वसुधेयस्य वसुवनेऽवर्धयद् व्यन्तु, तथोष्णिहा च्छन्दसा एतानि वयश्च दधत् सन् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वयःपदस्य जीवनार्थत्वे मानाभावात्। द्वारामपि वर्धनानुगुणव्यापारवत्त्वं न सम्भवति ॥ ३६ ॥

दे॒वी उ॒षासा॒नक्ता॑ दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वी दे॒वम॑वर्धताम्। अ॒नु॒ष्टु॒भा छन्द॑सेन्द्रि॒यं बल॒मिन्द्रे॒ वय॑ो दध॑द् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीतां॒ यज॑ ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—प्रकाशवान् उषा और रात्रि नामक देवियों ने अनुष्टुप् छन्द के द्वारा इन्द्रिय-बल और आयु को यजमान में स्थापित करते हुए आयुदाता इन्द्रदेव को बढ़ाया, इन्द्र ने भी यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी स्थिति के निमित्त घृतपान किया। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३७ ॥

द्वे ब्राह्म्यौ बृहत्यौ। उषासानक्ता उषाश्च नक्तं च उषासानक्ता, 'उषासोषसः' (पा० सू० ६।३।३१) इति देवताद्वन्द्वे उषःशब्दस्य उषासादेशः, विभक्तेराकारः। देवी देव्यौ दीप्यमाने देवं दानादिगुणकं वयोधसमायुषो दातारम् इन्द्रं देवं दीप्यमानमवर्धताम्। किं कुर्वन्त्यौ? अनुष्टुभा छन्दसा बलमिन्द्रियं वयश्च इन्द्रे दधद् दधत्यौ। दधदित्यव्ययम्, लिङ्गवचनव्यत्ययो वा। ते देव्यौ वसुवननाय वसुधानाय च वीतां पिबताम्, आज्यमिति शेषः। हे मनुष्यहोतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—देवी देव्यौ विद्याविद्ये इन्द्रं देवं वयोधसमवर्धतां भोगापवर्गवन्तं कुरुताम्। वसुवननाय वसुधानाय च वीतां चैतन्यबलं गृह्णीताम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथोषासानक्तेव देवी वयोधसं देवमिन्द्रं देवी देवमिवावर्धताम्, यथा च वसुधेयस्य वसुवने वीताम्, तथा वयो दधत् सन्ननुष्टुभा छन्दसेन्द्रं इन्द्रियं बलं यज सङ्गमय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः, द्वाभ्यां स्त्रीभ्यामेकस्य सम्बन्धानुपपत्तेः। न च स्त्रीपदं मूलेऽस्ति। देवीति तु विशेषणपरम्। न च ताभ्यामिन्द्रस्य जीवस्य वर्धनं सम्भवति, ह्रासस्यैव दर्शनात्। न च ताभ्यां बलवयसोर्वर्धनं दृश्यते, अनुष्टुभस्तत्र कथमुपयोग इत्यनुक्तेश्च ॥ ३७ ॥

दे॒वी जोष्ट्री॒ वसु॑धिती दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वी दे॒वम॑वर्धताम्। बृ॒ह॒त्या च्छन्द॑सेन्द्रि॒यꣳ श्रोत्र॒मिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीतां॒ यज॑ ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—प्रकाशवान्, परस्पर प्रीतियुक्त, धन को धारण करने वाली दोनों देवियाँ कर्णेन्द्रिय और आयु का यजमान में आधान करते हुए दीप्तिमान् आयुदाता इन्द्रदेव को बढ़ाती हैं। इन्द्र भी यजमान में धन-प्राप्ति और उसकी स्थिति के निमित्त घृतपान करते हैं। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३८ ॥

ये देवी देव्यौ दीप्यमाने अनूयाजदेवते जोष्ट्री जोष्ट्र्यौ जोषयित्र्यौ वसुधिती वसुनो धनस्य धारयित्र्यौ वयोधसमायुषो धारयितारं देवं दीप्तमिन्द्रं देवमवर्धताम्, ते बृहत्या च्छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं श्रोत्रं च वयश्च इन्द्रे दधद् धारयन्त्यौ सत्यौ वसुवननाय वसुधानाय च आज्यस्य स्वमंशं वीताम्। त्वमपि हे मनुष्यहोतर्यज।

अध्यात्मपक्षे—देव्यौ जोष्ट्र्यौ भोगापवर्गप्रदानेन जोषयित्र्यौ देवं दीप्यमानं वयोधसमिन्द्रं देवं दानादिगुणकमवर्धताम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा देवी जोष्ट्री वसुधिती स्त्रियौ वयोधसमिन्द्रं देवं देवी देवमिव प्राप्यावर्धताम्, बृहत्या छन्दसेन्द्रे श्रोत्रमिन्द्रियं वीताम्, तथा वसुधेयस्य वसुवने वयो दधत् सन् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात् ॥ ३८ ॥

दे॒वी ऊ॒र्जाहु॑ती दु॒घे सु॒दु॒घे पय॒सेन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वी दे॒वम॑वर्धताम्। प॒ङ्क्त्या छन्द॑सेन्द्रि॒यꣳ शु॒क्रमिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीता॒ं यज॑ ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—कामपूरक, कामना के दूध से परिपूर्ण, दीप्तिमान्, अन्नजल को बुलाने वाली उक्त दोनों देवियाँ पंक्ति छन्द के द्वारा वीर्य, इन्द्रिय और आयु का इन्द्र में आधान कर अपने दूध से आयुदाता इन्द्र को बढ़ाती हैं। इन्द्र देवता यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी स्थिति के निमित्त घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ३९ ॥

शक्वरी। ये देवी दात्र्यौ ऊर्जाहुती ऊर्जा बलेन रसेन वा आहुतिराह्वानं ययोस्ते। पयसा वयोधसमिन्द्रमवर्धताम्। कीदृश्यौ? दुघे दोग्ध्र्यौ सुदुघे सुखेन दोग्धुं शक्ये। ते पङ्क्त्या छन्दसा शुक्रं वीर्यमिन्द्रियं वयश्चेन्द्रे दधत्यौ वीतां पिबतामाज्यस्य स्वमंशम्। त्वमपि हे होतर्यज।

अध्यात्मपक्षे—देवी दात्र्यौ ऊर्जाहुती ऊर्जाह्वान्यौ देव्यौ पयसा पयस्तुल्येन स्वपरिणामेन वयोधसं देवमवर्धतां भोगापवर्गवन्तौ कुरुताम्। ते तत्र पङ्क्त्या छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं शुक्रं वयश्च दधत्यौ वीताम्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा दुघे सुदुघे देवी ऊर्जाहुती पयसा वयोधसमिन्द्रं देवी देवमिवावर्धताम्, पङ्क्त्या छन्दसा इन्द्रे शुक्रमिन्द्रियं वीताम्, तथा वसुधेयस्य वसुवने वयो दधत् सन् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऊर्जापदस्य संस्कारार्थत्वे मानाभावात्, इन्द्रस्य प्राणधरार्थकस्य वयोधसपदस्य निरर्थकत्वापत्तेश्च, प्राणहीनस्य वर्धनासम्भवात् ॥ ३९ ॥

दे॒वा दैव्या॒ होता॑रा दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वौ दे॒वम॑वर्धताम्। त्रि॒ष्टुभा॒ छन्द॑सेन्द्रि॒यं त्विषि॒मिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वीता॒ं यज॑ ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—दिव्य दीप्तिमान् देवताओं के दोनों होता अश्विनीकुमार त्रिष्टुप् छन्द के द्वारा कान्ति, इन्द्रिय-बल और आयु को यजमान में स्थापित कर आयुदाता दीप्तिमान् इन्द्र को बढ़ाते हैं। इन्द्र यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी रक्षा के निमित्त घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ ४० ॥

अतिजगती। दैव्या दैव्यौ देवा देवौ देवसम्बन्धिनौ होतारा होतारौ, अयमग्निरसौ च वायुः, मध्यमं देवं दातारं वयोधसमायुषो धारयितारमिन्द्रं देवमवर्धताम्। ते त्रिष्टुभा छन्दसा त्विषिं कान्तिमिन्द्रियं त्वगिन्द्रियं वयश्चेन्द्रे दधतौ वसुवननाय वसुधानाय च वीताम्, आज्यस्य स्वमंशम्। हे होतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—देवौ दातारौ दैव्यौ देवसम्बन्धिनौ होतारावग्निवायुरूपौ विराड्ढिरण्यगर्भौ देवं दानादिगुणकं वयोधसमायुषो धातारं धारयितारं देवं दीप्तं जीवात्मानमवर्धतां ज्ञानक्रियाशक्तिप्रदानेन तद्वन्तं कुरुताम्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे होतारौ, यथा दैव्यौ देवौ वयोधसमिन्द्रं देवो देवमिवावर्धताम्, तथा वसुधेयस्य वसुवने वीताम्। हे विद्वन्, त्रिष्टुभा छन्दसेन्द्रे त्विषिमिन्द्रियं वयो दधत् सन् त्वं यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्। देवादिपदानां वक्तुरिच्छया यथेष्टार्थे प्रयोगे शाब्दनयेऽराजकतापत्तेः। सम्बोधनमपि निर्मूलमेव। होतृपदेनाध्यापकोपदेशकग्रहणमपि चिन्त्यमेव, निर्मूलत्वात्॥ ४०॥

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीर्वयोधसं पतिमिन्द्रमवर्धयन्। जगत्या छन्दसेन्द्रियꣳ शूषमिन्द्रे वयो दधद् वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज॥ ४१॥

मन्त्रार्थ—इड़ा, भारती और सरस्वती नामक तीनों देवियों ने जगती छन्द के द्वारा इन्द्रिय-बल और आयु को यजमान में स्थापित कर आयुदाता पालक इन्द्र के बल को बढ़ाया था। इन्द्र यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिये घृत-पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो॥ ४१॥

एकाधिका ब्राह्मी अनुष्टुप्। यास्तिस्रो देव्यो भारतीडासरस्वत्यः। आदरार्थमभ्यासः। वयोधसमायुषो धारयितारं पतिं पालयितारं पालयितव्यं वा इन्द्रमवर्धयन् वर्धयन्ति, ता जगत्या छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं शूषं बलं वय आयुश्च इन्द्रे दधद् दधत्यो व्यन्तु पिबन्तु स्वमंशमाज्यस्य। हे होतस्त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—तिस्रो देव्यो महाकाली-महालक्ष्मी-महासरस्वत्यो वयोधसमिन्द्रं पतिं पालयितव्यमवर्धयन् वर्धयन्ति, ता जगत्या छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं शूषं बलं वयश्चेन्द्रे जीवे दधत्यो व्यन्तु स्वमंशमाज्यस्य। हे होतः साधक, त्वमपि यज।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा तिस्रो देवीर्वयोधसं पतिमिन्द्रमवर्धयन् वर्धयेयुः, तथा जगत्या छन्दसेन्द्रे शूषमिन्द्रियं वयो दधत् सन् वसुधेयस्य वसुवने यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रे विदुषि जीवे सेनासु वा जगत्या छन्दसा इन्द्रियबलाधानसामर्थ्यायोगात्। न च विदुष्यः स्त्रियोऽपि स्वपतिं चक्रवर्तिनं वा वर्धयितुं शक्नुवन्ति। यथा तथेति सादृश्यमपि तेन विदुषा ताभिर्न दृश्यते, तथाऽनिरूपणात्॥ ४१॥

देवो नराशꣳसो देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्धयत्। विराजा छन्दसेन्द्रियꣳ रूपमिन्द्रे वयो दधद् वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज॥ ४२॥

मन्त्रार्थ—दानशील मनुष्यों के द्वारा स्तुत यज्ञदेवता ने विराट् छन्द के द्वारा रूप, इन्द्रिय-बल और आयु को इन्द्र में स्थापित कर दीप्तिमान् आयुदाता इन्द्र के बल को बढ़ाया था। यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिये इन्द्र देवता घृत-पान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी अभिप्राय से यजन करो॥ ४२॥

अतिजगती। देवो दाता द्युस्थानो वा नराशंसो देवं द्युस्थानं दीप्तं वा वयोधसमायुषो धारयितारमिन्द्र-मवर्धयत्। कीदृशः ? विराजा छन्दसा रूपमिन्द्रियं वयश्चेन्द्रे दधद् धारयन् वसुवननाय वसुधानाय च वेतु। हे होतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—देवो नराशंसो नरैराशंस्यते यः सः, देवं दीप्तमिन्द्रं जीवमवर्धयद् विविधसाधनोपन्यासेन वर्धयति। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा नराशंसो देवो वयोधसं देवमिन्द्रं देवो देवमिवावर्धयत्, विराजा छन्द-सेन्द्रे रूपमिन्द्रियं वेतु, तथा वसुधेयस्य वसुवने वयो दधत् सन् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यकर्तृक-मनुष्यकर्मकवर्धने विराट्छन्दस उपयोगादर्शनात्॥ ४२॥

दे॒वो वन॒स्पति॑र्दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वो दे॒वम॑वर्धयत्। द्वि॒पदा॒ छन्द॑सेन्द्रि॒यं भग॒मिन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥ ४३॥

मन्त्रार्थ—दानशील वनस्पति देवता ने द्विपाद छन्द द्वारा सौभाग्य रूप इन्द्रिय और आयु को यजमान में स्थापित कर दीप्तिमान् आयुदाता इन्द्र को बढ़ाया था। यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी रक्षा के निमित्त इन्द्र घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो॥ ४३॥

अतिजगती। यो देवो वनस्पतिस्तत्कार्यभूतयूपाभिमानी देवं द्युस्थानमिन्द्रं वयोधसमायुषो धातारं धारयितारमवर्धयत्, स इदानीं द्विपदा छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं भगमैश्वर्यं च वय आयुश्च इन्द्रे धारयन् वसुवननाय वसुधानाय च वेतु। त्वमपि हे होतर्यज।

अध्यात्मपक्षे—यो देवो वनस्पतिः संसारवृक्षस्वामी परमेश्वरो देवं रूपादि द्योतयन्तं देहादिस्वामिनं जीवात्मानमवर्धयत्, स द्विपदा छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं भगमैश्वर्यं वयश्चेन्द्रे दधत् सन् वसुवननाय वसुधानाय च वेतु। हे साधक, त्वमपि तं यज।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वनस्पतिर्देवो वयोधसं देवमिन्द्रं देवो देवमिवावर्धयत्, द्विपदा छन्दसेन्द्रे भगमिन्द्रियं वेतु, तथा वसुधेयस्य वसुवने वयो दधत् सन् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बाधितार्थत्वाद् दृष्टान्तानुपपत्तेः। नहि वटादिस्त्वद्रीत्या देवो विद्वान् सम्भवति, जडत्वात्; न वा दिव्यगुणवान् सम्भवति, भौतिकवटे दिव्यगुणवत्त्वासम्भवात्। न च स दीर्घायुष्ट्वमैश्वर्यं वा वर्धयन् दृश्यत उत्तमगुणको जनोऽपि। न चेन्द्रपदमैश्वर्यपरम्, 'ऋज्रेन्द्राग्र' (उ० २।२९) इति सूत्रे 'इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति इन्द्रः' इति स्वव्याख्यानविरोधात्। न च कश्चिज्जीवो जीवे इन्द्रियं भगमायुश्च धारयितुं शक्नोति। ईश्वरस्तु कर्मानुसारेण देहवदिन्द्रियादिकमपि विदधाति। नापि च द्विपदा च्छन्दसा कश्चिदिन्द्रियादिकं विरचयन् दृश्यते॥ ४३॥

दे॒वं ब॒र्हिर्वारि॑तीनां दे॒वमिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑ दे॒वं दे॒वम॑वर्धयत्। क॒कुभा॒ छन्द॑सेन्द्रि॒यं यश॒ इन्द्रे॒ वयो॒ दध॑द् वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑॥ ४४॥

मन्त्रार्थ—जल से उत्पन्न औषधियों में दीप्तिमान् कुशा की अधिष्ठात्री देवता ने ककुप् छन्द के द्वारा कीर्तिरूप इन्द्रिय-बल और आयु को यजमान में स्थापित कर दीप्तिमान् आयुदाता इन्द्र के बल को बढ़ाया था। यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिये इन्द्र घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो॥ ४४॥

ब्राह्मी बृहती। यद् देवं श्रेष्ठं बर्हिर्देवं द्युस्थानमिन्द्रं वयोधसमायुषो धारयितारं देवं दानादिगुणयुक्त-मवर्धयत्। कीदृशं बर्हिः? वारितीनां देवं वाभ्योऽद्भ्यश्च इतीनामुद्गतानामोषधीनां मध्ये देवं श्रेष्ठम्। यद्वा वाभ्यः सकाशादितिरुत्पत्तिर्यासां तासां वारितीनां मध्ये श्रेष्ठम्। तत्ककुभा छन्दसा इन्द्रियं वीर्यं यशो वय आयुश्चेन्द्रे दधद् धारयत् वसुवननाय वसुधानाय च वेतु। हे होतः, त्वमपि यज।

अध्यात्मपक्षे—देवं दिव्यं बर्हि वारितीनामोषधीनां श्रेष्ठं देवमिन्द्रं जीवमवर्धयत्, प्रोक्षणादिसंस्कारा-धानेनोपबृंहयत्, तद्वसुवननाय वसुधानाय च इन्द्रे ककुभा च्छन्दसा इन्द्रियादिकं दधद् वेतु पिबतु। हे होतः, त्वमपि यज।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा वारितीनां देवं बर्हिर्वयोधसं देवमिन्द्रं देवं देवं चावर्धयत्, ककुभा छन्दसा इन्द्रे यश इन्द्रियं वेतु, तथा वसुधेयस्य वसुवने वयो दधद् यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जडजले उक्तानुक्त-विवेकाभावेन वर्धनासम्भवात्, अविशेषेणान्तरिक्षनिपतितजलस्य सर्ववर्धकत्वदर्शनाच्च। न च तदिन्द्रियादिकमिन्द्र आधातुं समर्थम्, जडत्वादेव ॥ ४४ ॥

देवो अग्निः स्विष्टकृद् देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्धयत्। अतिच्छन्दसा छन्दसेन्द्रियं क्षत्रमिन्द्रे वयो दधद् वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—दानशील, शुभकर्ता देवता अग्नि ने अतिच्छन्द नामक छन्द के द्वारा क्षत से त्राणरूप इन्द्रिय-बल और आयु को यजमान में स्थापित कर दीप्तिमान् आयुदाता इन्द्र के बल को बढ़ाया था। यजमान की धन-प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिये इन्द्र घृतपान करें। हे मनुष्य होता, तुम भी इसी प्रकार यजन करो ॥ ४५ ॥

ब्राह्मी बृहती। देवो दाता द्युस्थानो वा अग्निः स्विष्टकृत्, साधु इष्टं कर्तव्यमिति यस्यायमधिकारः स स्विष्टकृत्, देवं द्युस्थानमिन्द्रं वयोधसमायुषो धारयितारं देवो दीप्तो देवं दीप्तमवर्धयत्, अतिच्छन्दसा छन्दसा स इदानीमिन्द्रियं वीर्यं क्षत्रं क्षतात् प्रहारात् त्राणरूपं वय आयुश्च इन्द्रे दधद् वसुवननाय वसुधानाय च वेतु, यज।

अध्यात्मपक्षे—देवोऽग्निः स्विष्टकृद् वयोधसमायुषो धारयितारं देवं दीप्तं जीवात्मानमवर्धयत्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा स्विष्टकृद् देवोऽग्निर्वयोधसमिन्द्रं देवो देवमिवावर्धयत्, अतिच्छन्दसा छन्दसेन्द्रे वसुधेयस्य वसुवने वयः क्षत्रमिन्द्रियं दधत् सन् वेतु, तथा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कर्ममीमांसाप्रसिद्धस्विष्टकृद्यागानभिज्ञानमूलत्वात्। अतिच्छन्दसा छन्दसा ह्लादकरेणेत्यपि निर्मूलम्, गौणार्थाश्रयणात् ॥ ४५ ॥

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन् पक्तीः पचन् पुरोडाशं बध्नन्निन्द्राय वयोधसे छागम्। सूपस्था अद्य देवो वनस्पतिरभवदिन्द्राय वयोधसे छागेन। अघत्तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीदवीवृधत् पुरोडाशेन। त्वामद्य ऋषे० ॥ ४६ ॥

इत्यष्टाविंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ –इस यजमान ने आज पकाने के योग्य हवियों को पकाते हुए पुरोडाशों को भी पकाया। इसने इन्द्र के लिये छाग को आगे किया। आज पशुपोषक वनस्पति देवता छाग को वृद्धि का आशीर्वाद देने के लिये आये हैं, इसलिये इन्द्र के निमित्त छाग का पुरोडाश बनाया जाता है, इन्द्र के लिये, पशुओं की मेदा की वृद्धि के लिये आहुति दी गई है। इसी प्रकार हे मनुष्य होता, तुम भी यजन करो ॥ ४६ ॥

अग्निमद्येत्येकाधिका ब्राह्मी त्रिष्टुप्। सूपस्था इति ब्राह्मी अनुष्टुप्। एते व्याख्याते त्रयोविंश्यामस्मिन्नेवाध्याये। त्वामद्येति प्रतीकोक्त एकविंशेऽन्तिमकण्डिकायां पठितः सर्वोऽपि मन्त्रोऽत्र पाठ्यः, 'इन्द्राय वयोधसे' इति विशेष इत्युव्वटमहीधरावाचार्यौ।

इति वेदार्थपारिजाताख्यभाष्यमण्डितायां शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायाम्

अष्टाविंशोऽध्यायः ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमत्पिन्वमानः ।
वाजी वहन् वाजिनं जातवेदो देवानां वक्षि प्रियमा सधस्थम् ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे जातप्रज्ञान, वेगवान्, अति-दीप्त अग्निदेव ! आप मनुष्य की बुद्धि के रहस्य को प्रकाशित करते हुए, स्वादु घृत को देवताओं के निमित्त सींचते हुए, हवि को देवताओं तक पहुँचाते हुए उनसे हमें वांछित फल और प्रीति दिलावें ॥ १ ॥

आश्वमेधिकोऽध्यायः । प्रजापतिर्ऋषिः । आद्या आप्रीसंज्ञा एकादश त्रिष्टुभः, अश्वस्तुतयो वामदेवपुत्रेण बृहदुक्थेन समुद्रपुत्रेणाश्वेन वा दृष्टाः, 'बृहदुक्थो वामदेव्यो ददर्शाश्वो वा सामुद्रिः' इति सर्वानुक्रमवचनात्, समित्तनूनपादिडादिदेवताकाः । हे भगवन्नग्ने, हे जातवेदो जातप्रज्ञान ! त्वं देवानां सधस्थं सह तिष्ठन्ति यत्र तत् सधस्थं सहस्थानं प्रति प्रियं प्रीतिमावक्षि आवह, देवान् प्रीणयेत्यर्थः । वहतेः शपो लुकि मध्यमैकवचने रूपम् । कथम्भूतस्त्वम् ? समिद्धः सन्दीप्तः । मतीनां बुद्धीनां कृदरमुदरम्, रहस्यमिति यावत्, अञ्जन् व्यक्तीकुर्वन् । मधुमद् मधुस्वादुयुक्तं घृतं पिन्वमान आत्मानं प्रति सिञ्चन् स्वेच्छया पिबन्, देवेषु वा सिञ्चन् । वाजी वजतीति, 'वज गतौ' भौवादिकः, गतिमान् । वाजिनं हविर्वहन् देवान् प्रापयन् सन् देवानां प्रीतिमावहेति सम्बन्धः । आज्ये हि सर्वासां देवतानां मनांसीदं मे स्यादिदं मे स्यादित्येवंप्रायाणि भवन्ति ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् परमेश्वर, हे जातवेदः सर्वज्ञ, त्वं देवानां सधस्थं सहस्थानं प्रति प्रियं प्रीतिमावक्षि, सर्वेश्वर एव सर्वान् प्रीणयतीति भावः, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७।१) इति श्रुतेः । स एव च मतीनामुदरमनक्ति बुद्धिरहस्यं प्रकाशयति, सर्वसाक्षित्वात् सर्वान्तर्यामित्वाच्च । स एव सोपाधिकः सन् चलति, 'तदेजति' (ईशा० ५) इति श्रुतेः । शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदोऽग्ने विद्वन्, यथा समिद्धो अञ्जन्नग्निर्मतीनां मधुमद् घृतं पिन्वमानो वाजिनं वाजी वहन्निव देवानां सधस्थमावहति, तथा प्रियं वक्षि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, समिद्धोऽग्निर्मतीनां मनुष्याणां कृदरमुदरं मधुमद् घृतं च कथं सेवत इत्यनुक्तेः, वाजिनं वहन् चालयन्नित्यसङ्गतेश्च । वाजी मनुष्यं वहतीति प्रसिद्धम्, नहि वेगवानपि मनुष्यो वाजिनं वहति ॥ १ ॥

घृतेनाञ्जन्त्सम्पथो देवयानान् प्रजानन् वाज्यप्येतु देवान् ।
अनु त्वा सप्ते प्रदिशः सचन्ताᳬं स्वधामस्मै यजमानाय धेहि ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—अश्व घृत की सहायता से देवयान मार्ग को प्रकाशित करता हुआ देवताओं की हवि को पहचान कर उन तक पहुँचाता है । हे अश्व ! दिशाओं में रहने वाले प्राणी तुम्हारी सेवा करें, तुम इस यजमान के निमित्त अन्न प्राप्त कराओ ॥ २ ॥

प्रथमोऽर्धर्चः परोक्षकृतः, उत्तरः प्रत्यक्षकृतः । तयोरेकवाक्यतासिद्ध्यर्थं पुरुषव्यत्ययः । वाजी अश्वो देवानप्येतु अभ्यागच्छतु देवान् । कथम्भूतोऽश्वः ? घृतेन देवयानान् पथः समञ्जन् । देवा यायन्ते यैस्ते देवयानाः

पन्थानो हवींषि, तैर्हि ते जीवन्ति। देवयानान् पथः प्रजानन् देवानां हविरहमिति जानन्। एवं परोक्षमुक्त्वा प्रत्यक्षमाह –हे सप्ते अश्व, प्रदिशो दिगाश्रयाणि भूतानि त्वामनुसचन्ताम् अनुसेवन्ताम्, 'षच् समवाये'। सपति कर्मणा समवैतीति सप्तिः, 'षप् समवाये' तत्सम्बुद्धौ, अस्मै यजमानाय स्वधामन्नं धेहि प्रयच्छ। अत्र घृतशब्द-स्तनूनपाच्छब्दपर्याय इत्युव्वटाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे –हे सप्ते, सपति कर्मणा समवैतीति सप्तिस्तत्सम्बुद्धौ, हे अश्व जीवात्मन्, भवान् घृतेन देवयानान् पथो देवानां हविरहमिति प्रजानन् देवानप्येतु अभ्यागच्छतु। हे सप्ते, कर्मणा सम्बद्ध! प्रदिशो दिगाश्रयाणि भूतानि त्वामनु सचन्ताम्। अस्मै यजमानाय स्वधामन्नं धेहि।

दयानन्दस्तु 'हे सप्ते, अश्व इव वर्तमान विद्वन्! यथा वाज्यप्यग्निर्घृतेनाञ्जन् देवयानान् पथः समेतु, तं प्रजानन् सन् त्वं देवानेहि, येन त्वानु प्रदिशः सचन्ताम्। त्वमस्मै यजमानाय स्वधां धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यज्ञकर्त्रे स्वधाधारणप्रयत्नस्य निष्फलत्वेनायुक्तत्वात्, त्वद्रीत्या व्याख्याने तु सिद्धसाधनत्वेन यजमानाय स्वधा-दानानुपपत्तेश्च ॥ २ ॥

ईड्यश्चासि वन्द्यश्च वाजिन्नाशुश्चासि मेध्यश्च सप्ते।
अग्निष्ट्वा देवैर्वसुभिः सजोषाः प्रीतं वह्निं वहतु जातवेदाः ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ– हे वेगवान् अश्व! तुम स्तुतियोग्य और नमनीय हो, शीघ्र हो अश्वमेध यज्ञ के योग्य बनो। वसु देवताओं के साथ प्रीतिमान् सर्वज्ञ अग्नि तुम्हें हवियों के धारक तुष्ट देव के निमित्त अर्पित करें ॥ ३ ॥

हे वाजिन् सप्ते, यस्त्वमीड्य ईडितुं स्तोतुं योग्यो वन्द्यो वन्दनीयश्चासि, आशुश्च शीघ्रश्चासि, मेध्यो मेधार्हो मेधाय अश्वमेधाय योग्यः, यज्ञसम्पादी चासि। चकाराः समुच्चयार्थाः। किञ्च, जातवेदा अग्निस्त्वा त्वां वहतु देवान् प्रापयतु। कीदृशोऽग्निः? वसुभिर्देवैः सजोषा जोषसा सहितः। कीदृशं त्वाम्? प्रीतं तुष्टं वह्निं हविषो वोढारम्।

अध्यात्मपक्षे –हे वाजिन्! गतिशीलजीवात्मन्, स्वधर्मनिष्ठत्वात् त्वमीड्यो वन्द्यश्चासि। आशुः शीघ्र-क्रियाकुशलः, मेधार्हो यज्ञार्हश्चासि। जातवेदाः सर्वज्ञोऽग्निः परमेश्वरस्त्वां वहतु देवान् प्रापयतु। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन्! सप्ते शिल्पिन् विद्वन्, यतो जातवेदाः सजोषाः सन् भवान् वसुभिर्देवैः सह प्रीतं वह्निं वहतु, यं च त्वामग्निर्वहतु, तस्मात् त्वमीड्यश्चासि वन्द्यश्च, आशुश्चासि मेध्यश्चासि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निकर्तृकजीववहनाप्रसिद्धेः, गौणार्थाश्रयणाच्च ॥ ३ ॥

स्तीर्णं बर्हिः सुष्टरीमा जुषाणोरु पृथु प्रथमानं पृथिव्याम्।
देवेभिर्युक्तमदितिः सजोषाः स्योनं कृण्वाना सुविते दधातु ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हम कुशाओं को भली प्रकार से बिछाते हैं, प्रीतियुक्त सुख देने वाली अदिति देवी अतिविस्तीर्ण इस पृथ्वी पर फैलाई हुई कुशाओं को, जिन पर कि देवता विराजमान हैं, शुभ कर्म के निमित्त यज्ञ-गृह में स्थापित करते हैं ॥ ४ ॥

वयं स्तीर्णं वेद्यामास्तीर्णमपि बर्हिर्दर्भान् सुष्टरीम सु सुष्ठु स्तरीम स्तृणाम। अदितिर्देवी स्तीर्णं तद्बर्हि सुविते सु इते साधु गते स्वर्गलोके दधातु स्थापयतु। कथम्भूता अदितिः ? सजोषाः, जोषसा प्रीत्या युक्ता। स्योनं सुखं कृण्वाना कुर्वती, आजुषाणा आप्रीयमाणा। कीदृशं बर्हिः ? उरु बहु पृथु विस्तीर्णम्, पृथिव्यां प्रथमानं विस्तार्यमाणम्, देवेभिर्देवैर्युक्तं सहितम्।

अध्यात्मपक्षे—स्तीर्णं बर्हिर्वयं सुष्टरीम साधु स्तरीम स्तृणाम, देवानां यजनायेत्यर्थः। अदितिरखण्डनीया निर्गुणा निर्विशेषा सविशेषा चितिर्देवी दीव्यमाना तद् बर्हिः सुविते साधु गते स्वर्गलोके दधातु स्थापयतु। कीदृशी सा ? सजोषाः, जोषसा प्रीत्या युक्ता, स्योनं सुखं कृण्वाना कुर्वती, आजुषाणा सर्वतोभावेन प्रीयमाणा, तस्या एव कर्मविधायकत्वेन विशेषणानां तत्रैव सामञ्जस्यात्, 'निजाज्ञारूपनिगमा पुण्यापुण्यफलप्रदा' इति ललितासहस्रनामोक्तेः। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, वयं यथा पृथिव्यामुरु पृथु प्रथमानं स्तीर्णं बर्हिर्जुषा सजोषा देवेभिर्युक्तं स्योनं कृण्वानाऽदितिर्विद्युत् सर्वसुविते दधातु, तां सुष्टरीम तथा त्वं प्रयतस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तीर्णमिति बर्हिःपदेन यानग्रहणे बीजाभावात्, बर्हिःपदप्रसिद्धार्थस्य दर्भस्य त्यागे मानाभावाच्च। तथैव देवेभिर्दिव्यैः पदार्थैरिति व्याख्यानमपि निर्मूलमेव, न चानाशित्वेन विद्युतोऽदितित्वम्, तस्या नाशदर्शनात्॥ ४॥

एता उ॑ वः सु॒भगा॑ वि॒श्वरू॑पा॒ विप॒क्षोभि॑ः श्रय॑माणा॒ उदा॑तैः।
ऋ॒ष्वाः स॒तीः क॒वषः॒ शुम्भ॑माना॒ द्वारो॑ दे॒वीः सु॑प्राय॒णा भ॑वन्तु॥ ५॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विक्गण और यजमानों, तुम्हारी ये द्वारदेवियाँ सुन्दर शोभा से युक्त, नानारूप चित्र-विचित्र ऊँचे उठे हुए पक्षरूप कपाटों से विस्तारयुक्त, गतियोग्य, श्रेष्ठ, खोलने और बन्द करने के समय शब्द करने वाली शोभायमान और सुगम हों॥ ५॥

हे ऋत्विग्यजमानाः, वो युष्माकम् एता उ द्वारो यज्ञगृहद्वारो देवीर्देव्यः सुभगा शोभनं भगं श्रीर्यासां ताः, विश्वरूपा नानारूपचित्राः पक्षोभिः पक्षैः, सान्तः पक्षस्शब्दः पक्षवाची, पक्षप्रायैः कपाटैर्विश्रयमाणा विस्तार्यमाणा भवन्तु। कीदृशैः पक्षैः ? उदातैः, अत्यन्ते विस्तार्यन्त इत्याताः, 'अत सातत्यगमने', उद् ऊर्ध्वम् आता उदाताः, तैरूर्ध्वं प्रसृतैरूर्ध्वं सततमायतैर्वा। कीदृश्यो द्वारः ? ऋष्वाः, ऋषन्ति इतस्ततो गच्छन्तीति, 'ऋषी गतौ' तौदादिकः, ऋष्वा महत्यः, 'ऋष्व इति महन्नाम' (निघ० ३।३।३)। सतीः सत्यः समीचीनाः। कवषः कुवन्ति शब्दं कुर्वन्ति कपाटपिधानसमय इति कवषः, असुन्नौणादिकः, षत्वमार्षम्। ससुषिरा वा। शुम्भमानाः शोभमानाः, सुप्रायणाः सु सुखेन अनायासेन प्रकृष्टमयनं गमनं यासु ताः। एवंविधा देव्यो दीव्यमाना यज्ञगृहद्वारो भवन्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे साधकाः, वो युष्माकमीदृश्यो भगवत्पदप्राप्तिकारिण्यो द्वारो भवन्तु। कीदृश्यः ? सुभगाः परमसौभाग्यशालिन्यः, परमसौभाग्यमूलभगवत्पदप्राप्तिहेतुत्वात्। विश्वरूपा विविधरूपचित्रिताः, उदातैरूर्ध्वसातत्योपेतगतियुक्तैः, पक्षोभिः पक्षप्रायैः कपाटैः, विश्रयमाणा विस्तार्यमाणाः, ऋष्वा महत्यः, ससुषिराः शुम्भमानाः शोभमानाः सुप्रायणा भवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा व एताः सुभगा विश्वरूपा ऋष्वाः कवषाः शुम्भमानाः सतीर्देवीर्द्वार उदातैः पक्षोभिः श्रयमाणाः पक्षिपङ्क्तय इव सुप्रायणा विभवन्तु, तादृशीरु भवन्तो रचयन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विभक्ते रचनार्थकत्वे मानाभावात्॥ ५॥

अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती मुखं यज्ञानामभिसंविदाने ।
उषासा वाᳬं सुहिरण्ये सुशिल्पे ऋतस्य योनाविह सादयामि ।। ६ ।।

मन्त्रार्थ—हे पत्नी और यजमान, तुम दोनों के बीच में इस पृथ्वीलोक और स्वर्गलोक के मध्य में विचरने वाली, अग्निहोत्र के होमकाल को बताने वाली, अच्छी ज्योति से युक्त, परस्पर समान रूप वाली उषा और रात्रि को यज्ञ में स्थापित करता हूँ ।। ६ ।।

हे दम्पती यजमानौ, वां युवयोर्ऋतस्य यज्ञस्य योनौ गृहे इह उषासा उषसौ नक्तोषसौ, द्विवचनात् सहचरितत्वाच्च द्वितीया रात्रिः, सादयामि स्थापयामि । कीदृश्यौ नक्तोषसौ ? मित्रावरुणा मित्रावरुणौ अन्तरा द्यावापृथिव्योरन्तरे सञ्चरन्ती सञ्चरन्त्यौ, 'अयं वै लोको मित्रोऽसौ वरुणः' (श० १२।९।२।१२) इति श्रुतेः, यज्ञानां मुखमग्निहोत्रहोमकालम् अभिसंविदाने प्रकथयन्त्यौ, उत्तिष्ठताम् । अयमग्निहोत्रहोमकाल इति प्रातर्विप्रा वदन्ति, तदुषस्युपचर्यते । सुहिरण्ये सु साधु हिरण्यं हिरण्यमयं ज्योतिर्ययोस्ते । सुशिल्पे अन्योन्यं प्रतिरूपे, 'यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्' (श० ३।२।१।५) इति श्रुतेः ।

अध्यात्मपक्षे—हे दिव्यदम्पती ! सीतारामौ रुक्मिणीकृष्णौ, वां युवयोरिह ऋतस्य यज्ञस्य योनौ गृहे उषासा नक्तोषसौ सादयामि । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे दिव्यशिल्पविद्याप्रचारकौ, यथाहमन्तरा मित्रावरुणौ चरन्ती प्राप्नुवन्त्यौ यज्ञानां सङ्गन्तव्यानां मुखमभिसंविदाने सुहिरण्ये सुशिल्पे उषासा ऋतस्य योनाविह सादयामि, तथा मह्यं स्थापयेतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, द्विवचनान्तत्वस्य स्वारस्यानुपपत्तेश्च । सङ्गमनीयाः के पदार्थाः ? किञ्च तेषां मुखम् ? कश्च तस्य ताभ्यां सम्बन्धः ? कीदृशं च तयोः शिल्पमित्याद्यनुक्तेश्च ॥ ६ ॥

प्रथमा वाᳬं सरथिना सुवर्णा देवौ पश्यन्तौ भुवनानि विश्वा ।
अपिप्रयं चोदना वां मिमाना होतारा ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ।। ७ ।।

मन्त्रार्थ—हे पत्नी और यजमान, तुम दोनों के बीच में एक रथ पर आरूढ़ सुन्दर वर्ण वाले दीप्यमान, सब भुवनों के द्रष्टा, तुम दोनों के कर्मों का निर्माण करने वाले और उपदेश द्वारा ब्रह्मज्योति का दर्शन कराने वाले दोनों होताओं को मैंने तृप्त किया है ।। ७ ।।

हे यजमानौ दम्पती, वां युवयोर्यौ प्रथमौ मुख्यौ होतारौ, अयं चाग्निरसौ च मध्यम इति तौ, अहमपिप्रयं प्रीणितवानस्मि, प्रीणातेर्णिजन्तस्य लुङि उत्तमैकत्वे रूपम् । कीदृशौ होतारौ ? सरथिना सरथिनौ, समानो रथः सरथः, सरथोऽस्ति ययोस्तौ, एकरथारूढौ । सुवर्णा सुवर्णौ सु सुष्ठु वर्णो द्युतिर्ययोस्तौ शोभनवर्णौ । देवौ दीप्यमानौ दानादिगुणयुक्तौ वा । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि पश्यन्तौ साक्षितयाऽवलोकयन्तौ वां युवयोश्चोदना चोदनानि चोदनाप्रमाणकानि कर्माणि मिमाना निर्मिमाणौ प्रदिशा प्रदेशेनाभिनयेन ज्योतिराहवनीयाख्यं यष्टव्यमिति दिशन्तौ दर्शयन्तौ ।

अध्यात्मपक्षे—हे दिव्यदम्पती यजमानौ सीतारामौ रुक्मिणीकृष्णौ, वां युवयोर्होतारौ अग्निवायुतुल्यौ दवानामाह्वातारौ, अहम् अपिप्रयं प्रीणितवानस्मि । कीदृशौ तौ ? प्रथमौ मुख्यौ समानरथारूढौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ बुद्धिजीवात्मानौ, पुरञ्जनपुरञ्जनीरूपौ वा सम्बोधनीयौ । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिनौ ! यौ प्रथमौ सरथिनौ विश्वा भुवनानि पश्यन्तौ वां चोदनानि मिमाना ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता होतारा देवौ विद्वांसौ कुर्यातास्, यथा त्वमहमपिप्रयं तथा वां युवां तौ प्राप्नुतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हे द्वौ विद्यार्थिनाविति द्विवचनस्य स्वारस्यानिरूपणात् । 'यौ प्रथमौ' इत्यत्रापि द्विवचनस्य मूलं चिन्त्यम् । न च द्वौ मानुषौ विद्वांसौ विश्वानि भुवनानि पश्यतः, जीवमात्रस्य अल्पज्ञत्वात् । सुतयोः शोभनवर्णत्वमपि क्वोपयुज्यते । भावार्थस्तु सर्वथा मन्त्राक्षरसम्बन्धशून्य एवेत्युपेक्षणीय एव ॥ ७ ॥

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञꣳ सरस्वती सह रुद्रैर्न आवीत् ।
इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञं नो देवीरमृतेषु धत्त ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—आदित्यों से युक्त भारती देवी हमारे यज्ञ को चाहे । आह्वान की हुई प्रीतियुक्त सरस्वती और इड़ा देवी वसु और रुद्रों के साथ हमारे यज्ञ की रक्षा करें । हे भारती, सरस्वती और इड़ा देवियों ! आप सब हमारे इस यज्ञ को देवताओं में स्थापित करें ॥ ८ ॥

अत्र त्रयः पादाः परोक्षकृताः, चतुर्थः पादः प्रत्यक्षकृतः । न चैवं सामञ्जस्यम्, अतश्चतुर्थस्य पादस्य सन्ततिः, प्राधान्यमिति यावत् । प्रथितं हि प्रथमपुरुषापेक्षया युष्मदर्थस्य प्राधान्यम्, 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' (पा० सू० १।२।७२) इति सूत्रे, 'शेषे प्रथमः' (पा० सू० १।४।१०८) इति सूत्रे भाष्ये च । फलतः पुरुषव्यत्ययः । आदित्यैः सहिता भारती नोऽस्माकं यज्ञं वष्टु कामयताम् । रुद्रैः सह सहिता सरस्वती नोऽस्माकं यज्ञमावीद् अवतु । अथवा नोऽस्मान् आवीद् अवतु । इडा चोपहूता कृतोपह्वाना वसुभिर्देवैः सजोषा प्रीतियुता अस्माकं यज्ञमावीत् । एवमनेन प्रकारेण नोऽस्माकं यज्ञं तिस्रो देवीर्देव्यो भारतीसरस्वतीडा अमृतेषु देवेषु धत्त दधतु, पुरुषव्यत्ययः । अथवा परोक्षीकृत्य स्तुतास्ता इदानीं प्रत्यक्षीकृत्य आह—हे तिस्रो देव्यः, नोऽस्माकं यज्ञं यूयममृतेषु देवेषु धत्त स्थापयत ।

अध्यात्मपक्षे—आदित्यैः सहिता भारती नोऽस्माकं यज्ञं परमात्मना सङ्गमनं तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं वष्टु कामयताम् । अन्यत् सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, भवान् य आदित्यैरुपदिष्टा उपहूता भारती नो यज्ञं सम्पादयति, तया सह नोऽस्मान् वष्टु । या रुद्रैरुपदिष्टा सरस्वती नोऽस्मानावीत्, या सजोषा इडा वसुभिरुपदिष्टा सती यज्ञं साध्नोति, हे जनास्ता देवीरस्मानमृतेषु दध्युस्ता यूयमस्मभ्यं धत्त' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रत्यक्षसम्बन्धमुत्सृज्य दूरसम्बन्धकल्पनायाः प्रमाणशून्यत्वात् । उपदिष्टेति पदमपि निर्मूलम्, मन्त्रबाह्यत्वात् । आदित्यादिपदानामपि प्रसिद्धमर्थमपहाय गौणार्थकल्पनं निर्मूलमेव ॥ ८ ॥

त्वष्टा वीरं देवकामं जजान त्वष्टुरर्वा जायत आशुरश्वः ।
त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजान बहोः कर्तारमिह यक्षि होतः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—त्वष्टा देव ने देवताओं के प्रार्थनीय वीर पुत्र को प्रकट किया, त्वष्टा से ही दिशाओं में व्याप्त गतिशील सूर्य प्रकट हुए और परमात्मा त्वष्टा देव ने ही इस भुवन को उत्पन्न किया है । हे मनुष्य होता, सभी कार्यों के कर्ता परमात्मा का इस यज्ञ में यजन करो ॥ ९ ॥

यस्त्वष्टा वीरं पुत्रं देवकामं देवान् कामयत इति देवकामस्तम् ऋणत्रयापाकरणसमर्थम्, जजान जनयति, यस्माच्च त्वष्टुः सकाशाद् अर्वा, ऋच्छतीत्यर्वा अरणः, अथवा इयर्तीत्यर्वा, 'स्नामदिपद्यर्तिपृशकिभ्यो वनिप्' (उ० ४।११४) इति वनिप्। आशुः, अश्नुते दिशो व्याप्नोतीति, अश्नाति भक्षयति वेत्याशुः शीघ्रोऽश्वः, जायत इति शेषः। यश्च त्वष्टा इदं विश्वं भुवनं भूतजातं जजान जनयति, तं त्वष्टारं बहोर्भूतग्रामस्य कर्तारमिह यज्ञे हे होतस्त्वं यक्षि यज।

अध्यात्मपक्षे—यश्च त्वष्टा दीप्तिमान् स्वप्रकाशः परमात्मा जगत्स्रष्टा वीरं पुत्रं हिरण्यगर्भं देवकामम्, देवैः काम्यत इति देवकामस्तम्, जजान जनयति, यस्माच्च त्वष्टुरश्वोऽश्वमेधीयो जायते, स चार्वा आशुश्च। यश्च इदं विश्वं सर्वं भुवनं जजान, तं बहोः कर्तारं हे होतः, त्वं कर्मभूमौ इह यक्षि यज।

दयानन्दस्तु—'हे होतः, त्वं यथा त्वष्टा विद्वान् देवकामं वीरं जजान, यथा त्वष्टुराशुरर्वाऽश्वो जायते, यथा त्वष्टा देवो विश्वं भुवनं जजान, तं बहोः कर्तारमिह यक्षि, तथा वयमपि कुर्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वष्टा विद्यादिसद्गुणैः प्रकाशमानः, त्वष्टुः प्रदीप्ताच्छिक्षमाणम्, त्वष्टा स्वात्मप्रकाशित इत्याद्यर्थानां गौणार्थाश्रयणमूलत्वेनायुक्तत्वात्, रूढेर्योगापहाराच्च ॥ ९ ॥

अश्वो॑ घृ॒तेन॒ त्मन्या॒ सम॑क्त॒ उप॑ दे॒वाँ२॥ ऋ॑तु॒शः पाथ॑ ए॒तु।
वन॒स्पति॑र्देवलो॒कं प्र॑जा॒नन्न॒ग्निना॑ ह॒व्या स्व॑दि॒तानि॑ वक्षत् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—घृतरूपी देह से पत्नियों के द्वारा सींचा हुआ अन्नरूप हवि यज्ञकाल पर देवताओं को प्राप्त हो। देवलोक को जानने वाला वनस्पति देवता अग्नि से आस्वादित हवियों को देवताओं को प्राप्त करावे ॥ १० ॥

योऽश्वः पत्नीभिर्घृतेन त्मन्या आत्मना, आत्मन्शब्दात् तृतीयाविभक्तेर्यादेशे 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा० सू० ६।४।१४१) इत्याकारलोपे रूपम्। स्वयमेव समक्तः समुक्षितो देवान् प्रति उप एतु उपगच्छतु। ऋतुश ऋतौ ऋतौ काले काले पाथोऽन्नं भूत्वा, पाथ इत्यन्ननामसु (निघ० ४।३।३०)। ननु कथं देवलोकमजानन् देवान् प्रति गच्छत्विति चेत्तत्राह—वनस्पतिर्यूपो देवो देवलोकं प्रजानन् विदन्, अश्वस्य दर्शयत्विति शेषः। यद्वा वनस्पतिर्देवो हव्या हव्यानि वक्षद् वहतु देवान् प्रति। कीदृशानि हव्यानि ? अग्निना तन्मित्रेण स्वदितान्यास्वाद्य मिष्टीकृतानि।

अध्यात्मपक्षे—अश्वो व्यष्टिर्जीवः प्रजापतिरूपः पाथोऽन्नं भूत्वा देवान् प्रति एतु। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, देवलोकं प्रजानन् सन् यथा घृतेन संयोजितोऽश्वस्त्मन्या ऋतुशो देवान् समक्तः सन् पाथ उपैतु। अग्निना सह वनस्पतिः स्वदितानि हव्या वक्षत्तथा त्मना वर्तस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या देवानामपि मनुष्यत्वेन देवलोकशब्दार्थासङ्गतेः। यत्तु देवानां विदुषां लोकं दर्शकं व्यवहारं देवलोकमिति, तत्तु शाब्दिकानां व्यवहारविरुद्धत्वादुपेक्ष्यम्। ऋतुशो देवानुत्तमव्यवहारान् समक्तः सम्यक् प्रकटयन्नित्यपि क्लिष्टकल्पनमेव, प्रयोक्तृप्रतिपत्तृषु तादृशार्थे तदप्रसिद्धेः ॥ १० ॥

प्र॒जाप॑ते॒स्तप॑सा वावृधा॒नः स॒द्यो जा॒तो द॑धिषे य॒ज्ञम॑ग्ने।
स्वाहा॑कृतेन ह॒विषा॑ पुरो॒गा या॒हि सा॒ध्या ह॒विर॑दन्तु दे॒वाः ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, प्रजापति के तप से वृद्धि को प्राप्त हुए आप अरणि-काष्ठ से सद्यः उत्पन्न होकर यज्ञ को धारण करते हैं। स्वाहाकार कह कर होमी हुई आहुति के साथ अग्रगामी होकर आप देवताओं को प्राप्त करें और आपके जाने से साध्यदेवता हवि को प्राप्त कर उसका भक्षण करें ॥ ११ ॥

हे अग्ने, यस्त्वं प्रजापतेस्तपसा वावृधानो वर्धमानः सद्यो जातोऽरण्योः सकाशादुत्पन्नो यज्ञं दधिषे धारयसि, लडर्थे लिट्, तं त्वां ब्रवीमि। स्वाहाकृतेन स्वाहाकारोपलक्षितेन स्वाहाकारमुक्त्वा हुतेन वा हविषा सह पुरोगाः पुरो गच्छन्तीति पुरोगाः, अग्रगामी सन् याहि देवान् गच्छ। त्वयि गते सति देवा हविरदन्तु भक्षयन्तु। कीदृशं हविः ? साध्या साधु श्रेष्ठम्। साधुशब्दात् विभक्तेः 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पा० सू० ७।१।३९) इति ड्यादेशे टिलोपे रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, अग्रणीत्वात् सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर, त्वमग्निरूपेण सद्यो जातोऽरणिभ्यामुत्पन्नः प्रजापतेस्तपसा वावृधानो वर्धमानो यज्ञं दधिषे धारयसि, तदभावे देवयज्ञादिलोपापत्तेः। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं सद्यो जातः प्रजापतेस्तपसा वावृधानः स्वाहाकृतेन हविषा यज्ञं दधिषे। ये पुरोगाः साध्या देवा हविरदन्तु, तान् याहि प्राप्नुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सद्योजातशब्दस्य सद्यः प्रसिद्धार्थत्वे मानाभावात्, सर्वस्यैव संसारस्य परमेश्वरप्रतापजन्यत्वेन मनुष्यविशेषस्यैव तथात्वे मानाभावात्। न च तपःशब्दस्य प्रतापार्थता प्रसिद्धा, कृच्छ्रचान्द्रायणादौ मनोनिग्रहादौ च तत्प्रसिद्धेः। न च स्वाहाशब्दस्य संस्कारक्रियार्थता च प्रसिद्धा। न च वायुशुद्ध्यर्थं कृतस्य होमस्य यज्ञत्वम्, तस्याऽन्यथाप्युपपन्नत्वात्। त्वद्रीत्या विद्वांसो मनुष्या एव देवाः। मनुष्याणां च भोजनवदेव तेषां भोजनमपि, तेषां हविर्भोक्तृत्वे विशेषायोगात्॥ ११॥

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन् समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू उपस्तुत्यं महि जातं ते अर्वन्॥ १२॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, जब तुमने प्रथमतः समुद्र से उच्चैःश्रवा के रूप में उत्पन्न होकर अथवा पशु योनि में उत्पन्न होकर हेषा शब्द किया, तब तुम्हारा माहात्म्य स्तुतियोग्य हुआ, जिस तरह से कि श्येन के पक्ष शौर्य से और हरिण की भुजाएँ वेग से स्तुतियोग्य होती हैं॥ १२॥

त्रयोदश अश्वस्तुतिरूपास्त्रिष्टुभो भार्गवेण जमदग्निना दीर्घतमसा च दृष्टाः, अश्वस्तुतौ विनियुक्ताः। हे अर्वन् अश्व, यद् यदा प्रथमं जायमानस्त्वमक्रन्दः, ह्लेषाशब्दमकार्षीः, तदा ते तव महि माहात्म्यमुपस्तुत्यमुपसङ्गम्य स्तुत्यं स्तवनीयमृषिभिर्जातम्। यच्च समुद्राद् अन्तरिक्षलोकात् पार्थिवाद्वा समुद्रात्, उत वा अपि च पुरीषाद् अन्यस्माद्वा जलसङ्घात् पशोर्वा उद्यन् उद्गच्छन् अक्रन्दः, तदा श्येनस्य पक्षा पक्षौ शीघ्रतया अजैषीः, हरिणस्य बाहू शीघ्रतया, अजैषीरिति शेषः। यद्वा अनेन क्रन्दनेन श्येनस्य पक्षौ शौर्येण हरिणस्य बाहू वेगेन, जिताविति शेषः। कीदृशस्त्वम् ? समुद्राद् अन्तरिक्षलोकाद् उदधेर्वा प्रथमं जायमानः, उत वा अथवा पुरीषात् पशोः सकाशात्, उद्यन् उत्पद्यमानः।

अध्यात्मपक्षे—हे अर्वन्! हे अश्व गतिशीलप्रजापते, यद् यदा त्वमक्रन्दः, प्रथमं जायमानः क्रन्दनं रोदनं कृतवानसि, तदा ते तव महि माहात्म्यमुपस्तुत्यं जातम्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—हे अर्वन् विद्वन्, यत् समुद्राद् अन्तरिक्षाद् उत अपि वा पुरीषात् पालकात् परमात्मनः प्रथमं जायमानो वायुरिव उद्यन् त्वमक्रन्दः शब्दं कुरुषे, तदा ते हरिणस्य बाहू श्येनस्य पक्षिणः पक्षाविव महि जातमुपस्तुत्यं भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तथानुपलब्धेः। नहि सर्वो विद्वान् अश्ववेगो भवति, न वा अन्तरिक्षात् परमेश्वराद्वा जायमानो विद्वान् दृश्यते, मातुर्योनेरेव सर्वस्योत्पत्तिदर्शनात्। न च पुरीषशब्दस्य परमात्मनि वृत्तिर्दृश्यते। न च जायमानस्य बाहू श्येनस्य पक्षाविव बलवन्तौ दृश्येते, तद्वैपरीत्यस्यैव दर्शनात्॥१२॥

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत् ।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—आठ वसुओं ने सूर्यमण्डल से अश्व को निकाला, वायु ने यम के दिये हुए इस अश्व को जोता। पहला इन्द्र इस अश्व पर चढ़ा। विश्वावसु गन्धर्व ने इस अश्व की रस्सी को ग्रहण किया ॥ १३ ॥

हे वसवः, यूयं सूराद् आदित्यमण्डलाद् अश्वं निरतष्ट निष्कृष्य कृतवन्तः, तक्षतेः करोतौ वृत्तिः, तं यमेन दत्तमेनमश्वं त्रितस्त्रिस्थानो वायुः, आयुनग् युक्तवान्, युजेर्लङि 'छन्दस्यपि दृश्यते' (पा० सू० ६।४।७३) इत्याडागमे रूपम्। इन्द्रश्च एणमेनमश्वम्, णत्वं छान्दसम्, प्रथमोऽध्यतिष्ठद् आदावधिष्ठितवान्। गन्धर्वो विश्वावसुरस्य रशनामगृभ्णाद् गृहीतवान्।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापत्यात्मनाश्वः स्तूयते। वसवोऽष्टगणदेवाः सूरात् सूर्यमण्डलाद् एनमश्वं निरतष्ट निष्कृष्य कृतवन्तः, स्थूलप्रपञ्चविग्रहस्य विराज उत्पत्तौ पृथिव्यादीनामादित्यमण्डलस्य च हेतुत्वात्। यमेन दत्तमेनं त्रितस्त्रिस्थानो वायुः सूत्रात्मा आयुनग् युक्तवान्, इन्द्रश्चैनमधिष्ठितवान्, गन्धर्वश्चास्य रशनां गृहीतवान्।

दयानन्दस्तु—'हे वसवः, य इन्द्रस्त्रितो यमेन दत्तमेनमायुनक्, एनं प्राप्य प्रथमोऽध्यतिष्ठत्, गन्धर्वः सन्नस्य रशनामगृभ्णात्, अस्मात् सूरादश्वं निरतष्ट, तं यूयं विस्तारयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनेकाध्याहारमूलकत्वात्। न चेन्द्रो विद्युत् त्रितः पृथिवी जलाकाशेभ्यो जायते, तस्या अबिन्धनत्वप्रसिद्धेः। अत एव यमेन नियमकर्त्रा वायुना दत्तं कृतमित्यपि रिक्तं वचः, यमदत्तशब्दयोरर्थाननुगमात्। न च त्वद्रीत्या वायोर्जडस्य नियमकर्तृत्वं सम्भवति, नियमानां प्रेक्षावत्कर्तृकत्वात्। न चाग्निरिह प्रकृतः। न चेन्द्र इत्यनेन दत्तपदवाच्येनार्थेनाभेदसम्बन्धः, वैयधिकरण्यात्। प्रथमेति शब्दस्य विस्तीर्णं प्रख्यातं विद्युदिति व्याख्यानं तु जडवैयाकरणकृतव्याघ्रपदव्याख्यानमनुहरति। गन्धर्वो पृथिवीधारकोऽस्य सूर्यस्य रशनानां किरणानां गतिमगृभ्णादित्यपि यत्किञ्चित्। अस्येति पदस्य सूर्यः कथमर्थः ? तस्याप्रकृतत्वात्। पृथिवीधारकश्च कः ? रशनाशब्दस्य किरणानां गतिरर्थ इत्यपि निर्मूलम्। अश्वशब्दस्य शीघ्रगामी वायुरर्थ इत्यपि स्वाभ्यूहमात्रम्, निर्मूलत्वात् ॥ १३॥

असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन ।
असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, तुम गोप्य कर्म द्वारा यम हो, सूर्य हो और इन्द्र हो। सोम के साथ तुम एकत्व को प्राप्त हुए हो। आकाश में तीन ऋक्, यजुः और साम रूप मण्डल में रहने वाला पुरुष तुम्हारे बन्धन के रूप में स्थित हैं ॥ १४ ॥

हे अर्वन् गतिशीलाश्व, त्वं यमोऽसि भवसि, आदित्यश्चासि। तथा गुह्येन गूढेन व्रतेन कर्मणा त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रोऽसि। तथा सोमेन समया मध्यतो विपृक्तः सम्पृक्तः, एकीभूत इति यावत्, असि। एताभिर्देवताभिस्तव सायुज्यं जातमित्यभिप्रायः। किञ्च, ते तव दिवि द्युलोके आदित्यात्मना स्थितस्य त्रीणि ऋग्यजुःसामलक्षणानि मण्डलान्तरपुरुषार्चींषि त्रीणि बन्धनानि स्वरूपाणि बुधा आहुर्वदन्ति। यद्वा—सोमेन समया सह विपृक्तः सम्पृक्त एकीभूतोऽसि। एवं यमादिभिः सायुज्यं गतस्य तव दिवि नभस्यादित्यरूपेण स्थितस्य त्रीणि बन्धनानि बुधा आहुः। बध्यते संश्लिष्यन्त इति बन्धनानि स्वरूपाणि, ऋगात्मकं मण्डलं यजुरात्मकः पुरुषः सामात्मकान्यर्चींषि, 'यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थम्' (श० १०।५।२।१) इत्यादिश्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—नहि सामान्योऽश्वो यमादित्यसोमादिभिरेकीभूतः सम्भवति, तस्मात् संवत्सरकालात्मक-प्रजापतिरूप एवात्राश्वः स्तूयते। स एव यमादित्यादिभिरेकीभूतो भवति। स एव ऋग्यजुःसामात्मको भवति। स एव मण्डलपुरुषार्चीरूपोऽपि भवति।

दयानन्दस्तु—'हे अर्वन्, यतस्त्वं गुह्येन व्रतेन त्रितो यम इवास्यादित्य इवासि विद्वानिवासि सोमेन समया समीपे विपृक्तोऽसि, तस्य ते दिवि त्रीणि बन्धनान्याहुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्यैव दोषत्वात्। न च मूले इवशब्दसम्पृक्ताः यमादयः सन्ति, येन यमतुल्य इत्यर्थः स्यात्। सम्पृक्ते(सम्बन्धे)नैव नैकट्यलाभे तदर्थं समयाशब्दप्रयोगस्यापार्थत्वात्। मनुष्ये कथञ्चित् त्रीणि बन्धनानि वक्तुं शक्यन्ते, न मनुष्यप्रकाशे ॥ १४ ॥

त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तःसमुद्रे।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन् यत्रा त आहुः परमं जनित्रम् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, जहाँ तुम्हारे श्रेष्ठ जनक सूर्यदेव स्थित हैं, वहीं स्वर्ग में तुम्हारे पूर्वोक्त तीन बन्धन भी विद्यमान हैं। जल में तीन बन्धन कृषि, वर्षा और बीज के रूप में हैं। अन्तरिक्ष में तीन बन्धन मेघ, बिजली और गर्जन के रूप में हैं। वरुण और तुम दोनों मेरी प्रशंसा करते हो ॥ १५ ॥

हे अर्वन्, यत्र ते परमं जनित्रं जन्म बुधा आहुरादित्यरूपेण, तत्र ते तव त्रीणि बन्धनानि ऋग्यजुः-सामलक्षणानि। अप्सु उदकेषु त्रीणि बन्धनानि कृषिर्वृष्टिर्बीजमिति। अन्तःसमुद्रे अन्तरिक्षस्य मध्ये त्रीणि बन्धनानि मेघो विद्युद् अशनिरिति बन्धनानि रूपाणि सन्ति। उतेव उतापि च वरुणो वरुणरूपस्त्वं मां छंत्सि प्रशंससि, छन्दतिरर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४।२०), अर्चनं प्रशंसनम्, कर्मणि षष्ठी।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मकत्वात् प्रजापतेरेव दिवि उदके अन्तरिक्षे च त्रीणि त्रीणि रूपाण्युपपद्यन्ते नाश्वमात्रे। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे अर्वन्, यत्र दिवि ते त्रीणि बन्धनानि विद्वांस आहुर्यत्राप्सु त्रीणि यत्रान्तर्मध्ये समुद्रे च त्रीणि बन्धनान्याहुः, ते च परमं जनित्रमाहुः, येन वरुणः सन् विदुषश्छन्त्स्युतेव तानि मे सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकाशे बन्धनासम्भवात्। प्राणे जले समुद्रे च त्रीणि कानि बन्धनानीत्यप्यस्पष्टमेव। भावार्थस्तु दूरादप्यक्षराणि न स्पृशति ॥ १५ ॥

इमा ते वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानाᳬ सनितुर्निधाना।
अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यमृतस्य या अभिरक्षन्ति गोपाः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, तुम्हारे अवमार्जन के साधन इन वैतस, कट आदि को मैं देखता हूँ। तुम्हारे खुरों के रखने से बने इन चिह्नों को मैं देखता हूँ। इस यज्ञ की रक्षा करने में तत्पर तुम्हारी इन कल्याणरूप रस्सियों को मैं देखता हूँ। ये ही रस्सियाँ यज्ञ की रक्षा करती हैं ॥ १६ ॥

हे वाजिन्, इमा इमानि ते तवावमार्जनानि, अवमार्ज्यते यैस्तानि नूतनवेतसकटप्रभृतीनि, अहमपश्यं पश्यामि। इमा इमानि शफानां खुराणां सनितुः संविभक्तुर्नियन्तुः पादवाससो निधाना निधानानि स्थानानि,

यत्र पादवासःप्रभृतीनि निधीयन्ते तानि, अपश्यं पश्यामि। अपि च, अत्र यज्ञे ते तव भद्राः स्तुत्या रशना मध्यबन्धनरज्जूरहमपश्यं पश्यामि। कीदृशीः ? गोपाः, गोपायन्तीति गोपास्ता अभिरक्षणकर्त्रीः, ऋतस्य ऋतं यज्ञमभिरक्षन्तीति, कर्मणि षष्ठी। 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति मन्त्रे दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—हे वाजिन्, प्रजापतिरूपाश्व! इमा इमानि ते तवावमार्जनानि वेतसकटादीन्यपश्यं पश्यामि। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन्, यथाहं ते तवाश्वस्य मार्जनानि इमा शफानां सनितुर्निधानान्यपश्यम्, अत्र ते तवाश्वस्य या भद्रा गोपा रशना ऋतस्याभिरक्षन्ति ता अपश्यम्, तथा त्वं पश्य' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'वाजिन् अश्व इव वेगादिगुणयुक्त सेनाधीश' इति गौणार्थाश्रयणस्य निर्मूलत्वात्। सनितू रक्षणनियमस्येति, निधानानि स्थानानीत्यपि न सङ्गतम्, तथार्थत्वस्य निर्मूलत्वात्। न चेदं सेनाश्वादिरक्षणशास्त्रम्, धर्मब्रह्मपरस्य वेदस्य तादृशार्थबोधनेऽप्रवृत्तेः॥ १६॥

आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्।
शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभिर्जेहमानं पतत्रि॥ १७॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, आकाश मार्ग द्वारा सूर्य में गिरती हुई तुम्हारी आत्मा को बहुत दूर गई हुई मैं जानता हूँ। सुगम, उपद्रवरहित देवयान मार्ग से चलने वाले तुम्हारे गतिशील सिर को मैं सूर्य के रूप में देखता हूँ॥ १७॥

एतैः पुरस्तात् प्रतिपादितैरश्वमभिष्टुत्याथेदानीं भविष्यत्कर्मणा तमभिष्टौति—हे अश्व, पशुसंस्पर्शनोत्तरं ते तव दिव्यमात्मानमहं मनसा आराद् दूरेऽजानां जानामि। जानातेर्लङ्युत्तमैकवचनम्। कीदृशमात्मानम्? अवोऽधस्तात् प्रदेशाद् दिवा नभोमार्गेण पतङ्गं सूर्यं प्रति पतयन्तमुत्पतन्तम्। 'पत गतौ वा' चुरादिरदन्तः। यद्वा दिवा दिवं प्रति पतयन्तमुत्पतन्तं पतङ्गं सूर्यरूपिणम्। किञ्च, ते शिरः सूर्यरूपमहं पश्यामि। कीदृशं शिरः? पथिभिर्नभोमार्गैर्जेहमानं गच्छत्। कीदृशैः पथिभिः? सुगेभिः सु सुखेन गम्यते येषु ते सुगास्तैः सुगमनैः। अरेणुभिः, अविद्यमानो रेणुर्येषु तैः, निरुपद्रवैरित्यर्थः। पुनः कीदृशं शिरः? पतत्रि उत्पतनशीलम्।

अध्यात्मपक्षे—तस्यैव प्रजापतिभावनया दृष्टस्याश्वमेधीयस्याश्वस्य भविष्यत्कर्मभिरभिष्टवः। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्नहं यथा मनसा दिवो दिवा पतङ्गं प्रति पतयन्तं ते पतत्रि शिरश्चात्मानमजानाम्, अरेणुभिः सुगेभिः पथिभिर्जेहमानं पतत्रि शिरोऽपश्यम्, तथा त्वं पश्य' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पश्येति ज्ञानस्य विधानासम्भवात्। यत्कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं स्यात्, तत्र क्रियायामेव विधानं सम्भवति, न तु ज्ञाने, तस्य वस्तुतन्त्रत्वेन पुरुषतन्त्रत्वायोगात्। विमानेन बहवोऽद्याधस्ताद् दिवा गच्छन्त उपलभ्यन्ते। न च स्वरूपे शिरस्तुल्यतापि सम्भवति, वैलक्षण्यात्। तथा च निरर्थकमेव तत्। सिद्धान्ते संज्ञप्तस्य पशोः कर्ममहिम्ना सूर्यं प्रति गमनं नासम्भवि॥ १७॥

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आ पदे गोः।
यदा ते मर्तो अनु भोगमानडादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः॥ १८॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, जब मनुष्य ने तुम्हें भोग समर्पित किया, उस समय तुमने अत्यन्त भक्षक बन कर औषधियों को खा लिया। इस सूर्यमण्डल में तुम्हारे उत्तम भोगरूप अन्नों को यज्ञीय सामग्री के रूप में सब ओर से देखा ॥ १८ ॥

हे अश्व, अत्रा अत्र द्युलोके ते तव रूपमुत्तममहमापश्यं समन्तात् पश्यामि। कथम्भूतं रूपम्? इषोऽन्नानि हवींषि जिगीषमाणं जेतुमिच्छत्, जयतेः सन्नन्तात् शानच्, 'सन्लिटोर्जेः' (पा० सू० ७।३।५७) इति गः। पुनः कीदृशम्? गोर्गन्तुर्मण्डलस्य पदे द्युलोके आ आस्थितम्। यद्वा 'गौर्नादित्ये बलीवर्दे' इत्यभिधानानुसारेण गौरादित्यस्तस्य पदे मण्डले ते तवोत्तमं रूपमहमापश्यं समन्तात् पश्यामि। एवं द्युलोकावस्थितस्य तवाहं रूपमपश्यम्। अथ पुनः पृथिवीस्थितस्य यदा ते तव मर्तो मनुष्यो भोगं वाहनादिकमनु आनट् अनुव्याप्नोत्, अनुव्याप्नोति, आत् इत् इति पादपूरणार्थौ, तदा ग्रसिष्ठः 'ग्रसु अदने' ग्रसितृतमः, अतिशयेन भक्षयिता, ओषधीरजीगः, गृह्णासि गिरसि वा। अन्यो वाहितश्चलितुमपि न शक्नोति, त्वं त्वतिशयेन भक्षयिता सन् ओषधीर्घासानश्नासीति वीर्यवत्तरोऽसि सर्वेभ्य इति भावः। यद्वा मर्तो मनुष्यो यदा ते भोगमनु आनट् अनुव्याप्नोति हवीरूपं भोगं समर्पयति, देवेभ्य आत् इद् अनन्तरमेव त्वमोषधीर्हवीरूपाः, अजीगो गिरसि भक्षयसि, 'गॄ निगरणे' तौदादिकः, देवरूपो भूत्वा हवीरूपा ओषधीर्गिरसि। कीदृशस्त्वम्? ग्रसिष्ठः, अत्यन्तं भक्षयिता।

अध्यात्मपक्षे—संवत्सरप्रजापतिभावनया भावितस्य प्रजापतिदेवत्यस्य अश्वमेधीयस्याश्वस्य द्युलोकावस्थितस्य मर्त्यलोकस्थितस्य च रूपमिह वर्णितम्। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे वीर, ते विजिगीषमाणमुत्तमं रूपं गोः पदेऽत्र इषश्चापश्यम्। ते मर्तो यदा भोगमानट् तदादि ग्रसिष्ठः सन् त्वमोषधीरजीगः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। आनन्तर्यं च कार्यकारणभावेन निर्धार्यते। न च मनुष्यस्य भोगव्याप्तिर्वीरस्य ग्रसिष्ठत्वे हेतुत्वमुपगच्छति, अतोऽसम्बद्धत्वाद् हेयोऽयमर्थः, इषो जिगीषमाणमिति प्रत्यक्षं श्रुतं कर्म उत्सृज्य शत्रूनिति कर्मकल्पनस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ १८ ॥

अनु॑ त्वा॒ रथो॒ अनु॒ मर्यो॑ अर्व॒न्ननु॒ गावोऽनु॒ भगः॑ क॒नीना॑म्।
अनु॒ व्राता॑स॒स्तव॑ स॒ख्यमी॑यु॒रनु॑ दे॒वा म॑मिरे वी॒र्यं॑ ते ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, रथ तुम्हारे पीछे विद्यमान है, मनुष्य और गायें भी तुम्हारे पीछे चल रही हैं, कन्याओं का सौभाग्य तुम्हारे साथ है, मनुष्यों ने तुमसे मित्रता की है और देवताओं ने भी तुम्हारी सामर्थ्य को समझा है ॥ १९ ॥

हे अर्वन् अश्व, यस्य सुकृतिनो गृहे त्वं चेष्टसे, तस्य गृहे त्वामनु रथो वर्तते, त्वामनु मर्यो मनुष्यो वर्तते, त्वामनु गावो वर्तन्ते, त्वामनु कनीनां कन्यकानां भगः सौभाग्यं वर्तते। तत्रैते सर्वे पदार्था भवन्तीत्यर्थः। किञ्च, व्रातासो व्राता मनुष्यसङ्घा अपि, व्राता इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।१४), तव सख्यं सखिभावं मैत्रीमन्वीयुः प्रापुः। किमन्यद् बहु वदामः, अनु देवा ममिरे वीर्यं ते, ते वीर्यं वीरकर्म देवा अनुममिरे अनुमितवन्तः। अचिन्त्यशक्तिस्त्वमसीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिरूपस्याश्वस्याचिन्त्यशक्तित्वेन संस्तवः। सामान्यरूपेणापि सुलक्षणोऽश्वो यत्र भवति, तत्र रथादयस्तमनुवर्तन्ते, कन्यकानां सौभाग्यं मनुष्यसङ्घानुगमनं च तत्र सम्पद्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे अर्वन् विद्वन्, ते कनीनां मध्ये वर्तमाना देवा व्रातासोऽनुवीर्यमनुममिरे तव सख्यं चान्वीयुः। त्वानु रथो त्वा नु मर्यो त्वानु गावो त्वानु भगश्च भवतु' इति, तदपि न किञ्चित्, मनुष्यस्याश्वतुल्यत्वायोगात्। नहि बलेनाश्वतुल्यमपि मनुष्यं प्रति देवा अनु वीर्यमनुमिन्वन्ति, न च विमानादयोऽपि तदनुगुणा

भवन्ति। कनीनां कमनीयानां जनानामित्यप्यनर्थः, निर्मूलत्वात्, देवपदस्य जातिविशेषपरत्वस्य भूमिकायां साधितत्वाच्च ॥ १९ ॥

हिर॑ण्यशृङ्गोऽयो॑ अस्य पादा मनो॑जवा अव॑र इन्द्र॑ आसीत्।
दे॒वा इद॑स्य हवि॒रद्य॑माय॒न् यो अर्व॑न्तं प्रथ॒मो अ॒ध्यति॑ष्ठत् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—जो मुखिया स्वर्णमय मुकुट धारण किये हुए है, जो अश्व पर आरूढ़ है, उसका पद इन्द्र से छोटा है। इस अश्व के पैर मन की तरह वेग वाले हैं। देवताओं ने स्वयं इस अश्व के भक्षणयोग्य हवि को प्राप्त किया है ॥ २० ॥

हिरण्यशृङ्गः, हिरण्यं शृङ्गस्थानीयमस्येति हिरण्यशृङ्गः, हिरण्यवत् शृङ्गं दीप्तिर्यस्येति वा हिरण्यशृङ्गः, शृङ्गाणीति ज्वलन्नामसु (निघ० १।१७।११), अयो लोहमस्याश्वस्य पादाः, अय इति सर्वेषां रजतादीनामुपलक्षणम्, पादा इत्यवयवानामुपलक्षणम्। अस्य अश्वस्य रजतादिविशिष्टा अवयवा मनोजवा मनोवेगयुक्ताः, वायुरूपेणाश्वस्यावस्थानादिति भावः। देवा इद् देवा एव देवा अपि वा, अस्याश्वस्य हविरद्यं हविर्लक्षणमदनीयमायन्नगच्छन्। अत्तुं योग्यमद्यम्, हविश्च तदद्यं चेति हविरद्यं हविर्लक्षणं भक्ष्यं प्रति आयन् अगच्छन्। यो यश्चार्वन्तं प्रथमो मुख्योऽध्यतिष्ठद् अधिष्ठितवान्, स इन्द्रो यस्मादवर आसीन्न्यूनोऽभवत्, तं वयं स्तुम इति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—अश्वोऽत्र प्रजापतिः। तत एव सर्वे देवा अस्य भोग्यत्वमुपजग्मुः। इन्द्रोऽपि तस्मादवरः। हिरण्यमस्य शृङ्गस्थानीयम्। अयो रजतादयोऽस्य पादाः पाद्यवयवाः। पादाश्च वायुवेगाः। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, योऽवरो हिरण्यशृङ्ग इन्द्र आसीद्यः प्रथमोऽर्वन्तमयश्चाध्यतिष्ठत्, अस्य पादा मनोजवाः स्युः, देवा अस्य हविरद्यमिदायन्, तं यूयमधिश्रयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशस्य सभापतेरदर्शनात्, शृङ्गतुल्यं यस्य तेजः स्यात्, लक्षणायां बीजाभावात्। नहि कस्यचिन्मनुष्यस्य पादा मनोजवा भवन्ति। विमानान्येव पादा इत्यपि निर्मूलम्, मन्त्रबाह्यत्वात् ॥ २० ॥

ई॒र्मान्ता॑सः सिलि॑कमध्यमासः सᳪं शूर॑णासो दि॒व्यासो॒ अत्याः॑।
हᳪं॒सा इ॑व श्रेणि॒शो य॑तन्ते॒ यदाक्षि॑षुर्दि॒व्यमज्म॒मश्वाः॑ ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—जब विशाल जघन और वक्षस्थल वाले, कृशोदर, अति पराक्रमी, दिव्य सूर्य के रथ में जुते हुए घोड़े श्रेणीभूत हंसों के समान तीव्र गति से चलते हैं, तब वे दिव्य गति या संग्राम को प्राप्त कराते हैं ॥ २१ ॥

आदित्यस्य रथे नियुक्तानामश्वानां रूपेणायमश्वः स्तूयते। ईर्मान्तासः, ईर्यत इति ईर्मः, 'इर क्षेपे', 'इषियुधी' (उ० १।१४५) इति बाहुलकान्मक्प्रत्ययः, ईर्मः क्षिप्तोऽन्तः शरीरप्रान्तो येषां ते ईर्मान्ताः, ईर्मान्ता एव ईर्मान्तासः, पृथुजघनोरस्काः। ते हि सत्ताप्यश्वाः समीरितान्ता विक्षिप्तप्रान्ताः। सिलिकमध्यमासः, सिलिकः संल्लग्नो मध्यमो मध्यभागो येषां ते सिलिकमध्यमासः, कृशोदरा इति यावत्। 'षिल उञ्छे' तौदादिकः, अत्र संश्लेषणे वृत्तिः, इकक्प्रत्ययः। एतेनापि प्रकारेण स्तुतिरुपपद्यते, निरुदरास्तेऽश्वा इत्यर्थः। संशूरणासः, शू शीघ्रं रणो रवो युद्धं वा येषां ते संशूरणासः। यद्वा शृणाति हिनस्ति तमोजातमिति शूरण आदित्यः, शृणातेर्डूरणस्प्रत्ययः, तेन सहिताः संशूरणाः। दिव्यासो दिवि भवा दिव्यासो दिव्याः। अत्याः सततगमनाः। अतन्ति

सततं गच्छन्तीत्यत्याः। सकृद्युक्ता ब्राह्मं सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यावद् वहन्ति। य इत्थम्भूता अश्वास्ते हंसा इव श्रेणिशो श्रेणीभूताः पङ्क्तिबद्धा रविरथस्था एकया रीत्या यतन्ते गमनाय सम्यक् प्रयत्नं कुर्वन्ति। कदा ? यदा यस्मिन् काले दिव्यं दिवि भवम्, अज्मं गमनं संग्रामं वा आक्षिषुर्व्याप्नुवन्ति, 'अक्षू व्याप्तौ' भौवादिकः, लुङि रूपम्। हंसा यथा पङ्क्तिबद्धा गमनाय यतन्ते, तथा अश्वा अपीत्यर्थः। यद्वा यद् यदा अश्वाः सप्त रविरथस्थाः श्रेणीभूता हंसा इव संयतन्ते सम्यक् प्रयत्नं कुर्वन्ति, तदा दिव्यं दिवि भवमज्मं गमनं संग्रामं वा आक्षिषुर्व्याप्नुवन्तीति सम्बन्धः। कीदृशा अश्वाः ? ईर्मान्तास इति पूर्ववत्। अश्वत्वात् प्राजापत्योऽश्वमेधीयोऽश्व एव तेनापि स्तूयते।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतेः सर्वात्मत्वात् सूर्यरथस्था दिव्या अश्वा अपि स एवेति स्तूयते। एवं सूर्यरथस्थाश्वदृष्टया दृष्टोऽश्वोऽश्वमेधीयः संस्कृतो भवति। आदित्यदृष्टया दृष्टयूपवत्, 'आदित्यो यूपः' (तै० ब्रा० २।१।५।२) इति श्रुतेः। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यद् येऽग्न्यादय इव ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः शूरणासो दिव्यासो अत्या अश्वाः श्रेणिशो हंसा इव यतन्ते, दिव्यमज्मं समाक्षिषुस्तान् यूयं प्राप्नुत' इति, तदपि न सङ्गतम्, निर्मूलाध्याहारमूलकत्वात्। अग्न्यादयः पदार्था इवेत्यंशोऽपि निर्मूलः, मन्त्रबाह्यत्वात्। दिव्याः प्राप्तदिव्यशिक्षा इत्यपि निर्मूलम्, मूले शिक्षापदाभावात्॥ २१॥

तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन् तव चित्तं वात इव ध्रजीमान्।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति॥ २२॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व, तुम्हारा शरीर पतनशील है, तुम्हारा चित्त वायु के समान गतिमान् है, तुम्हारे साथ सायुज्य को प्राप्त करने वाली नाना प्रकार की विकसित दीप्तियाँ वनों में दावाग्नि के रूप में फैलती हैं॥ २२॥

हे अर्वन् अश्व, तव शरीरं पतयिष्णु उत्पतनशीलम्, तव चित्तं वात इव ध्रजीमान्, 'ध्रज गतौ' भौवादिकः, तस्माद् ईः प्रत्ययो बाहुलकात्। ध्रजीः गतिः, मतुपि ध्रजीमानिति, वायुतुल्यवेगवत्, सूक्ष्मानर्थान् प्रति गच्छतीति यावत्। तव शृङ्गाणि दीप्तयः, शृङ्गाणीति ज्वलन्नामसु (निघ० १।१७।११)। अर्चींषि पुरुत्रा बहुधा विद्युच्चन्द्रार्काग्न्यादिषु विष्ठिता विविधं स्थितानि। अरण्येषु वनेषु जर्भुराणा जर्भुराणानि देदीप्यमानानि, 'जृभी गात्रविनामे', दावाग्निरूपेण प्रसरन्ति।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिरूपोऽश्वोऽग्निरूपोऽपि—'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥' (कू० पु० १।४।३८ तथा ब्रह्मा० पु० १।३।२४-२५), 'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्' (म० स्मृ० १२।१२३) इति वचनाभ्याम्। तत एवाश्वमेधीयोऽपि प्रजापतित्वादेवाग्न्यात्मना स्तूयते। तस्य शरीरं सूत्रात्मकत्वाद् वायुरूपमुत्पतनशीलम्। तस्य सूक्ष्मशरीरात्मकं मनो हिरण्यगर्भरूपसूक्ष्मार्थवेदि भवति। अग्न्यात्मना च तस्य शृङ्गाण्यर्चींषि पुरुत्रा विष्ठितानि। अरण्येषु दावाग्निरूपेण देदीप्यमानानि सन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे अर्वन् वीर, यस्य तव पतयिष्णु शरीरं तव चित्तं वात इव ध्रजीमान् वेगवान् तव पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा विष्ठितानि शृङ्गाणि चरन्ति, स त्वं धर्मं चर' इति, तदप्यसङ्गतम्, वीरस्य पशुनाम्ना सम्बोधनासङ्गतेः। पतयिष्णु पतनशीलं नाशवानिति व्याख्यानमपव्याख्यानम्, युद्धादिप्रसङ्गे नाशवत्त्ववर्णनस्या-

मङ्गलत्वात्। युद्धसमये—'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्' (भ० गी० ११।३२) इति भावनाया एवादरणीयत्वात्। शृङ्गाणीव सेनाङ्गानीत्यपि निर्मूलम्, सेनाप्रसङ्गस्याभावात्॥ २२॥

उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा दीध्यानः।
अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात् कवयो यन्ति रेभाः॥ २३॥

मन्त्रार्थ—गमनशील देवार्पित होने की इच्छा से दीप्यमान अश्व गमन-स्थान पर प्राप्त हुआ है। इस अश्व के आगे जो नाभि है, उसमें अज को स्थापित किया जाता है। उसके पीछे स्तुति करने वाले ऋत्विक्गण चलते हैं॥ २३॥

अर्वा अश्वः शासनं विशसनस्थानम् उपप्रागाद् आगतः। कीदृशोऽश्वः ? वाजी, वजतीति वाजी, 'वज गतौ' भौवादिकः, गमनशीलः, अन्नवान् वा। देवद्रीचा देवान् प्रत्यञ्चतीति देवद्र्यचङ्, तेन देवद्रीचा 'विष्वग्-देवयोश्च टेरद्र्यचञ्चतौ वप्रत्यये' (पा० सू० ६।३।९२) इति देवशब्दस्य टेरञ्चतौ परेऽद्र्यादेशः। मनसा दीध्यानः, दीधीत इति दीध्यानो ध्यायन्, हिरण्यगर्भपदं चिन्तयन्। 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' आदादिकः, शानच्प्रत्ययः। देवान् प्रति गतेन मनसा दीप्यमानः। किञ्च अस्याश्वस्य पुरोऽग्रेऽजो नीयते स्थाप्यते, 'कृष्णग्रीवमाग्नेयं रराटे पुरस्तात्' (श० १३।२।२।३) इति श्रुतेः। अस्य नाभिः, अजो नाभौ स्थाप्यते, 'सौमापौष्णं श्यामं नाभ्याम्' (श० १३।२।२।६) इति श्रुतेश्च। अस्य पश्चात् कवय ऋत्विजोऽनुयन्त्यनुलग्ना गच्छन्ति। कथम्भूताः कवयः ? रेभाः, रेभन्त इति रेभाः, 'रेभृ शब्दे' भौवादिकः, स्तोतार इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—प्राजापत्योऽश्वः प्रजापतिर्यथा सर्वेषु देवेषु प्रधानभूतः, तथैवाश्वोऽपि सर्वेषु पशुषु प्रधान-भूतः। अन्ये सर्वे पशवोऽस्याङ्गभूता एव। तत एवाश्वमेधे आग्नेयोऽजोऽस्य पुरतो नीयते, नाभौ च स्थाप्यते, ऋत्विजश्चानुलग्नास्तं स्तुवन्ति। एवं महामहिमवैभवोऽश्वमेधीयोऽश्व इति। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'यो दीध्यानो वाज्यर्वा मनसा शसनं युद्धमुपप्रागात्, विद्वद्भिरस्य नाभिः पुरो नीयते, तं पश्चाद् रेभाः कवयोऽनुयन्ति' इति, तदप्यसङ्गतम्, युद्धप्रसङ्गस्य निर्मूलत्वात्। युद्धं प्रति गमने कथमश्वस्य मनो देवान् प्रत्यञ्चति ? तस्य पशुत्वेन तादृशज्ञानाभावात्। अजः क्षेपणशील इत्यप्यसङ्गतम्। नाभिपदेन पृष्ठप्रदेशग्रहणमपि बलात्कार एव। नहि मेधाविनोऽश्वमनुगच्छन्ति, निरर्थकत्वात्। सिद्धान्ते तु प्राजापत्यस्या-श्वस्य तत्सर्वं सङ्गच्छते॥ २३॥

उप प्रागात् परमं यत्सधस्थमर्वाँ२॥ अच्छा पितरं मातरं च।
अद्या देवान् जुष्टतमो हि गम्या अथाशास्ते दाशुषे वार्याणि॥ २४॥

मन्त्रार्थ—जिस कारण से अश्व पृथ्वी और स्वर्ग के समीप सहस्थान देवलोक में प्राप्त हुआ, हे यजमान ! अब परमप्रिय देवताओं को तुम भी उन्हीं कारणों से प्राप्त करो। ऐसा होने के बाद ही देवत्व को प्राप्त हुए हवि के दाता यजमान के निमित्त देवता वरणीय भोग्य वस्तुएँ प्रदान करते हैं॥ २४॥

एवमश्वमभिष्टुत्य यजमानं कृतकृत्यतया सम्बोधयन्नाह—उपेति। यद् यस्मात् परममुत्कृष्टं सधस्थं देवमनुष्याणां सहस्थानमर्वान् अश्व उपप्रागात् प्राप्तवान्, नलोपाभावश्छान्दसः। अच्छा आभिमुख्येन पितरं मातरं च द्यावापृथिव्यौ अभ्यागात्। तस्माद् ब्रवीमि हे यजमान, जुष्टतमः प्रीततमः सन् अद्या अद्य कृतकृत्यः सन् देवान्

गम्या गच्छेः। गमेराशीर्लिङि मध्यमैकवचने रूपम्। अथैवं देवभावं गताय दाशुषे हविर्दत्तवते तुभ्यं वार्याणि वरणीयानि भोग्यवस्तूनि नूनमाशास्ते। अश्वो देवगणो वा।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिदृष्ट्या दृष्टः सन्नर्वा सर्वात्मभावं गच्छति। मातरं पितरं च द्यावापृथिव्या अभिगच्छति। तथैवाश्वमेधयाजी यजमानोऽपि देवभावं गच्छति। एवमुपासनासमुच्चितेन कर्मणा विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यद्योऽर्वान् ज्ञानी जनो जुष्टतमः सन् परमं सधस्थं पितरं मातरं देवांश्च आशास्तेऽथ दाशुषे वार्याण्युपप्रागात्, तं हि त्वमच्छ गम्याः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ज्ञानिजनस्य पूर्णकामत्वेन परमं सधस्थं पितरं मातरं प्रत्याशास्तेऽधिकमिच्छतीत्यसङ्गतेः। कश्च दाशुषे वार्याण्युपप्रागात्, यं त्वमच्छ गम्या इत्यनुक्तेश्च॥ २४॥

समि॑द्धो अ॒द्य मनु॑षो दुरो॒णे दे॒वो दे॒वान् य॑जसि जातवेदः।
आ च॒ वह॑ मित्रमहश्चिकि॒त्वान् त्वं दू॒तः क॒विर॑सि प्रचे॑ताः॥ २५॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान से पूजित सर्वज्ञ अग्निदेव, दान आदि दीप्त गुणों से युक्त होकर आप यजमान के यज्ञगृह में अन्य देवताओं के साथ आइये, क्योंकि आप ही यजन करने में समर्थ हैं, आप ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप वेदवक्ता प्रकृष्ट चैतन्य चित्त से युक्त हैं॥ २५॥

द्वादश आप्रीसंज्ञास्त्रिष्टुभो जमदग्निदृष्टाः। समित्तनूनपादादयो देवताः। हे जातवेदः, जातप्रज्ञान! यस्त्वमद्य अस्मिन् यजनीयेऽहनि मनुषो मनुष्यस्य यजमानस्य दुरोणे यज्ञगृहे समिद्धः सन्दीप्तो देवो दानादिगुणको देवान् दानादियुक्तान् इन्द्रादीन् यजति, तं त्वां प्रार्थये—हे मित्रमहः, मित्रान् यजमानान् महति फलदानादिनेति मित्रमहाः, तत्सम्बुद्धौ, देवान् आवह यज च। यस्त्वं चिकित्वान् चेतनावान् प्रेक्षापूर्वकारी, दूतः कविः क्रान्तदर्शी, प्रचेतः प्रकृष्टं चेतो ज्ञानं यस्य सः, अतो ब्रवीमि त्वं देवानावह यज च।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदः, जाताः प्रादुर्भूता वेदा यस्मात् स जातवेदाः, तत्सम्बुद्धौ। मनुषो मनुष्यस्य यजमानस्य दुरोणे यज्ञगृहे आहवनीयादिरूपेण समिद्धो देवः स्वयं प्राज्ञो देवान् इन्द्रादीन् यजसि देवयजनहेतुतामुपगच्छसि। हे मित्रमहो मित्रपूजयितः, त्वं देवान् आवह यज च, देवागमनयजनादीनां त्वदायत्तत्वात्। सौभाग्यमेतद् यत्त्वमस्माकं यज्ञे वर्तेथाः। त्वं देवानां दूतः, कविः क्रान्तदर्शनः, प्रचेताः प्रकृष्टज्ञानश्चासि। अतस्त्वां प्रार्थये देवान् आवह यज च।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदो मित्रमहो विद्वन्, त्वमत्र समिद्धोऽग्निरिव मनुषो देवः सन् यजसि। चिकित्वान् दूतो यो दुनोति दुष्टान् तापयति सः। प्रचेताः कविः, दुरोणेऽसि, स त्वं देवांश्चावह' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सङ्गतिसामान्यस्य संसारे स्वतः प्राप्तत्वात्, सङ्गतिविशेषस्य चानुक्तेः। न च मन्त्रे इवशब्दोऽस्ति। मन्त्रोक्तविशेषणानि दिव्यगुणानामेव बोधकानि। न च तादृशगुणेभ्योऽन्ये विशिष्टा गुणाः सम्भवन्ति, येषां प्राप्तिरिष्येत॥ २५॥

तनू॑नपात् प॒थ ऋ॒तस्य॒ याना॒न्मध्वा॑ सम॒ञ्जन् स्व॑दया सुजिह्व।
मन्मा॑नि धी॒भिरु॒त य॒ज्ञमृ॒न्धन् दे॑व॒त्रा च॑ कृणुह्यध्व॒रं नः॥ २६॥

मन्त्रार्थ—हे जल देवता के पौत्र, श्रेष्ठ जिह्वा वाले अग्निदेव ! ब्रह्मप्राप्ति के साधनस्वरूप मार्गों को मधुर रस से सींचते हुए आप हवियों का भक्षण कीजिये। हमारी बुद्धि और ज्ञान के साथ यज्ञ को समृद्ध करते हुए हमारी आहुतियों को देवताओं तक पहुँचाइये ॥ २६ ॥

तनूनपात्, तन्यन्ते कर्माण्याभिरिति तन्वः, 'कृषिचमितनि' (उ० १।८०) इत्यूः, आपस्तनूनां नपात् पौत्रः, आज्यमग्निर्वा। अद्भ्यो वृक्षा जायन्ते, तेभ्योऽग्निरित्यपां पौत्रत्वमग्नेः। तथैव तनूनां गवां सकाशात् पयो जायते, तत आज्यमिति तनूनपादाज्यम्, हे तनूनपादग्ने आज्य वा। हे सुजिह्व, शोभना कल्याणरूपा जिह्वा यस्यासौ सुजिह्वस्तत्संबुद्धौ, अग्नेर्जिह्वा नानादेवत्यानि हवींष्यभ्यवहरति, न किञ्चनोच्छेषयति, तस्मात् कल्याण-रूपा सा। ऋतस्य यज्ञस्य यानान् गमनान् पथो हवींषि, हविर्भिर्हि यज्ञो याति प्रवर्तते, अतो यज्ञमार्गशब्देन हवींष्युच्यन्ते। यायन्ते यैर्येषु वा ते यानाः, 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३।३।११७) इति ल्युट्। मध्वा मधुररसेन समञ्जन् म्रक्षयन् स्वदया स्वदय। 'ऋचि तुनुघमक्षुतङकुत्रोरुष्याणाम्' (पा० सू० ६।३।१३३) इति दीर्घः। देवेभ्यो रोचयेत्यर्थः। किञ्च, नोऽस्माकमध्वरं यज्ञं देवत्रा कृणुहि देवान् गमय। करोतिरत्र गत्यर्थः। कथमिति चेत्तत्राह—धीभिर्बुद्धिभिः सहितानि मन्मानि मननानि ज्ञानानि, उतापि च यज्ञमृन्धन् समर्धयन्नस्माकं ज्ञानं वर्धयन्, यज्ञं देवलोकं गमय।

अध्यात्मपक्षे—हे तनूनपात्, सर्वात्मकत्वात् तनूनपात्, सुजिह्वरूपेणापि परमेश्वर एव सम्बोध्यते। स एव नानादेवत्यानि हवींषि भक्षयन्नपि नोच्छिष्टानि करोति। तादृशस्त्वमृतस्य यानान् पथो हवींषि स्वदय देवेभ्यः। स त्वं मध्वा हवींषि संम्रक्षयति संम्रक्षयसि। यज्ञं ज्ञानं च स एव समर्धयति, विश्वसृष्टिहेतुत्वात्।

दयानन्दस्तु—'सुजिह्व तनूनपात्, यस्तनूर्विस्तृतानपि पदार्थान् न पातयति, त्वं ऋतस्य यानान् पथोऽग्नि-रिव मध्वा समञ्जन् स्वदय धीभिर्मन्मानि मानानि उत नोऽध्वरं यज्ञं सङ्गमनीयं व्यवहारं धनं देवत्रा च कृणुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तनूनपाच्छब्देन विदुषः सम्बोधने मानाभावात्। न च तादृशी व्युत्पत्तिरेव तन्मान-मिति वाच्यम्, विस्तृतपदार्थानां धारणे पातनेऽल्पशक्तीनां जीवानामनधिकारात्। नह्यंशं कालं वा जीवः पातयति धारयति वा। न वा सत्यस्य जलस्य मार्गानग्निरपि स्वदयति, कुतस्तद्दृष्टान्तेनान्योऽपि विद्वान् स्वदयितुं प्रभवति। किञ्च, सत्यस्य मार्गः कः ? जलस्य वा को मार्गोऽत्र विवक्षित इत्यनुक्तेश्च। कथं च समञ्जनं तस्य ? मन्मपदेन यानग्रहणमपि निर्मूलमेव, धात्वर्थविरोधात् ॥ २६ ॥

न॒रा॒श॑ꣳसस्य महि॒मान॑मेषा॒मुप॑स्तोषाम यज॒तस्य॑ य॒ज्ञैः ।
ये सु॒क्रत॑वः॒ शुच॑यो धिय॒न्धाः स्वद॑न्ति दे॒वा उ॒भया॑नि ह॒व्या ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—सभी यज्ञों में पूजनीय, भक्तों के द्वारा स्तुतियों से प्रसन्न किये गये अग्निदेव की महिमा को हम इन सभी देवताओं के बीच में गाते हैं। शुभ कर्म के कर्ता, शुद्ध ज्ञान से सम्पन्न ये सब देवता हमारी दी हुई अधिदैव और अध्यात्म दोनों प्रकार की हवियों को ग्रहण करते हैं ॥ २७ ॥

नराशंसस्य नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्तीति नराशंसो यज्ञः, यद्वा नरा आशंसन्ति यं स नराशंसोऽग्निः प्रजापतिर्वा, नरैः प्रशस्यो भवति। तस्य प्रजापतेरग्नेर्यज्ञस्य वा महिमानं महाभाग्यमेषां देवानां मध्ये वयमुप-स्तोषाम उपस्तुमः। स्तौतेर्लेटि उत्तमैकवचने 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिपि रूपम्। कथम्भूतस्य नराशंसस्य ? यज्ञैर्यजतस्य यज्ञैराहुतिभिर्यष्टव्यस्य। यजेरतच्प्रत्ययः 'भृमृदृशियजि' (उ० ३।११०)

इत्यादिनेति ज्ञातव्यम् । केषां देवानां मध्ये उपस्तोषामेति तत्राह—ये देवाः सुक्रतव इति । ये देवाः सुक्रतवः सुष्ठु शोभनः क्रतुः कर्म येषां ते । शुचयः शुद्धा निष्पापा अणिमाद्यैश्वर्ययुक्ताः । धियन्धाः, धियं बुद्धिं कर्म वा दधतीति तथोक्ताः । अलुगार्षः । ये च देवा उभयानि हव्यानि सोममितराणि च भक्षयन्ति ।

अध्यात्मपक्षे—नराशंसस्य सर्वैर्जीवैः संस्तुतस्य परमेश्वरस्य महिमानं महाभाग्यं वयमेषां देवानां मध्ये उपस्तोषाम उपस्तुमः । कथम्भूतस्य ? यज्ञैरग्निष्टोमादिभिर्यजतस्य यष्टव्यस्य । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धरा देवा उभयानि हव्या स्वदन्ति, एषां यज्ञैर्नराशंसस्य यजतस्य व्यवहारस्य महिमानमुपस्तोषाम, तथा यूयमपि कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्पष्टत्वात् । स्वदन्ति यज्ञैः सङ्गादिलक्षणैर्नराशंसस्य नरैः प्रशंसितस्य यजतस्य सङ्गन्तुं योग्यस्य व्यवहारस्य महिमानं प्रशंसेमेत्यप्यसङ्गतम्, असम्बन्धात् ॥ २७ ॥

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चायाह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! देवताओं का आह्वान करने वाले स्तुतियोग्य नमनीय वसु देवताओं के साथ प्रीति करने वाले आप हमारे इस यज्ञ में आइये । हे महान् शक्तिसम्पन्न अग्निदेव, आप देवताओं का आह्वान करते हैं । वह अभीष्ट यजमान आप सब देवताओं को यज्ञ के अनुष्ठान के द्वारा तृप्त करे ॥ २८ ॥

हे अग्ने, यस्त्वमाजुह्वान आहूयमानः सन् ईड्यः स्तुत्यो वन्द्यो नमनीयश्चासि भवसि, स त्वं याहि आयाहि । यद्वा आह्वयते देवानित्याजुह्वानः, ह्वयतेः शपः श्लुः, 'अभ्यस्तस्य च' (पा० सू० ६।१।३३) इति सम्प्रसारणे शानचि रूपम् । यश्च त्वं वसुभिः सजोषाः समानप्रीतिः । किञ्च, हे यह्व हे महन्, 'महागुणविशिष्टो यह्वः' इति भट्टभास्करः, यह्व इति महन्नामसु (निघ० ३।३।१३), यजतीति यह्वः, 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वमीवाः' (उ० १।१५४) इति वन्प्रत्ययः, जकारस्य हकारश्च निपात्यते । 'यसु प्रयत्ने' इत्यस्मात् क्वन् इति भोजदेवः । यस्यति प्रयतते शत्रुजयादाविति यह्वः । 'यह्व इति महतो नामधेयं यातश्च हूतश्च भवति' (निरु० ८।८) इति यास्कः । 'यातश्चासावाहूतश्चार्थिभिः, हूतश्चासौ शरणार्थिभिर्द्विधातुजत्वं दर्शितम्' इति स्कन्दस्वामी । यश्च त्वं देवानां होतासि स एतान् देवानाहूय यक्षि यज । कीदृशस्त्वम् ? इषितः प्रेषितः, सत्कृत्य व्यापारितो वा । यजीयान् यजतीति यष्टा, अतिशयेन यष्टा यजीयान्, ईयसुनि 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं याहि आयाहि आगच्छ । कीदृशस्त्वम् ? आजुह्वानः, भक्तैराहूयमानः, ईड्यः सर्वैः सुरासुरैः स्तुत्यः, वन्द्यो नमनीयश्च । वसुभिर्भीष्माद्यैः सजोषाः सहप्रीतिः । किञ्च, यह्व महन्, यस्त्वं देवानां होता आह्वाता श्रीरामश्रीकृष्णादिरूपेण यजनाय देवानामाह्वानकर्ता, इषितः सर्वैरभीष्टो यजीयान् रामादिरूपेण यष्टृतम आगच्छेति ।

दयानन्दस्तु—'हे यह्वाग्ने, यस्त्वं देवानां होता यजीयानसि, इषितः सन्नेनान् यक्षि, स त्वं वसुभिः सह सजोषा आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चैतानायाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, पावकवत् पवित्र विद्वन्निति मुख्यार्थत्यागस्य गौणार्थस्वीकरणस्य च निर्मूलत्वात् । न च स्पर्धा प्रशंसाहेतुः, न चेड्यत्ववन्द्यत्वादिभिर्मनुष्यस्य कश्चित् पुरुषार्थः सिद्धयति ॥ २८ ॥

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम् ।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ।। २९ ।।

मन्त्रार्थ—अतिश्रेष्ठ देवताओं को और अदिति को सब प्रकार का सुख देने वाली कुशाओं को हम प्रातःकाल पूर्व दिशा के अभिमुख बिछाकर वेदी का श्रुतिवाक्यों के उच्चारण द्वारा आच्छादन करते हैं ।। २९ ।।

प्राचीनं बर्हिः प्रागग्रं दर्भसमूहः, अह्नां दिवसानामग्रे पूर्वाह्णे वृज्यत आस्तीर्यते, यागे पूर्वाह्णकालस्य प्रशस्तत्वात् । ननु किमेतत् स्वमनीषयेति चेन्नेत्याह—प्रदिशेति । प्रदिक्शब्देनात्र श्रुतिवाक्यमभिधीयते, 'प्रदिशा प्रागग्रं बर्हि स्तृणाति' इति श्रुतेः[1] । किमर्थम् ? अस्याः पृथिव्या वेदेर्वस्तोर्वसनाय छादनाय । तद्बर्हिर्वृज्यमानं सद् वि उ प्रथते विविधं विस्तीर्णं भवति, विविधं वा आच्छादयति । उकारः पादपूरणः । कीदृशं बर्हिः ? वितरं वरीयः, अत्यन्तं वि विशिष्टमिति वितरम्, अत्यन्तमुरु इति वरीयः, उरुतरम्, 'प्रस्थस्फ' (पा० सू० ६।४।१५७) इत्यादिना उरोर्वरादेशः । देवेभ्योऽदितये च स्योनं सुखकरम् ।

अध्यात्मपक्षे—प्राचीनं पुराणं बर्हिराकाशं परं ब्रह्म प्रदिशः प्रकृष्टया दिशा गुरूपदेशेन पृथिव्याः पृथिव्युपलक्षितस्य सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य वस्तोर्वस्तुमाच्छादयितुमह्नामग्रे प्रातःकाले वृज्यतेऽध्यारोपापवादेन तत्त्वसाक्षात्कारेणातदंशो व्यावर्त्यते, 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' (ई० उ० १), 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चते' इत्याद्युक्तेः । वृज्यमानं बर्हिर्ब्रह्म वि उ प्रथते विविधं प्रथते आच्छादयति, रज्जुसाक्षात्कारेण सर्प इव ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण प्रपञ्चमाच्छादयति, चन्दनागर्वादिभिरिव निघर्षणजेन सौगन्ध्येन मृत्तृणजलादिक्लेदादिजनितदौर्गन्ध्यमिवापनोद्यते । तच्च बर्हिर्वितरमतितरां वरीयो वरतरं देवेभ्य इन्द्रियेभ्योऽदितये तेषां मातृभूतायै शक्त्यै स्योनं सुखकरम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यदस्याः पृथिव्या मध्ये प्राचीनं बर्हिर्वस्तोर्वृज्यतेऽह्नामग्रे देवेभ्य उ अदितये वितरं वरीयः स्योनं विप्रथते, तद् यूयं प्रदिशा विजानीत प्राप्नुत च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ब्रह्मणः सर्वव्यापित्वे पृथिव्या इति विशेषोक्तेरस्वारस्यात्, व्यापकं ब्रह्म दिवसस्य प्रकाशेन वृज्यते व्यज्यत इत्यसङ्गतेश्च । देवेभ्योऽदितये वरीयः स्योनं सुखं यद् ब्रह्म विप्रथते, तद् यूयं प्रदिशा विजानीतेत्यपि यत्किञ्चित्, तथात्वे सर्वस्यानायासेन मुक्तिसिद्धौ प्रयासवैयर्थ्यापत्तेः । वितरं विशेषेण दुःखेभ्यस्तारकमित्यपि यत्किञ्चित्, तादृशेऽर्थे शब्दस्यासङ्गतेः ।। २९ ।।

व्यचस्वतीरुर्विया विश्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ।। ३० ।।

मन्त्रार्थ—अतिविस्तीर्ण अवकाश वाली द्वाराभिमानिनी देवियाँ यहाँ वैसे ही विस्तार से उपस्थित रहें, जैसे कि स्त्रियाँ अपने पति के लिये उपस्थित रहती हैं । विशाल विश्व के गमनस्थान में शोभायमान हे द्वारदेवियों, आप सब यज्ञीय देवताओं के निमित्त सुगमता से यहाँ उपस्थित रहें ।। ३० ।।

द्वारो देवीर्देव्यो व्यचस्वतीर्व्यञ्जनवत्यो गमनवत्यः, उर्विया उरुत्वेन 'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्' (पा० सू० ७।१।३९, वा० १) इत्युरुशब्दात् तृतीयैकवचनस्य इया । विश्रयन्तां विवृता भवन्तु । कथमिव ?

---

१. नेयं श्रुतिः, कस्यचित् सूत्रस्य वचनं सम्भाव्यते ।

पतिभ्यो जनयो न जनय इव। यथा जनयो जाया मैथुन्यधर्मेण शुम्भमानाः शोभमाना आत्मानं शोभयन्त्यः पत्यर्थमूरू विश्रयन्ति विवृतौ कुर्वन्ति। एवं परोक्षेणोक्त्वा प्रत्यक्षमाह – हे द्वारो देवीर्देव्यो यूयं देवेभ्यो देवार्थं सुप्रायणाः सुप्रगमना भवत। कीदृश्यो द्वारः? बृहतीर्बृहत्यो महत्यः। विश्वमिन्वा विश्वमेति गच्छति यासु ताः। एतेर्न्वक्प्रत्ययः, अलुक्समासः। उर्विया इति द्वारविशेषणं वा। उरवो विशालाः। उक्तेन वार्त्तिकेण विभक्तेर्डियाजादेशः। चित्वादन्तोदात्तः। अत्रैकवाक्यतायै परोक्षकृतोऽर्धर्चस्य विपरिणामः।

अध्यात्मपक्षे—द्वारो भगवत्प्राप्तिद्वारः सत्सङ्गादयः, देवीर्देव्यो व्यचस्वतीर्व्यचस्वत्यो गमनागमनवत्य उर्विया उरुत्वेन विवृता भवन्तु। कथमिव? पतिभ्यो जनयो न जाया इव। यथा जाया विश्रयन्ति पतिभ्यः स्वात्मानमुद्घाटयन्ति, तद्वत्। द्वारो देव्यो बृहत्यो विश्वमिन्वा देवेभ्यो देवभावमुपजिगमिषुभ्यः सुप्रायणाः सुगमना भवन्ति॥ ३०॥

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—परस्पर हँसती हुई, भली प्रकार से शयन करती हुई, परस्पर एक दूसरे के साथ चलती हुई, यजनयोग्य दिव्य स्त्रियों के साथ सुन्दर आभूषण अथवा ज्योति से युक्त, नाना प्रकार की शोभा को धारण करने वाली दिन-रात्रि रूप देवियाँ इस यज्ञगृह में भली प्रकार बैठें॥ ३१॥

उषासानक्ता उषाश्च नक्तं चेति उषासानक्ता, प्रथमाद्विवचनस्य डादेशः, अहोरात्रे देवते योनौ यज्ञगृहे आनिसदतां समन्तात् सम्यगुपविशताम्। कथम्भूते? सुष्वयन्ती स्मयतेः स्वपतेर्वा सुपूर्वस्य रूपम्। प्रथमपक्षे मकारस्य वकारः, द्वितीयपक्षे पकारस्य यकारश्छान्दसः। परस्परं हसन्त्यौ साधु स्वपन्त्यौ वा यजते यजनीये उपाके उप समीपमकतो गच्छत इत्युपाके परस्परं समीपस्थिते यज्ञगृहे दिव्ये दिवि भवे योषणे योषे प्रीतिमत्यौ वा, बृहती बृहत्यौ महत्यौ सुरुक्मे सुरोचने सु शोभनं रुक्मं ययोस्ते रुक्माभरणयुक्ते वा, शुक्रपिशं शुक्रं शुक्लं च पिशं कपिशं चानयोः समाहारः शुक्रपिशं शुक्लां कपिशां च श्रियं शोभामभिदधाने। शुक्लमहः, कपिशा रात्रिश्च। तादृशीं शोभामधिदधाने अधिकं धारयन्त्यौ, उपविशतामिति।

अध्यात्मपक्षे—उषासानक्ता अहोरात्ररूपे विद्याविद्ये कर्मोपासनारूपे वा योनौ योनिरूपायां त्रिकोणायां सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थायां प्रकृतौ, आनिसदतां सम्यग् उपविशताम्। कीदृश्यौ ते? सुष्वयन्ती परस्परं हसन्त्यौ साधु स्वपन्त्यौ वा, यजते यजनीये, उपाके परस्परं समीपस्थिते, दिव्ये दिवि भवे, योषणे योषे स्त्रीरूपिण्यौ परस्परं प्रीतिमत्यौ वा, 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' जकारस्य यकारश्छान्दसः, बृहती बृहत्यौ, शुक्रपिशौ शुक्लां कपिशां च श्रियं शोभामभिदधाने, 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥' (वा० सं० ४०।१४) इति मन्त्रवर्णात्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यदि दिव्ये योषणे इव सुरुक्मे बृहती अधिश्रियं शुक्रपिशं च दधाने सुष्वयन्ती उपाके उषासानक्ता योनौ न्यासदताम्, ते भवान् यजते, तर्ह्यतुलां श्रियमाप्नुयात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दिनरात्र्योः परस्परविरुद्धत्वेन सङ्गतेरयोगात्, कथञ्चित् सङ्गतेः स्वतः सिद्धत्वात्, पुरुषतन्त्रत्वाभावेन विनियोगायोगात्। तर्ह्यतुलां श्रियमवाप्नुयादित्यादिकं निर्मूलमेव, मन्त्रबाह्यत्वात्॥ ३१॥

**दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै ।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥ ३२ ॥**

मन्त्रार्थ—आद्य वेदवक्ता स्वयं कर्ता जो दिव्य दो होता हैं, वे इस यज्ञ में पूर्व दिशा में स्थित आहवनीय अग्नि को श्रुति वाक्यों का श्रवण कराते हुए, मनुष्यों के यज्ञों को परिपूर्ण करते हुए यज्ञीय कर्म के लिये प्रेरणा देते रहते हैं ॥ ३२ ॥

दैव्यौ देवसम्बन्धिनौ होतारा आह्वातारौ, अयं चाग्निरसौ च मध्यमो वायुः, तौ प्रथमौ आद्यौ सुवाचा सु शोभना वाग् ययोस्ते शोभनवाग्विषयौ वा, आसाते इति शेषः । यद्वा तावस्मदीयमभीष्टम्, प्रसाधयेथामिति शेषः । कीदृशौ तौ ? मनुषो मनुष्यस्य यजध्यै यष्टुं यज्ञं कर्तुं मिमाना यज्ञं निर्मिमाणौ, 'तुमर्थे सेसेन' (पा० सू० ३।४।९) इत्यादिना शध्यैप्रत्ययः । विदथेषु यज्ञेषु, अन्यान् ऋत्विजः प्रचोदयन्ता प्रचोदयन्तौ प्रेरयन्तौ । स्वयं च कारू कुरुतस्तौ कारू स्वयं कर्तारौ, 'उणादयो बहुलम्' इत्युण् । प्राचीनं प्राच्यां पूर्वस्यां दिशि भवं प्राचीनमाहवनीयाख्यं ज्योतिर्यष्टव्यमिति प्रदिशा अभिनयेन श्रुतिवाक्येन वा दिशन्तौ कथयन्तौ । सर्वत्र विभक्तेराकारः ।

अध्यात्मपक्षे—तौ रामलक्ष्मणौ कृष्णबलौ दैव्यौ होतारौ ममाभीष्टं प्रसाधयेताम् । कीदृशौ ? प्रथमौ मुख्यौ, प्रधानभूतौ वा । सुवाचौ शोभनया वाचा युक्तौ, मनुषो मनुष्यस्य यजध्यै यागं कर्तुं मिमानौ यज्ञं निर्मिमाणौ, तयोः पूर्णकामत्वेन मनुष्याणां यजनायैव यागं कुर्वन्तौ, विदथेषु यज्ञेष्वन्यानधिकारिणः प्रचोदयन्तौ प्रेरयन्तौ, कारू स्वयं यज्ञकर्तारौ प्राचीनं सनातनं ब्रह्मज्योतिर्ज्ञातव्यमिति प्रदिशाऽभिनयेन श्रुतिवाक्येन वा दिशन्तौ उपदिशन्तौ प्रसाधयेतामित्यन्वयः ।

दयानन्दस्तु—'यौ दिव्यौ होतारौ प्रथमौ सुवाचौ मिमानौ यज्ञं यजध्यै मनुषो मनुष्यान् विदथेषु प्रचोदयन्तौ प्रदिशा प्राचीनज्योतिर्दिशन्तौ कारू भवेताम्, ताभ्यां शिल्पविज्ञानशास्त्रमध्येयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्राचीनं ज्योतिरित्यस्य शिल्पविद्याप्रकाशोऽर्थो निर्मूलः, ज्योतिःपदस्य ज्ञानार्थत्वेऽपि शिल्पज्ञानमिति कुतस्त्यम्, कुतस्तरां प्राचीनत्वम् ? सविकल्पज्ञानस्यानित्यत्वेन प्राचीनत्वायोगात् । दैव्या इति द्विवचनं तु निःस्वारस्यमेव ॥ ३२ ॥

**आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳ स्योनꣳ सरस्वती स्वपसः सदन्तु ॥ ३३ ॥**

मन्त्रार्थ यज्ञ कर्म में मनुष्य को सभी प्रकार की विधियों का ज्ञान कराने वाली भारती, इड़ा और सरस्वती देवी हमारे यज्ञ में शीघ्र आवें । शुभ कर्मों में प्रेरित करने वाली ये तीनों देवियाँ इस सुखरूप कुशा के आसन पर बैठें ॥३३॥

आङुपसर्गः सदन्त्वित्याख्यातेन सम्बद्धयते । भारती भरत आदित्यस्तस्येयं भा भारती, इडा ईड्यते या सा इडा, सरस्वती सरतीति सरो जलम्, तदस्त्युत्पत्तिस्थानत्वेनास्येति सरस्वान् ब्रह्मा, 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्' (म० स्मृ० १।८) इति मनूक्तेः, तस्येयं शक्तिः सरस्वती च नोऽस्माकं यज्ञं तूयं क्षिप्रमा एतु आगच्छतु, तूयमिति क्षिप्रनामसु (निघ० २।१५।११) । कथम्भूताः ? स्वपशः, सु शोभनमपः कर्म यासां ताः स्वपसः, अप इति कर्मनामसु (निघ० २।१।१), शोभनकर्माणः । अग्निहोत्रादिकर्मणामप्समवायित्वादप्शब्दवाच्यत्वम् । पुनः कथम्भूता सरस्वती ? मनुष्वद् मनुष्यवदिह कर्माणि चेतयन्ती ज्ञापयन्ती कर्म ज्ञानं च बोधयन्ती, परिदृष्टपरिकारिणी वा । एतास्तिस्रो देवीर्देव्यः स्योनं सुखरूपमिदं बर्हिरासदन्तु आसीदन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—भारतीडासरस्वतीरिच्छाज्ञानक्रियारूपा एतास्तिस्रो देवीर्देव्यो मनुष्वद् मनुष्यवद् इह चेतयन्ती व्यवहरन्ती, आसदन्तु आसीदन्तु, इदं स्योनं सुखरूपं बर्हिरासीदन्तु। कीदृश्यः? स्वपसः शुभकर्माणः, नो यज्ञं क्षिप्रमागच्छन्तु, आगत्य उपविशन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, या भारती इडा शिल्पविद्याधारिणी क्रियाशक्तिः सरस्वती विज्ञानवती प्रज्ञा नस्तूयं यज्ञं शिल्पविद्याप्रकाशमयं मनुष्यवच्चेतयन्ती सुशिक्षिता मधुरवाग् अस्मानेतु। इमास्तिस्रो देवीर्देव्य इदं बर्हिः स्योनं स्वपसोऽस्मानासदन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भारत्यादिपदानां तत्तदर्थत्वे मानाभावात्। तथैव यज्ञपदस्य शिल्पविद्याप्रकाशमयोऽर्थ इत्यपि चिन्त्यम्, विपरीतस्यापि सुवचत्वात्, विनिगमनाविरहाच्च॥ ३३॥

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिꣳशद् भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥ ३४॥

मन्त्रार्थ—हे होता, अनेक यज्ञ करने वाला यह यष्टा अपने अधिकार के ज्ञाता ईप्सित परमात्मा को, अपनी माया से पृथक् करने वाले देव को इस यज्ञ में पूजे। उस महानारायण को पूजे, जिसने सभी जीवों को; पृथ्वी, स्वर्ग और अन्य सभी भुवनों को देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि से युक्त किया॥ ३४॥

यस्त्वष्टा देव इमे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ जनित्री सर्वभूतानां जनयित्र्यौ जनयतः, ते प्राण्युत्पादिके तादृश्यौ रूपैरपिशदवयवैः सुचित्रिते अकरोद् विचित्रे अकरोद् वा। 'पिश अवयवे' तौदादिकः, 'शे मुचादीनाम्' (पा० सू० ७।१।५९) इति नुम्। विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतानि रूपैरपिशद् विविधरूपाण्यकरोत्। तं त्वष्टारं देवमद्य अस्मिन्नहनि, हे होतः, इषितः प्रेषितोऽधीष्ट इति वा, यजीयान् यष्टृतमः, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः, विद्वान् स्वाधिकारं जानान इह यज्ञे यक्षि यज।

अध्यात्मपक्षे—हे होतः, तं त्वष्टारं विश्वस्रष्टारं परमात्मानमिह यज्ञे यक्षि यज। तद्यजनेनैव त्वं यष्टृतमो विद्वांश्च, स्या इति शेषः। कं तम्? यस्त्वष्टा इमे द्यावापृथिवी रूपैरपिशत्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे होतर्यो यजीयानिषितो विद्वान् यथेश्वर इह रूपैरिमे जनित्री द्यावापृथिवी विश्वा भुवनान्यपिशत्, तथा तं त्वष्टारं देवं त्वमद्य यक्षि यज, तस्मात् सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे यथेश्वर इति पाठाभावात्। यजीयानित्यस्यातिशयेन सङ्गन्तेत्यर्थ उक्तः, स च न युक्तः, अतिशयेन स्त्रीगमनस्य निषिद्धत्वात्। द्यावापृथिवीत्यस्य विद्युद्गामीत्यर्थ उक्तः, सोऽप्यसङ्गतः, द्यौरित्यनेन विद्युतो ग्रहणे मानाभावात्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तासङ्गतिश्च। यथेश्वरो रूपैरिमे जनित्री द्यावापृथिवी विश्वा भुवनान्यपिशत्, न तथा विद्वान् पिंशति। होता यथा त्वष्टारं यजति, तथा नेश्वरस्तं यजतीति विषम उपन्यासः। गौणार्थाश्रयणं पदानां सम्बन्धविप्रकर्षस्तु सर्वत्रैवास्य व्याख्याने राजेते॥ ३४॥

उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥ ३५॥

मन्त्रार्थ—यजमान कहता है कि हे होता, तुम देवताओं के लिये हवि को मधुर रस घृत से सींच कर यज्ञकाल में परमेश्वर के निमित्त हवियों को छोड़ो। यूप, शमिता देवता और अग्नि ये तीनों हवियों को स्वादिष्ट बनावें॥ ३५॥

यजमान आह—हे होतः, त्वं त्मन्या आत्मना, आत्मन्शब्दस्य विभक्तेर्यादेशे 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा० सू० ६।४।१४१) इत्याकारलोपे रूपम्। ऋतुथा ऋतौ ऋतौ यज्ञकाले हवींष्युपावसृज देहि। कथमिति चेत्तत्राह—देवानां पाथो हविर्लक्षणमन्नं मधुना मधुररसेन घृतेन समञ्जन् संम्रक्षयन्। के देवा इत्याह—वनस्पतिर्यूपः, शमिता, देवोऽग्निरेते त्रयो देवा हव्यं होत्रा सम्मृज्य दत्तं स्वदन्तु भक्षयन्तु। उव्वटाचार्यरीत्या त्वध्वर्युः सम्बोधनीयः। हे अध्वर्यो, उपावसृज उत्पिष्टं पाशुकमवसृज अवदानं निक्षिप। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, त्मन्या आत्मना हवींषि, ऋतुथा यथाकालम् उपावसृज देहि। किं कुर्वन्? देवानां पाथो हविर्लक्षणमन्नं मधुना मधुररसेन घृतेन प्रेम्णा वा समञ्जन् संम्रक्षयन्। के देवा इत्याह—वनस्पतिर्जगद्वृक्षाधिष्ठाता, शमिता शान्तिदानेन पालकः, देवोऽग्निश्च रुद्रो रविरेते त्रयो देवा हव्यं होत्रा सम्मृज्य दत्तं स्वदन्तु भक्षयन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं देवानां पाथो मधुना घृतेन समञ्जन् त्मन्या आत्मना हवींषि ऋतुथोपावसृज। तेन त्वया दत्तं हव्यं वनस्पतिः शमिता अग्निश्च स्वदन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वेषां विदुषां पाथोऽन्नं तत्तत्कर्मकरैः पत्न्यादिभिः संस्कर्तव्यत्वेन तदर्थं जनसामान्यस्य चोदनानर्हत्वात्। हिन्दीभाष्ये तु—'यथावद् होमं कुरु' इत्युक्तम्, तदप्यसङ्गतमेव। नहि होमेन विदुषां क्षुण्निवृत्तिपूर्विका तृप्तिः सम्भवति। वनस्पतिः किरणानां स्वामी सूर्यः शमिता शान्तिकर्ता देव उत्तमगुणो मेघोऽग्निः स्वदन्तु, अर्थाद् हुताः पदार्था एतेभ्य उपसर्पन्त्वित्यपि यत्किञ्चित्, होमेन तेषां प्राप्तौ मानाभावात्, जडेषु प्राप्यप्रापकभावासम्भवाच्च ॥ ३५ ॥

स॒द्योजा॒तो व्य॑मिमीत य॒ज्ञम॒ग्निर्दे॒वाना॑मभवत् पु॒रो॒गाः।
अ॒स्य होतुः॑ प्र॒दिश्यृ॒तस्य॑ वा॒चि स्वाहा॑कृतꣳ ह॒विर॑दन्तु दे॒वाः ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—तत्काल प्रादुर्भूत हुए अग्निदेव देवताओं के अग्रगामी हैं, यज्ञ का विशेष रूप से विस्तार करते हैं। इन देवताओं का आह्वान करने वाले आहवनीय रूप से स्थित अग्निदेव के पूर्व दिशा में स्थित वागिन्द्रिय उपलक्षित मुख में स्वाहाकारपूर्वक दी गई हवि को अन्य देवता ग्रहण करें॥ ३६ ॥

योऽग्निः सद्योजातः शीघ्रमुत्पन्नः सन् यज्ञं व्यमिमीत विशेषेण निरमिमीत, यश्च देवानां पुरोगाः, पुरो गच्छतीति पुरःपूर्वात् गमेर्विचि 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इति मकारस्याकारे रूपम्। तस्याग्नेर्होतुर्देवानामाह्वातुः प्रदिशि प्राच्यां दिशि ऋतस्य आहवनीयात्मना स्थितस्य वाचि वागिन्द्रियोपलक्षिते मुखे स्वाहाकृतं स्वाहाकारेण हुतं हविर्देवा अदन्तु भक्षयन्तु। वाग्ग्रहणेन लक्षणया वा मुखग्रहणम्। 'अभिधेयाविनाभावप्रतीतिर्लक्षणोच्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥' इति भट्टपादोक्तेः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मा परमेश्वरः, अरण्योर्मन्थनेनाग्निरूपेण सद्योजातो योऽग्निः शीघ्रमुत्पन्नः सन् यज्ञं व्यमिमीत निरमिमीत। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः सद्योजातोऽग्निर्होतुर्ऋतस्य प्रदिशि वाचि यज्ञं व्यमिमीत देवानां पुरोगा अभवदस्य स्वाहाकृतं हविर्देवा अदन्तु, तं सर्वोपरि विराजमानं मन्यध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारमूलकत्वात्, अग्निपदस्य विद्याप्रकाशितो विद्वान् इत्यर्थस्य गौणत्वात्। न चाभिधयाऽर्थसम्भवे गौणार्थता युक्ता, मुख्यार्थबाधस्यान्याय्यत्वात्। न च शीघ्रतया प्रसिद्धिर्भवति, पुरुषस्य क्रमेणैव प्रसिद्धिदर्शनात्। न च प्रदिशीति निर्देशिका वागित्युच्यते, तथार्थकरणे मानाभावात्। न च ज्ञपदस्यापि व्यवहारोऽर्थः, तथा यजेत्युक्ते व्यवहारं

कुर्वित्यर्थः स्यात्। न चायमर्थो युक्तः, व्यवहारस्य स्वतः प्राप्तत्वेन चोदनानर्हत्वात्। एवमन्यान्यपि दूषणान्तराण्यूहनीयानि ॥ ३६ ॥

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, अज्ञानी मनुष्य के लिये ज्ञान की तथा रूपहीन को रूप की प्राप्ति कराने के लिये आप अग्नि में आहुति देने वाले यजमानों के द्वारा प्रकट किये गये हो ॥ ३७ ॥

'इत उत्तरमश्वरक्षिणो योद्धारो युद्धोपकरणानि च स्तूयन्ते, प्रागाग्नेय इति श्रुतेः' इत्युव्वटाचार्यः। अग्निदेवत्या गायत्री मधुच्छन्दोदृष्टाऽनिरुक्ता। हे अग्ने, त्वमुषद्भिः, उषन्ति दहन्ति हविरित्युषन्तः, शता, अग्निहोत्रकर्तारो यजमानाः, तैः कृत्वा अजायथा उत्पन्नोऽसि। कृतसम्प्रसारणस्य वसतेर्वा रूपम्। तथा उषद्भिः, अग्निं प्रति निवसद्भिर्जायमानः सन् अजायथाः। कीदृशस्त्वम्? अकेतवे, न केतुः प्रज्ञानं यस्य तस्मै, मर्या मर्याय मनुष्याय, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेराकारः, केतुं ज्ञानं कृण्वन् कुर्वन्। अपेशसे नास्ति पेशो हिरण्यरजतादिरूपं धनम्, पेश इति हिरण्यनामसु (निघ १।२।६), यद्वा पेश इति रूपनामसु (निघ० ३।७।१०), सोऽपेशाः सुवर्णरजतादिधनहीनाय पेशो हिरण्यरजतादिरूपं धनं कुर्वन्, रूपहीनाय सुन्दररूपादि प्रयच्छन्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वमुषद्भिरग्निं परमात्मानं प्रति निवसद्भिर्भगवद्भक्तैरजायथाः, रामकृष्णादिरूपेण बहुधा उत्पद्यसे। कथम्भूतस्त्वम्? अकेतवे ज्ञानरहिताय मर्याय मनुष्याय केतुं ज्ञानं कृण्वन् कुर्वन्, केतुः प्रज्ञानामसु (निघ० ३।९।१) इति। अपेशसे सुवर्णादिधनरहिताय मनुष्याय पेशः सुवर्णादिधनं कुर्वन्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा मर्या अपेशसे पेशोऽकेतवे केतुं कृण्वन् संस्त्वं समजायथाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उषद्भिः सह प्रज्ञां श्रियं च कृण्वन्नित्यसङ्गतेः, मूले तादृशपाठाभावात्, मनुष्ये तादृशसामर्थ्याभावेन तादृशविधेरयोगाच्च ॥ ३७ ॥

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे।
अनाविद्धया तन्वा जय त्वꣳ स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—इस प्रकार अग्नि की स्तुति करने के बाद अश्व की रक्षा के लिये योद्धा और युद्धोपकरणों की स्तुति की जाती है—जब कवच को धारण करने वाला योद्धा संग्रामों के बीच में जाता है, तब सेना का मुख मेघ के समान हो जाता है। हे कवचधारी, तुम अक्षत शरीर रह कर विजय प्राप्त करो, कवच की महिमा तुम्हारी रक्षा करे ॥ ३८ ॥

एवमग्निं स्तुत्वाश्वरक्षिणो योद्धारो युद्धोपकरणानि च स्तूयन्ते। भरद्वाजसुतः पायुः संग्रामाङ्गानि प्रत्यृचं स्तौति। अनया त्रिष्टुभा वर्म स्तूयते। यद् यदा वर्मी, वर्म विद्यतेऽस्येति वर्मी, कवचवान् समदां संमाद्यन्ति सह वा माद्यन्ते योद्धारो यासु ताः समदः संग्रामास्तासाम्, उपस्थे उत्सङ्गे याति, तदा प्रतीकं सेनामुखं जीमूतस्य मेघस्येव विद्युत्स्फुरित-स्तनयित्नु-धारानिकरैरसह्यं भवत्यन्तःसरणैः। एवं हस्त्यश्वपदातिमुखं निशितास्त्रगम्भीरतूर्यनिनादशरधाराभिरसह्यं भवति। तमुपलक्ष्य ब्रवीमि—हे वर्मिन्, अनाविद्धया तया अक्षतया अरिष्टया तन्वा शरीरेण त्वं जय। शत्रून् हत्वा विजयं प्राप्नुहि। स वर्मणो महिमा प्रभावस्त्वां पिपर्तु पालयतु।

अध्यात्मपक्षे—यद् यदा वर्मी चण्डीकवच-नारायणकवच-ब्रह्मात्मसाक्षात्कारलक्षणकवचयुक्तो वीरः साधकः समदामुपस्थे देवासुरसंग्रामाणामुपकण्ठे याति, तदा सेनामुखं जीमूतस्य मुखमिवासह्यं भवति। मेघस्य मुखं यथा विद्युत्स्तनयित्नुवारिधाराभिरसह्यं भवति, तथा कामक्रोधलोभदम्भमोहादिकृतशस्त्रास्त्रसङ्घातैरसह्यं भवति। अतो ब्रवीमि हे वर्मिन्, अनाविद्धया तन्वा शत्रून् जय, स वर्मणो महिमा त्वां पिपर्तु।

दयानन्दस्तु—'यद् यो वर्म्यनाविद्धया तन्वा समदामुपस्थे प्रतीकं याति, स जीमूतस्येव विद्युद् भवति। हे विद्वन्, त्वां वर्मणो महिमा पिपर्तु, स त्वं शत्रून् जय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणसम्बन्धविप्रकर्षाभ्यामनुपपत्तेः। विद्युत्पदं तु मूले नास्त्येव। सम्बोधनमपि निर्मूलमेव॥ ३८॥

धन्व॑ना॒ गा धन्व॒नाजिं॑ जयेम॒ धन्व॑ना ती॒व्राः स॒मदो॑ जयेम।
धनुः॑ शत्रो॑रपका॒मं कृ॑णोति॒ धन्व॑ना॒ सर्वाः॑ प्र॒दिशो॑ जयेम॥ ३९॥

मन्त्रार्थ—योद्धागण धनुष के प्रताप से गोरूप धन को जीतें, धनुष के द्वारा राजमार्ग को जीतें, धनुष से उग्र शत्रु के संग्रामों को जीतें। यह धनुष शत्रु के मनोरथों को नष्ट कर देता है। इस धनुष से हम सब दिशाओं को जीतें॥३९॥

अनया त्रिष्टुभा धनुः स्तूयते। धन्वना धनुषा कृत्वा वयं गा धेनूर्जयेम। धन्वना धनुषा आजिम्, अजन्ति गच्छन्ति यस्मिन्नसावाजिर्मार्गस्तं जयेम। धन्वना च तीव्रा उग्रा उद्‌गूर्णायुधाः समदः संग्रामान् जयेम। धनुश्च शत्रोरपकामं कृणोति काममपनयति, कर्तृत्वविवक्षात्र धनुषि, मनोरथाभावमपकामं हतकामं वा करोत्वित्यर्थः। कामस्याभावोऽपकामम्, 'अव्ययं विभक्ति' (पा० सू० २।१।६) इत्यादिनाऽर्थाभावेऽव्ययीभावः। किञ्च, धन्वना धनुषा सर्वाः प्रदिशो जयेम। एवं महत्त्वं धनुष इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥' (मु० उ० २।४)। तादृशेन प्रणवात्मकेन धन्वना धनुषा गा इन्द्रियाणि जयेम। तेनैव धनुषा आजिं दुर्गमं साधनमार्गं जयेम। धन्वना तीव्रा उग्राः समदः कामाद्यरातिसङ्घर्षान् जयेम। धनुः शत्रोरपकामं मनोरथाभावं भग्नमनोरथत्वं करोतु। धन्वना च सर्वाः प्रदिशो जयेम, प्रणवोपासनया सर्वाभीष्टसिद्धेः श्रवणात्, 'एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्' (कठो० १।२।१६) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'देवा यथा वयं यद्धनुः शत्रोरपकामं कृणोति, येन च धन्वना गा धन्वनाजिं च जयेम, धन्वना तीव्राः समदो जयेम, धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम, तथा यूयमप्येतेन जयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तस्य रागास्पदत्वेनोपदेशानर्हत्वात्। तादृशं सम्बोधनं च निर्मूलमेव॥ ३९॥

व॒क्ष्यन्ती॒वेदाग॑नीगन्ति॒ कर्णं॑ प्रि॒यꣳ सखा॑यं परिषस्वजा॒ना।
योषे॑व शिङ्क्ते॒ वित॒ताऽधि॒ धन्व॒न् ज्या इ॒यꣳ सम॑ने पा॒रय॑न्ती॥ ४०॥

मन्त्रार्थ—यह संग्राम में विजय दिलाने वाली प्रत्यंचा बहुत जोरों का शब्द करती है, स्त्री के समान अव्यक्त शब्द करती है, प्रिय बाणरूप सखा का आलिंगन करती है और कुछ कहना चाहती हुई-सी योद्धा के कान तक जाती है॥ ४०॥

ज्या स्तूयते त्रिष्टुभा। इयं ज्या मौर्वी धन्वन् धन्वनि धनुषि अधि उपरि वितता आतता सती शिङ्क्ते अव्यक्तं शब्दं करोति, 'शिजि अव्यक्ते शब्दे' अदादिः, 'इदितो नुम् धातोः' (पा० सू० ७।१।५८) इति नुमि रूपम्। योषेव यथा योषा वचनोत्सुकेव कामिनी कामुकरञ्जनायाव्यक्तं वदति, एवमियमव्यक्तं शब्दं करोति। कीदृशी ज्या? समने संग्रामे पारयन्ती, समनमिति संग्रामनामसु (निघ० २।१७।१६), संग्रामादुत्तारयन्ती विजयं कुर्वन्ती। या च ज्या योद्धुर्दक्षिणं श्रोत्रं प्रति आगनीगन्ति आकृष्टा सती अत्यर्थमागच्छति, गमेर्यङ्लुकि रूपम्। पुनः कीदृशी? वक्ष्यन्तीव वक्तुमिच्छन्तीव। यथा कश्चन गुप्तं मन्त्रं वक्तुं कर्णं प्रत्यागच्छति तद्वत्। प्रियं सखायं बाणरूपं परिषस्वजाना आलिङ्गन्ती, ष्वजेः शानचि शपः श्लौ द्वित्वे रूपम्। इत् पादपूरणार्थः। उव्वटाचार्योऽपि तथैवाह - या ज्या वक्ष्यन्तीव वचनोत्सुकेव योषिद् आगनीगन्ति धानुष्ककर्णमूलं प्रत्यत्यर्थमागच्छति, या च प्रियमिव सखायमिषुं परिषस्वजाना योषेव शिङ्क्ते, अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे - प्रणवो धनुस्तस्यैवाङ्गभूता शरप्रेरिता ज्यावज्जीवप्रेरिका चोदना, सा च ज्यारूपा चोदना धनुषि प्रणवविकारभूतायां विधिवाचि, अधिवितता अध्यारोपिता शिङ्क्ते अव्यक्तं शब्दं करोति प्रवर्तनाव्यापारं करोति। यथा योषित् पतिरञ्जनार्थमव्यक्तं कूजितं करोति, तद्वत्। कर्णं प्रति वचनोत्सुकेव धानुष्ककर्णमूलमिव आगनीगन्ति अत्यर्थमागच्छति। सेयं ज्या समने संग्रामे पारयन्ती स्वाभाविकपाशविकव्यापारान्निवारयन्ती प्रियं सखायमिव शरं जीवं परिषस्वजाना आलिङ्गन्तीव स्तूयते।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, येयं वितता धन्वन्नधि ज्या वक्ष्यन्ती वेदागनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं पतिं परिषस्वजाना योषेव शिङ्क्ते समने पारयन्ती वर्तते, तन्निर्मातुं बद्धुं चालयितुं च विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वात्, योषाशब्दस्य स्त्रीमात्रार्थत्वात्, गमेर्बोधार्थत्वे कर्णपदस्य नैरर्थक्यापाताच्च॥ ४०॥

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे।
अप शत्रून् विध्यताᳬ संविदाने आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान्॥ ४१॥

मन्त्रार्थ—यह धनुष की कोटि एक पति में मन लगाने वाली स्त्री के समान आचरण करती है, परस्पर संकेत करती है। शत्रुओं पर टंकार करती हुई मानो यह कहती है कि मेरे मध्य भाग में बाण को चढ़ाओ, जैसे कि माता पुत्र को अपनी गोदी में चढ़ाती है। तब इसके बाद इस बाण से शत्रु पर प्रहार करो॥ ४१॥

अनया त्रिष्टुभा धनुषः कोटी स्तूयेते। ते प्रसिद्धे इमे आर्त्नी आर्त्न्यौ धनुःकोटी उपस्थे उत्सङ्गे मध्यभागे समना इव समने समानभर्तृगतमनस्के योषे इव, वचनव्यत्ययः, यथा तादृशे ते पतिमागच्छतः, तथा आचरन्ती आगच्छन्त्यौ धानुष्कं प्रति मातेव पुत्रं बिभृताम्, शरमिति शेषः। यथा माता उत्सङ्गे पुत्रं धारयति, तथा मध्यभागे शरं धारयताम् अप शत्रून् विध्यताम्, 'व्यध ताडने', अपविध्यतां शत्रून् ताडयताम्। संविदाने सुखमनुभवन्त्यौ। अमित्रान् शत्रून् विष्फुरन्ती टङ्कारं कुर्वाणे। संविदाने इति 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' (पा० सू० १।३।२९) इत्यात्मनेपदित्वात् शानच्, परस्परं संकेतं कुर्वाणे बिभृतामित्यन्वयः।

अध्यात्मपक्षे अनेकासूपनिषत्सु पुराणेषु काश्यां मरणान्मुक्तिरिति सिद्धान्तो जागर्तितमाम्। तत्र धनुराकारा अनुगङ्गं काशी काशते। तत्रासीवरुणे द्वे नद्यौ धनुषः कोटी इव राजेते। गङ्गा धनुर्ज्येव शोभते। ते प्रसिद्धे इमे आर्त्नी आर्त्न्यौ उपस्थे उत्सङ्गे मध्यभागे बिभृतां धारयताम्, शरं जीवरूपं परमलक्ष्ये ब्रह्मणि वेधाय। तत्रैव दृष्टान्तः—माता पुत्रमिव, यथा जननी पुत्रमुत्सङ्गे बिभर्ति, तथा विध्यतां ताडयतां पापमविद्या-

परिवाररूपान् शत्रून् । कीदृश्यौ कोटी ? आचरन्ती आचरन्त्यौ आगच्छन्त्यौ धानुष्कं शिवं प्रति । तत्र दृष्टान्तः—समना योषेव, वचनव्यत्ययः, समानमेकपतिगतं मनो ययोस्ते तादृश्यौ योषे स्त्रियौ यथा कान्तमागच्छतः । संविदाने सङ्केतं कुर्वाणे अमित्रान् पापादिलक्षणान् प्रति विष्फुरन्ती टङ्कारं कुर्वाणे । एवमेव प्रणवधनुषोऽपि अकारमकारौ कोटी, ते अपि शरवज्जीवमुत्सङ्गे धारयतः, ब्रह्मात्मतादात्म्यसम्पादनाय तदैक्यप्रतिबन्धकानुपाधीन् समष्टिव्यष्टिरूपान् अमित्रान् विध्यताम् । अन्यदपि पूर्ववद्योज्यम् ।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, ये योषा समनेव पतिं मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे आचरन्ती शत्रूनपविध्यताम्, इमे संविदाने आर्त्नी अमित्रान् विष्फुरन्ती वर्तेते, ते यथावत् सम्प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वात् । सम्बोधनमपि निर्मूलमेव । ते धनुर्ज्ये इत्यप्यसङ्गतम्, धनुष्येकस्मिन् ज्याया एकत्वेन द्वित्वस्यासाम्प्रतिकत्वात् । 'ते' इत्यपि 'आर्त्नी' इत्यनेन पदेन संसृज्यते । 'प्राप्यमाणे' इति तद्व्याख्यानमप्यसङ्गतम्, आर्त्निपदस्य धनुषः कोट्योः प्रसिद्धत्वात् ॥ ४१ ॥

ब॒ह्वी॒नां पि॒ता ब॒हुर॑स्य पु॒त्रश्चि॒श्चा कृ॑णोति॒ सम॑नाऽव॒गत्य॑ ।
इ॒षु॒धिः सङ्काः॒ पृत॑नाश्च॒ सर्वाः॑ पृ॒ष्ठे निन॑द्धो जयति॒ प्रसू॑तः ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ यह तरकस बहुत से बाणों का पालक है, उनको अपने में धारण करता है । इसके पुत्रों की संख्या बहुत है । संग्रामों में जाकर यह ची-ची शब्द करता है । पृष्ठ पर बँधा होने पर भी आज्ञा मिलने पर सब योद्धाओं के गतिस्थान युद्ध में शत्रु सेना पर विजय प्राप्त करता है ॥ ४२ ॥

अनया त्रिष्टुभा इषुधिः स्तूयते । य इषुधिस्तूणो बह्वीनामिषूणां शराणां पिता पालयिता, तेन सहिताः पाल्यन्ते सहिताः सन्निदधति । यस्येषुधेर्बहुरिषुकलापः पुत्रः पुत्रतुल्यः, तेन परिपाल्यमानत्वात्, पुरून् बहून् त्रायत इति पुत्रः, स हि तेनेषुकलापेन त्रायत इति वा पुत्रः, बहु वा तदर्थं हितं करोतीति पुत्रः, स इषुधिः समना संग्रामानवगत्य ज्ञात्वा चिश्चाकृणोति चिश्चिचरिति शब्दं करोति । शब्दानुकरणमेतत् । निषङ्गान्निष्कास्यमाणो बाणश्चिचश्चिचरिति शब्दं करोति । च पुनः, स इषुधिर्धानुष्केण पृष्ठे निनद्धो बद्धः प्रसूतोऽनुज्ञातः सन् सर्वाः पृतनाः शत्रुसेना जयति पराभवति । कीदृश्यः पृतनाः ? सङ्काः, सचन्ते सम्बद्धयन्ते सङ्कीर्यन्ते वा योधा यासु ताः सङ्काः । 'सङ्काः सचतेः, सम्पूर्वाद्वा किरतेः' (निरु० ९।१४) इति यास्कः । विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति वैयाकरणानां सिद्धान्तेन इषुधेः कर्तृत्वम् । सचन्ते समवयन्त्यास्विति सङ्काः, अथवा सङ्कीर्यन्त आस्वरय इति सङ्काः शत्रुसङ्कटम् । पृतनाश्च सर्वाः, प्रियन्ते सर्वावयवावच्छेदेन जना यत्र सा पृतना, प्रियतेर्बाहुलकात्तनन्, स्पर्धनीयतमाः संग्रामभक्तीः सर्वाः पृष्ठे निनद्धो धानुष्कस्य पृष्ठे बद्धः । प्रसूतो धानुष्केणाभ्यनुज्ञातः सन् जयतीत्याशास्महे – इत्युव्वटाचार्यः ।

अध्यात्मपक्षे—यः समष्टिजीवरूपो हिरण्यगर्भः, स इषुधिरिव, जीवघनत्वात्, 'स एतस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' (प्रश्नोप० ५।५) इति श्रवणात् । स बह्वीनां पृथक्चितीनां पिता पालयिता । बहुरिषुसमूहोः जीवसमूहोऽस्य पुत्रस्थानीयः । स एव चिज्जीवसमूहस्य संज्ञानं करोति । समना सचेतनान्, विभक्तेराकारादेशः, अवगत्य ज्ञात्वा, पृष्ठे निनद्धः सर्वाः पृतनाः स्पर्धनीयतमाः कामक्रोधादिशत्रुसेनाः सङ्काः शत्रुसङ्कटं जयति । अधिष्ठानभूते ब्रह्मण्यध्यस्तो हिरण्यगर्भः पृष्ठे निनद्ध उच्यते । स च प्रसूतो ब्रह्मणाभ्यनुज्ञातः सर्वाः कामक्रोधादिपृतनाः सर्वाणि सङ्कटानि च जयति । हिरण्यगर्भस्यापरब्रह्मरूपत्वेन माहाभाग्यात् तदनुग्रहेण कामादिशत्रुसेनापराभवः सङ्कटनाशश्चानायासेन सम्पद्यते ।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, यो बह्वीनां पितेवास्य बहुपुत्र इव पृष्ठे निनद्ध इषुधिः प्रसूतः सन् समनावगत्य चिश्चाकृणोति, येन वीरः सर्वाः सङ्काः पृतनाश्च जयति, तं यथावद् रक्षत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बह्वीनामित्यस्य प्रत्यञ्चाबोधकत्वे मानाभावात्, इषुधिशब्दसान्निध्येन बह्वीनामिषूणां बोधकत्वस्यैव न्यायप्राप्तत्वात् ॥ ४२ ॥

रथे॑ तिष्ठ॑न्नयति वा॒जिनः॑ पु॒रो यत्र॑ यत्र का॒मय॑ते सुषा॒र॒थिः ।

अ॒भीशू॑नां महि॒मानं॑ पनायत॒ मनः॑ प॒श्चादनु॑यच्छन्ति र॒श्मयः॑ ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ— यहाँ आधे मन्त्र में सारथि की और आधे में बागडोर की स्तुति की गई है। रथ में बैठा हुआ अच्छा सारथि जहाँ-जहाँ चाहता है, रथ में जुते हुए घोड़ों को वहाँ पहुँचा देता है। उसके हाथ में विद्यमान बागडोर अश्व को अपने वश में रखती है, अतः हे मनुष्यों ! इस बागडोर की महिमा का गान करो ॥ ४३ ॥

अत्र जगतीच्छन्दः। अर्धेन सारथिरर्धेन रश्मयः स्तूयन्ते। सुषारथिः शोभनः सारथिर्यन्ता यत्र यत्र प्रदेशे कामयते इच्छति, मयात्र गन्तव्यमिति तत्र तत्र पुरो वर्तमानान् वाजिनोऽश्वान् नयति प्रापयति। कीदृशः सुषारथिः ? रथे तिष्ठन्, तं स्तुम इति शेषः। अथ रश्मयः स्तूयन्ते। हे जनाः, अभीशूनां प्रग्रहाणां महिमानं महाभाग्यं यूयं पनायत पूजयत। हे जनाः, ये रश्मयः प्रग्रहाः पश्चाद्वर्तमानाः सन्तो मनोऽश्वानां चित्तमनुयच्छन्ति, अनुगम्य गृह्णन्ति, वशवर्तिनं कुर्वन्ति।

अध्यात्मपक्षे—सुषारथिः शोभनः सारथिर्बुद्धिरूपो यत्र यत्र विषयेषु कामयते इच्छति, तत्र तत्र पुरोवर्तिनोऽश्वान् इन्द्रियरूपान् नयति प्रापयति। कीदृशः सुषारथिः ? रथे शरीररूपे तिष्ठन्, शरीरस्यैव भोगायतनत्वात्। तं बुद्धिरूपं सारथिं स्तुमः। अथ रश्मयः स्तूयन्ते— हे साधकाः, यूयमभीशूनां प्रग्रहाणां महिमानं महाभाग्यं पनायत स्तुत। ये रश्मयः पश्चाद्वर्तमानाः सन्तो मनोऽश्वानां चित्तमनुयच्छन्ति निगृह्णन्ति, वशवर्तिनं कुर्वन्ति, इन्द्रियाणि नियच्छन्ति—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥' (कठोप० १।३-४)। यथा प्रग्रहाधीना हया भवन्ति, तथैव मनोऽधीनानीन्द्रियाणि भवन्ति। प्रग्रहस्तु सारथ्यधीनो भवति, तत एव सारथिस्तुतिवत् प्रग्रहस्तुतिरपि युक्तैव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, सुषारथी रथे तिष्ठन् यत्र यत्र कामयते, तत्र तत्र वाजिनः पुरो नयति। येषां मनः सुशिक्षितं हस्तगता रश्मयः पश्चादश्वाननुयच्छन्ति, तेषामभीशूनां महिमानं यूयं पनायत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, रश्मिषु रूढस्य अभीशुशब्दस्याभितः सद्योगन्तरि प्रवृत्त्यसम्भवात्। वाजिपदमपि अश्व एव रूढम्, अग्न्यादिषु तत्प्रयोगस्तु निर्मूल एव ॥ ४३ ॥

ती॒व्रान् घोषा॑न् कृण्वते॒ वृष॑पाण॒योऽश्वा॒ रथे॑भिः स॒ह वा॒जय॑न्तः ।

अ॒व॒क्राम॑न्तः॒ प्रप॑दैर॒मित्रा॑न् क्षि॒णन्ति॒ शत्रूँ॑१॥रन॑पव्ययन्तः ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ— प्रस्तुत मन्त्र में घोड़ों की स्तुति की गई है। अश्वारोही पुरुष जब जयघोष करते हैं, तब रथ में जुते हुए घोड़े खुरों से शत्रुओं पर आक्रमण करते हैं। ये घोड़े शत्रुओं का नाश करने में समर्थ हैं ॥ ४४ ॥

त्रिष्टुभाश्वाः स्तूयन्ते । वृषपाणयो वृषा अश्वाः पाणौ हस्ते येषां ते संग्रहीतृप्रभृतयो योक्तारश्च वाजयन्तो रथे युक्ताः सन्तो गच्छन्तः श्वसन्तश्च तीव्रान् जय जयेत्युग्रान् शब्दान् कृण्वते कुर्वन्ति, अश्वा अपि रथेभी रथैः सह वाजयन्तः पूजयन्तः, रथिन इति शेषः, तीव्रानेव घोषान् ह्रेषितादीन् कृण्वते । वजतेश्चौरादिकस्यात्र स्तुतौ वृत्तिः । 'वज-व्रजौ' चुरादावपीति माधवः । अवक्रामन्तः प्रपदैः पादाग्रैः, खुरैरिति यावत् । अमित्रान् शत्रून् क्षिणन्ति क्षिण्वन्ति हिंसन्ति । अनपव्ययन्तः, 'व्यय वित्तसमुत्सर्गयोः' अदन्तश्चुरादिः । अपपूर्वादस्मात् शता, अपव्ययन्तो नश्यन्तः, अपव्ययस्य नाशप्रायत्वात्, न अपव्ययन्तोऽनपव्ययन्तो न नश्यन्तः, अपरित्यजन्तो वा स्वामिनम् । यद्वा वृषपाणयोऽश्ववारा अश्वारोहिणोऽश्वनियन्तारो वा जय जयेति तीव्रान् शब्दान् कुर्वन्ति । अश्वा अपि रथेभी रथैः सह वाजयन्तो गच्छन्तस्तीव्रान् घोषान् ह्रेषितशब्दान् कुर्वन्ति, शत्रून् क्षिणन्ति नाशयन्ति । कीदृशा अश्वाः ? प्रपदैः पादाग्रैः खुरैरमित्रान् शत्रून् अवक्रामन्त आक्रामन्तोऽनपव्ययन्तोऽनश्यन्तः, समर्था इति यावत् । वाजिनः, स्वार्थे णिच् ।

अध्यात्मपक्षे—वृषपाणयो जितेन्द्रियाश्वास्तीव्रान् पापनाशकान् उग्रान् मन्त्रान् भगवन्नामशब्दान् कुर्वन्ति । अश्वा इन्द्रियाश्वा अपि रथेभी रथैर्देहैर्वाजयन्तो भगवन्तं पूजयन्तः प्रपदैः खुराग्रैः अमित्रान् अवक्रामन्तो भगवद्विषयैः स्वस्वव्यापारैः शत्रून् पापान् कामादीन् अरातींश्च क्षिणन्ति क्षिण्वन्ति नाशयन्ति । कीदृशा अश्वाः ? भगवद्विषयव्यापारैश्चानपव्ययन्तोऽनश्यन्तः, समर्थाः सन्तः, 'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥' (भ० गी० १०।९) इति भगवदुक्तेः । विषयविषयाः प्राणाः क्षीयन्ते, भगवद्विषयाश्च अनुपक्षीणाः सन्तोऽमित्रानवक्रामन्तः शत्रून् क्षिणन्ति हिंसन्ति ।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, ये वृषपाणयः, रथेभिः सह वाजयन्तः प्रपदैरमित्रानवक्रामन्तोऽश्वास्तीव्रान् घोषान् कृण्वते, अनपव्ययन्तः सन्तः शत्रून् क्षिणन्ति, तान् यूयं प्राणवत् प्रतिपालयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात् । वृषशब्दस्य बलिष्ठा वृषभादय इति गौण एवार्थः । पाणिशब्दस्य पाणिवद्रक्षका इत्याद्यर्थस्तथाविध एव, लक्षणादौ बीजाभावात् । यानादयस्तु स्वयं शीघ्रं चलन्तोऽपि न वीरान् चालयन्ति । प्रपदैः प्रकृष्टपारगमनैरित्यपि निर्मूलमेव ॥ ४४ ॥

रथवाहणꣳ हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म ।
तत्रा रथमुप शग्मꣳ सदेम विश्वाहा वयꣳ सुमनस्यमानाः ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—इस रथ का रथवाहन नाम है, शकट इसका हविर्धान है, जिसमें इस योद्धा के कवच और आयुध स्थापित हैं । योद्धाओं को सदा अनुकूल सुविधा देने वाले सुखदाता रथ को हम यहाँ स्थापित करते हैं ॥ ४५ ॥

रथस्तुतिः, त्रिष्टुप् । रथश्च शकटरूपः । अस्यानसो रथवाहणं नाम । रथं वहतीति रथवाहनम्, वाजपेयेऽनसि रथस्यारोप्यमाणत्वात् । तथास्य हविर्हविर्धानमिति द्वितीयं नाम । पृषोदरादित्वादुत्तरार्धलोपः । 'विमुच्य सयन्तृकꣳ रथवाहणे करोति, अनस्तत्कर्म' (का० श्रौ० १५।६।२७–२८) इति परमर्षिः कात्यायनः । 'तस्मादनस एव पौरोडाशिकेषु यजूꣳषि' इति च श्रुतिः । यत्र यस्मिन्ननसि योद्धुर्वर्म कवचमायुधं शस्त्रास्त्रादिकं निहितं स्थापितम्, तत्रानसि वयं रथमुपसदेम उपसादयामः कल्पयामः । कीदृशं रथम् ? शग्मं सुखकरम् । कीदृशा वयम् ? विश्वाहाः, विश्वेष्वहःस्विति विश्वाहा, विभक्तेर्डादेशः । सर्वदा सुमनस्यमानाः सु शोभनं मनो येषां ते सुमनसः, असुमनसः सुमनसो भवन्तीति, 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः' (पा० सू० ३।१।१२) इति क्यङि

सलोपे शानचि रूपम्, अनुकूलचित्ता इत्यर्थः। तत्रेत्यत्र संहितायाम् 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—अस्य देहस्य रथवाहणमिति प्रथमं नाम, हविर्धानमिति द्वितीयं नाम। यत्रास्य साधकस्याज्ञानादिकमायुधम्, वर्म शत्रुप्रहारनिरोधकं कवचं नारायणकवच-शिवकवच-चण्डीकवचादिकं न्यासजालादिकं च निहितं स्थापितं भवति, तत्र वयं शर्म्मं सुखकरं रथमुपसदेम उपसादयाम उपकल्पयामः, संसारपारगमनसाधनत्वात्। कीदृशा वयम् ? विश्वाहाः सुमनस्यमानाः, सर्वदानुकूलचित्ता इत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, अस्य यत्र रथवाहनं हविरायुधमस्य वर्म च नाम निहितम्, तत्र सुमनस्यमाना वयं शर्म्मं रथं विश्वाहा उपसदेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हविःशब्देनाग्नीन्धनादिग्रहणस्य निर्मूलत्वात्। एवमुक्तदिशान्यदपि दूषणमूहनीयम् ॥ ४५ ॥

स्वादुषꣳसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः।
चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ – रथ के रक्षकों की हम स्तुति करते हैं। रथ में आराम से बैठने वाले रक्षक अन्न और आयुध का संग्रह करते हैं। कष्ट को सहन करने की सामर्थ्य वाले अथवा आयुध को धारण करने योग्य गम्भीर बल और बुद्धि वाले, नाना प्रकार की सेवा वाले, बाण के बल को धारण करने वाले, कठोर अवयव वाले, उग्र शासन के कर्ता, बल के प्रेरक, विशाल वक्षस्थल वाले ये योद्धा शूरवीरों के समूह को जीतते हैं ॥ ४६ ॥

रथगोपान् स्तौति - स्वाद्विति। ईदृशा नराः अस्माकं रथगोप्तारो भवन्त्विति शेषः। कीदृशाः ? स्वादुषंसदः स्वादु सुखं यथा स्यात्तथा संसीदन्तीति तथोक्ताः। यद्वा स्वादु सुखकरं संसदनं येषां ते। पितरः पान्ति ते पितरः, पातेस्तृचि 'नप्तृनेष्टृ' (उ० २।९७) इति निपातनाद् धातोराकारस्य इकारः, रक्षितारः। वयोधा वयसोऽन्नस्य आयुषो वा धारयितारः। कृच्छ्रे श्रीयन्ते सेव्यन्ते ते कृच्छ्रेश्रितः, कर्मणि क्विप्, सप्तम्या अलुक् दुःखे सति प्राणिभिराश्रयणीयत्वात्, दुःखनाशकत्वात्। यद्वा सप्तमी द्वितीयार्थे, कृच्छ्रं श्रयन्तीति कृच्छ्रेश्रिताः, दुःखं प्राप्यापि स्वामिसेवनतत्पराः। शक्तीवन्तः शक्तिः सामर्थ्यमायुधविशेषो वा अस्ति येषां ते, 'अश्वराशीमति' (प्रा० शा० ३।९८) इत्यादिसूत्रेण वकारे परे शक्तिशब्दस्य दीर्घः। गभीराः, गम्भीरं बलं प्रज्ञानं वा अस्ति येषां ते, 'गभीरगम्भीरौ' (उ० ४।३६) इति निपातनात् साधु, ततोऽच्प्रत्ययः। चित्रसेनाः, चित्रा नानाविधा हस्त्यश्वरथादियुताः सेना येषां ते। इषुबलाः, इषुभिर्बाणैर्बलं येषां ते, विशिष्टबाणबला इत्यर्थः। इषुषु विशेषतो वा बलं येषां ते तथोक्ताः। अमृध्रा अमृदवः, उग्रशासना इत्यर्थः, कठिनाङ्गा वा। सतोवीराः सतः प्रशस्तस्याश्वमेधस्य वीरा अश्वमेधसम्बन्धिवीरा इत्यर्थः। यद्वा सतो विद्यमानस्य बलस्य विविधमीरयितारः, शूरा इत्यर्थः, षष्ठ्या अलुक्। उरवो विशालाः पृथुजघनोरस्का उरुमनस्का वा। व्रातसाहाः, व्रातान् शूरसमूहान् गणान् वा सहन्तेऽभिभवन्ति ये ते तथोक्ताः, 'अभिमातिपृतना' (शु० य० प्रा० ३।६।२७) इत्यादिना सहेरुपधादीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—शमदमादयः परमार्थमार्गसहायका अपेक्ष्यन्ते। तेषामेव विशेषणानि। शमदमादीनां संसदनं स्वादु सुखकरं भवति। ते च पितरः पातारो भवन्ति। ते च वयोधा आयुषो धातारो भवन्ति, अजितेन्द्रियाणामदान्तमनस्कानामल्पायुष्ट्वदर्शनात्। कृच्छ्रे सत्याश्रयणीया भवन्ति, तदानीं तदन्यस्य

दुःखनाशकत्वायोगात् । शक्तीवन्तोऽपारसामर्थ्याः, गभीरा गम्भीरं बलं प्रज्ञानं वा यत्र ते, चित्रसेनाश्चित्रा विविधाः क्रोधकामादिनिवारकाः सेना भटानां समूहा येषां ते, इषुबला इषुभ्योऽप्यधिकबलवन्तः, अमृध्राः कठिनाङ्गाः, सतोवीराः सतो ब्रह्मणः प्रापकाः । उरवो विशालाः । व्रातसाहा व्रातान् कामादिगणान् सहन्ते ये ते तथोक्ताः ।

दयानन्दस्तु—'हे योद्धारो वीराः, यूयं ये स्वादुसंसदो वयोधाः कृच्छ्रेश्रिताः शक्तीवन्तो गम्भीराश्चित्र-सेना उरुबला उरवो व्रातसाहाः सतोवीराः पितरः स्युः, तानाश्रित्य युद्धं कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, तानाश्रित्य युद्धं कुरुतेत्यादीनां मन्त्रेऽभावाच्च, विशेषणानां राजपुरुषेष्वसङ्गतेश्च । स्वादुषु भोज्याद्यन्नेषु सम्यक् सीदन्तीति व्याख्यानमपि निर्मूलम्, सर्वेषामेव तथात्वसम्भवात्, स्वाद्वन्नभोजने समेषां रागात् प्रवृत्तेः । अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ ४६ ॥

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा ।

पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशꣳस ईशत ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—ब्राह्मणगण, सोमपान करने वाले पितृगण और सत्य की वृद्धि करने वाले देवगण हमारी रक्षा करें । सबका कल्याण करने वाले, अपराधों से दूर रखने वाले पृथ्वी, स्वर्ग और सूर्य हमारी रक्षा करें, पापों से हमारी रक्षा करें । कोई दुष्ट हमसे बढ़कर ऐश्वर्य को न प्राप्त कर सके ॥ ४७ ॥

जगती, लिङ्गोक्तदेवता । ऋतावृध इत्यादिः प्रत्यक्षकृतः, ब्राह्मणास इत्यादिः परोक्षकृतः । ऋतावृध ऋतं सत्यं यज्ञं वा वर्धयन्ति ये ते ऋतावृधः, संहितायाम् 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः । देवा इति सामर्थ्यादध्याहारः । रक्षा रक्षतेति वचनव्यत्ययः । संहितायाम् 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः । माकिः, मा कश्चन अघशंसः पापी नोऽस्माकमीशत ईष्टे ऐश्वर्यं मा करोतु । वयं तद्वशा मा भूमेत्यर्थः । अघं पापं शंसति वक्ति प्रकाशयतीति वा तथोक्तः । दुष्ट ईशतेत्यपि वचनव्यत्ययः । भवत्प्रसादाच्च ब्राह्मणासो ब्राह्मणा नोऽस्मान् पातु पान्तु, वचनव्यत्ययः । पितरश्च पान्तु रक्षन्तु । कीदृशाः पितरः ? सोम्यासः सोमसम्पादिनः सोमपानयोग्याः । द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ नः पाताम् । कीदृश्यौ ? शिवे कल्याणकारिण्यौ । अनेहसा अनेहसौ, ईहते जनः स्वाभाविक्या रागोपहतया बुद्ध्या कर्तुं यत् तद् एह, औणादि-कोऽसुन्, बाहुलकाद् ईकारस्य एकारादेशः, पापमपराधो वेत्यर्थः । नास्ति एहो ययोस्ते तथोक्ते, अनुपहिंसिन्यौ, अपराधनिवर्तिके वा । किञ्च, पूषा सूर्यो नोऽस्मान् दुरितात् पातु रक्षतु ।

अध्यात्मपक्षे—ऋतं सत्यं यज्ञं वा वर्धयन्ति ये ते ऋतावृधः परमेश्वराः, पूजायां बहुवचनम् । हे ऋतावृधः परमेश्वराः, रक्षा रक्षत । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्, परमेश्वरस्य सर्वान्तर्यामित्वात्, सर्वेषामभ्य-र्थनायास्तत एव पूर्तिसम्भवात् । भगवत्प्रसादाच्च ब्राह्मणादयोऽस्मान् पान्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, हे सोम्यास ऋतावृधः पितरो ब्राह्मणासस्ते विद्वांसो नः कल्याणकरा अनेहसा द्यावापृथिवीं च शिवे भवतः । पूषा परमात्मा नो दुरितात् पातु । यतो नो हिंसितुमघशंसो माकिरीशत तान् रक्ष स्तेनान् जहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नः कल्याणकरा इत्यस्य मन्त्रबाह्यत्वात्, सोम्यास आनन्द-कारकगुणयोग्या इति हिन्दीव्याख्यानस्य निर्मूलत्वाच्च, द्यावापृथिव्योस्त्वद्रीत्या जडत्वेन कल्याणकरत्वायोगाच्च । ब्राह्मणासो वेदेश्वरविद इत्यपि निर्मूलम्, 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० सू० ६।४।१७१) इति विरोधात् । स्तेनान् जहीत्यपि मन्त्रबाह्यमेव ॥ ४७ ॥

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता ।
यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ--जो बाण श्रेष्ठ पक्षी के पंख को धारण करता है, उस बाण का फलक शत्रुओं को खोजता है और किरणों से सन्नद्ध धनुषधारी से प्रेरित होकर शत्रुसेना पर गिरता है। जहाँ योद्धागण जाते हैं, नाना प्रकार की गति करते हैं, उस युद्ध में बाण हमारे सहायक हों ॥ ४८ ॥

द्वाभ्यामिषं स्तौति। आद्या त्रिष्टुबपराऽनुष्टुप्। या इषुः सुपर्णं पक्षिपिच्छं वस्ते आच्छादयति, 'वस आच्छादने' सुष्ठु शोभनं पर्णं पिच्छं यस्य सः, सुपर्णः पक्षी, तस्य विकारोऽपि सुपर्णः, 'कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' (निरु० २।५) इति यास्कोक्तेः सुपर्णशब्देन तत्पिच्छं गृह्यते, बाणपुच्छे पिच्छस्य आरोप्यमाणत्वात्। यस्या अस्या इषोर्मृगो मृगयते वेध्यमिति मृगो दन्तः, मृगयतेऽन्विष्यति रिपून् हन्तुमिति मृगः। 'मृग अन्वेषणे' चुरादिरदन्तः, पचाद्यच्, 'मृगमयोऽस्या दन्तो मृगयतेर्वा' (निरु० ९।१९) इति यास्कोक्तेः। दन्तः फलं शल्यम्। तच्च वेध्यस्य मार्गणान्मृग उच्यते। किञ्च, या इषुर्गोभिर्गोविकारैः स्नायुभिः सन्नद्धा बद्धा प्रसूता धनुष्मता प्रेरिता सती पतति, शत्रुबलं प्रति गच्छति। यत्र नरो योद्धृपुरुषाः सं च वि च द्रवन्ति सन्द्रवन्ति सम्यग्गच्छन्ति, विद्रवन्ति विविधं प्रसरन्ति च। चकारौ समुच्चयार्थौ। तत्र रथे इषवो बाणा अस्मभ्यं शर्म सुखं यंसन् यच्छन्तु, सुखं दधत्वित्यर्थः। 'यमु उपरमे' इत्यस्माल्लेटि 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिबागमे, अनुबन्धलोपे तिपि इकारलोपे, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे यंसदिति रूपम्।

अध्यात्मपक्षे या प्रत्यक्चितिरूपा इषुः सुपर्णं वस्ते सुपर्णपिच्छं परिधत्ते, तेनैव परमेश्वरवज्जीवोऽपि सुपर्ण उच्यते, 'द्वा सुपर्णा सयुजा' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रवर्णात्। अस्या इषोः सोपाधिकस्य जीवस्य फलं वृत्त्यभिव्यक्तः प्रकाशो मृगो लक्ष्यं ब्रह्मभूतं मृगयते। या चेषुर्गोभिरिन्द्रियैर्बद्धा उपहिता प्रसूता प्रणवधनुःसन्धात्रा प्रेरिता पतति लक्ष्यं प्रति गच्छति, यत्र च नरः साधकाः सन्द्रवन्ति सम्यग्गच्छन्ति वि च द्रवन्ति विविधं प्रसरन्ति, तत्र साधनाभ्यासे धनुष्मतेव प्रेषितोऽस्मभ्यं साधकेभ्यः, इषव इषुः यंसत् शर्म ब्रह्मरूपं सुखं प्राप्योपरतो भवति, 'अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्' (मु० उ० २।२।४) इति श्रुतेः। अत्र पदपाठे 'यंसन्' इत्येव पठ्यते वैदिकैः। अत्र जीव एव साधकरूपेण धानुष्को भवति। स एव शररूपो भवति, लक्ष्यं ब्रह्म प्राप्य तन्मयतायां जातायामपि तत्प्राप्तिसुखानुभवितृत्वेन चिदाभासस्य साधकस्य विद्यमानत्वात्। अतः परोक्षाप[रो]क्षे ज्ञाने जीवन्मुक्तिर्निरङ्कुशा तृप्तिरित्यादिकमपि साधकैः प्राप्येत।

दयानन्दस्तु--'हे वीराः, यत्र सेवायां नरो नायकाः स्युः, या सुपर्णं वस्ते, यत्र गोभिः सह दन्तो मृग इव इषवो धावन्ति, या सन्नद्धा प्रसूता शत्रुषु पतति, इतस्ततश्चास्या वीराः संद्रवन्ति विद्रवन्ति च, तत्रास्मभ्यं भवन्तः शर्म यंसन्' इति, तदप्यसत्, विसङ्गतेः, गृहादिष्वपि तत्सङ्गत्या विनिगमनाविरहाच्च। वस्ते धरतीत्यप्यशुद्धम्, धात्वर्थविरोधात्। यो मार्ष्टि कस्तूर्या स मृग इत्यप्यसङ्गतम्, हरिणादावपि तत्प्रयोगदर्शनात्। सह दान्तो मृग इव इषवो धावन्तीत्यपि निर्मूलमेव, धावन्तीति क्रियापदस्य मन्त्रेऽदर्शनात्, गोभिः सहेत्यस्य स्वारस्यानुक्तेः, मूले इवपदासत्त्वाच्च। 'तत्र सेनायामस्मभ्यं शर्म भवन्तो यच्छन्तु' इत्यप्यसङ्गतम्, इषव इत्यस्य कर्तृत्वेनान्वये सति भवन्त इत्यस्याध्याहारे श्रुतहान्यश्रुतकल्पनादिप्रसङ्गात्। दन्त इत्यस्य स्थाने दान्त इति कल्पनापि निर्मूलैव ॥ ४८ ॥

ऋजीते परिवृङ्ग्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः ।
सोमो अधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—हे ऋजुगामी बाण, तुम हमें छोड़ दो, अर्थात् हमारे ऊपर प्रहार मत करो। हमारा शरीर पाषाण के समान दृढ़ हो जाय। ईश्वर हमारी रक्षा करें। भगवती अदिति हमें सुख दें ॥ ४९ ॥

हे ऋजीते ऋजुः सरला ईतिर्गतिर्यस्याः सा ऋजीतिः, टिलोप आर्षः, तत्सम्बुद्धौ। हे इषो, नोऽस्मान् परिवृङ्ग्धि परिवर्जय, अस्मासु मा पतेत्यर्थः। नोऽस्माकं तनूः शरीरम्, अश्मा अश्मवत् पाषाणवत् सुदृढा भवतु। सोमो नोऽस्मानधिब्रवीतु, अधिकान् वदतु। अदितिश्च देवमाता शर्म शरणं सुखं वा यच्छतु ददातु।

अध्यात्मपक्षे—हे ऋजीते ऋजुगामिनि प्रत्यक्चिते, हे इषो, नोऽस्मान् साधकान् परिवृङ्ग्धि परिवर्जय, रक्ष व्यसनादिभ्य इति यावत्। प्रत्यक्चिते राजराजेश्वरीरूपत्वात् परप्रेमास्पदत्वात् परमानन्दरूपत्वाच्च त्वत्प्रसादान्नोऽस्माकं तनूः शरीरम् अश्मा वज्रोपमा भवतु। त्वत्प्रसादादेव सोमोऽस्मानधिब्रवीतु, अदितिरखण्डनीया परचितिर्नः शर्म शरणं यच्छतु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वमृजीते सरलव्यवहारे नोऽस्माकं शरीराद् रोगान् परिवृङ्ग्धि परिवर्जय। यतो नस्तनूर्नोऽस्माकं शरीरमश्मा भवतु। यः सोमोऽस्ति, तं या चादितिरस्ति, ते भवान्नोऽधिब्रवीतु नः शर्म यच्छतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, रोगानिति पदस्य मूलेऽभावात्। अदितिः सोमश्च कर्तृपदे। अध्याहारेण तयोः कर्तृत्वापादनमपि निर्मूलमेव ॥ ४९ ॥

आ जङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ२॥ उप जिघ्नते।
अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान् समत्सु चोदय ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में चाबुक की स्तुति की गई है। हे कशे, संग्रामों में तुम शूर मन वाले बहादुर घोड़ों को हमारी विजय के लिये प्रेरित करो। इन घोड़ों के सानुतुल्य मांसल अंगों का हम ताड़न करते हैं, कटिभाग का ताड़न करते हैं ॥ ५० ॥

अनुष्टुप्। कशास्तुतिः। हे अश्वाजनि, अश्वा अज्यन्ते क्षिप्यन्ते यया सा अश्वाजनी, तत्सम्बुद्धौ। हे कशे, 'अज गतौ क्षेपणे च', समत्सु संग्रामेषु त्वमश्वान् चोदय प्रेरय, जयायेति शेषः। कीदृशानश्वान्? प्रचेतसः प्रकृष्टं शूरं चेतो मनो येषां ते प्रचेतसः, तान् परिदृष्टकारिणः, प्रकृष्टज्ञानान् वा। हे कशे, यथा त्वया अश्ववारा अश्वारोहिण एषामश्वानां सानु सानूनि सानुतुल्यानि मांसोपचितान्यङ्गानि, आजङ्घन्ति आघ्नन्ति ताडयन्ति, जघनान् कटिभागान्, उपजिघ्नते निघ्नन्ति, अश्वारोहा यथाश्वान् वशयन्ति, तथा त्वमश्वान् प्रेरयेति भावः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रियाश्वा अज्यन्ते क्षिप्यन्ते यया सा कशा श्रद्धारूपा, तत्सम्बुद्धौ हे अश्वाजनि! समत्सु संसारसङ्गरेष्विन्द्रियाश्वान् चोदय। कीदृशान्? प्रचेतसः प्रकृष्टज्ञानान्। येषामेषामश्वानामश्वारोहाः सानु सानूनि सानुतुल्यान्युपचिताङ्गान्याघ्नन्ति, येषामेषां जघनान् कटिप्रदेशान् उपजिघ्नते निघ्नन्ति, तानश्वान् प्रेरयेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अश्वाजनि विदुषि राज्ञि, यथा वीरा एषां सानु आजङ्घ्नन्ति जघनानुपजिघ्नते, तथा त्वं समत्सु प्रचेतसोऽश्वान् प्रचोदय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विरोधात्। 'या अश्वान् जनयति सुशिक्षितान् करोति, तत्सम्बुद्धौ हे अश्वाजनि' इति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्, धात्वर्थविरोधाच्च। नहि जननं शिक्षणमिति प्रसिद्धम्, अश्वाजनीत्यत्र दीर्घस्य स्त्रीलिङ्गस्य च स्वारस्यानुपपत्तिः। जघनान् यून इत्यपि निर्मूलम्, स्वारस्यशून्यं च ॥ ५० ॥

अहि॑रिव भो॒गैः पर्ये॑ति बा॒हुं ज्याया॑ हे॒तिं प॑रि॒बाध॑मानः।
ह॒स्त॒घ्नो विश्वा॑ व॒युना॑नि वि॒द्वान् पुमा॑न् पुमा॑ꣳसं॒ परि॑पातु वि॒श्वतः॑ ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ प्रस्तुत मन्त्र में हस्तघ्न की स्तुति करते हुए कहा गया है कि सब ज्ञानों का ज्ञाता शूर खेटक या प्रकोष्ठ-त्राण मेरी सब ओर से रक्षा करे, जो कि ज्या के प्रहार का निवारण करता है और भुजा को उसी तरह से घेरे रहता है, जैसे सर्प अपने देह से हाथ आदि को ॥ ५१ ॥

हस्तघ्नः स्तूयते। सप्त त्रिष्टुभः। हस्तघ्नो हस्ते स्थित एव हन्तीति हस्तघ्नः खेटकः, अथवा हस्तं हन्ति प्राप्नोतीति हस्तघ्नः प्रकोष्ठत्राणं पुमांसमक्लीबं मां विश्वतः सर्वतः परिपातु रक्षतु। कथम्भूतो हस्तघ्नः? विश्वा विश्वानि सर्वाणि वयुनानि ज्ञानानि विद्वान् जानानः, अर्थात् सर्वज्ञानोपेतः, परिदृष्टकारी वा पुमान् शूरोऽक्लीबो वा। यश्च अहिरिव सर्प इव भोगैः स्वशरीरावयवैः कृत्वा बाहुं पर्येति हस्तादिकं वेष्टयति। यथा सर्पो भोगैः स्वदेहैर्हस्तादिकं परिवेष्टयति, तथा यः स्वशरीरावयवैर्बाहुं परिवेष्टयति। पुनः कीदृशः? ज्यायाः प्रत्यञ्चाया हेतिं बाणं शत्रुप्रेरितं परिबाधमानो निवर्तयन्, यद्वा ज्याया आयुधविशेषाद् हेतिं बाणं परिबाधमानः। प्रकोष्ठत्राणपक्षे तु ज्याया हेतिं घातं प्रहारं निवारयन्, प्रकोष्ठत्राणस्य ज्याघातनिवारकत्वात्। यद्यपि जडभूतो हस्तघ्नो न सर्वज्ञो न वा प्रार्थनां शृणोति, तथापि तदधिष्ठातृभूता देवतैवात्र स्तूयते, माहाभाग्याच्च सा सर्वं कर्तुं प्रभवत्येव।

अध्यात्मपक्षे—यो देवोऽकारणकारुण्यवशाद् हस्तं हन्ति प्राप्नोति, हस्तप्राप्त इव सुलभोऽस्ति, स परमेश्वर एव हस्तघ्न उच्यते। स एवात्र स्तूयते। एतादृशो हस्तघ्नो भगवान् मां पुमांसं पुरुषार्थरतं विश्वतः सर्वतः परिपातु रक्षतु। कीदृशः? विश्वानि वयुनानि विज्ञानानि विद्वान् जानन्। सर्वज्ञः पुमान् शूरः। यश्च अहिरिव सर्प इव भोगैः स्वशरीरावयवैर्बाहुं पर्येति परिवेष्टयति स्वशरीरं कवचं कृत्वा भक्तं पालयति, यथा श्रीरामो रावणेनामोघशक्त्या हन्यमानं विभीषणं पृष्ठतः कृत्वा स्वात्मानमग्रतः कृत्वा तं रक्षितवान्, तथा रक्षति। ज्यायाः प्रत्यञ्चाया हेतिमाघातं परिबाधमानो निवर्तयन्। ज्याया हेतिमित्याभ्यां पदाभ्यां विविधायुधप्रहारो लक्ष्यते। तेन शत्रुकृतविविधायुधप्रहारं परिबाधमानः, निवर्तयन्नित्यर्थः।

दयानन्दस्तु – हे मनुष्य, यो हस्तघ्नो यो हस्ताभ्यां हन्ति स विद्वान् पुमान् पुरुषार्थी भवान् ज्याया हेतिं बाणं प्रक्षिप्य बाहुं बाधकं शत्रुं परिबाधमानः पुमांसं विश्वतः परिपातु। योऽहिरिव मेघ इव भोगैर्विश्वा वयुनानि पर्येति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बाहुपदस्य बाधकशत्रुबोधकत्वे मानाभावात्। हेतिं प्रक्षिप्येत्यध्याहारस्यापि निर्मूलत्वमेव, बीजाभावात्। अहिरिव भोगैरित्यप्यसम्बद्धमेव। यत्तु टीकायां गर्जन्निवेत्युक्तम्, तदपि मन्त्रबाह्यमेव। भोगैर्विश्वा वयुनानि पर्येतीत्यपि निर्मूलम्, भोगानां ज्ञानसाधनत्वाश्रवणात् ॥ ५१ ॥

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।
गोभिः सन्नद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ – हे वनस्पति के विकार काष्ठमय रथ, तुम्हारे अंग दृढ़ हों । तुम्हारा सखा संग्राम के पार पहुँचने वाला रथी योद्धा रत्नों की किरणों से सन्नद्ध हो । तुम शत्रुओं को स्तम्भित कर दो, तुम्हारा वीर रथी जेतव्य शत्रु पर विजय प्राप्त करे ॥ ५२ ॥

तिस्र ऋचो रथदेवत्याः । हे वनस्पते ! वानस्पत्यकाष्ठमयरथ, 'ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' (निरु० २।५) इति वनस्पतिशब्देन रथ उच्यते । त्वं वीड्वङ्गः, वीडूनि दृढान्यङ्गान्यवयवा यस्य स तथा भूयाः, 'दृढाङ्गो हि भव' (निरु० ९।१२) इति यास्कः । कथम्भूतस्त्वम् ? अस्मत्सखा अस्माकं मित्रभूतः । प्रतरणः प्रतरति संग्रामपारं गच्छतीति तथोक्तः । सुवीरः शोभनो वीरो रथी यस्मिन् सः । किञ्च, हे वनस्पते ! हि यतस्त्वं गोभिर्गोविकारैश्चर्मभिः सन्नद्धो बद्धोऽसि, अतो वीडयस्व आत्मानं संस्तम्भयस्व । आस्थाता ते तव संस्थाता आरोढा रथी जेत्वानि जेतव्यानि शत्रुधनानि जयतु स्वायत्तं करोतु ।

अध्यात्मपक्षे—हे वनस्पते ! संसारवृक्षोपलक्षित तदधिष्ठानभूत परमेश्वर, त्वं वीड्वङ्गो दृढाङ्गो भूयाः । त्वमस्मत्सखा अस्माकं मित्रभूतः प्रतरणः प्रतरति संसारसागरमनेनेति तथोक्तः, अधिष्ठानसाक्षात्कारेणैव संसार-बाधात् । सुवीरः शोभना वीरा यस्मिन् स त्वं गोभिः सन्नद्धः परिवृतोऽसि, श्रीकृष्णरूपेण तवैव गोपालत्वात् । त्वमात्मानं वीडयस्व स्तभान, त्वत्स्थित्यैव त्वदधिष्ठितानां स्थितिसम्भवात् । आस्थाता ते त्वामाश्रित्य स्थितो जेत्वानि जेतव्यानि कामादीनि जयतु ।

दयानन्दस्तु—'हे वनस्पते, त्वमस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरो वीड्वङ्गो हि भूयाः, यतो गोभिः सन्नद्धोऽसी-त्यतोऽस्मान् वीडयस्व । त आस्थाता वीरो जेत्वानि जयतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्यैव दूषणत्वात्, यास्कादिव्याख्यानविरोधाच्च । पृथिव्यादिभिः सर्व एव सम्बद्ध इति तैः सह सन्नद्धत्वे विशेषाभावात् ॥ ५२ ॥

दिवः पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतꣳ सहः ।
अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रꣳ हविषा रथं यज ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अध्वर्यु, तुम स्वर्ग और पृथ्वी से उद्धृत, तेजोमय वृक्षों से बने हुए, बलरूप जल के सार, दिव्य किरणों से वेष्टित, वज्र से उत्पन्न रथ का हविप्रदान द्वारा यजन करो ॥ ५३ ॥

हे अध्वर्यो, त्वं हविषा रथं रथाधिष्ठातारं देवं यज । कीदृशं रथम् ? दिवो द्युलोकात् पृथिव्या भूमेः सकाशाच्च यदोजस्तेजः परि सर्वत उद्भृतम् उद्धृतम्, यच्च वनस्पतिभ्यो वृक्षेभ्यः सकाशात् परि सर्वत आभृतमानीतं सहो बलम्, यच्च अपां जलानां सम्बन्धि, तथा ओज्मानमोजःपरिमाणं तेजःसारभूतं वा । ओजःशब्दाद् आचारक्विपि धातुत्वात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (पा० सू० ३।२।७५) इति मनिनि ओज्मेति, तम् । द्यावापृथिवीवृक्षजलानां तेजश्चतुष्टयेन निर्मितमित्यर्थः । पुनः कीदृशम् ? रथम्, गोभिः किरणैः पर्यावृतं वेष्टितम्, तेजोनिर्मितत्वात् । यद्वा गोभिर्गोविकारैश्चर्मभिर्वेष्टितम्, तथा इन्द्रस्य वज्रम् इन्द्रवज्रादुत्पन्नम्, 'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार । स प्रहृतश्चतुर्धाऽभवत्तस्य स्फ्यस्तृतीयं वा यावद्वा यूपस्तृतीयं वा यावद्वा रथस्तृतीयं वा

यावद्वाथ यत्र प्राहरत्तच्छकलोऽशीर्यत स पतित्वा शरोऽभवत्तस्माच्छरो नाम यदशीर्यतैवमु स चतुर्धा वज्रोऽभवत् ॥ ततो द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति द्वाभ्यांॅ राजन्यबन्धवः' (श० १।२।४।१-२) इति श्रुतेः । एतदभिप्रायस्तु— इन्द्रो यदा वृत्राय वज्रं प्रजहार तदा वृत्रशरीरकाठिन्येन प्रतिहृतं वज्रं चतुर्धा जातम्—(१) यूपः, (२) स्फ्यः, (३) रथः, (४) शरश्चेति । तत्र यूपस्फ्यौ विप्रैर्गृहीतौ, रथशरौ राजन्यैरिति । ईदृशं रथं रथाधिष्ठातारं देवं यजेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अध्वर्यो, त्वं वनस्पतिविकारभूतं रथं यज । वनस्पतिः संसारवृक्षाधिष्ठानभूतः संसारमूलमतः परमात्मैव, 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥' (भ० गी० १५।१) इति गीतोक्तेः । ऊर्ध्वमुत्कृष्टं कारणत्वाद् व्यापकत्वात् सूक्ष्मत्वात् प्रकाशकत्वात् परब्रह्म मूलं यस्य तत्, अधःशाखम् अधःपदवाच्यानि महदादीनि शाखास्थानीयानि यस्य तत्, छन्दांसि गायत्र्यादीनि यस्य पर्णानि पत्राणि, तं तादृशं समूलं वृक्षं प्रतिक्षणं कालासिना छिद्यमानं यो वेद स वेदवित् । वेदार्थभूतब्रह्ममूलत्वात् समूलाश्वत्थविज्ञानेन ब्रह्मैव विज्ञातं भवति । कीदृशं रथम् ? दिवः पृथिव्याः परित उद्भृतम् उद्धृतम् । ओजस्तेजोभूतं वनस्पतिभ्यश्च पर्याभृतम् । सहो वनस्पतिसकाशाच्च परित आहृतं सहो बलम् अपामोज्मानं च अपां सम्बन्धि ओजःपरिणामं च, उपलक्षणमेतत् सर्वेषामपि पदार्थानाम्, सारभूतं तं रथं रमणीयं गोभिः परिवृतं श्रीकृष्णरूपेण गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं वज्रवद् दुर्भेद्यं तादृशं रथं रमणीयं भगवन्तं यजेत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं दिवः पृथिव्या उद्भृतमोजः परियज । वनस्पतिभ्य आभृतं सह परियज । अपां सकाशादोज्मानं च परियज । इन्द्रस्य गोभिरावृतं वज्रं रथं हविषा यज' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरर्थकत्वात्, कस्यचिन्मनुष्यस्य तादृशसामर्थ्यासम्भवात् । सूर्यात् पृथिव्या ओजस उद्धरणे तस्यान्येभ्यो दानस्य च मनुष्ये सामर्थ्यादृष्टेः । तथैव वटादिवनस्पतिभ्यः सहस आभरणम्, अपां सम्बन्धनम्, पराक्रमस्य सङ्कलनमन्यत्र सञ्चारणं च न मानवशक्तिगम्यम्, अलौकिकशक्तीनां देवानां त्वयाऽनङ्गीकाराच्च ॥ ५३ ॥

इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ म॒रुता॒मनी॑कं मि॒त्रस्य॒ गर्भो॒ वरु॑णस्य॒ नाभिः॑ ।
सेमां नो॑ ह॒व्यदा॑तिं जुषा॒णो देव॑ रथ॒ प्रति॑ ह॒व्या गृ॑भाय ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—हे देव रथ, तुम वज्र से उत्पन्न हो, जयदाता मरुद्गण के साधक, सूर्य के गर्भरूप और वरुण के नाभिरूप हो । तुम हमारी दी हुई इन हवियों का सेवन करो, उनका ग्रहण करो ॥ ५४ ॥

हे रथ हे देव, स त्वं हव्या हव्यानि हवींषि प्रतिगृभाय प्रतिगृहाण, गृह्णातेः 'हलः श्नः शानज्झौ' (पा० सू० ३।१।८३) इत्यनुवृत्तौ, 'छन्दसि शायजपि' (पा० सू० ३।१।८४) इति हौ परे श्नाप्रत्ययस्य शायजादेशे, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ८।२।३२, वा० १) इति हकारस्य भकारे रूपम् । इन्द्रस्य वज्रोऽसि, वज्रोत्पन्नत्वात् । मरुतां देवानामनीकं मुखमसि, देवानां जयप्रापकत्वात् । मित्रस्य देवस्य गर्भोऽसि, गीर्यते स्तूयत इति गर्भः, 'अर्तिगृभ्यां भन्' (उ० ३।१५२) इति गृणाते रूपम् । वरुणस्य नाभिः, नह्यते बध्यतेऽरिरनेनेति नाभिः, 'नहो भश्च' (उ० ४।१२७) इति इञ्प्रत्यये हकारस्य भकारे च रूपम्, वरुणस्य देवस्य बन्धनसाधनम्, नोऽस्माकमिमां हव्यदातिं हविषो दानं जुषाणः सेवमानः । स इमामित्यत्र 'सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्' (पा० सू० ६।१।१३४) इति सन्धिः ।

अध्यात्मपक्षे—हे देव, स्वप्रकाश परमेश्वर, रथवद् रमणकारक ! त्वं हव्या हवींषि प्रतिगृभाय प्रतिगृहाण । कीदृशस्त्वमिन्द्रस्य वज्रोऽसि वज्रवदविदुषां भयदोऽसि, 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठो० ६।२) इति काठकश्रुतेः । मरुतामनीकं सेनेव विजयहेतुरसि । मित्रस्य मित्रेण सूर्येण, विभक्तिव्यत्ययः, गर्भः स्तुत्योऽसि । वरुणस्य नाभिर्बन्धनसाधनशस्त्ररूपोऽसि । स त्वमिमां नो हव्यदातिं हविर्दानं जुषाणः सेवमानो हव्यानि प्रतिगृहाणेति सम्बन्धः ।

दयानन्दस्तु –'हे देव रथ, इमां हव्यदातिं जुषाणः स त्वं य इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिरसि, नोऽस्मान् हव्या च प्रतिगृभाय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रसिद्धिविरोधात् । इन्द्रस्य विद्युतो वज्रनिपात इति प्रसिद्धिविरोध एव, वज्रशब्दस्य निपातार्थत्वाभावात् । मरुतां मनुष्याणामित्यपि न, निर्मूलत्वात् । नाभिरात्मनो मध्यवर्ती विचार इत्यपि निर्मूलम्, आत्मनोऽणुत्वेन तन्मध्यत्वासिद्धेः । आत्मपदमपि निर्मूलम् । विचारोऽपि नार्थः, निर्मूलत्वादेव । हव्या आदातुमर्हाणि वस्तूनीत्यपि यत्किञ्चित्, रूढ्या योगापहारात् ॥ ५४ ॥

उप॑श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ मनुतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त् ।
स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद् दवी॑यो॒ अप॑सेध॒ शत्रू॑न् ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—हे दुन्दुभि, पृथ्वी और अन्तरिक्ष को अपने शब्द से भर दो । नाना रूपों में स्थित यह स्थावर-जंगम जगत् तुमसे भली प्रकार परिचित हो जाय । इन्द्र और देवताओं से प्रसाद प्राप्त कर तुम बहुत दूर-दूर के शत्रुओं को भी हटा दो ॥ ५५ ॥

तिस्र ऋचो दुन्दुभिदेवत्याः । हे दुन्दुभे, त्वं पृथिवीं भूमिमुत द्यामन्तरिक्षमपि उपश्वासय स्वनिनादेन निनादवन्तं कुरु । उपपूर्वकस्य शसेरत्र शब्दार्थे वृत्तिः । विष्ठितं विविधं स्थितं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् पुरुत्रा बहुधा ते त्वां मनुतां जानातु । स त्वं दूराद् दवीयोऽतिदूरं शत्रून् अपसेध अपगमय अपसारय । अत्यन्तं दूरं दवीयः, दूरशब्दादीयसुनि 'स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः' (पा० सू० ६।४।१५६) इति रेफस्य लोपे ऊकारस्य गुणे रूपम् । कथम्भूतस्त्वम् ? इन्द्रेण देवैश्च सजूः प्रीतियुक्तः ।

अध्यात्मपक्षे—हे दुन्दुभे, भगवदर्चनकीर्तनाद्युपयुक्त वाद्यविशेष ! त्वं पृथिवीमुत द्यां द्युलोकमपि उपश्वासय उपश्लोकय निनादय, येन दिशाममङ्गलं विहन्येत । विष्ठितं विविधं स्थितं स्थावरं जगच्च सर्वं विश्वं पुरुत्रा बहुधा ते त्वां मनुताम् । स त्वं दवीयोऽत्यन्तं दूरं शत्रून् कामादीनमङ्गलरूपान् अपसेध अपसारय । स त्वमिन्द्रेण परमात्मना देवैरन्यैश्च सजूः प्रीतियुक्तो दवीयोऽत्यन्तं दूरं शत्रून् कामादीनमङ्गलरूपान् अपसेध अपसारय ।

दयानन्दस्तु—'हे दुन्दुभे, स त्वमिन्द्रेण देवैः सजूर्दूरात् शत्रून् दवीयोऽपसेध । पुरुत्रा पृथिवीमुत द्यामुपश्वासय । भवान् ताभ्यां विष्ठितं जगन्मनुताम् । तस्य ते राज्यमनिन्दितं स्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रबाह्यत्वात् । दुन्दुभिपदेन तद्वद् गर्जनशीलस्य वीरस्य ग्रहणमपि गौणार्थाश्रयणमेव, सत्यां शक्तौ भाक्तस्यार्थस्याग्राह्यत्वात्, मनुष्यस्य कस्यापि पृथिव्याकाशयोरुपजीवनासम्भवात् । ताभ्यां विष्ठितं जगन्मनुतामित्यपि यत्किञ्चित्, मन्त्रबाह्यत्वात् ॥ ५५ ॥

आक्रन्दय बलमोजो न आधा निष्टनिहि दुरिता बाधमानः ।
अपप्रोथ दुन्दुभे दुच्छुना इत इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—हे दुन्दुभि, तुम शत्रु-सेना को रुला दो, हमें उत्साह से भर दो। पापों का निरादर करने वाले शब्द को चारों तरफ गुंजा दो। हमारी सेना के पास फटकने वाले शत्रुओं को कुत्तों के समान भगा दो, क्योंकि तुम इन्द्र की मुष्टि हो, अतः हमें सब तरह से मजबूत बना दो ॥ ५६ ॥

हे दुन्दुभे ! त्वं बलं शत्रुसैन्यम्, आक्रन्दय रोदय, पलायध्वं मदीयाः सर्वे वीरा हता इत्यादिदीनान् शब्दान् कारय। नोऽस्माकमोजस्तेज आधा आधेहि। दुरिता दुरितानि पापानि बाधमानो निराकुर्वन् निष्टनिहि जयाय निश्चितं शब्दं कुरु। 'स्तनगदी देवशब्दे' चुरादिरदन्तः। किञ्चेतोऽस्मत्सेनायाः सकाशाद् दुश्छुना दुष्टाश्च ते श्वानः श्वसदृशाः शत्रवो दुश्छ्वानः, तान् दुष्टान् श्वसदृशान् शत्रून् अपप्रोथय नाशय। 'प्रोथृ पर्याप्तौ' भौवादिकः, अत्र नाशनार्थे वृत्तिः। यतस्त्वमिन्द्रस्य मुष्टिरसि मुष्टिवदङ्गभूतोऽसि, अतो वीडयस्वात्मानम्, अस्मांश्च दृढय। यद्वा दुश्छुना दुष्टशुन इव याः शत्रुसेनास्ता अपप्रोथ अपकृत्य नाशय। सुखवचनो वा शुनाशब्दः, शुनति प्राप्नोति प्राप्तुं प्रयतते सर्वोऽपि यं स शुनः। 'शुन गतौ' तौदादिकः। इगुपधलक्षणः कः। स्त्रियां शुना। दुःखं बहुकष्टसाध्यं यथा स्यात्तथा शुना सुखं यस्याः सा दुश्छुना शत्रुसेना — इत्युव्वटाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे हे दुन्दुभे, भगवदर्चनकीर्तनादिसम्बन्धिवाद्यविशेष ! त्वं शत्रूणां कामादीनां बलं सैन्यमाक्रन्दय रोदय। नोऽस्माकं साधकानामोजो ध्यानज्ञानादिसामर्थ्यमाधा आधेहि। दुरिता दुरितानि बाधमानो निष्टनिहि निश्चितं भगवद्बोधकान् महावाक्यादीन् भगवन्नामशब्दांश्च कुरु। दुश्छुना दुष्टशुन इव याः शत्रुसेना दुःसुखा वा ता इतोऽस्मज्ज्ञानवैराग्यादिसेनायाः सकाशाद् अपप्रोथ नाशय। त्वमिन्द्रस्य परमात्मनो मुष्टिरसि मुष्टिरिव मुष्टिरसि, तदर्चनकीर्तनादिसाधनत्वात्। अतो वीडयस्वात्मानमस्मान् वा दृढय।

दयानन्दस्तु - 'हे दुन्दुभे, दुरिता बाधमानस्त्वं नो बलमाक्रन्दय, ओज आधाः, सैन्यं निष्टनिहि, ये दुश्छुनास्तानपाक्रन्दय, यतस्त्वं मुष्टिरसि, तस्मादित इन्द्रस्य वीडयस्व सुखानि प्रोथ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्, आक्रन्दयतेः प्रापणार्थे प्रयोगादर्शनाच्च। प्रोथतेः पूरणार्थतापि चिन्त्यैव ॥ ५६ ॥

आमूरज प्रत्यावर्तयेमाः केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीति ।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर, आप हमारी इन शत्रु-सेनाओं को सब ओर से हटा दें। जिस तरह दुन्दुभि जान-बूझ कर जोरों से निनाद करती है, उसी तरह हमारी सेनाएँ भी जयशब्द का घोष करती हुई वापिस आवें। अश्व के समान धीर गति से चलने वाले हमारे योद्धा हर्ष मनावें, हमारे रथी विजय प्राप्त करें ॥ ५७ ॥

ऐन्द्री। हे इन्द्र ! अमूः शत्रुसेनास्त्वमा समन्तादज क्षिप 'अज गतिक्षेपणयोः'। इमा अस्मदीयाः सेनाः प्रत्यावर्तय जयं प्रापय्य प्रत्यानय। केतुमत् प्रज्ञानवद् दुन्दुभिर्वावदीति जितं जितमित्यत्यर्थं वदतु। लोडर्थे लट्। किञ्च, नोऽस्माकं नरो योधा अश्वपर्णा अश्ववत् पर्णं पतनं येषां ते, सञ्चरन्ति सञ्चरन्तु। नोऽस्माकं रथिनो जयन्तु, त्वत्प्रसादादिति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, अमूः कामादिशत्रुसेनास्त्वमासमन्ताद् अज क्षिप। दुन्दुभिस्त्वदर्चन-कीर्तनसम्बद्धो वाद्यविशेषः, केतुमत् प्रज्ञानवान्, लिङ्गव्यत्ययः, जितं जितमिति वावदीति अत्यर्थं वदतु। इमा अस्मज्ज्ञानवैराग्यादिसेनाः प्रत्यावर्तय जयं प्रापय्य प्रत्यानय। किञ्च, नोऽस्माकं नरो योधाः सञ्चरन्तु। कीदृशाः ? अश्वपर्णा अश्वपतनाः। किञ्चास्माकं रथिनो रथस्था इव युद्धे जयन्तु जयं प्राप्नुवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, त्वमपुराऽज इमाः केतुमत् प्रत्यावर्तय। यथा दुन्दुभिर्वावदीति, तथा नोऽश्वपर्णाः सञ्चरन्ति। येऽस्माकं रथिनो नरः शत्रून् जयन्तु, ते सत्कृताः स्युः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'केतुमत्' इत्यस्य सेना इति पदेन सम्बन्धविप्रकर्षात्, मूले सेनापदाभावाच्च, दुन्दुभिर्वावदीतीत्यस्य चासम्बद्धत्वात्। अश्वपर्णा अश्वानां पर्णानि पालनानि यासु ता इत्यप्यसङ्गतम्, सेनानामश्वपालनस्थलत्वासिद्धेः। अश्वशालासु पालन-मश्वानां भवति न सेनासु, सेनासु च युद्धार्थमश्वानां स्थितिः॥ ५७॥

आग्नेयः कृष्णग्रीवः सारस्वती मेषी बभ्रुः सौम्यः पौष्णः श्यामः शितिपृष्ठो बार्हस्पत्यः शिल्पो वैश्वदेव ऐन्द्रोऽरुणो मारुतः कल्माष ऐन्द्राग्नः सँहितोऽधोरामः सावित्रो वारुणः कृष्ण एकशितिपात् पेत्वः॥ ५८॥

मन्त्रार्थ—कृष्णग्रीव पशु का देवता अग्नि है। मेषी की देवता सरस्वती, पिंगल वर्ण पशु का देवता सोम, कृष्ण-वर्ण पशु का देवता पूषा, श्यामपृष्ठ पशु का देवता बृहस्पति, विचित्र वर्ण पशु के देवता विश्वेदेव, रक्तवर्ण पशु का देवता इन्द्र, कर्बुरवर्ण पशु के देवता मरुद्गण, दृढ़ांग पशु के देवता इन्द्राग्नी, अधोदेश में श्वेत वर्ण के पशु के देवता सविता, एक श्वेत पाद वाले और अन्यत्र कृष्णवर्ण वेगवान् पशु के देवता वरुण हैं॥ ५८॥

आग्नेयः कृष्णग्रीव इति श्रुतिरा अध्यायपरिसमाप्तेः, 'द्वे त्वेवैते एकादशिन्यावालभेत' (श० १३।५।१।१३) इति श्रुतिरश्वमेधे पठिता। तयोरेकादशिन्योः पशवस्तद्देवताश्च कण्डिकाद्वयेनोच्यन्ते। तेनेमानि ब्राह्मणानि द्रव्यदेवताप्रतिपादकानि, न तु मन्त्राः। कृष्णग्रीवः कृष्णा ग्रीवा यस्य सः पशुराग्नेयोऽग्निदेवत्यः। मेषी सारस्वती। बभ्रुः पिङ्गलवर्णः पशुः सोम्यः सोमदेवत्यः। श्यामः पौष्णः कृष्णवर्णः पशुः पूषदेवत्यः। शितिपृष्ठः शिति श्यामं पृष्ठं यस्य सः, बार्हस्पत्यो बृहस्पतिदेवत्यः। शिल्पो विचित्रवर्णो वैश्वदेवः, विश्वेदेव-देवत्यः। अरुणो रक्त ऐन्द्र इन्द्रदेवत्यः कल्माषः कर्बुरो मारुतो मरुद्देवत्यः। संहितो दृढाङ्ग ऐन्द्राग्न इन्द्राग्नि-देवत्यः। अधोरामोऽधोदेशे श्वेतः सावित्र सवितृदेवत्यः। 'रामा योषा हिङ्गुनद्योः क्लीबं वास्तूककुष्ठयोः। ना राघवे च वरुणे रैणुकेये हलायुधे॥ हये च पशुभेदे च त्रिषु चारौ सितेऽसिते॥' (११० २६-२७) इति मान्तवर्गे मेदिनी। एकशितिपाद् एकः शितिः श्वेतः पादो यस्य सः, एकपादे श्वैत्यम्, अन्यत्र कृष्णत्वम्, पेत्वः पतनशीलो वेगवान् पशुः, वारुणो वरुणदेवत्यः। एवमेकादश पशवः।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यप्रदर्शनपराणि वाक्यानि। कृष्णग्रीवः पशुस्तेन समर्हणीया देवता च ब्रह्मैव वेदितव्यम्, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इति श्रुतेः, 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० ४।५।७) इति च। एवमेव सारस्वती मेषीत्यादिकमपि व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं य आग्नेयः स कृष्णग्रीवः, या सारस्वती सा मेषी, यः सौम्यः स बभ्रुः····· य एकशितिपात् पेत्वः कृष्णः स वारुणश्चेत्येतान् विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, व्यभिचारान्निर्मूलत्वाच्च, योऽग्निगुणकः स कृष्णग्रीवो भवतीत्यस्य निर्मूलत्वात्, अग्निगुणयुक्तेषु मनुष्यादिषु कृष्णग्रीवत्वाद्यदर्शनात्।

एवमेकशितिपात् पेत्वो वारुण इत्यपि निर्मूलम्। सिद्धान्ते तु ब्राह्मणवाक्यबलात् कृष्णग्रीवस्याजपशोराग्नेयत्वं सिद्धम्। वचनबलादेव तादृशेन पशुनाग्नेर्यजनम्॥ ५८॥

अग्नयेऽनीकवते रोहिताञ्जिरनड्वानधोरामौ सावित्रौ पौष्णौ रजतनाभी वैश्वदेवौ पिशङ्गौ तूपरौ मारुतः कल्माष आग्नेयः कृष्णोऽजः सारस्वती मेषी वारुणः पेत्वः॥ ५९॥

मन्त्रार्थ—रक्ततिलक वाला वृषभ सेना वाले अग्नि के निमित्त है। अधोभाग में श्वेत दो पशु सविता देवता के, रजतवर्ण नाभि वाले दो पशु पूषा देवता के, पीत और बिना सींग के दो पशु विश्वेदेव देवताओं के, कर्बुरवर्ण पशु मरुद्गणों के, श्यामवर्ण मेष अग्नि देवता के, मेषी सरस्वती देवता के और वेगवान् पशु वरुण देवता के निमित्त कल्पित हैं॥ ५९॥

द्वितीयैकादशिनीपशून् देवांश्चाह—रोहिताञ्जिः रोहितो रक्तोऽञ्जिस्तिलको यस्यासौ, अनड्वान् ऋषभोऽनीकवतेऽनीकं मुखं सैन्यं वा यस्यास्ति सोऽनीकवान्, तस्मै अग्नये नियोज्यः। अधोरामौ अधोभागे श्वेतौ द्वौ पशू सावित्रौ सवितृदेवत्यौ। रजतनाभी रजतवद् रजतवर्णा नाभिर्ययोस्तौ पौष्णौ पूषदेवत्यौ। पिशङ्गौ पीतौ तूपरौ निःशृङ्गौ वैश्वदेवौ विश्वदेवदेवत्यौ। कल्माषः कर्बुरो मारुतो मरुद्देवत्यः। कृष्णः श्यामोऽजश्छाग आग्नेयोऽग्निदेवत्यः। सारस्वती सरस्वतीदेवत्या मेषी। पेत्वो वेगवान् वारुणो वरुणदेवत्यः।

अध्यात्मपक्षे—रोहिताञ्जिरनड्वान् तेन यजनीयोऽनीकवानग्निश्च परब्रह्मैव, तद्विकारत्वात्। एवमन्यदप्यूह्यम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अनीकवतेऽग्नये रोहिताञ्जिरनड्वान् सावित्रावधोरामौ····वारुणः पेत्वश्चास्ति, तान् यथागुणं प्रयोजय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वादेव, सेनापतये रक्तानुडुह उपयोगायोगात्। न च कृषिकार्यार्थं तदिति वाच्यम्, रोहितादिविशेषणस्य वैयर्थ्यापातात्, निर्मूलत्वाच्च॥ ५९॥

अग्नये गायत्राय त्रिवृते राथन्तरायाष्टाकपाल इन्द्राय त्रैष्टुभाय पञ्चदशाय बार्हतायैकादशकपालो विश्वेभ्यो देवेभ्यो जागतेभ्यः सप्तदशेभ्यो वैरूपेभ्यो द्वादशकपालो मित्रावरुणाभ्यामानुष्टुभाभ्यामेकविꣳशाभ्यां वैराजाभ्यां पयस्या बृहस्पतये पाङ्क्ताय त्रिणवाय शाक्वराय चरुः सवित्र औष्णिहाय त्रयस्त्रिꣳशाय रैवताय द्वादशकपालः प्राजापत्यश्चरुरदित्यै विष्णुपत्न्यै चरुरग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालोऽनुमत्या अष्टाकपालः॥ ६०॥

ऊनत्रिंशोऽध्यायः॥

मन्त्रार्थ—गायत्री से, त्रिवृत् सोम से और रथन्तर साम से स्तुत अग्नि के लिये अष्टाकपाल में संस्कृत पुरोडाश देना चाहिये। त्रिष्टुप् से, पंचदश स्तोम से और बृहत् साम से स्तुत इन्द्र के लिये एकादशकपाल में संस्कृत पुरोडाश देना चाहिये। जगती छन्द से, सप्तदश स्तोम से और वैरूप साम से स्तुत विश्वेदेव देवताओं को द्वादशकपाल में संस्कृत पुरोडाश देना चाहिये। अनुष्टुप् छन्द से, एकविंश स्तोम से और वैराज साम से स्तुत मित्रावरुण देवताओं को दुग्ध में शृत चरु अर्पित करना चाहिये। पंक्ति छन्द से, त्रिणव स्तोम से और शाक्वर साम से स्तुत बृहस्पति के लिये चरु देना

चाहिये। उष्णिक् छन्द से, त्रयस्त्रिंश स्तोम से और रैवत साम से स्तुत सविता अथवा शिव के निमित्त द्वादशकपाल में संस्कृत पुरोडाश देना चाहिये। प्रजापति देवता और विष्णुपत्नी अदिति के लिये चरु अर्पित करना चाहिये। वैश्वानर अग्नि के लिये द्वादशकपाल में संस्कृत चरु और अनुमति देवी के लिये अष्टाकपाल में संस्कृत पुरोडाश अर्पित करना चाहिये ॥ ६० ॥

'अथाग्नीषोमीयस्य पशुपुरोडाशमनुदिशामवेष्टीर्निर्वपति' (श० ९।४।३।१०) इत्युपक्रम्य 'तदाहुर्दश-हविषमेवैतामिष्टिं निर्वपेत्' (श० ९।४।३।११) इति श्रुतौ दशहविष्कावेष्टिसंज्ञेष्टिः श्रुता। तस्या देवता हवींषि चाह—अग्नय इत्यादि। इमानि ब्राह्मणानि, न मन्त्राः। अग्नयेऽष्टादशकपालः पुरोडाशः कार्यः। अष्टासु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशोऽष्टाकपालः। 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (पा० सू० २।१।५१) इति समासः। 'अष्टनः कपाले हविषि' (पा० सू० ६।३।४६, वा० २) इत्यष्टन आत्वे रूपम्। कथम्भूतायाग्नये ? गायत्राय गायत्र्या स्तुताय राथन्तराय रथन्तरसाम्ना स्तुताय। इन्द्राय एकादशकपालः पुरोडाशः कार्यः। समासः पूर्ववत्। कीदृशायेन्द्राय ? त्रैष्टुभाय त्रिष्टुभा स्तुताय पञ्चदशाय पञ्चदशस्तोमस्तुताय बार्हताय बृहत्सामस्तुताय। विश्वेभ्यो देवेभ्यो द्वादशकपालः पुरोडाशः कार्यः। कीदृशेभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यः ? जागतेभ्यो जगत्या स्तुतेभ्यः सप्तदशेभ्यः सप्तदशस्तोमस्तुतेभ्यो वैरूपेभ्यो वैरूपसामस्तुतेभ्यः। मित्रावरुणाभ्यां पयस्या पयसि श्रितश्चरुः कार्यः। कीदृशाभ्यां मित्रावरुणाभ्याम् ? आनुष्टुभाभ्याम् अनुष्टुभा स्तुताभ्याम् एकविंशाभ्याम् एकविंशस्तोम-स्तुताभ्यां वैराजाभ्यां वैराजसामस्तुताभ्याम्। बृहस्पतये चरुः कार्यः। कीदृशाय बृहस्पतये ? पाङ्क्ताय पङ्क्तिच्छन्दसा स्तुताय त्रिणवाय त्रिणवस्तोमस्तुताय शाक्वराय शाक्वरसामस्तुताय। सवित्रे द्वादशकपालः पुरोडाशः कार्यः। कीदृशाय सवित्रे ? औष्णिहाय उष्णिक्छन्दसा स्तुताय त्रयस्त्रिंशाय त्रयस्त्रिंशस्तोमस्तुताय रैवताय रैवतसामस्तुताय। एवं छन्दःस्तोमसहितान् षड्देवानभिधाय चतुरः केवलानाह—प्राजापत्यश्चरुः, प्रजापतिदेवत्यश्चरुः कार्यः। विष्णुपत्न्यै अदित्यै चरुरेव। वैश्वानराय वैश्वानरगुणविशिष्टायाग्नये द्वादशकपालः पुरोडाशः कार्यः। अनुमत्यै देवतायै अष्टाकपालः पुरोडाशः कार्यः। दशहविषावेष्टेर्देवता हवींष्यप्यश्वमेधोपयोगि-त्वादुक्तानि, 'समिद्धो अञ्जन्' इत्याश्वमेधिकोऽध्याय इत्यनुक्रमण्यां कात्यायनोक्तेः।

अध्यात्मपक्षे—छन्दःस्तोमसामसहिता देवास्तदुपयुक्तानि द्रव्याणि केवला देवा द्रव्याणि च ब्रह्मात्मका-न्येव, तद्विवर्तत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिस्त्रिवृते राथन्तराय गायत्रायाग्नयेऽष्टाकपालः पञ्चदशाय त्रैष्टुभाय बार्हतायैन्द्रायैकादशकपालः····अनुमत्या अष्टाकपालश्च निर्मातव्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वैदिकपदार्थ-ज्ञानशून्यत्वात्। यत्तु गायत्र्यादिच्छन्दोविज्ञापिताय, त्रिवृते यस्त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोगुणैर्युक्तस्तस्मै, राथन्तराय यो रथैः समुद्रादींस्तरति तस्मै पावकायाष्टाकपालः पुरोडाश इत्यादिव्याख्यानम्, तदपि बालभाषितं मूर्खजन-प्रतारणं वा, त्रिवृदादिस्तोमानां रथन्तरादिसाम्नां ब्राह्मणग्रन्थेषु लक्षितत्वात्। त्रिवृद्गतत्रिशब्दश्रवणेन त्रयाणां गुणानां कल्पनं निर्मूलमेव। यथा घटपदेन चेष्टामात्रार्थग्रहणम्, पङ्कजशब्देन पङ्कजनिकर्तृत्वेन कुमुदादिग्रहणम्, व्याघ्रपदेन विशेषेण आसमन्ताद् घ्राणकर्तृत्वेन प्रसिद्धार्थातिरिक्तग्रहणम्, तद्वत् ॥ ६० ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायाम्
ऊनत्रिंशोऽध्यायः ॥

त्रिंशोऽध्यायः

देवं सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे सबके प्रेरक सविता देव, आप यज्ञ को प्रेरित करें, यजमान को भी सौभाग्य के निमित्त प्रेरित करें। स्वर्ग में स्थित, दूसरे के चित्त में वर्तमान ज्ञान का शोधन करने वाले, वाणी को धारण करने वाले सविता देवता हमारे चित्तवर्ती ज्ञान को ब्रह्मज्ञान से पवित्र करें। वाणी के पति सविता देव हमारी वाणी को मधुरता से भर दें, हमारी वाणी उन्हें भली लगे ॥ १ ॥

अत्राध्याये पञ्चमीं कण्डिकामारभ्य यावदध्यायसमाप्ति ब्राह्मणम्, मन्त्रधर्मेण पठ्यमानम्। हे देव सवितः, यज्ञं प्रसुव प्रकर्षेण प्रेरय, यज्ञपतिं यजमानं च भगाय सौभाग्याय प्रसुव। किञ्च, दिव्यो दिवि भवः स्वर्गस्थः, केतपूः केतं परचित्ते वर्तमानं ज्ञानं पुनाति शोधयतीति तादृशः, गन्धर्वो गां वाचं धारयतीति गन्धर्वः सविता, नोऽस्माकं केतं चित्तवर्ति विज्ञानं पुनातु अनात्मनिराकरणब्रह्माभिव्यञ्जनेन शोधयतु। वाचस्पतिः, वाचो वाण्याः पतिः सविता नोऽस्मदीयां वाचं स्वदतु स्वादयतु, अस्मदुक्ता वाक् तस्मै रोचतामित्यर्थः। अन्यद् यद्वक्तव्यं तदेकादशे सप्तम्यां कण्डिकायामुक्तम्।

'इत उत्तरं पुरुषमेधः। द्वावध्यायौ नारायणः पुरुषोऽपश्यत्। ब्राह्मणराजन्ययोरतिष्ठाकामयोः पुरुषमेधसंज्ञको यज्ञो भवति। सर्वभूतान्यतिक्रम्य स्थानमतिष्ठा। चैत्रशुक्लद्वादश्यामारम्भः। अत्र त्रयोविंशतिर्दीक्षा भवन्ति, द्वादशोपदसः, पञ्च सुत्या इति चत्वारिंशद्दिनैः सिद्ध्यति। अत्र यूपैकादशिनी भवति। एकादशाग्नीषोमीयाः पशवो भवन्ति। तेषां च प्रतियूपं मध्यमे वा यूपे यथेच्छं नियोजनम्। आज्येन सकृद्गृहीतेन देव सवितरिति प्रत्यृचं तिस्र आहुतीराहवनीये जुहोति' इति महीधराचार्यः ॥ १ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—उस सबके प्रकाशक और प्रेरक आदित्यान्तर्गत पुरुषरूप ब्रह्म का जो सभी के द्वारा प्रार्थनीय पापनाशक तेज है, उसका हम ध्यान करते हैं। वह सविता देवता हमारी बुद्धि को सत्कर्मानुष्ठान की प्रेरणा दे ॥ २ ॥

तत् तस्य देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्यादित्यान्तर्गतपुरुषस्य वा ब्रह्मणो वरेण्यं वरणीयं सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदं सर्वसम्भजनीयं भर्गः सर्वपापानां सर्वसंसारस्य च भर्जनसमर्थं तेजः स्वरूपभूतं सत्यज्ञानानन्दलक्षणं तेजो वयं धीमहि ध्यायामः। तस्य कस्य? यः सविता नोऽस्माकं धियो बुद्धीः कर्माणि वा प्रचोदयात् प्रकर्षेण प्रेरयति, सत्कर्मानुष्ठानायेति शेषः। अन्यद् यद्वक्तव्यं तत् तृतीये पञ्चत्रिंश्यां कण्डिकायामुक्तम् ॥ २ ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्य भगवन्, अथवा नाना प्रकार के अवतारों से क्रीड़नशील विष्णुदेव, आप सारे पापों को हमसे दूर करें। जो कल्याण है, शुभ है, वह हमें प्राप्त करावें ॥ ३ ॥

हे देव सवितः ! विश्वानि सर्वाणि दुरितानि पातकानि परासुव पराञ्चि गमय, दूरे गमय। यच्च भद्रं कल्याणं तन्नोऽस्मान् प्रति आसुव आगमय।

अध्यात्मपक्षे—हे देव ! द्योतमान सवितः, सर्वप्रेरकान्तर्यामिन्, विश्वानि सर्वाणि दुरितान्यज्ञानं तत्कार्याणि च परासुव ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसम्पादनेन अपगमय। यच्च भद्रं भन्दनीयं कल्याणं ब्रह्मात्मकं वा वस्तु तन्नोऽस्मान् प्रति आसुव आगमय प्रापय।

दयानन्दस्तु—'हे देव सवितः, त्वमस्मद्विश्वानि दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव जनय' इति, तत्तु नासङ्गतम्, किन्तु यत् 'देव उत्तमगुणकर्मस्वभावसवितः ! उत्तमगुणकर्मस्वभावेषु प्रेरक' इत्यादिकम्, तत्तु स्वाभ्यूहितमात्रम्, धात्वर्थाननुरोधात् ॥ ३ ॥

वि॒भ॒क्तार॑ᳪं हवामहे॒ वसो॑श्चि॒त्रस्य॒ राध॑सः। स॒वि॒तारं॒ नृ॒चक्ष॑सम् ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हम भक्तगण नाना प्रकार के धन और योगधन को विभक्त कर देने वाले, अन्तर्यामी, सबके प्रेरक परमात्मा का आह्वान करते हैं ॥ ४ ॥

वयं सवितारं विश्वस्य प्रसवितारं हवामहे आह्वयामः। कथम्भूतं सवितारम् ? वसोर्वासयितुः, तथा चित्रस्य नानाविधस्य विलक्षणस्य वा राधसो धनस्य आयुषो वा विभक्तारं विभज्य कर्मानुसारं दातारं नृचक्षसं नृणां प्राणिनां चक्षसं द्रष्टारम्। ये नरो यथा क्रूरया सौम्यया अनुग्राहिकया वा दृष्ट्या बुद्ध्या वा द्रष्टव्यास्तां-स्तथा पश्यति।

अध्यात्मपक्षे—चित्रस्य विलक्षणस्य आश्चर्यरूपस्य सर्वातिशायिनो ज्ञानविज्ञानलक्षणस्य वसोरज्ञाना-च्छादकस्य राधसो धनस्य आयुषो वा कर्मानुसारं यथायोग्यं विभज्य दातारं नृचक्षसं सर्वप्राणिसाक्षिणं सवितारं सर्वप्रपञ्चस्योत्पादयितारं हवामहे आह्वयामः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यं वसोश्चित्रस्य राधसो विभक्तारं सवितारं नृचक्षसं वयं हवामहे, तं यूयमप्याह्वयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, हवामहे प्रशंसेमेत्यस्यापि निर्मूलत्वात् ॥ ४ ॥

ब्रह्म॑णे ब्राह्म॒णं क्ष॒त्राय॑ राज॒न्यं॒ म॒रुद्भ्यो॒ वैश्यं॒ तप॑से शू॒द्रं तम॑से॒ तस्क॑रं नार॒काय॑ वीर॒हणं॑ पा॒प्मने॑ क्ली॒बमा॑क्र॒याया॑ अयो॒गूं कामा॑य पुँश्च॒लूमति॑क्रु॒ष्टाय॑ माग॒धम् ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—नारायण पुरुष की स्तुति करने के बाद प्रस्तुत मन्त्र में पुरुषमेध के पशु और देवताओं का उल्लेख है। ये सब पशु यज्ञान्त में छोड़ दिये जाते हैं। इस पुरुषमेध यज्ञ में ब्रह्म के लिये ब्राह्मण को, क्षत्र के लिये राजन्य को, मरुद्गणों के लिये वैश्य को, तप के लिये शूद्र को, तम के लिये स्तेन को, नारक के लिये नष्टाग्नि अथवा शूर को, पाप के लिये नपुंसक को, आक्रया देवता के लिये अयोगू को, काम के लिये व्यभिचारिणी को और अतिक्रुष्ट के लिये मागध को नियुक्त किया गया है ॥ ५ ॥

अतः परं पुरुषमेधीयाः पशव आ अध्यायसमाप्तेरुच्यन्ते। प्रतियूपमेकैकमेकादशिनं नियुज्य ब्राह्मणादीनष्टचत्वारिंशत्संख्याकान् पुरुषान् प्रकामोद्याय सदमित्यन्तानग्निष्टे यूपे नियुनक्ति। इतरेषु यूपेषु एकादशैकादश पुरुषान् वर्णायानुरुधमित्यादीन्नियुनक्ति। ब्रह्मणे ब्राह्मणम्। तत्र ब्रह्मणे ब्रह्मदेवतायै ब्राह्मणं पुरुषं जुष्टं नियुनज्मीत्यग्निष्टे ब्राह्मणं प्रथमं नियुनक्ति। एवमग्रे सर्वेषां यूप एव बन्धनम्। अत्र चतुर्थ्यन्तं देवतापदं द्वितीयान्तं पुरुषपदं बोद्धव्यम्। क्षत्राय देवाय राजन्यं क्षत्रियत्वजातिविशिष्टं पुरुषं जुष्टम्, मरुद्भ्यो देवेभ्यो वैश्यं वैश्यत्वजातिविशिष्टं पुरुषम्, तपसे देवाय शूद्रत्वजातिविशिष्टं पुरुषम्, तमसे तमोऽधिष्ठातृदेवाय तस्करं स्तेनम्, नारकाय देवाय वीरहणं नष्टाग्निं पुरुषं शूरं वा, पाप्मने देवाय क्लीबं नपुंसकम्, आक्रयायै देवाय अयोगूमयसो गन्तारम्, कामाय देवाय पुंश्चलूं व्यभिचारिणीम्, अतिक्रुष्टाय मागधं मगधदेशजं क्षत्रियायां वैश्यपुंसो जातं वा, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे– ब्रह्मादयो देवास्तेषां यजनसाधनभूता ब्राह्मणादयः पुरुषाश्च ब्रह्मरूपा एव, तज्जलानत्वात्।

दयानन्दस्तु –'हे परमेश्वर राजन् वा, त्वमत्र ब्रह्मणे वेदेश्वरज्ञानप्रचाराय ब्राह्मणं वेदेश्वरविदम्, क्षत्राय राज्याय पालनाय वा राजन्यं राजपुरुषम्, मरुद्भ्यः पश्वादिभ्यः प्रजाभ्यो वैश्यं विक्षु प्रजासु भवम्, तपसे सन्तापजन्याय सेवनाय शूद्रं सेवकं शुद्धिकरं सर्वतो जनय। तमसेऽन्धकाराय तस्करं चोरम्, नारकाय दुःखबन्धने भवाय कारागाराय वा वीरहणं यो वीरान् हन्ति तम्, पाप्मने पापाचरणाय क्लीबम्, आक्रयायै आक्रमन्ति प्राणिनो यस्यां तस्यै हिंसायै प्रवर्तमानमयोगुमयसा शस्त्रविशेषेण सह गन्तारम्, कामाय विषयसेवनाय प्रवृत्तां पुंश्चलूं युवभिः सह चलचित्ताम्, अतिक्रुष्टाय अत्यन्तनिन्दनाय प्रवर्तकं मागधं नृशंसं दूरे गमय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारमूलकत्वात्, ब्रह्मपदस्य वेदेश्वरार्थत्वे सत्यपि तत्प्रचारार्थताया निर्मूलत्वाच्च। वेदेश्वरविदुत्पत्तिप्रार्थनमपि निर्मूलम्, मन्त्रबाह्यत्वात्। क्षत्रपदमपि न राज्यपरम्, प्रमाणशून्यत्वात्। मरुत्पदस्य प्रजार्थता, वैश्यपदस्य विक्षु प्रसिद्धता च निर्मूलैव। 'तपसे' इत्यनेन दुःखोत्पन्नम्, शूद्रपदेन शुद्धिकारक इत्यपि निर्मूलम्। अन्धकाराय प्रत्तमित्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव। नरकाय कारागारायेत्यपि निर्मूलम्। पाप्मने क्लीबं पापाचरणाय प्रवृत्तं क्लीबमित्युक्तेर्व्यर्थत्वात्। हिंसायै प्रवृत्तमयसा शस्त्रविशेषेण प्रवृत्तं दूरे गमयेत्यादिकमपि निर्मूलम्, मन्त्रबाह्यत्वात्। एवमन्यदप्यूह्यम् ॥ ५ ॥

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठायै भीमलं नर्माय रेभꣳ हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं प्रमदे कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणम् ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—नृत्त के लिये सूत को, गीत के लिये नट को, धर्म के लिये शैलूष को, नरिष्ठ देवता के लिये भयंकर पुरुष को, नर्म के लिये वाचाल को, हस के लिये कारी को, आनन्द के लिये स्त्री के सखा को, प्रमद के लिये कानीन को, मेधा के लिये रथकार को और धैर्य के लिये सूत्रधार को नियुक्त किया गया है ॥ ६ ॥

नृत्ताय नृत्याधिष्ठातृदेवाय सूतं ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातं पुरुषं जुष्टं रुचितम्, गीताय गीताधिष्ठात्रे देवाय शैलूषं नटम्। धर्माय देवाय सभाचरं सभायां चरतीति सभाचरस्तम्, नरिष्ठायै देवतायै भीमलं भयङ्करं पुरुषम्, नर्माय देवाय रेभं शब्दकर्तारं वाचाटम्, हसाय देवाय कारिं करोतीत्येवंशीलं कारणविशिष्टम्, हसनाय देवाय हसनकारणविशिष्टम्, आनन्दाय देवाय स्त्रीषखं स्त्रियाः सखायम्, प्रमदे प्रमदाधिष्ठात्रे देवाय कुमारीपुत्रं

कानीनम्. मेधायै रथकारं माहिष्येण करण्यां जातम्, धैर्याय तक्षाणं तक्षणक्रियाकर्तारं सूत्रधारं वर्धकिम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नर्माय रेभं काव्यतायै स्तोतारम् आनन्दाय स्त्रीषखं मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणमासुव । नरिष्ठायै भीमलं हसाय कारिं प्रमदे कुमारीपुत्रं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहाराणां निर्मूलत्वात् । अतिशयिता दुष्टा नरा सन्ति यस्यां तस्यै प्रवृत्तमित्यप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात् । न च सूतो नृत्योपयोगी, तस्य वंशगौरवस्तोतृत्वात् । न च शैलूषशब्दस्य गायनमर्थो भवति, निर्मूलत्वात् । न च धर्मशब्दस्य धर्माचरणमर्थः । न वा तत्र सभाचारिणः कोऽप्युपयोगः । न च मेधायै रथकारस्योपयोगः, किन्तु रथकरणाय मेधाया उपयोगो भवति । न वा धैर्याय तक्ष्ण उपयोगः, कथञ्चिद् धैर्यस्यैव तक्षण उपयोगात्, तस्मात् प्रमादे प्रवृत्तं कुमारीपुत्रं परासुवेत्युक्त्याऽन्येषां तत्र प्रवृत्तेरिष्टापत्तेः । एतस्मात् सिद्धान्तसम्मतमेव व्याख्यानं युक्तम् ॥ ६ ॥

तपसे कौलालं मायायै कर्मारँ᳐ रूपाय मणिकारँ᳐ शुभे वपँ᳐ शरव्याया इषुकारँ᳐ हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं दिष्टाय रज्जुसर्जं मृत्यवे मृगयुमन्तकाय श्वनिनम् ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—तप के लिये कुलालपुत्र को, माया के लिये लोहकार को, रूप के लिये मणिकार को, शुभ के लिये बीजवप्ता (किसान) को, शरव्या के लिये बाणकर्ता को, हेति के लिये धनुष्कर्ता को, कर्म के लिये ज्याकर्ता को, दिष्ट के लिये रज्जुस्रष्टा को, मृत्यु के लिये मृगग्राही को और अन्तक के लिये श्वानपाल को नियुक्त किया गया है ॥ ७ ॥

तपसे तपोदेवतायै कौलालं कुलालापत्यम्, मायायै मायादेवतायै कर्मारं लोहकारम्, रूपाय रूपाभिमानि-देवतायै मणिकारं रत्नपरिष्कर्तारम्, शुभे शुभाय देवाय वपं बीजवप्तारम्, शरव्यायै लक्ष्याधिष्ठातृदेवतायै इषुकारं बाणकर्तारम्, हेत्यै शस्त्राधिष्ठातृदेवतायै धनुष्कारं चापनिर्मातारम्, कर्मणे क्रियाधिष्ठातृदेवतायै ज्याकारं प्रत्यञ्चनकर्तारम्, दिष्टाय भागधेयदेवतायै रज्जुसर्जं रज्जुनिर्मातारम्, मृत्यवे मृत्युदेवतायै मृगयुं मृगग्राहिणम्, अन्तकाय देवाय श्वनिनं शुनो नेतारं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश नरेश वा, त्वं तपसे कौलालं मायायै कर्मारं यः कर्माण्यलङ्करोति तं रूपाय मणिकारं शुभे वपं शरव्यायै इषुकारं हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं दिष्टाय रज्जुसर्जमासुव । मृत्यवे मृगयु-मन्तकाय श्वनिनं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः । नहि तापाय कुलालपुत्रसृष्टिः, तस्यानुद्देश्यत्वात् । नहि मायायै प्रज्ञायै कर्मारो भवति, प्रज्ञया कर्मारत्वसम्भवात् । न च रूपशब्दस्य रूपनिर्मापकोऽर्थः, प्रमाण-शून्यत्वात् । शुभे शुभाचरणमित्यप्यनर्थः, निर्मूलत्वात् । न च तत्र तपस्योपयोगः, कृषीबलानामशुभाचरणत्व-स्यापि सम्भवात् । यो वपति क्षेत्राणि कृषीवल इव विद्यादिशुभगुणानित्यपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात् । शरव्यायै शरनिर्माणायेत्यपि न सङ्गतम्, निर्मूलत्वात् । न वा वज्रादिनिर्माणाय धनुष्कार उपयुज्यते, न वा क्रियासामान्य-सिद्धये ज्याकारोपयोगः, प्रत्यञ्चाकारस्य तन्निर्माण एवोपयोगात् ॥ ७ ॥

नदीभ्यः पौञ्जिष्ठमृक्षीकाभ्यो नैषादं पुरुषव्याघ्राय दुर्मदं गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यं प्रयुग्भ्य उन्मत्तᳬं सर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदमयेभ्यः कितवमीर्यताया अकितवं पिशाचेभ्यो विदलकारीं यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम् ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—नदियों के लिये पुल्कश की सन्तान को, ऋक्षीकों के लिये निषादपुत्र को, पुरुषव्याघ्र के लिये उन्मत्त को, गन्धर्व और अप्सराओं के लिये सावित्रीपतित को, प्रयुगों के लिये उन्मत्त को, सर्पदेवजनों के लिये विकल को, अयों के लिये द्यूतकार को, ईर्यता देवी के लिये अकितव को, पिशाचों के लिये वंशपात्रकारिणी को और यातुधानों के लिये कंटकी कर्म करने वाली को नियुक्त किया गया है ॥ ८ ॥

नदीभ्यो देवताभ्यः पौञ्जिष्ठं पुञ्जिष्ठोऽन्त्यजः पुल्कसस्तदपत्यम्, ऋक्षीकाभ्यो नैषादं निषादपुत्रम्, पुरुषव्याघ्राय दुर्मदमुन्मत्तम्, गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यं सावित्रीपतितम्, प्रयुग्भ्य उन्मत्तम्, दीर्घकालादिति शेषः, सर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदं प्रतिपद्यते झटिति जानातीति प्रतिपत्, न प्रतिपद् अप्रतिपत्, तं ज्ञानविकलम्, अयेभ्यः शुभावहविधिदेवताभ्यः कितवं द्यूतकारम्, ईर्यतायै ईर्ते कम्पयतीति ईर्यता, धातोर्यगागमोऽतच्प्रत्ययश्च औणादिकः, तस्यै अकितवम् अद्यूतकारम्, पिशाचेभ्यो विदलकारीं वंशविदारिणीं वंशपात्रकारिणीम्, यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीं केषुचिदपि कर्मसु विघ्नकारिणीं जुष्टं नियुनज्मि।

अध्यात्मपक्षे—नदीभ्यस्तदधिष्ठात्रीभ्यो देवताभ्यः पौञ्जिष्ठमन्त्यजपुत्रम्, ऋक्षी भल्लूकी तदधिष्ठात्रीभ्यो नैषादम्, पुरुषव्याघ्राय पुरुषो व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रस्तस्मै तदधिष्ठातृदेवाय दुर्मदमुन्मत्तम्, सर्पजनदेवेभ्योऽप्रतिपदं ज्ञानविकलम्, अयेभ्यः कितवम्, ईर्यतायै अकितवम्, पिशाचेभ्यो विदलकारीं यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम्—एते देवास्तद्यजनसाधनभूताश्च पुरुषा ब्रह्मरूपा एव, ब्रह्मकारणकत्वात्, देवबोधकपदानां विविधव्याख्यासम्भवेऽपि प्रसिद्धेः प्राधान्यबोधनाय व्याख्यायामनाग्रहः।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर, नृप वा, नदीभ्यः सरिद्विनाशाय प्रवृत्तं पौञ्जिष्ठं पुक्कसम्, ऋक्षीकाभ्यो या ऋक्षा गतीः कुर्वन्ति ताभ्यः प्रवृत्तं नैषादं निषादस्य पुत्रम्, पुरुषव्याघ्राय व्याघ्र इव पुरुषस्तस्मै हितं दुर्मदं दुष्टाभिमानम्, गन्धर्वाप्सरोभ्यः प्रवृत्तं व्रात्यमसंस्कृतं प्रयुग्भ्यो ये प्रयुञ्जते तेभ्यः प्रवृत्तमुन्मत्तं सर्पदेवजनेभ्यो हितमप्रतिपदमनिश्चितबुद्धिमयेभ्योऽय्यन्ते प्राप्यन्ते पदार्थास्तेभ्यः प्रवृत्तं कितवम्, ईर्यतायै प्रवृत्तमकितवं पिशिता नष्टा आशा येषां ते पिशाचाः, पिशितं सरक्तं मांसमाचामन्ति ये ते वा पिशाचास्तेभ्यो विदलकारीम्, यातुधानेभ्यो यान्ति येषु ते यातवो मार्गास्तेभ्यो धनं येषां तेभ्यः प्रवृत्तं कण्टकीकारीं या कण्टकीं करोति तां परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादीनां निर्मूलत्वात्। परासुवेत्यध्याहारोऽपि मन्त्रबाह्य एव। नदीभ्य इत्यस्य सरिद्विनाशाय प्रवृत्तमित्यर्थकरणं तु सर्वथैव निर्मूलं मूर्खजनप्रतारणं च। ऋक्षीकाभ्य इत्येतदर्थोऽपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वादेव। पुरुषव्याघ्रपदे समासोऽपि—'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (पा० सू० २।१।५६) इति सूत्रेण भवति, उपमानोपमेयोभयसमभिव्याहारे उपमानस्यैव विशेषणत्वात् पूर्वनिपाते प्राप्ते विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थमस्य सूत्रस्य आवश्यकत्वात्। उत्तरपदे विद्यमानानां व्याघ्रादिपदानां श्रेष्ठार्थवाचकत्वममरसिंहेन प्रोक्तम्। तथाहि—'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः। सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः॥' (अ० को० ३।१।५९)। तथा च पुरुषव्याघ्राय पुरुषश्रेष्ठाय दुर्मदः कथं हितकारी स्यात्? गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यः किमर्थं प्रवर्तेत? अव्रात्यानामपि तत्र प्रवृत्तिदर्शनात्। प्रयोक्तारः के? कस्य वा? इत्यस्पष्टमेव। सर्पजनदेवेभ्योऽप्रतिपदस्य कः सम्बन्धः? अप्रतिपदस्य पदार्थाश्चेदर्थस्तर्हि कितवेन तस्य कः सम्बन्धः? अकितवानामपि

तत्सम्बन्धस्य सत्त्वात्। एवमेव पिशाचेभ्यो विदलकारी कथं सम्बद्ध्येत ? यातुधानपदस्य मार्गेभ्यो धनमायाति यस्य सविधे स यातुधान इति व्युत्पत्तिरपि निर्मूलैव, राक्षसेषु तत्प्रयोगस्य कोषादिषु सिद्धत्वात्, व्युत्पत्त्यनुसारं यातुधनेति रूपापत्तेश्च, तैः कण्टकीकार्याः कः सम्बन्ध इत्यनुक्तेश्च, किमर्थं च तेषां दूरे वासदानमित्यनुक्तेश्च ॥ ८ ॥

सन्धये जारं गेहायोपपतिमार्त्यै परिवित्तं निर्ऋत्यै परिविविदानमराध्या एदिधिषुःपतिं निष्कृत्यै पेशस्कारीᳪं संज्ञानाय स्मरकारीं प्रकामोद्यायोपसदं वर्णायानरुधं बलायोपदाम् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—सन्धि के लिये जार को, गेह के लिये उपपति को, आर्ति के लिये परिवित्ति (छोटे भाई का विवाह हो जाने पर अनब्याहा बड़ा भाई) को, निर्ऋति के लिये परिविदान (बड़े भाई का विवाह न होने पर विवाह किया छोटा भाई) को, आराध्या के लिये बड़ी बहिन का विवाह न होने पर छोटी बहिन के पति को, निष्कृति के लिये पेशस्कारी को, संज्ञान के लिये कामदीप्तिकारी को, प्रकामोद्य के लिये समीप में रहने वाले को, वर्णदेवता के लिये अनुचर को और बल के लिये उपायनदाता को नियुक्त किया गया है ॥ ९ ॥

सन्धये सन्ध्यधिष्ठात्रे देवाय जारं जरयति परलोकं स्वैरचारितया यस्तम्, नियुनज्मीति शेषः। गेहाय गेहाधिष्ठातृदेवाय उपपतिं व्यभिचारिणं पुरुषम्, परस्त्रीषु स्वयं प्रवृत्तो जारः, परस्त्रीभिरौपपत्येनाङ्गीकृत उपपतिरिति तयोर्भेदः कल्पनीयः। आर्तिर्विपत्तिः पीडा वा, तदधिष्ठात्र्यै देवतायै परिवित्तं पुरुषं नियुनज्मि कनिष्ठे ऊढेऽप्यनूढं ज्येष्ठम्, नैर्ऋत्यै तदभिधदेवतायै परिविविदानमनूढे ज्येष्ठे ऊढवन्तं पुरुषम्, आराध्यै देवतायै एदिधिषुःपतिं पुरुषम्, ज्येष्ठायां भगिन्यामनूढायाम् ऊढा कनिष्ठा एदिधिषुस्तत्पतिम्, निष्कृत्यै देवतायै पेशस्कारीं प्रसाधनादिरूपकर्त्रीम्, संज्ञानाय देवाय स्मरकारीं कामोद्दीप्तिकारिणीम्, प्रकामोद्याय तत्संज्ञाय देवाय उपसदम् उपसीदति यस्तं समीपस्थितम् एतानग्निष्टे यूपे नियुनक्ति।

अथ द्वितीये यूपे वर्णायानुरुधमित्यादीन् एकादश नियुनक्ति। वर्णाय देवाय अनुरुधमनुरुणद्ध्यनुसरतीत्यनुरुत् तम्, बलाय बलाधिष्ठात्रे तत्संज्ञाय वा देवाय उपदाम् उपददातीत्युपदा उपायनदाता उत्कोचदाता वा, तं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे— तत्तत्संज्ञान् देवान् तद्यजनसाधनभूतान् पुरुषपशूंश्च ब्रह्मैव विद्यात्।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर सभेश राजन् वा, त्वं सन्धये परस्त्रीसमागमाय प्रवर्तमानं जारं व्यभिचारिणं गेहाय गृहपत्नीसमागमाय प्रवृत्तमुपपतिं पत्युः समीपे वर्तते यस्तं परासुव। आर्त्यै कामपीडायै प्रवृत्तं परिवित्तं निर्ऋत्यै पृथिव्यै प्रवृत्तं परिविविदानं निष्कृत्यै प्रायश्चित्ताय प्रवर्तमानं पेशस्कारीं रूपकर्त्रीं संज्ञानाय कामप्रबोधनाय प्रवर्तमानं स्मरकारीं यः प्रकृष्टैः कामैरुद्यतस्तस्मै उपसदं वर्णाय स्वीकरणाय प्रवृत्तमनुरुधं बलाय बलवृद्धये उपदामुप समीपे दीयत इत्युपदा, तं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनानां निर्मूलत्वात्, सन्धिपदस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात्। गेहायेत्यस्य व्याख्यानमपि निर्मूलम्। 'आर्त्यै कामपीडायै' इत्यपि निर्मूलम्, एतैश्च परिवित्त्यादीनां सम्बन्धविशेषानिरूपणाच्च ॥ ९ ॥

उत्सादेभ्यः कुब्जं प्रमुदे वामनं द्वार्भ्यः स्रामꣳ स्वप्नायान्धमधर्माय बधिरं पवित्राय भिषजं प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शमाशिक्षायै प्रश्निनमुपशिक्षाया अभिप्रश्निनं मर्यादायै प्रश्नविवाकम् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—उत्साद देवताओं के लिये कुबड़े को, प्रमुद के लिये वामन को, द्वार देवताओं के लिये सदा कीचड़-भरी आँखों वाले को, स्वप्न के लिये नेत्रहीन को, अधर्म के लिये बहरे को, पवित्र के लिये वैद्य को, प्रज्ञान के लिये ज्योतिषी को, आशिक्षा के लिये शकुन आदि बताने वाले को, उपशिक्षा के लिये अभिप्रश्न करने वाले को और मर्यादा के लिये प्रश्नवक्ता को नियुक्त किया गया है ॥ १० ॥

उत्सादेभ्यः, उत्सीदन्ति प्राणिनो येभ्यस्ते उत्सादा विनाशास्तत्संज्ञकेभ्यस्तदधिष्ठातृभ्यो वा देवेभ्यः कुब्जं वक्राङ्गं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। प्रमुदे तत्संज्ञकाय देवाय वामनं ह्रस्वाङ्गम्, द्वार्भ्यो द्वारदेवताभ्यः स्रामं सदा जलक्लिन्ननेत्रम्, स्वप्नाय स्वप्नसंज्ञकाय देवायाऽन्धं नेत्रहीनम्, अधर्माय बधिरं कर्णेन्द्रियरहितम्, पवित्राय भिषजं वैद्यम्, प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शं नक्षत्राणि दर्शयतीति नक्षत्रदर्शो गणकस्तम्, आशिक्षायै आ समन्तात् शिक्षा सर्वाङ्गपूर्णशिक्षा तन्नाम्न्यै तदधिष्ठात्र्यै वा देवतायै प्रश्निनं प्रश्नवन्तं शकुनादिद्रष्टारम्, उपशिक्षायै अभिप्रश्निनमभिप्रश्नवन्तम्। एतान् द्वितीये यूपे प्रत्येकं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। अथ तृतीये यूपे—मर्यादायै तन्नामदेवतायै प्रश्नविवाकं यः प्रश्नान् उपस्थितान् विविनक्ति स प्रश्नविवाकस्तम्।

अध्यात्मपक्षे—एता देवतास्तत्तर्पणसाधनभूताः पुरुषपशवः सर्वे आनन्दसिन्धुसमुद्भूता आनन्दरसात्मका एव।

दयानन्दस्तु—'हे परमेश्वर राजन् वा, त्वमुत्सादेभ्यः कुब्जं प्रमुदे वामनं द्वार्भ्यः स्रामं स्वप्नायान्धमधर्माय बधिरं परासुव। पवित्राय भेषजं प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शमाशिक्षायै प्रश्निनमुपशिक्षाया अभिप्रश्निनं मर्यादायै प्रश्नविवाकमासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नाशकारणेषु कुब्जानामकुब्जानां चोभयेषां प्रवृत्त्यविशेषात्, तथैव प्रमुदेऽपि वामनेतराणामपि प्रवृत्तेः। द्वार्भ्यः सवर्णेभ्य आच्छादनेभ्य इत्यप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्, अधर्मादीनां बधिरादिभिः सम्बन्धविशेषानिरूपणात्। पापनिवारणेन पावित्र्यं भवति न रोगनिवारणेन, तथा सत्यप्यपवित्रतादर्शनात्। नक्षत्राणि सर्वे पश्यन्ति, न च तावतापि ते प्रज्ञानवन्तो भवन्ति। उपशिक्षायै उपवेदादिविद्योपादानमिति व्याख्यानमप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्। न च प्रश्नैर्बहुप्रश्नैर्वा तदधिगतिः, तथात्वे यत्नान्तरस्य वैयर्थ्यापातात् ॥ १० ॥

अर्मेभ्यो हस्तिपं जवायाश्वपं पुष्ट्यै गोपालं वीर्यायाविपालं तेजसेऽजपालमिरायै कीनाशं कीलालाय सुराकारं भद्राय गृहपꣳ श्रेयसे वित्तधमाध्यक्ष्यायानुक्षत्तारम् ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—अर्म नामक देवताओं के लिये गजपाल को, जव के लिये अश्वपाल को, पुष्टि के लिये धेनुपाल को, वीर्य के लिये अविपाल को, तेज के लिये अजपाल को, इरा के लिये कर्षुक को, कीलाल के लिये सुराकार को, भद्र के लिये गृहपाल को, श्रेय के लिये धनकर्ता को और आध्यक्ष्य के लिये सारथि को नियुक्त किया गया है ॥ ११ ॥

अर्मेभ्यः, अर्मेति नेत्रगोलके श्वेतभागे जायमानः कश्चन रोगविशेषः, 'माँडा' इति प्रसिद्धस्तदधिष्ठातृदेवेभ्यो हस्तिपं महामात्रं 'महावत' इति लोके ख्यातम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। जवाय वेगाधिष्ठातृदेवाय अश्वपम्, 'सईस' इति ख्यातम्, पुष्ट्यै गोपालं धेनुपालकम्, वीर्याय अविपालम्, 'भेड़िहार' इति ख्यातम्, तेजसेऽजपालम्, इरायै इराशब्देन भूर्वाक् सुरा आप इति चत्वारोऽर्था उच्यन्ते, 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' (३।३।१७६) इत्यमरः, तदधिष्ठातृदेवतायै कीनाशं कृषीबलम्, कीलालाय कीलालशब्देन रुधिरं जलं चेति द्वावर्थौ गृह्येते, 'शोणितेऽम्भसि कीलालम्' (३।३।२००), इत्यमरः, तदधिष्ठातृदेवतायै सुराकारं मद्यकर्तारम्, भद्राय भद्रो बलीवर्दस्तदधिष्ठातृदेवाय गृहपं गेहपालम्, श्रेयसे अतिशोभनाय देवाय वित्तधं वित्तं दधातीति वित्तधस्तम्, आध्यक्ष्याय अध्यक्षोऽधिकृतः, 'अध्यक्षेऽधिकृतः' (३।३।२५) इत्यमरः, तस्य भाव आध्यक्ष्यम्, अधिकारिपदमिति यावत्, तदभिमानिने देवाय अनुक्षत्तारं सारथ्यनुसारिणम्। एतान् तृतीये यूपे नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे ईश्वर राजन् वा, त्वमर्मेभ्यः प्रापकेभ्यो हस्तिपं जवाय अश्वपं पुष्ट्यै गोपालं वीर्यायाविपालं तेजसेऽजपालमिरायै अन्नादिवृद्धये कीनाशं कीलालाय सुराकारं भद्राय गृहपं श्रेयसे धर्मार्थकामप्राप्तये वित्तधमाध्यक्ष्यायानुक्षत्तारमासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अर्मादिभिर्हस्तिपादीनां सम्बन्धविशेषानुक्तेः, नह्यन्नादिकं सुराकारादिभिर्लभ्यते॥ ११॥

भायै दार्वाहारं प्रभाया अग्न्येधं ब्रध्नस्य विष्टपायाभिषेक्तारं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारं देवलोकाय पेशितारं मनुष्यलोकाय प्रकरितारꣳ सर्वेभ्यो लोकेभ्य उपसेक्तारमवर्ऋत्यै वधायोपमन्थितारं मेधाय वासःपल्पूलीं प्रकामाय रजयित्रीम्॥ १२॥

मन्त्रार्थ—भा के लिये लकड़हारे को, प्रभा के लिये अग्निवर्धक को, सूर्यलोक के लिये अभिषेक्ता को, उत्कृष्ट स्वर्ग के लिये परिवेषणकर्ता को, देवलोक के लिये प्रतिमा आदि बनाने वाले शिल्पी को, मनुष्य लोक के लिये विक्षेप्ता को, सब लोकों के लिये उपसेचनकर्ता को, अवऋति वध के लिये उपमन्थन कर्ता को, मेधा के लिये वस्त्र धोने वाली धोबिन को और प्रकाम के लिये वस्त्र रंगने वाली स्त्री को नियुक्त किया गया है॥ १२॥

अथ चतुर्थे यूपे जुष्टं नियुनज्मीति भायै देवतायै दार्वाहारं काष्ठानामाहर्तारम्, प्रभायै देवतायै अग्न्येधमग्निमेधयतीत्यग्न्येधोऽग्नेर्वर्धकस्तम्, ब्रध्नस्य बध्नाति तिमिरमिति ब्रध्नः सूर्यः, 'बन्धेर्ब्रधिबुधी च' (उ० ३।५) इति नक्प्रत्ययः, तस्य विष्टपं विशन्ति यत्र तत्, 'विटपविष्टप' (उ० ३।१४५) इति निपातितो मध्योदात्तस्तस्मै सूर्यलोकाय अभिषेक्तारं रुद्राद्यभिषेककर्तारम्, वर्षिष्ठायातिशयेन वृद्ध इति वर्षिष्ठस्तस्मै नाकाय कं सुखम्, न कम् अकं दुःखम्, न अकं नाकं सुखमयं स्वर्गमिति यावत्, तस्मै उत्कृष्टस्वर्गाय परिवेष्टारं परिवेषणकर्तारम्, देवलोकाय तदधिष्ठात्रे देवाय पेशितारं पिंशतीति पेशिता तम्, 'पिश अवयवे' प्रतिमाद्यवयवकर्तारम्, मनुष्यलोकाय तदधिष्ठात्रे देवाय प्रकरितारम्, 'कॄ विक्षेपे' विक्षेप्तारम्, सर्वेभ्यो लोकेभ्य उपसेक्तारमुपसेचनकर्तारम्, अवऋत्यै अवनीता दूरं गता ऋतिर्घृणा यस्याः सा अवऋतिस्तस्यै वधाय हन्यत इति वधः, भावे 'हनश्च वधः' (पा० सू० ३।३।७६) इत्यप्प्रत्ययो वधादेशश्च, तस्मै संज्ञपनाधिष्ठात्रे देवाय उपमन्थितारमुपमन्थनकर्तारम्, मेधाय मेधते सङ्गच्छत इति मेधस्तस्मै देवाय वासःपल्पूलीं वाससां शोधनकर्तारम्, 'पल्पूल लवनपवनयोः' चौरादिकः, अयं शोधनद्रव्येऽपि, तथा च श्रुतिः—'नास्य पल्पूलनेन वासः पल्पूलयेयुः'

(तै० सं० २।५।५।६), अत्र भाष्यम् -'पल्पूलनं वस्त्रशुद्धिसाधनमूषादि, तेनास्य वासो न शोधयेयुः' इति, प्रकामाय देवाय रजयित्रीं वस्त्राणां रञ्जनकर्त्रीं नारीं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे - पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु--'हे जगदीश्वर राजन् वा, त्वं भायै दीप्त्यै दार्वाहारं प्रभायै अग्न्येधं ब्रध्नस्याश्वस्य विशन्ति यत्र तस्मै मार्गायाभिषेककर्तारं वर्षिष्ठायातिवृद्धाय श्रेष्ठाय नाकायाविद्यमानदुःखाय परिवेष्टारं देवानां लोकाय दर्शनाय वेशितारं मनुष्यलोकाय मनुष्यत्वदर्शनाय प्रकरितारं सर्वेभ्यो लोकेभ्य उपसेक्तारं मेधाय सङ्गमाय वासःपल्पूलीं प्रकामाय रजयित्रीमासुव, अवऋत्यै विरुद्धप्राप्तये वधाय हननाय उपमन्थितारं समीपे विलोडितारं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादीनां निर्मूलत्वात्, भादिभिर्दार्वाहारादीनां सम्बन्धविशेषासिद्धेः॥ १२॥

ऋतये स्तेनहृदयं वैरहत्याय पिशुनं विविक्त्यै क्षत्तारमौपद्रष्ट्र्यायाऽनुक्षत्तारं बलायानुचरं भूम्ने परिष्कन्दं प्रियाय प्रियवादिनमरिष्ट्या अश्वसादꣳ स्वर्गाय लोकाय भागदुघं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम्॥ १३॥

मन्त्रार्थ—ऋति के लिये स्तेनहृदय को, वैरहत्या के लिये चुगलखोर को, विविक्ति के लिये प्रतीहार को, औपद्रष्ट्य के लिये प्रतीहार के सेवक को, बल के लिये अनुचर को, भूमा के लिये परिष्कन्द को, प्रिय के लिये मधुरभाषी को, अरिष्टि के लिये अश्वारोह को, स्वर्गलोक के लिये विभागदाता को और उत्कृष्ट स्वर्ग के लिये परिवेष्टा को नियुक्त किया गया है॥ १३॥

ऋतये देवतायै स्तेनहृदयं स्तेनस्येव हृदयं यस्य स स्तेनहृदयस्तं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। अथ पञ्चमे यूपे—वैरहत्याय हननं हत्या 'हनस्त च' (पा० सू० ३।१।१०८) इति क्यपि तकारान्तादेशे च रूपम्, वीरस्य कर्म वैरम्, 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' (पा०-सू० ५।१।३०) इत्यण्, वैरस्य हत्या यत्र स वैरहत्यः परमहिंसकस्तस्मै पिशुनं परवृत्तसूचकम्, विविक्त्यै देवतायै क्षत्तारं प्रतीहारम्, औपद्रष्ट्र्याय देवाय अनुक्षत्तारं प्रतीहारसेवकम्, बलायानुचरं सेवकम्, भूम्ने देवाय परिष्कन्दं परितः स्कन्दति रेतः सिञ्चति यः स परिष्कन्दस्तम्, प्रियाय प्रियवादिनं मधुरभाषिणम्, अरिष्टचै अश्वसादमश्वारोहम्, स्वर्गाय लोकाय भागदुघं भागं दोग्धीति भागधुक् तं विभागप्रदम्, वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे ब्रह्मणः सार्वात्म्यप्रद्योतनाय विविधानां देवतानां तद्यजनसाधनभूतानां विविधानां पुरुषपशूनां च ब्रह्मात्मकता बोध्यते।

दयानन्दस्तु—'ऋतये हिंसायै प्रवृत्तं स्तेनहृदयं वैरहत्यायै वैरं हत्या च यस्मिन् तस्मै प्रवर्तमानं पिशुनं परासुव। विविक्त्यै विवेकाय क्षत्तारं क्षतात्तारकम्, औपद्रष्ट्र्याय उपद्रष्टृत्वायानुक्षत्तारं बलायानुचरं भूम्ने बहुत्वाय परिष्कन्दं प्रियाय प्रीत्यै प्रियवादिनमरिष्टचै कुशलप्राप्तयेऽश्वसादं स्वर्गाय लोकाय दर्शनाय सङ्घाताय भागदुघं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारमासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहाराणां निर्मूलत्वात्॥ १३॥

मन्यवेऽयस्तापं क्रोधाय निसरं योगाय योक्तारꣳ शोकायाभिसर्तारं क्षेमाय विमोक्तारमुत्कूलनिकूलेभ्यस्त्रिष्ठिनं वपुषे मानस्कृतꣳ शीलायाञ्जनीकारीं निर्ऋत्यै कोशकारीं यमायासूम् ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ —मन्यु के लिये लोहतापक को, क्रोध के लिये निःसरणकर्ता को, योग के लिये योगकर्ता को, शोक के लिये अभिसर्ता को, क्षेम के लिये विमोचनकर्ता को, उत्कूल-निकूलों के लिये विद्या आदि में स्थित शीलवान् को, वपु के लिये अभिमानी को, शील के लिये अंजनविद्या जानने वाले को, निर्ऋति के लिये कोशकारी स्त्री को और यम के लिये वन्ध्या को नियुक्त किया गया है ॥ १४ ॥

मन्यवे देवायाऽयस्तापं लोहतापकम्, क्रोधाय देवाय निसरं नितरां सर्तारम्, मन्युः शोकः, शोकजन्यश्चित्तक्षोभश्च, दैन्यमिति यावत्, क्रोधस्त्वपमानाद्यसहिष्णुतेति मन्युक्रोधयोर्भेदः। अथ षष्ठे यूपे—योगाय, अलब्धलाभो योगस्तस्मै योक्तारं योगकर्तारम्, शोकायाभिसर्तारं सम्मुखमागच्छन्तम्, शोक-मन्युशब्दयोः पर्यायत्वेऽपि शब्दभेदादान्तरबाह्यरूपो भेदो ग्राह्यः। अथवा यथा सिद्धान्ते 'सौर्यं चरुम्, आदित्यं चरुम्' इत्यत्र सूर्यादित्ययोरैक्येऽपि शब्दभेदाद् देवताभेदः, देवताभेदात् कर्मभेद आस्थीयते, तथैवात्र ज्ञेयम्। क्षेमाय प्राप्तरक्षणाय विमोक्तारं विमोचनकरम्, उत्कूलनिकूलेभ्य ऊर्ध्वाधःकूलेभ्यस्त्रिष्ठिनं त्रिषु विद्यातपोयोनिषु तिष्ठतीति त्रिष्ठी तम्, शीलवन्तमिति यावत्। वपुषे हृष्ट-पुष्ट-सुन्दरालङ्कृतदेहाधिष्ठात्रे देवाय मानस्कृतं पूजाया अभिमानस्य वा कर्तारम्, सक् छान्दसः, शीलाय देवाय आञ्जनीकारीमञ्जनविद्याकर्त्रीम्, निर्ऋत्यै निर्ऋतिदेवतायै कोशकारीम्, कोशः खड्गाद्यावरणम्, तत्करोतीति कोशकारी तां कोशकारिणीं स्त्रियम्, यमाय देवायासूं न सूत इत्यसूस्तां वन्ध्याम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे—अनुकूलं प्रतिकूलं प्रशस्तमप्रशस्तं वा सर्वं वस्तु सर्वत्र तत्तदन्तर्यामितत्त्वं देवता शास्त्रप्रामाण्येन विहिताः। तत्तत्पुरुषास्तत्तद्यजनसाधनं सर्वं च ब्रह्मेति ब्रह्मणः सार्वात्म्यं सिद्ध्यति।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर राजन् वा, त्वं मन्यवे आन्तर्यकोपाय प्रवृत्तमयस्तापं लोहसुवर्णादितापकम्, क्रोधाय बाह्यकोपाय प्रवृत्तं निसरं यो निश्चितं सरति गच्छति तम्, योगाय योक्तारं शोकायाऽभिसर्तारं क्षेमाय रक्षणाय विमोक्तारं दुःखाद्विमोक्तारम्, यमाय असूं परासुव। उत्कूलनिकूलेभ्य ऊर्ध्वनीचतटेभ्यस्त्रिष्ठिनं ये त्रिषु जलस्थलान्तरिक्षेषु तिष्ठन्ति ते त्रिष्ठाः, बहवस्त्रिष्ठा विद्यन्ते यस्य तम्, वपुषे शरीरहिताय मानस्कृतं मनस्कृतेषु विचारेषु कुशलम्, शीलां जितेन्द्रियत्वादिशालिनीम् आञ्जनीकारिणीमाञ्जनीः प्रसिद्धाः क्रियाः कर्तुं शीलं यस्यास्ताम्, निर्ऋत्यै भूम्यै कोशकारीं कोशसञ्चयकारीम्, या स्यति प्रक्षिपति तामासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारादिमूलकत्वात्, त्रिष्ठिनमित्यत्र त्रिपदेन शीलायेत्यत्र शीलपदेन च विपरीतस्यापि ग्रहीतुं शक्यत्वात्, विनिगमनाविरहात्। आञ्जनीः प्रसिद्धाः क्रिया इत्यपि निर्मूलम्। कोशपदस्य कोशसञ्चये लक्षणापि निर्मूलैव, तैस्तेषां सम्बन्धानिरूपणाच्च ॥ १४ ॥

यमाय यमसूमथर्वभ्योऽवतोकाꣳ संवत्सराय पर्य्यायिणीं परिवत्सरायाविजातामिदावत्सरायातीत्वरीमिद्वत्सरायातिष्कद्वरीं वत्सराय विजर्जराꣳ संवत्सराय पलिक्नीमृभुभ्योऽजिनसन्धꣳ साध्येभ्यश्चर्मम्नम् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—यम के लिये जुड़वा बच्चा जनने वाली को, अथर्वों के लिये निरपत्य स्त्री को, संवत्सर के लिये अनुक्रम जानने वाली स्त्री को, परिवत्सर के लिये अप्रसूता स्त्री को, इदावत्सर के लिये अत्यन्त कुलटा स्त्री को, इद्वत्सर के लिये अतिष्कद्वरी स्त्री को, वत्सर के लिये शिथिल शरीर वाली स्त्री को, संवत्सर के लिये श्वेतकेशा को, ऋभु देवताओं के लिये चर्मकार को और साध्य देवताओं के लिये चर्माभ्यासकर्ता को नियुक्त किया गया है ॥ १५ ॥

यमाय देवाय यमसूं युग्मप्रसवित्रीम्, अथर्वभ्यस्तत्संज्ञेभ्यो देवेभ्योऽवतोकामवगलितं तोकमपत्यं यस्याः सा अवतोका स्रवद्गर्भा, निरपत्येति यावत्, ताम्, संवत्सराय देवाय पर्यायिणीं पर्यायोऽनुक्रमस्तद्वतीमनुक्रम-प्रज्ञावतीम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। अथ सप्तमे यूपे—परिवत्सराय देवायाविजातामप्रसूताम्, इदावत्सराय देवाय अतीत्वरीमत्यन्तं कुलटाम्, 'असती कुलटेत्वरी' (अ० को० २।६।१०) इत्यमरकोषः, इद्वत्सराय देवायातिष्कद्वरीमतिस्कन्दति स्रवतीत्यतिष्कद्वरी, 'स्कन्दिर गतिशोषणयोः' इत्यस्माद् वनिपि स्त्रीत्वविवक्षायां 'वनोर च' (पा० सू० ४।१।७) इति ङीपि रादेशे च रूपम्, ताम्, वत्सराय देवाय विजर्जरां विशेषेण जर्जरा विजर्जरा शिथिलशरीरा ताम्, संवत्सराय देवाय पलिक्नीं श्वेतकेशाम्, ऋभुभ्यो देवेभ्योऽजिनसन्धं चर्मसन्धा-तारम्, साध्येभ्यो देवेभ्यश्चर्मम्नं चर्माणि मनतीति चर्मम्नश्चर्माभ्यासकरस्तम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर राजन् वा, त्वं यमाय यमसूं नियन्त्रे या यमान् सूते ताम्, अथर्वभ्योऽ-हिंसकेभ्योऽवतोकां निरपत्याम्, संवत्सराय पर्यायिणीं परितः कालक्रमज्ञाम्, परिवत्सराय द्वितीयवर्षनिर्णयाया-विजातामप्रसूतां ब्रह्मचारिणीम्, इदावत्सराय तृतीयवर्षकार्यसम्पादनायाऽतीत्वरीमतिगमनशीलाम्, इद्वत्सराय पञ्चमाय वर्षायातिष्कद्वरीम्, वत्सराय सामान्याय विजर्जराम्, संवत्सराय चतुर्थायानुवत्सराय पलिक्नीम्, ऋभुभ्यो मेधाविभ्योऽजिनसन्धं जेतुमयोग्यान् सन्दधाति यः सोऽजिनसन्धः, जिधातोः कर्मणि नक्। साध्येभ्यः, ये साद्धुं योग्यास्तेभ्यश्चर्मम्नं यश्चर्मविज्ञानं म्नात्यभ्यस्यति तया सुव' इति, तदपि न, निर्मूलाध्याहारादिमूल-कत्वात्, चतुर्थ्यन्तैर्द्वितीयान्तानां सम्बन्धविशेषासिद्धेः। अहिंसकेभ्यो निरपत्यामासुवेति कोऽर्थः सिद्धयति ? संवत्सरादिभिः पर्यायिण्यादीनामपि सम्बन्धविशेषासिद्धिश्च। इत्वरीपदं कुलटापरमित्यमरकोषसिद्धम्। चर्मपदं चर्मविज्ञानपरमित्यपि निर्मूलम्। सर्वथापि पारम्पर्यविहीनो निरर्थकोऽसम्बद्धश्चेत्युपेक्ष्योऽयमर्थः। प्रभवादि-षष्टिसंवत्सराणां मध्ये द्वादश युगानि, प्रतियुगं च पञ्च वत्सराः। यथाह वराहमिहिरो बृहत्संहितायाम्—'संवत्सरोऽग्निः परिवत्सरोऽर्क इदादिकः शीतमयूखमाली। प्रजापतिश्चाप्यनुवत्सरः स्यादिद्वत्सरः शैलसुतापतिश्च ॥' (८।२४)। अत्र भट्टोत्पलः—संवत्सरः प्रथमोऽब्दोऽग्निदेवत्यः, परिवत्सरो द्वितीयोऽर्कदेवत्यः, इदावत्सरस्तृतीयश्चन्द्रदेवत्यः, अनुवत्सरश्चतुर्थः प्रजापतिदेवत्यः, पञ्चमश्चेद्वत्सरो रुद्रदेवत्य इति। एतदज्ञान-मूलकमेव दयानन्दीयं व्याख्यानमिति बोध्यम् ॥ १५ ॥

सरोभ्यो धैवरमुपस्थावराभ्यो दाशं वैशन्ताभ्यो बैन्दं नड्वलाभ्यः शौष्कलं पाराय मार्गारमवाराय कैवर्तं तीर्थेभ्य आन्दं विषमेभ्यो मैनालᳪं स्वनेभ्यः पर्णकं गुहाभ्यः किरातᳪं सानुभ्यो जम्भकं पर्वतेभ्यः किम्पूरुषम् ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—सरोवरों के लिये धीवर के पुत्र को, उपस्थावर जल के लिये धीवर को, वैशन्त नामक जल के लिये निषाद के अपत्य को, नड्वलाओं के लिये मत्स्यजीवी को, पार के लिये मृगारि की सन्तान को, अवार के लिये कैवर्त

को, तीर्थों के लिये बन्धनकर्ता को, विषमों के लिये मानग्राही की सन्तान को, स्वनों के लिये भीलों को, गुहाओं के लिये किरात को, सानुओं के लिये हिंसक को और पर्वतों के लिये कुत्सित नर को नियुक्त किया गया है ।। १६ ।।

सरोभ्यस्तडागाधिष्ठातृदेवेभ्यो धैवरं कैवर्तापत्यम्, उपस्थावराभ्यः स्थावराणां समीपे या जलदेवताः सन्ति ता उपस्थावराः, ताभ्यो दाशम्, 'दाशृ दाने' दातारम्, दाशो धीवरो वा, वैशन्ताभ्योऽल्पसरोऽधिष्ठात्रीभ्यो वैन्दं विन्दो निषादस्तदपत्यम्, नड्वलाभ्यो नडाः सन्ति यत्र सा भूमिर्नड्वला, 'नडशादाद् ड्वलच्' (पा० सू० ४।२।८८) इति ड्वलचि रूपसिद्धिः, तदधिष्ठात्रीभ्यो देवताभ्यः शौष्कलं शुष्कलैर्मत्स्यैर्जीवतीति शौष्कलस्तम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। अथाष्टमे यूपे –पाराय परतटाभिमानिदेवाय मार्गारं मृगारेर्व्याधस्यापत्यम्, अवाराय अवरतटवर्तिदेवाय कैवर्तं जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। तीर्थेभ्य ऋषिजुष्टजलदेवताभ्य आन्दम् अन्दति बध्नातीत्यान्दस्तं बन्धनकर्तारम्, विषमेभ्य उच्चावचं स्थलं विषमम्, तदधिष्ठातृदेवेभ्यो मैनालं मीनान् अलति वारयति जालैरिति मीनालस्तदपत्यं मैनालस्तम्, स्वनेभ्यः शब्दविशेषाधिष्ठातृदेवेभ्यः पर्णकं भिल्लम्, गुहाभ्यो गुहाधिष्ठातृदेवेभ्यः किरातम्, सानुभ्यः पर्वतसमभूभागाधिष्ठातृदेवेभ्यो जम्भकं जम्भयति हिनस्तीति जम्भकस्तम्, पर्वतेभ्यः पर्वाणि सन्ति यत्र ते पर्वतास्तेभ्यः पर्वताधिष्ठातृदेवेभ्यः किम्पूरुषं कुत्सितनरम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति ।

अध्यात्मपक्षे – आधिदैविकान्याधिभौतिकानि च पृथक् पृथग् वस्तूनि सर्वाणि ब्रह्मात्मकान्येवेति सर्वथा रागद्वेषवियुक्तैः सद्भिर्ब्रह्मैवानुसन्धेयमिति ।

दयानन्दस्तु –'सरोभ्यस्तारणाय धैवरम्, उपस्थावराभ्य उपस्थिताभ्योऽवराभ्यो निकृष्टक्रियाभ्यो दाशं दाशत्यस्मै तम्, वैशन्ताभ्यो वैन्दं निषादापत्यम्, नड्वलाभ्यो नडा विद्यन्ते यासु भूमिषु ताभ्यः शौष्कलम्, पाराय मृगकर्मसमाप्त्यर्थं प्रवृत्तं मार्गारं व्याधापत्यम्, अवाराय अर्वाचीनगमनाय कैवर्तमासुव । तीर्थेभ्यस्तरन्ति यैस्तेभ्य आन्दमासुव । विषमेभ्यो विकटदेशेभ्यो मैनालं मैनं कामदेवमलति वारयतीति तं जितेन्द्रियम्, स्वनेभ्यः शब्देभ्यो यः पर्णेषु पालनेषु कुत्सितस्तम्, गुहाभ्यः किरातम्, सानुभ्यो जम्भकम्, पर्वतेभ्यः किम्पूरुषं जाङ्गलं कुत्सितं पुरुषं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उपस्थावरशब्दस्य समीपस्थनिकृष्टक्रियार्थत्वे मानाभावात् । एवमेव मीनालपदस्य जितेन्द्रियार्थत्वमपि न युक्तम्, मैनपदस्य कामार्थकत्वे मानाभावात् । न च 'मदनो मन्मथो मारः प्रद्युम्नो मीनकेतनः' (१।१।२५) इत्यमरकोषप्रामाण्यान्मीनः केतनं ध्वजो यस्येति व्युत्पत्त्या मीनोऽस्ति ध्वजत्वेन यस्य स मैनः काम इत्यर्थः स्यादिति सर्वं सुशकसमाधानमिति चेन्न, मीनशब्दस्य जलचरजन्तौ लक्षणा, लक्षणया च मीनशब्दस्य मकरोऽर्थः । न च सामाजिकैः कामो देवस्तस्य ध्वजश्च स्वीक्रियते । आसुव-परासुव-इति क्रियापदे मन्त्रबाह्ये एव । सम्बन्धविशेषासिद्धिस्तु स्पष्टैव ॥ १६ ॥

बीभत्सायै पौल्कसं वर्णाय हिरण्यकारं तुलायै वाणिजं पश्चादोषाय ग्लाविनं विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलं भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनमार्त्यै जनवादिनं व्यृद्ध्या अपगल्भꣳ सꣳशराय प्रच्छिदम् ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ– बीभत्सा के लिये पुल्कसापत्य को, वर्ण के लिये सुनार को, तुला के लिये बनिये को, पश्चादोष के लिये असन्तुष्ट व्यक्ति को, सभी भूतों के लिये सिध्म रोग वाले को, भूति के लिये जागरण को, अभूति के लिये स्वप्नशील को, आर्ति के लिये जनवादी को, व्यृद्धि के लिये अप्रगल्भ को और संशर के लिये प्रच्छेदन कर्ता को नियुक्त किया गया है ।। १७ ।।

बीभत्सायै बीभत्सं वस्तु तादृशरसाधिष्ठातृदेवतायै पौल्कसं पुल्कसापत्यम्, वर्णाय नीलपीतादिवर्णाधिष्ठात्रे हिरण्यकारं स्वर्णनिष्पादकम्, तुलायै तुलाधिष्ठातृदेवाय वाणिजं वणिगपत्यम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। अथ नवमे यूपे -पश्चादोषाय पश्चादोषति परिणामस्मरणेन ज्वलयतीति पश्चादोषः पश्चात्तापम्, तदधिष्ठात्रे देवाय ग्लाविनम्, 'ग्लै हर्षक्षये' हर्षरहितम्, विश्वेभ्यो भूतेभ्य एतन्नामदेवेभ्यः सिध्मलं सिध्मरोगवन्तम्, भूत्यै ऐश्वर्याधिष्ठातृदेवतायै जागरणं जागरूकम्, अभूत्यै अनैश्वर्यदेवतायै स्वपनं शयालुम्, आर्त्यै देवतायै जनवादिनं जनान् वदति परिवदतीति जनवादी आक्रोशकस्तम्, व्यृद्ध्यै विगता ऋद्धिर्व्यृद्धिस्तदधिष्ठातृदेवतायै अप्रगल्भं प्रागल्भ्यरहितम्, संशराय सम्यक् शृणाति हिनस्तीति संशरस्तदधिष्ठात्रे देवाय प्रच्छिदं प्रच्छेदनकर्तारम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—बीभत्सायै भर्त्सनाय प्रवृत्तं पौल्कसम्, वर्णाय सुरूपसम्पादनाय हिरण्यकारम्, तुलायै वणिजम्, पश्चादोषाय पश्चाद्दोषदानाय प्रवृत्तं ग्लाविनम्, विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलं सिध्माः सुखसाधका विद्यन्ते यस्य तम्, भूत्यै जागरणम्, अभूत्यै अनैश्वर्याय स्वपनम्, आर्त्यै पीडानिवृत्त्यै जनवादिनं प्रशस्ता जनवादा यस्य तम्, व्यृद्ध्यै विगतर्द्ध्यै अप्रगल्भम्, संशराय सम्यग्घिसनाय प्रवृत्तं प्रच्छिदमर्थाद् बीभत्सायै पौल्कसम्, पश्चादोषाय ग्लाविनमभूत्यै स्वपनम्, व्यृद्ध्या अप्रगल्भम्, संशराय प्रच्छिदं परासुव। वर्णाय हिरण्यकारम्, तुलायै वणिजम्, विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलम्, भूत्यै जागरणम्, आर्त्यै जनवादिनमासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः। तथाहि—एवंविधं बीभत्सशब्दस्य भर्त्सनार्थकत्वं सिध्मशब्दस्य सुखसाधकार्थकत्वं कथं ज्ञेयम्। 'बध बन्धने' इति धातोः 'बधेश्चित्तविकारे' (पा० सू० ३।१।६, वा० ५) इति वार्त्तिकाच्चित्तविक्रियायां सनि बीभत्सशब्दः सिद्ध्यति। स च द्विविधो भवति -'विष्ठा कामज उद्वेगी क्षोभणो रुधिरादिजः' इति। सिध्मशब्दो- रोगविशेषपर इत्यायुर्वेदशास्त्रम्। तथाहि चरकः—'श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति। अलाबुपुष्पवर्णं तत् सिध्मं प्रायेण चोरसि॥' इति। आर्तिपदमपि पीडापरम्, न पीडानिवृत्तिपरम्, तथैव कोषादिषु प्रसिद्धेः। विपरीतार्थे लक्षणापि न सुशका। पश्चादोषशब्दस्यापि पश्चाद्दोषदानं कथमर्थः? सैद्धान्तिकोऽर्थस्नूक्त एव॥ १७॥

अक्षराजाय कितवं कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुं मृत्यवे गोव्यच्छमन्तकाय गोघातं क्षुधे यो गां विकृन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति दुष्कृताय चरकाचार्यं पाप्मने सैलगम्॥ १८॥

मन्त्रार्थ—अक्षराज के लिये धूर्त को, कृत के लिये आदीनव दोष के द्रष्टा को, त्रेता के लिये कल्पक को, द्वापर के लिये अधिकल्पक को, आस्कन्द देवता के लिये सभास्थाणु को, मृत्यु के लिये गो के प्रति गमनशील को, अन्तक के लिये गोहन्ता को, क्षुधा देवी के लिये भीख माँगने वाले को, दुष्कृत के लिये चरकों के आचार्य को और पाप के लिये दुष्ट की सन्तान को नियुक्त किया गया है॥ १८॥

अक्षराजाय अक्षाणां कृतादीनां राजा स्वामी अक्षराजः, तदधिष्ठात्रे कितवं द्यूतकारं धूर्तं वा, कृताय चतुरङ्ककृतसंज्ञकाक्षाधिष्ठात्रे देवाय आदिनवदर्शम् आ समन्ताद् दीयते 'दीङ् क्षये' इत्यादीनम्, 'नपुंसके भावे क्तः' (पा० सू० ३।३।११४) इति क्तः, 'ओदितश्च' (पा० सू० ८।२।४५) इति निष्ठातस्य नत्वे रूपम्।

आदीनस्य वानम् आदीनवम्, 'घञर्थे कविधानम्' (पा० सू० ३।३।५८, वा० २) इति वातेः कप्रत्यये, 'आतो लोप इटि च' (पा० सू० ६।४।६४) इत्यालोपे रूपम्, आदीनवो दोषस्तं पश्यतीत्यादिनवदर्शस्तम्, आर्षो ह्रस्वः, 'आदीनवास्रवौ क्लेशे' (अ० को० ३।२।२९) इत्यमरः, त्रेतायै त्र्यङ्कद्यूताधिष्ठात्रे देवाय कल्पिनं कल्पकं कल्पनाकुशलम्, द्वापराय द्व्यङ्कद्यूताधिष्ठात्रे देवायाधिकल्पिनमधिककल्पनाकर्तारम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति। अथ दशमे यूपे—आस्कन्दाय आसमन्तात् स्कन्दतीत्यास्कन्द एकाङ्कद्यूतकल्यधिष्ठाता, तस्मै सभास्थाणुं सभायां स्थिरम्, मृत्यवे देवाय गोव्यच्छं गाः प्रति गमनशीलम्, अन्तकाय तदभिमानिने देवाय गोघातं गवां हन्तारम्, क्षुधे क्षुदभिमानिने यो गां विकृन्तन्तं यः पुमान् गां छिन्दन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति तं याचितारं क्षुधे देव्यै आलभेत। दुष्कृताय दुष्कृताभिमानिने देवाय चरकाचार्यं चरकाणां गुरुम्, पाप्मने पाप्माभिमानिने देवाय सैलगं सीलगो दुष्टस्तदपत्यम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे ईश्वर राजन् वा, अक्षराजाय येऽक्षैः क्रीडन्ति तेषां राजा अक्षराजः, तस्मै हितं कितवम्, मृत्यवे मारणाय गोव्यच्छं गोषु विचेष्टितारम्, अन्तकाय नाशाय गोघातं गवां घातकम्, क्षुधे यो गां छिनत्ति तं विकृन्तन्तं यो भिक्षमाण उपतिष्ठति तम्, दुष्कृताय दुष्टाचाराय चरकाचार्यं चरकाणां भक्षकाणामाचार्यम्, पाप्मने सैलगं सीलाङ्गस्य दुष्टस्यापत्यं परासुव, कृताय यद्यादीनवान् पश्यति तं त्रेतायै त्रयाणां भावाय कल्पिनं कल्पः प्रशस्तं सामर्थ्यं विद्यते यस्य तम्, द्वापराय द्वावपरौ यस्मिन् तस्मै अधिकल्पिनम् अधिगतसामर्थ्ययुक्तम्, आस्कन्दाय समन्तात् शोषणाय सभास्थाणुमासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अक्षपदस्याक्षक्रीडार्थत्वे मानाभावात्। चतुर्थ्यन्तानां पदानां द्वितीयान्तपदैः सम्बन्धविशेषासिद्धेश्च।

पाश्चात्यास्तु दुष्कृताय चरकाचार्यमिति श्रुत्वा वेदानां पौरुषेयत्वसाधनाय प्रयतन्ते, शुक्लयजुर्वेदिनश्चरकशाखिद्वेषवशाच्चरकाचार्याणां बलिदानमादिशन्तीति, तदपि निर्मूलम्, पुरुषमेधे पुरुषाणामुत्सर्गविधानादालम्भासिद्ध्या द्वेषासिद्धेः, ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत क्षत्राय राजन्यमालभेतेत्यादिभिर्ब्राह्मणराजन्यादीनामपि पुरुषपशुत्वोक्त्या तददोषात्॥ १८॥

प्रतिश्रुत्काया अर्तनं घोषाय भषमन्ताय बहुवादिनमनन्ताय मूकँ शब्दायाडम्बराघातं महसे वीणावादं क्रोशाय तूणवध्ममवरस्पराय शङ्खध्मं वनाय वनपमन्यतोऽरण्याय दावपम्॥ १९॥

मन्त्रार्थ—प्रतिश्रुत्का के लिये दुःखी प्राणी को, घोष के लिये जल्पक को, अन्त के लिये बहुवादी को, अनन्त के लिये मूक को, शब्द के लिये आडम्बर फैलाने वाले को, महस् के लिये वीणावादक को, क्रोश के लिये तूणव बजाने वाले को, अवरस्पर के लिये शंख बजाने वाले को, वन के लिये वनपाल को और अन्यतोरण्य के लिये दावाग्नि के पालक को नियुक्त किया गया है॥ १९॥

प्रतिश्रुत्कायै, प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञातं कायति वारं वारमुच्चारयति, मया भक्तायेदं देयमिदं देयमिति वारं वारं ध्वनति या सा प्रतिश्रुत्का, तस्यै देवतायै अर्तनं दुःखिनम्, घोषाय बहुशब्दकारकाय देवाय भषं श्वरवकारिणम्, अन्ताय समाप्त्यधिष्ठात्रे देवाय ससीमाय वा बहुवादिनं बहुजल्पकम्, अनन्ताय देवाय मूकं वाग्विकलम्,

शब्दाय शपति आह्वयत्यनेनेति शब्दः, 'शाशपिभ्यां ददनौ' (उ० ४।९८) इति साधुः, तस्मै तदधिष्ठात्रे देवाय आडम्बराघातम् आडम्बरं वाद्यविशेषमाहन्तीत्याडम्बराघातः कोलाहलकर्ता तम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति ।

अथैकादशे यूपे—महसे तेजोऽधिष्ठात्रे देवाय वीणावादं वीणावादकम्, क्रोशाय क्रोशनं क्रोशस्तदधिष्ठात्रे देवाय तूणवध्मं तूणवं वाद्यविशेषं धमति यस्तम्, अवरस्पराय अवरेषु निकृष्टेषु यः परः सर्वोत्कृष्टः, सर्वेभ्योऽप्यधम इति यावत्, सोऽवरस्परस्तस्मै तदधिष्ठात्रे देवाय शङ्खध्मं शङ्खवादकम्, वनाय देवाय वनपालकम्, अन्यतोऽरण्याय दावपं वनवह्निपम्, जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'प्रतिश्रुत्कायै प्रतिज्ञाव्यै अर्तनमर्तनप्रापकम्, घोषाय भषं परिभाषकम्, अन्ताय समीपाय ससीमाय वा बहुवादिनम्, अनन्ताय मूकम्, शब्दाय प्रनृतमाडम्बराघातं कोलाहलकर्तारम्, महसे महते वीणावादम्, अवरस्पराय शङ्खध्मम्, वनाय वनपमासुव । शब्दायाडम्बराघातम्, क्रोशाय तूणवध्मम्, अन्यतोऽरण्याय अन्यतोऽरण्यं यस्मिन् तस्मै दावं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बन्धविशेषानुक्तेः, निर्मूलाध्याहाराच्च । प्रतिज्ञा समीचीनाऽसमीचीना च भवति । न च सर्वोऽपि प्रतिज्ञाता सदेव प्रतिजानीते । आधुनिकानां शासनपदे स्थितानां मण्डलायोगवत् । न च शिष्टैरसत्प्रतिज्ञायाः पूर्तिः समर्थ्यते । अन्तानन्तशब्दाभ्यां बहुवादिमूकयोरपि सम्बन्धस्यास्पष्टत्वात् ॥ १९ ॥

नर्माय पुँश्चलूँ हसाय कारिं यादसे शाबल्यां ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकं तान्महसे वीणावादं पाणिघ्नं तूणवध्मं तान्नृत्तायानन्दाय तलवम् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—नर्म देवता के लिये कुलटा नारी को, हस के लिये करणशील को, यादस् के लिये कर्बुर वर्ण नारी की पुत्री को, महस् देवता के लिये ग्रामणी, ज्योतिर्विद् और निन्दक को, नृत्य देवता के लिये वीणावादक, खडतालवादक और तूणव बजाने वाले को और आनन्द के लिये वाद्यवादक को नियुक्त किया गया है ॥ २० ॥

नर्मोपहासः, तदधिष्ठात्रे पुंश्चलूं व्यभिचारिणीं नारीम्, हसाय हासाधिष्ठात्रे कारिं हासकरणशीलम्, यादसे 'यादांसि जलजन्तवः' (अ० को० १।१०।२०) तदधिष्ठात्रे शाबल्यां शपतीति शबलः, 'शपेर्बश्च' (उ० १।१०५) इति रूपसिद्धिः, कर्बुर इति यावत्, शबलापत्यभूतां नारीम् । ग्रामण्यं ग्रामनेतारम्, गणकं ज्योतिर्विदम्, अभिक्रोशकं निन्दकम्, तान् एतान् त्रीन् महसे जुष्टं नियुनज्मीति नियुनक्ति । एवं प्रतियूपम् एकादशसु एकादशसु नियुक्तेषु येऽधिका अवशिष्टास्तान् समाप्तिपर्यन्तान् द्वितीयोच्छ्रिते यूपे नियुनक्ति । तांश्च वीणावादम्, पाणिघ्नम्, तूणवध्ममित्यादीन् रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षमित्यन्तान् चतुर्दश, ततोऽथैतानष्टौ मागधादींश्च चतुर इत्येवं सम्भूय (सङ्कलय्य) षड्विंशतिम्, द्वितीये यूपे पूर्वोक्ता एकादश, इमे च षड्विंशतिः, सङ्कलय्य सप्तत्रिंशत्, तानालभते । तदेवाह—वीणावादं पाणिघ्नं (हस्ततालवादकम्) तूणवध्मम्, तान् एतान् त्रीन् नृत्ताय देवायालभते । आनन्दाय आनन्दाधिष्ठात्रे देवाय तलवं तलं हस्तादितलं तेन वाति वाद्यमुखं हन्तीति तलवः, 'वा गतिगन्धनयोः', गन्धनं हिंसनं तम्, वाद्यवादकमालभते ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः ।

दयानन्दस्तु 'नर्माय पुंश्चलूं हसाय कारिं विक्षेपकाय यादसे शाबल्यां परासुव । ग्रामण्यं गणकमभिक्रोशकम्, तान् महसे पूजनाय, वीणावादं पाणिघ्नं तूणवध्मं तान् नृत्ताय, आनन्दाय तलवं सुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यादसे प्रवृत्तायाः शाबल्यायाः किमर्थं दूरीकरणमित्यनुक्तेः । जलजन्तवे किमर्था च तस्याः प्रवृत्तिः ? वस्तुतो न चतुर्थ्यन्तद्वितीयान्तपदार्थानां लोकसिद्ध उपकार्योपकारकभावः, न वा अपकार्यापकारकभावश्च सिद्धयति । बलादेवाध्याहारादिभिः सम्बन्धस्तु यत्र क्वचिदपि योजयितुं शक्यः ॥ २० ॥

अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठसर्पिणं वायवे चाण्डालमन्तरिक्षाय वᳬशनर्तिनं दिवे खलतिᳬ सूर्याय हर्यक्षं नक्षत्रेभ्यः किर्मिरं चन्द्रमसे किलासमह्ने शुक्लं पिङ्गाक्षᳬ रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षम् ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—अग्नि के लिये स्थूल को, पृथ्वी के लिये पीठसर्पी को, वायु के लिये चाण्डाल को, अन्तरिक्ष के लिये बाँस पर नाचने वाले नट को, स्वर्ग के लिये गंजे को, सूर्य के लिये हरित नेत्र वाले को, नक्षत्रों के लिये कर्बुर वर्ण के मनुष्य को, चन्द्रमा के लिये सिध्म रोग वाले को, दिवस के लिये शुक्ल वर्ण वाले पिंगाक्ष को और रात्रि के लिये कृष्ण वर्ण वाले पिंगाक्ष को नियुक्त किया गया है ॥ २१ ॥

अग्नये देवाय पीवानं स्थूलं नरम्, पृथिव्यै देवतायै पीठसर्पिणं पीठेन आसनेन सर्पति गच्छति यः स पीठसर्पी, तं पङ्गुम्, वायवे देवाय चाण्डालं चाण्डालकर्माणम्, अन्तरिक्षाय देवाय वंशनर्तिनं वंशेन नर्तनशीलम्, दिवे द्युलोकाधिष्ठात्रे खलतिमलोमशिरस्कम्, खल्वाटमित्यर्थः, सूर्याय देवाय हर्यक्षं हरितनेत्रम्, नक्षत्रेभ्यो देवेभ्यः किर्मिरं कर्बुरवर्णम्, चन्द्रमसे किलासं सिध्मलम्, अह्ने दिनदेवतायै शुक्लं शुक्लवर्णं पिङ्गाक्षम्, रात्र्यै रात्रिदेवतायै कृष्णं कृष्णवर्णं पिङ्गाक्षमालभते ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठसर्पिणमन्तरिक्षाय वंशनर्तिनं सूर्याय हर्यक्षं चन्द्रमसे किलासमह्ने शुक्लं पिङ्गाक्षमासुव, वायवे चाण्डालं दिवे खर्लातं नक्षत्रेभ्यः किर्मीरं रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षं परासुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अप्रकृतप्रक्रियात्वात् । तथाहि—ब्रह्मणे ब्राह्मणमिति (पञ्चमीं) कण्डिकामारभ्य मनुष्याणामेव पशुत्वेन वर्णनं दृश्यते । अस्यां कण्डिकायां पीठसर्पिणं सर्पादिकमित्युक्तम्, स्थूलमिति स्थूलपदार्थ इत्युक्तम्, अन्तरिक्षायेत्यस्य सूर्यपृथिव्योर्मध्यस्थानाय आकाशायेत्युक्तम् । एषु कस्य केन कथङ्कारं सम्बन्धः ? सूर्येण हर्यक्षस्य च । चण्डालशरीरागतो वायुर्दुर्गन्धत्वान्न सेवनीय इति भावार्थस्तु तवापसिद्धान्त एव, कर्मणा वर्णाङ्गीकारात् ॥ २१ ॥

अथैतानष्टौ विरूपानालभतेऽतिदीर्घं चातिह्रस्वं चातिस्थूलं चातिकृशं चातिशुक्लं चातिकृष्णं चातिकुल्वं चातिलोमशं च । अशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः । मागधः पुंश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः ॥ २२ ॥

॥ इति त्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ - अब अतिदीर्घ और अतिह्रस्व, अतिस्थूल और अतिकृश, अतिशुक्ल और अतिकृष्ण, रोमरहित और सर्वाङ्गव्यापी रोम वाला — इन आठ परस्पर विरोधी स्वभाव वाले पशुओं को नियुक्त किया गया है। ये शूद्र और ब्राह्मण से अतिरिक्त पशु होते हैं। ये आठों प्रजापति देवता वाले हैं। इसी तरह से मागध, पुंश्चली, कितव और क्लीब ये चारों भी शूद्र-ब्राह्मण से व्यतिरिक्त हैं और प्रजापति देवता वाले हैं। इन नियुक्त पुरुषों की 'सहस्रशीर्षा' नामक ऋचा से दक्षिण की ओर बैठा हुआ ब्रह्मा स्तुति करता है और आलम्भन क्रम से प्रोक्षण आदि करता है। फिर उन ब्राह्मण आदि को पर्यग्निकरण से संस्कृत कर देवता के निमित्त अर्पित करता है और उन सबको यूपों से अलग कर छोड़ देता है। अध्वर्यु घृत को संस्कृत करके 'ॐ पुरुषदेवेभ्यो ब्रह्मादिभ्यः' इत्यादि मन्त्रों से एक आहुति देता है। तब ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा, मरुद्भ्यः, तपसे, तमसे इत्यादि का उच्चारण कर इन देवताओं के निमित्त घृत की आहुति देकर स्विष्टकृत् आदि उदवसानीय पर्यन्त कर्म करके फिर यजमान 'अयं ते योनिः' इस मन्त्र से अग्नियों को अपनी आत्मा में समारोपित कर 'अद्भ्यः सम्भृतम्' इत्यादि ऋचाओं के अनुवाक से सूर्य का उपस्थान कर फिर बिना पीछे देखे वन में जाकर निवास करता है। यदि पुरुषमेध का अनुष्ठान करने के बाद ग्राम में बसने की इच्छा हो, तो उदवसानीय के अन्त में सायंकालीन आहुतियों से होम कर, अरणि में अग्नियों को समारोपित कर, महानारायण रूप में सूर्य का उपस्थान कर तब घर में आवे और पुनः अग्नि की स्थापना करे। यथेच्छ यज्ञों का भी अनुष्ठान करे। इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्यों से यज्ञ करने वाले के लिये गृहवास और अध्यात्म यज्ञ करने वाले के लिये सन्यास का विधान है ॥ २२ ॥

तत एतान् वक्ष्यमाणानष्टौ विरूपान् परस्परं विरुद्धरूपान् पशूनालभते। तानाह—अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्, अतिस्थूलम्, अतिकृशम्, अतिशुक्लम्, अतिकृष्णम्, अतिकुल्वं रोमरहितम्, अतिलोमशं सर्वाङ्गव्यापिरोमाणम्। तेऽष्टावशूद्रा अब्राह्मणाः शूद्रब्राह्मणव्यतिरिक्ताः पशवो भवन्ति। तेऽष्टावपि प्राजापत्याः प्रजापतिदेवत्याः, 'अष्टावुत्तमानालभते' (श० १३।६।२।७) इत्युपक्रम्य 'ते वै प्राजापत्या भवन्ति' (श० १३।६।२।८) इति श्रुतेः।

अत्र जातिनियमात् पूर्वेषु जातेरनियमः। वीणावादादयश्चतुर्दश, अतिदीर्घादयोऽष्टौ, तथा मागधः पुंश्चली कितवः क्लीबः एते चत्वारोऽपि शूद्रब्राह्मणव्यतिरिक्ताः प्रजापतिदेवत्याः सर्वे सम्भूय षड्विंशतिः पशवो द्वितीययूपे नियोज्याः। सर्वेषां नियोगानन्तरं तान्नियुक्तान् पुरुषान् 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (वा० सं० ३१।१-१६) इति षोडशर्चेनानुवाकेन ब्रह्मा दक्षिणत उपविष्टो होतृवदभिष्टौति, 'ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणेनाभिष्टौति सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादित्येतेन षोडशर्चेन' (श० १३।६।२।१२) इति श्रुतेः। अत्र ब्रह्मणि होतृधर्मातिदेशेन प्रथमोत्तमयोर्ऋचोस्त्रिर्वचनम्, ऋगन्तानां प्रणवेन सन्धानं च। तद्यथा सहस्रशीर्षा पुरुषः ०ङ्गुलोम् पुरुष एवेद७ं० रोहतोम् इत्येवं रीत्याभिष्टौति। तत आलम्भनक्रमेण यथादेवतं प्रोक्षणादि। ब्राह्मणादीनां पर्यग्निकरणानन्तरमिदं ब्रह्मणे इदं क्षत्रायेत्येवं सर्वेषां यथास्वं स्वदेवतामुद्दिश्य त्यागः। ततः सर्वान् ब्राह्मणादीन् यूपेभ्यो विमुच्य उत्सृजति। तत एकादशिनैः पशुभिः संज्ञपनादिप्रधानयागान्तं वनस्पतियागं कृत्वा प्राक्स्विष्टकृतोऽध्वर्युराज्यं संस्कृत्य सकृद्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा ओमित्यादिना पुरुषदेवताभ्यो ब्रह्मादिभ्य आहवनीये जुहोति। तद्यथा—ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा, तपसे स्वाहा, तमसे स्वाहा—इति आ अध्यायान्तं सर्वदेवताभ्यश्चतुरशीत्युत्तरशतसंख्याकाभ्यस्तावतीर्घृताहुतीर्हुत्वा स्विष्टकृदाद्युदवसानीयान्तं कर्म कृत्वा, अन्ते यजमानः—अयं ते योनिर्ऋत्वियः' (वा० सं० ३।१४, १२।५२, १५।५६) इति मन्त्रेण आत्मन्यग्नीन् समारोप्य, 'अद्भ्यः सम्भृतः' (वा० सं० ३१।१७) इति षड्चेनानुवाकेन सूर्यमुपस्थाय पश्चादनवलोकयन् अरण्यं गत्वा संन्यसेत्, 'गार्हपत्येऽधरारणिमनुप्रहृत्य आहवनीय उत्तरारणिमात्मन्यग्नीन् समारोप्य अरण्यं प्रव्रजेत्' (शा० श्रौ० १६।१६।१) इति शाङ्खायनोक्तेः। अरण्यं प्रव्रजेदिति सूत्रान्तः। गार्हपत्येऽनावधरारणि-

मनुप्रहृत्य प्रक्षिप्य, आहवनीयेऽग्नौ उत्तरारणिं प्रक्षिप्य, आत्मन्यग्नीन् समारोप्य, गार्हपत्याग्निमाहवनीयाग्निम्, बहुवचनाद् दक्षिणाग्निमपि, श्रौतत्वात् सभ्याग्निरपि ज्ञेयः। अरण्यं प्रव्रजेत्, न ग्रामं प्रविशेदित्यर्थः।

यदि पुरुषमेधानन्तरमपि ग्रामे वासेच्छा जागृयात्, तर्ह्युदवसानीयान्ते सायमाहुतीर्हुत्वा अरण्योरग्नीः समारोप्य उत्तरनारायणेनार्कमुपस्थाय देवयजनमादीप्य गृहं व्रजेत्। गृहे आगत्य निर्मथ्याग्निं स्थापयेत्। यथेच्छं यज्ञानपि कुर्यात्। अयमपि पक्षोऽस्ति। तत् पुरुषमेधानन्तरं संन्यास एवेति मुख्यः पक्ष इति श्रीमहीधराचार्याः।

अध्यात्मपक्षे—उपलक्षणमेतत्। पुरुषमेधादिसर्वयज्ञैः समर्हणीयानां देवानां यजनसाधनपशूनां चरुपुरोडाशादीनां च ब्रह्मात्मकत्वं विभाव्याग्नीनां ब्रह्मादीनामृत्विजां यजनादीनां तत्फलानां च ब्रह्मरूपतैव विभावनीया। 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥' (भ० गी० ४।२४) इति गीतोक्तेः, 'पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' (वा० सं० ३१।२) इति मन्त्रवर्णाच्च।

दयानन्दस्तु—'हे राजानः, यथा विद्वानतिदीर्घं चातिह्रस्वं चातिस्थूलं चातिकृशं चातिशुक्लं चातिकृष्णं चातिकुल्वं चातिलोमशं चैतान् विरूपानष्टावालभते, तथा यूयमप्यालभध्वम्। अथ येऽशूद्रा अब्राह्मणाः प्राजापत्याः सन्ति, तेऽप्यालभेरन्। यो मागधो या च पुंश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्रोऽब्राह्मणस्ते दूरे वासनीयाः। ये प्राजापत्यास्ते समीपे निवासनीयाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अतिदीर्घातिह्रस्वादीनां प्राप्तेः प्रयोजनविशेषानुक्तेः। नहि लौकिको लाभः शक्यसमर्थनः। अशूद्रोऽब्राह्मण इत्यंशस्यापि प्रयोजनानुक्तेः। प्रजापतिदेवताकत्वं तेषां किं मूलकमित्यनुक्तेश्च। किमर्थं मागधादयः प्राजापत्याः, ब्राह्मणादयः कुतो न प्राजापत्या इत्यप्यस्पष्टमेव। सर्वथापि वेदानां लोकायतिकत्वापादनायैव क्लिष्टकल्पनाश्रयणम् ॥ २२ ॥

इति वेदार्थपारिजाताख्यभाष्यमण्डितायां शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां

त्रिंशोऽध्यायः ॥

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

[३१–३९ अध्यायात्मको भागः]

नवाध्यायी(३१-३९)-भाष्यनिष्कर्ष

इसी खण्ड के पूर्व भाग में २१ से ३० अध्यायों के भाष्य का निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा चुका है। अब यहाँ ३१ से ३९ अध्यायों के भाष्य का निष्कर्ष पूर्वपद्धति से ही प्रस्तुत किया जा रहा है। इस संहिता का ४०वां अध्याय ईशावास्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है और उस पर संस्कृत, हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं में अनेकों पुस्तकें और अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। अतः उस पर यहाँ अलग से विवेचना करने की आवश्यकता नहीं है। यह इस लिये भी आवश्यक नहीं है कि इस अध्याय का वेदार्थपारिजातभाष्य अलग से प्रकाशित हो चुका है।

३१वाँ अध्याय : पुरुष-सूक्त

इस अध्याय की प्रथम १६ ऋचाएँ पुरुष-सूक्त के नाम से प्रसिद्ध हैं और आगे की छः कण्डिकाएँ उत्तरनारायण के नाम से जानी जाती हैं। ३०वें अध्याय के 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' (३०।५) इत्यादि मन्त्रों से पुरुषमेधरूप परमात्मा के अवयवों का वर्णन किया गया है। अब इस अध्याय में अवयवी पुरुष की स्तुति की जा रही है। कात्यायन के विनियोग के अनुसार ब्रह्मा यूप में नियुक्त ब्राह्मण आदि पशुओं की १६ ऋचाओं वाले पुरुष-सूक्त से स्तुति करता है और [1]उदवसानीयेष्टि के अन्त में छः ऋचाओं वाले उत्तरनारायणीय अनुवाक से सूर्य का उपस्थान करता है। इसके बाद वह वन में रह कर वानप्रस्थ आश्रम को स्वीकार कर ले, अथवा पुनः ग्राम में आकर यज्ञ आदि का अनुष्ठान करता रहे। इस विषय की चर्चा ३०वें अध्याय के अन्तिम मन्त्र (पृ० ३२०) में की जा चुकी है। वहाँ यह भी दिखाया गया है कि आचार्य महीधर के अनुसार पुरुषमेध के अनुष्ठान के बाद व्यक्ति को संन्यास ले लेना चाहिये। आचार्य उव्वट ने इस अध्याय के शौनक भाष्य को उद्धृत किया है। उसका भी वेदार्थपारिजातभाष्य में समावेश कर लिया गया है।

७वें मन्त्र में यहाँ ऋग्वेद की २१, सामवेद की एक हजार और यजुर्वेद की १०१ शाखाओं की प्रसंगवश चर्चा की गई है और उत्पत्ति, सृष्टि, प्रवाहानादित्व, प्रवाहनित्यता, साजात्य आदि पदों का विवरण दिया गया है। ८वें मन्त्र में विष्णुपुराण के प्रमाण से संक्षेप में छन्द, स्तोम, साम आदि की सृष्टि का वर्णन किया गया है। नवें मन्त्र में प्रोक्षण, उपस्तरण, अवदान, अभिघारण आदि संस्कारों का उल्लेख है। पुरुष-सूक्त के व्याख्यानभूत शाकल्य ब्राह्मण को भी यहाँ उद्धृत किया गया है। ब्राह्मण आदि की सृष्टि के प्रसंग में ११वें मन्त्र में कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयसंहिता और वाल्मीकि-रामायण को भी प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है और अगले मन्त्र में मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति की पुष्टि में भागवत का वचन स्मृत है। १५वें मन्त्र में बताया गया है कि यज्ञ-याग आदि का अनुष्ठान केवल भारतवर्ष में ही प्रवृत्त है। यहाँ सात परिधियों और २१ समिधाओं की त्रिविध व्याख्या दी गई है और तृतीय अर्थ के समर्थन में तैत्तिरीय संहिता को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। १६वें मन्त्र में आत्मसमर्पण की यागरूपता प्रतिपादित है।

उत्तरनारायण सूक्त की छः कण्डिकाओं में पूर्व काल में आदित्य रूप को प्राप्त पुरुषमेधयाजी की स्तुति की गई है। यहाँ कर्मदेवों और आजानदेवों की भी चर्चा है। इस प्रकरण में तम शब्द का अर्थ अविद्या किया गया है। यह भी बताया गया है कि जीव रूप से और अन्तर्यामी रूप से भी वह सर्वात्मा प्रजापति ही सर्वत्र विचरण करता है। २०वें मन्त्र में बताया गया है कि रात्रि काल में असुर और दिन में देवता प्रबल रहते हैं। यहाँ पुराणों का उल्लेख कर कहा गया है कि विष्णु ही राम, कृष्ण, वामन आदि अवतार धारण करते हैं। २२वें मन्त्र में भविष्यपुराणस्थित आदित्य-हृदय स्तोत्र को उद्धृत किया गया है और ज्योतिषशास्त्र के प्रमाण से सूर्य को तेज का गोलक और नक्षत्रों को जल का

---

१. अग्निष्टोम याग में अनुबन्ध्या याग के अनन्तर इस इष्टि का अनुष्ठान होता है (कात्या०, पृ० ४७१)।

गोलक माना गया है। यहाँ अन्त में भगवान् की अपेक्षा भक्त की महिमा अधिक है, इस बात को छान्दोग्यश्रुति, भगवद्गीता और महाभारत में वर्णित भीष्मप्रतिज्ञा के दृष्टान्त से स्थापित किया गया है।

३२वाँ अध्याय : सर्वमेध याग

पुरुषमेध के प्रसंग में पुरुष-सूक्त की चर्चा ३१वें अध्याय में की गई। अब इस अध्याय में सर्वमेध याग का प्रकरण प्रारम्भ होता है। इस अध्याय के मन्त्रों का विनियोग सर्वमेध के [1]अप्तोर्याम नामक सातवें दिन सर्वहोम में किया जाता है। इसके लिये यहाँ सर्वानुक्रमणी और शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण दिया गया है। तीसरे मन्त्र में हिरण्यगर्भ इत्यादि पदों से किन-किन अनुवाकों और मन्त्रों का ग्रहण किया जाता है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि इनका विनियोग ब्रह्मयज्ञ और जप के निमित्त किया जाता है। इस अध्याय के मन्त्रों में अन्यत्र भी मन्त्रों के प्रतीक दिये गये हैं। उनका भी विनियोग जप और स्वाध्याय में ही बताया गया है। चतुर्थ मन्त्र में कहा गया है कि विश्व, तैजस, विराट् और हिरण्यगर्भ; प्राज्ञ, अव्याकृत, समष्टि और व्यष्टि—ये सब उस सर्वात्मक भगवान् के ही रूप हैं। ५वें मन्त्र में षोडश पद का अर्थ षोडश अवयव वाले लिंगशरीर को धारण करने वाला प्रजापति बताया गया है और मुण्डक श्रुति के प्रमाण से कहा गया है कि यह सर्वात्मक प्रजापति हो अपनी ज्योति से सबको प्रकाशित करता है। ८वें मन्त्र में ओत-प्रोत शब्द की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि वह परमेश्वर शरीरभाव से ओत और जीवभाव से प्रोत है। नवें मन्त्र में 'त्रीणि पदानि' की व्याख्या के प्रसंग में सृष्टि, स्थिति और प्रलय, तीन वेद, तीन काल और परब्रह्म, अन्तर्यामी एवं अव्याकृत स्वरूपों की चर्चा की गई है। १०वें मन्त्र में दिखाया गया है कि ब्रह्मज्ञान से कैवल्य की और अग्निहोत्र आदि से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ११-१२ मन्त्रों में शतपथ, बृहदारण्यक, मनुस्मृति आदि के प्रमाण से बताया गया है कि सर्वमेधयाजी गृहस्थ की भी मुक्ति हो सकती है। आगे की तीन (३२।१३-१५) ऋचाओं से मेधा की और चौथी (३२।१६) से श्री की याचना की जाती है। ये चार मन्त्र वैदिक सम्प्रदाय में श्रीसूक्त के नाम से प्रसिद्ध हैं।

३३ वाँ अध्याय : सर्वमेध याग

सर्वमेध के [2]अग्निष्टोमसंस्थ अग्निष्टुत् संज्ञक प्रथम दिन में इस अध्याय की प्रथम १७ ऋचाएँ पुरोनुवाक्या के रूप में प्रयुक्त होती हैं। यहाँ शतपथ के प्रमाण से ऋग्रूप मन्त्रों का ही ग्रहण किया जाता है, यजुःस्वरूप मन्त्रों का नहीं। उक्थ्य, महावैश्वदेव, पात्नीवत, हारियोजन यागों में यजुःस्वरूप मन्त्रों का विधान भी शतपथ में ही मिलता है। प्रस्तुत मन्त्र के भाष्य में विभिन्न सार्वमेधिक यागों के प्रथम चार दिनों में प्रयुक्त होने वाली पुरोनुवाक्याओं का तथा ग्रहों का विवरण सर्वानुक्रमणी के तथा उव्वट और महीधर द्वारा की गई उसकी व्याख्या के आधार पर दिया गया है। आगे के मन्त्रों में किस-किस ग्रह के ग्रहण में किस-किस पुरोनुवाक्या का प्रयोग होता है, इस विषय का उल्लेख भाष्य के प्रारम्भ में ही कर दिया गया है। १३ वें मन्त्र में बताया गया है कि व्याकरण शास्त्र में निर्दिष्ट स्थान, करण, प्रयत्न आदि के द्वारा उच्चरित, गुरुपरम्परा से प्राप्त मन्त्रों की सहायता से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से सम्पन्न व्यक्ति वित्त (धन) की सहायता से यज्ञ-याग आदि का अनुष्ठान कर देवताओं को, सन्तान की उत्पत्ति से पितरों को और सत्कार द्वारा अतिथियों को सन्तुष्ट करता है। ऐसे वैदिक विद्वानों के द्वारा पढ़े गये मन्त्र सूर्य के समान तेजस्वी हो जाते हैं, उनका प्रभाव कभी क्षीण नहीं होता।

---

१. समस्त कामनाओं की पूर्ति के लिये सर्वमेध याग किया जाता है। सर्वमेध में बारह दीक्षा, बारह उपसद् और दस सुत्याएँ होती हैं। सातवें दिन सम्पन्न होने वाली सुत्या का नाम अप्तोर्याम है (कात्या०, पृ० ३७८)।

२. सोम याग की सात संस्थाओं में अग्निष्टोम याग का पहला स्थान है। अन्य सोम संस्थाओं की यह प्रकृति है। सर्वमेध याग को भी इस अग्निष्टोम संस्था का ही अंग माना गया है। इसके प्रथम सुत्या दिवस का नाम अग्निष्टुत् है। इस याग की प्रधान देवता अग्नि है। अतः सभी सवनीय पदार्थ आग्नेय कहलाते हैं।

सर्वमेघ का द्वितीय दिन [1]इन्द्रस्तुत् कहलाता है। इसमें प्रस्तुत अध्याय में पठित बारह (३३।१८-२९) तथा प्रतीकोक्त पाँच, इस प्रकार कुल १७ मन्त्रों का विनियोग ऐन्द्रवारुण आदि सावित्रान्त ग्रहों के ग्रहण में किया जाता है। [2]निग्राम्या रूप जल का भी यहाँ (पृ० ४३) ग्रहण किया जाता है। १९ वें मन्त्र की व्याख्या में सायण और महीधर को उद्धृत किया गया है। २२ वें मन्त्र में इन्द्र के वृष्टिरूप कर्म का वर्णन है। २४ वें मन्त्र में [3]स्वरु पद का अर्थ बताया गया है। २७ वें मन्त्र में इन्द्र और मरुत् का संवाद दिया गया है। २८ वाँ मन्त्र आदित्य ग्रह के दधिश्रपण में विनियुक्त है।

सर्वमेध का तृतीय दिन सूर्यस्तुत् कहलाता है। यहाँ इस अध्याय की चौदह (३३।३०-४३) ऋचाओं को और प्रतीकोक्त तीन मन्त्रों को मिलाकर कुल १७ पुरोनुवाक्याएँ विहित हैं। इनका सर्वमेध के उक्थ्यसंस्थ सूर्यस्तुत् संज्ञक तीसरे दिन ऐन्द्रवायवादि सावित्रान्त ग्रहों के ग्रहण में विनियोग विहित है। यहाँ प्रथम मन्त्र (३३।३०) में बताया गया है कि पवन से प्रेरित रविमण्डल आकाश में भ्रमण करता है। इसके लिये महाकवि कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक का एक वचन प्रमाण के रूप में दिया गया है। ३२ वें मन्त्र में बताया गया है कि सर्वमेध याग में भुरण्यु पक्षी के आकार में अग्नि का चयन किया जाता है। यजमान उस अग्नि के स्वरूप में अपनी भावना करता है, अर्थात् स्वयं को अग्निस्वरूप समझने लगता है, तो वह अवश्य ही मुक्ति-लाभ कर लेता है। इस मन्त्र में सूर्य को ही वरुण बताया गया है। ३७ वें मन्त्र में सिम शब्द को सर्व का पर्याय माना गया है। ३९ वें मन्त्र में प्रगाथ तथा ग्रथन पदों का स्वरूप संक्षेप में बताकर कहा गया है कि गुरुजनों के चरणों की परिश्रमपूर्वक सेवा करने से ही इनको विस्तार से समझा जा सकता है।

सर्वमेध का चतुर्थ दिवस वैश्वदेवस्तुत् है। यहाँ इस अध्याय के ग्यारह (३३।४४–५४) और प्रतीकोक्त छः कुल १७ मन्त्रों का विनियोग किया जाता है। ४४वें मन्त्र में बीरिट शब्द की व्युत्पत्ति देकर उसके अर्थ को विस्तार से समझाया गया है। इसी प्रसंग में बताया गया है कि 'वी' धातु में कुछ आचार्य 'ई' धातु का भी प्रश्लेष मानते हैं। उव्वटाचार्य की व्याख्या का भी यहाँ अलग से उल्लेख है। ५२वें मन्त्र में ४९ मरुद्गणों की सूचना है। ५३वाँ मन्त्र आदित्यग्रह के दधिश्रपण में विनियुक्त है। ५४वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि अग्निहोत्र अमृतत्व को प्रदान करने वाला कर्म है, अतः अभेदोपचार से कर्म में भी अमृतत्व का आरोप कर लिया जाता है। यहाँ दामन् पद की द्विविध व्युत्पत्ति बताकर कहा गया है कि आधुनिक विद्युत् आदि पदार्थों में भी सूर्य का ही अंश विद्यमान है। इसी प्रकार सविता देव सभी लौकिक और वैदिक व्यवहारों में प्राणियों के प्रवर्तक के रूप में स्तुत हैं।

इसके आगे ५५ से ९७ संख्या तक के इस अध्याय के मन्त्रों में पन्द्रह, पन्द्रह और तेरह संख्या के मन्त्रों वाले तीन अनुवाक हैं। ये सभी मन्त्र अनारभ्याधीत हैं। इनका विनियोग किसी श्रौत कर्म में न होकर ब्रह्मयज्ञ में किया गया है। 'प्र वायुम्' (३३।५५–६९) इत्यादि मन्त्रों के प्रथम अनुवाक में पन्द्रह पुरोरुक् मन्त्र और दो प्रतीक मन्त्र मिलकर सत्रह पुरोनुवाक्याएँ हैं। यहाँ ५८वें मन्त्र में भागवत के प्रमाण से बताया गया है कि दो अश्विनीकुमारों में से एक का नाम दस्र और दूसरे का नासत्य है। ५९वें मन्त्र में तीन सम्पात सूक्तों की चर्चा के बाद बृहद्देवता के आधार पर देवशुनी सरमा का उपाख्यान वर्णित है। ६३वें मन्त्र में इन्द्र और शम्बर के युद्ध का उल्लेख है। द्वितीय अनुवाक में पठित मन्त्रों (३३।७०–८४) को और दो प्रतीक मन्त्रों को मिलाकर कुल १७ पुरोनुवाक्याएँ होती हैं। यहाँ (पृ० ७०) भी

१. सर्वमेध याग के द्वितीय सुत्या दिवस का नाम इन्द्रस्तुत् है। इस याग की प्रधान देवता इन्द्र है।

२. वसतीवरी जल को होता के चमस में छोड़ कर यजमान को दिया जाता है। यहाँ होता का जो चमस यजमान को दिया गया, उसे निग्राम्या कहते हैं। इसमें स्थापित जल ही निग्राम्या जल है।

३. "स्वरुः खड्गः, यूपाय काष्ठछेदने प्रथमोत्पन्नः शकलो वा स्वरुः" (भाष्य, पृ० ४७)। श्रौत०, पृ० १२६; कात्या०, पृ० ५२९; वैदिक कोश, पृ० ५८६ भी देखिये।

उदक पद से निग्राभ्या जल ही गृहीत है। ७२वें मन्त्र में कर्म और उपासना के समुच्चय की चर्चा है। ७४वें मन्त्र में भाववृत्त परमात्मा की स्तुति की गई है। अगले मन्त्र में वैश्वानर परमात्मा भोक्ता के रूप में स्तुत हैं। ७६वें मन्त्र में उक्थ और आंगूष पदों की व्याख्या कर सप्तशती के परिशिष्ट रहस्यत्रय के वचन को उद्धृत किया गया है। दो मन्त्रों (३३।७८-७९) में इन्द्र और मरुत् का संवाद है। ८३वें मन्त्र में बताया गया है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के द्वारा उच्चरित मन्त्रों के प्रभाव से देवताओं के बल में वृद्धि होती है। साथ ही यह भी दिखाया गया है कि आचार्य उव्वट के मत से यहाँ इन्द्र के रूप में आदित्य की स्तुति की गई है। ८४वें मन्त्र में इस अध्याय का छठा पुरोरुक्गण पूरा होता है।

तब 'आ नो यज्ञम्' (३३।८५) से सातवाँ १३ ऋचाओं वाला अनुवाक प्रारम्भ होता है। यहाँ इन तेरह ऋचाओं के साथ चार प्रतीकोक्त मन्त्रों को मिलाने से १७ ऋचाओं का यह पुरोरुक्गण ऐन्द्रवायव आदि सावित्रान्त ग्रहों के ग्रहण में विनियुक्त है। ८७वें मन्त्र में वट्, श्रत्, सत्रा, अद्धा, इत्था आदि निपातों को सत्य का पर्याय बताया गया है। ८९वें मन्त्र में हविष्पंक्ति, नाराशंसपंक्ति और सवनपंक्तियों का परिगणन किया गया है। ९०वें मन्त्र में बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि उपनिषदों में वर्णित द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और योषा स्वरूप पंचाग्निविद्या की व्याख्या कर [1]वसतीवरी और निग्राभ्या जल से अभिषेक का विधान है। ९३वें मन्त्र में पहेली बुझाई गई है। उव्वट और महीधर की पद्धति से मन्त्र की व्याख्या कर वाणी का मूलाधार से मुख पर्यन्त त्रिंशदंगुल पर्यन्त क्रमण वर्णित है। यहाँ अनेक मन्त्रों में आचार्य उव्वट के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का अलग से उल्लेख किया गया है। ९४वें मन्त्र में हि और स्म इन दोनों निपातों का अर्थ अतिप्रसिद्ध बताया गया है और ९७वें मन्त्र में उव्वट के मत से इत् निपात की पादपूरकता निर्दिष्ट है।

३४ वाँ अनारभ्याधीताध्याय

इस अध्याय में भी सारे मन्त्र अनारभ्याधीत हैं। इनका लैंगिक विनियोग किया जाता है। यहाँ एक प्रसिद्ध श्लोक के प्रमाण से बताया गया है कि शब्द की सामर्थ्य, अर्थात् अभिधा शक्ति को ही लिंग कहा जाता है। तदनुसार इस अध्याय के प्रारम्भ के छः मन्त्रों का विनियोग शिव संकल्प में है। धर्मब्रह्मविषयक संकल्प ही शिव संकल्प कहलाता है। इन मन्त्रों से प्रार्थना की जाती है कि मेरा मन सदा शुभ संकल्प में लगा रहे। ७वें मन्त्र में अन्न की, ८-९ में अनुमति की, १०वें में सिनीवाली की, ११वें में सरस्वती नदी की और अगली चार ऋचाओं में अग्नि देवता की स्तुति की गई है। आगे के चार (३४।१६–१९) मन्त्रों में इन्द्र की, अन्य चार (३४।२०–२३) में सोम की, आगे के चार (३४।२४–२७) में सावित्री की और अन्य तीन (३४।२८–३०) में अश्विनीकुमारों की स्तुति की गई है। तब एक-एक मन्त्र में सविता, रात्रि और उषा देवता की स्तुति है। ३४वें मन्त्र में अनेक देवताओं की एक साथ स्तुति की गई है। तब आगे के पाँच मन्त्र (३४।३५–३९) भग देवता की स्तुति में विनियुक्त हैं और ४०वें मन्त्र की देवता उषा है। आगे के दो मन्त्रों में पूषा देवता की, तब ४३-४४ संख्या के मन्त्रों में विष्णु देवता की और ४५वें मन्त्र में द्यावापृथिवी की स्तुति है। ४६वें मन्त्र के लिंगोक्त देवता हैं। तब ४७वें मन्त्र में अश्विनीकुमारों की और ४८वें में मरुद्गणों की स्तुति है। ४९ वें मन्त्र में भरद्वाज आदि सात ऋषियों की सृष्टि वर्णित है। अगले तीन मन्त्रों (३४।५०–५२) में हिरण्य (सुवर्ण) की स्तुति की गई है। ५३वीं ऋक् बहुदेवत्या, ५४वीं आदित्यदेवत्या और ५५वीं ऋचा अध्यात्मवादिनी है। यहाँ त्वक्, चक्षु, श्रवण, रसन, घ्राण, मन और बुद्धि लक्षण सात प्राणों को भी ऋषि माना गया है। हृदयाकाश में प्रतिष्ठित विज्ञानात्मा को ही लोक शब्द से अभिज्ञात किया गया है। इस अध्याय की अन्तिम तीन ऋचाओं (३४।५६–५८) में ब्रह्मणस्पति की स्तुति की गई है। ५७वें मन्त्र में उक्थ्य पद का अर्थ दिया गया है। ५८वें मन्त्र में चार प्रतीकोक्त मन्त्र हैं। इनका विनियोग ब्रह्मयज्ञ में किया जाता है।

---

१. यज्ञ के कार्य के लिये उपयोग में आने वाले आवश्यक जल को वसतीवरी कहते हैं। यह जल विधिपूर्वक नदी से घड़ों में लाया जाता है। इसी जल से सोमाभिषव आदि कार्य किये जाते हैं (कात्या०, पृ० ५१४)।

३५वाँ अध्याय : पितृमेध

मृत पूर्वपुरुष के कल्याण के निमित्त पितृमेध याग किया जाता है। मृत्यु का वर्ष ज्ञात न हो तो यह कभी भी किया जा सकता है। यदि वर्ष ज्ञात है, तब अयुग्म वर्षों में किया जाता है। हस्त, स्वाति, पुष्य आदि नक्षत्रों में, अमावास्या तिथि में, ग्रीष्म, शरद् ऋतु अथवा माघ मास में इसका अनुष्ठान किया जाता है। परिवार में अस्थिकलश की सेवा करने वाले जितने व्यक्ति हों, उतनी संख्या के घट और छत्र लेकर ये सब परिजन ग्राम की दक्षिण दिशा में जाते हैं। वहाँ अस्थिकलश को रख नूतन वस्त्र से उसको लपेट कर बाजे-गाजे के साथ उस अस्थिकलश पर पंखा झलते हुए परिजन उसकी तीन प्रदक्षिणा विपरीत क्रम से करते हैं। रात्रि के पूर्वभाग, मध्यभाग और अपरभाग में भी यह प्रदक्षिणा इसी तरह से की जाती है। पितृमेध का आरम्भ करते समय ढेर सारा अन्न दान में देना चाहिये और सारी रात नृत्य आदि का आयोजन होना चाहिये। यह सारा कार्यक्रम तब तक चलते रहना चाहिये, जब तक कि सूर्योदय न हो जाय। वन में जाकर न्यग्रोध, अश्वत्थ आदि पवित्र वृक्षों से दूर, अन्य वृक्ष, गुल्म आदि से आवृत ऊषर भूमि में, जो कि जलाशय के पूर्व अथवा उत्तर भाग में हो, श्मशान के लिये पुरुष के शरीर के बराबर परिमाण वाली भूमि का चयन करना चाहिये। इस समचतुरस्र भूमि का परिमाण और आकार शुल्बसूत्रप्रदर्शित पद्धति से निश्चित करना चाहिये। वेदार्थ-पारिजातकार ने यहाँ सरला वृत्ति में दी गई टिप्पणी को भी उद्धृत किया है। तदुपरान्त महीधर के मत को उद्धृत कर कात्यायन श्रौतसूत्र और शतपथ के आधार पर पूरे पितृमेध याग की पद्धति को स्पष्ट किया है। तदनुसार सबसे पहले इस पूरे क्षेत्र को अप्रदक्षिण (प्रदक्षिणा से विपरीत) क्रम से रस्सी से घेर कर पलाश की शाखा से बुहार दिया जाता है।

पत्र, पर्ण आदि का व्युदूहन (सफाई) करते समय इस अध्याय के प्रथम मन्त्र का पाठ किया जाता है और सर्वविध शान्ति के लिये यमराज से प्रार्थना की जाती है। इसके बाद उस पलाश की शाखा को दक्षिण दिशा में फेंक दिया जाता है। तब रस्सी से वेष्टित उस क्षेत्र के दक्षिण अथवा उत्तर भाग को छः बैल वाले हल से जोता जाता है। इस समय द्वितीय मन्त्र का पाठ करना चाहिये। 'वायुः पुनातु' (३५।३) मन्त्र से घेरी गई रज्जु के सहारे हल से चार रेखाएँ खींची जाती हैं। तदुपरान्त हल को दक्षिण दिशा में छोड़ कर कृष्ट क्षेत्र में 'अश्वत्थे' (३५।४) मन्त्र से सर्वौषध का वपन किया जाता है। 'सविता ते' (३५।५) मन्त्र से उस क्षेत्र के बीच में मृत व्यक्ति की अस्थियाँ रखी जाती हैं। यह अस्थिसंचय सूर्योदय के समय किया जाता है। छठे मन्त्र का विनियोग भी अस्थिनिवाप में ही किया जाता है। 'परं मृत्यो' (३५।७) मन्त्र का पाठ तब किया जाता है, जब कि कुम्भ के प्रक्षेप के लिये नियुक्त व्यक्ति दक्षिण दिशा में घट को फेंक कर वापस आता है। तब 'शं वातः' (३५।८-९) इत्यादि दो मन्त्रों से श्मशान-स्थान के बीच में अस्थियों को इस प्रकार रखा जाता है कि मृत व्यक्ति का पूरा स्वरूप साकार हो सके। तदुपरान्त बीच में पादमात्री इष्टका स्थापित की जाती है। अब गर्त से अथवा पूर्व दिशा को छोड़कर अन्य किसी दिशा से मिट्टी लेकर विप्र, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र आदि के लिये विभिन्न परिमाण के अथवा सबके लिये जानु-परिमाण के श्मशान की रचना कर कुश आदि से उसको आच्छादित कर उसकी दक्षिण दिशा में दो गढ़े खोद कर उनको दूध और जल से भर दिया जाता है और श्मशान की उत्तर दिशा में सात गड्ढे खोदकर उनको भी जल से भर दिया जाता है। तब अध्वर्यु, यजमान और अमात्य के निमित्त तीन पाषाण-खण्डों को फेंक कर 'अश्मन्वती' (३५।१०) मन्त्र से उन गर्तों पर चला जाता है।

इसके बाद अमात्यजन उपवीती (सव्य) होकर जल से आचमन कर हाथ में अपामार्ग लेकर उससे अपने शरीर पर जल छिड़कते हैं। कुछ आचार्यों का कहना है कि अपामार्ग के बीजों से उन्हें उबटन करनी चाहिये। 'अपाघम्' (३५।११) मन्त्र से इस विधि को किया जाता है। तब 'सुमित्रियाः' (३५।१२) मन्त्र से स्नान और नूतन वस्त्र का

परिधान कर 'अनड्वाहम्' (३५।१३) मन्त्र से बैल की पूंछ पकड़ कर 'उद्वयम्' (३५।१४) मन्त्र का पाठ करते हुए ये सब ग्राम में वापस आ जाते हैं। यहाँ 'सुमित्रियाः' मन्त्र से यद्यपि स्नान का ही विधान है, तथापि इसी मन्त्र के उत्तर भाग 'दुर्मित्रियाः' से शत्रुओं के अपसारण के निमित्त जलांजलि का प्रक्षेप भी किया जाता है। आते समय श्मशान और ग्राम की सीमा को निर्धारित करने के लिये अध्वर्यु बीच में एक मर्यादा-लोष्ट को रखते हुये 'इमं जीवेभ्यः' (३५।१५) मन्त्र का पाठ करता है। घर आकर आंखों में काजल और पैर में उबटन आदि लगाकर आवसथ्य अग्नि पर दर्भ से परिवेष्टित वारण वृक्ष की चार परिधियों को रख कर वारण स्रुव से 'अग्न आयूंषि' (३५।१६-१७) इत्यादि दो ऋचाओं का पाठ करते हुए एक आहुति दी जाती है। इसके बाद अध्वर्यु, यजमान और अमात्यों के प्रति 'परीमे' (३५।१८) मन्त्र से रक्षा की याचना की जाती है। तब पितृमेध याग के अन्तिम मन्त्र 'क्रव्यादमग्निम्' (३५।१९) से आहुति से तृप्त औपासन अग्नि के एक भाग को हटा दिया जाता है। इस प्रसंग में यहाँ भाष्यकार ने हरिस्वामी, कर्काचार्य आदि के मत को भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह पितृमेध की पद्धति पूरी होती है।

पितृमेध की समाप्ति के बाद 'वह वपाम्' (३५।२०) मन्त्र से जातवेदा अग्नि की स्तुति की जाती है। 'स्योना' (३५।२१) मन्त्र का कोई श्रौत विनियोग नहीं बताया गया है, तो भी स्मार्त स्रस्तरारोहण और शयन में इसका विनियोग किया जाता है। इसी कण्डिका के 'अप नः' इस यजुर्मन्त्र का विनियोग गृह्यसूत्र के अनुसार सम्बन्धी जन के मरणनिमित्तक स्नान में और अनामिका से जल के अपनोदन में किया जाता है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र 'अस्मात्' (३५।२२) का वाचन उस समय किया जाता है, जब कि मृत व्यक्ति अग्निहोत्री हो। उस समय पहले अग्निहोत्र के उपयोग में आने वाले सभी पात्रों को उसकी चिता में विभिन्न अंगों पर रख देने के बाद दाह के पहले उसके पुत्र आदि के द्वारा तन्निमित्तक घृत की आहुति दी जाती है। इस प्रकरण में अमात्य पद से पुत्र-पौत्र आदि का ग्रहण किया जाता है।

३६वां अध्याय : प्रवर्ग्याग्निकाश्वमेधिक

अगले चार अध्यायों में प्रवर्ग्य सम्बन्धी, आग्निक तथा अश्वमेध सम्बन्धी अवशिष्ट कर्मों का विधान है। इनके प्रारम्भ और अन्त में सर्वविध शान्ति के लिये प्रार्थना की जाती है। 'ऋचम्' (३६।१-१७) इत्यादि मन्त्रों से सप्तदशावयव प्रजापति के समष्टि लिंगशरीर की तथा बृहस्पति, सविता, इन्द्र, मित्रावरुण, वात, रात्रिदिन, जल आदि देवों की प्रार्थना की जाती है। इस अध्याय के अन्तिम सात मन्त्रों (३६।१८-२४) में सर्वविध शान्ति के लिये प्रधानतः महावीर की प्रार्थना की गई है।

३७वां अध्याय : महावीर संभरण

इस अध्याय के मन्त्रों से महावीर का संभरण किया जाता है। उखा संभरण के समय की जाने वाली मृत्पिण्ड आहरण की प्रक्रिया के समान यहाँ भी उदुम्बर अथवा विकंकत वृक्ष की हस्तप्रमाण अभ्रि का 'देवस्य त्वा' (३७।१) मन्त्र से ग्रहण किया जाता है। उसे बायें हाथ में लेकर दाहिने हाथ से 'युञ्जते' (३७।२) मन्त्र का पाठ करते हुए उसका स्पर्श किया जाता है। इसकी सहायता से मृत्पिण्ड, वल्मीकवपा आदि संभारों का संग्रह किया जाता है, जिससे महावीर आदि का निर्माण किया जा सके। महावीर का लक्षण यहाँ (पृ० १६०) कात्यायन श्रौतसूत्र के आधार पर बताया गया है। वहाँ यह भी निरूपित है कि पास में रहते हुए भी यजमानपत्नी प्रवर्ग्य महावीर को न देखे। वेदाध्ययन न करने वाला व्यक्ति भी उसे न देखे। श्रपण की विधि, आवाप और उद्धरण का काल, तीन महावीरों के उद्वपन में तीन मन्त्रों का विनियोग, पिन्वन पात्रों और रौहिण कपालों का तूष्णीं उद्वपन, आवाप से उद्धृत प्रथम महावीर का अजाक्षीर से समन्त्रक तथा अन्य दो का तूष्णीं सेचन इत्यादि सारी विधियाँ यहाँ कात्यायन श्रौतसूत्र और शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से बताई गई हैं।

उखा संभरण में जैसे मृत्पिण्ड का ग्रहण किया जाता है, उसी तरह से यहां भी 'देवी' इत्यादि तृतीय मन्त्र से अध्वर्यु साभ्रि दक्षिण और खाली बायें हाथ से मृत्पिण्ड का ग्रहण करता है। तब उत्तर दिशा में स्थापित पूर्व की तरफ मुख और उत्तर की तरफ लोम वाले कृष्णाजिन पर उस मृत्पिण्ड को तूष्णीं रख देता है। मृत्पिण्ड की उत्तर दिशा में कृष्णाजिन पर ही 'देव्यो वम्रयः' (३७।४) मन्त्र से वल्मीकवपा का ग्रहण कर उसको भी तूष्णीं रख दिया जाता है। उपदीका, उपजिह्विका, वम्री—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। इनके द्वारा किया गया मृत्संचय वल्मीक कहलाता है। इस वल्मीकवपा के उत्तर में कृष्णाजिन पर ही 'इयत्यग्रे' (३७।५) मन्त्र से वराह के द्वारा खोदी गई मिट्टी रखी जाती है। इसके उपरान्त छठी कण्डिका के मन्त्रों से पूतीक (रौहिण तृण)-रस और दुग्ध को लेकर उसी क्रम से कृष्णाजिन के उत्तर में रखा जाता है और इस पूरी सामग्री का अध्वर्यु अपने हाथ से स्पर्श करता है।

अब 'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः' (३७।७) मन्त्र से अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता कृष्णाजिन के चारों कोनों को पकड़ कर पूरी सामग्री के साथ उसे उठाकर अन्तःपात्य की उत्तर दिशा में पहले से निर्मित परिवृत स्थान में ले जाते हैं। पंचारत्निपरिमित, समचतुरस्र, प्राग्द्वार, सिकतोपकीर्ण, पहले से ही सात भू संस्कारों से संस्कृत एवं आच्छादित प्रदेश को [1]परिवृत कहा जाता है। वहाँ संभारों के साथ कृष्णाजिन को रख दिया जाता है। इस परिवृत स्थान में पाँच [2]भूसंस्कारों के अतिरिक्त उद्धत और अवेक्षित नामक दो संस्कार अधिक किये जाते हैं। उल्लेखन विधि को उद्धत और जलसेचन को अवेक्षित कहा जाता है। इसके उपरान्त अध्वर्यु वल्मीकवपा, वराहविहत मृत्तिका और पूतीक रस को आपस में मिला देता है। तब उसमें से महावीर का निर्माण करने लायक मृत्पिण्ड को तूष्णीं अलग करके 'मखाय त्वा' (३७।७) मन्त्र से महावीर का निर्माण करता है। महावीर का आकार कात्यायन श्रौतसूत्र (२६।१।१६) में वर्णित है। महावीर का निर्माण पूरा हो जाने पर उसे बायें हाथ में लेकर 'मखस्य' (३७।८) मन्त्र का उच्चारण करते हुए दाहिने हाथ से स्पर्श करता है। अन्य आचार्यों के मत से इस मन्त्र से मृदादान किया जाता है। स्पर्श के लिये मन्त्रोच्चारण नहीं किया जाता। उसे तूष्णीं किया जाता है। इसी तरह अन्य दो महावीरों का भी निर्माण और अभिमर्शन सम्पन्न होता है। तदनन्तर गवेधुका के जल से महावीर पात्रों को चिकना किया जाता है। तब 'अश्वस्य त्वा' (३७।९) इत्यादि कण्डिका के तीन मन्त्रों से घोड़े की सात लीदों को दक्षिणाग्नि में डालकर उससे महावीर पात्रों को धूपित किया जाता है और तब उखाश्रपण की पद्धति से महावीर का भी श्रपण किया जाता है। यहाँ तीनों महावीरों के साथ दो-दो पिन्वन पात्रों और रौहिण कपालों को भी तपाया जाता है। इन सबके पक जाने पर 'ऋजवे' (३७।१०) इत्यादि कण्डिका के तीन मन्त्रों से उन्हें बाहर निकाला जाता है। इस प्रकार महावीर सम्भरण की यह विधि पूरी होती है।

अब ब्रह्मा से अनुमति लेकर अध्वर्यु 'यमाय त्वा' (३७।११) इस कण्डिका में स्थित तीन मन्त्रों से प्रचरणीय महावीर का तीन बार प्रोक्षण करता है और अगली कण्डिका के पाँच मन्त्रों से महावीर के ऊपर अपना हाथ रखे हुए यजमान से पंचवाक्यात्मक इस कण्डिका का पाठ एक साथ कराता है। यजमान महावीर की दक्षिण दिशा की भूमि पर 'विश्वाभ्यः' (३७।१२) मन्त्र का पाठ करता हुआ अपने उत्तान हाथ को और महावीर की उत्तर

---

१. "पञ्चारत्निपरिमितः समचतुरस्रः प्राग्द्वारः सिकतोपकीर्णः पूर्वमेव कृतः सप्तभूसंस्कारसंस्कृतश्छादितप्रदेशः परिवृत उच्यते" (भा०, पृ० १६६)।

२. अग्निस्थापन करने के स्थान पर संमार्जन, लेपन, उल्लेखन, उद्धरण और प्रोक्षण करना पंचभूसंस्कार है (कात्या०, पृ० ४९१)।

दिशा में [1]प्रादेश को रखता है। उसके उपरान्त अध्वर्यु 'स्वाहा मरुद्भिः' (३७।१३) मन्त्र से [2]धृष्टियों के द्वारा गार्हपत्य अग्नि के अंगारों को महावीरों की चारों दिशाओं में रख कर प्रागग्र और उदगग्र १३ विकंकत काष्ठ के टुकड़ों से महावीर का परिश्रयण कर अंगारों के ऊपर उनको रख देता है। धवित्र (पंखा) से अग्नि का प्रज्वालन करते समय पहले यदि प्रदक्षिणा नहीं की गई है, तो यहाँ उसकी तीन प्रदक्षिणा की जाती है। यदि पहले प्रदक्षिणा कर ली गई है, तो यहाँ अब एक ही प्रदक्षिणा करके ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, अग्नीत्, प्रतिप्रस्थाता, प्रयोक्ता और यजमान—ये सब मिलकर 'गर्भो देवानाम्' (३७।१४) इत्यादि 'नमस्ते अस्तु' (३७।२०) पर्यन्त अवकाश नाम वाले मन्त्रों से घर्म का उपस्थान करते हैं। इसके बाद शिर से अपना वस्त्र हटा कर महावीर को देख रही यजमान पत्नी को अध्वर्यु 'त्वष्टृमन्तः' (३७।२०) मन्त्र का वाचन कराता है। तदुपरान्त 'अहः केतुना' (३७।२१) इत्यादि इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र के पूर्वार्ध से रौहिणहवनी स्रुचा से रौहिण पुरोडाश की प्रातःकाल तथा इसी मन्त्र के उत्तरार्ध से द्वितीय रौहिण पुरोडाश की आहुति दी जाती है।

३८वाँ अध्याय : महावीर संभरण

घर्मदुघा गाय के पिछले पैरों को बाँधने की रज्जु को हाथ में लेकर अध्वर्यु 'देवस्य त्वा' (३८।१) मन्त्र का उच्चारण करते हुए गार्हपत्य अग्नि के पीछे जाकर 'इड एहि' (३८।२) इत्यादि तीन मन्त्रों से गाय को पुकारता है। फिर तीन बार उसका नाम लेकर पुकारता है। गाय के आ जाने पर 'अदित्यै' (३८।३) इत्यादि मन्त्र से उसे खंभे से बाँध कर 'पूषाऽसि' (३८।३) मन्त्र से बछड़े को दूध पिन्हाने के लिये छोड़ता है। तब 'अश्विभ्याम्' (३८।४) मन्त्र से गाय को पिन्वन पात्र में दुहता है और दुहते समय पिन्वन पात्र के बाहर गिरे दूध के कणों को 'स्वाहेन्द्रवत्' (३८।४) इत्यादि मन्त्रगत तीन वाक्यों से अभिमन्त्रित करता है। 'यस्ते स्तनः' (३८।५) से गाय के स्तन का स्पर्श कर इसी मन्त्र के 'उर्वन्तरिक्षम्' इत्यादि भाग का पाठ करते हुए गार्हपत्य अग्नि के पास पहुँचता है। फिर 'गायत्रम्' (३८।६) इत्यादि कण्डिका के दो मन्त्रों से दो परीशासों का ग्रहण करता है। इसके बाद महावीर का बकरी के दूध से तूष्णीं सेचन कर अग्नि की ज्वाला के शान्त होने पर 'इन्द्राश्विना' (३८।६) मन्त्र से उस पर गाय के दूध का सेचन करता है। 'प्रैतु ब्रह्मणस्पति' होता के ऐसा कहने पर अध्वर्यु आहवनीय अग्नि की तरफ बढता हुआ 'समुद्राय त्वा' (३८।७-८) इत्यादि कण्डिकाओं में पठित वात के बारह नामों का सस्वर उच्चारण करता है। अन्त में अध्वर्यु अपसव्य होकर दक्षिण दिशा में मुंह करके 'स्वाहा घर्मः पित्रे' (३७।९) मन्त्र का जप करे और सव्य होकर जल का स्पर्श करे। तब घर्म को हाथ में लेकर उसके निमित्त आहुति देने के लिये आश्रावण करे। वषट्कार का उच्चारण करने के बाद 'विश्वा आशाः' (३८।१०) मन्त्र से घर्म की आहुति दे। तब 'दिवि धाः' (३८।११) मन्त्र से महावीर को ऊपर उठा कर तीन बार हिलावे। पहला उत्कम्पन समन्त्रक तथा बाकी दो तूष्णीं किये जाते हैं। 'स्वाहाग्नये' (३८।११) मन्त्र के बाद 'वषट् स्वाहा' कह कर घर्म की आहुति दी जाती है।

अब ब्रह्मा 'अश्विना' (३८।१२) मन्त्र से और यजमान 'अपाताम्' (३८।१३) मन्त्र से घर्म को अनुमन्त्रित करते हैं। 'इषे पिन्वस्व' (३८।१४) मन्त्र से आहवनीय अग्नि में सिच्यमान घर्म का भी यजमान ही अनुमन्त्रण करता है। फिर इसी कण्डिका के 'घर्मासि' इत्यादि मन्त्र से ईशान दिशा की तरफ उत्क्रमण करता है और 'अमेन्यस्मे' मन्त्र से महावीर को खर पर रखता है। अब घर्म में घृत लगा कर विकंकत काष्ठ के सात टुकड़ों के साथ इस घर्माज्य की

---

१. विस्तृत किये हुए अंगुष्ठ और तर्जनी के मध्य भाग को प्रादेश कहते हैं (वहीं, पृ० ५०३)।

२. ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों में धृष्टि शब्द गार्हपत्याग्नि से अंगारे उठाने के लिये प्रयुक्त चिमटे के अर्थ में आया है (वैदिक कोश, पृ० २२१)। प्रस्तुत स्थल पर यह शब्द द्विवचन में प्रयुक्त है।

'स्वाहा पूष्णे' (३८।१५-१६) इत्यादि दो कण्डिकाओं के सात मन्त्रों से आहुति दी जाती है। चतुर्थ काष्ठशकल की आहुति न देकर उत्तर दिशा को देखते हुए वेदि के दक्षिण भाग में वेदि पर आस्तीर्ण बर्हि के दक्षिण भाग में उसे छिपा दिया जाता है। पूरे घर्म को घृताभ्यक्त कर उसके साथ सातवें काष्ठशकल को दक्षिण दिशा की तरफ देखता हुआ अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता को दे देता है। प्रतिप्रस्थाता उसे शाला के उत्तर भाग में फेंक देता है। बाकी के पाँच काष्ठखण्डों की घृत के साथ आहुति दी जाती है। यहाँ दो रौहिण पुरोडाशों की भी आहुति दी जाती है और अन्त में होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, प्रस्तोता, प्रतिप्रस्थाता, अग्नीत् और यजमान मिल कर उपयमनी पात्र में आनीत घर्माज्य की अग्निहोत्र प्रकरण के क्रम से समन्त्रक आहुति देकर वाजिन याग के समान [1]उपहव प्रार्थना के साथ उसका भक्षण करते हैं। अब 'अभीमम्' (३८।१७) मन्त्र से प्रचरणीय घर्म को आसन्दी पर रखा जाता है। अन्य दो घर्मों को तूष्णीं रखा जाता है। तब अध्वर्यु चतुर्गृहीत संस्कृत घृत से 'या ते घर्म' (३८।१८) मन्त्र से आहुति देता है।

इसके बाद अध्वर्यु यजमानपत्नी को आगे करके 'क्षत्रस्य त्वा' (३८।१९) मन्त्र का पाठ करता हुआ शाला से बाहर निकल जाता है। तब 'चतुःस्रक्तिः' (३८।२०) मन्त्र से नाभि के सामने महावीर का आसादन कर जलयुक्त द्वीप में घर्म का उद्वासन कर देता है। इसके उपरान्त सात उत्सादन स्थानों को, अर्थात् तीन महावीर स्थानों, दो पिन्वन स्थानों, उपयमन स्थान और स्रुवा को 'घर्मैतत्' (३८।२१) मन्त्र से दूध से भर देता है। इसके बाद साम का गान किया जाता है और उत्सादन देश को दूध से सींच कर 'अचिक्रदत्' (३८।२२) मन्त्र से घर्म की सूर्य के रूप में स्तुति की जाती है। अब सपत्नीक ऋत्विक् और यजमान 'सुमित्रियाः' (३८।२३) मन्त्र से चात्वाल का मार्जन करते हैं। तब 'उद्वयम्' (३८।२४) मन्त्र का उच्चारण करता हुआ यजमान ईशान कोण की तरफ जाता है। वहाँ से आते समय बिना पीछे देखे 'एधोऽसि' (३८।२५) मन्त्र से एक समिधा हाथ में लेकर 'समिदसि' (३८।२५) मन्त्र से उसे आहवनीय स्थान में रख देता है। अब 'यावती' (३८।२६) मन्त्र से सपवित्र अग्निहोत्रहवणी में दधिघर्म का ग्रहण कर उसकी आहुति दी जाती है। अवशिष्ट दधिघर्म का यजमान और ऋत्विक् 'मयि त्यत्' (३८।२७) मन्त्र से सोपहव भक्षण करते हैं। इस अध्याय की अन्तिम २८वीं कण्डिका स्थित गायत्री मन्त्र से भी दधिघर्म का भक्षण किया जाता है। इस कण्डिका के शेष भाग से महाव्रतीय दिन में हुतशेष दधिघर्म का भक्षण किया जाता है।

३९वां अध्याय : घर्मभेदप्रायश्चित्त

प्रवर्ग्य का अनुष्ठान करते समय घर्म यदि टूट जाय, तो इसके निमित्त प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसकी प्रक्रिया यों है—अध्वर्यु 'भूमिर्भूमिम्' और 'य ऋते चित्' इन दो मन्त्रों से टूटे हुए घर्म का स्पर्श कर परमेष्ठी आदि के लिये ३४ आहुतियाँ देकर 'स्वाहा प्राणेभ्यः' (३९।१) मन्त्र से एक पूर्णाहुति देकर 'पृथिव्यै स्वाहा' (३९।२–३) इत्यादि मन्त्रों से २० आहुतियाँ सकृत् गृहीत आज्य की दे तथा अन्त में 'मनसः कामम्' (३९।४) इत्यादि मन्त्र से पुनः पूर्णाहुति दे। इस प्रकार यहाँ प्रारम्भ और अन्त में दो पूर्णाहुतियाँ दी जाती हैं। इनके मन्त्रों का स्वरूप भाष्य में दिया गया है (पृ० २१३,२१५)। महावीर की संभ्रियमाण आदि अवस्थाओं का उल्लेख पाँचवें मन्त्र में है। उन-उन अवस्थाओं में महावीर का भेद होने पर 'प्रजापतये स्वाहा' (३९।५) इत्यादि मन्त्रों से आहुतियाँ दी जाती हैं। इसी तरह से प्रथम, द्वितीय आदि दिनों में घर्मभेद होने पर तत्तद् देवताओं के लिये आहुतियों का विधान 'सविता प्रथमेऽहन्' (३९।६) इत्यादि मन्त्रों द्वारा किया गया है। इन प्रायश्चित्ताहुतियों के पश्चात् चयन स्थान में छः मारुत पुरोडाशों की 'शुक्रज्योतिः' (१७।८०–८५) इत्यादि छः मन्त्रों से आहुतियाँ देने के बाद अरण्यानूच्य संज्ञक सप्तम पुरोडाश की आहुति 'उग्रश्च' (३९।७) मन्त्र से देते हैं। इस मन्त्र की विमुख संज्ञा है।

---

१. ऋत्विजों द्वारा किसी प्रकार की प्रार्थनीय अनुमति को उपहव कहते हैं (कात्या०, पृ० ४७३)।

विमुख संज्ञक इस मन्त्र से आगे की 'अग्निं हृदयेन' (३९।८–९) इत्यादि दो कण्डिकाओं से उन-उन देवताओं को उन-उन अश्वांगों के साथ चतुर्गृहीत आज्य की आहुतियाँ दी जाती हैं। आचार्य हरिस्वामी के मत से प्रयोग का स्वरूप कैसा होगा, यह भी भाष्य में बता दिया गया है (पृ० २१९)। इस आठवें मन्त्र से अध्याय की समाप्ति तक यहाँ अश्वमेघ सम्बन्धी अवशिष्ट मन्त्र पठित हैं। इनका पाठ भी अरण्य (वन) में ही किया जाता है, अतः अरण्यानूच्य 'उग्रश्च' मन्त्र के साथ इनका भी पाठ यहाँ किया गया है। देवताओं का और उनके अवयवों का इन मन्त्रों में विधान है। आगे के 'लोमभ्यः स्वाहा' (३९।१०) इत्यादि मन्त्रों में केवल अश्व के अवयवों का तथा 'आयासाय स्वाहा' (३९।११–१३) इत्यादि मन्त्रों में केवल देवताओं का विधान है। 'लोमभ्यः स्वाहा' (३९।१०) से लेकर अध्याय समाप्ति पर्यन्त मन्त्रों से ४२ प्रायश्चित्त-निमित्तक आहुतियाँ दी जाती हैं। कुछ आचार्यों के मत से यहाँ इन अंगों की आहुतियाँ दी जाती हैं। अन्य आचार्य मानते हैं कि अश्वांगों के अभिमानी उन-उन देवताओं की इन मन्त्रों से स्तुति की जाती है। यहाँ 'द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा' (३९।१३) मन्त्र से अन्तिम आहुति दी जाती है।

शतपथ ब्राह्मण के अवधेय अंश

मन्त्रों का यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र के प्रधानतः २१ और २५–२६ अध्यायों के अनुसार बताया गया है। भाष्यकार ने कात्यायन के उक्त विनियोगों का समर्थन शतपथ ब्राह्मण के प्रायः १३–१४ काण्डों के वचनों को विस्तार अथवा संक्षेप में उद्धृत कर किया है। साथ ही मन्त्रों की विशिष्ट शब्दावली की व्याख्या भी शतपथ के प्रमाण से की है।

३१वें अध्याय में शतपथ के वचन बहुत ही कम उद्धृत हैं। प्रथम मन्त्र में शतपथ के प्रमाण से पुरुष पद की व्युत्पत्ति दी गई है। बृहदारण्यकोपनिषद् भी उद्धृत है, जो कि शतपथ का ही अन्तिम भाग है। तैत्तिरीय संहिता आदि के प्रमाण से भी कहीं-कहीं कात्यायन के विनियोगों को समर्थन दिया गया है। १७वें मन्त्र में कर्मदेवों और आजान-देवों के समर्थन में शतपथश्रुति उद्धृत है। इन वचनों का भी समावेश बृहदारण्यक में ही माना जाता है।

३२वें अध्याय में सर्वमेध सम्बन्धी मन्त्र उपदिष्ट हैं। सर्वमेध के अप्तोर्याम संज्ञक सातवें दिन किये जाने वाले सर्वहोम में इनका विनियोग विहित है, इस बात की पुष्टि शतपथ के प्रमाण से यहाँ पहले ही मन्त्र में की गई है। द्वितीय मन्त्र में बृहदारण्यकश्रुति उद्धृत है। ११वें मन्त्र में भी शतपथ के षष्ठ काण्ड के और बृहदारण्यक के वचन मन्त्र के व्याख्यान की पुष्टि करते हैं। अन्यत्र शतपथ-वचन उद्धृत नहीं हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इस अध्याय के भाष्य में शतपथ-वचनों का उपयोग बहुत कम किया गया है।

३३वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में शतपथ के चतुर्थ काण्ड के वचनों के प्रमाण से पुरोरुक् पद के अर्थ को समर्थन दिया गया है। आठवें मन्त्र में प्रथम काण्ड के वचन से चमस का अर्थ और प्रयोजन प्रदर्शित है। १८वें मन्त्र में शतपथ के आधार पर ही मन्त्रों का विनियोग दिखाया गया है। ३०वें और ४४वें मन्त्र का विनियोग भी शतपथ के आधार पर ही दिया गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सर्वमेध सम्बन्धी इस अध्याय के प्रारम्भ के ५४ मन्त्रों का विनियोग यहाँ शतपथ के आधार पर दिखाया गया है। यहाँ कात्यायन श्रौतसूत्र का कोई भी वचन उद्धृत नहीं है। इस अध्याय के आगे के मन्त्र अनारभ्याधीत हैं। उनका विनियोग किसी कर्म के अनुष्ठान में न होकर ब्रह्मयज्ञ में निर्दिष्ट है। अतः यहाँ अध्याय समाप्ति पर्यन्त किसी भी मन्त्र में कात्यायन श्रौतसूत्र अथवा शतपथ के वचन उपलब्ध नहीं होते। प्रसंगवश ७०वें और ७४वें मन्त्र में कात्यायन के नवें अध्याय के वचन अवश्य मिलते हैं। ९०–९१ संख्या के मन्त्रों में भी बृहदारण्यक के एक-दो वचन दिखाई पड़ते हैं।

३४वें अध्याय में भी स्पष्टतः शतपथ का कोई वचन उपलब्ध नहीं है। कुछ स्थलों पर बृहदारण्यक के साथ कुछ अन्य उपनिषदों के वचन भी अवश्य उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ३१-३४ अध्यायों में शतपथ के वचन बहुत ही कम मिलते हैं।

३५वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में शतपथ के पितृमेध-सम्बन्धी वचन विस्तार से उद्धृत हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र के आधार पर महीधर द्वारा प्रदर्शित सारे पितृमेध-सम्बन्धी विधि-विधानों का इसमें विस्तार से उल्लेख है। प्रारम्भ में शव और श्मशान पदों की व्युत्पत्ति बताई गई है। पालाश शाखा से तृण, पर्ण आदि के व्युदूहन (बुहारना) का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए यहाँ संक्षेप में मन्त्र की व्याख्या भी की गई है। द्वितीय मन्त्र में पितृमेध के लिये निश्चित स्थान को रस्सी से घेर कर भूमि-कर्षण के विधान को भी यहाँ शतपथ श्रुति से पुष्ट किया गया है। यहाँ हल में छः बैल ही क्यों जोते जाते हैं और हल से चार ही रेखाएँ क्यों खींची जाती हैं, इसका समाधान तृतीय मन्त्र में उद्धृत वचनों से मिलता है। इसी प्रकार चौथे मन्त्र में सर्वौषधि-वपन का प्रयोजन बताया गया है। अस्थिसंचय सूर्योदय के बाद करना चाहिये, इसकी पुष्टि में भी पाँचवें मन्त्र में शतपथ के वचन प्रस्तुत किये गये हैं। यहाँ मन्त्र के पदों की व्याख्या भी की गई है। शतपथ ब्राह्मण की यह पद्धति ही है कि मन्त्रों का विनियोग बताने के साथ ही यहाँ अनेक स्थानों पर मन्त्र-पदों की व्याख्या भी की गई है। इसीलिये शतपथ को तथा अन्य ब्राह्मण साहित्य को भी मन्त्रों का पहला भाष्य माना जाता है। इसी पद्धति से यहाँ ७-८ और १०-१२ मन्त्रों की व्याख्या के साथ उनके विनियोग भी प्रदर्शित हैं। श्मशान और ग्राम के मध्य में मर्यादालोष्ट के रखने के विधान को भी १५वें मन्त्र में निर्दिष्ट शतपथ का समर्थन मिलता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इस प्रकार की अनेक वैदिक विधियाँ लोकव्यवहार में रीति-रिवाजों के रूप में निरन्तर चली आ रही हैं। १६वें मन्त्र में व्याख्यात नेत्रांजन, पादाभ्यंजन जैसी विधियाँ शतपथश्रुति से तो समर्थित हैं ही, लोकव्यवहार में आज भी वे किसी-न-किसी रूप में प्रचलित हैं।

३६वें अध्याय के पहले मन्त्र में ही शतपथ के वचन को उद्धृत कर बताया गया है कि इस संहिता के अन्तिम पाँच अध्यायों के विषय सर्वप्रथम आथर्वण दध्यङ् ऋषि को ज्ञात हुए थे। इनमें आग्निक और आश्वमेधिक मन्त्रों के साथ प्रवर्ग्य का प्रकरण विशेष महत्त्व का है। त्रयीविद्यासम्पन्न व्यक्ति को प्रवर्ग्य किसी प्रकार की हानि न पहुँचावे, इसके लिये यहाँ ३६वें अध्याय में सर्वविध शान्ति के सम्पादक मन्त्रों का पाठ किया जाता है। इन सत्रह शान्ति-मन्त्रों की तथा आगे महावीर की स्तुति में विनियुक्त अन्तिम सात मन्त्रों (३६।१८-२४) की व्याख्या में भी कोई शतपथ वचन उद्धृत नहीं किया गया है।

३७वें अध्याय में पहले ही मन्त्र में महावीर-संभरण का विधान अतिविस्तार से शतपथ के अनेक वचनों के आधार पर दिया गया है। शतपथ के १४वें काण्ड के प्रथम तीन अध्यायों को प्रवर्ग्य काण्ड कहा जाता है। इस प्रवर्ग्य काण्ड में निर्दिष्ट विधि से यज्ञरूपी विष्णु के सिर का सन्धान किया जाता है। आदित्य ही इस यज्ञरूपी विष्णु का सिर है। शतपथ में यहाँ एक आख्यायिका दी गई है कि किसी समय कुरुक्षेत्र में अश्विनीकुमारों को छोड़ कर बाकी अनेक देवगण यज्ञ (सत्र) कर रहे थे। इसके लिये एकत्र सभी देवताओं में विष्णु को श्रेष्ठ माना गया। वह यज्ञरूपी विष्णु अहंकारवश अपने सिरहाने धनुष को रख सो गया। इसी बीच दीमकों ने धनुष की प्रत्यंचा (डोरी) को काट डाला। प्रत्यंचा के टूटने के साथ ही विष्णु का सिर धड़ से अलग हो गया। देवगण संताप करने लगे कि आज हमारे बीच में से एक महावीर उठ गया। शतपथ में यहाँ घर्म,[1] प्रवर्ग्य, महावीर, सम्राट् आदि पदों की व्युत्पत्ति बताई गई है (पृ० १५६)।

---

१. कात्यायनयज्ञपद्धतिविमर्श में प्रवर्ग्य और घर्म को पर्यायवाची शब्द माना गया है। वहाँ कहा गया है कि अग्निष्टोम याग में प्रवर्ग्य विधान विहित है। महावीर संबन्धी समस्त कर्म प्रवर्ग्य है (पृ० ५०१)। घर्म-याग का परिचय पृ० ४८०-४८१ पर तथा महावीर पात्र का परिचय इन्होंने पृ० ५०८ पर दिया है। यहाँ पुनः कहा गया है कि प्रवर्ग्य और घर्म महावीर का पर्याय है। इन तीनों स्थलों को और भाष्य के इस विषय से संबद्ध स्थलों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवर्ग्य याग का नाम है। इस विधि को सम्पन्न करने के लिये महावीर नामक पात्र का संभरण किया जाता है और इस तप्त महावीर पात्र में तप्त घृत में

आख्यायिका में आगे बताया गया है कि दीमक फिर इस प्रकार का उपद्रव न करें, इसके लिये उनके निमित्त देवताओं ने अन्नाद्य[1] (अन्न और आद्य) का विधान किया। तीन सवनों की भी यहाँ व्याख्या की गई है। आगे यज्ञरूपी विष्णु के सिर के पुनः सन्धान की कथा इस प्रकार वर्णित है कि देवगण को यह मालूम था कि अथर्ववेदी दध्यङ् ऋषि उस प्रवर्ग्य की विधि को जानते हैं, जिससे कि यज्ञ में आने वाले विघ्नों को दूर किया जाता है। इस विद्या को सीखने के लिये इन्द्र उनके पास गया। दध्यङ् ऋषि ने इस शपथ पर इन्द्र को विद्या का उपदेश दिया कि वह किसी अन्य को यह विद्या नहीं सिखावेगा। इन्द्र ने भी दध्यङ् ऋषि से कहा कि यदि आप इस विद्या का उपदेश दूसरे को करेंगे तो आपका सिर धड़ से अलग हो जायगा। अश्विनीकुमार भी दध्यङ् ऋषि के पास यह विद्या है, इस बात को जानते थे। अश्विनीकुमार जब बालक थे, तभी उन्होंने दध्यङ् ऋषि की चिकित्सा की थी और उसके बदले में वे इस विद्या को प्राप्त करना चाहते थे। उस समय अश्विनीकुमार बालक थे, अतः दध्यङ् ऋषि ने बाद में इस विद्या का उपदेश करने के लिये उनसे कहा था। बाद में इन्द्र के साथ घटी इस घटना से दध्यङ् ऋषि उस समय धर्मसंकट में पड़ गये, जब कि देवताओं की प्रार्थना पर अश्विनीकुमार इस विद्या को सीखने उनके पास पहुँचे। दध्यङ् ऋषि को अपने दिये वचन का पालन अवश्य करना था और वचन का पालन करने पर इन्द्र के साथ हुई प्रतिश्रुति के कारण शिरच्छेद का भय था। अश्विनीकुमारों ने इसका रास्ता खोज निकाला। उन्होंने दध्यङ् ऋषि के सिर को हटाकर उसकी जगह अश्व का सिर लगा दिया। इस अश्व के सिर (हयशीर्ष) से उन्होंने दध्यङ् ऋषि से विद्या प्राप्त कर ली और इन्द्र की प्रतिश्रुति के अनुसार इस अश्व के सिर के छिन्न हो जाने पर अश्विनीकुमारों ने दध्यङ् ऋषि के अपने मनुष्य-सिर को पुनः अपने स्थान पर बैठा दिया। इसी प्रवर्ग्य विद्या की सहायता से अश्विनीकुमारों ने देवताओं के यज्ञरूपी विष्णु के सिर का भी पुनः इसी तरह से सन्धान कर दिया।

इस आख्यायिका को समाप्त करते हुए शतपथ में बताया गया है कि कक्षीवान् नामक ऋषि ने भी ऋग्वेदीय मन्त्र (१।११६।१२) में इस विद्या की चर्चा की है। अन्त में यहाँ बताया गया है कि इस प्रवर्ग्य विद्या का उपदेश सर्वसाधारण को नहीं करना चाहिये। इस विद्या की प्राप्ति के लिये किन-किन नियमों का पालन करना चाहिये, इस विषय की भी शतपथ में विस्तार से चर्चा है (पृ० १५८)। प्रवर्ग्य के लिये महावीर आदि मिट्टी के पात्रों को बनाने के लिये मृत्पिण्ड, वल्मीक-वपा आदि संभारों के संचय की विधि भी यहाँ विस्तार से बताई गई है (पृ० १५९-१६१)। इस पूरे विधान की प्रक्रिया ऊपर बता दी गई है। सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट महावीर का लक्षण और उसकी व्याख्या भी यहाँ (पृ० १६०-१६२) निर्दिष्ट है।

आगे इस अध्याय के प्रायः सभी मन्त्रों में कात्यायन के विनियोगों का शतपथ के वचनों के आधार पर विस्तार से समर्थन किया गया है। तीसरे मन्त्र में मृत्पिण्ड, चौथे में वल्मीक-वपा, पाँचवें में वराहविहत मृत्तिका और छठे में पूतीकरस के संभरण का विधान देखा जा सकता है। इसी तरह से ८वें मन्त्र में अजाक्षीर के संभरण का विधान है।

दूध मिला कर तैयार की गई घर्म नामक हवि की अग्नि में आहुति दी जाती है। अवशिष्ट घर्म का यजमान आदि प्राशन करते हैं। शतपथ ब्राह्मण के १४ वें काण्ड के प्रथम तीन अध्यायों में प्रवर्ग्य याग का विस्तार से निरूपण किया गया है। महावीर का लक्षण भाष्य में इस तरह से दिया गया है—"प्रादेशमात्रोन्नतानि पर्वत्रयवन्ति घुण्टिकाकाराणि घर्महविःसन्तापनार्थानि त्रीणि मृन्मयानि पात्राणि महावीरा उच्यन्ते" (पृ० १६२)। इस पात्र की आकृति उक्त ग्रन्थ (पृ० ५४०) में ही देखी जा सकती है। स्पष्ट है कि यह एक विशेष आकार का पात्र है और इसमें घर्म नामक हवि को तप्त दिया जाता है। वैदिक कोश में भी इन शब्दों का अर्थ सही नहीं दिया गया है।

१. अत्तुं योग्यमन्नम्, दन्तव्यापारनिरपेक्षम्। आद्यं दन्तव्यापारसव्यपेक्षम्" (भा०, पृ० १५७)।

नवें मन्त्र में इन पाँच संभारों के संभरण का कारण और महत्त्व प्रदर्शित है। पंक्ति शब्द से यहाँ पाँच संख्या गृहीत है। इन पाँच संख्या वाले अन्य अनेक पदार्थों का उल्लेख भाष्य (पृ० १६६,१६९) में किया गया है। यह विषय वैदिक विद्वानों के लिये विशेष रूप से अवलोकनीय है। १०वें मन्त्र में पक्व महावीरों के उद्वाप के साथ महावीर-संभरण की यह विधि पूरी होती है।

११वें मन्त्र में महावीर के प्रोक्षण आदि संस्कार विहित हैं। शतमान रजत के उपगूहन के प्रसंग में एक श्रौत कथा दी गई है (पृ० १७२)। यहाँ श्रौतसूत्र-प्रदर्शित मुंजप्रलव के आदीपन को भी समर्थन दिया गया है। १२वें मन्त्र में महावीर के ऊपर हाथ रखकर यजमान द्वारा पाँच वाक्यों वाले इस मन्त्र के पाठ के विधान को अलग-अलग वाक्यों की व्याख्या करते हुए स्वीकृति दी गई है (पृ० १७३–१७४)। १३वें मन्त्र में तेरह विकंकत शकलों (काष्ठ-खण्ड) से महावीर का परिश्रयण क्यों किया जाता है, इस प्रश्न का त्रयोदश मासात्मक संवत्सर ही प्रवर्ग्य है, यह कह कर उत्तर दिया गया है (पृ० १७५–१७६)। १४वें मन्त्र में प्रसलवि (सव्य) और अप्रसलवि (अपसव्य) क्रम से प्रदक्षिणा करते समय ब्रह्मा आदि ऋत्विग् घर्म पर पंखा झलते रहते हैं। ऐसा क्यों किया जाता है, इसका भी उत्तर शतपथ के प्रमाण से यहाँ (पृ० १७७–१७८) दिया गया है। १६वें मन्त्र में यज्ञ की वाक्स्वरूपता प्रदर्शित है और १७वें मन्त्र में सूर्य को सब प्राणियों का रक्षक बताया गया है। १८वें मन्त्र में प्रवर्ग्य-प्रकरण को मधु-ब्राह्मण नाम दिया गया है और उसका महत्त्व प्रदर्शित है। ब्रह्मा आदि के द्वारा महावीर की स्तुति कर लेने के उपरान्त यजमान-पत्नी महावीर का ईक्षण करती है। यहाँ प्रवर्ग्य को वृषा और यजमान-पत्नी को योषा बताया गया है। इस अध्याय की अन्तिम ऋचा (३७।२१) में रौहिण पुरोडाशों को चक्षुस्थानीय कहा गया है। यहाँ बताया गया है कि विष्णुरूपी यज्ञ का प्रवर्ग्य सिर है और रौहिण पुरोडाश चक्षु है। यह रौहिण पुरोडाश क्या है, इसको भी यहाँ दिखाया गया है (पृ० १८३)। इस प्रकार इस अध्याय में अतिविस्तार से प्रायः प्रत्येक मन्त्र में शतपथ के वचन उद्धृत हैं और उनके द्वारा कात्यायन के विनियोगों को समर्थन तो मिला ही है, साथ में प्रसंगवश उठने वाले अनेक प्रश्नों का समाधान भी हमें मिलता है।

३८वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में शतपथ के प्रमाण से गाय के आह्वान की प्रक्रिया बताई गई है। वहाँ कहा गया है कि इडा, अदिति और सरस्वती ये सब गाय के ही नाम हैं। इन सामान्य नामों से गाय का आह्वान करने के बाद ऊँची आवाज में गाय को उसके अपने नाम से पुकारना चाहिये। तीसरे मन्त्र में गाय के पिछले पैरों को बाँधने और वत्स को दूध पीने के लिये छोड़ने और फिर गाय के सामने उसको बाँधने की विधि के समर्थक वचन दिये गये हैं। चौथे मन्त्र में भी कात्यायन वर्णित विनियोगों को शतपथ की अनेक कण्डिकाओं का समर्थन मिला है। पाँचवें मन्त्र में भी शतपथ की ऐसी ही कण्डिकाएँ उद्धृत हैं। यहाँ यज्ञ को ही वाक् बताया गया है। छठे मन्त्र में उद्धृत शतपथ से स्पष्ट हो जाता है कि परीशास और शफ पर्यायवाची शब्द हैं। प्रवर्ग्य महावीर आदित्य का ही स्वरूप है। यहाँ विस्तार से शतपथ के वचनों को उद्धृत कर महावीर का उपयमनी पात्र में गृहीत अजाक्षीर से सेचन आदि का विधान बताया गया है। यहाँ यह भी कहा गया है कि वाट् पद वषट्कार का ही निर्देशक है। ७वें मन्त्र में वात के नामों को जपते हुए आहवनीय अग्नि के पास जाने का विधान है। यहाँ शतपथ में एक आख्यायिका दी गई है कि ऐसा क्यों किया जाता है। ८वें और ९वें मन्त्रों में भी बताया गया है कि इन्द्र, सविता, बृहस्पति, यम आदि सभी नामों से यहाँ वात का ही ग्रहण क्यों किया जाता है। नवीं कण्डिका में 'स्वाहा घर्माय' मन्त्र से आहुति देने का प्रकार भी बताया गया है। १०वें मन्त्र में उद्धृत शतपथ में मन्त्र का अर्थ भी प्रदर्शित है।

११वें मन्त्र के शतपथ में भी महावीर का तीन बार उत्कम्पन और वषट्कार के साथ होम का विधान प्रदर्शित है। ब्रह्मा द्वारा घर्म का अनुमन्त्रण और स्तवन १२ वें मन्त्र में मिलता है। इसी प्रकार इस अध्याय के आगे के प्रायः सभी मन्त्रों में शतपथ को उद्धृत कर संक्षेप अथवा विस्तार से पूर्व प्रदर्शित कात्यायन श्रौतसूत्र के विनियोगों का समर्थन

करते हुए इन विधियों को स्पष्ट रूप से समझाया गया है। साथ ही यत्र-तत्र मन्त्र के पदों की व्याख्या भी की गई है। १५वें मन्त्र में [1]पाषाण और प्रतिरव की प्राणात्मकता वर्णित है। इसी मन्त्र में पितरों का स्वभाव भी वर्णित है। २२वें मन्त्र के द्वारा गाये जाने वाले साम का नाम वार्षाहिर बताया गया है। २६वें मन्त्र में निष्कैवल्य पद का अर्थ प्रदर्शित है। २७वें मन्त्र में सूर्यतापनीयोपनिषद् को उद्धृत कर कहा गया है कि प्रातःकाल ऋग्वेद के मन्त्रों से, मध्याह्न में यजुर्वेद के मन्त्रों से और सायंकाल सामवेद के मन्त्रों से सूर्यस्वरूप धर्म की स्तुति को जाती है। इस प्रकार भगवान् सूर्य कभी भी वेदों से अलग नहीं होते।

३९वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में शतपथ के वचनों को विस्तार से उद्धृत किया गया है। यहाँ कात्यायन प्रदर्शित विनियोगों को समर्थन देकर यह स्पष्ट किया गया है कि इस अध्याय के मन्त्रों का विनियोग धर्मभेद निमित्तक प्रायश्चित्त-होम में किया जाता है। स्वामी दयानन्द ने इन मन्त्रों से शवदाह प्रक्रिया को निकाला है। वह सर्वथा अप्रामाणिक है। आगे के कुछ मन्त्रों में भी शतपथ के वचन उद्धृत हैं। इस ब्राह्मण के व्याख्याकार हरिस्वामी के मत के अनुसार बनने वाले प्रयोग का स्वरूप भी यहाँ प्रदर्शित है।

मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ

३१वें अध्याय के प्रथम १६ मन्त्रों के पुरुष-सूक्त की व्याख्या के प्रसंग में यहां बताया गया है कि इन मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ सामान्य मन्त्रार्थ से ही गतार्थ हो जाता है, अतः अलग से इनका आध्यात्मिक अर्थ बताने की आवश्यकता नहीं है। मन्त्रार्थ की व्याख्या में ही यहाँ अनेक विशेष विषयों का प्रतिपादन दिखता है, जिनका विनियोग प्रधानतः चतुर्व्यूह (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) की उपासना में किया गया है। यहाँ कुछ विशेष स्थलों की चर्चा करना उचित होगा। तीसरे मन्त्र को व्याख्या में किसी विशेष आचार्य की व्याख्या को दिखाने के बाद सम्प्रदाय के वेत्ता आचार्यों का मन्तव्य प्रकट किया गया है (पृ० ३–४)। ऐसा लगता है कि प्रथम व्याख्या पांचरात्र वैष्णव सम्प्रदाय के किसी विद्वान् द्वारा की गई है। आगे के मन्त्रों में भी वैष्णव चतुर्व्यूहवाद के अतिरिक्त पांचरात्र आगम के नित्यमुक्त, विराट्, प्रकृति, अव्याकृत, परम व्योम जैसे पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, जिनका कि उपयोग प्राचीन पांचरात्र मत में किया जाता रहा है। बृहज्जाबालोपनिषद्, वैकुण्ठसंहिता, महाभारत शान्तिपर्व, नृसिंहोत्तरतापनीय, विष्णुपुराण, शाबल्य-ब्राह्मण, श्रीमद्भागवत इत्यादि ग्रन्थों को यहाँ प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है। इससे भी उक्त बात की पुष्टि होती है। यहाँ चतुर्थ अनिरुद्ध स्वरूप को ही सृष्टि का संकल्पक बताया गया है (पृ० ४)। अद्वारक और सद्वारक सृष्टि की प्रक्रिया भी यहाँ (पृ० ५) बताई गई है। जीवात्मा को यहाँ कौस्तुभ मणि माना गया है और विष्णुपुराण के प्रमाण से सृष्टि-प्रक्रिया को विस्तारित किया गया है (पृ० ६)। आत्मसमर्पण की यागरूपता और मोक्ष, परमपद, अक्षरपद, परधाम, नाक, वैकुण्ठ, परमव्योम आदि की पर्यायता भी यहाँ (पृ० १४) वर्णित है। अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन आदि को यहाँ नित्यमुक्त माना गया है।

इस अध्याय की अन्तिम छः कण्डिकाएँ (३१।१७–२२) उत्तरनारायण के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन मन्त्रों की यहाँ अलग से आध्यात्मिक व्याख्या दी गई है। १७वें मन्त्र की व्याख्या में पृथिवी पद को सूक्ष्म और स्थूल पंचमहाभूतों का प्रतीक माना गया है। १९वें मन्त्र में प्रजापति के जीवरूप से और अन्तर्यामी रूप से गर्भ में प्रविष्ट होने की चर्चा है। वस्तुतः देखा जाय तो इन उत्तरनारायण मन्त्रों की भी योजना प्रधानतः आध्यात्मिक अर्थ में ही ठीक से बैठती है।

३२वें अध्याय के सर्वमेध प्रकरण का भी आध्यात्मिक अर्थ ही प्रधान है। यों कहा जा सकता है कि पुरुष-सूक्त के मन्त्रों के समान ही सर्वमेधीय प्रकरण के मन्त्रों का भी दार्शनिक महत्त्व है। यहाँ तृतीय मन्त्र में सजातीय, विजातीय,

---

१. "प्राणा वै ग्रावाणः··· प्राणा वै प्रतिरवाः" (भा०, पृ० २००)।

स्वगत—तीनों प्रकार के भेद से शून्य अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व प्रतिपादित है। अन्य मन्त्रों की व्याख्या का स्वरूप पहले बता दिया गया है। उसको देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इन मन्त्रों में आध्यात्मिक अर्थ की ही प्रधानता है। १३वें मन्त्र में शम, दम आदि छः प्रकार की साधन-सम्पत्ति के उल्लेख से भी यही बात स्पष्ट होती है। १५वें मन्त्र में वरुण पद की भी ब्रह्मपरक व्याख्या की गई है। १६वें मन्त्र में भी श्रीपद की कामार्थपरक तथा धर्मार्थकाममोक्षपरक व्याख्या देखने को मिलती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन दोनों ही अध्यायों में मन्त्रों के सामान्य और आध्यात्मिक अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

३३ वें अध्याय से पुनः पृथक् रूप से मन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या मिलती है। प्रथम मन्त्र में अग्नि पद से व्यष्टि-समष्टि रूप आत्मा के विश्व, तैजस, प्राज्ञ, अव्याकृत, विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और तुरीय नामक स्वरूपों का ग्रहण किया गया है। तृतीय मन्त्र में अग्निपद से जीवात्मा को और चौथे मन्त्र में विद्या और अविद्या से ज्ञान और कर्म को संकेतित किया गया है। ७ वें मन्त्र में अग्नि पद से ईश्वर का ग्रहण कर उसके निवास के लिये हृदयाकाश के परिष्कार की चर्चा है। ९ वें मन्त्र में अग्नि पद का अग्रणी परमेश्वर अर्थ कर नारदीय महापुराण से तथा अन्य एक श्लोक से भी भगवान् की भक्तवत्सलता प्रतिपादित है। १० वें मन्त्र में भी अग्निपद से परमेश्वर का ही ग्रहण कर सभी गोपालों को विश्वेदेव, अर्जुन को इन्द्र, भीम को वायु कह कर पुनः भगवान् की स्तुति की गई है। ११ वें मन्त्र में भक्ति का पंचम पुरुषार्थ के रूप में ग्रहण है। १२ वें मन्त्र में भी बताया गया है कि इस सारे जगत् की स्थिति अग्निरूप परमेश्वर के ही अधीन है। आगे के भक्तिपरक अनेक मन्त्रों में अग्नि पद से परमेश्वर का ही ग्रहण किया गया है। १७ वें मन्त्र में भगवद्गीता को उद्धृत कर बताया गया है कि शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये। १८ वें मन्त्र से आगे के अनेक मन्त्रों में इन्द्र पद से परमेश्वर गृहीत हैं। १९ वें मन्त्र में गोपद को वेदवाणी अथवा इन्द्रियों का वाचक माना है। २० वें मन्त्र में ज्ञानरूप सूर्य का उदय दर्शित है। २१ वें मन्त्र में रसा पद से गंगा नदी का ग्रहण किया गया है। २७ वें मन्त्र में श्रीमद्भागवत के प्रमाण से बताया गया है कि भगवान् गरुड़ आदि वाहनों को भी छोड़कर छन्दोमय गरुड़ पर बैठ कर गजेन्द्र जैसे भक्तों की रक्षा के लिये दौड़ पड़ते हैं। एक अन्य अभियुक्त-वचन में गजेन्द्र की और द्रौपदी की रक्षा के लिये की गई भगवान् की त्वरा का उल्लेख है।

३२ वें मन्त्र में सगुण और निर्गुण ब्रह्म की उपासना से ब्रह्मलोक-प्राप्ति की तथा ब्रह्मभावापन्न व्यक्ति की चर्चा है। ३६ वें तथा आगे के भी मन्त्रों में सूर्योपाधिक अन्तर्यामी संबोधित हैं। यहाँ तरणि पद का अर्थ बता कर भगवद्गीता और मुण्डक श्रुति के आधार पर बताया गया है कि यही सबका तारक और प्रकाशक है। अगले मन्त्र में कहा गया है कि इस परमात्मा के सिवाय कोई अन्य देवता इस जगत् में ज्ञान का प्रसार नहीं कर सकता। ३८ वें मन्त्र में भविष्यपुराण स्थित आदित्यहृदय का प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत है और वाल्मीकिरामायण के वचन के अनुसार भगवान् की सर्वात्मकता प्रतिपादित है। ४१ वें मन्त्र में सूर्य पद से अन्तर्यामी परमेश्वर का ग्रहण कर बताया गया है कि कर्म और उपासना के समुच्चय के बल से साधक सब कुछ प्राप्त कर लेता है। इस प्रसंग में महाभारत के शान्तिपर्व का नारदप्रोक्त वचन भी उद्धृत है और कहा गया है कि परमेश्वर के धन में साधक का उसी प्रकार अधिकार है, जैसे पिता के धन में पुत्र का होता है। ४४ वें मन्त्र के विभिन्न पदों से हनुमान् और श्रीराम का ग्रहण कर ज्ञानसूर्य के उदय का विषय प्रस्तावित है। ४६ वें मन्त्र में राम और लक्ष्मण की चर्चा है। ४८ वें मन्त्र में प्रतिपादित है कि आधिदैविक जगत् के अनुग्रह से ही आध्यात्मिक जगत् संचालित होता है, अर्थात् देवताओं के अनुग्रह से ही मनुष्य में सद्गुणों की अभिव्यक्ति होती है। ५४ वें मन्त्र में सविता पद से सूर्यावच्छिन्न अन्तर्यामी का ग्रहण कर भगवद्गीता के प्रमाण से परमेश्वर की सर्वप्रवर्तकता प्रतिपादित है। ५५ वें मन्त्र में ऋग्वेद के प्रमाण से बताया गया है कि एक ही ईश्वर को भक्तगण अनेक नामों से पुकारते हैं। ५८ वें मन्त्र में रामलक्ष्मण को संबोधित कर कहा गया है कि भक्ति-

सम्प्रदाय में भोग्य पदार्थ प्राकृत पदार्थों की तरह जड़ न होकर चेतन के समान महारसिक हैं, परमानन्द से भरपूर हैं। ५९ वें मन्त्र में सरमा पद से सीता अथवा भक्ति का ग्रहण किया गया है।

६१ वें मन्त्र में कहा गया है कि इन्द्र परमात्मा राम हैं और अग्नि लक्ष्मण। लक्ष्मण अग्निस्वरूप इसलिये हैं कि ये संकर्षण के अवतार माने जाते हैं। ६२वें मन्त्र में नानाविध वैदिक और तान्त्रिक स्तोत्रों से भगवान् की स्तुति का विधान कर बताया गया है कि पुराणों में हरिहर की अभिन्नता के प्रतिपादन के साथ इनको परस्पर एक दूसरे की की गई उपासना का भी वर्णन है। ६३वें मन्त्र में अंगद आदि वानर योद्धाओं का महावीर मेघनाद के साथ हुआ युद्ध वर्णित है। अगले मन्त्र में भी श्रीराम, हनुमान्, कौशल्या आदि की चर्चा है। ६५वें मन्त्र में वृत्र पद से ब्रह्मात्मतत्त्व के प्रावरक अज्ञान का ग्रहण किया गया है। अगले मन्त्र में जीवन्मुक्ति की चर्चा है। ६९वें मन्त्र में परमेश्वर की प्रपंच के उत्पादक के रूप में स्तुति की गई है। ७०वें मन्त्र में भगवान् का सार्वात्म्य प्रतिपादित है और ७२वें मन्त्र में पुनः भक्त द्वारा आराधित भगवान् रामलक्ष्मण की चर्चा है। ७४वें मन्त्र के विषय में बताया गया है कि यह मन्त्र ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भी उपलब्ध है। यहाँ अविद्या, काम और कर्म का स्वरूप समझाया गया है। इनसे अनभिभूत व्यक्ति ही ब्रह्मत्व को प्राप्त कर सकता है। ७६वें मन्त्र में इन्द्राग्नी पद से रामलक्ष्मण का ग्रहण है। ७८वें मन्त्र में वर्णित हैं कि यहाँ राम का हनुमान् और अंगद के साथ संवाद है। यह संवाद अगले मन्त्र में भी चलता है। ८०वें मन्त्र में श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण का ग्रहण किया जाता है। मारीच, सुबाहु, पूतना, तृणावर्त आदि का ये नाश करते हैं। ८६वें मन्त्र में इन्द्रवायू पद से श्रीराम और हनुमान् गृहीत हैं। ८७वें मन्त्र में नरनारायण, बलकृष्ण और रामलक्ष्मण की चर्चा है। रामलक्ष्मण अगले मन्त्र में भी चर्चित हैं। ९०वें मन्त्र में बताया गया है कि यह सारा जगत् अग्नि और सोम के संयोग से बना है। अग्नीषोम पद से यहाँ शिव और शक्ति, सूर्य और चन्द्र अथवा सोम और अग्नि का ग्रहण किया जाता है। ९१वें मन्त्र में बृहदारण्यक श्रुति के प्रमाण से बताया गया है कि देवगण उस व्यक्ति की कोई सहायता नहीं करते, जो कि अपनी आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में देवताओं की स्थिति मानते हैं। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र (३४।९७) में इन्द्र पद से महेश्वर का ग्रहण कर कहा गया है कि वह अपने भक्त के बल को बढ़ाते हैं।

३४वें अध्याय के प्रथम मन्त्र के भाष्य में प्रतिपादित विषयों की चर्चा हम आगे भाष्य के विशेष अवधेय अंशों के प्रसंग में करेंगे। प्रथम छः शिवसंकल्प मन्त्रों की व्याख्या प्रधानतः अध्यात्मपरक की गई है। ७वें मन्त्र में तैत्तिरीय श्रुति और भगवद्गीता के प्रमाण से ब्रह्म की अन्नरूपता और सर्वात्मकता प्रतिपादित है। ८वें मन्त्र में अखण्ड चिद्रूपा परा संवित् को ही अनुमति माना गया है और इसके लिये भगवद्गीता का प्रमाण दिया गया है। अगले मन्त्र में अनुमति पद से हव्यवाहक अग्नि का ग्रहण है। १० वें मन्त्र में सिनीवाली पद से कृष्ण की भगिनी भगवती विन्ध्यवासिनी बोधित हैं और इसमें दुर्गासप्तशती का प्रमाण दिया गया है। सरस्वती पद से जिह्वानुगत नाडी का ग्रहण कर अन्य नाडियों की और कुण्डलिनी शक्ति की चर्चा ११वें मन्त्र में है। १४वें मन्त्र में अग्निपद से श्रीराम का ग्रहण कर बताया गया है कि यह कौशल्या का पुत्र भक्तों की प्रज्ञा को निर्मल करता है। ब्रह्माकार वृत्ति की भी यहाँ चर्चा है और इन विषयों की पुष्टि के लिये दो अलग-अलग भागवत के वचन प्रमाण के रूप में प्रस्तुत हैं। १६वें मन्त्र में दशरथ के पुत्र श्रीराम की और रावण की चर्चा है और बताया गया है कि भक्तों का यह माहात्म्य है कि यह श्रीराम स्वयं उनकी स्तुति करते हैं। अगले तीन मन्त्रों (३४।१७-१९) में भी श्रीराम की चर्चा है। २०वें मन्त्र में साम्ब परमेश्वर का ग्रहण है और यहाँ सृष्टि-प्रक्रिया बताई गई है। २१-२३ मन्त्रों में भी सोमपद से साम्ब सदाशिव सम्बोधित हैं। अगले चार मन्त्रों (३४।२४-२७) में वेदान्तवेद्य सविता देव स्तुत हैं। २८-३० मन्त्रों में 'अश्विनौ' पद से रामलक्ष्मण अथवा बलकृष्ण गृहीत हैं।

३२वें मन्त्र में रात्रि पद से महामाया का ग्रहण किया गया है। ३४वें मन्त्र में मित्रावरुण पद से रामलक्ष्मण अथवा बलकृष्ण तथा सोम पद से साम्ब सदाशिव गृहीत हैं। ४०वें मन्त्र में उषा पद से भक्तिरूपी देवता बोधित है।

४१वें मन्त्र में पूषा पद परमेश्वर का बोधक है और बताया गया है कि अमृतत्व लक्षण मोक्ष भी निरावरण ब्रह्मरूप ही है। ४३वें मन्त्र में गोपरूप विष्णु की चर्चा है और यहाँ महाकवि कालिदास के मेघदूत का वचन उद्धृत है। ४५वें मन्त्र में द्यावापृथिवी पद से पुरुष और प्रकृति का ग्रहण किया गया है और बताया गया है कि जीव स्वरूपतः निर्विकार है और प्रकृति की प्रवाहनित्यता मानी जाती है। ४७वें मन्त्र में नासत्य पद से रामलक्ष्मण अथवा बलकृष्ण गृहीत हैं। ४८वें मन्त्र में भी ऋग्वेद का वह प्रसिद्ध मन्त्र उद्धृत है, जिसमें एक ही परमात्मा के विविध रूपों का वर्णन है। ४९वें मन्त्र में प्राणाभिमानी ऋषियों की सृष्टियज्ञ में प्रवृत्ति बताई गई है। ५१वें मन्त्र में मुण्डक श्रुति के प्रमाण से भूतिकाम के लिये आत्मज्ञ की ही पूजा का विधान है। अगले मन्त्र में ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मसाक्षात्कार का उल्लेख है। ५४-५५ मन्त्रों में ब्रह्म की सर्वात्मकता प्रतिपादित है। इस अध्याय के अन्तिम तीन मन्त्रों (३४।५६-५८) में ब्रह्मणस्पति के रूप में वेदपालक परमात्मा स्तुत हैं, जो कि हमें धर्म और ब्रह्म का उपदेश करते हैं।

३५वें अध्याय के पहले मन्त्र में यमपद की परमेश्वरपरक व्याख्या की गई है। द्वितीय मन्त्र का सविता पद जगत् के उत्पादक, सृष्टि-स्थिति-संहार की लीला करने वाले परमात्मा का बोधक है। तृतीय मन्त्र में साधक की पवित्रता के लिये परमेश्वर से प्रार्थना की गई है। चौथे मन्त्र में बताया गया है कि इन्द्रियों का और पांचभौतिक देह का दास हो जाने पर जीवात्मा को अश्वत्थ, अर्थात् संसाररूपी वृक्ष पर निवास करना पड़ता है। अगले दो मन्त्रों में साधक (जीवात्मा) को संबोधित कर कहा गया है कि कर्म और उपासना के समुच्चित अनुष्ठान से प्रसन्न हो परमेश्वर हमारे पापों को धो डालता है। ७वें मन्त्र में कैवल्य और बृहदारण्यक उपनिषदों के वचनों के अनुसार देवयान और पितृयान मार्गों का स्वरूप प्रदर्शित है। ९वें मन्त्र में छान्दोग्य के प्रमाण से बताया गया है कि ब्रह्मदृष्टिसम्पन्न साधक के लिये सब कुछ सुखमय हो जाता है। १०वें मन्त्र में साधकों को मित्र मानकर कहा गया है कि ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के बल से हम संसार नदी को पार कर मोक्ष पद को प्राप्त कर सकते हैं। ११वें मन्त्र में बताया गया है कि मानस, कायिक और वाचिक पापों का परिमार्जन कर, दूसरों के द्वारा प्रेरित कृत्या, दुःस्वप्नजनित उपद्रव इत्यादि को दूर कर स्वस्थ हुए चित्त से ही ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है। इसके लिये बाह्य द्रव्यों और मन्त्रों से मार्जन, सेचन आदि की भी आवश्यकता पड़ सकती है। १७वें मन्त्र में अग्नि पद का अर्थ पापदाहक परमेश्वर किया गया है। २१वें मन्त्र में कहा गया है कि भगवत्परायण बुद्धि संशय, विपर्यय आदि सारे कंटकों के साथ सारे पापों को भी जला डालती है। इस अध्याय के अन्तिम २२वें मन्त्र में श्रीमद्भागवत के प्रमाण से भगवान् से प्रार्थना की गई है कि यह साधक आपके अनुग्रह से सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य नामक मुक्ति के योग्य शरीर को प्राप्त कर सके।

३६ वें अध्याय के प्रथम १-१७ मन्त्रों में परमेश्वर से सर्वविध शान्ति के लिये प्रार्थना की गई है। यहाँ नवें मन्त्र में मित्र पद का अर्थ भक्त पर स्नेह करने वाला भगवान् किया गया है तथा १७ वें मन्त्र में बताया गया है कि सभी तरह के उपद्रवों से रहित शान्ति का पर्यवसान अन्ततः परब्रह्म में ही होता है, अर्थात् आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर सारे उपद्रव अपने आप शान्त हो जाते हैं और सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य फैल जाता है। १८ वें मन्त्र में दृति पद का अर्थ सर्वलयाधिष्ठान परमेश्वर किया है और भागवत के एक श्लोक को उद्धृत कर भागवतोत्तम का लक्षण बताया है। २१ वें मन्त्र में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी रूप एवं आन्तर नाद रूप शब्दब्रह्म का नमन कर बताया गया है कि यह ब्रह्म ही जीव के सोपाधिक स्वरूप को विलीन कर उसे चिदादित्य स्वरूप में प्रतिष्ठित करता है। २२ वें मन्त्र में भी परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि आप ही राम, कृष्ण आदि का रूप धारण कर नाना प्रकार की लीलाएँ करते हैं। २३ वें मन्त्र में बताया गया है कि मन्त्र और भावना के प्रभाव से सारी ओषधियाँ, सारी वस्तुएँ भक्त की भावना के अनुसार फल देने लगती हैं। इस अध्याय के अन्तिम २४ वें मन्त्र में वेदान्तवेद्य ब्रह्म को ही सबका चक्षु बता कर उससे शतायु स्वस्थ जीवन की कामना की गई है।

२७ वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में अग्नि पद की बुद्धिपरक व्याख्या कर बताया गया है कि शास्त्र के रहस्य को जानने के लिये उसकी सहायता अपेक्षित है। चौथे मन्त्र में वम्री पद का अर्थ ज्ञानवमनशील इन्द्रियाँ किया गया है और कठोपनिषद् के प्रमाण से कहा गया है कि इनकी सहायता से साधक परम पद को प्राप्त कर सकता है। ७-८ मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ एक साथ किया गया है। यहाँ ब्रह्मणस्पति, अर्थात् वेदों के उपदेष्टा परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि आप ही सबको प्रिय लगने वाली त्रयीरूप वाणी प्रदान कर हमें ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न कर दें। ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति किसी के भी प्रति द्वेषभाव नहीं रखता और सदा सब प्राणियों के हित में लगा रहता है। यहाँ महावीर-संभरण के प्रकरण में घर्म अथवा महावीर को सर्वत्र ज्ञानयज्ञ के रूप में संबोधित किया गया है। १३ वें मन्त्र में मरुत् पद का अर्थ हनुमान् जैसे ज्ञानी जन बताकर कहा गया है कि इनका सहारा लेने से साधक सर्वविध आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक मधु को प्राप्त कर सकता है। २० वें मन्त्र में ज्ञानयज्ञ के अधिष्ठाता परमेश्वर की तथा ब्रह्मज्ञानसम्पन्न बुद्धि की प्रार्थना की गई है।

३८ वें अध्याय के पहले मन्त्र में प्रेमरज्जु को भगवती त्रिपुरसुन्दरी की मेखला माना गया है। दूसरे मन्त्र में बताया गया है कि ब्रह्मयज्ञ में वैदिक और लौकिक सभी प्रकार की वाणियों का उपयोग किया जाता है। आगे के मन्त्रों में यहाँ प्रेमरज्जुपाश, विचारपीयूष, ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री सरस्वती, ज्ञानयज्ञ आदि को संबोधित किया गया है। छठे मन्त्र में किसी वचन को उद्धृत कर बताया गया है कि ज्ञानयज्ञ के लिये शास्त्रकुशल व्यक्ति को छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं से उसी प्रकार उपदेश ग्रहण करना चाहिये, जैसे कि भ्रमर पुष्पों से उनके सारभाग को ग्रहण कर लेता है। इस अध्याय में भी महावीर अथवा घर्म को ज्ञानयज्ञ के रूप में संबोधित किया गया है। नवें मन्त्र में यम पद की परमेश्वरपरक व्याख्या की गई है। १० वें और १२-१३ मन्त्रों में 'अश्विनौ' पद से रामलक्ष्मण अथवा बलकृष्ण का ग्रहण किया गया है। १४ वें मन्त्र में ज्ञानयज्ञ को संबोधित कर एक [1]श्लोकार्ध की सहायता से कहा गया है कि मनुष्य का श्रेष्ठ धर्म यही है कि वह योग की सहायता से आत्मदर्शन का प्रयत्न करे। २० वें मन्त्र में ज्ञानयज्ञ को 'चतुःस्रक्ति' इसलिये बताया गया है कि इस ज्ञान का प्रकाश चारों तरफ फैल जाता है और उसकी सहायता से हमें ऋत और सत्य ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। अगले मन्त्र में कहा गया है कि वेदान्त का अध्ययन और अध्यापन इस कार्य में हमारा सहायक बन सकता है। २२ वें मन्त्र में हरिपद की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा गया है कि संसार के दुःख का हरण करने के कारण घर्मरूप परमात्मा हरि कहलाते हैं। २७ वें मन्त्र में कर्म, उपासना और ज्ञान के अनुष्ठान से ज्योतिर्मय ज्ञानयज्ञ को अपने हृदय में प्रदीप्त कर साधक को सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों को अपने प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न रूप से अनुभव करने का उपदेश किया गया है। इस अध्याय के अन्तिम २८ वें मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय यह है कि इस संहिता में वर्णित प्रवर्ग्य पर्यन्त सभी अनुष्ठान परमेश्वर की आराधना के लिये ही वर्णित हैं।

३९ अध्याय के पहले मन्त्र में बताया गया है कि समष्टि लिंगशरीर का अभिमानी परमात्मा ही प्राण की प्रधानता से सूत्रात्मा और बुद्धि की प्रधानता पर हिरण्यगर्भ कहलाता है। अन्य सारे देवगण इस ब्रह्म की ही विभूतियाँ हैं। तृतीय मन्त्र में इसी की सर्वात्मकता प्रतिपादित है। चतुर्थ मन्त्र में साधक स्वयं अपने लिये आशीर्वादात्मक प्रार्थना करता है कि मैं अपनी मनोकामना पूरी कर सकूँ। ५ वें मन्त्र में बताया गया है कि ज्योतिष्टोम आदि यागों में प्रवर्ग्य का अनुष्ठान करते समय महावीर-संभरण आदि जो कर्म किये जाते हैं, वहाँ सर्वत्र घर्मान्तर्यामी परमेश्वर की ही उन उन अवस्थाओं में अभिव्यक्त हुए स्वरूपों की उन उन नामों से स्तुति की जाती है, क्योंकि यहाँ सब कुछ ब्रह्ममय है।

---

१. "इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्। अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥" (१।८) यह वचन याज्ञवल्क्यस्मृति का है।

७ वें मन्त्र में भगवान् शिव को ही उग्र आदि शब्दों से संबोधित किया गया है। अगले मन्त्र में कहा गया है कि सारे द्रव्य और देवताओं में सर्वत्र सदा ब्रह्म की ही भावना करनी चाहिये। ११वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि आयास, प्रयास आदि देवगण भगवान् की प्राप्ति में सहायक होते हैं, अतः ये भी पूज्य हैं। १२ वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि परम पुरुषार्थरूप भगवत्पद की प्राप्ति के कारणभूत तप आदि भी देवस्वरूप ही हैं। इस अध्याय के अन्तिम तेरहवें मन्त्र में [1]यम, अन्तक, मृत्यु, ब्रह्महत्या आदि पदों के आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत कर त्रिपाद्विभूति-महानारायणोपनिषत् के प्रमाण से सबके अन्तर्यामी परमात्मा को सर्वस्व समर्पित कर देने का उपदेश किया गया है। यहाँ उपनिषद् का कहना है कि मैं स्वयं अपनी अपने में ही आहुति दे देता हूँ, अर्थात् मैं अपने स्वरूप को उस सर्वाश्रयभूत ब्रह्म में प्रतिष्ठित कर देता हूँ।

स्वामी दयानन्द के भाष्य की समालोचना

वेदार्थपारिजात के भूमिकाभाग में प्रसंगवश पूरा ३१वां अध्याय उद्धृत है और वहीं स्वामी दयानन्द के द्वारा की गई इन मन्त्रों की व्याख्या का खण्डन भी किया गया है। उसकी पुनरावृत्ति न हो, इस अभिप्राय से यहाँ प्रत्येक मन्त्र में केवल स्थलनिर्देश कर दिया गया है। यह पूरा प्रसंग वहाँ द्वितीय भाग, पृ० १२३३ से १२८२ तक देखा जा सकता है।

३२वें अध्याय के पहले मन्त्र में सामानाधिकरण्य का तार्किक लक्षण प्रस्तुत कर बताया गया है कि दयानन्दीय अर्थ में यह सामानाधिकरण्य घटित नहीं होने पाता और किसी एक गुण के आधार पर अग्नि इत्यादि पदों का गौण प्रयोग मानने पर तो कहीं भी इनकी प्रवृत्ति माननी पड़ जायगी। दूसरे मन्त्र में बताया गया है कि निमेष-उन्मेष आदि तो नेत्र के धर्म हैं, इनके लिये किसी विद्युत्पुरुष की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'न तस्य प्रतिमा' (३२।३) मन्त्र से स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजा का खण्डन बड़े संभार से करते हैं, किन्तु यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि यह प्रतिमा शब्द मूर्ति का वाचक न होकर सादृश्य का सूचक है। इस मन्त्र के उत्तरार्ध में कुछ मन्त्रों के प्रतीक दिये गये हैं। आगे भी अनेक मन्त्रों में इसी पद्धति से प्रतीक मन्त्रों की सूचना दी जाती है। इस बात को बिना समझे इनका मनमाना अर्थ कर स्वामी दयानन्द ने अपने को हास्यास्पद स्थिति में डाल दिया है। चौथे मन्त्र में बताया गया है कि अन्तः पद का अन्तःकरण अर्थ नहीं हो सकता। फिर आपके मत में तो ईश्वर निराकार है। वहाँ अन्तःकरण का कोई प्रसंग उठ ही नहीं सकता। यह अनेक बार बताया जा चुका है कि मुख्यार्थ जब हो सकता है, उस स्थिति में गौण अर्थ करना पूरी तरह से अनुचित है। सातवें मन्त्र में लिखा गया है कि योगाभ्यास की अपेक्षा उसका फल ही हमें अभीष्ट हो सकता है। ८वें मन्त्र का स्वामी दयानन्द ने अर्थ किया है कि यह जगत् परमात्मा में स्थित है। यहाँ प्रश्न उठता है कि परमात्मा में यह किस रूप में स्थित है। इनका समवाय सम्बन्ध आपको अभीष्ट नहीं है। आप जगत् को मिथ्या नहीं मानते, अतः रज्जु में सर्प की तरह परमात्मा में जगत का अध्यास भी नहीं माना जा सकता। आधाराधेयभाव भी इनका नहीं माना जायगा, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमेश्वर की निरवयवता के कारण यह बन ही नहीं सकता। नवें मन्त्र में गुहा पद से बुद्धि गृहीत है। यह बुद्धि ईश्वर की नहीं हो सकती, क्योंकि मुण्डक श्रुति इसका निषेध करती है। जीव की बुद्धि में आप नित्यमुक्ति की स्थिति मानते ही नहीं। १०वें मन्त्र में बताया गया है कि जीव और प्रकृति की धाम के रूप में प्रसिद्धि नहीं है। इसके अभाव में ईश्वर को तृतीय धाम नहीं माना जा सकता। ११वें मन्त्र के अर्थ में अनुपपत्ति यह है कि सत्य सबका अधिष्ठान है, अतः उसका कोई दूसरा अधिष्ठाता नहीं हो सकता। १२वें मन्त्र में कहा गया है कि ईश्वर तो आप्त-

---

१. इस प्रसंग में नित्याषोडशिकार्णव की टीका ऋजुविमर्शिनी में उद्धृत ये दो श्लोक अवधेय हैं—"कालो मृत्युर्यमो व्याधिस्तत्त्वतस्त्वेक एव तु। वृत्त्यन्तरविशेषेण पर्यायेणाभिधीयते॥ सर्वावच्छेदकः कालो मृत्युर्मारयिता च सः। यमनाद्यम एवायं व्याधिश्चिन्ताप्रदो हि सः॥" (पृ० २७३)।

काम है, अतः उसको किसी वस्तु की प्राप्ति की कोई अपेक्षा ही नहीं है। सुख और विज्ञान पदों के अर्थ और सम्बन्ध को इन्होंने स्पष्ट नहीं किया और सुखरूप की सद्यः सुख की प्राप्ति की बात भी पूरी तरह से निराधार है। १३वें मन्त्र में निराकार परमात्मा को सदसस्पति (सभापति) बताया गया है। भला यह कैसे संभव हो सकता है ? अगले मन्त्र में देवगण और पितृगण का अलग-अलग उल्लेख है। यहाँ पुनरुक्ति दोष उपस्थित होगा, क्योंकि आपके मत से ये दोनों शब्द मनुष्य के ही वाचक हैं।

तैंतीसवें अध्याय के पहले मन्त्र के स्वामी दयानन्द के भाष्य में दोष यह है कि अग्नि, विद्युत् आदि उत्पाद-विनाशशील पदार्थ हैं, इनकी अजरता कभी सिद्ध नहीं हो सकती। फिर विद्युत् में धूम की उपलब्धि भी नहीं होती। अतः 'अर्चद्धूमासः' यह विशेषण वहाँ उपपन्न नहीं होगा। द्वितीय मन्त्र में दोष यह है कि मन्त्र में वर्णित यत्नशीलता जड़ पदार्थों में नहीं हो सकती। सातवें मन्त्र में 'सहस्राणि' पद का अर्थ 'हजार कोस का मार्ग' किया गया है। यह कथमपि संभव नहीं हो सकता। ऐसा अर्थ मानने पर-दूसरा दोष यह आवेगा कि तब इस मन्त्र के 'त्रीणि शता त्रिंशच्च नव च' ये पद व्यर्थ हो जायंगे। अग्नि, सूर्य, वायु आदि देववाचक पदों का इन्होंने मनमाना अर्थ किया है और इनके मत में ये सब जड़ पदार्थ हैं। ऐसी स्थिति में इनमें संबोध्यत्व अथवा पानकर्तृत्व आदि विशेषणों की कोई संगति नहीं बैठ सकती। यही दोष यहाँ दसवें मन्त्र में तथा अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर दिखाया गया है। १२वें मन्त्र में अग्नि पद से राजा का ग्रहण किया है, किन्तु राजा सारी मानव जाति को ऐसा उपदेश अथवा परामर्श देने में पूरी तरह से असमर्थ है। १३वें तथा आगे के मन्त्रों में भी अग्नि पद से मनुष्य को सम्बोधित किया गया है। १५वें मन्त्र में इन सबका उत्तर देते हुए कहा गया है कि वेद तो धर्म और ब्रह्म का प्रतिपादक है। कोई चार्वाक दर्शन का अनुयायी ही ऐसी बातें कर सकता है। १६वें मन्त्र में बताया गया है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से जो ज्ञात हो सकते हैं, ऐसे विषयों का उल्लेख वेद में मानने पर उसकी अज्ञातज्ञापकता नष्ट हो जायगी। ये मन्त्रों के पदों का प्रायः गौण अर्थ ग्रहण करते हैं। इस विषय पर अनेक बार लिखा जा चुका है कि मुख्यार्थ का बाध होने पर ही ऐसा अर्थ किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। १८–१९ मन्त्रों में इन्होंने निष्प्रयोजन 'इव' पद का अध्याहार किया है। २२वें मन्त्र में 'महत्' पद से विद्युत् का ग्रहण करने में भी कोई प्रमाण नहीं दिया गया। अगले मन्त्र में द्यावापृथिवी-कृत सेवा का वर्णन है, किन्तु जड़ पदार्थ किसी की भी सेवा करने में असमर्थ है। परमात्मा तो सभी अवस्थाओं से अतीत हैं, अतः २४वें मन्त्र में उनकी युवावस्था का उल्लेख सर्वथा असंगत है। अल्प शक्ति वाला जीव कभी इन्द्र नहीं हो सकता, इतना कह कर १५वें मन्त्र में बताया गया है कि मनुष्य की तृप्ति के लिये सोम की कोई उपयोगिता नहीं है और न आर्यसमाजी किसी राजा अथवा विद्वान् का सोमपर्व से यजन ही करते हैं।

२७वें मन्त्र में 'हरिव' पद के दयानन्दीय अर्थ की यहाँ सयुक्तिक समालोचना की गई है और इस प्रसंग में अमर-कोश के साथ वाल्मीकिरामायण के एक प्रसंग का भी उल्लेख किया गया है। २८वें मन्त्र में भी इन्द्र और ऊर्व पद पर इसी पद्धति से विचार किया गया है। ३० और ३१ संख्या के मन्त्रों में राजपरक अथवा विद्वत्परक गौण अर्थ करने में अनेक दोष दिखाये गये हैं। ३४वें मन्त्र में युवानः, विश्वानर, सविता आदि पदों के अर्थों की असंगति दिखाई गई है। ३७वें मन्त्र में कहा गया है कि परमेश्वर तो नित्य समाहित है, उसके लिये समाधि की कोई आवश्यकता नहीं है। ३८वें मन्त्र में कहा गया है कि आप सूर्य पद से कहीं राजा, कहीं विद्वान् और कहीं ईश्वर का ग्रहण करते हैं। यहाँ सूर्य पद के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ने का आपका प्रयोजन क्या है ? फिर ईश्वर का शुद्ध और अशुद्ध दो तरह का रूप तो होता नहीं, क्योंकि वह तो सर्वतः शुद्ध है। हमारे मत में तो पुण्यात्मा पर अनुग्रह और पापात्मा का निग्रह करने से सूर्य के निग्रहानुग्रहात्मक दोनों रूप उपपन्न हो जाते हैं। आगे भी अनेक मन्त्रों में सूर्य की गौणमुख्यार्थता पर विचार किया गया है। ४३वें मन्त्र में बताया गया है कि सविता आपके मत में अचेतन है। वह मन्त्रोक्त किसी भी कार्य को

करने में असमर्थ है। सूर्य की गति भी आपको स्वीकार नहीं है। ४४वें मन्त्र में यही दोष वायु और सूर्य को लेकर दिया गया है। ४८वें मन्त्र में दोष यह है कि आप आत्मा को अणु परिमाण का मानते हैं, अतः मन्त्रोक्त आत्मा की व्यापकता आपके मत से संभव नहीं हो सकती। 'नासत्यौ' पद की आपकी व्युत्पत्ति भी असंभव है। ४९वें मन्त्र में बताया गया है कि एक तरफ जड़ पूजा का आप विरोध करते हैं और दूसरी तरफ इन्द्र, अग्नि, मेघ, पर्वत आदि की स्तुति करते हैं। स्तुति भी तो पूजा का ही एक रूप है। ५४वें मन्त्र में कहा गया है कि मोक्ष की प्राप्ति में तत्त्वज्ञान की ही कारणता हो सकती है, कर्म की नहीं। इसके समर्थन में यहाँ इसी संहिता का वचन उद्धृत है। ५५वें मन्त्र में दिखाया गया है कि निघण्टु में वायु के अश्व के लिये नियुत शब्द प्रयुक्त हैं, अतः उसका पुरुषपरक अर्थ प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। ५७वें मन्त्र में 'हुवे' क्रियापद की स्वीकारार्थता कथमपि संभव नहीं है। अगले मन्त्र में अभिषुत पद का अर्थ वैदिक प्रक्रिया के विपरीत है। ६०वें मन्त्र में आपके मत से जड़ अग्नि में चालन क्रिया संभव नहीं है। उसमें हित और अहित का ज्ञान भी इसी लिये असंभव है। हमारे मत में तो देवता दिव्यशक्ति से सम्पन्न होते हैं।

६१ वें मन्त्र में 'इन्द्राग्नी' पद से सभापति और सेनापति का ग्रहण किया गया है। इस तरह के अर्थों की समालोचना यहाँ अनेक स्थानों पर हो चुकी है। ६२ वें मन्त्र में उपगान पद का अर्थ भी अनोखा है। ६३ वें मन्त्र के मघवन्, हरिव इत्यादि पद इन्द्र के बोधक हैं, इन पदों का स्वयं असहाय मनुष्य के लिये प्रयोग सर्वथा अनुचित है। यथा-तथा पद मन्त्र में हैं ही नहीं। यही स्थिति ६४ वें मन्त्र की है। वहाँ यथा-तथा के साथ 'इव' पद भी मन्त्र में नहीं है। ६७ वें मन्त्र की आपकी व्याख्या में दोष यह है कि यहाँ 'अन्वीयतुः' क्रियापद के अनुगुण कर्तृपद नहीं दिया गया। ७२ वें मन्त्र में व्युत्पत्ति के बल से 'रिशादशौ' पद का अर्थ अध्यापक और उपदेशक किया है, किन्तु इसी पद्धति से इसके अन्य भी अनेक अर्थ किये जा सकते हैं। ७४ वें मन्त्र में रश्मि पद पर विचार किया गया है कि यहाँ यह शब्द एकवचन में प्रयुक्त है। आपके किये अर्थ के अनुसार एक ही रश्मि अनेक विपरीत दिशाओं में नहीं जा सकती। ७५ वें मन्त्र में दोष यह दिखाया गया है कि विद्युत् रूप अग्नि को व्यापक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः यहाँ वेद का तात्पर्य ब्रह्मरूप और देवतारूप अग्नि के वर्णन में है। ७६ वें मन्त्र में इन्द्राग्नी पद से सभाध्यक्ष-सेनाध्यक्ष का अथवा अध्यापक-उपदेशक का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है। ७८ वें मन्त्र में इसी पद से अध्यापक और अध्येता का ग्रहण करने में भी वही दोष है। उक्थ, स्तोत्र आदि वैदिक पदों के अर्थ से इनका कोई परिचय हो, ऐसा तो लगता ही नहीं। ८१ वें मन्त्र के अर्थ में दोष यह है कि निरतिशय ब्रह्म की स्तुति से उसमें वृद्धि की कल्पना असंगत है। पदार्थ विद्या की प्रशंसा से परमेश्वर की प्रशंसा मानने पर तो भौतिक विषयों की प्रशंसा भी परमात्मा की उपासना मानी जाने लगेगी। ८२ वें मन्त्र में बताया गया है कि यह सारा विश्व राजा का दास नहीं हो सकता। परमेश्वर पद से क्षुद्र नृपति का ग्रहण वैदिक मर्यादा के विपरीत है। ८५ वें मन्त्र में वायु पद के मुख्यार्थों का निरूपण करके बताया गया है कि यहाँ इस पद से राजा के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है। यही स्थिति ८६ वें मन्त्र के इन्द्र और वायु पदों की भी है। ८९ वें मन्त्र में यथा-तथा पद नहीं हैं। प्रत्यक्ष यज्ञ को छोड़ कर कर्मान्तर की कल्पना भी निराधार है। ९० वें मन्त्र में बताया गया है कि यहाँ हरि पद निघण्टु के प्रमाण से इन्द्र के अश्व के लिये प्रयुक्त है, अतः आपका किया अर्थ असंगत है। 'कनिक्रदत्' क्रिया का स्वारस्य भी आपने नहीं बताया। ९१ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि विद्वान् मनुष्य की भी क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति इतनी समर्थ नहीं होती कि वह सबकी प्रार्थना पूरी कर सके। यहाँ प्रायः सभी मन्त्रों में विद्वान् मनुष्य अथवा अध्यापक-उपदेशक की चर्चा की गई है, जो कि सर्वथा निराधार है। ९६ वें मन्त्र में शतक्रतु शब्द की चर्चा है। सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाले इन्द्र के लिये यह शब्द प्रयुक्त है। उसका असंख्य बुद्धि अर्थ करना सर्वथा असंगत है। इसी तरह से शतपर्व शब्द से वज्र का ग्रहण किया जाता है, अन्य किसी अस्त्र का नहीं। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र में बताया गया है कि इन्द्र आदि देवताओं का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि अमरसिंह आदि सभी कोशकारों ने देववर्ग और मनुष्यवर्ग का अपने-अपने कोशों में पूरी तरह से पृथक् रूप से वर्णन किया है।

ऊपर बताया जा चुका है कि ३४वें अध्याय के प्रथम छः मन्त्र शिवसंकल्प में विनियुक्त हैं। अपनी आदत के अनुसार स्वामी दयानन्द ने इनका भी मनमाना अर्थ किया है। जाग्रत् अवस्था में मनुष्य का मन बाह्य इन्द्रियों के अधीन रह कर ही कार्य कर सकता है, अतः तब उसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं मानी जा सकती। इस विषय की चर्चा भाष्य के विशेष अवधेय अंशों की प्रस्तुति के समय की जायगी। जिस किसी का मन सर्वोत्तम गुण, कर्म और स्वभाव से युक्त होता भी नहीं। श्रुति में मन की उत्पत्ति वर्णित है, अतः उसमें स्वरूपतः अमृतता भी नहीं मानी जा सकती। अतीत और अनागत वस्तु का ग्रहण कभी प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसी तरह से चित्त और मन तो एक ही हैं, अतः किसी एक मन में सभी प्राणियों के चित्त के समावेश की बात भी निराधार है। सिद्धान्त पक्ष के अनुसार तो यहाँ समष्टि मन का ग्रहण करना पड़ेगा, जो कि आपको अभिप्रेत नहीं है। इसी तरह से मन इन्द्रिय होने के कारण करण है। वह कर्ता का नियामक कभी नहीं हो सकता।

शिवसंकल्प मन्त्रों के अर्थ की इस अनुपपत्ति को दिखाने के बाद अन्य मन्त्रों के विषय में बताया गया है कि स्वामी दयानन्द ने मन्त्रों के देववाचक पदों से कहीं राजसामान्य, कहीं विद्वान् सभापति आदि अर्थ किये हैं। वे सब असंगत हैं। ९वें मन्त्र में दिखाया गया है कि मुख्यार्थ त्याग और गौणार्थ के ग्रहण के कारण इनके अर्थ में सर्वत्र असंगति ही दृष्टिगोचर होती है। अनुमति, सिनीवाली और सरस्वती (३४।९-११) पदों का अर्थ भी बड़ा विचित्र है। १४वें मन्त्र में वृषण पद की यज्ञार्थता में भी कोई प्रमाण नहीं है। आपके मत में यज्ञ का फल केवल वायु-शुद्धि है। इडा पद का प्रशंसित स्त्री अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं दिया गया। १५वें मन्त्र में इडा पद का अर्थ वाणी किया गया है। यह सब उनकी मनमानी ही तो है, क्योंकि ऐसा अर्थ करने के लिये न तो यहाँ कोई व्युत्पत्ति दी गई है और न कोश आदि का प्रमाण ही। १६वें मन्त्र में आंगूष पद की विद्याशास्त्र-बोधकता में भी कोई प्रमाण नहीं है। १८वें मन्त्र में अभिषव पद की निष्पादनार्थता भी अप्रामाणिक है। 'ग्रावाणः' पद का अर्थ पाषाण है, उसका अर्थ 'गर्जना करने वाली' करना पूरी तरह से उपहासास्पद है। २०वें मन्त्र में अषाढ, सुक्षिति आदि पदों की भी यही स्थिति है। कोई राजा सोम ओषधि के समान रोग का नाश नहीं कर सकता, पृथ्वी और जल को पैदा भी नहीं कर सकता और न सूर्य के समान अन्धकार को दूर करने में ही समर्थ है, २२वें मन्त्र की ये ही सब असंगतियाँ हैं। यहाँ अनेक मन्त्रों का मनुष्यपरक अर्थ दिया गया है। उन सबमें इसी तरह के दोष यहाँ चर्चित हैं। २७वें मन्त्र में असंगति यह है कि भूमि पर कोई भी मार्ग धूल से रहित नहीं मिल सकता और अन्तरिक्ष में किसी को ले जाने की सामर्थ्य विद्वान् मनुष्य में नहीं है।

अगले अनेक मन्त्रों में अश्विनौ अथवा दस्रौ पदों के किये गये अध्यापक-उपदेशक, सभा-सेनेश आदि अर्थ पूरी तरह से निराधार हैं। ३४वें मन्त्र में मित्रावरुण पद का प्राण और अपान अर्थ भी इसी प्रकार का है। ३६वें और आगे के भी मन्त्रों में भग पद की भी यही स्थिति है। ३९वें मन्त्र में अध्वर पद का अर्थ अहिंसक व्यवहार किया गया है। ऐसा करने पर तो क्रय-विक्रय व्यवहार में भी अध्वर पद प्रयुक्त होने लगेगा। वस्तुतः वैदिक यज्ञ को ही अध्वर कहा जाता है और इस अर्थ को बताने वाली व्युत्पत्ति भी भाष्य में बताई गई है। ४२वें मन्त्र में 'स्तुयाम' पद है ही नहीं, इसका यहाँ निरर्थक अध्याहार किया गया है। अगले मन्त्र में विक्रमण और घर्म शब्दों का अर्थ गलत किया गया है। ४६वें मन्त्र में निर्दिष्ट इन्द्र, अग्नि, वसु आदि पदों की आपने जड़परक व्याख्या की है। फिर उनमें किसी सामर्थ्य की कल्पना नहीं की जा सकती। ४८वें मन्त्र में स्तोम, मरुत् आदि पदों की भी यही स्थिति है। ४९वें मन्त्र में सहस्तोम शब्द की विचित्र व्याख्या की गई है। ५२वें मन्त्र में दाक्षायण पद का अर्थ पूरी तरह से असंगत है। मन्त्र में 'आयुष्मान्' पद है, किन्तु पदच्छेद का ठीक ज्ञान न होने से 'युष्मान्' पद की कल्पना कर ली गई है। ५५वें मन्त्र के सात ऋषियों में ये कभी जीव की गणना करते हैं, तो कभी बुद्धि की। त्वक् इन्द्रिय के सिवाय अन्य इन्द्रियाँ सारे शरीर को व्याप्त कर रहती भी नहीं। ५७वें मन्त्र में बताया गया है कि परमात्मा वेद का उपदेश करते हैं, किन्तु आपके मत से तो वे निराकार हैं

और कण्ठ, तालु आदि अंगों के बिना वेद का उच्चारण असंभव है। परमेश्वर आकाश के समान सावकाश भी नहीं हो सकते, क्योंकि निराकार ईश्वर निरवयव होने से निरवकाश ही रहेंगे। इस अध्याय के अन्तिम ५८वें मन्त्र के ब्रह्म पद से ब्रह्माण्ड के ग्रहण में भी कोई प्रमाण नहीं है। 'अवन्ति' क्रिया का 'उपदिशन्ति' अर्थ करना भी निर्मूल है।

३५वें अध्याय के पहले मन्त्र में 'सुषाव' क्रिया की सुतकर्मपरक व्युत्पत्ति दी गई है, जिसमें कि गौरव दोष है। यम पद का भी प्रसिद्ध अर्थ न ग्रहण कर यन्ता अर्थ किया गया है। द्वितीय मन्त्र में जीव को सम्बोधित कर उस्रिया पद का अर्थ किरण किया है। वस्तुतः यहाँ यजमान सम्बोधित है और 'उस्रियाः' का अर्थ बैल है। तीसरे मन्त्र का भावार्थ पूरी तरह से निर्मूल है। चौथे मन्त्रार्थ के खण्डन में पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्तों का स्मरण कराया गया है कि रूढि योग की अपेक्षा प्रबल मानी जाती है। गौणार्थ और मुख्यार्थ में मुख्यार्थ का ही प्रायः ग्रहण किया जाता है। कुछ विशेष परिस्थितियों में गौणार्थ अवश्य स्वीकार किया जाता है, जैसे कि बादरायण सूत्रों में आकाश और प्राण शब्दों के विषय में निर्णय दिया गया है। इस तरह का कोई बाधक प्रमाण प्रस्तुत मन्त्र के विषय में नहीं है कि गौणार्थ का ग्रहण किया जाय। ५वें मन्त्र में सविता पद के मुख्यार्थ को छोड़ कर बिना प्रसंग के उसका पिता अर्थ किया गया है। छठे मन्त्र में जीव और ईश्वर विषयक विकल्प प्रस्तुत कर स्वामी दयानन्द के प्रतिपाद्य अर्थ को असंगत बताया गया है। इस तरह के विकल्प पहले भी अनेक स्थलों पर प्रदर्शित हैं। नवें मन्त्र में इस तरह के विकल्प के आधार पर पुनः उनके अर्थ में असंगति दिखाई गई है, जिसका कि उनके पास कोई उत्तर नहीं है। ११वें मन्त्र में अपामार्ग पद के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ दिया गया है। जड़ अपामार्ग और सज्जन पुरुष में भी दूसरों के पापों का, दुःस्वप्नों का नाश कर देने की सामर्थ्य नहीं है। हमारे मत में तो इस ओषधि की अधिष्ठात्री देवता में यह सामर्थ्य विद्यमान है। १२वें मन्त्र की भी यही स्थिति है। आपके मत से जल जड़ है और हम उसमें सामर्थ्यसम्पन्न देवता का आवाहन करते हैं। १३वें मन्त्र में आपके द्वारा चर्चित यान-निर्माण की वहाँ कोई विधि नहीं दिखाई पड़ती। १५वें मन्त्र में पर्वत पद से ब्रह्मचर्य के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है। 'अन्यस्य' पद भी मन्त्र में नहीं है, इसका व्यर्थ अध्याहार किया गया है। १७वें मन्त्र में अग्नि पद को राजार्थक मान कर मुख्यार्थ को बिना प्रमाण के छोड़ दिया गया है। मनुष्य के लिये घृतप्रतीक, घृतयोनि जैसे विशेषण भी अनावश्यक हैं। १८वें मन्त्र में पर्यनेषत और पर्यहृष्यत इन दोनों क्रियापदों का अर्थ गलत किया गया है। १९वें मन्त्र में क्रव्याद और यमराज शब्दों का अर्थ प्रमाण-विरुद्ध है। २०वें मन्त्र में भी जातवेदा, पितृभ्यः इत्यादि पदों के प्रसिद्ध अर्थ को अकारण छोड़ दिया गया है। २१वें मन्त्र में पृथिवी शब्द का अर्थ पृथिवी के समान वर्तमान स्त्री किया है और इस अध्याय के अन्तिम २२वें मन्त्र में विद्वान् मनुष्य को अकारण सम्बोधित कर जो कुछ कहा गया है, वह पूरी तरह से निराधार है।

३६वें अध्याय के पहले मन्त्र में भी मनुष्य को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण नहीं है। ऋग्वेद के समान यजुर्वेद और सामवेद में भी वाक्तत्त्व की समान स्थिति है और यजुर्वेद का मन से सादृश्य कहीं वर्णित नहीं है। दूसरे मन्त्र में बृहस्पति पद के प्रसिद्ध अर्थ को अकारण छोड़ दिया गया है। परमेश्वर की विद्युत् से समानता आपके जैसे निराकारवादी के मत में कैसे सम्भव होगी, ८वें मन्त्र में यही प्रतिपादित है। नवें मन्त्र में स्वामी दयानन्द प्राणप्रिय मित्र की चर्चा कर बैठे हैं। १०वें मन्त्र में विकल्प उपस्थित किया गया है कि वर्षा कराने की शिक्षा निराकार ईश्वर दे नहीं सकता और विद्वान् मनुष्य में ऐसी सामर्थ्य नहीं है। ११वें और १२वें मन्त्र में भी यही विषय कुछ विस्तार से प्रतिपादित है। १७वें मन्त्र का मनुष्य को सम्बोधित कर जो अर्थ किया है, वह पूरी तरह से निराधार है। १८वें मन्त्र में बताया गया है कि परमेश्वर सर्वान्तर्यामी है। उससे भिन्न किसी विद्वान् मनुष्य में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अन्य व्यक्तियों में अलौकिक सामर्थ्य भर सके। यही दोष १९वें मन्त्र में भी है। २१वें मन्त्र का जो अर्थ आपने किया है, उससे तो परमेश्वर साकार सिद्ध हो जाता है, जो कि आपको अभिप्रेत नहीं है। २३वें मन्त्र में वर्णित जल और

ओषधियाँ आपके मत में जड़ हैं। इनमें पक्षपात अथवा द्वेष की भावना मानना निरर्थक है, क्योंकि ये सब तो चेतन के धर्म हैं। भगवान् तो भक्त का अनुरोध स्वीकार करते हैं, अत: उनसे सब तरह की प्रार्थना की जा सकती है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र में प्रतिपादित है कि इस मन्त्र का देवता सूर्य है। इस बात को स्वीकार कर के भी आपने मन्त्रार्थ करते समय इसमें परमेश्वर से प्रार्थना की है। परमेश्वर केवल देवताओं का ही हितकर नहीं है, वह तो सबका कल्याण करता है। चक्षु पद का चक्षुतुल्य अर्थ करने पर भी चेतन ब्रह्म की निराकारता के कारण उसका दर्शन होना असंभव है।

३७ वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में अध्यापक और उपदेशक के हाथों से विद्वान् व्यक्ति के ग्रहण की बात कही गई है। यहाँ ग्रहण करने वाला कौन है? यह नहीं बताया गया। दूसरे के हाथों और बाहुओं से कोई अन्य व्यक्ति किसी वस्तु को कैसे ग्रहण करेगा? इसकी पद्धति यहाँ नहीं बताई गई। तीसरे मन्त्र में भी अध्यापक और उपदेशक की निष्प्रमाण चर्चा है। यज्ञ का सिर क्या है, इस विषय को भी यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया। चतुर्थ मन्त्र में पूछा गया है कि अल्पवयस्क तेजस्विनी स्त्री के द्वारा देवयजन किस उद्देश्य से किया जाय? देवयजन शब्द का यहाँ पूजन अर्थ किया गया है और आगे छठे मन्त्र में देवयजन स्थान अर्थ करते हैं। इस प्रकार शब्दों से खिलवाड़ कर ये मूर्खों को ही ठग सकते हैं। ८ वें मन्त्र में इन्होंने मख शब्द की जो व्युत्पत्ति दी है, तदनुसार तो क्रय-विक्रय आदि लौकिक व्यवहारों में भी इस शब्द का प्रयोग होने लगेगा। नवें मन्त्र में मख शब्द का अर्थ वायुशुद्धि किया है। क्या कोई व्यक्ति सभ्य पुरुष के आने पर उसका स्वागत धूप से करता है। फिर इस शब्द का अर्थ धूपदान न होकर केवल धूप है, जिसका कि सही अर्थ अगुरु, चन्दन, गुग्गुल आदि का धूप होता है। ११ वें मन्त्र में दिखाया गया है कि कोई भी विद्वान् स्पर्शमात्र से किसी की रक्षा करने में असमर्थ है। अर्चि पद का 'अर्चि के समान' यह गौण अर्थ भी निष्प्रमाण है। १२ वें मन्त्र में बताया गया है कि विद्वान् मनुष्य किसी दूसरे को आयु आदि देने में असमर्थ है। दूसरे की पत्नी पर अन्य व्यक्ति का अधिकार आर्यमर्यादा के विपरीत है। १३ वें मन्त्र में मधु पद की कर्मार्थता में कोई प्रमाण नहीं है। संस्पृश पद का विद्युत् अर्थ भी कहीं देखने को नहीं मिलता। १४ वें मन्त्र में मति शब्द का अर्थ मननशील मेधावी करना भी पूरी तरह से निराधार है। १६ वें मन्त्र में बताया गया है कि तप से परमेश्वर की उत्पत्ति आपके मत में भी स्वीकृत नहीं है। उत्पत्ति का अर्थ प्राकट्य हो सकता है, किन्तु आपने इस पक्ष को माना ही नहीं है। १७ वें मन्त्र में भी इस प्रकार का दोष है कि निराकार ईश्वर का आप दर्शन कैसे करेंगे। दूसरे की आत्मा को देखने में मन की भी सामर्थ्य नहीं है। निराकार परमेश्वर के किसी प्रकार के आचरण की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि साकार में ही यह सम्भव है। उसकी आच्छादकता भी इसीलिये नहीं मानी जा सकती। १८ वें मन्त्र का अर्थ पूरी तरह से शतपथश्रुति के विपरीत है। १९ वें मन्त्र में बताया गया है कि ईश्वर किसी प्रकार का प्रचार करते हुए देखा नहीं गया और देवपद का विद्वान् अर्थ करने पर उसके लिये विद्या के प्रचार की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि वह तो स्वयं ही विद्वान् हैं। परस्परविरोधी और श्रुतिविरोधी अर्थ करने में ही स्वामी दयानन्द अपनी सारी बुद्धि लगा देते हैं। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र में केतु पद का अर्थ जागरूक ज्ञान, जागृतावस्था किया है, किन्तु उसमें कोई प्रमाण नहीं दिया गया।

अड़तीसवें अध्याय के अनेक मन्त्रों में स्वामी दयानन्द ने विदुषी स्त्री, मानवी, कन्या, विद्वान् पुरुष, स्त्री-पुरुष, राजा-रानी आदि को संबोधित किया है। हम पहले ही बता चुके हैं कि ऐसे संबोधन पूरी तरह से निराधार हैं। यहाँ प्रथम मन्त्र के अदिति पद का अर्थ नाशरहित नीति किया है। इसमें तथा स्त्री-पुरुष का वर्णन करने में भी कोई प्रमाण नहीं दिया गया। तीसरे मन्त्र में अदिति पद का नित्यविज्ञान, इन्द्राणी पद का परमैश्वर्यवती नीति और उष्णीष शब्द का उष्णीषतुल्य अर्थ भी निष्प्रमाण है। चौथे मन्त्र में उपनिषत्, पातंजल महाभाष्य, ब्रह्मसूत्र आदि के प्रमाण से अथ शब्द का दृष्टान्त देकर सयुक्तिक समझाया गया है कि प्रसिद्ध रूढ अर्थ का बाध होने पर ही यौगिक अर्थ का ग्रहण

किया जा सकता है, अपने मनमाने तरीके से नहीं। छठे मन्त्र के भाष्य में मूल में अविद्यमान स्त्रीपद का अध्याहार किया गया है। चौथे मन्त्र की तरह यहाँ भी बताया गया है कि कभी-कभी वाक्यशेष के बल से भी अर्थान्तर (गौण अर्थ) का ग्रहण किया जाता है और इसके लिये छान्दोग्य उपनिषद् को उद्धृत कर उसकी पुष्टि ब्रह्मसूत्र, बृहदारण्यक के वचनों से की गई है। ऐसा कोई प्रसंग न रहते हुए भी स्वामी दयानन्द व्यर्थ ही श्रुतहानि और अश्रुतकल्पना का सहारा लेते रहते हैं। सातवें मन्त्र में पुनः इसी प्रसंग में ब्रह्म पद पर भी विचार किया गया है और वात अथवा वायु पद की गौणार्थकता को असंगत बताया गया है। आठवें मन्त्र में स्वाहा, विभु इत्यादि पदों के अर्थ के प्रसंग में सांख्यदर्शन तथा उपनिषद् के वचनों को उद्धृत करते हुए भाक्त प्रयोग की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी करपात्री जी महाराज ने इन मन्त्रों के दयानन्दीय अर्थ का खण्डन करते समय मुख्यार्थ और गौणार्थ की समस्या पर बड़ा गम्भीर दार्शनिक विचार प्रस्तुत किया है।

यम पद से न्यायाधीश का ग्रहण इन्होंने अनेक स्थलों पर किया है। विद्युत् आदि की असमय चर्चा ये करते रहते हैं। यहाँ के नवें मन्त्र में भी इन्होंने यही किया है। १० वें मन्त्र में और आगे भी अग्नि और घर्म पद का इनका अर्थ निर्मूल है। ११ वें मन्त्र में आकाश शब्द के दृष्टान्त से इनके यज्ञ पद के व्याख्यान का खण्डन कर इसके वास्तविक अभिधेय को स्पष्ट किया गया है। यही स्थिति १४ वें मन्त्र के घर्म, सुघर्म, ब्राह्मण आदि पदों की भी है। १६ वें मन्त्र में बताया गया है कि जीव, प्राण आदि की स्तुति से किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। १७ वें मन्त्र में दिव पद का इन्होंने अविद्या आदि गुणों का प्रकाशक अर्थ किया है, वह इसलिये निराधार है कि अविद्या गुणस्वरूप न होकर अन्धकार-स्वरूप होती है। उसका प्रकाश के वाचक दिव शब्द से ग्रहण नहीं किया जा सकता। २० वें मन्त्र में नाभि की चतुःस्रक्तता (चतुरस्रता) पर विचार किया गया है। २६ वें मन्त्र में ग्रह का अर्थ सामर्थ्य किया है। इसी तरह से २७ वें मन्त्र में घर्म शब्द का प्रताप और त्रिशुक् पद का मृदु, मध्य और तीव्र दीप्ति अर्थ किया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र में रेतस् पद का पराक्रम अर्थ दिया है। उसकी यहाँ पूरी समीक्षा की गई है और अन्त में बताया गया है कि यह सब मत्तप्रलपित मात्र है।

३९वें अध्याय के पहले मन्त्र में बताया गया है कि आपके मत से पृथिवी आदि जड़ पदार्थ हैं। इनके लिये स्वाहा (सत्य वाणी) के प्रयोग की कोई उपयोगिता नहीं हो सकती। यहाँ दिये भावार्थ का तो मूल से कोई सम्बन्ध ही नहीं है और न अपने कथन के समर्थन में कोई प्रमाण ही दिया है। स्वामी दयानन्द ने प्रस्तुत अध्याय के मन्त्रों का विनियोग मृत व्यक्ति के शरीरदाह के लिये बताया है, किन्तु इसमें इन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। श्रुति, सूत्र इत्यादि में तो इनका विनियोग घर्मपात्र के टूट जाने पर प्रायश्चित्त के लिये विहित है। इस विषय को विस्तार से दिखा कर यहाँ स्वामी दयानन्द के मत का खण्डन किया गया है। तीसरे मन्त्र में दिखाया गया है कि मृत शरीर में वाणी आदि की स्थिति नहीं रहती, तब उनके लिये स्वाहाकार करने की क्या आवश्यकता है। यही दोष चौथे मन्त्र के अर्थ में भी दिखाया गया है। ५वें मन्त्र में सम्राट्, सरस् आदि पदों के इनके दिये अर्थों की निर्मूलता प्रदर्शित है। देहत्याग के बाद जीव उन-उन देवताओं को प्राप्त करता है, छठे मन्त्र के इस अर्थ में दोष यह दिखाया गया है कि एक तो इसके समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया गया, दूसरे मन्त्र में ये पद हैं ही नहीं। ये विश्वदेव जीव द्वारा क्यों प्राप्त किये जाते हैं, इसका आपने कोई समाधान नहीं दिया और न विश्वेदेव पद का अर्थ ही बताया। देव नाम की कोई विशेषयोनि आपको मान्य नहीं है। आगे के मन्त्रों में भी इस तरह के निरर्थक अध्याहार किये गये हैं। स्वाहा पद का आपका अर्थ भी बड़ा विचित्र है। १०वें मन्त्र का आपका अर्थ जड़ पदार्थ की पूजा में पर्यवसित होता है और मूर्तिपूजा का आप खण्डन करते हैं। ये दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती हैं? ऐसा करके तो आप अपने मान्य सिद्धान्त से ही च्युत हो जाते हैं। ११वें मन्त्र में मनुष्य के लिये स्वाहाकार के प्रयोग की आवश्यकता क्या है, यह नहीं दिखाया गया। १२वें मन्त्र में

वेदार्थपारिजातभाष्यकार ने बताया है कि बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्ति पागल की ही हो सकती है। इस अध्याय के अन्तिम १३वें मन्त्र में स्वाहाकार के प्रयोग पर फिर प्रश्नचिह्न लगाया गया है। 'स्वाहाकार' शब्द के बोलने मात्र से भूमि का शोधन नहीं हो सकता। थोड़े से घृत और चन्दन की आहुति देने से भी यह संभव नहीं है। चन्दन की एक बूंद से समुद्र में सुगन्ध फैलने से रही। इसीलिये इस तरह की बातें उन्माद की अवस्था में दिया गया प्रलापमात्र हैं। सिद्धान्त पक्ष में तो आहुति देते समय मन्त्र का उच्चारण किया जाता है और उससे अदृष्ट की उत्पत्ति मानी जाती है। उस अदृष्ट की सामर्थ्य से सब कुछ संभव हो जाता है। आप अदृष्ट को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि आपने उसका खण्डन कर दिया है।

भाष्य के विशेष अवधेय अंश

यहाँ पृ० ३–४ पर किसी आचार्य के मत का उल्लेख करने के बाद 'सम्प्रदायविदस्तु' कह कर सिद्धान्त पक्ष को स्थापित किया गया है। इसी तरह पृ० ८ पर विष्णुपुराण के प्रमाण से वैदिक वाङ्मय की सृष्टि प्रतिपादित है, जो कि अन्य अनेक पुराणों में भी इसी रूप में वर्णित मिलती है। पृ० १३ पर सात परिधियों[1] और २१ समिधाओं[2] का वर्णन दर्शनाहं है। पृ० १९–२० पर 'न मे भक्तः प्रणश्यति' भगवद्गीता के इस वाक्य की हृदयाभिराम व्याख्या की गई है। पृ० २५ पर हम "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" इस प्रसिद्ध वेदवचन को देखते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र की विश्वभारती का यही वेदवचन आदर्शवाक्य है। इससे संहिता भाग की दार्शनिक गंभीरता का भी पता चलता है। ऐसे ही वाक्यों से प्रेरणा प्राप्त कर हम द्वेष और कलह से परे आधुनिक विश्व को मानव जाति का सुहृद्गृह बना सकते हैं। पृ० ४९–५० पर मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ करते समय तथा दयानन्दीय अर्थ की समालोचना करते समय कुछ ग्रन्थों के आधार पर भगवान् की भक्तवत्सलता प्रदर्शित है। इन्द्र के अश्व का वर्ण हरित् है, निरुक्त की इस उक्ति का समर्थन रामायण के प्रमाण से किया गया है। ५९वें पृष्ठ पर भक्त पूरे आत्मविश्वास के साथ कहता है कि मैं भगवान् के दर्शन करने में अपनी योग्यता के आधार पर अवश्य समर्थ हूँ।

पृ० ७८ पर नासदीय सूक्त के प्रसिद्ध मन्त्र 'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्' की अधियज्ञ व्याख्या देखने योग्य है। वहाँ कहा गया है कि अध्वर्यु उत्तर हविर्धान के नीड पर एक अम्भ्रण की स्थापना करता है। उसे आधवनीय कहा जाता है। प्रउग स्थान पर द्वितीय अम्भ्रण की स्थापना की जाती है। इसे पूतभृत् कहते हैं। हविर्धान शकट को कहते हैं, यह पहले बताया जा चुका है। बड़े मुह वाले मिट्टी के घड़े को अम्भ्रण कहा जाता है। शकट पर बैठने की जगह नीड कहलाती है। इस नीड के बाहर के भाग को प्रउग कहते हैं। मन्त्र से संस्कृत प्रादेश-प्रमाण नीचे से ऊपर तक बिना टूटे हुए दो दर्भों को मिलाकर प्रोक्षण के निमित्त पवित्र बनाया जाता है। उद्गाता (सामगान करने वाला) आदि के द्वारा सोम के ऋजीष, कल्क आदि को छानने के उपयोग में आने वाला वस्त्र दशापवित्र कहलाता है। ग्रह, चमस, आधवनीय आदि पात्रों में छने हुए सोमरस को स्थापित किया जाता है। पृ० ८८ पर 'पंक्तिराधसम्' पद की व्याख्या

---

१. "आहवनीयादीनां त्रिषु पार्श्वेषु प्रथममेखलाया उपरि विधीयमानानि मेखलापरिमितायामानि काष्ठानि परिधय उच्यन्ते।···उत्तरवेदिपरिधयस्त्रयः, आहवनीपरिधयस्त्रयः, सप्तमश्च आदित्यः परिधिरिति सप्त परिधयो भवन्ति" (भा०, पृ० १३)। आहवनीय खर के पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में जो पलाश की समित् रखी जाती है, वह परिधि है। यह बाहुमात्र लम्बी होती है (कात्या०, पृ० ४९२)।

२. "समिधोऽग्नेर्दीप्तिसाधनाभूतानि काष्ठानि" (भा०, पृ० १३)। हवन के निमित्त पलाश या अन्य विहित यज्ञकाष्ठ को समित् कहते हैं। यह अंगुली की मोटाई से अधिक मोटी न होनी चाहिये। सड़ी और घुनी भी नहीं होनी चाहिये (कात्या०, पृ० ५२२)।

विस्तार से की गई है। इस शब्द की व्याख्या अन्यत्र (पृ० १६९) भी मिलती है, किन्तु यहाँ हविष्पंक्ति, नाराशंस-पंक्ति और सवनपंक्ति को अधिक स्पष्ट रूप से समझाया गया है। इस विषय को पृ० १६६ पर भी देखा जा सकता है। यहाँ टिप्पणी में बताया गया है कि इनका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। ऊपर इस बात की चर्चा हो चुकी है कि यह विषय वैदिक विद्वानों के लिये विशेष रूप से अवलोकनीय है। पृ० ८९ पर बृहदारण्यक के एक वचन के आधार पर यह स्पष्ट किया गया है कि भगवान् आराधक की आत्मा में छिपा रहता है। हमें लगता है कि 'देवो भूत्वा देवान् यजेत्' जैसे वाक्य अपने भीतर छिपे हुए भगवद्भाव की ओर ही इंगित करते हैं। पृ० ९१ पर बताया गया है कि मूलाधार से उठकर वाणी तीस अंगुल का मार्ग तय करके मुख तक आती है।

३४वें अध्याय के छः शिवसंकल्प मन्त्रों की व्याख्या करते समय पृ० ९५ पर प्रथम मन्त्र में मन के अतीत, अनागत, वर्तमान, संनिकृष्ट, विप्रकृष्ट, व्यवहित पदार्थों को भी देख सकने की शक्ति की औपचारिकता का उपनिषद् के प्रमाण से वर्णन किया गया है। यहाँ बताया गया है कि गान्धर्व शास्त्र के अभ्यास से उत्पन्न षड्ज आदि स्वरों की पहचान की तरह प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूप का महावाक्यजन्य प्रमात्मक मानस साक्षात्कार हो सकता है। महावाक्यजन्य प्रमा का और सांख्य, वेदान्त, न्यायशास्त्र आदि दर्शनों और विभिन्न ग्रन्थों के प्रमाण से मन की शक्ति एवं जागरण, स्वप्न, प्रस्वाप आदि दशाओं का यहाँ सप्रमाण विवरण दिया गया है। दार्शनिकों को इस प्रसंग का अवलोकन अवश्य करना चाहिये। पृ० ९८–९९ पर इस मत का उल्लेख किया गया है कि मस्तक में मस्तिष्क का जो स्थान है, वहीं मन का भी निवास है। बाद में इस मत का यहाँ खण्डन कर दिया गया है और हृदय-पुण्डरीक में ही मन की स्थिति मानी गई है।

पितृमेध की प्रक्रिया का भी यहाँ (पृ० १३०–१३१) विस्तार से वर्णन है, जिसका कि स्वरूप ऊपर बता दिया गया है। मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ का ग्रहण किन-किन स्थितियों में किया जा सकता है, इस विषय का वर्णन यहाँ अनेक स्थलों (पृ० १३४, १८७–१८८, १९१-१९२, १९३) पर किया गया है। इसीलिये हमने ऊपर लिखा है कि दयानन्दीय अर्थ का खण्डन करते समय मुख्यार्थ और गौणार्थ की समस्या पर बड़ा गंभीर दार्शनिक विचार प्रस्तुत किया गया है। पितृमेध के समान ही महावीर के संभरण की प्रक्रिया का भी यहाँ विस्तार से वर्णन है (पृ० १५६–१६१)। इसके स्वरूप को भी ऊपर यथास्थान देखा जा सकता है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ के विभिन्न खण्डों में उपस्थापित ११-३९ अध्यायों का भाष्यनिष्कर्ष पूरा होता है। यह विधि का विधान ही है कि ४-१० अध्यायों के मुद्रण कार्य में अत्यधिक विलम्ब हो जाने के कारण प्रथम दस अध्यायों का भाष्यनिष्कर्ष अभी तक नहीं लिखा जा सका। यह कार्य भी शीघ्र सम्पन्न हो जाय, इसके लिये हम भगवान् से प्रार्थना करते हैं।

विद्वद्वशंवद

व्रजवल्लभ द्विवेदी

वाराणसी

फाल्गुनपूर्णिमा, संवत् १९४८

विषय-सूची

प्रतिपाद्य विषय | पृष्ठसंख्या

पञ्चत्रिंश अध्याय : पितृमेध याग

षट्त्रिंश अध्याय : प्रवर्ग्य

सप्तत्रिंश अध्याय : महावीर संभरण

अष्टात्रिंश अध्याय : घर्मधुक् दोहन

ऊनचत्वारिंश अध्याय : घर्मभेद प्रायश्चित्त

एकत्रिंशोऽध्यायः

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—सभी लोकों में व्याप्त महानारायण सर्वात्मक होने से अनन्त शिर वाले, अनन्त नेत्र वाले और अनन्त चरण (पैर) वाले हैं । ये पाँच तत्त्वों से बने इस गोलकरूप समस्त व्यष्टि और समष्टि ब्रह्माण्ड को तिरछा, ऊपर, नीचे सब तरफ से व्याप्त कर नाभि से दस अंगुल परिमित देश, हृदय का अतिक्रमण कर अन्तर्यामी रूप में स्थित हुए थे ॥ १ ॥

सहस्रशीर्षेति षोडशर्चं सूक्तम् । नारायणो नाम ऋषिः । अन्त्या त्रिष्टुप्, शिष्टा अनुष्टुभः । अव्यक्त-महदादिविलक्षणो यश्चेतनः पुरुषः, 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' (कठोप० ३।११) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः, स देवता । तथा चानुक्रान्तम्—'सहस्रशीर्षा षोडशर्चमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्त्यं पुरुषो जगद्बीजं मन्त्रदेवता' इति । वेदवेद्यः परमेश्वरः सर्वान्तरात्मत्वात् समष्टिप्राणिदेहैरपि देहवानिति सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डात्मको विराड्रूपेण सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दोऽनन्तवचनः । अनन्तैः शिरोभिर्युक्तः । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात् तदीयान्येव । एवमेव सहस्राक्षत्वं सहस्रपात्त्वं च । स परमात्मरूपः पुरुषः, भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां प्रकृतिरूपां वा स्पृत्वा परिवेष्ट्य कारणत्वादज्ञानं तत्कार्यात्मकं प्रपञ्चमाध्यासिकतादात्म्य-सम्बन्धेनैव व्याप्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितं देशमत्यतिष्ठद् अतिक्रम्य व्यवस्थितः । दशाङ्गुलं दशगुणं महापरिमाणं वा देशमत्यतिष्ठत्, ब्रह्माण्डमण्डलाद् बहिरपि व्याप्य स्थितः, प्रकृतितद्विकाराणां तदेकदेशस्थितत्वात् ।

अस्य भाष्यं शौनको नाम ऋषिरकरोत् । प्रथमं विच्छेदः क्रियाकारकसम्बन्धः समासः प्रमेयार्थव्याख्येति सर्वमेतज्जनकाय मोक्षार्थं कथयामासेत्युव्वटाचार्यः । 'नियुक्तान् ब्रह्माऽभिष्टौति होतृवदनुवाकेन सहस्रशीर्षेति' (का० श्रौ० २१।१।११) । ब्रह्मा यूपे नियुक्तान् ब्राह्मणमित्यादिपशून् षोडशर्चेन सहस्रशीर्षेत्यनुवाकेन उपविष्टः सन् होतृवत् 'त्रिः प्रथमान्त्ये' (का० श्रौ० १९।६।२७) अनुवाकस्य प्रथमान्त्ये द्वे ऋचौ त्रिः पठनीये, 'ओङ्कार ऋगन्ते' (का० श्रौ० १९।६।२९–३०) निविदवसाने ओङ्कारः पठनीय इति होतृधर्मेण, शस्त्रशंसनधर्मेणेति यावत्, अभिष्टुवीतेति सूत्रार्थः । 'त्रैधातव्यन्ते समारोह्यात्मन्नग्नी सूर्यमुपस्थायाद्भ्य इत्यनुवाकेनानपेक्षमाणोऽरण्यं गत्वा न प्रत्येयात्, ग्रामे वा विवत्सन्नरण्योः' (का० श्रौ० २१।१।१७–१८) । त्रैधातवी उदवसानीयेष्टिः । तदन्ते 'अयं ते योनिः' इत्यग्नीनात्मनि समारोप्य सूर्यमुपस्थाय 'अद्भ्यः सम्भृतः' इत्यनुवाकेन षड्चेन सूर्यमुपस्थाय पश्चादपश्यन् वनं गत्वा न प्रत्येयात्, वानप्रस्थो भवेदिति यावत् । ग्रामं नागच्छेत् । यद्वा ग्रामे वस्तुमिच्छन् अरण्योरग्नीन् समारोप्य अर्कोपस्थानानन्तरं ग्रामे गत्वा यज्ञान् कुर्यादिति सूत्रद्वयार्थः । त्रैधातवी उदवसानीयेति परमर्षिः कात्यायनः । तथाहि स आह—'त्रैधातव्युदवसानीया' (का० श्रौ० १३।३।३३) इति ।

नारायणपुरुषदृष्टा जगद्बीजपुरुषदेवत्याः षोडश ऋचः । पञ्चदशानुष्टुभः षोडशी त्रिष्टुप् । ब्रह्मणे ब्राह्मणमित्याद्याः पुरुषमेधरूपस्य परमात्मनोऽवयवाः पूर्वाध्यायान्ते प्रोक्ताः । तदवयवी पुरुषोऽत्र स्तूयते । सहस्रशब्दोऽनन्तवचन इत्युक्तमुपरिष्टात्, संख्यावाचकत्वे सहस्राक्ष इति विरोधः स्यात्, नेत्रसहस्रद्वयस्योचित-

त्वात् । 'शीर्षंश्छन्दसि' (पा० सू० ६।१।६०) इति छन्दसि शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशः । शिरोग्रहणं सर्वावयवोपलक्षणम् । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात् तस्यैवेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवमग्रेऽप्यूह्यम् । सहस्राक्षः सहस्रमक्षीणि यस्य स तथोक्तः । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (पा० सू० ५।४।११३) इति षचि रूपसिद्धिः । अक्षिग्रहणं सर्वज्ञानेन्द्रियोपलक्षकम् । सहस्रपात् सहस्रं पादा यस्यः स तथोक्तः । 'संख्यासुपूर्वस्य' (पा० सू० ५।४।१४०) इति पादशब्दान्त्यलोपे रूपसिद्धिः । पादशब्दः कर्मेन्द्रियार्थोपलक्षकः । स पुरुषो भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां सर्वतस्तिर्यगूर्ध्वमधश्च स्पृत्वा व्याप्य, 'स्पृ प्रीतिसेवनयोः' स्वादिः । अत्र व्याप्त्यर्थे वृत्तिः । यद्वा भूमिशब्दो भूतोपलक्षकः । पञ्च महाभूतानि व्याप्य दशाङ्गुलपरिमितं देशमध्यतिष्ठद् अतिक्रम्यावस्थितः । दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम्, ब्रह्माण्डाद्बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः । यद्वा नाभेः सकाशाद् दशाङ्गुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः, 'कतम आत्मा' (बृ० ४।३।७) इत्युपक्रम्य 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः' (बृ० ४।३।७) इति श्रुतेर्नाभिपदार्थलाभः । विज्ञानात्मनो हृद्यवस्थानं कर्मफलोपभोगाय, अन्तर्यामिणो नियन्तृत्वेन । तदुक्तम्—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥' (मु० ३।१।१) इति । स पुरुषोऽत्र देवता । 'इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः' (श० १३।६।२।१) इति श्रुतेः ।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेवार्थः ।

दयानन्दीयोऽर्थोऽत्र वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्थ द्वितीये भागे १२३३ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदं प्रारभ्य १२३६ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् द्रष्टव्यः ॥ १ ॥

पुरु॑ष ए॒वेद१ँ सर्वं॒ यद् भू॒तं यच्च॒ भाव्य॑म् ।
उ॒ताऽमृ॑त॒त्वस्येशा॑नो॒ यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—यह जो अतीत ब्रह्मसंकल्पमय जगत् है और जो भविष्य में होने वाला ब्रह्मसंकल्पमय जगत् है, जो जगत् का बीज अथवा अन्न के परिणामभूत वीर्य से वृक्ष, नर, पशु आदि के रूप में प्रकट होता है, वह सब कुछ अमृतत्व (मोक्ष) के स्वामी महानारायण पुरुष का ही विस्तार है ॥ २ ॥

पुरुष एव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् । उत अमृतत्वस्य ईशानो यद् अन्नेन अतिरोहति ॥ स एव पुरुषः पूर्वपर्यायविशेषित एवशब्दो नान्यः । इदं वर्तमानकं सर्वं यच्च भूतमतीतं यच्च भाव्यं भविष्यत् तस्य कालत्रयस्य ईशानः । न केवलं कालत्रयस्येशानः, उत अमृतत्वस्यापि मोक्षस्यापि । उतशब्दोऽपिशब्दार्थे । कस्मात् कारणात् ? यद् अन्नेन अमृतेन अतिरोहति अतिरोधं करोति, सर्वस्येश्वर इति ।

यद् इदं वर्तमानं जगत् तत्सर्वं पुरुष एव । यद् भूतमतीतं जगत्, यच्च भाव्यं भविष्यं जगत्, तदपि पुरुष एव । यथास्मिन् कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः, तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यम् । उतापि च अमृतत्वस्य देवस्य ईशानः स्वामी स पुरुषः, यद् यस्माद् अन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन फलेन निमित्तभूतेन, अतिरोहति स्वीयां कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति, तस्मात् पुरुष एव । प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारान्नेदं तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः । यद्वा—सर्वं पुरुषश्चेत्तर्हि परिणामी स्यादित्याशङ्क्याह—अमृतत्वस्येशान इति । अमृतत्वस्य अमरणधर्मस्य ईशानो मुक्तेरीशो मोक्षेश्वरो न म्रियत इति यावत् । किञ्च, यज्जीवजातमन्नेनातिरोहति उत्पद्यते, तस्य सर्वस्येशानः । अनेन ब्रह्मादि-

स्तम्बपर्यन्तो भूतग्राम उक्तः, तस्यान्नेनैव स्थितेः। तथा च श्रुतिः—'इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति' (श० १।८।१।२४) इति।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेवार्थः।

दयानन्दीयार्थस्तु वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीये भागे १२३७ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदं प्रारभ्य १२३८ पृष्ठीयं तृतीयमनुच्छेदं यावद् द्रष्टव्यः॥ २॥

एतावा॑नस्य महि॒माऽतो॒ ज्याया॑ँश्च॒ पूरु॑षः।
पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि॥ ३॥

मन्त्रार्थ इस महानारायण पुरुष की इतनी सब विभूतियाँ है, अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान में विद्यमान सब कुछ उसी की महिमा का एक अंश है। वह महानारायण पुरुष तो इस संसार से भी अतिशय अधिक है। इसीलिये यह सारा ब्रह्माण्ड इसका पादमात्र (चतुर्थांश) है। इसके बाकी बचे तीन पाद उस दिव्य लोक में विद्यमान हैं, जहाँ ब्रह्म-स्वरूप यह महानारायण अपनी दिव्य ज्योति के साथ निवास करते हैं॥ ३॥

एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादः अस्य विश्वा भूतानि त्रिपात् अस्य अमृतं दिवि॥ अस्य पुरुषस्य पूर्वोक्तविशेषणविशेषितस्य, एतावान् महिमा एतदेव महत्त्वमस्य। अतः कारणाद् ज्यायांश्च पूरुषः, महानित्यर्थः। कस्मान्महत्त्वमायातम्? यस्मात् पाद एकोंऽशोऽस्य पुरुषस्य विश्वा भूतानि विश्वानि चतुर्दशभुवन-समूहे यानि चतुर्धा भूतानि तान्येकोंऽशः। त्रिपात् पुनस्त्रयोंऽशा अस्य पुरुषस्य अमृतमृग्यजुःसामलक्षण-मादित्यलक्षणं वा दिवि द्योतत इति।

अत्र केचित्—भूतान्यचित्संसृष्टा जीवाः, तस्य पुरुषस्य पादस्तुरीयांशः। दिवि परमव्योमपदवाच्ये समस्तसमष्टितत्त्वबहिर्भूताप्राकृतस्थानविशेषरूपे परमपदेऽमृतं जरामरणादिरहितं नित्यवस्तुजातमस्य त्रिपात् पादत्रयम्। भोग्य-भोगोपकरण-भोगस्थानरूपस्य त्रिविधस्य वस्तुनः सत्त्वात् तेषां पादत्रयत्वव्यपदेशः। यद्वा जगदन्तर्गतवस्त्वभिमानिनामस्त्रभूषणादिरूपाणां नित्यानां भगवदनुभवमात्रपराणां नित्यानां मुक्तानां च परमपदे सत्त्वात् तेषां त्रिपात्त्वव्यपदेशः। अथवा पादो भगवदाश्रयायाः सृष्ट्यादिशक्तेरेकदेशः, परमपुरुषशक्तिलेश-विजृम्भितमिदं जगदित्यर्थः। तथा चाह पराशरः—'यस्यायुतायुतांशांशे विश्वसृष्टिरियं स्थिता' इति। अस्य त्रिपादधिकांशस्त्वमृतममरणधर्मकं नित्यमुक्तरूपं दिवि परमव्योम्नि, भासत इति शेषः, 'जागृवांसः समिन्धते' (बृहज्जाबालोपनिषद् ८।६) इति श्रुतेः। अथवा त्रिशब्दो बहुपरः, पादशब्दश्च गुणपरः। तथा चानन्तज्ञाना-नन्दादिगुणविशिष्टमित्यर्थः। अथवा वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धात्मकस्य भगवतस्तुरीयोंऽशः (अनिरुद्धः) सर्वाणि भूतानि, अवशिष्टं च त्रिपाद्रूपं दिवि नाकपृष्ठे, निवसतीति शेष इत्यर्थमाहुः।

एतावानस्य महिमा, सर्वं पूर्वोक्तमस्य महिमा वैभवम्। यद्यपि तद्वैभवेयत्ता तु नास्त्येव, तथाप्यपरिच्छिन्नस्य एतत्परिच्छेदे बाधाभावात्। अतोऽपरिच्छिन्नज्ञानशक्त्यादिमत्त्वसर्वान्तर्यामित्वरूपाद्धेतोः पुरुषो ज्यायान्। अथवा अस्य प्रपञ्चस्य एतावान् महिमा, पुरुषश्चातो ज्यायानेव। अथवा सर्वमपि पूर्वोक्तमस्य पुरुषस्य महिमा सामर्थ्यमात्रम्। अतः सर्वस्मादस्मात् पुरुषो ज्यायान्। ज्यायस्त्वमेव प्रपञ्चयति—पादोऽस्य विश्वा भूतानीति। अस्य पुरुषस्येति भावः।

सम्प्रदायविदस्त्वित्थं वर्णयन्ति -अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद् यावदस्ति, एतावान् सर्वोऽप्यस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः, न तु तस्य वास्तवं स्वरूपम्। वस्तुतस्तु पुरुषोऽतो महिम्नोऽपि ज्यायान् अतिशयेनाधिकः। तदेव प्रपञ्च्यते - अस्य पुरुषस्य विश्वा भूतानि कालत्रयवर्तीनि सर्वाणि भूतानि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थांशः। अस्य पुरुषस्य अवशिष्टं त्रिपात्स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं सद् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे, व्यवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१) इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावाच्चतुष्पात्त्वमपि निरूपयितुमशक्यम्, तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाऽल्पमिति विवक्षितत्वात् पादत्वोपन्यासः। अथवा 'अयमात्मा चतुष्पात्' (माण्डूक्य० २) इति भगवत्पादव्याख्यातदिशोन्नेयम्।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेवार्थः।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीये भागे १२३९ तमपृष्ठीयं तृतीयमनुच्छेदमारभ्य १२४१ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—यह महानारायण अपने तीन पादों के साथ ब्रह्माण्ड से ऊपर उस दिव्य लोक में अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप में निवास करते हैं और अपने एक चरण (चतुर्थांश) से इस संसार को व्याप्त करते हैं। अपने इसी चरण को माया में प्रविष्ट करा कर ये महानारायण देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के नानारूप धारण कर समस्त चराचर जगत् में व्याप्त हो जाते हैं ॥ ४ ॥

त्रिपात् ऊर्ध्वः उत् ऐत् पुरुषः पादः अस्य इह अभवत् पुनः। ततः विष्वङ् वि अक्रामत् साशनानशने अभि ॥ यस्मादयं पुरुषस्त्रिपात् त्र्यंशभूतः, ऊर्ध्व उपरिष्टात्, उदैद् देदीप्यमानस्तिष्ठति। अस्य च पुरुषस्य पाद एकोंऽशः, इह त्रैलोक्ये बीजभूतं चतुर्षु भूतेषु, अभवद् भूतम्, ततस्तस्मात् कारणात्, विष्वङ् भुवनकोशं व्यक्रामद् उत्पन्नमित्यर्थः। तस्मादेव पुरुषात् साशनानशने अभि साशनं स्वर्गम्, अनशनं मोक्षं प्रति च, तस्मादेवोत्पन्नमित्यर्थः।

त्रिपाद् अपरिच्छिन्नज्ञानशक्त्यादिमान् वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्नरूपो नित्यमुक्तादिभिः परिचर्यमाण ऊर्ध्वे प्रकृतिमण्डलादुपरि परमव्योम्नि वैकुण्ठे उदैद् उदगच्छत्। तस्यैवंभूतस्य जगत्स्रष्टृत्वादिकं न स्वप्रयोजनाय भवति, न वाऽन्यनियमाधीनम्, केवलं कृपामूलकमेव। पादोऽस्य इह लीलाविभूतौ अभवद् अवातरत्। तस्माज्जगत् स्रष्टुं ब्रह्माऽभवत्। तदुक्तं वैकुण्ठसंहितायाम्—'सर्वव्यापी विष्णुः स्वाच्छरीराज्जगत् त्रातुं सङ्कर्षणमभावयत्, स प्रद्युम्नं सोऽप्यनिरुद्धमभावयत्। तस्माज्जगत् स्रष्टुं ब्रह्माभवत्। 'एवं चतुर्धा संव्यूह्य स्वात्मानं पुरुषोत्तमः। अण्डेभ्यः परतो नित्यं त्रिपादेन विराजते॥' इति। अनिरुद्धात्मा स भगवान् सृष्ट्यनुकूलं सङ्कल्पं करोति। ततो योगनिद्रावसाने स एव विष्वक् समन्ताद् व्यक्रामत् स्वसङ्कल्पेन समाक्रान्तवान्, 'बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६।२।३) इति श्रुतेः। साशनं जङ्गमं देवमनुष्यादिरूपम्, अनशनं स्थावरं वृक्षगुल्मलतादि-रूपम्, ते उभे अभि उद्दिश्य स्थावरजङ्गमात्मककृत्स्नजगद्रूपेण बहुभवनसङ्कल्पमकरोत्। त्रिपात् पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः। ऊर्ध्व उदैत्। अस्माद् अज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतः, अत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान्। अस्य पादश्चतुर्थोऽंशो लेशो वा इह मायायां पुनरभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति। सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताऽप्युक्तम्—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भ० गी०

१०।४२)। ततो मायायामागत्य अनन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामद् व्याप्तवान्। किं कृत्वा ? साशनानशने अभिलक्ष्य साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतं चेतनम्, अनशनं तद्रहितं गिरिनद्यादिकम्। तदुभयं यथा स्यात्तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेवार्थः।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयभागे १२४२ तमपृष्ठीयं चतुर्थमनुच्छेदं प्रारभ्य १२४४ पृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् वर्तते ॥ ४ ॥

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः।
स जा॒तो अत्य॑रिच्यत प॒श्चाद् भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—उस महानारायण पुरुष से सृष्टि के प्रारम्भ में विराट्स्वरूप ब्रह्माण्ड देह तथा उस देह का अभिमानी पुरुष (हिरण्यगर्भ) प्रकट हुआ। उस विराट् पुरुष ने उत्पन्न होने के साथ ही अपनी श्रेष्ठता स्थापित की। बाद में उसने भूमि का तथा तदनन्तर देव, मनुष्य आदि के पुरों (शरीरों) का निर्माण किया ॥ ५ ॥

ततो विराट् अजायत विराजः अधिपूरुषः। सः जातः अति अरिच्यत पश्चात् भूमिम् अथो पुरः ॥ तस्मादेव पुरुषाद्विश्वोत्पत्तिः। तत्र पूर्वं विराड् अजायत। विराजोऽधि पूरुषः प्रधानं तेजः। स क्षेत्रज्ञो ब्रह्मा सृष्टिकृज्जातः सन् अतिरिच्यते। सोऽभितः पश्चाद् अस्मात् क्षेत्रज्ञाद् ब्रह्मणो भूमिः पृथिवी आदौ जाता उत्पन्ना इति। अथो अनन्तरं पुरः शरीराणि पुराणि चतुर्विधानि भूतान्यजायन्त, पुत्रादीनि तेनैवोत्पादितानि। स एवमेकोऽशः, तेनैव सर्वं विश्वमुत्पादितमिति।

ततः सङ्कल्पाद्धेतोर्विराड् महदादिरूपेण विविधं राजत इति विराट् प्रकृतिः, अजायत महदाद्यण्डपर्यन्तरूपेणाजायत। अद्वारका सृष्टिरेषा। अथ सद्वारकां सृष्टिं वक्तुं चतुर्मुखसृष्टिरुच्यते—विराजोऽण्डपर्यन्तप्रकृतिमण्डलस्य अधि अनन्तरं पूरुषश्चतुर्मुखोऽजायत। अथवा ततः परमपुरुषाद् विराड् विशेषेण राजत इति विराड् अनिरुद्धः, अजायत परमपुरुषोऽनिरुद्धरूपेणावतीर्ण इत्यर्थः। तदुक्तं मोक्षधर्मे—'तपो यज्ञश्च यष्टा च पुराणः पुरुषो विराट्। अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकानां प्रभवाप्ययः॥' (म० भा० शान्ति० ३४१।१५-१६)। विराजो विराट्पुरुषाद् अनिरुद्धात्, अधि पूरुषोऽधिकारिपुरुषश्चतुर्मुखोऽजायत। स चतुर्मुखो भगवत्कृपया प्रवृद्धकायोऽभवत्, येन अतिमहदपि वस्तु कर्तुं शक्नुयात्। तद्वृद्धिमेव दर्शयति—पश्चाद् भूमिं भूमेः पश्चादित्यर्थः, भूमेरधः। अथो भूमिं पुरो भूमेरूर्ध्वं च अत्यरिच्यत। भूमिशब्दो ब्रह्माण्डपर्यन्तस्योपलक्षणम्, ब्रह्माण्डस्य बहिरन्तश्च व्यापकोऽभूत्। अथवा 'विष्वङ् व्यक्रामत' इति पूर्वोक्तांशस्यैवात्र प्रपञ्चः। तस्मादादिपुरुषाद् विराड् ब्रह्माण्डदेहोऽजायत। विविधानि वस्तूनि राजन्तेऽत्रेति विराट्। विराजो अधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषस्तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमानजायत। सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डाख्यं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत्। तदुक्तमाथर्वणे नृसिंहोत्तरतापनीये—'स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव' (नृ० उ० ९।८) इति। स जातो विराट् पुरुषः, अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत्, विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत्। पश्चाद् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः। अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं पुरस्तेषां जीवानां शरीराणि, सप्त धातुभिः पूर्यन्त इति पुरः, ससर्ज।

अध्यात्मपक्षेऽप्ययमेवार्थः।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजातस्य (भूमिकाभागस्य) द्वितीयभागे १२४५ पृष्ठीयं चतुर्थमनुच्छेदं प्रारभ्य १२४६ पृष्ठपर्यन्तं विद्यते ॥ ५ ॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ— उस सर्वात्मा महानारायण ने, सर्वात्मा पुरुष का जिसमें यजन किया जाता है, ऐसे यज्ञ से पृषदाज्य (दधि से मिश्रित घृत) को सम्पादित किया। उस महानारायण ने उन वायुदेवता वाले पशुओं को भी उत्पन्न किया, जो हरिण आदि वनवासी तथा अश्व आदि ग्रामवासी थे ॥ ६ ॥

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् । पशून् तान् चक्रे वायव्यान् आरण्याः ग्राम्याः च ये ॥ यथा अग्निष्टोमाख्यात् तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्, तेन वायव्यान् पशून् आरण्या ग्राम्याश्च ये तान् कृतवन्तः। एवमात्मयज्ञात् सर्वहुतात् पूरितादुत्पन्नेन योगिनः सर्वान् पशून् सर्वाणि भूतजातानि करतलवत् पश्यन्ति, पश्यन्ति किल ज्ञानतेजसा भूतजातानि ।

तस्मादात्मसमर्पणरूपेण यज्ञेन आराधितात् पुरुषाल्लब्धसृष्ट्यनुकूलज्ञानशक्त्यादिकश्चतुर्मुखो यथापूर्वं जगत् ससर्ज। सर्वहुतः सर्वं जुहोतीति सर्वहुत्, तस्मात्। सर्वं स्वीयसर्वभरं भगवते समर्पितवतः। अथवा कौस्तुभस्थानीयस्य जीवात्मनोऽत्युत्तमतया तमेवानर्घतमं स्वात्मानं समर्पितवताऽनेन सर्वं समर्पितप्रायमिति सर्वहुत्, तस्मात्। यद्वा सर्वशब्दवाच्यो भगवान् तस्मै जुहोतीति सर्वहुत्, भगवदुद्देश्यकात्मसमर्पणरूपयज्ञकृत्, तस्मात्। यज्ञाद् यजनीयात्। तस्माच्चतुर्मुखात्। पृषदाज्यं दधिमिश्राज्यस्थानीयतत्तद्विचित्ररूपं सृज्यवस्तुजननहेतुशुक्ल-नीलादि सम्भृतम् उत्पन्नम्।

यदा त्विदं वाक्यद्वयं न जगत्सृष्टिपरम्, तदा सर्वहुतः सर्वहोमाधिष्ठानभूतात् पृषदाज्यं सम्भृतम्। यद्वा सर्वं हूयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या सर्वहुन्नारायण एव, सर्वाय हूयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या तु तादृशयज्ञपरः। तस्मात् तादृशाद् यज्ञाद् यज्ञार्थम्, प्रयोजनस्य हेतुत्वविवक्षया पञ्चमी, अध्ययनाद् वसतीतिवत्। पृषदाज्यं दधिमिश्राज्यं सम्भृतं कल्पितम्। वायव्यान् वायुमार्गचरणशीलान् पक्षिरूपान् पशून् चक्रे। आरण्यान् अरण्ये भवान्, ये ग्राम्या ग्रामे भवाः, तांश्च चक्रे। तथा च विष्णुपुराणे प्रथमांशे पञ्चमाध्याये—'गौरजः पुरुषो मेषश्चाश्वाश्वतरगर्दभाः। एतान् ग्राम्यान् पशूनाहुरारण्यांश्च निबोध मे ॥ श्वापदा द्विखुरा हस्तिवानराः पक्षि-पञ्चमाः। औदकाः पशवः षष्ठाः सप्तमाश्च सरीसृपाः ॥' इति। सर्वहुतः सर्वः सर्वात्मकः पुरुषो यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत्, तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्तान्मानसाद् यज्ञात् पृषदाज्यं सम्भृतं सम्पादितम्। तथा वायव्यान् वायुदेवताकान् लोकप्रसिद्धान् आरण्यान् पशून् चक्रे उत्पादितवान्। आरण्या हरिणादयः, तथा ये च ग्राम्या गवाश्वादयस्तानपि चक्रे। पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्यत्वं यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते—'वायवः स्थेत्याह। वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षोऽन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवो वायव एवैनान् परिददाति' (तै० ब्रा० ३।२।१।३) इति।

आध्यात्मिकपक्षेऽप्ययमेवार्थः।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजातस्य (भूमिकाभागस्य) द्वितीयभागे १२४८ तमपृष्ठीये प्रारम्भतोऽनुच्छेदद्वये विद्यते ॥ ६ ॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—उस सर्वहुत यज्ञपुरुष से ऋग्वेद और सामवेद उत्पन्न हुए, उसी से सर्वविध छन्द उत्पन्न हुए। यजुर्वेद को भी उसी यज्ञपुरुष ने प्रकट किया ॥ ७ ॥

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुः तस्मात् अजायत ॥ तस्मादेव यज्ञात् सर्वहुतः प्रज्वालिताद् यथा ऋचः सामानि यजूंषि च देवा उत्पादयन्ति छन्दांसि च, एवमात्मयज्ञे प्रणवेन दीपिते स्वयमेव ज्ञानादधिष्ठितानि भवन्ति। एवं येन परमात्मनि ज्ञायते, तेन सर्वे जग्धाः, सर्वं वाङ्मयं ज्ञातं भवतीति भावः।

तस्माच्चतुर्मुखाद् ऋच एकविंशतिः शाखाः, सामानि सामवेदाः सहस्रशाखाः, जज्ञिरे तत्सर्गीयप्रथमोच्चारण-विषयत्वरूपामुत्पत्तिं प्रापुः। तस्मादेव छन्दांसि गायत्र्यादीनि। यजुर्नवाधिकशतशाखो यजुर्वेदोऽजायत। इतरसापेक्षोच्चारणेषु प्राथमिकत्वस्य विवक्षितत्वादेव तत्सर्गीयप्रथमोच्चारणविषयतैवोत्पत्तिः। तत्सर्गीयप्रथमो-च्चारणविषयत्वरूपोत्पत्तिरेव सृष्टिः। तेन वेदानां तत्सर्गीयचतुर्मुखकर्तृकप्राथमिकोच्चारणविषयत्वरूपं चतुर्मुखजन्यत्वमपि यद्यपि न सम्भवति, तथापीतरसापेक्षोच्चारणेषु प्राथमिकत्वस्य विवक्षितत्वान्न दोषः। तस्मात् परमपुरुषाद्वा वेदानां तादृशोत्पत्तिः, तस्यैव चतुर्मुखं प्रत्युपदेष्टृत्वात्। प्रवाहानादित्वं च स्वसमानजातीय-शब्दासमानकालीनप्रागभावाप्रतियोगित्वम्। तादृशध्वंसाप्रतियोगित्वं च प्रवाहनित्यत्वम्। स्वसमानजातीयत्वं च स्ववृत्त्यानुपूर्वीवत्त्वरूपम्। तत्तदुच्चारणभेदेनानुपूर्वीभेदे तु स्ववृत्त्यानुपूर्वीसजातीयानुपूर्वीसत्त्वमेव साजात्यम्। सर्वहुतस्तस्मात् पूर्वोक्ताद् यज्ञाद् ऋचः सामानि जज्ञिरे उत्पन्नाः। तस्मात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्माद् यजुरप्यजायत।

अध्यात्मपक्षे—उक्तेऽर्थे आध्यात्मिकोऽप्यर्थो गतार्थः।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य प्रथमभागे ४८४ तमं पृष्ठमारभ्य ४८६ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते ॥ ७ ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ उसी यज्ञपुरुष से अश्व उत्पन्न हुए और वे सब प्राणी उत्पन्न हुए जिनके ऊपर-नीचे दोनों तरफ दाँत हैं। उसी से गाय-बैल उत्पन्न हुए और उसी से भेड़-बकरियाँ पैदा हुईं ॥ ८ ॥

तस्मात् अश्वाः अजायन्त ये के च उभयादतः। गावः ह जज्ञिरे तस्मात् तस्मात् जाताः अजावयः ॥ तस्माद् यज्ञाद् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः। तथा ये के च अश्वातिरिक्ता गर्दभादयोऽश्वतराश्च उभयादत उभयोर्भागयोर्दन्ता येषां ते उभयादतः, छान्दसं दीर्घत्वम्, ऊर्ध्वाधोभागयोर्दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त। तथा ह स्फुटं तस्माद् यज्ञाद् गावो ह जज्ञिरे। किञ्च तस्माद्यज्ञाद् अजावयोऽजा अवयश्च जाताः। नहि पशुभिर्विना यज्ञः सिद्धयेत्।

वेदाविर्भावविवर्णनात् तत्प्रतिपाद्यस्य यज्ञस्यापि सृष्टिरुक्ता भवति। तदर्थं यज्ञोपयोगिपदार्थसृष्टिरप्युच्यते। तस्माद् ब्रह्मणः, अत्र तस्मादिति पदस्य जनिधातोश्च पुनः पुनरुपादानं स्थानावान्तरभेदप्रदर्शनार्थम्। तदुक्तं विष्णुपुराणे प्रथमांशे पञ्चमाध्याये —

गायत्रं च ऋचश्चैव त्रिवृत्स्तोमं रथन्तरम्। अग्निष्टोमं च यज्ञानां निर्ममे प्रथमान्मुखात् ॥
यजूंषि त्रैष्टुभं छन्दः स्तोमं पञ्चदशं तथा। बृहत्साम तथोक्थं च दक्षिणादसृजन्मुखात् ॥
सामानि जगतीच्छन्दः स्तोमं सप्तदशं तथा। वैरूपमतिरात्रं च पश्चिमादसृजन्मुखात् ॥
एकविंशमथर्वाणमाप्तोर्यामाणमेव च। अनुष्टुभं च वैराजमुत्तरादसृजन्मुखात् ॥ इति,
(१।५।५४-५७)

तथा —

'अवयो वक्षसश्चक्रे मुखतोऽजाः स सृष्टवान्। सृष्टवानुदराद् गाश्च पार्श्वभ्यां च प्रजापतिः ॥
पद्भ्यां चाश्वान् समातङ्गान् रासभान् गवयान् मृगान्। उष्ट्रानश्वतरांश्चैव न्यङ्कूनन्याश्च जातयः ॥ इति च।
(१।५।४८-५०)

तस्मात् पूर्वोक्ताद् यज्ञाद् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः। तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च उभयादत ऊर्ध्वाधोभागयोर्दन्तयुक्ताः सन्ति, तेऽप्यजायन्त। तथा तस्माद् यज्ञाद् गावश्च जज्ञिरे। किञ्च, तस्माद् अजावयश्च जाताः।

अध्यात्मपक्षे अध्यात्मपक्षोऽप्यस्मिन्नेवार्थे गतार्थः।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपरिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयभागे १२५० पृष्ठे द्वितीयतृतीयानुच्छेदयोर्द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

तं य॒ज्ञं ब॒र्हिषि॒ प्रौक्ष॒न् पुरु॑षं जा॒तम॑ग्र॒तः।
तेन॑ दे॒वा अ॑यजन्त सा॒ध्या ऋष॑यश्च॒ ये ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—साध्य देवता और सनक आदि ऋषियों ने सृष्टि के पूर्व उत्पन्न उस यज्ञसाधनभूत विराट् पुरुष का मानस याग की सम्पन्नता के लिये प्रोक्षण किया और उस विराट् पुरुष के अवयवों से ही इस यज्ञ को सम्पादित किया ॥ ९ ॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातम् अग्रतः। ते देवाः अयजन्त साध्याः ऋषयः च ये ॥ यथेन्द्रेण तत्र यज्ञेऽग्निष्टोमाख्ये बर्हिषा प्रोक्षितः पुरुषो जातः। ज्ञानमुत्पद्यते दिव्यम्। अग्रतः प्रथमतः। तेन देवा इन्द्रादयः साध्याश्च ऋषयश्च यथा अयजन्त, तथा देवा योगिनः कपिलादयश्च साध्याश्चापरे ऋषयः। ऋषयश्चाप्येतेनैव प्रणवाधिष्ठितेन पुरुषेण आत्मयज्ञं कृतवन्त इति।

तदेत्यध्याहार्यम्। तदा तं ब्रह्माख्यं यज्ञम्, यजन्त्यनेनेति यज्ञः, यजनीयहविरिति यावत्, तम्। बर्हिषि प्रकृतौ, निधायेत्यध्याहार्यम्। प्रौक्षन् प्रोक्षणसंस्कारमकुर्वन् द्रव्यत्यागयोग्यतापादकान् प्रोक्षणोपस्तरणावदानाभिघारणादिसंस्कारानकुर्वन्नित्यर्थः। अग्रतः स्थिरतरसृष्टेरग्रतो जातमुत्पन्नम्। तेन पश्वादिसृष्टेः प्रागेवायं यज्ञः प्रवृत्तः, ततो मानसमेव सर्वमक्रियत। तेन ब्रह्मरूपेण हविषा देवा इन्द्रियाण्ययजन्त यागमकुर्वन्। अनिरुद्धाग्नौ ब्रह्मरूपं हविः प्रक्षिप्तवन्तः, आत्मसमर्पणं कृतवन्तः। साध्याः कर्मसाधनानि वागादीनि। ऋषयो ज्ञानसाधनानि चक्षुरादीनि।

एतस्मिन्नर्थे पुरुषसूक्तव्याख्यानभूतं शाबल्यब्राह्मणं चोदाहरन्ति—'तस्मात् पादनारायणान्मूलप्रकृतिरजायत। सा प्रकृतिः पादनारायणशासनान्महदहङ्कारादीन् सूक्ष्मान् पदार्थान् अजनयत्। एवं सूक्ष्मायां सृष्टौ कृतायां स पादनारायणः स्थूलसृष्टयर्थं चतुर्मुखं पुरुषमभिदध्यौ। तद्ध्यानात् पश्चात् पुरुषश्चतुर्मुखाख्योऽजायत। स जातो भूमेः पश्चात् पुरतश्चातिरिच्यत। सर्वकार्यक्षमो वृद्धकायः सन् पुरुषस्तूष्णीमास। तमनिरुद्धनारायणोऽप्राक्षीत्—ब्रह्मंस्तूष्णीं भवसीति ? अज्ञानादिति होवाच। ब्रह्मंस्तवेन्द्रियाणि देवानृत्विजः कृत्वा त्वदीयं च कलेवरं हविः कृत्वा मां हविर्भुजं ध्यात्वा मय्यग्नौ निवेदय। मदङ्गस्पर्शमात्रेण जगत्कोशभूतस्त्वत्कायो बृंहिष्यते। तस्मादुद्भूतानि प्राणिजातानि यथापुरं निर्माय स्रष्टा भविष्यसि। य एवं सृष्टियज्ञं जानाति स जन्मनीह मुक्तो भवति' इति।

यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः। कीदृशम् ? अग्रतः सर्वसृष्टेः प्राग् जातम्, पुरुषत्वेन उत्पन्नम्, 'ततो विराडजायत विराजोऽधि पूरुषः' इत्युक्तत्वात्। तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त मानसं यागं सम्पादितवन्तः। के ते देवाः ? साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः, तदनुकूला ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च ये सन्ति ते सर्वेऽप्ययजन्त।

आध्यात्मिकपक्षे—अयमेवार्थः।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयभागे १२५१ पृष्ठे द्वितीयमनुच्छेदं प्रारभ्य १२५३ पृष्ठे प्रथममनुच्छेदं यावदवलोकनीयम् ॥ ९ ॥

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन् ।
मुखं॒ किम॑स्यासी॒त्किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ उच्येते ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—यहाँ प्रश्न उठता है कि जब यज्ञसाधनभूत इस विराट् पुरुष की महानारायण से प्रेरित महत्, अहंकार आदि की प्रक्रिया से उत्पत्ति हुई, तब उसके कितने प्रकारों की परिकल्पना की गई ? उस विराट् के मुँह, भुजा, जंघा और चरणों का निर्माण किन-किन उपादानों से किया गया ॥ १० ॥

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किम् अस्य आसीत् किं बाहू किम् ऊरू पादौ उच्येते ॥ यत्पुरुषं देवा इन्द्रादयस्तस्मिन् यज्ञे व्यदधुः कृतवन्तो यथा, तद्वद् योगिन आत्मयज्ञे पुरुषं ज्ञानं यद् ज्ञानान्तं तत्कृतवन्तः कतिप्रकारं विकल्पितवन्तः। तस्यैवंविधस्य किं मुखं कौ बाहू कौ ऊरू पादौ उच्येते, उच्यन्तामित्यर्थः। ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः स्थिता इत्यर्थः।

यज्ञानुष्ठायिनां ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिरुच्यते। यद् यदा पुरुषं ब्रह्माख्यं व्यदधुः, पशुमित्यध्याहार्यम्, पशुत्वेन अकल्पयन्, तत् तदा कतिधा कतिप्रकारविशिष्टं व्यकल्पयन्। बहुवचनं छान्दसम्। अथवा यद् यदा पुरुषं मनुष्यं व्यदधुरकल्पयन्, असृजतेत्यर्थः। तत् तदा, कस्मात् कस्मात् स्थानात् कीदृशकीदृशप्रकारविशिष्टमकल्पयन्। यद्वा पुरुषं मनुष्यं यद् यदा व्यदधुः, तत् तदा कतिधा व्यकल्पयन्। मनुष्याद्युपादानभूतं चतुर्मुखशरीरं कतिभागविशिष्टमकल्पयन्। अस्य मुखं किंरूपमासीत्, कार्यकारणभावमूलकं सामानाधिकरण्यमत्र। मुखादुत्पन्नं किमित्यर्थः। एवं किं बाहू, किमूरू, किं पादौ उच्येते। प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवा यद् यदा पुरुषं विराड्रूपं व्यदधुः सङ्कल्पेनोत्पादितवन्तः, तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैर्व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किमासीत् ? कौ बाहू

अभूताम् ? कौ ऊरू ? कौ च पादा उच्येते ? प्रथमं सामान्यः प्रश्नः । पश्चान्मुखं किमित्यादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः ।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽर्थोऽत्रैव समाविष्टः ।

दयानन्दीयोऽर्थो वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयभागे १२५३ तमपृष्ठे द्वितीयेऽनुच्छेदे द्रष्टव्यः, तदालोचनमपि तत्रैव विमृश्यम् ॥ १० ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳪ शूद्रो अजायत ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ - इस प्रश्न का उत्तर श्रुति देती है कि ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुखस्थानीय हुआ, क्षत्रिय बाहु से निष्पादित हुआ, वैश्य से ऊरु का आकार बना और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥

ब्राह्मणः अस्य मुखम् आसीत् बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तत् अस्य यत् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रः अजायत ॥ अस्य यज्ञोत्पन्नस्य पुरुषस्य ये केचिद् ब्राह्मणास्ते मुखमासीत् । ये क्षत्रियास्ते बाहू कृताः । ये वैश्यास्ते तस्य ऊरू कृताः । ये शूद्रास्ते पद्भ्यामजायन्तेति कल्प्यन्ते, तदस्योत्पन्नत्वादिति । एवमेतेऽवयवाः शिरःप्रभृतयः पुरुषस्य विद्यन्ते, नान्य इति ।

अथैषां प्रश्नानामुत्तराण्याह - ब्राह्मण इति । ब्राह्मणोऽस्य चतुर्मुखस्य मुखमाननमासीत्, मुखादुत्पन्नो ब्राह्मण इत्यर्थः । ब्राह्मणस्य वक्ष्यमाणसर्वावयवेषूत्तमान्मुखादुत्पन्नत्वोक्त्या तस्यान्यवर्णापेक्षया स्वत एवोत्तमत्वं सूचितम् । मुखव्यापारभूतवेदाध्ययनादिप्रधानत्वं मुखवीर्यत्वं च व्यञ्जितम् । बाहू राजन्यः क्षत्रियः कृत, क्षत्रियो बाहोरजायतेत्यर्थः । बाहुजत्वाद् ब्राह्मणापेक्षया न्यूनत्वं बाहुव्यापारभूतयुद्धादिप्रधानत्वं बाहुवीर्यत्वं च प्रतीयते । वैश्य इति यत् तद् अस्य ऊरू, अस्योरुभ्यां वैश्योऽजायतेत्यर्थः । ऊरुजत्वाद् वैश्यस्य क्षत्रियापेक्षया न्यूनत्वमवगतम् । पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रोऽजायत । शूद्रस्य पज्जातत्वात् सर्ववर्णापेक्षयापि निकृष्टत्वं लब्धम् । पादकार्यभूतगमनागमनादिव्यापारश्च सूचितो भवति ।

इदानीं पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति—ब्राह्मण इति । अस्य प्रजापतेर्ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषो मुखमासीत्, मुखादुत्पन्न इत्यर्थः । योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः, स बाहू कृतः, बाहुत्वेन निष्पादितः, बाहुभ्यामुत्पादितः । तत् तदानीमस्य प्रजापतेर्यद् यौ ऊरू तद्रूपो वैश्यः, ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः । तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषोऽजायत । इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिः कृष्णयजुःसंहितायां सप्तमकाण्डे -'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' (तै० सं० ७।१।१।४) इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता । वाल्मीकीये रामायणेऽपि—'मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा । ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः ॥' (अ० का० १४।३०) । अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतयैव योजनीये ।

अध्यात्मपक्षे - आध्यात्मिकोऽर्थोऽत्रैव गतार्थः ।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२५४ तमपृष्ठीयं तृतीयमनुच्छेदं प्रारभ्य १२५५ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावदवलोकनीयम् ॥ ११ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुआ, कान से वायु और प्राण उत्पन्न हुए तथा मुँह से अग्नि की उत्पत्ति हुई ॥ १२ ॥

चन्द्रमाः मनसः जातः चक्षोः सूर्यः अजायत । श्रोत्रात् वायुः च प्राणः च मुखात् अग्निः अजायत ॥ तस्य एवंविधस्य यज्ञोत्पन्नस्य पुरुषस्य चन्द्रमा मनसश्चेतसो जातः, अजायतेति कल्पना । मन एव चन्द्रमाः । तथा च श्रीमद्भागवते—'मनश्च स चन्द्रमाः सर्वविकारकोशः' (२।१।३४) इति । चक्षोर्नेत्राभ्यां सूर्यः, नेत्रे एव सूर्यः । यः प्राणो जीवः स एव वायुः श्रोत्राद् अजायतेति कल्प्यते, श्रोत्रमेव वायुः । योऽयमग्निः स मुखादजायतेति कल्प्यते, मुखमेवाग्निः, अंशोत्पन्नत्वादिति ।

एवं यज्ञकर्तृणामुत्पत्तिमुक्त्वा यज्ञ्यदेवतोत्पत्तिमाह—अस्य चतुर्मुखस्य मनसश्चन्द्रमाः शीतांशुर्जात उत्पन्नः । चक्षोश्चक्षुषः सूर्यः सर्वार्थप्रकाशकरो भानुरजायत । इन्द्रश्च परमैश्वर्यवान् देवता सार्वभौमः शचीपतिः, अग्निश्च देवानां मुखस्थानीयोऽनलः, अजायतामिति विपरिणतस्यानुषङ्गः । प्राणात् सर्वप्राणनहेतोश्चतुर्मुखरूपधरस्य भगवतः प्राणाद् वायुः सर्वप्राणनहेतुभूतोऽजायत । यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि, गवादयः पशवः, ऋगादयो वेदाः, ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्नाः, एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्नाः । प्रजापतेर्मनसः सकाशाच्चन्द्रमा जातः, चक्षोः सूर्यो (चक्षुषः सूर्योऽपि) अजायत । अस्य मुखादिन्द्रश्च अग्निश्च देवौ उत्पन्नौ । अस्य प्राणाद्वायुरजायत ।

अध्यात्मपक्षे आध्यात्मिकोऽर्थोऽत्रैव गतार्थः ।

दयानन्दीयार्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२५६ तमपृष्ठीयं तृतीयमनुच्छेदं प्रारभ्य १२५७ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् द्रष्टव्यम् ॥ १२ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ२॥ अकल्पयन् ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—नाभि से अन्तरिक्ष की उत्पत्ति हुई, शिर से स्वर्ग और चरणों से भूमि उत्पन्न हुई । इसी तरह से कानों से दिशाओं और भूमि आदि की उत्पत्ति उस विराट् पुरुष ने अपने देह के इन अवयवों से ही की ॥ १३ ॥

नाभ्याः आसीत् अन्तरिक्षम् शीर्ष्णः द्यौः सम् अवर्तत । पद्भ्यां भूमिः दिशः श्रोत्रात् तथा लोकान् अकल्पयन् ॥ तस्यैवंविधस्य पुरुषस्य या नाभिस्तदेव अन्तरिक्षं नभः । या द्यौस्तत् शीर्षं शिरः । समवर्ततेति कल्पितम् । पादौ भूमिरेव । श्रोत्रे श्रवणौ दिशः । श्रोत्रावयवा यस्माद्दिशो ब्रह्मणो जातास्तथैव सर्वान् लोकान् पुरुषस्यावयवभूतान् अकल्पयदिति ।

एतावता प्रबन्धेन उपास्यदेवतामुक्त्वा उपासीनानां भोगस्थानभूतस्यान्तरिक्षादिलोकस्य सृष्टिमाह नाभ्या इति । अन्तरिक्षं सूर्याण्डगोलयोर्मध्यदेशरूपोऽन्तरिक्षलोक आसीत् । शीर्ष्णः शिरसः, द्यौर्द्युलोकः समवर्तत । इदमुपरितनानां सर्वेषां लोकानामुपलक्षणम् । पद्भ्यां चरणाभ्यां भूमिः पृथ्वीमण्डलम् । इदं च सर्वेषामधोलोकाना-

मुपलक्षणम् । श्रोत्रात् कर्णाद् दिश आशाः, इदं च सप्तद्वीपोपलक्षणम् । तथा यथा पूर्वस्मिन् कल्पे आसन् तथा लोकान् अन्तरिक्षादीन् पृथिव्यादींश्च चतुर्दशलोकान् अकल्पयन् अकल्पयत् चकार । बहुवचनं कतिधा व्यकल्पयन्निति प्रश्नानुरूपमत्र विवक्षितम् । यथा चन्द्रादीन् प्रजापतेर्मनःप्रभृतिभ्योऽकल्पयन् , तथाऽन्तरिक्षादीन् लोकान् प्रजापतेर्नाभ्यादिभ्यो देवा अकल्पयन् उत्पादितवन्तः । एतदेव दर्शयति—नाभ्याः प्रजापतेर्नाभेरन्तरिक्षमासीत् । शीर्ष्णः शिरसो द्यौः समवर्तत उत्पन्ना । अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमिरुत्पन्ना । अस्य श्रोत्राद्दिश उत्पन्नाः ।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽप्यर्थोऽत्रैव गतार्थः ।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२५७ तमपृष्ठीयं चतुर्थमनुच्छेदमारभ्य १२५८ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् वर्तते ॥ १३ ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—जब विद्वानों ने इस विराट् पुरुष के देह के अवयवों को ही हवि बना कर इस ज्ञानयज्ञ की रचना की, तब वसन्त ऋतु ने घृत का, ग्रीष्म ऋतु ने समिधा का स्थान संभाला और शरद् ऋतु हविस्थानीय बनी ॥ १४ ॥

यत् पुरुषेण हविषा देवाः यज्ञम् अतन्वत । वसन्तः अस्य आसीत् आज्यम् ग्रीष्मः इध्मः शरत् हविः ॥ कथमन्नेनाधिरोहति ? तदाह—यद् यस्मात् कारणात् पुरुषेण हविषा हविर्भूतेन देवा इन्द्रादयो यथा यज्ञमतन्वत विस्तारितवन्तः, तथा योगिनोऽपि पुरुषेणैवामृतभूतेन दीपितेनात्मना आत्मयज्ञं समधिकृतवन्तः । अत्र यज्ञे वसन्त आज्यमासीत्, ग्रीष्म इध्मः, शरद्धविरिति । इतरयागे वसन्तशब्देन सात्त्विको गुण उच्यते, ग्रीष्मशब्देन राजसः, शरच्छब्देन तामसः । त्रयो हि गुणास्तत्रात्मयज्ञे योगिनो जुह्वतीति ।

स जातश्चतुर्मुखः स्वयं जगत्सृष्टिमजानानो भगवदुपदिष्टमार्गेण भगवन्तमात्मसमर्पणरूपेण मानसयागेन आराध्य तत्प्रसादाल्लब्धविज्ञानो जगत्सृष्टिमकरोदिति वक्तुं भगवदाराधनात्मकं यागमाह—यत् यदा, पुरुषेण चतुर्मुखात्मकेन, हविषा देवास्तदिन्द्रियाणि, यज्ञं मानसं ध्यानरूपमतन्वत, तदेत्यध्याहारः । अस्य यज्ञस्य वसन्त आज्यम्, वसन्तकालस्य आज्यप्रचुरत्वेन अत्राज्यकल्पनम् । ग्रीष्म इध्मः, तदानीं पलाशादीनां बाहुल्योपलम्भात् । शरद् हविः, तत्कालस्य सस्यप्रचुरत्वात् । एवं वसन्तादीनां मानसयज्ञे आज्यादित्वेन ध्यानम् । यद् यदा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु, देवा उत्तरसृष्टिसिद्ध्यर्थं बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरन्तराऽसम्भवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन संकल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा, मानसं यज्ञम्, अतन्वत अन्वतिष्ठन् । तदानीमस्य यज्ञस्य वसन्तो वसन्तर्तुरेव, आज्यम् आसीद् अभूत्, तमेवाज्यत्वेन संकल्पितवन्तः । ग्रीष्मो ग्रीष्मर्तुः, इध्म आसीत्, तमेव इध्मत्वेन भावितवन्तः । तथा शरद्धविः पुरोडाशादिहविष्ट्वेन शरदं भावितवन्तः । पूर्वं पुरुषस्य हविःसामान्यरूपत्वेन संकल्पः, अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन संकल्पः ।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽर्थ उक्तार्थ एव समाविष्टः ।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२६० तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदमारभ्य १२६२ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदं यावद् वर्तते । तत् तत्रैव जिज्ञासुभिरवलोकनीयम् ॥ १४ ॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—जब इस मानस याग का अनुष्ठान देवताओं ने प्रारम्भ किया, तो सर्वप्रथम इस विराट् पुरुष की ही पशु के रूप में भावना की गई । उस समय गायत्री आदि सात छन्दों ने सात परिधियों का स्वरूप स्वीकार किया । बारह मास, पाँच ऋतु, तीन लोक और सूर्यदेव को मिलाकर इक्कीस अथवा गायत्री आदि सात, अतिजगती आदि सात और कृति आदि सात छन्दों को मिलाकर इक्कीस समिधाएँ बनीं ॥ १५ ॥

सप्त अस्य आसन् परिधयः त्रिःसप्त समिधः कृताः । देवाः यत् यज्ञम् तन्वानाः अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ देवा इन्द्रादयः, यथा यज्ञं पुरुषमेधाख्यं विस्तारयन्तः पुरुषं पशुम् अबध्नन् हतवन्तः, अस्य पुरुषमेधयज्ञस्य सप्त समुद्राः परिधय आसन् । भारते हि वर्षे यागः प्रवर्तते । त्रिःसप्त छन्दांसि गायत्र्यादीनि समिधः कृताः । आत्मयागे परिधिशब्देन पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं मनो बुद्धिरित्येते परिधयः कल्प्यन्ते । त्रिःसप्त समिधः पञ्च महाभूतानि पृथिव्यादीनि, पञ्च तन्मात्राणि रूपादीनि, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पाण्यादीनि, मनश्च । एतास्त्रिःसप्त समिधः कल्पयन्ति । तथा देवा दीव्यमाना ज्ञानेन योगिनः समाध्याख्यं यज्ञं तन्वाना विस्तारयन्तः, पुरुषं ज्ञानं पुरुषमेधपशुरूपेणावस्थितमबध्नन् अगृह्णन् ।

अस्य यज्ञस्य परिधयः परितो धीयन्त इति तथोक्ताः, आहवनीयादीनां त्रिषु पार्श्वेषु प्रथममेखलाया उपरि निधीयमानानि मेखलापरिमितायामानि काष्ठानि परिधय उच्यन्ते । सप्त आसन् न त्रय एव । उत्तरवेदि-परिधयस्त्रयः, आहवनीयपरिधयस्त्रयः, सप्तमश्च आदित्यः परिधिरिति सप्त परिधय भवन्ति । यद्यप्यत्र वसन्तादीनामाज्यादित्वमिव न परिधित्वेन कस्यचिद् ध्यानमुक्तम्, तथापि पूर्वसृष्टिषु सप्तसंख्याकानां पदार्थानामेव परिधित्वेन भावनं कर्तव्यम् । ते च महदहङ्कारौ पञ्च तन्मात्राश्च सप्त पदार्थाः परिधित्वेन ध्याताः । अस्य यज्ञस्य त्रिःसप्त त्रिरावृत्ताः सप्तसंख्याः, एकविंशतिसंख्याका इत्यर्थः, समिधोऽग्नेर्दीप्तिसाधनीभूतानि काष्ठानि दशेन्द्रियाणि, मनः, पञ्चतन्मात्राः, पञ्चमहाभूतानि च मिलित्वा एकविंशतिसंख्याकाः समिद्रूपेण भाव्यन्ते । देवा इन्द्रियरूपाः साध्याश्च, यद् यदा, यज्ञं देवता उद्दिश्य द्रव्यत्यागरूपं तन्वानाः पुरुषं चतुर्मुखाख्यं पशुं पशुस्थानीयमबध्नन् हृदयाख्ये यूपेऽध्यवसायरूपया रशनयाऽनन्यगतिं चक्रुः, मूलप्रकृतिरूपे वा यूपे भगवदाज्ञा-रूपया रशनया न्ययुञ्जन् ।

अस्य साङ्कल्पिकस्य यज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि परिधय आसन् । ऐष्टिकस्य आहवनीयस्य त्रयः परिधयः, उत्तरवेदिकास्त्रयः, आदित्यश्च सप्तमः परिधिः परिधिप्रतिनिधिरूपः । अत एवाम्नायते –'न पुरस्तान् प्रतिदधाति, आदित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद्रक्षांस्यपहन्ति' (तै० सं० २।६।६।३) इति । तदेते आदित्यसहिताः सप्त परिधयोऽत्र सप्तच्छन्दोरूपाः । तथा समिधस्त्रिःसप्त त्रिगुणीकृतसप्तसंख्याका एकविंशतिः कृता । 'द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः' (तै० सं० ५।१।१०।३) इति श्रुताः पदार्था एकविंशतिर्दारु-युक्तेध्मत्वेन भाविताः । यद् यः पुरुषो वैराजोऽस्ति, तं पुरुषं देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपा यज्ञं तन्वाना मानसं यज्ञं तन्वानाः कुर्वाणाः, पशुमबध्नन्, विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः । एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र –'यत्पुरुषेण हविषा' इत्युक्तम् ।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽप्यर्थ उक्तार्थ एव समाविष्टः ।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीये खण्डे १२६३ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदमारभ्य १२६५ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् द्रष्टव्यम् ॥ १५ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—सिद्ध संकल्प वाले देवताओं ने विराट् पुरुष के अवयवों की हवि के रूप में कल्पना कर प्रस्तुत मानस यज्ञ में यज्ञपुरुष महानारायण की आराधना की। बाद में ये ही महानारायण की उपासना के प्रथम (मुख्य) उपादान बने। जिस स्वर्ग में पुरातन साध्य देवता रहते हैं, उस दुःख से रहित लोक को ही महानारायण यज्ञपुरुष की उपासना करने वाले भक्तगण प्राप्त करते हैं ॥ १६ ॥

यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्। ते ह नाकम् महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ यथा इन्द्रादयो देवा यज्ञेन ज्योतिष्टोमाख्येन यज्ञपुरुषं वासुदेवं विधिना अयजन्त। यतस्तानि यजनरूपाणि धर्माणि प्रथमान्यासन्, ते ह महाभाग्ययुक्ता नाकं सचन्त स्वर्गं सेवन्ते, यत्र पूर्वे साध्याः प्रथमे सुराः सन्ति विद्यन्ते देवास्तेजसा देदीप्यमानाः। एवं योगिनोऽपि दीपनाद्देवा यज्ञेन समाधिना नारायणाख्यं ज्ञानरूपमयजन्त। यतस्तानि समाधिरूपाणि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते तु नाकं सनकादीनां स्थानं गच्छन्ति। ये तु योगिनो महिमानो जन्मान्तरैर्निर्धूतगुणाः शुद्धास्ते नारायणाख्यं पुरुषमाविशन्ति, मुक्तिं गच्छन्तीत्यर्थः।

यजनीयदेवतोद्देश्यकद्रव्यत्यागरूपेण कर्मणा परमपुरुषोद्देश्यक-प्रणवकरणकात्मसमर्पणरूप-मानसयज्ञेन मुमुक्षूणामात्मसमर्पणस्यैवावश्यकर्तव्ययज्ञरूपत्वात्, 'अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा', 'इदमहं माममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि', 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत' इत्यादिभिरात्मसमर्पणस्य यागरूपता विज्ञायते। यज्ञं यजनीय-देवतारूपं भगवन्तं परमपुरुषम्, 'यज्ञो वै विष्णुः' (श० १।१।२।१३) इति श्रुतेः, अयजन्त भगवन्तमुद्दिश्य आत्मसमर्पणरूपं यज्ञमकुर्वन्। तान्येव धर्माणि स धर्म एव, प्रथमानि प्रधानः, आसन् आसीत्। लिङ्गवचन-व्यत्ययश्छान्दसः। तेषां फलमुच्यते—ते यज्ञानुष्ठातारो नाकं निरतिशयानन्दैकतानं मोक्ष-परमपदाक्षर-पर-धामादिशब्दितं नाकाख्यं वैकुण्ठलोकम्। कं सुखम्, अकं दुःखम्, तन्न विद्यते यत्र तन्नाकमिति व्युत्पत्त्या दुःख-शून्यत्ववाचकस्य नाकशब्दस्य योगरूढ्या तादृशपरमव्योमबोधकत्वात्, 'नाकोऽम्बरे रवौ स्वर्गे परमव्योम्नि च स्मृतः' इति निघण्टुवचनात्। महिमानः परमसाम्यापत्तिरूपमहिमवन्तः, 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' (नारायणोप० ८०) इति श्रुतेः।

अथवा भगवन्महिमभूता भगवद्विभूतिभूताः। परब्रह्मोपसम्पत्त्या निवृत्ताविद्यातिरोधानस्य सुविदितात्म-याथात्म्यस्य परमात्मात्मक-स्वात्मानुसन्धानेन 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) इत्येव ह्यनुभवस्तद्युक्तस्य। अथवा महिमानो भगवन्तमर्चयन्तः, 'मह पूजायाम्' इति धातोस्तद्रूपनिष्पत्तेः। अथवा महिमानः पूज्यमानो-ऽर्चिरादिभिरातिवाहिकैः प्राप्येत्यध्याहार्यम्। सचन्ते समवेता भवन्ति नित्यसूरिपरिषदा सह एकीभवन्ति। हेति प्रसिद्धौ। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१), 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८।१२।३)। कैः समवेता भवन्ति? यत्र ह वैकुण्ठे लोके पूर्वे लोके पुरातनाः, 'यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजा पुराणाः' (वा० सं० १८।५८) इति मन्त्रवर्णात्। सर्वदा भगवन्नित्यसङ्कल्पेनास्खलितज्ञानाः साध्याः प्राप्यभूताः। चेतनस्वरूपस्य तदीयशेषत्वपर्यन्तत्वेन प्राप्यस्यापि तदीयैकपर्यन्तत्वेन नित्यसूरिपरिषदामपि परमप्राप्यत्वात्

ते साध्या उच्यन्ते । यद्वा साध्याः साध्याख्या देवा भगवत्स्तुतिपरायणा अनन्तगरुडविष्वक्सेनप्रभृतयो नित्या दीव्यन्ति क्रीडन्ति भगवत इति देवाः सन्ति समिन्धते । तं नाकं ते महिमानः सचन्तेऽनन्तादिभिः सह भगवदनुभवं कुर्वन्ति, 'तद्विष्णोः परमं पद७ँ सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥' (वा० सं० ६।५) इति मन्त्रवर्णात् ।

पूर्वं प्रपञ्चितमर्थमत्र संक्षिप्य दर्शयति -देवाः प्रजापतिप्राणरूपा यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सङ्कल्पेन । यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिमयजन्त पूजितवन्तः । तस्मात् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यान्यासन् । एतावता सृष्टिप्रतिपादकसूक्तभागार्थः संगृहीतः । अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते—यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके साध्याः पुरातना विराडुपास्तिसाधका देवाः सन्ति तिष्ठन्ति, तन्नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानस्तदुपासका महात्मानः सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति ।

अध्यात्मपक्षे आध्यात्मिकोऽप्यर्थोऽत्रैव ज्ञातव्यः ।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीये खण्डे १२६६ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदमारभ्य १२६७ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते ॥ १६ ॥

अ॒द्भ्यः सम्भृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्मणः॒ सम॑वर्त॒ताग्रे॑ ।
तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य दे॒वत्वमा॒जान॒मग्रे॑ ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ– उस महानारायण की उपासना के ओर भी प्रकार हैं—पृथिवी और जल के रस से, अर्थात् पाँच महाभूतों के रस से पुष्ट, सारे विश्व का निर्माण करने वाले, उस विराट् स्वरूप से भी पहले जिसकी स्थिति थी, उस रस के रूप को धारण करने वाला वह महानारायण पुरुष पहले आदित्य के रूप में उदित होता है । प्रथम मनुष्यरूप उस पुरुषमेधयाजी का यह आदित्य रूप में अवतरित ब्रह्म ही मुख्य आराध्य देवता बनता है ॥ १७ ॥

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसात् च विश्वकर्मणः समवर्तत अग्रे । तस्य त्वष्टा विदधत् रूपम् एति तत् मर्त्यस्य देवत्वम् आजानम् अग्रे ॥ त्वष्टा प्रजापतिर्ब्रह्मा यद्रूपमेकांशभूतं विदधत् कृतवान्, तदेव मर्त्यस्य मर्त्ये भूलोके देवत्वं प्रभुत्वम् आजानम् आप्तमित्यर्थः । किम्भूतोऽसौ ? अद्भ्यः सकाशात् सम्भृतः पिण्डीभूतः पृथिव्या रसाच्च । विश्वकर्मणोऽग्रे प्रथमतः समवर्तत संयोगरूपेण कृतः । तस्यैव नान्यस्य तदेव कारणान्मर्त्ये प्राप्तवान् स तु पालनीयदानवादिविनाशनायेति ।

'अद्भ्यः सम्भृतः' इति षट्कण्डिका उत्तरनारायणशब्देनोच्यन्ते । तथा च सर्वानुक्रमः—'अद्भ्यः षड्च उत्तरनारायणो मन्त्र आद्यास्तिस्रस्त्रिष्टुभो द्वे अनुष्टुभौ अन्त्या त्रिष्टुप्' इति । आदित्यदेवत्याः । पूर्वकल्पे पुरुषमेधयाजी आदित्यरूपं प्राप्तः स्तूयते । अद्भ्यो जलात् पृथिव्याः सकाशाच्च । पृथिव्यपां ग्रहणं भूतपञ्चकोपलक्षकम् । भूतपञ्चकाद् यो रसः सम्भृतः पुष्टः, तथा विश्वकर्मणो विश्वं कर्म यस्यासौ विश्वकर्मा कालः, तस्य । रसात् प्रीतेर्यो रसोऽग्रे प्रथमं समवर्तत समभवत् । भूतपञ्चकस्य कालस्य च सर्वं प्रति कारणत्वात् पुरुषमेधयाजिनो लिङ्गशरीरे कालः पञ्चभूतानि च तुष्टानि । ततस्तुष्टेभ्यः कश्चिद् रसविशेषफलरूप उत्तमजन्मप्रद उत्पन्न इत्यर्थः । तस्य रसस्य रूपं विदधद् धारयन् त्वष्टा आदित्य एति प्रत्यहमुदयं करोति । अग्रे प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतस्तस्य पुरुषमेधयाजिन आजानदेवत्वं मुख्यं देवत्वं सूर्यरूपेण द्योतते । द्विविधाः खलु देवाः—कर्म-

देवाः, आजानदेवाश्च। कर्मणा उत्कृष्टेन देवत्वं प्राप्ताः कर्मदेवाः। सृष्ट्यादावुत्पन्नाः आजानदेवाः। ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः, 'अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दः' (श० १४।७।१।३५) इति श्रुतेः। सूर्यादय आजानदेवाः।

अध्यात्मपक्षे—अद्भ्यः कर्मसमवायिन्य आपः संस्काररूपास्ताभ्यः। तथा पृथिव्यै पृथिवीशब्देन सूक्ष्माणि स्थूलानि च पञ्चमहाभूतान्युच्यन्ते, तेभ्यः, विभक्तेर्विपरिणामः, तेषां रसाच्च सम्भृतः पिण्डीभूतो रसो विश्वकर्मणो विश्वनिर्मातुः प्रजापतेः सर्वकर्मणामग्रे समवर्तत। अन्तःकरणे संस्कार-वासनादिरूपेण दृढं निहितानां कर्मणां परिपाके फलरूपेणोपनतानां भोगाय प्रथमं जागरितवदिति ध्वनिः। तस्य भोगस्य रूपं विदधद् भोगं साकारं कुर्वन्, भोगं प्रयच्छन्निति यावत्, त्वेषतीति त्वष्टा, त्विषेः तृनि 'त्विषेर्देवतायामकारश्चोपधायाः' (पा० सू० ३।२।१३५, वा० ४) इति वार्त्तिकेन रूपसिद्धिः। आदित्य एति प्रत्यहमुदयं करोति। अग्रे प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतस्तस्य पुरुषमेधयाजिन आजानं देवत्वम्, सूर्यरूपेण मुख्यं देवत्वमित्यर्थः।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२७१ तमपृष्ठीयं चतुर्थमनुच्छेदमारभ्य १२७३ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते ॥ १७ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—मैं इस आदित्यस्वरूप अविद्या के लवलेश से भी रहित ज्ञानस्वरूप परम पुरुष उस महानारायण को जानता हूँ। कोई भी प्राणी उस महानारायण पुरुष को जान लेने के उपरान्त ही मृत्यु का अतिक्रमण कर अमृतत्व को प्राप्त करता है। अमृतत्व की प्राप्ति का इससे भिन्न कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥ १८ ॥

वेद अहम् एतम् पुरुषम् महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तम् एव विदित्वा अतिमृत्युम् एति न अन्यः पन्थाः विद्यते अयनाय ॥ ऋषेः प्रतिवचनम्। अहमेतं पुरुषं वेद। महान्तं देशकालाद्यवच्छेदरहितम्। आदित्यवर्णं स्वप्रकाशम्। तमसः परस्ताद् अविद्याया भेददर्शनम्। तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति अतिक्रम्य मृत्युं तं पुरुषमनुप्रविशति। न अन्यः पन्था मार्गस्तस्य अयनाय गमनाय विद्यते।

एतं महान्तं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं सूर्यमण्डलस्थमहं वेद जानामीति ऋषेर्वचनम्। कीदृशम्? आदित्यवर्णम्, आदित्यस्य वर्ण इव वर्णो यस्य स आदित्यवर्णस्तम्, उपमान्तराभावात् स्वोपमम्। तथा तमसः परस्ताद् दूरतरम्, तमोरहितमित्यर्थः। तमःशब्देन अविद्योच्यते। तमेवादित्यं विदित्वा ज्ञात्वा मृत्युमत्येति अतिक्राम्यति परं ब्रह्म गच्छति। अयनाय आश्रयाय अन्यः पन्था मार्गो न विद्यते। सूर्यमण्डलान्तःपुरुषमात्मरूपं ज्ञात्वैव मुक्तिः।

अध्यात्मपक्षे—एतं स्वशरीरान्तर्वर्तिनमित्यङ्गुल्या निर्देशः। महान्तमवेद्यत्वे सत्यपरोक्षम्। पुरुषं शरीरशायिनमहं सर्वसाक्षित्वेन वेद इति ज्ञानिनः साधकस्यर्षेर्वचनम्। आदित्यवर्णं निरपेक्षप्रकाशम्। तमसः परस्ताद् अविद्यातत्कार्यादिसर्वोपाधिशून्यम्। तमेव एतमेव प्रत्यक्चैतन्यं परब्रह्माभिन्नतया विदित्वा ज्ञात्वा मृत्युं जननमरणाविच्छेदलक्षणम्, अत्येति अतिक्रम्य स्वस्वरूपेऽवतिष्ठते। अयनाय जननमरणप्रवाहविच्छेदाय मोक्षाय, अन्यः पन्था मार्गो न विद्यते।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२७४ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदमारभ्य १२७६ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते ॥ १८ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वात्मा प्रजापति अन्तर्यामी रूप से गर्भ के मध्य में प्रकट होता है। जन्म न लेता हुआ भी वह देवता, तिर्यक्, मनुष्य आदि योनियों में नाना रूपों में प्रकट होता है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मा के उत्पत्ति स्थान उस महानारायण पुरुष को सब ओर से देखते हैं, जिसमें कि यह सारा ब्रह्माण्ड स्थित है ॥ १९ ॥

प्रजापतिः चरति गर्भे अन्तः अजायमानः बहुधा विजायते। तस्य योनिम् परिपश्यन्ति धीराः तस्मिन् ह तस्थुः भुवनानि विश्वा ॥ स एव पुरुष एकांशभूतः प्रजापतिरस्य गर्भस्य अन्तरजायमानश्चरति चतुर्विधेषु भूतेषु। स एव जायमानो बहुधा अनेकप्रकारं विजायते। ये धीरा योगिनस्ते तस्य योनिं परिपश्यन्ति सर्वत्यागेन परिहरन्ति। विश्वे त्रैलोक्ये भुवनानि तस्मिन् आतस्थुः।

यः सर्वात्मा प्रजापतिः, अन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति, जीवरूपेण अन्तर्यामिरूपेण च। यश्च अजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्यः सन् बहुधा कार्यकारणरूपेण विजायते मायया प्रपञ्चरूपेण उत्पद्यते। धीरा ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेर्योनिं स्थानं स्वरूपं परिपश्यन्ति, अहं ब्रह्मास्मीति जानन्ति। विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव कारणात्मनि ब्रह्मणि तस्थुः स्थितानि। सर्वं तदात्मकमेवेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽप्यर्थोऽत्रैव गतार्थः।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीये खण्डे १२७६ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदं प्रारभ्य १२७७ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते ॥ १९ ॥

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः ।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—जो परम पुरुष महानारायण सूर्य, चन्द्रमा आदि देवताओं को शक्ति प्रदान करने के लिये अपने प्रकाश से उनको आलोकित करता है, जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं का बहुत पूर्व काल से हित करता आया है, इन सबका पूज्य है, जो इन सब देवताओं से पहले प्रादुर्भूत हुआ है, उस ब्रह्मज्योतिस्वरूप परम पुरुष को हम प्रणाम करते हैं ॥ २० ॥

यः देवेभ्यः आतपति यः देवानाम् पुरः हितः। पूर्वः यः देवेभ्यः जातः नमः रुचाय ब्राह्मये ॥ अग्रे यो देवेभ्यः। योगिनस्तं नमन्ति ध्यायन्ति। यो देवेभ्यः सर्वेभ्य आतपति अतिशयेन तेजसा तपति, आदित्यरूपेणेत्यर्थः। यश्च देवानां पुरोऽग्रे इन्द्रत्वेन स्थितः, यश्च पूर्वोऽग्रे ब्रह्मरूपेण देवेभ्यो जातः, तस्मै रुचाय तेजसे ब्राह्मये ब्रह्मपुरुषापत्याय नमः।

यः प्रजापतिः, आदित्यरूपो देवेभ्योऽर्थाय आतपति द्योतते, आदित्योदयस्य दैव्यकर्मयज्ञयागादिप्रवृत्तिहेतुत्वात्, रात्रावसुराणां प्राधान्यं दिने देवानां प्राधान्यमिति श्रवणात्। यश्च देवानामग्नीन्द्रादिपुरोगमानां पुरोहितः सर्वकार्येषु पुरोऽग्रे हितः स्थितः, नीत इत्यर्थः। आदित्यस्य देवानामिन्द्ररूपेण पुरोहितत्वं ब्रह्मरूपेण पूर्वजातत्वं च। यद्वादित्यस्य विष्णुप्रधानत्वेन विष्णोश्चेन्द्रादीनां सर्वकार्येष्वग्रेहितत्वमिति पुराणादिषु स्फुटमेव, देवानां कार्यार्थमेव रामकृष्णवामनादिरूपेण विष्णोरवतारप्रसिद्धेः। यश्चादित्यरूपेण देवेभ्यः सकाशात् पूर्वं जातः प्रथममुत्पन्नः, तस्मै आदित्याय परमात्मपुरुषाय नमः प्रह्वीभावोऽस्तु, स्वात्मसमर्पणमस्त्विति यावत्। कीदृशाय ? रुचाय रोचतेऽसौ रुचः, तस्मै दीप्यमानाय, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययेन रूपसिद्धिः। पुनः कीदृशाय ? ब्राह्मये ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्यापत्यं पुमान् ब्राह्मिः, तस्मै। संस्काररूपास्वप्सु कारणभूतासु हिरण्यगर्भतेजोनिक्षेपेण ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डाच्चादित्यस्याविर्भावश्रवणात्।

अध्यात्मपक्षे—व्याख्यानोक्तदेवाय आत्मरूपेण परिभाविताय सर्वप्राणिहृत्सरोजे स्थिताय भूयो भूयो नमोऽस्तु।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२७९ तमपृष्ठीयद्वितीयतृतीययोरनुच्छेदयोर्विद्यते ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं ने शोभन ब्रह्मज्योतीरूप आदित्य देव को प्रकट करते हुए सर्वप्रथम यह कहा कि हे आदित्य ! जो ब्राह्मण आपके इस अजर-अमर स्वरूप को जानता है, हम सब देवता उस उपासक के वश में रहते हैं ॥ २१ ॥

रुचं ब्राह्मम् जनयन्तः देवाः अग्रे तत् अब्रुवन्। यः त्वा एवं ब्राह्मणः विद्यात् तस्य देवाः असन् वशे ॥ रुचं देदीप्यमानं ब्राह्मं ब्रह्मण उत्पन्नं जनयन्तः सृष्ट्यर्थं देवा योगिनस्तेजसा दीप्यमाना यद् अब्रुवन् यद् ब्रूयुः, अग्रे प्रथमतः। किमूचुः ? अपरोऽपि यो ब्राह्मणो ब्रह्म विद्याद् विजानीयात् तस्य देवा असन् वशे, सोऽपि सनकादीनां स्थानं गच्छतीत्यर्थः।

देवा दीप्यमानाः प्राणा रुचं शोभनं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमादित्यं जनयन्त उत्पादयन्तः, अग्रे प्रथमं तद् वचोऽब्रुवन् ऊचुः। 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० सू० ६।४।१७१) इति निपातनाद् ब्राह्मं सिद्धम्। तत् किमत आह—हे आदित्य, यो ब्राह्मणस्त्वामेवमुक्तविधिनोत्पन्नं विद्याद् जानीयात्, तस्य ब्राह्मणस्य देवा वशे असन्, अर्थात् सर्वे इन्द्रादयो देवा इन्द्रियाणि च वश्या भवन्ति। आदित्योपासको देवानामपि वश्यतामापादयतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽप्यर्थोऽत्रैवार्थे निहितः।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीये खण्डे १२८० तमे पृष्ठे द्वितीयेऽनुच्छेदे विद्यते ॥ २१ ॥

श्रीश्च॑ ते ल॒क्ष्मीश्च॒ पत्न्या॑वहोरा॒त्रे पा॒र्श्वे नक्ष॑त्राणि रू॒पम॒श्विनौ॒ व्यात्त॑म्। इ॒ष्णन्नि॑षाणा॒मुं म॑ इषाण सर्वलो॒कं म॑ इषाण ॥ २२ ॥

॥ इत्येकत्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ– हे महानारायण परम पुरुष ! श्री और लक्ष्मी आपकी पत्नियाँ हैं, ब्रह्मा के दिन-रात पार्श्व-स्वरूप हैं, आकाश में स्थित नक्षत्र आपके स्वरूपभूत हैं। द्यावापृथिवी विकसित मुख है। स्वयं चाहते हुए आप सदा मेरे कल्याण की इच्छा करें। मुझे आप अपना कल्याणमय लोक प्राप्त करावें। सारे योगैश्वर्य मुझे प्रदान करें॥ २२ ॥

श्रीः च ते लक्ष्मीः च पत्न्यौ अहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपम् अश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन् इषाण अमुम् मे इषाण सर्वलोकम् मे इषाण ॥ अस्य पुरुषस्यैतेऽवयवाः। श्रीश्च लक्ष्मीश्च पत्न्यौ भार्ये। अहश्च रात्रिश्च ते पार्श्वे। नक्षत्राणि रूपम्। अश्विनौ व्यात्तं मुखम्। इष्णन् इषाण स्वर्गस्य लोकस्य ईशानः। एतद्गुणविशिष्टो नाम मोक्षस्य ईशानः, सर्वलोकस्य च स एव देवानामीशान इति।

इति शौनकप्रणीतं पुरुषसूक्तभाष्यं समाप्तम्।

हे आदित्य ! आदित्यान्तःपुरुष परमेश्वर विष्णो ! 'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः। केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥' इति भविष्यपुराणीयादित्यहृदये वर्णित ! श्रीश्च लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ भार्ये त्वद्वश्ये। यया जनः सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः। श्रीयते यया सा श्रीः सम्पदित्यर्थः। यया लक्ष्यते दृश्यते जनैः सा लक्ष्मीः सौन्दर्यमित्यर्थः। अत्र तत्तदधिष्ठात्र्यौ देव्यौ विष्णोः पत्न्यौ प्रसिद्धे स्तः। यद्वा सर्वनैरपेक्ष्येण श्रयते हरिं या सा श्रीः क्षीरसमुद्रमन्थनादाविर्भूता भगवती श्रीः। सर्वानभिलाषिणोऽपि देवान् दैत्यान् ऋषींश्चोपेक्ष्य निरपेक्षमपि हरिमेव वव्रे, तेन सा श्रयणाच्छ्रीरुच्यते। तदाश्रयणादेव श्रीयते सर्वैर्गुणैः सौन्दर्यमाधुर्यादिभिः या सा श्रीः। यद्वा श्रीयते श्रीहरिणापि या सा श्रीः, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (भ० गी० ४।११) इति भगवद्वचनात्। लक्ष्यते दृश्यते सर्वैर्या सा लक्ष्मीः शोभा। अथवा लष्यतेऽभिलष्यते सर्वैर्या सा लक्ष्मीः। यद्वा लष्यते हरिणापि या सा लक्ष्मीः। श्रीर्लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ भार्ये। निराकारस्य भगवतो द्वे भार्ये भार्यावद्वश्ये। अहोरात्रे तवादित्यरूपस्य पार्श्वे पार्श्वस्थानीये। नक्षत्राणि गगनस्थास्तारास्तव रूपम्, तवैव तेजसा भासमानत्वात्, 'तेजसो गोलकः सूर्यो नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः' इति ज्यौतिषशास्त्राच्च। अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तव व्यात्तं विकसितं मुखं विकसितमुखस्थानीयौ। अश्नुवाते व्याप्नुतस्तावश्विनौ द्यावापृथिव्यौ, 'इमे[1] हीद७ सर्वमश्नुवाताम्' इति श्रुतेः। एवं कर्मफलमिष्णन् इच्छन् सन् महामहिमवैभवं भगवन्तं त्वामहं याचे। इषाण इच्छ। किमेषणीयं तत्राह— अमुं मे मम परलोकः समीचीनोऽस्त्वित्यमुं भावमिच्छ। ननु त्वयैवेष्यतां किं मदीयेच्छयेति चेन्न, तव परमेश्वरस्यामोघेच्छत्वात्। मम तु जीवत्वान्मोघेच्छत्वमपि सम्भवति। अतो याचेऽस्य परलोकः समीचीनोऽस्त्विति त्वमेवेच्छ। सर्वलोकं मे मम इषाण सर्वलोकात्मकोऽहं भवेयमितीच्छ, मुक्तो भवेयमित्यभिप्रायः, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इति श्रुतेः। 'कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' (भ० गी० ९।३१) इति भगवानर्जुनं भक्तं प्रेरयति— हे कौन्तेय ! त्वमेतत्प्रतिजानीहि मम वासुदेवस्य भक्तो न प्रणश्यति, इत्येतां प्रतिज्ञां

१. अनुपलब्धमूलेयं श्रुतिः।

कुरु। ननु त्वयैव शक्तिमता प्रतिज्ञायतामिति चेन्न, तव भक्तस्यामोघप्रतिज्ञत्वात् त्वं प्रतिज्ञां कुरु। मम तु प्रतिज्ञा भीष्मस्य भक्तस्य समक्षे भज्यते। तेन त्वमेव प्रतिजानीहि येन न कदाचिदप्यनाश्वासाशङ्का स्यात्। यथा भक्तप्रतिज्ञाऽमोघा भवति, तथैव भगवत इच्छा सर्वथैवामोघा भवति।

अध्यात्मपक्षे—सर्वलोकावयवस्य भगवतोऽमोघयेच्छया भक्तोऽपि सर्वलोकमयत्वं स्वात्मनोऽश्नुते, ब्रह्मरूपो भवतीत्यर्थः।

दयानन्दीयोऽर्थस्तदालोचनं च वेदार्थपारिजात(भूमिकाभाग)स्य द्वितीयखण्डे १२८१ तमपृष्ठीयं द्वितीयमनुच्छेदं प्रारभ्य १२८२ तमपृष्ठीयं प्रथममनुच्छेदं यावद् विद्यते ॥ २२ ॥

इति शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायाम्
एकत्रिंशोऽध्यायः ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ चन्द्रमाः ।

तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ता आपः॒ स प्रजाप॑तिः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—वह ब्रह्म ही अग्नि है। वही सूर्य और वही वायु भी है। चन्द्रमा भी वही है। वही सारे संसार का बीज (कारण) है। जल और प्रजापति भी उस ब्रह्म के ही स्वरूप हैं ॥ १ ॥

ब्रह्मजत्वादिदं सर्वं ब्रह्मैवेति सुनिश्चितम् ।
ब्रह्माधीनस्थितिलयं सर्वं ब्रह्मेति सूच्यते ॥

अतीतेऽध्याये पुरुषमेधमन्त्रा उक्ताः। अथात्र सर्वमेधमन्त्रा उच्यन्ते। 'प्रवायुमच्छा बृहती' (३३।५५) इति मन्त्रात् प्राक् सर्वमेधमन्त्राः स्वयम्भूब्रह्मदृष्टा आत्मदेवत्याः सप्तमेऽहन्यप्तोर्यामसंज्ञके सर्वहोमे विनियुक्ताः। तथा चानुक्रान्तम्—'तदेवं सर्वमेधोऽध्याय आत्मदैवतः सप्तमेऽहनि सर्वहोमे विनियुक्तः' (सर्वा० ३।१५) इति। तथा च श्रुतिः—'अप्तोर्यामः सप्तममहर्भवति' (श० १३।७।१।९) इत्युपक्रम्य 'सर्वं जुहोति सर्वस्मै जुहोति सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्धचै' (श० १३।७।१।९) इति। द्वे अनुष्टुभौ। विज्ञानात्मा परेणात्मना विशिष्टोऽग्न्यादिष्वोतप्रोतत्वेनोपास्योऽभिधीयते। अग्निस्तदेव, वेदान्तेषु ब्रह्मविद्वरिष्ठगोष्ठीषु प्रसिद्धं कारणं ब्रह्मैवाग्निः। तदेव चादित्यः सूर्यः। तदेव च वायुः। चन्द्रमाश्च तदेव। उ एवार्थकः। शुक्रं शुक्लं तत् प्रसिद्धं ब्रह्म ब्रह्माधिगमहेतुभूतं त्रयीलक्षणं ब्रह्म तदेव। ताः प्रसिद्धा आपो जलानि, स प्रसिद्धः प्रजापतिरपि तदेव ब्रह्म।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽप्ययमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तच्चन्द्रमास्तदेव शुक्रं च तद् ब्रह्म स उ प्रजापतिरस्त्येवं यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ज्ञानस्वरूपत्वात् स्वप्रकाशितत्वाच्च सोऽग्निरत्यनुपपत्तेः। न वा प्रलये सर्वस्यादातृत्वात् परमेश्वरस्य आदित्यत्वमिति युक्तम्, तथात्वे गौणप्रयोगापत्तेः, देवदत्तस्य शौर्यक्रौर्यादिभिः सिंहपदप्रयोगवत्। तथात्वे च मुख्यं सामानाधिकरण्यं नोपपद्यते, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति समानविभक्तिकत्वे सत्येकार्थनिष्ठत्वस्यैव सामानाधिकरण्यप्रयोजकत्वात्। अनन्तबलवत्त्व-सर्वधर्तृत्वादिना वायुत्वम्, आनन्दस्वरूपत्वाद् आह्लादकत्वाच्च चन्द्रत्वम्, सर्वेभ्यो महत्त्वाच्च ब्रह्मत्वम्, सर्वत्र व्यापकत्वादप्त्वम्, सर्वप्रजायाः स्वामित्वात् प्रजापतित्वमित्यादिकमपि यत्किञ्चित्, तथात्वे केनचिद् गुणेनाग्न्यादिप्रयोगसम्भवेन साधारण्यापातात्। सिद्धान्ते तु—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इतिवद् बाधसामानाधिकरण्येन सर्पो रज्जुरितिवत्, मृद् घट इतिवच्च कार्यकारणभावाच्च 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) इति न्यायेन तदनन्यत्वेन तच्छब्दप्रयोगः ॥ १ ॥

सर्वे॑ निमे॒षा ज॑ज्ञिरे वि॒द्युतः॒ पुरु॑षा॒दधि॑ ।

नैन॑मू॒र्ध्वं न ति॒र्यञ्चं॒ न मध्ये॒ परि॑जग्रभत् ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ विशेष रूप से द्योतमान महानारायण पुरुष से ही निमेष आदि काल के विविध रूप प्रकट होते हैं। कोई भी प्राणी इसके ऊपरी भाग को, तिर्यक् भागों (चारों दिशाओं) को और मध्य को भी ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि वह प्रत्यक्ष आदि का विषय नहीं है ।। २ ।।

सर्वे निमेषाः कालविशेषास्त्रुटिकाष्ठाघट्यादयः पुरुषाद् बृहत्तमरूपात् सकाशाज्जज्ञिरे उत्पन्नाः। कथम्भूतात् पुरुषात् ? विद्युतः, विशेषेण द्योतते प्रकाशते स्वात्मतयेति विद्युत्, तस्मात् प्रत्यक्चैतन्याभिन्नप्रकाशात्। किञ्च, एनं पूर्वोक्तं पुरुषम्, ऊर्ध्वमुपरिभागे कश्चिदपि न परिजग्रभन्न परिगृह्णाति। एनं तिर्यञ्चं चतुर्दिक्षु न परिगृह्णाति। मध्ये मध्यदेशेऽपि नैनं कश्चित् परिगृह्णाति, प्रत्यक्षादीनामविषयत्वात्, 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ० ३।९।२६) इति श्रुतेः। यो हि प्रत्यक्षादीनां विषयस्तस्य ऊर्ध्वाधस्तिर्यङ्मध्यादिसम्भवः, तस्यैव च ग्रहणं सम्भवति, नापरिच्छिन्नस्य सत्यज्ञानानन्दलक्षणस्य ब्रह्मणः।

अध्यात्मपक्षे—उक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यस्माद्विद्युतः पुरुषात् सर्वे निमेषा अधिजज्ञिरे तमेनं कोऽपि नोर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्, तं यूयं सेवध्वम्' इति, तदपि न, आकाशादिषु व्यभिचारात्। नेत्रोन्मीलनादयः कलाकाष्ठादिकालावयवास्तु नेत्रादिभ्यो जायमानाः स्पष्टमुपलभ्यन्ते, कथं तेषामीश्वरहेतुकत्वं सम्भवति ? सिद्धान्ते तु नेत्रादीनामपि सूर्यदैवतत्वात् तत्रापि तत्कारणकत्वं न विरुध्यते, सोपाधिकाद् आदित्यात् परमेश्वरात् तेषामुत्पत्तिसम्भवात् ॥ २ ॥

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिꣳसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—उस महानारायण पुरुष का कोई उपमान नहीं है, अर्थात् उसकी बराबरी करने वाला कोई नहीं है। उसका नाम महान् यश को देने वाला है, इसमें वेद ही प्रमाण है। जैसे कि 'हिरण्यगर्भः' (२५।१०), 'मा मा हिꣳसीत्' (१२।१०२), 'यस्मान्न जातः' (८।३६) इत्यादि श्रुतियाँ इसके महान् यश को वर्णित करती हैं ॥ ३ ॥

द्विपदा गायत्री। अपरिच्छेदमेवाह—न तस्येति। तस्य विज्ञानात्माभिन्नस्य परमात्मनः प्रतिमा प्रतिमानमुपमानं न किञ्चिदप्यस्ति, सर्वस्य परिच्छिन्नत्वात् तस्य चापरिच्छिन्नत्वात्, सर्वस्य दृश्यत्वात् तस्य च दृक्त्वात्। अत एव यस्य नाम प्रसिद्धं महत् सर्वातिशायि यशः कीर्तिः। हिरण्यगर्भ इत्येषोऽनुवाकश्चतुर्ऋचः—(१) हिरण्यगर्भः (२५।१०), (२) यः प्राणतः (२५।११), (३) यस्येमे हिमवन्तः (२५।१२), (४) य आत्मदा (२५।१३); मा मा हिꣳसीत् (१२।१०२) इत्येका एषा ऋक्, यस्मान्न जात इत्येषोऽनुवाकः। एष चानुवाको द्विकण्डिकः—(१) यस्मान्न जातः (८।३६), (२) इन्द्रश्च सम्राट्। एताः प्रतीकचोदिताः पूर्वपठितत्वादादिमात्रेणोक्ता ब्रह्मयज्ञे जपे च सर्वा अध्येयाः। एवं सर्वत्र।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणः सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यत्वाद् अद्वितीयत्वादनुपमत्वान्निरतिशयैश्वर्यत्वान्निरस्तसाम्यातिशयत्वाच्च तस्योपमानं किञ्चिदपि क्वापि न सम्भवतीति तत एव यस्य महदनन्तं यशः कीर्तिवैभवः।

दयानन्दस्तु—'तस्य परमेश्वरस्य प्रतिमा प्रतिमीयते यया तत्प्रतिमापकं सदृशं तोलनसाधनं प्रतिकृतिराकृतिर्वा नास्ति। यस्य नाम स्मरणं महत् पूज्यं यशः कीर्तिकरं धर्म्यकर्माचरणं हिरण्यगर्भसूर्यविद्युदादिपदाधि-

करण एवान्तर्यामितया प्रत्यक्षो मा मां हिंसीत यस्मान्न जात उत्पन्न एषः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रतिमाशब्दस्य प्रतिकृत्यर्थताया अनुपदं निराकरणात् । न चान्तर्यामितया परमेश्वरः प्रत्यक्षः, तथात्वे तद्विषये विवादानुपपत्तेः । वस्तुतस्तु हिरण्यगर्भ इत्यादीनि पदानि मन्त्रप्रतीकरूपाण्येव । न चात्र प्रतिमानिषेधः सम्भवति, पूर्वाध्यायेऽन्त्यायां कण्डिकायां 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' (३१।२२) इति गदितम् । कथङ्कारं निराकारस्य पत्नीद्वयम् ? स एव आदित्यादिरूपेण पूज्यते । सर्वे निमेषा यतो जायन्ते, अभिन्ननिमित्तोपादानत्वाद् यस्यैव सर्वभवनम्, न तस्य प्रतिमाऽस्तीति कथं तस्य मूर्तिनिषेधः सम्भवति ? तस्मात् प्रतिमाननिषेधपर एव मन्त्रः । अत्रैव हिरण्यगर्भ इति प्रतीक उक्तः । तस्य च हिरण्यगर्भत्वं ज्योतिर्मयत्वं च मूर्तिमत्त्वमेव । तस्यैव च हविषा विधेमेति पूजनं ज्ञायते । 'उत्तानं प्राञ्च७ँ हिरण्यपुरुषं तस्मिन् हिरण्यगर्भ इति' (का० श्रौ० १७।४।३) इति भगवता परमर्षिणा कात्यायनेन हिरण्यगर्भ इति मन्त्रेण मूर्तिस्थापनादिकमुक्तम् ।

मा मा हि७ँसीदित्येतदपि मन्त्रान्तरस्य प्रतीकरूपम् । तस्यायमर्थः—यः सत्यधर्मा भगवान् पृथिव्या दिवश्च जनयिता, यश्च जगदाह्लादजनयित्रीरपः सृजति, यश्च प्रथमः सृष्टेभ्यः पूर्वमेव जजान अभिव्यक्तः, स मां मा हिंसीत् । यस्येति प्रतीकसूचिताभ्यां मन्त्राभ्यां मूर्तिमतः पूजनं स्पष्टं विज्ञायते, तेन मन्त्रेण मूर्तिनिषेधकल्पनं विप्रतिषिद्धमेव । तत्रैव 'यस्मान्न जातः' इति तृतीयः प्रतीकोऽपि । स चायं मन्त्रः—'यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतीषि सचते स षोडशी ॥' (वा० सं० ८।३६) । एतदर्थस्तु—यस्मादन्यः परो नास्ति, यो भुवनानि प्रविष्टोऽन्तर्यामी स षोडशी प्रजया रममाणः प्रीयमाणः, तत्पालनार्थमग्निवायुसूर्याख्यानि त्रीणि ज्योतीषि सचते । स्पष्टमत्रापि भगवतो ज्योतिष्मत्त्वं ज्ञायते । किञ्च, नात्र प्रतिमाशब्दो मूर्तिपरः, अनुपयोगात् । लोके वेदे वा स एवार्थो युक्तो यश्च स्वरूपतो भावतो वा वाच्यार्थतयोपयुज्यते । यश्च वाक्यार्थे नोपयुज्यते, स कृतोऽप्यर्थो व्यर्थो भवति । यथा पाकोपक्रमे सैन्धवशब्दो नाश्वपरः सम्भवति । अत्र तु यस्य भगवतो महद्यशो नामास्ति, तस्य प्रतिमा प्रतिकृतिर्नास्तीति तथा नोपयुज्यते । नहि मूर्त्यभावो यशोमहत्त्वे कारणत्वमापद्यते । महायशस्विनां महोदयानां मूर्त्यभावो केनानुभूयते ? प्रत्युतानुभूयन्ते यशस्विनां सहस्रशः प्रतिकृतयः । तस्मान्न प्रतिमाशब्दो मूर्तिपरः, किन्तूपमानपर एवेत्यलमनल्पजल्पनेन ॥ ३ ॥

ए॒षो ह॑ दे॒वः प्र॒दिशोऽनु॒ सर्वाः॒ पूर्वो॑ ह जा॒तः स उ॒ गर्भे॑ अ॒न्तः ।
स ए॒व जा॒तः स ज॑नि॒ष्यमा॑णः प्र॒त्यङ् जना॑स्तिष्ठति स॒र्वतो॑मुखः ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—यही पुरुष सब दिशाओं में व्याप्त होकर स्थित है । हे भक्तजनों ! शास्त्रों में यह प्रसिद्ध है कि भगवान् नारायण ही सबसे पहले प्रकट हुए, अर्थात् ब्रह्मभाव से महानारायण ने पुरुषभाव को प्राप्त किया । ब्रह्माण्डरूप गर्भ के मध्य में ये ही स्थित रहते हैं । जो कुछ अब तक उत्पन्न हुआ है, अथवा आगे उत्पन्न होगा, वह सब इनका ही स्वरूप है । ये नारायण सर्वव्यापी और सब ओर मुख वाले हैं ॥ ४ ॥

चतस्रस्त्रिष्टुभः । एष प्रत्यक्चैतन्याभिन्नोऽपरोक्षो ह प्रसिद्धो देवो द्योतनात्मकत्वात् स्वप्रकाशः सर्वा निखिलाः प्रदिशः प्राच्याद्या अनुतिष्ठति व्याप्य तिर्यगूर्ध्वमधश्च वर्तते । हे जनाः, एष पूर्वः प्रथमो जात उत्पन्नो ह इति प्रसिद्धमेव । गर्भे अन्तर्गर्भमध्ये स उ स एव तिष्ठति । जातोऽपि स एव । जनिष्यमाण उत्पत्स्यमानोऽपि स एव । प्रत्यङ् प्रतिपदार्थमञ्चतीति प्रत्यङ् सर्वतोमुखः, सर्वतो मुखं मुखाद्यवयवा यस्य सः । मुखमित्यन्येषामप्यवयवानामुपलक्षणम् । सर्वात्मत्वादेव विश्वविराट्तैजसहिरण्यगर्भप्राज्ञाव्याकृतादिव्यष्टिसमष्टिरूपेण सर्वत्र

स एव वर्तते । स एव च केनचिद्रूपेण मध्येऽस्ति, केनचिद्रूपेण जातः केनचिद्रूपेण जनिष्यमाणः । स एव च प्रतिपदार्थमञ्चति । स एव विराट्स्वरूपेण सर्वतोमुखः सर्वतः पाणिपादः सर्वतोऽक्षिशिरोमुख इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—अत्रापि स एवार्थः ।

दयानन्दस्तु —'हे जनाः, एषो ह देवः सर्वाः प्रदिशोऽन्तः पूर्वो ह जातः स जनिष्यमाणः सर्वतोमुखः प्रत्यङ् तिष्ठति, स युष्माभिरुपासनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अन्तःपदस्य अन्तःकरणार्थत्वे मानाभावात् । जनिष्यमाणः प्रसिद्धिं प्राप्स्यमान इत्यप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात् । निराकारस्य च कथं सर्वतोमुखाद्यवयवत्वं सम्भवति ? न च तेन मुखादीन्द्रियकार्यकरत्वं विवक्षितमिति वाच्यम्, लाक्षणिकार्थापेक्षया मुख्यार्थस्यैव प्राशस्त्यात् ॥ ४ ॥

यस्मा॒ज्जा॒तं न पु॒रा किञ्च॒न नैव॒ य आ॑ब॒भूव॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑ ।
प्र॒जाप॑तिः प्र॒जया॑ स॑ꣳरर॒राणस्त्रीणि॒ ज्योती॑ꣳषि सचते॒ स षो॑ड॒शी ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—जिससे पहले दूसरा कुछ भी प्रकट नहीं हुआ, जो सारे ब्रह्माण्ड और प्राणियों में व्याप्त है, वह षोडश कलाओं से सम्पन्न प्रजापालक प्रजापति नाना स्वरूप धारण कर प्रजाओं में अपने आप ही क्रीड़ा करता हुआ सूर्य, चन्द्र और अग्नि रूप ज्योतियों का सेवन करता है, अर्थात् सूर्य आदि के रूप में प्रकट होता है ॥ ५ ॥

यस्मात् पुरुषात् पुरा पूर्वं किञ्चन किमपि न जातमेव, यश्च विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि आबभूव समन्ताद् भावयामास, अन्तर्भावितणिजर्थः । स षोडशी षोडशावयवलिङ्गशरीरी प्रजापतिः सन् प्रजया संरराणो रममाणस्त्रीणि ज्योतींषि सूर्यचन्द्राग्निरूपाणि सचते सेवते, स्वज्योतिषा ज्योतिष्मन्ति करोति । 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' (मु० २।२।१०) इति श्रुतेः ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्त एवार्थः ।

दयानन्दस्तु —'हे मनुष्याः, यस्मात् पुरा किञ्चन न जातम्, यः सर्वत आबभूव, यस्मिन् विश्वा भुवनानि वर्तन्ते, स एव षोडशी प्रजया सह संरराण सम्यग् रममाणः प्रजापतिस्त्रीणि विद्युत्सूर्यचन्द्ररूपाणि ज्योतींषि सचते समवैति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वास्याभावे सर्वतो भवनासम्भवात् ॥ ५ ॥

येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ढा येन॒ स्वः॑ स्तभि॒तं येन॒ नाकः॑ ।
यो अ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मानः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—जिस पुरुष ने स्वर्ग को वर्षा करने के लिये उद्यत किया और पृथ्वी को दृढ़ किया, अर्थात् प्रजा के लिये प्राणधारण, वृष्टिकरण और अन्ननिष्पादन आदि कार्य किये, जिसने स्वर्ग को एक जगह स्तम्भित कर दिया, जिसकी कृपा से दुःखरहित गोलोक भक्तों को दृष्टिगोचर होता है, जो आकाश में जल का निर्माता है, उस महानारायण पुरुष के निमित्त हम आहुति देते हैं ॥ ६ ॥

येन पुरुषेण द्यौरुग्रा उद्गूर्णा वृष्टिदायिनी कृता, पृथिवी भूमिश्च येन पुरुषेण प्राणिधारणाय वृष्टिग्रहणायान्ननिष्पादनाय च दृढा स्थिरीकृता । येन स्वर् आदित्यमण्डलं स्तभितं स्तम्भितम्, येन नाकः स्वर्गः स्तम्भितः,

यश्च अन्तरिक्षे नभसि रजसो वृष्टिलक्षणस्योदकस्य विमानो विमिमीते योऽसौ विमानो निर्माता, तं परमात्मानमचिन्त्यैश्वर्यमाहात्म्यमपहाय कस्मै देवाय हविषा विधेम हविर्दद्मः ? न कस्मैचिदित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे अस्मिन् पक्षेऽप्युक्त एवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'येनोग्रा द्यौः पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितम्, योऽन्तरिक्षे वर्तमानस्य रजसो विमानोऽस्ति, तस्मै कस्मै देवाय हविषा विधेम, एवं यूयमपि सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सुखस्य मोक्षस्य च जीवैरपि धारणसम्भवेन स्वर्नाकयोर्धारणस्य परमेश्वरस्यासाधारणधर्मत्वानुपपत्तेः । लोकानां मातारोऽप्यनेके सिद्धाः सन्त्येवेति योगवाशिष्ठादौ स्फुटम् । सर्वलोकस्रष्टृत्वमेव परमेश्वरस्यासाधारणो धर्मः । न चात्र तथात्वबोधकः कश्चन शब्दोऽस्ति ॥ ६ ॥

यं क्रन्द॑सी अव॑सा तस्तभा॒ने अ॒भ्यैक्षे॑तां मन॑सा रेज॑माने । यत्राधि॒ सूर॒ उदि॑तो वि॒भाति॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ आपो॑ ह॒ यद् बृ॒हतीर्यश्चि॒दाप॑ः ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ वृष्टिजनक हविरूप अन्न से प्राणियों को तृप्त करने वाली, सब तरफ से शोभायमान पृथ्वी ने और स्वर्ग के देवताओं ने मन से जिस पुरुष को शोभन सृष्टि करते हुए देखा, जिस पृथ्वी और स्वर्ग के मध्य सूर्य का उदय होता है, वह अधिक प्रकाशित होता है, उस प्रजापति के निमित्त हम आहुति देते हैं ॥ ७ ॥

यं पुरुषं क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ मनसा अभ्यैक्षेतां साधुकृतमित्येतत् पश्यताम् । कीदृश्यौ क्रन्दसी ? अवसा हविर्लक्षणेनान्नेन वृष्टिजनकेन तस्तभाने प्राणिजातं स्तम्भयन्त्यौ धारयन्त्यौ । व्यत्यये स्तम्भतेर्जुहोत्यादित्वम् । रेजमाने देदीप्यमाने शोभमाने वा । सूरः सूर्यो यत्र द्यावापृथिव्योरुदितः सन् अधि अधिको विभाति विशेषेण दीप्यते, यद्वा अधिकं शोभते वित्रासयति, यद्वा यत्र अधि उपरि स्थितो यदाधार उदित आविर्भूतः सूर्यो विभाति, तं विहाय कस्मै देवाय हविर्दद्मः । 'आपो ह यद् बृहतीः' (वा० सं० २७।२५), 'यश्चिदापः' (वा० सं० २७।२६) इति द्वे प्रतीकोक्ते जपादावध्येये । व्याख्यानं तु प्रतीकोक्तानां पूर्वमेव कृतम् ।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यं परमात्मानं प्राप्ते तस्तभाने धारिके क्रन्दसी गुणैः प्रशंसनीये द्यावापृथिव्यौ स्तः, सर्वं धरतो यत्र सूरोऽभ्युदितो यद् या बृहतीरापो ह यांश्चिदापः सन्ति, ताश्चिदपि विभाति, तं तौ चाध्यापकोपदेशकौ एनसा अभ्यैक्षेताम् । तस्मै कस्मै....' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हविषा आदातव्येन योगाभ्यासेनेति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात् । नहि योगाभ्यास एवादातव्यो भवति, तत्फलस्य सर्वाधिकादातव्यत्वोपपत्तेः । विभाति विशेषेण प्रकाशयन्नित्यपि निर्मूलम्, धातोरकर्मकत्वात् । क्रन्दसी प्रशंसनीये इत्यपि निर्मूलम्, धात्वर्थविरोधात् ॥ ७ ॥

वे॒नस्तत्प॑श्य॒न्निहि॑तं॒ गुहा॒ सद्यत्र॒ विश्व॒ं भव॒त्येक॑नीडम् ।
तस्मि॑न्नि॒दꣳ सं च॒ वि चै॑ति सर्व॒ꣳ स ओत॒ः प्रोत॑श्च वि॒भूः प्र॒जासु॑ ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—वेदान्त के रहस्यों के ज्ञाता विद्वद्गण बुद्धि अथवा हृदय में स्थित जिस नित्य ब्रह्म को देखते हैं, जिस ब्रह्म में सारा विश्व अद्वैत महानारायण का वासस्थान होकर स्थित है, जिस ब्रह्म में यह सारा भूत-सर्ग संहार काल में, प्रलय में एकीभूत हो जाता है और उत्पत्ति काल में प्रकट होता है, वह महानारायण सारी प्रजा में ओतप्रोत भाव से व्याप्त है ॥ ८ ॥

वेनः, अजति जानाति वेदितव्यानि सर्वाणीति वेनः, 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ० ३।६) इति न-प्रत्यये 'अजेर्व्यघञपोः' (पा० सू० २।४।५६) इति वीभावे गुणे च रूपम्, विदितवेदितव्यो वेदवेदान्तरहस्यज्ञस्तद् ब्रह्म पश्यति जानाति। अथवा —'वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः' (निरु० १०।३८) इति यास्कः। सर्वजनकमनीयः सर्वेच्छाविषयः परब्रह्म, सर्वात्मत्वात्। तज्ज्ञाता पश्यत् पश्यति जानातीत्यर्थः। कीदृशं तद् ब्रह्म ? गुहा गुहायां रहःस्थाने बुद्धौ वा निहितं स्थापितम्, दुर्ज्ञेयमित्यर्थः, गुहायामिव स्थितम्। पुनः कथम्भूतं तत् ? सत्, नित्यम्, यत्र ब्रह्मणि विश्वं सर्वं विकारजातमेकनीडम् एकं ब्रह्मैव नीडमाश्रयो यस्य तदेकनिलयं भवति, अविभक्तमविशेषकारणरूपं भवतीत्यर्थः, 'सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छा० ६।८।४) इति श्रुतेः। तस्मिन् ब्रह्मणीदं सर्वं भूतजातं समेति स ङ्गच्छते एकीभवति संहारकाले, व्येति निर्गच्छति च ततः सर्गकाले। स परमात्मा प्रजासु ओतः प्रोतश्च ऊर्ध्वतन्तुषु पट इव शरीरभावेन ओतः, तिर्यक्तन्तुषु पट इव शरीरिभावेन प्रोतश्च। पुनः कीदृशः ? विभुः कार्यकारणरूपेण विविधं भवतीति विभुः। तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं सर्वमिदं विकारजातं समेति संहृतिकाले समेत्य च व्येति सृष्टिकाले वैविध्योपेतं भवति। स च परमेश्वरः शरीरभावेन ओतो जीवभावेन प्रोतश्च। इतरथा वा विभुः कार्यकारणभावेन प्रजासु विभवति च। सर्वं स एवेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अत्राप्येष एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यत्र विश्वमेकनीडमेकस्थानं भवति, तद् गुहा निहितं सद्वेनः पण्डितः पश्यति। तस्मिन्निदं सर्वं समेति च व्येति च। स विभुः प्रजास्वोतः प्रोतश्च। स एवोपासनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परमात्मनि विश्वं केन सम्बन्धेन तिष्ठतीत्यनुक्तेः। न च तन्तौ पट इव, तन्तूनामिव त्वया परमात्मनः समवायिकारणत्वानुपगमात्। नापि रज्ज्वां सर्प इव, त्वया जगतो मिथ्यात्वानुपगमात्। नाप्याकाशे पटादय इव, ब्रह्मणः सच्चिदानन्दघनत्वेन सावकाशत्वायोगात् ॥ ८ ॥

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—वेदवचनों का धारक विद्वान् जिस महानारायण के उस अविनाशी हृदय अथवा बुद्धि में विद्यमान तेजस्वरूप नानारूप विराट् ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि के रूपों में एक पद से विभक्त होकर स्थित है, उसी महानारायण के तीन पद गुफा में छिपे हुए हैं। जो इस स्वरूप को जान लेता है, वह ब्रह्मा का भी पिता बन जाता है, अर्थात् विष्णु-भाव को प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

विद्वान् वेत्तीति विद्वान्, विदेः शता, तस्य 'विदेः शतुर्वसुः' (पा० सू० ७।१।३६) इति वस्वादेशेन रूपसिद्धिः, पण्डितः। गन्धर्वः, गन्धर्वलोके ब्रह्मविद्यायाः सुप्रचाराद् गन्धर्वः। अथवा गां वेदवेदान्तवाचं धारयति विचारयति यः स गन्धर्वः, वेदान्तवेत्ता। नु क्षिप्रं तद् ब्रह्म प्रवोचेत् प्रब्रूयात्। कीदृशं ब्रह्म ? अमृतम्, षड्विधभावविकारवर्जितत्वात् शाश्वतम्। पुनः कीदृशम् ? गुहा गुहायां सत् साक्षित्वेन सदा विद्यमानम्, अथवा गुहायामिव निगूढ(अविवृत)वेदान्तरहस्यसद्भावम्, धाम धर्मस्थानं स्वरूपं वा विभृतं विहृतं सृष्टिस्थितिप्रलयैर्विभक्तं नानाभूतं वा। किञ्चास्याममृतस्य ब्रह्मणस्त्रीणि पदानि स्वरूपाणि गुहा गुहायां निहिता निहितानि। अथवा अस्य त्रीणि पदानि सृष्टिस्थितिप्रलयाः, त्रयो वेदाः, त्रयः काला वा। भूयस्त्वोपलक्षणार्थं वा, भूयांसो हि तत्र गुणाः श्रूयन्ते श्रुतिषु विज्ञानघनानन्दघनसत्यसङ्कल्पादयः, परब्रह्मान्तर्याम्यव्याकृतानि वा त्रयः पादाः, यश्च तानि पदानि वेद जानाति, स पितुरपि ब्रह्मणोऽपि पिता परमात्मा असद् भवति, परब्रह्मस्वरूपो भवतीत्यर्थः। तद्धि ब्रह्मरूपं श्रेष्ठम्, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यो गन्धर्वो विद्वान् गुहा विभृतममृतं धाम तत् सन्नु प्रवोचेत्, यान्यस्य गुहा निहितानि पदानि त्रीणि सन्ति, तानि च वेद, स पितुः पिताऽसत्' इति, तदप्यसत्, त्वद्रीत्या प्रवोचेदित्यनेनैव पितुः पितेति वाक्यस्य गतार्थत्वात् । 'गुहा बुद्धौ विभृतं विशेषेण धृतममृतं धाम तन्नित्यं प्रवोचेत्' इत्यप्यसङ्गतम्, विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि—गुहापदेन कस्य बुद्धिरिष्यते ? परमेश्वरस्येति चेन्न, तस्य मनोबुद्धचाद्यभावात्, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २।१।२) इति श्रुतेः । नापि जीवस्य, त्वद्रीत्या नित्यमुक्तिस्थानस्य बुद्धावसम्भवात् ॥ ९ ॥

स नो॒ बन्धु॑र्जनि॒ता स वि॑धा॒ता धामा॑नि॒ वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑ ।
यत्र॑ दे॒वा अ॒मृत॑मानशा॒नास्तृ॒तीये॒ धाम॑न्न॒ध्यैर॑यन्त ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—वह परमात्मा हमारा बन्धु है, हमें उत्पन्न करता है, हमारा विधाता है । वह सब प्राणियों और भुवनों को एवं तेजस्वी धामों को जानता है । देवता जिस मोक्षदायक ज्ञान को प्राप्त कर स्वर्ग में स्वेच्छानुसार विचरण करते हैं, आनन्द का उपभोग करते हैं, वह उसी की कृपा का फल है ॥ १० ॥

स परमेश्वरो नोऽस्माकं बन्धुः, बध्यते स्नेहपाशेनेति बन्धुः, बन्धुवन्मान्यो वा । जनिता जनयिता, तृचि 'जनिता मन्त्रे' (पा० सू० ६।४।५३) इति णिलोपः । स च नो विधाता धारयिता, प्राणस्यापि प्राणत्वात् । स विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि धामानि स्थानानि च वेद जानाति । यद्वा स नो विधाता धारयिता । यो धामानि ब्रह्मणः स्थानानि वेद भुवनानि भूतजातानि च विश्वा विश्वानि सर्वाणि वेद । यत्र देवा अग्न्यादयोऽमृतं परब्रह्मस्वरूपमानशाना व्याप्नुवन्तस्तृतीये धामन् धामनि स्वर्गरूपे स्थाने, अधि उपरि स्थिता ऐरयन्त स्वेच्छया प्रवर्तन्ते, तच्च यो वेद, स नो बन्धुरित्याद्यनुवर्तते । यद्वा अमृतं मोक्षप्रापकं ज्ञानं यत्र ब्रह्मणि, आनशाना व्याप्नुवानाः, अश्नुवते इत्यानशानाः, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इत्यशेर्ह्वादित्वेन द्वित्वे शानच्यभ्यासस्य नुमागमे रूपम् । ब्रह्मनिष्ठं ज्ञानं प्राप्ताः सन्तः स्वर्गे देवा मोदन्ते । यद्यपि ब्रह्मज्ञानफलं कैवल्यम्, स्वर्गस्त्वग्निहोत्रादिकर्मफलम्, तथापि स्वर्गप्राप्त्यनन्तरभाविब्रह्मज्ञानं नासम्भवि, तत्फलं तु स्वर्गप्रापकप्रारब्धकर्मसमाप्तावेव भविष्यति, प्रारब्धस्य बलवत्त्वात् । ब्रह्मज्ञानप्राप्ताः सिद्धा अपि स्वेच्छया लोकलोकान्तरस्थितिं द्रष्टुं गन्तुं शक्नुवन्त्येव । अत एव ऐरयन्त स्वेच्छया प्रवर्तन्त इत्युव्वटाचार्याः । अध्यैरयन्त स्वेच्छया प्रवर्तन्त इति महीधराचार्याः ।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'यत्र तृतीये धामन्नमृतमानशाना देवा अध्यैरयन्त यो विश्वा भुवनानि धामानि वेद स नो बन्धुर्जनिता विधाता' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जीवप्रकृत्योर्धामत्वाप्रसिद्धया परमेश्वरस्य तृतीयधामत्वासिद्धेः । न च शुद्धस्य मोक्षसुखभोक्तृणामाधारत्वं सम्भवति, चेतनानां चेतनान्तराश्रयत्वासिद्धेः । न च मुक्तानां स्वेच्छापि सम्भवति, तथात्वे मुक्तत्वानुपपत्तेः ॥ १० ॥

प॒रीत्य॑ भू॒तानि॑ प॒रीत्य॑ लो॒कान् प॒रीत्य॒ सर्वाः॑ प्र॒दिशो॒ दिश॑श्च ।
उ॒प॒स्थाय॑ प्रथम॒जामृ॒तस्या॒त्मना॒त्मान॑म॒भि सं वि॑वेश ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ अनन्य भक्तजन ज्ञाननिष्ठ सर्वमेधयाजी की मुक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सभी प्राणियों को ब्रह्मरूप जान कर, भू आदि लोकों को ब्रह्मरूप जान कर, सब दिशाओं और विदिशाओं को ब्रह्मरूप जान कर, प्रथमोत्पन्न वेदत्रयीरूप वचनों को भलीभाँति समझ कर, अर्थात् तदनुसार यज्ञ और उपासना करके सर्वमेधयाजी जीवरूप से ब्रह्मस्वरूप यज्ञ के अधिष्ठाता परमात्मा में प्रवेश कर जाता है, अर्थात् परमात्मा के साथ सायुज्य को प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

अथ सर्वेषु भूतेष्वहमस्मि सर्वाणि भूतानि मयि सन्तीति विज्ञानावगुण्ठितस्य सर्वमेधयाजिनो मुक्तिरुच्यते द्वाभ्यां कण्डिकाभ्याम्। न चात्र सर्वमेधग्रहोऽपि, दर्शनस्यैव प्राधान्यात्। एवंविदो यजमानस्य अग्निहोत्रादयः सर्वेऽपि यज्ञाः सर्वमेधा एव। आलम्बनमात्रं हि तत्र यज्ञः। भूतानि सर्वाणि परीत्य सर्वाधिष्ठानभूतब्रह्मत्वेनावधार्य लोकान् भूरादींश्च परीत्य परिज्ञाय ब्रह्मरूपान्निश्चित्य सर्वाः प्रदिशः प्राच्याद्या दिश आग्नेय्यादयोऽवान्तरदिशश्च परीत्य ब्रह्मरूपा ज्ञात्वा प्रथमजां प्रथमोत्पन्नां प्रथममाविर्भूतां वाचं त्रयीलक्षणाम्, 'अपि हि तस्मात् पुरुषाद् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत' (श० ६।१।१।१०) इति श्रुतेर्ब्रह्मपदेनात्र वेद एव गृह्यते। यद्यप्यनाद्येव तादृशं ब्रह्म, तथापि महाप्रलयकाले ब्रह्मशक्त्यात्मनावस्थितं तदेव पुरुषादपि पूर्वमाविर्भवति निःश्वासन्यायेन, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः' (बृ० २।४।१०) इति श्रुतेः। उपस्थाय संसेव्य कर्मोपासनादि कृत्वा, उपक्रमोपसंहारादिभिः षड्भिर्लिङ्गैः प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि महातात्पर्यमवधार्य, तदनुगुणैः स्तत्रैर्मननेन श्रुतमर्थं व्यवस्थाप्य, दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारपूर्वकं निदिध्यास्य, आत्मना पुरुषरूपेण ऋतस्य यज्ञस्यात्मानं यज्ञाधिष्ठातारं परमात्मानमभिसंविवेश ब्रह्मात्मभावेनावतिष्ठते, 'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥' (म० स्मृ० १२।९१), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० उ० ३।२।९) इत्यादिवचनेभ्यः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं यो भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च परीत्य ऋतस्यात्मानमभिसंविवेश प्रथमजां वेदचतुष्टयीमुपस्थाय पठित्वात्मना तं प्राप्नुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सत्यात्मकस्य परमात्मनः सत्यात्मप्रवेशानुपपत्तेः। अत एव 'ऋतस्य सत्यस्य स्वरूपमधिष्ठानं वा आत्मना स्वरूपेण अन्तःकरणेन चाभिमुख्येन सम्यक् प्रविशति' इति व्याख्यानमपि निर्मूलम्, सर्वाधिष्ठानसत्यस्याधिष्ठानान्तरानुपपत्तेः। न च प्रवेष्टुः परमेश्वरस्यान्तःकरणमस्ति, तस्य शरीरत्रयसम्बन्धानुपपत्तेः ॥ ११ ॥

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत् ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—ज्ञानी पुरुष पृथ्वी और स्वर्ग को सद्यः ब्रह्मरूप जान कर, लोकों को ब्रह्मरूप जान कर, दिशाओं को और सूर्य को ब्रह्मरूप जान कर, यज्ञ की इतिकर्तव्यता को विस्तार से समझ कर जो ब्रह्म का दर्शन करता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है, वह पहले भी ब्रह्म ही था। वस्तुतः अज्ञान की निवृत्ति को ही ब्रह्मदर्शन या ब्रह्मभाव कहा जाता है ॥ १२ ॥

परीत्युपसर्ग इत्वेत्यनेन सम्बद्ध्यते। अश्वमेधयाजी द्यावापृथिव्यौ सद्यः परि इत्वा परीत्य ब्रह्मरूपेण ज्ञात्वा लोकान् परीत्य दिशः परीत्य स्वरादित्यं च परीत्य, सर्वं ब्रह्मैव न ब्रह्मव्यतिरिक्तं किमपीति ज्ञात्वा। तत्त्वस्य गूढत्वेन पुनरुक्तिर्न दोषाय, पौनःपुन्येन श्रवणादेव चित्तारोहणसम्भवात्। ऋतस्य यज्ञस्य तन्तुमितिकर्तव्यतां विततं प्रसारितं यथा स्यात्तथा विचृत्य समाप्य यज्ञं कृत्वा ब्रह्म अपश्यत् पश्यति, तदभवद् ब्रह्मैव भवति। वस्तुगत्या तदेवास्ति। अज्ञाननिवृत्तिरेव दर्शनं ब्रह्मभवनं च, विस्मृतकण्ठमणिप्राप्तिवत्। दशमस्त्वमसीत्याप्त-

वाक्येन दशपुरुषाज्ञाननिवृत्त्या तद्दर्शनप्राप्तिवच्च, 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति श्रुतेः, 'तदेव[1] सन्तस्तदु तद् भवामः' इति श्रुतेश्च। यथा ह्येकस्याग्नेः प्रदीपसहस्राणि तुल्यशक्तीनि निर्गच्छन्ति, एवं परमात्मन इमे जीवा अपि व्युच्चरन्ति।

आभ्यां कण्डिकाभ्यां गृहस्थानामेव मुक्तिर्दर्शिता। तेषां हि भूयांस उपाया यज्ञादयः सन्तीत्युव्वटाचार्याः। इदं च सगुणब्रह्म सालोक्य-सामीप्य-सार्ष्टि-सायुज्याद्यभिप्रायेण प्रत्येतव्यम्, कर्मोपासनसमुच्चयेन हिरण्यगर्भ-पदप्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्, 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह। अविद्यया मृत्यं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥' (वा० सं० ४०।१४) इति मन्त्रवर्णात्। कैवल्यमुक्तिस्तु साध्यसाधनैषणात्यागपूर्वकात् केवलादेव ज्ञानाद् भवति, 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (वा० सं० ३१।१८) इति मन्त्रवर्णात्, 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' (मु० १।२।१२), 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ० ३।५।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः परमेश्वरो द्यावापृथिवी सद्य इत्वा पर्यभवत्, यो दिशः सद्य इत्वा पर्यासीत्, यः स्वः सद्य इत्वा पर्यपश्यत्, य ऋतस्य विततं तन्तुं विचृत्य तत्सुखमपश्यत्, येन तत्सुखमभवत्, यतस्तद्विज्ञानमासीत्, तं यथावद्विज्ञायोपासीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। तथाहि सर्वप्राप्तस्य विभोः प्राप्त्यन्तरयोगः कथङ्कारं घटते? ऋतस्य विततं तन्तुं कारणं विचित्य विविधतया ग्रन्थयित्वा बद्ध्वा तत्सुखमपश्य-दित्यादिकमप्यसङ्गतमेव, सत्यकारणग्रन्थिबन्धनासिद्धेः। तेन बन्धनेन सुखं विज्ञानं च कीदृशमित्यपि वक्तव्य-मासीत्। सुखरूपस्य सद्यः सुखाप्तिरपि निर्मूलैव, विरोधात्॥ १२॥

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा॥ १३॥

मन्त्रार्थ—यज्ञगृह के पालक, अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न, परमेश्वर की प्रिय कमनीय शक्ति अग्निदेव से मैं धन-ऐश्वर्य की तथा धारणावती मेधा की याचना करता हूँ। उसके निमित्त यह श्रेष्ठ आहुति गृहीत हो॥ १३॥

इतः प्रारभ्य तिसृभिर्ऋग्भिर्मेधा याच्यते श्रीश्च चतुर्थ्या। प्रथमा गायत्री सदसस्पतिर्देवता। सदो यज्ञगृहम्, तस्य पतिः सदसस्पतिरग्निस्तमद्भुतं महान्तमचिन्त्यशक्तिमिन्द्रस्य प्रियं मित्रं काम्यं कमनीयं काम्यसम्पत्करं सनिं धनं मेधामयासिषं याचे, द्विकर्मको याचिः, सदसस्पतेरचिन्त्यशक्तेरिन्द्रस्य प्रियाद् धनमेधार्थिभिः कामनीयाद् देवात् सकाशादहं सनिं धनं मेधां च याचे। तस्मै देवाय स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—सदसः संसारलक्षणस्य गृहस्य पतिं परमेश्वरम्, इन्द्रस्य जीवात्मनः प्रियं प्रेमास्पदम्, सर्वैः काम्यं सर्वान्तरात्मत्वात् सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वाच्च सनिं शमदमादिषट्सम्पत्तिरूपं धनं मेधां ब्रह्मात्म-साक्षात्कारलक्षणां मेधां चायासिषमयाचिषम्। तादृशात् परमेश्वरात् तादृशं सनिं तादृशीं च मेधां याचे इत्यर्थः। तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अहं स्वाहा सत्यया क्रियया वाचा वा यं सदसस्पतिमद्भुतमिन्द्रं काम्यं प्रियं परमात्मानमुपास्य सनिं मेधामयासिषम्, तं परिचर्यैतां यूयमपि प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाहापदस्य तथार्थत्वे मानाभावात्। निराकारस्य परमात्मनः सदसस्पतित्वमपि निर्मूलमेव। सदःस्थैरदृष्टस्य सदसस्पतित्वस्य लोकेऽदृष्टत्वात्। पालकत्वेन तत्त्वं तु निर्मूलमेव, पालकत्वसर्वसाधारण्येन वैशेष्यानुपपत्तेः॥ १३॥

---

१. अनुपलब्धमूलेयं श्रुतिः।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१४॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप मुझे आज उस मेधा के द्वारा मेधावी बनाइये, जिस मेधा को देवसमूह और पितृगण सेवन करते हैं। आपके लिये यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित है ॥ १४ ॥

मन्त्रोक्तदेवत्याऽनुष्टुप् । हे अग्ने, यां मेधां धारणावतीं धियम्, 'धीर्धारणावती मेधा' (अ० को० १।५।२) इति कोषः, लोकोत्तरप्रज्ञेति यावत्, ताम् । देवगणा इन्द्रादयः पितरश्चाग्निष्वात्तादय उपासते पूजयन्ति, तया मेधया मां मेधार्थिनमद्य अद्यैव मेधाविनं कुरु, देवपितृपूज्या बुद्धिरस्माकमस्त्वित्यर्थः। स्वाहा तस्मै देवाय सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे यां ब्रह्मात्मसाक्षात्कारलक्षणां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते पूजयन्ति, तया मामद्य शीघ्रं मेधाविनं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारवन्तं कुरु, तस्मै देवाय स्वाहा सर्वस्वमर्पितमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन् अध्यापक जगदीश्वर वा, देवगणाः पितरश्च यां मेधामुपासते, तया मामद्य मेधाविनं कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वदुक्तरीत्या देवपितृगणयोरभेदेन पौनरुक्त्यापत्तेः। न च रक्षका ज्ञानिनो भवन्ति, सैनिकानां रक्षकत्वेऽपि ज्ञानित्वायोगात् ॥ १४ ॥

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—वरुणदेव मुझे तत्त्वज्ञान को समझने में समर्थ मेधा (बुद्धि) प्रदान करें, अग्नि और प्रजापति मुझे मेधा प्रदान करें, इन्द्र और वायु मुझे मेधा प्रदान करें । हे दाता ! मुझे आप मेधा प्रदान कीजिये । आप सब देवताओं के लिये मेरी यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित है ॥ १५ ॥

लिङ्गोक्तदेवत्याऽनुष्टुप् । वरुणो देवो मे मह्यं मेधां ददातु । अग्निः प्रजापतिश्च मे मह्यं मेधां ददातु । धाता मे मह्यं मेधां ददातु । स्वाहा तस्मै सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे - वरुणः सर्ववरणीयो देवो ब्रह्मात्मा मे मह्यं मेधां ब्रह्मात्मभावावद्योतिकां प्रज्ञां ददातु । तस्या अतिदुर्लभत्वात् तदर्थं सर्वे देवा याच्यन्ते ।

दयानन्दस्तु—'यथा वरुणः परमेश्वरो विद्वान् वा स्वाहा मे मेधां बुद्धिधनं वा ददातु, अग्निः प्रजापतिर्मेधां ददातु, इन्द्रो मेधां ददातु, वायुश्च धाता मे मेधां ददातु, हे मनुष्याः ! तथा तुभ्यमपि ददातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वरुणाग्निप्रजापतीन्द्रादिशब्दानां तथार्थत्वस्य प्रसिद्धिविरोधात् । स्वाहापदस्य धर्मयुक्तक्रियार्थत्वमर्थो निर्मूल एव, शिष्टैस्तथा प्रयोगादर्शनात् ॥ १५ ॥

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥ १६ ॥

इति द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—यह ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति, दोनों मिल कर मेरी लक्ष्मी का उपभोग करें । देवगण मुझे उत्तम लक्ष्मी प्रदान करें । लक्ष्मी के निमित्त मेरे द्वारा दी गई यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित हो ॥ १६ ॥

मन्त्रोक्तदेवताऽनुष्टुप् । श्रीकामोऽनया श्रियं याचते । सदसस्पतीत्यारभ्य इमाश्चतस्र ऋचो वैदिकसम्प्रदाये श्रीसूक्तशब्देन प्रोच्यन्ते । सर्वोऽपि विधिः श्रीसूक्तवदेव कार्यः । इदं ब्रह्म ब्राह्मणजातिः, क्षत्रं क्षत्रियजातिः, उभे ब्रह्मक्षत्रे मे श्रियं मदीयां श्रियमुपजीवताम् । मयि च देवा उत्तमामुत्कृष्टां धर्मार्थकाममोक्षप्रापिकां श्रियं दधतु स्थापयन्तु, यथाहं सर्वजनभोग्यो भवामि । तस्यै ते नमः । या त्वमेव सर्वैर्जनैरभिलष्यसे, तस्यै श्रिये ते तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु । श्रियं मेधां चाप्राप्य यज्ञादिकं कर्तुं न कोऽपि प्रभवतीति ।

अध्यात्मपक्षे—इदं ब्रह्म इदं क्षत्रं च उभे ब्रह्मक्षत्रे श्रियमश्नुताम्, धर्मार्थकाममोक्षप्रापिकायां तयोः प्राधान्येनाधिकारात् । अन्येषां तु श्रीः प्रायशः कामार्थप्रापिकैव भवति । अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे परमेश्वर, भवत्कृपया हे विद्वन्, तव पुरुषार्थेन स्वाहा मे ममेदं ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् । यथा देवा मयि उत्तमां श्रियं दधतु, तथाऽन्येष्वपि । हे जिज्ञासो, ते तुभ्यं तस्यैव प्रयतेमहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदेश्वरविज्ञानराज्यादेर्वा श्रीभोक्तृत्वानुपपत्तेः ॥ १६ ॥

इति शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां
द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

अस्याजरा॑सो द॒मामरि॑त्रा अ॒र्चद्धू॑मासो अ॒ग्नय॑: पाव॒काः ।
श्वि॒तीचय॑: श्वा॒त्रासो॑ भुर॒ण्यवो॑ वन॒र्षदो॑ वा॒यवो॒ न सोमा॑: ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ — इस यजमान की अग्नियाँ जरा-रहित हैं, शत्रुओं से लोकों की रक्षा करती हैं, देवयान और पितृयान मार्ग से सम्बन्ध रखने वाली हैं। ये पवित्र अग्नियाँ यजमान के सुख, कल्याण, तुष्टि, शक्ति और पुष्टिरूप उज्ज्वलता को बढ़ाने वाली, शीघ्र फल देने वाली, भरण-पोषण करने वाली और वन के काष्ठों में विद्यमान वायु की तरह यजमान के मनोरथों को पूर्ण करने वाली हैं ॥ १ ॥

सर्वमेधेऽग्निष्टोमसंस्थेऽग्निष्टुत्संज्ञे प्रथमेऽहनि 'अस्याजरासः' इत्याद्याः 'महो अग्ने' इत्यन्ताः सप्तदश ऋचोऽग्निदेवत्याः पुरोरुचो भवन्ति। पुरोरुचः पुरोऽनुवाक्याः। पुरोरुक्शब्देन ऋग्रूपा ग्रहणमन्त्रा उच्यन्ते। न यजूरूपाः, 'ऋग्घि पुरोरुक्' (श० ४।२।३।७) इति श्रुतेः। उक्थ-महावैश्वदेव-पात्नीवत-हारियोजनेषु यजूरूपे ग्रहणमन्त्रे सत्यपि 'तं वा अपुरोरुक्कं गृह्णाति' (श० ४।२।३।७) इति श्रुतेस्तत्र न दोषः। अत एवाग्नेयीभिर्ऋच एव निवर्त्यन्ते, नोपयामादीनि। तत्र सार्वमेधिकानां चतुर्णामह्नां चत्वार आद्याः पुरोरुचः। यथास्याग्निष्टुदग्निष्टोमः प्रथममहर्भवति, तस्याग्नेया ग्रहा भवन्त्याग्नेय्यः पुरोरुचः। एवमिन्द्रस्तदुक्थ्यो द्वितीयमहर्भवति। तस्य ऐन्द्रा ग्रहा भवन्त्यैन्द्रयः पुरोरुचः। सूर्यस्तदुक्थ्यस्तृतीयमहर्भवति, तस्य सौर्या ग्रहा भवन्ति सौर्यः पुरोरुचः। वैश्वदेवश्चतुर्थमहर्भवति, तस्य वैश्वदेवा ग्रहा भवन्ति वैश्वदेव्यः पुरोरुचः। त्रयोऽनुवाका अनारभ्याधीताः। एताश्च पुरोरुचो यच्छन्दस्काः प्रकृतिदृष्टास्तच्छन्दस्का इहापि प्रायो दृश्यन्तेऽन्त्यमनुवाकं वर्जयित्वा — इति सर्वानुक्रमानुसारी उव्वटमहीधराचार्ययोरभिप्रायः। आद्ये द्वे ऐन्द्रवायवग्रहस्य पुरोरुचौ। वत्सप्रीदृष्टा आग्नेयी त्रिष्टुप्।

अस्य यजमानस्याग्नयोऽजरासः, नास्ति जरा वार्धकं येषां तेऽजरासो वार्धकविहीनाः, दमां दमानाम्, दाम्यते शीतादिर्यत्रासौ दमः, बहुत्वे दमाः, तेषां दमानाम्, घञ्। 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' (पा० सू० ७।३।३४) इति वृद्धिप्रतिषेधः, 'दमे' इति गृहनामसु (निघ० ३।४।१२), गृहाणामरित्रा रक्षकाः। नावामिव केनिपाताः (डाँड़ा इति भाषा), अरिभ्यस्त्रायन्त इत्यरित्राः, 'अरित्रं केनिपातकः' (अ० को० १।१०।१३) इत्यमरः। यद्वा दमां दमनीयानां रक्षसामरित्रास्तारकाः, आर्षत्वाद् विभक्तेर्लुडभावात् सवर्णदीर्घः, भवन्त्विति शेषः। पुनः कीदृशाः ? अर्चद्धूमासः, अर्चन् पूजनीयो धूमो धूमोपलक्षिता ज्वाला येषां ते तथोक्ताः पावकाः पावयितारः शोधकाः, श्वितीचयः श्वेतत्वप्रचयकारिणः, श्वितिं श्वेतवर्णं चिन्वन्तीति श्वितिचयः, आगमशास्त्रमनित्यमिति 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) इति प्राप्ततुगभावः, श्वितिशब्दस्य छान्दसो दीर्घः, यजमानस्य श्वेतत्वं स्वच्छत्वमुज्ज्वलत्वं वर्धयन्तः। श्वात्रासः, श्वात्रशब्दो धनवाचकः (निघ० २।१०।६), क्षिप्रधनप्रदा इत्यर्थः। भुरण्यवः क्षिप्रं भरणतारः। भुरण्युशब्दः क्षिप्रवाचकः (निघ० २।१५।१४)। वनर्षदो वने काष्ठे सीदन्तीति वनर्षदः, 'वनसदोऽवेटो रेफेण' (प्रा० सू० ३।३।११) इति प्रातिशाख्यसूत्रेण रेफागमः। वायवो न वायव इव दीपयितारः। सोमाः सोमा इव यजमानेष्टदाः। यद्वा वायव इव श्वात्रासः क्षिप्रगमनाः, वनर्षदो वनमुदकम्, तत्र सन्ना उदकाभिषुताः। 'श्वात्रमिति क्षिप्रनाम, आशु अतनं भवति' (५।३) इति यास्कः।

अध्यात्मपक्षे—अस्य यजमानस्याग्नयो व्यष्टिसमष्टिरूपा आत्मानो विश्वतैजसप्राज्ञा विराड्ढिरण्यगर्भाव्याकृतेश्वरास्तुरीयश्च, अजरासो जरामरणरहिताः, जराशब्देन मरणमपि लक्ष्यते, दमां गृहाणां स्थूलसूक्ष्मरूपाणामरित्रा रक्षकाः, नावामरित्राः केनिपाता इव। अर्चद्धूमासः, अर्चन् अर्चनीयो धूमो धूमोपलक्षितो ज्ञानरूपः प्रकाशो येषां ते तथोक्ताः। श्वितीचयः श्विति श्वेतवर्णमुज्ज्वलं ज्ञानात्मकं प्रकाशं चिन्वन्ति ये ते श्वितीचयः, छान्दसो दीर्घः। वायवो न वायव इव श्वात्रासः क्षिप्रफलप्रदाः, भुरण्यवः क्षिप्रं भरणकर्तारः, तदभावे जगदान्ध्यापत्त्या सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः। वनर्षदो वने संसाराख्ये सीदन्तीति वनर्षदः। सोमाः सोमा इवेष्टफलदातारः, भवन्त्विति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, येऽस्य जगदीश्वरस्य सृष्टौ अजरासोऽरित्रा अर्चद्धूमासः पावकाः श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवः सोमा अग्नयो वनर्षदो वायवो न दमां धारकाः सन्ति, तान् यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निविद्युदादीनामुत्पादविनाशशालित्वेनाजरत्वानुपपत्तेः, विद्युति धूमानुपलब्धेश्च। न च तेषां जडानामैश्वर्यवत्त्वमपि सम्भवति। पवनानां गृहरक्षकत्वमपि विप्रतिपन्नमेव। सुतरां दार्ष्टान्तिकेऽपि तदनुपपन्नम्। सिद्धान्ते त्वग्न्यधिष्ठातृदेवानामजरत्वं निर्वाणाभिप्रायेणैव। तेनैव चाभिप्रायेण आहवनीयादीनामजरत्वम्। किञ्च, ब्राह्मणसूत्रादिरीत्याऽग्निपुरोऽनुवाक्यत्वेन तथार्थत्वेऽपि सामान्याग्निविद्युदादिपरत्वं तु निर्मूलमेव ॥ १ ॥

हर॑यो धूमके॑तवो॒ वात॑जूता॒ उप॒ द्यवि॑। यत॑न्ते॒ वृथ॑ग॒ग्नय॑ः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ – हरित वर्ण वायु से, गतिमान् धूम से ज्ञात होने वाली ये यज्ञीय अग्नियाँ नाना रूप से स्वर्ग में गमन करने के लिये यत्नशील रहती हैं ॥ २ ॥

गायत्री विश्वरूपदृष्टा। 'इन्द्रवायू इमे' (वा० सं० ७।८) इत्यस्याः स्थाने 'हरयो धूम' इति ऋक्। अग्नयो वृथक् पृथक् पृथक्, वर्णव्यत्ययोऽत्र द्रष्टव्यः, नानाप्रकारेण द्यवि स्वर्गे उपयतन्ते स्वर्गं गन्तुं यत्नं कुर्वन्ति। यद्वा द्यवि द्युलोकं प्रति यतन्ते यत्नमाचरन्ति, यजमानं स्वर्गं प्रापयितुं यत्नमाचरन्तीत्यर्थः। कीदृशास्ते हरयः? हरितवर्णा धूमकेतवः, धूम एव केतुः केतुवद्विज्ञापको येषां ते तथोक्ताः, यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति व्याप्तेः। वातजूता वातेन जूतं गमनं प्रसारो येषां ते तथोक्ताः। इमे द्वे ऋचौ सप्तमीययोः सप्तम्यष्टम्योर् ऋचोः स्थाने वेदितव्ये।

अध्यात्मपक्षे—ते अग्नयो द्यवि स्वप्रकाशे ब्रह्मणि पृथक् पृथग् नानाप्रकारेण यतन्ते स्वप्रकाशब्रह्मभावं गमयितुं यत्नमाचरन्ति, साक्षात् पारम्पर्येण ब्रह्मात्मभावप्राप्तौ पर्यवसानात्। ते कीदृशा हरयः? उपासिताः सन्तो दुःखहर्तारः, धूमकेतवो धूमोपलक्षितज्ञानात्मकप्रकाशलिङ्गेन गम्याः, वातजूता मनआद्युपाधिभिर्मनोजवाः। स्वतोऽचला एव, अधिष्ठानरूपेण व्यापकत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये धूमकेतवो वातजूता हरयोऽग्नयः पृथग् द्यवि उपयतन्ते, तान् कार्यसिद्धये प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या जडानां तेषां यत्नवत्त्वानुपपत्तेः, यत्नवत्त्वस्य चेतनधर्मत्वात् ॥ २ ॥

यजा॑ नो मि॒त्रावरु॑णा॒ यजा॑ दे॒वाँ२॥ ऋ॒तं बृ॒हत्। अग्ने॒ यक्षि॒ स्वं दम॑म् ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! हमारे मित्रावरुण देवताओं का यजन करो, देवताओं का यजन करो, महान् यज्ञस्वरूप अपने गृह का पूजन करो ॥ ३ ॥

मैत्रावारुणी गायत्री गोतमस्यार्षम्। मैत्रावरुणस्य पुरोरुक्। 'अयं वां मित्रावरुणा' (वा० सं० ७।९) इत्यस्याः स्थाने 'यजा नो मित्रा' इति ऋक्। हे अग्ने, नोऽस्माकं मित्रावरुणा मित्रश्च वरुणश्चेति मित्रावरुणौ, 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इत्यानङि, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेराकारादेशे मित्रावरुणा इति रूपम्। यज देवान् यज। ऋतं यज्ञं विष्णुं बृहन्महान्तं यज। स्वं दमं स्वकीयं गृहं यक्षि यज। यजेत्यत्र 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने आत्मन्, मित्रावरुणौ देवौ यज। ऋतं यज्ञं विष्णुं बृहन्महान्तं यज। स्वं दमं गृहमाश्रयं परमात्मानं यज, तस्यैव सर्वतोभावेन समर्हणीयत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं नो मित्रावरुणा देवांश्च यज, बृहद्वतं यज, येन स्वं दमं यक्षि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदस्य विद्वदर्थत्वे मानाभावात्। न च लक्षणया सोऽर्थ इति वाच्यम्, तत्र बीजाभावात्। सर्वोऽपि मित्राणि श्रेष्ठान् विदुषश्च स्वयमेव सत्करोति, नान्यमुखेनेति। ऋतमपि स्वयमेव यजनीयं भवति, नान्यमुखेन। तथा सत्यन्यद्वारा पूजनेन स्वकल्याणासम्भवात्॥ ३॥

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२॥ अश्वाँ अग्ने रथीरिव। नि होता पूर्व्यः सदः॥ ४॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! आप देवताओं को बुलाने वाले घोड़ों को रथी के समान उत्साहपूर्वक अवश्य ही रथ में शीघ्र जोतिये। कारण यह है कि पुरातन काल से देवताओं का आह्वान करने वाले आप आज इस यज्ञकर्म में अपना स्थान ग्रहण कर रहे हैं॥ ४॥

आश्विनस्य ग्रहस्य पुरोरुक्। 'या वां कशा' (वा० सं० ७।११) इत्यस्याः स्थाने 'युक्ष्वा हि' इति ऋक्। हे अग्ने, त्वमश्वान् युक्ष्वा युक्ष्व योजय। हि प्रसिद्धौ। कीदृशानश्वान्? देवहूतमान् देवान् ह्वयन्तीति देवहुवः, अतिशयिता देवहुवो देवहूतमाः, तानतिशयेन देवानामाह्वातॄन्। तत्र दृष्टान्तमाह—रथी रथस्वामी यथाश्वान् योजयति तद्वत्। रथोऽस्यास्तीति रथीः, 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ' (पा० सू० ५।२।१२२, वा० २) इति ईप्रत्ययो मत्वर्थीयः। किञ्च, त्वं पूर्व्यः पुरातनः पूर्वभवः, मानुषाद् होतुः प्रथमोऽग्र्यो भूत्वा नि सदः, अस्मिन् यज्ञे होतृसदने निषीद। अन्यत् त्रयोदशेऽध्याये सप्तत्रिंश्यां कण्डिकायामुक्तम्॥ ४॥

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुपधापयेते।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः॥ ५॥

मन्त्रार्थ—परस्पर पृथक् पृथक् रूप वाले, मोक्ष और दिव्य विषय वाले, दोनों रात और दिन अथवा पितृयान और देवयान रूप दो मार्ग जीवात्मा को क्षीरपान कराते हैं और निरन्तर घूमते रहते हैं। रात्रि में अग्नि स्वधावान् होता है और दिन में सूर्य दीप्तिमान् दिखता है॥ ५॥

शुक्रग्रहपुरोरुक् कुत्सदृष्टा, त्रिष्टुप्। 'तं प्रत्नथा' (वा० सं० ७।१२) इत्यस्याः स्थाने 'द्वे विरूपे' इति ऋक्। द्वे रात्र्यहनी विरूपे नानारूपे, कृष्णा रात्रिः, शुक्लमहः। स्वर्थे सु शोभनोऽर्थो ययोस्ते तथोक्ते कल्याणप्रयोजने। अन्या च अन्या च वत्समुपधापयेते क्षीरं पाययतः। अन्या एका रात्रिरग्निरूपं वत्समुपधापयते, रात्रौ अग्निदेवत्यस्य अग्निहोत्रस्य विधानात्। अन्या अहोरूपा वत्समादित्यरूपमुपधापयते, अह्नि सूर्यदेवत्यस्याग्निहोत्रस्य विधानात्। तदेवाह—अन्यस्यां रात्रौ हरिर्हरितवर्णोऽग्निः, स्वधावान् अन्नवान् भवति।

अन्यस्यामहनि शुक्रः शुक्ल आदित्यः, सुवर्चाः शोभनप्रकाशः, ददृशे दृश्यते। ते द्वे चरतो निरन्तरं प्रवर्तेते। यद्वा द्वे द्यावापृथिव्यौ, अग्निर्भूमौ स्वधावान्, सूर्यो दिवि सुवर्चा दृश्यते।

अध्यात्मपक्षे—द्वे विद्याविद्ये ज्ञानकर्मरूपे वा, विरूपे नानारूपे चरतो निरन्तरं प्रवर्तेते। कीदृशे ? स्वर्थे सुष्ठु शोभनौ प्राणिनां स्वर्गापवर्गौ अर्थः प्रयोजनं ययोस्तौ। अन्यान्या वत्समुपधापयेते, अन्या एका अविद्यारूपा कर्मरूपा वा अन्यं चन्द्रमसं चन्द्रोपलक्षितं स्वर्गं वत्समुपधापयति क्षीरं पाययति। अन्या देवता ज्ञानरूपा विद्यारूपा वा सूर्यं वत्समुपधापयति सूर्योपलक्षितं ब्रह्मलोकमुपधापयति। अन्यस्यां कर्मरूपायां हरिर्हरिद्वर्णः स्वर्गः स्वधावान् भवति। अन्यस्यां विद्यारूपायां ज्ञाने वा देवता सूर्यः सुवर्चाः शोभनप्रकाशो ददृशे। सूर्योपलक्षितो ब्रह्मलोको ब्रह्मात्मस्वरूपो वा दृश्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा स्वर्थे सुष्ठु अर्थः प्रयोजनं वा ययोस्ते द्वे विरूपे विरुद्धस्वरूपे स्त्रियौ चरतोऽन्या अन्या च वत्समुपधापयेते। तयोरन्यस्यां स्वधा स्वाहा हरिर्भवति। शुक्लः सुवर्चा अन्यस्यां ददृशे, तथा द्वे राव्यहनी वर्तेते इति जानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विप्रतिषिद्धत्वात्। द्वे विरूपे स्त्रियौ कालभेदेन एकं वत्सं यद्युपधापयेते, तदैकस्यैव बालस्य हरित्वशुक्रत्वभेदेन कथं भेदः स्यात् ? वसन्ति भूतान्यस्मिन्निति वत्सः, तमिति व्युत्पत्त्या वत्सपदस्य संसारार्थत्वेऽप्येक एवोभाभ्यामुपधापनीयः, नह्येकस्यैव चन्द्रत्वं सूर्यत्वं चोभयं सम्भवति। सिद्धान्ते तु वत्सभेदेन तदुपपत्तिः। नह्युपधापनकर्तृभेदेन बालभेदः सम्भवति, असति बालभेदे ॥ ५ ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—यह आहवनीय अग्नि इस स्थान में मुख्य है और आधान करने वाले यजमान के द्वारा उसका स्थापन किया गया है। यह अग्नि देवताओं का आह्वान करने वाला (बुलाने वाला) और उत्कृष्ट प्रकार से याग करने वाला है। यज्ञ में ऋत्विक्गण उसकी स्तुति करते हैं। भृगुकुलोत्पन्न पुत्रवान् मुनियों ने प्रत्येक यजमान के लिये अरण्य में इस अग्नि को प्रदीप्त किया था। इस अग्नि का भिन्न-भिन्न कर्मों में उपयोग होता है, अतः वह महान् आश्चर्यकारक और व्यापक है ॥ ६ ॥

मन्थिग्रहपुरोरुक्। त्रिष्टुप्। 'अयं वेनश्चोदयत्' (वा० सं० ७।१६) इत्यस्याः स्थाने 'अयमिह' इति ऋक्। अयमाहवनीयः, इह कर्मानुष्ठाने प्रथमो मुख्यः। धातृभिराधानकर्तृभिराहितः। दक्षिणाग्न्यपेक्षया प्राथम्यम्। कीदृशः ? होता देवानामाह्वाता। यजिष्ठः, अतिशयेन यष्टा, अध्वरेषु यागादिषु, ईड्य ऋत्विग्भिः स्तुत्यः। विशे विशे यजमानरूपाय तस्मै तस्मै मनुष्याय। विश इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।५)। अप्नवानो भृगवो यं वनेषु विरुरुचुर्विविधां दीप्तिं प्राप्तवन्तः। यद्वा—वनेषु ग्रामाद्बहिर्यजनाख्येष्वरण्यप्रदेशेषु यमग्निं विरुरुचुः। कीदृशम् ? चित्रम्, विविधकर्मोपयोगित्वेनाश्चर्यकारिणम्, विभ्वं विभुत्वशक्तियुक्तम्।

यद्वा—यमग्निमाधाय पूर्वेऽपि ऋषयोऽप्नवानप्रभृतयो भृगवश्च भृगोरपत्यानि पुमांसः, विरुरुचुः क्वावस्थितं सन्तमाधाय विरुरुचुः ? वनेष्वित्यरण्योराधानाभिप्रायम्। चित्रं चयनीयम्, विभ्वं विशे विशे। यं चेदानीमप्यादधति विभूतिशक्तियुक्तं विशे मनुष्याय। द्विवचनमादरार्थम्। तृतीये पञ्चदश्यां व्याख्यातम्, तत्रापि द्रष्टव्यम्।

दयानन्दीयं व्याख्यानमपि तत्रैव समालोचितम् ॥ ६ ॥

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चाऽसपर्यन् ।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—तीन हजार तीन सौ उनतालीस देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं। उन्होंने घृत से अग्नि को सींचा है और इस अग्नि के लिये कुशाओं को बिछाया है। तदनन्तर ही होता को हवन कर्म में नियुक्त किया जाता है ॥ ७ ॥

विश्वामित्रदृष्टा त्रिष्टुप्। विश्वेदेवदेवत्यस्य आग्रयणग्रहस्य पुरोरुक्। 'ये देवासः' (वा० सं० ७।१९) इत्यस्याः स्थाने 'त्रीणि शता' इति ऋक्। त्रीणि शता शतानि, त्री त्रीणि सहस्राणि त्रिंशन्नव च देवाः, सङ्कलय्य ३३३९ भवन्ति। एते वस्वादिगणा देवा अग्निमसपर्यन् परिचरन्ति। सपर्यतिः परिचरणकर्मा (निघ० ३।५।३)। कथं परिचरन्तीति तत्राह—औक्षन्निति। ते घृतैरग्निमौक्षन् अग्निं देवमाज्यैरसिञ्चन्। 'उक्ष सेचने' इति भौवादिकस्य लुङि रूपम्। अस्मै अग्नये बर्हिरस्तृणन् आच्छादयन् आद् इद् अनन्तरमेव होतारं वृत्वा होतृवरणं कृत्वा हौत्रे कर्मणि न्यसादयन्त विनियुक्तवन्तः। घृतसेचनबर्हिस्तरणहोतृवरणैरग्निं परिचरन्तीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—त्रीणि शतानि त्रीणि सहस्राणि त्रिंशन्नव च देवा अग्निं परमात्मानमसपर्यन् परिचरितवन्त उपासितवन्तः, घृतैः स्नेहपरिप्लुतनैवेद्यैश्च अग्निमभिषिक्तवन्तस्तर्पितवन्तः। अस्मै प्रसिद्धाय परमात्मने बर्हिरेतदुपलक्षितमाकाशं हृदयाकाशमास्तृणन् परिष्कृतवन्तः। अनन्तरमेव होतारं वृत्वा आह्वातारमाचार्यं वृत्वा न्यसादयन्त नितरां विनियुक्तवन्तः, आत्मानमिति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा त्रिंशच्च नव च देवास्त्रीणि शता त्री च सहस्राण्यग्निमसपर्यन् घृतैरौक्षन् बर्हिरास्तृणन्, अस्यै होतारं न्यसादयन्त स्थापयन्तु, तथा यूयमपि कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सहस्राणीतिपदेन सहस्रक्रोशमार्गमिति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्। किञ्च, मन्त्रे देवा इति त्रीणि शता त्री सहस्राणि त्रिंशच्च नव चेत्येतत्संख्याका देवा उक्ताः। न च त्वद्रीत्या तेषां देवत्वं सम्भवति, जडत्वे विद्वत्त्वायोगात्। सहस्रक्रोशमितमार्गविवक्षणे त्रीणि शता त्रिंशच्च नव चेत्यादिपदानां वैयर्थ्यमेव स्यात्। न च पृथिव्यादीनां त्वद्रीत्याऽग्निसपर्याकर्तृत्वं सम्भवति, जडत्वेन चोदनानर्हत्वात् ॥ ७ ॥

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।
कविंसम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं ने द्युलोक के मस्तकस्वरूप सूर्यदेव से प्रकाशित पृथिवी की सीमाभूत जाठराग्नि के रूप में समस्त नरलोक के हितकारी यज्ञ में अरणीद्वय से उत्पन्न, अविचल और दीप्तिमान्, क्रान्तदर्शी, भक्तों के सम्मुख होने वाली, नक्षत्रमण्डली में सम्राट्, यजमान आदि समस्त जनों के अतिथिभूत हवि से आदरणीय इस ब्रह्माग्नि को मुख्य पात्र चमस से प्रकट किया है ॥ ८ ॥

प्रकृतिवदेव ध्रुवग्रहपुरोरुक्। इयं च सप्तमे चतुर्विंशी कण्डिका। तत्रैव व्याख्यातापि। तत्र प्रकृतौ यथा ध्रुवग्रहणे विनियुक्ता, तथैवात्रापि। यतो हि नास्याः स्थानेऽत्र ऋगन्तरं प्रयुक्तम्। वैश्वानरः सर्वात्मतया स्तूयते। देवा ईदृशमग्निं जनयन्त उत्पादितवन्तः। कीदृशम्? दिवो मूर्धानम्, द्युलोकस्य सूर्यात्मनावस्थितं मूर्धानं शिरोवदुन्नतप्रदेशेऽवस्थाय भासकमाहुर्ब्रह्मविदः। पृथिव्या उपरि अरतिम् अनुपरतम्। तत्र कदाचिदप्यग्नेरुपरमोऽभावो नास्ति, दाह-पाक-प्रकाशैः सर्वानुग्रहरतत्वात्। यद्वा पृथिव्या अन्तरिक्षनामसु पाठेन पृथिव्या

अन्तरिक्षस्य अरतिमलम्मतिं पर्याप्तमतिम्, पूरकमित्यर्थः। तत्र स्थितोऽसौ यथाकालं वृष्ट्या भूतानि पुष्णाति। रलयोः सावर्ण्यम्। मकारलोपश्छान्दसः। तथा च अरतिमित्यस्य अलम्मतिमित्यर्थः। तथा वैश्वानरं विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो नरेभ्यो हितो वैश्वानरः, 'नरे संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।१२९) इति दीर्घः, जाठराग्निरूपेणान्नपाचकत्वात्। तथा ऋते यज्ञे आजातं यज्ञनिमित्तमरणिद्वयान्मन्थनेन जातम्। कविं क्रान्तदर्शिनम्। सम्राजं सम्यग्दीप्यमानम्। जनानां यजमानानाम्, अतिथिम् अतिथिवत् पूज्यं हविर्भिः सत्कारयोग्यम्। विज्ञायते ह्यतिथिरूपेणाग्नेः प्रवेशो गृहेषु, तस्मात् तस्योदकमाहरन्ति। आसन् आपात्रम्, आस्यशब्दस्य सप्तम्येकवचने 'पद्दन्नोमास्' (पा० सू० ६।१।६३) इति सूत्रेण आसन्नादेशः, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति सप्तमीविभक्तिलोपे 'आसन्' इति रूपम्, आस्ये इत्यर्थः। आभिमुख्येन पीयतेऽनेनेत्यापात्रम्। एतादृशमग्निं देवा इन्द्रादयोऽजनयन्त, 'चमसो देवपान इति चमसेन ह वा एतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति' (श० १।४।२।१४) इति श्रुतेः। शेषं व्याख्यानं सप्तम एव द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

अ॒ग्निर्वृ॒त्राणि॑ जङ्घनद् द्रविण॒स्युर्वि॑प॒न्यया॑। समि॑द्धः शु॒क्र आहु॑तः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—दीप्त, मन्त्रशुद्ध, निमन्त्रित होकर यहाँ प्राप्त हुआ अग्नि हविरूप धन को चाहता हुआ नाना प्रकार की पूजा के द्वारा हमारे पापों को नष्ट करता है ॥ ९ ॥

भरद्वाजदृष्टा गायत्री, ऐन्द्राग्नग्रहपुरोरुक्। 'इन्द्राग्नी आगतम्' (वा० सं० ७।३१) इत्यस्याः स्थाने 'अग्निर्वृत्राणि' इति ऋक्। अग्निस्तन्नामकः प्रसिद्धो देवः, वृत्राणि प्रावरकाणि वृजिनानि पापानि जङ्घनद् अत्यर्थं हन्ति। यङ्लुगन्तरूपमेतत्। केन हेतुना जङ्घनत्? तत्राह—विपन्यया, विपनिरर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४।१६), विविधया पूजया पापं हन्ति निमित्तभूतया। कीदृशोऽग्निः? द्रविणस्युः, द्रविणो धनमिच्छति द्रविणस्यति, द्रविणस्यतीति द्रविणस्युः, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्यये रूपम्। 'द्रविणस्' इति सान्तः शब्दः। हविर्लक्षणं धनमिच्छन्। पुनः कीदृशः? समिद्धो दीप्तः, शुक्रः शुक्लो दीप्तिमान् वा, आहुतोऽभिहुतः सन्निति।

अध्यात्मपक्षे— अग्निरग्रणीः परमेश्वरो वृत्राणि पातकान्यतिशयेन हन्ति, 'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः। अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥' (बृ० ना० पु० ११।१००) इत्यादिवचनेभ्यः। कीदृशोऽग्निः? द्रविणस्युः, द्रविणं पत्रपुष्पादिलक्षणं द्रव्यमिच्छतीति द्रविणस्युः, 'तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च। विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥' इत्युक्तेः। केन हेतुना हन्ति? तत्राह—विपन्यया भक्तकृतया पत्रपुष्प-समर्पणरूपया पूजया। पुनः कीदृशोऽग्निः? समिद्धः सम्यग् दीप्तः स्वप्रकाशोऽखण्डबोधरूपः, शुक्रः सर्वोपाधि-विवर्जितः शुद्धः, आहुतो भक्तैरासमन्तात् सर्वस्वात्मसमर्पणेनाराधितः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा समिद्धः शुक्रोऽग्निः शीघ्रकर्ता वृत्राणि मेघावयवान् जङ्घनद् भृशं हन्ति, द्रविणस्युरात्मनो द्रविणमिच्छुराहुतः कृताह्वानो भवान् विपन्यया विशेषव्यवहारयुक्त्या दुष्टान् भृशं हन्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। किञ्च, न विशेषव्यवहारयुक्त्या दुष्टानां हननं सम्भवति, शौर्येण वीर्येण शस्त्रेण उद्यमेन च तद्धननसम्भवात् ॥ ९ ॥

विश्वे॑भिः सो॒म्यं मध्वग्न॒ इन्द्रे॑ण वा॒युना॑। पिबा॑ मि॒त्रस्य॒ धाम॑भिः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! आपके साथ मित्र के तेज से तेजस्वी सभी देवता इन्द्र और वायु के साथ सोममय मधु का पान करें ॥ १० ॥

मेधातिथिदृष्टा गायत्री। वैश्वदेवग्रहपुरोरुक्। 'ओमासश्चर्षणी' (वा० सं० ७।३३) इत्यस्याः स्थाने 'विश्वेभिः सोम्यम्' इति ऋक्। हे अग्ने, विश्वेभिः सर्वैर्देवैरिन्द्रेण वायुना च सह सोम्यं सोममयं मधु मधुररसं पिबा पिब। 'शृणुत त्विषिध्रजी' (शु० य० प्रा० ३।११७) इत्यनेन मकारे परे दीर्घः। कीदृशस्त्वम्? मित्रस्य प्रियस्य धामभिर्नामभिः स्तुतः सन्, 'त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः' (ऋ० सं० ५।३।१) इति मन्त्रवर्णात्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं विश्वेभिः सर्वैर्देवैः सह इन्द्रेण वायुना च सह सोम्यं सोमसम्बन्धि मधु मादकं मधुरं दधिदुग्धादिकं पिब गोपालरूपेण सर्वे गोपाला विश्वे देवाः, इन्द्रोऽर्जुनः, वायुर्भीमः। कीदृशस्त्वम्? मित्रस्य प्रियस्यार्जुनादेर्धामभिर्नामभिः स्तुतः। भक्तवत्सलो भगवान् भक्तनामगुणकथाभिरनुरज्यते प्रसीदति च।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, त्वं यथा सूर्यो विश्वेभिर्धामभिः सोम्यं मधु पिबति, तथा मित्रस्य विश्वेभिर्धामभिः सोम्यं मधु रसं त्वं पिब' इति, तन्न, अग्निपदस्य मुख्यार्थत्यागेन गौणार्थग्रहस्य निर्मूलत्वात्। न च त्वद्रीत्या जडस्याग्नेः सम्बोध्यत्वं पानकर्तृत्वं च सम्भवति, दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तस्य सूर्यस्य वायोश्चापि न पानकर्तृत्वं सम्भवति, त्वद्रीत्या तयोर्जडत्वात्। धामभिरित्यस्योभयत्रापि स्वारस्यं नोक्तम्, स्थानानां पाने कारणत्वायोगात्॥ १०॥

आ यदिषे नृपतिं तेज आनट् शुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके।
अग्निः शर्धमनवद्यं युवानँ स्वाध्यं जनयत् सूदयच्च॥ ११॥

मन्त्रार्थ—जब अन्न और जल के लिये देवताओं के निमित्त अग्नि में आहुति के रूप में दिया गया मन्त्रों से संस्कृत धृत यजमान के रक्षक अग्नि को तृप्त करता है, तब अग्नि बलवान् निर्दोष सबके अभिलषणीय जगत् के बीजरूप जल को स्वर्ग के समीप अन्तरिक्ष में प्रकट करता है और उसे वृष्टि के रूप में छोड़ता है॥ ११॥

पराशरदृष्टा त्रिष्टुप्। मरुत्वतीयग्रहपुरोरुक्। 'इन्द्र मरुत्वः' (वा० सं० ७।३५) इत्यस्याः स्थाने 'आ यदिषे' इति ऋक्। 'आ' इत्युपसर्गमानड् इति क्रियापदेन संयोज्य व्याख्येयेयमृक्। यद् यदा तेजस्तेजसो हेतुभूतं हविर्नृपतिं नुर्यजमानस्य पालकमग्निमानड् अश्नुते व्याप्नोति, यदाग्नौ हविर्हूयत इति यावत्, तदाऽग्नी रेतो जगद्बीजभूतं जलं द्यौर्दिवः, षष्ठयर्थे प्रथमा, अभीके समीपेऽन्तरिक्षे जनयज्जनयति, मेघरूपेण च पुरः सूदयत् सूदयति क्षरति वृष्टिद्वारेण, 'षूद क्षरणे' चौरादिकः। कीदृशं तेजः? इषे वृष्ट्यै निषिक्तं देवतोद्देश्येनाग्नौ सिक्तं क्षिप्तम्, हुतमिति यावत्। शुचि मन्त्रसंस्कृतम्। शर्धं बलहेतुभूतम्, शर्धो बलनामसु (निघ० २।९।७)। अनवद्यं निर्दोषम्, 'अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु' (पा० सू० ३।१।१०१) इति गर्ह्यार्थकोऽवद्यशब्दो निपातितः। न अवद्यं गर्ह्यम् अनवद्यं प्रशस्तम्। युवानं परिपक्वरसम्, दृढमित्यर्थः। स्वाध्यं सु सुष्ठु आसमन्ताद् ध्यायते चिन्त्यत इति स्वाध्यं चिन्तनीयम्। सर्वो वृष्टिं कामयते। हविषा तर्पितोऽग्निरष्टमासैर्जलं निष्पाद्य वर्षासु वर्षतीति महीधराचार्यः।

उव्वटाचार्यस्तु—यद् यदा इषे अन्नाय निषिक्तं नितरां सिक्तं देवतोद्देश्येन क्षिप्तं शुचि मन्त्रैः क्षिप्तं तेजो जगदुत्पत्तिबीजं हविर्नृपतिं सर्वेषां जीवानां पतिं पालकमग्निमानड् आसमन्ताद् व्याप्नोति, ततोऽपि रेतो मध्यस्थानं व्याप्नोति विद्युल्लक्षणं तेजः, द्यौरपि तस्याहुतिपरिणामभूतस्य रसस्याभीके निकट एव वर्तते।

अग्निस्तत् शर्धं बलं तस्य हेतुभूतमनवद्यं प्रशस्यं युवानं परिपक्वं रसं स्वाध्यं सुष्ठु ध्यानीयम्, वृष्टेः सर्वाभिलाषास्पदत्वात्, जनयद् अष्टाभिर्मासैर्जनयदुत्पादयति, सूदयच्च निष्पन्नमुदकं चतुर्भिर्मासैः क्षरति वृष्टिद्वारेणेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे – यद् यदा इषे इष्यमाणाय चतुर्वर्गाय धर्मार्थकाममोक्षाय, तत्प्राप्तय इति यावत्। पञ्चमपुरुषार्थरूपायै भक्त्यै वा नृणां नराणां जीवानां पतिं सत्तास्फूर्तिप्रदानेन पालकमग्निं परमात्मानं निषिक्तं नितरां सिक्तं समर्पितं शुचिमन्त्रैः संस्कृतं तेजः प्रकाशप्रायं मन आनड् आ समन्ताद् व्याप्नोति, तदा अग्निः परमात्मा रेतो जगद्बीजभूतमदृष्टरूपेण परिणतं कर्मसमवेतं जलं द्यौरभीके दिवः समीपे जनयद् जनयति, मेघरूपेण सूदति क्षरति च। कीदृशं रेतः ? शर्धं बलस्य हेतुभूतम्, अनवद्यं प्रशस्यम्। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यदिषे वृष्ट्यै निषिक्तं शुचि तेजो यज्ञोत्थं नृपतिं सूर्यं राजानमिव आनट्, तदाग्निः शर्धमनवद्यं युवानं युवत्वसम्पादकं स्वाध्यं रेतो द्यौरभीके जनयत् सूदयच्च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नृपतिं राजानमिवेत्यस्यासङ्गतेः, मुख्यार्थत्यागे मानाभावात्। युवानमित्यस्य युवत्वसम्पादकमित्यनर्थः, गौणार्थाश्रयणात्। एवमन्यदप्यूहनीयम् ॥ ११ ॥

अग्ने॒ शर्ध॑ मह॒ते सौभ॑गाय॒ तव॑ द्यु॒म्नान्यु॑त्त॒मानि॑ सन्तु।
सं जा॑स्पत्यꣳ सु॒यम॒मा कृ॑णुष्व शत्रूय॒ताम॒भि ति॑ष्ठा॒ महा॑ꣳसि ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप हमें सबसे बड़ा सौभाग्यशाली बनाने के लिये अपने बल को प्रकट कीजिये। आपके लिये हवि के रूप में दिया हुआ अन्न अथवा हमारा यश सब तरफ फैले। आप पत्नी सहित यजमान को जितेन्द्रिय एवं परस्पर प्रीतियुक्त बनावें। हमारे साथ शत्रुता करने वालों के तेज को आप नष्ट कर दें ॥ १२ ॥

अत्रिदुहित्रा विश्ववारया दृष्टा त्रिष्टुप्। द्वितीयमरुत्वतीयपुरोरुक्। 'मरुत्वन्तं वृषभम्' (वा० सं० ७।३६) इत्यस्याः स्थाने 'अग्ने शर्ध' इति ऋक्। हे भगवन्नग्ने, त्वं महते सौभगाय महत्सौभाग्याय लोकस्थितये शर्ध उत्सहस्व बलमाविष्कुरु। एवमुद्यच्छतस्तव द्युम्नानि यशांस्यन्नानि हविर्लक्षणानि वा उत्तमान्युत्कृष्टानि सन्तु। 'द्युम्नं द्योततेर्यशो वा अन्नं वा' (नि० ५।५) इति यास्कः। किञ्च, जास्पत्यं जाया च पतिश्च जायापती, तयोर्भावो जास्पत्यम्, जायापत्यमिति प्राप्ते आकारयकारयोर्लोपः सुगागमश्चेत्युव्वटाचार्यः। 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' (पा० सू० ५।१।१२८) इति यक्। पत्नीयजमानरूपं सुयमं सुनियमं जितेन्द्रियमन्योन्यमाबद्धरागं समाकृणुष्व। सुष्ठु यम्यत इति सुयमम्, 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' (पा० सू० ३।३।१२६) इति खल्। किञ्च, शत्रूयतां शत्रुत्वमिच्छतां जनानां महांसि तेजांसि महत्त्वान्यभितिष्ठ पद्भ्यामाक्रमस्व अभिभव।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं महते सौभगाय लोकस्थितये शर्ध उत्सहस्व बलमाविष्कुरु। परमेश्वराधीनैव लोकस्थितिरिति प्रसिद्धमेव। एवं कुर्वतस्तव द्युम्नानि यशांस्युत्तमानि लोकोत्तराणि सन्तु भवन्तु। किञ्च, लोके जास्पत्यं जायापत्यं पत्नीयजमानरूपं सुयमं सुनियममन्योन्याबद्धरागं समाकृणुष्व। शत्रूयतां रावणादीनां महांसि तेजांसि, अभितिष्ठ पद्भ्यामभिभव।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन् राजन् वा, त्वं महते सौभगाय शर्ध कृणुष्व, यतस्तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु, त्वं जास्पत्यं सुयमं समाकृणुष्व शत्रूयतां महांस्यभितिष्ठ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदेन विदुषो राज्ञो वा ग्रहणे मानाभावात्। सिद्धान्ते त्वग्न्यधिष्ठातरि देवेऽग्निशब्दप्रयोगः, तत्रैव च सर्वाणि पदानि सङ्गतानि। नहि मनुष्यमात्रस्य तथोपदेशे परामर्शदानेऽपि विद्वान् राजा वा समर्थः ॥ १२ ॥

त्वाᳬं हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने ।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! हमने पूरी गम्भीरता के साथ सूर्य के समान प्रकाशमान आपको ही वैदिक मन्त्रों के द्वारा वरण किया है । हमारे स्तोत्रों को आप सुनते हैं । श्रेष्ठ मनुष्य उत्तम देवता से बल प्राप्त कर इन्द्र और वायु के समान हविरूप अन्न से आपको तृप्त करते हैं ॥ १३ ॥

भरद्वाजदृष्टा त्रिष्टुप् । माहेन्द्रग्रहपुरोरुक् । 'इन्द्रो नृवत्' (वा० सं ७।३९) इत्यस्याः स्थाने 'त्वां हि मन्द्रतमम्' इति ऋक् । हे अग्ने, वयं मन्द्रतमं मन्दनीयतममतिगम्भीरं मृदुहृदयं वा त्वामर्कशोकैरर्कवत् शोचन्ते दीप्यन्त इत्यर्कशोकास्तैः, यथोक्तस्थानकरणानुप्रदानवद्भिर्देवताद्यात्मवित्तसन्तानगर्भगुरुशुश्रूषाधिगताविप्लावितब्रह्मचर्यैरधीता मन्त्रा अर्कवद्दीप्ता भवन्ति, अयातयामैरिति यावत् । ववृमहे वृतवन्तः । त्वं च वृतः सन् महि महन्नोऽस्माकं महत्त्वपूर्णं स्तोत्रं श्रोषि शृणोषि, विकरणव्यत्ययः । किञ्च, इत्थं नाम त्वं महती देवता येन नृतमाः श्रेष्ठमनुष्याः शवसा बलेन इन्द्रं न इन्द्रमिव त्वा पृणन्ति पूरयन्ति । वायुमिव च राधसा हविर्लक्षणेन धनेनान्नेन च पृणन्ति पूरयन्ति । अथवा 'देवता' इति इन्द्रस्य वायोश्च विशेषणमेव । तथा सति देवताशब्दात् सुपो लुक् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, मन्द्रतमं गम्भीरं मृदुलहृदयं त्वां वयमर्कशोकैः सूर्यवद्दीप्तैरयातयामैरमोघैर्मन्त्रैर्ववृमहे वृतवन्तः । त्वं च नोऽस्माकं महि महत् स्तोत्रं श्रोषि शृणोषि, सर्वज्ञत्वात् सर्वगतत्वाच्च । शवसा बलेन इन्द्रं न इन्द्रमिव वायुं न वायुमिव च स्थितं त्वां वयं राधसा भक्तिरसपरिप्लुतेन हविर्लक्षणेनान्नेन नृतमा मनुष्यश्रेष्ठाः पृणन्ति पूरयन्ति ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, हि यतो नो महि श्रोषि तस्मान्मन्द्रतमं त्वामर्कशोकैर्वयं ववृमहे । नृतमाः शवसा इन्द्रं न वायुमिव च देवतास्त्वा राधसा पृणन्ति' इति, तदप्यसङ्गतम्, मनुष्यमात्रस्याग्निपदार्थत्वे महत्त्वपूर्णवचनश्रवणेन पुरुषार्थासिद्धेः । नहि मनुष्यमात्रस्यातिशयेन प्रशंसादिसत्कृतत्वमपि सम्भवति, न वा सूर्यवत् प्रकाशवद् राजापि सम्भवति, कुतस्तदीयास्तादृशा भवेयुः । न च नृतमा मनुष्यमात्रमग्निं पृणन्ति ॥ १३ ॥

त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः ।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वान् दयन्त गोनाम् ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ हे अग्निदेव ! हमने आपको विधिपूर्वक आहुतियाँ दी हैं, मनुष्यों के मध्य में इन्द्रियों का निग्रह कर जो धनवान् विद्वान् गो-दुग्ध और दधिसहित विशिष्ट अन्नों को आपको अर्पित करते हैं, वे आपकी प्रीति के पात्र हों ॥१४॥

द्वे बृहत्यौ आदित्यग्रहपुरोरुचौ । आद्या वसिष्ठदृष्टा । 'कदाचन स्तरीरसि' (वा० सं० ८।२) इत्यस्याः स्थाने 'त्वे अग्ने' इति ऋक् । अन्त्या प्रस्कण्वदृष्टा 'श्रुधि श्रुत्कर्ण' इति ऋक् । सा च 'कदाचन प्रयुच्छसि' (वा० सं० ८।३) इति ऋचः स्थाने । हे स्वाहुत अग्ने, सुष्ठु आहूयत इति स्वाहुतः, तत्सम्बुद्धौ । हे अग्ने, त्वे तव ते प्रियासः प्रियाः सन्तु । के ते ? ये सूरयो विदितवेदितव्याः पण्डिताः, ये च यन्तारो निगृहीतेन्द्रिया मघवानो धनवन्तो हविष्मन्तः, ये च जनानां मध्ये गोनाम्, गवामिति प्राप्ते 'गोः पादान्ते' (पा० सू० ७।१।५७) इति ऋचि पादान्ते विद्यमानस्य गोशब्दस्य नुटि रूपम्, गवां सम्बन्धिभिरुपसेचनैर्दुग्धदध्यादिसहितान् ऊर्वान् अन्नविशेषान् पुरोडाशादीन् दयन्त ददति । 'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु' इत्यस्य लङि रूपम्, अडभाव आर्षः, ते प्रिया भवन्तीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे स्वाहुत ! सु शोभनैः सच्चरित्रैरा समन्ताद् हूयत इति स्वाहुतः, तत्सम्बुद्धौ। हे अग्ने परमेश्वर ! अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे स्वाहुताग्ने, ये जनानां मध्ये वीरा यन्तारो मघवानो गोनां पृथिवीधेन्वादीनां हिंसकान् ऊर्वान् दयन्त घ्नन्ति, ते सूरयस्ते तव प्रियासः सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रस्य राज्ञोऽप्यग्निपदेन ग्रहणे मानाभावात्, लक्षणायाश्च निर्मूलत्वात् ॥ १४॥

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः।
आसीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे शोभन श्रवणशक्ति युक्त अग्निदेव ! अपने साथ चलने वाले यजमान द्वारा दी हुई आहुतियों को ग्रहण करने वाले देवताओं के साथ इस यज्ञ को आप सुनिये, अर्थात् चारों तरफ से उसका निरीक्षण कीजिये। मित्र और अर्यमा देवता प्रातःसवन में हवि को प्राप्त कर कुशा के आसन पर विराजमान हों ॥ १५ ॥

हे अग्ने, त्वमध्वरं यज्ञमाग्नेयं श्रुधि शृणु। 'श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० सू ६।४।१०२) इति हेर्धिः। श्रुत्कर्ण शृणुत इति श्रुतौ श्रुधातोः क्विपि, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) इति तुकि द्विवचने रूपम्। अर्थिवचसां श्रोतारौ कर्णौ यस्य स श्रुत्कर्णः, तत्सम्बुद्धौ हे श्रुत्कर्ण, त्वयि श्रुतवति वह्निभिः, वहन्ति हवींषीति वह्नयः, 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्' (उ० ४।५२) इति वहेर्निप्रत्यये रूपम्। तैर्वोढृभिर्देवैः सयावभिः सह यान्तीति सयावानः, यातेर्वनिप्, तैः सहिता मित्रोऽर्यमा प्रातर्यावाणश्च, प्रातर्यान्ति हविः प्राप्नुवन्तीति तथोक्ताः। प्रातःसवने येषां हविःप्राप्तिर्भवति, ते देवा बर्हिष्यासीदन्तु उपविशन्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, हे श्रुत्कर्ण ! त्वमध्वरं श्रुधि शृणु। त्वयि श्रुतवति वह्निभिर्वोढृभिर्देवैः सयावभिः सह गमनैः सह मित्रोऽर्यमा प्रातर्यावाणश्च देवा बर्हिषि आसीदन्तु उपविशन्तु, परमेश्वरस्यैव यज्ञाधिष्ठातृत्वात्, तच्छ्रवणेनैव कर्मणां याथातथ्येन सम्भवात्।

दयानन्दस्तु—'हे श्रुत्कर्णाग्ने, सयावभिर्वह्निभिर्देवैः सह अध्वरं श्रुधि। प्रातर्यावाणो मित्रो अर्यमा च बर्हिष्यासीदन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धर्मब्रह्मपरे वेदेऽग्न्यादिपदेन मनुष्यविशेषराजादीनां ग्रहणे मानाभावात्। सयावभिरित्यनेनापि पदेन ये सह यान्ति ते वह्निभिः कार्यनिर्वाहकैरित्यादिव्युत्पत्तिभिः कार्यनिर्वाहकाः सहगामिन उक्ताः। योऽर्यान् वैश्यान् स्वामिनो मन्यते तम्, ये प्रातर्यान्ति ते प्रातर्यावाण उच्यन्ते, एवं रीत्या वेदार्थस्य लोकायतीकरणं कृतमिति स्वरूपनिरूपणमेव तन्निराकरणं वेदितव्यम् ॥ १५ ॥

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामव आवृणानः सुमृडीको भवतु जातवेदाः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वज्ञ, सभी यज्ञों में देवताओं के साथ उपस्थित रहने वाले, अदीन स्वभाव, सब मनुष्यों के अतिथि के समान पूज्य जो अग्निदेव देवताओं के निमित्त हविरूप अन्न को समर्पित करते हैं, वे हमारे लिये सब प्रकार से सुखदाता हों ॥ १६ ॥

वामदेवगोतमदृष्टा त्रिष्टुप्। आदित्यग्रहदधिश्रपणे विनियुक्ता। 'यज्ञो देवानाम्' (वा० सं० ८।४) इत्यस्या ऋचः स्थाने 'विश्वेषामदितिः' इति ऋक्। योऽग्निर्विश्वेषां सर्वेषां यज्ञियानां यज्ञार्हाणां यज्ञसम्पादकानां

वा मध्ये, अदितिर्नास्ति दितिः खण्डनं यस्य स तथोक्तः, 'दोऽवखण्डने' इति धातोः 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१७४) इति क्तिचि, 'द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति' (पा० सू० ७।४।४०) इति धातोरिकारान्तादेशे दितिरिति रूपम्, अदीन इति यावत् । तथा विश्वेषां मानुषाणां नराणामग्निहोत्रिणामतिथिः, अतिथिवत् पूज्यो जातवेदा जातप्रज्ञानः, देवानामवो हविर्लक्षणमन्नम्, अव इत्यन्ननाम (निघ० २।७।९), आवृणानः समर्पयन्, सुमृडीकः सु शोभनं मृडीकं सुखं यस्यात् स तथोक्तः, शोभनसुखकारीति यावत्, भवतु ।

अध्यात्मपक्षे - योऽग्निः परमेश्वरो विश्वेषां यज्ञियानां देवानामदितिरखण्डनीयो विश्वेषां मानुषाणामतिथिरतिथिवत् सत्करणीयः, यश्च जातवेदा वेदानामाविर्भाविकः, स देवानामवो हविर्लक्षणमन्नम्, आवृणानः समर्पयन्, सुमृडीकः शोभनसुखकारी भवतु ।

दयानन्दस्तु—'हे सभापते, भवान् विश्वेषां यज्ञियानां देवानां मध्येऽदितिर्विश्वेषां मानुषाणामतिथिरिव आवृणानः सुमृडीको जातवेदा अग्निर्भवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्राणां मनुष्यपरत्वेनैव योजनात् । अत्र देवपदेन विद्वांसो मनुष्याः, यज्ञिया इत्यनेन सत्कारार्हाः, अदितिपदेनाखण्डितबुद्धिर्मनुष्यो ग्राह्यः । जातवेदा अपि आविर्भूतविद्यायोगप्रज्ञो मनुष्यः । अग्निपदेनाप्यग्निवत्तेजस्वी पुरुष एव ग्राह्यः । तदेतत्सर्वं लोकसिद्धमेवेति प्रत्यक्षानुमानाभ्यामज्ञातार्थज्ञापकत्वेन वेदानां प्रामाण्यं व्याहन्यते । न चात्र मुख्यार्थे सम्भवति शब्दानां गौणार्थता ग्राह्या । तस्मादुपेक्ष्य एवैतादृशोऽर्थः ॥ १६ ॥

महो अग्नेः समिधानस्य शर्मण्यनागा मित्रे वरुणे स्वस्तये ।
श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य की श्रेष्ठ आज्ञा होने पर देवताओं के निमित्त समर्पित अन्नरूप हवि का अब हम संस्कार करते हैं । पूज्य दीप्यमान अग्नि के आश्रय में मित्र और वरुण की दृष्टि में निरपराध सिद्ध होकर हम सर्वविध कल्याण से सम्पन्न हों ॥ १७ ॥

लुशोधानाकदृष्टा त्रिष्टुप् । सावित्रग्रहस्य पुरोरुक् । 'वाममद्य सवितः' (वा० सं० ८।६) इत्यस्याः स्थाने 'महो अग्नेः' इति ऋक् । देवानां सम्बन्धि तदवो हविर्लक्षणमन्नम्, अद्य वयं वृणीमहे संस्कुर्मः । कस्मिन् सति ? सवितुः सूर्यस्य सवीमनि सत्यनुज्ञायां सत्याम्, 'सवीमा प्रसवोऽनुज्ञा' इति कोशः । कीदृशे सवीमनि ? श्रेष्ठे, अन्यदेवानुज्ञापेक्षया सूर्यानुज्ञायाः श्रेष्ठत्वात् । किमर्थम् ? येनान्नेन वयं स्वस्तये स्वस्तिमन्तो भवेम । कीदृशा वयम् ? अग्ने शर्मणि शरणे आश्रये विद्यमानाः, मित्रे वरुणे च अनागा अनागसो मित्रवरुणाद्यपराधरहिताः । कीदृशस्याग्नेः ? महः, मह्यत इति मट् पूज्यः, 'मह पूजायाम्', क्विप्, तस्य समिधानस्य दीप्यमानस्य तादृशस्याग्नेः शरणे सन्तः, मित्रवरुणादिषु चापराधरहिता वयमद्य देवानां हविर्लक्षणमवोऽन्नं वृणीमहे संस्कुर्महे इति सम्बन्धः ।

अध्यात्मपक्षे—सवितुर्जगदुत्पादयितुः कारणस्य परमेश्वरस्य श्रेष्ठे सर्वोत्कृष्टे सवीमन्याज्ञायां सत्यां येनान्नेन वयं स्वस्तये स्वस्तिमन्तः स्याम भवेम, देवानां सम्बन्धि तदवो हविर्लक्षणमन्नं वयमद्य वृणीमहे संस्कुर्मः । कीदृशा वयम् ? महः पूज्यस्य समिधानस्य दीप्यमानस्य स्वप्रकाशस्याग्नेः परमेश्वरस्य शर्मणि शरणे सन्तः । मित्रे वरुणे च अनागा अनागसोऽपराधरहिताः । एतावता परमेश्वराश्रितैरपि कारणान्तर्यामिप्रेरणया देवतान्तरापराधशून्यैर्देवानां कृते चरुपुरोडाशादिसंस्कारः कर्तव्य एव । 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (भ० गी० १८।४६) इति गीतोक्तेः ।

दयानन्दस्तु 'वयं राजपुरुषाः, महः समिधानस्याग्नेः शर्मणि श्रेष्ठे मित्रे वरुणे चानागाः स्याम। अद्य सवितुः सूर्यस्य सवीमनि सत्याज्ञायां सत्यां प्रसवे वृणीमहे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'वयं राजपुरुषाः' इत्यंशस्य वेदबाह्यत्वात्। अग्नेः समिधानस्येत्यादिपदैरपि गौणार्थग्रहणं निर्मूलमेव। अग्निपदेन राजादिग्रहणं सर्वथा निर्मूलम्। मित्रवरुणादिपदानामपि गौणार्थस्वीकरणं सर्वथा निर्मूलमेव ॥ १७ ॥

आपश्चित्पिप्युस्तर्यो न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वꣳ हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव! वेदवाणियों के द्वारा आपकी स्तुति करने वाले ऋत्विक्गण आपके निमित्त किये जा रहे यज्ञ को व्याप्त कर रहे हैं और निग्राभ्या रूप जल को भी संस्कृत कर रहे हैं। आप उसी प्रकार हमारे सामने आइये, जैसे वायु अपने नियुत नामक अश्वों के सम्मुख आता है। आप ही सारी प्रजा को बुद्धि के साथ अन्न को देने वाले हैं ॥ १८ ॥

सर्वमेधे इन्द्रस्तुत्संज्ञमुक्थ्यसंस्थं द्वितीयमहर्भवति, 'इन्द्रस्तदुक्थ्यो द्वितीयमहर्भवति।....तस्यैन्द्रा ग्रहा भवन्त्यैन्द्रयः पुरोरुचः सर्वमैन्द्रमसदिति' (श० १३।७।१।४) इति श्रुतेः। तत्र आपश्चिदित्यादय इमां त इत्यन्ता द्वादशर्चः। 'तं प्रत्नथा (१), अयं वेनः (२), महाँ इन्द्रः (३), कदाचन स्तरीरसि (४), कदाचन प्रयुच्छसि (५) इति पञ्च प्रतीकोक्ताः सम्भूय सप्तदश इन्द्रदेवत्या ऐन्द्रवायवादिसावित्रान्तानां ग्रहाणां ग्रहणमन्त्रा वसिष्ठदृष्टाः। त्रिष्टुप्। ऐन्द्रवायवस्य पुरोरुक् 'आ वायो' (वा० सं० ७।७) इत्यस्याः स्थाने 'आपश्चित्' इति ऋक्। हे इन्द्र, जरितारः स्तोतार ऋत्विजस्ते तव ऋतं यज्ञं नक्षन् नक्षन्ति व्याप्नुवन्ति, नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा (निघ० २।१८।२), लङि अडभाव आर्षः। आपश्चिद् आपोऽपि निग्राभ्यारूपाः, पिप्युराप्याययन्ति सोमं वर्धयन्ति, 'ओप्यायी वृद्धौ' इत्यस्माल्लिटि 'लिड्यङोश्च' (पा० सू० ६।१।२९) इति पीभावे रूपम्। तत्र दृष्टान्तः—स्तर्यो गावो न, स्तृणन्ति सुन्वन्ति याभिस्ताः स्तर्यः, याभिः सोमः सूयते ता गावो वेदरूपा वाच इव। ता यथा सोममाप्याययन्ति, तथा आपोऽपि। अत एव त्वं नोऽस्मानच्छ अभिमुखमागच्छ। वायुर्न वायुरिव यथा वायुर्नियुतः स्वानश्वानभियाति, तथा त्वमस्मानभिमुखमागच्छेत्यर्थः। हि यतस्त्वं धीभिर्बुद्धिभिः कर्मभिर्वा वाजान् अन्नानि विदयसे विविधं ददासि, 'दय दान-गति-रक्षण-हिंसा-दानेषु', अत एवागच्छ।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, जरितारः स्तोतारस्ते तव ऋतं यज्ञं नक्षन् नक्षन्ति व्याप्नुवन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, ते तव जरितार आप इव पिप्युः, स्तर्यो गावो न ऋतं नक्षन्, तथा वाजान्नो नियुतश्च वायुर्न त्वमच्छ याहि, हि यतो धीभिर्विद्यसे दयसे, तस्माच्चिदपि सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यत इन्द्रपदस्य विद्वान् वा राजा वा गौण एवार्थः। ईश्वरो देवराजो वा परमैश्वर्यवत्त्वात् तथा सम्बोधनार्हः। ते तव जरितारः स्तोतार आप इव पिप्युरित्यप्यसङ्गतम्, मूलमन्त्रे इवपदप्रयोगाभावात्। न च मनुष्यस्तोतॄणां तथा वृद्धिर्दृश्यते, तथानुपलब्धेः। न वा नृस्तोतारः किरणा इव सत्यं व्याप्नुवन्तो दृश्यन्ते। वाजान् विज्ञानवत इत्यपि निर्मूलम् ॥ १८ ॥

गाव उपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा। उभा कर्णा हिरण्यया ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे गोमाताओं, अथवा वृष्टिधाराओं! ये महान् द्यावापृथिवी नामक युगल देवता सर्वविध यज्ञफल को देने वाले हैं। इन दोनों को सुवर्ण-मय कर्ण के आभूषण प्रदान कर चत्वाल रूप कूप के प्रति आप गमन करें ॥ १९ ॥

तिस्रो गायत्र्यः। इयं 'गावः' इति पुरुमीढाजमीढदृष्टा ऐन्द्रवायवस्य द्वितीया पुरोरुक्। 'इन्द्रवायू' (वा० सं० ७।८) इत्यस्याः स्थाने 'गाव उपा' इति ऋक्। दक्षिणारूपा गाव उच्यन्ते। हे गावः, अवतं कूपं चात्वालरूपं प्रति, अवत इति कूपनाम (निघ० ३।२३।७), उपावत उपागच्छत। ननु को हेतुरुपागमने ? इति तत्राह—मही महत्यौ द्यावापृथिव्यौ यज्ञस्य रप्सुदा रप्सुदे, 'सुपां सुलुक्.....' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेराकारः। 'धर्मयज्ञस्य साधनभूते' इति सायणः, आरिप्सोः फलप्रदे इति यावत्। यद्वा रपणं शब्दनं रप् मन्त्रः, तेन सुष्ठु दातव्ये मन्त्रप्रयोगपूर्वकं दानमिति यावत्। अथवा 'षूद क्षरणे', रपा मन्त्रेण क्षारणीयें। 'रप्सु' इति रूपनामेति महीधराचार्यः। रप्सु रूपं दत्त इति रप्सुदे। द्यावाभूमी यज्ञस्य शोभां कुरुत इति यूयमुपगच्छत। किञ्च, भवतीनाम् उभा उभौ कर्णा कर्णौ हिरण्यया हिरण्ययौ हिरण्यमयौ। अत एव श्रुत्वा दानार्थमागच्छतेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे गावो वेदवाच इन्द्रियाणि वा, अवतं कूपं संसाररूपं वा उपावत उपागच्छत। मही मह्यौ द्यावापृथिव्यौ यज्ञस्य रप्सुदे यज्ञस्य फलप्रदे शोभाधायिन्यौ वा, तस्माद्यूयमुपागच्छत। किञ्च, युष्माकं हिरण्यमयौ ज्योतिर्मयौ ज्ञानमयौ कर्णौ तस्माज्जीवानां कल्याणार्थमागच्छत।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा गाव उभा रप्सुदा मही रक्षन्ति, तथा यूयं हिरण्यया कर्णा यज्ञस्यावतमुपावत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हे मनुष्या इति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। अत्र गाव इति सम्बोधनमपहाय मनुष्या इति सम्बोधनकल्पने श्रुतहान्यश्रुतकल्पने प्रसज्येयाताम्। न चात्र इवशब्दप्रयोगोऽस्ति। न चावतशब्दस्य वेद्यादिगर्तोऽर्थः, निर्मूलत्वात्। अवतंपदं कूपपरं तु युक्तम्, निघण्टुप्रामाण्यात्। तच्च चात्वालरूपमेव, न वेद्यादिपरम्। सर्वथापि सिद्धान्तानुसारी पूर्वोक्त एवार्थो न्याय्यः॥ १९॥

यद॒द्य सूर॒ उदि॑ते॒ऽना॑गा मि॒त्रो अ॑र्य॒मा। सु॒वाति॑ सवि॒ता भगः॑॥ २०॥

मन्त्रार्थ—अब सूर्य का उदय होने वाला है। इस समय निरपराध व्यक्तियों को मित्र, अर्यमा, सविता और भग नामक देवता शुभ कार्यों के निमित्त प्रेरित करते हैं, उनको भले कामों में लगाते हैं॥ २०॥

वसिष्ठदृष्टा मैत्रावरुणपुरोरुक्। 'अयं वाम्' (वा० सं० ७।९) इत्यस्याः स्थाने 'यदद्य सूर' इति ऋक्। यत् कर्म अद्यास्मिन् द्यवि सूरे सूर्ये उदिते उद्गते सत्यनागा अनपराधो मित्रोऽनागा अर्यमा तथाभूतः सविता भगश्च सुवाति प्रसौति प्रेरयति वा, तत्कर्म कुर्यादिति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—अद्य सूर्ये ज्ञानरूपे उदिते सत्यनपराधो मित्रः, तथाभूतोऽर्यमा सविता भगश्च यथा प्रेरयति तथा कुर्यात्, स्वतः कर्तृत्वाभावात्। सर्वे च देवाः परमात्मभावापन्ना अनपराधा भवन्ति। तेषां प्रेरणयैव यावज्जीवनं व्यवहारो भवति। तेन ते यथा प्रेरयन्ति, तथैव ज्ञानी व्यवहरति। ते च प्रारब्धानुसारमेव प्रेरयन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यद्योऽद्य उदिते सूरेऽनागा मित्रः सविता भगोऽर्यमा स्वास्थ्यं सुवाति, स राज्यं कर्तुमर्हति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असामञ्जस्यात्। तथाहि—यद्यद्य सूर्योदयेऽनागा अपि कामं पूर्वदिनेषु परदिनेषु रात्रौ च पापकृत् स्यात्, तर्हि किं स्यादित्यनुक्तेः। सवितृशब्दस्य मुख्यमर्थमुपेक्ष्य राज्यनियमेन प्रेरयितेत्यर्थोऽपि काल्पनिक एव। अर्यमादिपदानामपि तथोक्तोऽर्थो निर्मूल एव। स्वास्थ्यपदमपि मन्त्रबाह्यमेव॥ २०॥

आ सुते सिञ्चत श्रियᳪ रोदस्योरभिश्रियम् ।
रसा दधीत वृषभम् । तं प्रत्नथाऽयं वेनः ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—आत्मा रूप नदी पृथ्वी और स्वर्ग के चारों तरफ शोभित धर्म को धारण करती है। सोम के अभिषुत होने पर ऋत्विक्गण उसको सीचें ॥ २१ ॥

सुनीतिदृष्टा आश्विनग्रहपुरोरुक्। 'या वां कशा' (वा० सं० ७।११) इत्यस्याः स्थाने 'आ सुते' इति ऋक्। यं वृषभं वर्षितारं सोमम्, रसा नदी 'रसतेः शब्दकर्मणः' (नि० ११।२५) इति यास्कः। दधीत धारयति पुष्णाति वा। रसति नदतीति रसा, नद्युपकण्ठे सोमस्य जायमानत्वात्। तादृशे सोमे सुतेऽभिषुते आसिञ्चत ग्रहपात्रेषु चमसेषु। कथंभूतं वृषभम्? सोमं रोदस्योर्द्यावापृथिव्योरभिश्रियमधिगतश्रियम्, सोमश्रियो ब्रह्माण्ड-व्यापिनीत्वात्। पुनः कथंभूतं श्रियम्? श्रीयत इति श्रीः, तं रोदस्योरभिश्रियम्, तस्य सर्वजगदाधारत्वात्। अथवा श्रियं श्रियो हेतुभूतम्। अभि सर्वतः श्रीः शोभा यस्य स अभिश्रीः, तम्। 'तं प्रत्नथा' (वा० सं० ७।१२), 'अयं वेनः' (वा० सं० ७।१६) इति द्वे प्रतीकोक्ते शुक्रमन्थिनोः प्राकृते सप्तमस्य द्वादशीषोडश्यौ कण्डिके।

अध्यात्मपक्षे—रसा नदी गङ्गा यं वृषभमभीष्टानां वर्षितारं भगवन्तं सोममुमया सह वर्तमानं शिवं दधीत धारयति, सोमे सुतेऽभिषुते सति हे ऋत्विजः साधका वा तमासिञ्चत गङ्गाजलेनाभिषेकं कुरुत। कीदृशं वृषभम्? रोदस्योरभिश्रियं सर्वब्रह्माण्डाधारं श्रियं शोभारूपं वा।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, रसा यूयं सुते वृषभं रोदस्योरभिश्रियं श्रियं सभापतिमासिञ्चत, स च युष्मान् दधीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे राज्ञः सभापतेर्वा अर्चाचितत्वात्। रसा इत्यस्य आनन्ददातार इत्यप्यनर्थः, निर्मूलत्वात्। मनुष्या इति सम्बोधनमपि निर्मूलमेव। सुते जगतीत्यपि स्वारस्यहीनम्। न च मनुष्येण राज्ञा द्यावापृथिव्योः शोभावृद्धिर्दृश्यते, तस्य देवाद्यपेक्षया नगण्यत्वात् ॥ २१ ॥

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषन् श्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत्तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण देवताओं ने चिरकाल से स्थित इन्द्र देवता को शोभित किया है। देवताओं की दीप्ति को आच्छादित करता हुआ वह अपने प्रकाश से विचरण करता है। विश्व का निरूपक वह इन्द्र वृष्टि के निमित्त मेघों को प्रेरित करता है। सावधान बुद्धि वाले फलवर्षी इन्द्र का यही नाम प्रसिद्ध है ॥ २२ ॥

विश्वामित्रदृष्टाग्रयणपुरोरुक्। त्रिष्टुप्। 'ये देवासः' (वा० सं० ७।१९) इत्यस्याः स्थाने 'आतिष्ठन्तम्' इति ऋक्। इन्द्रस्यात्र वृष्टिकर्म वर्ण्यते। विश्वे देवाः सर्वे देवा मध्यमका देवगणा ग्रीष्मान्ते मध्यमस्थानेऽन्तरिक्ष आतिष्ठन्तं समन्तात् तिष्ठन्तमिन्द्रं पर्यभूषन् परिरक्षणेनालङ्कृतवन्तः। स इन्द्रश्चरति सर्वत्र गच्छति। कीदृश इन्द्रः? श्रियो वसानः, देवानां दीप्तीराच्छादयन्, स्वरोचिः स्वं रोचिः प्रकाशो यस्य स तथोक्तः, अनन्याधीन-प्रकाशत्वात् स्वयंप्रकाशः। विश्वरूपं विश्वं रूपयति शोभयति निरूपयतीति विश्वरूपः, स तादृश इन्द्रः, यतोऽ-मृतानि जलान्यातस्थौ वृष्ट्ये आस्थितवान्, अधिष्ठितवान्, वृष्णो वर्षणशीलस्येन्द्रस्य तन्महत् प्रसिद्धं नाम वासवो वृत्रहेत्यादि। कीदृशस्य वृष्णः? असुरस्य असवः प्राणा बलानि विद्यन्ते यस्य स असुरः, मत्वर्थीयो र आर्षः। महाप्राणो महाबलः, सावधानः प्रज्ञावान् वा तस्य, असुपदेन प्रज्ञादीनामपि संग्रहात्। यद्वा विश्वरूप इन्द्रः,

यतोऽमृतान्युदकान्यातस्थौ, उदकेषु पातयितव्येषु वृष्णोर्वर्षितुरसुरस्य प्रज्ञावतस्तन्नाम नमनं प्रह्वीभावः, महामहिम्नो महाबलस्य महाप्रज्ञावतो वृष्टिकार्ये प्रवृत्तिः प्रह्वीभाव एव।

अध्यात्मपक्षे – आसमन्तात् तिष्ठन्तमिन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं परमेश्वरं विश्वे सर्वे देवाः पर्यभूषन् परिवार्य अलङ्कृतवन्तः। स च स्वरोचिरनन्याधीनदीप्तित्वेन स्वप्रकाशः स्वदीप्त्या देवानां श्रिय आच्छादयन् स्वेच्छया चरति। स च विश्वरूपः सर्वात्मत्वात् सर्वरूपः, अमृतानि मोक्षम्, पूजायां बहुवचनम्, यत आतस्थौ अधिष्ठितवान्, तत् तस्य असुरस्य महाप्राणस्य महन्नाम नमनम्।

दयानन्दस्तु –'हे विद्वांसः, विश्वे भवन्तो यथा श्रियो वसानः स्वरोचिर्विश्वरूपोऽग्निश्चरति अमृतानि तस्थौ तथैवमातिष्ठन्तं पर्यभूषन्। यद् वृष्णोऽसुरस्यास्य महत्तन्नामास्ति, तेन सर्वाणि कार्याण्यलङ्कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विद्युतो महन्नामासिद्धेः। न च विद्युदग्निरभौतिकमात्मानं व्याप्नोति, तस्य भौतिकत्वात्। यत्तु भावार्थे 'असुर' इति नामेति, तदपि निर्मूलम्। न चाग्नेरसुरेति नाम प्रसिद्धम्, तस्य विशेषणत्वात्। वृष्णोर्वर्षणशीलस्य असुरस्य असवः प्राणा बलानि वा विद्यन्ते यस्य तस्येति सङ्गतेः। 'तेन सर्वाणि कार्याण्यलङ्कुरुत' इत्यपि निर्मूलमेव, मूलासंस्पर्शित्वात्॥ २२॥

प्र वो॑ म॒हे मन्द॑मानाया॒न्धसोऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय विश्वा॒भुवे॑।
इन्द्र॑स्य॒ यस्य॒॑ सु॒मख॒ꣳ सहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णं च॒ रोद॑सी सप॒र्यत॑ः॥ २३॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विक्गण! आप लोगों के हविरूप अन्न से मोदमान सर्वव्यापी महनीय इन्द्र के सभी मनुष्य यजमान हैं, अतः सबको इन्द्र का पूजन करना चाहिये। पृथ्वी और स्वर्ग इस इन्द्ररूप यजमान के शोभन यज्ञ, बल, महान् यश और धन की समृद्धि की स्तुति करते हैं॥ २३॥

सुचीकदृष्टा त्रिष्टुप्। ध्रुवग्रहपुरोरुक्। 'मूर्धानं दिवः' (वा० सं० ७।२४) इत्यस्याः स्थाने 'प्र वो' इति ऋक्। प्रेत्युपसर्गस्य अर्चेति क्रियापदेन सम्बन्धः। हे ऋत्विजः, यूयं विश्वानराय विश्वे सर्वे नरा यष्टारो यस्य स विश्वानरः, 'नरे संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।१२९) इति दीर्घः, इन्द्रः, तस्मै प्रार्चा प्रार्चत, तादृशमिन्द्रं पूजयतेत्यर्थः, वचनव्यत्ययः। अर्चेत्यत्र 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घः। कीदृशाय विश्वानराय? महे महते, वो युष्माकमन्धसोऽन्धसा अन्नेन हवीरूपेण मोदमानाय, 'मदी हर्षे'। विश्वाभुवे विश्वम् आसमन्ताद् व्याप्नोतीति विश्वाभूः सर्वव्यापी, तस्मै। विश्वाभूर्वा यस्य तस्मै। विश्वं भवति प्रभवति यस्मादिति वा विश्वाभूः, संहितायां छान्दसो दीर्घः। किञ्च, रोदसी द्यावापृथिव्यौ यस्येन्द्रस्य सुमखं शोभनं यज्ञं सहो बलं महि महत्त्वं श्रवो यशो नृम्णं धनं च सपर्यतः पूजयतः, द्यावाभूमी यस्य सुमखादीन् पूजयतः, हे ऋत्विजो यूयमपि तं पूजयतेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे ऋत्विजः साधका वा, यूयं विश्वानराय विश्वानरं परमात्मानं प्रार्च प्रार्चत पूजयत। विश्वं सर्वमासमन्तान्नृणाति नयति पुरुषार्थं प्रापयति यस्तस्मै सर्वप्राणिपुरुषार्थप्रापकाय तादृशेन्द्राय परमात्मने प्रार्चत पूजयतेत्यर्थः, विभक्तिव्यत्ययः। शेषोंऽशः पूर्ववद् व्याख्येयः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, त्वं रोदसी यस्येन्द्रस्य सुमखं नृम्णं सहो महि श्रवश्च सपर्यतः, तस्मै विश्वानराय महे मन्दमानाय विश्वाभुवे प्रार्च। स वोऽन्धसः सुखं ददातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, रोदस्योर्द्यावापृथिव्योस्त्वद्रीत्या जडयोः सपर्याकर्तृत्वायोगात्। सुखं ददात्विति मन्त्रबाह्यमेव, तथानुल्लेखात्॥ २३॥

बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः । येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—जिन ऋत्विजों का मित्र जराहीन इन्द्र है, उनका प्राण महान् होता है, उनका ज्ञानखड्ग विशाल और शरीर महान् बलशाली होता है ॥ २४ ॥

त्रिशोकदृष्टा गायत्री। ऐन्द्राग्नपुरोरुक्। 'इन्द्राग्नी' (वा० सं० ७।३१) इत्यस्याः स्थाने 'बृहन्' इति ऋक्। येषां यजमानानां युवा सपर्य इन्द्रः सर्वकर्मसु दक्षः कुशलः सखा सहायः, एषामिन्द्रो बृहन् इद् महानेव इध्मो भवति, इन्धे येन स इध्मः, 'इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्' (उ० १।१४५) इति साधुः। यद्वा तेषामेषां यजमानानां बृहन् इद् महानेव इध्मो भूरि बहु शस्तं शस्त्रं होतृषदनासीनेन होत्रा पठितं शस्त्रं बहु महत्त्वोपेतं स्वरुः खड्गः, यूपाय काष्ठछेदने प्रथमोत्पन्नः शकलो वा स्वरुः। यः स्वरुर्होम उपयुज्यते, सोऽपि पृथुर्विशालो भवति। महत्त्वं च साधनानां साध्योत्कर्षं कुर्वतां भवति। एतत्कथनेन यज्ञानां वा भूयोभूयः करणमेवाभिप्रेतं स्यात्।

अध्यात्मपक्षे—युवा तरुणः समर्थ इन्द्रः परमात्मा येषां जनानां दक्षः कुशलः सखा सहायः, तेषामेषां बृहन् इद् महानेव इध्मः शस्त्रमृक्समूहविशेषो बहु भूरि स्वरुः काष्ठशकलविशेषः पृथुर्विशालो भवति, सर्वाणि यज्ञसाधनानि गुणसम्पन्नानि महाफलनिष्पादकानि भवन्ति।

दयानन्दस्तु—'येषामिध्मः पृथुः स्वरुर्युवा बृहन्निन्द्रः सखास्ति, एषामिव एषामेव भूरि शस्तं स्तुतियोग्यं कर्म भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वावस्थातीते परमात्मनि युवत्वानुपपत्तेः। न च स प्रदीप्तोऽपि, नीरूपत्वात्। विस्तीर्णतापि तस्य न समञ्जसा, नित्यव्यापकस्य संकुचितत्वाभावेन विस्तीर्णताया अप्यसङ्गतेः। शस्तं स्तुत्यं कर्म इत्यपि निर्मूलम्, मन्त्रे कर्मपदाभावात्। तदपेक्षया शस्त्रमेवाधिकं सङ्गतम्, धात्वर्थानुरोधात् ॥ २४ ॥

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः । महाँ२॥ अभिष्टिरोजसा ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! आप यहाँ आइये, तेज से श्रेष्ठ पूजनीय सोमरस से संयुक्त हमारे दिये हुए अन्न से आप तृप्त होइये ॥ २५ ॥

मधुच्छन्दोदृष्टा गायत्री वैश्वदेवपुरोरुक्। 'ओमासः' (वा० सं० ७।३६) इत्यस्याः स्थाने 'इन्द्रेहि' इति ऋक्। हे इन्द्र आ इहि, इह आगच्छ, 'ओमाङोश्च' (पा० सू० ६।१।९५) इति पररूपम्। आगत्य च अन्धसोऽध्यानीयस्य सोमलक्षणस्यान्नस्य स्वांशेन, अथवा अन्धसा, विभक्तिव्यत्ययः, हविर्लक्षणेनान्नेन त्वं मत्सि तृप्यस्व, 'मदी हर्षे' श्यनो लुक्। ततोऽपि विश्वेभिः सर्वैः सोमपर्वभिः सोमयागकालैर्निमित्तभूतैः सोमैः सोमांशुभिर्वा त्वं मत्सि। कस्मात् त्वमेवमस्माभिः प्रार्थ्यसे ? इत्याह—यत ओजसा स्वकीयेन बलेन महानसि श्रेष्ठोऽसि, अभिष्टिरभ्येषणशीलश्च शत्रूणामभियष्टव्यो वासि। पृषोदरादित्वात् सिद्धिः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र, परमैश्वर्यवन् ईश्वर, त्वमेहि आभिमुख्येनागच्छ। अन्धसा सोमपर्वभिः सोमांशुभिश्च त्वमोजसा बलेन महानसि। अभिष्टिश्च सर्वैरभियष्टव्यः पूजनीयश्च।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र विद्वन्, यतस्त्वमोजसा सह महानभिष्टिरभियष्टव्यो विश्वेभिः सोमपर्वभिरन्धसो मत्सि, तस्मादस्मानेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अल्पशक्तिमतो जीवस्येन्द्रशब्दार्थत्वायोगात्। सुरराजस्यापि परमेश्वरांशत्वेनैवेन्द्रत्वम्, अन्यापेक्षया परमैश्वर्यवत्त्वात्। परमेश्वर एव चाभियष्टव्यः, अभियजनफलस्य दातुं शक्तत्वात्। न च मनुष्याणां तृप्तौ सोमस्य सोमपर्वणो वा उपयोगो दृश्यते। न च सामाजिका राजानं विद्वांसं वा मनुष्यं सोमपर्वभिर्यजन्ति ॥ २५ ॥

इन्द्रो॑ वृ॒त्रम॑वृणो॒च्छर्ध॑नीतिः॒ प्र मा॒यिना॑ममिना॒द्वर्प॑णीतिः । अह॒न् व्यं॑ᳪसमु॒शध॒ग्वने॑ष्वा॒विर्धेना॑ अकृणोद् रा॒म्याणा॑म् ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—बलवान् नानारूपधारी चोरों के दाहक इन्द्र ने मायावी असुरों को युद्ध के लिये ललकारा और उन्हें मार डाला। वन में खोज-खोज कर उसने दुष्टों का नाश किया और ऋत्विजों की पवित्र वाणियों को प्रकट किया ॥ २६ ॥

विश्वामित्रदृष्टा त्रिष्टुप्। प्रथममरुत्वतीयपुरोरुक्। 'इन्द्र मरुत्व' (वा० सं० ७।३५) इत्यस्याः स्थाने 'इन्द्रो वृत्रम्' इति ऋक्। य इन्द्रो वृत्रं दैत्यमवृणोद् युद्धाय वृणोति स्म, यश्च मायिनां मायिनो दैत्यान्, विभक्तिव्यत्ययः, प्रामिणाद् हिनस्ति, 'मीञ् हिंसायाम्' क्र्यादिः, प्वादित्वात् 'प्वादीनां ह्रस्वः' (पा० सू० ७।३।८०) इति ह्रस्वत्वम्। मायिनामिति सम्बन्धसामान्यविवक्षायां कर्मणि षष्ठी। यश्च व्यंसम् 'अंस समाघाते' चुरादिरदन्तः, विशेषेणांसयति समाहृत्य गृह्णाति सर्वस्वमिति व्यंसः साहसिको धूर्तो वा, तम्। अहन् हन्ति। क्व ? वनेषु। वनस्थानपि दुष्टान् हन्तीत्यर्थः। यश्च इन्द्रः शर्धनीतिः शर्धे चतुरङ्गे बले नीतिर्यस्य सः, शर्ध इति बलनामसु (निघ० २।९।१७), चतुरङ्गबलनीतियुक्तः, यश्च वर्पणीतिः वर्पं नानारूपं नयति प्राप्नोतीति वर्पणीतिः, वर्प इति रूपनामसु (निघ० ३।७।३), स्वेच्छया नानारूपविजृम्भकः, यश्च उशधग् उशन्ति कामयन्ते परस्वमित्युशाः, पचाद्यच्, आर्षं सम्प्रसारणम्, चौरास्तान् दहतीत्युशधक्, वनेष्वपि विद्यमानान् उशान् शत्रुत्वं कामयमानान् दहतीत्युशधक्, स इन्द्रः, राम्याणाम्, रमयन्ति देवान् क्रताविति राम्यास्तेषां यायजूकानां धेनाः स्तुतिरूपा वाचः, धेना इति वाङ्नामसु (निघ० १।११।३९), आविरकृणोत् प्रकटयति, यजमानाः स्तुवन्तीति प्रादुष्करोतीत्यर्थः। यद्वा अवश्यं रमयितव्यानां राम्याणां यजमानानां धेनाः स्तुतिरूपा वाच इत्थं शत्रून् हन्ति, इत्थमपरिमितं धनं ददातीत्येवंरूपाः, प्रकटयतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—य इन्द्रः परमेश्वरः, वृत्रं प्रावारकमज्ञानम्, अवृणोत् युद्धाय वृणोति, यश्च शर्धनीतिरज्ञानादिभिः शत्रुभिः सार्धं सामादिनीतिमपहाय बलनीतिं दण्डनीतिमङ्गीकरोति, यश्च मायिनां मायिनः प्रामिणाद् हिनस्ति, यश्च वर्पणीतिः पुरुरूप ईयते, यश्च व्यंसं धीसम्बन्धिनं मायिनम्, अहन् हन्ति, यश्च वनेषु उशधग् उशान् शत्रुत्वं कामयमानान् वनेष्वपि वर्तमानान् दहति, स इन्द्र राम्याणामवश्यं रमयितव्यानां भक्तानां धेनाः स्तुतीराविरकृणोत् प्रकटयति।

दयानन्दस्तु—'शर्धनीतिर्वर्पणीतिरुशधग् इन्द्रो वृत्रमवृणोत्। मायिनां प्रामिणाद् वनेषु व्यंसमहन् राम्याणां धेना आविरकृणोत्, स एव राजा भवितुमर्हति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रपदस्य गौणार्थग्रहणे मानाभावात्। अन्यत्तु सायणमहीधरार्थमोषणमेव ॥ २६ ॥

कु॒तस्त्वमि॑न्द्र॒ माहि॑नः॒ सन्नेको॑ यासि सत्पते॒ किं त॑ इ॒त्था। सम्पृ॑च्छसे समरा॒णः शु॑भा॒नैर्वो॒चेस्तन्नो॑ हरिवो॒ यत्ते॑ अ॒स्मे। म॒हाँ२॥ इन्द्रो॒ य ओज॑सा क॒दा च॒न स्त॒रीर॑सि क॒दा च॒न प्रयु॑च्छसि ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे सत्पुरुषों के पालक इन्द्रदेव ! आप बिना सहायक के कहाँ जाते हैं ? आपके जाने का क्या कारण है ? आपकी इस शुभ यात्रा के विषय में हम विनम्र भाव से पूछते हैं कि हे हरित वर्ण के अश्वों वाले इन्द्रदेव ! हमें आप इस एकाकी गमन का कारण बतावें, क्योंकि हम आपके ही हैं। 'महान् इन्द्रो य ओजसा' (७।४०), 'कदा चन स्तरीरसि' (८।२), 'कदा चन प्रयुच्छसि' (८।३) ये तीन मन्त्रों के प्रतीक हैं। इन मन्त्रों से भी इन्द्र की स्तुति की जाती है ॥२७॥

अगस्त्यदृष्टा त्रिष्टुप्। सशस्त्रमरुत्वतीयपुरोरुक् 'मरुत्वन्तम्' (वा० सं० ७।३६) इत्यस्याः स्थाने 'कुतस्त्वम्' इति ऋक्। इन्द्रमरुत्संवादे मरुतां वाक्यमेतदिन्द्रं प्रति। हे इन्द्र! हे सत्पते, सतां श्रुतिस्मृत्युक्ताचारनिष्ठानां पतिः पालकः सत्पतिः, तत्सम्बुद्धौ, त्वमेकः सन् असहायः सन् कुतो यासि क्व गच्छसि। ते तव इत्था इत्थमनेन प्रकारेणेति विग्रहे इदमः 'इदमस्थमुः' (पा० सू० ५।३।२४) इति स्थमुप्रत्यये, मान्तत्वात् 'कृन्मेजन्तः' (पा० सू० १।१।३९) इत्यव्ययत्वात्, 'अव्ययादाप्सुपः' (पा० सू० २।४।८२) इति विभक्तेर्लुकि प्राप्ते, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेर्डादेशः। कीदृशस्त्वम्? माहिनो महितः पूज्यः, निष्ठातस्य नत्वं धातोर्वृद्धिश्च छान्दसी। यद्वा मह उत्सवोऽस्यास्तीति मही, स एव माहिनः, 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पा० सू० ५।४।३८) इति प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात् स्वार्थेऽण्, 'इनण्यनपत्ये' (पा० सू० ६।४।१६४) इति टिलोपाभावः। किञ्च, समराणः सम्यग् गच्छन् सन् शुभानैः शोभनैर्वचनैस्त्वं सम्पृच्छसे कतमः पन्था इति लोकान् पृच्छसि, एकाकित्वात्। शोभन्त इति शुभानानि, शानचि शपि लुप्ते रूपम्। सम्पूर्वस्यर्तेः शानचि शपि लुप्ते समराण इति। हे हरिवः, हरयोऽश्वा अस्य सन्तीति हरिवान्, 'छन्दसीरः' (पा० सू० ८।२।१५) इति मतुपो मस्य वः, तत्सम्बुद्धौ 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इत्यलोऽन्त्यपरिभाषया नकारस्य रुः, हरितवर्णाश्वयुक्त हे इन्द्र, नोऽस्माकं तद् एकाकिगमनकारणं वोचेर्ब्रूहि। यद् यतो हेतोरस्मे वयं ते तव त्वदीया इति हेतोर्वक्तव्यमित्यर्थः। यद्वा हे सत्पते, त्वं कुतः कस्माद्धेतोर्माहिनो महनीयः सर्वस्य पूज्यः सन् असहायः सन् शत्रून् यासि। किं ते तव इत्थंभूतं प्रयोजनमस्ति, येन एकाकी यासि। समराणः सङ्गच्छमानः शुभानैः शोभनैर्वचनैः कतमः पन्था इति सम्पृच्छसे लोकान्, हे हरिहो हरिवन्, तत्कारणं नोऽस्माकं वोचेर्ब्रूहि। अथवा यत्ते व्यावृत्तिकारणं तत् तदस्मेऽस्मासु वोचेरिति सम्बन्धः। 'अस्मदः' इति सप्तमीबहुवचने 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेः शे आदेशे, 'लशक्वतद्धिते' (पा० सू० १।३।८) इति शकारस्य इत्संज्ञायाम्, 'शेषे लोपः' (पा० सू० ७।२।९०) इति मपर्यन्तात् परस्य लोपे 'अस्मे' इति रूपम्। तिस्रः प्रतीकोक्ताः। तत्र (१) 'महाँ इन्द्रो य ओजसा' (वा० सं० ७।४०) इत्यस्या माहेन्द्रग्रहणे विनियोगः। 'महाँ इन्द्रो नृवत्' (वा० सं० ७।३९) इत्यस्याः स्थाने 'कदाचन स्तरीरसि' (वा० सं० ८।२), 'कदाचन प्रयुच्छसि' (वा० ८।३) इति द्वयोरादित्यग्रहणे विनियोगः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्र ऐश्वर्यवान् भक्तानां रक्षार्थं भक्तविरोधिनां शत्रूणां निराकरणार्थं त्वरया गरुडादीनपि परित्यज्य गच्छति। यथा गजेन्द्रोद्धारे—

पर्यङ्कं विसृजन् गणानगणयन् भूषामणिं विस्मरन्
उत्तानोक्ति गजा गजेति निगदन् पद्भ्यामनालोकयन्।
निर्गच्छन्नपरिच्छदः खगपतिं चारोढुमीक्षन् द्रुतं
ग्राहग्रस्तगजेन्द्रपुङ्गवसमुद्धाराय नारायणः॥

ततोऽपि त्वरायाम्—'छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानश्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः' (भा० पु० ८।३।३१)। गरुडो महता वेगेन धावन्नपि—'चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य तस्माद्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार' (भा० पु० २।७।१६) इति गजेन्द्रोद्धरणानन्तरं विश्रमणकाले तत्राजगाम। तदुक्तमभियुक्तैः—'या त्वरा द्रौपदीत्राणे या त्वरा गजमोक्षणे। मय्यार्ते करुणामूर्ते सा त्वरा क्व गता हरे॥' इति। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव ज्ञेयम्।

दयानन्दस्तु—'हे सत्पते इन्द्र, माहिनस्त्वमेकः सन् कुतो यासि, किं त इत्था? हे हरिवो यदस्मे ते तस्मात् समराणस्त्वं नः सम्पृच्छसे शुभानैस्तद्वोचेश्च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रं राजानं परिकल्प्य राजपुरुषैस्तथा प्रश्नकल्पनस्य निर्मूलत्वात्, तादृशलक्षणायां बीजाभावाच्च। न च 'हरिवः' इति सम्बोधनं

राजसु प्रयुज्यते, तथा शिष्टाप्रयोगात् । न च सर्वेऽश्वा हरिशब्देन विवक्ष्यन्ते, हरयो हरिद्वर्णा इन्द्रस्य देवराजस्यैवाश्वाः, तथा भगवतो भास्करस्यापि । तथा चामरसिंहः –'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मयः' (अ० को० १।३।२९)। रामायणेऽरण्यकाण्डे पञ्चमे सर्गे महर्षिशरभङ्गसमीपे भगवता रामभद्रेण कृतमिन्द्रदर्शनं वर्णितम्—

समीपे शरभङ्गस्य ददर्श महदद्भुतम् ॥ ४ ॥
विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरप्रभम् । रथप्रवरमारूढमाकाशे विबुधानुगम् ॥ ५ ॥
असंस्पृशन्तं वसुधां ददर्श विबुधेश्वरम् । सम्प्रभाभरणं देवं विरजोऽम्बरधारिणम् ॥ ६ ॥
तद्विधैरेव बहुभिः पूज्यमानं महात्मभिः । हरितैर्वाजिभिर्युक्तमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ ७ ॥ इति ।

श्रीरामश्चाद्भुतं तद् दृष्ट्वा लक्ष्मणमब्रवीत् । यद्यथा—

रामोऽथ रथमुद्दिश्य भ्रातुर्दर्शयताद्भुतम् ॥ १२ ॥
अर्चिष्मन्तं श्रिया जुष्टमद्भुतं पश्य लक्ष्मण । प्रतपन्तमिवादित्यमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ १३ ॥
ये हयाः पुरुहूतस्य पुरा शक्रस्य नः श्रुताः । अन्तरिक्षगता दिव्यास्त इमे हरयो ध्रुवम् ॥ १४ ॥ इति ।

न वा राजा एकाकी युद्धार्थं गच्छति, सहायानपेक्षस्य इन्द्रस्यैव तथात्वोपपत्तेः । न च सम्पृच्छस इति वर्तमानप्रयोगस्य पृच्छेति कल्पनं युक्तम्, यथाश्रुतार्थत्यागे कारणाभावात् ॥ २७ ॥

आ तत्त इन्द्रायवः पनन्ताभि य ऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान् ।
सकृत्स्वं ये पुरुपुत्रां महीᳫं सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन् ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! जो मनुष्य जल से युक्त सोमरूप अन्न को अभिषुत करना चाहते हैं, जो एक ही बार धन देने वाली, अनेक पुत्रों वाली, अनन्त धारा वाली इस विशाल भूमि को दुहना चाहते हैं, वे इस शुभ कर्म के लिये आपको पूजते हैं ॥ २८ ॥

गौरीवीतिदृष्टा त्रिष्टुप् । आदित्यग्रहस्य दधिश्रपणे विनियुक्ता । 'यज्ञो देवानाम्' (वा० सं० ८।४) इत्यस्याः स्थाने 'आ तत्त' इति ऋक् । आङुपसर्गः पनन्तेत्याख्यातेन संसृज्यते । हे इन्द्र, ते तव कर्म वृत्रवधादिकम्, आयवो मनुष्या यजमानाः, आयव इति मनुष्यनामसु (निघ० २।३।१७), आपनन्त पूजयन्ति, पनतिः पूजाकर्मा (निघ० ३।१४।३१), लङ् अडभाव आर्षः । कथम्भूता आयवः ? ये आयव ऊर्वमन्नं सोमरूपं अभि तितृत्सान् अभितितृत्सन्ति तर्दितुं हिंसितुमिच्छन्ति, 'उतृदिर् हिंसानादरयोः' सन्नन्तः । 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० ३।४।९७) इत्यन्ते रिकारलोपः संयोगान्तलोपश्च, ये सोमं सोतुमिच्छन्तीत्यर्थः । गोमन्तं गौरुदकमस्ति यस्मिन् स गोमान् निग्राभ्यालक्षणोदकयुतः, तम् । ताभिरेव सोमः सूयते । पुनः कीदृशा आयवः ? ये मनुष्या महीं भूमिं दुदुक्षन् दुधुक्षन्ति दोग्धुमिच्छन्ति, दुहेः सन्नन्ताल्लट्, पूर्ववदिकारलोपः, तेऽपि तव कर्म पनन्ति स्तुवन्ति । कीदृशीं महीम् ? सकृत्स्वं सकृदेकवारमेव प्रभूतं सूते बहु हिरण्यधान्यादि ददातीति सकृत्सूः, ताम् । पुरुपुत्रां बहुपुत्राम्, सर्वेषां पृथिवीत एवोत्पत्तेः । सहस्रधारां सहस्रं धारा अविच्छिन्नवेगेन पतनं हिरण्यादीनां यस्यां सा, बहुभोगदेति यावत्, ताम् । यद्वा सहस्रमसंख्यं प्राणिजातं धरतीति सहस्रधारा ताम्, बृहतीं महतीं ये विप्राः सोममभिषुण्वन्ति, ये च क्षत्रिया भूमिं दुहन्ति पालयन्ति ददते वा, ते इन्द्रस्य वृत्रवधादि कर्म स्तुवन्ति, नान्ये दुर्मेधस इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, आयवो मनुष्यास्तव कर्म दुष्टनिग्रह-शिष्टपरिपालन-प्रपञ्चसृष्टिस्थिति-पालनादि आपनन्त पूजयन्ति। के मनुष्याः ? ये गोमन्तम् ऊर्वम् अभि तितृत्सान् निग्राभ्यायुक्तं सोमम् अभिषुण्वन्ति, ये च विविधविशेषां भूमिं पालयन्ति ददते च, ते मनुष्यास्तव कर्म पूजयन्ति, न सामान्यजनाः।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, य आयवो मनुष्याः सकृत्स्वं या सकृद् एकवारं सूते सा सकृत्सूः, तां पुरुपुत्रां सहस्रधारां बृहतीं महीं महतीं भूमिं दुदुक्षन् दोग्धुमिच्छेयुः, ये गोमन्तं दुष्टा गाव इन्द्रियाणि यस्य तमूर्वं हिंसकं तितृत्सान् तर्दितुमिच्छेयुः, ये च ते तदा पनन्तः प्रशंसेयुः, तान् त्वं सततमुन्नय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अत्रापीन्द्रपदेन राज्ञो ग्रहणस्य निर्मूलत्वात्। गोमन्तमित्यनेन दुष्टा गावो यस्येति ग्रहीतुं न शक्यते, मन्त्रे दुष्टपदाभावात्। ऊर्वपदस्य न हिंसकोऽप्यर्थः, अत्रोर्वपदेन सोमलक्षणस्यान्नस्यैव जिघृक्षितत्वात्। अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ २८ ॥

इ॒मां ते॒ धियं॒ प्र भ॑रे म॒हो म॒हीम॒स्य स्तो॒त्रे धि॒षणा॒ यत्त॑ आन॒जे ।
तमु॑त्स॒वे च॑ प्रस॒वे च॑ सास॒हिमिन्द्रं॑ दे॒वासः॒ शव॑साऽमद॒न्ननु॑ ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! आप हमारे पूज्य हैं, इस महान् स्तुति को हम आपको समर्पित करते हैं। इस यजमान की बुद्धि आपके स्तोत्रगान से स्थिर हुई है। देवगण सब प्रकार के अभ्युदय में पुत्रोत्सव आदि के अवसर पर बलवान् शत्रुओं के जेता इन्द्र का अनुमोदन करते हैं ॥ २९ ॥

कुत्सदृष्टा जगती। सावित्रपुरोरुक्। 'वाममद्य' (वा० सं० ८।६) इत्यस्याः स्थाने 'इमां ते' इति ऋक्। हे इन्द्र, इमां मामकीं धियं बुद्धिं स्तुतिं वा कर्म वा ते तुभ्यं प्रभरे प्रहरामि समर्पयामि। कीदृशस्य ते ? महो महतः पूज्यस्य वा धियम्। कीदृशीम् ? महीं महतीम्। यद् यस्मात्, अस्य यजमानस्य धिषणा बुद्धिर्वाग् वा स्तोत्रे क्रियमाणे ते तव, कर्मणि षष्ठी, त्वाम् आनजे अभिव्यनक्ति, अञ्जेर्लिटि नकारलोपश्छान्दसः। यद्वा अस्य यज्ञस्य स्तोत्रे धिषणा वाग् यद् यस्मात् तव स्वभूतान् गुणान्, आनजे अभिव्यनक्ति, ऐन्द्रमेव यज्ञं प्रकाशयति। किञ्च, तमेवेन्द्रं देवासो देवा अपि, अन्वमदन् अनुमदन्ति, अभिष्टुवन्ति, 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इत्यनोः परः प्रयोगः। क्व स्तुवन्ति ? उत्सवे अभ्युदये प्रसवे गुर्वनुज्ञायां सत्याम्। यद्वा प्रसवे पुत्राद्युत्पत्तिरूपे उत्सवे इन्द्रं स्तुवन्ति। कीदृशमिन्द्रम् ? शवसा बलेन, सासहिं सहत इति सासहिस्तम्, शत्रूणामभिभवितारम्। चकारौ समुच्चयार्थौ।

अध्यात्मपक्षे—'हे इन्द्र परमेश्वर, इमां महीं महतीं मामकीं धियं स्तुतिं बुद्धिं वा ते तुभ्यं प्रभरे प्रहरे समर्पयामि। कीदृशस्य ते ? महः, महतो ब्रह्मरूपस्य। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु 'हे इन्द्र, अहं महीमिमां ते धियं प्रभरे धरे स्तोत्रेऽस्य धिषणा यत्ते आनजे व्यनक्ति तं शवसा बलेन सासहिं भृशं सोढारमिन्द्रमहमुत्सवे प्रसवे च देवासोऽन्वमदन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सामान्यराजपरत्वे लौकिकार्थबोधकत्वेनानुवादकत्वात्, अनधिगतगन्तृत्वाभावेन वेदानामप्रामाण्यापत्तेः। बहुभिरंशैर्महीधरार्थानुकरणमेव ॥ २९ ॥

वि॒भ्राड् बृ॒हत्पि॑बतु सो॒म्यं मध्वायु॒र्दध॑द्य॒ज्ञप॑ता॒ववि॑ह्रुतम् ।
वात॑जूतो॒ यो अ॑भि॒रक्ष॑ति॒ त्मना॑ प्र॒जाः पु॑पोष पुरु॒धा वि रा॑जति ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्यदेव ! यजमान में अखण्डित आयु को स्थापित करते हुए आप इस अत्यन्त स्वादु सोमरूप हवि का पान कीजिये। सूर्यदेव वायु से प्रेरित आत्मा द्वारा प्रजा का पालन और पोषण करते हैं, अनेक रूपों में शोभित होते हैं ॥ ३० ॥

अथ तृतीयमहः सूर्यस्तुत्, 'सूर्यस्तदुक्थ्यस्तृतीयमहर्भवति। सूर्यो वै सर्वे देवाः सर्वेषां देवानामाप्त्यै सौर्या ग्रहा भवन्ति सौर्यः पुरोरुचः सर्वᳫं सौर्यमसदिति' (श० १३।७।१।५) इति श्रुतेः। चतुर्दश सौर्यः पुरोरुचः, तिस्रः प्रतीकोक्ताः। एवं सम्भूय सप्तदश ऋचः सूर्यस्तुत्संज्ञे उक्थ्यसंस्थे सर्वमेधस्य तृतीयेऽहनि। ऐन्द्रवायवादि-सावित्रान्तानां ग्रहाणां पूर्वोक्तक्रमेण ग्रहणमन्त्रा बोध्याः। विभ्राड्दृष्टा जगती। ऐन्द्रवायवपुरोरुक्। विभ्राट् विविधं भ्राजत इति विभ्राट् सूर्यः, सोम्यं सोमसम्बन्धि सोमरूपं वा हविः पिबतु। कीदृशं सोम्यम् ? बृहन्महद् मधु मधुरस्वादोपेतम्। यः सूर्यो वातजूतो वातेन प्रेरितः सन्, वातेन प्रेरितं रविमण्डलं भ्रमतीति ज्योतिः-शास्त्रे प्रसिद्धिः। तथा चाह कालिदासोऽभिज्ञानशाकुन्तले—'त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां ज्योतींषि चारयति च प्रविभक्तरश्मिः। तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम्॥' इति। त्मना आत्मना 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा० सू० ६।४।१४१) इत्याकारलोपः। प्रजा अभिरक्षति पालयति, पुपोष पुष्णाति च शीतोष्णवातवर्षैः। पुरुधा बहुरूपेण विराजति शोभते च, अग्निविद्युन्नक्षत्ररूपैर्दीप्यते वा। किं कुर्वन् ? यज्ञपतौ यजमानेऽविहुतमखण्डितम्, 'ह्रु ह्वरेश्छन्दसि' (पा० सू० ७।२।३१) इति धातोर्निष्ठायां ह्रु-आदेशः। आयुर्दधत् स्थापयन्।

दयानन्दस्तु—'यो वातजूतः सूर्य इव विभ्राड् अविह्रुतमायुर्यज्ञपतौ दधत् त्मना प्रजा अभिरक्षति पुपोष पुरुधा विराजति च, स भवान् बृहत् सोम्यं मधु पिबतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। किञ्च, गौणार्थ-स्वीकरणमेव सर्वत्र। नहि मनुष्यो राजा वा वायुजूतो वा भवति, सूर्यतुल्यप्रकाशो वा भवति। न च भोजनादि-व्यवहारे यज्ञः, न वा तत्पालको यज्ञपतिर्भवति। न राजा पुरुधा विराजति। तस्यौषधिरसपानविधानमपि व्यर्थमेव, रागप्राप्तत्वेन विधातुमनर्हत्वात् ॥ ३० ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यᳫं स्वाहा ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—सब पदार्थों को जानने वाले, प्रकाशात्मक सूर्यदेव की किरणें उनको इस समस्त विश्व को प्रकाशित करने के निमित्त वितर्क के साथ प्रतिदिन ऊर्ध्व वहन करती हैं, अर्थात् स्वर्ग में पहुँचाती हैं। इन्हीं के निमित्त प्रदत्त यह हवि भली प्रकार गृहीत हो ॥ ३१ ॥

तिस्रः प्रस्कण्वकुत्सागस्त्यदृष्टाः, सौरी गायत्री। ऐन्द्रवायवस्य द्वितीया पुरोरुक्। केतवो रश्मयः, त्यं तं प्रसिद्धं सूर्यं देवमुद्वहन्ति। कीदृशं देवम् ? जातवेदसम्, जातं वेदो ज्ञानं धनं वा यस्मात् तम्। किमर्थमुद्वहन्ति ? विश्वाय विश्वस्य दृशे दर्शनाय, जगद् द्रष्टुमित्यर्थः। तस्मै सूर्याय स्वाहा सुहुतमस्तु। अन्यत् सप्तमेऽध्याये एकचत्वारिंश्याः कण्डिकाया व्याख्याने उक्तम् ॥ ३१ ॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ२॥ अनु। त्वं वरुण पश्यसि ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हे शोधक वरुणदेव ! आप जिस अनुग्रह दृष्टि से उस सुपर्ण स्वरूप को देखते हैं, उसी चक्षु से आप हम ऋत्विजों को भी देखिये ॥ ३२ ॥

सौरी गायत्री। मैत्रावरुणपुरोरुक्। सर्वमेधे पक्ष्याकारेणाग्निश्चीयते। तद्रूपमात्मानं सम्पाद्य मुक्तिमाप्नोति। तदत्र प्रतिपाद्यते—हे पावक पावयितः शुद्धिकारक, येन चक्षसा दर्शनेन त्वं भुरण्यन्तमनुपश्यसि, क्षिप्रपाती पक्षी भुरण्युः, भुरण्युमात्मानं करोतीति भुरण्यति, भुरण्यतीति भुरण्यन्, तम्, शतृप्रत्ययान्तः। सर्वमेधयाजिनं भुरण्युपक्षिरूपमात्मानं कृत्वा स्वर्गच्छन्तं येन चक्षसा ज्ञानेनानुपश्यसि, तेन चक्षसा जनानस्मानपि भुरण्यतो हे वरुण, अत्र वरणीयत्वात् सूर्य एव वरुण उच्यते, हे सूर्य ! त्वं पश्य। तदोऽध्याहारेण वाक्यपूर्तिः।

अध्यात्मपक्षे—हे पावक, पावयतीति पावकः, तत्सम्बुद्धौ हे परमेश्वर ! तस्यैव पावनहेतुनामगुणकर्मस्वरूपत्वात्। येन दर्शनेन त्वद्विषयकज्ञानेन भुरण्यपक्षिवदात्मानं त्वल्लोकं गच्छन्तमनुपश्यसि, तेनैव चक्षसा ज्ञानेन जनानस्मानपि भुरण्यतः पश्य। अत्र सगुणब्रह्मप्राप्तिदृष्ट्या शीघ्रगामिपक्षिवदात्मानं कृत्वा भगवल्लोकं साधको गच्छति। निर्गुणब्रह्मदृष्ट्या तु शीघ्रतया देहाद्युपाधिबाधेन नित्यप्राप्तब्रह्माभिव्यक्तिरेव विवक्षिता। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते' (बृ० उ० ४।४।६) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे पावक वरुण विद्वन्, त्वं येन चक्षसा भुरण्यन्तमनुपश्यसि, तेन जनान् पश्य। तवानुकूलाश्च वयं वर्तेमहि' इत्यादिकं व्याख्याति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यस्य विदुषो राज्ञो वा दर्शनमात्रकर्मणि वैशेष्यानुपपत्तेः। देवाः सत्यसङ्कल्पाः सङ्कल्पमात्रेणानुग्रहवत्या बुद्ध्या वा दर्शनगोचरस्य कल्याणं कर्तुं शक्नुवन्ति, दिव्यशक्तित्वात्। न मनुष्यास्तथा कर्तुं पारयन्ति, अल्पशक्तित्वात्। पावकवरुणादिपदानां देवताविशेषपरत्वमेव, न श्रेष्ठमनुष्यपरत्वम्। नहि धात्वर्थानुरोधमात्रेण प्रयोगा भवन्ति। नहि लोके चेष्टावति गवादौ घटशब्दः प्रयुज्यते, अतिप्रसङ्गात्। भुरण्यपदमपि शकुनिविशेषे प्रसिद्धमिति तां प्रसिद्धिमतिक्रम्य पालकमात्रपरत्वे यदि प्रयुज्येत, तर्हि शाब्दन्याये महान् दुर्नयः समुदियात् ॥ ३२ ॥

दैव्यावध्वर्यू आगतꣳ रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञꣳ समञ्जाथे। तं प्रत्नथायं वेनश्चित्रं देवानाम् ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे दिव्य अश्विनीकुमारों ! आप लोग सूर्य के समान कान्तिमान् रथ से हमारे यहाँ आइये। पुरोडाश, दधि आदि से यज्ञ को सींच कर बहुत हवि वाला बनाइये ॥ ३३ ॥

गायत्री आश्विनपुरोरुक्। हे दैव्यौ देवानामिमौ दैव्यौ, 'देवाद्यञञौ' (पा० सू० ४।१।८५, वा० ३) इति यञि रूपम्, तत्सम्बोधने। अध्वर्यू अध्वरमिच्छतोऽध्वरीयतः, अध्वरीयत इत्यध्वर्यू, अध्वरशब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि, धातुसंज्ञायाम्, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्यये, 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० सू० ७।४।३५) इति निषेधादीत्वनिवृत्तौ, 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इत्यन्त्यलोपे रूपम्। अथवा अध्वरं याति यौति वेत्यध्वर्युः, 'मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम्' (पा० सू० ३।२।१८०, वा० १) इति डुः। हे अश्विनौ, युवां रथेन आगतमागच्छतम्, आगमनं कुरुतम्, शपो लुक्। कीदृशेन रथेन ? सूर्यत्वचा सूर्यस्येव त्वक् कान्तिर्यस्य स सूर्यत्वक्, तेन। एत्य च मध्वा मधुरस्वादुना हविषा युवां यज्ञं समञ्जाथे चरुपुरोडाशदध्यादिना च यज्ञं संम्रक्षयतम्, प्रभूतानि हवींषि कुरुतमित्यर्थः। समाप्तमिति साधुरूपं समञ्जयतमित्यर्थः। 'तं प्रत्नथा' (७।१२), 'अयं वेनः (७।१६), 'चित्रं देवानाम्' (७।४२) इति तिस्रः प्रतीकोक्ताः। आद्ये द्वे शुक्रमन्थिपुरोरुचौ, तृतीयाऽऽग्रयणस्य पुरोरुक्।

दयानन्दस्तु—'हे दैव्यावध्वर्यू, सूर्यत्वचा रथेनागतं मध्वा यज्ञं च समञ्जाथे' इति, यत्किञ्चित्, द्विवचनस्य अतन्त्रत्वात्, देवेषु दिव्येषु विद्वत्सु च कुशलौ अध्वरमहिंसायज्ञं गच्छन्ताविति द्विवचनस्य निर्मूलत्वात्, अन्येषामपि तथात्वसम्भवात्। सूर्यवद्दीप्तरथोऽपि लोके क्वोपलभ्यते ? ॥ ३३ ॥

आ न॒ इडा॑भिर्वि॒दथे॑ सुश॒स्ति वि॒श्वान॑रः सवि॒ता दे॒व ए॑तु ।
अपि॒ यथा॑ युवानो॒ मत्स॑था नो॒ विश्वं॒ जग॑दभिपि॒त्वे म॑नी॒षा ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—सब जीवों का हितकारी अन्तर्यामी ईश्वर हमारी सुन्दर आहुतियों के कारण प्रशंसायोग्य यज्ञशाला में प्रकट हो। हे जरारहित देवताओं ! आगमन काल पर जिस प्रकार आप सब तृप्त होते हैं, उसी प्रकार इस सारे जगत् को भी हमारी प्रज्ञा से तृप्त करें ॥ ३४ ॥

अगस्त्यदृष्टा त्रिष्टुप् । ध्रुवपुरोरुक् । द्वितीयोऽर्धर्चः प्रथमं व्याख्यायते, यच्छब्दयोगादित्युव्वटाचार्यः । हे देवाः, युवानः सर्वकर्मक्षमा जरारहिताः, षड्विधभावविकाररहिता अविपरिणामिनो वा अपि निश्चितम्, अभिपित्वेऽभिपतने आगमनकाले विश्वं जगदुद्धराम इति कृत्वा यथा येन प्रकारेण यूयं मत्सथ तृप्यथ, 'मद तृप्तौ' तथा तेन प्रकारेण विश्वानरो विश्वनरहितकारी सविता देवो नोऽस्माकं यज्ञगृहे आ एतु आगच्छतु । कथमागच्छतु ? इत्यत आह —इडाभिः सुशस्ति यथा स्यात् तथा इडाभक्षणेन शोभना शस्तिः प्रशंसा यस्यां क्रियायां तथा, यथा सर्वे इडां भक्षयन्ति तथा, एत्वित्यर्थः ।

यद्वा - इडाभिः करणभूतैः सुशस्तिभिश्च शोभनैः शंसनैः शस्त्ररूपैः करणैः सहिते विदथे आगच्छत्वित्यर्थः । यद्वा पूर्वार्धेन विश्वानरं सूर्यमुत्तरार्धेन च देवानाह—विश्वानरः सर्वहितकारी सविता देवो नोऽस्माकमिडाभिः सुशस्तिभिर्युक्ते विदथे यज्ञगृहे आगच्छतु । अथ देवानाह—हे देवाः, युवानो जरादिविकाररहिता अपि निश्चितमभिपित्वेऽभिपतने आगमनकाले यथा येन प्रकारेण यूयं मत्सथ तृप्यथ, तथा नोऽस्माकं विश्वं जगद् गन्तृपुत्रगवादिकं मनीषया मनस इच्छया मत्सथ तर्पयत, अन्तर्भावितण्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे युवानः, यथा विश्वानरो देवः सविता इडाभिः शिक्षिताभिर्वाग्भिर्विदथे विज्ञापनीये व्यवहारे सुशस्ति नो विश्वं जगत्, तथाभिपित्वे यूयं मत्सथ, या नो मनीषा तामपि शोधयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, युवानो ब्रह्मचर्येणाधीतविद्या इत्यस्यार्थस्य निर्मूलत्वात् । विश्वानरसवित्रादिपदान्यपि न विश्वनायकसूर्यतुल्यमनुष्यादिपराणि, तथार्थत्वे मानाभावात्, असम्भवाच्च । तादृशोऽपि न विश्वं जङ्गमं च प्राप्तुं शक्नोति ॥ ३४ ॥

यद॒द्य कच्च॑ वृत्रहन्नु॒दगा॑ अ॒भि सू॑र्य । सर्वं॒ तदि॑न्द्र ते॒ वशे॑ ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अन्धकार के नाशक ऐश्वर्ययुक्त सूर्यदेव ! जहाँ कहीं भी आप उदित होते हैं, वह सब स्थान आपके ही वश में हो जाता है ॥ ३५ ॥

श्रुतकक्ष-सुतकक्षदृष्टा गायत्री । ऐन्द्राग्नग्रहपुरोरुक् । हे वृत्रहन्, वृत्रमन्धकारं शार्वरं तमो हन्तीति वृत्रहा, 'ध्वान्तारिदानवा वृत्राः' (अ० को० ३।३।१६४), तथा 'वृत्रो रिपौ घने ध्वान्ते शैलभेदे च दानवे' (मेदिनी १३८।८५) इत्यादिकोशेभ्यः । तत्सम्बुद्धौ हे वृत्रहन् सूर्य, हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त, अद्य यत् कच्च यत्र कुत्रचित् त्वमभि उदगा अभ्युदेषि, तत्सर्वं ते तव, वशेऽस्तीति शेषः । यद्वा उदगा इत्यत्र पुरुषव्यत्ययः, यत्किञ्चित् प्राणिजातमुदेति, तत्सर्वं तव वशे । त्वमेव सर्वस्येशिता इत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे - हे वृत्रहन्, वृत्रमज्ञानान्धकारं हन्तीति वृत्रहा, तत्सम्बुद्धौ हे परमेश्वर, शार्वरतमोहन्तृसूर्योपाधिकः परमेश्वरो वृत्रहा । हे इन्द्र परमैश्वर्योपेत, त्वमद्यास्मिन् दिनेऽस्मानभि उदगाः, अस्मान् प्रति प्रादुर्भव । यत् कच्च यत्किञ्चिदस्ति तत्सर्वं ते तव वशे ।

दयानन्दस्तु—'हे वृत्रहन् सूर्येन्द्र, ते यदद्य सर्वं वशेऽस्ति, तत् कच्चाभ्युदगाः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नहि कस्यचिन्मनुष्यस्य सर्वं जगद्वशे भवति। तस्मात् सूर्येन्द्रादिपदेन कस्यचित् तेजस्विनोऽपि ग्रहणमसङ्गतमेव ॥ ३५ ॥

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमाभासि रोचनम् ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्यदेव ! आप संसार-सागर में नौका के समान हैं, सबके दर्शन-योग्य हैं, सबको तेज प्रदान करने वाले हैं। यह सारा संसार आपके प्रकाश से प्रकाशित है, आप ही सारे संसार को प्रकाशित करते हैं ॥ ३६ ॥

प्रस्कण्वदृष्टा गायत्री, वैश्वदेवपुरोरुक्। हे सूर्य, यस्त्वं तरणिः, तरत्यतिक्रामति नभोवर्त्मेति तरणिः, 'अर्तिसृधृधम्यश्यवितृभ्योऽनिः' (उ० २।१०४) इति तरतेरनिः प्रत्ययः। विश्वदर्शतः सर्वस्य दर्शनीयः 'भृमृदृशि……' (उ० ३।११०) इत्यादिना दृशेरतच्प्रत्ययः। ज्योतिष्कृद् ज्योतिषस्तेजसः कर्तासि, स त्वं विश्वं सर्वं संसारमाभासि समन्तात् प्रकाशयसि। कीदृशं विश्वम्? रोचनं दीप्यमानम्। अग्निविद्युन्नक्षत्रचन्द्रग्रहतारकादिषु त्वदीयमेव ज्योतिर्ज्वलतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे सूर्योपाधिक अन्तर्यामिन्, त्वं ज्योतिष्कृद् ज्योतिषां सूर्यचन्द्रादीनां कर्तासि, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति श्रुतेः, 'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥' (भ० गी० १५।१२) इति गीतोक्तेश्च। त्वं तरणिरसि जलतरणोपायरूपा तरणिर्नौका, 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' (अ० को० १।१०।१०), तथा 'तरणिर्द्युमणौ पुंसि कुमारीनौकयोः स्त्रियाम्' (मे० ४८।५०), तथा—'तरणिस्तरणेऽर्केऽशौ कुमार्योषधिनौकयोः। यष्टावब्धौ' (हैमे ३।२१५) इति कोषकदम्बकेभ्यः। विश्वदर्शतः, विश्वं दर्शतं दर्शनीयं यस्मात् सः, त्वत्सत्तास्फूर्तिभ्यामेव जगत् सत्तास्फूर्तिमद् भूत्वा दर्शनयोग्यो भवति। त्वमेव विश्वमाभासि प्रकाशयसि। कीदृशं विश्वम्? रोचनम्, सूर्यचन्द्रादिभिर्दीप्यमानम्, 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' (मु० २।२।१०) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे सूर्य, त्वं यथा तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृत् सविता रोचनं विश्वं प्रकाशयति, तथा त्वमपि, यतो न्यायविनयेन राज्यमाभासि, तस्मात् सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूर्यशब्दस्य मनुष्यपरत्वे शब्दान्तरागामसङ्गत्यापत्तेः। नहि सूर्यवन्मनुष्यो ज्योतिष्कृद् भवति, सूर्यशब्दस्य गौणार्थस्वीकारे मानाभावाच्च ॥ ३६ ॥

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततꣳ सञ्जभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य का जो यह देवत्व है, यह जो ऐश्वर्य है, वह विराट्रूप देह के मध्य में सब ओर से विस्तारित ग्रहमण्डल को अपनी आकर्षण शक्ति से नियमित रखता है। जब यह अपनी हरित वर्ण की किरणों को आकाश-मण्डल में अपनी आत्मा से युक्त करता है, तदनन्तर ही रात्रि सबके लिये वस्त्राच्छादन करती है, अर्थात् अपने अन्धकार रूपी वस्त्र से सबको ढक देती है ॥ ३७ ॥

कुत्सदृष्टे द्वे त्रिष्टुभौ। मरुत्वतीययोर्ग्रहयोः पुरोरुचौ। सूर्यस्य भगवतस्तदेव देवत्वममानुषत्वं दिव्यत्वं महित्वं महाभाग्यमैश्वर्यम्, तत्किमित्यत आह—यत् कर्तोः कार्यश्रेष्ठस्य जगद्रूपस्य 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' (पा० सू० ३।४।१३) इति तोसुन्प्रत्ययान्तस्य रूपम्, मध्या मध्ये विततं विस्तारितमंशुजालं संजभार संजहार संहरते। नह्यन्यो विश्वविततमंशुजालं प्रसारयितुं संहर्तुं वा शक्नोति। किञ्च, यदा इद् यदैव हरितो हरिद्वर्णान् रश्मीन् अयुक्त युङ्क्ते, आत्मन्यारोपयति। सधस्थात् सह तिष्ठन्त्यंशवो यत्र तत् सधस्थं व्योममण्डलम्, तस्मात् सन्ध्याकाले यदैव सूर्यः पीतवर्णान् रश्मीन् स्वात्मन् स्वात्मनि योजयति, आद् अनन्तरमेव रात्री रात्रिर्निशा सिमस्मै सर्वस्मै वासस्तनुते, सर्वं वस्तु तमसाच्छादयतीत्यर्थः, व्योममण्डलाद् रश्मिजालस्य सूर्यात्मन्युपसंहारे रात्रिसद्भावदर्शनात्। सिमशब्दः सर्वपर्यायः।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यस्य परमात्मनस्तदेव देवत्वम्, अलौकिकं महित्वं महाभाग्यम्, तत्किमित्याह—यत् कर्तोः कार्यश्रेष्ठस्य जगतो मध्ये विततं ज्ञानजालं संजभार निद्राकाले प्रत्ययकाले च संहरते। नहि परमात्मानमन्तरा कश्चिदन्यो जगति ज्ञानजालं प्रसारयितुं संहर्तुं वा शक्नोति। यदैव हरितो ज्ञानरश्मीन् सधस्थात् सह तिष्ठन्ति ज्ञानानि यत्र तस्मात् संसाराद् अयुक्त स्वात्मन्युपसंहरति, तदैव रात्रिरविद्या अज्ञानं वा सिमस्मै सर्वस्मै वासः प्रावरणं तनुते, अज्ञानेनाच्छादयति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, जगदीश्वरोऽन्तरिक्षस्य मध्या मध्ये हरितो दिशो यदा विततं विस्तृतं कार्यं जगत् संजभार हरति, सिमस्मै सर्वस्मै रात्री रात्रिवद् वास आच्छादनं तनुते, आद् अनन्तरं सधस्थात् समानस्थानादितः साक्षित्वादनिवृत्तः सन्नेकाग्र एव अयुक्त समाहितो भवति, तत्कर्तोः कर्तुं समर्थस्य सूर्यस्य देवस्य देवत्वं तन्महित्वं यूयं जानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नित्यं समाहितस्य परमेश्वरस्य समाधिनिरपेक्षत्वात्। दिशां पदार्थहारित्वमप्यसिद्धमेव। न चात्र जगत्संहारो विवक्षितः, न च प्रलयदशायां केचन प्रावरणीया भवन्ति, येषामन्धकारेण प्रावरणं स्यादिति ॥ ३७ ॥

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सम्भरन्ति ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्यदेव स्वर्गलोक के उत्संग में पुण्यात्माओं के अनुग्राहक मित्र और पापियों के निग्राहक वरुण के रूप को धारण करते हैं। उसको सर्वात्मरूप देव देखता है, इस सूर्य का अन्य स्वरूप अनन्त, अर्थात् देश-काल के परिच्छेद से रहित, मायोपाधि का नाशक ब्रह्म ही है। इसके साकार रूप को इन्द्रियों की वृत्तियाँ अथवा किरणें धारण करती हैं, अर्थात् सूर्य ही सगुण और निर्गुण ब्रह्म है ॥ ३८ ॥

सूर्यो द्योर्द्युलोकस्य उपस्थे उत्सङ्गे मित्रस्य वरुणस्य च रूपं कृणुते कुरुते। येन रूपेण जनान् सुकृतिनो दुष्कृतिनो वा अभिचक्षे अभिचष्टे पश्यति। मित्ररूपेण सुकृतिनो दृष्ट्वाऽनुगृह्णाति, वरुणरूपेण दुष्कृतिनो दृष्ट्वा निगृह्णाति चेत्यर्थः। अस्य सूर्यस्यान्यद् एवं पाजो रूपम्, पाज इति बलनामसु (निघ० २।९।१२), इह रूपे वृत्तिः, अनन्तं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं प्रागभावप्रध्वंसाभावात्यन्ताभावान्योन्याभावचतुष्टयाप्रतियोगि रुशत् शुक्लं दीप्यमानम्। रोचत इति रुशत्, रोचेरौणादिकेऽतिप्रत्यये चकारस्य शकारो गुणाभावश्च निपात्यते। स्वप्रकाशं सच्चिदानन्दं ब्रह्मैव। 'रुश् हिंसायाम्' तौदादिकः, अत्र रुच्यर्थे वृत्तिः, अतो लटि शतरि रूपं रुशदिति। अन्यत् कृष्णं द्वैतलक्षणं रूपं हरितो दिश इन्द्रियवृत्तयः सम्भरन्ति धारयन्ति। इन्द्रियग्राह्यं द्वैतरूपमेकम्, अन्यत् शुद्धचैतन्यमद्वैतम्, इति द्वे रूपे सूर्यस्य। तेन सूर्य एव सगुणं निर्गुणं च ब्रह्म।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यो देवो द्योर्द्युलोकस्य उपस्थे उत्सङ्गे मित्रस्य वरुणस्यानुग्राहकं निग्राहकं च रूपं कुरुते, सुकृतिदुष्कृतिनोरनुग्रहनिग्रहार्थम्। सूर्यस्यान्यदेकं पाजो रूपमनन्तं देशकालादिपरिच्छेदशून्यं रुशद् दीप्यमानं शुक्लं विज्ञानानन्दं ब्रह्मैव। अन्यत् कृष्णं हरितो दिश इन्द्रियवृत्तयो वा सम्भरन्ति। समष्टिब्रह्मरूप एव सूर्यः। सगुणं निर्गुणं च तस्यैव रूपम्। आदित्ये दक्षिणेऽक्षिणि च विद्यमानो हिरण्मयः पुरुषस्तस्य सगुणं रूपम्। पुराणेषु च पठ्यते—'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः। केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥' इति भविष्यपुराणीये आदित्यहृदये। 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्' (वा० सं० ४०।१७) इति मन्त्रवर्णे प्रत्यक्चैतन्याभिन्नब्रह्मरूपतापि तस्य विज्ञायते। 'एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः। महेन्द्रो धनदः कालो यमः सोमो ह्यपांपतिः॥ पितरो वसवः साध्या अश्विनौ मरुतो मनुः।' इत्यादिबाल्मीकीयरामायणवचनैः सर्वात्मत्वमपि प्रपञ्चितमेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, द्योरुपस्थे वर्तमानः सूर्यो मित्रस्य वरुणस्य च तद्रूपं कृणुते, येन जनोऽभिचक्षे। अस्य रुशत् शुक्लं पाजः शुद्धस्वरूपमनन्तमन्यदस्ति, अन्यत्कृष्णं हरितः सम्भरन्तीति विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या सूर्यस्य जडत्वेन चराचरात्मत्वायोगात्। क्वचित् सूर्यपदेन राजा, क्वचिद् विद्वान्, क्वचिदीश्वरो ग्राह्यश्चेत् प्रसिद्धः सूर्यः कथङ्कारं न गृह्येत। नहीश्वरस्य शुद्धं रूपमन्यदशुद्धं च रूपं भवति, तस्य सर्वतः शुद्धरूपत्वात्। सिद्धान्ते तु सुकृतिनामनुग्रहार्थं निग्रहार्थं च सूर्यस्य रूपद्वयं नानुपपन्नम्॥ ३८॥

बण्महाँ२॥ असि सूर्य बडादित्य महाँ२॥ असि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ२॥ असि॥ ३९॥

मन्त्रार्थ—हे जगत् के प्रेरक सत्यस्वरूप सूर्यदेव, आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं। हे परा शक्ति के पुत्र, आप ही महान् हैं। आपकी महान् और अविनश्वर महिमा का गान वेद भी करते हैं। हे दीप्यमान सत्यस्वरूप, आप महान् हैं॥ ३९॥

अथ द्वाभ्यां प्रगाथः। यत्र द्वे ऋचौ प्रग्रथनेन तिस्रः क्रियन्ते, स प्रग्रथनात् प्रकर्षगानाद्वा प्रगाथ इत्युच्यते। चतुर्थषष्ठौ पादौ प्रगाथे पुनरभ्यस्योत्तरयोरवस्येदित्येवमादिना प्रकारेण प्रगाथः क्रियते। एवं च यदा प्रगाथशब्दोऽयं प्रग्रथ्यतेऽसौ प्रगाथ इति विगृह्य 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१९) इति कर्मणि घञन्तो व्युत्पाद्यते, पृषोदरादित्वाद् रेफानुनासिकयोर्लोपश्च भवति, तदा प्रग्रन्थनक्रियानिमित्तकः, यदा 'कै शब्दे' इत्यस्माद् औणादिकेन थनप्रत्ययेन व्युत्पाद्यते, तदा गायनक्रियानिमित्तो भवति। इति द्विधा व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता। माध्यन्दिनसवने सोमातिरेके एकं शस्त्रमुपजायते। तत्र 'बण्महाँ असि' इति प्रगाथः स्तोत्रियः। सूत्रितं च—'बण्महाँ असि सूर्योदु त्यद्दर्शतं वपुरिति प्रगाथौ स्तोत्रियानुरूपौ' (आश्व० श्रौ० ६।७।६) इति। तद्यथा—'बण्महाँ असि सूर्य····अद्धा देव महाँ असोमद्धा देव महाँ असि बट् सूर्य श्रवसा' इति। तत्र योऽयमुच्चारणप्रकारस्तद् ग्रथनम्। अन्यद् गुरुचरणेषु भृशं परिश्रम्य कर्णेहत्योहनीयमिति।

जमदग्निदृष्टे द्वे बृहतीसतोबृहत्यौ। आद्या माहेन्द्रग्रहपुरोरुक्। हे सूर्य, त्वं बट् सत्यं निश्चप्रचं वा महान् परब्रह्मासि। सुवति प्रेरयति कार्येषु जगदिति सूर्यः, 'षू प्रेरणे' तौदादिकः, अस्मात् क्यपि 'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः' इति निपातनात् क्यपो रुट्। अथवा सरत्याकाश इति सूर्यः, निपातनात् कर्तरि क्यप्, निपातनादुत्वम्, 'उरण् रपरः' (पा० सू० १।१।५१) इति तस्य रपरत्वम्, 'हलि च' (पा० सू० ८।२।७७) इत्युपधादीर्घः, तत्सम्बुद्धौ, हे आदित्य, आदत्तेंऽशुजालमित्यादित्यः। बट् सत्यं निश्चप्रचं वा त्वं

महान् सर्वश्रेष्ठोऽसि। किञ्च, मह्नो महतस्ते तव सतोऽत्यन्ताबाध्यस्य नित्यस्य महिमा महाभाग्यं सर्वेषु देवेष्ववस्थितं पनस्यते पूज्यते सर्वैः प्राणिभिः। अद्धा सत्यं हे देव दानादिगुणोपेत, त्वं महानसि निरतिशयबृहद्ब्रह्मरूपोऽसि। अभ्यासोऽतिशयादरसूचनार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे सूर्य, सुवतीति सूर्यः सर्वान्तर्यामी, तत्सम्बुद्धौ। बट् सत्यं त्वं महान् निरतिशयबृहद्ब्रह्मरूपोऽसि। हे तेजसां दात आदित्य, बड् महानसि स्वरूपेण गुणेन च महानसि। सतोऽत्यन्ताबाध्यस्य मह्नो महतस्ते तव महिमा महाभाग्यं सर्वत्र पनस्यते पूज्यते, स्तूयते च। अद्धा सत्यं सर्वतोभावेन त्वं महानसीति।

दयानन्दस्तु—'हे सूर्य, यतस्त्वं बट् सत्यं महानसि। हे आदित्य, यतस्त्वं बण्महानसि, सतो मह्नो यतस्ते महिमा पनस्यते। हे देव, यतस्त्वमद्धा महानसि, तस्मादस्माभिरुपास्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बड् अनन्तज्ञानमित्यस्य निर्मूलत्वात्, सूर्यादित्यादिशब्दानामविशेषेण परमेश्वरपरत्वे पर्यायत्वापत्तेः ॥ ३९ ॥

बट्सूर्य श्रवसा महाँ२॥ असि सत्रा देव महाँ२॥ असि।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—हे सत्यस्वरूप सूर्यदेव! आप धन और यश से सम्पन्न हैं। हे नाना रूपों में क्रीड़नशील, सभी प्राणियों और देवताओं के हितकारी, व्यापक, अनुपहिंस्य ज्योतिस्वरूप सूर्यदेव! आप अमृत शक्तिरूप लक्ष्मी के दाता हैं। आप महान् से भी महान् हैं ॥ ४० ॥

अनया पुरोरुचा आदित्यग्रहस्य प्रथमग्रहणम्। हे सूर्य, बट् सत्यं श्रवसा श्रवणीयेन धनेन यशसा वा त्वं महानसि। हे देव, सत्रा सत्यं देवानां मध्ये मह्ना स्वकीयेन महत्त्वेन त्वं महान् उत्कृष्टोऽसि। कीदृशस्त्वम्? असुर्यः, असवः प्राणाः सन्ति येषां तेऽसुराः प्राणिनः, तेभ्यो हितोऽसुर्यः प्राणिहितः, पुरोहितः सर्वकार्येषु पुरोऽग्रे स्थापितः, सूर्यार्घ्यदानानन्तरमेव सर्वदेवानां पूजाधिकारात्। किञ्च, विभु व्यापि, ज्योतिरखण्डबोधब्रह्मरूपम्, अदाभ्यमप्रधृष्यमनुपहिंसनीयमनुपहिंसितं नित्यनिरुपप्लवं ज्योतिर्विज्ञानरूपमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे सूर्य अन्तर्यामिन्, सत्यं श्रवसा यशसा धनेन च महानसि। अन्यत् पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—' हे बट् सूर्य, यतस्त्वं श्रवसा महानसि, हे देवसत्रा, महानसि यतस्त्वं देवानां पुरोहितो मह्ना असुर्यः सन् अदाभ्यं विभु ज्योतिःस्वरूपोऽसि, तस्मात् सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूर्यपदस्य सूर्यतुल्यार्थत्वे मानाभावात्। न च पृथिव्यादीनां विद्वत्त्वं सम्भवति, त्वद्रीत्या तेषां जडत्वात् ॥ ४० ॥

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ— सूर्य की उपासना करने वाले इन्द्र आदि की उपासना से प्राप्त होने वाले धन-धान्य, ऐश्वर्य आदि भोगों को स्वतः प्राप्त कर लेते हैं, अतः हमको चाहिये कि प्रकाश की किरणों के साथ जब सूर्य भगवान् उदित होते हैं, तब हम उनके निमित्त यज्ञ में देवभाग अर्पित करें ॥ ४१ ॥

नृमेधसा दृष्टा बृहती। आदित्यग्रहस्य पुनर्ग्रहणे पुरोरुक्। यथा श्रायन्त आश्रिता इव। सूर्यमादित्यं रश्मयः, इन्द्रस्य सूर्यस्य विश्वा विश्वानि सर्वाणि इद् एव वसूनि धनानि वृष्टिधान्यनिष्पत्त्यादीनि भक्षत

अभक्षत, भजन्ते विभजन्ते, प्राणिभ्यो विभज्य ददतीत्यर्थः। सूर्यरश्मयः सूर्यप्रत्तानि वसूनि विभजन्ते, तथा वयं तान्येव वसूनि जाते पुत्रे जनमाने उत्पद्यमाने च ओजसा तेजसा सह प्रति दीधिम धारयाम, स्थापयामेत्यर्थः। कथमिव ? भागं न भागमिव। यथा स्वभागं पुत्रादिषु धारयाम तथेत्यर्थः। श्रायन्त इति शतरि शपि व्यत्ययेन वृद्धिः। भक्षत 'भज सेवायाम्' इति लुङि तङि प्रथमबहुवचने 'आत्मनेपदेष्वनतः' (पा० सू० ७।१।५) इति झस्य अदादेशे रूपम्। अडभाव आर्षः। 'धि धारणे' तौदादिकस्यास्य व्यत्ययेन शपः श्लौ लङि द्वित्वे, 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इति दीर्घः। दधातेर्वा एतद्रूपम्, न तु ध्यायतेः, अर्थपौष्कल्यात्।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यमन्तर्यामिणं परमात्मानमाश्रयन्त इव एव जीवात्मान इन्द्रस्य परमैश्वर्यवतस्तस्य विश्वा इत् सर्वाण्येव वसूनि धनानि भोग्यजातान्यभक्षत परस्परं व्यभजन्त, यथा पितुर्धनानि पुत्रा विभजन्ति तद्वत्। जाते जनमाने जनिष्यमाणे च पुत्रे यथा भागं न भागमिव, वयमपि ओजसा कर्मोपासनसमुच्चयबलेन तान्येव वसूनि निधीमहि स्थापयाम। यथा जन्मना स्वत्ववादे पुत्रादीनां दाये जन्मना स्वत्वं भवति, पित्रादयः स्वेच्छया पितृपितामहादिधनस्य दानविक्रयादिकं न कर्तुं शक्नुवन्ति, मातृगर्भस्थपुत्रादिनाम्नापि तत्राधिकार-सत्त्वशालिन्यायालयेन दानविक्रयादिपत्रादीनां निरसनं कर्तुं शक्यत्वात्। अत ओजसा बलेनापि पैतृकधनमधिगन्तुं शक्यते। यथैवैतत्, तथैव कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठानेन ओजसापि परमेश्वरधनयोः प्राप्तुं शक्यत्वात्। यथाह नारदः—

> पूजां गुरूणां सततं करोमि परस्य मर्मापि न भिन्नपूर्वम्।
> वेदाः स्वधीता यम लोकनाथ तप्तं तपो नानृतमुक्तपूर्वम्॥
> गुप्तानि चत्वारि यथागमं मे शत्रौ च मित्रे च समोऽस्मि नित्यम्।
> तं चादिदेवं शरणं प्रपन्न एकान्तभावेन वृणोम्यजस्रम्॥
> एभिर्विशेषैः परिशुद्धसत्त्वः कस्मान्न पश्येयमनन्तमीशम्।
> (म० भा० शा० ३३५।३–५)

तथा च पुत्रस्य भाग इव पारमेश्वरधने साधकानामधिकारः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयमोजसा जाते जायमाने च जगति सूर्यं श्रायन्त इव विश्वानि वस्तूनि प्रतिदीधिम भागं न सेवेमहि, तथेन्द्रस्येमं यूयं भक्षत सेवध्वम्' इति, तदपि न, गौणार्थस्वीकारात्, सूर्यपदस्य प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात्। न च सर्वाणि वसूनि वस्तूनि वा जीवाः प्रकाशयितुं शक्नुवन्ति ॥ ४१ ॥

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरꣳहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्यरश्मिरूप देवताओं ! अब आज सूर्य का उदय होने पर आप लोग हमें पाप और दुर्यश से मुक्त करें। मित्र, वरुण, अदिति, समुद्र, पृथ्वी और स्वर्ग—ये सब हमारे वचन को अंगीकार करें ॥ ४२ ॥

कुत्सदृष्टा त्रिष्टुप्, दध्नादित्यग्रहश्रपणे विनियुक्ता। देवाः, दीव्यन्ति दीप्यन्त इति देवा रश्मयः, तत्सम्बोधने हे देवाः, अद्या अद्य अस्मिन् दिवसे सूर्यस्य उदिता उदये अद्य सूर्योदये, अस्मानंहसः पापान्निःपिपृता निःपिपृत निर्मुञ्चत, शुद्धान् कुरुत। 'अद्या' इत्यत्र 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति दीर्घः। 'पिपृता' इत्यत्र 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। अवद्याद् दुर्यशसोऽपि निःपिपृत पृथक्कुरुत। अस्माकं पातकानि दुर्यशांसि च नाशयतेत्यर्थः। तन्नोऽस्माकं वचनं मित्रो वरुणोऽदितिः सिन्धुः पृथिवी उत अपि द्यौः—इत्येता देवता मामहन्तां पूजयन्तु, अङ्गीकुर्वन्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे देवाः, सूर्यस्य परमात्मनः सम्बन्धिन उदिताः संसारादूर्ध्वं गता मुक्ता देवा देवस्य परमानोंऽशत्वाद् देवा अद्य अस्मिन्नेव जन्मनि नोऽस्मानंहसः पापात् संसारान्निःपिपृत। अवद्याद् दुर्यशसोऽपि निःपिपृत निस्तारयत। मित्रादयः सर्वेऽपि देवा नस्तद्वचो मामहन्तां पूजयन्तु, स्वीकुर्वन्त्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे देवा विद्वांसः, यूयं यतः सूर्यस्य उदिता उदिते अद्याहंसो नो निष्पिपृता अवद्याच्च निष्पिपृत, तन्मित्रो वरुणोऽदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौरस्मान् मामहन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यान् विदुषः प्रति तादृशाभ्यर्थनाया निरर्थकत्वात्। न च तेऽपराधान्निन्दिताद् दुःखाच्च पातुं शक्नुवन्ति। तथैव सिन्धुपृथिवीप्रकाशादयोऽपि जडा एव, न तेऽपि सत्कर्तुमसत्कर्तुं वा प्रभवन्ति ॥ ४२ ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य देवता अपने ज्योतिर्मय मण्डलरूप रथ के द्वारा सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते रहते हैं। अन्धकार और प्रकाश के देवताओं को तथा मनुष्य आदि प्राणियों को अपने अपने व्यापार में स्थापित करते रहते हैं। सारे भुवनों को देखते हुए, अर्थात् प्राणियों के भले-बुरे कर्मों पर विचार करते हुए विचरण करते हैं ॥ ४३ ॥

हिरण्यस्तूपदृष्टा त्रिष्टुप्। सावित्रग्रहपुरोरुक। कृष्णेन रजसा रात्रिलक्षणेन सह आवर्तमानः पुनः पुनर्भ्रमणं कुर्वन्, अमृतं देवादिकं मर्त्यं मनुष्यादिकं च निवेशयन् स्वस्वप्रदेशेषु व्यवस्थापयन्, भुवनानि भूतजातानि कानि साधु कुर्वन्ति कान्यसाध्विति पश्यन्, सविता देवो हिरण्ययेन हिरण्यमयेन रथेन आयाति आगच्छति।

अध्यात्मपक्षे—सविता सर्वोत्पादकः परमेश्वरः कृष्णेन तमसा रजसा रजोगुणेन ताभ्यामुपलक्षितेन सत्त्वेन च वर्तमानोऽमृतं मोक्षप्राप्त्यर्हं मर्त्यं संसारजीवसमूहं निवेशयन् यथायोग्यं व्यवस्थापयन् हिरण्ययेन हिरण्यमयेन ज्ञानमयेन रथेनेव भुवनानि भुवनजातानि पश्यन् याति सर्वत्र प्राप्नोति। तृतीयं सूर्यस्तदुक्थमहः सम्पूर्णम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यो हिरण्ययेन रथेन कृष्णेन रजसा वर्तमानो भुवनानि पश्यन् देवः सविता अमृतं तं मर्त्यं च निवेशयन्नायाति, स ईश्वरनिर्मितः सूर्यो लोकोऽस्ति....' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। यतो हि त्वद्रीत्या सविता अचेतन एव। स दर्शयितुं न शक्नोत्येव, दर्शनस्य चेतनधर्मत्वात्। कर्षणेन परस्पर-सम्बद्धेन लोकसमूहेनेत्यपि निरर्थकम्, भूमिकायां निरस्तत्वात्। सूर्यगमनागमनादिकमपि त्वन्मतेऽसिद्धमेव, पृथिव्या एव गतिमत्त्वाभ्युपगमात् ॥ ४३ ॥

प्रवावृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते।
विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान् ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—यजमानों के कल्याण के लिये अश्ववान् वायु और पूषा देवता दिन-रात के पूर्व आह्वान काल पर, अर्थात् अग्निहोत्र के समय अन्तरिक्ष से राजाओं के समान यहाँ आवें, उनके लिये विधिपूर्वक यहाँ कुशाओं को फैला कर आसन बिछाया गया है ॥ ४४ ॥

चतुर्थमहो वैश्वदेवस्तुत्, 'वैश्वदेवश्चतुर्थमहर्भवति। विश्वे वै सर्वे देवाः सर्वेषां देवानामाप्त्यै वैश्वदेवा ग्रहा भवन्ति वैश्वदेव्यः पुरोरुचः सर्वं वैश्वदेवमसदिति' (श० १३।७।१।६) इति श्रुतेः। वैश्वदेवस्तुच्चतुर्थेऽह-

न्येकादश पुरोरुचः, षट् प्रतीकोक्ता इति सप्तदश ऐन्द्रवायवादिसावित्रान्तग्रहाणां पुरोरुचो ग्रहणमन्त्राः। वसिष्ठ-दृष्टा त्रिष्टुप्, ऐन्द्रवायवपुरोरुक्। एषां यजमानानां स्वस्तये कल्याणाय बीरिटेऽन्तरिक्षे, 'बीरिटं तैटीकिरन्त-रिक्षमेवाह' (नि० ५।२७), वर्तमानौ वायुः पूषा च आ इयाते आगच्छतः। 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसन-खादनेषु' इत्यादादिकः। अत्र प्रश्लिष्टनिर्देशात् 'ई' इत्यपि धातुमाहुः। अस्य परस्मैपदित्वाद् व्यत्ययेन तङ्। कथम्भूतो वायुः ? नियुत्वान्, नियुतो नियुत्संज्ञका अश्वाः सन्त्यस्येति नियुत्वान्, 'नियुतो वायोः' (निघ० १।१५।१०) इत्युक्तेः। कदायाति वायुरिति चेत्तत्राह—अक्तोः रात्रेरपगमे सति, अक्तुरिति रात्रिनामसु (निघ० १।७।४), उषसो दिनस्य आगमनकाले, पूर्वहूतौ पूर्वा चासौ हूतिश्च पूर्वहूतिः प्रथमाह्वानकालः, अग्निहोत्रहोम-काल इत्यर्थः। उषसः पूर्वाह्वाने पूषा रविरायाति। अक्तोः पूर्वाह्वाने वायुः। अत्र वायुना वायुसखत्वादग्नि-र्लक्ष्यते, रात्रिहोमस्य अग्निदेवत्यत्वात्। तत्र दृष्टान्तः—विश्पतीवेति। यथा विशां पती द्वौ राजानौ विशां बीरिटे मनुष्याणां गणे आगच्छतः, तद्वत्। तावपि तेषां स्वस्तये आ इयाते। केषाम् ? येषां बर्हिः प्रवावृजे प्रवृज्यते प्रस्तीर्यते, तुजादित्वादभ्यासदीर्घः। कीदृशं बर्हिः ? सुप्रयाः शोभनं प्रयः प्रगमनं प्रस्तरणं यस्य तत् सुप्रयः, छान्दसो दीर्घः, सुप्रयाः सम्यग्विधिना प्रस्तीर्णमित्यर्थः। बीरिटशब्दो गणवाचकः। तथा चाह यास्कः—'प्रवृज्यते सुप्रायणं बर्हिरेषामेयाते सर्वस्य पातारौ वा पालयितारौ वा, बीरिटमन्तरिक्षं भियो वा भासो वा ततिरपि वोपमार्थे स्यात्, सर्वपती इव राजानौ बीरिटे गणे मनुष्याणाम्' (नि० ५।२८) इति। भीरस्मिन् तन्यत इति भीतननमन्तरिक्षम्। निरालम्बनत्वात् सर्व एव बिभ्यति। तदेव भीतननं सद् बीरिटमित्युच्यते। अथवा भासोऽत्र नक्षत्रादीनां तन्यन्ते। तदेतद् भास्तननं सद् बीरिटमुच्यते। अन्तरिक्षेणैव देवता आगच्छन्तीति बीरिटमन्तरिक्षमुपपद्यते। गणार्थकेऽपि बीरिटशब्दे विश्पती राजानौ सर्वदा गणमध्यगतावेव आगच्छत इति गणोऽप्यर्थ उपपद्यत एव। तस्माद् धातुद्वयेन बीरिटशब्दनिष्पत्तिः। भियो बी आदेशः, तनोतेश्च रिटः।

यद्वा—'एषामिति व्यत्ययेन येषां यजमानानां सुप्रयाः सुप्रयाणं सुगमनं बर्हिः प्रवावृजे प्रच्छिद्यते, तेषां स्वस्तये कल्याणायाविनाशाय तं बर्हिःप्रच्छेदप्रदेशमश्विनौ आ इयाते। काविव ? बीरिटे मनुष्याणां गणे विश्पती इव विशां प्रजानां राजानाविव। यथा मनुष्याणां गणे तेषां स्वस्तये विशां मनुष्याणां पती राजाना-ववस्थितौ, तद्वदश्विनौ तथा यजमानानां स्वस्तये बर्हिःप्रस्तरणस्थानेऽश्विनावागच्छतः। कस्मिन् काले ? अक्तोः रात्रेरवसाने उषस आगमनकाले पूर्वहूतौ पूर्वस्मिन् आह्वानकाले। किञ्च, वायुर्नियुत्वान् अश्ववान् पूषा च यजमानानां स्वस्तये आ इयाते' इत्युव्वटाचार्यरीत्या व्याख्यानम्।

अध्यात्मपक्षे—येषां बर्हिर्दर्भसमूहः प्रवावृजे प्रस्तीर्यते देवानामासादनाय, एषां याज्ञिकानां स्वस्तयेऽवि-नाशाय नियुत्वान् अश्वनाविव वायुर्वायुपुत्रो हनूमान् पूषा सूर्यः सूर्यवंशभूषणः श्रीरामश्च आ इयाते। काविव ? बीरिटे मनुष्याणां गणे विश्पती इव। कदा आ इयाते ? अक्तो रात्र्या अविद्याया अवसाने उषसो दिवसस्य प्रभातस्य ज्ञानसूर्योदयस्य आगमनकाले।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा पूर्वहूतौ सुप्रया नियुत्वान् वायुश्चैषां स्वस्तये प्रवावृजे व्रजति, विशां विश्पती इव बीरिटे बर्हिरा इयाते, तथाक्तोरुषसश्च बर्हिः प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्याऽचेतनयो-र्वायुसूर्ययोः कल्याणानुसन्धानासम्भवेन तदर्थं गमनानुपपत्तेः ॥ ४४ ॥

इ॒न्द्र॒वा॒यू बृह॒स्पतिं॑ मि॒त्राग्निं पू॒षणं॒ भग॑म्। आ॒दि॒त्यान्मारु॑तं ग॒णम् ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—मैं इस यज्ञ में इन्द्र, वायु, बृहस्पति, मित्र, अग्नि, पूषा, भग, बारह आदित्य और मरुद्गणों का आह्वान करता हूँ ॥ ४५ ॥

मेधातिथिदृष्टे द्वे गायत्र्यौ। आद्या ऐन्द्रवायवस्य पुनर्ग्रहणे पुरोरुक्। द्वितीया मैत्रावरुणग्रहग्रहणे पुरोरुक्। इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्रा मित्रम्, विभक्तेराकारः, अग्निं पूषणं भगमादित्यान् मारुतं मरुत्सम्बन्धिनं गणम्, एतानाह्वयामीति शेषः।

अध्यात्मपक्षे - सर्वदेवात्मको भगवानेवेन्द्रादिरूपेण व्यज्यते। तस्मात् तत्तद्देवताभावापन्नं भगवन्तमेव तत्त्वविदाह्वयति। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयमिन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगमादित्यान् मारुतं गणं विज्ञायोपयुञ्जीमहि, तथा यूयमप्युपयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रवाय्वादीनामुपयोगस्य लोकसिद्धत्वेनोपदेशानपेक्षत्वात्॥ ४५॥

वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः। करतां नः सुराधसः॥ ४६॥

मन्त्रार्थ—वरुण और मित्र सभी रक्षा-साधनों से हमारी भली-भाँति रक्षा करें। हमें शुभ धन से सम्पन्न करें॥ ४६॥

वरुणो देवो मित्रश्च विश्वाभिः सर्वाभिरूतिभिरवनैः पालनै रक्षणप्रकारैर्वा प्राविता प्रकर्षेण पालकः, भुवद् भवतु, भवतेर्लेटि व्यत्ययेन तुदादित्वात् शे, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति तिङ इकारलोपे उवङि 'भुवत्' इति रूपम्। किञ्च, मित्रावरुणौ नोऽस्मान् सुराधसः सु शोभनं राधो धनं येषां तान् शोभनधनान् करतां कुरुताम्।

अध्यात्मपक्षे—वरुणो वरणीयो भगवान् श्रीरामः, मित्रस्तत्स्नेहवान् सौमित्रिश्च विश्वाभिरूतिभिर्लीलाभिः प्राविता पालको भुवद् भवतु। नोऽस्मान् सुराधसो ज्ञानवैराग्यादिशोभनधनोपेतान् करतां कुरुताम्।

दयानन्दस्तु—'हे अध्यापकोपदेशकौ विद्वांसौ, यथा वरुणो मित्रश्च विश्वाभिरूतिभिः प्राविता भुवत्, तथा भगवन्तौ नः सुराधसः करतां कुर्याताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। वरुणमित्रादिशब्दानां प्रसिद्धार्थमुल्लङ्घ्यार्थान्तरकल्पनमपि निर्मूलमेव॥ ४६॥

अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम्। इता मरुतो अश्विना। तं प्रत्नथायं वेनो ये देवास आ न इडाभिर्विश्वेभिः सोम्यं मध्वोमासश्चर्षणीधृतः॥ ४७॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, हे विष्णुदेव, हे मरुद्गण और हे अश्विनीकुमारों! आप सब हमारे इन समान जाति वालों के बीच में आइये। मन्त्र में स्थित 'तं प्रत्नथा' (७।१२) प्रतीक से शुक्रग्रह का, 'अयं वेनः' (७।१६) से मन्थिग्रह का, 'ये देवासः' (७।१९) से आग्रयण ग्रह का, 'आ न इडाभिः' (३३।३४) से ध्रुवग्रह का, 'विश्वेभिः सोम्यं मधु' (३३।१०) से ऐन्द्राग्न ग्रह का और 'ओमासश्चर्षणीधृतः' (७।३३) से वैश्वदेव ग्रह का ग्रहण किया जाता है॥ ४७॥

कुसीदिकाण्वदृष्टा गायत्री आश्विनग्रहपुरोरुक्। हे इन्द्र, हे विष्णो, हे मरुतः, हे अश्विनौ! नोऽस्माकमेषां च सजात्यानामृत्विजां समानजातीयानां वा अधि साजात्यमध्ये यूयमित आगच्छत। अत्र कण्डिकायां प्रतीकोक्ता यथा—(१) 'तं प्रत्नथा' (वा० सं० ७।१२) शुक्रग्रहे, (२) 'अयं वेनः' (वा० सं० ७।१६) मन्थिग्रहे, (३) 'ये देवासः' (वा० सं० ७।१९) आग्रयणस्य, (४) 'आ न इडाभिः' (वा० सं० ३३।३४) ध्रुवस्य, (५) विश्वेभिः

सोम्यं मधु' (वा० सं० ३३।१०) ऐन्द्राग्नस्य, (६) 'ओमासश्चर्षणीधृतः' (वा० सं० ७।३३) वैश्वदेवस्य ग्रहणे विनियुक्ताः, पुरोरुच इति यावत् ।

अध्यात्मपक्षे—अत्रापि सर्वात्मभावापन्नस्य इन्द्रादिरूपेण सम्बोधनम् । तेषां च तत्तद्रूपेण आत्मनः सजातीयानां च मध्ये आगमनं प्रार्थ्यते ।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, हे विष्णो, हे मरुतः, हे अश्विनौ ! एषां नो मध्येऽधिस्वामित्वमित प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वत्र प्रसिद्धार्थत्यागेनार्थान्तरकल्पनस्य प्रमाणशून्यत्वात्, मनुष्ये परमैश्वर्यदातृत्वासिद्धेश्च । 'अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ' इत्यपि निर्मूलम्, अर्थान्तरादिना विनिगमनाविरहात् ॥ ४७ ॥

अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः शर्धः प्रयन्त मारुतोत विष्णो ।
उभा नासत्या रुद्रो अध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्नि, इन्द्र, वरुण और मित्र देवताओं, हे मरुद्गणों, हे विष्णुदेव ! आप सब मुझे बल प्रदान कीजिये । दोनों अश्विनीकुमार, रुद्रदेव, देवपत्नियाँ, पूषा, भग और सरस्वती—ये सब हवियों का सेवन करें ॥ ४८ ॥

प्रतिक्षत्रदृष्टा त्रिष्टुप् । मरुत्वतीयपुरोरुक् । हे अग्ने, हे इन्द्र, हे मित्र, हे देवाः, हे मारुत ! मरुतां समूहो मारुतः, तत्सम्बुद्धौ मरुद्गण ! उतापि हे विष्णो ! यूयं शर्धो बलम्, शर्ध इति बलनामसु (निघ० २।९।७), प्रयन्त प्रयच्छत, यमेः शपो लुक् । एवं प्रत्यक्षमुक्त्वा परोक्षमाह—उभा उभौ नासत्या नासत्यौ अश्विनौ, 'नभ्राण्नपात्''' ' (पा० सू० ६।३।७५) इति निपातितः । रुद्रः, अध अथ ग्ना देवपत्न्यः, 'ग्ना गमनादापो देवपत्न्यो वा' (निरु० १०।४७) इति यास्कः । पूषा भगः सरस्वती जुषन्त जुषन्तां सेवन्ताम्, हवींषीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—आधिदैविकजगदनुग्रहेणैवाध्यात्मिकं जगत् संचाल्यते । इन्द्रादयो देवाः प्रसिद्धा इति तेभ्यो बलं याच्यते । मनुष्येभ्यो हविर्भिः सन्तुष्टा एव देवा अभीष्टं प्रयच्छन्तीति हविर्भिस्तेषामर्चनमुक्तम् । व्याख्यानं पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्याप्रकाशक इन्द्र वरुण मित्र मारुतदेवाः ! यूयमस्मभ्यं शर्धः प्रयन्त प्रयच्छत । उभौ नासत्यौ रुद्रो ग्नाः पूषा भगः, अध सरस्वती चास्मान् जुषन्त' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्न्यादिशब्दानां मुख्यार्थत्यागे गौणार्थग्रहणे च कारणाभावात् । न च त्वद्रीत्या आत्मानो व्यापकाः सन्ति, त्वया अणुपरिमाणाङ्गीकारात् । तथा च विष्णोर्व्यापनशीलेति सम्बोधनं निरालम्बनमेव स्यात् । 'नासत्यौ अविद्यमानासत्यस्वरूपौ' इत्यपि निर्मूलम्, अन्येषामपि तथात्वेन तेष्वपि तथा प्रयोगापत्तेः ॥ ४८ ॥

इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिꣳ स्वः पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वताँ२॥ अपः ।
हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं नु शꣳसꣳ सवितारमूतये ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र और अग्नि, मित्र और वरुण, अदिति, स्वर्ग, आदित्य, पृथ्वी, द्युलोक, मरुद्गण, पर्वत, जल, विष्णु, पूषा, ब्रह्मणस्पति, भग, स्तुति योग्य सविता—इन सब देवताओं का मैं अपनी रक्षा के लिये आह्वान करता हूँ ॥ ४९ ॥

काश्यपावत्सारदृष्टा जगती । सशस्त्रमरुत्वतीयपुरोरुक् । इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ अदितिं स्वर् आदित्यं पृथिवीं द्यां द्युलोकं मरुतः पर्वतान् अपो विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं च नु क्षिप्रं शंसं शंसितव्यं स्तुत्यं सवितारमूतये अवनाय हुवे आह्वयामि ।

अध्यात्मपक्षे—भगवद्रूपान् एतान् देवान् अहं हुवे आह्वयामि ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाऽहमूतये इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ अदितिं पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वतान् अपो विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं शंसं सवितारं स्वर्नु हुवे, तथैतान् यूयमपि प्रशंसत' इति, तदपि तुच्छम्, त्वया जडपूजायास्तत्र तत्र निन्दितत्वात् । इन्द्राग्न्यादयोऽपि जडा एव । स्तुतिरपि पूजैव । न च मेघाः पर्वता वा त्वद्रीत्या पूज्याः ॥ ४९ ॥

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः ।
यः शꣳसते स्तुवते धायि पज्र इन्द्रज्येष्ठा अस्माँ२॥ अवन्तु देवाः ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—जो यजमान शस्त्र और स्तोत्र का जप करता है, अर्थात् पारायण करता है, भली प्रकार सम्पादित धन से यज्ञ में देवताओं के निमित्त आहुतियाँ देता है, उसकी हम रक्षा करते हैं । हमे धन आदि प्रदान करने वाले, सब प्रकार से संतुष्ट करने वाले, शत्रुओं को रुलाने वाले, हमारे घर में उत्सव लाने वाले, पापियों के वध के लिये संग्राम में सदा तत्पर रहने वाले, इन्द्र को अपना नेता मानने वाले, एक मति वाले देवता हमारी रक्षा करें ॥ ५० ॥

पञ्च त्रिष्टुभः । आद्या प्रगाथदृष्टा माहेन्द्रग्रहपुरोरुक् । य अधिकृतो मनुष्यः शंसते शस्त्राणि शंसति, स्तुवते स्तोत्राणि स्तौति पज्रः प्राजितधनः, प्राजितधनस्थाने पृषोदरादित्वात् पज्रादेशः, सन् धायि हवींषि दधाति, तान् अस्मांश्च यजमानान् देवा अवन्तु पान्तु । कीदृशा देवाः ? अस्मे अस्मासु, विभक्तेः 'शे' आदेशः, मेहना मेहन्ति सिञ्चन्ति धनादिकमिति मेहनाः । रुद्रा रोदयन्ति शत्रूनिति रुद्राः । पर्वतासः पर्वाणि उत्सवा विद्यन्ते येषां ते पर्वतासः । 'तप् पर्वमरुद्भ्याम्' (पा० सू० ५।२।१२१, वा० ९) इति तप्प्रत्ययः । वृत्रहत्ये वृत्रो हन्यते यत्र तद् वृत्रहत्यम्, तस्मिन् । भरहूतौ भरे संग्रामे हूतिराह्वानं भरहूतिः, तत्र । सजोषाः समानो जोषः प्रीतिर्येषां ते तथोक्ताः समानप्रीतिमन्त एकाभिप्राया एकमतय इन्द्रज्येष्ठाः, इन्द्रो ज्येष्ठो येषां ते तथोक्ताः, तादृशा देवा नोऽवन्तु ।

अध्यात्मपक्षे भगवतः सर्वात्मनः स्वरूपभूता इन्द्रादयो देवा अवन्त्विति प्रार्थ्यते ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः पज्रो यान् शंसते स्तुवते, येन च धनं धायि तमस्मांश्च ये अस्मे मेहना रुद्राः पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषा इन्द्रज्येष्ठा देवा अवन्तु, ते युष्मानप्यवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागस्य निर्मूलत्वात् । इन्द्रज्येष्ठा देवा इत्यस्य सभापतिज्येष्ठा विद्वांस इत्यर्थोऽपि निर्मूल एव । रुद्रपदमपि न तथार्थबोधकम्, देवविशेषेषु प्रसिद्धत्वात् । अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ ५० ॥

अर्वाञ्चो अद्या भवता यजत्रा आ वो हार्दि भयमानो व्ययेयम् ।
त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य त्राध्वं कर्तादवपदो यजत्राः ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजन करने वालों के रक्षक देवताओं ! आप लोग हमारे सन्मुख आइये । संसार से भयभीत मेरा मन आपकी सन्निधि प्राप्त करे । हे देवताओं ! मन में आने वाले बुरे विचारों से आप सब हमारी रक्षा करें । प्रति पद आने वाले सांसारिक विघ्नों से अथवा लोकापवाद से हमारी रक्षा करें ॥ ५१ ॥

कूर्मगार्त्समदद्दृष्टा, आदित्यग्रहस्य प्रथमा पुरोरुक्। हे यजत्राः, यजन्तं त्रायन्त इति यजत्राः, तत्सम्बोधने, यष्टृपालका यष्टव्या वा देवाः, अद्य यूयम् अर्वाञ्चोऽस्मदभिमुखा भवत। अद्या, भवता, इत्यत्र संहितायां 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६), 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति च दीर्घः—भयमानो बिभ्यद् अहं वो युष्माकं हार्दि हृदिभवं मन आव्ययेयम् आगमयेयम्, अभिमुखं सम्पादयेयमित्यर्थः। बिभेतेर्विकरणव्यत्ययेन शपि शानचि च रूपम्। यत एवमतो ब्रवीमि हे यजत्राः! नोऽस्मान् वृकस्य वृकात्, विभक्तिव्यत्ययः, त्राध्वं पालयत। कीदृशाद् वृकात्? निजुरः, नितरां जूर्यते हिनस्तीति निजूः, 'जूरी हिंसावयोहान्योः' इति क्विप्, तस्मान्निजुरो हिंसकात्। यद्वा भक्षितं नितरां जीर्यतीति निजूः, 'जॄष वयोहानौ' तस्माद् निजुरः, अतिबुभुक्षितात् कर्तात् कूपात्। कर्त इति कूपनामसु (निघ० ३।२३।३)। कथंभूतात् कर्तात्? अवपदः, अव अवाचीनाः पादाः पादन्यासा यत्र स अवपात्, सोपानैर्यत्रोत्तरीतुं न शक्यत इत्यर्थः, तस्माद् अवपदः। 'पादः पत्' (पा० सू० ६।४।१३०) इति पदादेशः।

अध्यात्मपक्षे—संसारादुद्विग्नः साधको भगवद्रूपान् देवान् प्रार्थयते—हे यजत्रा देवाः, अद्य यूयमर्वाञ्चोऽस्मदभिमुखा भवत। यतो भयमानो संसारभयादुद्विग्नोऽहं वो युष्माकं हार्दि हृदयपुण्डरीकस्थं मनो व्ययेयं स्वाभिमुखं सम्पादयेयम्। हे यजत्रा देवाः, नोऽस्मान् निजुरो वृकस्य हिंसकाद् बुभुक्षिताद्वा मृत्युरूपाद् वृकाद् आरण्यकश्वविशेषात् त्राध्वम्। अवपदो यत्रोत्तरणमशक्यं तस्मादवपदः कर्तात् कूपाद् भवकूपाच्च त्राध्वम्।

दयानन्दस्तु—'हे यजत्रा देवाः, यूयमर्वाञ्चो भवत। भयमानोऽहं वो युष्माकं हार्दि आव्ययेयम्, निजुरो वृकस्य सकाशात् त्राध्वम्। हे यजत्राः! यूयमवपदः कर्तादस्मान् त्राध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सङ्गतिकारकाणां विदुषां मनुष्याणां युगपदाभिमुख्यप्रार्थनानुपपत्तेः, यजनीयानां योनिविशेषाणां देवानां भूमिकायां साधितत्वाच्च, तेषामल्पशक्तित्वेन हिंसकस्य मृत्योः सकाशात् त्रातृत्वासम्भवात् ॥ ५१ ॥

विश्वे अद्य मरुतो विश्व ऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः।
विश्वे नो देवा अवसागमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—रुद्र, आदित्य आदि समस्त गणदेवता इस निमित्त हमारे यहाँ आवें, समस्त देवता हमारी दी हुई हवि को ग्रहण करने के लिये यहाँ आवें। गार्हपत्य आदि सारी अग्नियाँ प्रदीप्त हों। गौ, भूमि, सुवर्ण आदि सर्वविध धन-ऐश्वर्य और अन्न हमें प्राप्त हों ॥ ५२ ॥

लुशधानाकदृष्टा आदित्यपुनर्ग्रहणे पुरोरुक्। अद्य विश्वे सर्वे मरुत एकोनपञ्चाशत्संख्याका आगमन्तु आगच्छन्तु। विश्वे अन्ये च सर्वे गणदेवता वसवो रुद्रा आदित्याश्च ऊती ऊत्या, पूर्वसवर्णः, अनेन तर्पणेन निमित्तेन तृप्त्यर्थमागच्छन्त्वित्यर्थः। विश्वे देवाश्च गणदेवाश्चागच्छन्तु। सर्वे गार्हपत्यादयोऽग्नयश्च समिद्धाः सम्यग् दीप्ता भवन्तु। तेषां देवानां तुष्टयर्थं विश्वं सर्वं द्रविणं गोभूहिरण्यादिकं वाजोऽन्नम् अस्मे अस्मास्वस्तु। इयं पूर्वमष्टादशे एकत्रिंशी कण्डिका, तत्रैव व्याख्याताऽपि ॥ ५२ ॥

विश्वे देवाः शृणुतेमँ हवं मे ये अन्तरिक्षे य उप द्यवि ष्ठ।
ये अग्निजिह्वा उत वा यजत्रा आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—हे विश्वेदेव देवताओं! आप सब जो अन्तरिक्ष में हों, स्वर्ग में और अग्निरूप मुख वाले यजन-योग्य हों, वे सब मेरे इस आह्वान को सुनें! इस कुशा के आसन पर बैठ कर हमारी दी हुई हवि का ग्रहण कर तृप्त हों ॥ ५३ ॥

सुहोत्रदृष्टा आदित्यग्रहस्य दध्ना श्रपणे निनियुक्ता। हे विश्वे देवाः, ये यूयमन्तरिक्षे भवथ, ये च द्यवि उप द्युलोकसमीपे स्थ, ये चाग्निजिह्वा वह्निमुखाः, उत वा अपि च, यजत्रा यजनीयाः, ते सर्वे यूयमिमं मत्कृतं हवमाह्वानं शृणुत। श्रुत्वा चास्माकं बर्हिषि यज्ञे आसद्य उपविश्य च मादयध्वं तृप्यध्वम्।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वे देवा ब्रह्मात्मकाः, मम इमं हवमाह्वानं शृणुतेत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे राजादयो मनुष्याः, अद्य यथा विश्वे भवन्तो विश्वे मरुतो विश्वे समिद्धा अग्नय ऊती नो रक्षका भवन्तु, विश्वे देवा अवसा सह नोऽस्मानागमन्तु, तथा विश्वं द्रविणं वाजश्च मनुष्यायास्तु' इति, तदपि न, मनुष्येभ्यो याच्ञापूर्त्यसम्भवेन निरर्थकत्वात्, मनुष्ये याच्ञाप्रवृत्त्या पुरुषार्थप्रवृत्तिनिरोधाच्च। देवा ईश्वरश्च विशिष्टशक्तिमन्त एव वैदिकैरभ्यर्थनीया इति॥ ५३॥

देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वꣳ सुवसि भागमुत्तमम्।
आदिद्दामानꣳ सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः॥ ५४॥

मन्त्रार्थ—हे सबके प्रेरक सविता देव! आप ही सर्वप्रथम यज्ञयोग्य देवताओं के लिये उनके उत्तम भाग, अमृतमय अग्नि में दी हुई आहुति को देते हैं, तदनन्तर ही प्रकाशरूप किरणों का विस्तार करते हैं और मनुष्यों के निमित्त अपनी किरणों की सहायता से प्राणियों के जीवन का विस्तार करते हैं॥ ५४॥

वामदेवदृष्टा जगती सावित्रग्रहस्य पुरोरुक्। हे सवितः, हि यस्मात्, प्रथममुदयकाले यज्ञियेभ्यो यज्ञार्हेभ्यो देवेभ्यो यज्ञानुष्ठानयोग्येभ्यो द्विजातिभ्यो देवेभ्यो दानादिशीलेभ्यस्त्वमुत्तमं भागमग्निहोत्रहोमममृतत्वममृतत्वप्रापकं सुवसि अभ्यनुजानासि प्रेरयसि वा। 'षू प्रेरणे' तौदादिकः। अग्निहोत्रहोमस्यामृतत्वप्रदातृत्वेन कार्यकारणयोरभेदोपचारेण कर्मण्यप्यमृतशब्दप्रयोगः। आद् इद् अनन्तरमेव उदयानन्तरमेव दामानं ददाति प्रकाशमिति दामा रश्मिसमूहस्तम्, व्यूर्णुषे विवृणोषि, विस्तारयसि। यद्वा ददात्युत्पत्तिस्थितिलयानिति दामा, तं रश्मिजालसमूहं व्यूर्णुषे विस्तारयसि। रश्मीनामुद्गमे हि विप्रोऽकम्पितमनसाऽग्निहोत्रादीनि कर्माणि करोति। ततो मानुषेभ्यो जीविता जीवितानि जीवनहेतुभूतानि कर्माणि व्यूर्णुषे। कीदृशानि कर्माणि? अनूचीना अनूचीनानि अन्वञ्चन्ति यानि तानि, तानि रश्मिसमूहानुगतानि, रश्मीनामभावे तमसि तदभावात्। एतेन सवितुर्देवस्यैव लौकिकवैदिकसर्वविधव्यवहारप्रवर्तकत्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः। आधुनिकानां विद्युदादीनामपि पदार्थानां सूर्यांशत्वेन तन्मूलके व्यवहारेऽपि तत्प्रवर्तकत्वानपायात्। तस्मात् त्वामेव स्तुम इति वाक्यशेषः। वैश्वदेवस्तुच्चतुर्थमहः सर्वमेधश्च सम्पूर्णः।

अध्यात्मपक्षे—हे सवितः, सूर्यावच्छिन्नान्तर्यामिन्! प्रथममभ्युदयकाल एव यज्ञियेभ्यो यज्ञानुष्ठानार्हेभ्यो देवेभ्यो दानादिशीलेभ्यो द्विजातिभ्योऽमृतत्वप्रापकं भागं भजनीयं सेवनीयमग्निहोत्रहोमादि वैदिकं कर्म कर्तुं सुवसि प्रेरयसि। आद् इत् सूर्योदयानन्तरमेव दामानं सृष्टिस्थितिलयानां प्रकाशानां वा दातारं रश्मिसमूहं व्यूर्णुषे विस्तारयसि। ततो मानुषेभ्योऽनुचीनानि रश्मिसमूहानुगतानि जीवितानि जीविकोपार्जनसाधनानि कर्माणि विस्तारयसि, परमेश्वरस्यैव सर्वप्रवर्तकत्वात्। 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥' (भ० गी० १८।४६) इति गीतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे सवितर्जगदीश्वर, हि यज्ञियेभ्यो देवेभ्य उत्तमं प्रथमममृतत्वं भागं सुवसि। मानुषेभ्य आदिद्दामानमनूचीना जीविता च व्यूर्णुषे, तस्मादुपासनीयोऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मोक्षप्राप्तौ तत्त्वज्ञानस्य हेतुत्वेन कर्मणां हेतुत्वायोगात्, 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (वा० सं० ३१।१८) इति मन्त्रवर्णात्॥ ५४॥

प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारꣳ रथप्राम्। द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—हे ईश्वर के कार्य में नियुक्त अध्वर्यु! नियुत नामक अश्वों के साथ विचरण करने वाले, ज्ञानी, प्रकाशमान, शरीरपातपर्यन्त क्रियाशील, सर्वव्यापक, धन से रथ को भर देने वाले, क्रान्तदर्शी वायु का अब तुम यजन करो ॥ ५५ ॥

इदानीं पञ्चदश-पञ्चदश-त्रयोदशर्चा अनारभ्याधीतास्त्रयोऽनुवाकाः पुरोरुचः श्रौतकर्मण्यविनियुक्ता ब्रह्मयज्ञार्हा आदित्य-याज्ञवल्क्यदृष्टाः पितृमेधपर्यन्तं व्याख्येया अवशिष्यन्ते। प्र वायुमिति पञ्चदशर्चः पुरोरुग्गणो द्वे च प्रतीकोक्ते। तत्राद्या ऋजिश्वदृष्टा त्रिष्टुप्, वायुदेवत्या। हे प्रयज्यो प्रकर्षेण यजतीति प्रयज्युः, 'यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्' (उ० ३।२०) इति साधुः, बाहुलकादनादेशाभावः, तत्सम्बुद्धौ प्रकर्षेण यजनशील, अध्वर्यो! बृहती बृहत्या पूर्वसवर्णदीर्घः। मनीषा मनीषया, विभक्तेराकारः। महत्या बुद्ध्या। अच्छ आभिमुख्येन त्वं वायुं प्र इ यक्षसि प्रकर्षेण यष्टुमिच्छसि। यजते रूपम्। कीदृशस्त्वम्? कविः क्रान्तदर्शनो ज्ञानी। कीदृशं वायुम्? बृहद्रयिं बृहदतिशयं रयिं धनं यस्यासौ बृहद्रयिर्महाधनस्तम्। पुनः कथम्भूतम्? विश्ववारम्, विश्वेन सर्वेण व्रियत इति विश्ववारः सर्वस्य वरणीयः। अथवा विश्वं वृणोतीति वा विश्ववारः सर्वव्यापकस्तम्। रथप्रां रथं प्राति यजमानाय दातुं धनै रथं पूरयतीति रथप्राः, 'प्रा प्रपूरणे' आदादिकः, अस्मात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति विचि सर्वापहारिलोपे रूपम्, तम्। द्युतद्यामा द्युतद् द्योतमानं याम यमनं नियमनं यस्य स द्युतद्यामा, तं द्युतद्यामा, विभक्तिव्यत्ययः। नियुतः पत्यमानो नियुद्भिः स्वकीयैर्नियुन्नामकैरश्वैर्गच्छन्तम्। उभयत्र विभक्तिव्यत्ययः। कविं क्रान्तदर्शनम्। एतादृशं वायुं यजेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रयज्यो प्रकर्षेण पूजक, बृहत्या मनीषया अच्छाभिमुख्येन त्वं वायुं परमात्मानम्, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। कविस्त्वं प्र इ यक्षसि प्रकर्षेण यष्टुमिच्छसि। कीदृशम्? बृहद्रयिं परमैश्वर्यरूपधनयुक्तम्, विश्ववारं साक्षात्कृतेनाधिष्ठानस्वरूपेण सर्वाच्छादकं सर्वबाधकम्, अधिष्ठानसत्तातिरिक्तायाः कल्पितसत्ताया अनङ्गीकारात्। विश्ववरणीयं वा, सर्वप्रेमास्पदत्वात्। रथप्रां भक्तेभ्यो दानाय धनै रथं प्रतिपूरयतीति तम्। द्युतद्यामा द्युतद्यामानं दीप्यमानशासनम्, विभक्तिव्यत्ययः। नियुतो नियुद्भिरश्वैरिव शीघ्रतया पत्यमानः। भक्तकार्यसिद्ध्यर्थं गच्छन्तमेतादृशं भगवन्तं यजेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे प्रयज्यो हे विद्वन्, नियुतः प्रत्यमानः कविः संस्त्वं या ते बृहती मनीषा तया बृहद्रयिं विश्ववारं रथप्रां द्युतद्यामा वायुं कविं चाच्छ प्रेयक्षसि, तस्मात् सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि न, लोकसिद्धत्वे श्रुतिविषयत्वायोगात्। निघण्टौ नियुच्छब्दो वायोरश्वेषु प्रसिद्धः। तस्य निश्चयात्मपुरुषपरत्वं च निर्मूलमेव ॥ ५५ ॥

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरा गतम्। इन्दवो वामुशन्ति हि। उपयामगृहीतोऽसि वायव इन्द्रवायुभ्यां त्वैष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वा ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र और वायु देवता! आपके लिये यह सोम प्रस्तुत किया गया है। इस सोमरस रूप अन्न के पान के लिये आप लोग हमारे यहाँ आइये। यह सोमरस आपका प्रिय बनने की इच्छा रखता है। हे तृतीय ग्रह के सोम-

रस, तुम वायु देवता के उद्देश्य से उपयाम पात्र में गृहीत हो। एक साथ चलने वाले इन्द्र और वायु देवता के सन्तोष के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। इन्द्रवायुग्रह तुम्हारा स्थान है। युगचर इन्द्रवायु देवताद्वय की प्रीति के निमित्त तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ५६ ॥

ऐन्द्रवायवी गायत्री मधुच्छन्दोदृष्टा। हे इन्द्रवायू, युष्मदर्थमिमे सोमाः सुताः, युष्मदर्थमिमे सोमा अभिषुताः। प्रयोभिरेतैः सोमरसरूपैरन्नैर्निमित्तैरुप समीपे युवामागतम् आगच्छतम्, प्रयोभिः प्रयद्भिरश्वैर्वा आगच्छतम्। हि यस्मात्, इन्दवः सोमाः, वां युवाम्, उशन्ति कामयन्ते। सोममाह—हे सोम, त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि। वायवे इन्द्रवायुभ्यां च त्वा गृह्णामि। दशापवित्रेण गृहीतं ग्रहं पात्राद्बहिर्गतं सोमं मार्जयित्वा एष ते योनिरिति मन्त्रेण ग्रहस्य सादनं कार्यम्। एष खरस्य एकदेशे ते तव योनिः स्थानम्। अतोऽत्र सजोषोभ्यां समानप्रीतिभ्यामिन्द्रवायुभ्यां त्वां सादयामि। सेयं कण्डिका सप्तमेऽध्यायेऽष्टमीकण्डिकास्थाने पठिता, तत्रैव व्याख्याता च ॥ ५६ ॥

मि॒त्रᳪं हु॑वे पू॒तद॑क्षं॒ वरु॑णं च रि॒शाद॑सम्। धियं॑ घृ॒ताची॒ᳪ साध॑न्ता ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—पवित्र विचारों वाले, सदाचार की वृद्धि करने वाले मित्र देवता और हिंसक काम आदि के नाशक वरुण देवता का मैं आह्वान करता हूँ। ये देवता प्रसन्न होकर घृत द्वारा देवताओं का यजन करने की बुद्धि मुझे प्रदान करें ॥ ५७ ॥

द्वे मधुच्छन्दोदृष्टे गायत्र्यौ। आद्या लिङ्गोक्तदेवत्या। मित्रं वरुणं चाहं हुवे आह्वयामि। कीदृशम्? पूतदक्षं पूतं पवित्रं सदाचारं दक्षयति धनपुत्रादिभिर्वर्धयतीति पूतदशः, 'दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च' इति धातोर्ण्यन्तात् कर्मण्यण्, तम्। कथंभूतम्? रिशादसम्। रिशन्ति हिंसन्तीति रिशा दुष्टाः, 'रिश हिंसायाम्' अस्मात् पचाद्यच्, तान् आ समन्ताद् दस्यत्युपक्षपयतीति रिशादसः, 'दसु उपक्षये' दैवादिकः, तम्। रिशादस-मुभयोः प्रत्येकं विशेषणम्। कीदृशावुभौ? धियं कर्म यज्ञरूपं साधन्ता साधयन्तौ। नहि देवतामन्तेरण कर्मसिद्धिः। धीरिति कर्मनामसु (निघ० २।१।२१)। कीदृशीं धियम्? घृताचीम्, घृतमच्यते हूयते यत्र सा घृताची, ताम्।

अध्यात्मपक्षे—मित्रं सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदं परमात्मानं वरुणं सर्ववरणीयं च प्रत्यञ्चमात्मानं हुवे आह्वयामि। कीदृशम्? पूतं पवित्रं साधकं ज्ञानवैराग्यादिभिर्दक्षयति वर्धयतीति पूतदक्षस्तम्। रिशादसं दुष्टानां नाशकम्। तावुभौ घृताचीं घृतस्निग्धां भक्तिमतीं धियं बुद्धिं साधन्ता साधयन्तौ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं धियं घृताचीं च साधन्ता साधन्तौ पूतदक्षं मित्रं रिशादसं वरुणं च हुवे, तथैव यूयमपि स्वीकुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। 'हुवे' इति क्रियापदस्य स्वीकारार्थतापि धात्वर्थविरुद्धैव ॥ ५७ ॥

दस्रा॑ यु॒वाक॑वः सु॒ता नास॑त्या वृ॒क्तब॑र्हिषः।
आ या॑तᳪ रुद्रवर्तनी। तं प्र॒त्नथा॒ऽयं वे॒नः ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमसुन्दर, रुद्र के समान गमनशील, सत्यस्वभाव अश्विनीकुमारो! आप लोग यहाँ आइये। अग्नि में जहाँ आहुति दी जा रही है, जहाँ कुशा बिछी हुई है, वहाँ आपके निमित्त यह सोम अभिषुत हो रहा है ॥ ५८ ॥

आश्विनी। द्वावश्विनौ—तत्रैकस्य दस्र इति नाम, अपरस्य नासत्य इति। तथा च श्रीमद्भागवतम्—'नासत्यदस्रौ परमस्य नासे' (२।१।२९) इति। दस्रा दस्रौ दर्शनीयौ, नासत्या नासत्यौ न असत्यौ, सत्यवादिनौ इत्यर्थः। उभयमपि सम्बोधनम्। युवामायातमागच्छतम्। यतः सुता अभिषुताः सोमाः, युष्मदर्थमिति शेषः। कीदृशाः सोमाः? युवाकवः, युवां कामयन्ते ते युवाकवः, मां पिबतमितीच्छन्तः। यद्वा—युवन्ति अग्नौ मिश्रीभवन्तीति युवाकवः, बाहुलकात् काकुः प्रत्ययः। वृक्तबर्हिषः, वृक्तं छिन्नं बर्हिर्दर्भो यत्र तादृशाः सोमाः। कीदृशौ युवाम्? रुद्रवर्तनी, वर्तते यस्मिन् स वर्तनिर्मार्गः, 'वृतेश्च' (उ० २।१०८) इति वृतेरनिः प्रत्ययः, रुद्रस्येव वर्तनिर्ययोस्तौ रुद्रवद् गमनशीलौ। 'तं प्रत्नथा' (वा० सं० ७।१२), 'अयं वेनः' (वा० सं ७।१६) इति द्वे ऋचौ प्रतीकोक्ते।

अध्यात्मपक्षे—हे दस्राविव दर्शनीयौ नासत्याविव सत्यवादिनौ श्रीरामलक्ष्मणौ, युवां पातम्। यतो युष्मदर्थं सोमा विविधा भोज्यभक्ष्यपेयपदार्थाः, सुता अभिषुताः परिष्कृताः। कीदृशाः? युवाकवः, युवां कामयन्त इति तथोक्ताः। लोके भोक्तारो भोग्यपदार्थान् कामयन्ते, इह तु भोक्त्रोर्वैशिष्ट्याद् भोग्यपदार्था एव भोक्तारौ युवां कामयन्ते, नात्र भोग्यपदार्थाः प्राकृता इव जडाः, किन्तु महारसिका एव परमानन्दमय-रससारसर्वस्वा भोग्यपदार्था भूत्वा युवां कामयन्ते। मां पिबतं पिबतं येन वयं धन्या भवेमेत्यहमहमिकया कामयन्ते। अत एव युवन्ति प्रेमाग्नौ मिश्रीभवन्ति तेनापि युवाकवः। पुनः कीदृशाः? वृक्तबर्हिषः, वृक्तानि बर्हींषि दर्भा येभ्यस्ते परिस्तीर्णबर्हिषः, पावकत्वात् पवित्रतार्थं रक्षोहणत्वाद् विघ्नापसारणार्थम्। कीदृशौ युवाम्? रुद्रवर्तनी रुद्रवज्जटामुकुटधारिणौ।

दयानन्दस्तु—'हे नासत्यौ, रुद्रवर्तनी ये वृक्तबर्हिषो युवाकवः सुताः सन्ति, तान् युवामायातम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृक्साधारणमानवकथाया वेदेऽनवकाशात्। सुता इत्यस्य वेदेषु वैदिकप्रक्रियासु वा सोमाभिषवसम्बन्धेनैवाभिषुता इत्यर्थे प्रसिद्धेः। न च पदार्था जडा भोक्तारं कामयन्ते, कामनायाश्चेतनधर्मत्वात्। पुरोडाशसोमादयोऽपि देवा एव, तेषां मन्त्रैः स्तुतत्वात्, सम्बोध्यत्वाच्च। साधका एव स्वात्मानं भोग्यत्व-मापादयन्ति, 'अहमन्नम्' (तै० उ० ३।१०।६) इति श्रुतेः॥ ५८॥

विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यꣳ सध्र्यक्कः।
अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात्॥ ५९॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर पदों वाली, अक्षरों की ध्वनि को समझने वाली, आद्या त्रयीलक्षणा वाणी हमारे सम्मुख आई है। यदि उसे अध्वर्यु न पहचाने तो प्रस्तर से अभिषुत एक साथ हवन के निमित्त गृहीत महान् सोमलक्षण अन्न को कौन प्राप्त करता॥ ५९॥

कुशिकदृष्टा ऐन्द्री त्रिष्टुप्। सरमा सह रमन्ते विद्वांसो विप्रा देवा वा यस्यां सा सरमा वाक्। सा हि अभिषवे समानं रमते। प्रथमा आद्या त्रयीलक्षणा अच्छ यज्ञाभिमुखं गाद् आगच्छति, यज्ञं प्रतिपादयतीत्यर्थः। कीदृशी सरमा? सुपदी, शोभनानि पदानि यस्यां सा। अक्षराणामकारादीनां रवं शब्दं जानती ज्ञापयन्ती, अन्तर्भूतणिजर्थः। तां सरमां यदि चेद्, विनद् जानीयादध्वर्युः, तर्हि पाथः सोमलक्षणमन्नं कः कुर्यात्, पाथ इति पदेषु (निघ० ४।३।३०), पाधातोः 'उदके थुट् च' (उ० ४।२०५) तथा 'अन्ने च' (उ० ४।२०६) इति सूत्राभ्यामुदकेऽन्ने चार्थे पाथःशब्दनिष्पत्तिः, वेदानभिज्ञस्य सोमकण्डनानधिकारात्। कीदृशं पाथः? अद्रेः, अद्रिणा, विभक्तिव्यत्ययः। सोमाभिषवणग्राव्णा रुग्णं चूर्णितमभिषुतम्, महि महत्, पूर्व्यम् उपांश्वन्तर्यामैन्द्र-

वायवादिपात्रेषु पूर्वं गृहीतम्। सध्र्यक् सह अञ्चतीति सध्र्यक्, 'सहस्य सध्रिः' (पा० सू० ६।३।९५) इति सहशब्दस्य सध्र्यादेशः। सहैव हवनाय गच्छति। अग्रं नयद् यजमानस्य मुख्यत्वं प्रापयत्। यज्ञेन हि यजमानो मुख्यो भवति।

यद्वा—त्रयीलक्षणा सरमा वाक् प्रकटीभवति, सोच्यते। सा ह्यभिषवे समानं रमते, तस्मात् सरमेत्युच्यते। अद्रेः रुग्णमित्यद्रिभिः सोमोऽभिषूयत इत्युच्यते। महि महत् पाथः सोमलक्षणमन्नं पूर्व्यमित्युपांश्वन्तर्यामैन्द्रवायवादिषु पूर्वं गृहीतमित्युच्यते। एवमधियज्ञं व्याख्यानम्। बह्वृचानां तु पृष्ठ्याभिप्लव-षडहयोः प्रथमेऽहनि माध्यन्दिनसवनेऽच्छावाकशस्त्रेऽहीनसूक्तस्थाने त्रीणि सम्पातसूक्तानि। तत्रेदं तृतीयं सम्पातसूक्तम्। तत्र पणिभिरसुरैर्देवगोधनेऽपहृते इन्द्रेण देवशुनी तद्वीत्यै प्रेरिता गा अलभत। तथा च बृहद्देवतायाम्—'असुराः पणयो नाम रसापारनिवासिनः। गास्तेऽपजहुरिन्द्रस्य न्यगूहंश्च प्रयत्नतः॥ बृहस्पतिस्तथापश्यद् दृष्ट्वेन्द्राय शशंस च। प्राहिणोत्तत्र दूत्येऽथ सरमां पाकशासनः॥' (८।२४-२५) इति। एतदभिप्रायेण व्याख्यायते—सरमा देवशुनी इन्द्रेण गवामन्वेषणाय प्रहिता सती यदाद्रेर्गिरेः रुग्णं भग्नं द्वारं विदद् अलभत, तदानीमिन्द्रः पाथोऽन्नं हविरन्नं कः अकार्षीत्, तस्यै दत्तवान्। कथम्भूतं पाथः ? महि महत्। पूर्व्यं पूर्वं प्रेषणकालेऽन्नादिनीं ते प्रजां करिष्यामीति प्रतिज्ञातम्, सध्र्यग् इतरैरपि भोज्यैः सध्रीचीनम्। ततः सुपदी शोभनपादयुक्ता सा सरमा अक्षराणां क्षरणेण नाशेन रहितानामनुपद्रुतानां गवामग्रं प्रान्तम्, नयद् अनयत् प्राप्नोत्। प्रथमा प्रथमं रवं गवां हम्भारवं जानती सती, अच्छ गवामभिमुखं गाद् अगात्, जगामेत्यर्थः। यद्वा सरमा देवशुनी यदि रुग्णं गवां सम्बन्धिभिः खुरैर्भग्नमद्रेः पर्वतस्य द्वारं विदद् अलभत, अथ अनन्तरं गोलक्षणं पाथः पूर्व्यं पूर्वकालेष्वपहृतं देवान् प्रति कः करिष्यति, अग्रं गवामवस्थापनाय नयद् नेष्यति, सुपदी शोभनपादयुक्ता या नष्टं गोधनमन्वेषयामास सैवोच्यते। कीदृशी सा ? अक्षराणामस्मदीयवाक्यसम्बन्धिनाम्, अच्छमभिमुखमुच्चारणं जानती, अगाद् आगमिष्यति।

अध्यात्मपक्षे—सरमा भक्तैः सह रामे रमत इति सरमा सीता भक्तिर्वा, यदि अद्रेरिवाभेद्यस्य कूटस्थस्य भक्तस्य जीवस्य रुग्णं भग्नं मनो विदद् अलभत, तदा महि महत्त्वपूर्णं पाथः स्वानुग्रहलक्षणमन्नं संबलं पूर्व्यं पूर्वैः सेवितं सध्र्यक् सहाञ्चनं कः करिष्यति। कीदृशी सरमा ? सुपदी शोभनौ ध्येयौ पादौ यस्याः सा, प्रथमा मुख्या, सा चाक्षराणां प्रार्थनाक्षराणां रवं शब्दं ध्वनिं जानती, अच्छा साधकानामभिमुखं गाद् आगच्छति, वात्सल्याद् अग्रं फलोत्कर्षं च नयत् प्रापयति।

दयानन्दस्तु—'यदि सरमा प्रथमा सुपदी अक्षराणां रवं जानती रुग्णं विददग्रं नयत्, सम्यक् पूर्व्यं महि अद्रेरुत्पन्नं पाथः कः कुर्यात्, पतिमच्छा गात्तर्हि सा सर्वं सुखमाप्नुयात्' इति, तदपि निरर्थकम्, विशृङ्खलत्वादसम्बद्धत्वाच्च। भावार्थस्तु सर्वथा मन्त्रबाह्य एव ॥ ५९ ॥

नहि स्पशमविदन्नन्यमस्माद् वैश्वानरात् पुर एतारमग्नेः।
एमेनमवृधन्नमृता अमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय देवाः ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं ने इस विश्व के हितकारी, अग्नि से भिन्न, सब कार्यों में अग्रगामी दूत को नहीं पाया। इसीलिये देवताओं ने इस अमरणधर्मा अग्नि को यजमान की रक्षा के लिये आगे बढ़ाया है ॥ ६० ॥

विश्वामित्रदृष्टा त्रिष्टुप्, वैश्वानरी। अमृता अमरणधर्माणो देवा अस्माद् वैश्वानरात्, विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितो वैश्वानरोऽग्निस्तस्मादग्नेरन्यं स्पशं प्रणिधिं दूतं पुर एतारं देवानां सर्वकार्येषु पुरःसरं नह्यविदन् नालभन्त। पुर

एति गच्छतीति पुरएता, तम् । नहिशब्दो निषेधवचनः । आ ईं निपातौ अथार्थौ । अनन्तरमेनममर्त्यममरणधर्माणं वैश्वानरं देवम्, अवृधन् अवर्धयन् । किमर्थमिति चेत्, क्षैत्रजित्याय । क्षेत्रमेव क्षैत्रं तस्य जित्यं जयस्तस्मै देवयजनक्षेत्रजयार्थं यजमानाभीष्टलोकप्राप्त्यर्थं च तमवर्धयन्निति सम्बन्धः ।

अध्यात्मपक्षे—वैश्वानरादग्नेः परमेश्वरादन्यं स्पशं गुप्तचरं कार्यकरमन्यं देवं नह्यविदन् । एम् अथ अनन्तरमेव अमृता देवा एनं वैश्वानरं सर्वहितकारिणममर्त्यममरणधर्माणं नित्यं परमात्मानमवृधन् स्तुतिभिराहुतिभिश्चावर्धयन् ।

दयानन्दस्तु—'ये अमृता देवा अमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्यायै नामावृधन् ईम् अस्माद्वैश्वानरादग्नेः पुरएतारमन्यं स्पशं नह्यविदन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विशृङ्खलत्वात् । नहि जडमात्रस्याग्नेश्चालनकर्तृत्वं सम्भवति, न चाग्नेर्हिताहितज्ञानं सम्भवति, त्वद्रीत्या जडत्वात् । सिद्धान्ते तु तस्य दिव्यशक्तिसम्पन्नत्वेन माहात्म्यात् सर्वमुपपद्यते ॥ ६० ॥

उ॒ग्रा वि॑घ॒निना॒ मृध॑ इन्द्रा॒ग्नी ह॑वामहे । ता नो॑ मृडात ई॒दृशे॑ ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—तीक्ष्ण बल वाले, असुरों के विशेष रूप से हन्ता, इन्द्र और अग्नि देव का हम आह्वान करते हैं । वे दोनों भयानक युद्धों में भी हमारी सहायता करें ॥ ६१ ॥

भरद्वाजदृष्टा ऐन्द्राग्नी गायत्री । वयमिन्द्राग्नी इन्द्रश्च अग्निश्च इन्द्राग्नी, तौ देवौ हवामहे आह्वयामः । कीदृशाविन्द्राग्नी ? उग्रौ उद्गूर्णबलौ । मृधो हिंसकान् शत्रून् विघनिनौ विशेषेण हतो नाशयत इति विघनिनौ तौ । यद्वा मृधः संग्रामस्य कारिणां विहन्तारौ ता तौ आहूतौ सन्तौ इन्द्राग्नी नोऽस्मान् ईदृशे भयानके संग्रामे मृडातो मृडयतः सुखयतः ।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमात्मा रामः, अग्निर्लक्ष्मणः, सङ्कर्षणाग्न्यवतारत्वात् । तौ हवामहे । कीदृशौ ? उग्रौ उदग्रबलौ, मृधः संग्रामस्य विघनिनौ विहन्तारौ, शत्रूणामुन्मूलनेनेति शेषः । ता तौ इन्द्राग्नी ईदृशे दुःखोपद्रवोपप्लुते संसारे नोऽस्मान् मृडातो मृडयतः ।

दयानन्दस्तु –'हे मनुष्य, वयं यावुग्रमृधो विघनिनेन्द्राग्नी हवामहे, ता ईदृशे नोऽस्मान् मृडातः' इति, तदपि न, 'इन्द्राग्नी' इत्यनेन सभापतिसेनापत्योर्ग्रहणे मानाभावात्, प्रसिद्धार्थत्यागस्य निर्मूलत्वाच्च, लोकसिद्धार्थबोधने मन्त्रतात्पर्यानुपपत्तेश्च ॥ ६१ ॥

उपा॑स्मै गायता नरः॒ पव॑मानायेन्द॑वे । अ॒भि दे॒वाँ२॥ इय॑क्षते ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—हे यज्ञ के नेता ऋत्विजों ! इस गतिमान् देवता को परम सत्कार के साथ पूजना चाहिये, सोम के लिये स्तोत्रों का गान करना चाहिये ॥ ६२ ॥

देवलदृष्टा सोमदेवत्या गायत्री । हे नर ऋत्विजः, यज्ञस्य नेतृत्वात् । 'णीञ् प्रापणे' भौवादिकः । अस्मात् 'नयतेर्डिच्च' (उ० २।१०२) इति । नयन्ति पूर्वपुरुषान् उत्तमां गतिमिति विग्रहे ऋप्रत्यये तस्य डित्वाद् धातोष्टिलोपे बहुत्वविवक्षायां जसि नर इति रूपम् । अत्र सम्बोधनम् । अस्मै इन्दवे सोमाय उपगायत औद्गात्रधर्मानुसारमुपशब्दयत, स्तोत्रशस्त्रादिभिः स्तुतिं कुरुत । कीदृशायेन्दवे ? पवमानाय दशापवित्राद् द्रोणकलशं गच्छते, 'पूङ् पवने' भौवादिकः । अत्र गतौ वृत्तिः । पवत इति पवमानः, पूङ्धातोः 'पूङ्यजोः शानन्' (पा० सू०

३।२।१२८) इति शानचि, 'आने मुक्' (पा० सू० ७।२।८२) इति मुगागमे रूपम्, तस्मै। पुनः कथम्भूताय ? देवान् अभि इयक्षते देवान् यजनीयान् अभि आभिमुख्येन इयक्षते यष्टुमिच्छते। यजेः सनि छान्दसोऽभ्यास-यकारलोपः।

अध्यात्मपक्षे—हे नरः, देहादिनेतारो जीवाः ! अस्मै इन्दवे इन्दुभूषणाय उपगायत नानाविधैर्वैदिकैस्तान्त्रिकैः स्तवैः स्तुतिं कुरुत। कीदृशाय ? पवमानाय, भक्तान् पावयितुं गच्छते। देवान् अभि आभिमुख्येन इयक्षते यियक्षते सर्वदेवमयं विष्णुं पूजयितुमिच्छते, पुराणेष्वेकात्मनोरपि हरिहरयोः परस्परं पूजकत्वदर्शनात्।

दयानन्दस्तु—'हे नरः, यूयं देवानभीयक्षते पवमानायेन्दवे उपगायत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उपगान-शब्दस्याध्यापनार्थत्वे मानाभावात्, न च सत्कारकर्तॄणां स्तवनरूपमुपगानं सम्भवति, क्षुद्रयाचकादीनां तादृश-व्यवहारदर्शनात्॥ ६२॥

ये त्वाऽहिहत्ये मघवन्नवर्धन् ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ।
ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमꣳ सगणो मरुद्भिः॥ ६३॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! जिन मेधावी मरुद्गणों ने वृत्रासुर के वध के समय आपकी सहायता की, हे हरि नामक अश्वों वाले इन्द्रदेव ! जिन मरुद्गणों ने शम्बर के साथ हुए युद्ध में आपकी सहायता की, जिन्होंने यज्ञ में असुरों से छीन कर गायों को लाने की आपकी इच्छा की पूर्ति में आपकी सहायता की, जो आपको सन्तुष्ट करने में सदा लगे रहते हैं, हे इन्द्र ! उन मरुद्गणों के साथ आप सोम रस का पान करें॥ ६३॥

विश्वामित्रदृष्टा त्रिष्टुप्, इन्द्रदेवत्या। हे मघवन्, धनयुक्त ! ये मरुतो गणदेवाः, त्वा त्वाम्, अहिहत्ये अहिर्दैत्यो वृत्ररूपस्तस्य हत्ये हनने, अवर्धन् स्तुत्यादिभिर्वर्धितवन्तः प्रोत्साहितवन्तः, हे हरिवो हरिवन् हरित-वर्णाश्वयुक्त, शाम्बरे शम्बरदैत्यसंबन्धिनि च युद्धे ये त्वामवर्धन्, ये च मरुतो गविष्टौ पण्यसुरहृतानां गवामिष्टौ प्रत्याहरणेच्छायां गवामपायेषणयोपस्थितं सन्तं वा त्वामवर्धन्, ये च विप्रा मेधाविनो मरुतो नूनं निश्चितं त्वामनुवदन्ति त्वामुत्कर्षयन्ति तर्पयन्ति वा, हे इन्द्र ! तैर्मरुद्भिः सगणो गणसहितः सन् सोमं पिब, मरुत्वतीयादि-ग्रहस्थं सोमं पिब। अहिहत्ये, हन्तेर्भावे 'हनस्त च' (पा० सू० ३।१।१०८) इति क्यप्, कृदुत्तरपदसमासः। अवर्धन्, ञेः सार्वधातुकत्वेऽपि 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इत्यार्धधातुकत्वे णिलोपः। यद्वृत्तयोगान्निपाताभावः (पा० सू० ८।१।६६)। गवामिष्टिरन्वेषणं यस्मिन् रणे 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० सू० ६।२।१) इतिपूर्वपदस्वरः, अनुमदन्ति स्मेत्यसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः, 'तिङि चोदात्तवति' (पा० सू० ८।१।७१) इति गतेर्निघातः।

अध्यात्मपक्षे—'हे मघवन्, षडैश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर, ये मरुता मरुतो मरुत्पुत्रादयो वा, त्वाम् अहिहत्ये दैत्यराक्षसादिहननेऽवर्धन् वर्धितवन्तः, हे हरिवो वानरभटैरङ्गदादिभिर्युक्त ! ये च शाम्बरे युद्धे मायाविमेघ-नादादियुद्धे त्वामवर्धन्, ये गविष्टौ गवां वेदवाचामिष्टौ रक्षणेषणयोपस्थितं त्वामवर्धन्, ये च त्वां नूनमनुमदन्ति प्रहर्षयन्ति, तैः सह हे इन्द्र, सोमं पिब प्रेम्णा समर्पितं भक्ष्यपेयादिकं पिब खाद च। इन्द्रोऽपि भगवद्बलेनोपबृंहित एव युद्धयति।

दयानन्दस्तु—'हे मघवन्, ये विप्रा अहिहत्ये गविष्टौ सूर्यमिव त्वाऽवर्धन् वर्धयेयुः, हे हरिवाँ ! ये शाम्बरे विद्युतमिव त्वाऽवर्धन्, ते नूनं त्वामनुमदन्ति। ये च त्वां रक्षन्ति, हे इन्द्र ! तैर्मरुद्भिः सगणः सूर्यो रसमिव मनुष्यैः

सह सोमं पिब' इति, तदपि न, लोकसिद्धेऽर्थे वेदतात्पर्याभावात्, मघवन्-हरिव-इत्यादिसम्बोधनानां देवराज इन्द्रे प्रसिद्धानां वराके मनुष्यसेनापतावसङ्गतेः, यथातथादिपदानां मन्त्रेऽभावात्, दृष्टान्तरूपेण सूर्याद्धियोजनमप्यसङ्गतमेव । न च तानि तानि पदान्याञ्जस्येन सेनापतौ संगच्छन्ते ॥ ६३ ॥

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः ।
अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! आप उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न, स्तुतियोग्य और अत्यन्त तेजस्वी हैं । यह सारा जगत् आपकी विभूति है । स्वाभिमान की रक्षा के लिये अतितीव्र गति से आप अपने बल को प्रकट करते हैं । मरुद्गणों ने भी स्तुतियों के द्वारा आपके उत्साह को बढ़ाया है । अतिशय धनवती माता अदिति ने इन्द्र को गर्भ में धारण किया है ॥ ६४ ॥

गौरवीतिदृष्टा त्रिष्टुप्, इन्द्रदेवत्या । हे इन्द्र ! त्वं सहसे बलाय जनिष्ठा अजनिष्ठा जातोऽसि, अडभाव आर्षः । कथम्भूताय सहसे ? तुराय त्वरायुक्ताय वेगवते, यद्वा सहसे बलाय तुराय त्वरणाय, जातोऽसि । कीदृशस्त्वम् ? उग्र उदग्रबलो मन्द्रः स्तुत्य ओजिष्ठोऽत्यन्तमोजस्वी, 'विन्मतोर्लुक्' (पा० सू० ५।३।६५) इति विनो लुक्, बहुलाभिमानः समष्टिविराडभिमानः । अत्र वृत्रवधे ईदृशमिन्द्रं मरुतश्चिद् मरुतोऽपि, अवर्धन् स्तुतिसहायाभ्यां वर्धितवन्तः । सर्वमिदमिन्द्रसौभाग्यमौत्पत्तिकं गर्भकालिकमेवेत्याह—माता अदितिः, धनिष्ठा अतिशयेन धन्या, यद् यस्माद् वीरमिन्द्रं दधनद् गर्भे धारितवती, नकारश्छान्दसः ।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर श्रीराम, त्वं सहसे बलकार्यकरणाय त्वरणाय च, जनिष्ठा जातः, कीदृशस्त्वम् ? उग्र उदग्रबलः, मन्द्रः स्तुत्यः, ओजिष्ठोऽत्यन्तमोजस्वी, बहुलाभिमानः समष्टिव्यष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणसर्वप्रपञ्चाभिमानः, सर्वात्मत्वात् । अत्र रावणादिवधरूपे कार्ये मरुतश्चिद् हनुमानादयोऽपि स्तुतिबलबुद्धयादिभिस्त्वामवर्धन् प्रोत्साहितवन्तः । माता कौशल्या धनिष्ठा अतिशयेन धन्या, यद् यस्माद् वीरं दधनद् गर्भे धारितवती, तस्मात् तथाविधस्त्वमजनिष्ठाः ।

दयानन्दस्तु—हे राजन् ! धनिष्ठा माता यद्वीरं दधनदिन्द्रं मरुतश्चिदिव सभ्या यं त्वामवर्धयन् स त्वमत्र सहसे तुराय उग्रो मन्द्र **ओजिष्ठो** बहुलाभिमानः सन् सुखं जनिष्ठाः' इति, तदप्ययुक्तम्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, मूलमन्त्रे यथा-तथा-इवादिशब्दानामभावात्, लुप्तोपमानच्छलेन त्वद्विरुद्धानामनेकार्थानां कल्पनासंभवाच्च । तदुपेक्ष्यमेव । अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ ६४ ॥

आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि । महान् महीभिरूतिभिः ॥ ६५ ॥

मन्त्रार्थ—हे पापनाशक इन्द्रदेव ! हमारी सुरक्षा की पूरी तैयारी के साथ आप हमारे पास शीघ्र आइये, आप हमारे अतिसमीप आ जाइये ॥ ६५ ॥

वामदेवदृष्टा गायत्री, इन्द्रदेवत्या । तुनिपातः क्षिप्रवचनः, 'ऋचि तुनुघ' (पा० सू० ६।३।१३३) इत्यादिना तस्य संहितायां दीर्घः । हे वृत्रहन्, वृत्राणां सद्बुद्धिप्रावरकाणां पाप्मनां हन्तः ! हे इन्द्र, त्वं नोऽस्मान् प्रति तु क्षिप्रम् आ आगहि आभिमुख्येनागच्छ, एत्य चास्माकमर्धमस्मन्निवासदेशमायाहि, देवयजनदेशं प्राप्नुहीत्यर्थः । यद्वा अस्माकमर्धमस्मदीयं देवयजनमागहि एत्य चास्मान् महीभिर्महतीभिः, ऊतिभी रक्षाभिः, पालयेति शेषः । कीदृशस्त्वम् ? महान्, योऽन्यान् पालयति स महानेव भवति ।

अध्यात्मपक्षे—वृत्रं प्रावरकं ब्रह्मात्मतत्त्वस्याज्ञानम्, तस्य हन्ता परमेश्वरो वृत्रहा। हे वृत्रहन्! त्वमस्माकमधं हृदयस्थानप्रदेशमागहि आभिमुख्येनागहि आगच्छ, आगत्य च महीभिर्महतीभिरूतिभी रक्षाभिर्ज्ञानदानेनाज्ञाननिवर्तनेन चास्मान् पालय, त्वं महानसि स्वरूपेण गुणैश्च महनीयोऽसि।

दयानन्दस्तु—'हे वृत्रहन् इन्द्र ! त्वमस्माकमधं वर्धनमागहि महानसन् महीभिरूतिभिर्नोऽस्मान् त्वादधनत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजस्तोतॄणां संवादस्यापौरुषेये वेदेऽनवसरग्रस्तत्वात्। न च वृत्रहन्निन्द्रादिपदानामाञ्जस्येन प्रकृते मनुष्ये राजनि संगतिः ॥ ६५ ॥

त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! आप संग्रामों में सभी प्रकार के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं, आप सब शत्रुओं का नाश कर देते हैं। इस कारण हे दुष्टों के हन्ता ! अपने पक्ष की प्रशंसा करने वाले सभी शत्रुओं का आप पूरी तरह से नाश कर दीजिये ॥ ६६ ॥

नृमेधदृष्टे ऐन्द्रचौ पथ्याबृहतीसतोबृहत्यौ। हे इन्द्र, प्रतूर्तिषु संग्रामेषु, प्रकृष्टा तूर्तिर्हिंसा यत्र येषु तेषु, त्वं विश्वाः सर्वाः स्पृधः स्पर्धमानाः शत्रुसेनाः, अभि असि भवसि अभिभवसि। किञ्च, यतस्त्वं विश्वतूः, विश्वान् सर्वान् रिपून् तूर्यते हिनस्ति यः स विश्वतूरसि भवसि, विश्वशत्रुनिहन्तासि, ततस्तरुष्यतो हनिष्यतः शत्रून् तूर्य जहि मारय। कीदृशस्त्वम्? अशस्तिहा, नास्ति शस्तिः प्रशस्तिर्येषां तेऽशस्तयस्ते दुष्टास्तान् हन्तीति तथोक्तः। जनिता जनयिता स्वीयानां प्रशंसोत्पादकः। यद्वा हे इन्द्र, प्रतूर्तिषु प्रतरणीयेषु शत्रुषु निमित्तभूतेषु विश्वाः सर्वाः स्पृधः संग्रामान् अभि असि अभिभवसि। किञ्च, अशस्तिहा अभेरादिशेषे, अभिशस्तिर्निन्दा कलङ्को वा, तं हन्तीत्यशस्तिहा, जनयिता च सुखानाम्। विश्वतूः सर्वशत्रुतूरणस्त्वमसि, तस्माद् ब्रवीमि त्वमेव तरुष्यतो हनिष्यतः शत्रून् तूर्य मारय।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, प्रतूर्तिषु कामक्रोधादिसंग्रामेषु तैः संघर्षेषु, स्पृधः स्पर्धमानाः कामादिशत्रुसेनाः, अभ्यसि अभिभवसि, तवानुकूल्येन तासां पराभवानुभवात्। त्वमेव अभिशस्तिहा आत्मज्ञानदानेन आत्महननरूपाया अभिशस्तेर्हन्तासि, जनिता च जीवन्मुक्तिसुखस्य, त्वमेव विश्वतूरणोऽसि, अतो तरुष्यतो हनिष्यतः कामादिशत्रून् तूर्य नाशय।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, यतस्त्वं प्रतूर्तिषु विश्वा स्पृधोऽभ्यसि, अशस्तिहा जनिता विश्वतूः संस्त्वं विजयवानसि, तस्मात् तरुष्यतस्तूर्य' इति, तदपि पूर्ववदेवोपेक्षणीयम्, इन्द्रपदस्य सामान्यराजार्थेऽप्रसिद्धेः। अक्षरार्थस्तु महीधराद्यनुकरणमात्रम् ॥ ६६ ॥

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! पृथ्वी और स्वर्ग में स्थित सभी जीव शत्रुओं पर तीव्र गति से आक्रमण करने वाले आपके बल की उसी प्रकार प्रशंसा करते हैं, जैसे कि माता-पिता अपने बालक की। सारी शत्रुसेना आपके क्रोध से घबरा जाती है, सभी देवताओं के द्वारा मिल करके भी जो असुर मारे नहीं जा सकते, उन सबको आप अकेले मार डालते हैं ॥ ६७ ॥

हे इन्द्र, क्षोणी क्षोण्यौ द्यावापृथिव्यौ, ते तव शुष्मं बलं तुरयन्तं शत्रुषु त्वरामाविष्कुर्वन्तं तूर्णं गच्छन्तं वा अन्वीयतुरनुजग्मतुः, त्वामेवानुगतवत्यौ। अनुगमने दृष्टान्तः—मातरौ मातापितरौ शिशुं न शिशुमिव, यथा मातापितरौ शिशुमनुगच्छतस्तद्वदित्यर्थः। विश्वाः सर्वाः स्पृधः स्पर्धमानाः शत्रुसेनाः संग्रामा वा, ते तव मन्यवे मन्योः, पञ्चम्यर्थे चतुर्थी, तव क्रोधात् श्नथयन्त अश्रथयन्त श्रथिताः खिन्ना भवन्ति, उद्विग्ना भवन्तीत्यर्थः। यद्यस्माद् हे इन्द्र, त्वं युद्धे वृत्रं देवासुरावध्यं तुर्वसि हंसि, 'यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यबिभीताम्' (निरु. १०।१०) इति यास्कोक्तेर्द्यावापृथिव्यौ तत्स्था लोकाश्च यद्बलं बत्र मन्यन्ते, येन च युद्धे वृत्रो निपातितस्तस्य क्रोधदर्शनात् स्पर्धमानाः शत्रुसेनाः संग्रामा वा उद्विजेरन्निति युक्तमेव, तूर्वतिर्हिंसार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर! ते तुरयन्तं शत्रुषु त्वरामाविष्कुर्वन्तं शुष्मं बलं द्यावापृथिव्यौ मातरौ मातापितरौ शिशुमिवान्वीयतुरनुजग्मतुः, पारमेश्वरेण तेजसा तयोर्विधृतत्वात्। हे इन्द्र, त्वं वृत्रं दैत्यमज्ञानं वा तुर्वसि नाशयसि, तस्माद्विश्वा सर्वाः स्पृधः शत्रुसेनास्ते तव मन्योः श्नथयन्त खिन्नाः सन्त उद्विजन्ते।

दयानन्दस्तु—हे इन्द्र, यस्य ते तुरयन्तं शुष्मं शिशुं मातरा मातापितरौ इव क्षोणी अन्वीयतुस्तस्य ते मन्यवे विश्वा स्पृधः श्नथयन्त। यद्यं वृत्रं शत्रुं त्वं तूर्वसि स पराजितो भवति' इति, तदप्यसङ्गतम्, अन्वीयतुरिति द्विवचनक्रियानुगुणकर्तृपदायोगात्। न च क्षोणीति स्वपरभूमीति व्याख्यातमेवेति, तदपि निर्मूलम्, निघण्टु-वचनेन क्षोणीपदस्य भूम्यर्थत्वेऽपि स्वपरेति विशेषणस्य निर्मूलत्वात्। तस्मात् क्षोणी क्षोण्यौ द्यावापृथिव्यावित्येवार्थो युक्तः। न च तत्र मातरौ मातापितरा इति दृष्टान्तो घटते॥ ६७॥

य॒ज्ञो दे॒वानां॒ प्रत्ये॑ति सु॒म्नमादि॑त्यासो॒ भव॑ता मृड॒यन्तः॑।
आ वो॒ऽर्वाची॑ सुम॒तिर्व॑वृत्याद॒ꣳहोश्चि॒द्या व॑रिवो॒वित्त॒रास॑त्॥ ६८॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ आदित्य आदि देवताओं के सुख के निमित्त आगमन करता है। इस कारण हे आदित्यगणों! आप सब हमारे लिये अवश्य ही सुखकारी हों। आप लोगों की जो स्वभाव-सिद्ध अनुग्रह बुद्धि है, वह हमारे प्रति प्रवृत्त हो। पापकारी की भी जो बुद्धि सुमतिरूप धन का उपार्जन करनेवाली है, यह हमारे सन्मुख हो। हे सोम, आदित्य ग्रह की प्रीति के निमित्त मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ॥ ६८॥

यज्ञो देवानामादित्यानां सुम्नं सुखं कर्तुं प्रत्येति। अतो हे आदित्यासः, मृडयन्तो यूयमस्माकं सुखकर्तारो भवत। वो युस्माकं सुमतिर्भक्तानुग्रहतत्परा बुद्धिः, अर्वाची अस्मदभिमुखी आवृत्याद् आवर्तताम्। अंहोश्चिद् हननशीलस्य पापिनोऽपि वरिवोवित्तरा अत्यन्तं धनलब्ध्री असद् भवेत्, सा सुमतिरस्मदभिमुखी आवर्ततामिति सम्बन्धः। हे सोम, आदित्येभ्यो देवेभ्यस्त्वो दध्ना, मिश्रयामीति शेषः। (८।४) इत्यत्र व्याख्याता। कुत्सदृष्टा त्रिष्टुप् समाप्ता॥ ६८॥

अद॑ब्धेभिः सवितः पा॒युभि॒ष्ट्वꣳ शि॒वेभि॑र॒द्य परि॑ पाहि नो॒ गय॑म्।
हिर॑ण्यजिह्वः सुवि॒ताय॒ नव्य॑से॒ रक्षा॒ माकि॑र्नो अ॒घश॑ꣳस ईशत॥ ६९॥

मन्त्रार्थ—हे सबके प्रेरक ज्योतिरूप जिह्वा वाले सवितादेव! आप अब कभी नष्ट न होने वाली आनन्दस्वरूप अपनी रक्षा के घेरे में हमें ले लें, हमारी अनन्य भक्ति को देख कर आप हमारे देहरूप गृह की रक्षा करें, हमें नित्य नूतन सुख प्रदान करें, कोई पापेच्छु हमारे ऐश्वर्य को न प्राप्त कर सके॥ ६९॥

भरद्वाजदृष्टा जगती, सवितृदेवत्या। हे सवितः, सर्वस्योत्पादयितः प्रेरयितो वा, त्वं गयं नोऽस्माकं गयं गृहं धनं वा अदब्धेभिरनुपहिंसितैः शिवेभिः शान्तैः पायुभिः पालनैः परिपाहि परिरक्ष। कीदृशस्त्वम् ? हिरण्य-जिह्वः, हिरण्यवदविचला तेजस्विनी च जिह्वा ज्वाला यस्य सः, सत्यवाग् भूत्वा, यद्वा हिरण्या हिता रमणीया च जिह्वा ज्वाला यस्य सः, 'हिरण्यं कस्मात् ? ··· हितं रमणं भवतीति वा' (निरु० २।१०) इति यास्कोक्तेः। नव्यसे नवीयसे नवतराय सुहवाय सुखाय नोऽस्मान् रक्ष। यद्वा सुविताय सुप्रसूताय नव्यसे नवतराय कर्मणे, भवेति शेषः, रक्ष च सर्वथा। माकिः मा कश्चन नोऽस्माकमघशंसः, अघं पापं यः शंसति स ईशत ईशितः समर्थो भवत्वघकरणाय। 'रक्षा' इत्यत्र संहितायां दीर्घः। 'ईशत' इत्यत्र लङ्, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुगभावः।

अध्यात्मपक्षे—हे सवितः, प्रपञ्चोत्पादक परमेश्वर ! अदब्धेभिर्हिंसारहितैः शिवेभिः सुखकरैः पायुभिः पालनैस्त्वं नोऽस्माकं गयं गृहं धनं वा, गृहधनयोर्नामसु पाठात्, परिपाहि परिपालय। कीदृशस्त्वम् ? हिरण्य-जिह्वः, हिरण्यं ज्योतिर्मयी जिह्वा वेदलक्षणा वाग् यस्य सः, नव्यसे नवतराय सुविताय सुप्रसूताय सुखाय भव रक्ष च। माकिः मा कश्चन अघशंसमघमाशंसमानो नोऽस्माकमीशत कश्चिदघशंसोऽस्माकमीशिता भवतु।

दयानन्दस्तु—हे सवितः, त्वमदब्धेभिः शिवेभिः पायुभिरद्य नो गयं परिपाहि, हिरण्यजिह्वः सन् नव्यसे सुविताय नो रक्ष, यतोऽघशंसो नो माविरीशत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजप्रजाव्यवहारस्य लोकसिद्धत्वात्। सवितृपदस्य कतिचिद्वसून्युत्पादकत्वे राजन्यप्रवृत्तेः, जनानां गृहधनापत्यादिरक्षणं राज्ञां स्वाभाविकं कृत्यमिति तदर्थमज्ञातज्ञापकस्य वेदस्य न प्रवृत्तिः ॥ ६९ ॥

प्र वी॒रया॒ शुच॑यो दद्रिरे वामध्व॒र्युभि॒र्मधु॑मन्तः सु॒तास॑ः।
वह॑ वायो नि॒युतो॑ या॒ह्यच्छा॒ पिबा॑ सु॒तस्यान्ध॑सो॒ मदा॑य ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ—हे पत्नी और यजमान ! तुम दोनों के प्रकृष्टवीर निर्मल ऋत्विजों के द्वारा अभिषुत निग्राभ्य नामक जल और सोम एकरस कर दिये गये हैं। हे वायुदेव, आप अपने नियुत नामक अश्वों के साथ देवयजन स्थान में आवें, सोम के सन्मुख उपस्थित हो तृप्ति के लिये अभिषुत सोम का पान करें ॥ ७० ॥

वशिष्ठदृष्टा त्रिष्टुप्, वायुदेवत्या। पञ्चदश ऋचः, द्वे प्रतीकोक्ते। एवं सप्तदशकः पुरोरुचां समूहः। हे पत्नीयजमानौ जायापती। वां युवयोः स्वभूताः सोमाः, दद्रिरे विदीर्णाश्चूर्णीभूताः, 'दृ विदारणे' कर्मकर्तरि लिट्। कीदृशाः सोमाः ? प्रवीरया 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति जसोर्याजादेशः, प्रकृष्टा वीरा ज्ञानवन्त ऋत्विजो येषां ते, शुचयः शुद्धाः, अध्वर्युभिरध्वरनेतृभिर्ऋत्विग्विशेषैर्वा सुतासोऽभिषवधर्मेणा-भिषुता ग्रावभिर्द्रवीभावमापादिताः, 'अभिषुण्वन्ति चत्वारः पर्युपवेशनसामर्थ्यात्' (का० श्रौ० ९।५।१) इति कात्यायनवचनादध्वर्युभिरिति बहुवचनम्। मधुमन्तौ मधु निग्राभ्यारूपमुदकमस्ति येषां ते तद्वन्तः। एवमर्धर्चेन पत्नीयजमानौ संबोध्याथेदानीं वायुमाह—वाति सर्वत्र गच्छतीति वायुः, तत्संबोधने हे वायो ! नियुतो नियुन्नामकानश्वान् त्वं वह अस्मद्देवयजनप्रदेशं प्रापय, अच्छ याहि सोमाभिमुखं सोमं प्राप्तुं वा याहि, अच्छाभेरर्थे आप्तुमिति वा, यात्वा च मदाय तृप्तये मदनाय वा सुतस्याभिषुतस्यान्धसः सोमस्य स्वमंशं पिब।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यभावेन पत्नीयजमानौ वायुश्च परमात्मरूपा एव। तानेव सम्बोध्य पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजनौ, ये वां मधुमन्तः सुतासः शुचयो जना अध्वर्युभिर्वीरया सेनया शत्रून् प्रदद्रिरे, तैः सह हे वायो, त्वं नियुतो वह अच्छ याहि मदाय सुतस्यान्धसो रसं पिब' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, वायुपदेन राजग्रहणे हेत्वभावात्, नियुतो वायोरश्वा इति प्रसिद्धार्थत्यागे नितरां मिश्रितामिश्रितगुणग्रहणस्याप्रयुक्तत्वात् ॥ ७० ॥

गाव उपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा । उभा कर्णा हिरण्यया ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ—हे गोमाताओं अथवा वृष्टिधाराओं ! ये महान् द्यावापृथिवी नामक युगल देवता सब कुछ जानते हैं, तदनुरूप ही यज्ञ-फल को देते हैं । इन दोनों को सुवर्णमय कर्णाभूषण प्रदान कर चत्वालरूप कूप के प्रति आप सब गमन करें ॥ ७१ ॥

गाव उपावतावतमिति मन्त्रः (३३।१९) इत्यत्र व्याख्यातः ॥ ७१ ॥

काव्ययोराजानेषु क्रत्वा दक्षस्य दुरोणे । रिशादसा सधस्थ आ ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ—हे शत्रुपक्ष के विनाशक मित्रावरुण देवताओं ! उत्साही यजमान के यजनीय देवताओं और यजन में सहायक मनुष्यों को एक साथ सोमपान कराने के लिये कवियों के हितकारी आप दोनों देवयजन भूमियों में यज्ञकर्म की समृद्धि के लिये यहाँ आवें ॥ ७२ ॥

दक्षदृष्टा गायत्री मैत्रावरुणी । रिशादसा रिशन्ति हिंसन्ति ते रिशा हिंसकास्तानासमन्ताद्दस्यतो नाशयतस्तौ रिशादसौ, द्विवचनम्, मित्रावरुणविषयं पदम्, हे रिशादसौ शत्रुपक्षक्षपयितारौ मित्रावरुणौ यजमानस्य सधस्थे देवमनुष्याणां सहसोमपानस्थाने युवाम् आ आगच्छतम् । कीदृशस्य यजमानस्य ? काव्ययोः कवीनां क्रान्तदर्शिनां कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठायिनां हितयोर्युवयोः, आजानेषु आसमन्ताज्जन्मसु सोमपानार्थमाविर्भूतभूमिषु देवयजनादिषु दुरोणे यज्ञगृहे च, क्रत्वा यज्ञकर्मणा दक्षस्य उत्साहवतो यज्ञं समर्धयत । दक्षस्येति विशेषणबलेन यजमानस्येति विशेष्यपदमध्याहर्तव्यम् । आ इत्युपसर्गेण गच्छतमिति क्रियापदाध्याहारोऽपि । संक्षेपेण काव्ययोः कवीनां हितयोर्युवयोराजानेषु आजन्मभूमिषु उत्पत्तिस्थानेषु क्रत्वा कर्मणाऽग्निष्टोमादिकया क्रियया दक्षस्योत्साहवतो यजमानस्य दुरोणे यज्ञगृहे हे रिशादसा रेशितव्यस्य हिंसनीयस्योपक्षयितारौ मित्रावरुणौ सहस्थे सहस्थाने आगच्छतम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे रिशादसौ हिंसकासुरराक्षसादिक्षपयितारौ श्रीरामलक्ष्मणौ ! काव्ययोः कवीनां तत्त्वदर्शिनां हितयोर्युवयोराजानेषूत्पत्तिस्थानेषु क्रत्वा अग्निष्टोमादिरूपाराधनकर्मणा दक्षस्योत्साहवतो भक्तस्य दुरोणे यज्ञगृहे सधस्थे सहस्थाने आ आगच्छतम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यावध्यापकोपदेशकौ राजप्रजाजनान् प्राज्ञान् बलयुक्तानरोगान् परस्पर-प्रीतिमनोधर्मात्मना संपश्येताम्, तौ पितृवत् सत्कर्तव्यौ' इति, तन्न, मूलास्पर्शित्वात् । यच्च 'हे रिशादसौ काव्ययो-राजानेषु क्रत्वा दक्षस्य सधस्थे दुरोणे युवामागच्छतम्' इति, तदपि न, अध्यापकोपदेशकातिरिक्तानामपि रिशा-दशत्वोपपत्तेः ॥ ७२ ॥

दैव्यावध्वर्यू आ गतꣳ रथेन सूर्यत्वचा । मध्वा यज्ञꣳ समञ्जाथे ॥
तं प्रत्नथाऽयं वेनः ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ—हे दिव्य अश्विनीकुमारों ! आप लोग सूर्य के समान कान्तिमान् रथ से हमारे यहाँ आइये । पुरोडाश, दधि आदि से यज्ञ को सींच कर बहुत हवि वाला बनाइये । इस मन्त्र में 'तं प्रत्नथा' (७।१२) और 'अयं वेनः' (७।१६) इन दो मन्त्रों के प्रतीक भी इसी प्रसंग के दिये गये हैं ॥ ७३ ॥

'दैव्यावध्वर्यू' इति व्याख्याता (३३।३३) । 'तं प्रत्नथा' (७।१२), 'अयं वेनः' (७।१६) इति द्वे प्रतीकोक्ते ॥ ७३ ॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्यदेव की व्यष्टि और समष्टि रश्मियाँ तिरछी होकर द्युलोक से नीचे फैल रही हैं । स्वर्ग में विद्यमान सूर्य की ये दोनों प्रकार की किरणें वर्षा के लिये जल को धारण करती हैं । इसीलिये इनकी महिमा गाई जाती है । अन्न के निष्पादक ये सूर्यदेव जब भूमि के सन्मुख आते हैं, तब प्रयत्न से ऊर्ध्वमुख होती हुई इसकी किरणें दर्शन मात्र से देवताओं को अत्यन्त तृप्त करती हैं ॥ ७४ ॥

प्रजापतिदृष्टा त्रिष्टुप्, भाववृत्तदेवत्या, भावेषु पदार्थेषु वृत्तः स्थितो भाववृत्तः परमात्मा, सोऽस्यास्त्रिष्टुभो देवता, आग्रयणग्रहग्रहणे विनियोगः क्रमपाठाल्लभ्यते । तस्मादादावधियज्ञं व्याख्यायते—'आधवनीयादुन्नेता निग्राभ्यास्वासिञ्चति ताः पवित्रे यजमानस्ततो ग्रहग्रहणमाध्रुवादिति' (का० श्रौ० ९।५।१६-१७) इति कात्यायनेनोक्तम् । अध्वर्युरुत्तरस्य हविर्धानस्य नीडे एकमम्भ्रणं स्थापयति, स आधवनीय उच्यते । तस्यै प्रउगे द्वितीयमम्भ्रणं स्थापयति, स पूतभृत्पदवाच्यः, बृहन्मुखा मार्तिकघटा अम्भ्रणपदवाच्याः, शकटे उपवेशनस्थानं नीडपदवाच्यम्, नीडस्य बहिर्भाग प्रउगपदवाच्यः, अनवच्छिन्नसाग्रप्रादेशमात्रमन्त्रे संस्कारयुक्तं समपरिणाहं प्रोक्षणाद्यर्थं दर्भद्वयं पवित्रम् । तद्रीत्या एषां पूयमानसोमानां रश्मिः, यमनाद् ऋजीषादिकल्कनियामको दशापवित्रलक्षणस्तिरश्चीनस्तिर्यग्विततो विस्तारित उद्गातृभिः, तस्मिन् दशापवित्रे सोमः प्रक्षिप्तः सन् दशापवित्राद्धश्च आसीत्, स्विच्छब्दौ चकारार्थौ, उपरिस्विदासीदितीकारः प्लुतः । किञ्च, तत्रैके पदार्था ग्रहचमसाधवनीयद्रोणकलशादयो रेतोधा रेतो जगदुत्पत्तिबीजभूतं सोमं दधति धारयन्तीति रेतोधाः सोमाधारभूता आसन्, 'यज्ञाद्वै प्रजा प्रजायन्ते' इति श्रुतेर्जगद्बीजत्वं यज्ञस्य । तत्र च सोमस्यैव प्राधान्येन जगद्बीजत्वम् । तथान्ये पदार्थाः सोमरसरूपास्तत्राधेयाः सन्तो महिमानो महान्त उत्कृष्टा आसन् । आधाराधेयभावेन सर्वोऽयं यज्ञात्मैव स्थितः, 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' (भ० गी० ४।२४) इति गीतोक्तेः । किञ्च, स्वधाऽन्नं तद्रूपः, अवस्ताद् अवरो होमात् प्राग् नीच आसीत्, प्रयतिः प्रयतते यः स प्रयतिः प्रयत्नवान् होमानन्तरं लब्धफलकः सन् परस्तात् पर उत्कृष्ट आसीदिति महीधराचार्यः । 'एषां सोमानामन्तरा दशापवित्रलक्षणाद् रश्मिस्तिरश्चीनो विततः प्रसारितः, उद्गातृभिस्तस्मिन् दशापवित्रे सोमः प्रक्षिप्तो दशापवित्रादधःस्विद् अधश्च आसीत्, उपरि च आसीत् । आसीदित्युभयत्र विचारे प्लुतिः । किञ्च, रेतोधा रेतः सोमः, स हि जगदुत्पत्तिबीजम्, तस्य धारयितार आसन्, ग्रहचमसाधवनीयद्रोणकलशादयो महिमानश्च आसन्, सोमैकादशाः सोमस्य महिमानः । स्वधाऽन्नम् अवस्तात् शुक्रो द्रोणकलश इत्येतदुक्तं भवति । प्रयतिः प्रयतनं परस्तादुपरिष्टाद् आधवनीयादुन्नेता निग्राभ्यास्वासिञ्चति, ताः पवित्रे यजमानोऽवनयतीत्येतदुक्तं भवति' इत्युव्वटाचार्याः ।

अथाधिदैवतम् - एषां प्रसिद्धानां सूर्यरश्मीनां मध्ये एक सुषुम्णाख्यो रश्मिस्तिरश्चीनो विततो विस्तृतः सन् किं द्युलोकादधःस्विद् आसीत्, उतोपरिस्विदासीत्। स्विदिति वितर्के, 'विचार्यमाणानाम्' (पा० सू० ८।२।९७) इति प्लुतः। किञ्च, स रश्मी रेतोधा रेतसो विश्वबीजस्योदकस्य धारयिता, व्यत्ययेनैकवचनम्। 'सूर्यस्य ह वा एको रश्मिर्वृष्टिवनिर्नाम येनेमाः सर्वाः प्रजा बिभर्ति' इति। अन्ये रश्मयो महिमानो माहात्म्याधायका आसन्, विश्वप्रकाशकत्वेन। किञ्च, स्वधान्ननिष्पादकः प्रयतिः प्रयत्नात् स ऊर्ध्वमुखः सन् परस्तात् पर उत्कृष्टो दर्शनमात्रेण देवानां तृप्तिदः। यथोक्तं छान्दोग्ये—'असौ वा आदित्यो देवमधु' इत्युपक्रम्य 'न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छा० ५।१।६) इति।

अध्यात्मपक्षे—नासदासीदिति ससर्चेऽध्यात्मप्रतिपादके सूक्ते (ऋ० १०।१२९) बह्वृच इमामृचं पठन्ति। तत्र नासदासीदिति निरस्तसमस्तप्रपञ्चां प्रलयावस्थामनूद्य विश्वबीजमविद्योक्ता, कामस्तदग्रे समवर्ततेति पादेन च काम उक्तः, मनसो रेतः प्रथमं यदासीदिति पादेन पुण्यापुण्यात्मकं कर्मोक्तम्। एवमविद्याकामकर्माणि सृष्टि-हेतून्युक्त्वा तेषां स्वकार्यजनने शैघ्र्यमाह—तिरश्चीन इति। एषामविद्याकामकर्मणां रश्मिरिव रश्मिः कार्य-वर्गो वियदादिर्विततो विस्तृतः सन् तिरश्चीनस्तिर्यगवस्थितो मध्ये स्थितः, अधश्चासीदुपरि चासीत्, सूर्यरश्मि-वद्युगपत् सर्वं व्याप्येत्यर्थः। तदेव विभजते—रेतोधा इति। सृष्टे कार्यवर्गे केचन रेतोधा रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः कर्तारो भोक्तारश्च जीवा आसन्, अन्ये महिमानो महान्तो विपुला वियदादयो भोग्या आसन्, महिमान इति स्वार्थे इमनिच्। एवं मायया परमेश्वरः सर्वं जगत्सृष्ट्वा स्वयं चानुप्रविश्य भोक्तृभोग्यरूपेण विभागं कृतवानित्यर्थः। तयोर्भोक्तृभोग्ययोर्मध्ये स्वधाऽन्नं भोग्यप्रपञ्चोऽवस्तादवरो निकृष्ट आसीत्, प्रयतिः प्रयतिता भोक्ता परस्तात् पर उत्कृष्टो भोक्तृप्रपञ्चाधीनं भोग्यप्रपञ्चं कृतवानित्यर्थः, 'विभाषा परावराभ्याम्' (पा० सू० ५।३।२९) इति प्रथमार्थेऽस्तातिप्रत्ययः, 'अस्ताति च' (पा० सू० ५।३।४०) इत्यवरशब्दस्य वादेशः, 'एतद्वा इदं सर्वमन्नं चैवान्नादश्च' इति श्रुतेरिति महीधराचार्याः। एषां प्रकृतिपुरुषपरमेश्वराणां रश्मिरिव तिरश्चीनो विततः सूर्य आकाशो वा। स अधःस्विदासीद् उपरिश्चासीत्। तत्र रेतोधाः कर्मरूपस्य बीजस्य धातारः कर्तार आसन्। महिमानो महान्तो विराड्ढिरण्यगर्भेश्वराश्च आसन्। स्वधा अन्नरूपो भोक्तृभोग्यादिप्रपञ्चः, अवस्ताद् अवरोऽस्ति, प्रयतिर्जीवकर्मानुसारं प्रतिसर्गं सृष्ट्ये प्रयतमानः परमेश्वरः परस्तात् पर उत्कृष्टः, अविद्या-कामकर्मानभिभूतत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, एषां तिरश्चीनो विततो रश्मिरधःस्विदासीदुपरिस्विदासीद् अवस्तात् परस्ताच्च प्रयतिरस्ति, तद्विज्ञानेन रेतोधा आसन् महिमानः स्वधा सन्तो भवन्त उपकारकाश्चासन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रयत्नस्य चेतनधर्मत्वेनाचेतनेषु रश्मिषु तदयोगात्, तद्विज्ञानेनेति व्याख्यानस्य मन्त्रबाह्यत्वात्। रश्मिशब्दस्य किरणोऽर्थश्चेदेकत्वानुपपत्तिः, नह्येकस्यैव विरुद्धदिग्गमनमुपपन्नम्, दीप्त्यर्थताऽपि चिन्त्या, निर्मूलत्वात् ॥ ७४ ॥

आ रोदसी अपृणदा स्वर्महज्जातं यदेनमपसो अधारयन्।

सो अध्वराय परि णीयते कविरत्यो न वाजसातये चनोहितः ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ—जब क्रियाशील ऋत्विजों ने इस प्रादुर्भूत अग्नि को धारण किया, तब उस अग्नि से द्यावापृथिवी और गगनमण्डल को सब ओर से भर दिया। वह सर्वज्ञ और हमारा हितकारी अग्निदेव यज्ञ के लिये प्राप्त किया जाता है, जैसे कि सूर्य अन्न-लाभ के लिये ॥ ७५ ॥

परमात्मानं वैश्वानररूपेण भोक्तारं स्तौति। वैश्वानरदेवत्या विश्वामित्रदृष्टा जगती। यद् यदा जातमरणिमन्थनेनोत्पन्नमात्रमेनं वैश्वानरमग्निम्, अपसो अपस्विनः, आपः कर्माण्यग्निहोत्रादीनि, अप्समवेतत्वात्, ताभिस्ताः सन्ति येषु तेऽपस्विनः कर्मवन्तो यजमाना लक्ष्यन्ते। ते च अधारयन् अग्निहोत्रादिकर्मसु स्थापितवन्तः, कर्मणामग्निसाध्यत्वात्, तदा स वैश्वानरो रोदसी द्यावाभूमी आ सर्वतः, अपृणत् पूरयति स्म, स्थावरादिष्वपि तदुपलब्धेः। न केवलं रोदसी पूरितवान्, किन्तु महत् प्रभूतं स्वर् अन्तरिक्षं चापृणत् सूर्य्यरूपेण पूरितवान्, त्रैलोक्यं च जाठराग्निरूपेण पूरितवान्। गार्हपत्यादीनां च लोकत्वमुक्तं श्रुत्या—'अयं वै लोको गार्हपत्यो द्यौराहवनीयः' इति। तदेवात्र विव्रियते—सोऽग्निरध्वराय यागाय परिणीयते सर्वतोऽतिप्रणीताग्नीध्रीयादिधिष्ण्यादिषु प्रकर्षेण प्राप्यते। नयने दृष्टान्त उच्यते—अत्यो न। उपमार्थीयो नकारः। यथाऽश्वो वाजसातये अन्नलाभाय सर्वतो नीयते तद्वत्। यथा अश्ववान् राजा तत्र तत्र भोगजातं लभते, तद्वद् विप्रोऽग्निं सेवमानो ब्रह्मलोकान्तान् भोगान् लभते। कीदृशोऽग्निः ? कविः क्रान्तदर्शनः सर्वज्ञः, चनोहितः चनसेऽन्नाय भोग्याय हितः सर्वभोगसंपादकः, 'चन इत्यन्ननाम' (निरु० ६।१६) इति यास्कोक्तेः। यद्वा स वैश्वानरो रोदसी आ अपृणद् आ स्वर् आदित्यं महद् महान्तमपृणत् पूरयति। कदा अपृणत् ? यद् यदा जातं जातमात्रमेनं वैश्वानरमपसोऽपस्विनः, अधारयन् कर्मणि स्थापितवन्तः। सोऽध्वराय स एवाग्निर्यज्ञाय परिणीयते आहवनीयादिरूपेण। स च कविः क्रान्तदर्शनः सर्वज्ञः, न भूताग्निमात्रः। कथमिव सोऽध्वराय नीयते ? तत्राह—अत्यो न अश्व इव वाजसातये अन्नसंभजनाय चनोहितश्चनसि अन्ने स्थापितः। अश्वो हि घृतादिभिरभिघारितेनान्नेन पोष्यते, तथैवाग्निरपि घृतादिभिः पूज्यते पोष्यते चेति तेनोपमीयते।

अध्यात्मपक्षे—वैश्वानरः परमेश्वरः, आसमन्ताद् रोदसी द्यावापृथिव्यौ स्वीयेन ज्ञानमयेन महसाऽऽग्नेयेन च अपृणत् पूरितवान् महत् स्वरन्तरिक्षं महान्तमादित्यं वा अपृणत्। कदाऽपृणत् ? यद् यदा जातबुद्धौ मायायां च चिद्रूपेण जीवेश्वरादिरूपेणाविर्भूतमरणीभ्यां चोत्पन्नमेनमपसः स्वधर्मनिष्ठाकर्मणि, अधारयन् प्रतिष्ठापितवन्तः। सः कविः क्रान्तदर्शनः सर्वज्ञः, अध्वराय यज्ञाय हविरग्न्यध्वर्य्वादिरूपेण परिणीयते, 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' (४।२४) इति गीतोक्तेः। कथमिव परिणीयते ? अत्यो न अश्व इव। यथाऽश्वो वाजसातये अन्नसंविभागाय चनोहितः, चनसेऽन्नाय हितोऽश्ववान् राजा नीयते, तथाग्निरपि विविधफलप्राप्तये तत्र तत्र यज्ञेषु नीयते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यद् यो विद्युद्रूपोऽग्नी रोदसी महज्जातं स्वश्चापृणत्, एनमपसोऽधारयन्, यं च कविरध्वराय वाजसातये चात्यो न विद्वद्भिः परिणीयते, स चनोहितोऽस्तीति यूयं विजानीत' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, विद्युद्रूपस्याग्नेश्च प्रकृतिभूतस्याग्नेरेव व्यापकत्वप्रसिद्धेः। वस्तुतस्तु ब्रह्मरूपेण देवतारूपेणाग्नेरेव वर्णने वेदस्य तात्पर्यम् ॥ ७५ ॥

उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा। आङ्गूषैराविवासतः ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ—अत्यन्त पापनाशक और सबको प्रसन्नता से भर देने वाले जो इन्द्र और अग्नि देवता हैं, वे मन्त्रों के घोष और वेदवचन से ब्रह्माग्नि का सेवन करते हैं ॥ ७६ ॥

इन्द्राग्निदेवत्या गायत्री, वसिष्ठस्यार्षम्। या यौ इन्द्राग्नी आङ्गूषैर् आघोषैश्चिद् लौकिकवाक्स्तोमैरपि स्तुतौ आ आगच्छतः, 'आङ्गूषः स्तोम आघोषः' (निरु० ५।११) इति यास्कोक्तेः। तौ उक्थेभिर् उक्थैः, गिरा स्तोत्रात्मिकया स्तुत्या आ विवासत आविवस्येते याज्ञिकैः परिचार्येते, व्यत्ययेन कर्तरि लट्। 'विवासतिः परिचर्यायाम्' (निरु० ११।२३)। कीदृशौ तौ ? वृत्रहन्तमा वृत्राणामावरकाणां पाप्मनां हन्तृतमौ, 'नाद्घस्य' (पा० सू० ८।२।१७) इति नुम्। मन्दाना मन्दानौ मोदमानौ स्वभावतः, विभक्तेर्डादेशः सर्वत्र। यद्वा—यौ

उक्थेभिर् उक्थैः स्तुतौ सन्तौ वृत्रहन्तमा अतिशयेन वृत्रस्य पापस्य हन्तारौ स्तो भवतः, या चिद् यौ च गिरा वाचा लौकिक्यां स्तुतौ आमन्दाना मोदमानौ स्तः, यौ च आङ्गूषैः स्तोमैः स्तुतौ, आविवसतः स्तोतॄन् परिचरतः, 'तं सा परिचरेद्देवी पतिं प्रियमिवाङ्गना' (रहस्यत्रये) इतिवद् भक्तपारवश्येन, तौ उक्थैर्गिरा आङ्गूषैश्च सर्वकामाप्त्यर्थं स्तुमः ।

अध्यात्मपक्षे—यौ इन्द्राग्नी श्रीरामलक्ष्मणौ । अन्यत् पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'या मन्दाना वृत्रहन्तमा सभासेनाध्यक्षौ चिदिव गिरा आङ्गूषैरुक्थेभिश्च शिल्पविज्ञानमाविवासतस्तावध्यापकोपदेशकौ मनुष्यैरासेवनीयौ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्राग्निपदयोर्देवताविशेषे रूढत्वादध्यापकोपदेशकयोर्ग्रहणे मानाभावात् । अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ ७६ ॥

उप॑ नः सू॒नवो॒ गिरः॑ शृ॒ण्वन्त्व॒मृत॑स्य॒ ये । सु॒मृ॒डी॒का भ॑वन्तु नः ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति के पुत्र विश्वेदेव देवता हम यजमानों की वाणी को सुनें, वे हमारे लिये सुखकारी हों ॥ ७७ ॥

सुहोत्रदृष्टा वैश्वदेवी गायत्री । नोऽस्माकं गिरो वाच उपशृण्वन्तु समीपमागत्यावधारयन्तु श्रुत्वा च नोऽस्माकं सुमृडीकाः सुखकरा भवन्तु, शोभनं मृडीकं सुखं येषां ते सुमृडीकाः । के शृण्वन्तु ? ये अमृतस्य अमरणधर्मकस्य प्रजापतेः सूनवः पुत्रा विश्वेदेवाः, ते उपशृण्वन्तु ।

अध्यात्मपक्षे – ये अमृतस्य मरणादिरहितस्य परमात्मनः सूनवः पुत्राः, ते विश्वे सर्वे देवा दीव्यमाना देवाः, देवं भजन्तो देवभावमुपगताः, नो गिरः स्तुतिरूपा उपशृण्वन्तु श्रुत्वा च सुमृडीका भवन्तु सुखयितारो भवन्तु ।

दयानन्दस्तु—'ये नः सूनवोऽमृतस्य गिर उपशृण्वन्तु, ते नः सुमृडीका भवन्तु' इति, तदपि न, वेदे व्यष्ट्यर्थापेक्षया समष्ट्यर्थस्यैव प्राधान्यात् । किञ्च, विश्वे देवा देवता अस्य मन्त्रस्येति तस्मादमृतस्य परमात्मनः सूनवो विश्वे देवा ये ते नोऽस्माकं सुमृडीका गिरः शृण्वन्त्वित्यर्थ इति त्वया विश्वे देवा देवतेत्यङ्गीक्रियते ॥ ७७ ॥

ब्रह्मा॑णि मे म॒तयः॒ शꣳ सु॒तासः॒ शुष्म॑ इयर्ति॒ प्रभृ॑तो मे॒ अद्रिः॑ ।
आ शा॑सते॒ प्रति॑ हर्यन्त्यु॒क्थेमा हरी॑ वहत॒स्ता नो॒ अच्छ॑ ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ—मेरे मन्त्र-वाक्यरूप स्तुति-वचन, बुद्धि की वृत्तियाँ और ऋत्विक्‌गण परमानन्द के उत्पादक हैं । मेरे द्वारा धारण किया हुआ बलरूप वज्र लक्ष्य को अवश्य ही प्राप्त करता है । मेरे द्वारा गाये गये उक्थ आदि स्तोत्र प्रार्थना में प्रयुक्त हैं । वे स्तोत्र और शस्त्र मुझे चाहते हैं । हमारे ये अश्व यज्ञ के अभिमुख आते हुए हमें प्राप्त होते हैं ॥ ७८ ॥

तिस्रस्त्रिष्टुभः, द्वे इन्द्रमरुत्संवादे इन्द्रमरुद्देवत्ये, आद्ये अगस्त्यदृष्टे । इन्द्रो मरुतः सहचरानाह—हे मरुतः, ब्रह्माणि मन्त्रवाक्यात्मकानि स्तुतिवचांसि, सोमाज्यादीनि हवींषि वा, मे मम स्वभूतानि । विधिवाक्येऽग्न्यादिदेवतान्तरसम्बन्धेन प्रतीयमानान्यपि सर्वदेवताप्राणात्मनो ममेन्द्रस्यैव तान्यपि । मतयो मननयुक्ताः स्तुतयोऽपि शं मम सुखोत्पादिकाः, अतो यज्ञे गन्तव्यमिति भावः । किञ्च, मे मया प्रभृतः प्रकर्षेण धृतोऽद्रिर्वज्रः, इयर्ति गच्छत्येव लक्ष्यं प्रति, न प्रतिहन्यते न मोघो भवति । कीदृशोऽद्रिः ? शुष्मः, शोषयति शत्रुप्राणान्

शत्रूनेव वा यः, अतो यज्ञे गमने असुराद्युपद्रवाशङ्कापि नास्ति ? न केवलं हविरादीनां मदीयत्वेनैव गन्तव्यम्, अपि त्वाशासते प्रार्थयन्ते यजमाना यानि उक्था उक्थानि ता तानि स्तोत्रशस्त्राणि मां प्रतिहर्यन्ति कामयन्ते। 'हर्यतिः प्रेप्साकर्मा' (निरु० ७।१८) इति यास्कः। किञ्च, नोऽस्माकं इमा इमौ हरी अश्वौ अच्छ यज्ञाभिमुखं वहतो मां प्रापयतः, अत एवास्माभिर्यज्ञं प्रति गन्तव्यमेवेति भावः। यद्वा ब्रह्माणि मन्त्रवाक्यात्मकानि स्तुतिवचांसि मतयो मननयुक्ताः स्तुतयः सुता अभिषुताः सोमाः, प्रभृतः प्रहृतः, अद्रिः सोमाभिषवग्रावा शुष्मः सुखरूपः। एतत्सर्वं मम शं सुखमियर्ति अर्पयति उद्गमयति, णिजन्तर्भावः। अन्यत् पूर्ववत्। 'अविसिविसिशुषिभ्यः कित्' (उ० १।१४२) इति मन्प्रत्यये शुष्म इति। अत्ति भक्षयति शत्रूनित्यद्रिः, 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्' (उ० ३।१६६) इति क्रिन्प्रत्यय आद्युदात्तः।

यद्वा ब्रह्माणि स्तुतिरूपाणि वैदिकवाक्यानि मन्त्रसंस्कृतानि हवींषि वा, मे मम मतयः सानुग्रहा मतीः, इयर्ति उद्गमयति, सुतासोऽभिषुताः सोमा मम शं सुखमुद्गमयन्ति, लोपश्छान्दसः, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ३।१८४, वा०) इति हस्य भकारः। प्रहृतश्च सोमाभिषवनिमित्तं मे मम अद्रिर्ग्रावा शुष्मो बलमियर्ति अर्पयति, विभक्तिव्यत्ययः। यत्र च यजमाना आशासते मदागमनमिच्छन्ति, यत्र च उक्थानि प्रतिहर्यन्ति इमानि शृणोत्विति कामयन्ते, इमा इमौ हरी अश्वौ ता तानि स्थानानि अच्छ आभिमुख्येन नोऽस्मान् वहतः प्रापयतः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रस्य रामस्य मरुद्भिर्हनुमदादिभिः संवादः। ब्रह्माणि वैदिकलौकिकस्तुतिवचांसि मे मतयो मतीः सानुग्रहा बुद्धीः, इयर्ति उद्गमयन्ति, वचनव्यत्ययः। सुतासः सोमाः सोमादयो भोग्या मदर्थमुपकल्पिताः शं सुखं समर्पयन्ति। अद्रिः सोमाभिषवनिमित्तं सोमाभिषवग्रावा शुष्मः शुष्मं बलमर्पयति, यत्र च भक्ता आशासते मदीयमागमनमिच्छन्ति, यत्र चोक्था उक्थानि स्तोत्रशस्त्राणि प्रतिहर्यन्ति, इमानि शृणोत्विन्द्र इति कामयन्ते, इमौ हरी अङ्गदहनुमन्तौ, ता तानि स्थानानि अच्छ आभिमुख्येनास्मान् वहतः, तत्रैव गन्तव्यं मयेति।

दयानन्दस्तु—'सुतासो मतयो मे यानि ब्रह्माणि प्रतिहर्यन्ति, इमोक्थाऽऽशासते शुष्मः प्रभृतोऽद्रिर्मे यतः शमियर्ति वा, तानि नोऽस्मभ्यं हर्यच्छ वहतः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हरीत्यस्याध्यापकाध्येताराविति विवरणस्य निर्मूलत्वात्। सुतासो विद्यासुशिक्षाभ्यां निष्पन्ना इत्यपि निर्मूलम्, उक्था प्रशंसनीयानीत्यपि बालभाषितम्, उक्थस्तोत्रापरिज्ञानमूलकत्वात्। वस्तुतस्तु पूर्वोक्तव्याख्यानानुसारेण सुतासोऽभिषुतास इत्यादय एवार्थाः ॥ ७८ ॥

अनु॑त्तमा ते॑ मघवन्नकि॒र्नु न त्वावाँ॑ २॥ अस्ति दे॒वता॒ विदा॑नः ।
न जाय॑मानो॒ नश॑ते॒ न जा॒तो यानि॑ करि॒ष्या कृ॑णु॒हि प्र॑वृद्ध ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ—हे धनवान् इन्द्र ! आपसे बढकर श्रेष्ठ कोई भी नहीं है, इस बात को हम सदा याद रखते हैं। निश्चित ही आपके समान विद्वान् दूसरा कोई देवता नहीं है। हे पुराणपुरुष ! जिन कर्मों को आप करते हैं, उनको पूर्व काल में और वर्तमान काल में देव-मनुष्यों में से किसी ने भी नहीं किया और न आगे कोई करेगा ॥ ७९ ॥

एवमिन्द्रेणोक्ता मरुतः प्रत्याहुः- हे मघवन् धनवन् इन्द्र, आ इति स्मरणे, स्मृतवन्तो वयं ते तव अनुत्तं न केनापि नुत्तं नाशितम्, माहाभाग्यमिति शेषः, 'नुद प्रेरणे' इत्यस्य धातोर्निष्ठायां 'नसत्तनिषत्ता' (पा० सू० ८।२।६१) इत्यादिना अनुत्तमिति निपातः। नु निश्चयेन, नकिर्न कोऽपि, त्वन्माहाभाग्यनाशक इति शेषः। न केवलं तवैश्वर्यमात्रं कश्चिन्न हन्ति, किन्तु ते सर्वज्ञत्वमपि न कश्चिद् हन्ति। त्वावान् त्वत्सदृशः, वतुरत्र

सादृश्ये, विदानो विद्वान् सर्वज्ञः, देवता देवो नास्ति। 'देवता' इत्यत्र स्वार्थे तल्प्रत्ययः, विदान इति विदेः शानन्, नित्वादाद्युदात्तः। किञ्च, हे प्रवृद्ध प्रकर्षेण पुराणपुरुष, यानि कर्माणि वृत्रवधादीनि त्वं कृणुहि करोषि, 'व्यत्ययेन लोट्', तानि कर्माणि जायमानो वर्तमानो जातो भूतपूर्वश्च देवमनुष्येषु कश्चिन्न नशते न व्याप्नोति, न करोति, नशतिर्व्याप्तिकर्मा। न करिष्या न च करिष्यति, उत्पत्स्यमान इति शेषः, तिलोपो दीर्घश्च छान्दसः। कालत्रयेऽपि त्वत्सदृशः कश्चिन्नास्ति, तस्मात्त्वमेव यज्ञेश इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे हनुमदादयो वदन्ति—हे मघवन्, ऐश्वर्यवन् परमेश्वर! आ स्मृतवन्तो वयमनुत्तमप्रच्युतस्वभावं ते तव महाभाग्यम्, आ आस्ते वा, नकिर्नु न वा कश्चित् प्रच्यावको महाभाग्यस्य, नित्यत्वात्। किञ्च, न त्वावान् त्वत्सदृशः, अस्ति देवता देवः, विदानो विद्वान्, सर्वज्ञ इत्यर्थः। किञ्च, न जायमानो वर्तमानस्तानि कर्माणि नशते व्याप्नोति, न च जातः करिष्याः करिष्यति। तानि कर्माणि जगत्सृष्ट्यादीनि रावणवधादीनि च तानि यानि यानि त्वं कृणुहि करोषि, लकारव्यत्ययः।

दयानन्दस्तु—'हे प्रवृद्ध मघवन्नीश्वर, यस्य तेऽनुत्तं स्वरूपमस्ति, न कोऽपि त्वावान् देवता विदानो न्वस्ति, भवान् न जायमानोऽस्ति न वा जातोऽस्ति। यानि करिष्या कृणुहि च तानि कश्चिन्नकिरानशते, स त्वं सर्वोपास्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जातत्वजायमानत्वनिषेधस्य जीवसाधारण्येन परमेश्वरस्तुतिप्रसङ्गे तदवचनीयत्वात्, त्वदीयकर्मादीनि ज्ञातुं समर्थो न कश्चिज्जातो न वा जायमानोऽस्तीत्येव श्लिष्यते॥ ७९॥

तदिदा॑स॒ भुव॑नेषु॒ ज्येष्ठं॒ यतो॑ ज॒ज्ञ उ॒ग्रस्त्वे॒षनृ॑म्णः।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो नि रि॑णाति॒ शत्रू॒नन॑ यं विश्वे॒ मद॒न्त्यूमाः॥ ८०॥

मन्त्रार्थ— भुवनों में वही ब्रह्म श्रेष्ठ था, जिससे तपोधन उत्कृष्ट इन्द्र प्रकट हुआ, जो प्रकट होने के साथ ही शीघ्र यजमान के शत्रुओं को नष्ट करता है और जिसको सब देवता तृप्त करते हैं॥ ८०॥

बृहद्दिवदृष्टा माहेन्द्री त्रिष्टुप्। भुवनेषु भूतजातेषु तदित् तदेव ज्येष्ठं श्रेष्ठमास बभूव, न सर्वोत्कृष्टं ब्रह्मैवासीत्, प्राशस्त्याभिप्रायेण, 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति लिटः सार्वधातुकत्वादस्तेर्भूभावः, यतो ज्येष्ठाद् उग्र उदग्रबलः, इन्द्रो जज्ञे जातः। कीदृशः इन्द्रः? त्वेषनृम्णः, त्वेषः कान्तिर्नृम्णं धनं यस्य स तेजोधनः, कार्यमहत्त्वदर्शनेन कारणमहत्त्वसिद्धेः। किञ्च, य इन्द्रो जज्ञानो जायमान एव सद्यस्तत्क्षणं शत्रून् निरिणाति नितरां हन्ति, 'री वधे' क्र्यादिः, प्वादित्वाद् ह्रस्वः। किञ्च, विश्वे सर्वे देवा यमिन्द्रमनुमदन्ति अनुतृप्यन्ति, 'अनुर्लक्षणे' (पा० सू० १।४।८४) इति द्वितीया, 'यद्वृतान्नित्यम्' (पा० सू० ८।१।६६) इति मदन्तीत्यत्र निघाताभावः। कीदृशा विश्वे? ऊमाः, अवन्ति रक्षन्तीत्यूमाः, अवतेर्मन्प्रत्ययः, 'छ्वोः शूड्' (पा० सू० ६।४।१९) इत्यूठ्।

अध्यात्मपक्षे—भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य कृष्णस्य वा माहात्म्यं वर्णयन् तस्य महत्त्वेन तत्पितुरपि माहात्म्यमाह—तदित् तदेव भुवनेषु भूतजातेषु ज्येष्ठम्, यतो ज्येष्ठाद् उग्र उत्कृष्ट इन्द्रो रामः कृष्णो वा जज्ञे। कीदृश इन्द्रः? त्वेषनृम्णः, तेजोधनः, कार्यमाहात्म्येन कारणमाहात्म्यप्रसिद्धेः। य इन्द्रो जज्ञानो जायमानः सद्यः शीघ्रमेव शत्रून् मारीचसुबाहुपूतनातृणावर्तादीन् निरिणाति निहन्ति, विश्वे देवा यमिन्द्रमनुमदन्ति अनुतृप्यन्ति। कीदृशा विश्वाः? ऊमा रक्षकाः प्रजापतयो देवगणाश्च भगवत्तृप्तिमन्वेव तृप्यन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यत उग्रस्त्वेषनृम्णो यज्ञे यो जज्ञानः शत्रून् सद्यो निरिणाति, विश्वा ऊमा यमनुमदन्ति, तदिदेव ब्रह्म भुवनेषु ज्येष्ठमासेति विजानीत' इति, तदपि न, तादृशस्य पुरुषस्यानिरूपणात्, तदसिद्ध्या तत्कारणासिद्धेश्च॥ ८०॥

इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ—हे महाधनवान् आदित्यदेव ! जो मेरे शस्त्ररूप वचन हैं, वे आपकी स्तुति करें। आपके वर्चस्व को बढ़ावें, अग्नितुल्य तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी शुद्ध विद्वानों ने स्तोत्रों के द्वारा आपका ही गुणगान किया है ॥ ८१ ॥

मेधातिथिदृष्टे आदित्यदेवत्ये हे बृहत्यौ। हे पुरूवसो पुरु बहु वसु धनं यस्य तत्सम्बुद्धौ हे पुरूवसो बहुधनादित्य ! संहितायां छान्दसो दीर्घः, या मम गिरः स्तोत्रशस्त्ररूपा वाच इमाः, त्वा त्वां वर्धन्तु वर्धयन्तु। किञ्च, विपश्चितस्त्वत्स्वरूपाभिज्ञा उद्गातारश्च, स्तोमैः स्तोत्रैः, बहिष्पवमानादिभिस्त्वाऽभ्यनूषत अस्तुवत, 'नु स्तुतौ' लुङ्, कुटादित्वाद् गुणाभावः। कीदृशा विपश्चितः ? पावकवर्णाः, अग्नितुल्यतेजसो ब्रह्मवर्चस्विनः, अत एव शुचयः शुद्धागमाः।

अध्यात्मपक्षे—हे पुरूवसो अनन्तैश्वर्य भगवन्नादित्य परमेश्वर ! यं त्वां पावकवर्णा अग्निवर्णा ऋषयः शुचयो यमनियमादिपरा विपश्चितस्त्रिकालदर्शिनः स्तोमैः स्तोत्रैरभ्यनूषत अभिष्टुवन्तः, तं त्वामिमा या मम गिरः स्तोत्रशस्त्रलक्षणा वाचः, ता वर्धन्तु वर्धयन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे पुरूवसो परमात्मन्, या इमा मम गिरस्त्वा उ वर्धन्तु, ताः प्राप्य पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितः स्तोमैरभ्यनूषत' इति, तदपि न, पुरुवसुत्वोक्त्या क्वचित्तदभावसिद्ध्यापत्तेः। न च निरतिशयं ब्रह्म स्तुतिभिर्वर्धनार्हम्, न च पदार्थविद्याप्रशंसनैः परमेश्वरप्रशंसनं सम्भवति, तथा सति विषयादिप्रशंसकानामपि परमात्मोपासकत्वापत्तेः ॥ ८१ ॥

यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः।
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत् सो अज्यते रयिः ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ—यह सब वर्णाश्रमविहित कर्मों के अनुष्ठाताओं का समूह जिस परमात्मा का सेवक है, निधियों का रक्षक कृपण पुरुष उनका शत्रु है। आयुधधारी धन के निमित्त दूसरों की हिंसा करने वाले धनस्वामी या वैश्य आदि के पास भूमि खोद कर छिपाया गया जो धन है, वह धनसमूह भी आपकी ही कृपा से प्रकट होता है, अर्थात् दूसरा पुरुष उस धन को लेकर अच्छे कार्यों में लगा देता है ॥ ८२ ॥

हे आदित्य, यस्य तवायं विश्वः सर्वः, आर्यो वर्णाश्रमविहितकर्मानुष्ठायी दासो दासवत् सर्वदा रक्षणीयः, शेवधिपा निधिरक्षकः कृपणो यस्य तवारिः शत्रुः, 'निधिः शेवधिः' (निरु० २।४) इति यास्कः। किञ्च, एवंविधे कृपणेऽर्ये धनस्वामिनि वैश्ये वा तिरश्चित्, तिरोऽन्तर्धौ, चिदप्यर्थे, अन्तर्निहितोऽपि तिरश्चित्, भूमिगर्तादौ निक्षिप्तोऽपि तस्य रयिर्धननिचयस्तुभ्येत् तुभ्यमेव त्वदर्थमेवाज्यते व्यक्तो भवति 'तुभ्यम् इत्' इति स्थितौ मकारलोपेन छान्दसेन तुभ्येदिति रूपम्, कर्मकर्तरि यक्, कृपणस्य धनं त्वदर्थमेव पक्षहरणादिना न कृपणभोगाय भवति। कीदृशेऽर्ये ? रुशमे, हिंसाकर्मणो रुशतेरौणादिके मप्रत्यये रूपम्। रुशति हिनस्तीति रुशमः, तस्मिन् धनापहर्तॄणां हिंसके, आतिथ्यादितिरस्कारेणात्मनोऽपि हन्तरि। पवीरवि पविः शल्यमस्यास्तीति पवीरमायुधम्, रो मत्वर्थीयः, पवीरं वाति गच्छतीति पवीरवास्तस्मिन् पवीरवि धनरक्षार्थमायुधधारके, 'पविः शल्यो भवति, यद्विपुनाति कायम्, तद्वत् पवीरमायुधम्, तद्वान् पवीरवान्' (निरु० १२।३०) इति यास्कोक्तेः। धनिनातियत्नेन गुप्तमपि धनं तत आच्छिद्य धर्मिष्ठाय ददातीति भाव इति महीधराचार्याः।

अध्यात्मपक्षे—हे आदित्य परमेश्वर ! यस्य तव सर्वं आर्योऽभिगन्तव्यः श्रेष्ठो वेदप्रमाणकधर्मनिष्ठो दास इव पोष्यः, यस्य च तव शेवधिपाः कृपणोऽरिः शत्रुवद्धन्तव्यः, शेवधिं निधिं प्राणपणेन यज्ञदानभोगादिबाधेनापि यः पाति स निधिपाः कृपणः, स आदित्यः परमेश्वरो यज्ञादिना समर्हणीयः। अन्यत् पूर्ववत्। यद्वा तिरश्चित् तिरोभूतेऽपि, नानाविधैरुपायैः सुगुप्तेऽपि, अर्ये धनस्वामिनि रुशमे हिंस्रे पवीरवि आयुधवति युद्धादिकर्मसंलग्ने य आदित्यः, अरिः घातकः, हे यजमान तुभ्यमेव स रयिः रयिम्, विभक्तिव्यत्ययः, अज्यते अनक्ति ददाति, धातूनामनेकार्थत्वादञ्जिर्दानार्थः, विकरणव्यत्ययश्च।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यस्य तवायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः पवीरवि रुशमेऽर्ये तिरश्चित्तुभ्येत्, स त्वं रयिरज्यते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजन्निति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, नहि राज्ञो विश्वो दासः सम्भवति, राजराजे राज्ञामेव दासत्वोपपत्तेः। किञ्च, राजपक्षे परमेश्वरपराणां देवपराणां मनुष्यपरत्वानुपपत्तेः। कथञ्चित् परमेश्वरपदस्यापि क्षुद्रराजादिमनुष्यपरत्वयोजनं वैदिकमर्यादातिक्रमणमेव ॥ ८२ ॥

अयꣳ सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ—वेद के मन्त्रों से बलयुक्त किया गया सत्यधर्मा सूर्यदेव समुद्र के समान व्यापक है। इसके बल, महिमा और ज्योति के दाता महानारायण स्वरूप की यज्ञों में और समाधि में मैं वेदवाणी द्वारा स्तुति करता हूँ ॥ ८३ ॥

मेधातिथिदृष्टाऽऽदित्यदेवत्या सतोबृहती। अयमादित्यः सूर्यः समुद्र इव अर्णव इव पप्रथे प्रथितो विस्तीर्णो व्यापकोऽभूत्। कीदृशोऽयम् ? सहस्रम्, ऋषिभिर्मन्त्रादिसूक्ष्मवस्तुद्रष्टृभिः सहस्रकृत्वः, सहस्कृतः सहसा बलेन युक्तः कृतः, मन्त्रद्रष्टॄणां मन्त्रबलेन देवताबलं वर्धते। अस्यादित्यस्य महिमा सत्यः, महत्त्वं माहात्म्यमवितथमेव, शवो बलं चास्य सत्यम्। यज्ञेषु विप्रराज्ये विप्राणां राज्ये स्तोत्रशस्त्रसन्दोहैः, गृणे तं महिमानं स्तौमि। यज्ञे हि ब्राह्मणाः स्वतन्त्रा राजान इव, राज्ञामपि तदानीं तद्वशवर्तित्वात्। उव्वटाचार्येणात्रादित्य एवेन्द्रत्वेन व्याख्यायते।

अध्यात्मपक्षे आदित्योऽत्रान्तर्यामी परमेश्वरः, 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १।१।२०) इति न्यायात्। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यद्ययं सभेशो राजा राजर्षिभिः सह सहस्रमसंख्यं ज्ञानं प्राप्तः सहस्कृतः सत्योऽस्त्यस्य महिमा समुद्र इव पप्रथे, तर्हि स प्रजाजनोऽहमस्य यज्ञेषु विप्रराज्ये च शवो गृणे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, अयमिति पदेन सभेशस्य राज्ञो ग्रहणे मानाभावात्। न च प्राकृतो ऋषिभिर्मन्त्रदृग्भिर्मन्त्रैर्वा सहस्कृतो भवति, न च तस्य महिमा समुद्रवदन्तरिक्षवद्वा भवति, परिच्छिन्नत्वात्। न वा यज्ञेषु तस्य संस्तवः संभवति, न च यज्ञपदस्य संभाव्यमर्थमपहाय संगतेऽर्थे प्रयोगः प्रसिद्ध्यति, अक्रमे मानाभावात् ॥ ८३ ॥

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम्।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो अघशꣳस ईशत ॥ ८४ ॥

मन्त्रार्थ—हे सबके प्रेरक ज्योतीरूप जिह्वा वाले सवितादेव ! आप अपने अनुपहिंसित आनन्दस्वरूप रक्षा कर्म से हमारी अनन्य भक्ति से प्रेरित होकर हमारे देहरूप गृह की रक्षा करें, नवीन नवीन सुख के लिये हमारा पालन करें, कोई पापी पुरुष हमारे ऐश्वर्य को न छीन सके ॥ ८४ ॥

अयं मन्त्रः (३३।६९) इत्यत्र व्याख्यातः । षष्ठः पुरोरुग्गणः सम्पूर्णः ॥ ८४ ॥

आ नो॑ य॒ज्ञं दि॑वि॒स्पृशं॒ वायो॑ या॒हि सु॒मन्म॑भिः ।
अ॒न्तः प॒वित्र॑ उ॒परि॑ श्री॒णा॒नो॒ऽयꣳ शु॒क्रो अ॑यामि ते ॥ ८५ ॥

मन्त्रार्थ—हे वायुदेव ! हमारे स्वर्गलोकव्यापी यज्ञ को आप प्राप्त करें, पात्र के मध्य में स्थापित दशापवित्र के ऊपर सींचा हुआ यह सोम स्तोत्रों के साथ आपको समर्पित है ॥ ८५ ॥

इतोऽध्यायसमाप्त्यन्तं त्रयोदश ऋचः, प्रतीकोक्ताश्चतस्रश्चेति ऐन्द्रवायवादिसावित्रान्तानां ग्रहाणां ग्रहणमन्त्राः शोभनसङ्कल्पाः पूर्ववत् । जमदग्निदृष्टा वायुदेवत्या बृहत्य आद्या नव द्वादशी च । दशम्येकादशीत्रयोदश्यः सतोबृहत्यः । हे वायो, नोऽस्माकं यज्ञं सुमन्मभिरायाहि आगच्छ । कीदृशं यज्ञम् ? दिविस्पृशं द्युलोकयायिनम्, ऋत्विग्यजमानैर्विद्वद्भिरारब्धो दक्षिणादिभिः सम्पन्नो यज्ञो दिवं स्पृशत्येव, तादृशस्य यज्ञस्य स्वर्गप्रापकत्वश्रवणात्, स्वर्गेऽपि श्रूयमाणत्वाद्वा । नन्वागमनेन किं फलमित्याह—अन्तः पात्रमध्यस्थः पवित्रे दशापवित्रे, उपरि तस्योपरि श्रीणानः श्रयमाणः । होतृचमसेन निषिच्यमानोऽयं शुक्रः शुद्ध ऋजीषकल्कादिरहितः सोमो रसात्मा ते तुभ्यं त्वदर्थमयामि नियतस्त्वदीयभागत्वेन मया संस्कृत इति तदर्थमागन्तव्यमित्यर्थः । 'यमु उपरमे' कर्मणि चिण् ।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो दिविस्पृशं द्युलोकगामिनम्, आयाहि सुमन्मभिः शोभनैः सङ्कल्पैः । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे वायो राजन्, यथाहमन्तः पवित्र उपरि श्रीणानोऽयं शुक्रः सन् सुमन्मभिस्ते दिविस्पृशं यज्ञमयामि, तथा त्वं नो दिविस्पृशं यज्ञमायाहि' इति, तदपि न, वायुपदस्य भौतिकः पृथग् वस्त्वात्मा मातरिश्वा तदभिमानिदेवो वा मुख्योऽर्थः, परमात्मा वा । तानपहाय गौण्या वृत्त्या राजग्रहणस्य निर्मूलत्वात् । दिविस्पृग् यज्ञोऽपि यज्ञ एव । न च विद्याप्रकाशयुक्तो व्यवहारः, तस्य निर्मूलत्वात्, शिष्टैस्तादृशेऽर्थे तादृशशब्दस्य प्रयोगादर्शनात् ॥ ८५ ॥

इ॒न्द्र॒वा॒यू सु॒स॒न्दृशा॑ सु॒ह॒वेह ह॑वामहे ।
यथा॑ नः॒ सर्व॒ इज्जनो॑ऽनमी॒वः स॒ङ्गमे॑ सु॒मना॒ अस॑त् ॥ ८६ ॥

मन्त्रार्थ—इस यज्ञ में सम्यक् द्रष्टा शोभन आह्वान वाले इन्द्र और वायु देवताओं का हम आह्वान करते हैं । उनकी कृपा से हमारे यजमान के सभी पुत्र-पौत्र आदि व्याधिरहित हों और धन-प्राप्ति में उदार हों ॥ ८६ ॥

तापसदृष्टैन्द्रवायवी । सुसंदृशा सुतरां सम्यग्दर्शनीयौ, सुतरां सम्यक् पश्यतस्तौ, सुहवा सुहवौ शोभनाह्वानौ इन्द्रवायू इह यज्ञे वयं हवामहे आह्वयामः । तथा चाह्वयामो यथा येन प्रकारेण नोऽस्माकं सर्व इत् सर्व एव जनः, अनमीवः, अमीवा व्याधिस्तद्रहितः, सङ्गमे धनप्राप्तौ बहूनां सङ्गमे वा, सुमनाः शोभनचित्तः, उदारो वक्ता चेत्यर्थः, पुत्रपौत्रादिरीदृशः, असद् भवेत् ।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रवायू श्रीरामहनुमन्तौ हवामहे । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'वयं यौ सुसन्दृशौ सुहवा इन्द्रवायू इह हवामहे । यथा सङ्गमे नोऽनमीवः सुमना सर्वो जनोऽसद् भवेत्, तथा तौ कुर्याताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रवायुपदाभ्यां राजप्रजाजनग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, सुसन्दृशौ सुहवाविति विशेषणयोः स्वारस्यानिरूपणात् ॥ ८६ ॥

ऋधगित्था स मर्त्यः शशमे देवतातये ।
यो नूनं मित्रावरुणावभिष्टय आचक्रे हव्यदातये ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ—जो मनुष्य अभिमत लाभ के निमित्त मित्रावरुण देवताओं को हवि प्रदान कर उनकी सेवा करता है, वह निश्चय ही यज्ञ के लिये समृद्धमान होकर इस सेवा के प्रसाद से शान्तिलाभ करता है ॥ ८७ ॥

जमदग्निदृष्टा मैत्रावरुणी । यो मर्त्यः, नूनं निश्चयेन मित्रावरुणौ अभिष्टये स्वाभीष्टप्राप्तये, हव्यदातये हविषो दानाय च, देवतातये देवानां कर्म देवतातिस्तस्मै यज्ञाय, आचक्रे आकुरुते सेवते, स नर ऋधक् समृद्धियुक्तः, ऋध्नोतीति ऋधक्, इत्था अनेन हेतुना सेवनरूपेण शशमे शाम्यति, यमनियमशमदमादियुक्तो भवतीत्यर्थः । 'गन्धनावक्षेपणसेवन' (पा० सू० १।३।३२) इत्यादिना करोतेः सेवनार्थे आत्मनेपदम् । वट् श्रत् सत्रा अद्धा इत्थेति निपाताः सत्यवचनाः । इत्था शशमे सत्यं शाम्यतीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे यो मर्त्यः, मित्रावरुणौ मित्रः परमेश्वरः कृष्णः, सर्वमित्रत्वात्, 'सयुजा सखाया' इति मन्त्रावर्तनात्, वरुणो वृणोति भगवन्तमसावर्जुनः, नरनारायणौ बलकृष्णौ रामलक्ष्मणौ वा नूनं निश्चयेन आचक्रे सेवते, स मर्त्य इत्था सत्यं देवतातये यज्ञाय, अभिष्टये स्वाभीष्टसिद्धये, हव्यदातये हविर्दानाय ऋधक् समृद्धिमान् भवति । अन्ते शशमे शान्तो दान्तो मुमुक्षुर्भूत्वा, मुच्यत इति शेषः ।

दयानन्दस्तु—'यो देवतातये ऋधग् मर्त्योऽभिष्टये हव्यदातये च मित्रावरुणौ नूनमाचक्रे सेवते, स नर इत्था शशमे' इति, तदपि न, राजाप्रजाजनव्यतिरिक्तस्य वक्तुरसिद्धेः । न च राजप्रजाजनाभ्यामभीष्टसिद्धिर्भवति । हविरर्थे प्रसिद्धस्य हव्यशब्दस्याप्यादातव्यमात्रार्थत्वं निर्मूलमेव ॥ ८७ ॥

आ यातमुप भूषतं मध्वः पिबतमश्विना ।
दुग्धं पयो वृषणा जेन्यावसू मा नो मर्धिष्टमा गतम् ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों, आप लोग हमारे इस यज्ञ में आवें, यज्ञ को अलंकृत करें, सोम का पान करें। हे यज्ञफल के दाता अश्विनीकुमारों ! आप लोग गगनमण्डल से जल की वर्षा करावें, आपकी शरण में आये हुए हमारी रक्षा करें ॥ ८८ ॥

वसिष्ठदृष्टाऽश्विदेवत्या । हे अश्विना अश्विनौ, युवामायातं यज्ञं प्रत्यागच्छतम्, आगत्य च उपभूषतम् अलङ्कुरुतं यज्ञम् । मध्वो मधुरं सोमं पिबतम्, मध्व इत्यत्र कर्मणि षष्ठी, नुमभावश्छान्दसः । किञ्च, हे वृषणा वृषणौ सेक्तारौ यज्ञफलवर्षकौ वा, हे जेन्यावसू जेन्यं जेतव्यं जितं वा स्वीकृतं वा वसु धनं याभ्यां तौ युवाम्, पयो वृष्टचुदकं दुग्धमन्तरिक्षात् प्रसारयतम्, दुहेर्लोण्मध्यमद्विवचने दुग्धमिति । मा नो मर्धिष्टं मा प्रहारं कुरुतम्, आगतम् अवश्यं च आगच्छतम् ।

अध्यात्मपक्षे - हे अश्विनाविव रामलक्ष्मणौ, युवामायातम् । अन्यत् पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु —हे वृषणौ जेन्यावसू अश्विना ! युवां सुखमायातम्, प्रजा उपभूषतम्, मध्वः पिबतं पयो दुग्धम्, नोऽस्मान् मा मर्धिष्टं धर्मेण विजयमागतम्' इति, तदपि न, असम्बद्धत्वात्, अश्विपदेन राजप्रजाजनग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, कर्मकर्तृविरोधाच्च । राजप्रजाजनौ प्रजा उपभूषतमिति कर्मकर्तृविरोध एव । राजप्रजाजनौ उपभूषतमिति किन्न स्यात् । किञ्च, कोऽयं प्रार्थयिता, य आत्महननाभावं प्रार्थयते ? यौ प्रजा उपभूषयतं ताभ्यां हननसंभावनानुपपत्तेः ॥ ८८ ॥

प्रेतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ ८९ ॥

मन्त्रार्थ—वेद के रक्षक हिरण्यगर्भ हमारे इस यज्ञ में आवें, सत्यस्वरूप परा शक्ति हमारी ज्ञानदृष्टि को तीव्र करे, देवता हमारे शत्रुओं का उन्मूलन करें और परमेश्वर के निमित्त दी गई हवियों से समृद्ध द्रव्ययज्ञ को परमेश्वर तक पहुचावें ॥ ८९ ॥

कण्वदृष्टा वैश्वदेवी। ब्रह्मणस्पतिर्बृहस्पतिः, ब्रह्मणो वेदस्य पतिर्हिरण्यगर्भः, नोऽस्मान् यज्ञम् अच्छ यज्ञाभिमुखं प्रैतु प्रकर्षेणागच्छतु, 'ब्रह्मणः पाता पालयिता वा' (निरु० १०।१२) इति यास्कोक्तेः। तथा देवी देवतात्मा सूनृता प्रियसत्यस्वरूपा तस्यैव वाक् त्रयीरूपा च यज्ञं प्रैतु शोभना सत्यवती। किञ्च, देवा यष्टव्या नोऽस्मान् यज्ञं नयन्तु प्रापयन्तु, यज्ञं कारयन्त्वित्यर्थः। कीदृशं यज्ञम्? वीरं विशेषेणेरयति यस्तं शत्रूणां विशेषेणोन्मूलयितारम्, 'वीरो वीरयत्यमित्रान्' (निरु० १।७) इति यास्कवचनात्। पुनः कीदृशं यज्ञम्? नर्यं नृभ्यो हिततमम्, 'उगवादिभ्यो यत्' (पा० सू० ५।१।२) इति यत्। पङ्क्तिराधसम् इन्द्रस्य पुरोडाशः, हर्योर्धानाः, पूष्णः करम्भः, सरस्वत्यै दधि, मित्रावरुणयोः पयस्या – एषा हविष्पङ्क्तिः। द्विनाराशंसं प्रातःसवनम् द्विनाराशंसं माध्यन्दिनं सवनम्, सकृन्नाराशंसं तृतीयं सवनम्, एषा नाराशंसपङ्क्तिः। त्रीणि सवनानि, पशुरुपवसथ्यः, पशुरनुबन्ध्यः –एषा सवनपङ्क्तिः। एताभिः पङ्क्तिभिः, राधः समृद्धिर्यस्य, पङ्क्तयो राध्यन्ते साध्यन्ते यत्रेति वा पङ्क्तिराधास्तम्। ब्रह्मणस्पत्यादय ईदृशं यज्ञं कारयन्त्वित्यर्थः। उव्वटाचार्यस्तु – वीरं पुत्रं महावीरं वा अच्छाभिमुख्येन प्रैतु पङ्क्तिराधसं ब्रह्मपङ्क्तिसाधकम्, पङ्क्तिपावनमित्यर्थः, तादृशं यज्ञं देवा देवान् नयन्त्विति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणस्पतिः परमेश्वरः, तस्यैव वेदमहातात्पर्यविषयत्वेन ब्रह्मणस्पतित्वात् त्रयी-लक्षणः, दीव्यमाना देवी च तस्यैव वाक्। तत्सम्बन्धी यज्ञ एव विविधाभिः पङ्क्तिभिः साध्यते पङ्क्तिपावनश्च, देवानामनुग्रहेणैव च तादृशा यज्ञाः संपद्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यथा नोऽस्मान् ब्रह्मणस्पतिः प्रैतु, सूनृता देवी प्रैतु, नर्यं पङ्क्तिराधसं यज्ञं वीरं देवा अच्छ नयन्तु, तथाऽस्मान् प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यथातथादिपदानां मन्त्रेऽभावात्, प्रत्यक्षं यज्ञं कर्मोत्सृज्य कर्मान्तरकल्पनस्य निर्मूलत्वात् ॥ ८९ ॥

चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहꣳ हरिरेति कनिक्रदत् ॥ ९० ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के आह्लादक सोमरस को अभिषुत कर अग्नि में दी हुई उसकी आहुति गरुड के समान तीव्र गति से द्युलोक में दौड़ती है। हे हरितवर्ण सोम! यज्ञ करने वाला यजमान हरितवर्ण सोम की जब आहुति देता है, तब वह पर्जन्य रूप से ध्वनि करता हुआ पके हुए यव आदि धान्य के रूप में अन्न और धन की इच्छा रखने वाले यजमान को पर्याप्त रूप से प्राप्त होता है ॥ ९० ॥

त्रितदृष्टाऽऽहुतिपरिणामवादिन्यैन्द्री। बृहदारण्यकछान्दोग्योपनिषदाद्युक्तपञ्चाग्निविद्यानुसारेण द्युपर्जन्य-पृथिवीपुरुषयोषात्मकपञ्चाग्निक्रमेण होमद्रव्यस्य परिपाकरूपाहुतिपरिणाममेषा ऋग् वदति। 'पञ्चम्यामाहुतावापः

पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० उ० ५।९।१) इति श्रुतेः। अधियज्ञं व्याख्यानम्। योऽसौ चन्द्रमा चन्द्रं देवानामाह्लादं मिमीते यः सः, तथा सोमलतारूपापन्नो वसतीवरीनिग्राभ्यादिजलेष्वन्तरभिषुतो मध्ये रस-रूपेण स्थितोऽग्नौ हुतः, स च सुपर्णः सुपतनः सन् दिवि धावति, 'तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्' इति श्रुतेः। तस्मात् पर्जन्यरूपमास्थाय उदकदानरूपेण, 'हरिः सोमो हरितवर्ण इति' (निरु० ४।१९) इति यास्कोक्तेः। रयिं धनं पिशङ्गं पीतवर्णं व्रीहियवादिकं पीतवर्णं भवति, बहुलमसंख्यातमेति व्रीहियवाद्यन्नरूपो भवति। कीदृशम् ? पुरुस्पृहम्, बहवो यत्र स्पृहयन्ति तानेति। कीदृशो हरिः ? कनिक्रदत् पर्जन्यरूपेणात्यर्थ-स्तनितं कुर्वन्।

अध्यात्मपक्षे—अग्नीषोमात्मकं जगदिति रीत्या यथा शीतोष्णतन्त्र्यौ मिलित्वैव प्रकाशं शक्तिं वोत्पादयतः, तथैव शिवशक्ती सर्वं प्रपञ्चमुत्पादयतः, सूर्यचन्द्ररूपेण सोमाग्निरूपेण च तयोरेवाविर्भावः। चन्द्रमा देवानामाह्लादको दर्शनेन सोमलतारूपेणापि देवानामाह्लादहेतुर्भवति। स एव सोमोऽग्नौ हुतश्चान्द्रदेहपर्जन्य-वृष्ट्यन्नशुक्रपुरुषरूपेण निष्पद्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यथा सुपर्णश्चन्द्रमा कनिक्रदद्धरिरिव दिवि अप्सु अन्तरा धावते, पुरुस्पृहं बहुलं पिशङ्गं रयिं चैति, तथा पुरुषार्थिनः सन्तो वेगेन श्रियं प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हे मनुष्या इति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, हरिपदमपि न सामान्याश्वपरम्, इन्द्राश्वेषु प्रसिद्धत्वात्, प्रकृते कनिक्रददित्यस्य स्वारस्यानिरूपणाच्च। नहि चन्द्रमसि शब्दो भवति, येन दृष्टान्तस्य सार्थक्यं स्यात्। तस्मात् सिद्धान्तव्याख्यानमेव युक्तम् ॥ ९० ॥

देवं-देवं वोऽवसे देवं-देवमभिष्टये।
देवं-देवꣳ हुवेम वाजसातये गृणन्तो देव्या धिया ॥ ९१ ॥

मन्त्रार्थ—हे देवताओं, देवताओं के वास्तविक स्वरूप के अनुसन्धान में तत्पर बुद्धि के द्वारा आप लोगों की स्तुति करते हुए हम ऋत्विक्गण अपनी रक्षा के लिये नाना प्रकार के अवतारों को ग्रहण कर क्रीड़ा करने वाले भगवान् का आह्वान करते हैं, अपने अभीष्ट फल को प्राप्त करने की इच्छा से उन देवताओं के भी देवता का आह्वान करते हैं, धन-धान्य की प्राप्ति के लिये हम उसका आह्वान करते हैं ॥ ९१ ॥

मनोरार्षी वैश्वदेवी। देवं देवमिति वीप्सार्थोऽभ्यासः। यावन्तो देवास्तान् वो युष्मानवसे रक्षणाय वयं हुवेम आह्वयामः। किमर्थम् ? अभिष्टये, अभीष्टफलप्राप्तये। देवं देवं सर्वान् वाजसातये अन्नलाभाय देवानाह्वयामः, अभ्यासो भूयस्त्वाय। कथं हुवेमेति चेत्, देव्या धिया गृणन्तो देवतायाथात्म्यचिन्तनपरया बुद्ध्या, स्वरादि-सौष्ठवेन दीप्यमानया धिया स्तुत्या गृणन्तः स्तुवन्तः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वेऽपि देवाः परमैश्वर्यवतः परमेश्वरस्यैवांशभूता इति तद्रूपेणैव तेषामाह्वानम्। परमेश्वर एव तेषां याथात्म्यम्, 'देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद' (बृ० उ० २।४।६) इति श्रुतेः। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, देव्या धिया गृणन्तो वयं यथा वोऽवसे देवं देवं हुवेम, वोऽभीष्टये देवं देवं हुवेम, वो वाजसातये च देवं देवं हुवेम, तथा यूयमप्यस्मभ्यं तथा कुरुत' इति, तदपि न, मनुष्याणां विदुषामल्प-क्रियाज्ञानशक्तिमत्त्वेन तत्प्रार्थनयाऽभीष्टासिद्धेः। न वाह्वानेनोत्तमोत्तमाः पदार्था आयान्ति, न वा केषाञ्चिद्वेग-सिद्धये विदुषामाह्वानस्योपयोगः। किञ्च, योऽन्येषामभीष्टसिद्धये विदुषामाह्वानं करोति, स स्वात्मसिद्धयेऽपि तथा कर्तुं शक्नोतीति कुतस्तदर्थं मनुष्यान् सम्बोधयतीति। तस्मादव्यापारेषु व्यापारयितमेवैतत् ॥ ९१ ॥

दिवि पृष्ठो अरोचताऽग्निर्वैश्वानरो बृहन् ।
क्षमया वृधान ओजसा चनोहितो ज्योतिषा बाधते तमः ।। ९२ ।।

मन्त्रार्थ—सब मनुष्यों का हितकारी महान् अग्निदेव आदित्य रूप में स्थित होकर स्वर्ग में प्रकाशित होता है । भूलोकवासी मनुष्यों की दी हुई हवि के द्वारा वर्धमान, तेजस्वी, हमारा हितकारी यह अग्नि अपने प्रकाश से अन्धकार को दूर करता है ।। ९२ ।।

मेधदृष्टा वैश्वानरी । योऽग्निर्वैश्वानरो दिवि पृष्ठो द्युलोके स्थित आदित्यात्मना अरोचत देदीप्यते, 'पृषु सेके' निष्ठान्तः सेकः स्थितिरेव । कथम्भूतोऽग्निः ? बृहन् महान् सोऽग्निः स्वीयेन प्रकाशेन तमः शार्वरमन्धकारं बाधते लोकानुग्रहाय निवर्तयति । कीदृशः ? क्षमया पृथिव्या तत्स्थैर्मनुष्यैश्च वर्णाश्रमिभिर्नरैर्दत्तैर्हविर्भिर्वर्धमानः, मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् क्षमापदेन क्षमास्थाः पुरुषा उच्यन्ते । अत एव च ओजसा चनोहित ओषधिपाकक्षमेण तेजसा चनसेऽन्नाय हितः, 'चन इत्यन्ननाम' (निरु० ६।१६) इति निरुक्तोक्तेः, अन्ननिष्पादकः । यद्वा क्षमया कारणभूतया पृथिव्या अरोचत देदीप्यते, ओजसा बलेन वृधानो वर्धमानः, चनसि अन्ने हविर्लक्षणे हितः स्थापितो ज्योतिषा तमो बाधते ।

अध्यात्मपक्षे—योऽग्निः परमात्मा सर्वात्मत्वात् सूर्यरूपेण द्युलोके पृष्टः सिक्तः सन् स्थितो बृहन् महान् अरोचत देदीप्यते, सोऽय देवः क्षमया क्षमाया मायालक्षणाया अपि महान् अधिक ओजसा स्वीयेन ब्राह्मेण बलेन वृधानो वर्धमानः सर्वापेक्षयोत्कृष्टः, चनोहितः चनसेऽन्नाय हितो ज्योतिषा ज्ञानेन तमोऽज्ञानान्धकारलक्षणं बाधते जगद्व्यवहाराय ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसो मनुष्याः, यथा दिवि पृष्टो वैश्वानरो क्षमया वृधान ओजसा बृहन् चनोहितोऽग्निर्ज्योतिषा तमो बाधतेऽरोचत च, तथा श्रेष्ठगुणैरविद्यान्धकारं निवर्त्य यूयमपि प्रकाशितकीर्तयो भवत' इति, तदपि मन्त्रबाह्यमेव । अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ।। ९२ ।।

इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात् पद्वतीभ्यः ।
हित्वी शिरो जिह्वया वावदच्चरत् त्रिᳬंशत्पदा न्यक्रमीत् ।। ९३ ।।

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र और अग्निदेव ! यह उषा बिना पैरों की होते हुए भी पैरों वाली प्रजाओं से पहले ही प्रति दिन आ जाती है, उन प्रजाओं को निद्रा-त्याग की प्रेरणा देती हुई यह उषा वाणी के द्वारा शब्द करती हुई चारों तरफ फैल जाती है । यह एक ही दिन में तीस मुहूर्तों का अतिक्रमण करती है ।। ९३ ।।

सुहोत्रदृष्टा इन्द्राग्निदेवत्या प्रवह्लिकेयमृक् । प्रहेलिका यथाऽज्ञेया भवति, तथैवेयमपि मानुषी वागनयोच्यते । उक्तं च—'यन्मानुष्या वाचाह इतीदं कुरुतेतीदं कुरुतेति तदुह तया चीयते' इति । हे इन्द्राग्नी, अपात् पादरहिता गद्यात्मिकेयं वाक् पद्वतीभ्यः पादवतीभ्यः पद्यरूपाभ्यः, विशिष्टसंस्कारानपेक्षणात्, सकाशात् पूर्वा आ अगाद् आगता, शिरो हित्वी हित्वा परित्यज्य प्रथमं पदमन्यत्करोति । नहि लौकिक्या वाचः कश्चित् पदनियमोऽस्ति, जिह्वया विदुषा वावदद् वदन्ती चरत् चरति, कियन्ति पदानि चरतीत्यपेक्षायामाह—त्रिंशत्पदानि, त्रिंशत्संख्याकानि पदानि, अक्रमीद् अतिक्रामति, नहि परतस्त्राणविषय इत्युव्वटाचार्यरीतिः ।

तथैवाह महीधरोऽपि—इन्द्रः प्राणः, अग्निः पुरुषः, हे इन्द्राग्नी, युवयोरेवैतत्कर्म यद् अपात् पादरहिता गद्यात्मिका त्रयीलक्षणेयं वाक् पूर्वा प्रथमभाविनी सती पद्वतीभ्यः पादयुक्ताभ्यो रामायणमहाभारतादिश्लोकात्मकवाल्मीकिव्यासादिवाणीभ्यः सकाशादगात्। वेदवाचः प्राथम्यं श्रुत्योक्तम्—'ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत' इति। एवं प्रथमजाया वाचोऽविकृतत्वं निर्णीय मानुष्या वाचो विकृतत्वमाह—हित्वी शिर इति। शिर आख्यातम्, पदवाक्येषु प्राधान्यात्, 'अभ्याज गां दण्डेन शुक्लां गां दण्डेनाभ्याज' इत्येवं लौकिक्या वाचः पदप्रयोगनियमाभावात् शिरःस्थानमाख्यातं हित्वा त्यक्त्वा विदुषो जिह्वया वागिन्द्रियेण वावदद् अतिवदन्ती सती चरत् चरति प्रकाशीभवति। एवं चरन्ती सा त्रिंशत्पदान्यक्रमीत् क्रमति। पदशब्दोऽत्राङ्गुलवचनः। मूलाधारादारभ्य मुखपर्यन्तं त्रिंशदङ्गुलानि क्रामति। यद्यपि त्रय्यामृक्षु पादनियमोऽस्ति, तथाप्यध्वरेषु यजुषः प्राधान्येनापादित्युक्तिः। यद्वा हे इन्द्राग्नी, अपात् स्वयं पादरहितापि, इयमुषा, पद्वतीभ्यः पादयुक्ताभ्यः सुप्ताभ्यः प्रजाभ्यः पूर्वा प्रथमभाविनी सती आ अगात् आगच्छति। सा च तासां प्रजानां शिरो हित्वी निद्रात्याजनेन प्रेरयित्री, यद्वा शिरो हित्वी हित्वा त्यक्त्वा स्वयमशिरस्का सती जिह्वया प्राणिनां वागिन्द्रियेण वावदत्, यङ्लुगन्तम्, भृशं शब्दं कुर्वती सती चरत् चरति प्रसरति, अडभावः। एवं चरन्ती उषा एकदिनेन त्रिंशत्-संख्याकानि पदा पदानि गमनसाधनभूतान् मुहूर्तान् नि अक्रमीत् नितरां क्रमते, अहोरात्रेण त्रिंशन्मुहूर्तान् क्रामतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अखण्डा ब्रह्मसंविद् अपात् पादरहिता, चतुष्पात्त्वस्य मायासापेक्षत्वात्, स्वयं त्वपादेव। सा च पद्वतीभ्यः पादयुक्ताभ्यः प्रजाभ्यः पूर्वा पूर्वमगात्, 'तद्धावतोऽन्यानत्येति' (४०।४) इति मन्त्रवर्णात्, मनसोऽपि जवीयस्त्वोक्तेः। स्वतो व्यापकस्यापि मनआद्युपाधिषु जववत्तरेषु गच्छत्स्वपि ततः पूर्वमेव तदुपाध्यधिष्ठानत्व-प्रकाशकत्वाभ्यां तत्र विद्यमानत्वात् शिरः प्राधान्यं हित्वी हित्वा परित्यज्य उपाधिप्राधान्यमनुसृत्य प्राणिनां जिह्वया वावदद् भृशं वदन्ती शब्दब्रह्मभावं प्राप्नुवती चरत् चरति व्यवहारयति, णिजन्तर्भावः। स्वतस्तु त्रिंशत्पदानि त्रिंशन्मुहूर्तोपलक्षितान् खण्डकालान् सर्वानप्यक्रमीद् अतिक्रान्ता, कालापरिच्छिन्नत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्राग्नी अध्यापकोपदेशकौ, येयमपात् पद्वतीभ्यः पूर्वा अगात्, शिरो हित्वी हित्वा प्राणिनो जिह्वया वावदच्चरत् त्रिंशत्पदान्यक्रमीत्, सोषा युवाभ्यां विज्ञेया' इति, तदपि न, इन्द्राग्नीति मुख्य-पदार्थत्यागपूर्वकं गौणाध्यापकोपदेशकार्थग्रहणस्य निर्मूलत्वात्। सोषा युवाभ्यां विज्ञेयेत्यपि वेदबाह्यमेव। अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ ९३ ॥

देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकꣳ सरातयः ।
ते नो अद्य ते अपरं तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः ॥ ९४ ॥

मन्त्रार्थ—सबके मन को एक मति में स्थिर कर सबके अभीष्टदाता वे प्रसिद्ध विश्वेदेव कब हमारे साथ सभी प्राणियों को धन प्राप्त करावेंगे। अपनी उपासना करने वालों को जो अवश्य ही धन प्राप्त कराते हैं, वे विश्वेदेव भविष्य काल में भी हमारे पुत्र-पौत्र आदि को धन सम्पन्न करें ॥ ९४ ॥

मनुदृष्टा वैश्वदेवी। हि स्म एतौ निपातौ प्रसिद्धयतिशयार्थौ। छान्दसौ षत्वदीर्घौ। ते प्रसिद्धा विश्वे देवासः, अद्यास्मिन् काले नोऽस्माकं साकं सहैव वरिवोविदो भवन्तु, वरिवो धनं वेदयन्ति लम्भयन्ति ये ते, एकीभूय धनप्रापका भवन्तु। तु पुनः, अपरं भविष्यति काले नोऽस्माकं तुचे अपत्याय पुत्रपौत्रादिकाय ते वरिवोविदो भवन्तु, तुगित्यपत्यनाम। कीदृशास्ते विश्वेदेवासः? मनवे समन्यवो मनुनामकाय मुनये मन्त्र-

दर्शिने मह्यं समानो मन्युर्दीप्तिर्येषां ते, 'मन्युर्मनतेर्दीप्तिकर्मणः' (निरु० १०।२९) इति यास्कोक्तेः। मदर्थमैकमत्यं प्राप्ताः, यद्वा मन्युना कोपेन सह वर्तमाना अस्मच्छत्रुहननाय क्रोधयुक्ताः, मनुना समानदीप्तयः समानक्रोधा वा, तथा सरातयः, रातिर्दानं तत्सहिताः, दातार इत्यर्थः, समानदाना वा।

अध्यात्मपक्षे—ते प्रसिद्धाः, विश्वे सर्वे देवासो देवा ब्रह्मात्मका देवभावमापन्ना अद्येदानीम्, वरिवोविदः साकं सहैव वरिवो ज्ञानरूपं धनं वेदयन्ति ये ते वरिवोविदो भवन्तु। कीदृशाः ? मनवे मनुना, व्यत्ययः, समानदीप्तयः समानज्ञानाः सरातयः समानाभयदानयुक्ताः, अपरम् आगामिनि काले तुचे अपत्याय वरिवोविदो भवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये सरातयः समन्यवो विश्वे देवासः साकमद्य नो मनवे ष्मा वरिवोविदो भवन्तु, ते त्वपरं नस्तुचे अस्मभ्यं च वरिवोविदो भवन्तु, ते हि युष्मभ्यं वरिवोविदो भवन्तु' इति, तदपि न, मनुष्याणां विदुषां सरातित्वाद्यसंभवात्। न च ते धनप्रदातारः संभवन्ति, न च तेषां स्थायित्वमस्ति। पुत्रपौत्रादीनामपि कृते त एव धनदातारो भविष्यन्ति। सत्कारं त्वन्येऽपि जानन्त्येवेति न च तेषां तद्वैशेष्यम्॥ ९४॥

अपाधमदभिशस्तीरशस्तिहाथेन्द्रो द्युम्न्याऽभवत्।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे बृहद्भानो मरुद्गण॥ ९५॥

मन्त्रार्थ—हे महादीप्तिसम्पन्न मरुद्गण ! इन्द्र और अन्य देवताओं ने आपकी मित्रता पाने के लिये अपने को संयत किया था, असुरों के नाशक इन्द्र ने शत्रुकृत अपवादों को दूर किया था। इस प्रकार यशस्वी हुआ यजमान सब ओर से धन सम्पन्न होता है॥ ९५॥

नृमेधदृष्टे द्वे मरुत्वद्गुणविशिष्टेन्द्रदेवत्ये। हे बृहद्भानो बृहन्तो महान्तो भानवो दीप्तयो यस्य तस्य सम्बोधने, मरुतां गणो यस्य तत्सम्बुद्धौ हे मरुद्गण हे इन्द्र ! देवा वसुरुद्रादित्याः, ते तव सख्याय मैत्र्यै येमिरे कथं नु नामेन्द्रोऽस्मान् सखिभावाय वृणीत इत्यभिप्राया आत्मानं संयतं कृतवन्तः। स भवान् अभिशस्तीरभिशापान् शत्रुप्रयुक्तानपवादान् अपाधमद् अपगमयति, 'धमतिर्गतिकर्मा' (निरु० ६।२) इति यास्कः। अथानन्तरम्, द्युम्नी, द्युम्नं यशोऽन्नमस्यास्तीति यशस्वी अन्नवान् वा, आ अभवत् सर्वतो धनवान् यशोवान् वा भवति। कीदृशो भवान् ? अशस्तिहा शंसनं शस्तिः प्रशंसा, सा नास्ति येषां तेऽशस्तयोऽसुरा निन्द्याः, तान् हन्तीत्यशस्तिहा, अभेरादिशेषेण अभिशस्तिहा, मिथ्यापवादापहन्ता वा। इन्द्र ऐश्वर्यवान् यो दुष्टहन्ता अभिशापनाशको यशस्वी तेजस्वी बहुभृत्यसेव्यस्तस्य सख्यायान्ये यतन्त इति युक्तमिति भावः। उव्वटाचार्यदृष्ट्या—यदा इन्द्रोऽभिशस्तीरभिशापान् अपाधमद् अपगमयति, अभिशस्तीश्च हन्ति, अथानन्तरमिन्द्र ऐश्वर्यवान् द्युम्नी अन्नवान् यशस्वी आभवत् भवति। एवं परोक्षेण स्तुतः प्रत्यक्षीभूतः। इत उत्तरोऽर्धर्चः प्रत्यक्षकृतः। हे इन्द्र, हे बृहद्भानो महादीप्ते मरुद्गण, ते सख्याय सखिभावाय, अन्ये देवा येमिरे आत्मानं संयतं कृतवन्तः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र ! परमैश्वर्यवन् परमेश्वर ! हे बृहद्भानो महादीप्ते अनन्तानन्तसूर्यसमप्रभ, हे मरुद्गण मरुदादिगणैः सेव्यमान भगवन्, ते तव सख्याय सखिभावाय देवा वसुरुद्रेन्द्रादयो येमिरे आत्मानं संयतं कृतवन्तः। स भवान् अभिशस्तीः शत्रुकृतानपवादान् अपाधमद् अपगमयति अशस्तीर्निन्द्यानसुरांश्च हन्ति। अथ पश्चाद् इन्द्रः परमैश्वर्यवान् द्युम्नी यशोवान् आभवद् आसमन्ताद् भवति।

दयानन्दस्तु—'हे बृहद्भानो मरुद्गण इन्द्र ! देवास्ते सख्याय येमिरे द्युम्नीन्द्रो भवानभिशस्तीरपाध-मदशस्तिहाऽभवद् भवतु' इति, तदपि न, इन्द्रपदस्य प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात्। नहि मनुष्यदेवानां सख्याय यमापेक्षा भवति, न च वायुगणैर्मनुष्या विद्वांसः कार्याणि साधयन्ति, न वा ते प्रार्थनासापेक्षा भवन्ति ॥ ९५ ॥

प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत ।
वृत्रꣳ हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥ ९६ ॥

मन्त्रार्थ—हे मरुद्गणों ! अपने स्वामी महान् इन्द्र के लिये आप सब सामरूप स्तोत्र का पाठ करें। पाप का नाशक अनन्त यज्ञों वाला यह इन्द्रदेव अनन्त तीक्ष्ण धार वाले वज्र से पापों को नष्ट कर देता है ॥ ९६ ॥

हे मरुतः, वो युष्माकं स्वामिने इन्द्राय यूयं ब्रह्म वेदं सामरूपस्तोत्रं प्रार्चत प्रोच्चारयत। कीदृशायेन्द्राय ? बृहते महते। ततो वृत्रहा वृत्रस्यासुरविशेषस्य पाप्मनो वा हन्ता, इन्द्रो वृत्रं हनति हन्तु, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुगभावः। केन हन्ति ? वज्रेण स्वकीयेन प्रसिद्धेनायुधेन। कीदृशेन ? शतपर्वणा, शतं शतसंख्यानि पर्वाणि धारा ग्रन्थयो वा यस्मिन् तेन। वृत्रहा कीदृशः ? शतक्रतुः शतसंख्याका क्रतवो अश्वमेधा यस्य सः, बहुकर्मा बहुप्रज्ञो वा। उव्वटाचार्यरीत्या तु प्रथमाबहुवचनस्य व आदेशः, हे मरुतो वो यूयं ब्रह्म प्रार्चत त्रयीलक्षणाः स्तुतीः प्रोच्चारयत, इन्द्राय बृहते। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—हे मरुतः, वो यूयं बृहते ब्रह्मण इन्द्राय परमेश्वराय ब्रह्म प्रार्चत त्रयीरूपाः स्तुतीः प्रोच्चारयत। ततो वृत्रस्यावरकस्याज्ञानस्य हन्ता ब्रह्माकारवृत्तावभिव्यक्तः सन् निवारकं वृत्रमज्ञानं हन्ति। केन ? ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणेन वज्रेण शतपर्वणा शतं पर्वाणि वृत्तयः सन्ति यस्मिन् तेन, मनननिदिध्यासनादि-साहाय्येनोत्पन्नत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे मरुतो मनुष्याः, यः शतक्रतुः सेनापतिः शतपर्वणा वज्रेण वृत्रहा सूर्यो वृत्रमिव बृहते इन्द्राय शत्रून् हन्ति वो ब्रह्म प्रापयति, तं यूयं प्रार्चत' इति, तदपि न, शतक्रतुरिन्द्रः शताश्वमेध-याजित्वेन भवति, असंख्यबुद्धित्वेन तु बहूनां शतक्रतुत्वापत्तेः। तथैव वज्रस्य शतपर्वाणि भवन्ति। न च शस्त्रसामान्यस्य वज्रसंज्ञा भवति, वैशेष्यानुपपत्तेः ॥ ९६ ॥

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यꣳ शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ।
इमा उ त्वा यस्यायमयꣳ सहस्रमूर्ध्वं ऊ षु णः ॥ ९७ ॥

॥ इति त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र यज्ञ में अभिषुत सोम के पान से मदमत्त हो उस यजमान के वीर्य और बल को बढ़ाता है। इसी-लिये आजकल के मनुष्य भी पूर्व ऋषियों के समान इस इन्द्र की महान् महिमा का गान करते हैं ॥ ९७ ॥

मेधातिथिदृष्टा माहेन्द्री सतोबृहती। इन्द्रोऽस्य इद् अस्यैव यष्टुर्वृष्ण्यं वीर्यं शवो बलं च वावृधे वर्धयति, णिजन्तत्वं बोध्यम्। वर्षति सिञ्चतीति वृषा, तस्येदं वीर्यं वृष्ण्यम्, यप्रत्यये उपधालोपे च रूपम्। कदा

वीर्यं बलं वर्धयतीति चेत्तत्राह सुतस्याभिषुतस्य सोमस्य विष्णवि, वेवेष्टीति विष्णुस्तस्मिन् सर्वशरीरव्यापके मदे सति। विष्णवि, सप्तम्येकवचने 'घेर्ङिति' (पा० सू० ७।३।१११) इति गुणेऽवादेशे रूपम्। यद्वा विष्णवि विष्णौ यज्ञेऽभिषुतस्य सोमस्य मदे जात इति, 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः, यज्ञे सोमपानेन मत्त इन्द्रो यजमानस्य बलं माहात्म्यं च वर्धयतीत्यर्थः। किञ्च, अस्येन्द्रस्य तमुक्तं यजमानवीर्यादिवर्धनरूपं महिमानमद्यास्मिन् कालेऽपि आवयो मनुष्या अनुष्टुवन्ति आनुपूर्व्येण स्तुवन्ति। तत्र दृष्टान्तः—पूर्वथा पूर्वमिव, यथा पूर्वमृषयोऽस्तुवन्नेवमिदानीमपि नराः स्तुवन्ति, 'प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि' (पा० सू० ५।३।१११) इति पूर्वशब्दादिवार्थे थाल्प्रत्ययः। 'इमा उ त्वा, यस्यायम्, अय७ सहस्रम्' (३३।८१-८३), 'ऊर्ध्व ऊ षु णः' (११।४२) एताः प्रतीकोक्ताः। उव्वटरीत्या तु—इदिति निपातः पादपूरणः। मदे सुतस्य विष्णवि, विष्णुर्यज्ञः, यज्ञे सुतस्याभिषुतस्य सोमस्य मदे संजाते य इन्द्रो वावृधे बलवीर्योपबृंहितो भवति, वृद्धश्च वृष्ण्यं सेक्तृत्वं शवो बलं चाविष्करोतीति तस्यास्येन्द्रस्य अद्य अद्यापि तं महिमानमावयो मनुष्या अनुष्टुवन्ति। पूर्वथा पूर्ववद् यथा पूर्वमृषिभिः स्तुतः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरः सुतस्याभिषुतस्य सोमस्य तदुपलक्षितस्य विविधनैवेद्यस्य भक्तिभावपुरस्कृतस्य समर्पणेन विष्णवि व्यापके मदे हर्षे जाते, अस्य भक्तस्य वृष्ण्यं वीर्यं शवो बलं च वावृधे वर्धयति, तं तादृशं तस्य महिमानमद्यापि आयवो मनुष्या अनुष्टुवन्ति आनुपूर्व्येण स्तुवन्ति पूर्वथा पूर्वमिवेति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य इन्द्रो जीवो विष्णवि सुतस्यास्य मदे वृष्ण्यं शवोऽद्य वावृधेऽस्य परमात्मन इन्महिमानं पूर्वथाऽऽयवोऽनुष्टुवन्ति, तं यूयमपि स्तुवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रपदस्य लौकिकराजार्थत्वे मानाभावात्। न च देवा इन्द्रो वा अपलापमर्हन्ति, अमरादिभिः कोषकारैस्तदङ्गीकारात्। 'विष्णवि व्यापके परमेश्वरे सुतस्योत्पन्नस्य संसारस्य मदे आनन्दमये' इत्यपि निरर्थकम्, सुतस्येति पदस्य कृत्याभावात्। नहि राजा संसारस्य मदाय बलं वा वर्धयितुं शक्नोति। तस्मात् पूर्वोक्तमेव व्याख्यानं युक्तमिति ॥ ९७ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ— जो मन जागते समय चक्षु आदि की अपेक्षा बहुत दूर तक चला जाता है, वही द्युतिमान् मन सोते समय सुषुप्ति में बहुत नजदीक आकर लीन हो जाता है । तीनों कालों के पदार्थों को ग्रहण करने वाला और प्रकाशक, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को ज्योति देने वाला वह मेरा मन सबके कल्याणकारी संकल्प से संयुक्त हो, धर्म के आचरण में सदा लगा रहे ॥ १ ॥

अनारभ्याधीतोऽध्याय आ पितृमेधात् । आदित्ययाज्ञवल्क्यदृष्टा मन्त्राः पाठे विनियुक्ताः । लैङ्गिको वा विनियोगः । लिङ्गं च सामर्थ्यम् अभिधानशक्तिः, 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इत्युक्तेः । षड्चस्त्रिष्टुभो मनोदेवत्याः शिवसंकल्पदृष्टाः । मन्त्रद्रष्टा वदति—तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु । शिवो मङ्गलमयो धर्मब्रह्मविषयः संकल्पो यस्य तत्, मन्मनसि सदा धर्मो ब्रह्म वा स्फुरतु, न पापमित्यर्थः । किं तन्मनः ? इत्यत आह—यन्मनो जाग्रतः प्रबुद्धस्य तत्तद्देवतानुगृहीतैर्बाह्येन्द्रियैर्विषयोपलब्धिमतो दूरमुदैति दूरमुद्गच्छति, चक्षुराद्यपेक्षया मनो दूरगामीत्यर्थः । यद्यपि मनसो बहिरस्वातन्त्र्याच्चक्षुरादि विना मनो बहिर्गमनेऽस्वतन्त्रमेवेति दूरगामित्वमसंगतमेव, तथापि तत्तत्प्रमाणैरतीतानागतवर्तमानसन्निकृष्टविप्रकृष्टव्यवहितपदार्थानां ग्राहकत्वाद् दूरं गच्छतीवेति तस्य दूरगामित्वमौपचारिकमेव, 'तद्धावतोऽन्यानत्येति' (४०।४) इति मन्त्रवर्णात् । यच्च दैवं दीव्यति प्रकाशते देवो विज्ञानात्मा पुरुषः, तत्र भवं दैवम्, आत्मग्राहकमित्यर्थः । रूपादिरहितत्वेन चक्षुराद्यविषयस्यात्मनो मनसैव ग्रहणसम्भवात्, 'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्' इति श्रुतेः । शुद्धस्यापि प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपस्य महावाक्यवेदान्तमहावाक्याभ्यासजन्यसंस्कारसंस्कृतेन मनसा प्रमात्मकः साक्षात्कारो भवति । यथा श्रोत्र-ग्राह्यस्य शब्दसामान्यस्य षड्जत्वादिसाक्षात्कारोऽपि गान्धर्वशास्त्राभ्यासजन्यसंस्कारसंस्कृतमनःसव्यपेक्षश्रोत्रेण संपद्यते तद्वत् ।

केषाञ्चिद्रीत्या तु प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपा प्रमा महावाक्यप्रमाणजन्या, एकाग्रं मनस्तु तत्र सहकारितां भजते । तद् उ, यदः स्थाने तच्छब्दः, उकारः समुच्चयार्थीयः । यच्च मनः सुप्तस्य पुरुषस्य तथैवैति यथा गतं तथैव पुनरागच्छति, सुषुप्तावस्थायां पुनरागच्छति । प्रतीत्यभिप्रायेण गमनागमनादिकमुक्तम् ।

सांख्यरीत्या सात्त्विकाहङ्कारान्मनो जायते । वेदान्तरीत्या त्वपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतस्य समष्टिसत्त्वांशात् सञ्जायते मनः, 'तन्मनोऽसृजत' इति श्रुतेः । भूतेष्वन्नस्य प्राधान्यात्तेनोपबृंहणाच्च 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' (छा० उ० ६।५।४) इति श्रुतिः संगच्छते । सत्त्वं च सर्वार्थविभासनशालि यथा यथा रजस्तमोभ्यामभिभूयते तथा तथा ज्ञानाल्पत्वम्, यथा यथा तदनभिभवे तु ज्ञानभूयस्त्वम् । सर्वथा रजस्तमोऽननुविद्धत्वे तु तादृशः प्रकाशो जायते, येन ज्ञानापेक्षया ज्ञेयस्यैवाल्पत्वं भवति ।

यद्वा बाह्यगमनागमनाद्यभावेऽपि चक्षुरादिप्रदेशसम्बन्धेन विषयदेशगमनं जागरणम्, कण्ठदेशसम्बन्धेन स्वप्नदर्शनम्, पुरीतत्प्रदेशगमनेन प्रस्वापः, 'नेत्रस्थं जाग्रतं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं विनिर्दिशेत् । सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥' (ब्रह्मो० २१) इति श्रुतेः । यच्च मनो ज्योतिषां प्रकाशकानां श्रोत्रादीन्द्रियाणा-

मेकमेव ज्योतिः प्रकाशकं प्रवर्तकम्, मनःसंयुक्तानि मनसा प्रवर्तितान्येवेन्द्रियाणि स्वविषये प्रवर्तन्ते, 'आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेन' (न्या० भा० १।१।४) इति न्यायात् ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्तमेव व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु 'हे जगदीश्वर विद्वन् वा, भवदनुग्रहेण यद्दैवं दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं जाग्रतो दूरमुदैति, तदु सुप्तस्य तथैवान्तरेति, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इति, तदपि न, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यान्नेन्द्रियाण्यनाश्रित्य दूरङ्गमत्वं तत्र संभवति ॥ १ ॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—कर्मनिष्ठ होने से कर्मरूप बुद्धिमान् मेधावी पुरुष यज्ञ में मन के जिस शुभ संकल्प से प्रवृत्त होता है, प्रजाओं के शरीर में और यज्ञीय पदार्थों के ज्ञान में जो मन अद्भुत पूज्य भाव से स्थित है, वह मेरा मन सबका कल्याणकारी और धर्मविषयक शान्त संकल्प वाला हो ॥ २ ॥

मनीषिणो विद्वांसः, येन मनसा सता विदथेषु, विद्यन्ते ज्ञायन्ते तानि विदथानि वेदनानि, यज्ञविधिविधानेषु यज्ञसम्बन्धिनां हविरादिपदार्थानां ज्ञानेषु सत्सु यज्ञे कर्माणि कृण्वन्ति कुर्वन्ति, वेत्तेरौणादिकोऽथप्रत्ययः, प्रत्ययोदात्तत्वेन मध्योदात्तं पदम्, 'प्रत्ययः, परश्च, आद्युदात्तश्च' (पा० सू० ३।१।१-३) इति पाणिन्युक्तेः, मनःस्वास्थ्ययोगाभ्यामन्तरा सम्यक्कर्मानुपपत्तेः । कीदृशा मनीषिणः ? अपसः, अप इति कर्मनाम (निघ० २।१।१), तदस्ति येषां तेऽपस्विनः कर्मवन्तः, तद्धितलोपः । धीरा धीमन्तः, धीरन्तर्धीर्येषां ते, मत्वर्थीयो रः । कीदृशं तन्मनः ? अपूर्वम्, न विद्यते पूर्वमपरमिन्द्रियं यस्मात्तदपूर्वम्, इन्द्रियेभ्यः पूर्वं मनसः सृष्टेः । यद्वा 'अपूर्वमनपरमबाह्यम्, (बृ० उ० २।५।१९) इत्युक्तेरात्मरूपं चित्तं चिद्विजानीयात्तकाररहितम् । यद्वा तकारो विषयाध्यासः, 'तच्छून्यं ब्रह्म चोच्यते' इत्युक्तेः । सर्वोपाधिशून्यं ब्रह्मैव मनाङ् मननीं शक्तिमाश्रित्य मनस्तामापन्नं मन उच्यते, 'स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान् । स मनाङ् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥' इति वाशिष्ठोक्तेः । यक्षं पूज्यं यष्टुं शक्तं यज्ञम्, यजतेरौणादिकः सन्प्रत्ययः, ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० सू० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तं पदम् । यच्च प्रजायन्त इति प्रजास्तासां मनः शरीरमध्ये आस्ते, तन्मे मनस्तादृशं मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे – पूर्ववद् व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे परमेश्वर विद्वन् वा, भवत्सङ्गेन येनापसो मनीषिणो धीरा यज्ञे विदथेषु च कृण्वन्ति, यदपूर्वं प्रजानामन्तर्यक्षं वर्तते, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु' इति, तदपि न, भवत्सङ्गेनेत्यस्य मन्त्रबाह्यत्वात् । नहि कस्यचिन्मनः सर्वोत्तमगुणकर्मस्वभावं भवति, न वा प्राणिमात्रस्य हृदये पूजनीयं भवति ॥ २ ॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजाओं में जो मन प्रकर्ष ज्ञानस्वरूप, चित्तस्वरूप और धैर्यरूप है, जो मन अविनाशी ज्योति है, जिसकी सहायता के बिना कोई कर्म नहीं किया जा सकता, वह मेरा मन कल्याणकारी, धर्मविषयक शिवसंकल्प वाला हो ॥ ३ ॥

यन्मनः प्रज्ञानं प्रकर्षेण ज्ञायते येन तत्प्रज्ञानं विशेषेण ज्ञानजनकम्, 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३।३।११७) इति करणे ल्युट्प्रत्ययः। उत अपि यन्मनश्चेतश्चेतयति सम्यग् ज्ञापयति तच्चेतः सामान्य-विशेषज्ञानजनकम्, 'चिती संज्ञाने' इत्यस्मात् णिजन्तादसुन्प्रत्ययः। यच्च मनो धृतिश्च धैर्यरूपम्, धृतेरपि मनोधर्मत्वात्, कार्यकारणयोरभेदोपचारेण मनो धृतिरुच्यते। यच्च मनः प्रजासु प्राणिषु अन्तर्मध्ये वर्तमानं सद् ज्योतिः सर्वेन्द्रियाणां प्रकाशकं प्रवर्तकम्। पूर्वमुक्तमप्यादरार्थं पुनरुच्यते, 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' इति निरुक्तवचनात्। यथामृतममरणधर्मकम्, चिदात्मरूपत्वात्। यस्मान्मनस ऋते येन मनसा विना किञ्चन किमपि कर्म न क्रियते प्राणिभिः, मनोयोगं विना कर्मानुपपत्तेः। 'अन्यारादितरर्ते' (पा० सू० २।३।२९) इत्यादिना यस्मादित्यत्र ऋतेयोगे पञ्चमी।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर परमयोगिन् वा, भव्यज्ञापनेन यत्प्रज्ञानं च ते उत धृतिर्यच्च प्रजास्वन्तरमृतं ज्योतिर्यस्माद‍ृते किञ्चन कर्म न क्रियते, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इति, तदपि न, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्। मनश्च न स्वरूपेणामृतम्, 'तन्मनोऽसृजत' इत्युत्पत्तिश्रवणात्, न चोत्पन्नस्यामृतत्वं संभवति, कृतकत्वेनानित्यत्व-ध्रौव्यात्। चिदात्मरूपत्वादमृतत्वं तस्य संभवति, नान्यथेति ॥ ३ ॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ जिस मन के द्वारा भूत काल, वर्तमान काल और भविष्य काल की सारी वस्तुएँ सब ओर से ज्ञात होती हैं, जिस मन के द्वारा सात होता वाला यज्ञ विस्तारित किया जाता है, वह मेरा मन कल्याणकारी, धर्मविषयक शुभ संकल्प वाला हो ॥ ४ ॥

येन मनसा, इदं भूतं भूतकालसंबधि वस्तु, भुवनं भवतीति भुवनं वर्तमानकालम्, भवतेर्क्युप्रत्ययः, वर्तमानकालसंबन्धि वस्तु, भविष्यद् भविष्यत्कालसंबन्धि वस्तु, 'लृटः सद्वा' (पा० सू० ३।३।१४) इति शतृप्रत्ययः, परिगृहीतं परितः सर्वतः गृहीतम्, कालत्रयसंबन्धिवस्तुषु मनसः प्रवृत्तेः। चक्षुरादिकं तु वर्तमान-मात्रग्राहि, मनसा त्वतीतानागतयोरपि परोक्षज्ञानसंभवात्। कीदृशेन ? येन मनसा अमृतेन शाश्वतेन, नैयायि-कादीनां रीत्या नित्येन, वेदान्तिनां रीत्या प्रत्ययपर्यन्तस्थायिना 'तन्मनोऽसृजत' इत्युत्पत्तिश्रवणान्नित्यत्वासंभवात्, 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इत्युक्तेः, चिदात्मरूपेण वाऽमृतत्वम्, येन च मनसा यज्ञोऽग्निष्टोमादि-स्तायते तन्यते विस्तार्यते, 'तनोतेर्यकि' (पा० सू० ६।४।४४) इत्याकारः। कीदृशो यज्ञः ? सप्तहोता, सप्त होतारो देवानामाह्वातारो भवन्ति यत्र। तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्तमेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, येनामृतेन भूतं भुवनं भविष्यत् सर्वमिदं परिगृहीतं भवति, येन सप्तहोता यज्ञस्तायते, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इति, तदपि न, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्, अतीतानागतवस्तुग्रहणं तु पारोक्ष्येणैव संभवति, योगेनाप्यतीतानागतानामपारोक्ष्ये मानाभावात्, प्रमातृचैतन्यसंबन्धासंभवेन तदनुपपत्तेः ॥ ४ ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—जिस मन में ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के मन्त्र उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं, जैसे कि रथचक्र की नाभि में अरा (तीलियाँ) जुड़ी हुई रहती हैं; प्रजाओं का सारा ज्ञान जिस मन में ओतप्रोत है, वह मेरा मन कल्याणकारी, धर्मविषयक शिव संकल्प वाला हो ॥ ५ ॥

यस्मिन् मनसि, ऋचो नियताक्षरावसानाः पादबद्धा मन्त्राः प्रतिष्ठिताः, साम गीतिविशिष्टानि सामानि च प्रतिष्ठितानि, यस्मिन् यजूंष्यनियताक्षरावसाना गद्यरूपा मन्त्राः प्रतिष्ठिताः, मनसः स्वास्थ्ये वेदत्रयीस्फूर्तेः, शब्दमात्रस्य मनसि प्रतिष्ठितत्वम्, 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (६।५।४) इति छान्दोग्ये मनसोऽन्नेन शक्तिशालित्वे वेदत्रयीस्फूर्तेः प्रतिपादनात्, 'तस्य यजुरेव शिर ऋग्दक्षिणः पक्षः साम उत्तरः पक्ष आदेश आत्मा अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० उ० २।३) इति तैत्तिरीयोपनिषदि मनोमयस्य कोशस्य ऋगादीनामेव यज्ञपुच्छशिरस्त्वाद्यभिधानाच्च । तत्र दृष्टान्तः—रथनाभौ अरा इव, यथा अरा रथचक्रनाभौ प्रतिष्ठितास्तद्वल्लौकिकवैदिकसर्वशब्दजालं मनसि प्रतिष्ठितम् । किञ्च, यस्मिन् मनसि प्रजानां सर्वं चित्तं संज्ञानं सर्ववस्तुविषयिप्रज्ञानम्, ओतं च प्रोतं च निक्षिप्तम्, तन्तुसन्ततिः पट इव सर्वं ज्ञानं मनसि निहितम्, मनःस्वास्थ्ये ज्ञानोत्पत्तेर्वैयग्र्ये च तदनुत्पत्तेः समष्टिमनोऽभिप्रायेणैतद् द्रष्टव्यम्, रजस्तमोऽननुविद्धत्वेन चित्तसत्त्वस्य सर्वार्थभासनशालित्वस्य योगिभिरङ्गीकाराच्च । तत्तादृशं मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्तमेव व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—रथनाभाविवारा यस्मिन् मनसि ऋचः साम यजूंषि प्रतिष्ठिताः, यस्मिन्नथर्वाणः प्रतिष्ठिता भवन्ति, यस्मिन् प्रजानां सर्वं चित्तमोतमस्ति, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इति, तदपि न, चित्तमनसोरैक्येनैकस्मिन् मनसि सर्वप्राणिचित्तानामोतत्वासंभवात् । तेन समष्टिमन एवात्र ग्राह्यम्, तत्रैव व्यष्टिमनसामोतत्वसंभवात् । ऋगादीनामपि तत्रैव प्रतिष्ठितत्वं संभवति ॥ ५ ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ— जो मन जीवों को अपनी इच्छा के अनुसार उसी प्रकार घुमाता रहता है, जैसे कि कोई अच्छा सारथि बागडोर के सहारे वेगवान् घोड़ों को अपनी इच्छा के अनुसार नियन्त्रित करता है । जो मन बाल्य, यौवन, वार्धक्य आदि से रहित हो अतिवेगवान् हृदय में स्थित है, वह मेरा मन धर्मविषयक शुभ संकल्प वाला हो ॥ ६ ॥

यच्च मनो मनुष्यान् प्राणिनश्च नेनीयतेऽतिशयेनेतस्ततो नीयते, मनःप्रेरितानामेव प्राणिनां प्रवृत्तेः । अत एव मनुष्यग्रहणं प्राणिमात्रोपलक्षकम् । कथमिव ? सुषारथिः शोभनः कल्याणकारी सारथिर्यन्ता यथा कशयाऽश्वान् नेनीयते तद्वत् । अभीशुभिः प्रग्रहैर्वाजिन इव शोभनः सारथिर्यथा अभीशुभिर्वल्गाभिर्वाजिनोऽश्वान् नेनीयत इत्यपरो दृष्टान्तः । प्रथमे नयनम्, द्वितीये नियमनम्, तथैव मनो मनुष्यान् प्रवर्तयति नियच्छति च । यच्च मनो हृत्प्रतिष्ठम्, हृदि पुण्डरीकाकारे मांसपिण्डे प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तत्, तत्रैव तदुपलब्धेः । तत्स्थानं तु नाभेर्दशाङ्गुलोर्ध्वोपरि ज्ञातव्यम्, 'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (वा० सं० ३१।१) इति श्रुतेः । केचित्तु मस्तके

मस्तिष्कस्थानमेव मनःस्थानं कल्पयन्ति, तत्रैव विचारानुभवात्। तत्तु न, मस्तके श्रोत्रचक्षुर्घ्राणजिह्वासु बाहुल्येन ज्ञानकार्यदर्शनात् तथात्वानुभवस्यान्यथोपपत्तेः, यथा विद्युतः प्रकाशस्थानापेक्षया नियन्त्रणस्थानं पृथग्भवति तथैवात्रोपपत्तेः। यच्च मनः, अजिरं जरारहितम्, बाल्ययौवनस्थविरेषु मनस्तावदवस्थ्यदर्शनात्। यच्च मनो जविष्ठमतिशयेन जववद् वेगवद् जविष्ठम्, 'न वै वातात्किञ्चनाशीयोऽस्ति न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति' इति श्रुतेः। तत्तादृशं मे मनः शिवसंकल्पं धर्मब्रह्मसंबन्धिसंकल्पयुक्तमस्तु, तथा सत्येव पुरुषार्थसिद्धेः।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'यत्सुषारथिरश्वानिव मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव नियच्छति च, बलात् सारथिरश्वानिव प्राणिनो नयति, यद्धृत्प्रतिष्ठमजिरं जविष्ठमस्ति, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इति, तदपि न, मनसः करणत्वेन कर्तुर्नियामकत्वानुपपत्तेः। नहि कुठारेण छेत्ता नियम्यते, किन्तु छेत्त्रैव कुठारस्य नियमनदर्शनात्। तस्मात् प्रतीत्यभिप्रायेणैतद् द्रष्टव्यम्, गमनजन्यवेगेन गन्तुः पारतन्त्र्यदर्शनात् ॥ ६ ॥

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—मैं महान् बलशाली, सबमें बल का आधान करने वाले अन्न की स्तुति करता हूँ। इस अन्न के बल से ही तीनों स्थानों के स्वामी इन्द्र ने विविध रूपों वाले पाप पुरुष को सदा अवश्य ही प्रताड़ित किया है ॥ ७ ॥

अन्नस्तुतिरूपा उष्णिक्। यस्य पितोरन्नस्य ओजसा बलेन त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं दैत्यं विपर्वं विगतसन्धिबन्धनं कृत्वा वि अर्दयद् विविधमर्दितवान्, अन्नबलेनैवेन्द्रो वृत्रं हतवानित्यर्थः, तं पितुमन्नं स्तोषमहं स्तौमि। कीदृशं पितुम्? महो महतस्तविषीं तविष्या बलस्य धर्माणं धारयितारम्, तविषीति बलनाम (निघ० २।९।१०), तवतेर्बलकर्मणो विभक्तिव्यत्ययः। स्तोषं स्तौतेर्मिपि 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपे, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागमे, 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिप्प्रत्यये गुणे च रूपम्। महः, महच्छब्दस्य ङसि छान्दसष्टिलोपः। धर्माणम्, धरतेर्मन्। विपर्वं विगतानि पर्वाणि यस्य तम्, उप्रत्यये टिलोपः। अर्दयत् 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इत्यडभावः, 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इति वेरुपसर्गस्याख्यातव्यवधानमिति महीधराचार्याः।

अध्यात्मपक्षे—यस्य पितोरन्नस्य ओजसा त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं व्यमर्दयत्, महतो तविष्या बलस्य धारयितारं तं पितुमन्नं ब्रह्मरूपमहं स्तौमि, 'अहमन्नमहमन्नम्' (तै० उ० ३।१०।६) इत्यादौ ब्रह्मणोऽन्नरूपत्वोक्तेः, 'यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥' (भ० गी० १०।४१) इति भगवदुक्तेश्च।

दयानन्दस्तु—'अहं यस्य पितुं महो धर्माणं तविषीं न स्तोषं स राजपुरुषस्त्रितः सूर्य ओजसा सह वर्तमानं विपर्वं वृत्रं व्यर्दयदिव शत्रून् जेतुं शक्नोति' इति, तदपि न, असंबद्धत्वात्। न च राजसामान्यस्य स्तुतिरिह विवक्षिता, अकिञ्चित्करत्वात्। त्रित इति तु त्रिस्थानस्येन्द्रस्य बोधकम्। पितुं नु स्तोषमिति मूलेन स्पष्टं पितोरन्नस्यैव स्तुतिः प्रतीयते। पितोर्विशेषणत्वेन तु महआदीनां वर्णनम्। यथा चैतत्तथोपरि वर्णितमेव ॥ ७ ॥

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि ।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र ण आयूंषि तारिषः ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे शुक्ल चतुर्दशी युक्त पूर्णिमा तिथि की अभिमानिनी अनुमति देवी, आप हमारे अभिप्राय को समझें, हमारा कल्याण करें, हमारे शुभ संकल्प की सिद्धि में आप सहायक हों, हमारी आयु को बढ़ावें ॥ ८ ॥

चतस्रोऽनुष्टुभः । तत्र द्वयोरनुमतिर्देवता । हे अनुमते, त्वमनुमन्यासै अनुमन्यस्वास्मदुक्तमवधारयस्व । किं तदित्याह—नोऽस्माकं शं च शमेव, कृधि कुरु, च पुनः, नोऽस्माकं क्रतवे संकल्पाय दक्षाय तत्समृद्धये नोऽस्मान् हिनु गमय, नोऽस्माकमायूंषि प्रतारिषः प्रवर्धय च । इदिति निपातः पादपूरणः । मन्यासै, 'वैतोऽन्यत्र' (पा० सू० ३।४।९६) इत्यैकारः । क्रत्वे, गुणाभावे यणादेशः । तारिषः, 'सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः' (पा० सू० ३।४।३४, वा० १) इति वृद्धिः । प्रपूर्वस्तरतिर्वृद्ध्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—मनआदीनि बाह्यान्यान्तराणि च करणानि प्रवर्तमानान्यनुमन्यत इव या सानुमतिः, अखण्डचिद्रूपा परा संविदेव, 'उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः' (भ० गी० १३।२२) इति गीतोक्तेः । हे अनुमते, त्वमिदमनुमन्यासै अवबुद्ध्य । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे अनुमते सभापते विद्वन्, त्वं यच्छमनुमन्यासै तेन युक्तान् नस्कृधि । क्रत्वे दक्षाय नो हिनु न आयूंषि च प्रतारिषः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राज्ञो बुद्ध्यनुसारेण विदुषामप्रवृत्तेः, 'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः' इत्युक्तिविरोधात् । न चायुषः पूरकत्वं तस्य संभवति । प्रकृतेऽनुमतिशब्देन देवताविशेषस्यैव सम्बोधनीयत्वात् ॥ ८ ॥

अनु नोऽद्यानुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् ।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतं दाशुषे मयः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—यह अनुमति देवी और हवि को देवताओं तक पहुँचाने वाले अग्निदेव ! अब हमारे यज्ञ को देवताओं में प्रतिष्ठित होने की अनुमति दें, हविदाता यजमान के लिये सुखरूप हों ॥ ९ ॥

अद्यास्मिन् दिवसे, अनुमतिर्नोऽस्माकं यज्ञं देवेषु यज्ञियेष्वनुमन्यताम्, अग्निश्च यज्ञं देवेषु । कीदृशोऽग्निः ? हव्यवाहनः, हविषां वोढा । किञ्च, दाशुषे हवींषि दत्तवते यजमानाय, मयः सुखरूपौ अनुमत्यग्नी भवतम्, भवतामिति पुरुषव्यत्ययः । हव्यं वहतीति हव्यवाहनः, 'हव्येऽनन्तःपादम्' (पा० सू० ३।२।६६) इति वहेर्ण्युट् । दाशुषे, 'दाश्वान्साह्वान्' (पा० सू० ६।१।१२) इति साधुः ।

अध्यात्मपक्षे—अनुमतिः पूर्वोक्तोऽग्निर्हव्यवाहनो दाशुषे मये मयौ सुखकरौ भवताम्, उपाधिभेदेन परमात्मनोऽपि भेदवत्त्वात् ।

दयानन्दस्तु—'योऽनुमतिरद्य देवेषु नो यज्ञमनुमन्यताम्, स हव्यवाहनोऽग्निश्च युवां दाशुषे मयः सुखानां कारिणौ भवतम्' इति, तदपि न, सर्वत्र मुख्यार्थत्यागगौणार्थस्वीकरणाभ्याम् । यज्ञः सुखानुगुणो व्यवहारः, अग्निः पावकस्तेजस्वी तज्ज्ञो वेति स्पष्टमेव गौणार्थाङ्गीकारः ॥ ९ ॥

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ - हे सारी कामनाओं को पूरा करने वाली चतुर्दशीयुक्त अमावास्या की अभिमानिनी सिनीवाली देवी, आप देवताओं की भगिनी हो । हमारी दी हुई आहुति को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करो । हे देवी, आप हमें संतान-प्राप्ति का सुख प्रदान करें ॥ १० ॥

सिनीवाली देवता । हे सिनीवालि, हे पृथुष्टुके, स्तुकं केशभारः स्तुतिः कामो वा । हे पृथुसंयमितकेशभारे महास्तुते पृथुकामे, त्वं देवानां स्वसा भगिनी असि, सा त्वमाहुतं हव्यं जुषस्व प्रीत्या सेवस्व । हे देवि, नोऽस्मभ्यं प्रजां च दिदिड्ढि दिश अतिसृज देहि ।

अध्यात्मपक्षे—हे सिनीवालि देवि, त्वं देवानां स्वसा भवसि, सर्वदेवात्मकस्य कृष्णस्य विन्ध्यवासिनी भगिनीरूपेणाविर्भूता, 'नन्दगोपगृहे जाता यशोदागर्भसंभवा । ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी ॥' (दु० स० ११।४२) इत्युक्तेः ।

दयानन्दस्तु—हे सिनीवालि पृथुष्टुके देवि विदुषि कुमारि, या त्वं देवानां स्वसासि, सा हव्यमाहुतं पतिं जुषस्व, नः प्रजां दिदिड्ढि दिश देहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, के कति च देवाः कुत्रत्यास्तेषां च का कीदृशी भगिनीत्यनुक्तेः, सा च कथं प्रेमबद्धा, कथं च बलकरी ? आहुतं पतिमित्यादि सर्वमपि कल्पनाजालं निर्मूलमेव ॥ १० ॥

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः ।
सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित् ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—समान प्रवाह वाली पाँच नदियाँ सरस्वती को ही प्राप्त होती हैं । वह सरस्वती ब्रह्मर्षि देश में पाँच प्रवाहों में प्रकट हुई है ॥ ११ ॥

सरस्वतीनदीदेवत्या । या दृषद्वतीशतद्रुचन्द्रभागाविपाशेरावत्याख्याः पञ्च नद्यः सरस्वतीमपियन्ति सरस्वतीं लयं गच्छन्ति । कीदृश्यस्ताः ? सस्रोतसः समानो स्रोतो यासां ताः, तुरवधारणे । सा उ सैव सरस्वत्येव पञ्चधा देशे सरितः सस्रोतसः पञ्चापि स्वनामानि त्यक्त्वा सरस्वत्येवाभवत् । तस्यां सारस्वतानि सत्राणि भवन्ति । इदानीं तु शतद्र्वादयः स्वेन स्वेन रूपेणोपलभ्यन्ते ।

अध्यात्मपक्षे—सरस्वती जिह्वानुगता नाडी सरस्वती । सरस्वत्याश्चालनेन स्वयं चलति कुण्डली, अन्याश्च सस्रोतस इडापिङ्गलाद्यास्तत्रैवापियन्ति । सैव तु पञ्चधाऽभवत् ।

दयानन्दस्तु—'मनुष्यैः सस्रोतसः पञ्च नद्यो यां सरस्वतीमपियन्ति, सा उ सरित् सरस्वती देशे पञ्चधा त्वभवदिति विज्ञेयम्' इति, तदपि न, स्रोतःशब्दस्य मनोऽर्थत्वे पञ्च पञ्च ज्ञानेन्द्रियवृत्तय इत्यादिव्याख्यानस्य निर्मूलत्वात् । न च सरस्वती वाग्रूपा स्वस्थाने पञ्चधा भवति । शब्दादिपञ्चविषयप्रतिपादकत्वेन तत्त्वे तु षड्विंशतित्वप्रतिपादकत्वे षड्विंशतिधा भवेत् ॥ ११ ॥

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मो अङ्गि॑रा ऋषि॑र्दे॒वो दे॒वाना॑मभवः शि॒वः सखा॑ ।
तव॑ व्र॒ते क॒वयो॑ विद्म॒नाप॑सोऽजायन्त म॒रुतो॒ भ्राज॑दृष्टयः ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप यजमानों के सुखदाता, द्योतमान कल्याणरूप देवताओं के मुख्य सखा हैं । आपको सर्वप्रथम अंगिरा ऋषि ने देखा है । आपकी ही कृपा से कर्म के प्रवृत्त होने पर क्रान्तदर्शी विदितकर्मा मरुद्गण आयुधों से शोभायमान हुए हैं ॥ १२ ॥

चतस्र आग्नेय्यः, द्वे जगत्यौ, अन्ये त्रिष्टुबनुष्टुभौ । हे अग्ने, त्वं प्रथम आद्योऽङ्गिरा ऋषिरभवः, त्वं प्रथमो देवो देवानामभवः । शिवः कल्याणः सखा मित्रभूतोऽसि । यद्वा - हे अग्ने, त्वं देवानां प्रथमः सखा अभवः, भूतोऽसि । किंभूतोऽसि ? अङ्गिराः, अङ्गिरा ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा, अङ्गानां रसो वा अङ्गिराः, अथवा अङ्गिभ्य आत्मभ्यो यजमानेभ्यो राति सुखमित्यङ्गिराः । देवो द्योतमानः शिवः कल्याणरूपः । किञ्च, तव व्रते कर्मणि वर्तमाने मरुतो अजायन्त । कीदृशा मरुतः ? कवयः क्रान्तदर्शनाः, विद्मनापसः, अप इति कर्मनाम (निघ० २।१।१), विद्मना विदितानि अपांसि कर्माणि यैस्ते विद्मनापसः, विदितकर्माण इत्यर्थः । पुनः कीदृशाः ? भ्राजदृष्टयः, भ्राजन्त्यः शोभमाना ऋष्टय आयुधानि येषां ते तथोक्ताः, शत्रुघातकत्वात् । वेत्तेः कर्मणि मनिन्-प्रत्यये ततो विभक्तेराकारः, तस्य चालुक्, विद्मनापसः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं देवानां प्रथमो मुख्यः सखा अभवः, देवानां शत्रुघातकत्वाद् हितकारित्वाच्च । त्वं कीदृशः ? अङ्गिरा अङ्गिभ्यो देहधारिभ्यो राता सुखानाम् ऋषिः, अतीन्द्रियाणां द्रष्टा, देवो द्योतमानः स्वप्रकाशः शिवः कल्याणरूपः, तव व्रते कर्मणि सृष्टौ कवयः क्रान्तदर्शिनः, विद्मनापसो विदितकर्माणः, भ्राजदृष्टयः शोभनायुधाः, मरुतोऽजायन्त संजाताः । कार्यमाहात्म्येनापि कारणमाहात्म्यं व्यज्यते ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यतस्त्वं प्रथमोऽङ्गिराः, देवानां देवः शिवः सखा ऋषिरभवस्तस्मात्तव व्रते विद्मनापसो विद्मनानि विदितानि रपांसि कर्माणि येषां ते भ्राजदृष्टयः कवयो मरुतो अजायन्त' इति, तदपि न, अवयवानां भौतिकत्वेन परमेश्वरस्य तत्साररूपत्वापत्तेः । न च तत्सम्भवति, परमेश्वरस्याभौतिकत्वात् ॥ १२ ॥

त्वं नो॑ अग्ने॒ तव॑ देव पा॒युभि॑र्म॒घोनो॑ रक्ष त॒न्व॑श्च वन्द्य ।
त्रा॒ता तो॒कस्य॒ तन॑ये॒ गवा॑म॒स्यनि॑मेषꣳ॒ रक्ष॑माण॒स्तव॑ व्र॒ते ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे द्योतमान स्तुतियोग्य अग्निदेव, आपके लिये यज्ञ कर्म में प्रवर्तमान धनवान् यजमानों के और हम ऋत्विजों के शरीरों को अपनी रक्षाशक्ति से रक्षित कीजिये । सावधानी से रक्षा कार्य में संलग्न आप अपने पुत्र यजमान के पुत्रों की इन्द्रियों की रक्षा कीजिये ॥ १३ ॥

रक्षणार्थे मन्त्रः । हे अग्ने, हे देव द्योतमान, हे वन्द्य स्तुत्य, तव व्रते ते कर्मणि वर्तमानान् मघोनो धनवतो यजमानान् तव पायुभिः पालनसाधनै रक्ष । नोऽस्माकं तन्वः शरीराणि च रक्ष । यतस्त्वमनिमेषं सावधानं रक्षमाणः पालयन् तोकस्य पुत्रस्य तनये तनयस्य पौत्रस्य, विभक्तिव्यत्ययः, गवां च त्राता रक्षकोऽसि भवसि—इति महीधराचार्यव्याख्याप्रकारः । उव्वटाचार्यस्तु—विषमोऽयं मन्त्र इति साध्याहारो व्याख्यायते । हे अग्ने, त्वं नोऽस्माकम्, आश्रय इति शेषः । अथैवं सति हे देव पायुभिः पालनैर्धैर्यावलम्बिभिः पालिताः सन्त आस्महे । किञ्च, मघोनो धनानि रक्ष तन्वः शरीराणि रक्ष, हे वन्द्य वन्दनीय । कस्मात्

पुनस्त्वमेवमुच्यसे ? यतः स्वभावत एव तोकस्य पुत्रस्य तनये तनयस्य पौत्रस्य गवां च त्रातासि। कथम् ? अनिमेषं प्रमादमकुर्वन् रक्षमाणः। एवं चेद् मृदुहृदयतमोऽसि। तव व्रते तव कर्मणि वयं स्याम, अन्या देवताः परित्यज्य त्वामेव परिचराम इत्यभिप्रायः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, हे देव स्वप्रकाशपरमेश्वर, हे वन्द्य सुरासुरसर्वप्राणिवन्दनीय, तव व्रते त्वदाराधनलक्षणे कर्मणि वर्तमानान् मघोनो ज्ञानवैराग्यादिधनयुक्तान् भक्तान् रक्ष पालय। नोऽस्माकं तन्वः शरीराणि त्वदुपासनसाधनत्वाद्रक्ष। हे भगवन्, त्वमनिमेषं निमेषोन्मेषावपि परित्यज्य निर्निमेषं सावधानः सन् पायुभिः पालनसाधनै रक्षमाणः सन् तोकस्य पुत्रस्य तनये तत्तनयस्य पौत्रस्य गवां च त्राता रक्षकोऽसि। स्वभावतस्तस्मात् त्वामेव भजाम इत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने देव, तव व्रते वर्तमानान् मघोनोऽस्मान् तव पायुभिस्त्वं रक्ष नस्तन्वश्च रक्ष। हे वन्द्य, यतस्त्वमनिमेषं रक्षमाणः स्तोकस्य तनये गवां च त्रातासि, तस्मात् सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजपक्षेऽसंगतेः, राज्ञो रक्षकत्वेऽस्य निःसीमत्वायोगात्। अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ १३ ॥

उत्तानायामव भरा चिकित्वान्त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान।
अरुषस्तूपो रुशदस्य पाज इडायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी का पुत्र, हिंसारहित, ऊँची ज्वालाओं वाला अग्निदेव प्रज्ञान के निमित्त प्रकट हुआ है। इसके चेतनावान् प्रदीप्त बल को उत्तान अरणि में भरना चाहिये। यह अरणि कामनाओं को पूरा करने में समर्थ अग्नि को शीघ्र प्रकट करती है ॥ १४ ॥

योऽयमग्निः, अरुषस्तूपः, रोषतीति रुषो हिंसकस्तद्भिन्नोऽरुषोऽहिंसकः स्तूपो ज्वालोच्छ्रायो ज्वालामूर्तिर्वा यस्य स अरुषस्तूपः 'ष्टु उच्छ्राये', यश्चाग्निः, इडायाः पृथिव्याः पुत्रः, यश्च वयुने प्रज्ञाने कर्तव्ये, अजनिष्ट जातः। यस्याग्नेः, रुशत् पाजो दीप्तबलं तमग्निमुत्तानायामरण्यां जातमवभरा, यद्वा अस्याग्ने रुशद् दीप्तं पाजो बलमरण्यामवाचीनं हर। चिकित्वान् अरण्या वीर्यं जानानः। किं तद्वीर्यमिति चेत्, तत्राह—सद्यः प्रवीता वृषणं जजान सद्य एव प्रवीता कामिता सती वृषणं कर्मफलवर्षितारं युवानं सर्वकर्मक्षममग्निं जजान जनयति, 'छन्दसि लुङ्लिङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६)। 'अवभरा' इत्यत्र 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—योऽयमग्निरग्नेरग्निः श्रीरामः, 'सूर्यस्यापि भवेत् सूर्य अग्नेरग्निः' इति वचनात्। अरुषस्तूपोऽहिंसकचिन्मयप्रदीप्तिसंघातमूर्तिः, यस्यास्य रुशत् पाजो दीप्तं बलम्, यश्च इडाया ईड्यायाः, पृषोदरादित्वाद् ह्रस्वादिकम्, कौशल्यायाः पुत्रः, यश्च वयुने भक्तानां प्रज्ञाननिमित्तमजनिष्ट, 'सत्त्वं न चेद्धातरिदं वपुर्भवेद्विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्' (१०।२।३५) इति भागवतोक्तेः। यदि विशुद्धसत्त्वमयं भगवत्स्वरूपं नाविर्भवेत्तदा अज्ञानभिद्विज्ञानं संसारान्मार्जनं नाशमेव आप आप्नुयात्, भगवद्विग्रहध्यानेनैव तादृशविज्ञानस्य सम्भवात्। तमग्निं परमात्मानम्, उत्तानायाम् उदुत्कृष्टं ब्रह्मव्याप्तायां स्निग्धायां ब्रह्माकारवृत्तौ आभर समन्ताद्धारय। चिकित्वान् जानन् तदुत्तानाया ब्रह्माकाराया वृत्तेर्वीर्यं प्रभावं जानन्। किं तद्वीर्यमिति चेत्तत्राह—सद्यः प्रवीता वृषणं जजान। या च प्रवीता कामिता सेविता सती सद्यस्तत्क्षणमेव वृषणं स्वर्गापवर्गवर्षिणमग्निं भगवन्तं जजान जनयति प्रादुर्भावयति, 'त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोजे आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्' (३।९।११) इति भागवतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—हे विद्वन्, यथा चिकित्वान् प्रवीता विद्वानुत्तानायां वृषणं जजान अरुषस्तूप इडायाः पुत्रो वयुनेऽजनिष्टास्य रुशत्पाजश्चाजनिष्ट, तथा सद्योऽवभर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, वृषणस्य यज्ञार्थताऽपि निर्मूलैव, अभीष्टफलवर्षित्वस्येश्वरादावपि सम्भवात्। त्वद्रीत्या तु यज्ञस्य न फलदातृत्वम्, किन्तु केवलवायुशोधकत्वमेव। न चेडापदस्य प्रशंसितायां स्त्रियां शक्तिः, प्रमाणाभावात्॥ १४॥

इडा॑यास्त्वा प॒दे व॒यं नाभा॑ पृथि॒व्या अधि॑।
जात॑वेदो॒ निधी॑मह्यग्ने॑ ह॒व्याय॒ वोढ॑वे॥ १५॥

मन्त्रार्थ—हे सर्वज्ञ अग्निदेव, पृथ्वी की देवयजन नामक नाभि में, पृथ्वी के उत्तरवेदी स्थित स्थान में हम आपको हव्य धारण के करने लिये स्थापित करते हैं॥ १५॥

हे जातवेदः! जातप्रज्ञान अग्ने, इडायाः पृथिव्याः, पदे स्थाने देवयजनाख्ये, पृथिव्या नाभौ अधि उपरि उत्तरवेद्या मध्ये उपरि वयं त्वा त्वां निधीमहि स्थापयामः, उत्तरवेद्यां नाभिका भवतीति श्रवणात्। किमर्थम्? हव्याय वोढवे हविषो वहनाय प्रापणाय, विभक्तिव्यत्ययः। 'तुमर्थे सेसेनसे' (पा० सू० ३।४।९) इति तवैप्रत्ययः 'सहिवहोः' (पा० सू० ६।३।११२) इत्योकारः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर जातमात्रस्य वेदिन्, इडायाः पृथिव्याः पदे स्थाने देवयजनाख्ये पृथिव्या नाभौ उत्तरवेद्यां मध्ये त्वामाहवनीये रूपे स्थापयामः। किमर्थम्? हव्याय हव्यस्य प्रापणाय। परमेश्वरस्यैव हि यज्ञियाग्निरूपेणापि प्रादुर्भावः। स एव हविषां वोढा भवति, सर्वशक्तिमत्त्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदोऽग्ने, वयमिडायाः पदे पृथिव्या अधि नाभौ त्वां हव्याय वोढवे निधीमहि' इति, तदपि न, अत्रापि मुख्यार्थत्यागे गौणार्थग्रहणे च बीजाभावात्। इडायाः प्रशंसितवाण्याः पदे प्रतिष्ठायामित्यप्यपव्याख्यानं पूर्वापरविरुद्धं च, क्वचित् प्रशंसिता स्त्री, क्वचित्तादृशी वाणीति स्वातन्त्र्यमूलकमेव सर्वम्॥ १५॥

प्र मन्म॑हे शवसा॒नाय॑ शू॒षमा॑ङ्गू॒षं गिर्व॑णसे अङ्गि॒र॒स्वत्।
सु॒वृ॒क्तिभिः॑ स्तुव॒त ऋ॑ग्मि॒याया॒र्चा॑मा॒र्कं न॒रे॒ विश्रु॑ताय॥ १६॥

मन्त्रार्थ—हम ऋत्विक्गण इन्द्र के बल को बढ़ाने के लिये त्रिवृत् आदि स्तोमों का पाठ करते हैं। बल की अभिलाषा वाले वेदवचन से स्तुति के इच्छुक, शोभन स्तुतियों का गान करने वाले, ऋचाओं का व्यवहार करने वाले, भक्ति-ज्ञान के अनुष्ठान से अथवा शूरता आदि से विख्यात यजमान के निमित्त हम अंगिरा वंश के ऋषियों के समान वेद-मन्त्रों का पाठ करते हैं॥ १६॥

चतस्र ऐन्द्र्यस्त्रिष्टुभः। इन्द्राय शवसानाय शवो बलमात्मन इच्छति शवस्यति यः स शवसानस्तस्मै बलमभिलषमाणाय गिर्वणसे गिरा स्तुत्या वनयति संभजयत्यात्मानमभिलषितदानात् स्तोतृभ्यः। सुवृक्तिभिः स्तुवते शोभनाभिः स्तुतिभिर्यजमानान् स्तौति यस्तस्मै। यथा—'त्वमङ्ग प्रशꣳसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम्' (वा० सं० ६।३७)। ऋङ्मियाय ऋग्मयाय वेदमयाय, 'ऋच् स्तुतौ' ऋग्मः स्तुतिस्तमर्हति यस्तस्मै स्तुतियोग्याय नरे नररूपाय विश्रुताय शौर्यवीर्यदानादिभिर्लब्धख्यातये वयं शूषं बलं बलहेतुम् आङ्गूषं स्तोम आघोषं स्तोमं त्रिवृदादिकं प्रमन्महे प्रजानीमः। अर्कं मन्त्रं च अर्चाम उच्चारयाम, धातूनामनेकार्थत्वेनार्चतिरत्रोच्चारणार्थः।

अङ्गिरस्वद् अङ्गिरस इव, अङ्गिरोभिर्यथा स्तोमो ज्ञातो मन्त्रश्च पठितस्तद्वत्। शवसानः 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यच्, तदन्ताच्छानच् शप्, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।३९) इति तस्य लुक्, 'छन्दस्युभयथा' (३।४।११७) इति शानचोऽप्यार्द्धधातुकत्वात् 'क्यस्य विभाषा' (पा० सू० ६।४।५०) इति क्यचो लोपः। गिर्वणसे गीःशब्दोपपदाद् वनतेर्ण्यन्तादसुनि वनेर्घटादित्वेन मित्संज्ञत्वाद् ह्रस्वत्वं णिचो लोपः, दीर्घाभावश्छान्दसः। यद्वा स्वार्थे णिच्। गीर्भिरेनं देवा भजन्तीति गिर्वणास्तस्मै। ऋग्मियाय, मयडर्थे छान्दसो मियट्प्रत्ययः, यद्वा 'ऋच् स्तुतौ' इत्यस्माद् भावे औणादिके मकि कुत्वे जश्त्वे च ऋग्मस्तमर्हतीति ऋग्मियः, अर्हार्थे घच्। नरे नृशब्दस्य ङे परे छान्दसो गुण इति महीधराचार्याः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्राय परमेश्वराय श्रीरामाय शूषं बलहेतुम् आङ्गूषं त्रिवृदादिस्तोमं प्रमन्महे प्रजानीमः, अर्कं मन्त्रं च अर्चाम उच्चारयामः। कथमिव ? अङ्गिरस्वद् अङ्गिरस इव। कीदृशाय ? शवसानाय रावणादीनां समक्षं बलं लोकोत्तरमाविष्कुर्वते, गिर्वणसे देवगिरा स्तुत्या वनयति संभाजयति स्वात्मानमभिलषितदानात् स्तोतृभ्यो यस्तस्मै गीर्भिर्यं देवं वनन्ति तस्मै वा अङ्गिरस्वते सुवृक्तिभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः स्तौति यः स स्तुवन् तस्मै। श्रीरामो यज्ञे देवान् ब्राह्मणान् स्तौति, भक्तांश्च शोभनाभिः स्तुतिभिः स्तौत्येव। ऋग्मियाय ऋगादिवेदमयाय, वेदवेदार्थस्वरूपत्वात्। स्तुतिमयाय अर्चनीयाय वा नरे नृरूपाय दशरथापत्यरूपेण जाताय विश्रुताय शौर्यवीर्यदानयज्ञसेतुबन्धरामेश्वरस्थापनाभिः समुपलब्धख्यातये ते आङ्गूषं स्तोमं प्रमन्महे, अर्कं मन्त्रमर्चाम।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यथा वयं सुवृक्तिभिः शवसानाय गिर्वणस ऋग्मियाय विश्रुताय स्तुवते नरेऽङ्गिरस्वदाङ्गूषं शूषं प्रमन्महे, एतमर्कमर्चाम, तथैव तं प्रति यूयं वर्तध्वम्' इति, तदपि न, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्। आङ्गूषपदमपि न विद्याशास्त्रबोधकम्, निर्मूलत्वात्। न च निघण्टुवचनं मूलम्, तस्य पदनामत्वेऽपि विद्याशास्त्रपरत्वानुपपत्तेः॥ १६॥

प्र वो॑ म॒हे महि॒ नमो॑ भरध्वमाङ्गू॒ष्य॑ꣳ शवसाना॒य साम॑।
येना॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॑ पद॒ज्ञा अर्च॑न्तो॒ अङ्गि॑रसो॒ गा अवि॑न्दन्॥ १७॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों, आप लोग अपने महान् देवता इन्द्र के निमित्त उस महान् हवि को और स्तोम के हितकारी साम को समर्पित करें, जिस अन्न या साम के द्वारा हमारे पूर्व पितृगणों ने, ब्रह्मज्ञानियों ने स्तुति करते हुए वृष्टि, पृथ्वी, ज्योति, गौ और सूर्य की किरणों को पाया था॥ १७॥

येनान्नेन हविर्लक्षणेन साम्ना चार्चन्तः स्तुवन्तः सन्तः, नोऽस्माकं पूर्वे पितरः, पदज्ञाः पद्यते गम्यते तत्त्वदर्शिभिस्तत्पदं ये जानन्ति ते पदज्ञा आत्मयाथात्म्यवेदिनः, गाः सूर्यकिरणान्, अविन्दन् लब्धवन्तः। स हि साम्नां लोकः, तत्साम प्रभरध्वम्, वो यूयं हे पुत्रपौत्रप्रपौत्राः, महे महते शवसानाय बलमभिलषमाणाय इन्द्राय महि महद् नमोऽन्नम् आङ्गूष्यं आङ्गूषाय हितं साम प्रभरध्वमुच्चारयत, प्रभरध्वं प्रहरतम्, समर्पयताम्। यूयमित्यर्थे व इत्यव्ययम्।

अध्यात्मपक्षे—ये महे महते शवसानाय बलमाविष्कुर्वते इन्द्राय श्रीरामाय महि महद् नमोऽन्नं वो यूयं हे पुत्रादयः प्रभरध्वम्, आङ्गूष्यं साम चोच्चारयतम्। किं तत् ? महद् अन्नं आङ्गूष्यं नोऽस्माकं पूर्वे पितरः पदज्ञा आत्मयाथात्म्यज्ञा आङ्गिरसो येनान्नेन साम्ना चार्चन्तो गा आदित्यरश्मीन् अविन्दन् लेभिरे, स हि साम्नां लोकः, तत् साम प्रहरध्वमित्यर्थः।

दयानन्दस्तु – हे मनुष्याः, यथा पदज्ञा नोऽस्मानर्चन्तोऽङ्गिरसः पूर्वे नः पितरो येन महे शवसानाय वश्चाङ्गूष्यं साम गाश्चाविन्दन्, तेन तेभ्यो यूयं महि नमः प्रभरध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, संशोधनस्य निर्मूलत्वात्, पितरः पालका ज्ञानिनोऽङ्गिरसः सर्वस्याः सृष्टेर्विद्याङ्गविद इत्यस्य व्याख्यानस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ १७ ॥

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांꣳसि ।
तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ – हे इन्द्रदेव ! कोई भी श्रेष्ठ और विशिष्ट ज्ञान आप से ही प्राप्त होता है । सोम के सम्पादक ऋत्विक्-गण आपको ही चाहते हैं, सोम को अभिषुत करते हैं अथवा आत्मप्रतिबिम्ब को देहाभिमान से पृथक् करते हैं, विविध अन्नों को धारण करते हैं और मनुष्यों के दुर्वचनों को सहते हैं ॥ १८ ॥

हे इन्द्र, सोम्यासः सोमसंपादिनः, त्वा त्वामिच्छन्ति । के ते ? सखायः समानख्याता मित्रभूता ब्राह्मणाः । देवानां विप्राणां च सखित्वं श्रुतिषु प्रसिद्धम्, 'द्वया वै देवा अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवाꣳसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवा.' इत्युक्तेः । केन प्रकारेण इच्छन्ति ? सुन्वन्ति सोमम् अभिषुण्वन्ति सोमलताम्, दधति च प्रयांसि, प्रयांसि अन्नानि हविर्लक्षणानि धारयन्ति । किञ्च, तितिक्षन्ते अभिशस्तिं दुर्जनानां दुर्वचनानि सहन्ते मनोवाक्कायसंयताः क्षान्तिपरायणा भवन्तीत्यर्थः । अथैवमिच्छतां हे इन्द्र, त्वत् त्वत्तः सकाशात्, कश्चन कोऽपि लोकोत्तरः, चनशब्दोऽप्यर्थः, प्रकेतः प्रज्ञानविशेषः, हि यतः, आसमन्ताद्भावेनात्यर्थं भवति, तस्मात् सखायो विप्राः सोम्यासः सोमं सुन्वन्तः प्रयांसि समर्पयन्तस्त्वामिच्छन्तीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र श्रीराम ! त्वत् त्वत्तः सकाशात् कश्चन कोऽपि प्रकेतो ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपः, हि यत आ अत्यर्थं भवति, तस्मात् सोम्यासः सोमसम्पादिनः सखायो विप्रास्त्वामिच्छन्ति, सोमं सुन्वन्ति प्रयांसि दधति, अभिशस्तिं तितिक्षन्ते, त्वत्साक्षात्कारप्रेप्सया सोमादियागं कुर्वन्तः मनोवाक्कायैः संयता भवन्ति ।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, ये सोम्यासः सखायः सोमं सुन्वन्ति प्रयांसि दधति जनानामभिशस्तिमातितिक्षन्ते च, नस्त्वं सततं सत्कुरु । हि यतः प्रकेतः कश्चन नास्ति । तस्मात् त्वामिच्छन्ति' इति, तदपि न, इन्द्रपदस्य सभाध्यक्षार्थत्वे मानाभावात् । अभिषवार्थस्य सुनोतेर्निष्पादनार्थत्वायोगात् । 'प्रयांसि कमनीयानि विज्ञानादीनि' इत्यपि च निर्मूलम्, धात्वर्थाननुरोधात् ॥ १८ ॥

न ते दूरे परमा चिद्रजाꣳस्या तु प्र याहि हरिवो हरिभ्याम् ।
स्थिराय वृष्णे सवना कृतेमा युक्ता ग्रावाणः समिधाने अग्नौ ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्ववान् इन्द्र, अग्नि के प्रज्वलित होने पर आपके जैसे अचल सेक्ता के निमित्त हमने यह प्रातःसवन आदि कृत्य सविधि पूरे किये हैं । हम आपके लिये प्रस्तर पर सोम का अभिषव करने में लगे हैं । इस कारण अश्व पर आरूढ हो शीघ्र यहाँ आइये । इन अश्वों के कारण बहुत दूर का स्थान भी आपके लिये दूर नहीं है ॥ १९ ॥

हे हरिवः ! हरी हरितवर्णावश्वौ यस्य तत्सम्बुद्धौ, आ प्रयाहि तु तूर्णम् । ननु स्वर्गात् कथमतिदूरे मयाऽऽगन्तव्यमिति चेत्तत्राह —नहि ते दूरे परमा ते तव परमा परमाणि विप्रकृष्टान्यपि रजांसि स्थानानि दूरे न चित् सन्ति, चिच्छब्दोऽप्यर्थः, अतिदूरमपि ते निकटमेवात आ प्रयाहीत्यर्थः । ननु किमर्थमागन्तव्यमिति चेत्,

स्थिराय दृढसौहृदाय वृष्णे सेक्त्रे फलवर्षित्रे तुभ्यम् इमा इमानि सवना प्रातःसवनादीनि कृता कृतानि, ग्रावाणः पाषाणविशेषाः, युक्ता योजिता अभिषवकर्मणि, समिधाने समिध्यमानेऽग्नौ आहवनीयाख्ये आहुतयो होष्यन्ते । तु-शब्दो हेत्वर्थः । तस्माद् हरिभ्यामश्वाभ्यामागन्तव्यम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे हरिवः, विविधैर्हरिभिर्वानरभटैर्युक्त ! हरिभ्यां हनुमदङ्गदाभ्यां सहेहागन्तव्यम् । नहि विप्रकृष्टान्यपि रजांसि स्थानानि तव दूरे चिद् भवन्ति, दूरस्थमपि स्थानं तव निकटमेवेत्यर्थः । स्थिराय दृढसौहृदाय वृष्णे फलवर्षित्रे इमानि सवना प्रातःसवनादीनि कृता कृतानि । अन्यत् सर्वं पूर्ववत् । दृढसौहार्द-मभिलषिताधिकदातृत्वं रामायणादौ श्रीरामस्य स्पष्टमेव वर्णितम् ।

दयानन्दस्तु—'हे हरिवो राजन् ! यथा समिधानेऽग्नौ इमा सवना कृतास्तु ग्रावाणो युक्ता भूत्वा गच्छन्ति, तथा स्थिराय वृष्णे हरिभ्यामाप्रयाहि । एवं कृते परमाचिद्रजांसि दूरे न भवन्ति' इति, तदपि न, हरिद्वर्णाश्वेषु हरिपदप्रयोगेण हरिव इत्यस्य राजार्थकत्वायोगात् । ग्रावाणो गर्जनाकर्तार इत्यप्युपहासास्पदम्, सवनप्रसङ्गेऽभि-षवसाधनभूतानां ग्राव्णां स्थाने मेघग्रहणासङ्गतेः ॥ १९ ॥

अषा॑ढं यु॒त्सु पृत॑नासु॒ पप्रिं॑ स्व॒र्षाम॒प्सां वृ॒जन॑स्य गो॒पाम् ।
भ॒रे॒षु॒जां सु॑क्षि॒तिं सु॒श्रव॑सं॒ जय॑न्तं॒ त्वामनु॑ मदेम सोम ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, युद्धों में अनभिभूत, अत्यन्त उत्कृष्ट सेनाओं के पालक, द्युलोक से भी जल की वर्षा करने वाले, बलों के रक्षक, संग्रामों में जयशील, श्रेष्ठ निवास वाले, श्रेष्ठ कीर्तिमान् आपका हम अनुमोदन करते हैं ॥ २० ॥

चतस्रः सोमदेवत्यास्त्रिष्टुभः । हे सोम ! जयन्तं परसैन्यानि जयन्तं त्वां दृष्ट्वा उत्साद्यन्त इति दृष्ट्वा त्वा त्वामनु वयं मदेम हृष्टाः स्याम । कीदृशं त्वाम् ? युत्सु युद्धेषु, अषाढमषोढमसहनमनभिभूतम्, सह्यतेऽसौ साढः, न साढोऽषाढस्तं वा । पृतनासु सेनासु पप्रितारं पालयितारम् । 'पॄ पालनपूरणयोः' इत्यस्यैवैतद्रूपम्, न तु 'प्रा पूरणे' इत्यस्येत्युव्वटाचार्याः । स्वर्षाम्, स्वर्दिवं सनोति संभजते वा स स्वर्षास्तम्, अप्साम् अपो जलानि सनोतीति सम्भजते वा स अप्सास्तं वृजनस्य बलस्य गोपां रक्षकम् । भरेषुजां संग्रामेषु जेतारम्, जयतेरेतद्रूपं न जानातेः । सुक्षितिं सुनिवासम् । सुश्रवसं कल्याणकर्मकर्तृत्वेन प्रसिद्धम्, शोभनं श्रवः कीर्तिर्यस्य स सुश्रवास्तम् । अषाढमित्यत्र सहेः क्तः, ढत्वम् (पा० सू० ६।३।१११), धत्वम् (पा० सू० ९।२।४०), ष्टुत्वम् (पा० सू० ८।४।४१), 'ढो ढे लोपः' (पा० सू० ८।३।१३), 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (पा० सू० ६।३।१११), बाहुलकात् 'सहिवहोरोदवर्णस्य' (६।३।११२) इत्यस्याप्रवृत्तिः । षत्वं छान्दसम् । पप्रिमित्यत्र 'प्रीङ् पालनपूरणयोः', 'आदृगमहन' (पा० सू० ३।२।१७१) इति किः, द्वित्वादिः । स्वर्षामित्यत्र स्वःपूर्वात् सनोते र्विट्, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१), एवमप्सामित्यत्र । गोपायतीति गोपाः क्विप्, अतो लोपः, यलोपः । भरेषुजामित्यत्र भरेषु संग्रामेषु जयति शत्रूनिति 'हलदन्तात् सप्तम्या' इत्यलुक्, जयतेरौणादिको डाप्रत्ययः । मदेमेत्यत्र 'मदी हर्षे' लिङ्, व्यत्ययेन शप्—इति महीधराचार्याः ।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम ! उमया सहितो देवः सोमः साम्बसदाशिवः । जयन्तं त्रिपुरादिकं जयन्तं त्वां दृष्ट्वा वयं मदेम हृष्टाः स्म । कीदृशं त्वाम् ? युत्सु अषाढमनभिभूतम् । साम्बशिवस्य परमेश्वरत्वादष्टमूर्तित्वात् स्वर्षात्वमप्सात्वं चोपपद्यते—'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहस्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च' (महिम्नस्तवे, २६) इत्युक्तेः । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे सोम राजन् सेनापते वा, वयं यं युत्स्वषाढं पृतनासु पप्रिं स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपां भरेषुजां सुक्षितिं सुश्रवसं जयन्तं त्वामनुमदेम' इति, तदपि न, शाब्दन्यायातिक्रमणात्। बीजमन्तरा गौणार्थाश्रयणेन शाब्दक्षेत्रेऽराजकतैवोत्पाद्यते। पदार्थनिरूपणेऽषाढं सोढुमर्हमित्युक्तम्, भाषाव्याख्यानेऽसह्यमित्युक्तम्। सुक्षितिः शोभना क्षितिर्यस्येति समासे राज्यं कुतो गृहीतमित्यनुक्तेः ॥ २० ॥

सोमो॑ धे॒नुᳶ सोमो॒ अर्व॑न्तमा॒शुᳶ सोमो॑ वी॒रं क॑र्म॒ण्यं॑ ददाति ।
सा॒द॒न्यं॑ विद॒थ्य॑ᳶ स॒भेयं॑ पितृ॒श्रव॑णं॒ यो ददा॑शदस्मै ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ— जो यजमान सोम के लिये हवि देता है, उसको सोम रूप ईश्वर धन देते हैं। सोम शीघ्रगामी घोड़ों के जैसा है। सोम कर्म में कुशल, गृह कार्य में कुशल, यज्ञ में कुशल, सभा के योग्य और पिता के आज्ञाकारी वीर पुत्र को देता है ॥ २१ ॥

सोमो देवस्तस्मै शीघ्रं धेनुं ददाति, सोम एवाशु शीघ्रमर्वन्तमश्वम्, सोमश्च तस्मै वीरं पुत्रं ददाति। कीदृशं वीरम्? कर्मण्यं कर्मणि साधुं लौकिकश्रौतस्मार्तकर्मदक्षम्, सादन्यं सदने गृहे च साधुम्, विदथ्यं विदथे यज्ञे साधुम्, सभेयं सभामर्हतीति सभेयस्तम्, पितृश्रवणं पितरं शृणोति यः स तम्, पितुरनुशासने स्थितम्, विनीतमित्यर्थः। कस्मै सर्वमेतद्ददाति? यो यजमानः, अस्मै सोमाय हविर्ददाशद् ददाति। कर्मण्यण्, 'तत्र साधुः' (पा० सू० ४।४।९८) इति यत्। सभेयम्, 'ढश्छन्दसि' (पा० सू० ४।४।१०६) इति सभायाः साध्वर्थे ढप्रत्ययः, तस्येयादेशः (पा० सू० ७।१।२)। ददाशत्, दाशृ दाने, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति शपः श्लुर्द्वित्वम्। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति यलोपः 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागम इति महीधराचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—उमया सहितः सोमः साम्बसदाशिवः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'यो मनुष्योऽस्मै सोमायोचितं ददाशत्तस्मै सोमो धेनुं ददाति। सोमोऽर्वन्तमाशु ददाति। सोमः कर्मण्यं सादन्यं विदथ्यं पितृश्रवणं सभेयं वीरं च ददाति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजादियाच्ञादिवर्णनस्य निष्फलत्वेन वेदार्थत्वाभावात्। न च राजा सर्वेभ्यो याजकेभ्यो धेनुमर्वन्तं च दातुं शक्नोति, पितृश्रवणवीरादिदाने तु राज्ञोऽल्पशक्तेर्जीवस्य सामर्थ्यमेव न भवति ॥ २१ ॥

त्वमि॒मा ओष॑धीः सोम॒ विश्वा॒स्त्वम॒पो अ॑जनय॒स्त्वं गाः ।
त्वमा त॑तन्थो॒र्व॑न्तरि॑क्षं॒ त्वं ज्योति॑षा॒ वि तमो॑ ववर्थ ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुमने इन सब औषधियों को उत्पन्न किया, तुमने जल को उत्पन्न किया, तुमने गायों को उत्पन्न किया, तुमने विस्तीर्ण अन्तरिक्ष का चारों तरफ विस्तार किया। तुम ही अपने तेज से अन्धकार को दूर करते हो ॥ २२ ॥

हे सोम, त्वमिमा विश्वाः सर्वा ओषधीरपो जलानि, गा धेनूः, अजनय उत्पादितवानसि। त्वमुरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमाततन्थ आततवानसि। त्वं च ज्योतिस्तेजसा तमोऽन्धकारं विववर्थ विवृणोषि, आदित्यरूपेण तमोऽपनयसि। सर्वात्मत्वेन स्तुतिः।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बशिव ! परमेश्वरस्यैव सर्वजनकत्वात् तत्रैव निरुपचरितानि सर्वाणि विशेषणानि । व्याख्यानं तु पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'हे सोम राजन्, यस्त्वमिमा ओषधीस्त्वं सूर्य इवापस्त्वं गाश्चाजनयः, त्वं सूर्य इवोर्वन्तरिक्षमाततन्थ, सविता ज्योतिषा तम इव न्यायेनान्यायं विववर्थ, स त्वमस्माभिर्माननीयोऽसि' इति, तदपि न, मनुष्ये राजनि सोमवद्रोगनाशकत्वाभावात् । न च स सर्वा ओषधीर्व्याप्नोति । न च पृथिवीमपश्च जनयति । न च सूर्यवत्तमोऽपसारयति ॥ २२ ॥

देवेन नो मनसा देव सोम रायो भागᳪं सहसावन्नभि युध्य ।
मा त्वा तनदीशिषे वीर्यस्योभयेभ्यः प्रचिकित्सा गविष्टौ ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हे बलवान्, दीप्तिमान् सोम देवता ! उदार मन के साथ हमें धन का भागी बनाओ । तुम्हारे सामने कोई भी प्रतिबन्ध खड़ा न करें । तुम बल के स्वामी हो । स्वर्ग की कामना वाले व्यक्तियों के लिये दोनों लोकों की चिकित्सा करो, अर्थात् दोनों लोकों की प्रतिबन्धक पाप रूप व्याधियों को दूर करो ॥ २३ ॥

हे सोम हे सहसावन् हे सहस्वन् बलवन् ! सहःशब्दो बलवचनः सान्तः, तत्र अकारागमश्छान्दसः । यद्वा सहसावन् प्रथमार्थे तृतीया, सहसा सहो बलमस्यास्तीति सहसावन्, अलुक् । देवेन दैवेन देवसम्बन्धिना मनसा सह रायो धनस्य भागं नोऽस्मभ्यमभियुध्य अभिगमय, देहीत्यर्थः । दैवेनेति प्राप्ते तद्धितलोपश्छान्दसः । युध्यतिर्गत्यर्थोऽन्तर्भावितण्यर्थश्च गृह्यते । एवं दानप्रवृत्तं त्वां कश्चन मा आतनत् आतनोतु, मा प्रतिबध्नीयात् । तनोतिः प्रतिबन्धार्थः । कुत इति चेत्तत्राह—यतस्त्वं वीर्यस्य ईशिषे स्वकीयस्य वीरकर्मण ईश्वरो भवसि । 'अधीगर्थदयेशाम्' (पा० सू० २।३।५२) इति कर्मणि षष्ठी । उभयेभ्यः प्रचिकित्सा उभयलोकप्राप्त्यर्थम्, गविष्टौ, गोशब्देनात्र द्युलोकोऽभिप्रेतः, स्वर्गैषणायां विषयभूतायां सत्यां चिकित्सां कुरु व्याध्यपगमं कुरु । उभयलोकप्रतिबन्धकं विघ्नं निवर्तय । दैवं मनः प्राप्य लब्धधना अरोगाश्च यथा स्वर्गं यास्यामस्तथा कुरु । 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः ।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बशिव ! देवेन दैवेन देवसम्बन्धिना मनसा सह रायो धनस्य भागं नोस्मभ्यम् अभियुध्य प्रदेहि । देवसम्बन्धि दिव्यम् इष्टदेवोपासनापरायणं मनः, तदुपासनोपयोगि धनस्य भागं च देहि । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे सहसावन् सोम राजन्, यस्त्वं देवेन मनसा रायो भागं नोऽभियुध्य, यतस्त्वं वीर्यस्येशिषे, कश्चिन्मा आतनत्, स त्वं गविष्टावुभयेभ्यः प्रचिकित्सा' इति, तदपि न, जीवेऽखिलैश्वर्यप्रापकत्वासम्भवात् । न च राजा सर्वेभ्यस्तत्सम्पादयितुं शक्नोति ॥ २३ ॥

अष्टौ व्यख्यत् ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून् ।
हिरण्याक्षः सविता देव आगाद् दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—ज्योतिःस्वरूप नेत्र वाला, सबका प्रेरक सविता देवता हवियों के दाता यजमान के लिये वरणीय रत्नों को देता हुआ प्रकट होवे । इस सविता देव ने भूमि की आठ दिशाओं के और तीनों लोकों के योजन आदि परिमाणों को और समुद्रों को भी प्रकाशित किया है ॥ २४ ॥

चतस्रः साविञ्यः, द्वितीया जगती, त्रिष्टुभोऽन्याः । हिरण्यस्तूपस्यार्षम् । यः सविता पृथिव्याः सम्बन्धिनीः, अष्टौ अष्टसंख्याकाः ककुभो दिशः, चतस्रो दिशश्चतस्रश्चावान्तरदिशः, सर्वाः दिशः, व्यख्यत् प्रकाशितवान्, यश्च त्रीणि धन्व धन्वानि लोकान् पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकान्, व्यख्यत् प्रकाशितवान्, धन्वेत्यन्तरिक्षनाम, तेनैव तदुपलक्षितौ इतरावपि लोकौ लक्ष्येते, छत्रिणो यान्तीतिवत् । यश्च योजना योजनानि योजनगव्यूति-क्रोशादीन् अध्वपरिमाणविशेषान् व्यख्यत्, यश्च सप्त सिन्धून् क्षीरोदाद्यान् व्यख्यत्, उपलक्षणमेतत् सर्वलोकस्य । सर्वजगत्प्रकाशकः सोऽयं सविता हिरण्याक्षः, हिरण्यमिव कान्तियुक्ते अक्षिणी यस्य स हिरण्याक्षः, हिरण्य-सदृशाक्षः, अमृतदृष्टिर्वा सविता देवः, वार्याणि वरणीयानि रत्ना रत्नानि रत्नमयानि धनानि दाशुषे हवींषि दत्तवते यजमानाय दधद् धारयन् आगाद् आगच्छति । अख्यत्, 'ख्या प्रकथने', 'अस्यतिवक्ति' (पा० सू० ३।१।५२) इति च्लेरङ् आलोपश्च । धातूनामनेकार्थत्वादत्र प्रकाशनार्थो ग्राह्यः । त्री योजना, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९)। इत्यादिना पूर्वसवर्णदीर्घो विभक्तेः । धन्व, सुपो लुक् । रत्ना, सुप आकारः । दाशुषे 'दाश्वान्साह्वान्' (पा० सू० ६।१।१२) इति निपातः । वार्याणि, 'ऋहलोर्ण्यत्' (पा० सू० ३।१।१२४) इति वृणोतेर्ण्यत् ।

अध्यात्मपक्षे—स वेदान्तेषु प्रसिद्धः सविता सर्वोत्पादकः । 'षूङ् प्राणिप्रसवे' उत्पत्तिरुपलक्षणं स्थितिप्रलययोः, जगदुत्पत्तिस्थितिलयशीलः सर्वेश्वरः, आगाद् आगच्छतु । किं कुर्वन् ? दाशुषे हवींषि दत्तवते यजमानाय वार्याणि वरणीयानि रत्ना रत्नानि दधद् ददत् स्थापयन् वा । कीदृशः सविता ? हिरण्याक्षः अमृत-दृष्टिः । स कः ? यः पृथिव्याः सम्बन्धिनीरष्टौ ककुभो व्यख्यत् प्रकाशितवान् । हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशादिरूपेण वर्णितः परमेश्वर एवादित्यरूपेण सर्वा दिशो विदिशश्च प्रकाशयति । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः ! यथा हिरण्याक्षो देवः सविता दाशुषे वार्याणि रत्ना दधत् त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून् पृथिव्या अष्टौ ककुभो व्यख्यद् आगाच्च, तथैव यूयं भवत' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूल-त्वात् । सूर्यस्येव मनुष्याणां सर्वासां दिशां पृथिव्याः सिन्धूनां च प्रकाशकत्वासम्भवात् । रत्नधारकत्वमपि चिन्त्यमेव ॥ २४ ॥

हिर॑ण्यपाणिः सवि॒ता विच॑र्षणिरु॒भे द्यावा॑पृथि॒वी अ॒न्तरी॑यते ।
अपामी॑वां॒ बाध॑ते॒ वेति॒ सूर्य॑म॒भि कृ॒ष्णेन॒ रज॑सा॒ द्याम्‌णोति ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—ज्योतिःस्वरूप हाथ वाला, कृत और अकृत का साक्षी यह सविता देवता दोनों द्यावाभूमियों के बीच में सूर्य के रूप में विचरण करता है, रोगों को दूर करता है और जब छिप जाता है, तब अन्धकार रूप रज से आकाश को ढक देता है ॥ २५ ॥

हिरण्यपाणिः सुवर्णपाणिः, विचर्षणिर्विविधं द्रष्टा कृताकृतप्रत्यवेक्षकः, सूर्यं सूर्यः, विभक्तिव्यत्ययः, उभे उभयोः, द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्योः, षष्ठयर्थे द्वितीया, अन्तर्मध्ये, ईयते आगच्छति, ईङ् गतौ, यदा तदा अमीवां व्याधिमपबाधते, अन्धकारमयं रोगमपसारयति । अथ यथा वेति अस्तमयसमये गच्छति, तदा कृष्णेन रजसा अन्धकारलक्षणेन द्यां द्युलोकमभि ऋणोति अभिव्याप्नोति । वेतिर्विगतिकर्मा । यद्वा वेति सूर्यं सूर्यरूप-मवस्थाय गच्छति ।

आध्यात्मिकोऽर्थः—सविता विश्वस्य प्रसविता, सूर्यं सूर्यः, विचर्षणिर्विश्वस्य कृताकृतावेक्षकः, उभयो-र्द्यावापृथिव्योर्मध्ये, ईयते आगच्छति, परमेश्वर एव सूर्यरूपेण सर्वस्य प्रकाशकः कृताकृतावेक्षको भवति, तस्यैव गृहीतलीलाविग्रहस्य हिरण्यपाणित्वादिकमपि सङ्गच्छते । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यो हिरण्यपाणिर्विचर्षणिः सविता सूर्यो यदोभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते तदाऽमीवामपबाधते' इति, तन्न, हिरण्यपाणिपदस्य गौणार्थग्रहणे हेत्वभावात्, सिद्धान्ते तु सूर्याधिष्ठातुर्विग्रहवतो देवस्य हिरण्यपाणित्वाभ्युपगमात् । यो हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः, स हिरण्यपाणिरपि स्यादेव ॥ २५ ॥

हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृडीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ् ।
अपसेधन् रक्षसो यातुधानानस्थाद् देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ— ज्योतिःस्वरूप हाथ वाला, प्राणदाता, कल्याणरूप स्तुति वाला, सुखदाता, धनवान्, छः ऐश्वर्यों से सम्पन्न अन्तर्यामी सविता देव भले आदमियों की बुद्धि को सुशिक्षित करता हुआ और राक्षस रूप दुःखदाताओं को दण्ड देता हुआ लौट कर हमारे सामने आवे ।। २६ ।।

यो रक्षसो राक्षसान् यातुधानांश्च असुखकरान् अपसेधन् अपगमयन् अस्थाद् उदस्थात्, स देवः, अर्वाग् अर्वागञ्चनः, अस्मदभिमुखो यातु आयातु । कथंभूतो देवः ? हिरण्यहस्तः, हिरण्यं स्वर्णं दानार्थं हस्ते यस्य सः, हिरण्मयौ हस्तौ वा यस्य स तथोक्तः । असुरः, असून् प्राणान् राति ददाति यः सः । सुनीथः, शोभना नीथा स्तुतिर्यस्य । सुमृडीकः सुखयिता स्वबान्धवानाम्, देवः प्रतिदोषं गृणानः श्रुतिस्मृतिविहितधर्मपराङ्मुखानां यावन्तो दोषास्तावन्तो गृणानः स्तुवन् उच्चारयन् गणयन् उपभोगार्थम् । यद्वा प्रतिजनं यो दोषः प्रतिदोषस्तं गृणानः । स्ववान् आत्मीयज्ञातिधनयुक्तः । स तादृशः सविता आयात्विति सम्बन्धः । स्ववानित्यत्र 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० सू० ८।३।९) इति नस्य रुत्वे, 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' (पा० सू० ८।३।१७) इति रोर्यदेशे, 'हलि सर्वेषाम्' (पा० सू० ८।३।२२) इति तस्य लोपः । रक्षसो व्यत्ययेनाक्लीबत्वम् ।

अध्यात्मपक्षे—धृतलीलाविग्रहो देवः सविता हिरण्यहस्तो राक्षसान् यातुधानान् अपसेधन् अपगमयन् । शेषं पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यो हिरण्यहस्तः सुनीथो सूरः सुमृडीकः स्ववान् देवो रक्षसो यातुधानान् अपसेधन् प्रतिदोषं गृणानोऽस्थात्, सोऽर्वाङस्येत् सुखाय यातु, तद्वद्यूयं भवत' इत्यन्वयः । भावार्थस्तु—'हिरण्यहस्तो हिरण्यं दत्त्वा याज्यमानेभ्यो दुष्टाचारान् तिरस्कृत्य धार्मिकेभ्यः सुखं प्रदाय हे मनुष्याः सूर्यवत् प्रशंसिताः भवत' इति, तदपि न, मन्त्रबाह्यत्वात् । न च हस्ततुल्यः सवितुर्हस्तो भवति । न च मनुष्याणां दोषान् सविता प्रकटयति । प्रतीत्यस्य किं स्वारस्यमित्यनुक्तेश्च ॥ २६ ॥

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे ।
तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ हे सबके प्रेरक सविता देव ! ज्योतिःस्वरूप अन्तरिक्ष में जो पूर्वकाल जनित धूल-धक्कड़ से रहित मार्ग कर्म-फल के उपभोक्ता के लिये है, वह आपका ही रचा हुआ है । उस सुगम मार्ग में आप हमारी रक्षा करें, आप सदा हमें अनुशासन का उपदेश देते रहें ।। २७ ।।

हे देव, ये ते तव पन्थाः पन्थानः, वचनव्यत्ययः, हे सवितः, पूर्व्यासः पूर्वेष्वपि कालेषु भवाः, अरेणवः अपांसुला निर्दुष्टाः, अन्तरिक्षे सुकृताः साधुकृता धात्रा तेभिस्तैः पथिभिर्मार्गैर्नोऽस्मान् अद्य, नयेति शेषः । कीदृशैः

पथिभिः ? सुगेभिः साधुगमनैः, अन्नपानादिप्रभूतैः सुगेभिः पथिभिर्गच्छतो नोऽस्मान् रक्षा रक्ष। अधि च ब्रूहि। अधि अङ्गीकृत्य एते मदीया इति ब्रूहि। यद्वा यदस्माकं हितं पथ्यं तद् अधि ब्रूहि उपदिश। यद्वा एते महायाज्ञिका दातार इति अधि अधिकान् वद।

अध्यात्मपक्षे—यः सविता देवः परमेश्वरो राक्षसान् यातुधानान् असुखकरांश्च अपगमयन् अस्थात्, स देवोऽर्वाङ् अस्मदभिमुखः, यातु आयातु। सर्वाणि विशेषणानि भगवत्येव सङ्गच्छन्ते। व्याख्यानं पूर्ववत्। ये ते पन्थाः पन्थानः, हे सवितः पूर्व्यासः पूर्वकाले भवाः पूर्व्याः, अरेणवो निर्दुष्टाः, अन्तरिक्षे धात्रा सुकृताः, तेभिः पथिभिः, नोऽस्मानद्य नयेत्यादि पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे सवितर्देव आप्त विद्वन्! यस्य ते सूर्यस्यान्तरिक्षे इव ये पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृताः पन्थाः सन्ति, तेभिः सुगेभिः पथिभिरद्य नो नय, तत्र गच्छतो नो रक्ष च, नोऽस्मांश्चाधिब्रूहि सर्वान् प्रतिबोधय' इति, तदपि न, विदुषो राज्ञो वा सूर्यतुल्यत्वाभावेन सवितरिति सम्बोधनानर्हत्वात्। न च भूमिगताः पन्थानो धूलिरहिता भवन्ति, न चान्तरिक्षस्थेषु मार्गेषु विदुषो नयने स्वातन्त्र्यम्॥ २७॥

उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम्। अविद्रियाभिरूतिभिः॥ २८॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों! आप दोनों यहाँ आकर सोम का पान करो, आप दोनों चारों तरफ से हमारा पालन करते हुए हमें कल्याण का मार्ग दिखाओ॥ २८॥

आश्विन्यस्तिस्रः, एका गायत्री द्वे अनुष्टुभौ। हे अश्विना अश्विनौ, उभा उभावपि द्वावपि युवां पिबतम्, सोममिति शेषः। उभौ द्वावपि नोऽस्मभ्यं शर्म सुखं शरणं वा यच्छतं दत्तम्। अविद्रियाभिः, 'दॄ विदारणे', अनवखण्डिताभिः, ऊतिभिः पालनैः, रक्षतमिति शेषः। उभा अश्विना इत्यत्र विभक्तेराकारः। विदीर्यन्तीति विद्रिया इत्यत्र औणादिक इयक्प्रत्ययः।

अध्यात्मपक्षे—अश्विना अश्विनाविव सुन्दरौ रामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ वा, युवां सोमं पिबतम्। युवां नोऽस्मभ्यं शर्म शरणं प्रयच्छतम्। अविदीर्णाभिरूतिभिः पालनैः सुखं दत्तम्।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ, युवां यथोत्तमं रसं पिबतम्, तच्छर्म आयुर्वाऽद्रियाभिरूतिभी रक्षितं गृहं नो यच्छतम्' इति, तदपि न, अध्यापकोपदेशकयोः प्रार्थयितृभ्योऽभीष्टगृहदाने सामर्थ्याभावात्। न च तावश्विपदार्थौ, तत्राशक्तत्वात्। बीजाभावाच्च नापि लक्षणया तथात्वम्॥ २८॥

अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम्।
अद्यूत्येऽवसे नि ह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ॥ २९॥

मन्त्रार्थ—हे दर्शनीय सेक्ता अश्विनीकुमारों! आप लोग हमारी वाणी को और हमारे मन की इच्छा को सदा क्रियाशील रखें। मैं सन्मार्ग से प्राप्त होने वाले अन्न के निमित्त आप दोनों का आह्वान करता हूँ। इस यज्ञ में हमारी समृद्धि के लिये आप लोग सदा तत्पर रहें॥ २९॥

हे अश्विनौ व्यापनशीलौ, हे दस्रौ दर्शनीयौ, हे वृषणौ वर्षितारौ सेक्तारौ युवानौ, अप्नस्वतीम्, अप्न इति कर्मनाम (निघ० २।१।२) कर्मवतीं वाचं युवां कृतं कुरुतम्। तथा नोऽस्माकं मनीषां मनसः सम्बन्धिनी-

मिच्छामप्नस्वतीमेव कुरुतम्। यथा मनसा वाचा च यज्ञं कुर्मस्तथा कुरुतमित्यर्थः। अद्यूत्ये अवसे। द्यूतादागतमन्नं कर्मण्यं न भवतीत्यत एवमुच्यते—अद्यूत्ये सन्मार्गागते न्याय्ये, अवसे अन्ननिमित्तभूते तद्दानार्थं निह्वये आह्वयामि। युवामागत्य नोऽस्माकं च वृधे वर्धनाय भवतम्। वाजसातौ वाजसंभजननिमित्तभूते संग्रामे, वाजानां सातिः संभजनं यस्मिन् तस्मिन् यज्ञे वां वृधे वर्धनाय भवतम्। अस्मे, विभक्तेः शे आदेशः। कृतम्, करोतेः 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपि लुप्ते लोण्मध्यमद्विवचने रूपम्। वृषणा वृषणौ, 'वा षपूर्वस्य निगमे' (पा० सू० ६।४।९) इत्युपधादीर्घाभावः। वृधे, सम्पदादित्वात् क्विप्।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्विनौ, हे दस्रौ दर्शनीयौ पूर्वोक्तौ श्रीरामलक्ष्मणौ, वृषणौ अभीष्टानां वर्षितारौ! अस्मे अस्माकं वाचं मनीषां मनसः सम्बन्धिनीमिच्छामप्नस्वतीं कर्मवतीं कृतं कुरुतम्। अद्यूत्ये, द्यूताद्यसत्कार्येणागतं द्यूत्यम्, तद्भिन्नसन्मार्गागतं न्याय्यमन्नमद्यूत्यम्, तस्मिन् तादृशान्ने निमित्तभूते तद्दानार्थं युवां निह्वये आह्वयामि। वाजसातौ यज्ञे संग्रामे नो वृधे वर्धनाय भवतम्।

दयानन्दस्तु—'हे दस्रौ वृषणौ अश्विनौ, युवामस्मे अस्माकं वाचं मनीषां प्रशस्तान्यप्नांसि कर्माणि विद्यन्ते यस्यास्तां वाचं कृतं कुरुतम्। नोऽद्यूत्येऽवसे स्थापयतम्। वाजसातौ नो वृधे च भवतम्। यौ वामहं निह्वये तौ मामुन्नयतम्' इति, तदपि न, अध्यापकोपदेशकयोस्तादृशकार्यसाधने सामर्थ्याभावात्। न च तयोः स्तुतिरपेक्षिता, स्तुत्यपेक्षया धनदानस्य महत्त्वपूर्णत्वात् ॥ २९ ॥

द्युभि॑र॒क्तुभिः॒ परि॑ पातम॒स्मानरि॑ष्टेभिरश्विना॒ सौभ॑गेभिः।
तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑तिः॒ सिन्धुः॑ पृथि॒वी उ॒त द्यौः ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ - हे अश्विनीकुमारों! आप लोग दिन में और रात्रि में अखण्डित सुन्दर धन द्वारा हमारी सब ओर से रक्षा करें। मित्र, वरुण, देवमाता अदिति, समुद्र, पृथ्वी तथा स्वर्ग—ये सब हमारे रक्षक उन अश्विनीकुमारों की प्रशंसा करें॥ ३० ॥

हे अश्विनौ! द्युभिर्दिनैः, अक्तुभी रात्रिभिः कारणभूताभिः, सप्तम्यर्थे तृतीया वा, दिनेषु रात्रिषु च अहोरात्रमस्मान् सर्वतः परिपातं परिपालयतम्। युवामस्मान् न केवलं द्युभिरक्तुभिः परिपातम्, किं तर्हि? अरिष्टेभिरनुपहिंसितैः, सौभगेभिरखण्डितैः शोभनैर्धनैश्च, योजयतमिति शेषः। किञ्च, मित्रो वरुणोऽदितिः सिन्धुः समुद्रः पृथिवी उतापि च द्यौः, एते नोऽस्माकं तद् भवत्कृतं परिपालनं मामहन्तां पूजयन्ताम्, 'मह पूजायाम्' 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति शपः श्लुः, 'श्लौ' (पा० सू० ६।१।१०) इति द्वित्वम्। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्यभ्यासदीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्विनौ तद्वत् सुन्दरावभिन्नहृदयौ रामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ वा! द्युभिरक्तुभिः कारणैरहोरात्रं वा अस्मान् परिपातम्। अरिष्टेभिः सौभगेभिरखण्डितैः शोभनैर्धनैः परिपातं परिपालयतम्। मित्रादयो देवा नोऽस्माकं तत्परिपालनं मामहन्तां पूजयन्ताम्।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ, यथादितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः, तन्नो मामहन्ताम्। तथा मित्रो वरुणश्च युवां द्युभिरक्तुभिररिष्टेभिरस्मान् परिपातम्' इति, तदपि न, सभासेनेशयोर्मनुष्ययोः प्रार्थनेऽपि पृथिव्याकाशादिकर्तृकसत्कारप्राप्त्यसम्भवात्। जडानां तेषां सत्कर्तृत्वमपि कुतस्त्यम्, चेतनधर्मत्वात् ॥ ३० ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य देवता अपने ज्योतिर्मय मण्डल रूप रथ के द्वारा सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते रहते हैं। अन्धकार और प्रकाश के देवताओं को और मनुष्य आदि प्राणियों को अपने अपने व्यापारों में प्रवृत्त करते हैं। सारे भुवनों को देखते हुए, अर्थात् प्राणियों के भले-बुरे कर्मों पर विचार करते हुए विचरण करते हैं ॥ ३१ ॥

सविता देवो हिरण्ययेन हिरण्मयेन रथेन आयाति। रजसा रात्रिलक्षणेन सह आवर्तमानः पुनः पुनर्भ्रमणं कुर्वन्, अमृतं देवादिकं मर्त्यं मनुष्यादिकं च निवेशयन् स्वस्वप्रदेशेषु स्थापयन्। भुवनानि पश्यन् कानि साधु कर्म कुर्वन्ति, कान्यसाध्विति विचारयन्। (३३।४३) इत्यत्र व्याख्याता ॥ ३१ ॥

आ रात्रि पार्थिवꣳ रजः पितुरप्रायि धामभिः।
दिवः सदाꣳसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हे रात्रि देवता! तुमसे अन्तरिक्ष सम्बन्धी लोक और पितृ सम्बन्धी स्थान सब ओर से पूरित हैं। महान् महिमाशालिनी तुम स्वर्ग लोक के स्थानों को भी व्याप्त करती हो, तुम्हारा दीप्त अन्धकार चारों तरफ वर्तमान है ॥ ३२ ॥

रात्रिदेवत्या पथ्याबृहती। हे रात्रि! या त्वं पार्थिवं रजः पृथिवीसम्बन्धि लोकं पितुर्मध्यमस्य लोकस्य धामभिः स्थानैः सह आ अप्रायि आ अपूपुर आपूरयसि, या च त्वं दिवो द्युलोकस्य सदांसि स्थानानि बृहती महती सती वितिष्ठसे आक्रमसे व्याप्नोसि, तस्यास्तव तम आवर्तते तथापि प्रवर्तते। कीदृशं तमः? त्वेषं प्रदीप्तं महाप्राग्भारमित्यर्थः, सर्वान् लोकान् व्याप्यापि दीप्तं महाप्राग्भारं वा, तमः पुनः पुनरावर्तत इत्यर्थः। रजः-शब्दो लोकवचनः (निरु० ४।१९)। अप्रायि, 'प्रा पूरणे' लुङि चिणि रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे रात्रि रात्र्यधिष्ठातृमहामाये, यया त्वया पार्थिवं रजः पृथिवीसम्बन्धिलोकः पितुर्मध्य-लोकस्यान्तरिक्षस्य धामभिः स्थानैः स आ अप्रायि समन्तात् पूर्यते, या च त्वं दिवो द्युलोकस्य सदांसि स्थानानि वितिष्ठसे आक्रामसि, तस्यास्तव तमस्त्वेषं वर्तते दीप्तं वर्तते। महाप्राग्भारं वा तम आवर्तते, महाभयं तमः सर्वं व्याप्य महामोहप्राग्भारं पुरतो भरणीयं प्रवर्तते ॥ ३२ ॥

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति। येन तोकं च तनयं च धामहे ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अन्न की स्वामिनी देवी! आप हमारे लिये अद्भुत धन दीजिये, जिससे कि हम अपने पुत्र-पौत्र तथा अन्य सम्बन्धी जनों का भरण-पोषण कर सकें ॥ ३३ ॥

उषोदेवत्या परोष्णिक्। हे उषः, तत्प्रसिद्धं चित्रं चायनीयमाश्चर्यकारि महनीयं धनमस्मभ्यमाभर आहर देहि। हे वाजिनीवति अन्नवति! येन धनेन लोकं पुत्रं तनयं पुत्रस्य पुत्रं पौत्रं च सर्वं सन्तानवर्गं धामहे दध्महे पुष्णीमः। धामहे, दधातेः शपो लुकि रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे उषः, अभ्युदयोन्मुखवेले ! हे वाजिनीवति ! वाजमन्नं नयतीति वाजिनी लक्ष्मीस्तद्वति, तच्चित्रमाश्चर्यकारि शमदमादिरूपं महनीयं धर्मार्थानुबन्धि भौतिकं वा धनम् आभर आहर, येन ज्ञानरूपं पुत्रम् अपरोक्षानुभवात्मकं विज्ञानरूपं पौत्रं धार्मिकपुत्रपौत्रादिकं वा धामहे पुष्णीमः ।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिनीवति उषः, उषोवद्वर्तमाने स्त्रि ! यथा वाजिनीवती उषा यादृशं चित्रं स्वरूपं भरति, तत् तादृशमस्मभ्यं त्वमाभर, येन वयं लोकं च तनयं धामहे धरेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रीप्रार्थनामात्रे लोकतनयोत्पत्त्यसम्भवात्, उषःपदस्य तद्वद् वर्तमाने स्त्रीत्यर्थग्रहणस्य निर्मूलत्वाच्च । तस्मादुषोदेवत्यस्य मन्त्रस्य उषा एवार्थः, न तु स्त्री । तथात्वे स्त्रीदैवतत्वप्रसङ्गात् ॥ ३३ ॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रꣳ हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रꣳ हुवेम ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हम प्रातःकाल में ही अग्नि का आह्वान करते हैं । इन्द्र का, मित्रावरुण का, अश्विनीकुमारों का, भग, पूषा और ब्रह्मणस्पति का, सोम एवं रुद्र का भी इसी समय आह्वान करते हैं ॥ ३४ ॥

जगती बहुदेवत्या । प्रातरिति पदं वीप्सापरम् । प्रातः प्रातः पुनः पुनः, एतान् देवान् आह्वयामः । कान् देवानिति तानाह – प्रातः पुनः पुनरिन्द्रम्, प्रातः पुनः पुनर्मित्रावरुणौ अश्विनौ च हवामहे । प्रातः भगं पूषणं च ब्रह्मणस्पतिं च । प्रातः सोमम् उत अपि रुद्रं हुवेम आह्वयामः । ह्वयतेः सम्प्रसारणे रूपम् ।

अध्यात्मपक्षे – प्रातः पुनः पुनरग्निं पापदाहकुशलम्, प्रातरिन्द्रमैश्वर्यदानकुशलम्, प्रातर्मित्रावरुणौ स्नेहवन्तौ वरणीयौ च रामलक्ष्मणौ, बलकृष्णौ च, भगं भजनीयं पूषणं पोषकं च ब्रह्मणस्पतिं वेदादिशास्त्रस्य रक्षकम्, सोमं साम्बसदाशिवम्, रुद्रं विघ्नानां रोदयितारं तत्तच्छक्त्यवच्छिन्नं परमात्मानं हवामहे, तत्तद्रूपेण परमात्मन एव हूयमानत्वात् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं प्रातर्मित्रावरुणौ प्रातरश्विनौ हवामहे, प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं सोममुत रुद्रं हुवेम, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, अग्न्यादिपदानां मुख्यार्थत्यागे बीजाभावात् । 'मित्रावरुणौ प्राणोदानौ अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ भगं भजनीयं पूषणं पुष्टिकरं भोगम्' इत्यादिव्याख्यानस्य गौणार्थमूलकत्वेनाग्राह्यत्वात् । तथैवान्यदप्युपेक्ष्यम् ॥ ३४ ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रꣳ हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हम इस प्रातःकाल में जयशील उत्कृष्ट अदितिपुत्र सूर्य का आह्वान करते हैं, जो कि सारे जगत् को धारण करने वाले हैं, जिसको दरिद्र भी, राजा भी और रोगी भी चाहते हैं, जिस सूर्य के लिये सभी प्राणी कहते हैं कि अब भगवान् सूर्य देव का उदय होना चाहिये ॥ ३५ ॥

भगदेवत्याः पञ्च त्रिष्टुभः । यो भगः सर्वभजनीय आदित्यः, यश्च विधर्ता सर्वस्य जगतो विधारयिता, यश्च आध्रश्चित्, चिच्छब्दोऽप्यर्थः, 'ध्रै तृप्तौ', न ध्रायति न तृप्यति यः स अध्रः, नञो दैर्घ्यं छान्दसम् । यद्वा ध्रियते रूपम् । आसमन्ताद् ध्रियते यः स आध्रो दरिद्रः, अध्र एव आध्रः, स्वार्थे तद्धितम् । आध्रोऽतृप्तो बुभुक्षितो

दरिद्रो वापि जनो यं भगं सूर्यं मन्यमानः, मन्यत इत्यर्चतिकर्मा (निघ० ३।१४।३८), पूजयन् स्वार्थसिद्धये। भक्षि उदयं भजस्वेत्याह। तुरश्चित्, अत्राङोऽध्याहारः, आतुरोऽपि यं भगं मन्यमानः पूजयन् भक्षीत्याह। यद्वा तुरशब्देन यमोऽभिधीयते। स हि तूर्णं प्राणिनो हन्ति। यमोऽपि यं भगं मन्यमानो भक्षीत्याह। अतृप्तो बुभुक्षितो दरिद्रः सूर्योदये भिक्षादिना किञ्चिदर्जयति भोजनायेति सूर्योदयं वाञ्छति। आतुरोऽपि सूर्योदयं वाञ्छति, दिवसे सुखोदयात्, रात्रेः कष्टेनातियापनात्। यमोऽपि प्राणिनां प्राणहरणाय दिनानि गणयति। राजा चिद् राजापि यं भगं सूर्यं मन्यमानः पूजयन् उदयं भजस्वेत्याह, तदुदये हि व्यवहारदर्शनादिना तेषां सर्वेष्टसिद्धेः। तं भगमादित्यं हुवेम वयमाह्वयामः। कीदृशं तम्? प्रातर्जयन्तम्, प्रातर्जयतीति प्रातर्जित् तं प्रातर्जयनशीलम्, उग्रमुत्कृष्टम् उद्गूर्णदानं वा, अदितेर्देवमातुः पुत्रं तनयं तादृशं भगं सूर्यं मन्यमानः पूजयन्। आध्रादयः सर्वेऽपि हे भगवन् त्वमुदयं भजस्वेति कथयन्तस्त्वदुदयं वाञ्छन्ति। तमाह्वयाम इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—वयं तं भगं सर्वभजनीयं परमात्मानमादित्यरूपमाह्वयामः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः! यथा वयं प्रातर्यो विधर्ता आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजास्ति, यं भगं चिद् भक्षीत्याह, तमदितेः पुत्रं जितमुग्रं भगं हुवेम। तथा यूयमपि स्वीकुरुत' इति, तदपि न, असम्बद्धत्वात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च, 'अपुत्रस्य पुत्रः' इत्यस्य निरर्थकत्वाच्च ॥ ३५ ॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे ऐश्वर्य को देने वाले, ऐश्वर्यरूप सत्य धन वाले सूर्यदेव! आप हमें धन देकर हमारी प्रज्ञा को बढ़ाइये। हे सूर्यदेव! हमें गायों और अश्वों के द्वारा भी बढ़ाइये। हे सूर्य, हम पुत्र आदि प्रजा से भी सम्पन्न हों ॥ ३६ ॥

हे भग हे प्रणेतः, प्रकर्षेण नयप्रापक हे भग, हे सत्यराधः! सत्यमनश्वरं राधो धनं यस्य स सत्यराधाः, तत्सम्बुद्धौ। त्वं ददन् धनं प्रयच्छन् सन्, इमां धियं प्रज्ञां कर्म वा उद् अव उद्गमय। यया येन वा सूक्ष्मानर्थान् पश्यामः, तथा कुर्वित्यभिप्रायः। किञ्च, हे भग! नोऽस्मान् गोभिरश्वैः प्रजनय प्रवर्धय, गा अश्वांश्च बहून् देहीत्यर्थः। हे भग! वयं नृभिः पुत्रादिभिर्नृवन्तो मनुष्यवन्तः स्याम।

अध्यात्मपक्षे—हे भग भजनीय, प्रणेतः प्रकर्षेण नयनकर्तः! सर्वान्तरात्मत्वेन तस्यैव सर्वप्रेरकत्वात्। तस्यैवाविनश्वरं मोक्षाख्यं धनं भवति। सूर्यरूपेणान्नरत्नादिकमप्यक्षयरूपेण तस्मिन्नेव भवति। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भग! त्वं नोऽस्माकमिमां धियं ददन् समुदय। हे भग, त्वं गोभिरश्वैर्नृभिः सह नोऽस्मान् प्रजनय। हे भग, येन वयं नृवन्तः प्र स्याम तथा विधेहि' इति, तदपि न, भग ऐश्वर्ययुक्त, भग ऐश्वर्यदातः, भग सेवितुं योग्येत्यादिव्युत्पत्तिभिर्मनुष्यसम्बोधनस्य निरर्थकत्वात्, धर्मब्रह्मपरे वेदे मनुष्यप्रार्थनाऽसम्भवात्, मुख्यार्थत्यागस्य च निर्मूलत्वात् ॥ ३६ ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानाᳬं सुमतौ स्याम ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—हे धन को देने वाले भगनामक सूर्यदेव ! अब भी हम प्रातःकाल, सायंकाल और मध्याह्न में आपकी उपासना कर भग, अर्थात् छः प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न हों। हम देवताओं की कल्याणमयी अनुग्रह बुद्धि में सदा विद्यमान रहें ।। ३७ ।।

हे मघवन् धनवन् आदित्य, उतापि च, इदानीमादित्यप्रसादाद् वयं भगवन्त ऐश्वर्यादिषड्भगोपेताः स्याम भवेम। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥' (वि० पु० ६।५।७४) इति षड्विधा भगाः। यद्वा—'स्तम्भनं मोहनं रूपं बलं वैदग्ध्यमेव च। अभिलाषोपपन्नत्वं षण्णां भग इतीङ्गना ॥' इति। निरतिशयाः सर्वे भगाः परमेश्वरे तिष्ठन्ति। सातिशयास्तु तत्प्रसादादन्यत्रापि। उत अपि च, प्रपित्वे प्राप्ते सूर्यस्य प्रपतनेऽस्तमये भगवन्तः स्याम। उतापि च, अह्नां मध्ये मध्यंदिने भगवन्तः स्याम। उतापि च, उदिता उदयकाले सूर्यस्य हे मघवन् धनवन्, वयं देवानां सुमतौ कल्याण्यामनुग्रहवत्यां बुद्धौ स्याम, देवा अस्मासु अनुग्रहवतीं बुद्धिं कुर्वन्तु।

अध्यात्मपक्षे - हे मघवन् ज्ञानवैराग्याद्यैश्वर्यवन् आदित्यरूप परमेश्वर ! भवदनुग्रहाद् वयं भगवन्तौ ज्ञानवैराग्यादिभगोपेता भवेम। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मघवन्, वयमिदानीमुत प्रपित्वे उत भविष्यति उताह्नां मध्ये भगवन्तः स्याम, उत सूर्यस्योदिता देवानां सुमतौ भगवन्तः स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धनवतः प्रार्थनयापि जन्मकोटिभिरपि भगवत्त्वासम्भवात्, देवानां देवदेवस्य भगवत एव प्रार्थनया भगवत्त्वोपपत्तेः ॥ ३७ ॥

भग॑ एव भग॑वाँ२।। अस्तु दे॒वास्तेन॑ व॒यं भग॑वन्तः स्याम।
तं त्वा॑ भग॒ सर्व॒ इज्जो॑हवीति॒ स नो॑ भग पुर ए॒ता भ॑वेह ।। ३८ ।।

मन्त्रार्थ—सारे देवताओं में भगवान् भग ही सभी ऐश्वर्यों से सम्पन्न हैं। उनकी कृपा से हमें धन प्राप्त हो। हे भगदेवता, ऐश्वर्य चाहने वाले सभी मनुष्य आपका आह्वान करते हैं। आप हमारे इस यज्ञ में सबसे पहले आइये ।। ३८ ।।

हे देवाः, भगः सूर्य एव भगवान् धनवान् अस्तु, किमन्यैर्देवताविशेषैर्धनवद्भिरदातृभिः। तेन भगप्रदत्तेन धनेन वयं धनवन्तः स्याम। एवं देवानुक्त्वा भगमेवाह—सर्व इत् सर्व एव जनस्तं प्रसिद्धं त्वां जोहवीति स्वाभीष्टसिद्धयेऽत्यन्तमाह्वयति। हे भग, स त्वं नोऽस्माकमिह कर्मणि पुर एता सर्वकार्येष्वग्रयायी भव, सर्वाणि कार्याणि साधयेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे देवाः, भगः सर्वभजनीयो भगः, सूर्यावच्छिन्नश्चेतन एव भगवान् सर्वैश्वर्योपेतोऽस्तु। तेन वयं भगवन्तः स्याम। तं प्रसिद्धं लोकवेदप्रसिद्धं त्वां सर्व इत् सर्व एव जोहवीति अत्यन्तमाह्वयति। स त्वं हे भग ! नोऽस्माकम् इह ऐहिके आमुष्मिके परमनिःश्रेयसे च पुर एता अग्रेसरो भव, सर्वाभीष्टान् सम्पादयेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे देवाः, यो भग एव भगवानस्तु, तेन वयं भगवन्तः स्याम। हे भग, तं त्वा सर्व इज्जोहवीति। हे भग ! स त्वमिह नः पुर एता भव' इति, तदपि न, विदुषां मनुष्याणां सम्बोधनस्याकिञ्चित्करत्वात् ॥ ३८ ॥

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ उषाकाल के अधिष्ठाता भगदेवता यज्ञ के लिये यहाँ आकर स्थिर भाव से बैठे हैं, जैसे कि सामुद्रिक अश्व अपने पवित्र पदक्षेप के द्वारा उपस्थित होता है। भगदेवता धन के दाता हैं। वे हमें सभी प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करें, जैसे कि वेगवान् अश्व रथ को प्राप्त कराते हैं ॥ ३९ ॥

या उषसः सुप्रभाताधिष्ठातारो देवाः, अध्वराय अग्निहोत्रादिलक्षणाय यज्ञाय संनमन्त संनमन्ते प्रह्वीभवन्ति। कथमिव ? दधिक्रावेव। दधाति धारयति नरमिति दधिः, दधिः सन् क्रामतीति दधिक्रावा, स दधिक्रावा अश्वो यथा शुचये पदाय, शुचि पदमग्न्याधानार्थं कर्तव्यमिति संनमते, एवं ता उषसो भगमादित्यं नोऽस्माकमर्वाचीनमस्मदभिमुखमावहन्तु आगमयन्तु। कीदृशं भगम् ? वसुविदम्। वसु धनं विन्दतीति वसुवित्, तं वसुविदम्, 'इगुपध' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कः। कथमिवोषसो भगमस्मान् प्रति आवहन्तु ? रथमिवाश्वा वाजिनः, यथा वाजिनोऽन्नवन्तो वेगवन्तो वा अश्वा रथमावहन्ति तद्वत्। तथा उषसोऽस्मान् प्रति भगमावहन्तु।

अध्यात्मपक्षे-- उषसः सुप्रभाता भगं भगवन्तमर्वाचीनमस्मदभिमुखमावहन्तु आगमयन्तु। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु - 'हे मनुष्याः, उषसो दधिक्रावेव शुचये पदाय अध्वराय संनमन्त वाजिनोऽश्वा रथमिव नोऽर्वाचीनं वसुविदं भगं प्रापयन्ति, तथैतौ भवन्त आवहन्तु' इति, तदपि न, अहिंसामयव्यवहारस्याध्वरपदवाच्यत्वे क्रयविक्रयादिव्यवहाराणामप्यध्वरत्वापत्तेः। वस्तुतोऽध्वरो वैदिको यज्ञः। पशुवधेऽपि यत्र ध्वरो हिंसा न भवति, तस्य ज्योतिष्टोमादेरेवाध्वरत्वम्, 'अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ' (म० स्मृ० ५।४४) इति मनूक्तेः। उषस इति कर्तृपदम्। तेन सुप्रभाताधिष्ठातॄणां देवानामेवात्र संनमनमुक्तम्, तत्कर्तृकमेव वसुविद्भगप्रापणम्। नात्रैश्वर्ययुक्तमनुष्यप्राप्तिरभीष्टा, तादृशमनुष्यस्य सुलभत्वात् न च प्रातःसमय एव तत्प्रापयति ॥ ३९ ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—अश्व वाली, गायों वाली, वीर सन्तान वाली कल्याण रूप, नीहार (ओसकण) की वर्षा करती हुई, सब ओर से धर्म, अर्थ और काम से तृप्त प्रातःसन्ध्या की अभिमानिनी देवियाँ हमारे अज्ञानरूपी पाश को सदा दूर करें। हे देवियों ! आप सब सभी प्रकार के कल्याणों से सदा हमारी रक्षा करें ॥ ४० ॥

उषोदेवत्या त्रिष्टुप्। उषास उषसः प्रभातकालाधिष्ठतारो देवाः सदं सदाकालं नोऽस्मानुच्छन्तु विवासयन्तु, अज्ञानलक्षणं पाशं मोचयन्तु। 'उच्छी विवासे'। कीदृश्य उषसः ? अश्वावतीः, अश्ववत्यः। गोमतीः, गोमत्यः। वीरवतीः, वीरवत्यः पुत्रवत्यः। भद्रा भद्रवत्यो भन्दनीयाः कल्याणरूपाः। घृतमवश्यायजलं दुहानाः क्षरन्त्यः। विश्वतः सर्वतः प्रपीता धर्मार्थकामैराप्यायिताः। प्यायः 'पी' आदेशः। एवं परोक्षं प्रार्थ्य प्रत्यक्षमाह—हे उषसः, यूयं स्वस्तिभिरविनाशैः सदा नोऽस्मान् पात पालयत।

अध्यात्मपक्षे—उषासः सुप्रभाताधिष्ठात्र्यो भक्तिरूपा देवताः, अश्वावत्यो दिव्यादिव्याश्ववत्यो गोमत्यः, अश्वगवादिरथेनेव शीघ्रमागच्छन्त्यः। वीरवत्यः प्रबोधलक्षणपुत्रवत्यः। सदं सदा उच्छन्तु अज्ञानं तमो विवासयन्तु अपसारयन्तु। कीदृश्यस्ताः? घृतं दुहानाः, घृतं स्नेहमयमनुरागं क्षरन्त्यः, विश्वतः सर्वतः प्रतीता आप्यायिताः। हे उषासः, यूयं नोऽस्मान् सदा स्वस्तिभिर्मोक्षादिरूपैः कल्याणैः पात पालयत।

दयानन्दस्तु—'हे विदुष्यः! यथा अश्वावतीर्गोमतीर्वीरवतीर्भद्रा घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता उषासोऽस्माकं सदं प्राप्नुवन्ति, तथाऽस्माकं सदं भवत्य उच्छन्तु। नो यूयं स्वस्तिभिः सदा पात' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, मूले यथापदाभावाच्च। उच्छन्तु—'उच्छी विवासे' इत्यस्य न सभासमापनमित्यर्थः, किन्त्वज्ञानपाशमोचनमेवार्थः। अज्ञानस्य विवासनमपसारणमेव। उषास एव स्वस्तिभिः पान्ति, न तु स्त्रियः, तासामल्पसामर्थ्यात्॥ ४०॥

पूषन् तव॑ व्र॒ते व॒यं न रि॑ष्येम॒ कदा॑ च॒न। स्तो॒तार॑स्त इ॒ह स्म॑सि॥ ४१॥

मन्त्रार्थ—हे पूषादेव! आपकी उपासना में हुए हम कभी विनाश को न पावें। इस यज्ञ में हम आपकी स्तुति करते हैं॥ ४१॥

द्वे पौष्ण्यौ गायत्रीत्रिष्टुभौ। हे पूषन्! तव व्रते कर्मणि वर्तमाना वयं कदाचन कदाचिदपि न रिष्येम न विनश्येम। किञ्च, इह कर्मणि ते तव स्तोतारः स्मसि भवाम। 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) इतीकार उपजनः।

अध्यात्मपक्षे—हे पूषन्! पुष्णाति सर्वमिति पूषा परमेश्वरः, 'येन जातानि जीवन्ति' (तै० उ० ३।१) इति श्रुतेः। ते तव व्रते त्वदाराधनलक्षणे कर्मणि वर्तमाना वयं कदाचिदपि न रिष्येम न विनश्येम, त्वदाराधनस्य त्वत्प्राप्तिफलकत्वात्, अमृतत्वलक्षणस्य मोक्षस्यापि निरावरणब्रह्मरूपत्वाच्च। ते तव इह कर्मणि स्तोतारः स्मसि भवामः।

दयानन्दस्तु—'हे पूषन् परमेश्वर आप्तविद्वन् वा, वयं तव व्रते तस्माद् वर्तेमहि यतो न कदाचिद्रिष्येम। इह ते स्तोतारः सन्तो वयं सुखिनः स्मसि स्मः' इति, तदपि न, मनुष्यस्य विदुषस्तादृशाभिप्रायपूरकत्वे मानाभावात्। न च मनुष्यस्तोतारः सुखिनो भवन्ति॥ ४१॥

प॒थस्प॑थः॒ परि॑पतिं वच॒स्या कामे॑न कृ॒तो अ॒भ्या॑नड॒र्कम्।
स नो॑ रासच्छु॒रुध॑श्च॒न्द्राग्रा॒ धियं॑-धिय॒ꣳ सीषधाति॒ प्र पू॒षा॥ ४२॥

मन्त्रार्थ—वांछित वेदवाणी से अभिमुख किये गये पूषा देवता देवयान और पितृयान मार्ग के स्वामी सूर्य को व्याप्त कर लेते हैं। वे सूर्यदेव हमें आह्लाददायक उपायों में अग्रणी, सभी प्रकार के दुःखों का नाश करने वाले साधनों को दें और अधिदैव एवं अध्यात्म सम्बन्धी साधनों से हमारी वृद्धि को भली प्रकार निर्मल करें॥ ४२॥

यः पूषा कामेन, काम्यत इति कामम्, तेन वाञ्छितेन इच्छया, वचस्या वचसा वेदोक्तेन, कृतः अभिमुखीकृतः, अर्कं देवम् अभ्यानट्, आनशिर्व्याप्तिकर्मा (निघ० २।१८।४), अभिव्याप्नोति। कीदृशमर्कम्? पथस्पथः, मार्गस्य मार्गस्य सर्वेषां मार्गाणां परिपतिमधिपतिं स्वामिनम्। सः पूषा नोऽस्मभ्यं शुरुधः शुचं सन्तापं साधनाभावकृतम्, यानि साधनानि रुन्धन्ति तानि शुरुधानि, लिङ्गव्यत्ययः। यद्वा शुचं शोकं रुन्धन्ति

शुरुधः शोकनाशकराणि साधनानि रासद् ददातु। वर्णनाशात् पृषोदरादित्वात् शुरुध इति रूपम्। कीदृशः शुरुधः ? चन्द्राग्राः, चन्द्रमाह्लादकमग्रं यासां ताः, साधनानुष्ठानसम्पत्तावाह्लादस्य दर्शनात्। पुनश्च स पूषा धियं धियं सर्वाणि कर्माणि प्रसाधनानि प्रकर्षेण साधयतु। पथस्पथः, धियं धियमिति 'नित्यवीप्सयोः (पा० सू० ८।१।४) इति द्वित्वम्। वचस्या विभक्तेर्यादेशः। सीषधाति, 'साध संसिद्धौ,' शपः श्लुश्छान्दसः, द्वित्वम्। 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४), 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७), उपधाह्रस्वश्छान्दसः।

अध्यात्मपक्षे—पूषा सर्वपोषकः परमेश्वरः, अर्कं देवमभ्यानट् अभिव्याप्नोति। आदित्यमण्डलस्थ-हिरण्मयपुरुषरूपेण तस्यैवोपलभ्यमानत्वादर्कः सर्वेषां मार्गाणां स्वामी भवति, तदभावे सर्वमार्गावरोधात्। स एव पूषा कामेनेच्छया वचस्या वेदोक्तेन वचसा वा अभिमुखीकृत आह्लादाग्राणि सर्वाणि शोकनाशकानि साधनानि ददाति, सर्वाणि पुरुषार्थसाधकानि कर्माणि च प्रकर्षेण साधयति। व्याख्यानं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यो वचस्या कामेन कृतः पूषा जगदीश्वर आप्तो वा शुरुधश्चन्द्राग्राः साधनानि नो रासद् धियं धियं प्रसीषधाति, स शुभगुणकर्मस्वभावावभ्यानट्। तमर्कं पथस्पथः परिपतिं वयं स्तुयाम' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य 'स्तुयाम' इति क्रियापदस्य च मन्त्रबाह्यत्वात्। कृतः सिद्ध इत्यपि निर्मूलम्। अन्यत्तु पूर्वानुकरणमेव ॥ ४२ ॥

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन् ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—जगत् के रक्षक अविनाशी विष्णु ने अपने तीन डगों से सारे संसार को व्याप्त कर लिया था। इन तीन चरणों की सहायता से ही धर्म सुरक्षित है ॥ ४३ ॥

वैष्णव्यौ गायत्र्यौ। द्वयोर्ऋचोरेकवाक्यता। यो विष्णुर्यज्ञस्त्रीणि पदा पदानि विचक्रमे विक्रान्तवान्, अग्निवाय्वादित्याख्यानि पदानि व्यासवान्। कीदृशो विष्णुः ? गोपाः, गोपायिता समस्तस्य जगतः पालयिता, अदाभ्योऽनुपहिंस्यः, अप्रधृष्यत्वात्। किं कुर्वन् ? अतोऽस्मादेव पदत्रयात्, धर्माणि पुण्यानि कर्माणि धारयन्। 'धर्ममस्त्रियाम्' (अ० को० १।४।२४) इति धर्मशब्द उभयलिङ्गः।

अध्यात्मपक्षे—यो विष्णुः, वेवेष्टीति विष्णुर्व्यापनशीलः परमात्मा नारायणः, बलिं छलयन् त्रीणि पदा पदानि विचक्रमे क्रान्तवान्, त्रिभिः पद्भिः सर्वं लोकत्रयं विक्रम्य स्वायत्तीकृत्येन्द्राय प्रत्तवान्। कीदृशो विष्णुः ? गोपाः, जगतो रक्षकः, विशेषेण गवां पालकः 'गोपरूपस्य विष्णोः' (मे० दू० १।१५) इति महाकविनोपश्लोकितत्वात्। अदाभ्योऽसुरराक्षसादिभिरनुपहिंस्य, सर्वैरप्रधृष्यत्वात्। किं कुर्वन् ? अतोऽस्मादेव विक्रमणाद् धर्माणि धर्मान् कर्माणि वा धारयन्। तदभावे लोकत्रयस्यासुरायत्तत्वेन धर्मकर्मलोपसम्भवात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! योऽदाभ्यो गोपा विष्णुर्धर्माणि धारयन्नतस्त्रीणि पदा विचक्रमे, स एव पूजनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विक्रमणस्य व्यापकमात्रेऽनुपपत्तेः। अदाभ्योऽनुपहिंस्य एव, नाहिंसकत्वम्, दुष्टानां नाशकत्वात्। धर्माणीति पुण्यान्येव न पृथिव्यादीनि, तद्धारणस्य विक्रमणे हेतुत्वाभावात्, शतुर्हेत्वर्थकत्वात् ॥ ४३ ॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवाᳬसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—साकार ब्रह्मस्वरूप विष्णु का जो ब्रह्मरूप परम पद है, निष्काम जागरणशील विद्वान् पुरुष सदा उस परम पद की उपासना करते हैं ॥ ४४ ॥

तत् तस्य विष्णोर्यज्ञस्य यत्परमं पदं ब्रह्मलोकलक्षणम्, तद्विप्रासो मेधाविनो ब्राह्मणाः समिन्धते समिन्धयन्ति दीपयन्ति अभिव्यञ्जयन्ति तपःसमाधिभिः। कीदृशा विप्राः ? विपन्यवः, विगतः पन्युः संसार-व्यवहारो येभ्यस्ते निष्कामा विगतव्यवहाराः, जागृवांसोऽसुप्ता अप्रमत्ताः, ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन यज्ञरूपस्य विष्णोः परमं पदं प्राप्यं फलं ब्रह्मलोकं संदीपयन्ति प्रकाशयन्ति, प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। 'समिन्धते' इत्यत्र णिचो लोपो द्रष्टव्यः।

अध्यात्मपक्षे—तस्य विष्णोः परमेश्वरस्य यत्परमं सर्वोत्कृष्टं पदम्, पद्यते गम्यते प्राप्यते मुक्तैर्यत्तन्मुक्तो-पसृप्यं स्वरूपं विप्रासो मेधाविनो विपन्यवो विगतप्रपञ्चव्यवहारा जागृवांसो मोहनिद्रातः प्रबुद्धाः, समिन्धते प्रकाशयन्ति साक्षात्कारयन्त्यधिकारिजनान्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये जागृवांसो विपन्यवो विप्रासो विष्णोर्यत् परमं पदमस्ति, तत्समिन्धते। तत्संगमेन यूयमपि तादृशा भवत' इति, तदपि न, स्वप्रकाशस्य प्रकाशनासम्भवात्। विपन्यवः स्तोतार इत्यप्यसाम्प्रतम्, स्तुतिकाले समाधानाभावेन निर्वृत्तिकत्वाभावेन तदेकलभ्यस्योपलम्भासम्भवात्। तस्माद्विगत-व्यवहारा इत्येवार्थः॥ ४४॥

घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा॥ ४५॥

मन्त्रार्थ—घृतरूपी जल से परिपूर्ण, सारे भुवनों की आश्रयस्वरूप, विस्तीर्ण, मधुदोहन में समर्थ, सुरूप जरा-रहित, सब प्राणियों में वीर्य का संचालन करने वाली पृथ्वी और अन्तरिक्ष वरुण की धारणा शक्ति से स्तंभित हैं॥ ४५॥

द्यावापृथिवीदेवत्या जगती। द्यावापृथिवी द्यावाभूमी, घृतवत्यौ घृतमुदकं तद्वत्यौ, भुवनानामभिश्रिया भुवनानां भूतजातानामभिश्रिया अभिश्रियौ आश्रयणीये। कर्मणि क्विप्, विभक्तेराकारः। उर्वी उर्व्यौ विस्तीर्णे, पृथिवी पृथिव्यौ पृथुले, उर्वी-पृथ्वीतिविशेषणद्वयेनायामविस्ताराभ्यां महत्त्वमुक्तम्। मधुदुघे, मधु उदकं तस्य दोग्ध्र्यौ प्रपूरयित्र्यौ, सुपेशसा सुरूपे, अजरे जरारहिते, भूरिरेतसा भूरि बहु रेतो वीर्यं ययोस्ते बहुरेतस्के, सर्वभूतरेतसां तत एवोत्पत्तेः। तादृश्यौ द्यावापृथिव्यौ वरुणस्यादित्यस्य धर्मणा धारणेन धारणशक्त्या विष्कभिते स्तम्भिते, स्कभ्नोतिरत्र दृढीकरणार्थः। वरुणेन स्वशक्त्या दृढीकृते इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—द्यावापृथिवी, द्यौः प्रकाशः पुरुषः, पृथ्वी प्रकृतिः। ते प्रकृतिपुरुषरूपे वरुणस्य सर्ववरणी-यस्य परमात्मनो धर्मणा धारणेन धारणशक्त्या विष्कभिते विधृते तिष्ठतः। कीदृश्यौ ते ? घृतवत्यौ। घृतपदेन लक्षितलक्षणया अप्समवेतानि कर्माणि प्रोच्यन्ते। भुवनानां भूतानामभिश्रियौ अभिश्रयणीयौ उर्वी विस्तीर्णे पृथ्वी पृथुले मधुदुघे अभीष्टसुखस्य प्रपूरयित्र्यौ सुपेशसा सुरूपे अजरे जरारहिते जीवस्य स्वरूपेण निर्विकार-त्वात्, प्रकृतेश्च प्रवाहरूपेण नित्यत्वात्। भूरिरेतसा, सर्वभूतानां कारणत्वात्। 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' (भ० गी० १३।१९) इति भगवदुक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यस्य वरुणस्य परमेश्वरस्य धर्मणा मधुदुघे सुपेशसा पृथिवी उर्वी घृतवती अजरे भूरितेजसा भुवनानामधिश्रिया द्यावापृथिवी विष्कम्भिते, तमेवोपास्यं विजानीत' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव॥ ४५॥

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान् ।
वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन् ।। ४६ ।।

मन्त्रार्थ—हमारे सभी शत्रु निर्वीर्य निरुद्यम हो जायँ। उन शत्रुओं को हम इन्द्र और अग्निदेव की सहायता से नष्ट कर दें। वसु, रुद्र और आदित्य देवता मुझे उच्च स्थान के उत्कृष्ट ज्ञाता के रूप में प्रतिष्ठित करें ।। ४६ ।।

लिङ्गोक्तदेवत्या जगती। ये नोऽस्माकं सपत्नाः शत्रवस्तेऽपभवन्तु, अपगतवीर्या निरुद्यमा भवन्तु, पराभूता भवन्त्वित्यर्थः। यतो वयं तान् सपत्नान् इन्द्राग्निभ्यां इन्द्राग्निबलेन अवबाधामहे अवनाशयामस्तान्। किञ्च, वसवोऽष्टौ, रुद्रा एकादश, आदित्याश्च द्वादश, एते मामेतादृशमक्रन् कुर्वन्तु। कीदृशम्? उपरिस्पृशम्, उपरि स्पृशतीत्युपरिस्पृक्, तमुपरिस्पृशम् उच्चस्थानस्थितम्। उपरि स्थितः स्पृशतीत्युपरिस्पृक्, आधिपत्येऽवस्थितः पादेन स्पृशतीति वा। तादृशं मां कुरु। उग्रमुत्कृष्टं चेत्तारं ज्ञातारम्, 'चितो संज्ञाने' सर्वस्य ज्ञातव्यस्य अधिराजम्, अधिकश्चासौ राजा च अधिराजस्तमधिपतिमीश्वरं कुर्वन्तु।

अध्यात्मपक्षे—ये नः सपत्नाः कामक्रोधादयस्तेऽपभवन्तु, अपगतवीर्या निरुद्यना निष्फला भवन्तु। इन्द्राग्निभ्यां परमेश्वरस्यैश्वर्यतेजोभ्यां तदनुसन्धानबलेन तान् सपत्नान् बाधामहे। वस्वादयो देवा माम् उपरिस्पृशं कामादीनामाधिपत्ये स्थितम् ईश्वरम् उग्रं चेत्तारं ज्ञेयस्य ज्ञातारम्, अक्रन् कुर्वन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये नः सपत्नाः स्युस्तेऽपभवन्तु। यथा तान् वयमिन्द्राग्निभ्यामवबाधामहे, यथा च वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशमुग्रं चेत्तारं मा मामधिराजमक्रन्, तथा तान् यूयमपि निवारयत, मां च सत्कुरुत' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वादेव। इन्द्राग्निभ्यां विद्युदस्त्राभ्यामप्रत्यक्षसपत्नानां बाधासम्भवात्। इन्द्राग्न्योर्देवयोस्त्वचिन्त्यशक्तित्वेन तत्सम्भवात्। न च त्वद्रीत्या जडा वस्वादयः कञ्चिदुपरिस्पृशं चेत्तारं कर्तुं प्रभवन्ति, जडत्वादेव ॥ ४६ ॥

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना ।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपाᳬंसि मृक्षतᳬं सेधतं द्वेषो भवतᳬं सचाभुवा ।। ४७ ।।

मन्त्रार्थ—हे अविनाशी अश्विनीकुमारों ! त्रिगुणित किये गये ग्यारह, अर्थात् तैंतीस संख्या वाले देवताओं के साथ आप इस यज्ञ में सोमपान के लिये आवें, हमारी आयु को बढ़ावें, हमारे पापों को दूर करें, हमारे दुर्भाग्य को नष्ट करें और हमें भले कामों में लगावें ।। ४७ ।।

अश्विदेवत्या जगती। आयातमागच्छतम्, हे नासत्यौ हे अश्विनौ, त्रिभिरेकादशैस्त्रिगुणैरेकादशभिस्त्रयस्त्रिंशत्संख्याकैर्देवेभिर्देवैरिह स्थाने मधुपेयं मधुः सोमस्तस्य पेयं पानं सोमपानं प्रति, आयातमिति सम्बन्धः। किञ्च, आयुर्जीवनं प्रतारिष्टम्, तरतिर्वृद्ध्यर्थः, प्रवर्धयतम्, रपांसि पापानि, निर्मृक्षतं निःशेषेण शोधयतम्, नाशयतमित्यर्थः। द्वेषो दौर्भाग्यं सेधतम्, 'षिधु गत्याम्', गमयतं नाशयतम्। सचाभुवा भवतम्। 'सचा' इति सहार्थेऽव्ययम्। सचा सह भवतस्तौ सचाभुवा, कार्येषु संयुक्तौ भवतम्। हे अश्विनौ ! तारिष्टम्, तरतेर्लुङि मध्यमद्विवचनम्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इत्यडभावः। मृक्षतम्, 'मृजू शुद्धौ' 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४), 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिप्। 'तस्थस्थमिपाम्' (पा० सू० ३।४।१०१) इति व्यत्ययेन थसस्तमादेश इति महीधरः।

अध्यात्मपक्षे—हे नासत्याविव रामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ वा। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे नासत्यौ अश्विनौ राजप्रजाजनौ, यथा युवामिह त्रिभिरेकादशैर्देवेभिः सह मधुपेयमायातम्, रपांसि मृक्षतं द्वेषो निषेधतम्, सचाभुवा भवतमायुः प्रतारिष्टम्, तथा वयमपि भवेम' इति, तदपि न, प्रार्थयितुरपि राजप्रजाजनान्तर्गतत्वेन यथा तथेत्यनुपपत्तेः, नासत्यावित्यस्य राजप्रजाजनयोर्बोधे मानाभावात्। न च तौ त्रिभिरेकादशैर्देवैः सह पेयमागन्तुं शक्नुतः, तेषां जडत्वेनागमनासम्भवात्। न च रपांसि शुद्धानि भवन्ति, पाप्मनां नाशेन पापिनामेव शुद्धिसम्भवात्॥ ४७॥

एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥ ४८॥

मन्त्रार्थ—हे मरुद्गणों! वीतराग, मानार्ह यजमान का यह स्तोम, यह सत्य वाणी आपके निमित्त है, अर्थात् यजमान इनसे आपकी स्तुति करता है। आप इसके परिवार में बाल्य आदि अवस्था से सम्बन्ध रखने वाले शरीर की रक्षा के लिये, इसे धन-धान्य से परिपूर्ण करने के लिये यहाँ आवें। जीवन को देने वाले बल के साधक धन-धान्य से हम परिपूर्ण हों॥ ४८॥

मारुती त्रिष्टुप्। हे मरुतः, एष स्तोमः, इयं च गीः सत्या प्रिया च वाक्, वो युष्माकमस्तु, युष्मदर्थं वर्तत इत्यभिप्रायः। कारोः कर्तुर्यजमानस्य मम तं स्तोमं तां च गिरमुपश्रुत्य एषाऽयासीष्ट इषा अन्नेन निमित्तेन आ अयासीष्ट, अयासीरन्निति वचनव्यत्ययः। अन्नेन निमित्तेनाहूयमाना आगच्छत। कीदृशस्य कारोः? मान्दार्यस्य मामिति लक्षणया स्वस्वामिसम्बन्धं लक्षयति, स्वस्वामिसम्बन्धं दारयतीति मान्दार्यस्तस्य वीतरागस्य। यद्वा मां द्यति मां दारयतीति शत्रूणां यः प्रत्ययमादधाति स तथोक्तस्तस्य। यद्वा मन्दारः कल्पवृक्षः, तत्तुल्यो मान्दार्यः, तस्य कामपूरकस्य मान्यस्य मानार्हस्य। किमर्थमागन्तव्यमिति चेत्तत्राह—तन्वे वयां वयसां शरीरस्थित्यर्थं वयो दृढं कर्तुम्। वयसामित्यत्रामि टिलोप आर्षः। यद्वा वयसां बाल्ययौवनस्थविराणाम्, वयसां सम्बन्धिन्यै तन्वे शरीराय, अस्मच्छरीरं दृढीकर्तुमित्यभिप्रायः। किञ्च, इषमन्नं बलं च वयं विद्याम लभेमहि। कीदृशमिषं वृजनं च? जीरदानुं जीवयतीति जीरदानुस्तम्। जीवेरौणादिको रदानुप्रत्ययः। 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) इति वलोपः। जीवितदातृ बलमन्नं च वयं प्राप्नुयामेति।

अध्यात्मपक्षे—हे मरुतः! मरुद् वायुः। वायुरपि परमेश्वर एव, 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' (ऋ० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। पूजायां बहुवचनम्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मरुतो मनुष्याः, मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोरेष स्तोम इयं च गीर्वोऽस्तु। यूयमिषा वयां तन्वे। आजीरदानुं मित्रं वृजनं च विद्यां लभेमहि' इति, तदपि न, स्तोमशब्दस्य त्रिवृत्स्तोमादिप्रसिद्धमर्थमपहाय प्रशंसार्थग्रहणे मानाभावात्। मरुतो मनुष्या इत्यप्ययुक्तम्, त्वयापि मन्त्रस्यास्य मरुतां देवतात्वाङ्गीकारात्। न च मनुष्याणां प्रशंसा गीर्वोपयोगिन्यौ, न च मनुष्याणामागमनेन प्राणिनां विज्ञानबलादिप्राप्तिः सम्भवति, तेषां तद्दाने सामर्थ्याभावात्॥ ४८॥

सहस्तोमाः सहच्छन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥ ४९॥

मन्त्रार्थ—स्तोमों के साथ, छन्दों के साथ, भले कर्मों के साथ, श्रुति-प्रमाणों के साथ बुद्धिमान् प्रजापति सम्बन्धी सात ऋषियों ने वेदप्रदर्शित मार्ग का अवलोकन कर सृष्टियज्ञ को उसी प्रकार सम्पन्न किया था, जैसे कि बागडोर की सहायता से रथी अश्व को अपने अभीष्ट स्थान की ओर ले जाता है ॥ ४९ ॥

ऋषिसृष्टिप्रतिपादिका त्रिष्टुप् । दैव्या सप्त ऋषयः, देवस्य प्रजापतेरिमे दैव्याः प्रजापतिप्राणाभिमानिनः सप्त ऋषयो भरद्वाजकश्यपगोतमात्रिवशिष्ठविश्वामित्रजमदग्निसंज्ञाः । सप्त ऋषय इति प्राप्ते व्यत्ययेन ऋषयः सप्त इति । एते पूर्वेषामधस्तनकल्पोत्पन्नानामवसिताधिकाराणां पन्थां पन्थानमनुदृश्य अवलोक्य अन्वालेभिरे अन्वालब्धवन्तः सृष्टवन्तः सृष्टियज्ञम् । पूर्वकल्पीया ऋषयो यथा सृष्टिं कृतवन्तस्तथैव सृष्टवन्त इत्यर्थः, 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ० १०।१९०।३) इति श्रुतेः । कथम्भूता ऋषयः सृष्टवन्तः ? सहस्तोमाः, त्रिवृदादिस्तोमसहिताः, सहच्छन्दसश्छन्दोभिर्गायत्र्यादिभिः सहिताः, आवृतः, आवृच्छब्देन कर्मोच्यते, सहेत्यध्याहारः, सहावृतः कर्मसहिताः श्रद्धासत्यप्रधानानां कर्मणामनुष्ठातारः । सहप्रमाः, प्रमा प्रमाणं तत्सहिताः सहप्रमाः शब्दप्रमाणपरीक्षणतत्पराः, सहप्रमास्तत्तद्विषयकयथार्थज्ञानवन्तो वा, 'इमावेव गौतमभरद्वाजौ ······ इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी ··· इमावेव वसिष्ठकश्यपौ वागेवात्रिः' (बृ० उ० ३।२।४) इति दिशा । धीरा धीमन्तः । कथमिव सृष्टवन्तः ? रथ्यो न रश्मीन् । नकार उपमापर्यायः । रथे साधू रथ्यः, रथी यथा इष्टदेश-प्राप्त्यर्थं प्रथमं रश्मीन् प्रग्रहान् आलभते स्पृशति सृजति वा, तथा तेऽपि सृष्टियज्ञं कृतवन्तः ।

अध्यात्मपक्षे—ऋषयः सप्त दैव्याः प्रजापतेः प्राणाभिमानिनो ब्रह्मपरिणामभूता ब्रह्मात्मका एवावान्तर-सृष्टिकारणभूताः सृष्टियज्ञं कृतवन्तः । व्याख्यानं पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा सहस्तोमाः सहच्छन्दस आवृतः सहप्रमाः सप्त दैव्या धीरा ऋषयो रथ्यो रश्मीनिव पूर्वेषां पन्थामनुदृश्यान्वालेभिरे, तथा भूत्वा यूयमप्याप्तमार्गमन्वालभध्वम्' इति, तदपि न, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात् । न च पञ्चज्ञानेन्द्रियाणामन्तःकरणस्य च सहस्तोमत्वादिकं सम्भवति । न च वेदाध्ययनं ब्रह्मचर्यं गुरुकुलान्निवृत्तिर्गृहागमनं सहप्रज्ञानत्वं वेदार्थशास्त्रवित्त्वं च सम्भवति, तेषां करणत्वेन कर्तृत्वासम्भवात् ॥ ४९ ॥

आयुष्यं वर्चस्यᳪं रायस्पोषमौद्भिदम् ।
इदᳪं हिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादु माम् ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—यह पूर्ण आयु का और तेज का दाता, पुष्टि को बढ़ाने वाला, स्वर्ग का प्रकाशक, धन-धान्य से परिपूर्ण सुवर्ण हमारी सब प्रकार की विजय के लिये हमारी पवित्र आत्मा में प्रवेश करे ॥ ५० ॥

तिस्र उष्णिक्शक्वरीत्रिष्टुभो दक्षदृष्टाः । हिरण्यस्तुतिः । यदिदं हिरण्यं सुवर्णम्, आयुष्यम् आयुषे हितम्, वर्चस्यं वर्चसे तेजसे हितम्, रायो धनस्य पोषं पोषणकर्तृ वर्धकम्, औद्भिदमुद्भिनत्तीत्युद्भित्, तदेवौद्भिदम्, स्वार्थे तद्धितम्, उद्भेतृ, धनस्य स्वर्गस्य वा प्रकाशकम्, वर्चस्वद् अनिसंयुक्तम्, तद् जैत्राय विजयाय आविशताद् आविशतु । उः पादपूरणः । मय्यवस्थानं करोत्वित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—यदिदं हिरण्यं ज्योतिर्मयं तद्विज्ञानं च तदायुष्यम्, तच्चिन्तनस्यामृतत्वहेतुत्वात् । वर्चस्यम्, तत्प्रतिपादकवेदाध्ययनस्य तदुपयोगिनो ब्रह्मचर्यस्य ब्रह्मवर्चोहेतुत्वात् । रायस्पोषम्, लौकिकस्य हिरण्यादे-राध्यात्मिकस्य ज्ञानवैराग्यादेश्च पोषकं वर्धयितृ । औद्भिदं सर्वपुरुषार्थप्रकाशकम् । वर्चस्वद् अन्नोपलक्षितसर्व-

भोग्यप्रापकम्, सर्वस्य तत्रैवाध्यस्तत्वात् । तद् जैत्राय कामादिसपत्नविजयाय मामु मामेव विशतात्, मयि प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपेणावस्थानं करोतु ।

दयानन्दस्तु –हे मनुष्याः, यदौद्भिदमायुष्यं वर्चस्यं रायस्पोषं वर्चस्वद्धिरण्यं जैत्राय मामाविशतात्, तदु युष्मानप्याविशतात्' इति, तदपि न, वर्चसेऽध्ययनाय हितं वर्चस्यमित्यसङ्गतेः, अध्ययनप्रतिबन्धकत्वस्यैव प्रायेण तत्र दर्शनात्, वर्चःशब्दस्य तेजसि प्रसिद्धत्वाच्च ॥ ५० ॥

न तद्रक्षांᳪसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजᳪ ह्येतत् । यो बिभर्ति दाक्षायणᳪ हिरण्यᳪ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—उस सुवर्ण को न तो राक्षस नष्ट कर सकते हैं और न पिशाच ही, क्योंकि यह सुवर्ण देवताओं का सबसे पहले उत्पन्न हुआ तेज है। जो पुरुष अलंकार के रूप में सुवर्ण को धारण करता है, वह देवलोकों में लम्बे समय तक निवास करता है, वह मनुष्य लोक में भी दीर्घायु होता है ॥ ५१ ॥

तद् हिरण्यं न रक्षांसि राक्षसा स्तरन्ति, न च पिशाचास्तरन्ति । हि यस्मात् । एतद् हिरण्यं देवानां प्रथमजम् ओजः प्रथमोत्पन्नं देवानां तेज एवैतत् । अत एव यो हिरण्यं दाक्षायणमलङ्कारत्वेन बिभर्ति, दाक्षायणशब्दोऽलङ्कारवचन इत्युव्वटमहीधरौ, स देवेषु देवलोकेषु दीर्घमायुः स्वस्य कुरुते, देवलोके चिरं वसतीत्यर्थः । मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः, मानुष्यमायुरतिक्रम्य बहुकालं जीवतीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे —तद् हिरण्यं ब्रह्म तज्ज्ञानं वा । न च रक्षांसि न वा पिशाचास्तरन्ति हिंसन्ति, ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य च सर्वोपद्रवनाशकत्वात् । तच्च देवानां प्रथमजं प्रथमभावि, ओजो वर्चः, सर्वकारणकारणत्वात् । यो हिरण्यं तादृग् ब्रह्म तज्ज्ञानं वा दाक्षायणमलङ्कारवदादरेण बिभर्ति हृदये धारयति, स देवेषु दीर्घमायुः कृणुते, मनुष्येषु च दीर्घमायुः कृणुते । देवेषु मनुष्येषु यस्तद्भक्तो भवति, तस्मै दीर्घमायुः प्रयच्छतीत्यर्थः । 'तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः (मुण्डको० ३।१।१०) इति श्रुतेः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यद्देवानां प्रथमजमोजोऽस्ति, न तद्रक्षांसि न च पिशाचास्तरन्ति । यो ह्येतद् दाक्षायणं हिरण्यं बिभर्ति, स देवेषु दीर्घमायुः कृणुते, स मनुष्येषु दीर्घमायुः कृणुते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तद् अध्ययनं विद्याप्रापणं रक्षांसि पिशाचाश्च न तरन्तीत्यनुपपत्तेः, हिरण्यस्यैव तत्पदेन ग्रहीतुं योग्यत्वात्, हिरण्यं तेजो देवतेति त्वयाऽप्यङ्गीकारात् ॥ ५१ ॥

यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यᳪ शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।
तन्म आ बध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासम् ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—ईश्वर का मन में ध्यान करते-करते प्रजापति के पुत्रों ने जिस सुवर्ण को अनन्त सेना वाले नृपतिस्वरूप ब्रह्म में बाँधा, उस सुवर्ण को पूर्णायु की प्राप्ति के लिये मैं शरीर पर धारण करता हूँ, जिससे कि मैं दीर्घजीवन के निमित्त जीर्ण-शीर्ण शरीर में भी बना रहूँ ॥ ५२ ॥

दक्षस्यापत्यानि पुमांसो दक्षवंशोत्पन्ना ब्राह्मणाः सुमनस्यमानाः, शोभनं मनः कुर्वते सुमनस्यन्ते, सुमनस्यन्त इति सुमनस्यमानाः, नडादित्वात् फक् । यद् हिरण्यं शतानीकाय राज्ञे, अबध्नन् बबन्धुः, शतं बहून्यनीकानि

यस्य तस्मै, तद् हिरण्यं शतशारदाय शतं शरदो जीवनायाहमपि बध्नामि। यथा येन प्रकारेण हिरण्यबन्धनाख्येन कर्मणा अहमायुष्मान् दीर्घजीवी जरदष्टिश्च जरां प्राप्तो जरच्छरीरो वा, आसं भूयासम्, तथा आबध्नामि। जरामश्नुते व्याप्नोतीति जरदष्टिः। यद्वा जरन्ती जरां प्राप्ता अष्टिः शरीरं यस्य स जरदष्टिः।

अध्यात्मपक्षे—सुमनस्यमाना दाक्षायणा ब्राह्मणा यथा शतानीकाय राज्ञे तद् ब्रह्मरूपं ब्रह्मज्ञानरूपं वा हिरण्यं अबध्नन्, ब्रह्मणा ज्ञानेन वा संयोजितवन्तः, तथा तद् हिरण्यं मयि बध्नामि ब्रह्मणाऽऽत्मतादात्म्यमध्यवस्यामि, प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण वाऽऽत्मानं योजयामि। किमर्थम्? शतशारदाय शतमनन्तशरदो जीवनाय यथा येन प्रकारेणायुष्मान् दीर्घजीवी जरदष्टिश्च भूयासम्। ब्रह्मात्मतादात्म्यापत्तिरेवानन्तं जीवनम्। ब्रह्मचिन्तनशीलः शोकमोहातीतस्तपःसमाधिसम्पन्नः शरीरेणापि बहुकालं जीवतीत्याशयः।

दयानन्दस्तु—ये दाक्षायणाः सुमनस्यमानाः शतानीकाय मे यद्धिरण्यमाबध्नन्, तदहं शतशारदाया-बध्नामि। हे विद्वांसः, यथाहं युष्मान् प्राप्य जरदष्टिरासम्, तथा यूयं मां प्रत्युपदिशत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हे विद्वांस इति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। दाक्षायणा इत्यस्य चातुर्यविज्ञानयुक्ता इत्यसंगतोऽर्थः, अपत्यार्थप्रत्यय-विरोधात्। 'यथाऽहं युष्मान् प्राप्य जरदष्टिरासम्, तथा यूयं मामुपदिशत' इति यदुक्तम्, तदपि न, मन्त्र-बाह्यत्वात्। न च युष्मानिति पदं मूलेऽस्ति, आयुष्मानिति पदच्छेदाज्ञानात्॥ ५२॥

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात् पृथिवी समुद्रः।
विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु॥ ५३॥

मन्त्रार्थ—हे अहिर्बुध्न्य और अज एकपाद नामक रुद्रों, पृथ्वी देवी और समुद्रों! आप सब देवता हमारी यह बात सुनें कि आप सब यज्ञ की समृद्धि को देने वाले इस यज्ञ में आहूत हैं। मन्त्रों के द्वारा स्तुत मेधावियों के द्वारा पूजित देवता हमारी सब ओर से रक्षा करें॥ ५३॥

बहुदेवत्या त्रिष्टुप्। उत अपि च, अहिर्बुध्न्य एकादशरुद्रेषु रुद्रविशेषः, नोऽस्माकं शृणोतु, वचांसीति शेषः। अज एकपाद् रुद्रः प्राणो वा शृणोतु, पृथिवी च शृणोतु, समुद्रश्च शृणोतु, विश्वे देवाश्च शृण्वन्तु। श्रुत्वा च ते सर्वेऽवन्तु पालयन्त्वस्मान्। कीदृशास्ते? ऋतावृधः सत्यवृधः, हुवाना आहूयमाना मन्त्राः, व्यत्ययेन मन्त्रैः स्तुताः, कविशस्ताः कविभिः क्रान्तदर्शनैः शस्ताः प्रशस्ताः।

आध्यात्मिकोऽर्थः—अहिर्बुध्न्यादयो ब्रह्मकार्यत्वाद् ब्रह्मात्मका देवाः सत्यवृध आहूयमाना मन्त्रैः स्तुता अविशस्ताः शृण्वन्तु, श्रुत्वा च नोऽवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, बुध्न्योऽहिरिव पृथिवी संमुद्रश्चैवैकपादजो नः शृणोतु, ऋतावृधो हुवाना विश्वे देवा उतापि च कविशस्ताः स्तुता नोऽस्मानवन्तु' इति, तदपि न, मुख्यार्थत्यागगौणार्थग्रहणयोरेव दोषत्वात्। अहिर्मेघो भवतु, अहिरिवेत्यर्थस्तु कुतस्त्यः? तथैव पृथिवीतुल्यः समुद्रतुल्य इत्यप्यनर्थ एव। न च ऋतावृधो विद्वांसः स्पर्धन्ते। स्तुताः स्तुतिप्रकाशका मन्त्रार्थविचारसाधका इत्यादिकमप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्॥ ५३॥

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः॥ ५४॥

मन्त्रार्थ—हे घृत छोड़ने वाले वेदवचन ! बुद्धिरूप जुहू के द्वारा सदैव दीप्यमान आदित्यों के लिये मैं यह हवि समर्पित करता हूँ। मित्र, अर्यमा, भग, त्वष्टा, वायु, वरुण, दक्ष और अंशु देवता हमारी वाणी को सुनें ॥ ५४ ॥

आदित्यदेवत्या त्रिष्टुप्। इमा गिरः स्तुतिवाचो जुह्वा स्रुचा आदित्येभ्यो जुहोमि, बुद्धिरूपया स्रुचा स्तुतिलक्षणा वाच आदित्येभ्यः समर्पयामि। कथम्भूता गिरः ? घृतस्नूः, घृतं स्नुवन्ति स्रवन्ति ता घृतस्नवः, ता घृतप्रस्रविणीर्घृतप्रसारिणीर्वा घृतहोमसहचरिता वा, तुगभाव आर्षः। कीदृशेभ्य आदित्येभ्यः ? सनात् चिरकालं राजभ्यो दीप्यमानेभ्यस्ता बुद्धिरूपया स्रुचा हूयमाना नोऽस्माकं गिरो मित्रोऽर्यमा भगश्च, तुविजातो बहुजातस्त्वष्टा वातो वा, स हि बहुशः प्रजायते। वरुणो दक्षोंऽशश्च शृणोतु। सर्वे चैते सूर्यविशेषाः।

आध्यात्मिकोऽर्थः—ब्रह्मणः सार्वात्म्यद्योतनाय चिराद् राजमानानेकादित्यरूपेण ब्रह्मणः प्रार्थनम्। व्याख्यानं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'अहमादित्येभ्यो राजभ्यो या इमा गिरो जुह्वा सनाज्जुहोमि, स घृतस्नुर्नो गिरोऽमित्रोऽर्यमा भगस्तुविजातो दक्षोंऽशो वरुणश्च शृणोतु' इति, तदपि न, आदित्यशब्दस्य स्वार्थत्यागे मानाभावात्। घृतमुदकमिव प्रदीप्तं व्यवहारं स्नान्ति शोधयन्ति, ता घृतस्नूरित्यप्यसाम्प्रतम्। घृतमुदकमिति स्वीकारे घृतमिवेत्यस्य निर्मूलत्वात्। अन्यदपि तादृशमेव ॥ ५४ ॥

स॒प्त ऋष॑यः॒ प्रति॑हिता॒: शरी॑रे स॒प्त र॑क्षन्ति॒ सद॒मप्र॑मादम्।
स॒प्ताप॒: स्वप॑तो लो॒कमी॑यु॒स्तत्र॑ जागृ॒तो अस्व॑प्नजौ सत्र॒सदौ॑ च दे॒वौ ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—प्राण, त्वचा, चक्षु, श्रवण, रसन, घ्राण और मन ये सात ऋषि हमारे शरीर में व्यवस्थित हैं। ये सातों सदा सावधानी से हमारे शरीर की रक्षा करते हैं। सोते समय ये सातों ऋषि सारे देह में व्याप्त होकर हृदयाकाश में स्थित विज्ञानात्मक ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाते हैं। उस अवस्था में भी जागरणशील सबके जीवन-स्रोत के प्रवर्तक प्राण और अपान सदा जागते रहते हैं ॥ ५५ ॥

अध्यात्मवादिनी जगती। सप्त ऋषयः प्राणास्त्वक्चक्षुःश्रवणरसनघ्राणमनोबुद्धिलक्षणाः शरीरे प्रतिहिता व्यवस्थिताः। ते सप्त सदं सदाकालमप्रमादं सावधानं यथा तथा शरीरं रक्षन्ति। ते सप्त स्वपतो नरस्य लोकमात्मानमीयुः। हृदयाकाशप्रतिष्ठितो विज्ञानात्माऽत्र लोकशब्दार्थः। कीदृशाः सप्त ? आपः, देहव्यापनाः। आप्नुवन्ति व्याप्नुवन्ति देहमित्यापः। तत्र च संवित्स्थाने, तस्यामवस्थायाम्, तस्यामृषीणां लोकगमनावस्थायाम्, देवौ दीप्यमानौ प्राणापानौ जागृतो जागरणं कुर्वाते। कीदृशौ देवौ ? अस्वप्नजौ, न स्वप्नो निद्रा जायते ययोस्तौ। 'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्' (बृ० उ० ४।३।१२) इति श्रुतेः सुप्तिदशायां प्राण एव कुलायं शरीरं रक्षति। तदभावे मृतानामिव शरीरं श्वापदगृध्रादयो भक्षयेरन्। सत्रसदौ, सतां जीवानां त्राणं रक्षणं सत्रम्, तदर्थं सीदत इति सत्रसदौ प्राणिनां जीवनरक्षितारौ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदर्थः।

दयानन्दस्तु—'ये सप्त ऋषयः शरीरे प्रतिहितास्त एव सप्ताप्रमादं यथा स्यात्तथा सदं रक्षन्ति, ते स्वपतः सप्तापो लोकमीयुस्तत्रास्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ जागृतः' इति, तदपि न, पूर्वापरविरोधात्। पूर्वं सप्तमो जीवो गृहीतः, अत्र तु बुद्धिरिति। ऋषयो विषयप्रापका इत्यप्यसङ्गतम्, 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' इति वचनविरोधात्। प्रतिहिताः प्रतीत्या धृता इत्यप्यसङ्गतम्, प्रतिशब्दस्य तथार्थत्वे मानाभावात्। न चेन्द्रियाणि देहं व्याप्नुवन्ति, त्वगव्यतिरिक्तानां शरीरैकदेशस्थत्वात्। अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ ५५ ॥

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे ।
उप प्र यन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा ।। ५६ ।।

मन्त्रार्थ—हे वेद के रक्षक अन्तर्यामी ब्रह्मणस्पति देव ! हमारे इस यज्ञ-कार्य की प्रवृत्ति के लिये आप उठ खड़े होइये । अन्य देवताओं को चाहते हुए भी हम आपसे ही विशेष रूप से याचना करते हैं । सबको धन-धान्य देकर समृद्ध कर देने वाले मरुद्गण आपके समीप उपस्थित हों । हे यजमान ! तुम भी इनके साथ निकल पड़ो, तीव्र गति से चलो, जिससे कि इनका साथ न छूटने पावे ।। ५६ ।।

तिस्रो ब्राह्मणस्पत्यः, द्वे बृहत्यौ तृतीया त्रिष्टुप् । हे ब्रह्मणस्पते, ब्रह्मणो वेदस्य पते ! उत्तिष्ठ ऊर्ध्वो भव, आरब्धकार्यो भव । यस्माद् देवयन्तो देवान् कामयन्तो वयं यजमानास्त्वां भवन्तम्, ईमहे आगच्छेति याच्ञामहे । भवन्तमागच्छन्तं शोभनं ददति ते सुदानवः कल्याणदानाः शोभनदानशीला मरुतो देवा उप समीपे प्रयन्तु उपागच्छन्तु । हे इन्द्र ! त्वमपि सचा सहागमनाय प्राशूः प्रकर्षेण त्वरावान् भव । ईमहे याचतिकर्मसु पठितः (निघ० ३।१९।१), 'ई गतौ' दिवादित्वादागतस्य श्यनश्छान्दसो लोपः । सुदानवः 'दामाभ्यां नुः' (उ० ३।३२) । प्राशूः, आशुशब्दे दीर्घश्छान्दसः । संहितायां 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (६।३।१३५) इति दीर्घः ।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणस्पतिः परमेश्वर एव, तस्यैव वेदजनकत्वात्, सर्वस्वामित्वाच्च । यद्यपि परमेश्वरस्य व्यापकत्वादागमनप्रार्थना नोपयुज्यते, तथाप्युपाधिमाश्रित्य तदागमनमपि सम्भवत्येव । व्याख्यानं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मणस्पते इन्द्र, देवयन्तो वयं त्वेमहे यं त्वा सुदानवो मरुत उपप्रयन्तु, स त्वमुत्तिष्ठ । सचा प्राशूर्भव' इति, तदपि न, यः प्राश्नाति सः प्राशुरिति रीत्या सर्वस्यैव प्राशुत्वसम्भवात् । मरुतो मनुष्या इत्यपि निर्मूलम्, मुख्यार्थत्यागे मानाभावात् । सचा सत्यसमवायेनेत्यपि निर्मूलमेव, निष्प्रमाणत्वात् ॥ ५६ ॥

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ।। ५७ ।।

मन्त्रार्थ—हे ब्रह्मणस्पति देव ! आप निश्चय ही हम से शस्त्र योग्य मन्त्रों का उच्चारण कराते हैं । जिस मन्त्र में इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा आदि देवता निवास करते हैं, उस मन्त्र का आप उच्चारण कराते हैं ।। ५७ ।।

ब्रह्मणस्पतिर्देवो नूनं निश्चितमुक्थ्यं शंसनयोग्यं मन्त्रं प्रवदति प्रकर्षेणोच्चारयति । उक्थं शस्त्रमुच्यते, तत्र सन्नमन् मन्त्र उक्थ्यः । कथम्भूतोऽसौ मन्त्रः ? यस्मिन् मन्त्रे इन्द्रश्च, वरुणश्च, अर्यमा च, अन्ये देवाश्च ओकांसि निवासान् निवासस्थानानि कृतवन्तः । 'ओक इति निवासनाम' (निरु० ३।३) । सर्वदेवानामाधारभूतं शस्त्रसमवेतं मन्त्रं पठति ब्रह्मणस्पतिरिति तादृशं देवं स्तुम इति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणस्पतिः परमेश्वर एव । ब्रह्मणस्पतिरूपादविशेषो वा भूत्वा तादृशमुक्थ्यं प्रवदति, यस्मिन् इन्द्रादयः सर्वे देवा वसन्ति ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रोऽर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे, स ब्रह्मणस्पतिः परमात्मोक्थ्यं मन्त्रं वेदाख्यं नूनं प्रवदतीति विजानीत' इति, तदपि न, कण्ठताल्वाद्यन्तरा परमेश्वरकर्तृक-वेदोच्चारणासम्भवात्, विद्युदादीनां जडत्वेनोकःकर्तृत्वासम्भवाच्च । न चाकाशवत् परमेश्वरस्य सावकाशत्वम्, येन तत्रान्यानि तत्त्वानि वसेयुः, तस्य निरवयवत्वेन निरवकाशत्वात् ॥ ५७ ॥

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व ।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥
य इमा विश्वा विश्वकर्मा यो नः पिता अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि ॥ ५८ ॥

॥ इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—हे ब्रह्मणस्पति देव ! आप ही इस सूक्त के नियन्ता हैं, अतः सावधान होकर इसे सुनें और धन-धान्य से हमारी सन्तति को तृप्त करें। देवता जिस सकल कल्याण की रक्षा करते हैं, वह कल्याण आप हमें दें। हम पुत्र-पौत्र आदि से सम्पन्न होकर इस यज्ञ में बार-बार आपकी स्तुति करते हैं ॥ ५८ ।

हे ब्रह्मणस्पते, त्वमस्य जगतो यन्ता नियन्ता, अतो विज्ञापयामि—सूक्तस्यास्मदुक्तस्य साधुवचनस्य, अवगतार्थो भव, कर्मणि षष्ठी, अस्मदुक्तं सूक्तं बोधि बुद्ध्यस्व। तनयं चास्मदपत्यानि जिन्व प्रीणीहि। तद्विश्वं भद्रमस्माकमस्तु, देवा यद् भद्रं कल्याणमवन्ति पालयन्ति। किञ्च, सुवीराः शोभनपुत्राः सन्तो वयं विदथे यज्ञे बृहद् महद् वदेम, दीयतां भुज्यतामिति महाभाग्यपूर्णं वाक्यमुच्चारयेम। अथ चतस्रः कण्डिकाः प्रतीकोक्ताः—'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्' (१७।१७), 'विश्वकर्मा विमनाः' (१७।२६), 'यो नः पिता' (१७।२७), 'अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि' (११।८३)। ता ब्रह्मयज्ञेऽध्येतव्याः।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मणस्पते वेदपालक परमेश्वर! त्वमस्य सर्वस्य प्रपञ्चस्य यन्ता नियामकोऽसि। सूक्तस्य, सूक्तमस्मदुक्तसाधुवचनं बुद्ध्यस्वावगच्छस्व। तनयं च पुत्रान् तत्तुल्यान् शिष्यान् वा जिन्व प्रीणीहि। धर्मब्रह्मज्ञानादिप्रदानेन विश्वं सर्वं तद् भद्रं नोऽस्तु, यद् भद्रं देवा अवन्ति पालयन्ति। सुवीराः कल्याणपुत्राः सन्तो वयं विदथे यज्ञे बृहद्वदेम दीयतां भुज्यतामिति कल्याणवचनमुच्चारयेम।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मणस्पते! देवा विदथे यदवन्ति, यत् सुवीरा वयं बृहद्वदेम, तस्यास्य सूक्तस्य त्वं यन्ता भव, तनयं च बोधि। तद् भद्रं विश्वं जिन्व' इति, तदपि न, 'ब्रह्मणस्पते ब्रह्माण्डस्य पते' इति विवरणस्य निर्मूलत्वात्, ब्रह्मपदेन ब्रह्माण्डस्य ग्रहणे मानाभावात्। सूक्तस्य सुष्ठु वक्तुमर्हस्येत्यपि तथाविधमेव। अवन्ति उपदिशन्तीत्यपि निर्मूलमेव। तनयं विद्यापुत्रमित्यपि गौणार्थग्रहणमेव। 'विदथे विज्ञापनीये व्यवहारे' इत्यपि निर्मूलमेव, तादृशेऽर्थे शिष्टैरप्रयुक्तत्वात् ॥ ५८ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

•

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः । अस्य लोकः सुतावतः । द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं से द्वेष करने वाले दुःखदाता असुर इस स्थान से हट जाँय । यह सोमाभिषव के कर्ता यजमान का स्थान है । यमराज ऋतु, दिवस और रात्रि द्वारा स्पष्टीकृत इस स्थान को यजमान के लिये छोड़ दे ॥ १ ॥

पित्र्योऽध्यायः । आदित्यस्यार्षम् । स च पितृमेधो मृतस्य वर्षास्मरणे भवति, वर्षस्मृतौ तु विषमवर्षेषु भवति । 'पितृमेधः संवत्सरास्मृतौ, अयुग्मेषु वा' (का० श्रौ० २१।३।१-२) । संवत्सरस्मृत्यभावेऽयुग्मेषु संवत्सरेषु, स्मृतौ तु युग्मेष्विति व्यवस्थितो विकल्पः । एकनक्षत्रे, यदैकैव तारकाकाशे दृश्यते तदेकनक्षत्रम्, तस्मिन् हस्तस्वातिपुष्यादौ, दर्शे ग्रीष्मे शरदि माघे वा पितृमेधं कुर्यात्, 'एकनक्षत्रे, अमावास्यायाम्, निदाघशरन्माघेषु' (का० श्रौ० २१।३।३-५) इति कात्यायनवचनेभ्यः । 'यावन्तो धुविष्यन्तः स्युस्तावतः कुम्भानादाय छत्राणि चापरिमितानि' (का० श्रौ० २१।३।६) । पुत्रपौत्रादिभिरुत्तरीयैर्वस्त्रैर्व्यजनैर्वा अस्थिकुम्भस्योपवीजनं धवनम् । अतो यावन्तो धुविष्यन्तः स्युस्तावतः कुम्भान् कुम्भसंख्यातोऽधिकसंख्यानि छत्राणि चादाय सशरीरा दक्षिणा गच्छन्तीति सम्बन्धः । तेन पितृमेधं करिष्यता 'श्मशानं चिकीर्षतः कुम्भे सञ्चयनम्' (का० श्रौ० २५।८।७) इति रीत्या कुम्भ एवास्थ्नां चयनं कृत्वाऽरण्ये भूमिमध्ये तानि स्थापनीयानि । ततः कुम्भस्थानि तानि शारीराण्यस्थीनि ग्रामसमीपमाहृत्य कुम्भस्थान्येतानि तल्पे खट्वायां निधायाहत-वस्त्रस्यैकदेशेनास्थिकुम्भं सर्वतो वेष्टयित्वा लोहमयेषु वादित्रेषु पटहादिषु वाद्यमानेषु, उद्धतायां वीणायां च वाद्यमानायाममात्या मृतस्य पुत्रपौत्राद्या उत्तरीयैर्वस्त्रैरुपवाजनैर्वा व्यजनैर्वा तमस्थिकुम्भरुपवाजयन्तस्त्रि-स्त्रिरप्रदक्षिणं परीयुः स्त्रियो वा परीयुः (का० श्रौ० २१।३।७-८) । 'पूर्वरात्रमध्यापररात्रेषु च' (का० श्रौ० २१।३।९) । रात्रेः पूर्वभागे मध्यभागे पाश्चात्यभागे च परिक्रमणं कुर्युः । 'विफल्फान्नमहरेतत्' (का० श्रौ० २१।३।१०) 'फल्फ वृद्धौ' विफल्यं बहु अन्नं यत्र तदेतस्मिन्न् पितृमेधारम्भदिने बह्वन्नावदानं कर्तव्यमित्यर्थः । 'नृत्यगीतवादित्रवच्च' (का० श्रौ० २१।३।११) अस्मिन्नहनि नृत्यादिकमनवरतं कारयेत् । 'अन्नमस्मा उपसंहरन्त्येके' (का० श्रौ० २१।३।१२), 'उपव्युषसꣳ सशरीरा दक्षिणा यन्ति' (का० श्रौ० २१।३।१३) । उषसि विगच्छन्त्यां सह शरीरेणास्थिकुम्भेन सहिता यजमानाध्वर्व्यमात्या दक्षिणस्यां गच्छेयुः । श्मशानान्तं कर्म कुर्वतो यथा रविरुदियात् तथा रात्रावारब्धव्यम् ।

तत्र वने गत्वा ग्रामान्मार्गान्न्यग्रोधाश्वत्थतिल्वकहरिद्रुस्फूर्जकविभीतकश्लेष्मान्तककोविदारादिभ्यश्च दूरेऽन्यवृक्षगुल्मादिवृते ऊषरे वोदक्प्रवणे दक्षिणप्रवणे समे वा सुखकारिणि रम्ये वनादुदकाद्वा पूर्वभागे उत्तर-भागे वा वर्तमाने गर्तवति वीरणतृणवति प्रदेशे श्मशानार्थं दिक्कोणं पुरुषप्रमाणं क्षेत्रं मिमीते । पैत्रिक्यां द्विपुरुषं समचतुरस्रं कृत्वा करणीमध्येषु शङ्कवः स समाधिरिति यजुःपरिशिष्ट(७।२)शुल्बोक्तविधिना । तच्चतुरस्र-मुत्तरतः पश्चाच्च पृथु भवति, तत्पुरुषमात्रं क्षेत्रमुत्तरपार्श्वे पश्चाच्च पृथु कार्यम् । तद्यथा पुरुषस्य प्रमाणे विंशति-शताङ्गुलानि । तानि त्रयोदशधा विभज्यन्ते । नव नवैकस्मिन् भागेऽङ्गुलानि । एवं सप्तदशाधिकं शतमङ्गुलानि विभक्तानि भवन्ति । त्रीण्यङ्गुलान्यवशिष्यन्ते । तान्यपि त्रयोदशधा विभज्यन्ते । एकैकस्मिन् भागेऽङ्गुलस्य

चतुर्थो भागस्त्रयोदशांशोनो भवति। एवं त्रयोदशधा विभक्तेऽर्धसहिताः षड्भागा भवन्ति। अर्धभागे नवाङ्गुलानि स्वत्रयोदशांशोनाङ्गुलचतुर्थभागसहितानि भवन्ति। अतः पुरुषस्य चतुरस्रस्य दिक्स्थले प्राणभृदुपधानवत् पूर्वदक्षिणोत्तरपार्श्वयोर्नवाङ्गुलानि दशांशेनाङ्गुलचतुर्थभागसहितानि पुरुषप्रमाणमध्ये न्यूनानि कार्याणि। पश्चिमोत्तरपार्श्वयोस्तावन्ति पुरुषप्रमाणादधिकानि कार्याणीति सरलावृत्तौ टिप्पणी।

महीधराचार्यरीत्या पुरुषमात्रक्षेत्रस्याक्षणया प्राचीं कृत्वा तत्प्रान्तयोः शङ्कू निखाय सार्धाष्टादशाङ्गुलहीनां पुरुषद्वयप्रमाणामुभयतःपाशां रज्जुं मध्यमदेशे सलक्षणां कृत्वा पूर्वापरयोः शङ्क्वोस्तस्याः पाशौ प्रतिमुच्य मध्यलक्षणेन दक्षिणत आयम्य दक्षिणः कोणः साधनीयः। ततः सार्धाष्टाङ्गुलाधिकां पुरुषद्वयप्रमाणां रज्जुमुभयतःपाशां मध्यलक्षणयुतां कृत्वा शङ्क्वोः पाशौ प्रतिमुच्य मध्यलक्षणेनोत्तरत आयम्योत्तरकोणः साध्यः। ततः पूर्वादिकोणेषु पालाशशमीवारणाश्ममयाश्चत्वारः शङ्कवो निखेयाः। एतत्कुर्वतां निकटे कश्चन यजमानपुरुषस्तृणपूलकमुच्छ्रित्य धारयेत्। कर्मसमाप्तौ गृहमागत्य तं गृहेषूच्छ्रयेत प्रजावृद्ध्यै। अत्र कात्यायनः—'अपसलविसृष्टया रज्ज्वा परितत्याऽपेतो यन्त्विति पलाशशाखया व्युदूहति' (का० श्रौ० २१।३।३२) इति। अपसलवि अप्रादक्षिण्येन निष्पादितया रज्ज्वा तत्क्षेत्रं समन्तादप्रदक्षिणं संवेष्ट्य 'अपेतो यन्तु' (३५।१) इति मन्त्रेण क्षेत्रमध्यपतिकं तृणपर्णादिकं पलाशशाखया क्षेत्राद् बहिर्निष्कासयेत्। अत्र कात्यायनेन शतपथब्राह्मणानुसारेणैव पितृमेधकर्म सूत्रितमिति ज्ञेयम्। तथा हि—

'अथास्मै श्मशानं कुर्वन्ति। गृहान् वा प्रज्ञानं यो वै कश्च म्रियते स शवस्तस्मा एतदन्नं करोति तस्माच्छवान्नꣳ शवान्नꣳ ह वै तच्छ्मशानमित्याचक्षते परोक्षम्' (श० १३।८।१।१) 'यो वै कश्च म्रियते स शवः' इत्यविशेषवचनादनग्निचितोऽपि श्मशानदर्शनात्। किमात्मकं तत्कुर्वन्ति? इत्यत आह—प्रेतस्य ग्रहान् वै तत्कुर्वन्ति। यथैवेह तेनास्थीनि रक्ष्यन्ते, एवममुत्र तदपूर्वेण प्रेतो रक्ष्यते गृहैरिवेत्यभिप्रायः। अमुष्य देवदत्तादेरत्रास्थीनि गुप्तानीत्येतत्प्रज्ञायते येन तत्प्रज्ञानं च कीर्तिवर्धनं करणीयमित्यभिप्रायः। वर्णलोपागमादिना शवान्नं च श्मशानमित्याचक्षते परोक्षम्। पितॄणां दण्डपाशिस्वरूपा अत्तारः, तेऽकृतश्मशानस्यामुष्मिन् लोके पुण्यकृत्यामुपहिंसन्ति। 'तद्वै न क्षिप्रं कुर्यात्।·····यत्र समा नानु चन स्मरेयुरश्रुतिमेव तदघं गमयति यद्यनुस्मरेयुः' (श० १३।८।१।२)। 'अयुङ्क्षु संवत्सरेषु कुर्यात्। अयुङ्गꣳ हि पितॄणामेकनक्षत्रं एकनक्षत्रꣳ हि पितॄणाममावस्यायाममावास्या वा·····' (श० १३।८।१।३)। 'शरदि कुर्यात्' (श० १३।८।१।४)। चतुःस्रक्तिः। देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या दिक्ष्वस्पर्धन्त ते देवा असुरान् सपत्नान् भ्रातृव्यान् दिग्भ्योऽनुदन्त तेऽदिक्काः पराभवन् तस्माद्या दैव्यः प्रजाश्चतुःस्रक्तीनि ताः श्मशानानि कुर्वतेऽथ या आसुर्यः प्राच्यास्त्वद्ये त्वत्परिमण्डलानि' (श० १३।८।१।५)। 'उदीचीनप्रवणे करोति' (श० १३।८।१।८) 'कम्वति (करीषवति) कुर्यात्····· शम्वति (सुखवति) वा' (श० १३।८।१।१०)। 'गुहा सदवतापि स्यात्' (श० १३।८।१।११)। गुहाग्रवृक्षगुल्मादिसंवृतम्। अवतापि अधौतापि। 'यस्येत्थादनूकाशः' (श० १३।८।१।१२)। 'चित्रं पश्चात् स्यात्' (श० १३।८।१।१३)। चित्रं दर्शनीयं वनगिरिदेवगृहादि स्यात्। 'ऊषरे करोति' (श० १३।८।१।१४) 'समूले समूलꣳ हि पितॄणां वीरिणमिश्रं' (श० १३।८।१।१५)। 'न भूमिपाशमभिविदध्यात्। न शरन्नाश्मगन्धान्नाध्याण्डान्न पृश्निपर्णीन्नाश्वत्थस्यान्तिकं कुर्यान्न विभीतकस्य न तिल्वकस्य न स्फूर्जकस्य न हरिद्रोर्न न्यग्रोधस्य ये चान्ये पापनामानो मङ्गलेपेप्सया नाम्नामेव परिहाराय' (श० १३।८।१।१६)। 'तद्वै न महत् कुर्यात्' (श० १३।८।१।१८) 'पुरुषमात्रं त्वेव कुर्यात्' (श० १३।८।१।१९)।

आद्या गायत्री। पणयोऽसुराः पणन्ति परद्रव्यैर्व्यवहरन्ति ये ते पणयः, असुम्ना नास्ति सुम्नं येषां तेऽसुखकराः, देवपीयवो देवानां हिंसितारो देवद्विषो देवान् पीडयन्ति हिंसन्ति ये ते तादृशास्ते इतोऽपयन्तु

अपगच्छन्तु। 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इत्युपसर्गस्य यन्त्विति क्रियापदेन व्यवधानम्। किमित्यसुराणामपगमोऽभ्यर्थ्यते ? तत्राह—अस्य यजमानस्यास्थिभूतस्यायं लोकः स्थानम्। कीदृशस्य यजमानस्य ? सुतवतः सोमाभिषवं कृतवतः, सुषावेति सुतवान् तस्य, 'षूञ् अभिषवे', क्तवतुप्रत्ययान्तः। 'अश्वरश्मिमति सुमति' (३।६।२) इत्यादिना प्रातिशाख्यसूत्रेण संहितायां सुतशब्दस्याकारदीर्घः। इतो यजुः। द्युभिः क्रतुभिः, अहोभिर्दिवसैः, अक्तुभी रात्रिभिश्च व्यक्तं प्रचारितमवसानं स्थानं यमो देवोऽस्मै यजमानाय ददातु। अवस्यन्त्यस्मिन्नित्यवसानं स्थानम्। द्युशब्देन श्रुतौ ऋतव उक्ताः, 'तदेनमृतुभिश्चाहोरात्रैश्च सलोकं करोति' (श० १३।८।२।३) इति श्रुतेः। क्रत्वाद्यधिष्ठातृदेवताभिः प्रकटितं सलोकमस्मै यमो ददात्वित्यर्थः।

'अथैनत्पलाशशाखया व्युदूहति। यदेवादो व्युदूहन् तदेतदपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयव इति पणीनेवैतदसुम्नान् देवपीयूनसुररक्षसान्यस्माल्लोकादपहन्त्यस्य लोकः सुतावत इति सुतवान् हि य ईजानो द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तमिति तदेनमृतुभिश्चाहोरात्रैश्च सलोकं करोति' (श० ३।८।२।३)। यदेवादो यत्प्रयोजनं वाग्नि व्यदूहन्, तत्प्रयोजनमेवैतत् पणयो व्यवहारप्रधाना देवपीयवः, पीयतिर्हिंसतिकर्मा। 'यमो ददात्ववसानमस्मा इति। यमो ह वा अस्यामवसानस्येष्टे तमेवास्मा अस्यामवसानं याचति। तान् दक्षिणोदस्यत्युदगितरान् दैवं चैव तत् पित्र्यं च व्याकरोति' (श० ३।८।२।४)।

अध्यात्मपक्षे—यमः, यच्छति नियमयति सर्वानिति यमः परमेश्वरः। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'ये देवपीयवः पणयो सुम्नान्यन्येभ्यो ददति, त इतोऽपयन्तु। लोको यमो द्युभिरहोभिरक्तुभिरस्य सुतावतो जनस्य सम्बन्धिनेऽस्मै व्यक्तमवसानं ददातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सुषावेति सुतवानिति सरलार्थोपपत्तौ प्रशस्तानि सुतानि वेदवित्प्रेरितानि कर्माणि यस्येति व्युत्पत्तेर्गौरवावहत्वात्, सुतानि कर्माणीत्यस्य प्रमाणसापेक्षत्वात्। यमोऽपि प्रसिद्ध एव ग्राह्यः, न तु यन्तेति। अन्यत्तु महीधराद्यनुसरणमेव ॥ १ ॥

स॒वि॒ता ते॒ शरी॑रेभ्यः पृथि॒व्याँल्लो॒कमि॑च्छतु। तस्मै॑ युज्यन्तामु॒स्रिया॑: ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान! सूर्यदेव तुम्हारे अस्थिरूप शरीर के लिये पृथ्वी से स्थान को चाहें, अर्थात् तुम्हारे लिये प्रतिष्ठाप्रद स्थान का संकल्प करें। तुम्हारा वह सूर्यदत्त स्थान बैल आदि से सुसंस्कृत हो, सुसज्जित हो ॥ २ ॥

'औदुम्बरसीर उत्तरतो वा षड्गवे युज्यमाने युङ्क्तेति सम्प्रेष्य सविता त इति जपति' (का० श्रौ० २१।३।३४) इति। ततोऽध्वर्युस्तां पलाशशाखां दक्षिणस्यां निरस्य परिश्रिद्भिर्वेष्टयित्वा तत्क्षेत्रस्य दक्षिणत उत्तरतो वा षड्भिरनड्डुद्भिः सीरं हलं युनक्ति। तस्मिन् युज्यमाने युङ्क्तेति सम्प्रेष्य सवितेति मन्त्रं जपति, 'अथैनत् परिश्रिद्भिः परिश्रयति। या एवामूः परिश्रितस्ता एता यजुषा ताः परिश्रयति तूष्णीमिमा दैवं चैव तत्पित्र्यं च व्याकरोत्यपरिमिताभिरपरिमितो ह्यसौ लोकः' (श० १३।८।२।२) इति श्रुतेः।

गायत्री। हे यजमान! सविता सूर्यस्ते तव शरीरेभ्यः, विभक्तिव्यत्ययः, शरीराणाम्, पृथिव्यां लोकं स्थानमिच्छतु। नहि सविताऽननुज्ञातेन केनापि स्थातुं शक्यते। द्वितीयं वाक्यम्। सविता दत्ताय तस्मै क्षेत्राय शरीराय संस्कारार्थम् उस्रिया अनड्वाहो युज्यन्तां युक्ता भवन्तु।

अध्यात्मपक्षे—सविता जगदुत्पादको जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलः परमेश्वरः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे जीव! सविता यस्य ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु, तस्मै तुभ्यमुस्रिया युज्यन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'हे जीव' इति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। सिद्धान्ते तु सूत्रानुसारि यजमान-

सम्बोधनम्। 'उस्रियाः किरणाः' इत्यपि निर्मूलम्। सिद्धान्ते तु सूत्रानुसारेणानड्वाहो युज्यन्ते। सूत्रं च मन्त्रव्याख्यानेऽत्रैव निर्दिष्टम्॥ २॥

वायुः पुनातु सविता पुनात्वग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा। वि मुच्यन्तामुस्रियाः॥ ३॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्य द्वारा यजमान को प्रदत्त पृथिवि! वायु तुम्हें पवित्र करें, सूर्य तुम्हें पवित्र करें, अग्नि की दीप्ति और सूर्य के तेज से तुम शुद्ध हो। बैलों को हल से अलग कर दिया जाय॥ ३॥

'अनुरज्जु चतस्रः सीताः कृषति वायुः पुनात्विति प्रतिमन्त्रमुत्तरतः प्रतीचीं प्रथमामिति' (का० श्रौ० २१।४।१-२)। अध्वर्युः परितो वेष्टितां रज्जुमनुलक्ष्यीकृत्य वायुः पुनात्विति प्रतिमन्त्रं पादेन पादेन चतस्रः सीता अप्रदक्षिणं कृषति। तत्र प्रथमां सीतामुत्तरपार्श्वे प्रतीचीं कृषति। दक्षिणतः सीरयोजनपक्षेऽपि तत्सीरमप्रदक्षिणमुत्तरत आनीय प्रथममुत्तरत एव कृषति।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणतः सीरं युनक्ति। उत्तरत इत्यु हैक आहुः स यथा कामयेत तथा कुर्याद् युङ्क्तेति सम्प्रेष्याभिमन्त्रयते सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छत्विति सवितैवास्यैतच्छरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छति तस्मै युज्यन्तामुस्रिया इत्येतस्मा उ हि कर्मण उस्रिया युज्यन्ते॥ षड्गवं भवति। षड् ऋतवः संवत्सर ऋतुष्वेवैनमेतत् संवत्सरे प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयन्ति तदपसलवि पर्याहृत्योत्तरतः प्रतीचीं प्रथमाꣳ सीतां कृषति वायुः पुनात्विति सविता पुनात्विति जघनार्धेन दक्षिणामग्नेर्भ्राजसेति दक्षिणार्धेन प्राचीꣳ सूर्यस्य वर्चसेत्यग्रेणोदीचीम्॥ चतस्रः सीता यजुषा कृषति। तद्यच्चतसृषु दिक्ष्वन्नं तस्मिन्नेवैनमेतत्प्रतिष्ठापयति तद्वै यजुषाऽद्धा वै तद्यद्यजुरद्धो तद्यदिमा दिशः॥ अथात्मानं विकृषति। तद् यदेव संवत्सरेऽन्नं तस्मिन्नेवैनमेतत्प्रतिष्ठापयति तूष्णीमपरिमिताभिरपरिमितो ह्यसौ लोक॥ अथैनद्विमुञ्चति। कृत्वा तत्कर्म यस्मै कर्मण एनद्युङ्क्ते विमुच्यन्तामुस्रिया...युज्यन्ते तद्दक्षिणोदस्यत्युदगितरद् दैवं चैव तत् पित्र्यं च व्याकरोति' (१३।८।२।५-९)।

चत्वारि यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। 'हे पृथिवि! वायुस्त्वां पुनातु विदारयतु। सविता सूर्यस्त्वां पुनातु विदारयतु। अग्नेर्वर्चसा भ्राजसा दीप्त्या विदारयतु, सूर्यस्य वर्चसा तेजसा भ्राजिष्णुतया च त्वां विदारयतु। 'अनुडुहो विमुच्य विमुच्यन्तामिति' (का० श्रौ० २१।४।४)। एवं पूर्वोक्तचतुर्मन्त्रैः पार्श्वचतुष्के कर्षणं कृत्वा मध्येऽपि सर्वं क्षेत्रं यथा कृष्टं स्यात् तथा परिमिताः सीताः कृत्वा वृषभान् सीराद्विमुञ्चति। वृषदैवतं यजुः। उस्रियाः, उस्रा धेनुस्तदपत्यान्युस्रिया अनड्वाहो विमुच्यन्तां सीराद्वियुज्यन्ताम्।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक! वायुर्गतिगन्धनविशिष्टः परमेश्वरः, त्वां पुनातु पवित्रयतु। सविता सर्वकारणत्वविशिष्टः परमेश्वरस्त्वां पुनातु। स एव परमेश्वरोऽग्नेर्भ्राजसा दीप्त्या सूर्यस्य वर्चसा तेजसा त्वां पुनातु। हे उस्रियाः, अनड्वाह इव संसारशकटधुरिनियुक्ता जीवाः, वाय्वादीनामनुग्रहेण विमुच्यन्तां मुक्ता भवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! वायुरग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा यानस्मान् पुनातु, सविता पुनातु, उस्रिया विमुच्यन्ताम्' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, त्वद्रीत्या वायोर्जडस्य केन कः पावनीय इति विवेकाभावात्पावकत्वानुपपत्तेः। उस्रियाः किरणाः क्व विमोक्तव्याः? कश्चास्य कर्तेत्यनुक्तेः। यच्च 'जीवा यदा शरीराणि त्यक्त्वा गर्भं प्रविशन्ति, तदा किरणास्तान् त्यजन्तीति भावार्थः' इत्युक्तम्, तदपि न, निर्मूलत्वात्॥ ३॥

अ॒श्व॒त्थे वो॑ नि॒षद॑नं प॒र्णे वो॑ व॒स॒तिष्कृ॒ता । गो॒भाज॒ इत्किला॑सथ॒ यत्स॒नव॑थ॒ पूरु॑षम् ॥४॥

मन्त्रार्थ—पीपल की लकड़ी से निर्मित उपभृत् और स्रुक् पात्र तुम्हारा स्थान है, पलाश-पत्र से निर्मित जुहू में तुम्हारा स्थान है। इस पात्र में हम हवि रखते हैं, होम के निमित्त जुहू में रखते हैं। हे हविर्भूत औषधियों, निश्चय ही तुम सब आदित्य की उपासना करने वाली हो, क्योंकि अग्नि में दी हुई आहुति आदित्य को प्राप्त होती है। अतः तुम सब अन्न आदि से यजमान को पुष्ट करो ॥ ४ ॥

'दक्षिणा सीरं निरस्याश्वत्थे व इति सर्वौषधं वपतीति' (का० श्रौ० २१।४।४)। हलं दक्षिणदिशि तूष्णीं प्रक्षिप्य कृष्टक्षेत्रमध्ये सर्वौषधं वपति। 'अथ सर्वौषधं वपति। यदेवादः सर्वौषधं तदेतद् बह्वीभिस्तद्वपत्येकयेदं दैवं चैव तत्पित्र्यं च व्याकरोत्यश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृतेति ज्योग् जीवातुमेवैभ्य एतदाशास्ते तथो हैषामेकैकोऽपरो जरसानुप्रैति ॥ अथैतन्निवपति। इयं वै पृथिवी प्रतिष्ठाऽस्यामेवैतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति पुरादित्यस्योदयात्तिर इव वै पितरस्तिर इव रात्रिस्तिर एव तत्करोति यथा कुर्वतोऽभ्युदियात् तदेनमुभयोरहोरात्रयोः प्रतिष्ठापयति ॥' (श० १३।८।३।१-२)। यद्वपति तदेकया 'अश्वत्थे' इत्यनया वपति। ज्योक् चिरम्, जीवातुर्जीवनम्, एभ्यो जीवेभ्यस्तदाशास्ते यदद ओषधीरेवाह—चन्द्रमसि युष्माकं धामानि। एषामेकैकं जरसा जीर्णः क्रमेणानुप्रैति। न च बहवो युगपत्, न वा अस्थविराः, न वा अक्रमेण। एनं प्रेतं निर्वपति नीचैर्वपति।

अनुष्टुप्। वो युष्माकमश्वत्थे आश्वथ्यामुपभृति निषदनं स्यात्, हविषां तत्र स्थापनात्। वो युष्माकं पर्णे पर्णमय्यां जुह्वां वसतिः स्थितिः कृता, अध्वर्युणा होमार्थं जुह्वां स्थापनात्। हे हविर्भूताः सर्वौषधयः। यूयमग्नौ हुताः सत्यो गोभाजोऽसथ भवथ। गामादित्यं भजन्तीति गोभाजः। किलेति विद्याप्रकर्षे। इत् एवार्थः। यद्वा अश्वत्थे फलिते सर्वौषधीनां फलवत्त्वेनाश्वत्थे निषदनम्। पलाशे च फलिते व्रीह्यादीनां फलितत्वेन पर्णे वसतिः। यद् यस्मात् कारणात् पुरुषं यजमानं यूयं सनवथ सेवध्वमन्नदानेन पोषयथ। देवाधिष्ठानादश्वत्थो लोके नतिप्रदक्षिणादिभिः पूज्यते, पलाशश्चेध्मादिरूपेण। एवं यूयं गोभाज एव भूभाज एव स्थ। १२।७९ इत्यत्र व्याख्यातपूर्वोऽयं मन्त्रः।

अध्यात्मपक्षे—हे जीवात्मानः साधकाः, न श्वोऽपि स्थातेत्यश्वत्थः, अश्वत्थे संसारवृक्षे, 'अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' (भ० गी० १५।१) इत्युक्तेः। वो निषदनम्, पर्णे पत्रे, अवश्यायकण इव ते वसतिः स्थितिः। ननु नित्यनिरतिशयब्रह्मरूपस्य मम कथमेवं स्थितिरिति तत्राह—किल प्रसिद्धम्, यूयं गोभाज एव गाव इन्द्रियाणि तानि भजन्तीति गोभाजः, यद्वा गौरिति पृथिव्यादिभूतपञ्चकस्योपलक्षणम्, इन्द्रियभाक्त्वात् पाञ्चभौतिकदेहभाक्त्वाच्च तत्रैवं स्थितिरित्यर्थः। तस्मात् सर्वोपद्रवशान्तये यूयं पूरुषं परमात्मानं सनवथ सेवध्वम्।

दयानन्दस्तु—'हे जीवाः ! ईश्वरेणाश्वत्थे वो निषदनं कृतं पर्णे वो वसतिः कृता। यत्पुरुषं किल सनवथ तेन सह गोभाज इह यूयं प्रयत्ने धर्मेऽसथ' इति, तदपि न, रूढेर्योगापहारेण प्रसिद्धाश्वत्थपर्णाद्यर्थमपहाय लाक्षणिकार्थग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, गौणमुख्यग्रहणसंशये मुख्यग्रहणस्यौत्सर्गिकत्वात्। बलवद्बाधकोपनिपाताद्देवाकाशप्राणशब्दौ मुख्यार्थात् प्रच्याव्यान्यत्र प्रतिष्ठापितौ। न च बलवद् बाधकं किञ्चिद् दृश्यते। तस्मान्मुख्यार्थत्यागे प्रमाद एव ॥ ४ ॥

स॒वि॒ता ते॒ शरी॑राणि मा॒तुरु॒पस्थ॒ आ व॑पतु । तस्मै॑ पृथिवि॒ शं भ॑व ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान, सूर्य तुम्हारे शरीर को पृथ्वी की गोदी में स्थापित करें। हे पृथिवि, तुम उस यजमान के अस्थिरूप शरीर को सुख प्रदान करो ॥ ५ ॥

'सविता त इति शरीराणि निवपति मध्ये' (का० श्रौ० २१।४।५)। तस्य पुरुषमात्रस्य क्षेत्रस्य मध्ये मृतस्यास्थीनि राशीकरोति। एतच्च सूर्योदयकाले कर्तव्यम्, 'यथा कुर्वतोऽभ्युदियात्' (श० १३।८।३।२) इति श्रुतेः, 'सविता ते शरीराणि। मातुरुपस्थ आवपत्विति सवितैवास्यैतच्छरीराण्यस्यै पृथिव्यै मातुरुपस्थ आवपति तस्यै पृथिवि शम्भवेति यथैवास्मा इयᳪ शᳪ स्यादेवमेतदाह प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके निदधाम्यसाविति नाम गृह्णात्ययं वै लोक उपोदकस्तदेनं प्रजापतौ देवतायामुपोदके लोके निदधाति' (श० १३।८।३।३) इति च। गायत्री सवितृदेवत्या। हे यजमान ! सविता सूर्यस्ते तव शारीराणि अस्थीनि मातुः पृथिव्या उपस्थे उत्सङ्गे आवपतु स्थापयतु। हे पृथिवि भूमे, तस्मै सवित्रोप्तायास्थिरूपाय यजमानाय शं सुखरूपा भव।

अध्यात्मपक्षे—हे जीवात्मन्, सविता परमेश्वरः। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे पृथिवि कन्ये, त्वं यस्यास्ते शरीराणि मातुरुपस्थे स पिता आवपतु, सा त्वं तस्मै पित्रे शं भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पृथिवीशब्दस्य मुख्यार्थत्यागे मानाभावात्। सवितृपदेनापि प्रसिद्धं सवितारमपहायोत्पादकस्य पितुर्ग्रहणमपि निर्मूलमेव ॥ ५ ॥

प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके नि दधाम्यसौ। अप नः शोशुचदघम् ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि, मैं जल के समीपवर्ती स्थान में, प्रजापति देवता की स्मृति में, तुम्हें स्थापित करता हूँ। वह प्रजापति हमारे पापों को दूर करें ॥ ६ ॥

प्रजापतिदेवत्या उष्णिक्, अस्थिनिवापे विनियुक्ता। असाविति नामग्रहणम्, अनुदात्तत्वादामन्त्रितम्। तद्यथा—हे देवदत्त ! उपोदके उदकसमीपवर्तिनि लोके स्थाने प्रजापतौ देवतायां त्वां निदधामि। स प्रजापतिर्नोऽस्माकमघं पापमपशोशुचत्। 'शुच शोके' यङ्लुगन्तम्, अत्यर्थं दहतु।

अध्यात्मपक्षे—हे जीवात्मन् ! उपादके, उदकमिति कर्मनाम, उदकसमवायित्वात् कर्मफलदातृत्वेन कर्मसमीपवर्तिनि लोके कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठानफलभूते प्रजापतौ हिरण्यगर्भे त्वां निदधामि। असौ प्रजापतिः। नोऽस्माकमघमपशोशुचत्।

दयानन्दस्तु—'हे जीव, योऽसौ नोऽघमपशोशुचत्, तस्यां प्रजापतिदेवतायामुपोदके लोके च त्वां निदधामि' इति, तदपि न, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि—कोऽसौ वक्ता ? जीव ईश्वरो वा ? नाद्यः, तस्य जीवान्तरधारणे सामर्थ्याभावात्। न च जीवो जीवान्तरं परमात्मन्युपोदके वा धारयितुं शक्नोति, अमूर्तस्य तस्य ज्ञाने धारणे वा सामर्थ्याभावात्। नान्त्यः, तस्याघाभावेन यो नोऽघमपशोशुचदित्युक्तेरयोगात्, परमेश्वरधारणेनैवाभीष्टसिद्धावुपोदकधारणस्य निरर्थकत्वाच्च ॥ ६ ॥

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाᳪ रीरिषो मोत वीरान् ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे मृत्यो, तुम यहाँ से पराङ्मुख होकर दूसरे मार्ग से जाओ। तुम्हारा मार्ग देवयान मार्ग से तुच्छ है। ज्ञानियों से सुनकर कहता हूँ कि तुम पितृयान मार्ग के अधिकारी हो। हमारी सन्तान, वंश-परम्परा का तुम नाश मत करो, हमारे वीर पुत्रों की भी रक्षा करो ॥ ७ ॥

'प्रत्यागते परं मृत्यविति जपतीति' (का० श्रौ० २१।४।७)। दक्षिणां दिशं गत्वाऽनुच्छ्वशन् कुम्भं प्रक्षिप्यैहीति कश्चिद्विप्रः प्रेषितोऽस्ति, तस्मिन् कुम्भं क्षिप्त्वा प्रत्यागते सति यजमानोऽध्वर्युर्वा जपति। 'अथ कश्चिदाह। एतां दिशमनवानन् सृत्वा कुम्भं प्रक्षीयानपेक्षमाण एहीति तत्र जपति परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाᳪं रीरिषो मोत वीरानिति ज्योग्जीवातुमेवैभ्य एतदाशास्ते तथो हैषामेकैकोऽपरो जरसाऽनुप्रैति' (१३।८।३।४)। एतां दक्षिणां दिशम्। कश्चित् प्रकृतं पुरुषमाह—अनवानन् अनुच्छ्वसन् सृत्वा अस्थिकुम्भं प्रक्षिप्य, 'क्षि हिंसायाम्', प्रपूर्वः प्रक्षेपे वर्तते, प्रक्षिप्यानवेक्षमाण एहीति स वै यथा प्रेषितं करोति, तत्र च प्रत्यागते जपति परं मृत्यो इति। मृत्युदेवत्या त्रिष्टुप् संकसुकदृष्टा। हे मृत्यो परा पराङ्मुखो भूत्वा परमन्यं पन्थां पन्थानं मार्गमन्विहि अनुगच्छ। यस्ते त्वदीयः पन्था देवयानात् पथ इतरः, देवयानानि यस्मिन् स देवयानः, तस्मादितरस्तुच्छोऽन्यः पितृयानाख्यस्त-मन्विहीति सम्बन्धः। किञ्च, चक्षुष्मते ज्ञानिने शृण्वते च ते तुभ्यं मृत्योः ! किञ्चिद् ब्रमीमि। आदरार्थं वचनम्। नहि मृत्योः किञ्चिदप्यदृष्टमश्रुतं वा अस्ति। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। चक्षुष्मतः शृण्वतस्तव वदामि। किमिति चेत्तत्राह—हे मृत्यो, नोऽस्माकं प्रजां सन्ततिं वंशपरम्परां मा रीरिषः, उतापि च वीरान् पुत्रान् मा हिंसीः।

अध्यात्मपक्षे—देवयानात् पथोऽन्यः पितृयानाख्यः पन्था एव मृत्योर्विषयः, तत्रैव बाहुल्येन मृत्युप्रवृत्तेः। देवयानाख्ये पथि तु क्वचिदेव सकामे पुरुष एव प्रवृत्तिः, अन्येषां परान्तकाल एव मृत्योः प्रवृत्तिः, ततः सर्वेषां मुक्तेः, 'ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' (कैव० उ० ४) इति श्रुतेः। स्वतस्तु मृत्योर्न कस्मिन्नपि मार्गे प्रवृत्तिः, ब्रह्मविद्वरिष्ठत्वेन देवयानपितृयानमार्गातीतत्वात्, 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते' (बृ० उ० ४।४।६) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य ! यस्ते देवयानादितरो मार्गोऽस्ति, तं पन्थानं मृत्यो परेहि मृत्युः परैतु। यतस्त्वं परं देवयानमन्विहि। अत एव चक्षुष्मते शृण्वतेऽहं ते ब्रवीमि यथा मृत्युर्नः प्रजां न हिंस्यात्। उतापि वीरान्न हन्यात्, तथा त्वं नः प्रजां मा रीरिषः' इति, तन्न, विरुद्धत्वाद्विशृङ्खलत्वाच्च, व्यत्ययेन मृत्युः परैत्वित्यङ्गीकारेऽपि विसङ्गतेः। हिन्दीभाष्ये दूरं गच्छत्वित्युक्तम्, तादृशेऽर्थे मृत्युपदं व्यर्थं स्यात्। को मृत्युं नियच्छेत ? न जीवः, तस्य सामर्थ्यायोगात्। नेश्वरः, तस्य मृत्युर्नः प्रजां न हन्यादिति प्रार्थनासम्भवात्। विचित्रमिदम्, यमुपदिशति तमेव प्रार्थयते प्रजाया अहिंसनायेति केन किं श्लिष्यते ॥ ७ ॥

शं वातः शᳪं हि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः।

शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाऽभि शूशुचन् ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान ! वायु और सूर्यदेव तुम्हें सुख प्रदान करें। मध्य में और दिशाओं में स्थापित इष्टकाएँ तुम्हारे लिये सुखरूप हों। पृथ्वी की अग्नि तुम्हें सुख प्रदान करे, तुम्हें तापित न करे ॥ ८ ॥

'शं वात इति यथाङ्गं कल्पयित्वेष्टकां निदधाति मध्ये तूष्णीमिति' (का० श्रौ० २१।४।८)। शं वात इति मन्त्रद्वयेन तानि मध्ये न्युप्तान्यस्थीनि यथाङ्गं कल्पयित्वा यदस्थि यस्याङ्गस्य तेनास्थ्ना तदङ्गकल्पनया प्राक्शिरसं पुरुषाकृतिं कृत्वा तन्मध्ये पादमात्रामिष्टकां तूष्णीं निदधाति। 'अथैनं यथाङ्गं कल्पयति। शं वातः''''ते दिशः सर्वा इत्येतदेवास्मै सर्वं कल्पयत्येतदस्मै शिवं करोति' (श० १३।८।३।५)। एवमस्थ्यात्मकं प्रेतं यथाङ्गं येष्वङ्गेषु यथा अङ्गं बभूव, तेषु तथैवेत्यस्मिन्नर्थेऽव्ययीभावः समासः। एतदस्मै प्रेताय सर्वं कल्पयति शिवं करोति।

द्वे ऋचावनुष्टुब्बृहत्यौ विश्वदेवदेवते। हे यजमान ! वातो वायुस्ते तव शं सुखरूपोऽस्तु। शं हि ते घृणिः सूर्यकिरणस्ते तव सुखरूपोऽस्तु। इष्टका मध्ये प्रतिदिशं च तिस्रस्तिस्रः प्रक्षिप्तास्ते तव शं सुखरूपा भवन्तु। अग्नयश्च ते तव शं सुखरूपा भवन्तु। पार्थिवासः पृथिव्यां भवाः पार्थिवाश्चाग्नयस्त्वा त्वां माऽभिशूशुचन् मा शोचयन्तु माऽभितापयन्तु।

'अथ त्रयोदश पादमात्र्य इष्टका अलक्षणाः कृता भवन्ति''''॥ त्रयोदश भवन्ति त्रयोदश मासाः''''॥ पादमात्र्यो भवन्ति प्रतिष्ठा वै पादः''''॥ तासामेकां मध्ये प्राचीमुपदधाति। स आत्मा तिस्रः पुरस्तान्मूर्धसꣳहितास्तच्छिरस्तिस्रो दक्षिणतः स दक्षिणः पक्षस्तिस्र उत्तरतः स उत्तरः पक्षस्तिस्रः पश्चात् तत्पुच्छꣳ सोऽस्यैष पक्षपुच्छवानात्मा यथैवाग्नेस्तथा॥ अथ प्रदरात् पुरीषमाहर्तवा आह। एतद्धास्याः पित्र्यमनतिरिक्तमथो अघमेव तद्वद्ध करोत्यस्मिन्नु हैकेऽवान्तरदेशे कर्षूं खात्वा ततोऽभ्याहारं कुर्वन्ति''''स यथा कामयेत तथा कुर्यात्॥' (श० १३।८।३।६-१०) इति च शतपथब्राह्मणवचनान्यत्र स्मर्तव्यानि।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक ! वातस्ते शं सुखकरोऽस्तु। घृणिः सूर्यो हि निश्चयं सुखरूपोऽस्तु। इष्टका ब्रह्मदृष्ट्या दृष्टा इष्टकाश्चितिगता इष्टकास्ते शं भवन्तु, पार्थिवा अग्नयश्च ते शं भवन्तु, सर्वस्यैव ब्रह्मजत्वेन ब्रह्मरूपत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे जीव, ते वातः शं भवतु, घृणिः शं हि भवतु, इष्टकास्ते शं भवन्तु, पार्थिवासोऽग्नयस्ते शं भवन्तु, एते त्वां माभिशूशुचन्' इति, तदपि न, त्वद्रीत्या तादृशोक्तेरप्रासङ्गिकत्वात्। न च धर्मयुक्तव्यवहारोपदेशेन तत्प्रसक्तिः, मन्त्रे व्यवहारोपदेशस्यादर्शनात्। अक्षरार्थस्तु महीधरानुसार्येव॥ ८॥

कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः।
अन्तरिक्षꣳ शिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः॥ ९॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान ! पूर्व आदि दिशाएँ तुम्हारे लिये शुभ संकल्प वाली हों, जल देवता तुम्हारे लिये कल्याणकारी हो, समुद्र और अन्तरिक्ष तुम्हारे लिये कल्याणकारी हो, सारी विदिशाएँ तुम्हारे लिये शुभ संकल्प करें॥ ९॥

ते तुभ्यं त्वदर्थं दिशः कल्पन्तां क्लृप्ताः समर्था भवन्तु। आपो जलानि तुभ्यं शिवतमा अत्यन्तं कल्याणरूपाः सन्तु। सिन्धवः समुद्राश्च शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु। अन्तरिक्षं शिवं कल्याणकारि, सर्वाः दिशस्ते तुभ्यं कल्पन्ताम्। आदरार्थं कार्त्स्न्यार्थं वा सर्वा इति पुनर्वचनम्।

अध्यात्मपक्षे—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा० उ० ३।१४।१)। ब्रह्मदृष्ट्या दृष्टानि सर्वाणि वस्तूनि सुखरूपाणि भवन्तु। व्याख्यानं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे जीव, ते दिशः शिवतमाः कल्पन्ताम्। तुभ्यमापः शिवतमा भवन्तु। तुभ्यं सिन्धवः शिवतमा भवन्तु। तुभ्यं शिवमन्तरिक्षं भवतु। ते सर्वा दिशः शिवतमाः कल्पन्ताम्' इति, तन्न, विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि—जीवः परमेश्वरो वा वक्ता ? न जीवः, दिगादीनां तद्वशवर्तित्वाभावात्। नान्त्यः, तस्य तथाज्ञायां सत्यां जीवानां कृते दिगादीनां प्रातिकूल्यानापत्तेः। धार्मिकाणां कृते तदाज्ञेति चेन्न, मन्त्रे तथाऽनिर्देशात्॥ ९॥

अश्मन्वती रीयते सꣳरभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा ये असञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥ १०॥

मन्त्रार्थ - हे मित्रों ! बालू से भरी हुई नदी बहती है, इसमें उतरने का प्रयत्न करो, इसके पार पहुँचो। इस प्रदेश में जो अशान्त दुष्ट राक्षस आदि हों, उनका हम परित्याग करें। कल्याणप्रद अन्न हमें प्राप्त हो ॥ १० ॥

'अध्यधिगच्छन्त्यश्मन्वतीरिति' (का० श्रौ० २१।४।२३)। गर्तान्मृदमानीय पूर्ववर्जदिग्भ्यः कृष्ट्वा वा मृदमानीय तत् श्मशानं विप्रस्य मुखमितं क्षत्रस्योरोमितं वैश्यस्योरुमितं स्त्रिया भगमितं शूद्रस्य जानुमितं सर्वेषां वा जानुमितं मृदा कृत्वा शैवलैः कुशैश्च प्रच्छाद्य तद्दक्षिणतो गर्तौ खात्वा क्षीरोदकाभ्यां सम्पूर्य श्मशानोत्तरे सप्त गर्तान् खात्वा दक्षिणोत्तरान् जलेन सम्पूर्योत्तरगर्तेऽध्वर्युयजमानामात्यांस्त्रीन् पाषाणान् प्रक्षिप्याश्मन्वतीरिति मन्त्रेण तद्गर्तोपरि गच्छन्ति।

अत्र ब्राह्मणम्—"तद्वै न महत् कुर्यात्। नेन्महदघं करवाणीति यावानुद्बाहुः पुरुषस्तावत् क्षत्रियस्य कुर्यान्मुखदघ्नं ब्राह्मणस्योपस्त्यदघ्न७ँ स्त्रिया ऊरुदघ्नं वैश्यस्याष्ठीवद्घ्न७ँ शूद्रस्यैवं वीर्या ह्येत इति ॥ अधोजानु त्वेव कुर्यात्। तथापरस्मा अवकाशं न करोति तस्य क्रियमाणस्य तेजनीमुत्तरतो धारयन्ति प्रजा ह सा प्रजामेव तदुत्तरतो धारयन्ति तान् न न्यस्येद् धृत्वा वैनामूढ्वा वा गृहेषूच्छ्रयेत् प्रजामेव तद् गृहेषूच्छ्रयति ॥' (श० १३।८।३।११-१२)। तेजनीं वीरणमूलम्। अत्रत्यं पक्षान्तरम्—'सर्वेषां वाऽधोजानु' (२१।४।१८) इति कात्यायनेनापि प्रदर्श्यते। 'अथैनं शङ्कुभिः परिणिहन्ति' (श० १३।८।४।१) इत्यादिनाप्ययमर्थो वितानितः।

विश्वेदेवदेवत्या त्रिष्टुप् सुचीकदृष्टा। एषा अश्मन्वती पाषाणवती नदी रीयते गच्छति, 'री गतौ' दिवादिरात्मनेपदी। अतो हे सखायः, यूयमुत्तरणाय संरभध्वं प्रयतध्वम्। संरम्भश्चोत्तरणाय प्रयत्नकरणमेव। उत्तिष्ठत अभिमुखा भवत। प्रतरत प्रकर्षेण तां नदीं तरत। किमिति ? यतोऽत्र प्रदेशे ये अशिवा अकल्याणरूपा दुष्टा राक्षसादयः, असन् स्युः, तान् वयं जहीमः परित्यजामः। तेषु त्यक्तेषु शिवान् सुखकरान् वाजान् अन्नविशेषान् वयमुत्तरेम प्राप्नुयाम।

अध्यात्मपक्षे—हे सखायो मित्राणि साधकाः, एषा संसारनदी अश्मन्वती पाषाणवती विषमा रागद्वेषादिमती रीयते, अतो यूयं संरभध्वमुत्तरणाय तत्त्वज्ञानेन तदतिक्रमणाय प्रयतध्वम्, उत्तिष्ठत निद्रां विहाय जाग्रत, प्रबुद्धा भवत, प्रकर्षेण तां नदीं तरत। किमर्थं तदतिक्रमणं कर्तव्यम् ? यतो ह्यत्र प्रदेशेऽशिवा अशान्ताः कामक्रोधादिराक्षसाः, असन् सन्ति, तस्मात् तस्यास्तरणेन तान् जहीमः परित्यजामः। ततो वयं शिवान् सुखमयान् वाजान् मोक्षरूपान् भोगान् उत्तरेम प्राप्नुयाम, ज्ञानवैराग्यभक्तिबलेन संसारनदीतरणान्मोक्षसुखभोगान् प्राप्नुयाम।

दयानन्दस्तु—'हे सखायः, याऽश्मन्वती रीयते, तया वयं येऽत्राऽशिवा असंस्तान् जहीमः, शिवान् वाजानभ्युत्तरेम, तथा यूयं संभरध्वमुत्तिष्ठत प्रतरत च' इति, तदपि न, पूर्वोक्तदोषानतिक्रमणात् ॥ १० ॥

अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रपः।
अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्य७ँ सुव ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे अपामार्ग ! तुम हमारे मानस पाप को दूर करो, कीर्ति के नाशक शारीरिक पाप को दूर करो। दूसरों के द्वारा हमारे विरुद्ध प्रयुक्त किये गये अभिचार कर्मों को दूर करो। हमारी वाणी के पापों को दूर करो और बुरे स्वप्नों से पैदा होने वाले दुःखरूप फल को भी दूर करो ॥ ११ ॥

'अपाघमित्यपामार्गैरपमृजत इति' (का० श्रौ २१।४।२४)। तेऽमात्या यज्ञोपवीतिनो भूत्वाऽप उपस्पृश्य हस्तगृहीतैरपामार्गैः स्वशरीरं शोधयन्ते, अपामार्गबीजैरुद्वर्तयन्तीति केचित्। लिङ्गोक्ता देवता, अनुष्टुप् शुनः-

शेपदृष्टा दुःस्वप्ननाशिनी। अत्र ब्राह्मणम् —'पालाशं पुरस्तात्''' शमीमयमुत्तरतः''''वारणं पश्चात्''' वृत्रशङ्कुं दक्षिणतः' (श० १३।८।४।१)। 'अथ दक्षिणतः परिवक्रे खनन्ति। ते क्षीरेण चोदकेन च पूरयन्ति ते हैनममुष्मिँल्लोके कुल्ये उपधावतः सप्तोत्तरतस्ता उदकेन पूरयन्ति ' (श० १३।८।४।२)। 'अश्मनस्त्रींस्त्रीन् प्रकिरन्ति। ता अभ्युत्तरन्त्यश्मन्वती रीयते''''' (श० १३।८।४।३)। 'अपामार्गैरपमृजते। अघमेव तदपमृजतेऽपाघमप किल्बिष''' (श० १३।८।४।४) इति।

हे अपामार्ग, त्वमस्मद् अस्मत्तः सकाशादघं मानसं पापमपसुव अपगमय, 'सू प्रेरणे', अपगमय च किल्विषं कीर्तिभेदकं कीर्तिनाशकमकीर्तिकरं कायिकं च पापमपगमय। कृत्यां परकृतमभिचारमपसुव। अप उ रपः, 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' (निरु० ४।२१) इति यास्करीत्या रपः पापं वाचिकं च अपसुव। उ चार्थः। दुःस्वप्न्यम्, दुष्टः स्वप्नो दुःस्वप्नः, तत्र भवं दुस्वप्न्यम्, दुःस्वप्नोत्थमसुखरूपं फलं चास्मत्तोऽपसुव।

अध्यात्मपक्षे—मानसकायिकवाचनिकपापापनोदने परकृत्यादुःस्वप्नादिजनितोपद्रवादिकापगमे सति स्वस्थे चेतसि ब्रह्मात्मसाक्षात्कारादिकं सम्पद्यते। तत्र च बाह्यैर्द्रव्यैर्मन्त्रैश्च मार्जनसेचनादिकमुपयुज्यते। तदेवात्रोच्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे अपामार्ग सज्जनपुरुष, त्वमस्मदघमपसुव, किल्बिषमपसुव, कृत्यामपसुव, रपोऽपसुव, दुःस्वप्न्यमपसुव प्रेरय' इति, तदपि न, अपामार्गशब्दस्य प्रसिद्धार्थत्यागस्य निर्मूलत्वात्। न च जडस्यापामार्गस्य तादृशप्रार्थनानुपपत्त्या गौणार्थाश्रयणमिति वाच्यम्, सज्जनपुरुषस्यापि परकीयकिल्बिषदुःस्वप्न्यादिकापनयनेऽसामर्थ्यस्य तुल्यत्वात्। सिद्धान्ते त्वपामार्गाधिष्ठातृदेवताया ऐश्वर्यवत्त्वेन तादृशप्रार्थनाया युक्तत्वात् ॥ ११ ॥

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—जलदेवता और ओषधियाँ हमारे लिये कल्याणकारी हों और उस हमारे शत्रु के लिये वे अमंगलमय हों, जो हमारे प्रति द्वेषभाव रखते हैं अथवा हम जिनके प्रति द्वेषबुद्धि रखते हैं, इस आशंका से कि यह हमारा अनिष्ट करेगा ॥ १२ ॥

'सुमित्रिया न इति स्नात्वाऽहतवाससोऽनडुत्पुच्छमन्वारभ्यानड्वाहमित्युद्वयमित्यागच्छन्तीति' (का० श्रौ० २१।४।२५)। 'सुमित्रिया' इति मन्त्रेण स्नात्वा नूतनवस्त्राणि परिहितवन्तोऽनड्वाहमिति मन्त्रेण वृषपुच्छमन्वारभ्य उद्वयमिति मन्त्रेण यजमानामात्या ग्रामानागच्छन्ति। यद्यप्यत्र 'सुमित्रिया' इति मन्त्रेण स्नानमुक्तम्, तथापि 'सुमित्रिया न इत्यपोऽञ्जलिनादाय दुर्मित्रिया इति द्वेष्यं परिषिञ्चतीति' (का० श्रौ १९।५।१५) इति कात्यायनवचनानुरोधाद् द्वयं विधेयम्। सुमित्रिया आप ओषधयश्च नोऽस्माकं साधुमित्रत्वेनोपस्थिताः सन्तु। यः शत्रुरस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः, तस्मै उभयात्मकाय शत्रवे आप ओषधयश्च दुर्मित्रिया अमित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु। ८।५२ इत्यत्र व्याख्यातोऽयं मन्त्रः। आध्यात्मिकोऽर्थस्तत्रैव द्रष्टव्यः।

अत्र ब्राह्मणम्—'यत्रोदकं भवति तत् स्नान्ति। सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्त्वित्यञ्जलिनाऽप उपाचति वज्रो वा आपो वज्रेणैवैतममित्रधेयं कुरुते दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति यामस्य दिशं द्वेष्यः स्यात्तां दिशं परिषिञ्चेत् तेनैव तत्पराभावयति' (१३।८।४।५)। 'स यदि स्थावरा आपो भवन्ति। स्थापयन्त्येषां पाप्मानमथ यदि वहन्ति वहन्त्येवैषां पाप्मानꣳ स्नात्वाऽहतानि वासाꣳसि परिधायानडुहः पुच्छमन्वारभ्यायन्त्याग्नेयो वाऽनड्वानग्निमुखा एव तत्पितृलोकाज्जीवलोकमभ्यायन्त्यथो अग्निर्वै पथोऽतिवोढा

स एनानतिवहति' (श० १३।८।४।६) । 'उद्वयं तमसस्परीति । एतामृचं जपन्तो यन्ति तत्तमसः पितृलोकादादित्यं ज्योतिरभ्यायन्ति तेभ्य आगतेभ्य आञ्जनाभ्यञ्जने प्रयच्छन्त्येष ह मानुषोऽलङ्कारस्तेनैव तं मृत्युमन्तर्दधते' (श० १३।८।४।७)

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! या आप ओषधयो नोऽस्मभ्यं सुमित्रियाः सन्तु, ता युष्मभ्यमपि तादृश्यो भवन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्मा एता दुर्मित्रियाः सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, त्वद्रीत्याऽनीश्वराणामपां तादृशप्रार्थनाया निरर्थकत्वात् । सिद्धान्ते त्वापो देवता ऐश्वर्योपेताः सन्तीति श्रद्धया विधिना विशिष्टशक्तिमता मन्त्रेण प्रार्थिताः पूरयन्त्येवाभिलषितम् ॥ १२ ॥

अनड्वाहमन्वारभामहे सौरभेयँ स्वस्तये ।
स न इन्द्र इव देवेभ्यो वह्निः सन्तारणो भव ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—गाय के पुत्र वृषभ का हम अपने कल्याण के लिये स्पर्श करते हैं । हे वृषभ ! तुम हमारे तारक बनो, क्योंकि तुम ज्ञानियों की उसी तरह से रक्षा करते हो, जैसे इन्द्र देवताओं की रक्षा करते हैं ॥ १३ ॥

अनुष्टुप्, अनड्द्देवत्या । उत्तरोऽर्धर्चः प्रत्यक्षकृतः, अतो यच्छब्दाध्याहारेण व्याख्येयः । वयं यमनड्वाहमन्वारभामहे आलभामहे स्पृशामः । कीदृशम् ? सौरभेयम्, सुरभ्या अपत्यम्, 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा० सू० ४।१।१२०) इति ढक् । किमर्थम् ? स्वस्तये अविनाशाय । हे अनड्वान्, स त्वं नोऽस्माकं देवेभ्य इन्द्र इव संतारणस्तारको दुःखनाशकश्च भव । किञ्च, त्वं वह्निर्देवानां वोढा । तत्रैव दृष्टान्तः—देवेभ्य इन्द्र इव । इन्द्रो यथा देवार्थं तारकस्तथाऽस्माकं तारको भवेति ।

अध्यात्मपक्षे—वयं स्वस्तये कल्याणाय सौरभेयं सुरभेरपत्यमनड्वाहमिव धर्ममन्वारभामहे स्पृशामः । हे अनड्वन् धर्मप्रतीक ! स त्वं नोऽस्माकं वह्निर्वोढा निर्वोढा, संतारणो दुःखेभ्यस्तारकश्च भव ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यो वह्निर्नो देवेभ्यः संतारणो भवति, तं सौरभेयमनड्वाहमिव वर्तमानमग्निं वयं स्वस्तयेऽन्वारभामहे । स तुभ्यमिन्द्र इव मम भवतु' इति, तदपि न, मन्त्रे याननिर्माणस्याचर्चितत्वात् । न च तादृशे वह्नौ सौरभेयो दृष्टान्तमर्हति, तुलनाऽदर्शनात् । न च जनौ सादृश्यम्, वैषम्यात् ॥ १३ ॥

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—अन्धकारमय लोक से परम श्रेष्ठ स्वर्ग लोक को देखते हुए हम देवलोक में सूर्य देवता को देखते हुए श्रेष्ठ ब्रह्म ज्योति को प्राप्त करते हैं ॥ १४ ॥

उद्वयं तमस इति ग्राममागच्छति । वयं तमसस्परि तमसः सकाशात् तमोबहुलादस्माल्लोकाद् उदगन्म उद्गताः । कीदृशा वयम् ? उत्तरमुत्कृष्टतरं स्वः स्वर्गं पश्यन्त ईक्षमाणाः । किञ्च, देवत्रा देवलोके सूर्यं देवं पश्यन्तः सन्त उत्तमं ब्रह्मस्वरूपं ज्योतिरगन्म प्राप्ताः । २०।२१ इत्यत्र व्याख्याता ॥ १४ ॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—मैं विद्यमान जीवों के लिये मर्यादा की स्थापना करता हूँ कि इन जीवों के बीच में कोई भी शीघ्र, अर्थात् प्रारब्ध कर्म की समाप्ति के पहले पितृलोक जाने का संकल्प न करे। दान, अध्ययन, याग के अनुकूल पूर्ण आयु पर्यन्त जीये और ब्रह्माण्डस्तम्भ रूप मर्यादा, अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान के द्वारा मृत्यु को अपने से दूर रखे ॥ १५ ॥

'ग्रामश्मशानान्तरे मर्यादालोष्टं निदधातीमं जीवेभ्य इति मन्त्रेण' (का० श्रौ० २१।४।२६)। स्वनिवास-ग्रामस्य श्मशानस्य च मध्ये मर्यादालोष्टं महत्तरं मृत्खण्डमध्वर्युरेव निदधाति। अत्र ब्राह्मणम्—'मर्यादाया एव लोष्टमाहृत्य। अन्तरेण निदधातीमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषान्नु गादपरो अर्थमेतम्। शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेनेति जीवेभ्यश्चैवैतां पितृभ्यश्च मर्यादां करोत्यसम्भेदाय तस्मादु हैतज्जीवाश्च पितरश्च न सन्दृश्यन्ते' (श० १३।८।४।१२)।

मनुष्यदेवत्या त्रिष्टुप् संकसुकदृष्टा। जीवेभ्यो जीवितप्राणिभ्योऽर्थाय इमं परिधिं मर्यादाम्, परिधीयत इति परिधिस्तम्, दधामि स्थापयामि। किमर्थमिति चेत्, एषां जीवानां मध्येऽपरः कश्चित्, नु क्षिप्रम्, वेदोक्तादायुषोऽर्वाक्, एतं पितृलोकगमनलक्षणमर्थं कार्यमुद्दिश्य मा गाद् मा गच्छतु। एते जीवाः शतं शरदो जीवन्तु, शतवर्षायुषो भवन्तु। कथम्भूताः शरदः ? पुरूची पुरु बहु अञ्चन्तीति पुरूच्यो दानाध्ययनयागानुकूलाः। किञ्च, पर्वतेन लोष्टरूपेण, पर्वतेनेव लोष्टेन वा मृत्युमन्तर्दधतां मृत्युमन्तर्हितं कुर्वन्तु, एते जीवाः।

अध्यात्मपक्षे—जीवेभ्यः प्राणधारिभ्यो वेदमिमं परिधिं मर्यादां दधामि स्थापयाम्यहं परमेश्वरः। एषां जीवानां मध्येऽपरः कश्चिदपि, एतमर्थम्, नु वितर्के, मा गाद् मा अतिक्रामतु, धातूनामनेकार्थत्वाद् गमेरतिक्रमणमर्थः। तथा मर्यादां पालयन्त एते पुरूची यागदानादिकर्मानुकूलाः शतं शरदो जीवन्तु, पर्वतेनेव ते मृत्युमन्तर्दधतां मृत्युमन्तर्हितं कुर्वन्तु, वचनव्यत्ययः।

दयानन्दस्तु—'अहं परमेश्वरः, एषां जीवानामपि प्रेतार्थमपरो मा नु गादितीमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि, एवमाचरन्तो भवन्तः पुरूचीः शतं शरदो जीवन्तु, पर्वतेन मृत्युमन्तर्दधताम्' इति, तदपि न, पर्वतपदेन ब्रह्मचर्यग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, 'अन्यस्यार्थमन्यो न गृह्णातु' इत्यर्थस्य च निर्मूलत्वात्, मन्त्रे 'अन्यस्य' इति पदाभावाच्च ॥ १५ ॥

अग्न आयूꣳषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप ही आयु प्राप्त कराने वाले कर्मों के कर्ता हैं, हमें धन-धान्य और दही-दूध आदि रस दीजिये, दूर स्थित दुष्ट श्वानों के समान दुर्जनों की बाधा से हमारी रक्षा कीजिये, जिससे कि हम उनके आक्रमण से बच सकें ॥ १६ ॥

'अञ्जनाभ्यञ्जने कृत्वौपासनं परिस्तीर्य वारणान् परिधीन् परिधाय वारणेन स्रुवेणैकामाहुतिं जुहोत्यग्न आयूꣳष्यायुष्मानग्न इति' (का० श्रौ० २१।४।२७)। कज्जलादिना नेत्राञ्जनमञ्जनम्, तैलेन पादाद्यञ्जन-मभ्यञ्जनम्, तद् द्वयं कृत्वा औपासनं कर्तुरावसथ्याग्निं दर्भैः परिस्तीर्य वारणवृक्षावयवांश्चतुरः परिधींश्चतुर्दिक्षु तूष्णीमेव परिधाय वारणेन स्रुवेणैकामाहुतिं जुहुयाद् ऋग्द्वयेन। औपासनाग्निः प्रेतस्यैव, तस्यैवाद्वारेण निरसनीय-त्वादिति हरिस्वामिनः। कर्तुरेवौपासने होमस्तस्यैकदेशनिरसनमिति कर्कादयः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ गृहेष्वग्निꣳ समाधाय। वारणान् परिधीन् परिधाय वारणेन स्रुवेणाग्नय आयुष्मत आहुतिं जुहोत्यग्निर्वा आयुष्मानायुषा ईष्टे तमेवैभ्य आयुर्याचत्यग्न आयूꣳषि पवस इति पुरोऽनुवाक्याभाजनम् ॥

अथ जुहोति । आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो "यथैवैनानभिरक्षेद्यथाभिगोपायेदेवमेतदाह ।। तस्य पुराणोऽनड्वान् दक्षिणा । पुराणा यवाः पुराण्यासन्दी सोपबर्हणैषा न्वादिष्टा दक्षिणा कामं यथाश्रद्धं भूयसीर्दद्यात्' (श० १३।८।४।८-१०) ।

हे अग्ने ! त्वमायूंषि पवसे, स्वत एव आयुःप्रापकाणि पावयसे चेष्टयसे । अन्तर्भूतण्यर्थो द्रष्टव्यः । अत एव नोऽस्मदर्थमिष्टं व्रीह्यादिकमन्नमूर्जं दध्यादिरसं च आसुव ज्ञापय, देहीत्यर्थः, जीवनहेतुत्वात् । किञ्च, आरे दूरेऽपि स्थितानां दुच्छुनाम्, दुष्टाश्च ते श्वानश्च तेषाम्, कर्मणि षष्ठी । दुष्टान् शुनः सारमेयप्रायान् दुर्जनान् बाधकान् बाधस्व नाशयसि । १९।३८ इत्यत्र व्याख्याता ॥ १६ ॥

आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभि रक्षतादिमान्त्स्वाहा ।। १७ ।।

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप चिरायु हों । आप हवि से बढ़ते हैं, घृतयुक्त मुख वाले हैं । घृतरूप उत्पत्तिस्थान वाले आप वृद्धि को प्राप्त हों । गाय के मधुर सुगन्धित घृत का पान कर आप इन जीवों की रक्षा करें, जैसे कि पिता पुत्र की रक्षा करता है । आपके लिये यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित है ॥ १७ ॥

अग्निदेवत्या त्रिष्टुप्, वैखानसदृष्टा । हे अग्ने, त्वमेवंभूतो निम्नोक्तविशेषणविशिष्टः, एधि भव । कीदृशः ? आयुष्मान् चिरञ्जीवी । तथा हविषा वृधानः, वर्धसेऽसौ वृधानः, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शानचि शपो लुक् । तथा घृतप्रतीको घृतं प्रतीकं मुखं यस्य सः । घृतयोनिः, घृतं योनिरुत्पत्तिस्थानं यस्य सः । उत्तरवेद्यां धारणाभिप्रायमेतत् । स त्वं गव्यं घृतं च पीत्वा इमान् जीवान् अभिरक्षतात् । 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' (पा० सू० ७।१।३५) इति हेस्तातङादेशः । तत्र दृष्टान्तः—पिता पुत्रमिव, यथा पिता पुत्रं रक्षति, तद्वत् । कीदृशं घृतम् ? मधु मधुरं चारु सुगन्धि । स्वाहा सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, पापदाहक अग्न्यवच्छिन्न परमेश्वर ! त्वमायुष्मान् चिरञ्जीवी एधि भव, तथा हविषा वृधानो वर्धमानः, घृतप्रतीको घृतमुखो घृतयोनिः । हे अग्ने, स त्वं गव्यं मधु मधुरं घृतं पीत्वा पितेव पुत्रं यष्टारं मामभिरक्षतात् । तुभ्यमिदं सुहुतमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यथा हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरग्निर्वर्धते, तथाऽऽयुष्मांस्त्वमेधि, मधुचारु गव्यं घृतं पीत्वा त्वं पुत्रं पितेव स्वाहेमानभिरक्षतात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदस्य मुख्यार्थत्यागेन राजार्थग्रहणस्य निर्मूलत्वात् । घृतप्रतीकत्वघृतयोनित्वादिकमपि मनुष्यस्य निर्मूलमेव ॥ १७ ॥

परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत । देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ२॥ आ दधर्षति ।। १८ ।।

मन्त्रार्थ—इन जीवों ने वृषभ का स्पर्श किया है, अग्नि को तृप्त किया है, ऋत्विजों में धन और दक्षिणा का वितरण किया है । इस प्रकार के जीवों को कौन दबा सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं ।। १८ ।।

'अथैषां परिदां वदति परीमे गामनेषतेति' (का० श्रौ० २१।४।२८) । अध्वर्युयजमानामात्यानां परिदाम्, परिदा रक्षणम्, तत्संज्ञं मन्त्रं वदति । 'दाङ् पालने' परिदीयते समन्ताद् रक्ष्यतेऽनेनेति परिदा रक्षणम्, तम् । इन्द्रदेवत्याऽनुष्टुप् । भरद्वाजात्मजशिरिम्बिष्ठदृष्टा । परितः सर्वतः, गामनड्वाहं पर्यनेषत परिणीतवन्तः, इमे जीवाः । अनडुत्पुच्छालभनाभिप्रायमेतत् । नयतेर्लुङि तङि सिचि प्रथमपुरुषबहुवचने रूपम् । 'व्यवहिताश्च'

(पा० सू० १।४।८२) इति परेर्व्यवधानमाख्यातेन। इमे जीवा पर्यग्निमहूषत, अग्निं पर्यहूष्यत, अग्निं परिहृतवन्तः, यस्मिन्नग्नावेतत्कर्म क्रियते, तमग्निं परिजह्रुः। अद्वारेणौपासनं निरस्यति—इमे देवाः, दीव्यन्ति दीप्यन्ते ये ते देवा ऋत्विजः, तेषु श्रवो धनं दक्षिणालक्षणमक्रत कृतवन्तो दत्तवन्तः। अक्रषतेति प्राप्ते सिचो लोपेऽक्रतेति रूपम्। अथेदानीं कृतकृत्यान् इमान् कः को नाम आदधर्षति आधर्षयितुं पराभवितुं शक्नुयात्, अशक्यप्रतिक्रिया ह्येते वर्तन्त इति भावः।

अध्यात्मपक्षे—इमे साधका गामिन्द्रियाणि पर्यनेषत परिणीतवन्तः, स्वाधीनानि कृतवन्तः। अग्निं पर्यहूषत संन्यासं कृतवन्तः। देवेषु ऋत्विक्षु श्रवो धनं दत्तवन्तः। एवं कृतकृत्यान् वीतरागानेनान् क आदधर्षति आधर्षयितुं शक्नोति।

दयानन्दस्तु—हे राजजनाः! य इमे यूयं गां पर्यनेषताग्निं पर्यहूषत, एषु देवेषु श्रवोऽक्रत, एवंभूतानिमान् भवतः क आदधर्षति' इति, तन्न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। 'पर्यनेषत' इत्यस्य परिणीतवन्त इत्यर्थः, न स्वीकृतवन्त इति, धात्वर्थानुरोधात्। तथैव पर्यहूषतेत्यस्य परिहृतवन्त इत्येवार्थः, न तु कार्येषु नियोजनमर्थः, धात्वर्थविरोधात्॥ १८॥

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्यं गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥ १९॥

मन्त्रार्थ—मैं क्रव्याद (शवदाहक) अग्नि को पुनः न आने देने के लिये दूर भेज रहा हूँ, वह पापनाशक अग्नि यम के राज्य में जाय। यह दूसरा कल्याणकारक सर्वज्ञ अग्नि अपने अधिकार को जानता हुआ इसी गृह में रह कर देवताओं के लिये हवि का वहन करे॥ १९॥

'अद्वारेणौपासनं निरस्यति क्रव्यादमिति' (का० श्रौ० २१।४।२९)। आहुतिहोमानन्तरं यत्र हुतं तस्यौपासनस्यैकशेषं निरस्यति। प्रेतस्यैवौपासने होम इति हरिस्वामिपक्षे सर्वमपि निरस्यति। अग्निदेवत्या त्रिष्टुप्, दमनस्यार्षम्। मृतो येन दह्यते स क्रव्यात्, तं क्रव्यादमग्निमहं दूरं प्रहिणोमि प्रेषयाम्यपुनरागमनाय। स दूरं प्रेषितः क्रव्यादग्निर्यमराज्यं प्रति गच्छतु। कीदृशः? रिप्रवाहः, रिप्रं पापं वहति नाशयतीति पापनाशकः, 'रिप्रमिति पापनाम' (निरु० ४।२१)। 'इहैवायमिति जपति' (का० श्रौ० २१।४।३०)। यजमानो जपति। इह गृह एवायं इतरः क्रव्यादग्नेरितरोऽन्यो जातवेदा जातप्रज्ञानः संस्कृतोऽग्निर्देवेभ्योऽर्थाय हव्यं हविर्वहतु प्रजानन् स्वाधिकारम्। पुराणवृषभादिदक्षिणा पूर्वोक्तरीत्या दातव्या।

अध्यात्मपक्षे—क्रव्यादमवैधमांसादिभक्षयितारं जीवमहं परमेश्वरो दूरं प्रहिणोमि। स च यमराज्यं गच्छतु। किमर्थं यमराज्यं गच्छतु? रिप्रवाहः पापनाशकः, पापनाशाय तत्र गच्छतु, फलभोगपापक्षयात्। इतरस्तद्भिन्नो जातवेदा वेदादिशास्त्राभ्यसनशीलो जीव इहैव धार्मिकाणां व्यवहारभूमौ देवेभ्यो हव्यं वहतु। प्रजानन् स्वकर्तव्यं जानन्।

दयानन्दस्तु—प्रजानन्नहं क्रव्यादमग्निमिव वर्तमानं यं दूरं प्रहिणोमि, याश्च रिप्रवाहश्च दूरं प्रहिणोमि, स यमराज्यं गच्छतु। इहेतरोऽयं जातवेदा देवेभ्यो हव्यमेव वहतु' इति, तन्न, क्रव्यादमग्निमिवेति गौणार्थग्रहणस्य निर्मूलत्वात्। यमराज्यपदेन यमस्य न्यायाधीशस्य स्थानमित्यपि निर्मूलम्, यमराज्येत्युक्तेरपि तथार्थत्वे मानाभावात्॥ १९॥

॥ पितृमेधः समाप्तः॥

वह॑ व॒पां जा॑तवेदः पि॒तृभ्यो॒ यत्रै॑नान् वेत्थ॒ निहि॑तान् परा॒के । मेद॑सः कु॒ल्या उप॒ तान् स्र॑वन्तु स॒त्या ए॑षामा॒शिषः सं न॑मन्ता॒ꣳ स्वाहा॑ ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे ज्ञानसम्पन्न अग्निदेव ! आप पितरों के निमित्त सार भाग को पहुँचाइये । दूर देश में स्थित इन पितरों को आप भलीभाँति जानते हैं । मेदा को बढ़ाने वाली घृत की नदियाँ सदा उनकी तरफ बहें, उनकी सारी शुभ कामनाएँ पूरी हों, उनके निमित्त दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २० ॥

जातवेदोदेवत्या त्रिष्टुप् । हे जातवेदः, जातं वेदो धनं यस्मात् स जातवेदाः, तत्सम्बोधने । पितृभ्योऽर्थाय वपां वह प्रापय । यत्र पराके पराक्रान्ते दूरेऽपि यस्मिन् प्रदेशे, एनान् पितॄन् वेत्थ जानासि, निहितान् स्थापितानेतान् पितॄन् आ तत्र प्रापयेत्यर्थः । तस्या वपायाः सकाशान्मेदसः कुल्या नद्यो निःसृत्य उपस्रवन्तु तान् पितॄन् प्रति । किञ्च, एषां दातॄणामाशिषो मनोरथाः सत्या अवितथाः सफलाः सन्नमन्तां प्रह्वीभवन्तु । स्वाहा तेभ्यः सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदः परमेश्वर ! पितृभ्यः फलादिगतां सारभूतां वपां वह प्रापय, यत्रैनान् वेत्थ निहितान् पराके, तत्र तान् पितॄन् प्रति मेदसः कुल्याः फलरसनद्यो वहन्तु । एषामाशिषः सत्याः सन्नमन्तां स्वाहा ।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदः, त्वं यत्रैनान् पराके निहितान् वेत्थ, तत्र पितृभ्यो वपां वह । यथा मेदसः कुल्यास्तानुपस्रवन्तु, तथा स्वाहैषामाशिषः सत्याः सन्नमन्ताम्' इति, तन्न, जातवेदःशब्दस्याग्नौ प्रसिद्धस्य मनुष्यार्थत्वे मानाभावात् । पितृभ्यो विद्याशिक्षादातृभ्य इत्यपि निर्मूलम्, न च जीवितपितरः पुत्रेभ्यो दूरे वसन्ति, येन तदर्थमन्यनियोगः स्यात् । न च तेषामर्थे पृथक् कृषियोग्यभूम्यादिकमपेक्षितं स्यात् ॥ २० ॥

स्यो॒ना पृ॑थिवि नो भवानृक्ष॒रा नि॒वेश॑नी । यच्छा॑ नः॒ शर्म॑ स॒प्रथाः॑ । अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! निष्कण्टक सुख में स्थित रहने वाली अतिविस्तार युक्त आप हमारे लिये सुखकारी बनें, हमें शरण दें । जल देवता हमारे पापों को दूर करें ॥ २१ ॥

पार्थिवी गायत्री, मेधातिथेरार्षम् । अस्याः श्रौतविनियोगाभावेऽपि 'स्योना पृथिवि नो भवेति दक्षिणपार्श्वे प्राक्शिरसः संविशन्ति' (पा० गृ० ३।३) इति स्मार्ते स्रस्तरारोहणे शयने विनियोगः । हे पृथिवि ! त्वं नोऽस्माकं स्योना सुखरूपा भव । कथम्भूता त्वम् ? अनृक्षरा, ऋक्षरः कण्टकः, न सन्ति ऋक्षराः कण्टका दुःखदायिनो यस्यां सा अनृक्षरा, 'कण्टक ऋच्छतेः, कण्टकः कन्तपो वा, कन्ततेर्वा कुण्टतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः' (निरु० ९।३२) इति यास्कोक्तेः । निविशन्ति जना यस्यां सा निवेशनी साधुप्रतिष्ठाना, 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३।३।११७) इति ल्युट् । तथा सप्रथा, प्रथनं प्रथो विस्तारः, प्रथसा सह वर्तमाना सप्रथाः सर्वतः पृथुः । नोऽस्मभ्यं शर्म शरणमाश्रयं सुखं यच्छ देहि । अतः परं यजुः । तद्विनियोगो गृह्यसूत्रे सम्बन्धिमरणनिमित्ते स्नाने जलापनोदने । तथाहि—'सव्यस्यानामिकया अपनोद्याप नः शोशुचदघमिति' (पा० गृ० ३।१०) । इदं जलं नोऽस्माकमघं पापमपशोशुचद् अपशोचयतु दहतु ।

अध्यात्मपक्षे—हे पृथिवि धरित्रि प्रथनशीले बुद्धे, त्वं स्योना नोऽस्माकं सुखकरी भव । कीदृशी त्वम् ? अनृक्षरा निष्कण्टकी संशयविपर्ययादिकण्टकरहिता । सप्रथाः सविस्तारा, विषयानुरूप्येण प्रथनशीलत्वात् । नः शर्म सुखं यच्छ नोऽघमपशोशुचत् । भगवत्परायणा बुद्धिरघं दहत्येव ।

दयानन्दस्तु—'हे पृथिवि, भूरिव वर्तमाने स्त्रि ! त्वं यथाऽनृक्षरा निवेशिनी भूमिः स्योना भवति, तथा नो भव, सप्रथा सती नः शर्म यच्छ । यथा न्यायेशो नोऽघमपशोशुचत्, तथापराधं दूरं गमय' इति, तन्न, गौणार्थ-ग्रहणस्य निर्मूलत्वात् ॥ २१ ॥

अस्मात् त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः । असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ २२ ॥

इति पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपको इस यजमान ने आधान काल में प्रकट किया है । इस कारण यह यजमान फिर आप से उत्पन्न हो, अर्थात् आप इसे संस्कृत बनावें, जिससे कि यह यजमान स्वर्ग की योग्यता प्राप्त कर सके ॥ २२ ॥

'आहुतिं जुहोति पुत्रो भ्राताऽन्यो वा ब्राह्मणोऽस्मात् त्वमधिजातोऽसीति' (का० श्रौ० २५।७।३८) । साग्निकस्य पात्रप्रतिपत्त्यन्ते दाहात् पूर्वमाज्याहुतिं पुत्रादिर्जुहोति । अग्निदेवत्या गायत्री, अनिरुक्ता । हे अग्ने ! त्वमस्माद् यजमानादाधानकाले, अधिजातोऽसि उत्पन्नोऽसि, अतो ब्रवीमि । अयं यजमानः पुनस्त्वत् त्वत्तो जायतामुत्पद्यताम् । असाविति विशेषनामग्रहणम्—असौ देवदत्तः स्वर्गाय लोकाय स्वर्गलोकप्राप्त्यर्थं त्वत्तो जायताम्, त्वद्वंश्य एव भवत्वित्यभिप्रायः । स्वाहा सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—हे **अग्ने परमेश्वर** ! त्वमस्मात् साधकाद् भावनाबलात् तत्तद्रूपेण जातोऽसि, 'यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय' इति श्रीमद्भागवतोक्तेः । अयं साधकस्त्वत्तः पुनर्जायताम् । असौ साधकः स्वर्गाय लोकाय स्वर्गं लोकं प्राप्तुं त्वत्तस्त्वदनुग्रहाद् दिव्यं त्वत्सालोक्यसामीप्यसारूप्यसायुज्यादियोग्यं देहादिमान् जायतामिति ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यतस्त्वमस्माल्लोकादधिजातोऽसि, हि तस्मादयं त्वत् पुनरसौ स्वाहा स्वर्गाय लोकाय जायताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, तव सकाशात् पुत्रो जायतामित्यस्यार्थस्य निरर्थकत्वात् । न चेदं वरप्रदानम्, निष्प्रमाणत्वात् । न चाज्ञापनम्, मनुष्याज्ञापनस्य फलाश्रयत्वे मानाभावात् । तस्मात् सिद्धान्तानुसारी व्याख्यात एव मन्त्रार्थः ॥ २२ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां
पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ— मैं ऋचारूप वाणी की शरण लेता हूँ, यजुःस्वरूप मन की शरण लेता हूँ, प्राणरूप साम की शरण लेता हूँ। चक्षु और श्रोत्र रूप इन्द्रिय की शरण लेता हूँ। वाग्बल, देहबल और प्राण-अपान का बल मुझमें स्थिर हो ॥१॥

पञ्चाध्यायी आथर्वणेन दधीचा दृष्टा, 'दध्यङ् ह वा आथर्वण एतꣳ शुक्रमेतं यज्ञं विदाञ्चकार' (श० १४।१।१।२०) इत्यादिश्रुतेः। 'उग्रश्च' (१७।८६, ३९।७) इत्याग्निको मन्त्रः। अग्निं हृदयेनेत्याद्यध्याय-समाप्तिपर्यन्तमाश्वमेधिकम् (३९।८-१३)। तद् द्वयं वर्जयित्वा कात्यायनस्यानुक्रमण्याम्। शान्तिकरणमाद्यन्तयोः। ऋचं वाचमित्यध्यायेन शान्तिकरणं कार्यम्, स्वाध्याये मन्त्रपाठे प्रवर्ग्यमन्त्रादावस्याध्यायस्य दर्शनात्। पञ्च यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। ऋचमृग्रूपां वाचं प्रपद्ये प्रविशामि, शरणं व्रजामीत्यर्थः। यजुः यजूरूपं मनः प्रविशामि। प्राणं प्राणरूपं साम प्रपद्ये शरणमाश्रये, रक्षितारं वा निश्चिनोमि। चक्षुरिन्द्रियं श्रोत्रमिन्द्रियं च प्रपद्ये। वागादिग्रहणं सप्तदशावयवोपलक्षणार्थम्। सप्तदशावयवं प्रजापतेर्लिङ्गं समष्टिसूक्ष्मशरीरं प्रपद्ये। नहि त्रयीविद्यां प्रपन्नस्यायुषो विनाशं प्रवर्ग्यः कुर्यात्। तथैव वाङ्मनःप्राणचक्षुःश्रोत्रोपलक्षितं प्रजापतेर्लिङ्गं प्रपद्ये प्रविशामि। तथा वागिन्द्रियमोजो मानसं बलं च, प्राणापानौ वायू च, एते सह एकीभूता मयि वर्तन्ते। अतोऽपि प्रवर्ग्योऽस्मान्न हन्तीति। पुनरोजोग्रहणमादरार्थम्।

अध्यात्मपक्षे— ऋचं वाचं वाङ्मनःप्राणरूपां त्रयीम् ऋगादिरूपां महाशक्तिं प्रपद्ये शरणं व्रजामि। चक्षुःश्रोत्रादिरूपां च तां प्रपद्ये। वागिन्द्रियम् ओजो मानसं बलं धाष्टर्यं पुनरोजोग्रहणाच्छारीरं च बलं श्वासोच्छ्वासरूपौ, तद्रूपां च सर्वात्मरूपां तां प्रपद्ये।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा मयि प्राणापानौ दृढौ भवेताम्, मम वागोजः प्राप्नुयात् तया ताभ्यां च सहाहमोजः प्राप्नुयामृचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये, तथा यूयमेतानि प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्, ऋचामिव यजुःसाम्नोरपि वाक्त्वाविशेषात्, यजुषो मनस्तुल्यतानिरूपणाच्च ॥ १ ॥

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—मेरी चक्षु इन्द्रिय की न्यूनता को, हृदय और मन की न्यूनता को परमात्मा दूर करें। ये सब हमारे लिये सुखरूप हों, क्योंकि परमात्मा ही इन सारे भुवनों के स्वामी हैं ॥ २ ॥

बृहस्पतिदेवत्या पङ्क्तिः। मे मम चक्षुषश्चक्षुरिन्द्रियस्य यत् छिद्रं प्रवर्ग्याचरणेनावखण्डनं जातम्, हृदयस्य बुद्धेर्वा यत् छिद्रं जातम्, मनसो वा अतितृण्णमतिर्हिंसितं प्रवर्ग्यसम्भरणेन यच्चक्षुर्बुद्धिमनसां

व्याकुलत्वं जातम्, बृहस्पतिर्देवानां गुरुः, मे मम तच्छिद्रमतितृण्णं च दधातु सन्दधातु, त्रुटिं निवर्तयतु। भुवनस्य भूतजातस्य यः पतिः पालकः प्रवर्ग्यरूपो यज्ञः, स नोऽस्माकं शं सुखरूपो भवतु। बृहस्पतिना छिद्रापाकरणात् प्रवर्ग्यस्य कल्याणमयत्वमेव सम्पद्यते।

अध्यात्मपक्षे—बृहतां पतिर्महदादीनां पालकः परमेश्वरश्चक्षुरादीनां छिद्रं सन्दधातु त्रुटिं निवर्तयतु, भुवनस्य भूतजातस्य यः पतिः स परमेश्वरः शं सुखरूपोऽस्तु।

दयानन्दस्तु—'यन्मे चक्षुषो हृदयस्य छिद्रं मनसो वाऽतितृण्णमस्ति, तद् बृहस्पतिर्मे दधातु। यो भुवनस्य पतिरस्ति, स नः शं भवतु' इति, तन्न, बृहस्पतिशब्दस्य देवगुरौ प्रसिद्धस्य स्वार्थत्यागे मानाभावात्, भुवनस्य बृहस्पतिरित्यनेन पौनरुक्त्यापाताच्च। अन्यत्तु महीधरानुसरणमेव ॥ २ ॥

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—भूः, भुवः, स्वः—इन तीन व्याहृतियों से संयुक्त उस सर्वप्रकाशक, सबके प्रेरक सविता देवरूपी आदित्यमण्डल के अन्तर्गत विद्यमान पुरुषरूप ब्रह्म का, सभी के द्वारा प्रार्थनीय, सम्पूर्ण संसार के अन्धकार का नाशक जो तेज है, उसका हम ध्यान करते हैं। वह सविता देव हमारी बुद्धि को सदा सत्कर्म के अनुष्ठान में प्रेरित करे ॥ ३ ॥

भूर्भुवः स्वरिति त्रीणि यजूंषि। तदिति षष्ठ्यर्थे। तस्य देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः प्रेरकस्य परमात्मनो वरेण्यं सर्वैः संभजनीयं भर्गः सर्वपापभर्जनसमर्थं तेजः सच्चिदानन्दलक्षणं तेजो धीमहि ध्यायामः। तस्य कस्य ? यः सविता नोऽस्माकं धियो बुद्धीः कर्माणि वा प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति। ३।३५ इत्यत्र व्याख्याता ॥ ३ ॥

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—सदा सबको समृद्ध करने वाला आश्चर्यरूप परमेश्वर किस तर्पण या प्रीति से किस वर्तमान याग क्रिया से हमारा सहायक होता है ? ॥ ४ ॥

इन्द्रदेवत्या गायत्री वामदेवदृष्टा। इन्द्रः कया ऊती ऊत्या अवनेन प्रीणनेन तर्पणेन वा, नोऽस्माकं सखा सहाय आभुवद् आभिमुख्येन जातः, तया वृता वर्तत इति वृत्, तया वर्तमानया शचिष्ठया अतिशयवत्या यागादिक्रिययाऽस्माकं सखा भवति। चित्रो विचित्रः पूज्यो वा। सदावृधः सदा वर्धमानः। २७।३९ इत्यत्र व्याख्याता ॥ ४ ॥

कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर ! मदजनक हवियों में श्रेष्ठ सोमरूप अन्न का कौन सा अंश आपको पसन्द है ? आपकी इस प्रसन्नता में दृढ़ता से रहने वाले हम भक्तजन अपने धन आदि के साथ उसे आपको समर्पित करते हैं ॥ ५ ॥

ऐन्द्री गायत्री। हे इन्द्र ! अन्धसोऽन्नस्य सोमरूपस्य कोंऽशस्त्वा त्वां मत्सद् मादयति मत्तं करोति। मदयन्तीति मदाना मदजनकानि हवींषि, तेषां मध्ये मंहिष्ठः श्रेष्ठोऽत्यन्तमदजनकः। येनांशेन मत्तः सन् दृढा चिद् दृढान्यपि वसु वसूनि कनकादीनि त्वमारुजे आरुजसि चूर्णयसि दातुं भनक्षि भङ्क्त्वा ददासीति। २७।४० इत्यत्र व्याख्याता ॥ ५ ॥

अभी षु णः सखीनामविता जरितृणाम् । शतं भवास्यूतिभिः ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! मित्रवत् आपकी स्तुति करने वाले हम भक्तों की रक्षा के लिये तत्पर होकर ही आप राम-कृष्ण आदि अनन्त रूपों को धारण करते हैं ॥ ६ ॥

ऐन्द्री गायत्री । हे इन्द्र ! त्वमूतयेऽवनाय सु सुष्ठु, आभिमुख्येन भवासि भवसि, बहुरूपो भवसीत्यर्थः । कीदृशः ? सखीनां मित्राणां जरितॄणां स्तोतॄणां नोऽस्माकमृत्विजामविता पालयिता । २७।४१ इत्यत्र व्याख्याता ॥ ६ ॥

कया त्वं न ऊत्याभि प्रमन्दसे वृषन् । कया स्तोतृभ्य आ भर ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर ! आप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश कर किस तृप्ति के साथ आनन्द की ओर हमें बढ़ाते हैं ? किस दिव्य रूप को धारण कर स्तुति करने वाले हम उपासकों की सारी अभिलाषाओं को पूरा करते हैं ? ॥ ७ ॥

इन्द्रदेवत्या गायत्री, अनिरुक्तेन्द्रपदहीना । हे इन्द्र ! कया ऊत्या केन तर्पणेन हविर्दानेन नोऽस्मानभिप्रमन्दसे अभिमोदयसि, 'मदिस्तु स्वपने जाड्ये मदे मोदे स्तुतौ गतौ' इत्युक्तेः । हे वृषन् सेक्तः ! कया च ऊत्या तृप्त्या स्तोतृभ्य आभर आहर आहरसि, धनं दातुमिति शेषः । तद्द्वयेन तथा वयमपि त्वा त्वां प्रसादयामः । आभर, लडर्थे लोट् ।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमेश्वर ! शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे वृषन्नीश्वर ! त्वं कयोत्या नोऽभिप्रमन्दसे, कया स्तोतृभ्यः सुखमाभर' इति, तदपि न, वाक्यस्य प्रश्नार्थत्वे प्रतिवचनराहित्येन न्यूनत्वापातात् । यत्तु युक्तिमस्मानवबोधयेति भावार्थवचनम्, तदपि नातीव मनोज्ञम्, ऊतिशब्दस्य युक्त्यर्थत्वाभावात् ॥ ७ ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—सबके स्वामी परमेश्वर चारों तरफ प्रकाशमान हैं । वे हमारे पुत्र आदि के लिये कल्याणरूप हों, वे हमारे चौपायों के लिये सुखदायक हों । अथवा कर्म, उपासना, ज्ञान और विज्ञान से प्राप्त होने वाले निर्वाण, अर्थात् मुक्ति के लिये कल्याणमय हों ॥ ८ ॥

इन्द्रदेवत्या द्विपदा विराट् । विंशत्यक्षरा द्विपदा विराट् कथ्यते । योऽयं महावीर इन्द्रः परमेश्वरो आदित्यो वा स कस्याधिष्ठात्री देवता ? विश्वस्य जगतः । राजति देदीप्यते ईष्टे वा । स नोऽस्माकं द्विपदे, द्विपदां पुत्रादीनाम्, विभक्तिव्यत्ययः, शं सुखरूपोऽस्तु, चतुष्पदे गवादीनां च शं सुखरूपोऽस्तु ।

अध्यात्मपक्षे--योऽयं भगवान्निन्द्रो विश्वस्य सर्वस्यैवानन्तकोटिब्रह्माण्डात्मकस्य राजति ईष्टे, स पुत्रपश्वादीनां सुखकरो भवतु ।

दयानन्दस्तु—हे जगदीश्वर ! यो भवानिन्द्र इव विश्वस्य राजति, तस्य भवतः कृपया नो द्विपदे शमस्तु, नश्चतुष्पदे शमस्तु' इति, तदपि न, परमेश्वरस्य त्वद्रीत्या निराकारस्यैव सत्त्वेन विद्युत्तुल्यत्वानुपपत्तेः, रूपवत्त्वारूपवत्त्वाभ्यां वैषम्यात् ॥ ८ ॥

शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः॒ शं नो॑ भवत्वर्य॒मा ।
शं न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒ः शं नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—मित्र देवता हमारे लिये कल्याणमय हों । वरुण देवता, अर्यमा और इन्द्र देवता हमारे लिये कल्याणमय हों । बृहस्पति तथा विस्तीर्ण पदन्यास वाले विष्णु हमारे लिये कल्याणमय हों ॥ ९ ॥

द्वे अनुष्टुभौ, मित्रावरुणादयो देवताः । मित्रो देवोऽस्माकं शं सुखरूपो भवतु, महावीरप्रसादात् । मेद्यति भक्तेषु स्निह्यतीति मित्रः । वरुणः सुखरूपोऽस्तु, वृणोत्यङ्गीकरोति भक्तानिति वरुणः । अर्यमा देवो नः शं सुखरूपो भवतु, इयर्ति गच्छति भक्तं प्रतीत्यर्यमा । इन्द्रो देवराजो नः शं भवतु । बृहस्पतिर्देवगुरुः शं भवतु, बृहतां वेदानां पतिः पालकः । उरुक्रमः, उरुर्विस्तीर्णः क्रमः पादन्यासो यस्य स विष्णुः, नोऽस्माकं शं भवतु । वेवेष्टीति व्यापको विष्णुः परमेश्वरो यज्ञो वा ।

अध्यात्मपक्षे—शं कल्याणरूपः परमात्मैव मित्रः, भक्तस्नेहवान् मित्रनामको देवः परमात्मरूप एव । वरुणो भक्तं यो वृणोति सोऽपि शं परमात्मा एव । अर्यमा भक्तान् प्रतिं य इयर्ति परमैश्वर्यवान् देवराजः, बृहस्पतिर्वेदपालकः, उरुक्रमो विष्णुश्च सर्व एवैते शं सुखात्मकब्रह्मरूपा भूत्वा, मामवन्त्विति शेषः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा नो मित्रः शं भवतु, वरुणः शं भवतु, अर्यमा नः शं भवतु, इन्द्रो बृहस्पतिर्नः शं भवतु, उरुक्रमो विष्णुः शं भवतु, तथा युष्मभ्यमपि शं भवतु' इति, तदपि न, मुख्यार्थत्यागेन प्राणप्रियमित्रादिमनुष्यग्रहणस्य निर्मूलत्वात् ॥ ९ ॥

शं नो॒ वात॑ः पवता॒ᳬ शं न॑स्तपतु॒ सूर्य॑ः ।
शं न॒ः कनि॑क्रदद्दे॒वः प॒र्जन्यो॑ अ॒भि व॑र्षतु ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—वायु हमारे लिये सुखकारी होकर बहे, सूर्य हमारे निमित्त सुखरूप होकर तपे, शब्द करता हुआ पर्जन्य देवता हमारे निमित्त सुखदायक वर्षा करे ॥ १० ॥

शं सुखरूपो वातो वायुर्नोऽस्माकं अपरुषोऽव्याधिजनकश्च पवतां वातु, 'पव गतौ' लोट् । सुवति प्रेरयति जनान् स्वस्वकार्येष्विति सूर्यः, शं सुखरूपोऽतापको भेषजरूपश्चास्माकं तपतु रश्मिजालं प्रकिरतु । पर्जन्यः, पिपर्ति पूरयति जनानिति पर्जन्यः, परोऽम्भःपूरो वा जन्यतेऽनेनेति पर्जन्यः, 'पर्जन्यौ रसदब्देन्द्रौ' (अ० को० ३।३।१४६) इति कोशात् । पर्जन्यः, पर्जन्येशो देवः कनिक्रदत् स्तनयित्नुशब्दं कुर्वन्, अत्यन्तं क्रन्दतीति कनिक्रदत्, 'दाधर्तिदर्धर्ति' (पा० सू० ७।४।६५) इत्यादिना यङ्लुगन्तो निपातः । अस्मान् शं सुखकरः क्षारादि-रहितं पवित्रमुदकं भेषजरूपमभिवर्षतु, सन्तुलितवृष्टिं करोतु ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वत्प्रसादात् शं नो वातः पवताम्, शं नस्तपतु सूर्यः । कनिक्रदत् पर्जन्यो देवोऽभिवर्षतु सिञ्चतु, परमेश्वरानुग्रहादेव सर्वानुकूल्योपपत्तेः ।

दयानन्दस्तु—'हे परमेश्वर विद्वन् वा, यथा वातो नः शं पवताम्, सूर्यो नस्तपतु, कनिक्रदद्देवो नः शं भवतु, पर्जन्यो नोऽभिवर्षतु, तथाऽस्मान् शिक्षय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परमेश्वरकर्तृकशिक्षणादर्शनात् प्रार्थनाया नैरर्थक्यात्, मनुष्यस्य विदुषस्तादृशसामर्थ्याभावाच्च तद्वैयर्थ्यात् ॥ १० ॥

अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु नः॒ शꣳ रात्रीः॒ प्रति॑ धीयताम् ।
शं न॑ इन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भिः॒ शं न॒ इन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या ।
शं न॑ इन्द्रापू॒षणा॒ वाज॑सातौ॒ शमिन्द्रा॒सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शं योः ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—दिन हमारे लिये सुखरूप हो, रात्रि सुखरूप हो, इन्द्र और अग्नि देवता हमारी रक्षा करते हुए सुखरूप हों, हवि से तृप्त इन्द्र और वरुण देवता हमारे लिये सुखरूप हों, अन्नदान में इन्द्र और पूषा देवता हमारे लिये सुखकारी हों। इन्द्र और सोम देवता यजमान के यज्ञ के निमित्त सुखकारी हों, रोगभय से मुक्त कर वे हमें सुख पंहुचावें ॥ ११ ॥

द्विपदा गायत्री, अहानि रात्रयश्च देवताः। अहानि दिनानि नोऽस्माकं शं सुखकराणि भवन्तु। रात्रीः शं सुखरूपा अस्मासु प्रतिधीयतां प्रतिदधातु, महावीर इति शेषः। कर्तरि यक् छान्दसः। शं न इन्द्राग्नी त्रिष्टुप्। इन्द्राग्नी इन्द्रावरुणौ इन्द्रापूषणौ इन्द्रासोमौ देवताः। इन्द्राग्नी अवोभिः पालनैः, नोऽस्माकं शं सुखरूपौ भवताम्। इन्द्रावरुणौ रातहव्या रातं दत्तं हव्यं हविर्ययोस्तौ हविस्तृप्तौ नः शं सुखकरौ भवताम्। वाजसातौ वाजस्यान्नस्य सातौ दाने निमित्तभूते इन्द्रापूषणा इन्द्रपूषसंज्ञौ देवौ नोऽस्माकं सुखरूपौ भवताम्। इन्द्रासोमा इन्द्रसोमौ देवौ शं सुखरूपौ भवताम्। किमर्थम्? सुविताय सुष्ठु इतं सुवितम्, साधुगमनाय साधुप्रसवाय वा। शंयोः, शं रोगाणां शमनाय, योः यवनाय पृथक्करणाय भयानाम्, रोगं भयं च निवर्त्य सुखरूपौ भवतामित्यर्थः। 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इति सर्वत्र पूर्वपदस्य दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—भगवतः प्रसादादेव अहोरात्राणि, इन्द्राग्न्यादयो देवाश्च सुखरूपा भवन्ति, तेनैव रोगाणां शमनं भयानां यावनं च संपद्यते। व्याख्यानं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे परमेश्वर विद्वन् वा, यथाऽवोभिः सह शंयोः सुविताय नोऽहानि शं भवन्तु, रात्रीः शं प्रतिधीयतामिन्द्राग्नी नः शं भवताम्, रातहव्या इन्द्रावरुणा नः शं भवताम्, वाजसाताविन्द्रापूषणा नः शं भवतामिन्द्रासोमा च शं भवताम्, तथाऽस्माननुशिक्षेताम्' इति, तदपि न, पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः, परमेश्वरस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वाभ्यां तत्प्रार्थनायाः सार्थक्येऽपि तत्कर्तृकप्रेरणैव युक्ता, न तु शिक्षणप्रार्थना। शिक्षणादर्शनादेव मनुष्योपदेशवाक्यं शास्त्रवाक्यं चानधिगतगन्तृ भवति, न त्वकृतकर्तृ, अग्निवाय्वादयो जडत्वाद् यथास्वभावमेव वर्तन्ते, मनुष्यास्तु तैस्तैः साधनैस्तेषामानुकूल्यं सम्पादयन्ति ॥ ११ ॥

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ । शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—दीप्तिमान् जल देवता हमारे अभीष्ट पान के लिये सुखरूप हों तथा रोग के शमन और भय को दूर करने के लिये निरन्तर प्रवाहित होते रहें ॥ १२ ॥

अब्देवत्या गायत्री। देवीर्देव्यो दीप्यमाना आपो नोऽस्माकमभिष्टये अभिषेकायाभीष्टाय वा पीतये पानाय च शं सुखरूपा भवन्तु, अस्माकं स्नाने पाने चापः सुखयित्र्यो भवन्तु। आपः शंयोः रोगाणां शमनं भयानां यावनं पृथक्करणं च अभिस्रवन्तु, नोऽस्माकं भयरोगनाशं कुर्वन्तु।

अध्यात्मपक्षे—देव्यो दीप्यमाना आपो व्यापिका भगवत्यः, नोऽस्माकमभीष्टाय शं सुखरूपा भवन्तु। ताश्च शं रोगाणां शमनं भयानां यावनमभिस्रवन्तु।

दयानन्दस्तु—हे जगदीश्वर विद्वन् वा, यथाभिष्टये पीतये देवीरापो नः शं भवतु, नः शंयोर्वृष्टिमभिस्रवन्तु, तथोपदिशतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुष उपदेष्टृत्वस्य दर्शनेऽपीश्वरस्योपदेष्टृत्वादर्शनेन प्रार्थनावैयर्थ्यात्। न च वेद एव तदुपदेश इति वाच्यम्, उपदेशस्य जातत्वेनोपदिशतमिति लोट्प्रयोगानुपपत्तेः ॥ १२ ॥

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी । यच्छा नः शर्म सप्रथाः ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! निष्कण्टक सुख में स्थित रहने वाली अतिविस्तार युक्त आप हमारे लिये सुखकारी बनें, हमें शरण दें। जल देवता हमारे पापों को दूर करें ॥ १३ ॥

स्योना पृथिवि न इति मन्त्रः ३५।२१ इत्यत्र व्याख्यातः ॥ १३ ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे जल देवता ! आप जल को देने वाले हैं, सुख की भावना करने वाले व्यक्ति के लिये स्नान-पान आदि के द्वारा सुख के उत्पादक हैं। हमारे रमणीय दर्शन के निमित्त और रसानुभव के निमित्त यहाँ स्थापित हो जाइये ॥ १४ ॥

अब्देवत्या गायत्र्यः। हे आपः, यूयं हि एव मयोभुवः सुखस्य भावयित्र्यः स्थ भवथ, स्नानपानहेतुत्वेनापां सुखोत्पादकत्वप्रसिद्धेः। तादृश्यो यूयं नोऽस्मान् ऊर्जे रसाय भवदीयरसानुभवार्थं दधातन स्थापयत। किञ्च, महे महते पूज्याय वा रणाय रमणीयाय चक्षसे ज्ञानाय ब्रह्मज्ञानाय दधातन। (११।५०) इत्यत्र व्याख्याता ॥ १४ ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे जल देवता ! आपका शान्तरूप सुख का एकमात्र कारण रस इस कर्म में स्थित है। हमको उस रस का भागी उसी तरह से बनावें, जैसे कि प्रीतियुक्त माता अपने बच्चे को दूध पिलाती है ॥ १५ ॥

हे आपः, वो युष्माकं यः शिवतमो रसः शान्ततमो रसोऽस्ति, तस्य भाजयत भागिनः कुरुत। तत्र दृष्टान्तः—उशतीरिव मातरः। उशन्ति ता उशत्यः कामयमानाः प्रीतियुक्ता मातरो यथा स्वकीयस्तन्यरसं बालं पाययन्ति, तथाऽस्मान् शिवतमं रसं पाययत। (११।५१) इत्यत्र व्याख्याता ॥ १५ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे जल देवता ! आपके उस रस की प्राप्ति के लिये हम शीघ्र चलना चाहते हैं, जिससे कि आप सारे जगत् को तृप्त करते हैं और हमें भी उत्पन्न करते हैं ॥ १६ ॥

हे आपः, वो युष्मत्संबन्धिनस्तस्य रसस्य विषये, अरं अलं पर्याप्तिं गमाम गच्छेम, रसविषये वैतृष्ण्यं सदा तृप्तिर्वा स्यात्। 'तस्मै' इति चतुर्थी षष्ठ्यर्थे। यस्य क्षयाय क्षयस्य जगतामाधारभूतस्य यस्याहुतिपरिणामभूतस्य रसस्यैकदेशेन यूयं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगद् जिन्वथ तर्पयथ। जिन्वतिः प्रीतिकर्मा। हे आपः, नोऽस्मान् भोक्तृत्वेन जनयथ उत्पादयत। आशिषि लोट्। तद्रसभोक्तॄनस्मान् कुरुतेत्याजानदेवत्वमाशास्यते। (११।५२) इत्यत्र व्याख्याता ॥ १६ ॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ— द्युलोक हमारे लिये शान्ति दे, अन्तरिक्ष लोक, पृथ्वी लोक, जल, औषधियाँ, विश्वेदेव देवता, वेदरूप ब्रह्म और यह सारा जगत् ही हमारे लिये शान्ति प्रदान करे। शान्ति भी हमारे लिये शान्तिप्रद हो, यह शान्ति हमारे लिये पूरे वातावरण में वृद्धि को प्राप्त होती रहे ॥ १७ ॥

यजूंषि सन्दृशि जीव्यासमित्यन्तानि। एकाधिका शक्वरी। द्यौर्द्युलोकरूपा या शान्तिः, अन्तरिक्षरूपा च या शान्तिः, पृथिवी भूलोकरूपा या शान्तिः, आपो जलरूपा या शान्तिः, ओषधय ओषधिरूपा या शान्तिः, वनस्पतयो वनस्पतिरूपा या शान्तिः, विश्वे देवाः सर्वदेवरूपा या शान्तिः, ब्रह्म त्रयीलक्षणं परंब्रह्मरूपं वा, तद्रूपा या शान्तिः, या सर्वं सर्वजगद्रूपा शान्तिः, शान्तिरेव शान्तिर्या स्वरूपतः शान्तिः, सा शान्तिर्मा प्रति, एधि अस्तु। पुरुषव्यत्ययः। महावीरप्रसादात् सर्वं शान्तिरूपं मां प्रत्यस्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वोपद्रवराहित्यरूपा शान्तिर्ब्रह्मण्येव पर्यवस्यति, तस्यैव सर्वोपद्रवाभावाधिकरणत्वात्। अभावश्चाधिकरणरूप एव। तेन द्युलोकादयः शान्त्यन्ताः सर्वे पदार्था ब्रह्मात्मकाः सन्तो मां प्रत्युपस्थिता भवन्तु। व्याख्यानं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, या द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्ति····शान्तिरेव शान्तिरेधि, सा शान्तिर्युष्माकमस्तु' इति, तदपि न, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, सा शान्तिर्युष्माकमपि प्राप्नोत्वित्यर्थस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ १७ ॥

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर! आप मुझे सब तरफ से मजबूत बनावें, सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, मैं भी सब प्राणियों को मित्र के रूप में ही देखूँ, हम चारों तरफ मित्रता का ही वातावरण देखना चाहते हैं ॥ १८ ॥

दृते, 'दृ विदारणे', विदीर्णे जराजर्जरितेऽपि शरीरे, हे महावीर! मां त्वं दृंह दृढीकुरु। यद्वा दृते विदीर्णे कर्मणि मां दृंह अच्छिद्रं कर्म कुरु। यद्वा ससुषिरत्वात् सेक्तृत्वाच्च दृतिशब्देन महावीरो बोध्यते। हे दृते, हे महावीर! मां दृंह। कथं दार्ढ्यं तदाह—सर्वाणि भूतानि प्राणिनो मा मां मित्रस्य चक्षुषा समीक्षन्तां सम्यक् पश्यन्तु, मित्रदृष्ट्या मां सर्वे प्राणिनः पश्यन्तु, न शत्रुदृष्ट्या। सर्वेषां प्रियो भूयासमित्यर्थः। किञ्च, अहमपि सर्वाणि भूतानि प्राणिनो मित्रस्य चक्षुषा समीक्षे पश्यामि, मेऽपि सर्वे प्रिया भवन्तु। मित्रचक्षुः शान्तं भवति। न मित्रं स्नेहवान् कञ्चन स्नेहवन्तं मित्रं हन्ति, मित्रं च न कश्चिद् हन्ति। एवमहिंस्यमाना अहिंसन्तश्च परस्परमद्रोहेण सर्वथा मित्रस्य चक्षुषा वयं समीक्षामहे पश्यामः। अयमेव स्वस्य सर्वेषां च दृढीकरणमार्गः।

अध्यात्मपक्षे—हे दृते, सर्वलयाधिष्ठान परमेश्वर! मा मां दृंह। कथमिति चेत्तत्र पूर्ववद्व्याख्यानं विधेयम्। परमप्रेमास्पदस्य परमात्मन एव सर्वाधिष्ठानत्वात् सर्वरूपेण स्थितत्वाद् बाध्यबाधकभावोऽविद्याकृत एवेति विद्यया तद्बाधितत्वाद् ब्रह्मबुद्ध्या सर्वस्य दर्शनेन सर्वा दिशः सुखमय्यः सम्पद्यन्ते, 'सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥' (भा० पु० ११।२।४५) इति वचनात्।

दयानन्दस्तु—'हे दृते, अविद्यानिवारक परमेश्वर विद्वन् वा! येन सर्वाणि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा मां समीक्षन्तामहं मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। एवं वयं सर्वे परस्परं मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। तथाऽस्मान् दृंह' इति, तदपि न, परमेश्वरस्यैव सर्वान्तर्यामित्वेन तदतिरिक्तस्य विद्वदादेस्तथा सामर्थ्यायोगात् ॥ १८ ॥

दृते दृꣳह मा । ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासं ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम् ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे भगवन् ! आप हमें सब तरफ से मजबूत बनावें । आपकी देखरेख में मैं दीर्घकाल तक जीवित रहूँ, आपकी देखरेख में हम सब दीर्घकाल तक जीवित रहें ॥ १९ ॥

हे दृते महावीर ! मां दृंह, अतिशयार्थं पुनर्वचनम्, अत्यन्तं दृढं कुरु । ते तव संदृशि सन्दर्शने, अहं ज्योक् चिरं जीव्यासं जीवेयम् । जीवेराशीर्लिङि रूपम् । ज्योगिति निपातश्चिरार्थः । पुनरुक्तिरादरार्था । ते सन्दृशि सन्दर्शने चिरं जीव्यासम् ।

अध्यात्मपक्षे—दृणोति सर्वं विदारयति यः स परमेश्वरः, तत्सम्बोधने हे दृते ! ते सन्दृशि सन्दर्शने त्वदनुग्रहवत्या बुद्धेर्विषयीभूतोऽहं ज्योक् चिरं जीव्यासम् ।

दयानन्दस्तु—'हे दृते ! येनाहं ते सन्दृशि ज्योग् जीव्यासम्, ते सन्दृशि ज्योग् जीव्यासम्, तत्र मां दृंह' इति, तदपि न, उपदेशकस्य विदुषो मनुष्यस्य सर्वदृढीकरणे ज्योग्जीवनदाने च सामर्थ्यायोगात् ॥ १९ ॥

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे ।
अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपकी सब रसों का आकर्षण करने वाली तेजस्विनी ज्वाला को हम प्रणाम करते हैं, आपके पदार्थ-प्रकाशक तेज को हम प्रणाम करते हैं । आपकी यह ज्वाला हमें छोड़ कर दूसरों के लिये तापदायक हो, हमारे लिये तो चित्त-शोधक और कल्याण-कारक हो ॥ २० ॥

हे अग्ने, ते तव शोचिषे शोचनहेतवे तेजसे नमोऽस्तु । कीदृशाय शोचिषे ? हरसे, हरति सर्वरसानिति हरस्तस्मै । ते तव अर्चिषे पदार्थप्रकाशकाय तेजसे नमोऽस्तु । ते तव हेतयो वज्राणि, अस्मद् अस्मत्तोऽन्यान् तपन्तु, नास्मानित्यर्थः । त्वं च पावकः सन्नस्मभ्यं शिवो भव । १७।११ इत्यत्र व्याख्याता ॥ २० ॥

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर ! आपके विद्युत् रूप के लिये, गर्जना करने वाले रूप के लिये हम प्रणाम करते हैं । आप सभी प्राणियों को स्वर्ग का सुख देने की चेष्टा करते हैं । इसलिये भी हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ २१ ॥

द्वे अनुष्टुभौ, विद्युत्स्तनयित्नुरूपभगवद्देवते । हे भगवन् महावीर ! विद्युते विद्युद्रूपाय ते तुभ्यं नमोऽस्तु । स्तनयित्नवे गर्जितरूपाय ते नमोऽस्तु । यतः कारणात् स्वः स्वर्गं गन्तुं त्वं समीहसे चेष्टसे, अतस्ते तुभ्यं नमोऽस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर ! विद्युते विद्युदुपलक्षितसर्वशक्तिरूपाय तुभ्यं नमः । स्तनयित्नवे गर्जितरूपाय शब्दब्रह्मरूपाय परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपाय आन्तरनादरूपाय च तुभ्यं नमः । यतः स्वः सूर्यं चिदादित्यं गन्तुं समीहसे चेष्टसे सोपाधिकं रूपमपहाय, तस्मात् तुभ्यं नमः प्रह्वीभावोऽस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे भगवन् ! यतस्त्वं स्वः समीहसे, तस्माद्विद्युते ते नमोऽस्तु, स्तनयित्नवे ते नमोऽस्तु, सर्वाभिरक्षकाय ते नमश्च सततं कुर्याम' इति, तदपि न, विद्युत्पदस्य मुख्यार्थत्यागस्य तत्तुल्यार्थग्रहणस्य निर्हेतुकत्वात्, यथाश्रुतार्थत्वे परमेश्वरस्य साकारत्वापत्त्या तवापसिद्धान्तापातात् । तथैव स्तनयित्नुशब्दस्यापि गौणार्थग्रहणं निर्मूलमेव । सिद्धान्ते तु सर्वात्मविवक्षया ब्रह्मणः सर्वरूपत्वे नानुपपत्तिः ॥ २१ ॥

यतो॑ यतः स॒मीह॑से॒ ततो॑ नो॒ अभ॑यं कुरु ।

शं नः॑ कुरु प्र॒जाभ्यो॒ऽभ॑यं नः प॒शुभ्यः॑ ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर ! आप जिस किसी रूप से हमारे कल्याण की चेष्टा करते हैं, उसी रूप से हमें अभयदान कीजिये, हमारी सन्तानों के लिये सुखरूप होइये । आपकी कृपा से हमारे पशुओं को भी किसी प्रकार का भय न हो ॥ २२ ॥

हे महावीर, यतो यतो यस्माद् यस्माद् दुश्चरितात् त्वम् अस्मासु उपकर्तुं समीहसे चेष्टसे, ततस्ततो नोऽस्माकमभयं कुरु । नोऽस्माकं प्रजाभ्यः शं सुखं कुरु । नः पशुभ्योऽभयं भीत्यभावं कुरु ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, यतो यतः समीहसे, यत्र यत्र रामकृष्णादिरूपेण विविधं चरित्रं कुरुषे, ततस्ततो मेऽभयं कुरु । अन्यत् पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे भगवन् ईश्वर, त्वं कृपाकटाक्षेण यतो यतः समीहसे सम्यक् चेष्टसे, ततो नोऽभयं कुरु । नः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च शमभयं कुरु' इति, तदपि न, भयप्राप्तावेवाभयप्रार्थनोपपत्तेः । न च भयं दुश्चरित्रमन्तरा सम्भवति, तस्माद्यतो यतो दुश्चरित्रादस्मास्वपकर्तुं चेष्टसे, ततो नः प्रार्थनया क्षमादानेनाभयं कुर्वित्येवार्थो युक्तः ॥ २२ ॥

सु॒मि॒त्रि॒या न॒ आप॒ ओष॑धयः सन्तु दु॒र्मि॒त्रि॒यास्तस्मै॑ सन्तु॒ यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—जल देवता और ओषधियाँ हमारे लिये कल्याणकारी हों और उस हमारे शत्रु के लिये वे अमंगलमय हों, जो हमारे प्रति द्वेषभाव रखते हैं, अथवा हम जिनके प्रति द्वेष-बुद्धि रखते हैं, इस आशंका से कि यह हमारा अनिष्ट करेगा ॥ २३ ॥

आप ओषधयश्च नोऽस्माकं शोभनमित्रभावेनावस्थिताः सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तत्कृते आप ओषधयश्च दुर्मित्रियाः सन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—सर्वा आप ओषधयश्च मन्त्रप्रभावाद् भावनाप्रभावाच्च भक्तभावनानुविधायिन्यो भवन्ति । तत एव संकल्पबलेन ताः सुमित्रिया दुर्मित्रियाश्च भवन्ति । व्याख्यानं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! या इमा आप ओषधयो नः सुमित्रियाः सन्तु, ता योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्मै दुर्मित्रियाः सन्तु' इति, तदपि न, अपामोषधीनां च जडत्वाद् व्यक्तिविशेषं प्रति सुमित्रियात्वस्य तद्विरुद्धान् प्रति दुर्मित्रियात्वस्यासम्भवात्, पक्षपातस्यापि चेतनधर्मत्वात् । परमेश्वरप्रसादेन तु तथात्वं सम्भवत्येव, भगवतो भक्तानुविधायित्वात् ॥ २३ ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ २४ ॥

॥ इति षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं का हितकारी, परमेश्वर का चक्षुरूप सूर्यशरीर ब्रह्मदेव पूर्व दिशा में उदित होता है, उसे हम अपनी पूरी आयु तक देखते रहें। हम सौ वर्ष तक जीयें, सौ वर्ष तक सुनते रहें, सौ वर्ष तक स्पष्ट वाणी बोलते रहें, अपनी पूरी आयु तक किसी के सामने दीनभाव न दिखावें, सौ वर्ष के ऊपर भी हम योगशक्ति के प्रभाव से बहुत काल तक जीवित रहें ॥ २४ ॥

सूर्यदेवत्या ब्राह्मी त्रिष्टुप् । एतैर्मन्त्रैर्यो महावीरोऽस्माभिः स्तुतस्तदादित्यरूपं जगच्चक्षुर्जगतां नेत्रभूतमादित्यरूपं पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि, उच्चरद् उदेति, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपः । कीदृशं तत् ? देवहितं देवैः स्थापितम्, यद्वा देवानां हितं प्रियम् । शुक्रं शुक्लं पाप्माऽसंस्पृष्टं शोचिष्मद्वा । तस्य प्रसादात् शतं शरदो वर्षाणि वयं पश्येम, शतवर्षपर्यन्तं वयमव्याहतचक्षुरिन्द्रिया भवेम । प्रार्थनायां लिङ् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । शतं शरदो जीवेम, अपराधीनजीवना भवेम । शतं शरदः शृणुयाम समर्थश्रोत्रेन्द्रिया भवेम । शतं शरदः प्रब्रवाम, अस्खलितवागिन्द्रिया भवेम । शतं शरदोऽदीनाः स्याम, न कस्यापि समक्षे दैन्यं कुर्याम । शरदः शताद् भूयश्च बहुतरं कालं पश्येम जीवेम शृणुयाम प्रब्रवाम ।

अध्यात्मपक्षे तद् वेदान्तवेद्यं ब्रह्म चक्षुः सर्वम्, सर्वस्यैव सर्वावबोधमूलत्वात् । तच्च देवहितं देवानामपि परप्रेमास्पदम् । तदेव सर्वेषां पुरस्तात् पुरतः शुक्रं दीप्तिमद्बोधरूपेण उच्चरद् उदेति, सर्वस्यापि व्यवहारस्य बोधमूलकत्वात् । तत्प्रसादादेव वयं शतं शरदः शतं वर्षाणि शरदः शताद् भूयश्च बहुतरं कालं पश्येम जीवेम शृणुयाम अदीनाः प्रब्रवाम ।

दयानन्दस्तु 'हे परमात्मन् ! भवान् यद्देवहितं शुक्रं चक्षुरिव वर्तमानं ब्रह्म पुरस्तादुच्चरत्, त्वां शतं शरदो जीवेम, शतं शरदः शृणुयाम, शतं शरदः प्रब्रवाम, शतं शरदोऽदीनाः स्याम, शताच्छरदो भूयश्च पश्येम जीवेम शृणुयाम प्रब्रवाम अदीनाश्च स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूर्योऽस्य मन्त्रस्य देवतेति त्वयाऽप्यभ्युपगतत्वेन तदपहाय परमेशपरत्वानुपपत्तेः, चरतेर्ज्ञानार्थत्वे उदित्यस्य नैरर्थक्यापाताच्च । न च परमेश्वरो देवानामेव हितकरः, सर्वेश्वरत्वे सर्वहितकारित्वात् । चक्षुरित्यस्य चक्षुस्तुल्यमित्यर्थत्वे गौणार्थत्वापत्तिश्च । न च चेतनब्रह्मणो दर्शनं संभवति, तस्यागोचरत्वात् ॥ २४ ॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आ ददे नारिरसि ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे अभ्रि ! सविता देवता की आज्ञा में वर्तमान मैं अश्विनीकुमारों की भुजाओं से और पूषा देवता के हाथों से तुम्हें ग्रहण करता हूँ । तुम नारी हो ॥ १ ॥

'देवस्य त्वेत्यभ्रिमादायौदुम्बरीं वैकङ्कतीं वाऽरत्निमात्री७ सव्ये कृत्वा दक्षिणेनालभ्य जपति युञ्जत इति' (का० श्रौ० २६।१।४) । महावीरसम्भरणं प्रारभ्यते । उखासम्भरणमृत्पिण्डवद् उदुम्बरतरूत्थां विकङ्कत-तरूत्थां वा हस्तप्रमाणामभ्रिं 'देवस्य त्वा''''नारिरसि' इति मन्त्रेणादाय वामहस्ते तां कृत्वा दक्षिणहस्तेन स्पृष्ट्वा युञ्जते मन इति मन्त्रं जपतीति सूत्रार्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'देवा ह वै सत्रं निषेदुः । अग्निरिन्द्रः सोमो मखो विष्णुर्विश्वे देवा अन्यत्रैवाश्विभ्याम्' (श० १४।१।१।१) । इतः प्रारभ्य अध्यायत्रयात्मकं प्रवर्ग्यकाण्डम् । एतेन प्रवर्ग्यकाण्डेन यज्ञस्य विष्णोः शिरःसन्धानमुक्तम् । यज्ञरूपस्य विष्णोः शिर एवादित्यः । तदर्थमेषाख्यायिका प्रवर्तते । 'तेषां कुरुक्षेत्रं देव-यजनमास । (तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनमिति) तस्माद्यत्र क्व च कुरुक्षेत्रस्य निगच्छति तदेव मन्यत इदं देवयजनमिति तद्धि देवानां देवयजनम्' (श० १४।१।१।२) । पूर्वं कदाचित् श्रीर्यशोऽन्नाद्यकामा अश्विभ्यां वर्जिता अग्नीन्द्रसोममखविष्णुविश्वेदेवाः कुरुक्षेत्रे देवयजने कञ्चन सत्रं निषेदुः । तत्रास्माकं मध्ये श्रमेण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाहुतिभिर्यः पूर्वं यज्ञस्य उदृचम् ऋच उद् उत्कर्षं रहस्यं फलमिति यावत्, अवगच्छति स एव श्रेष्ठ इत्यभिधानमूचुः । तादृशो विष्णुः स एव देवानां मध्ये श्रेष्ठ आसीत् । अत्र विष्णुयज्ञादित्यानां साम्यत्वोप-पादनम् । प्रसङ्गाद् यशः संयन्तुं केनापि न शक्यत इति लोकस्वभाववर्णनम् ।

'स यः स विष्णुर्यज्ञः सः । स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यस्तद्धेदं यशो विष्णुर्न शशाक संयन्तुं तदिदमप्येतर्हि नैव सर्व इव यशः शक्नोति संयन्तुम्' (श० १४।१।१।६) । 'स तिसृधन्वमादायापचक्राम । स धनुरार्त्न्या शिर उपस्तभ्य तस्थौ तं देवा अनभिधृष्णुवन्तः समन्तं परिण्यविशन्त' (श० १४।१।१।७) । तिसृभिरिषुभिर्युक्तं धन्व धनुस्तिसृधन्वम् । धनुरार्त्न्या धनुष्कोट्या । अनभिधृष्णुवन्तोऽप्रागल्भ्यात् तूष्णींभूताः समन्तात् परिवार्य तस्थुः । श्रुत्यन्तरात् सशस्त्रत्वात् प्रबलत्वाच्चेन्द्रो देवान् पराभूतवान् । पराभूता देवा विष्णुमशिश्रियन् । स च चिबुकेन धनुरालम्ब्य निद्राण इव तस्थौ । 'ता ह वम्र्य ऊचुः । इमा वै वम्र्यो यदुपदीका योऽस्य ज्यामप्यद्यात्किमस्मै प्रयच्छेतेत्यन्नाद्यमस्मै प्रयच्छेमापि धन्वन्नपोऽधिगच्छेत्तथास्मै सर्वमन्नाद्यं प्रयच्छेमेति तथेति' (श० १४।१।१।८) । 'तस्योपपरासृत्य । ज्यामपि जक्षुस्तस्यां छिन्नायां धनुरार्त्न्यौ विस्फुरन्त्यौ विष्णोः शिरः प्रचिच्छिदतुः' (श० १४।१।१।९) । 'तद्घृङ्ङिति पपात । तत्पतित्वासावादित्योऽभवदथेतरः प्राङेव प्रावृज्यत तद्यद्घृङ्ङित्य-पतत् तस्माद् घर्मोऽथ यत्प्रावृज्यत तस्मात् प्रवर्ग्यः' (१४।१।१।१०) । 'ते देवा अब्रुवन् । महान् बत नो वीरोऽपादीति तस्मान्महावीरस्तस्य यो रसो व्यक्षरत्तं पाणिभिः सम्ममृजुस्तस्मात् सम्राट्' (श० १४।१।१।११) इत्येवं ब्राह्मणेन प्रवर्ग्य-महावीर-सम्राडादिशब्दानामुपपत्तिः प्रदर्शिता ।

'तं देवा अभ्यसृज्यन्त । यथा वित्तिं वेत्स्यमाना एवं तमिन्द्रः प्रथमः प्राप तमन्वङ्गमनु न्यपद्यत तं पर्यगृह्णात् तं परिगृह्येदं यशोऽभवद्यदिदमिन्द्रो यशो यशो ह भवति य एवं वेद' (श० १४।१।१।१२) । 'स उ एव मखः स विष्णुः । तत इन्द्रो मखवानभवद् मखवान् ह वै तं मघवानित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः'

(श० १४।१।१।१३)। 'ताभ्यो वम्रीभ्योऽन्नाद्यं प्रायच्छन्। आपो वै सर्वमन्नं ताभिर्हीदमभिक्नूयमिवादन्ति यदिदं किं चादन्ति' (श० १४।१।१।१४)। 'अथेमं विष्णुं यज्ञं त्रेधा व्यभजन्त। वसवः प्रातःसवनꣳ रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवनमादित्यास्तृतीयसवनम्' (श० १४।१।१।१५)। 'अग्निः प्रातःसवनम्। इन्द्रो माध्यन्दिनꣳ सवनं विश्वे देवास्तृतीयसवनम्' (श० १४।१।१।१६)। 'गायत्री प्रातःसवनम्। त्रिष्टुब् माध्यन्दिनꣳ सवनं जगती तृतीयसवनं तेनापशीर्ष्णा यज्ञेन देवा अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः' (श० १४।१।१।१७)। वम्रीभ्यो वमनशीलाभ्य उपदीकाभ्योऽन्नाद्यम् अत्तुं योग्यमन्नं दन्तव्यापारनिरपेक्षम्, आद्यम् दन्तव्यापारसव्यपेक्षं पूर्वं प्रतिज्ञातं प्रायच्छन्। किं तत्? आप इति, सर्वेषामन्नानामब्विकारत्वात् कारणभूतास्वप्सु सर्वान्नावस्थितेः। तथा च अब्रूपमेवान्नाद्यं प्रायच्छन्निति तात्पर्यम्। पृथक् पृथग् व्रीहियवानामेकैकस्य प्रदाने तस्यान्नस्य कात्स्न्यं न स्यात्। तथा च अपगतशिरस्कं यज्ञं फलप्राप्त्यक्षमं विभज्यातिष्ठन्।

ननु च्छिन्नशिरसो यज्ञस्य फलसाधकाभावात् तदनुष्ठानमेव सर्वत्रोत्सीदेदित्याशङ्क्याह—'दध्यङ् ह वा आथर्वणः। एतꣳ शुक्रमेतं यज्ञं विदाञ्चकार यथा यथैतद्यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते यथैष कृत्स्नो यज्ञो भवति' (श० १४।१।१।१८)। दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिः पुरा शुक्रं निर्मलं सूर्यात्मना दीप्यमानमेतं प्रवर्ग्याख्यं यज्ञस्य मूर्धानम्, तथा एतं सवनत्रयात्मकं प्रागुक्तमपगतशिरस्कं यज्ञं च विदाञ्चकार सम्यग् अजानात्। यथा यथा येन येनोपायेन एष यज्ञः कृत्स्नः शिरश्छेदात् प्रागिव सम्पूर्णावयवः सम्यक् फलजनकः स्यात्, तथैतदुभयं पुरा ज्ञातवान्। 'स हेन्द्रेणोक्त आस। एतं चेदन्यस्मा अनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति' (श० १४।१।१।१९)। स च पुरा आदित्यात्मना यज्ञशिरःसन्धानविद्यामिन्द्रायोपदिदेश। स चेन्द्र एनमजानात्। यद्ययमिमां विद्यामन्यस्मा उपदिशेत्तर्हि सोऽपि मद्विधः स्यादिति। एवं विचार्य नान्यस्मा इयं विद्योपदेष्टव्येत्याज्ञापितवान्।

'तदु हाश्विनोरनुश्रुतमास। दध्यङ्ङु ह वा आथर्वण एतꣳ शुक्रमेतं यज्ञं वेद यथा यथैतद्यज्ञस्य शिरः प्रतिधीयते यथैष कृत्स्नो यज्ञो भवति' (श० १४।१।१।२०)। स दध्यङ्नामा ऋषिरेतं शुक्रं प्रवर्ग्यम्, तथा एतं यज्ञं सवनत्रयात्मकं जानातीत्यनेन प्रकारेण सस्मरतुरश्विनौ ऋषिम्। तत् तस्माद् इन्द्रोपदेशात् पुरैव खलु तद्विद्यादानं प्रतिश्रुतमासीत्। अश्विनौ हि पुरा बाल्यावस्थायां दधीचश्चिकित्सां कृत्वा युवाभ्यां किं दातव्यमित्येवमन्वब्रूताम्—हे महर्षे! त्वयि नानाविधा विद्याः सन्ति। तासां मध्ये सारतः सारा विद्योपदेष्टव्येति। तर्हि सारतः सारभूते द्वे मधुविद्ये मयि स्त इति ते युवाभ्यां यथाकालमुपदेक्ष्यामीति। नास्तीदानीमवसरः, युवयोर्बाल्यत्वादिति। अतः कालान्तरे समागन्तव्यमित्यश्विनोः कृते दधीचा विद्यादानमिन्द्रोपदेशात् प्रागेव प्रतिश्रुतमासीत्। एवं स्थिते फलप्राप्तिरहितेन यज्ञानुष्ठानेन श्राम्यन्तो देवा अश्विनावाहूय एवमब्रुवन्। युवां हि अस्माकं भिषजौ। अस्मदीयो यज्ञश्छिन्नशिरस्कः सन् फलजननाशक्तः, तस्य शिरसः सन्धानं भवद्भ्यां कार्यमिति। तदुक्तं तित्तिरिणा 'ते देवा अश्विनावब्रुवन्। भिषजौ वै स्थः। इदं यज्ञस्य शिरः प्रतिधत्तमिति' (तै० आ० ५।१।८) इति। एवमुक्तौ अश्विनौ कथमेतस्य सन्धानमित्यालोचयन्तौ दधीचोक्तमस्मरतामिति वर्णयद् ब्राह्मणमाह—दध्यङ्ङ् हेति। तौ खलु अश्विनौ पुरा विद्यादानं प्रतिश्रुतवन्तं दध्यञ्चमेता ऊचतुः—उपगतवन्तौ त्वां विद्यार्थमिति। ततः स ऋषिरब्रवीत् किं मया शिक्षणीयौ? तावब्रूताम्—यद्भवता विज्ञातं प्रवर्ग्याख्यं यज्ञशिरः, यश्च तत्सम्बद्धो यज्ञः, एतदुभयं त्वत्तोऽध्येष्यमाणौ आवाम् आगतौ।

'स होवाच। इन्द्रेण वा उक्तोऽस्म्येतं चेदन्यस्मा अनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति तस्माद्वै बिभेमि यद्वै मे स शिरो न छिन्द्यान्न वामुपनेष्य इति' (श० १४।१।१।२२)। 'तौ होचतुः। आवां त्वा तस्मात् त्रास्यावहे इति। कथं मा त्रास्येथे इति यदा ना उपनेष्यसेऽथ ते शिरश्छित्वान्यत्रापनिधास्यावोऽथाश्वस्य शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्यावस्तेन नावनुवक्ष्यसि स यदा नावनुवक्षस्यथ ते तदिन्द्रः शिरश्छेत्स्यथ ते स्वꣳ शिर आहृत्य तत्ते प्रतिधास्याव इति' (श० १४।१।१।२३)। सुप्रसन्ने कण्डिके।

'तौ होपनिन्ये । तौ यदोपनिन्येऽथास्य शिरश्छित्वाऽन्यत्रापनिदधतुरथाश्वस्य शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुस्तेन हाभ्यामनूवाच स यदाभ्यामनूवाचाथास्य तदिन्द्रः शिरश्चिच्छेदाथास्य स्वꣳ शिर आहृत्य तद्धास्य प्रतिदधतुः' (श० १४।१।१।२४)। अश्विभ्यां च यथा प्रतिज्ञातं तथैव कृतम्। तौ दधीचो मानुषं शिरश्छित्वान्यत्र स्थापितवन्तौ। ऋषिश्च तेनाश्वशिरसाऽश्विभ्यां प्रवर्ग्याख्यां मधुविद्यामुपदिदेश। अनन्तरमिन्द्र ऋषेस्तच्छिरश्चिच्छेद । आश्वे शिरसि छिन्ने सत्यश्विनौ दधीचः स्वं मानुषं शिरोऽन्यत्र स्थापितमाहृत्य प्रतिदधतुः पूर्ववदविकलमव्रणं च यथा स्यात्तथा संयुक्तं चक्रतुः।

उक्तेऽर्थे मन्त्रं संवादयति—'तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाचेत्ययतं तदुवाचेति हैव तदुक्तम्' (श० १४।१।१।२५)। यस्मादेवं पुरा वृत्तान्तो जातः, तस्मादेव कारणाद् ऋषिणा कक्षीवन्नाम्ना अतीन्द्रियदर्शिनाप्येतदुक्तमर्थजातमभिलक्ष्य 'अनूक्तम्' अनुवचनमध्ययनं कृतम्। यद्वाऽलौकिकस्यार्थस्य प्रकाशनादृषिरिति वेद एवोच्यते। कथमनूक्तम्? तदाह—दध्यङ् हेति। अयमुत्तरोऽर्धर्चः । अस्य पूर्वार्धस्तु—'तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्' (ऋ० सं० १।११६।१२) इति। अस्यार्थस्तु—हे नरौ नेतारौ अश्विनौ! वां युवयोस्तदुग्रं क्रूरं दंसः कर्म (निघ० २।१।३) सनये धनानां लाभार्थम् आविष्कृणोमि प्रकटीकरोमि। तन्यतुर्न मेघो यथा (नेत्युपमार्थे) पिहितां वृष्टिमाविष्करोति। सर्वत्र लोके बिन्दुशो विस्तारयति तद्वत्। किं तदुग्रमित्युच्यते आथर्वणोऽथर्वणः पुत्रो दध्यङ् नामा ऋषिः पुरा खलु वां युवाभ्यां यत् प्रवर्ग्याख्यं मधु अश्वस्य शीर्ष्णा प्रतिहितेन शिरसा प्रोवाच प्रोक्तवान् यत् कर्म तदिति। अस्य मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—अयतं तदुवाचेति। इन्द्रप्रतिषिद्धमपि तन्मधु अयतम् अनियमितं मन्वानः, उ एव, दध्यङ् ताभ्यामुवाच उपदिष्टवान्।

तदिदं प्रवर्ग्याख्यं मधु साधारण्येन (सर्वसाधारणपुरुषेभ्यः) नोपदेष्टव्यम्, इन्द्रेण गोपितत्वात्। किन्तु ये विशिष्टमातापितृजन्या आचारवन्तस्तेभ्य एवोपदेष्टव्यम्। तदुक्तम्—'तन्न सर्वस्मा अनुब्रूयात्। एनस्यꣳ हि तदथो नेन्म इन्द्रः शिरश्छिनददिति यो न्वेव ज्ञातस्तस्मै ब्रूयादथ योऽनूचानोऽथ योऽस्य प्रियः स्यान्न त्वेव सर्वस्मा इव' (श० १४।१।१।२६)। सर्वसाधारणोपदेश एनस्यम् एनसे हितं पापकारि स्यात्, अतो न सर्वस्मै ब्रूयात्। 'नेदिति परिभये' (निरु० १।१०)। यद्यहमविशेषेण सर्वस्मै उपदेक्ष्यामि, तर्हि इन्द्रो मदीयं शिरो न छिन्द्यादिति भयेनापि न सर्वस्मै उपदिशेत्, योऽनूचानो यश्चास्य प्रियस्तस्मा एवोपदिशेत्। 'संवत्सरवासिनेऽनुब्रूयात्। एष वै संवत्सरो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति तस्मात् संवत्सरवासिनेऽनुब्रूयात्' (श० १४।१।१।२७)। 'तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरति। त्रयो वा ऋतवः संवत्सरस्य संवत्सर एष य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मात् तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरति' (श० १४।१।१।२८)। 'तप्तमाचामति। तपस्व्यनुब्रवा इत्यमाꣳसाश्यनुब्रूते तपस्यनुब्रवा इति' (श० १४।१।१।२९)। 'अमृन्मयपायी। अस्ति वा अस्याꣳ सꣳसृष्टमिव यदस्यामनृतं वदति तस्मादमृन्मयपायी' (श० १४।१।१।३०)। 'अशूद्रोच्छिष्टी। एष वै घर्मो य एष तपति सैषा श्रीः सत्यं ज्योतिरनृतꣳ स्त्री शूद्रः श्वा कृष्णः शकुनिस्तानि न प्रेक्षेत नेच्छ्रियं च पाप्मानं च नेज्ज्योतिश्च तमश्च नेत् सत्यानृते सꣳसृजानीति' (श० १४।१।१।३१) इत्यादिभिः प्रवर्ग्यविद्याप्राप्तये बहवो नियमा उक्ताः।

'अथैष वाव यशः। य एष तपति तद्यत्तदादित्यो यशो यज्ञो हैव तद्यशस्तद्यत्तद्यज्ञो यशो यजमानो हैव तद्यशस्तद्यत्तद्यजमानो यश ऋत्विजो हैव तद्यशस्तद्यत्तदृत्विजो यशो दक्षिणा हैव तद्यशस्तस्माद्यामस्मै दक्षिणामानयेयुर्न ताꣳ सद्योऽन्यस्मा अतिदिशेन्नेद्यन्मेदं यश आगंस्तत्सद्योऽन्यस्मा अतिदिशानीति श्वो वैव भूते द्व्यहे वा तदात्मन्येवैतद्यशः कृत्वा यदेव तद्भवति तत् स ददाति हिरण्यं गां वासोऽश्वं वा' (श० १४।१।१।३२) इति

श्रुत्या प्रवर्ग्याध्ययनानुष्ठानेष्वपि विविधानि व्रतानि पालनीयानि। 'तस्य व्रतचर्या नातपति प्रच्छादयेत नेदेतस्मात्तिरोऽसानीति नातपति निष्ठीवेन्नेदेतमभिनिष्ठीवानीति नातपति प्रस्रावयेत्' (श० १४।१।१।३३)। अस्यां कण्डिकायां तस्य व्रतचर्या निरूप्यते। न प्रस्रावयेन्न मूत्रयेत्। इत्थमाख्यायिकया प्रवर्ग्यस्य विधित्सितस्य यज्ञशिरस्त्वं तद्रहितस्याग्निष्टोमादेः फलजननासामर्थ्यमुक्त्वा तस्यावश्यानुष्ठेयस्य प्रतिपादकं काण्डाध्यायिनस्तदनुष्ठायिनो व्रतानि दर्शितानि।

अथ निर्वर्तकानां मृद्दारुमयानां पात्राणां निष्पत्तिरुच्यते। महावीरादीनि मृन्मयानि पात्राणि निर्मातुं मृद्वल्मीकवपादयः सम्भारा विधास्यन्ते। प्रथमं सम्भारसंज्ञां निर्वक्ति –'स यद्वा एनानित्था चेत्था च सम्भरति तत्सम्भाराणाꣳ सम्भारत्वम्' (श० १४।१।२।१) इति। आध्वर्यवसमाख्यावशेनेतः परं वक्ष्यमाणासु क्रियासु कर्तृत्वेनाध्वर्युरेव सम्बद्ध्यते। नानादिगवस्थितान् यज्ञशिरःसारान् मृदादिरूपान् विहितपदार्थानेकत्रानीय तेषां समूहीकरणमेव सम्भरणम्। 'कृष्णाजिने सम्भरति। यज्ञो वै कृष्णाजिनम्। यज्ञ एवैनमेतत् सम्भरति' (श० १४।१।२।२)। यज्ञस्य कस्माच्चिन्निमित्तात् पलायमानस्य कृष्णमृगरूपेणावस्थानात् तच्चर्मणो यज्ञत्वम्। तथा च तैत्तिरीयकम्—'यज्ञो देवेभ्यो निलायत। कृष्णं रूपं कृत्वा यत्कृष्णाजिने हविरभ्यवहरन्ति' (तै० ब्रा० ३।२।५।६)। 'लोमतश्छन्दाꣳसि वै लोमानि छन्दःस्वेवैनमेतत्सम्भरत्युत्तरत उदीची हि मनुष्याणां दिक् प्राचीनग्रीवे तद्धि देवत्रा' (श० १४।१।२।२)। सम्भरणं च लोमवद्भागे कार्यमित्यनुषङ्गः। कुत एतत्? अलोमके विशसनप्रदेशे वा कस्मान्न सम्भरणम्? इति चेदुच्यते—छन्दांसि वै लोमानि, अर्थाच्छन्दोयुक्ता ऋचः सामानि च कृष्णाजिनस्य लोमानि। तथा च तैत्तिरीयसंहितायाम्—'एष वा ऋचो वर्णो यच्छुक्लं कृष्णाजिनस्यैष साम्नो यत्कृष्णम्' (६।३।१।१)। एवं च गायत्र्यादिछन्दःस्वेव सम्भरति। उत्तरत उदीच्यां दिशि गत्वा सम्भारान् सम्भरति प्राचीनग्रीवे, प्राचीना प्राच्यां दिश्यवस्थिता ग्रीवा यस्य तस्मिन् कृष्णाजिने आस्तीर्णे सम्भरति। तद्धि प्राग्दिक्सम्बन्धो हि देवत्रा देवेषु प्रसिद्धः।

'अभ्र्या। वज्रो वा अभ्रिर्वीर्यं वै वज्रो वीर्येणैवैनमेतत् समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श० १४।१।२।३)। अभ्रिः खननसाधनं काष्ठम्, तया सम्भारान् सम्भरति। वज्रवत्तीक्ष्णाग्रत्वादभ्रिर्वज्रः। वज्रश्च इन्द्रायुधत्वाद् वीर्यरूपः। एवमाभ्रियसम्भरणेनैनं प्रवर्ग्यं वीर्येण फलजननसामर्थ्येन समृद्धं करोति। तत्समृद्धौ प्रवर्ग्यशिरस्कं यज्ञमपि कृत्स्नं सम्पूर्णावयवं करोति। 'औदुम्बरी भवति' (श० १४।१।२।४), 'अथो वैकङ्कती' (श० १४।१।२।५)। अभ्रेः प्रकृतिरूपमौदुम्बरं विकल्पेन विकङ्कतरूपं वृक्षान्तरं च विधाय तया अभ्र्या खातां 'युञ्जते मनः' इति मन्त्रेण जलेनासिक्तां मृदं समन्त्रकमाहृत्य उत्तरत आस्तृते कृष्णाजिने निधाय ततो वल्मीकवपाया वराहेण खातस्य मृत्पिण्डस्य समन्त्रकं सम्भरणम्, पूतीकरसस्य अजाक्षीरस्य सम्भरणम्, एकस्मिन् कृष्णाजिने संभृतानां मृदादीनां प्रशंसनम्, अभिमर्शनविधानम्, महावीरादिनिर्माणाय देवयजनस्योत्तरतः परिश्रितं विधाय तत्र सम्भृतसम्भारानादाय गच्छन्तः 'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः' (वा० सं० ३७।७) इतीमं मन्त्रं जपन्ति। संसृष्टमृत्तिकया महावीरकरणस्य विधानं लक्षणसम्पन्नं महावीरं कृत्वा तस्य समन्त्रकमभिमर्शनम्। वल्मीकवपा-वराहविहत-पूतिकाऽजाक्षीरलक्षणान् आहृतान् सम्भारान् परस्परसम्मेलनेन यथा श्लक्ष्णं भवति, तथा मखाय त्वा मखस्य त्वेति मन्त्रेण संसृज्य संसृष्टं मृत्पिण्डमुपादाय मखाय त्वेति मन्त्रेण महावीर-घर्म-हविःसन्तपनपात्रं करोति।

'मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे इत्यसावेव बन्धुः प्रादेशमात्रं प्रादेशमात्रमिव हि शिरो मध्ये संगृहीतं मध्ये संगृहीतमिव हि शिरोऽथास्योपरिष्टात् त्र्यङ्गुलं मुखमुन्नयति नासिकामेवास्मिन्नेतद्दधाति तन्निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिरोऽसीति मखस्य ह्येतत् सौम्यस्य शिर एवमितरौ तूष्णीं पिन्वने तूष्णीꣳ रौहिणकपाले'

(श० १४।१।२।१७)। तं महावीरं प्रादेशमात्रमूर्ध्वप्रमाणेन प्रादेशपरिमितं कुर्यात्। हि यस्मात् शिरो मूर्धा लोके प्रादेशमात्रपरिमितमिव दृश्यते। तच्च मध्ये संगृहीतमिव सन्नतमिव दृश्यते। अथो अनन्तरं महावीरस्य उपरिष्टाद् उपरि भागेऽङ्गुलत्रयपरिमितं मुखमास्यमुन्नयति, ऊर्ध्वं प्रापयति। एतेन मुखोन्नयनेनास्मिन् महावीरे यज्ञशिरसि नासिकामेव दधाति।

महावीरलक्षणं सूत्रकारेण स्पष्टीकृतम्—'प्रादेशमात्रमूर्ध्वमासेचनवन्तं मेखलावन्तं मध्यसंगृहीतमूर्ध्वं मेखलायास्त्र्यङ्गुलम्' (का० श्रौ० २६।१।१६)। आसेचनवन्तम्, आसिच्यतेऽस्मिन्नित्यासेचनं गर्तः, तद्वन्तं मेखलावन्तं रास्नावन्तं मध्यसंगृहीतं मध्यप्रदेशं संकुचितमुलूखलमिव मुष्टिग्रहणयोग्यं मेखलाया ऊर्ध्वं त्र्यङ्गुलं प्रादेशमात्रस्योपरिभागे त्र्यङ्गुलं परिशिष्य ततोऽधस्तान्मेखला कार्या। 'निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिर इति' (का० श्रौ० २६।१।१७)। निष्ठितं निष्पन्नं सव्यहस्तस्थं दक्षिणेनाभिमृशेत्। अनयैव मृदा प्रवर्ग्योपयुक्त-मन्यदपि मृन्मयजातं करोति—तूष्णीं पिन्वने तूष्णीं रौहिणकपाले इति। पिन्वति सिञ्चत्यनयोरिति पिन्वने गोपयोऽजापयोदोहनपात्रे। रौहिणपुरोडाशयोरधिश्रयणार्थं द्वे कपाले कर्तव्ये। एतयोः पिन्वनकपालयोर्लक्षणं सूत्रकारेणोक्तम्—'स्रुक्पुष्कराकृती पिन्वने रौहिणकपाले परिमण्डले' (का० श्रौ० २६।१।२०)। तथैव द्वावन्यावपि महावीरौ कर्तव्यौ।

समन्त्रकस्य महावीरनिर्माणस्य, अमन्त्रकस्य पिन्वनादिनिर्माणस्य च संहत्य प्रशंसनम् प्रजापतिर्वे-त्यादिना। 'प्रजापतिर्वा एष यज्ञो भवति। उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्यद्यजुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितꣳ रूपं तदस्य तेन सꣳस्करोत्यथ यत्तूष्णीं यदेवास्यानिरुक्त-मपरिमितꣳ रूपं तदस्य तेन सꣳस्करोति स ह वा एतꣳ सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिꣳ सꣳस्करोति य एवं विद्वान् एतदेवं करोत्यथोपशयायै पिण्डं परिशिनष्टि प्रायश्चित्तिभ्यः' (श० १४।१।२।१८)। यदि पात्रं भग्नं स्यात्, तर्हि तन्निर्माणार्थमुपशयाभिधां पात्रनिर्माणादवशिष्टां मृदं क्वचिदेकान्ते स्थापयेत्।

'पत्न्यदर्शनम्, अननूक्तिभिश्च' (का० श्रौ० २६।२।३-४)। सन्निधाने सत्यपि पत्नी प्रवर्ग्यस्य महावीरस्य दर्शनं न कुर्यात्। अनूक्तिरनुवचनं वेदाध्ययनं येषां न विद्यते तैरपि महावीरस्य दर्शनं न कार्यमिति सूत्रार्थः। श्रपणविधानम्, एतेषामावापोद्धरणयोः कालविशेषनिरूपणम्, महावीरत्रयस्योद्वपने मन्त्रत्रयं च विनियुज्य पिन्वनयो रौहिणकपालयोश्च तूष्णीमुद्वपनविधानम्, प्रथममहावीरस्यावापादुद्धृतस्याजाक्षीरेणासेचनस्य समन्त्रकं विधानम्, अन्येषां तूष्णीमजाक्षीरेणासेचनम्। 'स यदैतदातिथ्येन प्रचरति। अथ प्रवर्ग्येण चरिष्यन् पुरोपसदोऽग्रेण गार्हपत्यं प्राचः कुशान् सꣳस्तीर्य द्वन्द्वं पात्राण्युपसादयत्युपयमनीं महावीरं परीशासौ पिन्वने रौहिणकपाले रौहिणहवन्यौ स्रुचौ यदु चान्यद् भवति' (श० १४।१।३।१)। अध्वर्युर्यदाऽतिथिभूतस्य सोमराजस्य प्रीत्यर्थं नवकपालेन पुरोडाशेन चरति, तदा उपसदः पुरा आतिथ्येष्ट्यनन्तरं तानूनप्त्रस्पर्शनादिकमपि कृत्वा प्रवर्ग्येण चरिष्यन् प्रवर्ग्यमनुष्ठास्यन् पात्रासादनं कुर्यात्। असंस्कृतानां पात्राणां यागानर्हत्वात् तत्संस्काराय पात्रासादनमिति। उपयमनम् अधश्चाद् धारणम्। तप्तस्य महावीरस्य अधो धारणार्था औदुम्बरी द्राघीयसी स्रुग् उपयमनी। परीशासौ अप्रचरणीयौ महावीरौ रौहिणहवन्यौ औदुम्बर्यौ अविले स्रुचौ। यदन्यदपि पात्रजातमपेक्षितं तदप्यासादयेत्। तच्च कात्यायनेन प्रोक्तम्—'स्थूणामयूखम्' (का० श्रौ० २६।२।१०) इत्यादिना।

'अथाध्वर्युः। प्रोक्षणीरादायोपोत्तिष्ठन्नाह ब्रह्मन् प्रचरिष्यामो होतरभिष्टुहीति ब्रह्मा वै यज्ञस्य दक्षिणत आस्तेऽभिगोप्ता तमेवैतदाहाप्रमत्त आस्व यज्ञस्य शिरः प्रतिधास्याम इति होतारमभिष्टुहीति' (श० १४।१।३।२)। गार्हपत्याहवनीया उत्तरेण द्वौ चतुरस्रौ खरौ हस्तमात्रौ एकाङ्गुलोत्सेधौ दक्षिणतस्तृतीयं तावन्मात्रं सिकताभिः कृत्वा सम्राडासन्दीमाहवनीयपूर्वेण संस्थाप्य तत्र द्वौ महावीरावासादयेत्। ततो मुञ्जनिर्मितानिण्डवानादीप्य

तान् खरे संस्थाप्य तत्राज्यपूर्णं महावीरं निधाय होत्रा मन्त्रगणे पठ्यमाने प्रतिप्रणवं स्रौवाज्यमासिञ्चेत्। ततो रौहिणपुरोडाशयोः प्रचारः। तत्रादौ दक्षिणं पुरोडाशं हुत्वा गां दुग्ध्वा परीशासाभ्यां महावीरमादाय तत्राजापयः प्रक्षिप्य शान्ते पयसि गोपयः प्रक्षिपेत्। अयं घर्म इत्युच्यते। तत उत्तरं रौहिणं जुहुयात्। एवमपराह्णेऽपि प्रवर्ग्यानुष्ठानम्। 'एष वै मखो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह मखाय त्वेति' (श० १४।१।३।५)।

अथ मन्त्रार्थः—अभ्रिदेवत्यं यजुः। हे अभ्रे, सवितुर्देवस्याज्ञया स्थितोऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे। त्वं च नारिरसि स्त्रीनाम्नी भवसि। तां सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनाभिमृश्य जपति युञ्जते मन उत युञ्जते धिय इति, 'ताᳯं सव्ये पाणौ कृत्वा। दक्षिणेनाभिमृश्य जपति युञ्जते मन उत युञ्जते धियः' (श० १४।१।२।८) इति श्रुतिः।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धिरूपे अभ्रे, शास्त्ररहस्यप्राप्त्यर्थं त्वामाददे। अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। त्वं नारिरसि, नयत्यवगमयति श्रुतेरर्थानिति नारिः, 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (पा० सू० ६।३।६३) इति तद्धिताभावेऽपि छान्दसत्वाद् ह्रस्वः, असि। अतः श्रुतिरहस्यमवगन्तुं शक्नोषि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यतस्त्वं नारिरसि, तस्मात् सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वाददे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापकोपदेशकयोर्बाहुभ्यां पुष्टिकर्तुर्हस्ताभ्यां कस्यचिद्विदुषो ग्रहणादर्शनात्, निष्प्रयोजनत्वाच्च, कश्चायं ग्रहीतेत्यनिरूपणाच्च। कथमन्योऽन्ययोर्बाहुभ्यामन्यस्य हस्ताभ्यां कश्चन गृह्णीयात्॥ १॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥ २॥

मन्त्रार्थ—वेदपाठ से महत्त्व को प्राप्त, सर्वज्ञ यजमान के वेदवेत्ता होम करने वाले ऋत्विक्गण यज्ञानुष्ठान में मन और इन्द्रियों को लगाते हैं, क्योंकि सब प्राणियों के मन की वृत्ति को जानने वाले सृष्टिकर्ता ने ही इन ब्राह्मणों को मनोवशीकार की सामर्थ्य के साथ रचा है। प्रेरक अन्तर्यामी परमात्मा की सच्ची स्तुति मनोवशीकार ही है। उस परमात्मा के निमित्त हम यह श्रेष्ठ आहुति देते हैं॥ २॥

इयं पञ्चमे चतुर्दश्यां व्याख्यातापि पुनर्व्याख्यायते। विप्रस्य यजमानस्य ऋत्विजो मनो युञ्जते, लौकिकचिन्ताभ्यो निवर्त्य यज्ञचिन्तया नियमयन्ति। उतापि धिय इन्द्रियाणि च यज्ञार्थेषु नियमयन्ति। कीदृशस्य विप्रस्य? बृहतो महतः, तथा विपश्चितो ज्ञातज्ञेयस्य। अधीतवेदत्वात् बृहत्त्वम्, अर्थाभिज्ञत्वाद् विपश्चित्त्वमिति। कीदृशा विप्राः? होत्रा होमकर्तारः। तदिदं विप्राणां मनोनियमनादिसामर्थ्यम्, एक इद् एक एव विदधे ससर्ज। किंभूत एकः? वयुनावित् सर्वभूतानां मनोवृत्तिवेत्ता। ननु कथमेकस्य सर्वसृष्टौ सामर्थ्यमिति चेत्, तत्राह—यतः सवितुरन्तर्यामिणो देवस्य, परिष्टुतिः सर्वरीत्या स्तुतिः, मही महती, 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः' (मु० १।१।९) इति श्रुतेः॥ २॥

देवी द्यावापृथिवी मखस्य वामद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥ ३॥

मन्त्रार्थ—हे दीप्यमान द्यावापृथिवी (पृथ्वी और स्वर्ग) ! अब मैं देवयजन-स्थान में मृत्तिका और जल को लेकर यज्ञ का प्रमुख कार्य सिद्ध करता हूँ। इस प्रकार पृथ्वी और स्वर्ग से प्रार्थना कर मृत्तिका से प्रार्थना की जाती है कि हे मृत्तिके ! यज्ञकार्य के सम्पादन के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यज्ञ के शिरस्थानीय महावीर के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ ॥ ३ ॥

द्यावापृथिवीदैवतं यजुः, ब्राह्मी गायत्री। 'मृदमादत्ते पिण्डवद् देवी द्यावापृथिवी इति' (का० श्रौ० २६।१।५)। अध्वर्युर्देवीति मन्त्रेणोखासम्भरणमृत्पिण्डवद् दक्षिणेन साभ्रिणा सव्येन केवलेनेत्युभाभ्यां पाणिभ्यां मृत्पिण्डमादत्त इति सूत्रार्थः ।

अत्र ब्राह्मणम् -'अथ मृत्पिण्डं परिगृह्णाति। अभ्रचा च दक्षिणतो हस्तेन च हस्तेनैवोत्तरतो देवी द्यावा-पृथिवी इति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत् स इमे द्यावापृथिवी अगच्छद्यन्मृदियं तद्यदापोऽसौ तन्मृदश्चापां च महावीराः कृता भवन्ति तेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादाह देवी द्यावापृथिवी इति मखस्य वामद्य शिरो राध्यासमिति यज्ञो वै मखो यज्ञस्य वामद्य शिरो राध्यासमित्येवैतदाह देवयजने पृथिव्या इति देवयजने हि पृथिव्यै सम्भरति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णं इति यज्ञो वै मखो यज्ञाय त्वा यज्ञस्य त्वा शीर्ष्ण इत्येवैतदाह' (श० १४।१।२।९)। अथ तया अभ्रचा खातां जलेनासिक्तां मृदमाहरेदिति विधत्ते—अथ मृत्पिण्डमिति। अभ्रिस्पर्शनानन्तरं तया चाभ्रचा दक्षिणहस्तेन च दक्षिणभागेन गृह्णन् सव्यहस्तेनैव केवलेनोत्तरत उत्तरभागे गृह्णन् देवी द्यावापृथिवीति मन्त्रेण मृत्पिण्डं जलेन मिश्रीकृतं मृत्तिकाघनं गृह्णाति। महावीराख्य-मृन्मयपात्रपर्याप्तं स्वीकुर्यात्। परिगृह्य च उत्तरत आस्तीर्णे कृष्णाजिने निदधाति।

मन्त्रं चतुर्धा विभज्य प्रथमभागं तात्पर्यतो व्याचष्टे—यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य शीर्षं शिरश्छिन्नं यस्यासौ शीर्षच्छिन्नः, तस्य तथाविधस्य यज्ञस्य छेदनप्रदेशाद् यो रसो लोहितरूपो विविधं च्युतः, स रस इमे द्यावापृथिवी सर्वप्राणिसन्निहिते प्राप्नोत्। आह्रियमाणा मृदिति यत् तदेवेयं यज्ञरसयुक्ता पृथिवी। मृदा संसृष्टा आप इति यत् तदेवासौ द्युलोकः। द्युलोकजनितया हि वृष्टचा आपो जायन्ते। यस्मादेवं महावीरा मृदामपां च सम्मेलनात् कृतास्तस्मात् तेनैव द्यावापृथिव्यौ प्राप्तेनैव पुरातनेन रसेन एनं प्रवर्ग्यं समर्धयति। तत्समृद्धचा यज्ञमपि कृत्स्नं सम्पूर्णावयवं करोति। प्रादेशमात्रोन्नतानि पर्वत्रयवन्ति घुण्टिकाकाराणि घर्महविःसन्तापार्थानि त्रीणि मृन्मयानि पात्राणि महावीरा उच्यन्ते। 'महान् बत नो वीरोऽपादीति' (श० १४।१।१।११) इत्यादिना प्रवर्ग्यस्य महावीर-शब्दाभिधेयत्वम्। तत्साधनेषु पात्रेषूपचारात्तच्छब्दप्रवृत्तिः। द्वितीयभागमनूद्य व्याचष्टे– मखस्य वामिति। हे देवी देव्यौ देवनशीले द्यावापृथिव्यौ ! वां युवयोः सकाशाद् अद्य मखस्य यज्ञस्य शिरः प्रवर्ग्यं राध्यासं कर्तुं शक्तो भूयासम्। कुत्रेति चेत् ? तृतीयभागं व्याचष्टे—पृथिव्यै देवयजन इति। पृथिवीसम्बन्धिनि, षष्ठचर्थे चतुर्थी, देव-यजने यागाधिकरणीभूते देशे। तत्र हि संभरति मृदादिसम्भारानाहरति। अथ चतुर्थभागमनूद्य व्याख्यान-सापेक्षस्य पदस्यार्थमुक्त्वा निष्पन्नं वाक्यार्थमाह—मखाय त्वेति। अत्रापि मखशब्दस्य यज्ञ एवार्थः। तथा च हे मृत्पिण्ड, त्वां मखाय यज्ञार्थमाददे। तथा मखस्य शीर्ष्णे शिरसे त्वां परिगृह्णामीति।

समग्रो मन्त्रार्थस्तु—हे देवी देव्यौ दीप्यमाने द्यावापृथिव्यौ ! अद्य अस्मिन् दिने पृथिव्या देवयजने देवयजनस्थाने, देवा इज्यन्ते यत्र तद् देवयजनम्, तस्मिन् मखस्य यज्ञस्य शिरो राध्यासं साधयेयम्। महावीर एव यज्ञशिरः। किं कृत्वा ? वां युवां द्यावापृथिव्यौ आदाय, दिवोंऽशं जलं पृथिव्यंशं मृदं चादायेत्यर्थः। एवं द्यावापृथिव्यौ प्रार्थ्य मृदमाह—हे मृत् ! यज्ञाय त्वां गृह्णामि। विशेषमाह– मखस्य यज्ञस्य शीर्ष्णे शिरसे महावीराय त्वां शीर्ष्णे गृह्णामीति शेषः। तं मृत्पिण्डमुत्तरे स्थापिते कृष्णाजिने निदध्यात्।

अध्यात्मपक्षे—हे देव्यौ चितिप्रकृतिरूपे, अद्य वां युवामादाय यज्ञस्य शिरो ब्रह्मात्मज्ञानं पृथिव्या देवयजने राध्यासम्। हे प्रकृते, मखाय त्वां परिगृह्णामि मखस्य शीर्ष्णे त्वां परिगृह्णामि। यज्ञार्थस्य पूर्वकाण्डस्य शीर्षस्थानीयं वेदशीर्षरूपोपनिषज्ज्ञानं यज्ञस्य शिरःस्थानीयम्।

दयानन्दस्तु—'देवी द्यावापृथिव्यावध्यापिकोपदेशिके स्त्रियावद्य पृथिव्या देवयजने वां मखस्य शिरो राध्यासम्। मखस्य शीर्ष्णे त्वा मखाय त्वा राध्यासम्' इति, तदप्यसङ्गतम्, असम्बन्धात्। किमिदं यज्ञशिरः? कथं च तयोर्मखाय साधनमिति विशृङ्खलत्वात्॥ ३॥

देव्यो वम्र्यो भूतस्य प्रथमजा मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥ ४॥

मन्त्रार्थ प्राणियों से प्रथम उत्पन्न दीप्यमान हे उपजिह्विकाओं! तुम्हें लेकर मैं देवयजन-स्थान में यज्ञ के सिर, अर्थात् महावीर का निर्माण करूँ, अतः तुम्हें ग्रहण करता हूँ, यज्ञ के सिर महावीर की रचना के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूं॥ ४॥

'कृष्णाजिने निदधात्युत्तरतः, देव्यो वम्र्य इति वल्मीकवपाम्' (का० श्रौ० २६।१।६-७)। उत्तरतः स्थापिते प्राग्ग्रीवे उत्तरलोम्नि कृष्णाजिने मृत्पिण्डं तूष्णीं निदध्यात्, मृत्पिण्डस्योत्तरतः कृष्णाजिन एव देव्यो वम्र्य इति मन्त्रेण वल्मीकवपामादाय तूष्णीं निदध्यादिति सूत्रार्थः। उपदीकाकृतो मृत्सञ्चयो वल्मीकः, तस्य वपेव वपा ताम्, मध्यस्थलोष्ठमिति यावत्। वल्मीकवपा देवता आर्षी पङ्क्तिः। हे देव्यो दीप्यमाना वम्र्य उपजिह्विकाः! वो युष्मानादाय पृथिव्या देवयजने मखस्य शिरो महावीरमद्य राध्यासं सम्पादयेयम्। मखाय त्वामाददे। मखस्य शीर्ष्णे त्वामाददे। किंभूता वम्र्यः? भूतस्य प्राणिजातस्य प्रथमजाः प्रथमोत्पन्नाः। पृथिवी जन्तूनां प्रथमजा, तत्सम्बन्धाद् वम्र्योऽपि प्रथमजा उच्यन्ते।

अत्र ब्राह्मणम् 'अथ वल्मीकवपाम्। देव्यो वम्र्य इत्येता वा एतदकुर्वत यथा यथैतद्यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत ताभिरेवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति भूतस्य प्रथमजा····तदनयैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्या मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे····' (श० १४।१।२।१०)। देव्यो वम्र्यो या वमनशीला उपदीकाः प्रतिपाद्यन्ते, एताः खलु पुरा एतत्कर्म अकुर्वत। यथा यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत छिन्नमभवत्, एवमेतत्कर्म विष्णुधनुषो ज्याभक्षणरूपं कृतवत्यः, अतस्ताभिरेव एनं प्रवर्ग्यम्, एतत्समर्धयति। इयं वै पृथिवी सर्वकार्यस्य प्राणिजातस्य प्रथमजा कारणत्वेन प्रथमं पुरस्ताज्जाता। तत्सम्बन्धाद् वम्र्योऽपि मन्त्रे प्रथमजा इत्युच्यन्ते। तथा चानयैव पृथिव्या एनं प्रवर्ग्यं समर्धयति। अन्यत् सर्वं गतार्थम्।

अध्यात्मपक्षे—हे देव्यो दीप्यमाना वम्र्यो ज्ञानवमनशीला इन्द्रियवृत्तयः! वो युष्मानादाय यज्ञस्य पृथिव्या देवयजनेऽस्मिन् शरीरे शिरो ब्रह्मात्मज्ञानं राध्यासं साधयेयम्। इन्द्रियाणां वृत्तिभिर्ज्ञानोपकारः, तन्निरोधैश्च महानुपकारो जायते, 'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥' (कठो० २।३।१०) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे प्रथमजा वम्र्यो देव्यो विदुष्यः! भूतस्य मखस्य पृथिव्या देवयजनेऽद्य वः शिरोवदहं राध्यासम्, मखस्य त्वा मखाय शीर्ष्णे त्वा राध्यासम्' इति, तदपि न, अल्पवयस्कानां तेजस्विनीनां स्त्रीणां देवयजने क उपयोग इत्यनुक्तेः, भूतस्य मखस्येत्यस्य किं स्वारस्यमित्यनुक्तेश्च। यज्ञस्य शीर्ष्णे कथं तासां सिद्धिरित्यादिकं सर्वमसम्बद्धमेव॥ ४॥

इयत्यग्रं आसीन्मखस्यं तेऽद्य शिरों राध्यासं देवयजने पृथिव्याः ।
मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—भगवान् वराह ने जिस समय इस पृथ्वी को उठाया, तब इसका परिमाण प्रादेशमात्र था। हे पृथिवि ! अब तुम्हारे ऊपर देवयजन-स्थान में मैं यज्ञ के शिरस्थानीय महावीर का निर्माण करता हूँ, यज्ञ के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यज्ञ के सिर महावीर के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ ॥ ५ ॥

'इयत्यग्र इति वराहविहतम्' (का० श्रौ० २६।१।१८)। वराहोत्खातमृदमादाय तूष्णीं कृष्णाजिने वल्मीकवपोत्तरे निदध्यादिति सूत्रार्थः। वराहविहतमृद्देवत्यं यजुः। ब्राह्मी गायत्री। हे पृथिवि, या त्वमियती प्रादेशमात्री (अभिनयेन निर्दिश्यते) अग्रे वराहस्योद्धरत आसीद् आसीरभूः। 'ते' इति द्वितीयार्थे षष्ठी। तां त्वामादाय पृथिव्या देवयजने मखस्य शिरो राध्यासम्। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वराहविहतम्। इयत्यग्र आसीदितीयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जघान सोऽस्याः पतिः प्रजापतिस्तेनैवैनमेतन्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समर्धयति कृत्स्नं करोति मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्या मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्ण इत्यसावेव बन्धुः' (श० १४।१।२।११)। अथ सम्भारान्तरस्याहरणं विधत्ते—अथेति। अथ वल्मीकवपासंभरणानन्तरं वराहविहतं वराहेण खातं पिण्डमियत्यग्र आसीदिति मन्त्रेण आहृत्य उत्तरतः कृष्णाजिने निदध्यात्। इयतीशब्दसूचितमर्थं प्रदर्शयन् मन्त्रभागस्यास्य प्रकृते सङ्गतिमाह—इयती ह वा कृत्स्नं करोतीति। इयतीति प्रादेशमात्रस्याभिनयेन प्रदर्शनम्। इदं परिमाणमस्या इयती। तस्य व्याख्यानं प्रादेशमात्रीति। अग्रे सृष्टेः प्राक्काले या उदकमध्ये कृत्स्ना पृथिवी निमग्ना आसीत्, तां प्रजापतिर्वराहो भूत्वा दंष्ट्राभ्यामुद्धृतवान्, इत्याख्याता। अतस्तस्यामवस्थायामियं दृश्यमाना सर्वा पृथिवी तद्दंष्ट्राग्रप्रोता इयती ह वै प्रादेशमात्रपरिमितैव आसीत्। तां तथावस्थितां पृथिवीं वराहरूपः प्रजापतिरुज्जघान जलमध्यात् समुद्धृतां कृतवान्। एमूष इतीति। ए अरे पृथिवि ! अमूष अमुष्याः स्तेयकादिवत् त्वमदृश्या भवसीति वदन्। स च वराहरूपः प्रजापतिरस्याः पृथिव्याः पतिर्भर्ता। अतस्तेन महोवराहरूपेण मिथुनेनैव एतद् एतर्हि एनं प्रवर्ग्यं प्रियेण धाम्ना इष्टतमेन तेजसा समर्धयति। ततश्च यज्ञमपि सर्वावयवं कृतवान् भवति। हे पृथिवि, त्वमग्रे वराहेणोद्धरणसमये इयती एतत्परिमाणा प्रादेशमात्रपरिमितैवासीरित्येवंविधस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वादयं मन्त्रो वराहविहतमृत्सम्भरणे संगत इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—बुद्धेरपि ब्रह्मात्मज्ञानरूपस्य शिरसः साधने उपयोगः। यतो हि सापि प्रकृतिसमुद्रे निमग्ना आसीत्। भगवतैव वराहरूपेणोद्धारः कृतः। उद्धृतां तामाश्रित्य मखस्य शिरो राध्यासमिति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, अहमग्रे मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा राध्यासम्, यस्य ते मखस्य शिर आसीत्, तं त्वामद्य पृथिव्या इयति देवयजने राध्यासम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैवासम्बद्धत्वात्। मखस्य शीर्ष्णे सङ्गतिकरणस्योत्तमतायै विदुषां पूजने कथं सिद्धिरित्यादिकं निरर्थकमेव, श्रुतिसूत्रादिविरुद्धमेव। इयतीत्यस्यापि विसङ्गतिरेव ॥ ५ ॥

इन्द्रस्यौजं स्थ मखस्यं वोऽद्य शिरों राध्यासं देवयजने पृथिव्याः ।
मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे । मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ।
मखायं त्वा मखस्यं त्वा शीर्ष्णे ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे पूतिकाओं ! तुम इन्द्र की तेजोरूप हो, तुम्हें लेकर आज मैं देवयजन-स्थान में यज्ञ के शिरस्थानीय महावीर का सम्पादन करता हूँ। यज्ञ के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ, यज्ञ के सिर महावीर के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे दुग्ध ! यज्ञ के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ, यज्ञ के सिर महावीर के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे यज्ञसामग्रियों ! यज्ञ की सम्पन्नता के लिये तुम्हारा स्पर्श करता हूँ, यज्ञ के सिर महावीर के लिये तुम्हारा स्पर्श करता हूँ॥ ६ ॥

'इन्द्रस्यौज स्थेति पूतीकान्' (का० श्रौ० २६।१।९), 'मखायेति पयः' (का० श्रौ० २६।१।१०)। पूतीकान् रोहिषतृणान्यादाय तूष्णीं कृष्णाजिने वराहविहतोत्तरे निदध्यात्, पय आदाय तूष्णीं कृष्णाजिने पूतीकोत्तरे निदध्यादिति सूत्रद्वयार्थः। आदारदेवत्या ऋक् त्रिष्टुप्। हे पूतीकाः, ये यूयमिन्द्रस्य ओजः स्थ तेजोरूपा भवथ, तान् वो युष्मानादाय पृथिव्या देवयजने मखस्य शिरो राध्यासम्। मखाय वो गृह्णामि। मखायेति पयोदेवत्यम्। हे पयः, मखाय मखशीर्ष्णे त्वां गृह्णामि। तूष्णीं गवेधुका अपि ग्राह्याः, 'तूष्णीं गवेधुकाः' (का० श्रौ० २६।१।११), 'संभृतानभिमृशति मखायेति' (का० श्रौ० २६।१।१२)। इति हि कात्यायनो महर्षिः। संभृतान् सम्भारान् स्वकरेणामृशेदध्वर्युरिति सूत्रार्थः। संभारदेवत्यं यजुः। हे संभाराः, मखाय तच्छीर्ष्णे च वः स्पृशामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथादारान्। इन्द्रस्यौज स्थेति यत्र वा एनमिन्द्र ओजसा पर्यगृह्णात् तदस्य परिगृहीतस्य रसो व्यक्षरत् स पूयन्निवाशेत सोऽब्रवीदादीर्येव बत म एष रसोऽस्रौषीदिति तस्मादादारा अथ यत्पूयन्निवाशेत तस्मात् पूतीकास्तस्मादग्नावाहुतिरिवाभ्याहिता ज्वलन्ति तस्मादु सुरभयो यज्ञस्य हि रसात् सम्भूता अथ यदेनं तदिन्द्र ओजसा पर्यगृह्णात् तस्मादाहेन्द्रस्यौज स्थेति मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्या मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे इत्यसावेव बन्धुः' (श० १४।१।२।१२)। पूतीकरससम्भाराहरणं विधत्ते—अथादारा-निन्द्रस्यौज स्थेति। आदारान् आदीर्यावस्थितान् पूतीकाशब्दाभिधेयान् सोमप्रतिनिधित्वेन चोदितान् लताविशेषान् इन्द्रस्यौज स्थेति मन्त्रेण सम्भृत्य कृष्णाजिने निदधाति। हे पूतीकाः, यूयमिन्द्रस्य ओजो बलं स्थ भवथेति। तदेवोपपाद्यते—तत् तदानीं यत्र यस्मिन् देशे एनं पलायमानं विष्णवात्मकं यज्ञं इन्द्र ओजसा बलेन पर्यगृह्णात् परिगृहीतवान्, तत् तत्र परिगृहीतस्य स्वीकृतस्य अस्य यज्ञस्य रसः सारो व्यक्षरद् विविधक्षरणेन भूमिं प्राप्नोत्। स च रसस्तत्र पूयन्निव रसान्तरं प्राप्तं पर्युषितमोदनादिकमिव विरसो भवन्निव अशेत अतिष्ठत्। एवं स्थिते स इन्द्रोऽब्रवीत्। बत इति खेदे। मे मदीय एष यज्ञरस आदीर्येव विभिद्येवास्रौषीत् स्रुतोऽभूत्। यथा उदकपूर्णं पात्रं विभिन्नं सत् स्रवति, एवमेष यज्ञरसोऽपि स्रुत इति खेदं प्राप्तवान्। इति हेतौ। यस्मादेवमुक्तवान्, तस्मा-देते लताविशेषा आदारा इत्युच्यन्ते। अथ स्रवणानन्तरं यद् यस्मात् पूयन्निव अशेत तस्मात् पूतीकाः पूतीक-शब्दाभिधेया जाताः। यस्मादेते यज्ञरसाज्जातास्तस्मादेवाग्नौ प्रक्षिप्ता एता आहुतिवद् आज्यादिद्रव्यमिव ज्वलन्ति, सुरभयः सुगन्धियुक्ताश्च भवन्ति। हि यतो यज्ञस्य रसात् सम्भूता उत्पन्नाः, अतः पूतीकाहरणेऽय-मेव मन्त्रः प्रयोक्तव्यः। अथ एवं सति यदेनं तदिन्द्र ओजसा पर्यगृह्णात्, तत् तस्मात् तत्परिणामभूतानां पूतीकानां सम्भरणे इन्द्रस्यौज स्थेति मन्त्रमध्वर्युराह ब्रूयात्। अन्यत् स्पष्टं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रस्य सात्त्विकमोजोऽपि तत्र शिरःसन्धाने उपयुज्यते। न सर्वसाधारणस्य बलं तत्रोपयुज्यते, दिव्यत्वादिति इन्द्रस्य ओज स्थेत्युच्यते। यथाश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामित्युक्तिस्तद्वत्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहमिन्द्रस्यौजो राध्यासम्, तथाद्य पृथिव्या देवयजने शिरोवद्वो राध्यासम्। शीर्ष्णे मखाय त्वा मखस्य त्वा राध्यासम्। तथा यूयमोजस्विनः स्थ' इति, तदपि वागाडम्बरेण मूर्खजन-प्रतारणमेव, परस्परविरोधात्। पूर्वत्र मन्त्रे देवयजने देवपूजन इत्यर्थः कृतः, इह तु देवयजनस्थानं गृहीतम्।

कश्चायं कथं केन प्रकारेण पराक्रमते, शिरोवन्मनुष्यान् साधयति। मखाय धार्मिकाणां सत्कारनिमित्ताय मखस्य प्रियचरणव्यवहारस्य मखाय शिल्पयज्ञविधानाय शीर्ष्णे उत्तमगुणप्रचारकायेत्यादिकं सर्वमपि निर्मूलमसम्बद्धं च॥ ६॥

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता। अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥ ७॥

मन्त्रार्थ—वेद के रक्षक हिरण्यगर्भ हमारे यज्ञ में उपस्थित हों। सत्यस्वरूपा परा शक्ति दृष्टिगोचर हो, देवता हमारे शत्रुओं का उन्मूलन करने वाले परमेश्वर के लिये हविःपाक से समृद्ध द्रव्य-यज्ञ को प्राप्त करावें। हे सम्भारसमूह! यज्ञ के लिये मैं तुम्हें स्थापित करता हूँ, यज्ञ के सिर महावीर के लिये तुम्हें स्थापित करता हूँ। हे सम्भारसमूह! यज्ञ के लिये तुम्हें मृत्पिण्ड में मिलाता हूँ, यज्ञ के सिर महावीर के लिये तुम्हें मृत्पिण्ड में मिलाता हूँ। हे महावीर! यज्ञ के लिये तुम्हें बुलाता हूँ, यज्ञ के सिर सूर्य के लिये तुम्हें बुलाता हूँ॥ ७॥

'कृष्णाजिनं परिगृह्योत्तरतः परिवृतं गच्छन्ति प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिति' (का० श्रौ० २६।१।१३)। अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थातृ-नेष्टृन्नेतारः कृष्णाजिनं ससम्भारं समन्ताद्धस्तेनादायान्तःपात्यादुत्तरस्यां दिशि पूर्वनिर्मितं परिवृतं प्रैत्विति मन्त्रं जपन्तो गच्छन्ति। पञ्चारत्निपरिमितः समचतुरस्रः प्राग्द्वारः सिकतोपकीर्णः पूर्वमेव कृतः सप्तभूसंस्कारसंस्कृतश्छादितप्रदेशः परिवृत उच्यते। 'परिवृते निदधाति सम्भारानुद्धतावोक्षिते सिकतोपकीर्णे प्राग्द्वारे मखायेति' (का० श्रौ० २६।१।१४)। अध्वर्य्वादयः कृष्णाजिनस्थानेव सम्भारान् परिवृते निदधति। कीदृशे? उद्धतावोक्षिते। उद्धतमुल्लिखितमवोक्षितं जलसिक्तम्। एतत्संस्कारद्वयं पञ्चभूसंस्काराधिकम्। हे संभाराः, मखाय युष्मान्निदधामि। 'संभारैः सꣳसृजति मखायेति' (का० श्रौ० २६।१।१५)। अध्वर्युर्वल्मीकवपा-वराहविहत-पूतीकैर्मृत्पिण्डं संयोजयेत्। अर्थाद् गवेधुकाजापयसी पृथक्कृत्य शिष्टसम्भारैर्मृत्पिण्डं मिश्रयेत्। हे सम्भाराः, युष्मान् मखाय मखस्य शीर्ष्णे च संसृजामि। 'मृदमादाय मखायेति महावीरं करोति' (का० श्रौ० २६।१।१६)। महावीरपर्याप्तं तूष्णीं मृत्पिण्डमादाय मन्त्रेण महावीरं करोति। कीदृशं महावीरम्? तत्राह—'प्रादेशमात्रमूर्ध्वमासेचनवन्तं मेखलावन्तं मध्यसंगृहीतमूर्ध्वं मेखलायास्त्र्यङ्गुलम्' (का० श्रौ० २६।१।१६)। हे महावीर! मखाय मखस्य शीर्ष्णे च त्वां करोमि।

बृहती। ब्रह्मणो वेदस्य पतिर्हिरण्यगर्भः, अस्माकं यज्ञमच्छ आभिमुख्येन प्रैतु आगच्छतु। तथा देवी देवतात्मा सूनृता प्रियसत्यस्वरूपा तस्यैव प्रजापतेस्त्रयीरूपा वाग् यज्ञं प्रैतु। किञ्च, देवा यष्टव्या नोऽस्मान् यज्ञं नयन्तु कारयन्तु। कीदृशं यज्ञम्? वीरं शत्रूणामुन्मूलयितारम्, 'वीरयत्यमित्रान्' (निरु० १।७) इति यास्कः। नानाप्रकारेण मारयतीत्यर्थः। नर्यं नृभ्यो हितम्, 'उगवादिभ्यो यत्' (पा० सू० ५।१।२) इति यति रूपम्। [1]पङ्क्तिराधसम्—(१) इन्द्रस्य पुरोडाशः, (२) हर्योर्धानाः, (३) पूष्णः करम्भः, (४) सरस्वत्या दधि, (५) मित्रावरुणयोः पयस्या इति हविःपङ्क्तिः, (१) द्विनाराशंसं प्रातःसवनम्, (२) द्विनाराशंसं माध्यन्दिनं सवनम्, (३) सकृन्नाराशंसं तृतीयसवनमिति नाराशंसपङ्क्तिः। (१) प्रातःसवनम्, (२) माध्यन्दिनं सवनम्, (३) तृतीयसवनम्, (४) उपवसथ्यः पशुः, (५) अनूबन्ध्यः पशुरिति सवनपङ्क्तिः। एताभि पङ्क्तिभी राधः समृद्धिर्यस्य स पङ्क्तिराधास्तम्,

---

१. पङ्क्तयश्च ऐतरेयब्राह्मणे द्वितीयपञ्चिकायां चतुर्विंशे खण्डे पठिताः।

पङ्क्तयो राध्यन्ते समृद्धयन्ते यत्रासौ पङ्क्तिराधास्तम्। ईदृशं यज्ञं पङ्क्तिपावनं वा यज्ञं ब्रह्मणस्पत्यादय आगच्छन्तु, ईदृशं च यज्ञमस्माभिः कारयन्तु वा। सेयमृक् त्रयस्त्रिंशे एकोननवतितमायां व्याख्याता ॥ ७ ॥

मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे महावीर! तुम यज्ञपुरुष के शरीर, अर्थात् सूर्यरूप तेज हो, यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हें ईश्वर का रूप देता हूँ. यज्ञपुरुष विष्णु के सिर समष्टिसूर्य के लिये तुम्हें निष्पादित कर स्पर्श करता हूँ। हे महावीर! तुम यज्ञ पुरुष के सिर, अर्थात् सूर्यरूप तेज हो, यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हे अन्तर्यामी का रूप देता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के सिर समष्टिसूर्य के लिये उत्पन्न हुए तुम्हारा स्पर्श करता हूँ। हे महावीर! तुम यज्ञपुरुष विष्णु के तेज हो, यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हारा सूर्यरूप में मानस ध्यान करता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के सिर तेजोरूप में उत्पन्न हुए तुम्हारा स्पर्श करता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हारा ईश्वररूप में ध्यान करता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के सिर समष्टिसूर्य के लिये तुम्हारे इस ईश रूप को गवेधुका से चिकना बनाता हूँ। यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हारे अन्तर्यामी रूप का ध्यान करता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के सिर समष्टिसूर्य के लिये तुम्हारे अन्तर्यामी रूप को गवेधुका से चिकना बनाता हूँ। यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हारे सूर्यरूप का मानस ध्यान करता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के सिर समष्टिसूर्य के लिये तुम्हे गवेधुका से चिकना करता हूँ ॥ ८ ॥

'निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिर इति' (का० श्रौ० २६।१।१७)। निष्पन्नं वामकरस्थं महावीरं दक्षिणेनाभिमृशेत्। हे महावीर! त्वं मखस्य शिरो मूर्धासि भवसि। 'आदानमेके' (का० श्रौ० २६।१।१८)। एके केचन महावीरकरणार्थं मृदादानं मखस्य शिर इति मन्त्रेण कुर्वन्ति, फलतः स्पर्शं तूष्णीमिति लभ्यते। 'एवमितरौ प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।१।१९)। इतरौ द्वौ महावीरौ प्रतिमन्त्रमेवमेव करोति, अभिमृशति चेति सूत्रार्थः। मखाय द्वितीयं महावीरं करोमि। मखस्य निष्पन्नं स्पृशामि। मखाय तृतीयं महावीरं करोमि। मखाय निष्पन्नं स्पृशामि। मखस्य शिरोऽसि मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वामभिमृशामि। 'गवेधुकाभिः श्लक्ष्णयति मखायेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।१।२१)। गवेधुकाभिर्महावीरान् घर्षणेन मृदून् करोति मखायेति प्रतिमन्त्रमेकैकम्। मखाय मखस्य शीर्ष्णे च त्वां गवेधुकाभिः श्लक्ष्णयामि। एवमेवाग्रिमौ मन्त्रौ व्याख्येयौ।

अत्र ब्राह्मणम् - 'अथाजाक्षीरम्। यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य शुगुदक्रामत् ततोऽजा समभवत् तयैवैनमेतच्छुचा समर्धयति कृत्स्नं करोति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्ण इत्यसावेव बन्धुः' (श० १४।१।२।१३)। यदुक्तं कात्यायनेन -'मखायेति पयः, तूष्णीं गवेधुकाः' (का० श्रौ० २६।१।१०-११)। तदेतद्विदधाति—अथाजाक्षीरमिति। अथ पूतीकसम्भरणानन्तरं अजायाश्छाग्याः क्षीरं मखाय त्वेति मन्त्रेण सम्भृत्य कृष्णाजिनस्थे मृत्पिण्डेऽवनयेत्। अथास्य प्रवर्ग्यसम्बन्धार्थतामाह—यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्येत्यादिना। शीर्षच्छिन्नस्य छिन्नशिरस्कस्य यज्ञस्य शुक् शोक उदक्रामत् तस्माच्छरीरान्निरगात्। ततस्तस्याः शुचः सकाशाद् अजा समभवत्। तत्पयसोऽवनयने सति, एतद् एतर्हि, यथा प्रागुक्तं तथैव शुचा एनं प्रवर्ग्यं समर्धयति। ततो यज्ञमपि सम्पूर्णावयवं कृतवान् भवति।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मणो वेदस्य पतिः प्रजापतिः, यज्ञमच्छा यज्ञाभिमुखं प्रैतु। तदनुग्रहेणैव वेदमहातात्पर्यविषयस्य ब्रह्मणो ज्ञानं सम्पद्यते। देवी तदीया प्रिया सूनृता वाग्रूपा त्रयी प्रैतु, तदनुग्रहायत्तत्वाद् ब्रह्मविद्योत्पत्तेः। देवाः सर्वे नोऽस्मभ्यं यज्ञं ज्ञानयज्ञं नयन्तु प्रापयन्तु। कीदृशं यज्ञम् ? वीरम्, जननमरणाविच्छेदरूपसंसारव्यापादकत्वात्। पुनः कीदृशम् ? नर्यं मनुष्येभ्यो हितम्। ब्रह्मज्ञानसम्पन्नो न कस्मैचिद् द्रुह्यति सर्वभूतहिते रतश्च भवति। मखाय ज्ञानयज्ञाय मखस्याग्निष्टोमादेः शिरसे तानि तानि साधनानि सम्भरामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु 'हे विद्वन्, त्वं मखस्य शिरोऽसि, तस्मान्मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा····मखस्य शीर्ष्णे त्वा वयं सेवेमहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मखशब्दस्य मुख्यार्थमपहाय यथेच्छार्थग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, क्रयविक्रयादिलौकिकव्यवहाराणामपि मखशब्दार्थत्वापत्तेश्च ॥ ८ ॥

अश्व॑स्य त्वा॒ वृष्णः॑ श॒क्ना धू॑पयामि देव॒यज॑ने पृथि॒व्याः। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे। अश्व॑स्य त्वा॒ वृष्णः॑ श॒क्ना धू॑पयामि देव॒यज॑ने पृथि॒व्याः। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे महावीर! देवयजन-स्थान में यज्ञपुरुष विष्णु के लिये यज्ञ-कार्य के निमित्त तुमको सेक्ता अश्व की लीद से धूप देता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के लिये यज्ञकार्य के लिये तुमको धूप देता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के लिये तुम्हारे अन्तर्यामी रूप को धूप देता हूँ। यज्ञपुरुष विष्णु के लिये यज्ञ कार्य के लिये तुम्हारे अन्तर्यामी रूप को धूप देता हूँ। यज्ञपुरुष विष्णु के लिये घर्मरूपधारी तुमको पकाता हूँ, यज्ञपुरुष विष्णु के निमित्त यज्ञ-कार्य के लिये घर्म को पकाता हूँ ॥ ९ ॥

'अश्वशकृता धूपयत्यश्वस्य त्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।१।२२)। दक्षिणाग्निदीप्तेनाश्वपुरीषेण त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रीन् महावीरान् धूपयेत्। हे महावीर, पृथिव्या देवयजने मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा वृष्णः सेक्तुरश्वस्य शक्ना शकृता पुरीषेण धूपयामि। 'पद्दन्नोमास·····' (पा० सू० ६।१।६३) इति शकृत्-शब्दस्य वैकल्पिकः शकन्नादेशः। एवमितरमन्त्राभ्यामितरौ महावीरौ धूपयेत्। 'उखावदग्निः' (का० श्रौ० २६।१।२३)। अत्र धूपनेऽग्निरुखावद् भवेत्। तत्र ह्युक्तम्—'सप्तभिरश्वशकृद्भिरुखां धूपयति दक्षिणाग्न्यादीप्तैरेकैकेन' (का० श्रौ० १६।२।८)। अत एकैकधूपने सप्त सप्ताश्वशकृन्ति गृह्णाति। 'प्रदहनं च मखायेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।१।२३)। मखायेति त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रीन् महावीरानुखावत् श्रपयेत्। चशब्दादुखावत् करोति। परिवृते हस्तमात्रं चतुरस्रमवटं खात्वा तत्र श्रपणमास्तीर्य तत्र महावीरान् न्युब्जान्निधाय पिन्वने रौहिणकपाले च न्युब्जे निधाय श्रपणेनाच्छाद्य दक्षिणाग्निनोद्दीप्य प्रदहेदिति सूत्रार्थः। मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा निर्दहामि पिन्वनरौहिणैः सह। एवमितरौ।

अत्र ब्राह्मणम्—'तान् वा एतान् पञ्च सम्भारान् सम्भरति। पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चर्तवः संवत्सरस्य संवत्सर एष य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तान् संभृतानभिमृशति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्ण इत्यसावेव बन्धुः' (श० १४।१।२।१४)। एतान् मृदादिसम्भारान् विहितान् स्तौति—तान् वा एतानित्यादिना। तान् पूर्वोक्तान् मृद्वल्मीकवपादीन् पञ्चसम्भारान् सम्भरति। यतो हि यज्ञः पाङ्क्तः।

पङ्क्तिशब्देन छन्दोवाचिना पञ्च संख्या लक्ष्यते। पञ्चसंख्यासम्बद्धः खलु देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। यद्वा धाना, करम्भः, परिवापः, पुरोडाशः, पयस्या चेति। इष्टि-पशु-दर्वीहोमेकाहा-हीनभेदेन यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम्। तथा गवादिपशवश्च पाङ्क्ताः पञ्चसंख्यासम्बद्धाः पादचतुष्टयमध्यदेशभेदेन। तस्मात् सम्भारगता पञ्चसंख्या यज्ञार्हपशुप्राप्तिहेतुरित्यर्थः। अपि च, संवत्सरस्य द्वादशमासात्मकस्य वसन्ताद्याः पञ्चर्तवः, हेमन्तशिशिरयोः समासेन। स च संवत्सर एष सूर्यः, य एष दिवि तपति सर्वं जगत् प्रकाशयत्येष प्रवर्ग्यः। एवं पारम्पर्येणैतमेव प्रवर्ग्यं पञ्चसंख्यया प्रीणाति।

'अथोत्तरतः परिश्रितं भवति। तदभिप्रयन्तो जपन्ति प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरित्येष वै ब्रह्मणस्पतिर्य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिति प्र देव्येतु सूनृतेति देवी ह्येषा सूनृताच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसमित्युपस्तौत्येवैनमेतन्महयत्येव देवा यज्ञं नयन्तु न इति सर्वानेवास्मा एतद्देवानभिगोप्तॄन् करोति' (श० १४।१।२।१५)। महावीरादिनिर्माणाय देवयजनस्योत्तरतः परिश्रितं भवतीत्याह - अथोत्तरत इत्यादिना। कटादिभिः सर्वतो वेष्टितं स्थानं स्यात्। तदेव पूर्वं परिवृतशब्देनोक्तम्। तत्र देशे सम्भाराणां समन्त्रकमानयनं विधत्ते—तदभिप्रयन्त इति। तत्राभिप्रयन्तोऽभिगच्छन्तः प्रवर्ग्यकर्तारः प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरिति मन्त्रं जपन्ति। 'परिश्रितं भवति। एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममिह रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तस्मा एतां पुरं पर्यश्रयन् तथैवास्मा अयमेतां पुरं परिश्रयति' (श० १४।१।२।१६)।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य ! यथाहं पृथिव्यां देवयजने वृष्णोऽश्वस्य शक्ना त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा धूपयामि ...' इति, तदपि निरर्थकम्, 'अश्वस्य शक्ना' इत्यस्य अग्नेर्धूमेनेत्यर्थस्य निर्मूलत्वात्। मखशब्दस्य वायुशुद्धिरर्थ इत्यपि निर्मूलमेव। न च लोके कश्चन कञ्चन शिष्टं धूमेन धूपयति। धूपशब्दश्च न धूमदाने प्रसिद्धः, अगुरुचन्दनगुग्गुलादिधूमस्यैव धूपशब्दार्थत्वात्। शक्ना धूमेनेति सर्वथा निर्मूलमेव ॥ ९ ॥

ऋ॒जवे॑ त्वा सा॒धवे॑ त्वा सुक्षि॒त्यै त्वा॑। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—हे महावीर ! ऋजु देवता की प्रीति के लिये तुम्हारा उद्वपन करता हूँ, अन्तरिक्षस्थानीय वायु देवता के लिये तुम्हें अग्नि में पका कर निकालता हूँ। पृथ्वीलोक के लिये तुम्हारा उद्वपन करता हूँ। यज्ञ के लिये तुमको अजा-दुग्ध से सींचता हूँ, यज्ञ के सिर स्वरूप प्रधान कार्य के लिये तुमको अजा-दुग्ध से सींचता हूँ। यज्ञ के लिये तुमको अजा-दुग्ध से सीचता हूँ, यज्ञ के प्रधान कार्य के लिये तुमको अजा-दुग्ध से सींचता हूँ। यज्ञ के लिये तुमको अजा-दुग्ध से सींचता हूँ, यज्ञ के प्रधान कार्य के लिये तुमको अजा-दुग्ध से सींचता हूँ ॥ १० ॥

पक्वानुद्धरत्यृजवे त्वेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।१।२४)। पक्वान् महावीरान् आपाकादिवोद्धरति त्रिभिर्मन्त्रैरिति सूत्रार्थः। ऋजवे सत्याय आदित्याय हे महावीर ! त्वामुद्धरामि। असौ लोक ऋजुः। तत्र सत्यमेव, न तु कौटिल्यम्। सत्यमादित्यः।

तथा चात्र ब्राह्मणम् —'स उद्वपति। ऋजवे त्वेत्यसौ वै लोक ऋजुः सत्यꣳ ह्यृजुः सत्यमेष य एष तपत्येष उ प्रथमः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति' (श० १४।१।२।२२)। एष एव प्रथमः प्रवर्ग्यः। साधवे त्वा वायवे त्वा वायुप्रीत्यै त्वामुद्वपामि। एष उ द्वितीयः प्रवर्ग्यः। सुक्षित्यै त्वा अयं वै सर्वेषामाधारभूतो भूलोकः सुक्षितिः। अस्मिन् खलु लोके सर्वाणि भूतजातानि पशुपक्षिमृगादीनि क्षियन्ति निवसन्ति। एतदात्मक एव

तृतीयः प्रवर्ग्यः। 'अजापयसाऽवसिञ्चति मखायेति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।१।२५)। अजादुग्धेन त्रीन् महावीरान् त्रिभिस्तुल्यमन्त्रैः सिञ्चति मखाय मखशीर्ष्णे चाजापयसा त्वां सिञ्चामीति। 'अयं वै साधुर्योऽयं पवत एष हीमान् लोकान् सिद्धोऽनुपवत एष उ द्वितीयः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।१।२।२३)।

एष खलु सिद्धो निष्पन्नरूपो वायुरिमान् परिदृश्यमानान् पृथिव्यादीन् सर्वान् लोकाननुपवतेऽनुप्रविश्य व्याप्य वर्तते। एवं वर्तमानो योऽन्तरिक्षगतो वायुः, एष एव द्वितीयः प्रवर्ग्यो महावीरः। स महावीरादीनां पालकोऽध्वर्युः प्रथमकृतं महावीरमृजवे त्वेति मन्त्रेणोद्वपति, अवटात् पाकस्थानादुद्धरति। असौ वै दूरे वर्तमानो द्युलोक ऋजुः, आर्जवयुक्तत्वात्। आर्जवगुणयुक्तं च सत्यं यथार्थभाषणम्, आर्जवरहितस्य कुटिलस्यानृतवादित्वदर्शनात्। तच्च सत्यमेष आदित्यः, अबाधितस्वभावत्वात्। य एष आदित्यो दिवि तपति, एष एव प्रथमो महावीरः। अत ऋजुशब्दयुक्तमन्त्रेणैतमेव प्रथमं प्रवर्ग्यं सूर्यात्मकं प्रीणाति।

'सुक्षित्यै त्वेति। अयं वै लोकः सुक्षितिरस्मिन् हि लोके सर्वाणि भूतानि क्षियन्त्यथो अग्निर्वै सुक्षितिरग्निर्ह्येवास्मिँल्लोके सर्वाणि भूतानि क्षियन्त्येष उ तृतीयः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह सुक्षित्यै त्वेति तूष्णीं पिन्वने तूष्णीᳪ रौहिणकपाले' (श० १४।१।२।२४)। सुक्षित्यै त्वेति मन्त्रेण तृतीयं महावीरमुद्वपति। अयं खलु सर्वेषां भूतानामाधारभूतो लोकः सुक्षितिः। यतोऽस्मिन् खलु लोके सर्वाणि भूतानि पशुपक्षिमृगादीनि क्षियन्ति निवसन्ति। अथ पक्षान्तरे। अग्निः खलु सुक्षितिः। कुतः ? अग्निमेव खल्वस्मिँल्लोके वर्तमानानि सर्वाणि भूतानि क्षियन्ति, जाठराग्निरूपेणाश्रित्य वर्तन्ते। एष उ एतदात्मकः। एष तृतीयः प्रवर्ग्यः। एवमेव पिन्वनयोः कपालयोश्चामन्त्रक उद्वापः कार्यः। 'अथैनानाच्छृणत्ति। अजायै पयसा मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्ण इत्यसावेव बन्धुरेवमितरौ तूष्णीं पिन्वने तूष्णीᳪ रौहिणकपाले' (श० १४।१।२।२५)। अथ तेषामावापादुद्धृतानामजाक्षीरेणासेचनं विधत्ते—अथेति। तान् महावीरादीन् पात्रविशेषान् अजायाः पयसा मखाय त्वेति मन्त्रेण आच्छृणत्ति आसिक्तान् करोति। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे महावीर ! संसारदुःखनाशकत्वाद् ब्रह्मात्मविज्ञानयज्ञं ऋजवेऽकौटिल्याय सत्याय त्वा गृह्णामि। साधवे साधुत्वाय त्वामुद्गृह्णामि। सुक्षित्यै सर्वभूताश्रयदानाय त्वामुद्गृह्णामि। मखाय ब्रह्मात्मयज्ञाय मखस्य शीर्ष्णे त्वां गृह्णामि।

दयानन्दस्तु—हे विद्वन् ! ऋजवे त्वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा सुक्षित्यै वा मखाय त्वा मखस्य शीर्ष्णे त्वा वयं स्थापयामः' इति, तदपि प्रवञ्चनामात्रम्, संबोधनादेर्निर्मूलत्वात् ॥ १० ॥

इति महावीरसम्भरणं समाप्तम्।

यमाय॑ त्वा म॒खाय॑ त्वा॒ सूर्य॑स्य त्वा॒ तप॑से। दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता मध्वा॑नक्तु। पृ॒थि॒व्याः सᳪ᳭स्पृश॑स्पाहि। अ॒र्चिर॑सि शो॒चिर॑सि तपो॑ऽसि ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे महावीर ! सबके नियामक सूर्य के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ, यज्ञरूप सूर्य के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ, सूर्य के तेज प्रवर्ग्य के लिये तुम्हारा प्रोक्षण करता हूँ। सविता देवता मधु से तुम्हें लिप्त करें। हे रजत ! तुम महावीर की पृथ्वी सम्बन्धी राक्षस से रक्षा करो। हे महावीर ! तुम चन्द्रमा के कान्तिरूप हो, अग्नि के तेजोरूप हो और सूर्य के तापरूप हो ॥ ११ ॥

'ब्रह्मानुज्ञातो यमाय त्वेति महावीरं प्रोक्षति' (का० श्रौ० २६।२।१२)। प्रचरेति ब्रह्मणानुज्ञातोऽध्वर्युरुपविश्य यमाय त्वेति मन्त्रत्रयेण प्रचरणीयं महावीरं वारत्रयं प्रोक्षति। त्रीणि यजूंषि। यमाय यमयति नियच्छति सर्वमिति यम आदित्यः, तत्प्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि। मखो यज्ञः प्रवर्ग्यः सूर्यः, तस्मै तत्प्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि। सूर्यस्य त्वा तपसे, तपनं तपः, तस्मै सूर्यतेजोरूपाय प्रवर्ग्याय त्वां प्रोक्षामि।

अत्र ब्राह्मणम् 'ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति। असौ वा आदित्यो ब्रह्माऽहरहः पुरस्ताज्जायत एष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति' (श० १४।१।३।३)। 'स प्रोक्षति। यमाय त्वेत्येष वै यमो य एष तपत्येष हीद७ँ सर्वं यमयत्येतेनेद७ँ सर्वं यतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह यमाय त्वेति' (श० १४।१।३।४)। असौ द्युलोकस्थः खल्वादित्यो ब्रह्म अस्यामृचि ब्रह्मशब्देन प्रतिपाद्यते। स आदित्यः, अहरहः प्रतिदिनम्, पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि जायते उदेति। एष उद्यन्नादित्यः प्रवर्ग्यः, 'तत्पतित्वाऽसावादित्योऽभवत्' (श० १४।१।१।१०) इति यज्ञस्य विष्णोः शिरःपतित्वादित्योऽभवदित्याम्नानात्। एतमेव ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादित्यनयाऽभिष्टोतुं प्रवर्तते। प्रोक्षितानां यागार्हत्वसम्पादनेन प्रोक्षणसंस्कारो यज्ञशिरःसन्धानहेतुः। तत्र मन्त्रो यमाय त्वेत्यादिकः। य एष सूर्यस्तपति एष खलु यमः। कुतोऽस्य यमशब्दाभिधेयता ? इति चेत्— हि यस्मात्, एष इदं सर्वं भूतजातं यमयति स्वस्वव्यापारेषु प्रवर्तयति, यस्माच्च एतेन सूर्येण इदं सर्वं जगद् यतम्, सृष्ट्वा आदावपि परस्परसाङ्कर्याभावेन व्यवस्थितमिदं कृतम्, तस्मादसौ मन्त्रे यमशब्देनोच्यते। एष उ एव प्रवर्ग्यः। द्वितीयमहावीरस्य प्रोक्षणमन्त्रमनूद्य व्याचष्टे— मखाय त्वेति। एष वै सूर्यो मखः, मखशब्दाभिधेयस्य यज्ञात्मकस्य विष्णोः शिरस एव सूर्यत्वात्।

'सूर्यस्य त्वा तपस इति। एष वै सूर्यो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।१।३।६)। अथ तृतीयमहावीरप्रोक्षणमन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—सूर्यस्य त्वेति। तपनं तपस्तेजः, सूर्यतेजोरूपाय प्रवर्ग्याय त्वां प्रोक्षामि। 'अञ्जन्तीत्युच्यमाने देवस्त्वेत्यनक्ति महावीरमाज्य७ँ संस्कृत्य' (का० श्रौ० २६।२।१९)। 'अञ्जन्ति यं प्रथयन्तो न विप्राः' (ऋ० सं० ५।४३।७) इति मन्त्रे होत्रा पठ्यमानेऽध्वर्युराज्यं विधिना संस्कृत्य तेनाज्येन प्रचरणीयं महावीरं देवस्य त्वेति मन्त्रेणानक्ति। सविता देवो मध्वा मधुना मधुरेण सर्वजगद्रूपेणाज्येन हे महावीर ! त्वामनक्तु लिम्पतु। मध्वेति नुमभावः, आगमशास्त्रस्यानित्यत्वात्, 'सर्वं वा इदं मधु यदिदं किञ्च' (श० १४।१।३।१३) इति श्रुतेः। लोके यत्किमपि दृश्यमानं मध्वस्ति, इदं मन्त्रे समञ्जनकरत्वेनोच्यमानमाज्यलक्षणं मधु, सर्वं तल्लोके विद्यमानं सर्वं मध्वात्मकम्। तस्मात् 'देवस्त्वा सविता मध्वाऽनक्तु' इत्यनेन मन्त्रवर्णेन एनं महावीरं सर्वेण निरवशेषेणानेन कृत्स्नजगद्वर्तिना मधुना समनक्ति, समक्तवान् भवतीति श्रुत्यर्थः।

'रजतशतमानं खर उपगूहति पृथिव्याः स७ँस्पृश इति' (का० श्रौ० २६।२।२०) इति रजतशतमानं शतरक्तिकापरिमितं रजतं खरे सिकतान्तरुपगूहतीत्यर्थः। रजतदेवतया प्राजापत्या गायत्री। संस्पृशत्युपद्रवार्थं स्पर्शं करोतीति संस्पृग् राक्षसादिः। क्विबन्तं पदम्। पृथिव्याः सम्बन्धिनः संस्पृशो राक्षसाद् हे रजत ! महावीरं पाहि रक्ष। 'अथोत्तरतः सिकता उपकीर्णा भवन्ति। तद्रजत७ँ हिरण्यमधस्तादुपास्यति पृथिव्याः स७ँस्पृशस्पाहीत्येतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममधस्ताद्रक्षा७ँसि नाष्ट्रा न हन्युरित्यग्नेर्वा एतद्रेतो यद्धिरण्यं नाष्ट्राणा७ँ रक्षसामपहत्या अथो पृथिव्यु ह वा एतस्माद् बिभयाञ्चकार यद्वै माऽयं तप्तः शुशुचानो न हि७ँस्यादिति तदेवास्या एतदन्तर्दधाति रजतं भवति रजतैव हीयं पृथिवी' (श० १४।१।३।१४) इति श्रुत्या खरे रजतशतमानरुक्मस्य प्रक्षेपो विहितः। सिकता उपकीर्णा उपक्षिप्ता भवन्ति। सिकताभिश्चतुरस्रं खरं कुर्यात्। तत्र सिकतोपकीर्णे देशे रजतं हिरण्यम्, हिरण्यशब्दस्य रूप्यसुवर्णयोः समानत्वात् तद् व्यावृत्त्यर्थं रजतविशेषणम्, रजतशतमाननिर्मितं रुक्मं स्थाप्यमानस्य महावीरस्याधस्तादधोभागे, उपास्यति उपक्षिपति पृथिव्या इति मन्त्रेण।

अत्र श्रौती कथा—देवा अबिभयुर्भीता जाताः। यदि खलु नोऽस्माकमिमं महावीरमधस्ताद् रक्षांसि यज्ञहन्तॄणि नाष्ट्रा नाशकारिण्यस्तत्सेना न हन्युः, हननं मा कार्षुः, तर्हि यज्ञः सम्पूर्येत। ते च राक्षसादयोऽवश्यमिमं यज्ञं हनिष्यन्तीत्यनेन कारणेन भीतवन्तः। भीताश्च ते रजतशतमानं तद्रक्षणाय महावीरस्याधस्तान्निहितवन्तः। कुतस्तेन तद्भयनिवृत्तिरित्याह—यदग्नेः खलु एतद् रेतो वीर्यम्, 'आपो वरुणस्य पत्नय आसन्। ता अग्निमभ्यध्यायन्। ताः समभवन्। तस्य रेतः परापतत्। तद्धिरण्यमभवत्' (तै० ब्रा० १।१।३।८) इति श्रुतेः। तस्मादग्नेर्वीर्यत्वाद् हिरण्यं नाष्ट्राणां रक्षसामपहननाय समर्थम्। तस्मादधस्तस्योपासनं कार्यम्। एतस्मात् तप्तात् प्रवर्ग्यात् पृथिवी खलु बिभयाञ्चकार मा मामयं प्रवर्ग्यः सन्तप्तः शुशुचानो दीप्यमानो न हिंस्यात्। तदा मया धारयितुं सह्यते। अयं तु सर्वथा मां हिंस्यादिति भीता बभूव। तस्मादस्या हिंसाभावार्थमेतद् हिरण्यमन्तर्दधाति, 'पृथिवीं तपसस्त्रायस्वेति हिरण्यमुपास्यत्यस्या अनतिदाहाय' (तै० आ० ५।४।५) इति तैत्तिरीयश्रुतेः।

'सꣳसीदस्वेत्युच्यमाने मुञ्जप्रलवान् द्विगुणानादीप्य प्रतिदिशं खरे करोति' (का० श्रौ० २६।३।३), 'तेषु महावीरमाज्यवन्तमर्चिरसीति' (का० श्रौ० २६।३।४)। होत्रा 'संसीदस्व' (वा० सं० ११।३७) इति पठ्यमानेऽध्वर्युर्मुञ्जप्रलवान् शरतृणानि द्विगुणान् मध्यमोटनेन द्विगुणीकृतान् गार्हपत्ये प्रदीप्य खरे चतुर्दिक्षु कृत्वा संस्कृताज्यपूर्णं प्रचरणीयं महावीरं स्थापयेदिति सूत्रद्वयार्थः। यजुस्त्रिष्टुप्, घर्मदेवत्या। हे महावीर! त्वमर्चिश्चन्द्रकान्तिरूपोऽसि। शोचिरग्नितेजोरूपोऽसि। तपः सूर्यतापरूपोऽसि। 'स यत्रैताꣳ होताऽन्वाह। सꣳसीदस्य महाँ २॥ असीति तदुभयत आदीप्ता मौञ्जाः प्रलवा भवन्ति तानुपास्य तेषु प्रवृणक्ति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत् तत एता ओषधयो जज्ञिरे तेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श० १४।१।३।१५)। 'अथ यदुभयत आदीप्ता भवन्ति। सर्वाभ्य एवैतद्दिग्भ्यो रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहन्ति तस्मिन् प्रवृज्यमाने पत्नी शिरः प्रोर्णुते तप्तो वा एष शुशुचानो भवति नेन्मेऽयं तप्तः शुशुचानश्चक्षुः प्रमुष्णादिति' (श० १४।१।३।१६)। 'स प्रवृणक्ति। अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसीत्येष वै घर्मो य एष तपति सर्वं वा एतदेष तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाहार्चिरसि शोचिरसि तपोऽसीति' (१४।१।३।१७)।

एषु ब्राह्मणेषु यदुक्तं सूत्रकारेण मुञ्जप्रलवानित्यादिना तद्विधानम्। तथाहि—यस्मिन् काले मौञ्जा मुञ्जविकाराः प्रलवाः शरतृणानि प्रकर्षेणलूना भवन्ति, तान् प्रलवान् खरे उपास्य तेषु महावीरमासाद्य प्रवृणक्ति प्रवृञ्जनं करोति। मुञ्जतृणानां मुष्टिद्वयमानीयाग्रमूलयोः प्रदीप्य चतुर्दिक्षु यथा ज्वाला भवेत्, तथा व्यत्यस्य खरस्थे रजतशतमाने निधाय तत्र महावीरं स्थापयेदित्यर्थः। छिन्नस्य यज्ञशिरसो यद्रसो व्यक्षरत् तदुपादानत्वेन मुञ्जस्य समर्थनं क्रियते। तेन सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रक्षांसि ज्वालया विनाशयति। तस्मिन् महावीरे सन्तप्ते प्रवृज्यमाने पयआसेचनेन विक्रियमाणे पत्नी स्वकीयं शिरः प्रोर्णुते वस्त्रादिनाच्छादयति, अन्यथा अत्यर्थं दीप्यमानो मदीयं चक्षुर्नेत् प्रमुष्णाद् इत्यभिप्रायेण स्वकीयं मुखं वेष्टयेदित्यर्थः। तत्र अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसीति मन्त्रेण उभयतो दीप्ते खरे महावीरमाज्यपूर्णं स्थापयति। य एष दिवि तपति सूर्यः, एष खलु घर्मः प्रवर्ग्यः। एष च सूर्यः सर्वमेतद्दृश्यमानजगदात्मकः। तस्माद् घर्मरूपिणमेतं सूर्यमेव, एतद् एतेन अर्चिरसीत्यादिना नानारूपत्वप्रतिपादनेन प्रीणाति तर्पयति।

अध्यात्मपक्षे—ज्ञानयज्ञात्मकं महावीरं यमाय आदित्यप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि, संशयविपर्ययादिराहित्येन त्वां संस्करोमि। मखाय यज्ञरूपसूर्यप्रीत्यै त्वां तपसे तेजोरूपसूर्यप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामि संस्करोमि। सविता परमेश्वरो देवस्त्वा त्वां मध्वा मधुना ब्रह्मरूपेण विषयेण त्वामनक्तु त्वामुपरक्तं करोतु। पृथिव्या मायाभूमिसम्बन्धिनो मोहमयाद् दुःखप्रदाद् राक्षसाद् हे परमेश्वर! महावीरं ज्ञानयज्ञरूपं रक्ष यज्ञशिरः पाहि। हे परमेश्वर! त्वमर्चि-

रसि चान्द्रमसं तेजोऽसि, त्वं शोचिरस्याग्नेयं तेजोऽसि, त्वं तपोऽसि सूर्यतापरूपोऽसि, 'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥' (१५।१२) इति गीतोक्तेः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् ! सविता देवो मखाय यमाय त्वा सूर्यस्य तपसे गृह्णातु । पृथिव्यास्त्वा मध्वानक्तु । स त्वं संस्पृशः पाहि । यतस्त्वमर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि, तस्मात् त्वां सत्कुर्याम' इति । तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । सिद्धान्ते तु श्रुतिसूत्रानुरोधेन महावीरादिसम्बोधनमुक्तम् । न च विद्वान् स्पर्शमात्रेण पातुं शक्नोति । अर्चिरसीत्यादिष्वप्यर्चिरिवेत्यादिरीत्या गौणार्थाश्रयणमपि निर्मूलमेव ॥ ११ ॥

अनाधृष्टा पुरस्तादग्नेराधिपत्य आयुर्मे दाः । पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये प्रजां मे दाः । सुषदा पश्चाद्देवस्य सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दाः । आश्रुतिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषं मे दाः । विधृतिरुपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्य ओजो मे दाः । विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि मनोरश्वासि ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! तुम पूर्व दिशा में राक्षसों से पूरी तरह सुरक्षित हो, अग्नि के अधिकार में मुझे आयु प्रदान करो । तुम दक्षिण दिशा में इन्द्र के अधिकार में पुत्रवती हो, तुम मुझे सन्तान दो । तुम पश्चिम दिशा में सूर्य देवता के अधिकार में सुख से स्थित हो, मुझे तुम चक्षु प्रदान करो । तुम उत्तर दिशा में ब्रह्मा के आधिपत्य में यज्ञयोग्य हो, तुम मुझे धन से पुष्ट करो । ऊर्ध्व दिशा में तुम बृहस्पति के आधिपत्य में धारण की सामर्थ्य से युक्त हो, तुम मुझे बल प्रदान करो । हे महावीर की दक्षिणभूमि ! हिंसक पिशाच आदि से हमारी रक्षा करो । हे महावीर की उत्तर भूमि ! तुम मनु की वड़वा हो ॥ १२ ॥

'अनाधृष्टेति वाचयति प्रादेशमध्यधि धारयन्तम्' (का० श्रौ० २६।३।५) । महावीरस्योपरि प्रादेशम् अङ्गुष्ठाङ्गुलिदेशं धारयन्तं यजमानं पञ्चवाक्यात्मकमपि मन्त्रं सकृदेव वाचयेदध्वर्युः । सप्त यजूंषि पृथिवीदेवत्यानि यजमानस्याशीः । हे पृथिवि ! या त्वं पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि अनाधृष्टा रक्षोभिरनाधर्षितासि, सा त्वमग्नेराधिपत्ये स्वामित्वे सति मह्यमायुर्जीवनं दाः देहि । ददातेर्लुङि मध्यमैकवचने, अडभाव आर्षः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अनाधृष्टा ह्येषा पुरस्ताद् रक्षोभिर्नाष्ट्राभिरग्नेराधिपत्य इत्यग्निमेवास्या अधिपतिं करोति नाष्ट्राणाᳬ रक्षसामपहत्या आयुर्मे दा इत्यायुरेवात्मन् धत्ते तथो ह सर्वमायुरेति' (श० १४।१।३।१९) । एषा पृथिवी पुरस्ताद् महावीरस्य प्राच्यां दिशि रक्षोभी राक्षसैर्नाष्ट्राभिर्नाशकारिणीभिस्तत्सेनाभिश्च, अनाधृष्टा अबाधिता, अतोऽनाधृष्टा पुरस्तादिति मन्त्रभागः संगतः । अतो रक्षसामपहननार्थमग्निमेवास्या दिशोऽधिपतिं करोति, 'अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता' (श० १।१।५।९) इति श्रुतेः । 'आयुर्मे दाः' इति तृतीयेन मन्त्रभागेन आत्मन् आत्मनि स्वस्मिन् आयुर्जीवनमेव धत्ते । तथा च स यजमानः सर्वमायुः, एति प्राप्नोति । 'पुत्रवती दक्षिणत इति । नात्र तिरोहितमिवास्तीन्द्रस्याधिपत्य इतीन्द्रमेवास्या अधिपतिं करोति नाष्ट्राणाᳬ रक्षसामपहत्यै प्रजां मे दा इति प्रजामेव पशूनात्मन् धत्ते तथो ह पुत्री पशुमान् भवति' (श० १४।१।३।२०) । अस्यां कण्डिकायां तिरोहितमस्पष्टं व्याख्यानसापेक्षं नास्ति, स्पष्टार्था कण्डिकेति यावत् । महावीरस्य दक्षिणभागे एषा पृथिवी पुत्रवती, इन्द्रमेवास्यामधिपतिं करोति, रक्षसामपहत्यै ।

'सुषदा पश्चादिति । नात्र तिरोहितमिवास्ति देवस्य सवितुराधिपत्य इति देवमेवास्यै सवितारमधिपतिं करोति नाष्ट्राणाᳬ रक्षसामपहत्यै चक्षुर्मे दा इति चक्षुरेवात्मन् धत्ते तथो ह चक्षुष्मान् भवति' (श०

१४।१।३।२१)। प्रतीच्यां दिशि पृथिवी सुषदा सुष्ठु सुखेन आसाद्या। शेषं सुगमम्। 'आश्रुतिरुत्तरत इति। आश्रावयन्नुत्तरत इत्येवैतदाह धातुराधिपत्य इति धातारमेवास्या अधिपतिं करोति नाष्ट्राणाᳪ रक्षसामपहत्यै रायस्पोषं मे दा इति रयिमेव पुष्टिमात्मन् धत्ते तथो ह रयिमान् पुष्टिमान् भवति' (श० १४।१।३।२२)। आश्रुतिरुत्तरतो यन्मन्त्रवाक्यमेतद् वेद्या उत्तरभागे स्थित्वाऽध्वर्युः प्रवर्ग्यार्थमाश्रावयन् आश्रावणं कुर्वन् भवति। शेषं सिद्धम्। रयिं धनम्, पुष्टिं तत्कृतां विभूतिम्। 'विधृतिरुपरिष्टादिति। विधारयन्नुपरिष्टादित्येवैतदाह बृहस्पतेराधिपत्य इति बृहस्पतिमेवास्या अधिपतिं करोति। नाष्ट्राणाᳪ रक्षसामपहत्या ओजो मे दा इत्योज एवात्मन् धत्ते तथौजस्वी बलवान् भवति' (श० १४।१।३।२३)। ओजो बलम्। शेषं सिद्धम्।

'विश्वाभ्यो मेति दक्षिणत उत्तानं पाणिं निदधाति' (का० श्रौ० २६।३।७)। यजमानो महावीराद्दक्षिणभूमौ विश्वाभ्यो मेति मन्त्रं पठन् स्वकरमुत्तानं निदधातीति सूत्रार्थः। अथ संहत्यावशिष्टयजुरर्थो लिख्यते—हे पृथिवि ! या त्वं दक्षिणस्यां दिशि इन्द्रस्याधिपत्ये सति पुत्रवती, सा मह्यं प्रजां पुत्रादिकां दाः देहि। या त्वं पश्चिमायां दिशि सुषदा सुखेन सीदन्ति जना यस्यां तादृशी, सवितुर्देवस्याधिपत्ये सति सा त्वं मे चक्षुर्दाः नेत्रेन्द्रियं देहि। या त्वमुत्तरस्यां दिशि धातुर्ब्रह्मण आधिपत्ये सति आश्रुतिरसि, सा त्वं मे रायो धनस्य पोषं पुष्टिं देहि। या त्वमुपरि प्रदेशे बृहस्पतेराधिपत्ये सति विधृतिरसि, विशेषेण धारयतीति विधृतिः, उपरिष्टाज्जुह्वादिकं ध्रियते, सा त्वं मे मह्यमोजो बलं देहि। विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि इति मन्त्रं पठन् यजमानः करं निदधातीति सव्याख्यानं सूत्रं पुरस्तादुद्धृतम्। यजुर्बृहती। हे महावीरदक्षिणभूमे ! सर्वाभ्य आर्तिभ्यो हिंसाभ्यो मां गोपाय रक्ष, रक्ष इत्यमुमर्थं विश्वाभ्यो मा इत्येतन्मन्त्रवाक्यमाह प्रतिपादयति। न तु पूर्ववन्नाष्ट्राशब्देन नाशकारिण्यो राक्षस्यः सेना उच्यन्ते। इति सर्वाभ्यो मार्ऽतिभ्यो गोपायेत्येवैतदाहेत्यर्थः।

अत्रापि ब्राह्मणम् 'अथ दक्षिणत उत्तानेन पाणिना निह्नुते। विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहीति सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत् स पितॄनगच्छत् त्रया वै पितरस्तैरेवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श० १४।१।३।२४)। अथ दक्षिणत उत्तानेन पाणिना विश्वाभ्य इति मन्त्रेण निह्नुते, महावीररक्षणप्रार्थनमपलपति। तात्पर्यगम्यस्त्वर्थ उक्तः सर्वाभ्यो हिंसाभ्यः सर्वाभ्य आर्तिभ्य इत्यादि। दक्षिणस्या दिशः पितॄणां सम्बन्धाद् दक्षिणतो हस्तनिधानेन पितृभिरप्येनं समृद्धं कृतवान् भवति। छिन्नशिरस्कस्य यज्ञस्य रसः पुरा पितृदेवताः प्राप्नोत्। ते पितरस्त्रया वै पितृ-पितामह-प्रपितामहभेदेन त्रिविधाः खलु। तत् त्रैविध्यं सवनत्रयात्मकयज्ञरससम्बन्धाज्जातमित्यवगन्तव्यम्। अत एतद् एतेन विश्वाभ्य इति मन्त्रेण दक्षिणतः क्रियमाणेन उत्तानपाणिनिधानेन दक्षिणदिक्सम्बद्धैस्तैरेव पितृभिरेनं प्रवर्ग्यं समर्धयति समृद्धं करोति। तथा च यज्ञं कृत्स्नं सम्पूर्णावयवं कृतवान् भवति।

'मनोरश्वेति प्रादेशमुत्तरतः' (का० श्रौ० २६।३।८) महावीरादुत्तरतो यजमानो निजं प्रादेशं निदधाति। दैवी पङ्क्तिः। हे घर्मोत्तरभूमे ! त्वं मनो राज्ञोऽश्वा वडवासि। वहनाय अश्वा, 'अथेमामभिमृश्य जपति। मनोरश्वाऽसीत्यश्वा ह वा इयं भूत्वा मनुमुवाह सोऽस्याः पतिः प्रजापतिस्तेनैवैनमेतन्मिथुनेन प्रियेण धाम्ना समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श० १४।१।३।२५) इति श्रुतेः। अथ निह्नवानन्तरं महावीरस्योत्तरत इमां भूमिं प्रादेशेनाभिमृश्य मनोरश्वाऽसीति मन्त्रं जपति। हे पृथिवि ! त्वं मनोः प्रजापतेरश्वाऽसीतीममर्थमाख्यायिकयोपपादयन् मन्त्रस्य समृद्धिहेतुत्वमाह—अश्वा हेति। पुरा खलु इयं पृथिवी अश्वा भूत्वा मनुं प्रजापतिमुवाह ऊढवती। स प्रजापतिरस्याः पतिर्भर्ता। एतेन मनोरश्वाऽसीति मन्त्रेण पृथिव्या अभिमर्शनेन तेनैव मिथुनेन स्त्रीपुंसात्मकेन प्रियेण धाम्ना धारकेण तेजसा एनं प्रवर्ग्यं समर्धयति।

अध्यात्मपक्षे—हे देवपीठभूमे ! या त्वं देवस्य पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि, अनाधृष्टा रक्षोभिरनाधृष्टा अग्नेराधिपत्ये स्वामित्वे मे मह्यमायुर्दाः जीवनं देहि, येन देवं प्रसादयामि। हे भूमे ! या त्वं पुत्रवती पुत्रादिदान-समर्था, सा त्वं देवस्य दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये प्रजां मे मह्यं दाः देहि। हे भूमे ! या त्वं सुषदा सुखं सीदन्ति यस्यां तादृशी सा त्वं देवस्य पश्चात् सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दाः देहि। हे पृथिवि ! या त्वं देवस्योत्तरत आश्रुतिरसि यस्यामृत्विज आश्रावयन्ति मन्त्रान् सा त्वं धातुराधिपत्ये मे मह्यं रायस्पोषं दाः देहि। हे पृथिवि ! या त्वं विधृतिरसि विधारयित्री असि सा त्वं देवस्योपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्ये ओजो मे देहि। हे पृथिवि ! त्वं देवस्य दक्षिणभागे नाष्ट्राभ्यो मा मां पाहि। त्वं मनोरश्वा वडवा, असि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाग्निर्जीवनं यथा विद्युत् प्रजा यथा सविता दर्शनं धाता श्रियं महाशयो बलं च ददाति, तथैव सुलक्षणा पत्नी सर्वाणि सुखानि प्रयच्छति, तां रक्षत' इति भावार्थः। अन्वयश्च—हे स्त्रि, त्वमनाधृष्टा सती पुरस्तादग्नेराधिपत्ये मे आयुर्दाः पुत्रवती सती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये मे प्रजां देहि, सुषदा सती पश्चात् सवितुर्देवस्याधिपत्ये चक्षुर्दाः, आश्रुतिः, आसमन्तात् श्रवणं यस्याः सा। उत्तरतो धातुर्धर्तुर्वायो-राधिपत्ये रायो धनस्य पोषं मे दाः। विधृतिः, उपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्ये ओजो देहि विश्वाभ्यः सर्वाभ्यो नाष्ट्राभ्यो व्यभिचारिणीभ्यो मां प्राप्तं त्वं मनोरन्तःकरणस्य अश्वा व्यापिका असि' इति, तदुभयमपि यत्किञ्चित्, आयुरादिदाने तस्याः सामर्थ्यादर्शनात्। नह्यन्यस्य पत्न्यामन्येषामाधिपत्यं सम्भवति, मर्यादाविरोधात्, श्रुति-विरोधाच्च। श्रुतयस्तु सिद्धान्तव्याख्याने दर्शिता एव ॥ १२ ॥

स्वाहा॑ म॒रुद्भिः॒ परि॑ श्रीयस्व दि॒वः स॑ꣳस्पृश॑स्पाहि। मधु॒ मधु॒ मधु॑ ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! तुम स्वाहा रूप हो, मरुतों के द्वारा तुम परिपक्व हो जाओ। हे शतमान सुवर्ण ! स्वर्गवासी देवताओं की रक्षा करो। हे प्राण, हे उदान, हे व्यान ! तुम सबके लिये कल्याणकारी बनो ॥ १३ ॥

'धृष्टिभ्यां भस्मना परिकीर्याङ्गारैश्च विकङ्कतशकलैः परिश्रयति त्रयोदशभिः प्रागुदग्भिः स्वाहा मरुद्भि-रिति, अधिकं दक्षिणतो द्वौ मन्त्रेण' (का० श्रौ० २६।३।९-१०)। अध्वर्युरुपवेषाभ्यां गार्हपत्यस्य भस्मना महावीरं परितो भस्मविक्षेपं कृत्वा धृष्टिभ्यामेव गार्हपत्याङ्गारैश्च परिकीर्य महावीरस्य सर्वतोऽङ्गारान्निधाय प्रागग्रै-रुदगग्रैश्च त्रयोदशभिर्विकङ्कतशकलैर्महावीरं परिश्रयति, अङ्गाराणामुपरि निदधातीति सूत्रार्थः। तत्र प्रथमौ द्वौ प्रागग्रौ मन्त्रेण, इतरानेकादश तूष्णीमुपर्युपरि निदधाति। तत्र तृतीयचतुर्थौ उदगग्रौ, पञ्चमषष्ठौ प्रागग्रौ, सप्तमाष्टमौ उदगग्रौ, नवमदशमौ प्रागग्रौ, एकादशद्वादशौ उदगग्रौ। अधिकं त्रयोदशमवशिष्टं दक्षिणत इति। मासानां त्रयोदशत्वात् त्रयोदशशकलैराच्छादनम्, 'त्रयोदश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सर एष य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।१।३।२८) इति श्रुतेः।

यजुःपङ्क्तिर्घर्मदेवत्या। हे घर्म ! यस्त्वं स्वाहाकारोऽसि हविराधारत्वात् सूर्यरूपोऽसि, तं त्वां ब्रवीमि। मरुद्भी रश्मिभिः परिश्रीयस्व, कर्मणि यक्, मरुतस्त्वामाश्रयन्त्वित्यर्थः। 'सुवर्णशतमानेनापि दधाति दिवः सꣳ-स्पृश इति' (का० श्रौ० २६।३।१०)। शतरक्तिकामितेन सुवर्णपिधानेन महावीरमाच्छादयतीति सूत्रार्थः। दैवी जगती सुवर्णदेवत्या। हे शतमान, दिवो द्युलोकसम्बन्धिनः संस्पृशः स्पर्शकर्तॄन् देवान् पाहि। 'कृष्णा-जिनावकृत्तैर्धवित्रैरुपवीजयति त्रिभिर्दण्डवद्भिर्मधु मध्विति' (का० श्रौ० २६।४।२)। कृष्णाजिनकृतैर्दण्डयुक्तै-स्त्रिभिर्व्यजनैरग्निं वीजयति दीपनायेति सूत्रार्थः। त्रीणि यजूंषि प्राणदेवत्यानि। दैवी उष्णिक्। मधुररससाम्यात् प्राणो मधु उच्यते। प्राणोदानव्यानत्रयं महावीरे स्थापयामीत्यर्थः।

तदेतत्सर्वं शतपथे स्पष्टम् । तथाहि—'अथ वैकङ्कतौ शकलौ परिश्रयति प्राञ्चौ । स्वाहा मरुद्भिः परि-श्रीयस्वेत्यवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवतामेष वै स्वाहाकारो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवताम्' (श० १४।१।३।२६) । त्रयोदशभिर्वैकङ्कतशकलैः समिद्भि-र्महावीरस्य परिश्रयणं विधित्सुस्तासु द्वाभ्यां समिद्भ्यां समन्त्रकाभ्यां प्रथमं परिश्रयणं कर्तव्यमित्याह—अथ वैकङ्कताविति । तौ प्रागग्रौ महावीरस्य दक्षिणत उत्तरतश्च परिश्रयति निदधाति । 'स्वाहा मरुद्भिः' इत्यस्य मन्त्रः । तत्र स्वाहाशब्दस्यार्थं प्रदर्शयन् तत्कृतं प्रवर्ग्यस्य अतिशयं दर्शयति—अवरमित्यादि । अवरमधस्ता-द्वर्तमानं स्वाहाकारं स्वाहेत्युच्चारणं करोति, परां परस्ताद् वर्तमानामस्माभिर्दुरधिगमां देवतां स्मर्तुमिति शेषः । तस्मादुत्कृष्टदेवतात्मकं स्वाहाकारं करोति । कथं स्वाहाकारस्य परदेवतात्मकता ? इत्याह--एष वा इति । य एष सूर्यस्तपति एष खलु स्वाहाकारः स्वाहाशब्दप्रतिपाद्यः स्वाहाकारात्मको वा । यथा अग्नये स्वाहेत्यादौ प्रथमं देवतापदं पश्चात् स्वाहाकारः प्रयुज्यते, तद्वैपरीत्येनात्र तु प्रथमं स्वाहाकारः पश्चाद् देवतापदम् । 'मरुद्भिः परिश्रीयस्वेति । विशो वै मरुतो विशैवैतत् क्षत्रं परिवृꣳहति तदिदं क्षत्रमुभयतो विशा परिवृढं तूष्णी-मुदञ्चौ तूष्णीं प्राञ्चौ तूष्णीमुदञ्चौ तूष्णीं प्राञ्चौ' (श० १४।१।३।२७) । देवानां मध्ये मरुतो वैश्याः, 'मरुतो वै देवानां विशः' (तै० सं० २।२।५) इति श्रुतेः । महावीरश्च सम्राट्शब्दाभिधेयत्वात् क्षत्रियजातिस्थानीयः । अतो मरुद्भिः परिश्रीयस्वेत्यनेन विशैव क्षत्रं परिवृंहति वर्धयति । यथा लौकिकं क्षत्रं विशा वैश्यजात्या परिवृढम्, तथाऽवशिष्टैः शकलैः परिश्रयणं विधत्ते—तूष्णीमुदञ्चावित्यादिना । पूर्वं मन्त्रेण द्वौ वैकङ्कतशकलौ महावीरस्य दक्षिणोत्तरभागयोः प्रागग्रौ निहितौ । अथ तस्य पश्चात् पुरस्ताच्च द्वौ शकलौ उदगग्रौ तूष्णीं निधातव्यौ । तत-स्तूष्णीमेव द्वौ प्राञ्चौ पूर्ववन्निधेयौ । एवं व्यत्यासेन त्रयोदशशकलान् सम्पादयति । प्रागग्राः षड् उदगग्राः षट्, अवशिष्टमेकं दक्षिणतः प्रागग्रं निदध्यादिति सायणाचार्यः ।

'अथ सुवर्णꣳ हिरण्यमुपरिष्टान्निदधाति । दिवः सꣳस्पृशस्पाहीत्येतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममुपरिष्टा-द्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरित्यग्नेर्वा एतद्रेतो यद्धिरण्यं नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहत्या अथो द्यौर्ह वा एतस्माद्बिभयाञ्चकार यद्वै माऽयं तप्तः शुशुचानो न हिꣳस्यादिति तदेवास्या एतदन्तर्दधाति हरितं भवति हरिणीव हि द्यौः' (श० १४।१।३।२९) । महावीरस्योपरि सुवर्णशतमानस्य रुक्मस्य स्थापनं विधत्ते --अथ सुवर्णमित्यादिना । शोभनवर्णयुक्तं हिरण्यनिर्मितं काञ्चनमयं रुक्मं 'दिवः सꣳस्पृश' इति मन्त्रेण महावीरस्योपरिष्टाद् रक्षोभिरबाधनार्थं तप्तेन घर्मेण द्युलोकस्य तापाभावार्थं च निदधाति । तेनैव तेजसा हरिणीव हरिद्वर्णेव द्यौः । 'अथ धवित्रैराधूनोति । मधु मध्विति त्रिः प्राणो वै मधु प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति त्रीणि भवन्ति त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्ता-नेवास्मिन्नेतद् दधाति' (श० १४।१।३।३०) । कृष्णाजिननिर्मितानि व्यजनानि दण्डवन्ति धवित्राणीत्युच्यन्ते । अध्वर्युस्तैस्त्रिभिर्मधु मधु मध्विति मन्त्रेण त्रिराधूनोति महावीरस्य वीजनं करोति । यथाग्नेर्ज्वाला भवति तथा समिन्धीतेत्यर्थः । तन्मन्त्रं प्रशंसति—प्राणो वा इत्यादिना । प्राणापानादिपञ्चवृत्तिः प्राणवायुर्मधुमन्त्रे मधुशब्दाभि-धेयः, मधुवत्प्रियतमत्वात् । तथा चैतदेतेन मधु मधु मध्विति कथनेनास्मिन् प्रवर्ग्ये प्राणमेव दधाति । अपानस्य प्राणावान्तरव्यापारत्वात् प्राणेऽन्तर्भावात्, समानस्य च व्यानेऽन्तर्भावात्, प्राण उदानो व्यान इति प्राणानां त्रित्वमेव ।

अध्यात्मपक्षे--हे ज्ञानयज्ञ ! त्वं स्वाहा ब्रह्मणि सर्वस्वात्मसमर्पणरूपोऽसि । मरुद्भिः पावनैर्हनुमदादिभि-र्ज्ञानिभिः परिश्रीयस्व सेव्यस्व । सर्वे ज्ञानिनस्त्वां परिश्रयन्तु । दिवः संस्पृशः, दिवो द्योतनात्मकस्य ब्रह्मणः संस्पृशः । अनुभवितॄन् ज्ञानिनः पाहि, अविद्यातत्कार्यापनोदनेन रक्ष । त्वत्प्रसादात् सर्वमाध्यात्मिकं मधु मधुविद्यावेद्यब्रह्मात्मकमस्तु । आधिदैविकं च मधु ब्रह्मरूपमस्तु । आधिभौतिकं च सर्वं मधु परमामोदजनकं ब्रह्मरूपमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं मरुद्भिः स्वाहा मधु मधु मधु श्रीयस्व संस्पृशो दिवोऽस्मान् परिपाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मधुपदस्य कर्माद्यर्थत्वे मानाभावात्, कर्मप्रत्ययविरोधाच्च । संस्पृशो विद्युदर्थतापि चिन्त्यैव ॥ १३ ॥

गर्भो॑ दे॒वानां॑ पि॒ता म॑ती॒नां पतिः॑ प्र॒जाना॑म् ।
सं दे॒वो दे॒वेन॑ सवि॒ता ग॑त॒ सᳪ सूर्ये॑ण रोचते ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—दीप्यमान महावीर सूर्य देवता के साथ योग को पाता है । दीप्त किरणों का ग्रहीता, बुद्धियों का पालक, प्रजाओं का स्वामी महावीर सूर्य के साथ एकत्व को प्राप्त कर भली प्रकार प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

'परिक्रम्योपतिष्ठन्तेऽकृतं चेद् गर्भो देवानामिति' (का० श्रौ० २६।४।११) । धवित्रैर्वीजनसमये पूर्वं देववत् परिक्रमणं न कृतं चेदिह त्रिः परिक्रमणं कृत्वा इतरथाऽऽवृत्ति सकृत् कृत्वा ब्रह्महोत्रध्वर्य्वग्नीत्प्रतिप्रस्थातृप्रस्तोतारः सयजमाना गर्भो देवानामित्यादिना नमस्ते अस्तु मा मा हिᳪसीरित्यन्तेन मन्त्रेण घर्ममुपतिष्ठन्त इति सूत्रार्थः । एतेषां मन्त्राणामवकाश इति संज्ञा । घर्मदेवत्या एते । तत्र आद्येयमृचां पङ्क्तिः । देवो दीप्यमानो महावीरः सवित्रा आदित्येन देवेन सह सङ्गत सङ्गच्छते । समो गमेर्लुङि 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' (पा० सू० १।३।२९) इत्यात्मनेपदत्वात् तङि, च्लौ सिचि, तस्य 'वा गमः' (पा० सू० १।२।१३) इति विकल्पेन कित्वे, 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (पा० सू० ६।४।३७) इति मकारलोपे, 'ह्रस्वादङ्गात्' (पा० सू० ८।२।२७) इति सिचो लोपे, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इत्यडागमाभावे सङ्गतेति रूपम् । यश्च घर्मः सूर्येण सह एकीभूतः सन् संरोचते तं वयमुपतिष्ठामहे । कीदृशो घर्मः ? देवानां दीप्तानां दृश्यमानानां रश्मीनां सर्वेषां वा गर्भः । गृह्णातीति गर्भो ग्रहीता । तथा मतीनां आगामिगोचराणां बुद्धीनां पिता पालको बुद्धिप्रवर्तकः । प्रजानां पतिः पालकः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथापसलवि त्रिर्धुन्वन्ति । यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत् स पितॄनगच्छत् त्रया वै पितरस्तैरेवैनमेतत् समीरयति' (श० १४।१।३।३१) । अध्वर्युस्त्रिभिर्धवित्रैर्मधु मधु मध्विति मन्त्रेण त्रिराधूय अथैकं धवित्रं प्रतिप्रस्थात्रे प्रयच्छति, एकमाग्नीध्राय । ततस्ते त्रयो गृहीतधवित्रा अपसलवि अपसलवेदनम् अपसव्यं त्रिः परिक्रामन्ते धुन्वन्ति । अप्रदक्षिणकरणं हि पैतृको धर्मः । अतस्तैः पितृभिरेनं महावीरं समीरयन्ति संगमयन्ति ।,'अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति । ये यज्ञे धुवनं तन्वते पुनः प्रसलवि त्रिर्धुन्वन्ति षट् सम्पद्यन्ते षड् वा इमे शीर्षन् प्राणास्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति श्रपयन्ति रौहिणौ स यदार्चिर्जायतेऽथ हिरण्यमादत्ते' (श० १४।१।३।३२) । ये खलु यज्ञेऽध्वर्युप्रभृतयो धुवनं कम्पनं वीजनं कुर्वन्ति, एतेभ्यः सकाशात् प्राणा अपक्रामन्ति वै । वेगेन आधूनने क्रियमाणे शरीरान्तर्वर्तिनः प्राणा अपि श्रमातिशयेन शरीराद् बहिर्निर्गच्छन्तीत्यर्थः । अतस्तत्परिहाराय पुनः प्रसलवि प्रदक्षिणं त्रिः परिक्रामन्तो धुन्वन्ति चालयन्ति । उक्तदोषपरिहारमाह—षट् सम्पद्यन्त इति । द्वे चक्षुषी द्वे श्रोत्रे द्वे नासिके इति षडिन्द्रियाधिष्ठानानि शिरसि समवेतानि । तान्येवात्मनि धारयित्वा अस्मिन् प्रवर्ग्येऽप्येतद्दधातीत्यर्थः ।

'स यदैतदध्वर्युः । उपोत्तिष्ठन्नाह रुचितो घर्म इति तदुपोत्थायावकाशैरुपतिष्ठन्ते प्राणा वा अवकाशाः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० १४।१।४।१) । अवकाशाख्यैर्मन्त्रैरुपतिष्ठन्ते पूर्वोक्ता अध्वर्य्वादयः । 'गर्भो देवानामिति । एष वै गर्भो देवानां य एष तपत्येष हीदᳪ सर्वं गृभ्णात्येतेनेदᳪ सर्वं गृभीतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।१।४।२) । य एष सूर्यस्तपति एष खलु देवानां मध्ये गर्भः । कुतः ? इत्यत आह—हि

यस्माद् इदं सर्वमेष सूर्यो गृह्णाति, जगति विद्यमानं सर्वं स्वकिरणैरुपादत्ते सर्वमनुगृह्णाति वा। एतेन सर्वं जगदनुगृहीतम्। 'पिता ह्येष मतीनां पतिः प्रजानाम्' (श० १४।१।४।३)। एष मतीनामागामिगोचराणां बुद्धीनां पिता उत्पादयिता। सूर्योदये सति सुप्तानां समेषां प्रबोधेन सर्वाणि ज्ञानान्युत्पद्यन्ते, तेनास्य पितृत्वम्। 'एष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्' इति प्रकृतो वाक्यशेषोऽतः परं सर्वत्रानुषञ्जनीयः। एष सूर्यः प्रजानां प्रजायमानानां प्राणिनां वृष्ट्यादिप्रदानेन पालयिता। 'सꣳ हि देवो देवेन सवित्रा गत सꣳ सूर्येण रोचते' (श० १४।१।४।४)। हि यस्मात्, देवनशीलो घर्मो देवयजनेन वर्तमानो देवेन देवनशीलेन सवित्रा सर्वस्य प्रेरकेण दिवि वर्तमानेन सूर्येण सङ्गत समगच्छत। तस्मात् सन् देवो देवेन इति मन्त्रवाक्यं सङ्गतमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानयज्ञ ! यस्त्वं गर्भो ग्रहीता सर्वेषाम्, सर्वोपसंहारकत्वात्। मतीनां तत्त्वबुद्धीनां पिता जनकः, ज्ञानयज्ञेनैव ब्रह्मबुद्धयुत्पत्तेः। यः प्रजानां पतिः पालकः, शोकमोहनिवारकत्वेन स्वास्थ्यप्रदत्वात्। देवोऽज्ञानादिविजिगीषया द्योतमानः, देवेन द्योतमानेन सवित्रा परमात्मना संगत सङ्गच्छते सं सूर्येण स्वप्रकाशेन ब्रह्मणा विषयेण रोचते, तं त्वां वयं स्तुम इति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यो देवानां गर्भो मतीनां पिता प्रजानां पतिः परमात्मा सवित्रा देवेन सूर्येण सह संरोचते, तं यूयं सङ्गत' इति, तदपि न, मतीनामित्यस्य मननशीलानां मेधाविनामित्यर्थताया निर्मूलत्वात् ॥ १४ ॥

सम॒ग्निर॒ग्निना॑ गत॒ सं दैवे॑न सवि॒त्रा सꣳ सूर्ये॑णारोचिष्ट।
स्वाहा॒ सम॒ग्निस्तप॑सा गत॒ सं दैव्ये॑न सवि॒त्रा सꣳ सूर्ये॑णारूरुचत ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—घर्म अग्नि के साथ संयुक्त होता है, सविता देवता के साथ संयुक्त होता है, सूर्य के साथ प्रकाशित होता है। स्वाहा सहित घर्म सूर्य के तेज के साथ संयुक्त होता है, सविता देवता के साथ संयुक्त होता है और सूर्य के साथ एकत्व को प्राप्त कर सबको प्रकाशित करता है ॥ १५ ॥

ब्राह्मी अनुष्टुप्। यश्चाग्निर्घर्मोऽग्निना सह सङ्गत सङ्गच्छते एकीभवति। दैवेन देव एव दैवः, 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पा० सू० ५।४।३८) इति प्रज्ञादेराकृतिगणत्वादण्। तेन सवित्रा देवेन सह सङ्गच्छते। यश्च सूर्येण सह समरोचिष्ट संरोचते सूर्येण सह स्पर्धमानः सूर्येण दीप्यते, तं वयं स्तुम इति शेषः। स्वाहा अग्निः स्वाहासहितोऽग्निर्घर्मस्तपसा सूर्यतेजसा सङ्गत सङ्गच्छते, दैव्येन देवेन सवित्रा च सङ्गच्छते। सूर्येण समरूरुचत सर्वं सम्यग् रोचयति प्रकाशयति, रोचतेर्णिजन्ताल्लुङ्, तं स्तुम इति शेषः। 'अवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः' (१४।१।४।६) इति हि श्रुतिः। स्वाहाशब्दप्रतिपाद्यं स्मर्तुमसावेव खलु देवता बन्धुश्छिन्नस्य यज्ञशिरसो बन्धनहेतुः। तथा दैव्येन देवतासम्बन्धिना सवित्रा प्रेरकेण सूर्येण दिवि प्रकाशमानेन सार्धमयं तप्तो घर्मो ज्वालाद्वारेण समरूरुचत सम्यगदीप्यत। तस्मात् 'सꣳ सूर्येणारूरुचत' इति मन्त्रभागः समवेतार्थः।

अध्यात्मपक्षे - योऽग्निर्ज्ञानाग्निरूपो ज्ञानयज्ञोऽग्निना सङ्गत सङ्गच्छते एकीभवति, देवेन सवित्रा सङ्गच्छते कर्माज्ञानादिनाशकतया अग्निना एकीभवति, तत्त्वप्रकाशकत्वेन सवित्रा सूर्येण ऐक्यं गच्छति। स्वाहा सर्वस्वात्मसमर्पणरूपेण युक्तो ज्ञानाग्निस्तत्त्वप्रकाशकत्वेन रूपेण सूर्येण ऐक्यमुपगच्छति, सूर्येण तपसा समरूरुचत सम्यगदीप्यतेति तं स्तुमः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! योऽग्निना अग्निर्दैवेन सवित्रा सूर्येण सह समरोचिष्ट, तं परमात्मानं यूयं स्वाहा सत्यक्रियया संगत। योऽग्निर्दैव्येन सवित्रा सूर्येण तपसा समरूरुचत तं यूयं संगत विजानीत' इति, तदपि

यत्किञ्चित्, विशृङ्खलत्वात्, मुख्यार्थत्यागाद् गौणार्थस्वीकाराच्च, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च, सूर्ये प्रेरकत्वासम्प्रतिपत्तेश्च ॥ १५ ॥

धर्ता दिवो वि भाति तपसस्पृथिव्यां धर्ता देवो देवानाममर्त्यस्तपोजाः। वाचमस्मे नियच्छ देवायुवम् ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—स्वर्गलोक के तथा रश्मिजाल के धारक, सभी देवताओं के धारक अजर-अमर महानारायण की ज्योति से उत्पन्न सूर्यदेव ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करते हैं। हे सूर्यदेव ! आप हमें देवताओं को प्राप्त कराने वाली वाणी दीजिये ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वबृहती। यत्र जगत्यास्त्रयः पादास्तदूर्ध्वबृहतीशब्देनाख्यायते। अत्र आद्यौ त्रयोदशार्णौ, तृतीय एकादशार्णः। तेन एकाधिका ऊर्ध्वबृहती ज्ञातव्या। घर्मस्तुतिः। योऽयं दिवो द्युलोकस्य धर्ता धारयिता, तपसो रश्मिजालस्य च धर्ता, देवानां स्वव्यतिरिक्तानामिन्द्रादीनां च धर्ता, सूर्यगत्यधीनत्वाद् हविर्दानस्य सूर्यस्य हविर्भुजां धारकत्वम्। यश्चामर्त्यो मनुष्यधर्मरहितोऽजरामरः। तपोजाः, तप आदित्यस्तस्माज्जातः सूर्योत्पन्नः, तपसस्तप्यमानाद् ब्रह्मणो वा जातस्तपोजाः। यश्च देवः पृथिव्यां विभाति प्रवर्ग्यरूपेण शोभते, स देवो घर्मः, अस्मे अस्मासु वाचं नियच्छ नियच्छतु निगृह्णातु। पुरुषव्यत्ययः। कीदृशीं वाचम् ? देवायुवम्, या देवान् यौति मिश्रयत्यागमयति सा देवायुः, संहितायां छान्दसो दीर्घः, ताम्। क्विपि 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (पा० सू० ६।१।७१) इति प्राप्तस्तुगभाव आर्षः। अत्र वागिति यज्ञो गृह्यते, स्तोत्रशस्त्रादिरूपया वाचा निर्वर्त्यत्वात्।

तथा च ब्राह्मणम्—'यज्ञो वै वाग् यज्ञमस्मभ्यं प्रयच्छ येन देवान् प्रीणामेत्येवैतदाह' (श० १४।१।४।८)। इति वाचं यज्ञम्, अस्मे अस्मभ्यम्, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेः शे, हे घर्म ! देहि येन देवान् प्रीणाम तर्पयामेत्यमुमेवार्थमेतन्मन्त्रवाक्यं प्रतिपादयतीति निर्गलितोऽर्थः। तथा च देवानाह्वयन्तं यज्ञं समापयतु।

अध्यात्मपक्षे—स ज्ञानयज्ञो दिवः प्रकाशरूपस्य ज्ञानस्य धारकः, आलोचनात्मकस्य तपसः, सन्तापार्थस्य तपोरालोचने वृत्तिः, धारकः। यश्च देवानां धर्ता, यश्च पृथिव्यां विभाति, यश्चामर्त्यः, सो अस्मे अस्मासु देवायुवं वाचं देवतानामाह्वानकर्त्रीं वाचं नियच्छ नियच्छतु, ब्रह्मात्मपर्यवसायिनीं करोतु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यः पृथिव्यां तपसो दिवे धर्ता यस्तपोजा अमर्त्यो देवो देवानां धर्ता जगदीश्वरो विभाति, तद्विज्ञानेनास्मे देवायुवं वाचं नियच्छ देहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्, दिवः सूर्यादेरित्यस्य च निर्मूलत्वात्। न च त्वद्रीत्या तपसापि परमेश्वरो जायते, तस्याजायमानत्वात्। न च तपसा तस्य प्राकट्यमेवेति, प्राकट्यस्याप्यनिरूपणात् ॥ १६ ॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ दिशा और किरणों को धारण करता हुआ सूर्य भुवनों के मध्य में बार बार घूमता है। अन्तरिक्ष में घूमते हुए कभी नीचे न गिरने वाले, देवमार्ग से आने और जाने वाले उस रश्मिपालक सूर्य को मैं देखता हूँ ॥ १७ ॥

त्रिष्टुप्, दीर्घतमोदृष्टा। आदित्यात्मना घर्मस्तुतिः। स घर्मो भुवनेषु त्रिलोकेषु, अन्तर्मध्ये व्यवस्थितः, आवरीवर्ति पुनः पुनरावर्तते। वृतेर्यङ्लुकि रूपम्। स कीदृशः ? सध्रीचीः, सह अञ्चन्तीति सध्रीच्यः, 'सहस्य सध्रिः' (पा० सू० ६।३।९५) इति सध्रिरादेशः। सहगमना दिशो रश्मयो वा, ता वसान आच्छादयन्। वस्ते इति वसानः, 'वस् आच्छादने' आदादिकः, तस्मात् शानच्। विषूचीः, विषुनिपातो नानार्थः, विषु नाना अञ्चन्तीति विषूच्यस्ताः। नानागमना दिशो रश्मीन् वा वसानः, विषूपपदादञ्चतेः 'ऋत्विग्दधृक्' (पा० सू० ३।२।५९) इत्यादिना क्विनि सर्वापहारिलोपे, 'अनिदिताम्' (पा० सू० ६।४।२४) इति नकारलोपे, 'उगितश्च' (पा० सू० ४।१।६) इति ङीपि, 'अचः' (पा० सू० ६।४।१३८) इत्यकारलोपे, 'चौ' (पा० सू० ६।३।१३८) इति दीर्घे 'विषूची' इति रूपम्। एकः सशब्दः पादपूरणार्थः। स कः ? यमादित्यरूपमहमपश्यं पश्यामि। कीदृशम् ?, गोपाम्, गोपायतीति गोपा गोप्ता, तम्। क्विपि यकारलोपः। अनिपद्यमानम्, न निपद्यत इत्यनिपद्यमानः, तम् अनालम्बनमन्तरिक्षे गच्छन्तमपि नाधः पतन्तम्। च पुनः, पथिभिर्देवमार्गैराचरन्तमागच्छन्तम्, पराचरन्तं परागच्छन्तम्, गमनागमने कुर्वन्तम्।

तथा च ब्राह्मणम्—'एष वै गोपा य एष तपत्येष हीदꣳ सर्वं गोपायत्यथो न निपद्यते तस्मादाहाऽपश्यं गोपामनिपद्यमानमिति' (श० १४।१।४।९)। 'आ च परा च पथिभिश्चरन्तमिति। आ च ह्येष परा च देवैः पथिभिश्चरति स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान इति सध्रीचीश्च ह्येष विषूचीश्च दिशो वस्तेऽथो रश्मीनावरीवर्ति भुवनेष्वन्तरिति पुनः पुनर्ह्येष एषु लोकेषु वरीवर्त्यमानश्चरति' (श० १४।१।४।१०)। एष सूर्यो देवानां मध्ये गोपा गोपायिता, हि यस्मात्, एष सर्वमिदं जगत् प्रकर्षेण प्रकाशादिना रक्षति, अथो अपि च, न निपद्यते न पतति, किन्तूच्चैः सर्वदा दिवि वर्तते। तस्मादनिपद्यमानं गोपां सूर्यमपश्यमिति कृतसाक्षात्कार ऋषिराह। यद्वा प्रवर्ग्यं स्तोतुमध्वर्युराह। एष हि सूर्यो देवसम्बन्धिभिः पथिभिर्मार्गैर्मध्याह्नात् पूर्वमाचरति आभिमुख्येन गच्छति। ततः परस्तात् पराचरति पराङ्मुखः सन् चरति। अपि च, सध्रीचीः सहाञ्चतीः, विषूचीर्विष्वगञ्चतीः, सर्वा दिशः प्राच्याद्याः, एष सूर्यः स्वतेजसा वस्ते आच्छादयति। अथो अपि च, रश्मीन् स्वकिरणान् वस्ते सर्वत्र प्रसारयति। तस्मादेष मन्त्रः सूर्ये सङ्गतः, तदात्मकत्वाच्च प्रवर्ग्ये सङ्गतः। एष खलु सूर्यः, एषु लोकेषु पृथिव्यादिषु, वरीवर्त्यमानोऽत्यन्तं वर्तमानः पुनः पुनश्चरतीति ब्राह्मणार्थः।

अध्यात्मपक्षे—अहं गोपां सूर्यं सूर्यमण्डलान्तर्गतं परमेश्वरं हिरण्यश्मश्रुं हिरण्यकेशमाप्रणखाग्रात् सर्वं हिरण्मयं पुरुषमपश्यम्। कीदृशम् ? अनिपद्यमानमप्रच्युतस्वभावम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अहं यं पथिभिराचरन्तं पराचरन्तमनिपद्यमानं गोपां जगदीश्वरमपश्यम्, स च सध्रीचीः स च विषूचीर्वसानः सन् भुवनेष्वन्तरा वरीवर्ति, तं यूयमपि पश्यत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नीरूपस्य परमेश्वरस्य दर्शनक्रियाऽविषयत्वात्। न च चाक्षुषदर्शनाभावेऽपि मानसदर्शने न काप्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्, परात्मदर्शने मनसोऽस्वातन्त्र्यात्। न च तस्य सर्वथाप्याचरणं पराचरणं वा सम्भवति, परिच्छिन्नस्यैव तथात्वोपपत्तेः। न चाच्छादकत्वमपि सम्भवति, तथात्वे आच्छादितस्यादर्शनापत्तेः, आच्छादकस्य दर्शनापत्तेश्च। न चेष्टापत्तिः, विपरीतस्यैवोपलम्भात्॥ १७॥

विश्वा॑सां भु॒वां प॑ते॒ विश्व॑स्य मनसस्पते॒ विश्व॑स्य वचसस्पते॒ सर्व॑स्य वचसस्पते। दे॒व॒श्रु॒त् त्वं दे॑व घर्म दे॒वो दे॒वान् पा॑ह्य॒त्र प्रावी॒रनु॑ वां दे॒ववी॑तये। मधु॒ माध्वी॑भ्यां॒ मधु॒ माधू॑चीभ्याम्॥ १८॥

मन्त्रार्थ—सब भुवनों के स्वामी, समष्टि मन के अधिपति, विश्वसम्बन्धी वाणी के रक्षक, ब्रह्मरूप महावाक् के स्वामी, देवताओं में प्रसिद्ध, दीप्यमान हे घर्म देवता ! तुम देवताओं की रक्षा करो। इस यज्ञ में देवताओं को विशेष आग्रह पूर्वक लाने के लिये अश्विदेवताओं को तृप्त करो। हे अश्विदेवों ! आपके लिये यह मधु समर्पित है, यह मधु आपको समर्पित है, क्योंकि आप मधुब्राह्मण की प्रशंसा करने वाले हैं ॥ १८ ॥

अत्यष्टिः। हे विश्वासां सर्वासां भुवां पृथिवीनां पते पालक प्रवर्ग्य ! हे विश्वस्य मनसस्पते ! सर्वप्राण्याश्रयस्य मनसः पते ! विश्वस्य वचसः सर्वस्य त्रयीलक्षणस्य वचसः पते प्रवर्तक ! सर्वस्य वा लौकिकस्य वचसः प्रवर्तक ! हे देवश्रुत्, देवेषु श्रूयत इति देवश्रुत्, तत्सम्बुद्धौ, देवप्रसिद्ध ! हे देव दीप्यमान, हे घर्म प्रवर्ग्य ! त्वं देवः सन् देवान् पाहि रक्ष। एवं घर्मं सम्प्रार्थ्य अश्विनावाह—हे अश्विनौ ! अत्र यज्ञेऽस्मिन्नवसरे वा देववीतये देवतर्पणाय अनु अनन्तरं घर्मोऽयं प्रवर्ग्यो वां प्रावीः प्रावतु तर्पयतु। लोडर्थे लुङ्, पुरुषव्यत्ययश्च। युवयोस्तृप्त्यैव सर्वदेवानां तर्पणोपपत्तिः।

यद्वा—अनु देववीतये ततोऽनन्तरं देवतर्पणाय वां युवां नमस्करोत्विति वाक्यशेषः। याभ्यां युवाभ्यां दध्यङ्ङाथर्वणो महर्षिर्मधुसंज्ञकं ब्राह्मणमुवाच। तथा च ब्राह्मणम्—'दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधु नाम ब्राह्मणमुवाच' (श० १४।१।४।१३) इति। कीदृशाभ्यां युवाभ्याम् ? माध्वीभ्यां मधुब्राह्मणमीयाते इति माध्व्यौ, ताभ्याम् 'ई गतौ' इत्यस्य क्विपि रूपम्। तथा माधूचीभ्यां मधुब्राह्मणमञ्चतः पूजयत इति मध्वञ्चौ, ताभ्यां माधूचीभ्यामिति। अत्र मध्वभ्यामिति प्राप्ते छान्दसो ङीप्, अलोप आदिदीर्घो लिङ्गव्यत्ययश्च। 'अत्र प्रावीरनु वां देववीतय इति। अश्विनावेवैतदाहाश्विनौ वा एतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तावेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।१।४।१२)। अश्विनौ किल पुरा यज्ञस्य प्रवर्ग्याख्यं शिरः प्रत्यधत्तां प्रतिहितवन्तौ, छिन्नस्य पुनः सन्धानं कृतवन्तौ। एतत्प्रतिपादकं ब्राह्मणमत्रैवोद्धृतम्।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वासां सर्वासां भुवां भूमीनां पते परमेश्वर ! हे विश्वस्य सर्वस्य प्राण्याश्रयस्य मनसस्पते पालक ! विश्वस्य वचसस्त्रयीलक्षणस्य पते ! तथा सर्वस्य वचसो लौकिकस्य पते ! हे देवेषु विश्रुत ! हे घर्म प्रवर्ग्य ! यज्ञशिरःयज्ञाराध्य ! त्वं देवः स्वयंप्रकाशः सन् अविद्याविजिगीषून् पाहि ब्रह्मात्मज्ञानप्रदानेन रक्ष। हे अश्विनौ, अत्र यज्ञे देववीयते देवानां तर्पणाय, अनु अनन्तरमेव, घर्मो ज्ञानयज्ञः, वां प्रावीस्तर्पयतु, युवयोस्तृप्त्या सर्वेषां तर्पणात्। याभ्यां युवाभ्यां दध्यङ्ङाथर्वणो मधुसंज्ञकं ब्राह्मणमुवाच। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विश्वासां भुवां पते धर्मप्रदीपक देव जगदीश्वर देवश्रुद् देव ! त्वमत्र देवान् पाहि। माध्वीभ्यां सह मधु प्रावीः। माधूचीभ्यां देववीतये देवाननु पाहि। हे अध्यापकोपदेशकौ ! वां युवाभ्यामहमिदमुपदिशेयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उपदिशेयमित्याद्यंशस्य मन्त्रबाह्यत्वात्, मधु मधुरादियुक्तं घर्मं माध्वीभ्यां विद्यासुशिक्षाभ्यामित्यस्य निर्मूलत्वात्। शतपथश्रुतिविरोधोऽत्र सुस्पष्ट एव। अन्यत्तु महीधराद्यनुसरणमेव ॥१८॥

हृदे त्वा मन॑से त्वा दिवे त्वा सूर्या॑य त्वा। ऊर्ध्वो अ॑ध्वरं दिवि दे॒वेषु॑ धेहि ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे देव ! मैं अपने हृदय की स्वस्थता के लिये आपकी स्तुति करता हूँ, मन की शुद्धि के लिये आपकी स्तुति करता हूँ, स्वर्ग की प्राप्ति के निमित्त आपकी स्तुति करता हूँ, सूर्य की तृप्ति के निमित्त आपकी स्तुति करता हूँ। आप सावधान होकर इस यज्ञ में आहूत देवताओं को यथास्थान स्थापित करें ॥ १९ ॥

परोष्णिक् । आद्यावष्टार्णौ तृतीयो द्वादशार्णः सा परोष्णिक्, 'परोष्णिक् परः' (छन्दःशास्त्रम्, ३।२१) इत्युक्तेः । आद्ययोः पादयोर्व्यूहेनाष्टाक्षरः पादः कार्यः । हे प्रवर्ग्य ! हृदे हृदयस्वास्थ्याय त्वा त्वाम्, स्तुम इति शेषः । मनसे मनःशुद्ध्यर्थं त्वा त्वां स्तुमः । दिवे स्वर्गप्राप्त्यै त्वा त्वां स्तुमः । सूर्याय सूर्यतृप्त्यै त्वा त्वां स्तुमः । हृदयस्वास्थ्यं विधाय मनः संशोध्य दिवमस्मान्नीत्वा सूर्यं तर्पय । किञ्च, ऊर्ध्वः सावधानः सन् अध्वरमस्मदीयं यज्ञं दिवि द्युलोके वर्तमानेषु देवेषु धेहि । यज्ञे दिवं गते यजमानोऽपि तत्र गच्छत्येवेति भावः । यद्वा द्युलोके देवेषु, ऊर्ध्वं उत्कृष्टः सन्, अस्मदीयमध्वरं धेहि स्थापयेति ।

अध्यात्मपक्षे – हे घर्म प्रदीप्यमान ज्ञानयज्ञ ! हृदयाद्यर्थं त्वां स्तुमः । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु— 'हे जगदीश्वर ! यं हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय ध्यायेम, स ऊर्ध्वस्त्वं दिवि देवेष्वध्वरं धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ईश्वरस्य प्रचारकत्वादर्शनात्, देवेषु विद्वत्सु विद्वत्त्वादेव प्रचारनैरर्थक्याच्च ॥ १९ ॥

पि॒ता नो॑ऽसि पि॒ता नो॑ बोधि॒ नम॑स्ते अस्तु॒ मा मा॑ हि॒ꣳसीः । त्वष्टृ॑मन्तस्त्वा सपेम पु॒त्रान् प॒शून् मयि॑ धेहि प्र॒जाम॒स्मासु॑ धे॒ह्यरि॑ष्टा॒ऽहꣳ स॒ह पत्या॑ भूयासम् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे महावीर ! आप हमारे पिता हो, पिता के समान हमें ज्ञान का उपदेश दो । हम आपको प्रणाम करते हैं । आप हमें कोई हानि मत पहुँचाओ । यजमान-पत्नी कहती है कि हे घर्म ! त्वष्टा देवता के आधिपत्य में स्थित हम आपका स्पर्श करते हैं । हमें आप पुत्र, पौत्र, पशु आदि से समृद्ध बनाओ । हमारी प्रजा की वृद्धि करो । मैं अपने पति के साथ निर्विघ्न जीवन यापन करूँ ॥ २० ॥

ऋग्गायत्री । हे महावीर ! त्वं नोऽस्माकं पितासि पालको भवसि । स पितेव नोऽस्मान् बोधि बोधय । नमस्ते ते तुभ्यं नमोऽस्तु । मा मां हिंसीर्मा जहि । **महावीरोपस्थानं समाप्तम्, अवकाशमन्त्राश्चावसिताः ।** 'त्वष्टृमन्त इत्येनां वाचयति महावीरमीक्षमाणाम्' (का० श्रौ० २६।४।१३) । महावीरमीक्षमाणामपनीतशिरोवस्त्रां घर्मं पश्यन्तीं पत्नीमध्वर्युर्वाचयतीति सूत्रार्थः । त्रिष्टुप्, घर्मदेवत्या, पत्न्याशीः । हे घर्म ! वयं त्वा त्वां सपेम, 'सपतेः स्पृशतिकर्मणः' (नि० ५।१६) इति यास्कः । मैथुनाय त्वामुपस्पृशामः । यतो वयं त्वष्टृमन्तः । त्वष्टा हि चेतसां विकर्ता । त्वष्टा विद्यते येषां ते तथोक्ताः । त्वष्टृयुक्ता वयं त्वामुपस्पृशामः । अतो मय्यस्मासु पुत्रान् पशूंश्च धेहि स्थापय । प्रजामुत्तरोत्तरं वंशवृद्धिमस्मासु धेहि । किञ्च, पत्या भर्त्रा सहारिष्टाऽनुपहिंसिता अहं भूयासम् । भर्तृमती चिरं जीवेयमित्यर्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पत्न्यै शिरोऽपावृत्य । महावीरमीक्षमाणां वाचयति त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेमेति वृषा वै प्रवर्ग्यो योषा पत्नी मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते' (श० १४।१।४।१६) इति । वृषा वर्षणसमर्थः प्रवर्ग्यः, पत्नी योषा स्त्री । तथा चैतदेतेन मिथुनेन प्रजोत्पत्तिसाधनेन, एनं प्रवर्ग्यं समर्धयति । ततो यज्ञमपि कृत्स्नं करोति ।

अध्यात्मपक्षे—हे घर्म ! ज्ञानयज्ञाधिष्ठातः परमेश्वर ! त्वं नः पितासि, अज्ञानमयसंसारात् पालकत्वात् । तेन पितेव नोऽस्मान् बोधि बोधय । ते तुभ्यं नमोऽस्तु । मा मां हिंसीर्ब्रह्मात्मज्ञानान्मा प्रच्यावय । पत्न्यो बुद्धयो वा प्रार्थयन्ते –हे घर्म ! त्वष्टृमन्तो वयम्, त्वष्टा चेतसां विकर्ता, तद्वन्तो वयम्, त्वां सपेम स्पृशामः । तेन मयि पुत्रान् पशून् मयि धेहि । अस्मासु प्रजामुत्तरोत्तरं वंशवृद्धिं धेहि । अरिष्टाऽहं सह पत्या भूयासम् ।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर! त्वं नः पितासि, पिता सन्नो बोधि, ते नमोऽस्तु, मां मा हिंसीः। त्वष्टृमन्तो वयं त्वां सपेम। त्वं पुत्रान् पशून् मयि धेहि। अस्मासु प्रजां धेहि। यतोऽहमरिष्टा सती सह पत्या भूयासम्' इति, तदपि न, जगदीश्वरेण सम्बन्धानिरूपणात्। अन्वये—'अहमरिष्टा सह पत्या' इत्युक्तम्, भावार्थे तु—हे स्त्रियः, यूयं परमात्मन एवोपासनां नित्यं कुरुत' इति, तदपि परस्परं विरुद्धमेव, श्रुतिविरोधश्च। सोऽपि सिद्धान्तव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ २० ॥

अहः केतुना जुषताᳬं सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा।
रात्रिः केतुना जुषताᳬं सज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा ॥ २१ ॥

॥ इति सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ—दिन कर्म के साथ तृप्त हो, अर्थात् मनुष्य निरन्तर क्रियाशील बना रहे। अच्छी ज्योति अपने तेज के साथ तृप्त हो। हमारी दी हुई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। पितृयान मार्ग अथवा रात्रि कर्म के साथ तृप्त हो, अच्छी ज्योति अपने तेज के साथ तृप्त हो, हमारी दी हुई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २१ ॥

'अहः केतुनेति दक्षिणᳬं रौहिणं जुहोति' (का० श्रौ० २६।४।१४)। उपस्थानगानयोः समासौ रौहिणहवन्या स्रुचा दक्षिणं रौहिणं पुरोडाशं सर्वहुतं जुहोतीति सूत्रार्थः। घर्मदेवत्ये यजुषी सामानुष्टुभौ। केतुना प्रज्ञया कर्मणा वा सहितमहर्दिनं जुषतां रौहिणहोमेन प्रीयताम्। कीदृशमहः? ज्योतिषा स्वकीयेनैव तेजसा सुज्योतिः सुष्ठु शोभनं ज्योतिः प्रकाशो यस्य तत्, शोभनतेजस्कम्। स्वाहा एतद्धविः सुहुतमस्तु। रोहत्यारोहति स्वर्गं यजमानो याभ्यां तौ रौहिणौ, अग्न्यादित्यौ अहोरात्रे वा। 'रात्रिरिति सायम्' (का० श्रौ० २६।४।१४)। अपराह्णकालीने प्रवर्ग्यचरणे रात्रिः केतुनेति द्वावपि रौहिणौ यथाकालं जुहुयात्। स्वाहा रुद्राय इत्येतत्कर्मणोऽनन्तरं चायं होमः। तत्रापि रात्रिरिति मन्त्रस्य पुनः पाठोऽस्तीति सूत्रार्थः। केतुना प्रज्ञया कर्मणा वा सहिता रात्रिः, जुषतां प्रीयताम्। ज्योतिषा कृत्वा सुज्योतिः शोभनज्योतिष्का।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथातो रौहिणौ जुहोति। अहः केतुना जुषताᳬं सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहेत्युभावेतेन यजुषा प्राता रात्रिः केतुना जुषताᳬं सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहेत्युभावेतेन यजुषा सायम्' (श० १४।२।१।१)। आज्यपूर्णे महावीरे गवाजयोः पयसोरासेचनविधित्सया तयोर्दोहनात् पूर्वं तदासेचनोत्तरकालं च होतव्ययोः रौहिणपुरोडाशयोर्होमं विधत्ते—अथातौ रौहिणौ जुहोतीति। पत्नीवाचनानन्तरं यत एतौ रौहिणहोमौ प्रवर्ग्यस्य आज्यभागवच्चक्षुष्ट्वेन वक्ष्यमाणप्रकारेण संस्तुतौ, अतः प्रवृञ्जनात् पूर्वं रौहिणौ जुहोति। तत्र प्रातःकालीने प्रवर्ग्ये 'अहः केतुना' इत्येतेन यजुषा, सायंकालीने प्रवर्ग्ये 'रात्रिः केतुना' इति यजुषा उभौ रौहिणौ जुहोति। 'अग्निश्च ह वा आदित्यश्च रौहिणावेताभ्याᳬं हि देवताभ्यां यजमानाः स्वर्गं लोकᳬं रोहन्ति' (श० १४।२।१।२)। पुरोडाशावेता अग्न्यादित्यात्मना स्तौति—एताभ्यां हीति। सायंप्रातःकालीनाग्निहोत्रदेवताभ्यामग्निहोत्रानुष्ठायिनो यजमानास्तत्फलभूतं स्वर्गं लोकमारोहन्ति। तस्माद् रोहणसाधनत्वादग्न्यादित्यावेव रौहिणौ। अतस्तदात्मक-रौहिणहोमाद् यजमानोऽपि स्वर्गं लोकं प्राप्नोतीत्यर्थः। 'आदित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमहोरात्राभ्यां परिगृह्णाति तस्मादेषोऽहोरात्राभ्यां परिगृहीतः' (श० १४।२।१।३)। 'अथो इमौ वै लोकौ रौहिणौ। आदित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमाभ्यां लोकाभ्यां परिगृह्णाति' (श० १४।२।१।४)। 'अथो चक्षुषी वै रौहिणौ। शिरः प्रवर्ग्यः शीर्षंस्तच्चक्षुर्दधाति' (श० १४।२।१।५)। एतौ रौहिणपुरोडाशौ यज्ञस्य चक्षुःस्थानीयौ। तस्य शिरः प्रवर्ग्यः, तत्तथा शीर्षन् शिरसि चक्षुर्दधाति धारितवान् भवतीति।

अध्यात्मपक्षे—केतुना प्रज्ञया सहितं सनाथितमहर्दिनं जुषतां प्रीयताम् । कीदृशमहः ? ज्योतिषा स्वकीयेन तेजसा सुज्योतिः शोभनेन ज्ञानात्मकेन ज्योतिषा सुज्योतिर्विशिष्टतेजस्कम् । स्वाहा तादृशेन ज्ञानयज्ञेन स्वाहा सर्वमिदं ब्रह्मणि सुहुतमस्तु । केतुना ब्रह्मात्मज्ञानात्मकेन केतुना सहिता रात्रिर्जुषताम् । कीदृशी रात्रिः ? ज्योतिषा ज्ञानात्मकेन ज्योतिषा शोभनज्योतिष्का । स्वाहा सर्वमिदं ब्रह्मणि सुहुतमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् वा विदुषि स्त्रि वा ! भवती स्वाहा । केतुना ज्योतिषा चाहः सुज्योतिर्जुषतां स्वाहा केतुना ज्योतिषा सह सुज्योती रात्रिरस्मान् जुषताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । स्वाहा सत्क्रिययेत्यपि निर्मूलम् । केतुना जागरूकेण ज्ञानेन जागृतावस्थयेत्यपि निर्मूलमेव । स्वाहा सत्यया वाचेत्यपि निर्मूलम्, पूर्वोक्तव्याख्यानोद्धृतश्रुतिविरोधाच्च । रौहिणहोमशेषत्वात् तदनुगुणमेव व्याख्यानं युक्तम् ॥ २१ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आ ददेऽदित्यै रास्नाऽसि ॥१॥

मन्त्रार्थ—हे रज्जु के अधिष्ठात्री देव ! सविता देवता की आज्ञा में वर्तमान मैं अश्विनीकुमारों की भुजाओं से, पूषा देवता के हाथों से तुम्हें ग्रहण करता हूँ । तुम अदिति रूप गौ की मेखला हो ॥ १ ॥

'देवस्य त्वेति रज्जुसन्दानमादायेड एहीति गामाह्वयति नाम्ना च त्रिरुच्चैरपरेण गार्हपत्यं गच्छन्' (का० श्रौ० २६।५।१)। घर्मदुघा गोर्बन्धनार्था पाशवती रज्जुः। अध्वर्युर्देवस्य त्वेति मन्त्रेण तस्या एव पश्चात्पादनियोजनार्थं सन्दानमादाय गार्हपत्यस्य पश्चाद् गच्छति। 'इड एहि' इत्यादिवाक्यत्रयेण घर्मदुघां गामाह्वयति। ततो गोर्नाम्ना च उच्चैस्त्रिवारमाह्वयति। नाम चात्र व्यावहारिकम्। रज्जुदेवत्यं यजुः। प्राजापत्या गायत्री। हे रज्जो ! सवितुर्देवस्य प्रसवे आज्ञायां वर्तमानोऽहमश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे। यतस्त्वमदित्यै अदित्या देवमातुः, रास्ना रसना मेखला, असि।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रेमरज्जो ! त्वां सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे। त्वं च अदित्याः श्रीत्रिपुरसुन्दर्याः, रास्नासि मेखलासि, अलङ्कारभूतत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे विदुषि ! यस्त्वमदित्यै रास्नासि, तस्मात् सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वामाददे' इति, तदपि न, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्, स्त्रीग्रहणस्य लौकिकत्वेन तत्र मन्त्रविनियोगाभावेन च मन्त्रवैयर्थ्यात्। किञ्च, आदित्यो देवताऽस्य मन्त्रस्योक्ता। न चात्र तस्याः प्राधान्यम्। सिद्धान्ते तु शतपथब्राह्मणाधारेण रज्ज्वाः सम्बोधनम्। अदितिपदस्य नाशरहिता नीतिरपि नार्थः, निर्मूलत्वात्। गौणार्थाश्रयणाच्चासङ्गतमिदं व्याख्यानम्। श्रुतौ तु—'अथ रज्जुमादत्ते। देवस्य त्वा' (श० १४।२।१।६) इति गोदोहनार्थं समन्त्रकं रज्ज्वादानं विहितम्, न तु स्त्रिया आदानम् ॥ १ ॥

इड एह्यदित एहि सरस्वत्येहि । असावेह्यसावेह्यसावेहि ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे इड़ा नामक गौ ! यहाँ आओ । हे अदिति नामक गौ ! यहाँ आओ । हे सरस्वती नामक गौ ! यहाँ आओ । हे धवल वर्ण की गौ ! यहाँ आओ । हे श्याम वर्ण की गौ ! यहाँ आओ । हे रक्त वर्ण की गौ ! यहाँ आओ ॥२॥

हे इडे मानवि ! एहि आगच्छ। हे अदिते देवमातः ! एहि। हे सरस्वति वाक् ! एहि। अतस्मिंस्तच्छब्दस्तत्सादृश्यार्थः। नाम्ना त्रिरुच्चैराह्वयति—असौ धवलि, असौ स्वस्तिमति एहि। एवं त्रिः, 'अथ गामाह्वयति। जघनेन गार्हपत्यं यन्निड एह्यदित एहि सरस्वत्येहीतीडा हि गौरदितिर्हि गौः सरस्वती हि गौरथोच्चैराह्वयति नाम्नाऽसावेह्यसावेहीति त्रिः' (श० १४।२।१।७) इति श्रुतेः। दैवीभिः संज्ञाभिर्घर्मदुहो गोराह्वानम्। अथ रज्ज्वादानानन्तरं जघनेन गार्हपत्यं यन् गार्हपत्यस्यादूरेण पश्चिमदेशेन गच्छन्नध्वर्युरिड एहीत्यादिभिस्त्रिभिर्वाक्यैरुपांशु गामाह्वयति। इडाऽदितिसरस्वतीशब्दा गोर्वैदिक्यः संज्ञाः। तद् ब्राह्मणं व्याचष्टे—इडा हि गौरदितिर्हि गौरित्यादि। अथ लौकिकेन नाम्ना तस्या आह्वानम्। अथोच्चैराह्वयति

देवनामभिर्मनुष्यनामभिश्च। तस्या आह्वानं तैत्तिरीयारण्यके आम्नातम्—'इड एह्यदिते एहि सरस्वत्येहि। एतानि वै ह्यस्य देवनामानि····असावेह्यसावेह्यसावेहीत्याह। एतानि वै अस्यै मनुष्यनामानि' (तै० आ० ५।७।१)।

अध्यात्मपक्षे— ब्रह्मयज्ञे हे इडे, हे अदिते, हे सरस्वति, एहीति वैदिकीनां गवां वाचां लौकिकीनां च वाचामुपयोगार्थमाह्वानम्, तत्रोभयविधानां वाचामुपयोगदर्शनात्।

दयानन्दस्तु—'हे इडे, त्वं मामेहि योऽसौ त्वां प्राप्नुयात् तमेहि। हे अदिते, त्वमखण्डितानन्दमेहि। योऽसौ त्वामखण्डानन्दं दद्यात् तमेहि। हे सरस्वति ! त्वं विद्वांसमेहि। योऽसौ सुशिक्षकः स्यात् तमेहि' इति, तदपि तुच्छम्, अत्र स्त्रीपुरुषसम्बन्धविधाने प्रमाणाभावात्। श्रुतयश्च तद्विरुद्धा दर्शिता एव॥ २॥

अदित्यै रास्नाऽसीन्द्राण्या उष्णीषः। पूषाऽसि घर्माय दीष्व॥ ३॥

मन्त्रार्थ— हे रज्जुपाश ! तुम गाय की रसना हो, गाय के लिये शिरोवेष्टन हो। हे वत्स ! तुम वायुरूप हो, इस लिये घर्म के लिये थोड़ा दूध छोड़ दो॥ ३॥

'अदित्यै रास्नेति गां पाशेन प्रतिमुच्य स्थूणायां बध्वा पूषाऽसीति वत्समुत्सृजति' (का० श्रौ० २६।५।४) आगतां गामदित्या इति मन्त्रेण पाशेन स्थूणायां बद्ध्वा पूषाऽसीति वत्सं मुञ्चति। हे रज्जुपाश, त्वमदित्यै रास्नासि इन्द्राण्यै इन्द्रपत्न्या उष्णीषः शिरोवेष्टनमसि। एतेन पाशमिन्द्राण्युष्णीषं करोति, 'तामागतामभिदधाति। अदित्यै रास्नासीन्द्राण्या उष्णीष इतीन्द्राणी ह वा इन्द्रस्य प्रिया पत्नी तस्या उष्णीषो विश्वरूपतमः नोऽसीति तदाह तमेवैतमेतत्करोति' (श० १४।२।१।८) इति श्रुतेः। उभयविधैर्नामभिराहूतायास्तस्या बन्धनं विधत्ते। नात्र दयानन्दीयरीत्या आगतायाः स्त्रिया बन्धनं सम्भवति। इन्द्रस्य प्रिया पत्नी इन्द्राणी, तस्या उष्णीषः शिरोवेष्टनम्। विश्वरूपतमोऽतिशयेन सर्वरूपयुक्तः। शुक्लकृष्णपीतादिनानावर्णयुक्तत्वेन चित्रभूत इत्यर्थः। हे रज्जुपाश ! स त्वमसीति। वत्सं मुञ्चति पूषासीति। देव्यनुष्टुप्, वत्सो देवता। त्वं पूषा वायुरसि। वायुर्यथा वृष्टिमाप्याययति, तथा त्वं प्रस्रावणेन जगदुत्पत्तिबीजं पय आप्याययसि, 'अथ वत्समुपार्जति। पूषासीत्ययं वै पूषा योऽयं पवत एष हीद७ सर्वं पुष्यत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।२।१।९) इति श्रुतेः। 'सन्दाय घर्माय दीष्वेति वत्समुन्नयति' (का० श्रौ० २६।५।४)। धेनुं रज्ज्वा पश्चिमपादयोर्बद्ध्वा वत्समपाकरोतीत्यर्थः। दैवी पङ्क्तिः, वत्सो देवता। हे वत्स, घर्माय घर्मार्थं दीष्व देहि पयः, पयः शेषय, मा सर्वं पासीरित्यर्थः। 'दो दाने', 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुक्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोन्नयति। घर्माय दीष्वेत्येष वा अत्र घर्मो रसो भवति यमेषा पिन्वते तस्मै दयस्वेत्येवैतदाह' (श० १४।२।१।१०)। वत्समुत्सृज्य प्रस्तुतायां गवि, अथानन्तरं 'घर्माय दीष्व' इति मन्त्रेणोन्नयति, अधःप्रदेशादुत्कृष्यान्यत्र नयति, पुरतो बध्नातीत्यर्थः। तद्व्याचष्टे—यं पयोरूपं रसं एषा गौः पिन्वते सिञ्चति दुग्धे, एष एव रसोऽत्र मन्त्रे घर्मो घर्मशब्दाभिधेयो भवति। तस्मै रसाय घर्मोपयुक्तं पयः, दयस्व देहि। 'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु'।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रेमरज्जुपाश ! त्वमदित्यै रास्ना मेखलासि। इन्द्राण्या उष्णीषोऽसि। हे ज्ञानयज्ञ, त्वं पूषासि पोषकोऽसि। घर्माय ब्रह्मप्रकाशाय दीष्व देहि, सामर्थ्यमिति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे कन्ये ! या त्वमदित्यै रास्नासि उष्णीष इवेन्द्राण्यै पूषासि, सा त्वं घर्माय दीष्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्। अदित्यै नित्यविज्ञानमित्यपि निर्मूलम्, धात्वर्थविरोधात्। इन्द्राणीपदस्य परमैश्वर्यवती नीतिरिति, तथैवोष्णीषपदस्योष्णीषतुल्यत्वमर्थ इत्यादि च निर्मूलमेव॥ ३॥

अश्विभ्यां पिन्वस्व सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय पिन्वस्व। स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे दूध ! अश्वि-देवताओं के लिये तुम निकलो, वाणी की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी के लिये निकलो, इन्द्र के लिये निकलो। दुहते समय जो दुग्धकण पृथ्वी पर गिरें, उनका होम में विनियोग हो, वे इन्द्र देवता से युक्त हों ॥ ४ ॥

'अश्विभ्यां पिन्वस्वेति पिन्वने दोग्धि' (का० श्रौ० २६।५।६)। पिन्वने पात्रे प्रतिमन्त्रं गां दोग्धीत्यर्थः। अश्विभ्यां पिन्वस्व, इन्द्राय पिन्वस्व यजुर्गायत्र्यौ। सरस्वत्यै पिन्वस्व यजुरनुष्टुप्। लिङ्गोक्ता देवताः। हे पयः ! अश्विभ्यामर्थाय त्वं पिन्वस्व संप्लवस्व, सरस्वत्यै च पिन्वस्व। 'अथ पिन्वने पिन्वयति।''' अश्विनौ वा एतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तावेवैतत्प्रीणाति' (श० १४।२।१।११)। यज्ञस्य एतत् शिरश्छिन्नं शिरः, अश्विनौ खलु देवौ पुरो प्रत्यधत्तां सन्धानं कृतवन्तौ। सरस्वत्या वाचा कृत्वा इन्द्राय यज्ञशिरोऽश्विभ्यां संहितमिति तयोरर्थे क्षरस्वेति भावः। 'स्वाहेन्द्रवदिति विप्रुषोऽभिमन्त्रयते' (का० श्रौ० २६।५।७)। पिन्वनपतितान् पयःकणान् अभिमन्त्रयते। यजुर्जगती, विप्रुषो देवताः। यद् दुह्यमाने स्कन्नं तत् स्वाहा सुहुतमस्तु, इन्द्रवद् इन्द्रसम्पृक्तं चास्तु। 'सरस्वत्यै पिन्वस्वेति। वाग् वै सरस्वती वाचा वा एतदश्विनौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तावेवैतत्प्रीणाति' (श० १४।२।१।१२)। सरस्वतीशब्देनात्र वागुच्यते। अश्विनौ हि वाचा मन्त्ररूपया खलु पुरो यज्ञस्यैतच्छिरः प्रत्यधत्ताम्। अतो यज्ञशिरःसन्धानसाधनभूतां वाचमेतेन मन्त्रेण प्रीणाति। 'इन्द्राय पिन्वस्वेति। इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सा यैव यज्ञस्य देवता तयैवैतदश्विनौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्' (श० १४।२।१।१३)। इन्द्रः खलु यज्ञस्य सोमयागस्य प्रधानभूता देवता, कात्स्न्र्येन माध्यन्दिनसवनभाक्त्वात्। तद्धि यज्ञस्य शरीरम्, गृहस्य पृष्ठवंशस्थानीयैः पृष्ठस्तोत्रैरुपेतत्वात्। सा तादृशी यैव यज्ञस्य देवता, तयैव साधनभूतया अश्विनौ यज्ञस्यैतच्छिरः प्रत्यधताम्। 'अथ विप्रुषोऽभिमन्त्रयते।''' स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवदितीन्द्रो''' त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञोऽवरुँ स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः' (श० १४।२।१।१४)। विप्रुषो दोहनसमयोत्पन्नान् बिन्दूनभिमन्त्रयते। सवनत्रयवत्त्वेन गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निभिर्यज्ञस्य त्रिवृत्त्वमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे विचारपीयूष ! त्वमश्विभ्यां तद्वद् गुरुशिष्याभ्यां पिन्वस्व प्लावयस्व। सरस्वत्यै वाचे वेदान्तरूपायै पिन्वस्व। इन्द्राय परमेश्वराय च पिन्वस्व। यद् दुह्यमानं पतितं विचारामृतम्, तदिन्द्राय स्वाहा सुहुतमस्तु, सर्वस्वं समर्पितमस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे विदुषि स्त्रि ! त्वमिन्द्रवत् स्वाहा सत्यया क्रिययाऽश्विभ्यां चन्द्रसूर्याभ्यां पिन्वस्व तृप्नुहि। इन्द्रवत् स्वाहा सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय स्वाहेन्द्राय पिन्वस्य' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्। पिन्वस्वेत्यस्य तृप्नुहि सन्तुष्यतु, सन्तुष्टा भवेत्यर्थस्य चिन्त्यत्वात्। इन्द्रपदस्य ऐश्वर्यवद्वस्तुचेतनात्मगुणसंयुक्तं शरीरं प्राप्येत्यादिकं च निर्मूलमेव। श्रुतिषु प्रसिद्धरूढार्थस्य बाध एव यौगिकार्थो गृह्यते। यौगिकार्थस्याऽपि बाधे लाक्षणिको गौणोऽर्थो गृह्यते। शब्दस्यानेकार्थत्वे तूपपन्नोऽर्थो गृह्यते, यथा 'अथ'शब्दस्य 'अथैष ज्योतिः', 'अथ शब्दानुशासनम्' (महाभाष्यारम्भे पतञ्जलिः) इत्यादावधिकारार्थत्वेऽपि, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इत्यत्रानन्तर्यार्थ एव गृह्यते, जिज्ञासायाः कृत्यविषयत्वेनानधिकार्यत्वात्, अप्रस्तूयमानत्वाच्च। न चेह मङ्गलमथशब्दस्य वाच्यं लक्ष्यं वा, किन्तु मृदङ्गादिध्वनिवदथशब्दश्रवणमात्रं कार्यम्। न च कार्यज्ञाप्ययोर्वाक्यार्थे समन्वयः, न च प्रकृतापेक्षोऽथशब्दार्थः।

यथा किमयमथशब्द आनन्तर्यार्थः, अथाधिकार इति विमर्शवाक्ये पूर्वप्रकृतस्य प्रथमपक्षोपन्यासपूर्वकं पक्षान्तरोपन्यासो भवति। न चास्यानन्तर्यमर्थः, पूर्वप्रकृतस्य प्रथमपक्षोपन्यासेन व्यवधानात्। न च पूर्वप्रकृतानपेक्षा, तदनपेक्षस्य तद्विषयत्वाभावेनाऽसमानविषयतया विकल्पानुपपत्तेरिति। यद्यप्यानन्तर्यं विनापि पूर्वप्रकृतापेक्षोऽथशब्दो भवति, तथापि ब्रह्मजिज्ञासाहेतुभूतस्य पूर्वप्रकृतस्य ग्रहणे आनन्तर्याव्यतिरिक्तार्थतयैव, अहेतुभूतस्य यस्य कस्यचित्प्रकृतस्य ग्रहणे तु नैरर्थक्यमेवास्य। अत एवानन्तर्यमपि न यस्य कस्यचित्, तस्याभिधानमन्तरेणापि प्राप्तत्वात्। अवश्यं हि जनः किञ्चित् कृत्वा किञ्चित् करोति। तस्माद्यद्विना ब्रह्मजिज्ञासा नोपपद्यते, यस्मिन् सति भवन्ती भवत्येतस्य साधनचतुष्टयस्यैवानन्तर्यं विवक्षितं भवति। न चैवमत्र पिन्वस्वेत्यस्यानेकार्थता, नापि मुख्यार्थबाधो दृश्यते, नापि लाक्षणिकोऽर्थः, बीजाभावात्। तस्मात् सर्वमेतद् यत्किञ्चिदेव ॥ ४ ॥

यस्ते॒ स्तनः॑ शश॒यो यो म॑यो॒भूर्यो र॑त्न॒धा व॑सु॒विद्यः सु॒दत्रः॑। येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वेऽकः। उ॒र्व॒न्तरि॑क्ष॒मन्वे॑मि ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे गाय! जो तुम्हारा स्तन सुख से शयन कराने वाला है, सुखदायक है, जो स्तन घृत आदि का धारक होने से धनवान् है, जो स्तन श्रेष्ठ दाता है, जिस स्तनसमूह से सब वरणयोग्य वस्तुओं को तुम पुष्ट करती हो, उस स्तनसमूह को इस यज्ञ में पान के अर्थ दान करो। मैं विशाल अन्तरिक्ष में विचरण करता हूँ ॥ ५ ॥

'यस्ते स्तन इति स्तनमालभते' (का० श्रौ० २६।५।८)। यस्ते स्तन इति मन्त्रेण गोस्तनमालभते। जातावेकवचनम्। वाग्देवत्या त्रिष्टुप्, दीर्घतमस आर्षम्। हे सरस्वति! तं स्तनमिह स्थाने धातवे पातुं पानार्थमकः कुरु। 'धेट् पाने', तुमर्थे तवेप्रत्ययः। मम पानाय प्रयच्छेत्यर्थः। लोडर्थे लङ्, शपि लुप्ते गुणः। तं कम्? यस्ते तव स्तनः स्तन इव स्तनः, यश्च शशयः 'शीङ् स्वप्ने', शेत इति शशयः, अच्प्रत्यये द्वित्वं पूर्वस्यात्वं च छान्दसम्, सुप्त इवास्ते, अन्यैरनुपभुक्त इत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथास्यै स्तनमभिपद्यते।····यस्ते स्तनो निहितो गुहायामित्येवैतदाह' (श० १४।२।१।१५)। हे घर्म! धुक् धेनो, ते तव स्तनं गुहायामस्माभिरदृश्ये दिव्येऽवस्थाने निहितो निक्षिप्तो बभूवेति, यश्च मयोभूः, मयः सुखं भावयति प्रापयति सर्वभूतानामिति मयोभूः, यश्च रत्नधाः, रमणीयानां धनानां धारयिता, यश्च वसुवित्, वसूनि धनानि विन्दति वेत्ति वा वसुवित्, यश्च सुदत्रः सुष्ठु ददातीति कल्याणदानः, धनवानपि सन् कश्चिन्नोत्सहते दातुम्, त्वं तु धनवान् दाता चेत्यन्येभ्य आधिक्यम्। किञ्च, येन स्तनेन विश्वा विश्वानि सर्वाणि वार्याणि वरणीयानि वस्तूनि त्वं पुष्यसि पुष्णासि। हे सरस्वति! तं स्तनमिह धातवेऽस्माकं पानाय, अकः कुरु। 'उपद्रव पयसेत्युच्यमाने गच्छत्युर्वन्तरिक्षमिति' (का० श्रौ० २६।५।१२)। उपद्रवेति मन्त्रे प्रोच्यमाने उर्विति मन्त्रेणाध्वर्युर्गोसमीपं गार्हपत्यं प्रति गच्छति। प्राजापत्या गायत्री। उरु विशालमन्तरिक्षमनु एमि गच्छामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्र इति यो धनानां दाता····येन सर्वान् देवान् सर्वाणि भूतानि बिभर्षीत्येवैतदाह····वाग्वै सरस्वती सैषा घर्मदुघा यज्ञो वै वाग् यज्ञमस्मभ्यं प्रयच्छ येन देवान् प्रीणामेत्येवैतदाहाथ गार्हपत्यस्यार्धमैत्युर्वन्तरिक्षमन्वेमीति' (श० १४।२।१।१५)। हे घर्मधुग् धेनो! तव स्तनोऽस्माभिरदृश्ये दिव्ये स्थाने निहितो बभूव। यश्च रत्नधा रमणीयानां धनानां धारयिता। वसुविद् वसूनां कनकरजतादीनां

वेदिता लम्भयिता, यः सुदत्रः शोभनो दाता, अत एव पणाय्यः स्तुत्यः। एवंगुणविशिष्ट एव लोके स्तूयते। येन खलु स्तनेन सर्वान् देवान् हविर्भागार्हान्, सर्वाणि च भूतानि पशुपक्षिमृगमनुष्यादीनि बिभर्षि पोषयसि। सरस्वती वागात्मिका, न तु नदीरूपा। सैव सरस्वती एषा कामदुघा घर्मदुघा घर्मार्थस्य पयसो दोग्ध्री धेनुः। सरस्वत्येहीत्याह्वानम्, मन्त्रे तस्यास्तादात्म्यप्रतिपादनात्। सा च वाक् यज्ञः, 'यज्ञो वै वाक्' इत्यत्रैवोक्तेः। यज्ञ एव स्तुतिशस्त्रादिरूपया तयैव निष्पाद्यत्वात्। अतो यज्ञमस्मभ्यं प्रयच्छ, येन खलु वयं देवान् हविर्भुजः प्रीणाम तर्पयाम। यद्यपि हे सरस्वति ! तथाविधं स्तनम्, इहास्मिँल्लोके धातवे पातुम्, अकः कुर्विति मन्त्रार्थः प्रतीयते, तथापि सरस्वतीशब्दसूचितोऽर्थो ब्राह्मणेन व्याख्यायत इति मन्तव्यम्।

अध्यात्मपक्षे—हे सरस्वति ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्रि ! चित्सदानन्दमयि मातः ! यस्ते स्तनः शशयः सुप्तो दिव्ये धाम्नि विराजितत्वाद् दुर्ज्ञेयोऽन्यैरपीत्यभिप्रायः। यो मयोभूः सुखानां प्रापकः, यश्च रत्नधा रमणीयानां धनानां धारयिता, वसुवित् कनकरत्नादीनां लम्भयिता, यश्च सुदत्रः शोभनो दाता। येन विश्वा विश्वानि सर्वाणि वार्याणि वरणीयानि पशुपक्षिमृगमनुष्यदेवादीनि पुष्यसि पुष्णासि, तमिह धातवे पातुमकः कुरु। तत्र विघ्नो मा भूदित्यहं उरु विशालं त्वत्कृपापूर्णमन्तरिक्षमनुगच्छामि।

दयानन्दस्तु—'हे सरस्वति स्त्रि ! यस्ते शशयः स्तनः, यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रो येन विश्वा वार्याणि पुष्यसि, तमिह धातवेऽकः, तेनाहमुर्वन्तरिक्षमन्वेमि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शेते यस्मिन् यः स इत्यनुपपत्तेः, स्तनस्य शयनाधारत्वासिद्धेः, श्रुतिविरोधाच्च। श्रुतौ हि स्पष्टं गुहाहितत्वेन शशयत्वमुक्तम्। न च तत्सामान्ययोषिति सम्भवति, न च सामान्यस्त्रीजनस्य स्तनो रत्नानि धारयति, न वा वसूनि लम्भयति, न च तेन कश्चिद् विश्वानि वार्याणि पुष्यति॥ ५॥

गायत्रं छन्दोऽसि त्रैष्टुभं छन्दोऽसि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परि गृह्णाम्यन्तरिक्षेणोप यच्छामि। इन्द्राश्विना मधुनः सारघस्य घर्मं पात वसवो यजत वाट्। स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये॥ ६॥

मन्त्रार्थ—हे परीशास ! तुम गायत्री छन्द के रूप हो, त्रिष्टुप् छन्द के रूप हो। हे महावीर ! पृथ्वी और स्वर्ग की प्रीति के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे घर्म ! आकाश में तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे इन्द्र, हे अश्विनीकुमारों, हे वसुदेवताओं ! मधु-मक्षिकाओं के द्वारा सम्पादित मधु के समान मधुर रस वाले दूध के रस का पान करो। वषट्कार द्वारा श्रेष्ठ होम हो, सूर्य की वर्षा कराने वाली किरणों के लिये यजन करो॥ ६॥

'परीशासावादत्ते गायत्रं छन्दोऽसीति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।५।१३)। गायत्रमित्यादिमन्त्राभ्यां परीशासौ गृह्णातीत्यर्थः। यजुर्गायत्र्यौ परीशासौ देवते। हे परीशास ! त्वं गायत्रं छन्दोऽसि। गायत्र्येव गायत्रम्, स्वार्थेऽण्, गायत्रीच्छन्दरूपोऽसि। हे द्वितीय परीशास। त्वं त्रैष्टुभम्, त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभम्, त्रिष्टुप्छन्दोरूपोऽसि। 'ताभ्यां महावीरं परिगृह्णाति द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिगृह्णामीति' (का० २६।५।१५)। ताभ्यां परीशासाभ्यां महावीरमादत्त इत्यर्थः। यजुर्जगती महावीरो देवता। हे महावीर ! द्यावापृथिवीभ्यां द्युलोकभूलोकाभ्यां त्वा त्वां परिगृह्णामि। परीशासयोर्द्यौश्च पृथिवी चाध्यस्ते, महावीरे चादित्योऽध्यस्तः।

अत्र ब्राह्मणम्—अथ शफावादत्ते। गायत्रं छन्दोऽसि त्रैष्टुभं छन्दोऽसीति गायत्रेण चैवैनावेतत् त्रैष्टुभेन च च्छन्दसाऽऽदत्ते द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिगृह्णामीतीमे वै द्यावापृथिवी परीशासावादित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति' (श० १४।२।१।१६)। अथैतस्य महावीरस्य ग्रहणसाधनयोः शफयोः

(परीशासयोः) उपादानविधानम् । गायत्रेण छन्दसा चतुर्विंशाक्षरेण, त्रैष्टुभेन छन्दसा चतुश्चत्वारिंशदक्षरेण, आभ्यां छन्दोभ्यामादानं कृतवान् भवति । परीशासौ परितः शासकौ शफौ । इमे खलु द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ । प्रवर्ग्यो महावीरः खल्वादित्यः । तस्मात् शफाभ्यां महावीरस्य ग्रहणेन अमुमादित्यमाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति । तस्मादनेन मन्त्रेण शफाभ्यां महावीरं गृह्णीयादिति विधिरुन्नेयः । 'उद्यम्य मुञ्जवेदेनोपमृज्योपयमन्योपगृह्णात्यन्तरिक्षेणोपयच्छामीति' (का० श्रौ० २६।५।१६) । परीशासगृहीतं महावीरं भूमेरुत्थाप्योपमृज्य मुञ्जकृतेन वेदेन संमार्ज्य 'मौञ्जेन वेदेनोपमार्ष्टि' (शत० १४।२।१।१६) इति श्रुतेः, उपयमनीं स्रुचं घर्मस्याधस्ताद् धारयति मन्त्रेण । हे घर्म ! अन्तरिक्षेणाकाशेनोदरेण वा त्वामुपयच्छामि निगृह्णामि । अत्रोपयमन्यन्तरिक्षत्वेनोदरत्वेन च स्तूयते ।

'अथोपयमन्योपगृह्णाति । अन्तरिक्षेणोपयच्छामीत्यन्तरिक्षं वा उपयमन्यन्तरिक्षेण हीदꣳ सर्वमन्नाद्यमुपयतं तस्मादाहान्तरिक्षेणोपयच्छामीति' (श० १४।२।१।१७) । अथोपयमन्या स्रुचा महावीराधोभागस्य परिग्रहणं विधत्ते । उपयमनसाधनभूतया औदुम्बर्या स्रुचा उपगृह्णात्यधस्ताद्धारयति । अन्तरिक्षं द्यावापृथिव्योरन्तरालवर्ती लोकः । तद्रूपा खल्वेषा उपयमनी । इदं सर्वमन्तरिक्षेणाकाशेनैवोपयतं सर्वतो धृतम् । तेनान्तरिक्षोपयमन्योः परस्परात्मता । अथो अपि च, उदरात्मिका खलु उपयमनी, हि यस्माद् उदरेण इदं सर्वं भुक्तं सर्वमन्नाद्यमन्नपानादिकमुपयतं धृतम्, तस्मादन्तरिक्षोदरात्मिकयोपयमन्या महावीरमधस्ताद्धारयेत् ।

'अजापयसाऽवसिच्य शान्ते गोः पयोऽवनयतीन्द्राश्विनेति' (का० श्रौ० २६।५।१७) । अजादुग्धेन महावीरं तूष्णीं सिक्त्वा शान्ते क्षीणज्वाले तत्र गोपयः सिञ्चेत् । ब्राह्मी गायत्री विश्वेदेवा देवताः । हे इन्द्र, हे अश्विनौ, हे वसवो वासयितारः ! यूयं मधुनो मधुरस्य पयसो घर्मं रसं पात पिबत । पिबादेशाभावश्छान्दसः । कथम्भूतस्य मधुनः ? सारघस्य । 'सरघा मधुमक्षिका' (अ० को० २।५।६) । अत्र सरघा मधुकृतो भ्रमरा इव ऋत्विजः, तैः कृतं सारघम्, तस्य तादृशस्य घर्मस्य रसं पिबतेति । 'अथाऽजाक्षीरमानयति । तप्तो वा एष शुशुचानो भवति तमेवैतच्छमयति तस्मिञ्छान्ते गोक्षीरमानयति' (श० १४।२।१।१८) । एवं स्थिते प्रवर्ग्येऽजापयसः सेचनं विधत्ते । दोहनकाले तूष्णीं दुग्धमजायाः क्षीरं तूष्णीमानयति प्रतिप्रस्थाता । किमर्थमिति चेत्तत्राह—एष प्रवर्ग्योऽग्निना सन्तप्तः, शुशुचानोऽत्यर्थं दीप्यमानो दुरासदो भवति, अतस्तमेतेनाजापयसा शमयति । अथ गोपयसः समन्त्रकमासेचनं विधत्ते—'इन्द्राश्विना' इति मन्त्रेण गोक्षीरमानयति, सिञ्चतीत्यर्थः । 'मधुनः सारघस्येति । एतद्वै मधु सारघं घर्मं पातेति' (श० १४।२।१।२०) । 'घृ क्षरणदीप्त्योः' इति धातुसिद्धस्य घर्मशब्दस्यावयवप्रसिद्ध्या रसोऽर्थः, 'रसं पातेत्येवैतदाह वसव इत्येते वै वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते' (श० १४।२।१।२०) इति श्रुतेः ।

किञ्च, हे इन्द्रादयः ! वाट् वषट्कारेण स्वाहा सुष्ठु हुतं सारघं मधु सूर्यस्य रश्मये किरणाय यूयं यजत दत्त । यजतिरत्र दानार्थः । कीदृशाय रश्मये ? वृष्टिवनये, वृष्टिं वनति ददातीति वृष्टिवनिस्तस्मै, 'वाडिति तद्यथा वषट्कृतꣳ हुतमेवमस्यैतद् भवति' (श० १४।२।१।२०) इति श्रुतेः । हि यस्मात्, इदं सर्वं जगद् इन्द्रश्च अश्विनौ च एते देवा वासयन्ते प्रवर्षणप्रकारादिना स्वे स्वे कर्मणि निवेशयन्ति, तस्मादेते वसवः खलु । यद्वा वसवो गणशो विद्यमाना अन्ये देवाः । हे ऋत्विजः, यूयं देवान् यजत । तत्र च साक्षाद् वषट्कारेण दत्तं हविर्यथा हुतं भवति, एवं वाडिति परोक्षवषट्कारेणापि दत्तं हविर्हुतमेव भवतीत्यर्थः । ततो वाट्शब्देन पारोक्ष्येण वषट्कारो निर्दिश्यते । तथा तैत्तिरीयकेऽस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे—'यदि वषट् कुर्याद् यातयामस्य' इत्यादिप्रत्यक्षवषट्कारं पूर्वपक्षीकृत्य 'वाडित्याह परोक्षमेव वषट्करोति' (तै० आ० ५।६) इति सिद्धान्तितमिति सायणाचार्याः ।

'स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनय इति। सूर्यस्य ह वा एको रश्मिर्वृष्टिवनिर्नाम येनेमाः सर्वाः प्रजा बिभर्ति तमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये' (श० १४।२।१।२१) इति श्रुत्यनुसारं सूर्यस्य खलु रश्मीनां मध्ये एको रश्मिर्वृष्टिवनिः, वृष्टेर्वर्षस्य वनिता संभक्ता दाता। नामशब्दः प्रसिद्धार्थकः। येन वृष्टिप्रदानसमर्थेन रश्मिना इमाः सर्वाः प्रजा बिभर्ति पोषयति, तमेव रश्मिमेतेन स्वाहा सूर्यस्येति मन्त्रशेषेण प्रीणाति तर्पयति।

अध्यात्मपक्षे—हे महावीर ज्ञानयज्ञ! द्यावापृथिवीरूपाभ्यां पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां गायत्रीत्रिष्टुप्छन्दोभ्यां त्वां परिगृह्णामि। अन्तरिक्षेण हृदयाकाशेन त्वामुपयच्छामि। इन्द्र अश्विनौ वसवश्च सारघस्य, सरघारूपा विद्वांसस्तैः शास्त्रपुष्पेभ्यो गृहीतं मधु सारघं भवति, 'अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः। सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥' इत्युक्तेः, तस्य घर्मं रसं ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपं पात पिबत। वाट् परोक्ष-वषट्कारेण स्वाहा सुष्ठु हुतं सारघं मधु सूर्यस्य परमात्मनो रश्मये पोषकशक्तये यजत दत्त। कीदृशाय रश्मये? वृष्टिवनये रसवृष्टेः सम्भक्त्रे दात्रे। ऐश्वर्यवान् ज्ञानयज्ञस्य योजक इन्द्रः, आरोग्यस्वास्थ्यरक्षका-अश्विनौ, वासयितारो वसवः।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र! यथा त्वं गायत्रं छन्द इव हृद्यां स्त्रियं प्राप्तवानसि, त्रैष्टुभं छन्द इव प्रशंसितां लब्धवानसि।····तथाहि—त्वां दृष्ट्वा द्यावापृथिवीभ्यां प्रियां स्त्रियं परिगृह्णामि, अन्तरिक्षेणोपयच्छामि। हे अश्विनौ स्त्रीपुरुषौ, युवां तथैव वर्तेयाथाम्। हे वसवः, यूयं स्वाहा मधुनः सारघस्य घर्मं यज्ञं पात। सूर्यस्य वृष्टिवनये रश्मये वाट् यजत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाश्रयणात्। नहि मूले स्त्रीपदमपि श्रूयते। घर्मं यज्ञं पातेत्यप्यसंगतम्, रसं पातेति श्रुतिव्याख्यानविरोधात्।

वाक्यशेषबलादपि क्वचिदर्थान्तरमाश्रीयते। यथा 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' (छा० ८।१।१) इत्यादिवाक्यं समाम्नायते। तत्र योऽयं दहरे हृदयपुण्डरीके दहराकाशः श्रुतः, स किं भूताकाशः? अथवा विज्ञानात्मा, अथवा परमात्मेति संशय्यते। संशयश्चाकाशब्रह्मपुरशब्दाभ्याम्। आकाशब्दो भूताकाशे प्रसिद्धः, क्वचिच्च 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० १।१।२२) इति न्यायेन ब्रह्मण्यपि प्रयुक्तः। ब्रह्मपुरमित्यत्र ब्रह्मपदं यद्यपि ब्रह्मण्येव मुख्यम्, तथापि 'असाधारण्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायेन यथा क्षितिजलपवनबीजादिसामग्री-समवधानजन्याङ्कुरः शालिबीजत्वेन व्यपदिश्यते शाल्यङ्कुर इति, न तु क्षित्यादिभिः, तेषां कार्यान्तरेष्व-साधारण्यात्, तथैव शरीरं ब्रह्मविकारोऽपि न ब्रह्मणा व्यपदेष्टव्यम्, ब्रह्मणः सर्वविकारकारणत्वेनाति-साधारण्याद् जीवभेदधर्माधर्मोपार्जितं तदित्यसाधारणकारणत्वाज्जीवेन व्यपदिश्यत इति युक्तमिति बहुधा पूर्वपक्षय्य, उत्तरेभ्यो वाक्यशेषेभ्यो ब्रह्मैव दहराकाश इति निर्धारितम्। तथाहि—भूताकाशस्य न तावद्दहरत्वम्, 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (छा० उ० ८।१।३) इत्युपमानविरोधात्। नहि तेन तस्योपमेयत्वम्। रामरावणयुद्धे त्वगत्या भेदमारोप्याभेदेऽप्युपमेयत्वमुक्तम्। दहराकाशस्य ब्रह्मत्वे तु भूताकाशाद् भेदेनोपमानस्य गतिः। न चानवच्छिन्नपरिमाणमवच्छिन्नं भवति, तथा सत्यनवच्छेदानुपपत्तेः। न च भूताकाशमानत्वमपि ब्रह्मणः, 'ज्यायानाकाशात्' (श० १०।६।३।२) इति श्रुतिविरोधात्। भूताकाशोपमानेन तु पुण्डरीकोपाधिप्राप्तं दहरत्वं निवर्तते।

नापि दहराकाशो जीवः। ननु ब्रह्मपुरमिति शरीरस्य जीवपुरत्वमेव सम्भवति, न परमेश्वरपुरत्वमित्य-साधारण्यस्योक्तत्वादिति चेन्न, ब्रह्मोपलब्धेरधिष्ठानत्वेन देहस्य ब्रह्मपुरत्वसम्भवात्। न तु ब्रह्मविकारतया ब्रह्मपुरमिति व्यपदिश्यते, येनाकाशादिभिः साधारण्यं स्यात्। देह एव ब्रह्मण उपलब्धेरसाधारण्येन शरीरस्य

ब्रह्मणा व्यपदेशसम्भवात् । कथञ्चिद्देहस्य जीवपुरत्वेऽपि यथा वत्सराजस्य पुरे उज्जयिन्यां मैत्रस्य वेश्म सम्भवति, तथैव जीवस्य पुरे हृत्पुण्डरीकं ब्रह्मसदनं सम्भवति, उत्तरेभ्यो ब्रह्मलिङ्गेभ्यो ब्रह्मणोऽवधारणात् । ब्रह्मणो हि बाधके प्रमाणे बलीयसि जीवस्य च साधके प्रमाणे सत्येव ब्रह्मलिङ्गानि कथञ्चिदभेदविवक्षया जीवे व्याख्यातुं शक्यन्ते, नान्यथा । 'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा० उ० ८।१।५) इत्यादयो वाक्यशेषा न भूताकाशे न वा जीवे उपपद्यन्ते । 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्, तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति (छा० उ० ७।२५।२) । आचार्येण हि 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्' (छा० उ० ८।१।१) इत्युपदिष्टेऽन्तेवासिनाऽऽक्षिप्यते—किं तद् यदन्वेष्टव्यमित्याकाशोपमानेन तस्य परिच्छेदं परिहृत्य उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी समाहिते (छा० उ० ८।१।३) । नन्वेवमपि द्यावापृथिव्यावेवान्वेष्टव्ये स्याताम्, नाकाश इति चेन्न, दहराकाशात्मवेदनस्य फलवत्त्वेन द्यावापृथिव्योर्ज्ञानस्याफलत्वात्, 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' इति न्यायात् ताभ्यामप्यात्मन एव लिलक्षयिषितत्वात् । अत एव 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० उ० ८।१।५) इत्यत्र 'एष' इत्यनेन द्यावापृथिव्यादि-समाधानाधारमाकाशं द्यावापृथिव्यभिधानव्यवहितमप्याकृष्य तस्यैवापहतपाप्मत्वादिकमुक्तम् । एष इत्येकवचनान्तं न द्वे द्यावापृथिव्यौ परामृष्टुमर्हतीति दहराकाश एव परामृष्टव्यः । तदनेन क्रमेण 'तस्मिन् यदन्तः' (छा० उ० ८।१।१) इत्यत्रापि तच्छब्देनानन्तरमप्याकाशमतिलङ्घ्य हृत्पुण्डरीकं परामृशति । तेन तस्मिन् हृदयपुण्डरीके यदन्तराकाशं तदन्वेष्टव्यमित्यर्थः प्रतिफलति । न चैवं प्रकृतमन्त्रे कश्चन हेतुर्विद्यते, येन प्रकृतातिरिक्तायाः स्त्रिया उपादानं स्यात् । तस्माद् व्यर्थमेव श्रुतहान्यश्रुतकल्पनमिति ॥ ६ ॥

समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा सरिराय त्वा वाताय स्वाहा । अनाधृष्याय त्वा वाताय स्वाहाऽप्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा । अवस्यवे त्वा वाताय स्वाहाऽशिमिदाय त्वा वाताय स्वाहा ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! प्राणियों के गतिदाता वायु के निमित्त तुम्हारी आहुति देता हूँ । सिद्धार्थ प्राणी जिसकी सहायता से चेष्टा करते हैं, उस वायु के निमित्त तुम्हारी आहुति देता हूँ । अधृष्य वायु के लिये, अजेय वायु के लिये, रक्षणशील वायु के लिये और क्लेश के निवारक वायु के लिये तुम्हारी आहुति देता हूँ ॥ ७ ॥

'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिरित्युच्यमाने समुद्राय त्वेति वातनामानि जपति गच्छन्नाहवनीयम्' (का० श्रौ० २६।६।१) । प्रैत्विति होत्रोच्यमाने आहवनीयं प्रति गच्छन्नध्वर्युः समुद्रायेत्यादीनि द्वादश वातनामानि स्वरेण जपतीत्यर्थः । द्वादश यजूंषि वातनामदेवत्यानि । हे घर्म, त्वा त्वाम्, वाताय देवाय स्वाहा जुहोमि । कीदृशाय वाताय ? समुद्राय । समुद्रवन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मात् स समुद्रस्तस्मै, 'स यत्रैताँ होताऽन्वाह । प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृतेति तदध्वर्युः प्राङुदायन् वातनामानि जुहोत्येतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इममन्तरा रक्षाँसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तमेतत्पुरैवाहवनीयात् स्वाहाकारेणाजुहवुस्तँ हुतमेव सन्तमग्नावजुहवुस्तथो एवैनमेष एतत्पुरैवाहवनीयात् स्वाहाकारेण जुहोति… ' (श० १४।२।२।१) इत्येवं हि शातपथश्रुतौ साज्ये महावीरे पयोऽवनयनेन प्रवृञ्जनमुक्तम् । अथ तेन हविषां प्रचार उच्यते । तत्रादौ वातमन्त्राणां जपं विधत्ते—स यत्रैतानिति । यस्मिन् काले स होता 'प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः' इत्येतामृचमन्वाह, तत्र तस्मिन् समयेऽध्वर्युः शफाभ्यां महावीरं धृत्वा प्राङुदायन् आहवनीयं प्रति प्राङ्मुखो गच्छन् 'समुद्राय त्वा' इत्यादीनि वातनामानि यजूंषि जुहोति ।

तदेतदाख्यायिकयोपपादितम्—'समुद्राय त्वा वाताय स्वाहेति। अयं वै समुद्रो योऽयं पवत एतस्माद् वै समुद्रात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि समुद्द्रवन्ति तस्मा एवैनं जुहोति तस्मादाह समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा' (श० १४।२।२।२)। ननु कथमेतेषां वातनामत्वम्, समुद्रादिशब्दानां रूढ्याऽर्थान्तराभिधायकत्वादित्याशङ्क्य सर्वेषां वातपरत्वं दर्शयति—योऽयं पवते सततं गच्छति, अयं वै समुद्रः। कस्मादसौ समुद्र इति चेदुच्यते—एतस्मात् समुद्रशब्दवाच्याद् वायोः सकाशात् सर्वे देवाः सर्वाणि चेमानि भूतानि समुद्द्रवन्ति सम्यगुद्गच्छन्ति, समष्टिलिङ्गशरीरभूतप्राणवाय्वधीनत्वात् सर्वदेवानाम्, 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्, वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि' (श० १४।६।७।६) इति श्रुतेः। अतः समुद्रवत् सर्वाश्रयः समुद्रशब्देन वायुरेवोच्यते।

सरिराय, सह ईरते यच्छन्ति सर्वभूतानि सिद्धार्थानि यस्मात्, तस्मै सरिराय वाताय त्वां जुहोमि, 'अयं वै सरिरो योऽयं पवत एतस्माद् वै सरिरात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि....' (श० १४।२।२।३) इति श्रुतेः। मन्त्रे सरणशीलत्वात्, श्रुतिस्तु सहेरणात् सरिर इति वातस्य संज्ञां निर्वक्ति। अग्न्यादीनि सर्वाणि भूतजातानि सहितानि चेष्टन्ते यस्मात् स सरिरो वायुरित्यर्थः। आधर्षितुमशक्याय अप्रतिधृष्याय पराभवितुमशक्याय वाताय त्वां हे घर्म, जुहोमि। अवस्यवे, अवो रक्षणमिच्छत्यवश्यति, अवश्यतीत्यवस्युः, अवनशीलाय वाताय त्वां हे घर्म ! जुहोमि। अशिमिदाय, क्लेशात्मकं कर्म शिमि, तन्न ददातीत्यशिमिदस्तस्मै क्लेशनिवर्तकाय अनाधृष्याय वाताय स्वाहा। 'अयं वा अनाधृष्योऽप्रतिधृष्यो योऽयं पवते तस्मा एवैनं जुहोति' (श० १४।२।२।४)। आधर्षितुं स्प्रष्टुमशक्यः। प्रतिधर्षणं प्रतिकूलाचरणम्। कश्चिद् वायुमाधर्षितुं प्रतिधर्षितुं न शक्नोतीत्यनाधृष्याय वाताय त्वां हे घर्म जुहोमीति। 'अवस्यवे त्वा वाताय स्वाहा। अयं वा अवस्युरशिमिदो योऽयं पवते' (श० १४।२।२।५)। अवस्युरवनेच्छुः, प्राणभावमापन्नस्य वायोस्तदिच्छोरन्नाद्यं तत्राम्नायते—'अथात्मनेऽन्नाद्यमागायत्' (श० १४।४।१।१८)। तथाऽयमेवाऽशिमिदोऽशनं न प्राप्तः, सदाचरणशील इत्यर्थः। यद्वा शिमीति क्लेशात्मकं कर्म, तद् ददातीति शिमिदः, तद्भिन्नोऽशिमिदः। तस्मादेतौ शब्दौ व्युत्पत्त्या वायोर्नामिनी इति।

अध्यात्मपक्षे—समुद्राय सर्वाणि भूतान्युपद्रवन्ति यस्मात्तस्मै परमात्मने, वाताय वान्ति गच्छन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मात्तस्मै परमात्मने, हे घर्म ! ज्ञानयज्ञ, त्वा जुहोमि समर्पयामि। सरिराय सरन्ति चलन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मात्, चेतनानधिष्ठितानां रथादीनां सरणादर्शनात्। अनाधृष्याय अप्रधृष्याय परमात्मने वाताय, अवस्यवे अवोऽवनम् इच्छतीति तस्मै अवनशीलाय। अशिमिदाय अक्लेशदाय सुखदाय परमात्मने वाताय हे घर्म, त्वां जुहोमि।

दयानन्दस्तु--'हे स्त्रि पुरुष वा ! अहं स्वाहा समुद्राय वाताय त्वा स्वाहा, सरिराय वाताय त्वा स्वाहा, अनाधृष्याय वाताय त्वा स्वाहा, अप्रतिधृष्याय वाताय त्वा स्वाहा, अवस्यवे वाताय त्वा स्वाहा, अशिमिदाय वाताय त्वोपयच्छामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शतपथश्रुतिविरोधात्। श्रुतयस्तु सिद्धान्तव्याख्याने प्रदर्शिता एव। 'स्वाहा सत्यश्रिये' इत्यपि निर्मूलमेव। वाताय, वातशब्दस्य वातविद्यायां लक्षणा, तस्या अपि लक्षणा वायुशोधने। हिन्द्यां तु वायुविद्याया वायोर्वा शोधनायेति व्याख्यातम्, तत्सर्वमसङ्गतमेव, लक्षणायां बीजाभावात्। यथा ब्रह्मशब्दो ब्रह्महत्यादौ विप्रत्वजातौ प्रसिद्धः, ब्रह्मोद्यमिति वेदे परमात्मनि च प्रसिद्धः, यथा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति, तर्हि—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इत्यत्र कीदृशं ब्रह्म ग्राह्यमिति शङ्कायां 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इति लक्षणविधानाद् जगदुत्पत्त्यादिकारणमेवेह ब्रह्म ग्राह्यमितिवत्, नात्र किमपि प्रमाणमस्ति वायुपदस्य वायुविद्यार्थत्व इति। सम्बोधनमपि निर्मूलमेव ॥ ७ ॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते स्वाहेन्द्राय त्वाऽऽदित्यवते स्वाहेन्द्राय त्वाऽभिमातिघ्ने स्वाहा ।
सवित्रे त्वा ऋभुमते विभुमते वाजवते स्वाहा बृहस्पतये त्वा विश्वदेव्यावते स्वाहा ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! वसु-रुद्रवान् इन्द्र देवता के लिये, आदित्यवान् वायु के लिये, शत्रुनाशक वायु के लिये तुम्हारी आहुति देता हूँ। ऋभु देवता वाले, विष्णु देवता वाले, अन्नवान् वायु के लिये तुम्हें होमता हूँ। विश्वेदेव देवता वाले वायु के निमित्त तुम्हारी आहुति देता हूँ ॥ ८ ॥

वसवो विद्यन्ते यस्य स वसुमान्, रुद्रा विद्यन्ते यस्य स रुद्रवान्, तस्मै वसुसहिताय रुद्रसहिताय इन्द्राय वाताय हे घर्म ! त्वां स्वाहा जुहोमि, 'अयं वा इन्द्रो योऽयं पवते' (श० १४।२।२।६) इति श्रुतेः । आदित्या विद्यन्ते यस्य तस्मै आदित्यवते इन्द्राय वाताय त्वां जुहोमि स्वाहा। अभिमातीन् (अभिमानिनः) सपत्नान् हन्तीत्यभिमातिहा, तस्मै अभिमातिघ्ने इन्द्राय वाताय हे घर्म त्वां स्वाहा, 'सपत्नो वा अभिमातिः' (श० १४।२।२।८) इति श्रुतेः । सूते यः सः सविता, तस्मै सवित्रे चेष्टयित्रे वाताय त्वां स्वाहा जुहोमि, 'अयं वै सविता योऽयं पवते' (श० १४।२।२।९) इति श्रुतेः । ऋभुरस्यास्तीति ऋभुमान्, विभुरस्यास्तीति विभुमान्, वाजोऽस्यास्तीति वाजवान् । आङ्गिरसस्य सुधन्वनस्त्रयः पुत्रा ऋभुविभुवाजास्तैर्युक्ताय वाताय त्वां जुहोमि । बृहस्पतये बृहतां पतये वाताय त्वां जुहोमि, 'अयं वै बृहस्पतिर्यो वै पवते' (स० १४।२।२।१०) इति श्रुतेः । कीदृशाय बृहस्पतये ? विश्वदेव्यावते । विश्वेषां देवानां समूहो विश्वदेव्यम्, तदस्यास्तीति विश्वदेव्यवान्, तस्मै सर्वदेवसहिताय वाताय त्वां जुहोमि, 'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ' (पा० ६।३।१३१) इति दीर्घः ।

'अयं वा इन्द्रो योऽयं पवते''''तदिन्द्रमेवानु वसूंश्च रुद्रांश्चानुभजत्यथो प्रातःसवनस्य चैवैतन्माध्यन्दिनस्य च सवनस्य रूपं क्रियते' (श० १४।२।२।६) इति श्रुत्या वायुरेवेन्द्रशब्देन ग्राह्यः । यो ज्योतिश्चक्रप्रवहणरूपेण वर्तते, तस्मै इन्द्राय वायवे घर्मं जुहोतीत्यर्थः । यथा मघवतो वस्वाख्या अनुयायिनः सन्ति, तथा वायोरपिताननुचरान् करोतीत्यर्थः । यद्वा इन्द्रस्य घर्मप्राप्तेः पश्चाद् वस्वादीनपि घर्ममाभजति भागयुक्तान् करोति । अथो अपि देवगणद्वयकीर्तनेनास्मिन् प्रवर्ग्ये प्रातःसवनस्य माध्यन्दिनस्य च रूपं क्रियते, 'वसवः प्रातःसवनꣳ रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवनम्' (श० १४।१।१।१५) इत्याद्याम्नातत्वात् । तदिन्द्रमेवान्वादित्यानाभजत्यथो तृतीय-सवनस्येदं रूपं क्रियते । 'इन्द्राय त्वा सपत्नघ्नम्' (श० १४।२।२।८) इत्यभिमातिशब्दस्य सपत्नोऽर्थः । 'सवित्रे त्वा च ऋभुमते विभुमते वाजवते स्वाहेति' (श० १४।२।२।९) सवितृपदेनापि वात एवाभिहितः । ऋभुर्विभुर्वाज इत्यङ्गिरसः पुत्रास्तपसा देवत्वं प्राप्ताः ।

अध्यात्मपक्षे हे घर्म ज्ञानयज्ञ ! इन्द्राय परमेश्वराय वसुमते रुद्रवते वसुरुद्रसहिताय त्वां स्वाहा समर्पयामि । आदित्यवते त्वां स्वाहा, सपत्नघ्नत्वविशिष्टाय वाताय त्वां सवित्रे प्रेरयित्रे परमात्मने ऋभुविभुवाज-सेविताय सर्वदेवसमूहयुक्ताय बृहतां महदादीनां पतये परमेश्वराय हे घर्म ! त्वां स्वाहा जुहोमि ।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि पुरुष वा ! अहं स्वाहा वसुमत इन्द्राय स्वाहाऽऽदित्यवते रुद्रवते इन्द्राय त्वां स्वाहाऽभिमातिघ्ने इन्द्राय त्वां स्वाहा, सवित्रे ऋभुमते विभुमते वाजवते त्वां स्वाहा बृहस्पतये विश्वदेव्यावते त्वोपयच्छामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात् । स्वाहापदव्याख्यानमपि निर्मूलम्, शिष्टै-स्तादृशेऽर्थेऽप्रयोगात् । 'विभुमते बहवो विभवाः पदार्था विदिता येन तस्मै इति भाक्तप्रयोगोऽपि निर्मूल एव । सांख्याः 'तदैक्षत' (छा० उ० ६।२।३) इत्याद्याः श्रुतयोऽचेतनेऽपि चेतनावदुपचारात् प्रधानेऽपि 'नद्याः कूलं पिपतिषति' इतिवत् कार्योन्मुखत्वमादर्शयन्ति । यथाऽग्रचप्राये लिखितं दृष्ट्वाऽग्रचत्वं निर्णयन्ति तथेदमपि । 'ता आप ऐक्षन्त'

(छा० उ० ६।२।४), 'तत्तेज ऐक्षत' (छा० उ० ६।२।३) इत्युपचारप्राये श्रुतं 'तदैक्षत' इत्यौपचारिकमेव विज्ञेयम्। 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० उ० ६।३।२) इति च प्रधानस्य जीवात्मत्वं जीवार्थकारितया, भद्रसेनोऽयं ममात्मेतिवत्। 'स्वमपीतो भवति' इति जीवस्य प्रधाने स्वकीयेऽप्ययं सुषुप्तावस्थायां ब्रूते, अपरिणामिनो ब्रह्मणो न च ज्ञानक्रियावत्त्वं सम्भवति। त्रिगुणे परिणामिनि प्रधाने तु सम्भवत्येव, सत्त्वप्रधाने सार्वज्ञादौ बाधाभावादिति पूर्वपक्षं कृत्वा समाहितम्। तेजःप्रभृतीनां मुख्यासम्भवेनोपचाराश्रयणं युक्तम्। संशये च तत्प्रायपाठस्य निर्णायकत्वमपि सम्भवति। इह तु मुख्यौत्सर्गिकत्वे निश्चिते सति संशयाभावात्, अन्यथा विततशरसंकीर्णदेशनिवासिनो ब्राह्मणस्यापि किरातत्वापत्तेः। तस्माद् ब्रह्मण्येवेक्षित्रनिर्वचनीयानाद्यविद्यासचिवं जगदुपादानम्। शुक्तिरिव समारोपितस्य रजतस्य, मरीचय इव जलस्य। न त्वचेतनं प्रधानपरमाण्वादि, तस्याशब्दत्वात्। तथैवात्र गौणार्थग्रहणं निर्मूलमेव ॥ ८ ॥

यमा॑य॒ त्वाऽङ्गि॑रस्वते पितृ॒मते॒ स्वाहा॑। स्वाहा॑ घ॒र्माय॒ स्वाहा॑ घ॒र्मः पि॒त्रे ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! अंगिरा और पितरों से युक्त यमरूप वायु के लिये तुम्हारी आहुति देता हूँ। घर्म के लिये दी गई घृत की यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो, पितरों के लिये दी गई घर्म की आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ९ ॥

यमाय वायवे हे घर्म ! त्वां स्वाहा। यमोऽप्यत्र वायुरेव, 'अयं वै यमो योऽयं पवते' (श० १४।२।२।११) इति श्रुतेः। कीदृशाय यमाय ? अङ्गिरस्वते, अङ्गिरसो मुनयोऽस्य सन्तीत्यङ्गिरस्वान्, तस्मै, 'अयस्मयादीनि छन्दसि' (पा० सू० १।४।२०) इति भसंज्ञायां सस्य विसर्गाभावः। पितृमते, पितरोऽस्य सन्तीति पितृमान्, तस्मै अङ्गिरःपितृयुक्ताय वाताय त्वां जुहोमीत्यर्थः। वातनामानि समाप्तानि। 'स्वाहा घर्मायेत्युपयमन्या सिञ्चति धर्मे' (का० श्रौ० २६।६।२)। उपयमन्या स्रुचा स्रुक्स्थं घृतं घर्मे सिञ्चतीत्यर्थः। घर्माय स्वाहा एतदाज्यं सुहुतमस्तु। घर्माय स्वाहा एतदाज्यं सुहुतमस्त्वित्यर्थः। 'स्वाहा घर्मः पित्र इति जपित्वाऽतिक्रम्याश्राव्याह घर्मस्य यजेति' (का० श्रौ० २६।६।३)। अपसव्यवान् दक्षिणास्यः स्वाहेति मन्त्रं स्वरेण जपित्वा सव्येन जलं स्पृष्ट्वा घर्महस्तोऽतिक्रम्याश्राव्य घर्मस्य यजेत्याहेत्यर्थः। स्वाहा घर्मः पित्रे पित्रर्थायास्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोपयमन्या महावीर आनयति। स्वाहा घर्मायेत्येष वै घर्मो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यः' (श० १४।२।२।१३)। अथ वातनामजपानन्तरमुपयमन्या स्रुचा महावीरे प्रत्यानयति, पुनरासिञ्चति। पयआसेचनसमये महावीरान्निष्यन्दनेन निर्गतं यद्धविर्घृतमासीत्, तदिदानीं 'स्वाहा घर्माय' इति मन्त्रेण महावीरे पुनरासिञ्चेत्। अन्यत् स्पष्टम्। 'आनीते जपति। स्वाहा घर्मः पित्र इति ' (श० १४।२।२।१४)। उपयमन्या महावीरे प्रत्यानीते सति 'स्वाहा घर्मः पित्रः' इति मन्त्रं जपति। अस्य मन्त्रस्य पितृसम्बन्धं पुरस्तात् स्वाहाकारं च प्रशंसति—'यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसो व्यक्षरत् स पितॄनगच्छत्....अवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवतामिति' (श० १४।२।२।१४)।

अध्यात्मपक्षे—यमाय, यच्छति नियमयति सर्वमिति यमः परमेश्वरस्तस्मै, अङ्गिरस उपासकाः सन्त्यस्येत्यङ्गिरस्वान् तस्मै, पितर उपासका सन्त्यस्येति पितृमान् तस्मै, स्वाहा सुहुतमस्तु। घर्माय ज्ञानयज्ञाधिष्ठात्रे परमात्मने स्वाहा। पित्रे, सर्वस्येति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रि पुरुष वा ! घर्मोऽहं स्वाहाङ्गिरस्वते यमाय पितृमते स्वाहा पित्रे त्वोपयच्छामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यमपदस्य न्यायाधीशार्थत्वस्य निर्मूलत्वात्। कथं च विद्युदादिविद्यावतस्तद्विशेषणत्वमिति। श्रुतिविरोधस्तु सिद्धान्तव्याख्यानेन निगदव्याख्यातः ॥ ९ ॥

विश्वा आशा दक्षिणसद्विश्वान् देवानयाडिह ।
स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विना ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—इस यज्ञ में दक्षिण दिशा में स्थित अध्वर्यु ने सभी दिशाओं का और सभी देवताओं का पूजन किया है। हे अश्विनीकुमारों! वषट्कार के साथ होमे गये मधुर स्वाद वाले घर्म का पान करो ॥ १० ॥

'वषट्कृते जुहोति विश्वा आशा इति' (का० श्रौ० २६।६।४)। वषट्कृते सति घर्मं जुहोति, विश्वा आशा इति मन्त्रेणेत्यर्थः । अश्विदेवत्याऽनुष्टुप् । इह यज्ञे दक्षिणसद् दक्षिणस्यां दिशि सीदति तिष्ठतीति दक्षिणसत् । सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः । दक्षिणतः स्थितोऽध्वर्युर्विश्वाः सर्वा आशा दिशो विश्वान् सर्वान् देवान् च अयाट् अयाक्षीत्, इष्टवान् । यजेर्लुङि च्लेर्लोपे रूपम् । दक्षिणतः स्थितो ह्यध्वर्युर्जुहोति । यत एवमतो ब्रवीमि । वषट्कारानन्तरं स्वाहाकृतस्य हुतस्य मधोः मधुरास्वादस्य घर्मस्य स्वाहाकृतं हुतं मधुरास्वादं घर्मरसं युवां पिबतम् । कर्मणि षष्ठी ।

अत्र ब्राह्मणम्—'नानुवाक्यामन्वाह । सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मान्नानुवाक्यामन्वाह··· ॥ विश्वा आशा दक्षिणसदिति । सर्वा आशा दक्षिणसदित्येवैतदाह विश्वान् देवानयाडिहेति सर्वान् देवानयाक्षीदिहेत्ये-वैतदाह····' (श० १४।२।२।१५-१६)।

अध्यात्मपक्षे—दक्षिणसद् दक्षिणामत्यन्तमानुकूल्यमुपगतः सन् साधकः, भगवन्तमिष्ट्वेति शेषः, विश्वाः सर्वा दिशः, विश्वान् सर्वान् देवांश्चायाडिष्टवान् भवति । हे अश्विनौ ! रामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ ! वषट्कारानन्तरं हुतं मधुरास्वादं घर्मरसं युवां पिबतम् ।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ ! यथा युवामिह स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोरवशिष्टं भागं पिबतम्, तथायं दक्षिणसज्जनो विश्वा आशा विश्वान् देवानयाट् संगच्छेदिति' तदप्यसत्, अध्यापको-पदेशकार्थेऽश्विशब्दप्रयोगस्य शिष्टैरकृतत्वात् । घर्मशब्दस्य अवशिष्टं यज्ञभागमिति व्याख्यानमपि निर्मूलमेव, निष्प्रमाणत्वाच्छतपथश्रुतिविरुद्धत्वात् सिद्धान्तव्याख्याने घर्मशब्दस्य प्रवर्ग्यरसपरत्वस्योक्तत्वाच्च ॥ १० ॥

दिवि धा इमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धाः । स्वाहाऽग्नये यज्ञियाय शं यजुर्भ्यः ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे महावीर ! मेरे इस यज्ञ को स्वर्ग में स्थापित करो, मैं यज्ञीय अग्नि के लिये यह आहुति समर्पित करता हूँ । यजुर्वेद के मन्त्रों के उच्चारण से हमारा कल्याण हो ॥ ११ ॥

'दिवि धा इति त्रिरुत्कम्पयति' (का० श्रौ० २६।६।५)। महावीरं त्रिरूर्ध्वं कम्पयति, सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीमिति सूत्रार्थः । यजुर्घर्मदैवत्यं सामोष्णिक् । हे महावीर ! इमं मदीयं यज्ञं त्वं दिवि द्युलोके धा धेहि, स्थापय । पुनरुक्तिरादरार्था । 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरु० १०।४२) इति यास्कोक्तेः । 'स्वाहाग्नय इत्यनुवषट्कृते' (का० श्रौ० २६।६।६) । अनुवषट् स्वाहेति मन्त्रेण घर्मं जुहोतीत्यर्थः । यज्ञियाय यज्ञहितायाग्नये स्वाहा सुहुतमस्तु, शं सुखं च यजुर्भ्यः सकाशादस्माकमस्त्विति शेषः । यद्वा शं यजुर्भ्यो देहि ।

शतपथेऽपि—'अथ हुत्वोर्ध्वमुत्कम्पयति ।····असौ वा आदित्यो घर्मो यज्ञो दिवि वा एष हितो दिवि प्रतिष्ठितस्तमेवैतत् प्रीणाति' (श० १४।२।२।१७)। असावादित्यः खलु घर्मात्मको यज्ञो दिवि अन्तरिक्षे

खलु हितो निहितः प्रतिष्ठितः। इमं प्रवर्ग्यात्मकं यज्ञं दिवि धाः स्थापय। 'स्वाहाग्नये यज्ञियायेति। तत् स्विष्टकृद्भाजनमग्निर्हि स्विष्टकृच्छं यजुर्भ्यः इति यजुर्भिर्ह्येषोऽस्मिल्लोके प्रतिष्ठितस्तान्येवैतत्प्रीणात्यवर७्स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः' (श० १४।२।२।१८)। अथानुवषट्कारहोमं विधत्ते – अनुवषट्कृते जुहोतीति। अनुवषट्कृते 'घर्मस्याग्नेर्वीहि३ वौ३षट्' इति होत्रा अनुवषट्कृते 'स्वाहा अग्नये' इति मन्त्रेण जुहोति। तद् अनुवषट्कारेण हवनं स्विष्टकृद्भाजनं स्विष्टकृद्यागस्थानीयम्। अग्निः खलु स्विष्टकृत् स्विष्टकृद्यागदेवता। स चाग्निरस्मिन् मन्त्रे दृश्यत इति यागमन्त्रयोः संगतिः। शं यजुर्भ्य इति व्याख्यानार्थमुपादानम्। शं सुखं यजुर्मन्त्रेभ्योऽस्त्वित्यर्थः। एष प्रवर्ग्यो यजुमन्त्रैर्हि अस्मिल्लोके प्रतिष्ठितो यजमानेषु लब्धास्पदो वर्तते। अतः प्रतिष्ठाहेतूनि तानि यजूंष्येवानेन मन्त्रभागेन प्रीणाति।

अध्यात्मपक्षे हे घर्म ज्ञानयज्ञाधिष्ठातः! इमं यज्ञं दिवि स्वप्रकाशे ब्रह्मणि, धाः धेहि, ब्रह्मण्येव तात्पर्यावसानात्। अग्नये परमेश्वराय यज्ञियाय यज्ञार्हाय स्वाहा सुहुतमस्तु। येभ्यो यजुःप्रधानेभ्यो मन्त्र-ब्राह्मणात्मकेभ्योऽयं ज्ञानयज्ञः सम्पद्यते, तेभ्यः शं सुखमस्तु, तत्सम्प्रदायपारम्पर्यमविच्छिन्नमस्त्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु –'हे स्त्रि पुरुष वा ! त्वं यजुर्भ्यः स्वाहाग्नये यज्ञियाय दिवीमं यज्ञं शं धाः.....' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। यज्ञपदस्य संगन्तुमर्हमिति व्याख्यानमपि विसंगतम्, यज्ञस्वरूप-विधायकश्रुतिसूत्रादिविरुद्धत्वात्। श्रुतिसूत्रेषु चाग्न्याधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यज्योतिष्टोमादिषु यज्ञशब्दः प्रयुक्तो दृश्यते। संगन्तुमर्हे व्यवहारादौ दर्शितमेव समाधानम्। तद्यथा—आकाशशब्दस्य भूताकाशार्थत्वेऽप्यु-त्तरेभ्यो वाक्यशेषेभ्यो दहराकाशशब्दस्य ब्रह्मपरत्वमेवेति ॥ ११ ॥

अश्विना घर्मं पातᳫं हार्द्वानमहर्दिवाभिरूतिभिः। तन्त्रायिणे नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों, आपको यह घर्म हृदय से अत्यन्त प्रिय है, अतः प्रातःकाल और सायंकाल पूरी सुरक्षा के साथ इसका पान करो। हम पृथ्वी और स्वर्ग के लिये एवं सूर्य देवता के लिये नमस्कार करते हैं ॥ १२ ॥

'अश्विना घर्ममिति ब्रह्माऽनुमन्त्रयते' (का० श्रौ० २६।६।७)। 'अश्विना' इति मन्त्रेण ब्रह्मा घर्ममनु-मन्त्रयते, 'अथ ब्रह्मानुमन्त्रयते। ब्रह्मा वा ऋत्विजां भिषक्तमस्तद्य एवर्त्विजां भिषक्तमस्तेनैवैनमेतद्यज्ञं भिषज्यति' (श० १४।२।२।१९) इति श्रुतेः। ऋत्विजां मध्ये ब्रह्मा खलु भिषक्तमोऽतिशयेन भैषज्यकरः, छेदनभेदनविस्मरणादिना यज्ञस्य यदङ्गं दूषितम्, तस्य सर्वस्य करणेन समाधातृत्वात्। तस्मादेव यज्ञच्छिन्नशिरस्कं भिषज्यति चिकित्सति। स्वराडुष्णिक्, अश्विनावादित्यो द्यावापृथिव्यौ च देवताः। हे अश्विना अश्विनौ! युवां घर्ममूतिभिरवननिमित्तैः पातं घर्मरसमवनं कृत्वा पिबतमित्यर्थः। कीदृशीभिरूतिभिः? अहर्दिवाभिः, अहःशब्दः पूर्वाह्णवचनः, दिवाशब्दस्तु सायाह्नवचनः। स हि प्रवर्ग्ययोग्यः कालः। सायंप्रातःकालोपलक्षिताभि-रूतिभिर्घर्मं पिबतमिति यावत्। कीदृशं घर्मम्? हृदि हृदये वानं गमनं यस्य स हृद्वानः, स एव हार्द्वानस्तम्, हृदयप्रियमित्यर्थः, 'वा गतिगन्धनयोः' स्वार्थेऽण्। एवं घर्मपानायाश्विनावभ्यर्थ्य तत्साहाय्याय सूर्यादीन् नमति—तन्त्रायिणे नमः, तन्यत इति तन्त्रम्, पटनिर्माणाय तुरीशलाकाप्रोताः प्रसारितास्तन्तवस्तन्त्रमुच्यते, तद्वदेव नभसि कालचक्रमपि तन्त्रमुच्यते, 'तन्त्रं राष्ट्रे परच्छन्दाप्रधानयोः। अगदे कुटुम्बकृत्ये तन्तुवाने परिच्छदे ॥ श्रुतिशाखान्तरे शास्त्रे करणे द्व्यर्थसाधके। इतिकर्तव्यतातन्त्वोः' इति महीधराचार्योद्धृताभिधान-वचनात्। तथा च तन्त्रे कालचक्रे एति निरन्तरं गच्छति यः स तन्त्रायी, तस्मै तन्त्रायिणे आदित्याय नमोऽस्तु।

यद्वा तन्यतेऽनेनेति तन्त्रं तन्तुपूर्णा तुरी, सा यथा निर्माणसमये प्रतिसूत्रं दक्षिणोत्तरभागावभिलक्ष्य पुनः पुनरावर्तते, तन्त्रवद् अयते सर्वान् लोकान् गच्छतीति तन्त्रायी सूर्यस्तस्मै नमोऽस्तु, 'एष वै तन्त्रायी य एष तपत्येष ह्रीमांल्लोकांस्तन्त्रमिवानुसञ्चरत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति' (श० १४।१।२।२२) इति श्रुतेः। एष खलु इमान् पृथिव्यादीन् लोकान् तन्त्रमिव तन्तुसाधनभूता तुरीवानुसञ्चरति क्रमेणावर्तते। द्यावापृथिवीभ्यामुभाभ्यां तदधिष्ठात्रीभ्यां देवताभ्यां नमोऽस्तु।

अध्यात्मपक्षे— हे अश्विनौ रामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ वा ! घर्मं दीप्यमानं रसं श्रद्धाभक्तिज्ञानध्यानादिभी रसं पिबतम्। कीदृशं तम् ? हार्द्वानं हृदयप्रियम्। काभिः ? अर्हर्दिवाभिरूतिभिः पूर्वाह्णसायाह्नोपलक्षिताभिरूतिभिरवनैर्निमित्तभूतैः। यतो भवद्भ्यां पूर्वाह्णसायाह्नोपलक्षितेषु कालेष्वसुरादिनिबर्हणेन त्रैलोक्यमेव रक्षितम्, अतो युवां दीप्यमानं रसं पिबतम्। तन्त्रायिणे सूर्याय द्यावापृथिवीभ्यां च त्वत्सहकारिभ्योऽन्येभ्योऽपि देवेभ्यो नमोऽस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ स्त्रीपुरुषौ ! युवामहर्दिवाभिरूतिभिस्तन्त्रायिणे हार्द्वानं घर्मं पिबतम्, द्यावापृथिव्यां तन्त्रायिणे नमो दत्तम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विपदेन स्त्रीपुरुषयोर्ग्रहणे मानाभावात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, हृदं वनति येन तत् किमित्यनुक्तेः, अहरित्यस्य प्रतिदिनं कथमर्थ इत्यनुक्तेश्च। तन्त्रायिणे तन्त्राणि कलाशास्त्राणि अयितुं ज्ञातुं प्राप्तुं शीलं यस्य तस्मै नमोऽन्नं दत्तमित्यादिकमुपहासास्पदमेव, गुणिनां तन्निरपेक्षत्वात्, श्रुतिविरुद्धत्वाच्च। श्रुत्या तु योऽसौ तपति स सूर्यस्तन्त्रायिपदेनोच्यते ॥ १२ ॥

अपा॑तामश्विना॑ घ॒र्ममनु॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॑मꣳसाताम्। इ॒हैव रा॒तयः॑ सन्तु ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों, इस घर्म का पान करो। पृथ्वी और स्वर्ग तुम्हारे इस कार्य का अनुमोदन करें। इस विधि के अनुष्ठान से हमें इसी स्थान में धन की प्राप्ति हो ॥ १३ ॥

'अपातामिति यजमानः' (का० श्रौ० २६।६।८) यजमानो घर्ममभिमन्त्रयते—अपातामिति मन्त्रेणेति। ककुबुष्णिक्, अश्विदेवत्या। मध्यमः पादो द्वादशार्णः, आद्यन्तावष्टार्णौ सा ककुप्, मध्यमश्चेत् ककुबित्युक्तेः। अश्विना अश्विनौ देवौ, घर्ममपातामपिबताम्, लुङ्। तच्चाश्विनोर्घर्मपानं साध्वभूदिति द्यावापृथिवी अन्वमंसातामनुमतवत्यौ। अत एवाश्व्यादिप्रसादादिहैवास्मद्गृहे स्थितानामस्माकं रातयो धनानि सन्तु, 'तदिमे द्यावापृथिवी आह ययोरिदꣳ सर्वमधीहैव रातयः सन्त्वितीहैव धनानि सन्त्वित्येवैतदाह' (श० १४।२।२।२६) इति श्रुतेः। रायन्ते दीयन्त इति रातयो धनानि, 'रा दाने', इहैवास्मिल्लोकेऽस्मद्गृहे वा नोऽस्माकं धनानि सन्तु, इतीममेवार्थमाह मन्त्र इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे अश्विनौ पूर्वोक्तौ रामलक्ष्मणौ घर्ममपाताम्। तच्च तयोः पानं द्यावापृथिव्यौ अन्वमंसातामनुमेनाते। अत एवैषां देवानामनुग्रहादिहैव जीवने रातयो ज्ञानवैराग्यादिरूपाणि धनानि सन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ स्त्रीपुरुषौ ! युवां वायुविद्युताविव घर्ममपाताम्, घर्मं गृहाश्रमव्यवहारानुष्ठानं मन्येताम्, द्यावापृथिवी इव घर्ममन्वमंसाताम्। यत इह रातय एव सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, घर्मपदस्य गृहाश्रमव्यवहारानुष्ठानार्थत्वे मानाभावात्, सूर्यभूमी इव मन्येतामित्यप्यसंगतम्, मूलमन्त्र इवप्रयोगादर्शनात्, तयोर्जडत्वेन दृष्टान्तानुपपत्तेश्च ॥ १३ ॥

इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व । धर्मासि सुधर्माऽमेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! तुम वृष्टि के लिये, अन्न के लिये, ब्राह्मणों के लिये, क्षत्रियों के लिये, पृथ्वी और स्वर्ग के लिये पुष्टिकारक बनो । हे साधु धारणशील ! तुम आहुतियों के परिणाम के द्वारा सारे जगत् के धारक हो । क्रोध किये बिना हमें धन-धान्य से सम्पन्न करो । ब्राह्मण जाति को, क्षत्रिय जाति को और वैश्य जाति को सब प्रकार से पुष्ट करो ।। १४ ।।

'इषे पिन्वस्वेति पिन्वमानमनुमन्त्रयते' (का० श्रौ० २६।६।९) पिन्वमानमाहवनीसिच्यमानं घर्ममभिमन्त्रयते, 'अथ पिन्वमानमनुमन्त्रयते' (श० १४।२।२।२७) इति श्रुतेः । वषट्कारानुवषट्कारयोर्महावीरस्थं हविर्हुत्वा यत्तत्रावशिष्टं तेन प्रतिदिशं पिन्वनं कार्यम् । तस्मिन् समये यजमानस्य पिन्वमानानुमन्त्रणं विधत्ते—अथेति । अथ होमानन्तरं पिन्वमानम्, 'पिवि सेचने', आहवनीये सिच्यमानं घर्मम्, 'इषे पिन्वस्व' इति मन्त्रेणानुमन्त्रयते ।

ऋचां पङ्क्तिः, घर्मदेवत्या । हे पिन्वमान घर्म ! इषे वृष्ट्यै पिन्वस्व, विप्रुषो मुञ्च । ऊर्जे अन्नाय पिन्वस्व सिञ्चस्व । ब्रह्मणे ब्राह्मणेभ्यः, क्षत्राय क्षत्रियेभ्यः, द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व, 'वृष्ट्यै तदाह····यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह' (श० १४।२।२।२७) इत्यादिश्रुतेः । इष्यते सर्वप्राणिभिरितीट्, तस्मै इषे वृष्ट्यै वर्षणार्थम् । मेघैर्वृष्टात् सिक्ताद् उदकाद् य ऊर्ग् रसोऽन्नरसो जायते, तस्मै रसाय पिन्वस्व । अन्यत् स्पष्टम् ।

'धर्मासीत्युत्क्रामत्युत्तरपूर्वार्धम्' (का० श्रौ० २६।६।१०) । ऐशानीं दिशमुत्क्रामतीत्यर्थः । यजुर्गायत्री घर्मदेवत्या । हे घर्म हे सुधर्म, सुष्ठु धारयतीति, हे साधु धारणशील ! त्वं धर्मः सर्वजगतो धारणमसि, आहुतिपरिणामद्वारेण सर्वं धरसीत्यर्थः । 'अमेन्यस्मे इति खरे करोति' (का० श्रौ० २६।६।११) । 'अमेन्यस्मे' इति मन्त्रेण महावीरं खरे करोति, आसादयतीत्यर्थः । ऋग्बृहती घर्मदेवत्या । हे घर्म ! अमेनि मिनोति हिनस्तीति मेनिः, 'मिञ् हिंसायाम्' 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति सुलोपः । न मेनिरमेनिः, अमेनिरहिंसन् अक्रुध्यन् सन् अस्मे अस्मासु नृम्णानि धनानि धारय स्थापय । नॄन् नमयतीति नृम्णम् । 'अक्रुध्यन्नो धनानि धारय' (श० १४।२।२।३०) इति श्रुतेः । क्षत्रं विशं च धारय, विप्रादीनस्मदनुकूलान् कुरु । 'स यदूर्ध्वं पिन्वते तद्यजमानाय पिन्वते' (श० १४।२।२।२८) इति श्रुतिः प्रागादिदिक्षु मध्ये च पिन्वनमर्थवादेनोन्नयति, सपदि ऊर्ध्वं ऊर्ध्वाभिमुखो मध्ये पिन्वते तत्तदा यजमानाय यजमानस्य श्रेयोऽर्थमेव पिन्वते । प्राङ्मुखो देवेभ्यः, दक्षिणतः पितृभ्यः, प्रत्यङ्मुखः पशुभ्यः, उदङ्मुखः प्रजायै । एवं क्रमेण पिन्वते यजमानस्य अनपराद्धमेव, अन्यथाकरणेऽपराध एव । ऊर्ध्वः स्वर्गाभिमुखो यजमानस्तस्मात्तदर्थमूर्ध्वाभिमुखः प्रथमं पिन्वित्वा प्राच्यादिषु घर्मं सिञ्चेत् ।

'अथ प्राङिवोदङ्ङुत्क्रामति । धर्मासि सुधर्मेत्येष वै धर्मो य एष तपत्येष हीदꣳ सर्वं धारयत्येतेनेदꣳ सर्वं धृतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति' (१४।२।२।२९) । अथ प्राङ्मुख इव भूत्वा उदङ्मुख उत्क्रामति, आहवनीयदक्षिणदेशाद् वेदिमतिक्रम्य वेदेरुत्तरतो गच्छेद् धर्मासीति मन्त्रेणेति । मन्त्रस्य तात्पर्यगम्यमर्थमाह—य एष सूर्यस्तपति एष खलु धर्मो धर्मशब्दाभिधेयः । कुत इति चेदुच्यते—हि यस्मात्, इदं सर्वं जगद् एष धारयति प्रवर्षप्रकाशादिना पोषयति । सर्वमेतेनैव धृतं पोषितं दृश्यते । धारकत्वाद्धर्मः । 'अथ खरे सादयति ।

अमेन्यस्मे नृम्णानि धारयेत्यक्रुद्धन्नो धनानि धारयेत्येवैतदाह ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारयेत्येतत् सर्वं धारयेत्येवैतदाह्' (श० १४।२।२।३०) इति हि श्रुतिः। एवमुत्तरतोऽतिक्रम्य आहवनीयमुत्तरेण सिकताभिः कृते धिष्ण्ये सादयति महावीरं निदधाति।

अध्यात्मपक्षे—हे घर्म ! त्वम् इषे इष्यमाणाय मोक्षाय निरावरणब्रह्मपदाय पिन्वस्व ज्ञानविप्रुषो मुञ्च। ब्रह्मणे ब्राह्मतेजसे, क्षत्राय क्षात्रतेजसे सिञ्चस्व। द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। हे ज्ञानयज्ञ ! त्वं धर्मासि धर्मरूपोऽसि, सर्वधारकत्वात्, 'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' इत्युक्तेः। सुधर्मासि सुष्ठु सर्वं धारयसि, परमधर्मत्वात्। अस्मे अस्मभ्यम्, नृम्णानि धनानि ज्ञानवैराग्यलक्षणानि धारय, ब्रह्म ब्राह्मं तेजः, क्षत्रं क्षात्रं तेजः, विशः पोषकं तेजश्च धारय।

दयानन्दस्तु—'हे धर्म सुधर्म पुरुष स्त्रि वा ! त्वमनेन्यसि येनास्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय। तेनेषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धर्मसुधर्मपदाभ्यां स्त्रीपुरुषयोर्ग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, लौकिकत्वेन वेदार्थत्वायोगाच्च, अनधिगन्तृत्वेनैव प्रमाणानां प्रामाण्यात्, ब्राह्मणादिपदानां वेदविज्ञानाद्यर्थतापि चिन्त्यैव ॥ १४ ॥

स्वाहा॑ पू॒ष्णे शर॑से॒ स्वाहा॒ ग्राव॑भ्यः॒ स्वाहा॑ प्रतिर॒वेभ्यः॑। स्वाहा॑ पि॒तृभ्य॑ ऊ॒र्ध्वब॑र्हिभ्यो घ॒र्मपाव॑भ्यः॒ स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॒ᳪं स्वाहा॒ विश्वे॑भ्यो दे॒वेभ्यः॑ ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—रससहित पुष्टिकारक प्राण के लिये, विषयों को ग्रहण करने वाले प्राणों के लिये, प्रतिशब्द करने वाले प्राणों के लिये, प्रागग्र आसन पर बैठ कर घर्मपान करने वाले पितरों के लिये, पृथ्वी और आकाश के लिये, विश्वेदेव देवताओं के लिये हम यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित करते हैं ॥ १५ ॥

'विकङ्कतशकलैर्जुहोति घर्मे न्यज्य स्वाहा पूष्णे शरस इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० २६।६।१२)। घर्मे नितरामक्त्वा विकङ्कतशकलैर्घर्माज्यं जुहोति स्वाहा पूष्ण इति प्रतिमन्त्रमित्यर्थः। सप्त लिङ्गोक्तदेवत्यानि यजूंषि। अन्यत्र शरस्शब्दो दध्युपरिस्थस्नेहवाचकः, अत्र तु स्नेहमात्रवाची। शरसे स्नेहकर्त्रे पूष्णे वाताय प्राणरूपाय स्वाहा सुहुतमस्तु, 'अवरᳪं स्वाहाकारं करोति परां देवताम्' (श० १४।२।२।३२) इति श्रुतेरादौ स्वाहाकारस्ततो देवतापदानि। 'अयं वै पूषा। योऽयं पवत एष हीदं सर्वं पुष्यति' (श० १४।२।२।३२)। खरे सादनानन्तरं शाकलैः शकलसाधनहोममन्त्रैः स्वाहा पूष्णे शरसे स्वाहा इति सप्तभिः शकलैर्जुहोति। ग्रावभ्यः, गृह्णन्ति ये ते ग्रावाणः प्राणा विषयग्रहणशीलास्तेभ्यः स्वाहा, 'प्राणा वै ग्रावाणः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० १४।२।२।३३) इति श्रुतेः। प्रतिरवेभ्यः प्रतिरुवन्ति शब्दं कुर्वन्ति प्रतिरमन्ते वा यान् प्राप्येति प्रतिरवास्तेभ्यः स्वाहा, 'प्राणा वै प्रतिरवाः प्राणान् हीदᳪं सर्वं प्रति रतम्' (श० १४।२।२।३४) इति श्रुतेः। प्रतिरवशब्देन प्राणा एवोच्यन्ते, हि यस्मात्, इदं सर्वं जगत् प्राणान् प्रति रतं प्राणे रममाणं सद् दृश्यते, तस्मात् प्राणा एव प्रतिरवाः। 'चतुर्थमहुतमुदङ्ङीक्षमाणो दक्षिणतो बर्हिष्युपगूहति' (का० श्रौ० २६।७।१४)। चतुर्थं शकलमहुतमेवोदीचीं पश्यन् वेदेर्दक्षिणभागे वेद्यामास्तीर्णे बर्हिषि दक्षिणभागे स्वयमुदीचीं दिशमीक्षमाण उपगूहति संवृणोति, यथा शकलो न दृश्येत तथा बर्हिषोऽधस्तान्निदध्यादित्यर्थः। 'यन्न प्रेक्षते सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः' (श० १४।२।२।३५) इति शकलस्य प्रेक्षणं न कुर्यात्। तत्र हेतुः—पराञ्चः स्वतः पराङ्मुखा लोकाः, अभिमुखं पितरः। सकृदु हि एकवारकरणमेव तेषां प्रियम्, तच्छकलस्य पुनः पुनः प्रेक्षणे क्रियमाणे तद्

व्याहन्येतेति। आदानसमये प्रेक्षित्वा पश्चाद् उद्वहनसमये न प्रेक्षेत। पितृभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु। कीदृशेभ्यः? ऊर्ध्वबर्हिभ्यः, ऊर्ध्वं प्रागग्रं बर्हिर्येषां तेभ्यः, सोमपाभ्य इत्यर्थः। घर्मपावभ्यः, घर्मं पिबन्ति ये ते घर्मपावानस्तेभ्यः स्वाहा। द्यावापृथिवीभ्यां प्राणोदानाभ्यां स्वाहा सुहुतमस्तु, द्यावापृथिवीशब्देन तयोरेवाभिधानात्, 'प्राणोदानौ वै द्यावापृथिवी प्राणोदानावेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० १४।२।२।३६) इति श्रुतेः। विश्वेभ्यो देवेभ्यः प्राणेभ्यः स्वाहा, 'प्राणा वै विश्वे देवाः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० १४।२।२।३७) इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—पुष्यति सर्वं यस्तस्मै शरसे स्नेहात्मने परमेश्वराय स्वाहा सर्वमर्पितमस्तु। ग्रावभ्यः, तस्मै सर्वात्मत्वविवक्षया ग्रावभ्यः प्राणेभ्यः प्राणरूपाय तस्मै स्वाहा। प्रतिरवेभ्यः, यान् प्राप्य सर्वे रमन्ते तेभ्यः पितृभ्यः सर्वपालकेभ्य ऊर्ध्वबर्हिभ्यः सोमपाभ्यः स्वाहा। घर्मपावभ्यो द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा। तत्तद्रूपापन्नाय सर्वात्मने परमेश्वराय सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु—स्त्रीपुरुषैः पूष्णे शरसे स्वाहा प्रतिरवेभ्यः स्वाहोर्ध्वबर्हिभ्यो घर्मपावभ्यः पितृभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा सदा प्रयोज्या' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, स्वाहाशब्दस्य तत्तदर्थकत्वे मानाभावाच्च। न च द्यावापृथिवीभ्यां न वा पृथिव्यादिभ्यः सत्यवाचः सार्थक्यम्, त्वद्रीत्या तेषां जडत्वात् ॥ १५ ॥

स्वाहा रुद्राय रुद्रहूतये स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः। अहः केतुना जुषताᳪं सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा। रात्रिः केतुना जुषताᳪं सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा। मधु हुतमिन्द्रतमे अग्नावश्याम ते देव घर्म नमस्ते अस्तु मा मा हिᳪंसीः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—स्तोता के द्वारा स्तुत रुद्र के लिये हम यह श्रेष्ठ आहुति देते हैं। हे घर्म में स्थित घृत! तुम उपयमनी में स्थित घृत से मिल जाओ, हम तुम्हारे लिये यह आहुति देते हैं। कर्म द्वारा ज्योतियुक्त हुआ तेज दिन के तेज से मिल जाय, इसके लिये यह आहुति दी जाती है। रात्रि कर्म द्वारा संगत होकर ज्योतियुक्त तेज अपने तेज से मिल जाय, इसके लिये यह आहुति समर्पित है। हे घर्मदेव! अति बलशाली अग्नि में होमे गये तुम्हारे घर्माज्य अंश का हम भक्षण करते हैं, आपके प्रति हम विनम्र भाव से नमस्कार करते हैं। आप हमें किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचावें ॥ १६ ॥

'सप्तमं च सर्वलेपाक्तं दक्षिणेक्षमाणः प्रतिप्रस्थात्रे प्रयच्छति' (का० श्रौ० २६।६।१५)। मूलाग्रावधि घर्मं घृताभ्यक्तं कृत्वा सप्तमं शकलं दक्षिणं पश्यन् प्रतिप्रस्थात्रे ददातीत्यर्थः। 'अहुत्वैव दक्षिणेक्षमाणः प्रतिप्रस्थात्रे प्रयच्छति तᳪं स उत्तरतः शालाया उदङ्ङ्निरस्यत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक् स्वायामेवैनमेतद्दिशि प्रीणात्यथ यन्न प्रेक्षते नेन्मा रुद्रो हिनसीदिति' (श० १४।२।२।३८) इति श्रुतेः सप्तमस्य शकलस्य होमं निषिद्धय निरसनं विधित्सुराह—'स्वाहा रुद्राय' इति मन्त्रं पठन् सर्वेषु लेपेष्वन्त्यं सप्तमं शकलमहुत्वैव दक्षिणां दिशमीक्षमाणः स्वयं शकलमपश्यन् अध्वर्युः प्रतिप्रस्थात्रे प्रयच्छति। स च प्रतिप्रस्थाता तं शकलं शालाया उत्तरतः प्राग्वंशं गृहस्योत्तरभागे उदङ्ङम् उदगग्रं निरस्यति क्षिपेत्। कुत उदीच्यामेव तन्निरसनम्? कस्माच्च शकलस्य न प्रेक्षणमिति? तदुभयमुपपादयति—एषा खलु उदीची, एतस्य रुद्रस्य देवस्य दिक्, उत्तरपूर्वार्द्धाया दिशो रुद्रेण पाल्यमानत्वाद् उत्तरापि तत्संबन्धिनी, तेन तत्रैव निरसनम्। तद् मामध्वर्युं नेद् नैव हिनसद् हिंस्यात्, इत्यनेनाभिप्रायेण न प्रेक्षेत।

रुद्र इति स्तोतृनामसु पठितम् (निघ० ३।१६।१२)। रुद्रैः स्तोतृभिर्हूयत आहूयत इति रुद्रहूतिस्तस्मै स्तोस्तृस्तुताय रुद्राय देवाय स्वाहा सुहुतमस्तु। एवं सप्तयजुषां मध्ये चतुर्थसप्तमयोर्विनियोग उक्तः। शेषैः पञ्चशकलैराज्यहोमः। 'स्वाहा सं ज्योतिषेत्युपयमन्यामासिञ्चति घर्म्यम्' (का० श्रौ० २६।६।१७)। परीशासाभ्यां घर्ममुत्पाट्य उपयमनीस्रुक्पुष्करस्योपर्यधोमुखं कुर्यात्। अर्थाद् घर्म्यं घर्मसंबन्धि घृतमुपयमन्यामासिञ्चति। पूर्वं स्रुक्स्थं घर्मे नीतम्, इदानीं घर्मस्थं स्रुचि नयतीत्यर्थः।

पयोदेवत्यं यजुरनुष्टुप्। ज्योतिर्घर्मस्थं घृतं ज्योतिषोपयमनीस्थेन घृतेन सङ्गच्छताम्। स्वाहा सुहुतमस्तु, 'अथ महावीरादुपयमन्यां प्रत्यानयति। स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिरिति ज्योतिर्वा इतरस्मिन् पयो भवति ज्योतिरितरस्यां ते ह्येतदुभे ज्योतिषी संगच्छेते' (श० १४।२।२।४०) इति श्रुतेः। महावीरे वर्तमानस्य शिष्टस्य हविष उपयमन्यामासेचनं विधत्ते—'स्वाहा सं ज्योतिषा' इत्यनेन मन्त्रेण। महावीरसकाशाद्धुतशिष्टं घर्मरसमुपयमन्यां स्रुचि प्रत्यानयति, तदेतन्मन्त्राभिप्रायकथनेन स्तौति—ज्योतिर्वेति। इतरस्मिन् अन्यतरस्मिन् महावीरे ज्योतिस्तेजोरूपं पयो भवति, इतरस्यामुपयमन्यामाज्यलक्षणं ज्योतिर्भवति। एतद् एतेनासेचनेन ते एव ज्योतिषी संगच्छेते परस्परं संयुज्येते। तथा च ज्योतिषा उक्तलक्षणेन महावीरस्थेन ज्योतिरुपयमनीस्थं संगच्छते।

'मन्त्रक्रमेणोत्तरँ रौहिणं जुहोति' (का० श्रौ० २६।६।१८)। उत्तरं रौहिणं मन्त्रक्रमेण सं ज्योतिषा ज्योतिरिति मन्त्रकर्मणोऽनन्तरं जुहोतीत्यर्थः। अहः केतुना, केतुना प्रज्ञया कर्मणा वा सहितमहर्दिनं जुषतां रौहिणहोमेन प्रीयताम्। कीदृशमहः? ज्योतिषा स्ववीर्येण तेजसा सुज्योतिः शोभनतेजस्कम्। स्वाहा एतद्धविः सुहुतमस्तु। तथैव केतुना रात्रिर्जुषतां रौहिणहोमेन प्रीयताम्। 'अथ रौहिणौ जुहोति। अहः केतुना…' (श० १४।२।२।४१)। सायम्प्रातःकालयोः प्रवृञ्जनोपरिष्टात्काले होतव्यत्वेन विहितौ रौहिणपुरोडाशौ। तावस्मिन् काले होतव्यौ। प्रत्यानयनान्तरं सायम्प्रातःकालीनयोः प्रवर्ग्ययोरुत्तरौ रौहिणपुरोडाशौ। तयोरेको घर्मदुहो दोहनात् प्राक्काले हुतः, अपरस्त्वस्मिन् काले होतव्यः। 'अग्निहोत्रावृता हुत्वा वाजिनवद् भक्षयन्ति मधु हुतमिति' (का० श्रौ० २६।६।२०)। उपयमन्यामानीतं घर्माज्यमग्निहोत्रहोमप्रकारेण समन्त्रकं हुत्वा वाजिनवदुपहवप्रार्थनपूर्वकं भक्षयन्ति होत्रध्वर्युब्रह्मप्रस्तोतृप्रतिप्रस्थात्रग्नीद्यजमानाः।

घर्मदेवत्यम् ऋग्बृहती। अग्नौ मधु मधुरं घर्माज्यं हुतमस्माभिः। कीदृशेऽग्नौ? इन्द्रतमे इन्द्रं वीर्यमस्यास्तीति इन्द्रवान् सोऽतिशयित इन्द्रतमः, वत्प्रत्ययलोपः, तस्मिन् इन्द्रतमे वीर्यवत्तमेऽग्नौ मधु हुतमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'अथ यजमानाय घर्मोच्छिष्टं प्रयच्छति। स उपहवमिष्ट्वा भक्षयति मधु हुतमिन्द्रतमेऽग्ना… वित्येवैतदाह' (श० १४।२।२।४२)। इन्द्रतमे इन्द्रवत्तमे, अग्नौ तदीये जाठरे तेजसि मधुरं हुतं शिष्टं हविर्हुतमस्तु। अन्यत् स्पष्टम्। हे घर्म, हे देव! ते तव हुतशेषमंशं वयमश्याम भक्षयाम। अश्नोतेर्विकरणव्यत्ययेन 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुकि लिङि उत्तमपुरुषबहुवचने रूपम्। ते तुभ्यं नमोऽस्तु। मा मां हिंसीरित्यात्मनः परित्राणमर्थ्यते, 'अश्याम ते देव घर्म नमस्ते अस्तु मा मा हिँसीरित्याशिषमेवैतदाशास्ते' (श० १४।२।२।४२) इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—रुद्रहूतये स्तोतृभिराहूयमानाय रुद्राय रोगद्रावणाय परमात्मने स्वाहा सुहुतमस्तु। ज्योतिः प्रत्यक्चैतन्यं ज्योतिषा ब्रह्मचैतन्येन संगच्छताम्, केतुना प्रज्ञया वर्तमानं महदिदं दिनं जुषतां प्रीयताम्। तच्च ज्योतिषा स्वकीयेन तेजसा सुज्योतिः शोभनतेजस्कमस्तु। तथैव रात्रिरपि केतुना प्रज्ञया ज्योतिषा सुज्योतिरस्तु। तादृशाय दिनाय तादृश्यै रात्र्यै च स्वाहा सुहुतमस्तु। इन्द्रतमे वीर्यवत्तमेऽग्नौ परमेश्वरे

मधु मधुरं परप्रेमास्पदं प्रत्यक्चैतन्यं हुतं समर्पितम्। हे देव घर्म ज्ञानयज्ञ ! त्वत्प्रसादाद् वयम् अश्याम आस्वादयाम ब्रह्मसुखम्। ते तुभ्यं नमोऽस्तु। मा मां हिंसीः प्रमादजनितेऽपराधेऽपि मा हिंसीः, अपराधापमार्जनेन सर्वथा रक्ष।

दयानन्दस्तु– हे स्त्रि पुरुष वा ! भवति भवन् वा ! केतुना रुद्राय रुद्रहूतये स्वाहा ज्योतिषा ज्योतिः स्वाहा ज्योतिषा सुज्योतिरहः स्वाहा संजुषताम्। केतुना ज्योतिषा सुज्योती रात्री रात्रि स्वाहा। हे देव घर्म ! येन त इन्द्रतमेऽग्नौ मधु हुतमश्याम ते नमोऽस्तु। त्वं मां मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागेऽपि विशृङ्खलत्वात्। 'रुद्रा जीवाः प्राणा वा हूयन्ते स्तूयन्ते येन तस्मै' इत्यप्यसंगतम्, जीवप्राणादीनां स्तुतेरपुरुषार्थत्वात्, संबोधनस्यापि निर्मूलत्वात्, श्रुतिविरुद्धत्वाच्च। श्रुत्या च रुद्रस्य देवस्य हविरर्पणेऽयं मन्त्रो विनियुक्तः ॥ १६ ॥

अभीमं महिमा दिवं विप्रो बभूव सप्रथाः। उत श्रवसा पृथिवीᳬं सᳬंसीदस्व महाँ२॥
असि रोचस्व देववीतमः। वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आपकी सबको पूर्ण करने वाली विस्तारमयी कीर्ति यशरूपी धन से इस द्युलोक और पृथ्वी को व्याप्त करती है। आप सम्पूर्ण देवताओं को तृप्त करते हैं, इसीलिये महान् हैं। इस पुष्करपर्ण पर आप भली प्रकार बैठिये और अपना प्रकाश फैलाइये। हे यज्ञयोग्य उत्कृष्ट अग्निदेव ! आप दर्शनीय और रोषहीन होकर अपने धूम को चारों तरफ फैलाइये ॥ १७ ॥

'अभीममिति महावीरम्' (का० श्रौ० २६।६।२५)। प्रचरणीयं घर्ममासन्द्यां करोति मन्त्रेणेतराणि तूष्णीम्। ततः शान्तिपाठ इत्यर्थः। गायत्रीबृहत्यौ मध्येऽवसानहीने। अभीमं गायत्री, संसीदस्व बृहती। यद्वाऽवसानत्रयोपेताऽतिशक्वरी षष्ट्यक्षराग्निदेवत्या। एकैव ऋक्, ऋग्द्वयं वेत्यर्थः। हे अग्ने ! तव महिमा इमं दिवमभिबभूव अभिभवति, 'छन्दसि लुङ्लिङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६)। दिवशब्दः पुल्लिङ्गः, अर्धर्चादित्वात्। कीदृशो महिमा ? विप्रः, विशेषेण प्राति पूरयति सर्वमिति विप्रो मेधावी। सप्रथाः, प्रथनं प्रथो विस्तारस्तेन सहितः सप्रथाः। उतापि च, श्रवसा धनेन यशसा वा पृथिवीमभिभवतीत्यनुषङ्गः। हे अग्ने, संसीदस्व त्वं सम्यग् उपविश, यतस्त्वं महान् असि, अनेकक्रतुहेतुत्वात्। स त्वं रोचस्व दीप्यस्व। कीदृशस्त्वम् ? देववीतमः, देवान् वेति तर्पयतीति देववीः, 'वी कान्त्यादौ', सोऽतिशयितो देववीतमः। हे मियेध्य हे मेध्य, हे प्रशस्त उत्कृष्ट ! मेध्यशब्दस्य छान्दसो विप्रकर्षः। दर्शनं दर्शनीयमरुषमरोचनं धूमं विसृज विमुञ्च। विधूमेत्यत्रत्यो वीत्युपसर्गः सृजेत्यनेन संबद्धयते। अत्र श्रुतिः—'इतो वा अयमूर्ध्वᳬं रेतः सिञ्चति धूमᳬं सामुत्र वृष्टिर्भवति' इति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर ! ते तव महिमा इमं दिवं द्युलोकमभिबभूव अभिभवति। कीदृशो महिमा ? विप्रः सर्वपूरकः सविस्तारः, उतापि श्रवसा धनेन यशसा वा पृथिवीमभिभवति। संसीदस्व भक्तानां हृदयपुष्करे सम्यगुपविश। महान् असि, सर्वकारणत्वात्। रोचस्व दीप्यस्व देववीतमो देवानां तर्पयितृतमः। दर्शतं दर्शनीयं धूमं धूमतुल्यं जीवानामज्ञानं कामादिदोषं वा विसृज विमुञ्च विमोचय, णिजर्थो द्रष्टव्यः। हे प्रशस्त सर्वोत्तम ! दर्शतं दर्शनीयं दिवं वा अभिबभूवेति।

दयानन्दस्तु—'हे प्रशस्त मियेध्याग्ने ! महिमा सप्रथाः विप्रस्त्वमिमं दिवमभिबभूव, उतापि श्रवसा पृथिवीं संसीदस्व। यतो देववीतमो महानसि, तस्माद्रोचस्वारुषं धूमं विसृज' इति, तदपि यत्किञ्चित्,

अग्निपदस्य मुख्यार्थत्यागेन तेजस्विविदुषो ग्रहणे मानाभावात्। दिवमविद्यादिगुणप्रकाशमित्यपि निर्मूलम्, तिमिरात्मिकाया अविद्याया दिवमित्यनेन ग्रहीतुमशक्यत्वात्। न च धूमपदस्य यज्ञियधूम एवार्थः, प्रमाणमन्तरा सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वायोगात्, विपूर्वस्य सृजतेर्मोचनार्थत्वेन सृष्ट्यर्थत्वायोगाच्च। यज्ञस्य चिकारयिषितत्वे यज्ञं सृजेत्येव स्यात्॥ १७॥

या ते॑ घर्म दि॒व्या शुग् या गा॑य॒त्र्या॒ᳫँ ह॑वि॒र्धाने॑। सा त॒ आ प्या॑यतां निष्ट्या॑यतां तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑। या ते॑ घर्मा॒न्तरि॑क्षे॒ शुग् या त्रि॒ष्टुभ्या॒ग्नीध्रे॑। सा त॒ आ प्या॑यतां निष्ट्या॑यतां तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑। या ते॑ घर्म पृथि॒व्या॒ᳫँ शुग् या जग॑त्या॒ᳫँ स॒द॒स्या। सा त॒ आ प्या॑यतां निष्ट्या॑यतां तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑॥ १८॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! तुम्हारी जो दीप्ति द्युलोक में है, गायत्री और यज्ञगृह में है, तुम्हारी वह दीप्ति बढ़े और दृढ़ता से स्थित हो जाय। तुम्हारी उस दीप्ति के लिये हम यह आहुति देते हैं हे घर्म ! तुम्हारी जो दीप्ति अन्तरिक्ष में है, त्रिष्टुप् छन्द में है, आग्नीध्र स्थान में है, तुम्हारी वह दीप्ति बढ़े और दृढ़ हो। तुम्हारी उस दीप्ति के लिये हम यह आहुति देते हैं। हे घर्म ! तुम्हारी जो दीप्ति यज्ञस्थान और पृथ्वी में है, जगती छन्द में है, तुम्हारी वह दीप्ति बढ़े और दृढ़ हो। उस दीप्ति के लिये हम यह आहुति देते हैं॥ १८॥

'चतुर्गृहीतेनाभिजुहोति या ते घर्म दिव्या शुगिति' (का० श्रौ० २६।७।३)। अध्वर्युराज्यं संस्कृत्य चतुर्गृहीतं कृत्वा तेन जुहोति, अग्नीधा ध्रियमाणेषु त्रिषु शलाकात्रिकेषु त्रिभिर्मन्त्रैस्तृतीयेनोपविश्येत्यर्थः। त्रीणि यजूंषि घर्मदेवत्यानि, ऋक्पङ्क्तयः। हे घर्म, या ते तव दिव्या दिवि भवा दिव्या द्युलोकप्रविष्टा शुग् दीप्तिः, या गायत्र्यां छन्दसि प्रविष्टा, या च हविर्धाने यज्ञगृहे प्रविष्टा, सा ते तव शुग् दीप्तिराप्यायतां वर्धताम्। निष्ट्यायतां निष्ट्याना संहता सुदृढा भवतु, 'स्त्यै ष्ट्यै शब्दसंघातयोः'। तस्यै ते शुचे ते तुभ्यं च स्वाहा सुहुतमस्तु। हे घर्म, या ते तवान्तरिक्षे त्रिष्टुभि छन्दसि अग्नीध्रे अग्नीध्रसदने च प्रविष्टा, सा ते तव शुग् आप्यायतां निष्ट्यायताम्, तस्यै ते तुभ्यं च स्वाहा। हे घर्म ! या ते शुक् पृथिव्यां प्रविष्टा, या च जगत्यां छन्दसि, या सदस्या सदसि सदोमण्डपे प्रविष्टा, सा ते तव शुग् आप्यायतां निष्ट्यायताम्। तस्यै तुभ्यं च स्वाहा।

अत्र ब्राह्मणम् अथाग्नीध्रः। आहवनीये त्रीञ्छलाकानुपकल्पयते तेषामेकमुज्ज्वलय्य मुखदघ्ने धारयमाणो जुहोति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य शुगुदक्रामत् सेमाँल्लोकानाविशत्तयैवैनमेतच्छुचा समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श० १४।३।१।२) इति। अथ घर्मोद्वासनाङ्गत्वेनाहुतित्रयं विधित्सुस्तदर्थं दर्भमुष्टित्रयस्योपकल्पनमाह—सर्वेषां समागमनानन्तरमाग्नीध्र आहवनीयदेशे गत्वा तत्र त्रीन् शलाकान् दर्भशलाकामुष्टीन् संपाद्य धारयेत्। अथ तेषामेकमुज्ज्वलय्य आहवनीये आदीप्य तं मुखदघ्ने मुखप्रमाणे उन्नतदेशे मुखसमं धारयमाणस्तद्गतेऽग्नौ 'या ते घर्म दिव्या शुक्' इति मन्त्रेण प्रथमाहुतिं जुहोति। अस्य होमस्य प्रयोजनमाह—छिन्नशिरस्कस्य यज्ञस्य सकाशात् शुक् शोक उदक्रामत्। सा उत्क्रान्ता सती इमान् पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकान् आविशत्। एतद् एतैर्होमैस्तयैव लोकत्रयगतया शुचा एनं यज्ञं समर्धयति, अनेन होमेन लोकत्रयसकाशात् शुचमाकृष्य पुनर्यज्ञे स्थापितवान् भवति। तथा च तं यज्ञं कृत्स्नं संपूर्णं करोति।

'अथ यन्मुखदघ्ने । उपरीव वै तद्यन्मुखदघ्नमुपरीव तद्यदसौ लोकस्तद्याऽमुं लोकꣳ शुगाविशत्तयैवैन-मेतच्छुचा समर्धयति कृत्स्नं करोति' (श० १४।३।१।१३)। यन्मुखदघ्नं मुखप्रमाणं तद् उपरीव उन्नतमिव खलु। असौ द्युलोक इति यत्, तदपि उपरीव उपरिष्टात् स्थितः खलु। तत्तथा मुखदघ्नधारणविशिष्टस्य प्रथमहोमस्य द्युलोकस्योन्नतत्वसाम्याद् या शुग् द्युलोकं प्रविष्टा, तथैव शुचाऽनेन खलु होमेन समर्धयति, यज्ञं च कृत्स्नं करोति या ते घर्म दिव्या शुगिति। हे घर्म ! या ते त्वदीया द्युप्रभृतिष्वाश्रिता शुक्, सा आप्यायतां नितरां स्त्यायताम्, संघीभूता सुदृढा भवतु। तस्यै शुचे ते तुभ्यं स्वाहा। 'अथ द्वितीय-मुज्ज्वलय्य । नाभिदघ्ने धारयमाणो जुहोति ॥ या ते घर्मान्तरिक्षे ॥ अथ तृतीयमभ्याधाय । तस्मिन्नासीनो जुहोत्यथ इव वै तद्यदासीनोऽध इव तद्यदयं लोकस्तद्येमं लोकꣳ शुगाविशत्तयैवैनमेतच्छुचा समर्धयति ॥ या ते घर्म पृथिव्याꣳ शुगिति' (श० १४।३।१।१५-८)। नाभिदघ्नं मध्यमिव देहस्य मध्यदेशः खलु। अन्तरिक्ष-लोकस्याऽपि भूलोकस्वर्लोकयोर्मध्ये वर्तमानत्वात् साम्यमुभयोः। तेन द्वितीयाहुत्या या शुग् अन्तरिक्षलोकं पूर्वं प्रविष्टा, तया यज्ञं समर्धयति। तृतीयं दर्भशलाकामुष्टिमस्याधाय अग्नौ प्रक्षिप्य स्वयमासीनस्तस्मिन्नग्नौ 'या ते घर्म पृथिव्याम्' इति मन्त्रेण तृतीयामाहुतिं जुहोति। अनेन मन्त्रहोमेन भूलोकगतया शुचा यज्ञं समर्धयति।

अध्यात्मपक्षे—हे घर्म हे ज्ञानयज्ञ ! या ते दिव्या शुग् दीप्तिः प्रकाशः, दिवि द्युलोके गता, या च गायत्र्यां प्रविष्टा, या हविर्धाने प्रविष्टा, सा ते तव शुग् दीप्तिराप्यायतां वर्धताम्, निष्ट्यायतां संघीभूता भवतु। हे घर्म ! या ते शुग् अन्तरिक्षे, या च त्रिष्टुभि, या चाग्नीध्रे, सा आप्यायतां निष्ट्यायताम्। या च घर्म ! पृथिव्यां प्रविष्टा या जगत्यां या च सदस्या सदोमण्डपे प्रविष्टा, सा आप्यायतां निष्ट्यायताम्। तस्यै तुभ्यं च स्वाहा अत्यन्तं सम्मानं समर्पयामः।

दयानन्दस्तु—हे घर्म विद्वन् विदुषि वा ! या ते गायत्र्यां हविर्धाने शुग् या च दिव्या वर्तते, सा ते आप्यायताम् तस्यै ते स्वाहा भवतु' इति, तदप्यसत्, घर्मशब्देन विदुषो विदुष्या वा ग्रहणे मानाभावात्। गायत्र्यां गायतो दक्षिकायां विद्यायामित्यपि निर्मूलम्, तादृश्या विद्याया निर्मूलत्वात्। विदुषो शुक् कथं वर्धते ? कथं च संघीभूता सा गायत्र्यां कथं गच्छति ? कथं चान्तरिक्षे त्रिष्टुभि कथं चाग्नीध्रे गच्छति ? इति सर्वमेतद् दुःसमाधेयमेव ॥ १८ ॥

क्षत्रस्य॑ त्वा प॒रस्पा॑य॒ ब्रह्म॑णस्त॒न्वं॑ पाहि । वि॒शस्त्वा॒ धर्म॑णा व॒यमनु॑ क्रामाम सु॒वि॒ताय॒ नव्य॑से ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! हम क्षत्रिय जाति के सूर्यदेव के पूरी तरह से पालन के लिये तुम्हारे पीछे चलते हैं, तुम ब्राह्मण के शरीर की रक्षा करो। यज्ञ के धारण के लिये नूतन सभी सामग्रियों से सम्पन्न यज्ञसामग्री के लिये, वैश्य वर्ग की रक्षा के लिये हम तुम्हारे पीछे चलते हैं ॥ १९ ॥

'क्षत्रस्य त्वेति निष्क्रमणं पुरस्तात् पत्नीमन्तर्धाय' (का० श्रौ० २६।७।५)। होमानन्तरमध्वर्युः पत्नीमग्रे कृत्वा शालाया निष्क्रामति क्षत्रस्य त्वेति मन्त्रेणेत्यर्थः। उपरिष्टाद्बृहती घर्मदेवत्या। हे घर्म ! वयं क्षत्रस्य क्षत्रियस्य परस्पाय परमपालनाय त्वामनुक्रामाम अनुगच्छाम। परःशब्दोऽव्ययम्। पर उत्कृष्टं पायते रक्ष्यत इति परस्पम्, तस्मै तदर्थं त्वामनुक्रामाम इत्यर्थः। 'अथोपनिष्क्रामति। एतद्वै दैवं क्षत्रं य एष तपत्यस्य त्वा मानुषस्य क्षत्रस्य परस्पत्वायेत्येवैतदाह' (श० १४।३।१।१९) इति श्रुतिवचनं घर्मोद्वासनदेशं प्रति गमकम्। घर्ममेकीकृत्य निधाय आहवनीय आहुतित्रयं हुत्वा क्षत्रस्य त्वेति मन्त्रेणोपनिष्क्रामति। य एव सूर्यस्तपति, एतद्वै खलु दैवं

देवसम्बन्धि क्षत्रं क्षत्रियजातिः। स एव सूर्यो घर्मः। तथा च घर्मस्य क्षत्रियजात्यभिमानित्वाद् अस्य मानुषस्य मनुष्यसम्बन्धिनः क्षत्रस्य क्षत्रियजातेः परस्पाय अतिशयेन रक्षणाय हे घर्म! त्वामनुक्रामाम इति। किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मणजातेस्तन्वं शरीरं पाहि, 'ब्रह्मण आत्मानं गोपायेत्येवैतदाह' (श० १४।३।१।१९) इति श्रुतेः। किञ्च, विशो यज्ञस्य धर्मणा धारणेन निमित्तेन वयं त्वामनुक्रामाम 'यज्ञो वै विड् यज्ञस्य त्वारिष्टचै' (श० १४।३।१।१९) इति श्रुतेः। यज्ञात्मिका खलु विड् वैश्यजातिः, तत्साधनाज्यक्षीरहविःसम्पादकत्वात्। ततश्च विशस्त्वा धर्मणा यज्ञात्मिकाया वैश्यजातेररिष्टचै अहिंसायै वयं त्वामनुक्रामामेति। सर्वमेतत्किमर्थम्? नव्यसे नूतनाय सुविताय सुगताय सुप्रसूताय कर्मणे कर्मसिद्धचर्थं त्वामनुगच्छामेत्यर्थः। सुष्ठु इतं सुवितम्, 'इण् गतौ', क्तप्रत्यये उपसर्गस्योवङादेशः। यद्वा सूयते प्रेर्यत इति सुवितम्, 'षू प्रेरणे' इडागमे धातोरुवङ्।

अध्यात्मपक्षे—हे घर्म! क्षत्रस्य परस्पायं त्वामनुक्रामाम अनुगच्छाम, ज्ञानयक्षेन क्षत्रियो ब्रह्मात्मज्ञानं प्राप्य शोकमोहराहित्ये जनानां क्षतात्त्राणे प्रवर्तते। हे घर्म! ब्रह्मणो ब्राह्मणजातेस्तन्वं स्वरूपं पाहि रक्ष, ब्रह्मज्ञानेनैव ब्राह्मणस्य मुख्यं ब्राह्मण्यं रक्ष्यते। हे घर्म! विशो वैश्यजातेर्धर्मणा धारणनिमित्तेन त्वामनुक्रामाम। वैश्यजातिरपि ब्रह्मज्ञानेन शोकमोहराहित्ये यज्ञीयाज्यक्षीरहविःसंपादने प्रवर्तते। हे घर्म! वयं नवीयसे नूतनाय सुविताय सुप्रसूताय ज्ञानाय त्वामनुक्रामामेति।

दयानन्दस्तु—'हे राजन् राज्ञि वा! त्वं परस्पाय क्षत्रस्य ब्रह्मणस्त्वा तन्वं पाहि, यथा वयं नव्यसे सुविताय धर्मणानुक्रामाम, तथैव धर्मणि वर्तमानं त्वां विशोऽनुगच्छन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित् घर्मपदस्य राजार्थकत्वे मानाभावात्। परस्पायेत्यस्य 'येन परानन्यान् तपति तस्मै' इति व्याख्यानमपि निर्मूलम्, परःशब्दस्यान्यार्थत्वे मानाभावात्। 'विशोऽनुगच्छन्तु' इत्यप्यसंगतम्, मूले 'अनुगच्छन्तु' इति पाठाभावात्॥ १९॥

चतु॑:स्रक्ति॒र्नाभि॑र्ऋ॒तस्य॑ स॒प्रथा॑: स नो॑ वि॒श्वायु॑: स॒प्रथा॑: स न॑: स॒र्वायु॑: स॒प्रथा॑:। अप॒ द्वेषो॒ अप॒ ह्वरो॒ऽन्यव्र॑तस्य सश्चिम॥ २०॥

मन्त्रार्थ—वह दिशारूप चार कोनों वाला तथा सत्य-यज्ञ का बन्धन-स्थान अपने पूरे विस्तार के साथ पूर्ण आयु का दाता है। वह हमें पूर्ण आयु दे, वह हमारे यश को बढ़ावे। उसके अनुग्रह से हमारा सारा द्वेष दूर हो जाय। जन्ममरण लक्षण वाला संसरण दूर हो जाय। हम परमात्मा की सेवा में लग जाँय, अर्थात् हमें सायुज्य मोक्ष की प्राप्ति हो॥ २०॥

'नाभिस्पृशं प्रवृञ्जनीयं निदधाति चतु:स्रक्तिरिति' (का० श्रौ० २६।७।११)। उत्तरवेदेर्मध्यभागः प्रादेशविस्तृत एकाङ्गुलोच्चो नाभिः, नाभेः पुरस्तान्नाभिपृष्टमेव महावीरमासादयेत् परिस्पन्दे उत्सादयेत्, जलयुक्ते द्वीपे घर्मोद्वासनं कुर्यात्। पक्षान्तरमाह—'उत्तरवेदौ त्वेवोत्सादयेत्। यज्ञो वा उत्तरवेदिः शिरः प्रवर्ग्यो यज्ञ एवैतच्छिरः प्रतिदधाति' (श० १४।३।१।१५) इति हि श्रुतिः। 'उत्तरनाभ्या सꣳस्पृष्टं प्रथमं प्रवर्ग्यमुत्सादयति वाग्वा उत्तरनाभिः शिरः प्रवर्ग्यः शीर्षंस्तद्वाचं दधाति' (श० १४।३।१।१६)।

महाबृहती घर्मदेवत्या। स घर्मो नोऽस्माकं विश्वायुः, विश्वं सर्वं पूर्णमायुर्यस्मात् स विश्वायुः, पूर्णायुःप्रदोऽस्त्वित्यर्थः। पुनरुक्तिरादरार्था। कीदृशः सः? चतुस्रक्तिः, चतस्रः स्रक्तयः कोणा दिग्रूपा यस्य सः, 'एष वै चतु:स्रक्तिर्य एष तपति दिशो ह्येतस्य स्रक्तयः' (श० १४।३।१।१७)। एतस्यादित्यात्मकस्य महावीरस्य प्राच्याद्याश्चतस्रो महादिशः खलु स्रक्तयः कोणाः। तथा ऋतस्य सत्यस्य यज्ञस्य वा नाभिः, नहनं बन्धनस्थानम्। सप्रथाः सर्वतः पृथुः सर्वतः प्रख्यातो वा, 'सत्यं वा ऋतꣳ सत्यस्य नाभिः सप्रथा इत्येवैतदाह' (श० १४।३।१।१८) इति श्रुतेः।

हे घर्म ! त्वत्प्रसादाच्च अप द्वेषः, अपगच्छतु द्वेषोऽस्मत्तः, येन वीतरागा स्यामेति । अप ह्वरोऽपगच्छतु ह्वरश्चलनं जन्ममरणं चलनं सरणमस्मत्तोऽपगच्छतु, 'ह्वर चलने' । जनित्वा मरणं मृत्वा पुनर्जननमेव चलनम् । अन्यव्रतस्य सश्चिम। अन्यद् मनुष्यकर्मणो भिन्नं व्रतं कर्म जगदनुग्रहरूपं यस्य सोऽन्यव्रतः परमेश्वरस्तस्य, कर्मणि षष्ठी, तमन्यव्रतं परमेश्वरं सेवामहे 'सश्च सेवने', परमात्मभावं प्राप्नुम इत्यर्थः, 'अन्यद्वा एतस्य व्रतमन्यन्मनुष्याणां तस्मादाहान्यव्रतस्य सश्चिमेति' (श० १४।३।१।१९) इति श्रुतेः ।

अध्यात्मपक्षे स घर्मः प्रकाशात्मा यज्ञानां शीर्षभूतो ज्ञानयज्ञश्चतुस्रक्तिः, चतुर्दिग्व्यापृतत्वेन चतुरस्रः समग्रः, ऋतस्य सत्यस्य ब्रह्मणो नाभिर्बन्धनं नियमेन प्रापकः, सप्रथाः सर्वतः प्रख्यातः, विश्वायुः पूर्णायुःप्रदः, पुनरुक्तिरादरार्था । तत्प्रसादाच्च अपद्वेषोऽस्मत्तो द्वेषादिर्दोषोऽपगच्छन्तु, अपह्वरो जननमरणलक्षणं चलनं चापगच्छतु । अन्यव्रतस्य, लोकानुग्रहव्रतं परमात्मानं सश्चिम सेवामहे, सायुज्यं च प्राप्नुम ।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः ! यथा चतुःसक्तिर्नाभिरिव सप्रथा अन्यव्रतस्यर्तस्य परमात्मनः सेवां करोति, स सप्रथा विश्वायुर्नोऽस्मान् बोधयतु, स सप्रथा सर्वायुर्नः परमेश्वरो विद्यां ग्राहयतु, येन वयं द्वेषोऽपसश्चिम, तथा यूयमपि कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, संबोधनस्य निर्मूलत्वात् । न च प्रसिद्धनाभेश्चतुरस्रत्वम्, नाभेर्वृत्ताकारत्वात्, नाभिरिवेति मुख्यार्थत्यागे गौणार्थग्रहणे मानाभावाच्च । अन्येषां पालने व्रतं शीलं यस्य तस्येत्यपि त्रिसंगतम्, पालनपदस्य मूलेऽभावात् । लोककल्पनाऽपि निर्मूलैव । अन्यदपि गौणार्थाश्रयणमूलकत्वेन मन्त्रबाह्यमेव ॥ २० ॥

घर्मैतत्ते पुरीषं तेन वर्धस्व चा च प्यायस्व ।
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे घर्म ! यह दूध तुम्हारा अन्न है । इस दूध के द्वारा तुम बढ़ो और पुष्ट हो जाओ । तुम्हारे साथ ही हम भी वृद्धि को प्राप्त करें और पुष्ट हो जाँय ॥ २१ ॥

'आसेचनवन्ति पयसः पूरयति घर्मैतत्त इति' (का० श्रौ० २६।७।२३) । आसेचनं गर्तः, तद्युतानि पात्राणि दुग्धेन पूरयति । तानि च सप्त महावीरत्रयं द्वे पिन्वने उपयमनः स्रुवश्चेति । पयस इति षष्ठी तृतीयार्थे । घर्मदेवत्या अनुष्टुप् । हे घर्म, एतत् पयः, ते तव पुरीषम्, पृणाति पूरयतीति पुरीषम्, पूरयितृ अन्नम्, 'अन्नं वै पुरीषमन्नमेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० १४।३।१।२३) इति श्रुतेः । तेन पयसा वर्धस्व आप्यायस्व च । भवत्प्रसादाद् वयं च वर्धिषीमहि आप्यासिषीमहीति वृद्धिं प्राप्नुयाम पुत्रपश्वादीन् वृद्धान् करवाम ।

अध्यात्मपक्षे—हे घर्म ! एतद् वेदान्ताध्ययनाध्यापनादिकं ते पुरीषं पूरकमन्नम्, तेन वर्धस्व आप्यायस्व च । त्वत्प्रसादान्निर्विघ्नश्रवणादिना वयं वर्धिषीमहि अन्यानधिकारिणः शिष्यादींश्च वृद्धान् कृतात्मसाक्षात्कारान् सम्पादयाम ।

दयानन्दस्तु—हे घर्म जगदीश्वर विद्वन् वा ! यदेतत्ते पुरीषमस्ति, तेन त्वं वर्धस्व चान्यान् वर्धयस्व, आप्यायस्व अन्यांश्च पोषय । तव कृपया शिक्षया च वयं वर्धिषीमहि अन्यांश्च वर्धयेम, तथा यूयमपि कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नित्यपूर्णस्य पुष्टस्य च परमात्मनो वृद्धिपूरणाद्यसम्भवात्, 'अन्नं पुरीषम्' इति पूर्वोद्धृतश्रुतिविरोधाच्च ॥ २१ ॥

अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः । सᳬं सूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—प्रभासम्पन्न, मित्र के समान दर्शनीय, निज किरणों की वर्षा करने वाला सूर्यदेव विशेष रूप से प्रकाशित होता है । जल का धर्ता, निधियों का स्वामी समुद्र सूर्य रूप से प्रकाशित होता है ॥ २२ ॥

त्रिः परिषिच्याचिक्रददिति' (का० श्रौ० २६।७।९) । सामगानानन्तरमुत्सादनदेशे परिषिच्य अचिक्रददिति मन्त्रेण घर्मं सूर्यात्मना स्तौति । परोष्णिक्, घर्मदेवत्या । घर्मः सूर्यात्मना स्तूयते वर्षतीति वृषा, आहुतिद्वारेण वृष्टिकर्ता घर्मः प्रवृज्यमानः सन् अचिक्रदत्, 'क्रदि शब्दे' पुनः पुनः शब्दं करोति । कीदृशो घर्मः ? हरिः, हरितवर्णो रसानां हर्ता वा हरिः, 'अथाह वार्षाहरᳬं साम गायेति । एष वै वृषा हरिर्य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति' (श० १४।३।१।२६) इति श्रुतेः । परिषेचने क्रियमाणे प्रस्तोतारं प्रति सामगानार्थं हे प्रस्तोतः ! गायेति प्रैषः । तदेतत् स्तौति—एष खलु सूर्यो वृषाहरिः, वर्षणाद् रसहरणाच्च । एष एव प्रवर्ग्यः । महान् प्रभावान् । मित्रो न दर्शतः, न उपमार्थकः, मित्र इव दर्शनीयः । अत एव सूर्येण सह संदिद्युतत् सूर्यतुल्यो द्योतते, द्युतेर्लुङि णिजन्तस्य रूपमडभावश्च, सूर्यवत् सर्वं द्योतयति । उदकं धीयते यस्मिन् स उदधिः, जलस्य धर्ता, निधिः सुखानामिति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे—एष वृषा ज्ञानामृतं वर्षति, हरति दुःखमयं संसारमिति हरिः । तादृशो घर्मः, अचिक्रदद् अतिशयेन शब्दं करोति, वेदवेदान्तादिशास्त्रमूलकत्वाद् ज्ञानयज्ञस्य । स च महान् महद्ब्रह्मविषयत्वात् । मित्रो दर्शनीयः, उदधिर्ज्ञानामृतं जलनिधिश्च सुखानाम् ।

दयानन्दस्तु 'हे मनुष्याः ! यो वृषा हरिर्महानचिक्रदत्, मित्रो न दर्शतः सूर्येण सह उदधिर्निधिरिव संदिद्युतत्, स एव विद्युद्रूपोऽग्निः सर्वैः संप्रयोज्यः' इति, तदपि न, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्, निर्मूलाध्याहाराच्च । उदधिनिधिरित्यनयोः समुद्राकाशार्थत्वे वृषादिभिः सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च ॥ २२ ॥

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—जलदेवता और औषधियाँ हमारे श्रेष्ठ मित्र हों । जो काम हमारे प्रतिकूल होता है और जिस कार्य को हम शत्रुदृष्टि से देखते हैं, उसके लिये ये शत्रुरूप हों ॥ २३ ॥

'चात्वाले मार्जयन्ते सपत्नीकाः सुमित्रिया न इति' (का० श्रौ० २६।७।२८) । सपत्नीका ऋत्विग्यजमाना चात्वाले मार्जनं कुर्वते सुमित्रिया न इति मन्त्रेणेत्यर्थः । नोऽस्मदर्थम्, आप ओषधयश्च सुमित्रियाः साधुमित्रत्वेन स्थिताः सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः, तस्मै उभयात्मकाय शत्रवे ता दुर्मित्रिया अमित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु । (६।२२) इत्यत्र व्याख्याता ।

'अथ चात्वाले मार्जयन्ते । सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्त्वित्यञ्जलिनाऽऽप उपाचति वज्रो वा आपो वज्रेणैवैतन्मित्रधेयं कुरुते""योऽस्मान् द्वेष्टि""यामस्य दिशं द्वेष्यः स्यात् तां दिशं परासिञ्चेत्तेनैव तं पराभावयति' (श० १४।३।१।२७) इति श्रुतिरस्मिन्नर्थे प्रमाणम् ॥ २३ ॥

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—अन्धकारमय लोक से परे परम श्रेष्ठ स्वर्ग लोक को देखते हुए, देवलोक में सूर्यदेवता को देखते हुए हम श्रेष्ठ ब्रह्मज्योति को प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥

'उद्वयमित्युत्क्रामत्युत्तरपूर्वार्द्धम्' (का० श्रौ० २६।७।२८) ऐशानीं दिशं प्रति यजमानो गच्छतीत्यर्थः। वयं तमसः परि तमसः सकाशात् तमोबहुलादस्माल्लोकात्, उदगन्म उद्गता निर्गताः। कीदृशा वयम्? उत्तरम् उत्कृष्टतरं स्वः स्वर्गं लोकं पश्यन्तः, देवत्रा देवलोके सूर्यं देवं पश्यन्तः, उत्तमं ज्योतिर्ब्रह्मरूपम्, उदगन्म प्राप्ताः। (२०।२१) इत्यत्र व्याख्याता।

अत्र ब्राह्मणम्—'उद्वयं तमसस्परीति पाप्मा वै तमः पाप्मानमेव तमोऽपहते स्वः पश्यन्त उत्तरमित्ययं वै लोकोऽद्भ्य उत्तरोऽस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति' (श० १४।३।१।२८) इति ॥ २४ ॥

एधो॑ऽस्येधिषी॒महि॑ स॒मिद॑सि॒ तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ – आहुति के निमित्त समिधा उठाते हुए यजमान कहता है कि हे समित्काष्ठ ! तुम प्रकाश देने वाले हो, अनुग्रह करके हमारे धन-धान्य की वृद्धि करो। समिधा को आहवनीय में छोड़ने को उद्यत होकर कहे कि हे समित्काष्ठ, तुम पूर्ण प्रकाश करने वाले हो, तुम तेजःस्वरूप हो। मुझमें तेज का आधान करो ॥ २५ ॥

'अनपेक्षमेत्यैधोऽसीति समिधमादायाहवनीयेऽभ्यादधाति समिदसीति' (का० श्रौ० २६।७।२८)। यजमानः पश्चादनवलोकयन्नीशानदेशादेत्यैधोऽसीति मन्त्रेणैकां समिधं गृहीत्वा समिदसीति मन्त्रेणाहवनीये दधातीत्यर्थः। हे समित्! त्वमेधः, एधयति दीपयत्यग्निमिति समिद्दीपिकाऽसि। वयं त्वत्प्रसादाद् एधिषीमहि धनधान्यादिभिर्वृद्धिं व्याप्नुयाम। तेजश्चासि, अतो मयि विषये तेजो धेहि धारय। २०।२३ इत्यत्र व्याख्याता ॥ २५ ॥

याव॑ती॒ द्यावा॑पृथि॒वी याव॑च्च स॒प्त सिन्ध॑वो वितस्थि॒रे।
ताव॑न्तमिन्द्र ते॒ ग्रह॑मू॒र्जा गृ॑ह्णाम्यक्षि॒तं मयि॑ गृह्णाम्यक्षितम् ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! पृथ्वी और स्वर्ग का जितना विस्तार है, जिस परिमाण वाले देश में सात समुद्र स्थित हैं, उस परिमाण वाले आपके कभी क्षीण न होने वाले ग्रह को अन्न के साथ मैं ग्रहण करता हूँ। ऐसा करने से वह मुझसे कभी क्षीण नहीं होगा, इसलिये मैं उसका ग्रहण करता हूँ ॥ २६ ॥

'यावती द्यावापृथिवी इति दधिघर्मग्रहणम्' (का० श्रौ० २६।७।३८)। सपवित्रायामग्निहोत्रहवण्यां दधिघर्मं गृह्णातीत्यर्थः। ब्राह्मी उष्णिक्, दधिघर्मदेवत्या, इन्द्रदेवत्या च। हे इन्द्र ! ऊर्जा अन्नेन सह अक्षितमनुपक्षीणं ते तव ग्रहं तावन्तं तत्परिमाणमहं गृह्णामि, मयि च अक्षितं यथा स्यात्तथा गृह्णामि। तव ग्रहग्रहणेन मयि यज्ञक्षयो मास्त्वित्यर्थः। तावन्तं कियन्तम्? द्यावापृथिवी यावती द्यावाभूमी यावत्परिमाणे। च पुनः। सप्त सिन्धवः क्षीरोदाद्याः सप्त समुद्रायावत्परिमाणे देशे वितस्थिरे विशेषेण स्थिताः, तावन्तमतिमहत्तरं दधिघर्मं गृह्णामीत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ प्रसुते दधिघर्मेण चरन्ति·····' (श० १४।३।१।२९)। अथ सौत्येऽहनि कर्तव्यं दधिघर्माख्यं यागं विधत्ते—तत्तदधिद्रव्यकेण दधिघर्माख्येन यागेनाध्वर्युप्रभृतयश्चरन्ति·····। एतत् खलु सवन-

मिन्द्रस्य निष्कैवलम्, केवलमिन्द्रस्यैव निष्कृष्य स्वभूतं माध्यन्दिनं सवनम्। अतस्तेन स्वकीय एव भागभूते सवने एनमिन्द्रं प्रीणाति।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमेश्वर ! यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे व्याप्नुवन्ति, तावन्तं तावत्परिमाणं ते तव ग्रहमूर्जाऽन्नेन सदाऽहं गृह्णामि। अक्षितमक्षीणं यथा स्यात्तथा मयि गृह्णामि।

दयानन्दस्तु—हे इन्द्र ! ते यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे, तावन्तमक्षितग्रहमूर्जाऽहं गृह्णामि, तावन्तमक्षितमहं मयि गृह्णामि' इति, तदप्यसत्, ग्रहपदस्य सामर्थ्यार्थत्वे मानाभावात्। न च सामर्थ्यमेव ग्रहणसाधनम्, सोमग्रहाणामपि ग्रहणसाधनत्वप्रसिद्धेः। न च यावदीश्वरसामर्थ्यमस्ति तदनीश्वरे जीवे स्थापयितुं शक्यम्, घटे समुद्रधारणसामर्थ्याभावात्॥ २६॥

मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः।

घर्मस्त्रिशुग् वि राजति विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह॥ २७॥

मन्त्रार्थ—तीन प्रकार की दीप्ति वाला घर्म विराट् ज्योति के साथ मुझमें विराजमान है। वह समष्टि प्राण, महान् बल मुझमें विराजमान है। सब प्रकार की संकल्प-सिद्धि मुझमें विराजमान है॥ २७॥

'मयि त्यदिति भक्षणम्' (का० श्रौ० २६।७।३८) हुतशेषं दधिघर्मं यजमानर्त्विजः सोपहवं भक्षयन्तीत्यर्थः। पङ्क्तिः, अष्टाक्षरपञ्चपादा, दधिघर्मदेवत्या। यजमानाशीर्देवतेति केचित्। त्यत् तद् बृहद् महद् इन्द्रियं वीर्यं मयि विराजति विराजतु, लकारव्यत्ययः। दक्षः सकल्पसंपत्तिः, अस्तु। क्रतुः सत्संकल्पो मयि विराजतु। विराजा विशेषेण राजते यस्तेन जगत्प्रसिद्धेन ज्योतिषा आदित्याख्येन सह ब्रह्मणा त्रयीलक्षणेन ज्योतिषा च सह घर्मो महावीरो मयि विराजतु। कीदृशो घर्मः? त्रिशुक्, तिस्रः शुचो दीप्तयो यस्य सः। ताश्च 'या ते घर्म दिव्या शुक्' (३८।१८) इत्यत्र दर्शिताः, 'स उपहवमिष्ट्वा भक्षयति। मयि त्यदिन्द्रियं···मयि दक्षो मयि क्रतुरिति क्रतूदक्षावेवात्मन् धत्ते···घर्मो ह्येष त्रिशुग्विराजति···विराजा ह्येष य एष तपति ज्योतिषा···' (श० १४।३।१।३१) इति श्रुतेः। य एष खलु सूर्यस्तपति, एतत्खलु बृहत्परिवृढम् इन्द्रियं वीर्यात्मकम्, अत ईदृग्विधमिन्द्रियं मयि भवतु। क्रतुदक्षौ प्राणापानौ तावेवात्मनि धारयति, 'प्राणो वै यज्ञोऽपानः क्रतुः' (तै० सं० २।५।२) इति श्रुतेः। एष खलु घर्मशित्रशुग् त्रिविधं शोचमानो वैद्युतपार्थिवसूर्यात्मना त्रेधा दीप्यमानो विराजति, छन्दसां मध्ये विराट् खलु ज्योतिस्तेजोरूपा, 'अग्निर्देवानां ज्योतिर्विराट् छन्दसां ज्योतिः' (तै० सं० ७।१।१) इति श्रुतेः। अतो यथा विराजा ज्योतिषा सह एष घर्मो विराजते, तथा ब्रह्मणा ब्रह्मजात्या त्रयीरूपेण तेजसा सह एष सूर्यात्मको घर्मो विराजति, 'ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः॥' (सू० ता० उ० १।५) इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर ! त्यत् तत्, बृहद् महत्, इन्द्रियं वीर्यं मयि विराजतु। मयि दक्षो दाक्ष्यम्, क्रतुः शुभसंकल्पश्च भवतु। त्रिशुग् घर्मश्च कर्मोपासनज्ञानदीप्तियुक्तो ज्ञानयज्ञो मयि विराजतु। स च विराजा विशेषेण राजमानेन सगुणेन ज्योतिषा ब्रह्मणा प्रत्यक्चैतन्याभिन्नेन परमात्मना तेजसा निर्गुणेन च सह विराजते।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यथा विराजा ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह त्रिशुग् घर्मो विराजति, तथा मयि बृहत् त्यदिन्द्रियं मयि दक्षो मयि क्रतुर्विराजति, तथा युष्मासु स्वयं विराजताम्' इति, तदपि न, संबोधनस्य निर्मूलत्वात्, घर्मशब्दस्य प्रताप इत्यर्थस्तु निर्मूल एव। यज्ञोऽपि न साधारणः, प्रवर्ग्याख्यस्यैव विवक्षितत्वात्। तथैव त्रिशुग् मृदुमध्यतीव्रा दीप्तय इत्यादि व्याख्यानं साहसमात्रम्, श्रुतिविरुद्धत्वात्॥ २७॥

पयसो रेत आभृतं तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तराᳬं समाम्। त्विषः संवृक् क्रत्वे दक्षस्य ते सुषुम्णस्य ते सुषुम्णाग्निहुतः। इन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्य मधुमत उपहूत उपहूतस्य भक्षयामि॥ २८॥

इत्यष्टात्रिंशोऽध्यायः॥

मन्त्रार्थ—जल के सार की मैं अग्नि में आहुति देता हूँ, उसकी पूर्णता के लिये मैं उत्तरोत्तर वर्ष को व्याप्त करता रहूँ। हे क्रान्ति के कर्ता सुखदाता घर्म! अग्नि में आहुति देने के साथ आपका आह्वान किया जाता है। संकल्प की सिद्धि के दाता सुखरूप इन्द्र तुम्हारा पान करते हैं, प्रजापति तुम्हारा भक्षण करते हैं। हे मधुर स्वाद वाले घर्म! देवताओं के निमित्त अर्पित तुम्हारे बने हुए अंश का मैं प्रसाद ग्रहण करता हूँ॥ २८॥

गायत्र्यवसानहीना दधिघर्मभक्षण एव विनियुक्ता। पयसो रेतो वीर्यं सारं जगदुत्पत्तिबीजं यद् आभृतमाहुतं दधिघर्मरूपम्, तस्य दोहं प्रपूरणं वयमुत्तरामुत्तरां समामुत्तरोत्तरस्मिन् वर्षे, अशीमहि व्याप्नुयाम, 'कालाध्वनो' (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया, वयं सर्वदा यायजूकाः स्यामेत्यर्थः। 'त्विषः संवृगिति महाव्रतीये' (का० श्रौ० २६।७।३९)। महाव्रतीयेऽहनि त्विष इति मन्त्रेण हुतशेषदधिघर्मभक्षणं कार्यमित्यर्थः। अतिजगती दधिघर्मदेवत्या। संवृणक्ति स्वीकरोतीति संवृक् स्वीकर्ता, सम्पूर्वको वृजिः स्वीकरणार्थः। हे त्विषः संवृक् कान्तेः स्वीकर्तः! हे सुषुम्ण शोभनं सुम्नं सुखं यस्मात् तत्संबोधने हे सुखप्रद, हे दधिघर्म! अहमुपहूतः कृतोपहवः सन् ते तवांशं भक्षयामि कर्मणि षष्ठी वा, त्वां भक्षयामि। एकस्तेशब्दः पादपूरणः। कीदृशस्य ते? क्रत्वे दक्षस्य, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, क्रतोः संकल्पस्य दक्षः सिद्धिदाता, तस्य संकल्पसिद्धिदातुः। क्रतुशब्दस्य चतुर्थ्येकवचने गुणाभाव आर्षः। तथा सुषुम्णस्य शोभनसुखभूतस्य। अग्निहुतः, अग्नौ हूयत इति अग्निहुत् तस्य अग्नौ हुतस्य। इन्द्रपीतस्य, इन्द्रेण पीतस्य भक्षितस्य। प्रजापतिभक्षितस्य प्रजापतिना भक्षितस्य। मधुमतो मधुरस्वादोपेतस्य। उपहूतस्य कृतोपहवस्य। एवंविधस्य तवांशं हे दधिघर्म! अहं भक्षयामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'पयसो रेत आभृतमिति पयसो ह्येतद्रेत आभृतं तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तराᳬं समामित्याशिषमेवैतदाशास्ते' (श० १४।३।१।३१) इति। पयसः क्षीरसकाशात् खल्वेतद्रेतो वीर्यहेतुभूतं दधिघर्माख्यं हविः, आभृतं सम्पादितम्। दोहं दोहनीयं भोगमशीमहि प्राप्नुयाम। उत्तरामुत्तरां समाम् एतस्मिन् संवत्सर इव आगामिन्यपि सर्वस्मिन् संवत्सरे तत्प्राप्नुयामेति। आशिषमेव एतन्मन्त्रेण यजमान आशास्ते आशंसते।

अध्यात्मपक्षे—प्रवर्ग्यान्तिकर्मणां परमेश्वराराधनरूपत्वाद् यष्टारः प्रार्थयन्ते—हे दधिघर्माधिष्ठातृ देव! पयसः क्षीरस्य सकाशाद् दधिघर्माख्यं रेतो वीर्यं विश्वोत्पत्तिहेतुभूतं यद् आभृतमाहृतम्, तस्य दोहं प्रपूरणं वयमुत्तरामुत्तरां समामुत्तरोत्तरस्मिन् वर्षे, अशीमहि व्याप्नुयाम। वयं सर्वदा यायजूकाः स्याम। हे त्विषः कान्तेः सर्वस्य प्रकाशस्य स्वीकर्त्तः! ज्योतिषामपि ज्योतिः परमेश्वर! हे सुषुम्ण शोभनसुखप्रापक दधि-घर्मान्तर्यामिन्! अहमुपहूतः कृतोपहवः सन् ते त्वदधिष्ठितमंशं भक्षयामि। कीदृशस्य ते? क्रत्वे दक्षस्य क्रतोः

संकल्पस्य दक्षः सिद्धिदाता यस्तस्य संकल्पसिद्धिसम्पादकस्य। पुनः कीदृशस्य सुषुम्णस्य शोभनसुखदातुः। अग्निहुतोऽग्नौ हुतस्य, इन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्य, मधुमतो मधुरास्वादस्य, उपहूतस्य कृतोपहवस्य, तवांशं भक्षयामीत्यनुषङ्गः।

दयानन्दस्तु—हे सुषुम्ण ! यथा त्वया यस्य पयसो रेत आभृतम्, तस्य दोहमुत्तरामुत्तरां समां वयमशीमहि। तस्य त्वे क्रत्वे त्विषो दक्षस्य त आभृतमशीमहि, सुषुम्णस्येन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्योपहूतस्य मधुमतः पयसो दोषान् संवृक् सन्नुपहूतोऽग्निहुतोऽहं भक्षयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विशृङ्खलत्वात्। रेतःपदस्य पराक्रमार्थत्वं च निर्मूलमेव, तस्य बीजार्थत्वेन प्रसिद्धेः। न च पयसि जले पराक्रमो भवति, पराक्रमस्य चेतनधर्मत्वात्। न चान्यस्य पराक्रमोऽन्येन धारयितुं शक्यते। नह्यन्येन पुष्टं धृतं वा वीर्यं पराक्रमं वा वयमशीमहि प्राप्नुयाम, तथा सामर्थ्यादर्शनात्। नहि रामेण संभृतं पुष्टं धृतं वा वीर्यं पराक्रमं वा तदन्यः कोऽपि प्राप्तुं शक्नोति। किं बहुना, हिन्दीभाषामयेन व्याख्यानेनापि न कश्चन स्पष्टोऽर्थो विज्ञातुं शक्यः। सुन्दरसुखोपेतस्य क्रत्वे प्रज्ञायै प्रदीप्तस्य बलस्य किमित्यसंबद्धमेव। दक्षस्येति पदस्य आभृतमित्यनेन कथं सम्बन्धः। सुषुम्णस्य इन्द्रपीतस्य उपहूतस्य जलस्य दुग्धस्य मधुमतः के दोषाः ? प्रजापतिना कथं दोषवत् तत्पीतम् ? कथं च साधारणजनो दोषान् संवृङ्क्ते ? सर्वथापि मत्तप्रलपितमेवैतत्॥ २८॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायाम्
अष्टात्रिंशोऽध्यायः॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः । पृथिव्यै स्वाहाऽग्नये स्वाहाऽन्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहा । दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वान्तिर्यामी प्राणों के लिये अथवा सब प्राणियों के लिये यह आहुति समर्पित है । पृथ्वी के निमित्त, अग्नि के निमित्त, अन्तरिक्ष के निमित्त, वायु के निमित्त, स्वर्ग के निमित्त और सूर्य के निमित्त यह आहुति समर्पित है ॥ १ ॥

प्रवर्ग्ये घर्मभेदे प्रायश्चित्तम् । तत्र—'स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्य इति पूर्णाहुतिमाद्यामुत्तमां च मनसः काममाकूतिमिति' (का० श्रौ० २६।७।३३) । अस्यायमर्थः—अध्वर्युः 'भूमिर्भूमिम्, य ऋते चित्' इति मन्त्राभ्यां भग्नं घर्ममभिमृश्य परमेष्ठ्यादिचतुस्त्रिंशदाहुतीर्हुत्वा, स्वाहा प्राणेभ्य इत्याद्यां पूर्णाहुतिं हुत्वा, पृथिव्यै स्वाहेत्याहुतिर्विंशतिं सकृद्गृहीतेन हुत्वा, मनस इत्यन्त्यां पूर्णाहुतिं करोतीति । मन्त्रार्थस्तु—अधिपतिना हिरण्यगर्भेण सह वर्तमानेभ्यः साधिपतिकेभ्यः प्राणेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु—इति पूर्णाहुतिमन्त्रः । ततो विंशतिः स्पष्टार्था मन्त्राः । पृथिव्यै स्वाहा पृथिव्यै सुहुतमस्तु । अग्नये अन्तरिक्षाय वायवे दिवे सूर्याय स्वाहेत्यादि स्पष्टम् ।

अध्यात्मपक्षे—हिरण्यगर्भः समष्टिलिङ्गशरीराभिमानी, प्राणप्राधान्येन स सूत्रात्मा, बुद्धिप्राधान्येन हिरण्यगर्भः । तद्विभूतिभूता अन्ये देवा हिरण्यगर्भश्च परमेश्वरस्यैवावस्थाविशेषः । तेनाधिपतिना सह वर्तमानाः प्राणास्तद्विभूतिभूताः, तेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु । पृथिव्यादयोऽपि कारणब्रह्मविकारभूतत्वात् तद्रूपा एवातस्तेभ्यः सुहुतेन परमात्मा प्रसीदति । सर्वत्र तत्तदभिमानिनो देवा अन्तर्याम्येव वा समर्हणीयाः ।

दयानन्दस्तु 'हे मनुष्याः ! युष्माभिः साधिपतिकेभ्यः प्राणेभ्यः स्वाहा सत्यक्रिया, पृथिव्यै स्वाहा.... सूर्याय स्वाहा च यथावत् प्रयोज्या' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या पृथिव्यादिभ्यो जडेभ्यः स्वाहा सत्या वाक् किमर्थं प्रयोज्येत्यनुक्तेः । भावार्थस्तु सर्वथा मूलासंस्पर्शी प्रमाणविधुरत्वादुपेक्ष्य एव ॥ १ ॥

दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाऽद्भ्यः स्वाहा वरुणाय स्वाहा । नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—दिशाओं के लिये, चन्द्रमा के लिये, नक्षत्रों के लिये, जल के अधिपति देवताओं के लिये, वरुण के लिये, विष्णु की नाभि के लिये और प्रजापति के लिये यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित है ॥ २ ॥

दिग्भ्यः स्वाहा, चन्द्राय नक्षत्रेभ्यः स्वाहा, अद्भ्यो वरुणाय नाभ्यै देवतायै, पूताय, पुनातीति पूतः, पावित्र्यसम्पादयित्रे देवाय स्वाहा ।

अध्यात्मपक्षे—दिगादयो देवाः परमात्मविकाररूपाः । तद्द्वारा परमात्मन एव आहुत्या समर्हणम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यूयं शरीरस्य दाहे दिग्भ्यः स्वाहा, चन्द्राय स्वाहा····पूताय स्वाहा सत्यां क्रियां सम्प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्, मन्त्राणां मृतानां शरीरदाहे विनियोगस्य श्रुति-सूत्रादिभिर्दर्शनीयत्वात् । सूत्राणि तु घर्मभेदे प्रायश्चित्तशेषत्वमेषां मन्त्राणां प्रतिपादयन्ति । श्रुत्यारूढत्वात्तु तदेव युक्तम्, 'सर्वेषां वा एष भूतानाम् । सर्वेषां देवानामात्मा यद्यज्ञस्तस्य समृद्धिमनु यजमानः प्रजया पशुभि-र्ऋद्ध्यते वि वा एष प्रजया पशुभिर्ऋद्ध्यते यस्य घर्मो विदीर्यते तत्र प्रायश्चित्तिः' (श० १४।३।२।१) इति श्रुतेः । अयं यज्ञः सर्वेषां भूतानां मनुष्यपश्वादीनां सर्वेषामिन्द्रादीनां च आत्मा स्वरूपम्, यज्ञक्रियापरिणामत्वात् तेषाम्, 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' (म० स्मृ० ३।७६) इति स्मृतेः । तथाविधस्य यज्ञस्य समृद्धिमनु यजमानस्तत्फलभूतैः प्रजादिभिर्ऋध्नोति । यस्य यजमानस्य यज्ञे घर्मो महावीरो विदीर्यते भिद्यते, स एष यजमानो यज्ञाङ्गवैकल्येन समृद्ध्यभावात् स्वयमपि वृद्ध्यते ऋद्धि-हीनो भवति । तेन तत्प्रायश्चित्तं कुर्यात् ।

कात्यायनेनापि तथैवोक्तम्—'घर्मभेदे यथोक्तम्, उखावच्चान्यं कुर्यात्, अभिन्नेन चरेत्, स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्य इति पूर्णाहुतिमाद्यामुत्तमां च मनसः काममाकूतिमिति' (का० श्रौ० २६।७।३०-३३) । अस्यायमर्थः—प्रचरणीयस्य महावीरस्य भेदे सति तं संपिष्य अन्यया मृदा संसृज्य अन्यं महावीरं पूर्ववत् कुर्यादिति । 'अथ तं चोपशयां च पिष्ट्वा । मात्स्र्नया मृदा सꣳसृज्यावृता करोत्यावृता पचत्युत्सादनार्थम्····' (श० १४।३।२।२१) । महावीरनिर्माणकाले या मृत् तदर्थत्वेन स्थापिता, तामुपशयां च पिष्ट्वा महावीरं निर्मायाभिन्नेन द्वितीयेन तृतीयेन वा महावीरेण तु प्रवृञ्जनं कुर्यात् । भेदनप्रायश्चित्त्यर्थं स्वाहा प्राणेभ्य इत्यादिभिर्द्वादशसंख्याका आहुतीर्जुहोति । तासामाद्यामुत्तमां च 'मनसः काममाकूतिम्' इति मन्त्राभ्यामाज्यपूर्णया स्रुचा पूर्णाहुतिं कुर्यात् । 'पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वेणैवैतद्भिषज्यति यत्किञ्च विवृढं यज्ञस्य' (श० १४।३।२।१८) । तत्राद्यां पूर्णाहुतिं विधाय स्तौति—पूर्णाहुतिमिति । पूर्णं यत्तत्त्वं तत्सर्वं वै जगदात्मकम् । अतः पूर्णत्वगुणविशिष्टया आहुत्या प्रायश्चित्तं कुर्वन् यज्ञसम्बन्धि यत्किञ्चिदङ्गजातं विवृढं विकलं भग्नमासीत्, एतत् सर्वेणैव वस्तुजातेन भिषज्यति चिकित्सति । 'स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्य इति । मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठितास्तन्मनसैवैतद् भिषज्यति यत्किञ्च विवृढं यज्ञस्य' (श० १४।३।२।३) । सुखाद्यपरोक्षज्ञानसाधनमान्तरमिन्द्रियं खलु मनः प्राणानां चक्षुरादीनामधिपतिः, तेषामन्वय-व्यतिरेकाभ्यां मनःसाहित्येनैव विषयप्रकाशनसामर्थ्यदर्शनात् । 'पृथिव्यै स्वाहेति । पृथिवी वै सर्वेषां देवाना-मायतनं तत् सर्वाभिरेवैतद्देवताभिर्भिषज्यति यत्किञ्च विवृढं यज्ञस्य' (श० १४।३।२।४), 'अग्नये स्वाहेति । अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा तत्सर्वाभिरेवैतद्देवताभिर्भिषज्यति' (श० १४।३।२।५), 'ते देवा बिभ्यतोऽग्निं प्राविशन् तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवताः' (तै० सं० ६।२।२) । 'अन्तरिक्षाय स्वाहेति । अन्तरिक्षं वै सर्वेषां देवानामायतनं तत्सर्वाभि····॥ वायवे स्वाहेति । वायुर्वै सर्वेषां देवानामात्मा····॥ दिवे स्वाहेति । द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्····॥ सूर्याय स्वाहेति । सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा····॥ दिग्भ्यः स्वाहेति । दिशो वै सर्वेषां देवानामायतनम्····॥ चन्द्राय स्वाहेति । चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा ॥ नक्षत्रेभ्यः स्वाहेति । नक्षत्राणि वै सर्वेषां देवानामायतनम् ॥ अद्भ्यः स्वाहेति । आपो वै सर्वेषां देवानामायतनम्····॥ वरुणाय स्वाहेति····॥' (श० १४।३।२।६-१४) इति ब्राह्मणवचनैर्घर्मभेदनिमित्तकप्रायश्चित्तहोमे मन्त्राणां विनियोगः स्पष्ट एवेति दयानन्दस्य व्याख्यानमेतैश्च मन्त्रैः शवदाहविधानं सर्वथा विरुद्धमेव ॥ २ ॥

वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा। चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ— वाणी की प्राप्ति के लिये, वाम और दक्षिण नासिका में संचरण करने वाले प्राण के लिये, वाम और दक्षिण गोलक में विराजमान नेत्रों के लिये, वाम और दक्षिण कर्णकुहर में विद्यमान श्रवणेन्द्रिय के लिये मैं यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित करता हूँ ॥ ३ ॥

वाचे वागधिष्ठात्रे स्वाहा। प्राणाय स्वाहा प्राणेन्द्रियाधिष्ठात्रे, प्राणादीनां द्वित्वान्मन्त्रावृत्तिः। चक्षुषे तदधिष्ठात्रे, श्रोत्राय तदधिष्ठात्रे स्वाहा। तत्र शतपथश्रुतिः—'वाचे स्वाहेति। मुखमेवास्मिन्नेतद्दधाति प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहेति नासिके एवास्मिन्नेतद्दधाति चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहेत्यक्षिणी एवास्मिन्नेतद्दधाति श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहेति कर्णावेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० १४।३।२।१७)। मन्त्रे वाक्शब्देन वागिन्द्रियस्याभिधानान्महावीरेऽनेन मन्त्रेण वागिन्द्रियविशिष्टं मुखमेव दधाति। प्राणेन प्राणनव्यापारेण सह वर्तमानं प्राणेन्द्रियं तत्र नासिकयोर्वर्तते। अधिष्ठानद्वयविशिष्टस्य प्राणस्य मन्त्राभ्यां प्रतिपादनात् प्राणेन्द्रियाधिष्ठिते नासिके एवास्मिन् महावीरे स्थापितवान् भवति। तथैवान्यदपि व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—वागादीनामपि ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मरूपतैव। सार्वात्म्यप्रतिपिपादयिषया तेभ्यस्तेभ्यः स्वाहाकारेण परमात्मानमेव प्रीणाति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! यूयं मृतशरीरस्य वाचे स्वाहा, प्राणाय स्वाहा····श्रोत्राय स्वाहेत्याद्या घृताहुतीश्चितायां प्रक्षिपत' इति, तदपि निर्मूलमेव, तथा विधानानुपलम्भात्। न च मृतशरीरे वागादयः सन्ति, तेन तेभ्यः स्वाहाकारस्य त्वद्रीतया कः संबन्धः ?॥ ३ ॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय। पशूनाᳯं रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—मैं मन की अभिलाषा और प्रयत्न को प्राप्त करूँ, वाणी की सत्यता को प्राप्त करूँ। पशुओं की शोभा, विविध अन्नों का रस, कीर्ति और लक्ष्मी मेरे पास सदा स्थिर होकर रहें ॥ ४ ॥

द्वितीयः पूर्णाहुतिमन्त्रः। अहं मनसः काममभिलाषम्, आकवनमाकुञ्चनं वा आकूतिः प्रयत्नस्तं चाशीय प्राप्नुयाम्। वाचः सत्यं चाशीय, मद्वाक् सत्यं वदतु। पशूनां रूपं पशूपकारः पशुसंबधिनी शोभा वा, अन्नस्य रसः स्वादुत्वम्, यशः कीर्तिः श्रीर्लक्ष्मीश्च सर्वमेतन्मयि तिष्ठतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'मनसा वा इदᳯं सर्वमाप्तं तन्मनसैवैतद्भिषज्यति यत्किञ्च विवृढं यज्ञस्य॥··· वाचा वा इदᳯं सर्वमाप्तं ···· पशूनाᳯं रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहेत्याशिषमेवैतदाशास्ते' (श १४।३।२।१९-२०)। नह्यविषयं मनसः किञ्चित्। तत्तथा सर्वव्यापकेन मनसैवैतद्विकलं कर्म भिषज्यति। वाचा वागिन्द्रियेणाभिवदनव्यापारेण इदं सर्वं जगद् व्याप्तम्। प्रायश्चित्तहोमानन्तरं गवादिपशूनां सम्बन्धि रूपम्, अन्नस्य यो रसः, यच्च यशः, या च कीर्तिः, तत्सर्वं मयि श्रयतामित्याशिषमेवाशास्ते।

अध्यात्मपक्षे—अहं साधको मनसः कामं ब्रह्मप्राप्तिसम्बन्ध्यभिलाषम्, आकूतिं तद्विषयं प्रयत्नं च अशीय प्राप्नुयाम्। वाचः सत्यं तदनुगुणं सत्यं ब्रह्मप्राप्त्यनुगुणदानयागाद्यर्थम्, पशूनां रूपम्, तदनुगुण एवान्नस्य रसः, यशः, श्रीश्च मयि श्रयताम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यथाहं स्वाहा एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मृतानि शरीराणि दग्ध्वा मनसो वाचश्च सत्यं काममाकूतिं पशूनां रूपमशीय, यथा मय्यन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयताम्, तथैव कृत्वा यूयमेनं प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वस्योक्तत्वात्। न च मृतशरीरदाहस्य मनसो वाचश्च सत्यकामपूर्तिहेतुत्वं श्रुतम्, न च पशुरूपयशःश्रीप्राप्तिहेतुत्वं श्रुतम्। तेन निर्मूलमेव तदपि ॥ ४ ॥

प्रजापतिः सम्भ्रियमाणः सम्राट् सम्भृतो वैश्वदेवः सᳬसन्नो घर्मः प्रवृक्तस्तेज उद्यत आश्विनः पयस्यानीयमाने पौष्णो विष्यन्दमाने मारुतः क्लथन्। मैत्रः शरसि सन्ताय्यमाने वायव्यो ह्रियमाण आग्नेयो हूयमानो वाग्घुतः ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ– निश्चित अभिमर्शन से लेकर अजादुग्ध के सेचन तक संभ्रियमाण नाम वाले महावीर देवता का नाम प्रजापति है। इस अवस्था में महावीर का भेद होने पर प्रायश्चित्त की आहुति का मन्त्र 'प्रजापतये स्वाहा' है। दुग्ध-सेचन के बाद और कुशासादन से पूर्व संभ्रान्त नामक महावीर का देवता सम्राट् है, इसका भेद होने पर प्रायश्चित्त की आहुति का मन्त्र 'सम्राजे स्वाहा' है। आसादन से लेकर मुंजप्रलव पर अधिश्रयण से पूर्व संसन्न नामक महावीर के देवता विश्वेदेव हैं। इस बीच भेद होने पर प्रायश्चित्त की आहुति का मन्त्र 'विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा' है। अधिश्रयण से लेकर परिशास के ग्रहण के पूर्व महावीर घर्म का नाम प्रवृक्त है, वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्त का मन्त्र 'घर्माय स्वाहा' है। उद्यमन से लेकर अजापय-सेचन से पूर्व तक उद्यत नामक महावीर तेजोरूप है। वहाँ भेदन होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'तेजसे स्वाहा' है। अजादुग्ध के सींचने पर महावीर के देवता अश्विनीकुमार हैं, वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'अश्विभ्यां स्वाहा' है। विशेष रूप से स्यन्दमान होने पर महावीर का देवता पूषा है। वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'पूष्णे स्वाहा' है। घृत के मध्य रहते समय महावीर के देवता मरुत् हैं। वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'मरुद्भ्यः स्वाहा' है। शर में इध्ममान महावीर का देवता मित्र है, वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'मित्राय स्वाहा' है। होम से पूर्व आहवनीय के निकट ले जाये जा रहे महावीर का देवता वायु है, वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'वायवे स्वाहा' है। हूयमान महावीर का देवता अग्नि है, वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'अग्नये स्वाहा' है। हुत होम के बाद और उत्तर कर्मारम्भ के पूर्व महावीर का देवता वाक् है, वहाँ भेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'वाचे स्वाहा' है। ये सब आहुतियाँ एक बार लिये हुए घृत से होती हैं ॥ ५ ॥

'प्रजापतिः सम्भ्रियमाण इति च यथाकालम्' (का० श्रौ० २६।७।३४)। सम्भ्रियमाणाद्यवस्थाविशेषेषु महावीरभेदे तत्तदवस्थाप्रतिपादकैर्मन्त्रैः प्रजापतये स्वाहेत्यादिभिर्यथाकालमाहुतयो होतव्याः। सम्भ्रियमाणो

मृद्वल्मीकवराहविहतादिसंभारैर्निष्पाद्यमानो यदि भिद्येत, तदा प्रायश्चित्तहोमे प्रजापतिर्देवता, तदा प्रजापतये स्वाहेति मन्त्रेण प्रायश्चित्ताहुतिर्होतव्या, प्रजापतिः सम्भ्रियमाणो यथाकालं प्रायश्चित्तदेवतेत्युक्तत्वात् (अनु० ४।८)। निष्ठिताभिमर्शनादारभ्याऽजापयोऽवसेचनान्तं सम्भ्रियमाणो महावीरः प्रजापत्यात्मको भवति। पयोऽवसेकानन्तरं कुशासादनात् प्राक् सम्भृत इत्युच्यते। संभारैर्निष्पन्नः स महावीरः सम्यग् भ्राजमानत्वात् सम्राड् भवति। तदानीं भेदे सम्राट् प्रायश्चित्तदेवता। तदा सम्राजे स्वाहेति मन्त्रेण प्रायश्चित्ताहुतिर्होतव्या। वैश्वदेवः संसन्नः, आसादनादारभ्य मुञ्जप्रलवेष्वधिश्रयणात् प्राक् संसन्नो भवति। स च वैश्वदेवात्मको भवति। तदानीं महावीरे भिन्ने विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्। घर्मः प्रवृक्तः, अधिश्रयणादारभ्य परीशासाभ्यां ग्रहणात् प्राक् प्रवृक्तः, गार्हपत्यस्योत्तरतः प्रवृञ्जनेन संस्कृतो महावीरो घर्मो घर्मशब्दाभिधेयः सूर्यो भवति। तदा भेदे घर्माय स्वाहेत्याहुतिः। तेज उद्यतः, उद्यम्यत इत्युद्यतः। उद्यमनादारभ्य शफाभ्यामूर्ध्वमाधृतः प्रागजापयसोऽवसेकात् तेजस्तेजोरूपो भवति। तत्र भेदे तेजसे स्वाहेति जुहुयात्। आश्विनः पयस्यानीयमाने, अजापयस्यासिच्यमाने महावीरभेदे आश्विनोऽश्विदेवत्यो भवति। तदानीमश्विभ्यामिति जुहोति। पौष्णो विष्यन्दमाने विशेषेण स्यन्दमाने, 'स्यन्दू प्रस्रवणे', घृते बहिर्निःसृते सति भेदे महावीरः पौष्णः पूषदेवत्यो भवति। पूष्णे स्वाहेति जुहोति। मारुतः क्लथन्। क्लथनं मध्ये घृतस्यावर्तनम्। तदा भेदे मरुद्देवत्यो भवति। मरुद्भ्यः स्वाहेत्याहुतिः। मैत्रः शरसि। संताय्यमाने पयोऽवसेके या उपरि तरिका जायते, सा शरःशब्देनोच्यते। तस्मिन् ताय्यमाने मथ्यमाने घर्मो मैत्रो मित्रदेवत्यो भवति, 'तायृ पालन-सन्तत्योः'। शरआदिहरणात् प्राग्भेदे मैत्राय स्वाहेति मन्त्रेण जुहुयात्। वायव्यो ह्रियमाणः। आहवनीयं प्रति ह्रियमाणो होमात् प्राग् वायुदेवत्यः। तत्र वायवे स्वाहेति जुहोति। आग्नेयो हूयमानः। हूयमानो घर्मोऽग्नि-दैवतो भवति। तत्र भेदेऽग्नये स्वाहेति जुहुयात्। वाग्घुतः। होमादूर्ध्वं प्रागुत्तरघर्मारम्भाद् वाग् वाग्देवत्यो भवति। तत्र भेदे वाचे स्वाहेति जुहोति। सकृद्गृहीतैराज्यैरेता आहुतयः।

अध्यात्मपक्षे—ज्योतिष्टोमादौ प्रवर्ग्ये महावीरसंभरणादिहोमान्तं कर्म भवति। तस्य तस्यां तस्यामवस्थायां महावीरस्य तदनुगुणानि गुणनामानि च भिद्यन्ते। तत्र सर्वत्र घर्मान्तर्यामी परमेश्वर एव तत्तद्भावापन्नः स्वाहाकारादिना सम्मानं प्राप्नोति, तस्यैव सर्वकर्मसमर्हणीयत्वात्। यदा घर्मः सम्भ्रियमाणो भवति, तदा तदवस्थापन्नः प्रजापतिर्भवति। संभृतः सम्राट्पदव्यपदेश्यो भवति। संसन्न आसादितो घर्मः सूर्यो भवति। प्रवृक्तस्तेजः, उद्यत आश्विनः, पयस्यानीयमानः पौष्णः। विस्यन्दमानो मारुतः। भ्रियमाण आग्नेयः। हुतो वाग् भवति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, येनेश्वरेण सम्भ्रियमाणः सम्राड् वैश्वदेवः संसन्नो घर्मस्तेजः प्रवृक्त उद्यत आश्विनो विस्यन्दमानो मारुतः क्लथन्, मैत्रः संताय्यमाने शरसि, वायव्यो भ्रियमाणः, आग्नेयो हूयमानः, वाग हुतः, प्रजापतिः सम्भृतोऽस्ति, तमेव परमात्मानं भूय उपासध्वम्' इति, तदपि निरर्थकम्, परमेश्वरेण सम्भ्रियमाणः सम्राड् वैश्वदेवः संसन्नो घर्मादिरूपो भवतीत्यस्य निष्प्रमाणत्वात्। 'सरसि तडागे' इति च निर्मूलम्, निष्प्रमाणत्वादेव, उन्मत्तप्रलपितत्वाच्च ॥ ५ ॥

स॒वि॒ता प्र॑थ॒मेऽह॑न्न॒ग्निर्द्वि॒तीये॑ वा॒युस्तृ॒तीय॑ आदि॒त्यश्च॑तु॒र्थे च॒न्द्रमाः॑ पञ्च॒म ऋ॒तुः ष॒ष्ठे म॒रुतः॑ सप्त॒मे बृ॒हस्पति॑रष्ट॒मे। मि॒त्रो न॑व॒मे वरु॑णो दश॒म इन्द्र॑ एकाद॒शे विश्वे॑ दे॒वा द्वा॑द॒शे ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—प्रथम दिन का देवता सविता है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'सवित्रे स्वाहा' है। दूसरे दिन का देवता अग्नि है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'अग्नये स्वाहा' है। तीसरे दिन का देवता वायु है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'वायवे स्वाहा' है। चौथे दिन का देवता आदित्य है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'आदित्याय स्वाहा' है। पाँचवें दिन का देवता चन्द्रमा है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'चन्द्रमसे स्वाहा' है। छठे दिन का देवता ऋतु है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'ऋतवे स्वाहा' है। सातवें दिन का देवता मरुत् है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'मरुद्भ्यः स्वाहा' है। आठवें दिन का देवता बृहस्पति है, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'बृहस्पतये स्वाहा' है। नवें दिन के देवता मित्र हैं, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'मित्राय स्वाहा' है। दसवें दिन के देवता वरुण हैं, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'वरुणाय स्वाहा' है। ग्यारहवें दिन के देवता इन्द्र हैं, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'इन्द्राय स्वाहा' है। बारहवें दिन के देवता विश्वेदेव हैं, उस दिन घर्मभेद होने पर प्रायश्चित्ताहुति का मन्त्र 'विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा' है ॥ ६ ॥

'सविता प्रथमेऽहन्निति च प्रत्यहम्' (का० श्रौ० २६।७।३५)। प्रथमेऽहन् दिने घर्मभेदे सविता देवता सवितृदेवतात्मको महावीरो भवति। तत्र सवित्रे स्वाहेति होमः। एवमग्रेऽपि। अग्निर्द्वितीये दिवसेऽग्निरग्न्यात्मको भवति तदानीम्। तृतीये वायुश्चतुर्थे आदित्यात्मकः, पञ्चमेऽह्नि चन्द्रमाः, षष्ठे दिवसे ऋतुः, मरुतः सप्तमेऽह्नि, बृहस्पतिरष्टमे, नवमेऽह्नि मित्रात्मकः, दशमे दिने वरुणः, एकादशेऽह्नि इन्द्रः, द्वादशे विश्वे देवाः। तत्र भेदे विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेत्याहुतिः। एकाहे सूपसदां हुतत्वात् प्रवर्ग्यस्यापि दिवसत्रय एवानुष्ठानम्। साग्निचित्येषु षड्दिवसेष्वहीनाहर्गणेषु सर्वत्र द्वादशोपसद इति द्वादशदिवसेषु उपसत्प्रवृद्धौ एता एवाहुतयः पुनरादित आवर्त्यन्ते।

अध्यात्मपक्षे—प्रथमादिदिवसेषु घर्मभेदे दिवसभेदेन देवताभेदोऽपि ब्रह्मविस्तारत्वाद् ब्रह्मात्मक एव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अनेन जीवेन प्रथमेऽहन् सविता द्वितीयेऽग्नि ·· द्वादशेऽहनि विश्वे देवाश्च प्राप्यन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्य निर्मूलत्वात्, देहत्यागानन्तरं जीवः प्रथमादिदिनेषु तांस्तान् देवान् प्राप्नोतीत्यत्र मानाभावात्। न चायं मन्त्र एव प्रमाणमिति, जीवेन देहत्यागानन्तरं प्राप्यन्त इत्यंशस्य मन्त्रेऽभावात्। किमर्थं चैते प्राप्यन्ते जीवेन विश्वे देवाः? सर्वे उत्तमगुणा इत्यपि निर्मूलम्, तथात्वे सर्वेषां तद्वत्त्वोपलम्भापातात् ॥ ६ ॥

॥ महावीरप्रायश्चित्तानि समाप्तानि ॥

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च। सासह्वांश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—उग्र, भीम, ध्वान्त, धुनि, सासह्वान्, अभियुग्वा और विक्षिप नाम वाले मरुतों के लिये मैं यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित करता हूँ ॥ ७ ॥

'हस्तेन मारुतान् जुहोति''''शुक्रज्योतिरिति प्रतिमन्त्रम्, विमुखेनारण्येऽनूच्यमिति' (का० श्रौ० १८।४।२३-२४) इति कात्यायनरीत्या चयने मारुतान् षट् पुरोडाशान् शुक्रज्योतिश्चेत्यादिषण्मारुतमन्त्रैः (मा० सं० १७।८०-८५) हुत्वाऽरण्येऽनूच्यसंज्ञं सप्तमं पुरोडाशं विमुखसंज्ञेन 'उग्रश्च' इति मन्त्रेण जुहुयात्। उग्रश्च मारुती गायत्री। विमुखाख्यो मन्त्रोऽग्नौ विनियुक्तस्तस्मादाग्निक एवास्यर्षिः, 'परमेष्ठी प्राजापत्यो वा' (४।८) इत्यनुक्रमणीवचनादाग्निकः प्रजापतिर्ऋषिः। अस्य मन्त्रस्यात्र पाठोऽरण्येऽध्येयत्वसामान्यात्। य एते उग्रादिनामकाः सप्त मरुतस्तेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु। उग्र उत्कृष्टः। भीमः, बिभेत्यस्मादिति भीमो भयङ्करः। ध्वान्तः, अन्धकारसदृशः, ध्वनति शब्दं करोतीति वा ध्वान्तः। धुनिः, धूनयति कम्पयति यः सः। सासह्वान् असत्यार्थानामभिभविता, सहते शत्रूनभिभवति यः स सासह्वान्, क्वसुप्रत्ययः, संहितायां दीर्घः। अभियुनक्तीत्यभियुग्वा, अस्मत्संमुखं योगं प्राप्नोतीत्यभियुग्वा, अभिपूर्वस्य युजेः क्वनिप्प्रत्ययः। विक्षिपो विक्षेपणकारी, विविधं क्षिपति रिपून् वेति, 'इगुपध' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः। परस्परसमुच्चयार्थाश्चकाराः।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरः शिव एव तत्तद्गुणविशिष्ट उग्रादिशब्दैर्बोध्यः। उद्गूर्णत्वात् स उग्रः। विमुखानां भयङ्करत्वाद्भीमः। प्रकाशरूपोऽपि तेषामन्धकारवद्भासमानत्वाद् ध्वान्तः। धुनिः खलानां कम्पयितृत्वात्। असतामभिभवितृत्वात् सासह्वान्। अभियोक्तृत्वादभियुग्वा। रिपूणां विक्षेपकत्वाद्विक्षिपः। एवंगुणविशिष्टभेदभिन्नेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! मरणं प्राप्तो जीवः स्वाहोग्रश्च''''विक्षिपो जायते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्, मरणं प्राप्तो जीव उग्रो भवतीत्यादेर्निष्प्रमाणत्वात्। स्वाहा स्वकीया क्रियेत्यपि चिन्त्यम् ॥ ७ ॥

अ॒ग्निꣳ हृद॑येना॒शनिꣳ॑ हृदया॒ग्रेण॑ पशु॒पतिं॑ कृत्स्नहृ॒द॑येन भ॒वं य॒क्ना। श॒र्वं म॑तस्ना॒भ्या॒मीशा॑नं म॒न्युना॑ महादे॒वम॑न्तःपर्श॒व्येनो॒ग्रं दे॒वं व॑नि॒ष्ठुना॑ वसिष्ठहनुः शि॒ङ्गीनि॑ को॒श्या॒भ्या॑म् ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—अग्नि को मैं हृदय के द्वारा प्रसन्न करता हूँ। अशनि देव को हृदयाग्र से, पशुपति को सारे हृदय से, भव को कालखण्ड से, शर्व को मतस्ना नामक हृदयस्थल से, ईशान देवता को क्रोध से, महादेव को पसलियों के मांस से, उग्र देवता को बड़ी आँत से और शिंगी नामक देवताओं को हृदयकोषस्थित मांसपिण्ड से प्रसन्न करता हूँ ॥ ८ ॥

'विमुखाच्च परेभ्यः, मा नो मित्र इति च प्रत्यृचमनुवाकाभ्याम्, अन्त्यां द्यावापृथिवीयामिति' (का० श्रौ० २०।८।५-७)। तदर्थस्तु—विमुखसंज्ञकादुग्रश्चेत्यस्मात् परेभ्य उत्तरकालपठितेभ्यो देवताश्वाङ्गेभ्योऽग्निं हृदयेनेत्यादिभ्यश्चतुर्गृहीतेनाज्येनाग्नये स्वाहा, हृदयाय स्वाहा, अशनये स्वाहा, हृदयाग्राय स्वाहेति चतुर्गृहीतं जुहुयात्। हरिस्वामिरीत्या अग्निं हृदयेन प्रीणामि स्वाहेत्यादिप्रयोगः। ततश्चाग्निं हृदयेनेत्यादीन् विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेत्यन्तान् होमान् कृत्वा मा न इत्यनुवाकाभ्यां (मा० सं० २५।२४-३९) षोडशाहुतीर्हुत्वा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहेति चरमामाहुतिं जुहुयात्, 'अरण्येऽनूच्यान् हुत्वा द्यावापृथिव्यामुत्तमामाहुतिं जुहोति' इति श्रुतेः। अरण्येऽनूच्यानरण्ये पठितानग्निं हृदयेनेत्यादीन् विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेत्यन्तान् होमान् कृत्वा द्यावापृथिवीयामुत्तमामाहुतिं जुहोतीति श्रुत्यर्थः। 'अग्निꣳ हृदयेनाश्वमेधिकानि

तत्रत्य एर्वाषर्लोमभ्यः स्वाहेति प्रायश्चित्ताहुतयो द्विचत्वारिंशत्' (४।८) इत्यनुक्रमणी। आ अध्यायपरिसमाप्ते-राश्वमेधिका मन्त्राः। अरण्येऽध्येयत्वसामान्यादिहाम्नाताः। तत्रापि—'अग्निꣳ हृदयेन, उग्रं लोहितेन' इति द्वे कण्डिके ब्राह्मणरूपे। देवताश्चावयवसम्बन्धविधानाल्लोमादीन्यङ्गान्येव, आयासादयो देवता एव।

मन्त्रार्थस्तु—अग्निं देवं हृदयेन अश्वसम्बन्धिना हृदयाख्येनावयवेन प्रीणामि तोषयामि। अशनिम् अशनिरूपां देवतां हृदयाग्रेण हृदयस्याग्रदेशेन प्रीणामि तोषयामि। पशूनां पतिं पालकं देवं कृत्स्नहृदयेन सकलेन हृदयेन प्रीणामि। यक्ना यकृन्नाम पशोर्हृदयसमीपवर्ति कालखण्डाख्यं मांसम्, तेन भवं देवं प्रीणामि, 'पद्दन्नो' (पा० सू० ६।१।६३) इति यकृच्छब्दस्य यकन्नादेशः। मतस्ने हृदयास्थिविशेषौ, ताभ्यां शर्वं देवं प्रीणामि। मन्युनाऽश्वक्रोधेन ईशानं देवं प्रीणामि। अन्तःपर्शव्येन, पर्शवः पार्श्वास्थीनि, तेष्वन्तर्वर्तमानेन पार्श्वास्थिसम्बन्धिना मांसेन महादेवं प्रीणामि। वनिष्ठुः स्थूलान्त्रम्, तेनोग्रं देवं प्रीणामि। वसिष्ठहनुर्वसिष्ठस्य देवस्य हनुः कपोलाधोदेशः, यद्वा वसिष्ठो यो हनुः कपोलाधोदेशः, 'तत्परो हनुः' (२।६।९०) इत्यमरवचनात्, तत्परः कपोलाधोभागस्थो हन्त्याहारमिति हनुः, लिङ्गव्यत्ययः, अतिशयेन वासयिता वसिष्ठ आहारस्तद्धननशीलो वा, तेन। कोश्याभ्यां च कोशो हृदयकोशः, तत्स्थाभ्यां मांसपिण्डाभ्यां च शिङ्गीनि दैवतानि प्रीणामि।

अध्यात्मपक्षे—द्रव्यं देवताश्च सर्वं ब्रह्मैवेति भावनया तत्तद्द्रव्यैस्तेषां देवानां प्रीणनं महते श्रेयसेऽवकल्प्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये ते मृता जीवास्ते हृदयेनाग्निं हृदयाग्रेणाशनिं"'कोश्याभ्यां शिङ्गीनि प्राप्नुवन्तीति विजानीत' इति, तदपि न, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्, मृतानां हृदयादिसहितस्य देहस्य दग्धत्वात् कथं ते तैरग्न्यादिकं प्राप्नुवन्ति। किञ्च, मृतानां कृत्स्नहृदयेनैव परमेश्वरप्राप्तिः स्यात्, तदा कृतमुपासनादिभिः। तस्मात् सर्वं निरर्थकमेव ॥ ८ ॥

उग्रं लोहितेन मित्रꣳ सौव्रत्येन रुद्रं दौर्व्रत्येनेन्द्रं प्रक्रीडेन मरुतो बलेन साध्यान् प्रमुदा। भवस्य कण्ठ्यꣳ रुद्रस्यान्तःपार्श्व्यं महादेवस्य यकृच्छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—उग्र देवता को लोहित से, मित्र देवता को शुभ कर्मों के अनुष्ठान से, रुद्र देवता को शिष्यताड़न आदि अशोभन कार्यों से, इन्द्र देवता को क्रीड़ाओं से, मरुत् देवताओं को बल से, साध्य देवताओं को हर्ष से, भव देवता को कण्ठ के मांस से, रुद्र देवता को पसलियों के मांस से, महादेव को कालखण्ड से, शर्व देवता को बड़ी आँत से और पशुपति देवता को पुरीतत् स्थित मांसखण्ड से सन्तुष्ट करता हूँ ॥ ९ ॥

उग्रम् उग्राख्यं देवं लोहितेन अप्संबन्धिना रुधिरेण, मित्रं मित्राख्यं सर्वस्यानुकूलं देवं शोभनं व्रतं गत्यादिकर्म यस्य स सुव्रतः, सुव्रतस्य भावः सौव्रत्यम्, तेन शोभनगत्यादिकर्तृत्वेन प्रीणामि। रुद्रं देवं दौर्व्रत्येन दुष्टं स्खलनोच्छलनादि व्रतं यस्य स दुर्व्रतस्तस्य भावो दौर्व्रत्यम्, तेन प्रीणामि। इन्द्रं देवं प्रक्रीडेन प्रक्रीडनमश्वस्य विहारस्तेन प्रीणामि। मरुतो मरुत्संज्ञान् देवान् बलेनाश्वसंबन्धिना सामर्थ्येन प्रीणामि। साध्यान् देवान् प्रमुदा प्रकृष्टा मुत् प्रमुत्, तया प्रीणामि। भवस्य कण्ठ्यम्, अत्र षष्ठ्यन्तो देवः प्रथमान्तमङ्गम्, कण्ठे भवं कण्ठ्यं पिशितं भवस्य सम्बन्धि, तेन भवं प्रीणामीत्यर्थः। पार्श्वस्यान्तर्मध्ये भवं पिशितमन्तःपार्श्व्यम्,

तद्रुद्रस्यास्तु, तेन रुद्रं प्रीणामि। यकृत् कालखण्डं महादेवस्य महादेवसम्बन्धि। वनिष्ठुः स्थूलान्त्रं शर्वस्यास्तु। पुरीतद् हृदयाच्छादकमन्त्रं पशुपतेरस्तु, हृदयपुण्डरीकमेव वा पुरीतत्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः! गर्भाशयस्था जीवा बाह्या वा लोहितेनोग्रं सौव्रत्येन मित्रं दौर्व्रत्येन रुद्रं प्रक्रीडिनमिन्द्रं बलेन मरुतः····शर्वस्य वनिष्ठुं पशुपतेः प्राप्नुवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, व्यभिचारात्, लोहिते सत्यपि केषाञ्चिदुग्रत्वादर्शनात्, पार्श्व्येन महादेवस्य यकृता सर्वस्य पशुरक्षकस्य पुरीतता कः सम्बन्ध इत्यनिरूपणात्॥ ९॥

लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा। माꣳसेभ्यः स्वाहा माꣳसेभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहाऽस्थभ्यः स्वाहाऽस्थभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा। रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा॥ १०॥

मन्त्रार्थ—मैं समष्टि लोमों के लिये श्रेष्ठ आहुति देता हूँ, व्यष्टि लोमों के लिये, समष्टि त्वचा के लिये, व्यष्टि त्वचा के लिये, समष्टि रुधिर के लिये, व्यष्टि रुधिर के लिये, समष्टि मेदा के लिये, व्यष्टि मेदा के लिये, समष्टि मांस के लिये, व्यष्टि मांस के लिये, समष्टि नसों के लिये, व्यष्टि नसों के लिये, समष्टि अस्थियों के लिये, व्यष्टि अस्थियों के लिये, समष्टि मज्जा के लिये, व्यष्टि मज्जा के लिये, वीर्य के लिये और पायु इन्द्रिय के लिये मैं यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित करता हूँ॥ १०॥

लोमभ्यः स्वाहेति प्रायश्चित्ताहुतयो द्विचत्वारिंशत्। लोमभ्यो रोमभ्योऽश्वसम्बन्धिभ्यस्तदभिमानिदेवतायै स्वाहा सुहुतमस्तु। सर्वेषां सकलावयवव्यापिनां रोम्णां परिग्रहार्थं द्विरुक्तिः। लोमान्यङ्गान्येवेति रीत्या तु लोमानि जुहोमीत्येवार्थः। त्वचे, लोहिताय, मेदोभ्यो रुधिरान्तर्वर्तिमांसच्छादको धातुर्मेदस्तस्मै, मांसेभ्यो मेदसोऽन्तर्वर्तीनि मांसानि तेभ्यः, स्नावभ्यो मांसान्तर्वर्तिनः शिराविशेषाः स्नायवस्तेभ्यः, अस्थभ्यः स्नाय्वन्त-र्वर्तीनि अस्थीनि, 'छन्दस्यपि दृश्यते' (पा० सू० ७।१।७६) इत्यस्थिशब्दस्य हलादिविभक्तावप्यनङादेशः। मज्जभ्यः, अस्थ्नामन्तर्गता मज्जानस्तेभ्यः। एतदन्तं द्विरुक्तिः। रेतसे रेतो वीर्यम्। ततोऽप्यान्तरं पायवे अश्वसम्बन्धि गुदं पायुस्तस्मै। एवं केषाञ्चिद्रीत्या एषामङ्गानां होमः। केषाञ्चिद्रीत्या अश्वाङ्गाभिमानिनां देवानां होममन्त्राः।

अध्यात्मपक्षे—अश्वाङ्गानां तदभिमानिनां देवानां वा पारम्पर्येण ब्रह्मकार्यत्वाद् ब्रह्मरूपत्वमनुसन्धेयम्। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—मनुष्यैः प्रेतक्रियायां घृतादेर्लोमभ्यः स्वाहा····पायवे स्वाहा सततं प्रयोज्या' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मृतानां देहावयवेभ्यः किं प्रयोजनमित्यनुक्तेः। किमिदं जडाभ्यर्चनं मूर्तिपूजनमिव त्वद्दृष्ट्या नापसिद्धान्तानुसरणम्?॥ १०॥

आयासाय स्वाहा प्रायासाय स्वाहा संयासाय स्वाहा वियासाय स्वाहोद्यासाय स्वाहा । शुचे स्वाहा शोचते स्वाहा शोचमानाय स्वाहा शोकाय स्वाहा ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—आयास देवता के लिये, प्रायास के लिये, संयास के लिये, वियास और उद्यास के लिये, शुचि के लिये, शोचत् के लिये, शोचमान और शोक के लिये मैं यह श्रेष्ठ आहुति देता हूँ ॥ ११ ॥

आयासादयो देवविशेषाः । आयासाय स्वाहा, प्रायासाय स्वाहा, संयासाय स्वाहा, वियासाय स्वाहा, उद्यासाय स्वाहा, शुचे शोचते शोच्यमानाय शोकाय स्वाहा । यद्वा आयासः श्रमस्तस्मै अश्वसम्बन्धिने, प्रकृष्ट आयासः प्रायासः, संयासः प्रयत्नः, 'यसु प्रयत्ने' इत्यस्माद् घञि रूपम् । विविधं यसनं प्रयत्नो वियासः, उत्कटं संयसनं सम्यक् प्रयत्नः । शुचे शोचनाय, शोचते शोचनं कुर्वते, शोचमानाय शोकाय संज्ञपनजन्याय अन्तस्तापाय स्वाहा ।

अध्यात्मपक्षे—आयासप्रयासादयो भगवत्प्राप्तिसम्बन्धिनः पूज्या भवन्तीति तेभ्योऽपि स्वाहाकारेण सम्मानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! यूयमायासाय स्वाहा····शोकाय स्वाहा प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, किमर्थं स्वाहाकारः प्रयोक्तव्य इत्यनुक्तेः ॥ ११ ॥

तपसे स्वाहा तप्यते स्वाहा तप्यमानाय स्वाहा तप्ताय स्वाहा घर्माय स्वाहा । निष्कृत्यै स्वाहा प्रायश्चित्त्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—तप के लिये, तपकर्ता के लिये, तप्यमान और तप्त के लिये, घर्म के लिये, निष्कृति के लिये, प्रायश्चित्ति के लिये और औषध के लिये मैं यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित करता हूँ ॥ १२ ॥

तपसे, तप्यते, तप्यमानाय, तप्ताय घर्माय । निष्कृत्यै, प्रायश्चित्त्यै, भेषजाय । तपसे तापेन विषयीक्रियमाणाय, तप्यमानाय सन्तप्यमानाय, तप्ताय संतापेन विषयीक्रियमाणाय, निष्कृत्यै निःशेषेण करणं समापनं निष्कृतिस्तस्यै, प्रायश्चित्त्यै प्रायो वैकल्यम्, तस्य चित्तिः समाधानम्, तस्यै । भेषजाय अयथावदनुष्ठान-रूपदोषस्य चिकित्सा भेषजम्, तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—परमपुरुषार्थभगवत्पदप्राप्तिमूलानां तपआदीनां देवतारूपत्वात् तेभ्यः सुहुतं शुभावहमेव ।

दयानन्दस्तु—'मनुष्यैस्तपसे स्वाहा····भेषजाय स्वाहा निरन्तरं प्रयोक्तव्या' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रयोजनन्तरा तत्प्रयोज्यस्योन्मत्तचेष्टितत्वात् ॥ १२ ॥

यमाय स्वाहाऽन्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा । ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा । विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬ स्वाहा ॥ १३ ॥

॥ इत्येकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

मन्त्रार्थ- यम के लिये, अन्तक के लिये, मृत्यु के लिये, ब्रह्म के लिये, ब्रह्महत्या के लिये, विश्वेदेव देवताओं के लिये और द्यावापृथिवी देवताओं के लिये मैं यह श्रेष्ठ आहुति समर्पित करता हूँ ॥ १३ ॥

यमाय, अन्तकाय, मृत्यवे, ब्रह्मणे, ब्रह्महत्यायै, विश्वेभ्यो देवेभ्यः—एतेभ्यो देवेभ्यः सुहुतमस्तु। एता आहुतीर्हुत्वा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहेत्यन्तामाहुतिं जुहुयात्। यच्छतीति यमो वैवस्वतस्तस्मै, अन्तकाय विनाशकाय, मृत्यवे मारयित्रे, ब्रह्महत्यायै ब्रह्महननरूपायै क्रियायै, विश्वेभ्यो देवेभ्यः। किमनया देवानां परिगणनया सर्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा सुहुतमिदमस्तु, सर्वेषां देवानामावासभूताभ्यां स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—यमाय नियन्त्रे परमेश्वराय स्वाहा, अन्तकाय संहारकर्त्रे परमेश्वराय, मृत्यवे मृत्युरूपाय मृत्य्वन्तर्यामिणे परमात्मने। ब्रह्महत्यायै तदन्तर्यामिरूपाय। विश्वेभ्योऽखिलेभ्यो देवेभ्यः सर्वदेवान्तर्यामिणे परमात्मने। द्यावापृथिवीभ्यां तदन्तर्यामिणे परमात्मने स्वाहा सुहुतं सर्वमिदमहं च सुहुतमस्तु, 'अहमेवाहं मां जुहोमि' (त्रि० म० ना० ८।३) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'यमाय नियन्त्रे न्यायाधीशाय,''''द्यावापृथिवीभ्यां सूर्यभूमिशोधनाय स्वाहा प्रयुङ्ध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तेभ्यस्तेभ्यो जडेभ्योऽजडेभ्यः स्वाहाकारप्रयोगस्य प्रयोजनानुक्तेः। न च सूर्यभूमिशोधनाय स्वाहाकारप्रयोग इति वाच्यम्, स्वाहाकारशब्दप्रयोगेण तदसम्भवात्। न च घृतचन्दनाहुत्यापि तच्छोधनं सम्भवति, चन्दनबिन्दुना समुद्रशोधनादर्शनात्। तस्मादुन्मादविलसितमेव तत्। सिद्धान्ते तु मन्त्रैराहुतिविधानेऽदृष्टातिशयाभ्युपगमान्नानुपपन्नं किञ्चित्। न च तवापि तदभ्युपगमः, अपसिद्धान्तापातात्॥ १३॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायाम्
ऊनचत्वारिंशोऽध्यायः॥